पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरूषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

भूमिका

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग आस्था संकट की इस वेला में कष्टदायी तपन के बीच जल की ठंडी बूंदों के छींटों की तरह काम करते हैं। महापुरुषों के सत्संग की महिमा सभी ग्रन्थ एवं शास्त्रों में बतायी गई है। समयानुकूल कभी भी कोई शंका उत्पन्न हो तो उसका समाधान पाने के लिए विद्वान, संत, ज्ञानवान, चरित्रवान व्यक्तियों के सम्पर्क से उसे निर्मूल कर लेना चाहिए। आज की परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, सत्संग योग्य उच्च कोटि के सत्यवादी, प्रखर एवं निस्पृह व्यक्तित्व के धनी बहुत ही कम देखने को मिलते हैं, जो तथाकथित धर्मोपदेशक शास्त्र-महिमा का गान करते दिखाई पड़ते हैं, उनके आचरण में वे गुण न उतर पाने के कारण कोई प्रभाव जनमानस पर पड़ता नहीं देखा जाता। सामान्य जनता के लिए आत्मिक प्रगति की ओर अग्रसर कराने वाला ज्ञान, व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने का एकमात्र उपाय, महापुरुषों के संस्मरणों का स्वाध्याय ही माना जा सकता है। जब कभी जिज्ञासा या शंका मन में उठे तो उसकी पूर्ति तत्सम्बन्धी घटना प्रसंगों को पढ़कर की जा सकती है। छोटे-छोटे संस्मरण पढ़ने में भी सहज होते हैं और उनसे ली जाने वाली प्रेरणा हृदयगंम करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। रोचकता से भरे इन संस्मरणों के स्वाध्याय से सभी का मन एकाग्रचित्त हो जाता है, साथ ही सदाचार, नीति, परोपकार, सेवा एवं उदारता जैसे सद्‌गुणों की शिक्षाएँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

वाङ्मय के इस खण्ड में महापुरुषों के उन अविस्मरणीय जीवन प्रसंगों को लिया गया है, जिनसे अनेकों ने राह पायी है एवं जो आज भी प्रासंगिक हैं। भगवान परशुराम, महात्मा बुद्ध, कुमारजीव, सम्राट अशोक, ईसा, महावीर, संत सुकरात, कन्फ्यूशियस, महात्मा जरथुस्त्र, अरस्तु, महर्षि पाणिनी, चाणक्य, शंकराचार्य एवं रामकृष्ण परमहंस जैसे महापुरुषों के जीवन प्रसंगों द्वारा इस खण्ड में आचरण को ऊँचा उठाने और जीवन के रोजमर्रा की समस्याओं को सुलझाने वाले ऐसे प्रसंग वर्णित हैं जो प्रेरणादायी हैं और सही अर्थों में व्यक्ति की अन्तश्चेतना को दिशा देने वाले हैं, इनके विषय में कहा गया है कि 'देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर' अर्थात् ये मर्मस्थल को स्पर्श करते हुए जीवन की राह को बदल देते हैं। अगले अध्याय में धार्मिक चेतना के उन्नायक ऐसे सन्त-महात्माओं की जीवनियों के हृदयस्पर्शी प्रसंग वर्णित हैं, जो भारत में जन्मी हमारी संस्कृति के प्राणतत्त्व हैं। संत रैदास, तुकाराम, चैतन्य, नामदेव, ज्ञानेश्वर, स्वामी विवेकानन्द, पौहारी बाबा, मत्स्येन्द्रनाथ, श्रीअरविंद, महर्षि रमण, स्वामी रामतीर्थ, गुरुनानक एवं अन्य सभी सिक्ख धर्म के गुरु, संत कबीर, राघवेन्द्र स्वामी, स्वामी विरजानन्द, मलूकदास, रामानुजाचार्य, संत बसवेश्वर, दादू एवं एकनाथ जैसे भारतीय संस्कृति के मील के पत्थर कहे जाने वाले उच्चतम स्तर तक चेतना को पहुँचाकर जन-जन को ईश्वर प्राप्ति का राजमार्ग दिखाने वाले संत-महात्माओं के अविस्मरणीय प्रसंग इसमें हैं।

यों तो कईयों को लग सकता है कि ये घटनाएँ, जीवन प्रसंग सर्वज्ञात हैं, इनमें कौन-सी नयी बात है। फिर भी आज की नई पीढ़ी को, आदर्शों को जीवन में उतारने के लिए इससे श्रेष्ठ उदाहरण और कहीं नहीं मिल सकता। इसी क्रम में आगे विश्व मानवता के ऐसे संदेशवाहकों के भी जीवन प्रसंग इसमें वर्णित हैं। जिन्होंने अपनी परिधि 'स्व' से ऊँची उठाकर समस्त वसुधा रूपी कुटुम्ब के स्तर तक पहुँचा दी एवं मानव मात्र के लिए प्रेरणा के स्रोत बन गये। स्वामी सहजानन्द, साने गुरुजी, वीर हकीकत राय, संत इमर्सन, फादर दामियेन, पॉप पायस, श्री राबर्ट, ईसप, जे. कृष्णमूर्ति, गुरु गोरखनाथ, साधु वास्वानी, रविशंकर महाराज, स्वामी तुकड़ो जी महाराज, नारायण गुरु, जलाराम बापा, स्वामी भक्तिवेदान्त, संत फतह सिंह, दधीचि, महर्षि धौम्य, महात्मा भगवान दीन, गुरु गोलवलकर, स्वामी मुक्तानंद एवं सर जॉन वुडरफ इत्यादि के जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के साथ-साथ उनकी शिक्षाएँ एवं प्रेरणाएँ इस अध्याय में समाहित हैं।

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्‌बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे ह्रदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। बरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलथाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। ❑❑❑

विषय-सूची

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग

धार्मिक नवचेतना के उन्नायक प्रख्यात संत-महात्मा

विश्व मानवता के संदेशवाहक

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी

पीड़ित मानवता के अनन्य सेवक

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग

धार्मिक क्रान्ति के प्रतीक—भगवान् परशुराम

परशुराम उन दिनों शिवजी से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अपने शिष्यों की मनोभूमि परखने के लिए शिवजी समय-समय पर उनकी परीक्षा लिया करते थे। एक दिन गुरु ने कुछ अनैतिक काम करके छात्रों की प्रतिक्रिया जाननी चाही। अन्य छात्र तो संकोच में दब गए पर परशुराम से न रहा गया। वे गुरु के विरुद्ध लड़ने को खड़े हो गये और साधारण समझाने-बुझाने से काम न चला तो फरसे का प्रहार कर डाला।

चोट गहरी लगी। शिवजी का सिर फट गया। पर उन्होंने बुरा न माना। वरन् सन्तोष व्यक्त करते हुए गुरुकुल के समस्त छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा— अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना प्रत्येक धर्म-शील व्यक्ति का मनुष्योचित कर्त्तव्य है। फिर अन्याय करने वाला चाहे कितनी ही ऊँची स्थिति का क्यों न हो। संसार से अधर्म इसी प्रकार मिट सकता है। यदि उसे सहन करते रहा जायेगा तो इससे अनीति बढ़ेगी और इस सुन्दर संसार में अशान्ति उत्पन्न होगी। परशुराम ने धर्म रक्षा के लिए जो दर्प प्रदर्शित किया उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

शंकर जी ने अपने इस प्रिय शिष्य को उठाकर छाती से लगा लिया। उन्हें अव्यर्थ शस्त्र 'परशु' उपहार में दिया और आशा प्रकट की कि उनके द्वारा संसार में फैले हुए अधर्म का उन्मूलन करने की एक भारी लोक-सेवा बन पड़ेगी। शिवजी ने अपने शिष्यों को और भी कहा— बालको ! केवल दान, धर्म, जप, तप, व्रत, उपवास ही धर्म के लक्षण नहीं हैं, अनीति से लड़ने का कठोर व्रत लेना भी धर्म साधना का एक अंग है। अधर्म का उन्मूलन और धर्म का संस्थापन एक ही रथ के दो पहिये होते हैं। दोनों का क्रमचक्र ठीक चलते रहने से सृष्टि का सन्तुलन ठीक रहता है इसलिए धर्म की रक्षा के लिए एक उपाय पर निर्भर न रहकर दोनों का ही अवलम्बन करना चाहिये। परशुराम की धर्म-संघर्ष-वृत्ति अनुचित तनिक भी नहीं। उसमें आदि से अन्त तक औचित्य ही भरा पड़ा है। परीक्षा के लिए ही मैंने अनुचित आचरण किया था और तुम सब पर उसकी प्रतिक्रिया देखनी चाही थी। परशुराम सफल हुआ। इसका मुझे गर्व है। इस गर्व को प्रख्यात करने के लिए परशु प्रहार के चिह्न को शिवजी ने सदा दीखते रहने वाला ही बनाये रखा। उनके सहस्र नामों में एक नाम 'खण्ड परशु' अर्थात् 'फरसे से जिसका सिर फट गया हो' भी विख्यात है। विष्णु ने भी भृगु की लात छाती पर खाई थी और औचित्य का अनुमोदन करने के रूप में उस चिह्न को सदा छाती पर बनाए रखा था।

उन दिनों हैहयवन्शीय क्षत्रिय राजमद से मदान्ध हो रहे थे। रावण, कंस, हिरण्यकश्यप की तरह उन्होंने स्वेच्छाचारिता अपना रखी थी। स्वार्थवश चाहे जिसके साथ जघन्य व्यवहार करने पर उतारू हो जाते। भृगुवंशी पुरोहितों ने ऐसा न करने के लिए उन्हें समझाया तो कुपित होकर उल्टे आक्रमणकारी बन गये। घर खोदकर फेंक दिये, स्त्रियों के गर्भ फाड़ डाले और जिन्होंने उन्हें समझाया था उनके सिर काट लिए। जो बच गये वह महिष्मती छोड़कर सरस्वती तट पर जा बसे।

इन्हीं विस्थापित पुरोहितों में एक बालक था— परशुराम। वह शिवजी से शिक्षा तो प्राप्त करता, पर साथ ही अत्याचारी के विरुद्ध उसके मन में निरन्तर आग जलती रहती। वह सोचता गुरु के द्वारा जो शक्ति उसे मिलेगी उसे अनाचार के विरुद्ध संघर्ष करने में प्रयुक्त करेगा। बालक की निष्ठा परखने को शिवजी ने वैसा प्रसंग उत्पन्न किया था। जब बालक ने गुरु का ही सिर फोड़ दिया तो उन्हें विश्वास हो गया कि बालक में लौह पुरुष के गुण मौजूद हैं और वह अधर्म के उन्मूलन की जन-आकांक्षा को पूरा करके रहेगा। शिवजी का आशीर्वाद पाकर उनकी शिक्षा और विभूतियों से सुसज्जित होकर परशुराम अनाचार विरोधी एक महान् अभियान की तैयारी करने लगे।

परशुराम के इरादों का उस समय के शासक कार्तवीर्य सहस्रार्जुन को पता लगा तो वह आग-बबूला हो गया और उन्हें पकड़ने आश्रम में सैन्य समेत जा पहुँचा। वे न मिले तो उनके पिता जमदग्नि का भाँति-भाँति से अपमान किया और उनके आश्रम तथा पुस्तकालय को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। परशुराम जब घर आये और आश्रम की यह दुर्दशा देखी तो उनके क्षोभ का ठिकाना न रहा। वे अपना दुर्दान्त परशु लेकर अकेले ही महिष्मती पहुँचे और सहस्रार्जुन को धर दबाया। उसकी भुजायें फरसे से काट डालीं और सेना को धनुष-बाण से विचलित कर दिया। प्रतिशोध की आग और बढ़ी सहस्रार्जुन के वंशजों ने अन्य अनेक राजाओं को लेकर चढ़ाई कर दी और परशुराम के पिता जमदग्नि को २१ स्थानों से घायल करके उन्हें मार डाला।

कहने वालों ने कहा— एक साधु या ब्राह्मण के लिये इस प्रकार हिंसात्मक कार्य करना उचित नहीं। उन्होंने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया कि अनीति ही वस्तुतः हिंसा है। उसका प्रतिकार करने के लिए जब

अहिंसा समर्थ न हो तो हिंसा भी अपनाई जा सकती है। शास्त्र ने वैदिकी हिंसा को हिंसा नहीं माना है। क्रोध वह वर्जित है जो स्वार्थ या अहंकार की रक्षा के लिए किया जाय। अन्याय के विरुद्ध क्रुद्ध होना तो मानवता का चिह्न है। मानवता की मूलभूत आस्था को खोकर क्रोध अक्रोध जैसे नीति-नियमों में उलझे रहना व्यर्थ है। मेरा क्रोध धर्मयुक्त है और मेरी हिंसा भी अनीति के प्रतिकार में प्रयुक्त होने के कारण उचित है। धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिये सदा से यही क्रम अपनाया भी जाता रहा है। ऐसे तर्कयुक्त वचनों को सुनकर कहने-सुनने वाले चुप हो जाते वे संघर्ष की आग सुलगाये हुए देश-देशान्तरों में भ्रमण करने लगे। जन-सहयोग से उन्होंने अत्याचारियों के विनाश में आशाजनक सफलता पाई। व्यक्तियों के पास कितनी ही बड़ी शक्ति क्यों न हो, जनता की संगठित सामर्थ्य से वह कम ही रहती है। परशुराम के नेतृत्व में भड़का हुआ विद्रोह एक नहीं इक्कीस बार नृशंस लोगों के अनाचारों का उन्मूलन करने तक चलता रहा और जब अवांछनीय तत्त्व समाप्त हो गए तभी वह शान्त हुआ

अनाचार को समाप्त करने की उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर यद्यपि परशुराम जी को हिंसात्मक नीति अपनानी पड़ी, पर उन्होंने इसे कभी अनुचित न समझा। शान्ति की स्थापना के लिए प्रयुक्त हुई अशान्ति सराहनीय है और अहिंसा की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए की गई हिंसा में पाप नहीं माना जाता। स्वार्थ और अन्याय के लिए ही आक्रमण वर्जित है पर यदि आत्म-रक्षा या अनाचार की रोकथाम के लिए प्रतिरोधात्मक उपाय के रूप में हिंसा अपनानी पड़े तो न अनुचित माना जाता है और न हेय। परशुराम जी शास्त्र और धर्म के गूढ़ तत्त्वों को भली-भाँति समझते थे इसलिए आवश्यकता पड़ने पर काँटे से काँटा निकालने, विष से विष मारने की नीति के अनुसार ऋषि होते हुए भी उन्होंने धर्म रक्षा के लिए सशस्त्र अभियान आरम्भ करने में तनिक भी संकोच न किया।

जब प्रयोजन पूर्ण हो गया तो उन्होंने अनावश्यक रक्तपात को एक क्षण के लिए भी जारी रखना उचित न समझा। फरसे को उन्होंने समुद्र में फेंक दिया— जो राज्य छीने थे वह सारी भूमि महर्षि कश्यप को दान कर दी ताकि वे उन प्रदेशों में सुराज्य स्थापना की व्यवस्था कर सकें। पितरों ने प्रसन्न होकर उनके इस धर्म संघर्ष के लिये प्रसन्नता प्रकट की तो उन्होंने यही कहा - यदि आप लोग प्रसन्न हैं तो पहले की तरह मेरी तपस्या, स्वाध्याय और धर्म रक्षा के मार्ग में प्रीति उत्पन्न हो जाये।

जन-कल्याण के लिये परशुराम जी ज्ञान और विग्रह दोनों को ही आवश्यक मानते थे नम्रता और ज्ञान से सज्जनों को और प्रतिरोध तथा दण्ड से दुष्टों को जीता जा सकता है, ऐसी उनकी निश्चित मान्यता थी। इसलिए वे उभयपक्षीय सन्तुलित नीति लेकर चलने से ही धर्म रक्षा की सम्भावना स्वीकार करते थे। उनकी मान्यता उनके शब्दों में ही इस प्रकार है

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः शसरंधनु।
इदंब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रदपि शरादपि॥

अर्थात् — "मुख से चारों वेदों का प्रवचन करके और पीठ पर धनुष-बाण लेकर चला जाय। ब्रह्म-शक्ति और शस्त्र-शक्ति दोनों ही आवश्यक हैं। शास्त्र से भी और शस्त्र से भी धर्म का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये।

वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया को परशुराम जी की जन्म जयन्ती मनाई जाती है। इन्हें भगवान् का अवतार माना जाता है और वे शरीर समेत अमर हैं ऐसा कहा जाता है। कोंकण और केरल में उनकी पूजा अधिक होती है। समुद्र तट पर कितने ही उनके मन्दिर बने हैं और वहाँ कितने ही मेले भी इसी पर्व पर लगते हैं।

सज्जनता और दुष्टता की अति कहीं भी नहीं होनी चाहिए। दोनों का ही समुचित प्रयोग किया जाना चाहिए। दुष्टों के साथ सज्जनता और सज्जनों के साथ दुष्टता को व्यर्थ ही नहीं अनुपयुक्त समझने की मान्यता परशुराम जी के जीवन और आदर्शों में कूट-कूट कर भरी थी। अहिंसा के इसी स्वरूप का वे प्रतिपादन करते रहे। हिंसा और अहिंसा का अद्भुत समन्वय करने वाले परशुराम अभी भी हमारे विचार क्षेत्र में एक पहेली की तरह विद्यमान रहते हैं।

महात्मा बुद्ध के अविस्मरणीय कथा प्रसंग

ढाई हजार वर्ष पहले की बात है कि शाक्य नरेशों की राजधानी कपिल के राज-मार्ग पर एक जराजीर्ण वृद्ध चला जा रहा था। आयु की अधिकता ने उसकी कमर को झुका दिया था, नेत्रों की ज्योति को क्षीण कर दिया था, मुँह को पोपला और पैरों को लड़खड़ा देने वाला बना दिया था। वह पेट की आग को बुझाने के लिये रोटी का एक टुकड़ा माँग रहा था, पर कुछ शरारती लड़के रोटी के बदले उसे ढेले और कंकड़ों से मार रहे थे। इतने में एक राजकीय रथ चलते-चलते उसी स्थान पर रुक गया। उसमें बैठे हुए एक देवकान्ति पुरुष ने सारथी से पूछा कि यह कौन है? उसे मालूम हुआ कि किसी समय यह भी एक हट्टा-कट्टा, सुन्दर पुरुष था, पर अब वृद्धावस्था के कारण उसकी यह दुर्दशा हो रही है। उसने फिर प्रश्न किया कि क्या प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी ही दशा होगी? उत्तर मिला— यह संसार का अनिवार्य नियम है, बहुत अधिक आयु हो जाने पर कोई भी इससे बच नहीं सकता।

यह प्रश्नकर्ता और कोई नहीं स्वयं कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम थे। उनको अभी तक जान-बूझकर राजमहलों के ऐसे वातावरण में रखा गया था कि दुःख, रोग, शोक, बुढ़ापा, मृत्यु आदि क्या होते हैं इनका उन्हें कुछ पता ही न था। आज अकस्मात् इस जराग्रस्त वृद्ध को देख उनके हृदय में एक नवीन भाव का उदय हुआ और वे बिना किसी से कहे-सुने मानव-जीवन की समस्या पर विचार करने लगे। अभी तक वे संसार में सब व्यक्तियों को अपनी ही तरह स्वस्थ, सुखी और आमोद-प्रमोद में मग्न समझते थे, पर आज उनको विदित हुआ कि सभी सांसारिक सुख क्षणस्थायी हैं और यहाँ सुख की बजाय दुःख का परिमाण अधिक है।

इस घटना के पश्चात् गौतम का जीवन-क्रम ही बदल गया। यद्यपि उनके पिता महाराज शुद्धोधन उनकी प्रवृत्ति को देखकर उन्हें राग-रंग और सुखोपभोग में भुलाये रखने की सब तरह से चेष्टा करते रहते थे, पर गौतम के चित्त में इस घटना के पश्चात् जो नया परिवर्तन हुआ वह दिन पर दिन सुदृढ़ होता गया और एक दिन आधी रात के समय वे राज-पाट, स्त्री-पुत्र सब कुछ त्याग कर संन्यासी बनकर निकल पड़े। उनका उद्देश्य था ऐसा मार्ग तलाश करना जिससे मनुष्यों को संसार के रोग-शोक से छुटकारा मिल सके।

आरम्भ में तो उन्होंने तपस्या के प्रचलित मार्ग को ही अपनाया। वे पाँच अन्य साथियों को लेकर घोर जंगल में चले गये और एकान्त आश्रम में रहकर कठोर तपस्या करने लगे। इसके फल से उनका शरीर दिन-पर-दिन दुर्बल होने लगा, पर फिर भी हृदय में किसी प्रकार के ज्ञान का प्रकाश न जान पड़ा, अन्त में जब शारीरिक शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई और चलना-फिरना भी कठिन हो गया, तब उनको समझ में आया कि केवल कष्ट सहन करने से यह समस्या हल नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यकता है संसार की स्थिति और जीवन की समस्याओं पर उदार भाव से विचार किया जाय और निवृत्ति तथा प्रवृत्ति में सामंजस्य स्थापित करके ऐसे मध्यम मार्ग पर चला जाय जिससे सांसारिक भोगों में आसक्ति न होकर सांसारिक कर्त्तव्यों का निस्पृहतापूर्वक पालन होता रहे। इस सिद्धान्त पर अच्छी तरह विचार करके उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए यह उपदेश दिया—

(१) संसार में जो कुछ भी दीख पड़ता है वह सब शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है। (२) जो कुछ दीख पड़ता है उसमें दुःख छिपा हुआ है। (३) जब सभी चीजें नष्ट होने वाली हैं, तब इनके फन्दे में क्यों फँसा जाय? (४) तपस्या तथा उपवास द्वारा इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। छुटकारे की जड़ तो मन है।

इसलिए धर्म का सीधा और सरल रास्ता यही है कि शुद्ध मन से काम करना, शुद्ध हृदय से बोलना, शुद्ध चित्त रखना। इसके लिए आवश्यक है कि—

(१) किसी प्रकार की हिंसा न की जाय। (२) चोरी, दुराचार, झूठ, दूसरों की निन्दा से बचा जाय। (३) दूसरों के दोष ढूँढ़ना, अपवित्र भाषण करना, लालच करना, घृणा करना और अज्ञान से बचा जाय।

इस प्रकार उपयोगी ज्ञान को समझ जाने पर उनका नाम बुद्ध (ज्ञानी) हो गया। उन्होंने लोगों को समझाया कि जो व्यक्ति इन नियमों का पालन करते हुए सबसे प्रेम-भाव रखेगा, राग-द्वेष से दूर रहेगा वह अपने जीवन-काल में शरीरान्त होने पर भी समस्त अशुभ परिणामों से दूर रहेगा। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य जंगल में जाकर तपस्या करे और भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट सहन करे। मुख्य बात यह है कि अपने चित्त को सन्तुलित रख कर किसी से दुर्व्यवहार न किया जाय। सच्चा धार्मिक वही है जो हृदय से प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रखे और कल्याण-कामना करे। जो किसी से द्वेष न रखेगा, पीड़ितों और अभावग्रस्तों की सहायता से मुख नहीं मोड़ेगा, कुमार्ग से बचकर रहेगा उसे जीवन-मुक्त ही समझना चाहिए।

मगध में 'कस्सप' और 'नादिकस्[illegible]' नाम के दो अत्यन्त प्रसिद्ध साधु रहते थे, इन[illegible] से प्रत्येक के [illegible] सौ शिष्य रहते थे। बुद्ध ने उनको बतलाया कि जो तपस्या किसी प्रकार के फल की इच्छा रखकर की जाती है, उससे कामना का नाश नहीं होता और बिना कामना के मिटे चित्त की निर्मलता प्राप्त न हो सकेगी। उन्होंने बुद्ध जी के उपदेश की सच्चाई को अनुभव किया और अपने एक हजार चेलों सहित उनके अनुयायी बन गये। वहाँ से आगे चलकर जब राजा बिम्बसार की राजधानी 'राजगृह' में पहुँचे तो वहाँ भी उनका बड़े उत्साह से स्वागत किया गया। पर बिम्बसार को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ कि 'कस्सप' जैसे वृद्ध महात्मा नवयुवक बुद्ध जी के शिष्य हो गये। इसकी जाँच करने के लिए उसने अपना एक दूत उनके पास भेजा तो 'कस्सप' ने कहा—

निर्मल अकथ अनादि ज्ञान जिसने है पाया।
उसी ज्योति-भगवान् बुद्ध को गुरु बनाया॥

बुद्ध जी ने मनुष्यों को जिस स्वाभाविक धर्म का उपदेश दिया उसका आधार मुख्य रूप से मन की भावनाओं पर था। बाह्य आचरण को उन्होंने सदैव हीन कोटि का धर्म बतलाया, क्योंकि उसमें स्थिरता नहीं रहती और देश-काल के अनुसार वह बदलता रहता है। इसलिये वे किसी को शिष्य बनाने की दीक्षा देने में भी किसी प्रकार का आडम्बर नहीं करते थे। जब सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन जैसे प्रमुख भिक्षुओं ने उनसे प्रव्रजित करने की प्रार्थना की तो बुद्ध जी ने यही कहा—

आओ भिक्षुओ! धर्म तो स्पष्ट और सरल होता है। जब मनुष्य अनेक प्रकार की कामनाओं और इच्छाओं को त्याग कर कल्याण भावनाओं से सीधी-सादी शिक्षाओं पर आचरण करने लगता है, तो उसे स्वयं ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह भव-बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

जाति या कुल श्रेष्ठता का आधार नहीं

बाह्य धर्माचार के समान ही बुद्ध जी जाति या कुल को भी महत्त्व नहीं देते थे। एक बार जब भिक्षुओं के संघ में इस बात पर विवाद उत्पन्न हुआ कि प्रथम आसन, प्रथम भोजन का परोसा किसको दिया जाय तो किसी ने क्षत्रिय, किसी ने ब्राह्मण, किसी ने वैश्य कुल से भिक्षु बनने वालों को प्रथम स्थान देने का सुझाव दिया। पर बुद्ध जी ने इसको अनुचित मान कर कहा—

"भिक्षुओ! जाति या कुल के आधार पर किसी को सम्मान नहीं दिया जाता। इसलिये जो जितना पहले प्रव्रजित हुआ है वह उतना ही मुख्य माना जायेगा, चाहे वह किसी भी जाति का हो।"

भगवान् बुद्ध के इन स्वाभाविक और न्याय पर आधारित नियमों के कारण बौद्ध भिक्षु संघ की शक्ति बहुत बढ़ गई और उनमें से ऐसे परमार्थी और त्यागी प्रचारक निकले जिन्होंने समस्त भारत ही नहीं दूर-दूर देशों में भी बौद्ध धर्म का डंका बजा दिया। आज भी उसका प्रभाव बहुत अंशों में दिखाई पड़ रहा है।

स्त्रियों के अधिकार

बुद्ध देव के समय में शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी बहुत कम सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मणों ने तो **'शूद्री स्त्री न धीयताम्'** की उक्ति के आधार पर स्त्रियों को सब प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान और

सामाजिक अधिकारों के अयोग्य ठहरा दिया था। बुद्ध ने इस स्थिति को समाज के लिए हानिकारक समझा और अपने संघ में स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह सम्मिलित होने का अधिकार दिया।

एक बार भ्रमण करते हुए बुद्ध जी जब वैशाली नगरी में पहुँचे तो वहाँ की प्रसिद्ध वैश्या 'आम्रपाली' के बगीचे में ठहर गये। यह समाचार सुनकर वह भी बगीचे में पहुँची और बुद्ध जी का उपदेश सुन कर अगले दिन उनको अपने यहाँ आहार ग्रहण करने को निमन्त्रित किया। जब यह समाचार वैशाली के सरदारों ने सुना तो उन्होंने इसमें अपनी बड़ी बेइज्जती समझी और आम्रपाली को एक लाख रुपया लेकर भोजन कराने का अधिकार उनको देने का आग्रह किया। पर आम्रपाली ऐसे किसी प्रलोभन में न आई और उसने बुद्ध जी के संघ को भोजन कराके अपना बगीचा दान कर दिया और स्वयं उनकी शिष्या हो गई।

इस प्रकार बुद्ध जी ने पचास वर्ष तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके उस मानव-धर्म का प्रचार किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र या स्त्री, धर्म मार्ग पर समान अधिकार था। इस प्रकार की शिक्षा से भारतीय समाज के अनेक दोष, दुर्गुण दूर हो गये और उसने ऐसी प्रगति की जिसका उदाहरण हजारों वर्षों में न मिला था। पर कुछ सौ वर्ष बाद बौद्ध-संघों में भी स्वार्थी व्यक्तियों का प्राबल्य होने लगा और आज इस देश में उसका नाम ही शेष रह गया है।

इस बात की सच्चाई से कोई इनकार नहीं कर सकता कि धर्म एक ऐसा विषय है कि जिसमें भेद-भाव, छोटे-बड़े, समता-विषमता को स्थान देना अनुचित है। जो लोग धर्म के नाम पर इस प्रकार की प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं वे न्यायशील लोगों की दृष्टि में निन्दा के पात्र होते हैं। महापुरुष बुद्ध ने इन दोनों के निराकरण के लिये अपना ही जीवन अर्पित नहीं कर दिया वरन् अपनी पत्नी, पुत्र, भाई को भी अपने साथ गृह-त्यागी बनाकर धर्म-प्रचार में लगा दिया। यदि उनके इस अभूतपूर्व त्याग के लिए लोगों ने उनको भगवान् की पदवी दी— नौवाँ अवतार मानकर पूजा की, तो यह उचित ही कहा जाएगा।

बुद्ध-जीवन के कुछ अन्य प्रेरक प्रसंग

बुद्धं शरणं गच्छामि

कपिलवस्तु में भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ के साथ प्रवेश किया है, यह समाचार सुनकर शुद्धोधन का हृदय शोकविदग्ध हो गया। कैसा दुर्भाग्य है यह ? जिस पुत्र को चक्रवर्ती सम्राट बनकर इसी राजधानी में, इसी राज-सिंहासन पर आसीन होना था, जो मेरा एकमात्र पुत्र है और जिसे लेकर क्या-क्या स्वप्न नहीं सँजोये थे ? वही पुत्र आशा और कल्पना के विपरीत इसी नगरी में द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँग रहा है जबकि उसके नगर यात्रा पर निकलने पर लोग पलक-पाँवड़े बिछा देते, उसके अभिवादन में नतमस्तक हो उठते।

शुद्धोधन इन्हीं विचार, भावतरंगों में डूब-उतरा रहे थे कि किसी ने आकर सूचना दी, नियमानुसार अमिताभ गौतम राजभवन के द्वार पर भी भिक्षा के लिए आए हैं। दौड़ कर शुद्धोधन द्वार पर पहुँचे। देखा, उनका अपना सिद्धार्थ तापस वेश में सामने खड़ा है। उस वेश को देखकर पितृ हृदय चीत्कार उठा। शुद्धोधन ने कुछ उपालम्भ भरे स्वरों में भी कहा— "क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है ? फिर कुछ रुक कर बोले, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा सिद्धार्थ, तुम इस वेश का परित्याग कर यह सिंहासन सम्हालो।"

धीर-गम्भीर वाणी में गौतम ने कहा, 'राजन' यह आपके कुल की नहीं, बुद्ध कुल की परम्परा है। मैं अब राज-परिवार का सदस्य नहीं हूँ, आत्म-कल्याण और लोक-मंगल की साधना में लगे भिक्षु संघ का परिजन हूँ।

वाणी में जो दृढ़ता थी, जो संकल्प था उसने शुद्धोधन को निरुत्तर कर दिया और जैसे इतने में ही सन्तोष मान रहे हों, वह बोले, "तो भिक्षु ! क्या तुम मेरा आतिथ्य स्वीकार करोगे ?"

"अवश्य राजन ! अपने संघ सहित मैं कल मध्याह्न समय पुनः आऊँगा" बुद्ध ने कहा और वे चले गये।

नियत समय पर बुद्ध देव आये। उन्होंने सभी परिजनों का अभिवादन स्वीकार किया, जैसे सर्वत्र करते थे और शांत भाव से धर्मदर्शना की। उधर पति के चिरवियोग से पीड़ित यशोधरा को तथागत के आगमन का समाचार मिला तो उसका हृदय प्रसन्नता से छल-छला उठा। पति समीप नहीं हैं तो क्या हुआ ? उनकी स्मृतियाँ तो मेरे साथ हैं। लोक-कल्याण के लिए उन्होंने भले ही मेरा परित्याग कर दिया हो ? अर्द्धांगिनी के रूप में भले मेरा उन पर कोई अधिकार न हो परन्तु एक मानवी के रूप में तो मैं उनकी प्रियपात्र हूँ ही।

यशोधरा इन्हीं विचारों में डूब-उतरा रही थी कि भगवान् पधारे। उन्होंने यशोधरा के त्याग की उपेक्षा नहीं की थी। वे उसके पास आये और पूछा यशोधरे ! कुशल से तो हो ?

'हाँ स्वामी' चिर-प्रतिक्षित स्वर सुनकर यशोधरा का हृदय गद्‌गद् हो उठा।

"स्वामी नहीं भिक्षु कहो यशोधरे ! मैं अपना धर्म निभाने आया हूँ। बोलो तुम कुछ भिक्षा दे सकोगी ?"

यशोधरा विचारमग्न हो उठी। अब क्या बचा है देने के लिए ? अपने दाम्पत्य की स्मृतियों को छोड़कर और कुछ भी तो नहीं है, जो देने योग्य हो। कुछ क्षण तक विचार करते रहकर उसके चेहरे पर निश्चय के भाव उभरे और बोली, "भन्ते ! अपने पूर्व सम्बन्धों को ही दृष्टिगत रखकर क्या आप भी कुछ प्रतिदान कर सकोगे ?"

"भिक्षु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न होता होगा तो अवश्य करूँगा आर्य" बुद्ध ने उत्तर दिया।

यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को पुकारा और तथागत की ओर उन्मुख होकर बोली, "तो भगवन ! राहुल को भी अपनी पितृ परम्परा निभाने देकर उसे अपना अधिकार पाने दीजिए।"

और फिर राहुल से बोली, जाओ बेटा ! अपनी पितृ परम्परा का अनुकरण करो। बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में जाओ।

. राहुल के समवेत स्वरों में गूँज उठा, बुद्धं शरणं गच्छामि·····। उस महान् विदुषी ने अपने महात्याग का एक और परिचय दिया ।

जलती आग के ईंधन

नाम था उसका पट्टाचारा, बहुत ही सुन्दर और चतुर । लड़की चन्द्रकलाओं की तरह बढ़ने लगी । किशोरावस्था पार भी न हो पाई थी कि वह पड़ोसी युवक के साथ में बँध गई । माता-पिता ने रोका, समझाया भी पर वह मानी नहीं । रात्रि में वे दोनों प्रेमी घर छोड़कर निकल पड़े और योजनों दूर जाकर किसी नगर में रहने लगे । युवक मजदूरी करता और वे दोनों सुखपूर्वक निर्वाह करते ।

इस तरह बहुत दिन बीत गये । पट्टाचारा गर्भवती हुई उसने पति से कहा चलो पितृगृह चलें । प्रसव का प्रबन्ध वहीं ठीक तरह हो सकेगा । युवक ने सुझाया— वहाँ चलने पर क्रोध और अपमान सहना पड़ेगा सो पट्टाचारा चुप हो गयी । पुत्र जन्मा— नाम रखा गया— रोहित । सुन्दर पुत्र को पाकर दोनों का सुख और भी बढ़ गया ।

रोहित दो वर्ष का हुआ था कि पट्टाचारा फिर गर्भवती हो गई । अब की बार कठिनाई अधिक थी । बड़े बच्चे को पालना और नये का प्रसव दोनों कार्य किसी की सहायता चाहते थे । सो उसने फिर पितृगृह चलने की बात कही । अब की बार युवक भी सहमत हो गया । बात पुरानी पड़ जाने से क्रोध शान्त हो गया होगा । बहुत दिन से बिछुड़ने के बाद मिलने से सभी को सन्तोष होगा और बच्चे भी पल जायेंगे । पति-पत्नी बच्चे को लेकर अपनी जन्मभूमि चल दिये ।

रास्ता लम्बा था और घना बीहड़ । चलते-चलते पेड़ के नीचे सुस्ताने लगे तो पट्टाचारा को प्रसव पीड़ा उठ खड़ी हुई । दूसरा पुत्र जन्मा । आग की आवश्यकता पड़ी तो युवक लकड़ियाँ बीन लाया । दुर्भाग्य ने सर्प बनकर उसे डस लिया । वापस लौटते-लौटते उसके प्राण-पखेरू उड़ गये । असहाय पट्टाचारा इस विपत्ति में किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गई । रोई भी बहुत । पर कुछ करना तो था ही । पति की लाश को उसी ने नदी में बहाया और घर चलने के लिये नदी पार करने की तैयारी करने लगी । उस समय वह बहुत अशक्त हो रही थी । दोनों बच्चों को एक साथ लेकर चलना कठिन था । सो सोचा एक-एक को लेकर नदी पार करे । छोटे बच्चे को लेकर पार गई उसे पत्तों से ढका और दूसरे को लेने के लिए लौटी । इतने में दुर्भाग्य दूनी विपत्ति लेकर फिर आ धमका । नवजात शिशु को पत्तों के नीचे से कुरेद कर शृगाल ले भागा और बड़ा बच्चा माँ के पास आतुरता के साथ दौड़ा तो वह भी नदी में बह गया । दो घण्टों के भीतर उसका सोने का संसार उजड़ गया । पति मरा— दोनों बच्चे मरे— प्रसव कष्ट— बीहड़-वन— दूर की यात्रा— क्षुधा-निवृत्ति तक के साधनों का अभाव— एकाकीपन इन सब संकटों ने मिलकर आक्रमण किया तो बेचारी हतप्रभ हो गई । विक्षिप्त जैसी स्थिति में रोती-चिल्लाती अपने पितृगृह की ओर अहर्निशि चलती रही और अन्ततः किसी प्रकार मरते-गिरते वहाँ तक जा पहुँची ।

पितृगृह पहुँचने पर पता चला कि उसके माता-पिता मर चुके थे । सास-श्वसुर बीमार पड़े थे । एक भाई बचा था सो भी पहुँचने के दिन ही मरा और उसकी चिता भर जलती पट्टाचारा ने देखी । वहाँ भी सारे आश्रय समाप्त हो चुके थे । शोक का समुद्र ही हर दिशा में गरज रहा था । भोली लड़की इतना सहन न कर सकी और वह विलाप करते-करते पागल हो गई । भोजन-वस्त्र तक की उसे विस्मृति हो गई ।

श्रावस्ती के लोग उसे पकड़ कर भगवान् बुद्ध के पास ले पहुँचे । भगवान् ने उसे दुलार किया— सान्त्वना दी और भोजन, वस्त्र के अतिरिक्त समुचित विश्राम का प्रबन्ध किया ।

थोड़े दिन में उसे धीरज बँधा । तब तथागत ने उसे अपने पास बुलाया— और ज्ञान का अमृत बरसाते हुए कहा— शुभे, यह संसार जलती हुई आग की तरह है । हम सब ईंधन की तरह हैं जो जलने के लिए ही जन्मे हैं । मरण एक अविचल सत्य है, उससे बचा नहीं जा सकता । कोई कितना ही दुःखी क्यों न हो, मरण रुकता नहीं । अपने-अपने प्रारब्ध और समय के अनुसार सभी को आगे-पीछे मरना पड़ता है । सो कौन किसके लिए शोक करे ?

भद्रे, यहाँ कोई किसी का नहीं । एकाकी आगमन और एकाकी गमन के सत्य को समझो । राहगीरों के झुण्ड में क्षणिक मिलन का मोद तो मानो, पर बिछुड़ने के तथ्य को भी जानो । जीव को रोज ही मिलना-बिछुड़ना पड़ता है, सो सन्तुलन मत खोओ, जाने वालों को जाते देखकर अपने मरण की तैयारी में लगो । महासत्य को ढूँढो और आत्मा के दुर्ग में प्रवेश करके सन्तापों से अपने को बचाओ ।

तथागत के अमृत वचन पट्टाचारा के अन्तःकरण को बींधते चले गये । उसने शोक के परिधान उतार फेंके और महासत्य की शरण में जाने वाली चीवरधारी तपस्विनियों की पंक्ति में जा बैठी ।

महाभिक्षु पराभूतो

तथागत आज अपनी ही जन्मभूमि कपिलवस्तु पधारे हैं । शाक्यों का उत्साह उमड़ पड़ा, उन्होंने राजधानी को नव-वधू की तरह तोरण-वन्दनवारों, लता, बल्लरियों और पत्र-प्रसूनों से सजाया है । महाराज शुद्धोधन अत्यन्त कृश हो गये है, आयुष्य का प्रभाव उतना नहीं है जितना पुत्र-वियोग की पीड़ा ने थका दिया है, किन्तु आज उनकी जीर्ण-काया में भी नव-जीवन संचरित हो उठा है, आँखों में यौवन की चमक आ गयी है । उन्होंने स्वयं ही सारी व्यवस्था का निरीक्षण किया । हर रचना में राजकुमार का किशोर रूप आँकता है तो महाराज की आँखें बरबस बरसने लगती हैं । फिर नया उल्लास जागता है आज वही मेरा राजकुमार तो आ रहा है फिर उनका भिक्षु रूप— उनसे भेंट— पुनः विदाई की नीरवता महाराजा का मन इसी तरह उद्वेलित हो रहा है ।

राजमाता की भी स्थिति ऐसी ही है । राजकुमार राहुल ने अभी तक कभी भी अपने पिता को नहीं देखा, प्यासे हरिण-शावक की तरह बार-बार उनकी दृष्टि राजपथ पर दौड़ती है और सिकता भ्रम की तरह भटक-भटक कर लौटती है । यदि राजमहल के किसी प्रकोष्ठ में शान्ति है, निश्चलता है, मौन है तो वह महारानी यशोधरा का अन्तःपुर है ।

शुभ्र श्वेत वेश-भूषा में आज वे साकार तपमूर्ति प्रतीत हो रही हैं— सभी जानते हैं इस सागर का अन्तर्मन्थन झंझावत खड़ा कर देने वाला है, अतएव उस निश्छल नीरवता को कोई भंग करने का साहस नहीं करता ।

नियत समय पर भगवान् बुद्ध का पदार्पण हुआ । भिक्षु वेष में देखकर नगर निवासियों की आँखों के सरोवर फूट पड़े हैं, कोई किसी से कुछ कहता नहीं । सारी कपिलवस्तु शोक के अथाह सागर में डूब गई है ।

राजभवन का सभा मण्डप धार्मिक प्रवचन की यहीं व्यवस्था की गई । एक ओर तथागत के लिए उन्नत मंच, उनके सम्मुख ही राजपरिवार के लिए आसन— एक ओर सम्भ्रान्त दूसरी ओर प्रजाजन । सब निस्तब्ध, भगवान् के अमृत उपदेशों की तृषा— महाराज शुद्धोधन ने आकर अपना स्थान ग्रहण किया । महाप्रजापति गौतमी, राहुल और मन्त्रिपरिषद् एक-एक कर सभी विराज गये । किन्तु भगवान् बुद्ध जिसे खोज रहे हैं वह मूर्ति ? हाँ यशोधरा नहीं आई । उन्होंने निश्चय किया है यदि वे आयेंगे तो उनकी पूजा करूँगी, किन्तु जाऊँगी नहीं, भारतीय नारी जिस तरह कोई अपराध नहीं कर सकती उसी तरह उसका स्वाभिमान भी अडिग रहता है ।

भगवान् का धर्म-प्रवचन प्रारम्भ हुआ । ईश्वर, जीव और जगत के स्वरूप का वे मार्मिक विश्लेषण कर रहे हैं । ऐसा लगता है कि श्रद्धा ज्ञान के रूप में भक्ति वैराग्य के रूप में परिणत हो रही है, किन्तु बोधिसत्व आज अपने ही अन्तर्द्वन्द्व से पराभूत हो रहे हैं । यशोधरा का न आना उनकी स्मरणशक्ति को विवाह मण्डप में खींच ले जाता है और कहता है— संसार को धर्म का उपदेश करने वाले तथागत ! एक दिन तुमने अग्नि की साक्षी में वचन दिया था देवि ! मैं तुम्हें अर्द्धांगिनी के रूप में ग्रहण करता हूँ । सारा जीवन तुम्हारा भरण-पोषण और निर्वाह करूँगा ? क्या यही थी तुम्हारी प्रतिज्ञा जो तुम मुझे सोता हुआ छोड़कर भाग गये ?

उपदेश समाप्त हुआ । कोई नहीं जानता आगे क्या होगा ? तथागत अपने आसन से उठते हैं अन्तर्द्वन्द्व तभी शान्त होगा । जब वे स्वयं यशोधरा के द्वार पर जाकर क्षमा याचना करेंगे । राजभवन सिसकियों से भरा हुआ है । बोधिसत्व सीधे यशोधरा के पास पहुँचे । करुणा और तपश्चर्या की मूर्ति यशोधरा ने प्रणिपात किया । मन की सम्पूर्ण वेदना सागर बनकर उमड़ पड़ी । तथागत के पैर धुल गये किन्तु पश्चाताप नहीं । वह तभी धुला जब उन्होंने स्वयं यशोधरा से क्षमा याचना की— देवि ! संसार के कल्याण के लिये यह आवश्यक था, तथापि आज मैं तुम्हारी तपश्चर्या के आगे पराभूत हूँ । तुम्हारी तपश्चर्या चिरकाल तक इस देश जाति और संस्कृति को जीवन देगी ।

उसे खोजा होता

"वह इधर ही गयी होगी ! कुछ भी नहीं रहने दिया है उसने । सब अपने साथ समेट ले गयी है, किसी ने अत्यन्त उद्वेग भरे स्वर में चिन्ता प्रकट की ।"

हम तो सर्वथा अकिंचन ही हो गये— दूसरा स्वर उभरा । साथ ही आश्वस्त भाव भी— "पर वह इस वनखंड से भाग कर जायेगी कहाँ ? कितने अमूल्य थे हमारे रत्नाभूषण । हम उसके लिए उरुबल का कोना-कोना छान मारेंगे ।

घटना उरुबल की है । कुछ लोग वन-विहार के लिए आये थे— साथ में रूपजीवा वेश्याओं को लेकर । रागरंग में आकंठ डूबे, अपनी सुध-बुध भूले धनाढ्य पुरुषों को विलास मग्न देखकर कोई वेश्या उनके सब रत्नाभूषण चुराकर भाग निकली थी । सुध आने पर वे लोग उसी की खोज करने के लिए वन का पत्ता-पत्ता छानने के लिए निकल पड़े थे ।

वन के उस भाग में प्रवेश करते ही उन्होंने विशेष शांति का अनुभव किया । कुछ दूर जाने पर उन पुरुषों ने एक दिव्य पुरुष को घने वृक्ष की छाँव में पद्मासन लगाये बैठे हुए देखा । यह दिव्यपुरुष और कोई नहीं भगवान् बुद्ध ही थे ।

रत्नाभूषण चले जाने के क्षोभ से विक्षुब्ध पुरुष चोर कर्म करने वाली रूपजीवा को खोजते हुए भगवान् बुद्ध के समीप पहुँच गये थे । भगवान् बुद्ध के तेजोदीप्त दिव्य आभापूरित परमशान्त मुख-मण्डल को देखकर अनायास ही अभिभूत हो उठे और उन्होंने उस दिव्यमूर्ति की चरण धूलि अपने मस्तक से लगा ली । भगवान् के कृश शरीर की स्वर्णिम प्रदीप्ति से विमुग्ध हो गये थे ।

आपने उसको इधर से जाते देखा है— "भद्रवर्गीय पुरुषों ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया ।"

"मुझे अपने आपके सिवा दूसरा दीख ही नहीं रहा है मित्रो ! इतना ही सत्य है"— कहकर भगवान् मौन हो गये ।

'भन्ते हमारा आशय एक स्त्री से है । एक ने कहा ।'

कैसी स्त्री ? भगवान् बुद्ध की परमपवित्र दृष्टि भद्रगणों पर टिक गयी । उनके दृष्टिपात से ही भद्रगण आहत हो उठे । लगा, वे अनुचित कर्म के कारण पीड़ित हैं । वह कर्म और उसकी हानि भगवान् बुद्ध की दृष्टि से छिपी नहीं रह गयी है । एक ने कहा— वह वेश्या है भन्ते । हम लोग अपनी-अपनी पत्नियों के साथ वन-विहार के लिए आये थे । पत्नी के अभाव में एक मित्र के मनोरंजन के लिए यह वेश्या हमारे पास थी । विशेष राग-रंग में लिप्त देखकर वह हमारे रत्नालंकार लेकर इसी वन खण्ड में निकल कर छुप गयी है । हमें उसी की खोज है ।

वन-विहार मनोरंजन किसलिए भद्र मंदस्मित मुस्कान के साथ भगवान् बुद्ध ने कहा । मुस्कान ने उन लोगों के मर्म बेध दिये । प्रतीत हुआ अपराध पकड़ा गया । सकुचाते हुए वे कुछ न कह सके । फिर भगवान् ने प्रथम ही कहा— आनन्द के लिए ही न !

तो भद्रो ! जगत के विषय-भोग और सुख तो नश्वर और क्षणिक हैं । उनसे नश्वर और क्षणिक का आनन्द ही मिलेगा । उनके पीछे उन्मत्त भाव से दौड़ने पर इसी प्रकार पश्चाताप, हानि तथा क्षोभ के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलने का ।

"शाश्वत आनन्द तो शाश्वत सत्य से ही प्राप्त है । शाश्वत सत्य केवल आत्मा ही है । तुमने उसे खोजा होता तो रत्नालंकार का दुःख नहीं झेलना पड़ता"— भगवान् बुद्ध ने कहा ।

भद्रवर्गीयों के धर्म चक्षु खुले। रत्नालंकार की चिन्ता छोड़कर उन्होंने कहा— "ठीक है भन्ते ! हमें स्त्री की आवश्यकता नहीं है आत्मा की खोज करनी है।"

और उन्होंने भगवान् से प्रव्रज्या उपसम्पदा की याचना की।

दान का मर्म

"प्रभु ! आज इस दीन का गृह श्रीचरणों से पवित्र हो।" वैशाली के दण्डनायक करबद्ध हो तथागत के सम्मुख उपस्थित थे। उन्होंने अपना रथ— उपवन के बाहर ही छोड़ दिया था। श्रद्धा से प्रात:कालीन प्रवचन समाप्त होने पर वे खड़े हो गए थे और भगवान् बुद्ध ने उनकी ओर दृष्टि उठाई, उनका कण्ठ गद्गद् हो उठा। "भिक्षु संघ का स्वागत करने का सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप।"

"भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले कभी बुद्ध ने किसी से ऐसा नहीं किया है।" पता नहीं क्या बात हुई ? दण्डनायक के मुख पर दृष्टि पड़ते ही तथागत के नेत्रों में एक अद्भुत तेज आ गया। केवल चिरंजीव आनन्द ने लक्षित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं। तथागत का स्वर गम्भीर था। "दान करना चाहते हो तो दान का मर्म समझो और श्रेष्ठतम दान करो।"

कृपण की भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते। उपस्थित गणनायकों तथा सामान्य नागरिकों ने एक-दूसरे की ओर देखा। भिक्षु वर्ग में भी सब गम्भीर नहीं थे। अनेक दृष्टियाँ उठी दण्डनायक की ओर। उनमें घृणा-तिरस्कार तथा अवहेलना के भाव उठे यह कृपण है।

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गए। उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गई। शरीर काँपने लगा। सबको भय लगा वैशाली का परम पराक्रमी उग्रतेजा दण्डनायक क्रुद्ध होगा। कुछ बखेड़ा उठेगा ! कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार। दो क्षण पश्चात् दण्डनायक का अत्यन्त हताश स्वर सुन पड़ा जैसी प्रभु की आज्ञा ! उनका मस्तक किंचित् झुका वह शीघ्रता से मुड़कर उपवन के बाहर हो गए।

"प्रभु ! वह रो पड़ा।" चिरंजीव आनन्द प्रभु के पृष्ठभाग में खड़े थे। उनकी दृष्टि के ठीक सम्मुख थे दण्डनायक। अत: उसके नेत्रों में जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करने पर भी बिन्दु झिलमिला उठे थे, आनन्द से वे छिपे नहीं थे। अब उन उदार का हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे। आपकी अस्वीकृति ने उसे वेदना से झकझोर दिया है। प्रभु प्रात: उस पर कृपा कर सकते हैं।

एक दिन से अधिक का निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते। भिक्षु कल और परसों का प्रबन्ध करने लगे इसे वे उनके त्यागव्रत से च्युत हो जाना मानते हैं। यह खूब जानते हुए आनन्द ने प्रार्थना की थी। वे इतना ही चाहते थे कि कोई ऐसा उत्तर मिले, जिससे उस संतप्त हृदय को आश्वासन प्राप्त हो जाय। यह तो निश्चित है कि दण्डनायक दान के मर्म को खोलेगा, कृपणता के कलंक को धोने की चेष्टा करेगा पर कितनी ? प्रश्न अतल में खोने लगा।

"उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया।" भगवान् अमिताभ के नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे। वे जैसे कहीं दूर से कुछ कह रहे हों "उसके आगत को न जानकर तुम दु:खी हो रहे हो।"

कुछ होने वाला है, निश्चित ही कुछ अद्भुत दान का मर्म अब उद्घाटित होगा। आनन्द अब शान्त हो गए, क्योंकि वे जानते थे कि भविष्य का स्पष्टीकरण तथागत का स्वभाव नहीं है, वे संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं।

वैशाली का प्रचण्ड दण्डनायक— सम्मानित गणश्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं। वह नगर में जिस ओर से निकल जाय महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनों से उठकर उसे अभिवादन करते हैं। उस उग्रतेजा दण्डनायक का अपमान ! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों, भिक्षुओं से भरी सभा में उसे कृपण का सम्बोधन ! गौतम के शत्रु इससे सन्तुष्ट हुए। उन्होंने सैनिकों के प्रधान को भड़काने का अवसर पा लिया था।

"स्वामी !" साथ के सैनिक स्वत: उत्तेजित थे। दण्डनायक के लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया। उसके नेत्र अंगार हो रहे थे मुख अरुण हो गया "भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है।"

"भद्रसेन ! तुम भगवान् को अपशब्द कहने की धृष्टता कर रहे हो।" दण्डनायक ने दृष्टि कठोर कर ली। "केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है।"

"आपका अपमान किया उस.........।"

"चुप रहो ! झिड़क दिया दण्डनायक ने। शूर को कुछ समझदार भी होना चाहिए। मैं अपनी बात स्वयं समझ सकता हूँ।" वह सोचता हुआ रथ पर जा बैठा। सैनिक मुँह बाए खड़े थे। घर पहुँचने पर चिन्तन की गति थमी नहीं अविराम बढ़ती गई। दान सत्कार्य में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का नियोजन यही न। विचारों का घुमड़न क्रिया में बदले नहीं रहता। चिन्तन की तीव्रता का मतलब है गतिशील कर्म। ऐश्वर्य लुटने लगा, पत्नी सहयोगिनी थी। दीन, दरिद्र, भिखारी, आर्त सभी कृतार्थ हो रहे थे। साधनों के बदले आशीषें बरस रही थीं। चतुर्दिक ख्याति फैल गई।

ख्याति के स्वर आनन्द के कानों तक पहुँचे। उनकी वाणी ने उसे बुद्ध तक पहुँचाया। वह सुनकर मुस्कराए— सम्पदा को लुटा फेंकने का नाम तो दान नहीं है। पात्र-कुपात्र का विचार किए बिना संचित साधनों को भावुकतावश फेंकने लगना, अर्जित पूँजी को अँधेरे कुँए में डालना है जिसके सत्परिणाम कम दुष्परिणाम अधिक देखने में आते हैं और समय आने पर सत्पात्र के आह्वान को अनसुना कर देना साँप की तरह कुण्डली बनाकर अर्जित साधनों पर बैठ रहना, पास आने वाले को काटने दौड़ना उससे कहीं अधिक घातक है। आनन्द मौन हो उनकी वाणी सुनते रहे। दान का मर्मोद्घाटन अभी बाकी था।

अगले दिन प्रात:कालीन प्रवचन की समाप्ति पर सबने देखा कि कल की भाँति दण्डनायक आज भी करबद्ध सम्मुख खड़े हैं।

"भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी कभी किसी से बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है। आज दण्डनायक को प्रार्थना करने का भी अवकाश नहीं दिया" "तुम दान करो प्रथम। प्रथम कोटि का दान दे सकने का साहस जुटाओ।"

जैसी प्रभु की आज्ञा। बुद्ध की वाणी ने उपस्थित जन-समुदाय को इतना आश्चर्यचकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायक

की शान्त स्वीकृति ने । दण्डनायक ने अपने सर्वस्वदान की चर्चा तक नहीं की । उन्होंने तो कल की भाँति मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथ की ओर ।

चिरंजीव आनन्द आज भी प्रभु के पृष्ठप्रान्त में थे । आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक । आज उनकी दृष्टि बड़ी सावधानी से उनके मुख पर स्थिर थी । आज नेत्रों में आँसुओं की जगह अपार गाम्भीर्य था । गणनायक, सामान्य नागरिक, श्रेष्ठिवर्ग, भिक्षुगण— आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक उनकी ओर नहीं देख सका । आज सबके नेत्र प्रभु की ओर उठ गए । प्रभु इन्हें कृपण कहते हैं ? क्या रहस्य है ? तथागत के इस अद्भुत व्यवहार का ? वैशाली के दण्डनायक से और किस दान की उन्हें आशा है ?

दूसरी ओर दण्डनायक के मन में मन्थन की गति अविराम थी । सत्कार्य में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का नियोजन दान है । पर सत्कार्य और सत्प्रयोजन क्या है ? इसका निर्धारण कौन करे ? टिक्-टिक् करती चिन्तन की सुई यहाँ आकर अटक गई । यह निर्धारण तो युगावतार ही कर सकते हैं, युगद्रष्टा से ही सम्भव है यह महान् निर्णय । उन्हें स्वयं की भूल समझ में आ रही थी । सच अभी तक तो दान के नाम पर तो सिर्फ अहं का पोषण रहा । नाम को फैलाने, यश को बटोरने की ओछी शुरूआत भर हुई । ओह ! मन प्रायश्चित से भर उठा और स्वयं की शक्तियाँ क्या हैं ? कहाँ है, इनका स्रोत ? अन्तराल के किसी कोने से उभरते इन सवालों के साथ जवाब भी डाले, शक्तियों के मूल हैं श्रम और समय । इनका स्रोत है स्वयं का व्यक्तित्व । तब तो श्रेष्ठतम दान है कुछ और सोचते हैं इतने में सहधर्मिणी भागती हुई आयी । उल्लास और उत्साह के अतिरेक में वह हाँफ रही थी बड़ी मुश्किल से कह सकी, स्वयं प्रभु द्वार पर पधारे हैं ।

कानों में जैसे संजीवनी का घोल पड़ा । वह धीरे-से उठे पत्नी का हाथ पकड़ा द्वार पर आए । चरणों में प्रणति निवेदन करते हुए बोले, "प्रभु सम्पत्ति आपकी, निवास आपका और हम दोनों आपके ।"

महादान ! का यह स्वरूप देख सभी आश्चर्य-चकित थे । किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था । सभी के आश्चर्य के आवरण को तोड़ते हुए स्वयं युगावतार की वाणी गूँजी, सृष्टि के इतिहास में युगों बाद विरले क्षण आते हैं जब परात्चेतना स्वयं मानव से दान की गुहार करती है । ऐसे में रंग-बिरंगा पत्थर धातुओं के टुकड़ों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है स्वयं के श्रम और समय का दान और इससे भी कहीं श्रेष्ठतम है स्वयं का, स्वयं के व्यक्तित्व का दान । दान के ये तीन प्रकार श्रेष्ठ— श्रेष्ठतम हैं । उस दिन सायंकाल भिक्षु संघ में एक भिक्षु और एक भिक्षुणी बढ़ गई । जिसे संघ ने महानाम और क्षेमा के नाम से जाना । भगवान् स्वयं उन्हें समझाते हुए कह रहे थे "धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए समर्पित परिव्राजकों लोक-जीवन को अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा हे मानव ! उठो दान के मर्म को समझो । जो कुछ है उसी से नहीं कुछ है तो स्वयं से ज्योति का सत्कार करो । नवयुग तुम्हारे द्वार तक जयघोष करता आ जाएगा ।

शाश्वत-सनातन : आंतरिक सौन्दर्य

मगधराज बिम्बसार के लिये आज का दिन बड़े हर्ष और गौरव का दिन है । भगवान् बुद्ध लोक-यश को निस्सार बताते हैं वे चाहते हैं ऊँच-नीच और छोटे-बड़े का भेद संसार में न रहे, जीव मात्र परस्पर समता, ममता और शुचिता का जीवन-यापन करते हुए सुखपूर्वक रहें, वे छोटे बनकर रहना पसन्द करते है इसीलिए राजकीय अतिथि भवन में ठहरने की अपेक्षा उन्होंने बेलवन को अपना विश्राम-स्थल चुना है तथापि अतिथि वे सम्राट बिम्बसार के ही हैं ।

एक सामान्य परिचारिका से लेकर मगध नरेश तक की, आज की सज-धज राज्याभिषेक पर्व को फीका कर रही थी । समस्त स्वागत साज तैयार हैं किन्तु मगध साम्राज्ञी क्षेमा अब तक अन्यमनस्क हैं । अन्त:पुर के स्वाध्याय कक्ष में वे आचार्य धर्मपाल का जीवन-दर्शन पढ़ रही हैं । सागल नरेश भगवान् बुद्ध के परम निष्ठावान शिष्य थे उन्हीं की राज-कन्या क्षेमा के अन्त:करण में तथागत के प्रति उपेक्षा का यह भाव खटकने वाला तो था ही । स्वयं नरेश उपस्थित हुये और पूछा— प्रियतमे ! समस्त राज-प्रासाद तथागत की अगवानी के लिये तैयार है किन्तु आपने अभी तक अपने परिधान भी बदले नहीं । राज-कुल अतिथि की यह अवमानना अच्छी नहीं— उठो ! और स्वागत हेतु शीघ्र तैयार हो जाओ ।

करवट के साथ पुस्तक का प्रस्तुत पृष्ठ बदलते हुए साम्राज्ञी बोली— महाराज ! जिस व्यक्ति के लिए संसार निस्सार हो, सौंदर्य निस्सार हो उस व्यक्ति के सम्मुख जाकर संसारी जीव क्या करे ? वहाँ जाऊँगी तो उनका प्रवचन यही तो होगा— यह संसार भ्रम है, सांसारिक सुख मिथ्या है और मिथ्या है सौंदर्य जिनके आधार पर ही हम अपने जीवन को सजाते-सँवारते और सुख की कल्पना करते हैं ?

'आखिर गृही हो या विरक्त'— बिम्बसार बोले— जाना तो एक न एक दिन सब को ही पड़ेगा इसलिए पारलौकिक लक्ष्य की तैयारी जाने से पूर्व किया जाना ठीक है । यदि इस तरह का ज्ञान और मार्गदर्शन किसी योग्य पथ प्रदर्शक से मिलता है तो इसमें बुरा क्या ? इसे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिए प्रिये ! साम्राज्ञी ने कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया ! इसी बीच तथागत वहाँ आ पहुँचे । समस्त राज-परिवार उनके स्वागत में दौड़ पड़ा । भगवान् बुद्ध ने क्षेमा जब कन्या ही थी तभी सागल में उसे देखा था । इन्होंने क्षेमा की कुशल-क्षेम पूछी और साथ ही समझ भी गये कि उसका सौंदर्य अहंकार ही उसे यहाँ आने में बाधक बना है ।

इधर वे अन्य सब लोगों से बातचीत कर रहे थे उधर उनके योग प्रभाव से क्षेमा को योग निद्रा आ गई । उसने देखा एक अत्यन्त सौंदर्यवती अप्सरा भगवान् बुद्ध को चँवर डुला रही है । कुछ ही निमिष के स्वप्न में उन्होंने अप्सरा की बाल्यावस्था, यौवन और जरा तीनों अवस्थाएँ देखीं । उसका शिथिल-जर्जर गाल, पके बाल, धँसी आँखें देखते ही क्षेमा का अन्तर्मन व्याकुल हो उठा— कहाँ गया उसका यौवन, कहाँ गया वह सौंदर्य जो अंग-अंग से रूप-भाव टपका रहा था । नींद टूट गई और उसके साथ ही उनकी मोह निद्रा भी । मनुष्य

जीवन कितना निस्सार है, मनुष्य अपने आपको कितना सजाता संवारता है पर अंत में विनाश के अतिरिक्त हाथ कुछ नहीं आता— आज सारी भौतिकता बालू के ढेर की भाँति ढह गई। क्षेमा दूसरे क्षण तथागत के चरणों में पड़ी क्षमा माँग रही थी और पूछ रही थी 'आत्मोद्धार का मार्ग'।

तथागत मुस्कराये और बोले— बेटी क्षेम ! आत्मोद्धार और आत्म-कल्याण का मार्ग मिलेगा अवश्य— तुम अपने बाह्य सौंदर्य को भूलकर भीतरी सौंदर्य की तलाश करो। तुम्हारी जिज्ञासा जितनी प्रबल होती जायेगी लक्ष्य उतनी ही तेजी से अपने आप आता चला जायेगा।

सत्य एक ही है, शाश्वत एवं सनातन है

"श्रावस्ती नरेश चन्द्रचूड़ आपका दर्शन करना चाहते हैं भगवन् ! सुना है, अनेक धर्म, अनेक सम्प्रदायों की परस्पर विरोधी मान्यताओं के कारण राजन् अत्यधिक विभ्रमित हैं। कल्याणप्रद धर्म को जानने की जिज्ञासा ही उन्हें आपके दर्शनार्थ खींचकर लाई है ! आर्य आदेश हो तो उन्हें आपके सम्मुख उपस्थित करूँ ?" एक भिक्षुक ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया।

तब वे श्रावस्ती के एक सघन एकान्त में बने संघाराम में विश्राम कर रहे थे।

तथागत मुस्कराये और भिक्षुक की ओर एक खोजपूर्ण दृष्टि डालते हुए बोले "तात ! चन्द्रचूड़ महान् धर्मात्मा सम्राट है, उन्हें शीघ्र ही यहाँ लेकर आओ।"

भिक्षुक चला गया। थोड़ी ही देर में महाराज चन्द्रचूड़ तथागत भगवान् बुद्ध के समीप आ पहुँचे। देवमूर्ति को मंगल प्रणाम निवेदन कर वे एक सामान्य अभ्यागत की भाँति एक ओर बैठ गये। जिज्ञासु की उपयुक्त श्रद्धा ही साधक के अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश लाती है। श्रद्धा अर्थात् समर्पण— अपने मन को कोरा कागज बनाकर प्रस्तुत करना ताकि सत्य का प्रतिबिम्ब उसमें यथावत् झाँक सके। भगवान् महाराज की विनम्रता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। पर उन्हें इस बात का हार्दिक दुःख भी हुआ कि व्यक्ति की श्रद्धा का तथाकथित स्वार्थ और सम्प्रदायवादी साधु-सन्त किस तरह शोषण करते हैं। श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है सन्देह नहीं, किन्तु बुद्धिहीन श्रद्धा— जहर मिले दूध की तरह अभिशाप भी है जो शिष्य और मार्गदर्शक दोनों का ही अहित करती है।

बात थोड़ी टेढ़ी थी। चन्द्रचूड़ का समाधान— सारी प्रजा का समाधान हो सकता था, इसलिए बात इस ढंग से समझानी आवश्यक थी जिससे चन्द्रचूड़ को मतमतान्तरों का वितण्डावाद फिर विभ्रमित नहीं कर पाता और उनकी श्रद्धा का विनाश भी बच जाता। दिग्भ्रान्त बुद्धि ही नास्तिकता है वे यह बात जानते थे। अतएव जिज्ञासु का समुचित समाधान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था।

तब तो उन्होंने महाराज के विश्राम की व्यवस्था कराई और सामान्य कुशल मंगल की चर्चा तक ही विचार-विमर्श सीमित रखा किन्तु जैसे ही प्रातःकाल हुआ संघाराम में निवास करने वाले स्नातक-अभ्यागत यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि— वहाँ प्रातःकाल से ही एक मोटा, बलवान हाथी खड़ा है और एक ओर श्रावस्ती के अनेक जन्मान्ध बैठे हुए कुछ चर्चा कर रहे हैं।

महाराज चन्द्रचूड़ को साथ लेकर तथागत वहाँ जा पहुँचे, उन्होंने अन्धों से प्रश्न किया— "बान्धव ! आप लोगों ने हाथी देखा है क्या" ? "नहीं भगवन" — सबने करबद्ध एक स्वर से निवेदन किया। ठीक है कहकर बुद्ध ने एक-एक अन्धे को हाथी दिखाया। हाथ से टटोलते हुए किसी-किसी ने हाथी की पीठ, किसी ने सूँड़, किसी ने कान, दाँत तथा पाँव को देखकर ही उन्होंने उसी अंग को हाथी समझा तथा यह जानकर बड़े प्रसन्न हुये कि आज उनकी हाथी से पहचान हो गई।

अब तथागत ने प्रश्न किया— "बताइये हाथी कैसा होता है ?" एक ने उत्तर दिया खम्भे की तरह— उस बेचारे ने हाथी के पाँव स्पर्श किये थे— तो कान वाले ने हाथी की आकृति सूप जैसी बताई— पूँछ वाले ने उसे रज्जौयथा बताया— सिर वाले ने पत्थर के समान यह सब सुनते ही महाराज चन्द्रचूड़ हँस पड़े और बोले भगवन् ! यह सब तो हाथी के किसी अंग भर की जानकारी दे रहे हैं, हाथी तो इन सब जानकारियों से मिली-जुली आकृति का होता है। भगवान् बुद्ध ने कहा— "तात ! धर्म का सनातन स्वरूप भी ऐसा ही है। मत-मतान्तर एक-एक अंग की समीक्षा, प्रशंसा और प्रचार करते हैं। उनसे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं उन सबके समन्वय में ही धर्म का मर्म छिपा हुआ है। उठो ! अपनी विवेक बुद्धि से हर ग्रन्थ, हर पन्थ को टटोलो तो सत्य धर्म का स्वरूप अपने आप प्रकट हो जायेगा।"

सफलताएँ टिकी हैं, प्रचण्ड मनोबल पर

भिक्षु संघ के साथ विहार करते हुए भगवान् बुद्ध शाल्यवन में एक वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। धर्म चर्चा के प्रसंग में एक शिष्य ने उनसे पूछा भगवन् ! कई लोग दुर्बल और साधनहीन होते हुए भी बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जबकि अच्छी स्थिति वाले साधन सम्पन्न लोग भी उन कार्यों को करने में असफल रहते हैं। इसका क्या कारण है ? क्या पूर्वजन्मों के पाप अवरोध बन कर खड़े हो जाते हैं ?

'नहीं' तथागत ने कहा और एक कथा सुनाने लगे— "विराट नगर के राजा सुकीर्ति के पास लौहशृंग नामक एक हाथी था। राजा ने कई युद्धों में इस पर आरूढ़ होकर विजय प्राप्त की थी। शैशव से ही लौहशृंग को इस तरह प्रशिक्षित किया था कि वह युद्ध कला में बड़ा प्रवीण हो गया था। सेना के आगे चलते हुए पर्वताकार लौहशृंग जब अपनी क्रुद्धावस्था में प्रचण्ड हुँकार भरता हुआ शत्रु सेनाओं में घुसता था तो देखते ही देखते विपक्षियों के पाँव उखड़ जाते थे।

लेकिन जन्म के बाद जिस प्रकार सभी प्राणियों को युवा और जरावस्था से गुजरना पड़ता है, उसी क्रम से लौहशृंग भी वृद्ध होने लगा, उसकी चमड़ी झूल गई और युवावस्था वाला पराक्रम जाता रहा। अब वह हाथीशाला की शोभा मात्र बनकर रह गया। उपयोगिता और महत्त्व कम हो जाने के कारण उसकी ओर पहले जैसा ध्यान

भी नहीं था । उसे मिलने वाले भोजन में कमी कर दी गई । एक बूढ़ा सेवक उसके भोजन पानी की व्यवस्था करता, वह भी कई बार चूक कर जाता और हाथी को भूखा-प्यासा ही रहना पड़ता ।

बहुत प्यासा होने और कई दिनों से पानी न मिलने के कारण एक बार लौहशृंग हाथीशाला से निकल कर पुराने तालाब की ओर चल पड़ा, जहाँ उसे पहले कभी प्रायः ले जाया जाता था । उसने भरपेट पानी पीकर प्यास बुझाई और गहरे जल में स्नान के लिए चल पड़ा । उस तालाब में कीचड़ बहुत था दुर्भाग्य से वृद्ध हाथी उसमें फँस गया । जितना भी वह निकलने का प्रयास करता उतना ही फँसता जाता और आखिर गरदन तक कीचड़ में फँस गया ।

यह समाचार राजा सुकीर्ति तक पहुँचा, तो वे बड़े दुःखी हुए । हाथी को निकलवाने के कई प्रयास किये गये पर सभी निष्फल । उसे इस दयनीय दुर्दशा के साथ मृत्यु मुख में जाते देखकर सभी खिन्न थे । जब सारे प्रयास असफल हो गये, तब एक चतुर सैनिक ने युक्ति सुझाई । इसके अनुसार हाथी को निकालने वाले सभी प्रयत्न करने वालों को वापस बुला लिया गया और उन्हें युद्ध सैनिकों की वेशभूषा पहनाई गई । वे वाद्ययन्त्र मँगाये गए जो युद्ध के अवसर पर उपयोग में लाए जाते थे ।

हाथी के सामने युद्ध नगाड़े बजने लगे और सैनिक इस प्रकार कूच करने लगे जैसे वे शत्रुपक्ष की ओर से लौहशृंग की ओर बढ़ रहे हैं । यह दृश्य देखकर लौहशृंग में न जाने कैसे यौवन काल का जोश आ गया । उसने जोर से चिंघाड़ लगाई तथा शत्रु सैनिकों पर आक्रमण करने के लिए पूरी शक्ति से कण्ठ तक फँसे हुए कीचड़ को रौंदता हुआ तालाब के तट पर जा पहुँचा और शत्रु सैनिकों पर टूट पड़ने के लिए दौड़ने लगा । बड़ी मुश्किल से उसे नियन्त्रित किया गया ।''

यह कथा सुनाकर तथागत ने कहा— ''भिक्षुओ ! संसार में मनोबल ही प्रथम है । वह जाग उठे तो असहाय और अवश प्राणी भी असंभव होने वाले काम कर दिखाते हैं तथा मनुष्य अप्रत्याशित सफलताएँ प्राप्त करते हैं ।

निष्काम सेवा बुद्धि सर्वोपरि साधन

प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन में कुछ जिज्ञासुओं को जीवन की सही दिशा में अभिप्रेरित कर तथागत ने आत्म-कल्याण के लिए सभी मुमुक्ष जनों को आह्वान किया और हजारों लोग 'धर्मं शरणं गच्छामि' की प्रतिज्ञा कर आगे आये । इस आह्वान को घर-घर पहुँचाने के लिए जो उत्साही-जन कृतसंकल्प हुए, उन्होंने समस्त पारिवारिक और सांसारिक दायित्वों से उपराम होकर स्वयं को लोक-कल्याण के लिए समर्पित करने को आत्मदान किया ।

इन्हीं लोक-सेवी उत्साही और संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर लोक-मंगल का कार्य करने के लिए उद्यत मनस्वी साहसियों का एक संगठन बना— भिक्षु संघ और संघ के सदस्य भिक्षु कहे जाने लगे ।

एक-एक भिक्षु का तथागत को ध्यान था और यह भी कि कौन-कैसा है ? एक बार उन्हें किसी भिक्षु का समाचार नहीं मिला और न ही वह दिखाई दिया । अपने समीप खड़े भिक्षु भदन्त आनन्द से उन्होंने पूछा कि अमुक भिक्षु कहाँ है तो भदन्त-आनन्द ने उत्तर दिया— ''वह अतिसार से पीड़ित है ।''

सुनते ही तथागत बोले— ''चलो उसे देख आयें ।''

भदन्त आनन्द और कुछ अन्य भिक्षु भी बुद्ध के साथ हो लिए । बुद्ध ने देखा रुग्ण भिक्षु अपनी कुटिया में अकेला बे-सुध पड़ा है । किसी के द्वारा परिचर्या न किये जाने के कारण वह कुटिया में ही मल-मूत्र से लिपटा सना पड़ा था । भगवान् ने उसे देख कर कहा— ''भाई तुम्हें क्या कष्ट है ।''

''मुझे अतिसार है भगवन्''— भिक्षु ने कहा ।

''क्या ? कोई भी तुम्हारी परिचर्या को नहीं आया ?''

''नहीं आया भगवन् ।''

''तो भिक्षु ऐसा क्यों हुआ कि भिक्खुभाल तुम्हारी देखभाल नहीं करते ?''

''भगवन् वे सब योगसाधनाओं में निरत रहते हैं मैंने यही सुना है । इसलिए उन्हें मेरी चिन्ता नहीं है, यह भी वे लोग कहते हैं ।''

अपने पास खड़े भिक्षुओं से कुछ न कहते हुए तथागत ने भदन्त आनन्द से कहा— ''जाओ आनन्द, जल ले आओ । हम इस भाई की सेवा करेंगे ।''

''हाँ भगवन् !'' आनन्द ने कहा और जल लेने को चल दिया । जब जल कलश आ पहुँचा तो भगवान् ने स्वयं जल डाला और अपने ही हाथों से भिक्षु का सारा शरीर धोया । तथागत को स्वयं परिचर्या करते देख वहाँ खड़े भिक्षुगण भी परिचर्या में हाथ बँटाने लगे । तथागत ने किसी से कुछ कहा नहीं ।

संध्या होने को थी । संध्याकालीन प्रार्थना के लिए सभी भिक्षुगण एकत्र हो रहे थे । परिचर्या के उपरान्त तथागत बैठक में पहुँचे और उन्होंने बिना किसी भूमिका के भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा— ''भाइयो, क्या हममें से कोई एक भिक्षु रोगी है ।''

''हाँ भगवन्, है तो ।''

''उसे क्या कष्ट है ।''

''भगवन् उस भाई को अतिसार है ।''

''उसकी देख-भाल कौन कर रहा है ?''

''कोई नहीं ।''

''क्यों ?''

सब चुप थे । थोड़ी देर सन्नाटा छाया रहा फिर बुद्ध ही बोले— मैं जानता हूँ । तुम सब को अपने आत्म-कल्याण की चिन्ता है, पर याद रखो योग-साधनाओं से वह सम्भव है या नहीं यह तो मुझे ज्ञात नहीं, पर जो सच्चे हृदय से दुःखी जनों की सेवा निष्काम भाव से करते हैं उनकी स्वर्ग मुक्ति, आत्म-कल्याण सर्वथा अक्षुण्ण है, उसे कोई भी उससे विचलित नहीं कर सकता ।

आत्म एव सनातनो

आर्य पिता शुद्धोधन ने अनुमति दे दी है तात ! राज-प्रासाद में घिरा हुआ जीवन नीरस-सा प्रतीत होता है, राज्य भोग अब तृप्ति

नहीं दे पाते। प्रकृति-माता की गोद आकर्षित करती है उठो और स्यंदन (रथ) साजो, हम वन-विहार के लिये प्रस्थान करना चाहते हैं ? सिद्धार्थ ने सारथी को सम्बोधित करते हुये कहा।

''राजकुमार की आज्ञा शिरोधार्य !'' कहकर सूतक ने उन्हें प्रणाम किया। अश्वशाला के श्रेष्ठतम चार चारु— काबुली हय निकाले उसने राश बाँधी, अम्बारी डाली और चन्दन के बने रथ पर उन्हें जोत दिया। स्वर्ण-तार-जड़ित राजसी परिधान धारण कर राजकुमार राज-भवन से बाहर आये तो ऐसा लगा जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा छिटक कर निकल आया हो। सेवकों ने बढ़कर सहारा दिया। सिद्धार्थ रथारूढ़ हुये और अश्व-दल द्रुत-गति से आगे बढ़ चला।

राजधानी के गगनचुम्बी भवन पार कर रथ जनपथ पर मंद मंथर गति से बढ़ रहा था तभी एक महिला पथ पार करने की शीघ्रता में लड़खड़ा कर गिर गई। वैरागी राजकुमार के आदेश से रथ रुक गया। कुछ लोग आगे आये महिला को उठाते हुए उन्होंने अभ्यर्थना की— कुमार देव ! रथ के कारण नहीं महिला अभाव जन्य स्थिति के कारण गिर गई है। महाराज ! निर्धनता संसार का सबसे बड़ा अभिशाप है, चार पुत्र पहले हो चुके हैं उस पर भी मातृत्व बोझ, सूखी रोटियों पर पलने वाली इस अभागिन को दो दिन से अन्न भी नहीं मिला, इसी से अशक्त हो गई है यह। इसमें आपका क्या दोष ? आप वन-विहार के लिये जाइये, देव ! जाइये।

सूत-पुत्र ने रथ आगे बढ़ाया। सिद्धार्थ ने प्रश्न किया तात् ! अभाव किसे कहते हैं, यह महिला क्यों अभावग्रस्त है ? हम अभाव-ग्रस्त क्यों नहीं ? सूत ने सिर ऊपर आकाश की ओर उठाया और फिर अश्वों की राश ढीली करते हुये कहा— आर्य पुत्र ! जीवनयापन की सामान्य सुविधाओं का उपलब्ध न होना अभाव है। संसार के लोग इस स्थिति में इसलिए हैं कि कुछ लोग सम्पत्ति का परिग्रह करने को बड़प्पन मानते हैं। आप राज-पुत्र हैं महाराज ! सारी प्रजा के परिश्रम का लाभ आपको मिलता है तो आपको क्यों अभाव होगा—अभावग्रस्त तो प्रजा होती है जिसे मात्र शोषण की वस्तु मानकर सत्ताधारी लोग सताया करते हैं।

असमानता— संसार का एक दु:ख है, रथ अब राजधानी पार कर चुका था तभी आगे से आता हुआ दिखाई दिया वृद्ध। जरा ने जीर्ण कर दिया था गात जिसका। कमर झुक गई थी, दाँत टूट गये थे, आँखें धँस गई थीं। एक लकड़ी के सहारे चल रहे उस वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ ने दूसरा प्रश्न किया— सारथी ! इन आर्य पुरुष को क्या हुआ है जो ये झुककर चलते हैं ? दीर्घ नि:श्वास छोड़ते हुये सारथी ने निवेदन किया तात् ! यह शरीर की चौथी अवस्था जरावस्था— सबको ही एक दिन वृद्ध होना पड़ता है। संसार का कोई भी व्यक्ति इससे बच नहीं पाता। इन्द्रियों की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तब चाहे वह मूर्ख हो या पंडित, गृहस्थ हो या विरक्त, रंक हो या राजा सबकी यही अवस्था होती है।

हम भी नहीं बच सकते तात् ! हमें तो कोई अभाव नहीं विधाता को हम जरा को दूर रखने के लिए स्वर्ण दे सकते हैं, मणि-मुक्ता दे सकते हैं— सिद्धार्थ कह रहे थे और सारथी समझा रहा था तात्, संसार के तुच्छ लोग लोभ और लालच में पड़कर नैतिकता का नियमोल्लंघन कर सकते हैं, ईश्वरीय विधान तो पत्थर की चट्टान के समान अटल और अडिग होते हैं।

क्रम अभी चल ही रहा था कि सामने से कुछ ग्रामीण-जन आते दिखाई दिये। वंश खपाटिकाओं पर श्वेत वस्त्रवेष्ठित कोई वस्तु चार व्यक्ति अपने कन्धों पर रखे चले आ रहे थे, उन्हें देखते ही सारथी ने रथ खड़ा कर दिया। रथ से उतर कर सारथी तीन पग आगे बढ़ा और भूमि प्रणाम कर प्रदक्षिणा की और फिर रथ में आ बैठा— हाँक दी अश्व फिर चल पड़े।

राजकुमार जो अभी चित्रवत् देख रहे थे बोले— सारथी, यह कौन लोग हैं ? इनके कन्धों पर क्या है ? तुम इन्हें देखकर रथ से क्यों उतरे ? तुमने किस देवता को प्रणाम किया ?

एक दिन एक बच्चा था तात् ? फिर वह बड़ा हुआ— सारथी समझा रहा था सिद्धार्थ को मानो वह कक्षा 'अ' वर्ग के नव-प्रविष्ट विद्यार्थी हों— उसने विवाह किया, संतानोत्पत्ति की। धन-ऐश्वर्य, भवन, पुत्र, कलम— न मालूम क्या-क्या अर्जित किया उसने पर मृत्यु के एक ही आक्रमण ने इसे धराशायी कर दिया— मृत्यु के मुख में गया वही बालक है। यह आर्य अब लोग इसे ले जायेंगे और अग्नि में भस्मसात् कर देंगे इसके पार्थिव शरीर को। मृत्यु का यह देवता बड़ा प्रबल है। इसे हर कोई प्रणाम करता है तात् ! इससे आप भी बच नहीं सकते।

सांसारिक विषमताएँ, जरा और मृत्यु—फिर संसार का सत्य क्या है ? सनातन क्या है ? सूत पुत्र ! राजकुमार का गला भर आया था, भावनायें— उमड़ने लगी थीं। सारथी ने समझाया— तात् ! ज्ञानी जन कहते हैं सत्य और सनातन तो यह आत्मा है जो उसे प्राप्त कर लेता है पार्थिव अभाव, अशक्ति, अज्ञान उसे दु:खी नहीं कर पाते।

ठीक है सूत पुत्र ! अब तुम रथ रोक दो, पग-पग पर परिवर्तनीय सांसारिक सुख और वैभव व्यर्थ है। आत्मा ही शाश्वत है तो फिर आत्मा को ही प्राप्त करना चाहिए और अब मैं उसे ही प्राप्त करने जाऊँगा— तुम यह रथ यह सन्देश लेकर लौट जाओ कि सिद्धार्थ अब कभी लौटकर नहीं आयेगा।

सूतक खड़ा-खड़ा निर्निमेष देख रहा था और तब तक खड़ा देखता रहा जब तक कि लक्ष्य-सिद्धि का साधक सिद्धार्थ पूरी तरह आँखों से ओझल नहीं हो गया।

साधना का मर्म

भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन अभियान देशव्यापी हो रहा था। भाव-भरे अन्त:करण प्रचण्ड वैचारिक क्रान्ति की लहरों से आन्दोलित हो रहे थे। एक-से बढ़कर एक प्रतिभाएँ इस युग अभियान में हिस्सा बँटाने के लिए सुख तथा ऐशो-आराम से भरे पूरे जीवन को तिलांजलि देकर आगे आ रहीं थीं। धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करने वालों में से एक युवा राजकुमार भी था। उसका नाम था श्रोण।

'श्रोण' कभी अत्यन्त विलासी और भोगी था। वह कभी महल के बाहर नहीं निकलता था। आमोद-प्रमोद में ही उसका समय बीतता

था। खुले आसमान की कड़ी-धूप उसने कभी नहीं सही थी। जिस मार्ग से चलता उसमें फूल और मखमल की चट्टियाँ बिछायी जाती थीं। किशोर बालाएँ उसे नहलाती तथा शृंगार करती थीं। अत्यन्त रूपवती पत्नी थी। जो हर तरह से उसका मन बहलाती थी।

पर अब तो उसे सारे सुख निस्सार जान पड़ रहे थे। संन्यास ग्रहण करते ही श्रोण की कठोर साधना आरम्भ हुई। जो कभी मखमल पर पैर रखकर चलता था आज वह काँटों पर चल रहा था। दूसरे भिक्षु दिन में एक बार भोजन करते थे वह कई दिनों तक निराहार रहता था। परिव्रज्या के लिए परिभ्रमण में अन्य भिक्षु कड़ी धूप से बचने के लिए वृक्षों की छाया में बैठते थे श्रोण जान-बूझ कर कड़ी धूप में खड़ा रहता। सर्दी से बचाव के लिए वह वस्त्रों का प्रयोग नहीं करता— नग्न पड़ा रहता था। सुकुमार कोमल-काया इस दबाव को सहन न कर सकी— सूखकर काली पड़ गई। पैरों में काँटे चुभने एवं छाले पड़ जाने के कारण खून और मवाद बहने लगा। ऐसा लगता था कि श्रोण ने तप के नाम पर शरीर का अस्तित्व ही समाप्त कर लेने का संकल्प कर रखा हो। शारीरिक वेदना के साथ साथ मन में व्यग्रता, असन्तोष और अशान्ति भी बढ़ती जा रही थी।

भगवान् बुद्ध को उसकी सूचना मिली। महाप्राज्ञ को यह समझते देर न लगी दिग्भ्रान्त है। श्रोण से उन्होंने पूछा ''वत्स। तुम तो सितार बजाने में पारंगत हो।'' स्वीकृति में श्रोण ने सिर हिलाया। बुद्ध ने दूसरा प्रश्न पूछा यदि वीणा के तार ढीले हों तो क्या संगीत पैदा होगा ? 'नहीं' श्रोण ने उत्तर दिया। और यदि अत्यधिक कसे हों 'तो बुद्ध ने कहा।' 'तो बजाने पर तार टूट जायेंगे' श्रोण का उत्तर था। भगवान् बुद्ध ने तीसरा प्रश्न पूछा ''सुमधुर संगीत का क्या रहस्य है ?'' श्रोण ने कहा ''वीणा के तार न तो ढीले हों और न ही अधिक कसे हुए'' । बुद्ध मुस्कराये उन्होंने कहा ''वत्स जीवन रूपी वीणा का भी यही नियम है। शान्ति, सन्तोष एवं आनन्द से युक्त संगीत की लहरें जीवन रूपी वीणा से तभी प्रस्फुटित होती हैं जब तार न तो अधिक शरीर की ओर कसे हों और न ही आत्मा की ओर ढीले। शरीर वह मन्दिर है जिसमें आत्मा निवास करती है। मन्दिर टूटा-फूटा जराजीर्ण होगा तो उसमें निवास करने वाले देवता भला कैसे प्रसन्न रह सकते हैं ? वीणा के तारों की भाँति शरीर और मन को कसें। पर इतना नहीं कि वे टूट जायें और जीवन रूपी संगीत निकालने में असमर्थ हो जायें।''

श्रोण को अपनी त्रुटि का भान हुआ। साधना का मर्म समझते और उसके अनुरूप सन्तुलित मार्ग अपनाने से मन की व्यथा-वेदना तथा अशान्ति दूर हुई। शान्ति-संतोष और आनन्द की धाराएँ बह चलीं जिसमें अवगाहन कर श्रोण धर्म-चक्र प्रवर्तन में अग्रिम भूमिका निभाने चल पड़ा।

मद्यपान के दुष्परिणाम

राजा सर्वमित्र के शासन का समय था। महात्मा बुद्ध उस समय बोधिसत्त्व शरीर में थे। उनकी विनम्रता, श्रमशीलता, उदारता, सदाचार और दान की वृत्तियों ने उनको इन्द्र की पदवी पर पहुँचा दिया था। किन्तु उस पद को प्राप्त होने पर भी वे कभी भी उसके ऐश्वर्य और विषय-सुख में आसक्त नहीं हुए। वे सदा ही अपने पद के उपयुक्त सेवा में ही तत्पर रहते। निरन्तर प्राणि-मात्र के कल्याण और हित में संलग्न रहते थे। संसार के लोगों को सद्गुणों से सम्पन्न, सुख और शान्ति-मय जीवन व्यतीत करते देख उनको प्रसन्नता का अनुभव होता था।

जिनकी वृत्तियाँ सुधर चुकती हैं, सुसंस्कृत हो चुकती हैं, जिनको संसार के भोगों की निस्सारता एवं अस्थिरता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुकता है। उनको संसार ही नहीं, स्वर्ग में भी सर्व-सुलभ, इच्छा मात्र से ही प्राप्त होने वाले वैभव और भोगों का उपभोग करने की इच्छा नहीं होती। वे जीव उन स्वर्गवासी देवों से भी श्रेष्ठ हैं। ऐसे जीवों को स्वर्ग में पहुँचकर भोग भोगने से पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आने वाली उक्ति चरितार्थ नहीं होती। उनको तो भूलोक और स्वर्गलोक दोनों ही समान होते हैं।

राजाओं में राज-वैभव, अविवेक और इन्द्रिय भोगों की लिप्सा के कारण प्रायः जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं वह राजा सर्वमित्र को प्रभावित किए हुए थे। उन्हें मदिरा पीने का व्यसन था। शराब का व्यसन साथी चाहता है। इसके व्यसनी को अपने साथ पीने के लिए अन्य साथियों की आवश्यकता होती है। वह स्वयं तो बिगड़ता ही है, दूसरों को भी ले डूबता है।

सर्वमित्र भी अपने साथ अपने मंत्री, सेनापति आदि राज-कर्मचारियों तथा राज्य के प्रतिष्ठित श्रेष्ठियों को भी पिलाता और विनोद करता था। इसका प्रभाव यह हुआ कि राज्य भर में अराजकता फैल गई। राज-कर्मचारी अपना काम ठीक नहीं करते थे। राजा का उनको भय नहीं था, इसलिए पूर्ण स्वच्छन्दता बरतते। प्रजा का बुरी तरह शोषण होने लगा। सभी जगह भ्रष्टाचार, दुराचार एवं पाप बुद्धि का बोलबाला हो गया। सत्यासत्य, न्यायान्याय, धर्माधर्म में लोगों की भेद बुद्धि समाप्त हो गई। राजा को इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। वह सदैव अपने रंग में मस्त पड़ा रहता था।

एक दिन राजा के कक्ष में विशेष तैयारियाँ की गईं। सभी अधिकारीगण व राज्य के गणमान्य व्यक्ति आमन्त्रित थे। मदिरा के बड़े-बड़े पात्र भर कर रखे गए। पीने के उपकरण भी यथास्थान सजाये गए। समय पर सब एकत्रित हो गए। थोड़ी-सी शिष्टाचार और विनोद की बातों के पश्चात् मदिरा-पान का क्रम चलने ही वाला था कि एक आगन्तुक को देखकर लोग चौंक उठे।

एक सुन्दर रत्न जड़ित स्वर्ण कलश, उसमें मुख तक मदिरा भरी हुई। कलश के ऊपर, मुख पर सुन्दर, सुगन्धित फूल भरे हुए। कलश हाथ में लिए, ताम्र वर्ण, गठीले सुडौल शरीर वाला, चमचमाते हुए नेत्र, उज्ज्वल स्वर्णिम जटायें, वल्कल एवं मृग चर्म धारण किए हुए एक ब्राह्मण ने कक्ष में प्रवेश किया। बेधड़क राजा के सिंहासन के पास पहुँच कर वहीं से वह बोलने लगा ''इस सुन्दर पात्र में सुरा भरी हुई है। इस का मुख सुन्दर सुगन्धित पुष्पों से ढका हुआ है; इसे कौन खरीदेगा ?

ब्राह्मण के आते ही राजा और उसके साथियों को, अपने आनन्द में बाधा पड़ने के कारण उसका आना बहुत बुरा लगा, किन्तु उसकी

प्रतिमा और ओजस्वी मुख-मंडल को देखकर उसकी ओर आकर्षित हो गए और उसकी ओर देखने लगे ।

जहाँ एक दोष होता है वहाँ दूसरे दोष स्वयं ही बिना बुलाये आ जाते हैं । राजा के शराबी होने के कारण वह नीति के ज्ञान से शून्य हो गया था । अपने यहाँ आने पर ऐसे ओजस्वी ब्राह्मण का अभिवादन करने का भी उसे ज्ञान न रहा । ब्राह्मण ने इस बात पर कोई ध्यान न दिया और अपने काम में लगा रहा ।

वह बोलता ही गया— "यदि इस लोक और परलोक की चिन्ता न हो, नरक-यातना का भय न हो तो इसे खरीद कर इस का उपभोग करो ।"

जिस उद्देश्य से (बोधिसत्व) इन्द्रदेव ब्राह्मण के वेष में यह नाटक करने आये थे । उसकी क्रिया आरम्भ हो गई । राजा सर्वमित्र के मस्तिष्क में ब्राह्मण की उल्टी बातें प्रभाव करने लगीं । वह सोचने लगा "यह कैसा विचित्र व्यक्ति है जो अपनी वस्तु के दोषों का वर्णन कर रहा है तथा उसके द्वारा उत्पन्न दोषों का परिणाम भी बतला रहा है । इसमें अवश्य ही कोई रहस्य है ।"

इन्द्र के रूप में बोधिसत्व भी राजा सर्वमित्र के व्यसनी होने से उत्पन्न राज्य की अव्यवस्था तथा अराजकता के कारण दु:खी जनता को कष्टों से मुक्त कराने के उपक्रमों में लगे थे । राजा को उसके व्यसन और उससे उत्पन्न होने वाले दोषों का परिचय करा के ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देना चाहते थे कि उसको इस वस्तु से घृणा हो जाए और वह सदा के लिए उससे मुक्त हो जाय । उसके व्यसन छोड़ने से सारा नक्शा ही पलट जायेगा । सभी अधिकारी और नागरिक स्वयं ही राजा के भय से उसको छोड़ देंगे और इसके परिणामस्वरूप बुद्धि शुद्ध होने से, राज्य की व्यवस्था ठीक होने से राज्य में सुख-शान्ति का प्रसार हो सकेगा, जनता दु:खों से छुटकारा पा सकेगी ।

ब्राह्मण किसी के बोलने की प्रतीक्षा किए बिना ही कहता चला जा रहा था— "राजन् ! इस स्वर्ण पात्र में न तो अमृत है और न दूध या दही है और न गंगा जल या सुगन्धित पुष्पों का सुमधुर मधु ही है । इसमें विष तुल्य मदिरा है । जो भी पीता है वह अपने वश में नहीं रहता । उसे भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान नहीं रहता । शरीर का यह हाल होता है कि वह जहाँ-कहीं भी, राज-मार्ग पर लड़खड़ा कर गिर-गिर जाता है । कुत्ता मुँह चाट कर उसमें पेशाब कर देता है । ले लो, खरीद लो ऐसा, अवसर फिर न मिलेगा । अवसर से लाभ उठालो । इसे पीकर नंगे होकर सड़क पर नाचोगे, पत्नी और युवती कन्या में तुम्हें अन्तर नहीं दिखायी पड़ेगा । इसका पान करके स्त्री अपने सुन्दर, स्वस्थ, धनी और पत्नीव्रत पति का भी तिरस्कार करती है । इसके प्रेम में बड़े-बड़े धनवान दरिद्र हो जाते हैं । राजाओं, महाराजाओं के राज्य समाप्त हो जाते हैं । यह पाप की मूर्ति और कुकर्मों की जननी है, रौरव नरक में घसीट ले जाती है जहाँ सदैव ही अग्नि की ज्वालायें धधकती रहती हैं ।"

ब्राह्मण की वाणी सर्वमित्र के अन्त:करण पर अपना प्रभाव डालती जा रही थी । उसका बोलना समाप्त करते-करते ही उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि अब तक के किये पर उसे भारी पश्चाताप होने लगा । उसे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अभी ही उसका शरीर [illegible] की ज्वालाओं से जलने लगा हो । वह ब्राह्मण के पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा— महात्मन् ! आपने अपने सदुपदेश से मेरी आँखें खोल दीं । मुझे अज्ञान की अन्धेरी कोठरी से निकाल लिया । आपकी मैं किस प्रकार बड़ाई करूँ । वास्तव में आपने मुझे बहुत बड़े काल के गाल से छुड़ा कर नया जीवन दिया है । अब मेरा शरीर पश्चाताप की अग्नि से जल रहा है, यह कैसे शान्त हो इसका उपाय बतलाइये । मैं आपसे सत्य कहता हूँ, आपके चरणों की सौगंध लेकर कहता हूँ कि मैं जीवन में फिर कभी इस निन्द्यपेय का प्रयोग न करूँगा और न ही अपने राज्य में किसी को करने दूँगा ।

बोधिसत्व बोले— सर्वमित्र ! तुम्हारे किए का अब यही प्रायश्चित है कि विवेक बुद्धि और विचारशीलता के साथ राज्य की व्यवस्था ठीक करो । तुम्हारे व्यसन में मस्त रहने से राज्य में भारी अव्यवस्था व अराजकता फैल रही है, प्रजा का शोषण हो रहा है, जनता बहुत दु:खी है । राजन् ! कर्मों को तो भोगने से ही मुक्ति मिलती है । पिछले किये का फल तो किसी न किसी रूप में भुगतना ही पड़ेगा किन्तु तो भी यदि आप फिर से प्रजा के कष्टों को दूर करके, उनको हर प्रकार की सुख-सुविधा पहुँचा कर उनकी शुभकामनायें प्राप्त कर सकें तो इस यत्न से मुक्त हो सकेंगे ।

सर्वमित्र उनके पैर पकड़कर अश्रुधारा बहाकर कहने लगा— "भगवन् मैं आपकी किस प्रकार सेवा करूँ ! आपने मुझे पुत्र और शिष्य की भाँति शिक्षा दी है, जो कोई नहीं कर सकता ।"

बोधिसत्व ने आशीर्वाद देकर कहा "मैं तुम्हारा सब विधि से कल्याण चाहता हूँ, तुम्हारे राज्य का कल्याण चाहता हूँ ।" इतना कहकर वे भवन के बाहर हो गए ।

नास्ति जीवन्ते सनातना:

श्मशान घाट पर अनेक बार करुणाजनक चीत्कारें सुनी गई हैं, किन्तु यह दृश्य तो इतना हृदय विदारक था कि दर्शकों के नेत्र छलछलाये बिना नहीं रहते । अभी कुछ ही दिन तो हुए श्रावस्ती के अत्यन्त कुलीन वंश में जन्मी उब्बिरी का कौशल नरेश के साथ पाणिग्रहण हुआ था । उब्बिरी के सौन्दर्य के सम्मुख शची और रति ऐसी ही थीं जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा के समक्ष टिमकते खद्योत । न केवल कौशलपुर अपितु स्वयं अधिपति ने उब्बिरी को पाकर अपने पूर्व जन्मों के पुण्यों को सराहा था । आज वही उब्बिरी श्मशान घाट में जब अम्म जीवे ! अम्म जीवे !! ओ जीवन्ती तुम कहाँ हो ? ओ जीवन्ती तुम कहाँ हो ? की पुकार के साथ प्रलाप करती तो सारे वातावरण में हाहाकार छा जाता, मनुष्य तो मनुष्य जीव-जन्तु और वृक्ष-वनस्पति तक उब्बिरी के शोक में डूबे हुए थे । श्मशान घाट करुणा की साक्षात् मूर्ति बना हुआ था । दर्शन की समस्त परिभाषा इस परिवर्तन में ही तो सन्निहित है । नियति अपनी बलवत्ता, परमात्मा अपना अस्तित्व और प्रकृति अपनी महामाया, यदि यह परिवर्तन न होते तो, कैसे अभिव्यक्त कर पाते ?

उब्बिरी को अन्त:पुर में आये एक वर्ष ही हुआ था। उनका अपना अनिन्द्य सौन्दर्य, कौशल राज की अनन्त श्री और राज-प्रासाद के संस्कार लेकर उनकी कोख से एक कन्या ने जन्म लिया जो अप्रतिम सुन्दर और अद्‌भुत संस्कारवान थी। उसे पाकर कौशल नरेश फूले न समाये। उन्होंने उब्बिरी को राज-महिषी का पद प्रदान किया। उस दिन जो शोभायात्रा निकाली गई वैसी प्रजाजनों ने पहले कभी नहीं देखी थी। मनुष्य अपने भाग्य पर इतराता है, पर उस महान् परिवर्तन चक्र को भूल जाता है ; जो आज नहीं तो कल आने से मानता नहीं, यही तो जीवन की विडम्बना है। यदि लोग उन विभीषिकाओं का पूर्व स्मरण रखें तो आधे से अधिक औद्धत, अपकर्म और अवांछनीयताएँ मात्र इस मान्यता से ही दूर हो जायें शेष आधी आध्यात्मिक आस्थाओं का प्रकाश दूर कर दे।

बालिका का नाम जीवन्ती रखा गया। बालिका ने अपनी सुन्दरता और चपलता से राज-दम्पत्ति को पूरी तरह मोह लिया। यह आसक्ति, कितनी कठिन है कि मनुष्य को क्षणिक जीवन के क्रिया-व्यापार में तो लगाये रखती है, पर जीवन के सनातन उद्देश्य आत्म-कल्याण की ओर ध्यान भी नहीं बँटने देती। वह उब्बिरी के साथ भी हुआ। एक वर्ष ही कठिनाई से बीता था एक दिन हँसते-खेलते जीवन्ती ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। राज-परिवार शोकसागर में डूब गया।

अम्म जीवे-जीवन्ती तुम कहाँ हो अम्म जीवे ? जीवन्ती तुम कहाँ हो ? की आर्त्त पुकार श्मशान घाट में गूँजते कई मास बीत गये। राजमहिषी ने अपनी स्मरणशक्ति खो दी बहुत प्रयत्न करने पर भी वे न तो राज-प्रासाद में टिकीं और न कहीं अन्यत्र। शोक विह्वल क्षत-विक्षत देह वे श्मशान में ही पड़ी चिल्लाती रहतीं।

आज तथागत का उधर ही आगमन हुआ है। उन्होंने भी उब्बिरी की दारुण गाथा सुनी। वे सीधे श्मशान घाट पहुँचे उनका अपूर्व तेजस देखते ही राजमहिषी स्तम्भित हो उठीं। तथागत ने उन्हें शान्त करते हुए पूछा— देवि ! इस श्मशान में अब तक कितने लोगों का दाह हुआ होगा तुम उनकी संख्या बता सकती हो ?

नहीं देव ! उब्बिरी ने सिर हिलाया।

यदि वह सभी लोग बिछुड़े हुओं की याद में यों ही रुदन करें तो यह सृष्टि कितने दिन चलेगी ?

उब्बिरी मौन थी।

पुत्रे ! बिछुड़ तो मनुष्य की आत्मा भी उसी से गई है, पर तुमने कभी उसे पाने के लिए इतना दु:ख किया क्या ? क्या तुम अपने स्वरूप को पहचानती हो, यहाँ से चले गये जीवन्ती के आत्म तत्त्व को तुम ढूँढ सकती हो क्या ?

नहीं ! नहीं !! नहीं !!! देव ! मैं नहीं जानती वहाँ तक पहुँचने का मार्ग क्या है ?

तो उठो और उस सनातन गरिमा आत्म-तत्त्व को ढूँढने का प्रयास करो जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ एकाकार हैं।

उब्बिरी की आँखें खुल गईं, मोह-माया का परित्याग कर वे आत्म-साधन में निरत हुईं तो पूर्णता प्राप्त करके ही लौटीं।

अर्थवसुश्चपरिग्रह

'तात् ! उलहाने भरे स्वर में आयुष्मान विलाड ने पिता से कहा— ''स्नातक मेरा उपहास करते हैं— कहते हैं तुम्हें कोई अर्थवसु का पुत्र कहेगा ? तुम्हारी वेषभूषा, तुम्हारा जीवन स्तर तो हम निर्धन वर्ग से किसी भी तरह ऊँचा नहीं— सच ही तो आपने आज तक कभी भी मेरी अभियाचनायें पूर्ण नहीं कीं। आर्य ! आखिर आप हमारी महत्त्वाकांक्षाओं का अनादर क्यों करते हैं ?''

तभी ज्येष्ठ पुत्र-वधू उधर आ पहुँची, कहने लगी— विलाड सच ही तो कहते हैं आर्य श्रेष्ठ— आज ग्राम्य-ललनाओं ने मुझे जो कहा उसे सुनकर तो मेरा अन्त:करण ही कराह उठा है— वे कहती हैं तिर्यग ! तुम्हारे श्वसुर इतने धनाढ्य हैं वे चाहें तो तुम्हें नख-शिख से आभूषण धारण करा सकते हैं किन्तु आज वह सावित्री की अर्चना के समय भी तुम्हारे परिधान तक अति सामान्य गृहणी से अधिक सुन्दर नहीं आभूषणों की तो बात ही नहीं है।

ऐसे-ऐसे उपालम्भ अर्थवसु ने सहस्रों बार सुने हैं, झेले हैं किन्तु उन्होंने कभी कोई उत्तर नहीं दिया। एक क्षण के लिए अधर स्मित हुए हैं और दूसरे ही क्षण वे शीतकाल की अन्धकार आवेष्ट रजनी की तरह मौन हो गये हैं। यह ठीक है कि उन्होंने कभी किसी का प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु सच यह भी है कि वणिक-वृत्ति में व्यापक लाभ के अनन्तर भी कभी वैभव का जीवन न स्वयं जिया न अपने कुटुम्बीजनों को विलासी होने दिया। सलज्ज राजहंसिनी के प्रणय व्यापार की तरह किसी ने यह तक नहीं जाना कि अर्थवसु किसलिये संग्रह करते हैं, किसके लिए संग्रह करते हैं यदि इतने पर भी कुछ सच था तो यही कि उन्होंने परिजनों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा वेषभूषा के सामान्य नागरिक कर्तव्यों की कभी अवहेलना नहीं की, इसीलिये कभी किसी ने भी उनको असम्मानित करने का साहस नहीं जुटाया।

परिवर्तन और परिवर्तन प्रकृति का यह रथ-चक्र मानव जीवन को कभी सौरभसिक्त आनन्द के आँचल में सुला देता है तो कभी पीड़ा के गहन काँटों भरे काँतारखण्ड में ला खड़ा करता है। इस परिवर्तन का ही नाम सृष्टि है, गति है, जीवन है। काल के इन थपेड़ों से आज तक न बचा है कोई राव और न कोई रंक।

नियति का यह क्रम इस वर्ष अत्यन्त क्रूर बनकर आया। ज्येष्ठ की तपन से झुलसे हृदय बारम्बार अम्बर की ओर निहारते, बादलों की अभ्यर्थना करते किन्तु अषाढ़ सूखा निकल गया। चित्रा, अश्लेषा, पुनर्वस, स्वाति सारे ही नक्षत्र यों ही निकल गये धरती के कण्ठ में एक भी बूँद न गिरी तो फिर नहीं ही गिरी, राजगृह श्मशान की-सी भयंकरता में परिणत हो गया चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी और लोग भूखों मरने लगे।

अब तक जिन अर्थवसु की आँखों में शून्य क्रीड़ा किया करता था अब वही दृग-द्वय मानवीय संवेदना से सिक्त हो उठे हैं, राजगृह के नागरिकों के लिए अर्थवसु ने अपने द्वार खोल दिये सारी सम्पत्ति गतिमान हो उठी जिन अर्थवसु को किसी ने एक कौड़ी खर्च करते

नहीं देखा था युग पीड़ा ने उनके हृदय कपाट पूरी तरह खोल दिये, उनका सर्वस्व स्वाहा हो गया किन्तु उनके हृदय ने कभी भी किसी को यह अनुभव नहीं होने दिया कि राजगृह असहाय है, अनाश्रित है ।

भगवान् बुद्ध ने सुना तो वे गद्गद् हो उठे । जिनके दर्शनों के लिये जन-समुदाय सागर की तरह लहरा उठता वही आज स्वयं ही अर्थवसु के दर्शनों के लिये चल पड़े ।

तिर्यग ने पुकारा ! आर्य श्रेष्ठ ! उठिये ! तथागत आज आपके द्वार पर आये हैं । अर्थवसु ने आँखें खोलीं उन्होंने इतना भर देखा कि दैदीप्यमान सूर्य उनके सम्मुख उपस्थित है और उनकी आत्मा उसमें समाती चली जा रही है— तथागत की आँखें भर आयीं— उनके मुँह से इतना ही निकला— अर्थवसु तुम सच्चे अर्थों में अपरिग्रही थे, तुम्हारे त्याग ने आज सारे राजगृह की रक्षा कर ली । इसी सन्तोष भरे आनन्द में अर्थवसु की आत्मा शून्य में विलीन हो गई ।

प्राप्तः को भवता गुणः

कुछ लोग विभूतियाँ पाकर फलों से आच्छादित डाल के समान विनम्र होते हैं तो कुछ लोगों को वैभव ही उन्मत्त और मदान्ध बना देता है । बात उन दिनों की है जब बोधिसत्व वानराधिपति के रूप में उत्तराखण्ड के एक रम्य वन क्षेत्र में रह रहे थे और उत्तरांचल के सम्राट थे भूरिंगा । सिंहासन पर आसीन होने के बाद से अब तक प्रजा के शोषण, उत्पीड़न, युद्ध और काम-पिपासा की तृप्ति के अतिरिक्त उन्होंने सृष्टि में कहीं सत्य, न्याय, विवेक, करुणा भी होती है, इसे जाना तक नहीं । समीपवर्ती सेवक वर्ग और अन्तःपुर तक उनसे थर-थर काँपता था । इस प्रकार भूरिंगा उपर्युक्त दो वर्गों में से दूसरी कोटि के व्यक्ति थे ।

शीतकाल प्रारम्भ हो चुका था । एक दिन भूरिंगा मध्याह्न में हेमा नदी की धवल लहरों में अपनी रमणियों सहित जल-क्रीड़ा में व्यस्त थे । तभी जलप्रवाह के साथ बहता हुआ एक ऐसा न्यग्रोध फल आया, जिसकी मादक सुगन्ध ने सबको स्तम्भित कर दिया । कामिनियों ने फल को पकड़ा तो उनकी स्थिति बीन की मधुर ध्वनि सुनकर सम्मोहित हुए सर्प जैसी हो गई । भूरिंगा ने स्वयं आगे बढ़कर फल झपट लिया और तट पर आकर ही उसका रसास्वादन करने लगा । फल न केवल गन्ध से अपितु स्वाद में भी अप्रतिम था । वैसे फल चखने के लिए सम्राट बुरी तरह आतुर हो उठा ।

देर तक जल में पड़े फल की गन्ध दूषित हो जाती है जबकि इस फल की गन्ध यह बताती थी कि वह कुछ ही दूर से बहकर आ रहा है । यह विचार आते ही भूरिंगा ने सैन्य दल को प्रस्थान का आदेश देकर स्वयं भी उस वृक्ष को ढूंढ निकालने की उत्कण्ठा में चल पड़े । उनकी दृष्टि में यह फल चिरयौवन प्रदान करने वाला था । कामुक की आकांक्षा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी ।

कुछ ही देर की यात्रा के बाद वृक्ष का ठिकाना मिल गया । हेम कल्प पर्वत की उपत्यिका में खड़े इस वृक्ष में पीत वर्ण के सुन्दर फल गुँथे हुए थे । यह दृश्य वैसे ही बड़ा मनोरम लगता था, उस पर उसकी सुगन्ध से तो सम्पूर्ण वातावरण में ही मादकता फूटी पड़ रही थी । इससे भी बड़ा विस्मय यह था कि सारा वृक्ष बन्दरों से भी उसी तरह लदा था । कपिसमुदाय को अपनी तृष्णा-पूर्ति में बाधक देखकर भूरिंगा क्रोध में जल गए, यह तृष्णा है ही ऐसी पिशाचिनी कि अपनों को ही शत्रु बना देती है फिर यह तो प्राणी ही और जाति के थे । राजा के मुँह से आज्ञा होने की देर थी सैन्य दल ने पत्थरों, बर्छों और तीरों की मार की झड़ी लगा दी । वानर दल बुरी तरह क्षत-विक्षत हो चला ।

एक ओर नदी, दूसरी ओर से सेना द्वारा बन्द किया आवागमन । वानराधीश ने तीसरी ओर पर्वतीय शिखर की ओर देखा तो वहाँ से छलांग लगाकर पार जाना मृत्यु के मुख में जाने के समान लगा । इधर बन्धु-बान्धवों का विनाश देखकर उनकी आँखें छलक उठीं । शरीर की समस्त शक्ति झोंककर कपीश ने पर्वत शिखर तो पा लिया, पर उनकी देह का समस्त अस्थि समुदाय चरमरा गया । उन्होंने बेंत की लम्बी शाखाएँ तोड़ीं, उन्हें अपने पैरों से मजबूती से पकड़ा और दूसरी छलांग लगाकर पुनः वृक्ष की डाली को जा पकड़ा । डाल हाथ में आते ही अपने वानर समुदाय को उन्होंने आज्ञा दी—सब लोग इस तरह बनाये बेंत के पुल को पकड़कर पर्वत शिखर की ओर कूद कर भागें और अपने प्राणों की रक्षा करें । वानरों ने ऐसा ही किया ।

बेंतों का बोझ, वानरों के पंजों से लथपथ होती देह इधर और भूरिंगा के सैनिकों द्वारा निरन्तर शस्त्र प्रहार से उनकी देह क्षत-विक्षत हो गई, किन्तु अपनी सम्पूर्ण प्रजा के बचकर निकल जाने तक उन्होंने मरणासन्न होकर भी डाल नहीं छोड़ी तो फिर नहीं ही छोड़ी ।

प्रजा संकट से पार हो गई । वानराधिपति की चेतना विलुप्त हो चली, आहत शरीर वे भूमि पर आ गिरे । अब तक नृप भूरिंगा अत्यधिक कौतूहलपूर्ण दृष्टि से सारा दृश्य देख रहे थे । अब वे वानरों के नृप के समीप जाकर बोले—

परिभूयात्मनः सौख्यं परव्यसनपापतत् ।
इत्यात्मनि समारोप्य प्राप्तः को भवतागुणः ॥

हे वानर ! अपने सुख की अवहेलना कर स्वजातियों पर आई विपत्ति अपने ऊपर लेकर तुमने कौन-सा लाभ प्राप्त कर लिया ?

वानराधीश ने उत्तर दिया—

एभिर्मदाज्ञा प्रतिपत्ति दक्षै रारोपितो—
मय्यधिपत्वभारः ।
पुत्रेष्विवैतेष्व व बद्धहार्दस्त—
ेोढुमेवाहमयिप्रपन्नः ॥

हे राजन् ! इन वानरों ने मुझे अपना अधिपति बनाया । वह दायित्व मुझ पर डाला और मेरी आज्ञापालन में तत्पर रहे । इस प्रकार ये मेरे पुत्रवत् हुए । उस पुत्रवत् स्नेह के कारण ही मैंने ऐसा आचरण किया । यानी अपने कर्त्तव्य का पालन कर पिता के समान इनकी रक्षा की ।

राजा भूरिंगा सम्राट था, शासक था । तर्क-निपुण तो वह था ही । उसने मूर्छित से हो चले महाकपि से तर्क किया—

''अधिपार्थममात्यादि, न तदर्थं महीपतिः ।
इति कस्मात्स्वभृत्यार्थमात्मानं त्यक्तवान् भवान् ।''

''हे वानर राज ! अमात्य एवं सभी अधीन लोग अधिपति के लिए हैं न कि अधिपति इन अधीनस्थों के लिए । तब भला अपने अधीन अनुचरों के लिए आपने स्वयं को ही क्यों न्योछावर कर दिया ?''

वानरयोनि धारी बोधिसत्व ने हँसकर कहा—

अकारि येषां चिरमाधिपत्यं,
तेषां मयार्तिर्विनिवर्तितेति ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुख क्रमस्य,
सम्प्राप्तमानृण्यमिदं मयाद्य ॥

हे राजन् ! मैं चिरकाल तक जिनका अधिपति रहा, उनके सुख की वृद्धि और दुःख की समाप्ति का दायित्व भी अधिपति होने के नाते मुझ पर ही तो है । इसीलिए मैं उनके दुःख दूर करने के लिए अपने को न्योछावर करने को उद्यत हुआ ।

ये वानर सदा मेरे अधीन रहे । मेरा आदेश प्राणपण से पालन करते रहे । सदा मेरा मुँह जोहते रहे । मुझ पर भक्ति रखते रहे । इस प्रकार आदर, सत्कार, भक्ति और आज्ञा पालन द्वारा ये सदा मुझे सुख देते रहे । उस सुख का मुझ पर ऋण था । जिन्होंने इतना सुख दिया, सम्मान दिया, उनके प्रति अपने ऋण से मैं आज ही तो मुक्त हो सका हूँ ।

''युग्यं बलं जानपदानमात्यान्
पौराननाथाञ्छ्रमणान् द्विजातीन ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत् योक्तुं,
हितानुकूलेन व पिते राजा ।''

हे राजन् ! नृप अपनी प्रजा का, सैनिकों का, पशुओं का, देश के सभी नागरिकों का पिता होता है । वह श्रेष्ठ लोगों, साधु, श्रमणों, अनाथों, असहायों एवं सर्व-साधारण को ऐसा सुख पहुँचाये, जो उनका कल्याण करने वाला हो, अकल्याणकारक नहीं । यह पिता जैसे अधिपति का कर्तव्य है । सन्तान जैसी प्रजा के ऊपर सदा करुणा, स्नेह एवं मंगल का भाव रखने वाला अधिपति ही श्री-सम्पन्न होता है ।''

वानराधिपति के ऐसे भावनापूर्ण तर्क-संगत उदाराशय उत्तर से नृप भूरिगा को प्रसुप्त सम्वेदना जाग्रत हो उठी । उन्हें अधिपति के रूप में अपने गुरुतर दायित्वों का बोध हुआ । प्रजा के प्रति उन्हें करुणा, वात्सल्य की नयी दृष्टि मिली । उत्सर्ग का लाभ उन्हें समझ में आ गया । बोधिसत्व महाकपि प्रफुल्लचित्त से वह क्षत-विक्षत शरीर छोड़कर स्वर्ग चले गये ।

करुणा ही सबसे बड़ी शक्ति है

श्रावस्ती में अनावृष्टि के कारण भीषण अकाल की छाया मँडरा रही थी । स्थान-स्थान पर सूखी देह वाले, क्षुधा से त्रस्त नर-कंकाल दुर्दैव के ग्रास बन रहे थे । लोग मरने लगे । भूख से तड़पते जर्जर नागरिकों में इतनी भी शक्ति नहीं रह पायी थी कि वे मृत देहों को उनके स्थान से हटा सकें, अन्त्येष्टि करवा सकें ।

भगवान् बुद्ध अपनी शिष्य मण्डली के साथ उन दिनों उसी क्षेत्र में विहार कर रहे थे । श्रावस्ती नगरी के समाचार सुनकर उन्होंने दुःखी और संतप्त मनुष्यों की सेवा सबसे बड़ा धर्म समझा और वहाँ गए ।

नगर के बड़े-बड़े धनपति कुबेरों ने तथागत के दर्शन और उपदेश श्रवण के पुण्य लाभ-लोभ से एक धर्म-सभा आयोजित की । भगवान् ने सुन रखा था कि इन धनाढ्यों पर इस दुःस्थिति का तनिक भी असर नहीं हुआ है । भूख से तड़पती और बिलखती अपने ही समान अन्य दूसरी मानव आत्माओं की वेदना और पुकार से भी धनी पुरुषों का कठोर हृदय रंच मात्र भी नहीं पसीजा है ।

धर्म-सभा को सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने यही निरूपित किया कि— मनुष्य की सेवा ही सबसे बड़ा आवश्यक धर्म तथा कर्तव्य है । पड़ोसी जब तक भूखा है तब तक हमारा कोई भी पुण्य आयोजन सफल और सार्थक नहीं हो सकता । भगवान् बुद्ध ने कुछ रुक-रुककर फिर कहा— क्या आप लोगों में ऐसे कोई साहसी व्यक्ति हैं जो इन भूखे व्यक्तियों के लिए भोजन जुटा सकें ।

उनकी मर्मस्थल को छूने वाली वाणी से दुःखी और संतप्त अकाल और क्षुधात्रस्त लोगों को आशा की एक किरण दीख पड़ी । लगा अब कोई उठेगा और अपना सर्वस्व दरिद्र नारायण के चरणों में न्योछावर कर देगा ।

उधर धनी और अभिजात कुल के लोगों में भी कुछ सेवा-सहायता की कसक पैदा हुई परन्तु धन और सम्पदा की अत्यधिक आसक्ति मानवीय आत्मा की प्रेरणा पर हावी हो रही थी । इतने में ही एक पराजित व्यक्ति ने उठकर कहा— महाराज मेरे पास पैसा तो है परन्तु पैसे से क्या होगा जब कि हमें दुर्भाग्य का अनावृष्टि के रूप में सामना करना पड़ रहा है । आपकी प्रेरणा ने हमारे अन्तर्मन को जगा दिया है । परन्तु हम लोग कुछ भी कर सकने से विवश हैं ।

दूसरे धनपति ने उठकर कहा— इस वर्ष तो पानी ही नहीं बरसा, इसीलिए तो खेतों से इतनी उपज भी नहीं हुई कि राज्य का भूमिकर चुका सकूँ ।

एक सेठ ने उठकर कहा—'इतने व्यक्तियों को खिलाने की व्यवस्था की जाये तो मेरी सम्पत्ति कम पड़ेगी ।

भगवान् बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ । सभी ने अपनी सम्पत्ति का उचित सदुपयोग करने से बचाने का कोई न कोई बहाना ढूँढ निकाला था । इस प्रकार साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही अपनी कृत्रिम असमर्थता व्यक्त करने लगे तो समस्या का कोई निदान नहीं निकाला जा सकता । वह गम्भीर विचारमुद्रा में लीन हो गये ।

वहीं एक भिखारी की कन्या सुप्रिया बैठी हुई थी । वह उठ खड़ी हुई बोली— 'भगवन् ! अपनी शक्ति के अनुसार भूखे लोगों को भोजन देने का उत्तरदायित्व मैं लेती हूँ ।'

सब लोग आश्चर्य दृष्टि से उस जीर्णवसना भिखारिन की ओर देखने लगे । पूछा— 'सुप्रिया ! इस गुरुतर कर्तव्य का निर्वाह कैसे कर सकोगी ?'

''मेरी सम्पत्ति और धन-धान्य का भण्डार समृद्ध और श्री-सम्पन्न लोगों के घरों में है। इनसे ही माँगकर लाऊँगी और अकाल पीड़ितों को खिलाऊँगी।''— सुप्रिया का उत्तर था।

भगवान् बुद्ध ने सजल नेत्रों से सुप्रिया की ओर देखते हुए कहा— गण श्रेष्ठो। करुणा ही सबसे बड़ी शक्ति है। करुणा और प्रेम से आप्लावित हृदय वाले मनस्वी शूरों के लिए परिस्थितियाँ या सामर्थ्यहीनता से सेवा साधना में कोई बाधा नहीं बन सकती।

सिद्धिश्च सोपानः

घर-बार और राज-परिवार छोड़कर सिद्धार्थ ने सत्य की खोज में स्वयं को समर्पित किया तो स्वाभाविक ही था कि अनेकों कष्ट, कठिनाइयों से मुकाबला पड़ा हो। राजसी सुविधाओं के अभ्यस्त सिद्धार्थ के लिए अरण्यवास वैसे ही असुविधाजनक रहा था और फिर ऊपर से कठिन तितिक्षा, साधनायें और कठोर व्रत-उपवास। भोजन की मात्रा घटाते-घटाते एकदम निराहार रहने लगे, वस्त्र इतने कम हो गये कि दिशायें ही वस्त्र बन गयीं फिर भी प्राप्तव्य दूर ही रहा। तो लगा कि मन की शान्ति ही मृगतृष्णा है। संसार असार तो है ही परन्तु सत्य भी यही है। जिस धैर्य का सम्बल पकड़ कर वे साधना समर में उतरे थे वह जवाब देने लगा और इस भ्रम से स्वयं को निकालने के लिए उठने लगे बुद्ध। घर वापस लौटने की तैयारी करने लगे।

जब वे घर की ओर लौट रहे थे तो रास्ते में एक ठण्डे जल की झील आयी। 'झील' के किनारे खड़े होकर वे उसे देखने लगे। उनकी दृष्टि एक गिलहरी पर पड़ी जो बार-बार झील में डुबकी लगाती, बाहर आती, रेत में लोटती और पुनः झील में डुबकी लगाने के लिए दौड़ पड़ती। बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ। देर तक वे उसे देखते रहे जब गिलहरी की क्रिया में कोई अन्तर नहीं आया तो आखिर वे पूछ ही बैठे— नन्हीं गिलहरी यह क्या कर रही हो तुम।'

'इस झील ने मेरे बच्चों को खा लिया है अब मैं इसे खाली करके ही रहूँगी।'

हँसी आ गयी सिद्धार्थ को— 'तो क्या तुम सोचती हो कि तुम्हारी पूँछ को पानी में डुबोने से इतनी बड़ी झील खाली हो जायेगी।'

'यह तो मैं नहीं सोचती परन्तु जब तक झील खाली न हो जाये तब तक ऐसा ही करती रहूँगी।'

'भला बताओ तो अनुमानतः यह कितने समय में हो सकेगा।'

'इसका अनुमान लगाने का मेरे पास समय नहीं है।'

'इस जन्म में तो सम्भव नहीं है।'

'भले ही न हो। मेरा सारा जीवन ही इसमें लग जाय परन्तु इतना तो निश्चित है कि इस प्रकार चुल्लू-चुल्लू भर पानी निकालकर मैं अपना काम तो पूरा करने की ओर बढ़ती ही रहूँगी।' और गिलहरी यह कहकर अपने काम में पुनः लग गयी कि— 'मेरे पास बातें करने का समय नहीं है, मुझे काम करने दो।'

गिलहरी की इन बातों को सिद्धार्थ ने कानों से तो कम हृदय से ही अधिक सुना और उनका खोया हुआ आत्म-विश्वास पुनः लौट आया। उनकी अन्तःचेतना से यह आवाज आयी कि— यह नन्हीं-सी गिलहरी भी अपनी सामर्थ्य, समय और क्षमता का विचार किये बिना आजीवन इस बोझिल कार्य को पूरा करने के लिए सन्नद्ध है तो मैं ही क्यों इतनी जल्दी हार मान लूँ जबकि मेरा लक्ष्य तो सुनिश्चित है और उसके पथ पर भी काफी हद तक बढ़ चुका हूँ। उन्होंने बीच में ही अपना इरादा बदल दिया और खोया हुआ धैर्य पुनः जुटाकर तपःस्थली की ओर लौट गये।

बुद्ध यह निश्चय कर लौटे कि— जब तक मैं अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लूँगा तब तक कोई बात मन में नहीं लाऊँगा, नहीं कोई निर्णय लूँगा, अपने मार्ग के सम्बन्ध में। इस गिलहरी ने मेरे जीवन का एक नया अध्याय खोल दिया है। यह मेरी गुरु है और सफलता के लिए अन्तिम साँस तक प्रयत्न करूँगा।

सिद्धार्थ फिर ध्यानावस्थित हो गये और उस समय तक साधना में लगे रहे जब तक उन्हें निर्वाण प्राप्त नहीं हो गया।

चमत्कार अध्यात्म नहीं है

एक राजा को बढ़े-चढ़े सिद्ध पुरुष की खोज थी। उसके मिल जाने पर वह उसका शिष्य बन जाता और सिद्ध की करामातों से— प्रकारान्तर से— अनेकों लाभ उठाते रहने की उसकी योजना थी।

सिद्ध की पहचान कैसे हो ? इसके लिए चमत्कार प्रदर्शन कर सकना ही आम लोगों की कसौटी है। राजा ने भी परख का वही माध्यम अपनाया।

एक बहुत ऊँचा बाँस मैदान में गाड़ा गया। उसके ऊपर एक सोने का कमण्डल लटकाया गया। घोषणा की गई कि जो कोई इस बाँस पर चढ़कर स्वर्ण का कमण्डल उतार लायेगा, उसे कमण्डल के अतिरिक्त और भी बड़ा पुरस्कार मिलेगा। राजा उसका शिष्य बनेगा। प्रजा भी राजगुरु को ही अपना गुरु मानेगी। सिद्ध पुरुष को राजघराने में ही महल मिलेगा और उसकी सारी आवश्यकताएँ राज-कोष से ही पूरी होती रहेंगी।

लालच बड़ा था, पर परीक्षा भी कठिन थी। अनेक सन्त, विद्वान् आये। पर इतनी कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने का कोई साहस न कर सका।

बहुत दिन बाद एक दुर्बल-सा बौद्ध भिक्षु आया। उसने चुनौती स्वीकार कर ली। खुले मैदान में राज-दरबार लगा। हजारों की संख्या में दर्शक उपस्थित हुए।

भिक्षु आसानी से बाँस पर चढ़ता चला गया। उसने ऊपर पहुँचकर आसानी से बँधा कमण्डल खोला और उसी क्रम से नीचे वापस आया। राजा समेत सभी दर्शकों ने जय-जयकार किया। राजगुरु के रूप में उसका वरण किया गया। सारी प्रजा भी उसकी शिष्य बन गयी।

यह सब प्राप्त करने के उपरान्त भिक्षु का मन आया कि भगवान् बुद्ध के पास जैतवन चलना चाहिए। तथागत को तथा अपने सभी गुरु भाइयों को अपनी विशिष्टता का परिचय देना चाहिए सभी को अपनी महिमा से परिचित करा दिया जाय। राजा ने सवारी और सेवकों का प्रबन्ध कर दिया। रास्ता पार करते हुए वह अपने गुरुधाम जा पहुँचा।

तथागत ने समाचार सुना तो वे बड़े सोच में पड़ गये । दूसरे दिन सभी भिक्षुओं को गोष्ठी में एकत्रित किया । तथागत ने उस राजगुरु भिक्षु का उदास मन से विवरण सुनाया । साथ ही यह भी कहा "वह भिक्षु बनने से पहले नट था । बाँस पर चढ़ने की कला इसे पहले से ही आती थी । इसने इसी आधार पर बाँस पर चढ़कर सिद्धाई जताई । यदि ऐसा ही होता रहा तो सभी नट, बाजीगर सिद्ध पुरुष बन जायेंगे और अपनी धूर्तता से धर्म के नाम पर स्वार्थ साधन करेंगे ।"

उन्होंने सभी शिष्यों को आगाह किया कि उनमें से कोई ऐसी प्रवंचना न करे । छल-माध्यम अपनाकर धर्म प्रचार का आडम्बर न करे ।

स्वर्ण कमण्डल को सबके सामने तोड़ा गया और उन टुकड़ों को नदी में बहा देने का आदेश दिया गया । साथ ही यह भी कहा गया कि बुद्ध संघ का कोई सदस्य न तो चमत्कार दिखाये, न सिद्ध बन कर किसी की मनोकामना पूर्ण करे । उसका कर्तव्य तो धर्म-चक्र प्रवर्तन भर है जो आत्म-शुद्धि के लिए की गई तप-साधना से ही बन पड़ता है ।

अन्तिम उपदेश

"भिक्षु प्रवर ! मैं भगवान् बुद्ध से अपनी शंकाओं के समाधान हेतु सुप्पारक तीर्थ से पैदल चलकर आ रहा हूँ । क्या आप बता सकेंगे कि उनके दर्शन मुझे कहाँ होंगे ?"— वाहिय ने जैतवन पहुँच कर एक भिक्षु से पूछा ।

भगवन् ! भिक्षा प्राप्ति हेतु जनपद में पधारे हैं । उनके लौटने तक आप विश्राम करें । दूर से पैदल चल कर आये हैं, थक भी गये होंगे ।" भिक्षु ने कहा ।

वाहिय सुप्पारक क्षेत्र के धनी और सम्मान प्राप्त व्यक्ति थे । त्याग, संयम और अपरिग्रह जैसे गुण उनकी साधना के प्रमुख आधार थे । वर्षों की साधना के पश्चात् उनका अन्त:करण निर्मल और पवित्र हो चुका था । आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना उनके रोम-रोम में व्याप्त थी । वह दूसरे के दु:ख को अपना दु:ख मानकर उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयास करते रहते थे ।

वाहिय की तीव्रतम जिज्ञासा ने उन्हें वहाँ विश्राम न करने दिया । वह थके-माँदे तथागत के दर्शन हेतु गाँव की ओर चल पड़े । उन्होंने गाँव में जाकर देखा भगवान् बुद्ध एक साधारण परिवार के दरवाजे पर भिक्षा पात्र लिए हुये खड़े हैं । शायद गृहणी अन्दर से भिक्षा देने हेतु खाद्य सामग्री लेकर आ रही है । बस इतनी-सी देर थी । तब तक वाहिय उनके पास पहुँच गये और उनकी चरण वन्दना कर हाथ जोड़ एक ओर खड़े हो गये । 'भगवन् ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे अक्षय सुख के मार्ग पर आगे बढ़ सकूँ ।'

"यह समय उपदेश का नहीं । मैं अभी भिक्षा लेकर जैतवन चल रहा हूँ । वहीं तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान करूँगा ।"

पर भगवन् ! जीवन कितना क्षणभंगुर है । कदली-पत्र पर अटके जलबिन्दु के समान यह हवा के तीव्र झोंके से कब झर पड़े । कौन कह सकता है । गई हुई साँस पुन: लौटेगी ही— इसका निश्चय नहीं है । वाहिय ने बड़ी नम्रता के साथ आग्रहपूर्वक कहा 'अत: इसी क्षण को उपदेश के उपयुक्त मानकर मुझ पर कृपा कीजिए ।'

तथागत ने अपनी बात को दुहराया— तुम देख नहीं रहे । मैं भिक्षा की आशा में गृहस्थ के द्वार पर खड़ा हूँ । यह समय और स्थान उपदेश के उपयुक्त नहीं है ।

वाहिय के लिए यह विलम्ब असह्य था । अपने जीवन का एक-एक क्षण मूल्यवान सम्पदा की तरह व्यय करने वाला जिज्ञासु बेचैन हो उठा । उसने बड़े कातर स्वर में अपनी बात कही— भगवन् । मेरा तो विश्वास यह है कि जिज्ञासु के मन में जिस क्षण जिज्ञासा हो, उसके समाधान का वही उपयुक्त समय है । संसार के अन्य कार्य तो सहज रूप से चलते ही रहते हैं ।

तथागत वाहिय की जिज्ञासा को टटोल रहे थे । वह पात्रत्व की परख कर रहे थे । वह सोचने लगे कृपण की तरह अपने जीवन के एक-एक क्षण का लोक-मंगल के लिए उपयोग करने वाले वाहिय के समय को नष्ट करना उचित नहीं । उन्होंने कहा— 'तुम ठीक कहते हो ।' और तथागत ने अक्षय सुख की प्राप्ति का उपदेश उसी क्षण वाहिय को देकर विदा किया ।

भगवान् बुद्ध भी भिक्षा प्राप्त कर जैतवन की ओर लौट पड़े । थोड़ी ही दूर चले होंगे कि एक भिक्षु ने दौड़ते हुये आकर समाचार दिया— 'भगवन् ! जो जिज्ञासु अभी-अभी आपसे उपदेश लेकर गया था । उसे एक साँड़ ने सींगों पर उठाकर ऐसा फेंका कि जीवन-लीला ही समाप्त हो गयी । उसका शरीर निष्प्राण पड़ा है ।'

'यह तुम्हारा गुरु भाई है, पूर्ण सम्मान के साथ इसका अन्तिम संस्कार करो । यदि मैं भिक्षा के समय ही इसकी जिज्ञासा का समाधान न करता तो वह अपूर्ण इच्छा इसके साथ ही चली जाती ।'

सौ प्यारे को सौ दु:ख

भगवान् बुद्ध ने आमन्त्रण स्वीकार कर लिया था । श्रावस्ती की विशाखा मृगार माता के लिये यह बड़े हर्ष की बात थी । उसके पास धन-सम्पत्ति, वैभव-विलास का कोई अभाव था नहीं । पुत्र-पौत्र भी खूब फल-फूल रहे थे तथागत के स्वागत के लिये उसने अपने पूर्वाराम प्रासाद को खूब अच्छी तरह सजाया और भगवान् को उसी में विश्राम दिया ।

परमात्मा की रचना बड़ी विलक्षण है । वह कब क्या कर दे— कुछ ठिकाना नहीं । भगवान् बुद्ध जिस दिन श्रावस्ती पधारे उसी रात विशाखा के पौत्र धीरज का देहांत हो गया । पौत्र के निधन से विशाखा इस तरह व्याकुल होकर रुदन करने लगी जैसे मरुस्थल में डाल दी गई मत्स्या ।

प्रात:काल हुआ । शिशु का शव दाह कर दिया गया । अब तक बह रहा आवेग शोक-निर्झर अब पर्वतीय अंचल से उतर कर मैदान में बहने वाली नदी की तरह धीर, शांत और गम्भीर हो चला था । विशाखा उस समय भी अस्त-व्यस्त शरीर, वस्त्र और बाल भिगोये उस सभा-भवन में जा बैठी जहाँ भगवान् बुद्ध दर्शनार्थियों को आत्म-कल्याण का उपदेश कर रहे थे ।

इस मुद्रा और वेष-भूषा में देखकर भगवान् बुद्ध ने पूछा— ''विशाखे ! मध्याह्न हो चुका, अब तक तूने वस्त्र और बाल भी नहीं सुखाये ।''

आहत स्वर में विशाखा ने उत्तर दिया— ''हाँ भगवन् ! मेरे पौत्र का निधन हो गया है । वह वेदना मेरे हृदय का उच्छेदन कर रही है ।'' कहकर वह फिर सुबक-सुबक कर रुदन करने लगी ।

भगवान् बुद्ध ने बहुत धीरज दिया, फिर भी वह चुप न हुई । तब उन्होंने कहा— ''अच्छा विशाखा ! बोल यदि तेरा नाती तुझे मिल जाये तो तू खुश हो जायेगी ।''

''हाँ ! हाँ !! भगवान् तब तो मेरी प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रहेगा ।'' विशाखा ने विस्मय के साथ उत्तर दिया ।

''अच्छा तो तुझे कितने पौत्र चाहिए ? एक, दो, दस, सौ या जितनी श्रावस्ती की जनसंख्या है ।'' भगवान् बुद्ध ने किंचित् विनोदपूर्वक प्रश्न किया ।

उसका उत्तर देते हुए मृगारमाता ने कहा— ''भगवन् ! जितने अधिक दे सकते हों दें, मेरी प्रसन्नता उतनी ही बढ़ेगी ।''

तब फिर बुद्ध भगवान् ने प्रश्न किया— ''अच्छा, यह मान ले कि इस नगर के सभी लोग तेरे ही पुत्र-पौत्र हैं । अब यह बता यहाँ प्रतिदिन कितने लोग मरते होंगे ?''

''निश्चित तो नहीं, पर कभी दस भी मरते हैं कभी चार-छः, तीन और दो भी । कोई महामारी आ जाती है तो सौ-दो सौ भी मर जाते हैं— यह मृगारमाता का उत्तर था ।

अब तू ही बता विशाखा ! भगवान् बुद्ध ने हँसते हुए पूछा— ''एक पौत्र के निधन से तो तू इतनी दुःखी है यदि तेरे हजार पौत्र हो जायें तो प्रतिदिन कितने मरेंगे और तब तू कितनी दुःखी होगी । यह तो उनकी मृत्यु का ही दुःख होगा । उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा में कितना कष्ट उठाना पड़ेगा । सेवा का ही सुख चाहिए तो सारा संसार पड़ा है सबकी सेवा कर, आसक्ति से तो दुःख ही बढ़ेगा ?''

मृगारमाता की समझ में बात आ गई । उसने अपना दुःख भुला दिया और संसार की सेवा में जुट गई ।

कर्मयोगी—अनासक्ति

जिन दिनों भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जैतवन में विचरण कर रहे थे, उन्हीं दिनों सुप्पारक तीर्थ में साधु वाहिय दारूचीरिय पर लोगों की श्रद्धा और सम्मान के सुमन चढ़ रहे थे । दारूचीरिय वासना पर विजय पा चुके थे । धन से कोई मोह नहीं रहा था, पर सम्मान को पचा सकना उन्हें भी कठिन हो गया । लोकैषणा को प्रबलतम ऐषणा मानना वस्तुतः शास्त्रकारों की सूक्ष्म-दृष्टि का ही परिचायक है । मान और अपमान में समान भाव रख पाना सचमुच बहुत दुष्कर है, उसे कोई विरला योगी ही सिद्ध कर सकता है ।

दारूचीरिय जहाँ भी जाते, लोग उनके चरणों पर धन, सम्पत्ति, वस्त्र, उपादानों के ढेर लगा देते । यह देखकर उनके मन में वितर्क उठा— अब मेरा योग सिद्ध हो गया और मैं स्वर्ग एवं मुक्ति का अधिकारी हो गया ।

इस प्रकार का अहंकार लिये जब वह आश्रम लौटे, वृद्ध गुरु के तीक्ष्ण-वीक्षण से उनका यह अहंभाव छिपा नहीं रह सका । दारूचीरिय को पास बुलाकर उन्होंने कहा— वत्स ! जाओ, समिधायें ले आओ । प्रातःकाल के यज्ञ की तैयारी कर दें ।

दारूचीरिय ने उपेक्षा की और कहा— भगवन्, अब मुझे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रही । मैं अर्हत् मार्ग पर आरूढ़ हो चुका हूँ ।

यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है— गुरु ने स्नेहमीलित स्वर में कहा और पूछा— तात् ! आप गौतम बुद्ध को तो जानते हैं ?

हाँ-हाँ महात्मन् ! मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ । वे इन दिनों जैतवन में परिव्राजक हैं । उन्होंने भी अर्हत् मार्ग सिद्ध कर लिया है । मुझे इस बात का पता है ।

'तब तो आप एक बार उनके दर्शन अवश्य कर आयें' तपस्वी ने धीरे से कहा— सम्भव है उनके सामीप्य से आपके ज्ञान-चक्षु कोई नवीन प्रकाश प्राप्त कर लें ।

दारूचीरिय सुप्पारक से चल पड़े और थोड़े ही समय में श्रावस्ती जा पहुँचे । अनाथपिण्डक के जैतवन में पहुँचने पर बुद्ध तो नहीं मिले, पर वहाँ उनके अनेक शिष्य भिक्षुगण विचरण कर रहे थे । दारूचीरिय ने पूछा— आप लोग बता सकते हैं कि भगवान् बुद्ध कहाँ हैं ? इस पर एक भिक्षु ने बताया— महानुभाव ! वे भिक्षाटन के लिये श्रावस्ती गये हुए हैं । तृतीय पहर तक लौटेंगे । आप यहीं विश्राम करें ।

दारूचीरिय आश्चर्यचकित रह गया । इतने भिक्षुओं के होते हुए भी भगवान् बुद्ध को भिक्षाटन की क्या आवश्यकता पड़ी ? अभी चलकर देखता हूँ, बात क्या है ? यह सोचकर वे श्रावस्ती की ओर चल पड़े । एक सद्गृहस्थ के घर भीख माँगते हुए उनकी भेंट भगवान् बुद्ध से हो गई । दारूचीरिय ने देखा— उनके मन में न किसी प्रकार का हर्ष है, न शोक । विशुद्ध शांत मन से बैठे भगवान् बुद्ध को उन्होंने प्रणाम किया और कहा— भगवन् मुझे बन्धन-मुक्ति का उपदेश करें ।

बुद्ध बोले— अवुस ! यह उचित समय नहीं है । तुम जैतवन चलो, वहीं आकर बातचीत करेंगे ।

किन्तु दारूचीरिय ने वही बात फिर दुहराई— भगवन्, मुझे अनासक्ति का तत्त्वज्ञान समझायें । जब तक आप ऐसा नहीं करेंगे, मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा ।

तब भगवान् बुद्ध बोले— तात ! जो एक बार में केवल एक ही कर्म में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसकी दूसरी इन्द्रियों का भाव ही शेष नहीं रह जाता, ऐसा कर्मयोगी ही सच्चा अनासक्त और अर्हत्-आरूढ़ है । जिसकी चित्तवृत्तियाँ एक ही समय में चारों ओर दौड़ती हैं, वही आसक्ति है एवं वही संसार के दुःखों में भ्रमण करता है ।

दारूचीरिय को तब अपनी भूल का पता चल गया । वे वहाँ से लौट पड़े । उनकी यह भ्रांति जाती रही और कर्म को पूर्ण तन्मयता तथा आत्म-साधना मानकर करने की शिक्षा लेकर लौटे । यही तो बन्धन-मुक्ति का राज-मार्ग था, सो उन्हें बुद्ध के क्रिया-योग का दर्शन कर स्वयमेव मिल गया ।

साधना की सफलता का सही मापदण्ड

तथागत उन दिनों श्रावस्ती विहार में थे । जैतवन की व्यवस्था अनाथ पिण्डक सम्भालते थे । दक्षिण क्षेत्र की प्रव्रज्या से लौटे दारूचीरिय वापस लौटे और बड़े विहार जैतवन में जा पहुँचे ।

दारूचीरिय की भाव-भंगिमा और विधि-व्यवस्था वैसी नहीं रह गई थी, जैसी कि जाते समय उन्हें अभ्यास कराया गया था । वे जहाँ भी गये बुद्ध की गरिमा और उनकी प्रतिभा का सम्मिश्रण चमत्कार दिखाता रहा, सम्मान बरसा, धन बरसा, प्रशंसा हुई, आतिथ्य की कमी न रही ।

पा लेना सरल है, पचा लेना कठिन । प्रतिष्ठा सबसे अधिक दुष्पाच्य है । उसे गरिष्ठ भोजन और विपुल वैभव की तुलना में आत्मसात् कर लेना और भी अधिक कठिन है । दारूचीरिय की स्थिति भी ऐसी ही हो रही थी । अपच उनकी मुखाकृति पर छाया हुआ था ।

अनाथ पिण्डक ने पहले दिन तो आतिथ्य किया और दूसरे दिन हाथ में कुल्हाड़ी थमा दी— जंगल से ईंधन काट लाने के लिए । सभी आश्रमवासियों को दैनिक जीवन को कठोर श्रम से सँजोना पड़ता था । अपवाद या छूट मात्र रोगी या असमर्थ ही हो सकते थे ।

दारूचीरिय इतना सम्मान पाकर लौटे थे । वे अपने को दूसरे अर्हन्त के रूप में प्रसिद्ध करते थे । कुल्हाड़ी उन्होंने एक कोने में रख दी । मुँह लटकाकर बैठ गये । श्रमिकों जैसा काम करना अब उन्हें भारी पड़ रहा था । यों आरम्भ के साधना काल में यह अनुशासन उन्हें कूट-कूट कर सिखाया गया था ।

अनाथ पिण्डक उस दिन तो चुप रहे । दूसरे दिन कहा— अर्हन्त को तथागत के पास रहना चाहिए । यहाँ तो हम सभी श्रवण मात्र हैं ।

दारूचीरिय चल पड़े और श्रावस्ती पहुँचे । विहार में तथागत उपस्थित न थे । वे भिक्षाटन के लिए स्वयं गये हुए थे । तीसरे प्रहर लौटने की बात सुनकर उनको अधीरता भी हुई और आश्चर्य भी । इतने बड़े संघ के अधिपति द्वार-द्वार भटकें और भिक्षाटन से मान घटायें । यह उचित कैसे समझा जाय ?

बेचैनी ने उन्हें प्रतीक्षा न करने दी और वहाँ पहुँचे जहाँ तथागत भिक्षाटन कर रहे थे । साथ ही मार्ग में पड़े उपले भी दूसरी झोली में रख रहे थे । ताकि आश्रम के चूल्हे में उनका उपयोग हो सके ।

अभिवादन उपचार पूरा भी न हो पाया था कि मन की जानने वाले बुद्ध ने दारूचीरिय से कहा— अर्हन्त ही बनना हो तो प्रथम अहन्ता गलानी और छोटे श्रम में भी गरिमा प्रदान करनी चाहिए । इसके बिना पाखण्ड बढ़ेगा और सत्य पाने का मध्यान्तर बढ़ेगा ।

दारूचीरिय का समाधान हो गया । अहन्ता गली और श्रवण व्रत फिर से निखर आया । तथागत ने इस प्रसंग को शाम को सत्संग में दुहराते हुए विहार में उपस्थित भिक्षुओं एवं अन्य भक्तों को बताया कि लोक-सेवी की वरिष्ठता की कसौटी विनम्रता पर निर्भर है । आम्र-वृक्ष जितना अधिक फलों से लदा होगा, उतना ही झुकेगा । विभूतियाँ पाकर साधक को भी झुकना, स्वयं सेवी स्तर विकसित करना सीखना चाहिए । इसके अभाव में तो प्राप्त सिद्धि भी दुष्पाच्य आहार के रूप में सड़े मल की भाँति निकलती एवं वातावरण दूषित करती, स्वास्थ्य बिगाड़ती है । समाज निर्माण मात्र विनम्र साधक ही कर सकते हैं । यदि लोकसेवी ही अहन्ता के मद में चूर बने रहे तो वे विधेयात्मक प्रगति तो दूर, अपने साथ सारे समुदाय को ले डूबेंगे । दारूचीरिय के साथ ही सबने इस तत्त्वदर्शन को समझा व लोक-सेवा के मर्म को— साधना के सही स्वरूप को— हृदयंगम किया ।

विरक्ति विवेक पर आधारित हो

पक्षी चहक उठे, रथ के पहियों की गड़-गड़ाहट सुनकर वन के मोर चौंक उठे । समूचे वन प्रान्त की भंग होती निस्तब्धता में ऐसा कुछ समाने लगा जो अनजाना था— अपरिचित था— सर्वथा नया था । आगे-पीछे अनुशासनबद्ध घुड़सवार सैनिकों से घिरी मगध की साम्राज्ञी महारानी क्षेमा पधारी थीं । भगवान् तथागत के चैत्य-विहार में महारानी का इस प्रकार अचानक आना ? आस-पास विचरण कर रहे जनों के मन इस प्रश्न का हल ढूँढ़ निकालने में खोने लगे ।

पर महारानी जैसे इस फुस-फुसाहट-तरंगित वातावरण से अविचलित-सी थीं । वह धीरे-धीरे रथ से उतरीं । सैनिकों ने उनके सम्मान में गर्दनें झुका लीं । उन्होंने एक तीव्र किन्तु गम्भीर दृष्टि निक्षेप उन पर किया और बोलीं ''अब तुम लोग जा सकते हो ।'' स्वर नेपथ्य से आता लगा । रथों की गड़गड़ाहट थोड़ी ही देर में दूर-दूर बहुत दूर क्षितिज में जाकर विलीन हो गई ।

सान्ध्य वेला में क्षेमा ने तथागत के निजी आवास गृह में प्रवेश किया । वैराग्य से अभिभूत महारानी की मुखाकृति पर सात्त्विक आभा की चमक स्पष्ट थी । बुद्ध के चरणों में झुकते हुए उन्होंने कहा— ''भगवन् ! अब तक मैं अन्धकार में भटकती रही । मुझे पता होता ईश्वरीय नियमों के सम्मुख राजा और प्रजा दोनों ही समान हैं । मृत्यु और आधिभौतिक कष्टों, परेशानियों के जाल-जंजाल से कोई भी नहीं बचता तो मेरा इतना जीवन व्यर्थ न गया होता । अब तक आत्मकल्याण के कई चरण पूरे कर लिए होते । प्रभु ! अब मुझे शिष्य बनाकर मेरे आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करें ।

भगवान् बुद्ध ने गम्भीर दृष्टि से क्षेमा की ओर देखा । एक क्षण कुछ अध्ययन किया । फिर कहा ''भद्रे ! आत्मकल्याण के लिए साधना करने और गृह परित्याग से पहले यह जरूरी है कि जिन लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्य हैं, उनकी पूर्ण स्वीकृति और सहमति प्राप्त की जाये । जब तक आप महाराज बिम्बसार से आज्ञा नहीं प्राप्त कर लेतीं, दीक्षा का अधिकार आपको नहीं है ।''

क्षेमा पुनः एक बार मगध लौटीं । वे सीधे बिम्बसार के पास पहुँचीं । आभूषण रहित वेष और खुले हुए केश देखकर महाराज पहले ही समझ गए क्षेमा के मन में तीव्र आन्दोलन है । उन्होंने उठी हुई जिज्ञासा को रोकना उचित न समझा । महारानी के आग्रह पर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी । वह पुनः भगवान् बुद्ध के पास लौट आयीं ।

महारानी का धर्म पन्थ में प्रवेश राज्य की प्रजा के लिए कौतूहल और श्रद्धा का विषय बन गया था । हजारों की संख्या में नर-नारी एकत्रित होकर आश्रम पहुँचने और आत्मकल्याण की दीक्षा का आग्रह करने लगे । जब आश्रम में यह कोलाहल बढ़ता जा रहा था, तभी महारानी क्षेमा ने वहाँ प्रवेश किया ।

भीड़ की ओर इशारा करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा— क्षेमा ! देखो कितनी भीड़ तुम्हारा अनुकरण कर रही है जानती हो क्यों ? सामान्य जन के पास भी ऐसी ही भक्ति होती है, जैसी तुम्हारे हृदय में उमड़ रही है । किन्तु इनके पास न विचार होता है, न विवेक । इसलिए इनका वैराग्य दृढ़ नहीं । प्रबुद्ध व्यक्तियों के पद-चिह्नों का अनुसरण करने का नियम संसार में सभी जगह है । आज तक तुम्हारा वैभव विलास का जीवन रहा, उसका अनुकरण यह लोग करते रहे । खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार-बर्त्ताव में इन्होंने वह सब बुराइयाँ पाल ली हैं, जो राजघरानों में होती हैं । इस स्थिति में इन्हें छोड़कर अकेले तुम्हें दीक्षा दी जा सकती है क्या ?"

"नहीं भगवन् !" क्षेमा ने संक्षिप्त उत्तर दिया । " तो फिर यह भी आवश्यक है कि इन सबमें भी उसी तरह का विचार-विवेक और वैराग्य जाग्रत हो, जिस तरह से तुम्हारे अन्तःकरण में उदित हुआ है । इसके लिए तुम्हें कुछ दिन इनके बीच रहकर इनके विकास की साधना करनी पड़ेगी । जब तुम यह दूसरा चरण भी पूरा कर लोगी, तब दीक्षा की पात्र बनोगी ।"

क्षेमा उस दिन से जन-जन में ज्ञान-दान वितरण में जुट गईं । कई वर्षों की समाज सेवा से जब उनका वैराग्य दृढ़ हो गया तब भगवान् बुद्ध ने दीक्षा दी और आत्मकल्याण की साधना में प्रवेश कराया ।

तोड़ना आसान जोड़ना कठिन

निर्जन और सुनसान राह पर भगवान् बुद्ध सौम्य और शान्त मुद्रा में कदम-कदम आगे बढ़ रहे थे । मन्थर गति से गम्भीर और सौम्य शान्ति की दीप्ति बिखेरते हुए तथागत के साथ उनके अन्य शिष्य भी थे और सभी शिष्य उनके पीछे पंक्तिबद्ध होकर चल रहे थे । लक्ष्य था राजगृह । वहाँ पहुँचकर वहाँ के निवासियों को धर्म का उपदेश देना था । तभी राह में भेड़ों का एक झुण्ड निकला । झुण्ड के पीछे भेड़ों का मालिक गड़रिया चल रहा था ।

गड़रिये के कन्धे पर एक भेड़ का बच्चा था जिसे वह उठाकर ले जा रहा था । शायद उसके शरीर में कोई पीड़ा रही होगी जिसके कारण वह चलने में असमर्थ है । यह सोचकर तथागत ने गड़रिये को रोका और पूछा उससे कि— तुम इस मेमने को कन्धे पर क्यों उठाये हुए हो ।

गड़रिये ने साधु वेष में एक तेजस्वी पुरुष को अपने सामने देखा तो वह अनायास ही श्रद्धा से नत-मस्तक हो उठा और बोला— भगवन्, मेमने के पैर में चोट है । इसलिए इसे कन्धे पर रखना पड़ा है ।

बुद्ध कातर हो उठे और उन्होंने मेमने के उस अंग पर हाथ रखा जहाँ कि गड़रिये ने चोट बतायी थी । करुणा और दया की प्रतिमूर्ति तथागत का स्पर्श पाकर उस मूक पशु को जैसे राहत मिली हो । उसने आँखें मूँद ली और चुपचाप मूँदी पलकों से दो-चार आँसू टपका दिये । भगवान् बुद्ध मेमने की यह स्थिति देखकर और भी दयार्द्र हो गये ।

तभी गड़रिये ने पूछा— भन्ते ! आपको इस अकेले मेमने के पैर की चोट से इतनी व्यथा है तो फिर थोड़ी देर बाद जब इन भेड़ों को एक साथ अग्नि में समर्पित किया जायेगा तो कितनी व्यथा होगी ।

'क्या कहा'— सदैव शान्त रहने वाले बुद्ध के मुख-मण्डल पर व्यग्रता आ गयी— 'क्या ये सब भेड़ें बलि चढ़ाने के लिए ही ले जायी जा रही हैं । कौन है वह अभागा जो इन निरीह निरपराध भेड़ों को बलि चढ़ाकर स्वर्ग प्राप्ति का सौभाग्य लूटना चाहता है ।'

राजगृह का अधिपति अजातशत्रु । कहते हैं उसने अपने पिता का वध किया था । उसी पाप के प्रायश्चित स्वरूप वह यज्ञ रचाकर एक हजार पशुओं की बलि चढ़ाने जा रहा है— और जल्दी के कारण वह वहाँ से चल दिया ।

भगवान् बुद्ध जब राज-भवन पहुँचे तो पाया कि गड़रिये ने जो कहा था वह सच है । राज-भवन के आँगन में स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी हुई थी । यज्ञ वेदी के चारों ओर बैठकर ब्राह्मण पुरोहित मन्त्रोच्चार कर रहे थे और अजातशत्रु पीत वस्त्र धारण कर यजमान के वेश में बैठे हुए थे । चारों ओर पशुओं की लम्बी कतारें लगी हुई थीं तथा उनके पास ही हाथ में नंगी तलवारें लिए वधिक खड़े थे ।

तभी आयोजन स्थल पर तथागत ने पदार्पण किया । सारे सभास्थल में खलबली मच गयी । अजातशत्रु भी भगवान् की अभ्यर्थना हेतु अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और बिना पूछे ही इस समारोह के सम्बन्ध में बताने लगा । सारी बातें सुनकर भगवान् बुद्ध ने भेड़ों के सामने रखी हुई वनस्पतियों में से घास का एक तिनका उठाया और बोले— राजन् ! इस तिनके को तोड़कर चीरना तो जरा ।'

जिन लोगों ने इस विचित्र बात को सुना वे आश्चर्य में पड़ गये । अजातशत्रु ने भी आश्चर्यपूर्वक तथागत का कहना मानकर वह तिनका तोड़ा और अगले आदेश की प्रतीक्षा करने लगा तब भगवान् ने कहा— राजन् अब इस टूटे हुए तिनके को जोड़ो तो सही ।

राजा चुप हो गया । तब भगवान् ने कहा— "राजन् ! मैं तुमसे यही बात इस समारोह के सम्बन्ध में भी कहना चाहता था । पिता के वध का जो पाप हुआ है उसे किसी भी प्रयत्न द्वारा मिटाया नहीं जा सकता जैसे इस टूटे तिनके को नहीं जोड़ा जा सकता ।" तथागत से यह कथन सुनकर अजातशत्रु ने वह आयोजन निरस्त कर दिया ।

अपने भीतर सुख की खोज

उस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती की मृगारमाता के पूर्णाराम प्रासाद में विश्राम कर रहे थे । प्रवास और परिव्राजन के नैरन्तर्य के कारण उन्हें थकावट अनुभव हो रही थी । मृगारमाता ने उनकी देख-रेख और सेवा का पूरा प्रबन्ध कर दिया था ।

मृगारमाता विशाखा का किसी उद्योग से सम्बन्धित कोई काम कौशलराज प्रसेनजित के यहाँ अटका हुआ था । उसके कारण उन्हें चैन नहीं मिल रहा था । सोचा यह था कि तथागत की उपस्थिति में वह कुछ धर्म-चर्चा लाभ लेगी । पर वह तो बना नहीं, वह दूसरे ही दिन प्रसेनजित के पास पहुँची ।

प्रसेनजित ने इस बार भी टाल-मटोल कर दी। विशाखा वहाँ से निराश लौटी। दोपहर की चिलचिलाती धूप में वैसे ही विशाखा सीधे भगवान् बुद्ध के पास पहुँची और उन्हें प्रणाम कर खिन्न बदन एक ओर बैठ गई।

अन्तर्यामी तथागत हँसे और बोले— विशाखा ! इसीलिये कहता हूँ कि अपनी इच्छायें बढ़ानी नहीं, कम करनी चाहिये। इच्छाओं की पूर्ति में जो पराधीनता है, वही दुःख है।

विशाखा ने कहा— तो फिर भगवन् ! ऐसा भी कोई उपाय है, जिससे अपनी इच्छायें कम की जा सकें।

बुद्ध ने उत्तर दिया— हाँ भन्ते ! अवश्य है, यदि हम सुख की खोज अपने भीतर करने लगें तो इच्छाओं की निस्सारता आप प्रकट होने लगती है।

योग्यता की परख

युवक अंकमाल भगवान् बुद्ध के सामने उपस्थित हुआ और बोला— भगवन् ! मेरी इच्छा है कि मैं संसार की कुछ सेवा करूँ, आप मुझे जहाँ भी भेजना चाहें भेज दें ताकि मैं लोगों को धर्म का रास्ता दिखाऊँ ?

बुद्ध हंसे और बोले— तात् ! संसार को कुछ देने के पहले अपने पास कुछ होना आवश्यक है, जाओ पहले अपनी योग्यता बढ़ाओ फिर संसार की भी सेवा करना।

अंकमाल वहाँ से चल पड़ा और कलाओं के अभ्यास में जुट गया। वाण बनाने से लेकर चित्रकला तक मल्लविद्या से लेकर मल्लाहकारी तक उसने जितनी भी कलायें हो सकती हैं उन सबका १० वर्ष तक कठोर अभ्यास किया। अंकमाल की कला-विशारद के रूप में सारे देश में ख्याति फैल गई।

अपनी प्रशंसा से आप प्रसन्न होकर अंकमाल अभिमानपूर्वक लौटा और तथागत की सेवा में जा उपस्थित हुआ। अपनी योग्यता का बखान करते हुये उसने कहा— भगवन् ! अब मैं संसार के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ सिखा सकता हूँ। अब मैं २४ कलाओं का पण्डित हूँ। भगवान् बुद्ध मुस्कराये और बोले अभी तो तुम कलायें सीख कर आये हो परीक्षा दे लो तब उन पर अभिमान करना।

अगले दिन भगवान् बुद्ध एक साधारण नागरिक का वेष बदल कर अंकमाल के पास गये और उसे अकारण खरी-खोटी सुनाने लगे। अंकमाल क्रुद्ध होकर मारने दौड़ा तो बुद्ध वहाँ से मुस्कराते हुये वापस लौट पड़े।

उसी दिन मध्याह्न दो बौद्ध श्रमण वेष बदल कर अंकमाल के समीप जाकर बोले— आचार्य आपको सम्राट हर्ष ने मन्त्रिपद देने की इच्छा की है क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ? अंकमाल को लोभ आ गया उसने कहा— हाँ-हाँ अभी चलो। दोनों श्रमण भी मुस्करा दिये और चुपचाप लौट आये। अंकमाल हैरान था— बात क्या है ?

थोड़ी देर पीछे भगवान् बुद्ध पुन. उपस्थित हुये। उनके साथ आम्रपाली थीं। अंकमाल, जितनी देर तथागत वहाँ रहे आम्रपाली की ही ओर बार-बार देखता रहा। बात समाप्त कर तथागत आश्रम लौटे।

सायंकाल अंकमाल को बुद्ध देव ने पुनः बुलाया और पूछा— वत्स ! क्या तुमने क्रोध, काम और लोभ पर विजय की विद्या भी सीखी है। अंकमाल को दिनभर की सब घटनायें याद हो आई। उसने लज्जा से अपना सिर झुका लिया और उस दिन से आत्म-विजय की साधना में संलग्न हो गया।

सर्वोपरि शक्ति क्या है ?

पत्थर की एक बड़ी चट्टान को देखकर शिष्य ने बुद्ध से पूछा भगवन् ! क्या इस चट्टान पर किसी का शासन सम्भव है ?'

'पत्थर से कई गुनी शक्ति लोहे में होती है। इसीलिए लोहा पत्थर को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।' भगवान् बुद्ध ने शिष्य की जिज्ञासा को शान्त करते हुए उत्तर दिया। तो फिर लोहे से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ होगी ? शिष्य ने प्रश्न किया— 'क्यों नहीं ? अग्नि है। जो लोहे के अहं को गलाकर द्रव्य रूप में बना देती है।'

'अग्नि की विकराल लपटों के सम्मुख किसी की क्या चल सकती होगी ?'

'केवल जल है जो उसकी उष्णता को शीतल कर देता है'

'जल से टकराने की फिर किसमें ताकत होगी। प्रतिवर्ष बाढ़ तथा अति वृष्टि द्वारा जन और धन की अपार हानि होती है।'

'ऐसा क्यों सोचते हो वत्स ! इस संसार में एक से एक शक्तिशाली पड़े है। वायु का प्रवाह जलधारा को दिशा बदल देता है। संसार का प्रत्येक प्राणी वायु के महत्त्व को जानता है क्योंकि इसके बिना उसके जीवन का महत्त्व ही क्या है ?'

'जब वायु ही जीवन है, फिर इससे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।'

अब भगवान् बुद्ध को हँसी आ गई उन्होंने कहा— 'मनुष्य की संकल्पशक्ति द्वारा वायु भी वश में हो जाती है। मानव की यह शक्ति ही सबसे बड़ी है।'

धर्माचरण का मर्म

इन्द्रप्रस्थ के राजा धनंजय के घर अति प्राचीनकाल में बोधिसत्व ने एक बार पुत्र रूप में जन्म लिया था। पिता के मरने पर वे सिंहासनारूढ़ हुए। उनकी न्याय-निष्ठा और दानशीलता की ख्याति समस्त जम्बू द्वीप में फैल गई। प्रजा धर्मशील थी और सुखी थी।

कलिंग देश में उन्हीं दिनों अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा क्षुधित और रुग्ण होकर मरने लगी, जिनसे बन पड़ा वे देश छोड़कर भाग गये।

प्रजा के दुःख को देखकर कलिंगराज बहुत दुःखी हुए और देश के विज्ञजनों को बुलाकर दुर्भिक्ष निवारण का उपाय पूछने लगे।

एक वयोवृद्ध ने कहा— दुर्भिक्ष के समय पुराने राजा अपना समस्त राजकोष दान कर देते थे और एक महीने तक घास पर सोते थे और व्रत रखते थे। ऐसा करने से वर्षा हो जाया करती थी। राजा

ने तुरन्त वही कर डाला । दान, तप और भूमिशयन की क्रिया सही रूप से पूरी हो जाने पर भी वर्षा नहीं हुई ।

दूसरी सभा बुलाई गई । एक ज्योतिषी ने कहा— कुरु देश के राजा के पास अंजन वसभ नामक मांगलिक हाथी है वह किसी प्रकार अपने देश में आ जाय तो दुर्भिक्ष दूर हो जायेगा । कलिंग नरेश ने उस हाथी की याचना के लिए दूत भेजे । उदार कुरुराज ने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली और तत्काल हाथी दान में दे दिया । मंगल गज आ तो गया पर वर्षा इससे भी न हुई ।

तीसरी सभा बुलाई गई । उसमें बहुत विवेचना के पश्चात् निष्कर्ष निकला कि इन्द्रप्रस्थ में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता वहाँ की प्रजा धर्माचरण करती है और सदा सर्व सुखी रहती है । हमारे देश में अधर्माचरण बढ़ गया है अस्तु दुर्भिक्ष पड़ा । हमें इन्द्रप्रस्थ नरेश से धर्माचरण के नियम पूछने चाहिए, उन्हें स्वर्ण पटल पर लिखाकर मँगाना चाहिए और प्रजाजनों को उन्हें पालन करने के लिए बाधित करना चाहिए तभी वर्षा होगी ।

कलिंग नरेश ने आठ ब्राह्मणों का दल इन्द्रप्रस्थ भेजा, नरेश ने लिखवाया— ''निष्ठुर मत बनो । बिना परिश्रम का धन मत लो । छल और दम्भ मत करो । स्नेह सौजन्य बरतो । संयम बरतो और प्रसन्न रहो ।'' इतना लिखा देने पर राजा को सन्देह हुआ कि यह नियम अपूर्ण हो सकते हैं । धर्म तत्त्व को निर्देशक नहीं उसके प्रयोक्ता ही जानते हैं । सो उन्होंने ब्राह्मणों को अपनी धर्मनिष्ठा माता के पास भेजा कि जो इसमें कमी हो उसे उनसे पूरी करालें ।

ब्राह्मण मण्डली राजमाता के पास पहुँची । राजमाता ने कहा - धर्माचरण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहने पर भी मुझसे भूल होती है सो आप लोग उपराज के पास जायें वे मुझसे अधिक जागरूक हैं । उपराज ने भी अपने प्रयत्नशीलता की बात तो कही पर साथ ही यह भी माना कि अभी उन्हें बहुत कुछ सुधरना शेष है । इसलिए धर्म तत्त्व का विवेचन अधिकारी कर्त्तव्यनिष्ठों से कराया जाय । इसके लिए मैं नहीं विद्रुध आमात्य के पास वे पधारें ।

ब्राह्मण आमात्य के पास पहुँचे । आमात्य डंडे में रस्सी बाँधकर खेतों की लम्बाई-चौड़ाई नाप रहे थे । इस प्रयास में उनके पैरों से एक मेंढ़क कुचल कर मर गया । वे खिन्न बैठे । ब्राह्मण दल ने उनसे अपना अभिप्राय व्यक्त किया । आमात्य बोले आप देखते नहीं मैंने कर्त्तव्य-पालन के साथ-साथ बरती जाने वाली सतर्कता में चूक करदी । प्रमादी तो अधार्मिक होता है । मैं धर्म-शिक्षा का अधिकारी कहाँ रहा ? आप सुधार सारथी के पास जाइये वह बिना प्रमाद के धर्माचरण करने में प्रख्यात हैं ।

सारथी ने अपनी भूलें बताते हुए कहा— सही चाल से चलने पर भी मैंने एक बार घोड़ों को द्रुतगति से दौड़ाने के लिए चाबुक बरसाये थे और यह ध्यान में नहीं रखा था कि इससे उन्हें कितना अनावश्यक कष्ट होगा । जिसकी सहानुभूति में न्यूनता है वह धर्मोपदेश क्या करे ? आप अनाभ श्रेष्ठि के पास जायें वे माने हुए धर्मातमा हैं । अनाभ ने ताजी घटना सुनाई जिसमें उन्होंने राज्य का कर भाग चुकाये बिना खेत से खुद कच्चा अन्न भूनकर खा लिया था । खाते समय यह ध्यान नहीं रखा था कि कर चुकाने के बाद ही खाना चाहिए । फिर भला मैं धर्म-शिक्षा कैसे दूँ । उपदेश तो वह करे जो आचरण में खरा हो । आप विरोजन आमात्य के पास जायें वे इसके अधिकारी हैं ।

महामात्य मुँह लटकाये बैठे थे । उनके जिम्मे किसानों के उपार्जन का छठा अंश राज्य कर के रूप में नापना था । कल एक किसान के अनाज की ढेरी उन्होंने नापी थी । विभाजन की मध्य रेखा बनाने के लिए उन्होंने थोड़ा-सा अनाज चिह्न प्रतीक के रूप में रख दिया था । नाप पूरी होते-होते वर्षा आ गई । महामात्य ने वह चिह्न प्रतीक वाला अन्न जल्दी में उठाकर राज्य भाग में डाल दिया और वह राज्यकोष में जमा हो गया । वे सोच रहे थे इस भूल से राजा को अनुचित लाभ मिला और किसान के साथ अन्याय हुआ । जब मुझे न्याय के लिए भेजा गया था उसमें पूर्ण सतर्कता बरतनी चाहिए थी । ब्राह्मणों को उन्होंने अपनी भूल बता दी और कहा आप सुधीर द्वारपाल के पास जायें ।

द्वारपाल ने ब्राह्मणों की बात सुनी और एक घटना सुनाई । राजदरबार में एक युवक अपनी बहन को लेकर किसी न्याय प्रयोजन के लिए आया था । वे हँसते-हँसते जा रहे थे । मैंने उन्हें व्यभिचारी समझा और कटु शब्दों में डाँटा । जब उन लोगों ने अपने सम्बन्ध बताये तो मुझे दुःख हुआ कि बिना पूरी बात जाने मैंने केवल सन्देह के आधार पर क्यों खोटी मान्यता बना ली ? आप ही बतायें कि जिसका आचरण संदिग्ध हो वह शिक्षा कैसे दे ? आप चन्द्रवती वेश्या के पास जायें ।

वेश्या ब्राह्मणों की बात सुनकर रुँआसी हो गई । उसने सुनाया एक परदेशी युवक ने सहस्र मुद्रा देकर मुझे एक वर्ष प्रणय क्रीड़ा के लिए अनुबंधित कर लिया । अचानक उसे स्वदेश लौटना पड़ा । तीन वर्ष तक मैंने उसकी प्रतीक्षा की जब कुछ पता न चला और भूखी मरने लगी तो दूसरे युवक का अनुबंध स्वीकार कर लिया । अब इस सोच में पड़ी हूँ कि कहीं प्रथम युवक के साथ मैं विश्वासघात तो नहीं कर बैठी ? मेरा धर्माचरण नष्ट तो नहीं हो गया ? ऐसी असमंजसयुक्त मनःस्थिति में किस प्रकार आपको कुछ परामर्श दूँ ।

ब्राह्मण इन सबके कथन का सार अपने मन में जमाकर राजा के द्वारा लिखाये गये निर्देशों वाले स्वर्ण पटल समेत कलिंग देश चल पड़े । राज्य सभा में उन्होंने समस्त विवरण सुनाया और कहा धर्माचरण की मोटी मर्यादा तो इस पटल पर लिखी है । उनका मर्म रहस्य यह है कि ''हर व्यक्ति अपने आचरण की गहरी समीक्षा करे, सुधार के लिए सचेष्ट रहे । विनम्र बने और अपनी अपेक्षा दूसरों को श्रेष्ठ माने ।''

कलिंगराज ने स्वर्ण पटल पर लिखी मर्यादाओं के साथ-साथ ब्राह्मणों द्वारा परखे गये धर्म रहस्य भी जोड़ दिये और उन्हें पालन करने के लिए प्रजा को मनाया ।

जैसे ही धर्माचरण का पालन आरम्भ हुआ वैसे ही विपुल वर्षा होने लगी और दुर्भिक्ष मिट गया, सतयुगी सुव्यवस्था का आधार बन गया ।

निर्भयता--श्रेयस की जननी

वाराणसी के जंगलों में एक खरगोश रहता था। जितना छोटा था उसका शरीर अन्य जीव-जन्तुओं की तुलना में, उससे भी छोटी थी उसकी बुद्धि। एक दिन मध्याह्न समय बेल-पादप की छाया में वह विश्राम कर रहा था। भोजन से पेट भरा था और इसलिए उसे नींद भी आ गयी और निद्रावस्था में उसने एक भयंकर स्वप्न देखा। स्वप्न में शायद वह किसी भवन के नीचे सोया था और वह देख रहा था कि भवन की छत फट पड़ी है और उसके मलवे तले वह दबता जा रहा है।

यह स्वप्न देखकर भयभीत हो जाग उठा। उसका मुँह आकाश की ओर तो था ही सीधी दृष्टि आकाश पर गयी और उसने सोचा कभी यह आकाश फट पड़े। तो स्वप्न की तन्द्रा में तो वह था ही और हृदय भी भय-ग्रस्त, सो सचमुच ही लगने लगा कि आकाश फट पड़ा है तभी भयानक तेज हवा चली और बेल के वृक्ष से एक फल टूटकर जमीन पर गिरा। उसकी जो आवाज हुई उसने खरगोश की इस आशंका की पुष्टि कर दी कि आकाश फट पड़ा है। वस्तुस्थिति को जानने के लिए न तो उसने अपनी आजू-बाजू देखा और न कुछ विचार ही किया। एक दम से भाग खड़ा हुआ। आत्मरक्षा के लिए वह किसी ऐसे स्थान पर जा छुपने की कोशिश में था कि जहाँ उसके प्राण बच जायें और वह सुरक्षित भी रह जाए वह इस प्रकार डरकर भाग रहा था कि पीछे तो क्या अगल-बगल में अपना सुरक्षित स्थान देखने की भी हिम्मत नहीं जुट पा रही थी।

इस प्रकार बेतहाशा भागते हुए देखकर उसके कुछ साथियों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ ने रोक कर पूछना चाहा कि क्या बात है परन्तु खरगोश के पास रुकने का समय कहाँ था। भागते-भागते ही उसने कहा— अरे मूर्खो ! रुकने की बात कह रहे हो अभी पता चल जायेगा कि क्या हुआ। पीछे आसमान फट पड़ा है, अभी सब दबकर मर जाओगे। मैं तो किसी सुरक्षित स्थान की तलाश कर रहा हूं ताकि अपने प्राण बचा सकूं।

इतना सुनना था कि उसके साथियों ने भी बिना कोई सोच-विचार किये उस खरगोश के पीछे भागना शुरू किया। थोड़ी दूर बाद मिला हरिणों का झुण्ड। हरिणों ने पूछा— भाइयो आप सब लोग इस तरह घबराकर क्यों भाग रहे हो।

घबराकर नहीं मित्रो, अपनी जाति और अपने प्राणों की रक्षा के लिए भाग रहे हैं— भागते हुए खरगोशों में से एक ने कहा— पीछे आसमान फट पड़ा है और सारे पृथ्वी के प्राणियों पर विपत्ति आ पड़ी है।

हरिण भी भागने लगे नदी के किनारे पहुँचे तो हाथियों ने भी उसी प्रकार पूछा जिस प्रकार अन्य खरगोशों तथा हरिणों ने पूछा था और वे भी वस्तुस्थिति पर कोई विचार किये बिना ही भागने वालों के उस झुण्ड में जा मिले। इसी प्रकार धीरे-धीरे बारहसिंघे, लोमड़ी, गैंड़े, नीलगायें, चीते और भेड़िये भी इन भागने वालों के काफिले में शरीक हो गये।

भागते-भागते जब यह मण्डली एक पहाड़ की घाटी में पहुँची तो उस घाटी की एक गुफा में विश्राम कर रहे वनराज सिंह की आँखें खुल गयीं। सिंह ने भागते हुए प्राणियों को रोका और पूछा तो कारण का पता चलने पर वनराज की हँसी छूट पड़ी। आकाश की ओर देखते हुए कहा— देखो आकाश तो अपनी जगह पर खड़ा हुआ है।

घटना के मूल कारण का पता चला तो सभी जीवों को बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। यह कथा सुनाकर भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा— भिक्षुओ ! अब तुम समझ गये होंगे कि भय से मनुष्य के सोचने-विचारने की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। इससे पूर्व कि जब भय के कारण उपस्थित हों तभी विचारपूर्वक उन्हें जान लिया जाय तो तनिक भी अनिष्ट न होगा। लौकिक जगत में नहीं आत्मिक जगत में प्रवेश और सफलता के लिए भी निर्भयता एक द्वार है और जो उस द्वार से प्रवेश करते हैं वे ही श्रेयस् को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रकाश की एक किरण का प्रभाव

गाँव में गौतम बुद्ध का दूसरी बार आगमन हो रहा था। राजा और धनवान व्यक्ति उनके स्वागत की तैयारी में लगे थे। पर छोटे तबके के व्यक्तियों को अपने गोरख-धन्धे से ही समय नहीं मिल पाता जो ऐसे कार्यक्रमों में भाग ले सकें।

उसी गाँव में एक मोची रहता था दिन भर मेहनत-मजदूरी करता, शाम पड़े घर लौटकर आता, खाना खा-पीकर थोड़ी देर बच्चों के साथ मनोरंजन करता और थका-माँदा गहरी नींद में सो जाता। उसे पता ही नहीं चलता कि गाँव में कब और कौन-सी गतिविधि होने वाली है।

एक दिन वह सुबह उठा। घर के पीछे के छोटे से गन्दे तालाब में उसे कमल का फूल खिला दिखाई दिया। बेमौसम के उस फूल ने मोची का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह घुटनों तक के गन्दे पानी में घुस कर उस फूल को तोड़ लाया। सोचा इसका रुपया दो रुपया मिल जायेगा तो घर का काम चलेगा। फूल लेकर वह शहर की ओर दौड़ा।

रास्ते में नगर सेठ अपने रथ पर बैठे आ रहे थे उन्होंने मोची को फूल ले जाते देखा तो उसे रोककर सारथी से कहा इसे पाँच रुपये निकाल कर दे दो। आज नगर में बुद्ध का आगमन है उनके चरणों में अर्पित करने के काम आ जायेगा यह फूल। मोची भौंचक्का हो गया सोचने लगा रुपये दो रुपये की चीज के यह तो पाँच रुपये दे रहा है। सौदा निबट भी नहीं पाया था कि उसी मार्ग पर आते ही अश्वारोही राजमन्त्री ने कहा 'इस फूल का सौदा हो गया। तुम बेचना मत। जितना पैसा यह धनी दे रहा होगा उसके पाँच गुने मैं दूँगा।' एकदम ५ रुपये से २५ रुपये हो गये। जरूर इस फूल में कुछ कमाल है तभी एकदम पाँच गुनी कीमत बढ़ रही है।

तभी राजा की सवारी उसी मार्ग से निकलते हुए उसी विवाद-स्थल पर आ रुकी। राजा ने रथ में से झाँककर कहा— "इस फूल को बेचने की आवश्यकता नहीं। मैं राज्य कोष से मुँह-माँगा दाम दूँगा। तुझे अब चमड़े के धन्धे से भी मुक्ति मिल जायेगी। तेरे परिवार की स्थिति सुधर जायेगी। मेहनत, मजदूरी के चक्कर में न पड़ना

होगा। पूरा परिवार आसानी से खुशी-खुशी अपने दिन व्यतीत कर सकेगा।''

नगण्य से फूल की कीमत हजारों रुपये हो गई। मोची चक्कर में पड़ गया। उसकी आँखें राजा की ओर फटी-सी रह गईं। ऐसा इस फूल में क्या हीरे-पन्ने जड़े हुये हैं जो इसकी कीमत हजारों रुपये हो गई। आखिर बात क्या है ? सम्राट ! यह मोल-भाव इतना बढ़-चढ़कर क्यों हो रहा है।

'तू बड़ा भोला है। तुझे शायद पता नहीं कि अपने गाँव में भगवान् बुद्ध का शुभागमन होने वाला है। हमें भी उनके स्वागत के लिए जाना है। बेमौसम का यह फूल उनके चरणों में चढ़ायेंगे तो उन्हें भी आश्चर्य होगा कि यह कहाँ से आ गया और हमें भी अद्भुत वस्तु चढ़ाने में गौरव का अनुभव होगा।'

नगर सेठ ने राजा की बात सुनकर मोची से कहा 'भैया ! यह न होगा यह फूल मैंने पहले देखा था। मोल-भाव पहले मैं कर रहा था। अतः इस वस्तु पर पहला दावा मेरा है नियमानुसार मुझे ही मिलना चाहिए।'

मोची ने कहा— 'अच्छा ! यह बात है। तो आप सभी लोग मुझे क्षमा कीजिये। जब भगवान् के चरण अपने ही गाँव को पवित्र करने वाले हैं तो मैं ही उनके चरणों में यह पुष्प चढ़ा दूँगा। मैं फूल बेचना नहीं चाहता। इसकी उपयोगिता मुझे आप सबके द्वारा मालूम पड़ गई है।'

शाम को व्यक्तिगत चर्चा के समय बुद्ध को नगर सेठ, मन्त्री तथा राजा ने दिन में घटी वह घटना सुनाई। ''एक निर्धन मोची, जिसे दो समय भरपेट खाने को भोजन नहीं मिलता, लाखों रुपये पर ठोकर मारकर फूल बेचने से इन्कार कर देता है।''

बुद्ध को सारी घटना समझने में देर न लगी। तब तक वह मोची भी दर्शनार्थियों की भीड़ में दिखाई दिया। आगे बढ़कर उसने पुष्प चढ़ाया, चरणों में माथा झुकाकर हाथ जोड़े दूर एक ओर खड़ा हो गया।

बुद्ध ने कहा आज इस फूल के तेरे पास कई ग्राहक थे और मुँह-माँगा दाम देने को तैयार थे। फिर तो यह फूल बेच देना चाहिए था।

''भगवन् ! संसार में धन-सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है। इससे भी बढ़कर कुछ और है जो आपके दर्शन तथा सत्संग से अभी मिल गया। यह लाभ सम्पत्ति के द्वारा तो प्राप्त नहीं किया जा सकता।''

बुद्ध ने सम्बोधन करते हुये कहा— ''भिक्षुओ ! देखो इस साधारण से चमार को। जिसके पास सुबह खाने को जुट जाये तो शाम को खाना मिल सकेगा इसका भी भरोसा नहीं रहता। उस व्यक्ति में परमात्मा के प्रकाश की किरणें कितना परिवर्तन कर सकती हैं। कितना प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। मैं तो कितने ही वर्षों से गाँव-गाँव, नगर-नगर विहार कर रहा हूँ पर इस जैसा प्रेमी और श्रद्धालु व्यक्ति अभी तक नहीं मिल सका। कौन व्यक्ति छोटा है, और कौन बड़ा ? इसका निर्णय करना भी आसान कार्य नहीं। बाहर से देखने में सभी बीज एक-से लगते हैं पर कौन-सा बीज बड़ा फल देगा, फूल देगा ? इसे कोई नहीं जानता सिवाय ईश्वर के।''

देने में ही महानता है

''मेरे धन और वस्तुओं के चोरी चले जाने से मुझे कुछ भी दुःख नहीं है। धन तो धूप-छाँव की तरह है। भला जाना तो उसका स्वभाव है। मुझे न इसके आने में विशेष हर्ष होता है न इसके जाने में दुःख। मेरी इससे कोई ममता और आसक्ति नहीं है। यही मनुष्य के दुःख का कारण बनती है।'' भगवान् बुद्ध के अपने एक पहले जन्म में जब उन्होंने एक समृद्ध घराने में जन्म लिया था और उनके यहाँ चोरी हो गई तो वे अपने मन में यह बातें सोच ही रहे थे कि उनके एक मित्र आ गये और उन्होंने पूछा—

''आपके घर में हुई चोरी के बारे में सुना है। मन बहुत ही व्यथित हो रहा है। ये चोर भी क्या अनधिकार चेष्टा करते हैं। किसी व्यक्ति के वर्षों के परिश्रम से कमाया हुआ धन वह कुछ ही क्षणों में ले जाते हैं। किसी को दुःखी करके वह उस धन से सुखी कैसे रह सकते हैं। दुःखी मन से जो आह निकलती है वह शाप का-सा प्रभाव रखती है, इसलिए वह भी कभी सुख-चैन से नहीं रह सकते।''

''भाई ! मेरा मन इसलिए चिन्तित नहीं हो रहा है कि मेरा धन चला गया है और अब मैं क्या करूँगा ? धनवान होने से मेरी कुछ शान बनी हुई थी और अब धनहीन होकर मिट्टी में मिल जाएगी। मैं अपने परिवार का कैसे निर्वाह करूँगा ? या पहले जो खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ मुझे उपलब्ध थीं। वे अब नहीं मिल पायेंगी'' भगवान् बुद्ध ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया।

''तो और क्या बात है मित्र ! मैंने तो यही सोचा था क्योंकि हम जैसे साधारण व्यक्तियों को तो ऐसी बातें सोचना स्वाभाविक ही है। एक घर में उनकी सभी वस्तुएँ चोरी चली जायें तो इस प्रकार का सोचना उचित ही है।'' मित्र ने जिज्ञासापूर्वक पूछा।

''मैं तो यह सोच कर दुःखी हो रहा था कि पीड़ितों और असहायों की आवश्यकता पूर्ति के लिए मैं नित्य-प्रति कुछ न कुछ दान किया करता हूँ। यह वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है। जब तक कुछ दान न कर लूँ तब तक खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मेरी प्रसन्नता का आधार यही है। जब मैं लोगों को दुःखी देखता हूँ तो उनके दुःख समझने लगता हूँ। मनुष्य जैसे अपने व अपने परिवार के दुःख को दूर करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है, उसी प्रकार किसी भी दुःखी को मैं अपने परिवार का सदस्य मानता हूँ। उसके दुःख-दर्द को दूर करने के लिए अपना सर्वस्व लगाने के लिए तैयार हो जाता हूँ।'' भगवान् बुद्ध के नेत्रों में आँसू आ रहे थे। वह अपने हृदय उद्गारों को उँड़ेलकर अपने मन को हलका कर रहे थे। वह कहते जा रहे थे—

''अब चूँकि मेरे पास कुछ नहीं रह गया है। यदि अब कोई भूखा आ जाये तो उसे क्या खिलाऊँगा ? कोई जरूरतमन्द आ जाये तो उसे क्या दूँगा ? अब तक मेरे घर से कोई भी व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटा है। जिनको मेरी सहायता की आवश्यकता पड़ती है, उनकी पूर्ति यथाशक्ति करता ही था। शरीर के लिये जैसे भोजन आवश्यक है और इसके बिना जैसे थोड़े दिनों में मृत्यु दरवाजा खटखटाने लगती

है, उससे अधिक मेरे लिए दु:खियों की सेवा करना आवश्यक है। यही मेरा जीवन है।''

वह मित्र भगवान् बुद्ध से बहुत प्रभावित हुये कहने लगे ''मेरी धन और सम्पत्ति भी तो आपकी ही है। आप उसका उचित उपयोग कर सकते हैं। वह मैं आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।''

''आपके परिश्रम से कमाये हुए धन को मैं कैसे दान रूप में किसी को दे सकता हूँ। उस पर तो आपका ही अधिकार है।'' वह यह बात कह ही रहे थे कि उनकी नजर एक हँसुआ और रस्सी की गेंडुल पर पड़ी। उनका चेहरा खिल उठा मानो उन्हें कोई सहारा मिल गया हो। डूबते को तिनके का सहारा भी काफी होता है। वह बोले—

''परमात्मा ने हाथ-पैर काम करने के लिए बनाए हैं। आलसी बन कर उनसे काम न लेना पहले दरजे की नास्तिकता है। मैं इसी हँसुआ के द्वारा घोर परिश्रम करूँगा और धनोपार्जन करके अपनी और दूसरों की आवश्यकता पूरी करूँगा। जिस व्यक्ति को अपने बाहुबल का भरोसा होता है वह किसी और के मुँह की ओर नहीं ताकता।''

भगवान् बुद्ध दिन भर हँसुआ से घास काटते थे और शाम को सिर पर गेंडुल रख कर घास की गठरी लाद कर बाजार में बेचते थे। जो भी इससे मिल जाता उसमें से कम से कम अपने लिए रख कर शेष असहायों को दे देते थे। जिनका स्वभाव ही देना बन चुका हो वह इससे कैसे रुक सकते हैं।

एक दिन बुद्ध घास की गठरी लिए बाजार को जा रहे थे कि एक और मित्र ने उन्हें रोक कर कहा ''तुम्हारे वर्तमान जीवन पर मुझे बड़ी दया आती है। कहाँ तो तुम्हारे घर में, दास-दासियाँ काम करती थीं, अपने हाथ से कोई थोड़े-से परिश्रम का काम नहीं करना पड़ता था और कहाँ अब तुम मजदूरों की तरह इतने छोटे काम कर रहे हो।''

''परिश्रम से जी चुराना मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। जो मनुष्य परिश्रम नहीं करना चाहता, उसके जीवन का किसी भी क्षेत्र में विकास होना असंभव है। यही वह सिद्धि है जो व्यक्ति को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करती है। इसके बिना न कोई बना है न बन सकता है'' बुद्धदेव ने गठरी नीचे रख कर मित्र को उत्तर दिया।

मित्र ने अब बात बदल ली और कहने लगा ''परिश्रम के ऊपर तो मनुष्य का जीवन टिका हुआ है, यह मैं मानता हूँ परन्तु उसे अपना घर तो दूसरों के लिए लुटा नहीं देना चाहिये। अपना अपने परिवार का भी कुछ ध्यान रखना चाहिये। अपनी कमाई में से कुछ न कुछ जोड़ कर रखना भी तो आवश्यक है ताकि वह आड़े वक्त में काम आये। मेरा तो यह विचार है कि तुम्हारी चोरी नहीं हुई है। तुम्हारी आवश्यकता से अधिक उदारता व दानशीलता ने तुम्हें इस दशा तक पहुँचा दिया है। अब भी समझ जाओ और जो कुछ कमाते हो उसमें से बचा कर रख दिया करो। बूँद-बूँद से तो समुद्र हो जाता है, थोड़ा-थोड़ा जोड़ने से पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा।''

''मित्र! इस सहानुभूति के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। परन्तु दुखियों के दु:ख को दूर करने के बजाय यदि मैं उस धन को केवल अपने स्वार्थ के लिए जोड़ कर रखता हूँ तो समाज के साथ एक प्रकार की चोरी है। संग्रह का अर्थ है कहीं से उस वस्तु का अभाव होना। अभाव ही तो दु:ख का कारण है। एक स्थान पर खड़ा हुआ पानी तो सड़ जाता है परन्तु चलता हुआ पानी स्वच्छ व स्फूर्तिदायक होता है। मुझे कंजूस बनकर चोर की संज्ञा में नहीं आना है। मैं तो समाज को अपना शरीर मानता हूँ। अपने शरीर के लिये तो हर कोई कष्ट उठाता ही है। यदि मैं अपने शरीर के लिये कुछ करता हूँ तो यह कोई विशेषता की बात नहीं है।'' बुद्ध ने अपनी जीवन नीति प्रकट की।

मित्र अब क्या उत्तर देता। उनकी प्रशंसा करते हुए चल दिया।

सत्य के तीन पहलू

भगवान् बुद्ध के पास एक व्यक्ति पहुँचा। बिहार के श्रावस्ती नगर में उन दिनों उनका उपदेश चल रहा था। शंका-समाधान के लिए— उचित मार्ग-दर्शन के लिए लोगों की भीड़ उनके पास प्रतिदिन लगी रहती थी।

आगन्तुक ने पूछा— क्या ईश्वर है? बुद्ध ने एकटक उस युवक को देखा— बोले, ''नहीं है।'' थोड़ी देर बाद एक दूसरा व्यक्ति पहुँचा। उसने भी उसी प्रश्न को दुहराया— क्या ईश्वर है? इस बार भगवान् बुद्ध का उत्तर भिन्न था। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा— ''हाँ ईश्वर है।'' संयोग से उसी दिन एक तीसरे आदमी ने भी आकर प्रश्न किया— क्या ईश्वर है? बुद्ध मुस्कराये और चुप रहे— कुछ भी नहीं बोले। अन्य दोनों की तरह तीसरा भी जिस रास्ते आया था उसी मार्ग से वापस चला गया।

आनन्द उस दिन भगवान् बुद्ध के साथ ही था। संयोग से तीनों ही व्यक्तियों के प्रश्न एवं बुद्ध द्वारा दिए गये उत्तर को वह सुन चुका था। एक ही प्रश्न के तीन उत्तर और तीनों ही सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न, यह बात उसके गले नहीं उतरी। बुद्ध के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा— अविचल निष्ठा थी पर तार्किक बुद्धि ने अपना राग अलापना शुरू किया, आशंका बढ़ी। सोचा, व्यर्थ आशंका-कुशंका करने की अपेक्षा तो पूछ लेना अधिक उचित है।

आनन्द ने पूछा— ''भगवन्! धृष्टता के लिए क्षमा करें। मेरी अल्प बुद्धि बारम्बार यह प्रश्न कर रही है कि एक ही प्रश्न के तीन व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न उत्तर क्यों? क्या इससे सत्य के ऊपर आँच नहीं आती?''

बुद्ध बोले— ''आनन्द! महत्त्व प्रश्न का नहीं है और न ही सत्य का सम्बन्ध शब्दों की अभिव्यक्तियों से है। महत्त्वपूर्ण वह मन:स्थिति है जिससे प्रश्न पैदा होते हैं। उसे ध्यान में न रखा गया— आत्मिक प्रगति के लिए क्या उपयुक्त है, इस बात की उपेक्षा की गयी तो सचमुच ही सत्य के प्रति अन्याय होगा। पूछने वाला और भी भ्रमित हुआ तो इससे उसकी प्रगति मे बाधा उत्पन्न होगी।

उस सत्य को और भी स्पष्ट करते हुए भगवान् बुद्ध बोले— प्रात:काल सर्वप्रथम जो व्यक्ति आया था, वह था तो आस्तिक पर उसकी निष्ठा कमजोर थी। आस्तिकता उसके आचरण में नहीं, बातों तक सीमित थी। वह मात्र अपने कमजोर विश्वास का समर्थन मुझसे चाहता था। अनुभूतियों की गहराई में उतरने का साहस उसमें न था।

उसको हिलाना आवश्यक था ताकि ईश्वर को जानने की सचमुच ही उसमें कोई जिज्ञासा है तो उसे वह मजबूत कर सके इसलिए उसे कहना पड़ा— ''ईश्वर नहीं है ।''

दूसरा व्यक्ति नास्तिक था । नास्तिकता एक प्रकार की छूत की बीमारी है जिसका उपचार न किया गया तो दूसरों को भी संक्रमित करेगी । उसे अपनी मान्यता पर अहंकार और थोड़ा अधिक ही विश्वास था । उसे भी समय पर तोड़ना जरूरी था । इसलिए कहना पड़ा— ''ईश्वर है ।'' इस उत्तर से उसके भीतर आस्तिकता के भावों का जागरण होगा । परमात्मा की खोज के लिए आस्था उत्पन्न होगी । उसकी निष्ठा प्रगाढ़ है । अत: उसे दिया गया उत्तर उसके आत्मविकास में सहायक ही होगा ।

तीसरा व्यक्ति सीधा-साधा, भोला था । उसके निर्मल मन पर किसी मत को थोपना उसके ऊपर अन्याय होता । मेरा मौन रहना ही उसके लिए उचित था । मेरा आचरण ही उसकी सत्य की खोज के लिए प्रेरित करेगा तथा सत्य तक पहुँचायेगा ।''

आनन्द का असमंजस दूर हुआ । साथ ही इस सत्य का अनावरण भी कि महापुरुषों द्वारा एक ही प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न क्यों होता है ? साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि सत्य को शब्दों में बाँधने की भूल कभी भी नहीं की जानी चाहिए ।

मोटा बटेर और दुबला कौआ

जातक कथाओं में एक रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक कथा आती है— पुरातन काल में एक बार भगवान् का जन्म बटेर की योनि में हुआ । उनकी काया बहुत परिपुष्ट थी । आकार में छोटे होते हुए और तिनके खाते हुए भी बड़े प्रसन्न लगते थे और उस उपवन के पेड़ों पर क्रीड़ा कल्लोल करते रहते थे ।

उनके पड़ौस में कौआ रहता था । श्मशान भूमि में जो काक बलि दी जाती थी उसके खीर समेत माल-पुए उसे खाने को मिलते थे । फिर इधर-उधर चक्कर काटकर मरे हाथियों, ऊँटों और बैलों का माँस तलाश करता रहता था, सो भी उसे आसानी से मिल जाता । पेट उसका कभी खाली रहता ही न था । इस पर भी उसका मन चिन्तातुर रहता था । जब देखो तभी भयभीत दिखाई पड़ता था । रक्त की कमी से उसका स्वाभाविक काला रंग, हलका सिलहटी जैसा हो गया था । क्षण भर चैन न ले पाता, इधर-उधर ताकता रहता और जब भी खटका दीखता तभी वह क्षण भर रुके बिना, सिर पर पैर रखकर भागता ।

एक दिन बरसाती बूँद पड़ने लगीं । पक्षियों के लिए घोंसले से बाहर जाने का अवसर न रहा । बटेर से बात करने के लिए कौए का मन इच्छुक तो बहुत दिनों से था, पर आज अनायास ही अवसर मिल गया । सो वह बहुत प्रसन्न हुआ । घोंसले से चोंच बाहर निकालकर कौए ने बटेर का अभिवादन किया और अपनी एक जिज्ञासा का समाधान करने के लिए अनुरोध किया ।

बटेर ने सिर झुकाकर कहा—आप बड़े हैं, हर दृष्टि से सौभाग्यशाली भी । आप जैसे अच्छे पड़ोसी के साथ रहते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता रहती है । कोई बात पूछनी हो तो नि:शंक होकर पूछें ।

कौए ने कहा— ''आपकी काया छोटी है । घास फूँस-भर खाते हैं । इतने पर भी कितने प्रसन्न, परिपुष्ट और प्रसन्न रहते हैं । एक मैं हूँ जो दुबला हुआ जा रहा हूँ । चिन्ता के बिना एक क्षण भी नहीं बीतता । इसका कारण समझाकर कहिए ।''

बटेर ने कहा— ''जो मिल जाता है उससे सन्तुष्ट रहता हूँ । तिनकों को रसायन मानकर सेवन करता हूँ । भगवान् की कृपा को सराहता रहता हूँ । मेरी पुष्टाई का कारण बस इतना ही है । आप अब अपनी दुर्बलता का कारण बतायें ।''

कौए ने कहा— श्मशान घाट पर जो श्राद्ध बलि मिलती है, उसका बड़ा भाग पाने की चेष्टा करता हूँ तो, साथियों में से सभी प्रतिद्वन्द्विता करते हैं । न ले जाने के लिए आक्रमण करते हैं और मेरे पंख उखाड़ लेते हैं । मरे हाथी-ऊँट आदि का माँस देखता हूँ तो शृंगाल, कुत्ते और गिद्ध पहले से ही पहुँचे मिलते हैं । मुझे भाग नहीं लेने देते और झपट्टा मारकर भगा देते हैं । सो मल भक्षण ही हाथ लगता है । जिनसे प्रतिद्वन्द्विता चलती है सो शत्रुता पालते हैं । किसी का आक्रमण न हो जाय सो चिन्तित रहकर समय काटना पड़ता है । आत्म-रक्षा के लिए चारों ओर झाँकता हूँ । चिड़ियों के अण्डे चुरा लेता हूँ सो भय रहता है कि समूह बनाकर वे बदला लेने के लिए टूट न पड़ें । यही कारण है कि खाया अंग नहीं लगता । चैन से सो नहीं पाता और दिन-दिन कृश हुआ जाता हूँ ।

बटेर वेशधारी बोधिसत्व बोले— हे बड़भागी ! अपने बड़प्पन की ओर देखो । इस उपवन में हम सब की रखवाली किया करो, और अपना प्रेम तथा विश्वास दिया करो ।

फिर जो कुछ भी आहार मिले उसे पहले दूसरों को खिलाकर पीछे आप भी खा लिया करो । इस प्रकार रसायन आहार से आप का मन प्रसन्न रहा करेगा और असमय वृद्धता वार्धक्य ने जो आक्रमण किया है, सो छूट जायेगा ।

कौए ने कहा— ''आपके अमृत वचन ज्ञान और प्रेम से भरे हैं । पर क्या करूं । जन्म भर संग्रह हुए कुसंस्कार बदलने में कठिनाई दीखती है ।'

बटेर ने कहा हिम्मत न हारिए, प्रयत्न कीजिए । स्वभाव जितना भी बदल सकेंगे, उतने ही आप प्रसन्न रहेंगे, परिपुष्ट होंगे और सम्मान के भाजन बनेंगे ।

अपनी कोंतरों में बैठे अन्य पक्षियों ने भी सुना और उस पर आचरण करने का व्रत लिया ।

''क्षण भंगुर जीवन का दुरुपयोग न हो''

कई जन्मों पूर्व बोधिसत्व का जन्म काशी नरेश ब्रह्म भद्र के यहाँ छोटे पुत्र के रूप में हुआ । वे राष्ट्राध्यक्ष बनना चाहते थे । कनिष्ठ पुत्र होने के नाते वैसा अवसर उन्हें मिलने वाला न था । उन्होंने तांत्रिक, महासिद्ध प्रत्यंग से अपनी मनोकामना की पूर्ति का उपाय पूछा । महासिद्ध ने बताया कि आगामी मास में तक्षशिला का सिंहासन रिक्त होने वाला है । यदि वे तुरन्त चल पड़ें तो अभीष्ट प्राप्ति में सफल हो सकते हैं । पूर्णिमा के दिन प्रभातकाल में राजद्वार पर खड़े व्यक्ति को ही सिंहासन मिलेगा, यह नियति की व्यवस्था है ।

आकांक्षा तीव्र होने के कारण वे चल पड़े । उनके पाँच घनिष्ठ मित्र भी साथ चलने पर तुल गए । चलते समय वे महासिद्ध प्रत्यंग का आशीष लेने पहुँचे सो उन्होंने सफलता का आशीर्वाद तो दिया, साथ ही यह भी बता दिया कि मार्ग में यक्ष वन पड़ता है । उसमें रूपसी यक्षिणियों का ही अधिकार है । वे रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श जैसे साधनों से ही राहगीरों को लुभाती, भोगती और अन्त में मारकर खा जाती हैं । इस विपत्ति से बचकर चलने में ही तुम्हारी भलाई है ।''

बोधिसत्व साथियों सहित चल पड़े । जल्दी की आतुरतावश विराम पर कम और यात्रा पर अधिक ध्यान था । समय पर यक्ष वन आया । राजकुमार तो सतर्क थे, पर साथी उन कसौटियों पर खरे न उतरे । एक ने पैर की मोच का बहाना लिया व एक रूपसी के यहाँ विराम हेतु रुक गया । दूसरे दिन दूसरा शब्द जाल में बंधा, तीसरे-चौथे-पाँचवें मित्र भी एक-एक करके इन क्षणिक आकर्षणों में मोहित हो बँधते चले गए । एक दिन छूँछ होकर प्राण गँवा बैठे ।

धुन के धनी बोधिसत्व किसी प्रलोभन में रुके नहीं, आगे बढ़ते ही चले गए । यक्ष समुदाय के लिये यह प्रतिष्ठा का प्रश्न था कि कोई उनके जाल में फँसे बिना निकल जाए । एक चतुर यक्षिणी उनके पीछे लगा दी गई । उपेक्षा करते हुए बोधिसत्व बढ़ते रहे, वह पीछे चलती रही । राहगीरों के पूछने पर वह बताती— '' ये मेरे जीवन प्राण हैं । उपेक्षिता होने पर भी छाया की तरह साथ चलूँगी ।'' राहगीरों के समझाने पर राजकुमार वस्तु-स्थिति बताते तो भी कोई उनका विश्वास न करता । यक्षिणी जब स्वयं को गर्भिणी, असहाय कहती विलाप करती तो उसका पक्ष और भी प्रबल हो जाता ।

ज्यों-त्यों करके बोधिसत्व तक्षशिला समय पर पहुंच गए एवं महूर्त्त की प्रतीक्षा में एक कुंज में निवास करने लगे । किन्तु उस सुन्दरी की चर्चा सर्वत्र दावानल की तरह फैल गयी । ऐसा सौन्दर्य किसी ने देखा न था । खबर राजमहल तक पहुँची । राजा ने देखा तो होशो-हवास गंवा बैठे । यक्षिणी को पटरानी बनाने का प्रस्ताव रखा एवं उसकी यह शर्त भी मानली कि महल के भीतर रहने वाली सभी अन्त:वासियों पर उसका अधिकार होगा ।

अब यक्षिणी ने बोधिसत्व को भुला दिया और नए अधिकार क्षेत्र में अभीष्ट लाभ उठाने में जुट गई । उसने यक्ष वन में अपने सभी सहेलियों को बुलावा भेज दिया । सभी एक-एक करके महल के घरों में रहने वालों के साथ लग गईं व एक-एक करके सभी को छूँछ बनाती चलती गईं एवं अन्तत: उदरस्थ कर गईं । नियत मुहूर्त्त से एक दिन पहले ही राजमहल का घेरा अस्थि पिंजरों से भर गया । राजा-प्रजा में से कोई न बचा । बाहर स्थित नगरवासियों द्वारा जब किले का फाटक तोड़ने और भीतर की स्थिति देखने की तैयारी हुई तो वहाँ बोधिसत्व खड़े हुए थे । उन्होंने स्तम्भित प्रजा-जनों को आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनाई ।

नगर को यक्षिणी के त्रास से मुक्ति दिला सकने योग्य बोधिसत्व ही लगे सो उन्हें राज-सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया गया । प्रचण्ड पुरुषार्थ— मनोबल सम्पन्न राजा के कारण यक्षिणियों की मण्डली को भी पलायन करना पड़ा ।

सिंहासनारूढ़ बोधिसत्व ने कुछ समय उपरान्त प्रबुद्ध प्रजाजनों की एक संसद बुलाई और कहा— शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की पाँच यक्षिणियाँ इन्द्रिय लिप्साओं के रूप में जहाँ भी आधिपत्य करेंगी, वहाँ के नागरिकों का सर्वनाश होकर रहेगा । जो भी इतना मनोबल जुटाले कि इन दुष्प्रवृत्तियों से जूझ सके, वह जीवन संग्राम में निश्चित ही विजय पाता है ।''

उपलब्धियाँ नहीं आधार आवश्यक

श्रावस्ती के विशाल वेलुवन में भगवान् बुद्ध का धर्म दीक्षा समारोह आयोजित किया गया । नगरवासी प्रतिदिन उनके धार्मिक प्रवचन में भाग लेते और अमृतवाणी का दिव्य लाभ प्राप्त करते । धर्म जीवन के लिये क्यों आवश्यक है ? अभिमुख होने से मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप को कैसे पहचानता है ? इन पर तथागत की सूक्ष्म मीमांसायें और मार्गदर्शन लोगों के हृदय में नई प्रेरणायें भरते । श्रावस्ती में इस तरह धर्म साकार हो उठा ।

स्वार्थ की संकीर्णता और पूर्वाग्रह में ग्रस्त व्यक्ति के पास भगवान् भी पहुंच जायें तो भी उसकी जड़ता में अन्तर नहीं आता । वक्कलि था तो ब्राह्मण किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव में ऐसी एक भी बात नहीं थी जिसमें उसका ब्राह्मणत्व झलकता । कई दिनों तक तो वह भगवान् बुद्ध के प्रवचन तो क्या दर्शनों तक के लिये नहीं गया, किन्तु जहाँ सारा नगर उमड़ रहा हो, जनसागर सम्पूर्णत: श्रद्धा से आविर्भूत हो रहा हो, वक्कलि की जिज्ञासा उसे शान्त कैसे बैठने देती ? एक दिन नगरवासियों ने वक्कलि को भी वेलुवन समारोह में पाया ।

वक्कलि ने भगवान् बुद्ध के प्रथम दर्शन किये । उनके रूप लावण्य, उनकी अद्वितीय तेजस्विता, सुगठित देह यष्टि तथा मुख से प्रकट होने वाली सौम्यता ने वक्कलि का मन मोह लिया । उसका हृदय तथागत के चरणों में लोटने लगा । उसने अनुभव किया यही तो वह मणियाँ थीं, जिनकी उसे खोज थी, उसने किंचित विलम्ब नहीं किया, उसी दिन बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली ।

भगवान् बुद्ध ने दीक्षा तो दे दी किन्तु यह बात उनसे छिपी नहीं रह सकी कि वक्कलि ने दीक्षा भले ही ली हो धर्म का एक भी नियम उसने जीवन में धारण नहीं किया । वह नियमित उपासना नहीं करता, आत्मनिरीक्षण तथा आत्मसुधार की आवश्यकता और उपयोगिता भी उसने नहीं समझी । उसकी परमार्थ परायणता सक्रिय तो क्या होती अब तक भी स्वार्थ के बन्दीगृह से मुक्त नहीं हो पाई थी । यदि कुछ था तो बस इतना ही कि वह नियमित संघ गोष्ठी में सम्मिलित अवश्य होता । वहाँ भी उसकी सांसारिक बुद्धि ही मुखर रहती । भगवान् बुद्ध के प्रवचनों में भी उसकी अभिरुचि नहीं थी, वहाँ भी वह बुद्धदेव के सौन्दर्य की ही चर्चा करता रहता ।

समय पाकर एक दिन उसने तथागत से पूछ ही लिया भगवन् मुझे भी ऐसी योग साधना बताइये जिससे मैं भी आप जितना ही सुन्दर हो जाऊँ, ऐसी ही तेजस्विता मुझ में भी आ जाये, आप जैसा नवयौवन मुझमें भी फूट पड़े, जिस दिन यह हो जायेगा, उस दिन मैं आपके

धर्म का संसार भर में प्रचार करूँगा, जब तक मेरे पास उक्त आकर्षण नहीं लोग मेरी बात क्यों कर सुनेंगे ?

तथागत मुस्कराये और बोले— तुम्हारा कथन सत्य है वक्कलि ! तुम्हें शरीर को सुडौल बनाने वाले योग-आसन बताये जा सकते हैं, लावण्य जिस प्राण का प्रस्फुटन है, उसके विकास के प्राणायाम भी बताये जा सकते हैं किन्तु वक्कलि यह सब भी क्षणभंगुर और नाशवान् हैं । आत्मोत्कर्ष का स्थायी आधार तो धर्म-धारण है । यदि तुम्हें जीवन का एक मर्म समझ में आ जाये कि धर्म ही हमारे प्रगति और प्रसन्नता का मूल आधार है तो फिर तेजस्विता का वरदान तुम्हें स्वतः मिल जायेगा । धार्मिक आचरण की उपेक्षा करके तुम यदि उसे पा भी जाओ तो देर तक स्थिर न रख सकोगे ।

वक्कलि को अपनी भूल का पता चल गया उस दिन से उसने आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का यथार्थ क्रम अपनाया तो एक दिन वह महान् भिक्षु बना ।

आत्मनिर्माण के अधिकारी

श्रावस्ती परम्परावादियों का गढ़ है आर्य-श्रेष्ठ ! आनन्द ने परामर्श दिया— "वहाँ जाने की अपेक्षा यदि राजगृह की परिव्रजा की जाये तो यह उत्तम रहेगा । अभी संघ का संक्रान्ति काल है जब तक जड़ें सुदृढ़ नहीं हो जातीं, संघ-शक्ति समर्थ नहीं हो जाती तब तक संघर्ष की नीति उचित नहीं है ।"

तात् ! तुम्हारा कथन ठीक है, तथागत ने समाधान किया— किन्तु युग प्रवर्त्तक के लिए परिस्थितियों से समझौता करने की नीति भी अनुचित है । सिद्धांत के प्रति अटूट निष्ठा व्यक्त किये बिना प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती । अस्तु, विवाद की चिन्ता किये बिना श्रावस्ती में ही आयोजन रखा जाना ठीक है ।

तथागत श्रावस्ती पधार रहे हैं यह सम्वाद सर्वत्र फैलते देर न लगी । प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने यह सुना तो उन्होंने अपना नया मोर्चा खड़ा कर दिया । अश्वलायन के नेतृत्व में कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने बुद्ध से शास्त्रार्थ की रूपरेखा बनाई और नियत समय पर वे तथागत के समक्ष आ धमके और उनकी भर्त्सना करते हुए पूछा— "भन्ते ! आप चारों वर्णों के उद्धार की बात किस आधार पर करते हैं, क्या ब्राह्मणों के अतिरिक्त धर्म दीक्षा का अधिकार और भी किसी को है ।"

तथागत मुस्कराये— उन्होंने स्नेहपूर्वक प्रश्न किया— तात् ! क्या आप बता सकते हैं कि ब्राह्मणों की सर्वोपरिता का आधार क्या है ?

अश्वलायन ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया— उनका ज्ञान, तप, साधना, ब्रह्मवर्चस् और निर्लोभ निरहंकारिता ।

आप सच कह रहे हैं आचार्य प्रवर ! भगवान् बुद्ध ने अब और अधिक गम्भीरता धारण करते हुए प्रश्न किया— "क्या आप इस बात की पुष्टि करेंगे कि ब्राह्मण चोरी नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, व्यभिचार और दूसरी सामाजिक बुराइयाँ वे नहीं करते ?"

मेरा यह तात्पर्य नहीं है भन्ते ! यह अवगुण तो ब्राह्मण में भी होते हैं, किन्तु उनमें धार्मिक संस्कारों की बहुलता रहती है इसलिए वे श्रेष्ठ हैं— अश्वलायन ने अपने प्रतिपादन में दृढ़ रहने की चेष्टा की ।

किन्तु तभी तथागत ने तूणीर से दूसरा बाण निकाला और यों सन्धान किया— तब फिर आपका कथन यह होना चाहिए कि उक्त अपराध करने पर ब्राह्मण नरक नहीं जायेंगे अर्थात् पतित नहीं होंगे जब कि दुष्कर्म करने के कारण अन्य वर्ग पतित समझे जाते हैं ।

गौतम बुद्ध ने हँसते हुए कहा— "ब्राह्मण श्रेष्ठ अश्वलायन ! जिस तरह दुष्कर्म का दण्ड भुगतने के लिए हर प्राणी प्रकृति का दास है, उसी तरह सत्कार्य के पारितोषिक का भी अधिकार हर प्राणी को है फिर वह चाहे किसी भी वर्ण का हो । न तो उपनयन धारण करने से कोई संत और सज्जन हो सकता है, न अग्निहोत्र से— यदि मन स्वच्छ है, अन्तःकरण पवित्र है तो ही व्यक्ति संत, सज्जन, त्यागी, तपस्वी और उदार हो सकता है । यह उत्तराधिकार नहीं साधना है अश्वलायन । इसलिए आत्मोन्नति का अधिकार हर प्राणी को है । इसीलिए हम मानव मात्र को आत्मोत्कर्ष, आत्म-शुद्धि की प्रेरणा और अवसर प्रदान करते हैं । सोचो यदि थोड़े-से संत-ब्राह्मण धरती को स्वर्ग बना सकते हैं तो हर व्यक्ति के अन्तःकरण में मुखरित ब्राह्मण सृष्टि को सुन्दर बना सकता है । यही तो ब्राह्मण के लिए अभीष्ट है अतएव यदि ब्राह्मण इन पुण्य प्रयत्नों में बाधा डालते हैं तो यह उनकी प्रतिगामिता नहीं हुई क्या ?

अब अश्वलायन के पास कोई उत्तर न था, उन्होंने तथागत के आदर्श को न केवल मान्यता प्रदान की अपितु स्वयं धर्म-चक्र प्रवर्तन के महान् कार्य के सहायक बन गये ।

कर्त्तव्य धर्म की साधना

अपनी सहज सकरुण दृष्टि डालते हुए तथागत भगवान् बुद्ध ने पूछा— "अशोक ! स्वस्थ तो है न ? प्रजा को कोई कष्ट तो नहीं ? पाटलिपुत्र पर भगवती गंगा का प्रकोप बढ़ रहा था, वह रुक गया या नहीं ?"

और अशोक तब तक मौन थे, जब तक उन्होंने तथागत को प्रणिपात नहीं कर लिया । चरण धूलि मस्तक पर लगाकर वे भगवान् बुद्ध के समीप ही एक ओर बैठ गये । बैठते हुए तथागत के प्रश्नों का उत्तर भी दे डाला— "भगवन् ! आपकी चरण रज जिस मस्तक पर कृपा बरसाये उसके अमंगल की कामना तो भगवान् इन्द्र भी नहीं कर सकते । हम स्वस्थ हैं, प्रजा सुखी है, बाढ़ का जल राजधानी की सीमा रेखाओं का स्पर्श छोड़कर पीछे लौट गया है । सब ठीक है किन्तु ।" उससे आगे कुछ कहते-कहते वे एकाएक रुक गये । सम्भवतः उन्हें अपनी बात सर्वसाधारण के समक्ष व्यक्त करने में संकोच हो रहा था ।

कहो, कहो अशोक तुम्हारी व्यग्रता का कारण क्या है ? कौनसी समस्या है, जिसने पाटलि-नरेश को विस्मय में डाला है ? कहो ! कहो ! कुछ संकोच हो रहा हो तो एकांत की व्यवस्था की जाये ?

उपस्थित भिक्षु-भिक्षुणियों एवं सुदूर गणराज्यों से पधारे धर्म-तत्त्व जिज्ञासुओं पर अपनी दृष्टि दौड़ाते हुए पाटलि-नरेश महाराज अशोक

ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि भगवान् बुद्ध पर डाली और विनीत भाव से कहने लगे "नहीं देव ! ऐसी तो कोई बात नहीं पर जो कुछ हुआ, वह ऐसा भी नहीं जिस पर विचार न किया जाये । भगवन् ! पाटलिपुत्र ! अपने नागरिकों की चरित्रनिष्ठा के लिये दूर-दूर तक विख्यात है । यहाँ की कुल वधुयें अपने शील वैभव की सब प्रकार से [illegible] करती हैं । इस देश में उच्छृंखलता का कहीं भी नाम-निशान तक नहीं है, त्यागी और तपस्वियों, विद्वानों और तत्त्वदर्शी सिद्ध पुरुषों का अभाव भी नहीं है पर जो कार्य किसी महान् धर्मनिष्ठ को पूरा करना चाहिये था, उसे शील, सदाचार से सर्वथा रहित कोई नगर वधू करे इस विस्मय का समाधान नहीं हो पाता । इसी कारण आज आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ !

अभी तुम्हारी पूरी बात समझ में नहीं आई अशोक ! हुआ क्या है वह विस्तार से कहो— भगवान् बुद्ध ने उन्हें आश्वस्त करते हुये पूछा ।

अशोक कहने लगे— "भगवन् ! तीन दिन पूर्व भगवती भागीरथी ने अपना प्रचण्ड रूप धारण किया, नगरकोट की रक्षण दीवारें ही नहीं प्रधान दुर्ग का अस्तित्त्व भी संकट में पड़ गया । ऐसा लगता था वे इस बार सम्पूर्ण पाटलिपुत्र को अपने जल आक्रोश में डुबो कर ही छोड़ेंगी । घरों में पानी भरने लगा । गायों, बछड़ों के लिए सूखा स्थान नहीं रहा, विकट परिस्थिति की आशंका से सभी लोग काँप गये ।

तब राष्ट्राध्यक्ष के नाते मेरा यह कर्त्तव्य था कि उस संकट से बचाने का कुछ उपाय करूं । मैंने सभा-सचिवों से विचार-विमर्श किया । पाटलिपुत्र में जो भी धर्मनिष्ठ एवं विचारशील लोग थे, सब की गोष्ठी बुलाई । लोगों ने बाढ़ के प्रकोप से बचने के लिये अपनी-अपनी तरह के सुझाव दिये । यज्ञ,जप,तप साधन, व्रत और उपवास भी किये गये पर जलराशि सुरसा के शरीर की तरह बढ़ती ही गई । कोई उपाय कारगर न हुआ ।

महान् आश्चर्य— महाभाग कि उस संकट की घड़ी में जब कोई उपाय पाटलिपुत्र की रक्षा करने में समर्थ न हुये तो एक अनिंद्य सुन्दरी नगर-वधू वहाँ आ पहुँची । सुन्दर-सा नाम है उसका, लोग बिन्दुमती के नाम से पुकारते हैं । नगर के धन-सम्पन्न काम-लोलुप व्यक्तियों की वासना तृष्णा की पूर्ति ही उसकी आजीविका का माध्यम है । उसने जीवन में कभी तप नहीं किया । माला नहीं फेरी यहाँ तक कि उसने चरित्रनिष्ठा, शील और सदाचार का महत्त्व भी नहीं समझा पर उसने तो धर्म-तत्त्ववेत्ताओं के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पर पानी फेर दिया । भगवती गंगा के सम्मुख खड़ी होकर उसने अनन्त जलराशि की आरती उतारी, मैंने उसे एक क्षण के लिये ही ध्यान-मुद्रा में देखा, इसके बाद जो कुछ हुआ, मुख पर लाते हुए भी लज्जा आती है, देव !

हजारों लोगों की भीड़ के सामने उसने भगवान् सूर्यदेव और आकाश को साक्षी बनाया और अश्रुपूरित गद्-गद् गिरा में बोली— "भगवती गंगे ! यदि मैंने सम्पूर्ण जीवन अपने कर्त्तव्य का पालन निष्ठाभाव से किया हो तो अब अपनी जलराशि समेट लो और मेरे देशवासियों को चैन की साँस लेने दो ।"

एक बूँद, दो बूँद, तीन बूँद— की अविरल झड़ी लग गई । उसकी आँखें बरसती रहीं, उस खारे जल ने मन्दाकिनी की पवित्र जलधार का स्पर्श मात्र किया था कि इनका प्रकोप अपने आप घट चला । देखते ही देखते भगवती गंगा ने अनाधिकृत प्रदेश से अपना अम्बु-आलोड़ खींच लिया और अपनी चिर-धारा में वेगवती हो उठीं । योगी-सिद्धों और धर्म-तत्त्ववेताओं की यह असमर्थता और शीलरहित नगर वधू की विजय— ऐसा लगता है देव ! कहीं प्रजा भ्रम में न पड़ जाये । लोग धार्मिक मर्यादाओं की अवहेलना न करने लगें । यही मेरी चिन्ता का कारण है ।

भगवान् बुद्ध मुस्कराये, उन्होंने कोई उत्तर या समाधान नहीं दिया । प्रिय शिष्य आनन्द को समीप बुलाकर कान में कुछ कहा और उस दिन की धर्म सभा विसर्जित कर दी । महाराज अशोक के आतिथ्य की सम्पूर्ण व्यवस्था करने के उपरान्त आनन्द कुछ भिक्षुओं के साथ पाटलिपुत्र की ओर जाते दिखाई दिये ।

भगवान् बुद्ध इस समस्या का क्या उत्तर देते हैं, यह जानने की सभी में प्रबल जिज्ञासा थी । इसलिये रात सभी ने बेचैनी और प्रतीक्षा में व्यतीत की । प्रातःकाल हुआ, देवी ऊषा का आगमन होते ही कई चीवरधारी भिक्षु आश्रम की व्यवस्था में जुट गये । ऐसा लगता था, जैसे आज कोई बड़े धर्मोत्सव की तैयारी की जा रही हो । सभी अपनी दैनिक उपासनायें कर सभा-कक्ष में जुड़ने लगे । थोड़ी देर में सभा-भवन पूरी तरह भर गया । सम्राट अशोक भगवान् बुद्ध के समीप बैठे ।

एक भिक्षु ने सूचना दी भगवान् आनन्द पाटलिपुत्र से आ गये हैं, नगर-वधू बिन्दुमती उनके साथ ही हैं । अशोक चौंके पर इससे पूर्व वे कुछ पूछें, भिक्षु भगवान् बुद्ध का संकेत पाकर बाहर निकल गया । थोड़ी ही देर में शिष्य आनन्द के साथ बिन्दुमती ने उस सभा मण्डप में प्रवेश किया । उसका सौन्दर्य उतना आकर्षक नहीं था, जितना स्वाभिमान । जीवन भर लोगों की वासना की पूर्ति करने वाली नारी के मुख-मण्डल पर भी इस प्रकार का सन्तोष और बरबस आकृष्ट कर लेने वाली गम्भीरता भिक्षुओं और अन्य सभासदों की गम्भीरता से कम न थी । भगवान् बुद्ध ने उसका स्वागत ठीक उसी तरह किया, जिस तरह श्वसुरालय से लौटी हुई पुत्री का स्वागत एक पिता भरे हुए हृदय से करता है । तथागत की आज्ञा से बिन्दुमती उनके पास ही बैठी । सारी सभा में सन्नाटा छाया हुआ था ।

भगवान् बुद्ध ने एक बार सारे सभासदों की ओर अध्ययन दृष्टि से देखा और फिर अत्यन्त करुणा भरी दृष्टि से बिन्दुमती की ओर देखते हुए कहा— "पुत्री ! पाटलिपुत्र के नागरिक और स्वयं सम्राट अशोक को विस्मय है कि तू भ्रष्ट, वासना-लोलुप और दूसरों का धन हरण करने वाली वेश्या है । तुझमें वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने भगवती गंगा को भी अपनी बाढ़ समेटने को विवश कर दिया ?"

बिन्दुमती ने एक बार तथागत के चरणों पर दृष्टिपात किया और एक शक्ति-सी अनुभव करती हुई बोली— "वह मेरी नहीं कर्त्तव्य-निष्ठा की शक्ति थी ।"

अशोक ने पूछा कर्त्तव्यनिष्ठा की शक्ति तुझमें कैसे सम्भव है ?

बिन्दुमती बोली— ''महाराज ! मैंने आजीविका के लिये अपने शरीर का व्यापार किया है, वासना के लिये नहीं और अपने कर्त्तव्य का पालन पूर्णनिष्ठा के साथ किया । धनी, निर्धन, ब्राह्मण, शूद्र का भेदभाव किये बिना मैंने प्रत्येक ग्राहक को सन्तुष्ट किया है । जिसका धन लिया उसके साथ विश्वासघात नहीं किया, वरन् उसकी इच्छा से कुछ अधिक ही सन्तोष उसे प्रदान किया । यही मेरी सत्यनिष्ठा है । जिसने गंगा जी को भी प्रभावित किया ।''

और इससे पूर्व कि भगवान् बुद्ध कुछ कहें नृपति अशोक स्वयं उसके चरणों पर जा गिरे और बोले— ''भद्रे ! तुम्हारा कथन सत्य है । निश्चय ही अपने कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करने से बड़ा और कोई धर्म नहीं है ।

अपमान और युक्ति का अन्तर

राजगृह के एक चरवाहे की पत्नी बड़ी कला-कुशल थी । नृत्य और संगीत विद्या में उसे ऐसी निपुणता प्राप्त हुई थी कि कुलीन घरानों की कन्यायें भी उससे ईर्ष्या करती थीं । सच है साधना और अभ्यास से छोटे व्यक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के समकक्ष योग्य और श्रद्धास्पद हो जाते हैं । चरवाहे की पत्नी को इस कला-निपुणता के कारण राज-दरबार तक में आमंत्रित किया जाता था ।

राजगृह में एक बड़े उत्सव की तैयारी हुई । उसमें नृत्य के लिये इसी ग्वाले की पत्नी को कहा गया । स्त्री उन दिनों गर्भवती थी, उसने बहुत मना किया पर सामंतों ने एक न सुनी । उसे अपमानित और विवश किया गया कि वह नृत्य करे ।

नृत्य तो किया उसने पर इस अपमान से उसके हृदय में प्रतिशोध भड़क उठा । यह प्रतिशोध का भाव मृत्युपर्यन्त उसके मन से नहीं गया । दूसरे जन्म में वह यही संस्कार लेकर यक्षिणी होकर राजगृह में ही जन्मी ।

जहाँ उसमें इस प्रतिशोध और दुर्भावना के संस्कार थे वहाँ पूर्व जन्मों की कला और ज्ञान का संचित कोष भी उसे संस्कार रूप में मिला । इसी कारण वह अपने पिता के स्थान पर नगर देवता की पुजारिन भी नियुक्त की गई ।

जहाँ श्रेष्ठ कर्म और साधना ने उसे इस जीवन में सुखद परिस्थितियाँ दीं, वहाँ पूर्वजन्म का प्रतिशोध पाप की प्रेरणा बनकर फूटा । यक्षिणी जिसका नाम हारीति था, नगर के बच्चे चुरा-चुराकर मारने और उनका भक्षण करने लगी । पुण्य की आड़ में पल रहे इस पाप को लोगों ने बहुत दिन बाद जाना । जब राजगृह नरेश को उसका पता चला तो उन्होंने हारीति को बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दिया ।

सामान्य व्यक्ति असामान्य घटनाओं को भी सामान्य दृष्टि से देखते हैं पर महापुरुषों की पैनी दृष्टि जब तक दूर तक विचार नहीं कर लेती, कोई तत्काल निर्णय नहीं देती । भगवान् बुद्ध ने जब सुना कि हारीति को अनेक बालकों के वध के अभियोग में बन्दी बना लिया गया है, तब उनके मस्तिष्क में एक हलचल उठ खड़ी हुई कि ऐसे कुत्सित संस्कार इस विदुषी और कला-निष्णात बालिका में आये कहाँ से ? अन्तर्दृष्टि से उन्होंने देखा यह सब पूर्व जन्मों के कर्म और उसके साथ हुए दुर्व्यवहार का परिणाम है, उसके लिये सर्वथा उसे ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता ।

राजगृह नरेश से कहकर इधर तो उसे कारावास से मुक्त करा दिया, उधर उसके बच्चे की चोरी करा ली । पुत्र के खो जाने से उसे मर्मान्तिक पीड़ा हुई । उसकी करुणा, उसका वात्सल्य भाव तीव्र रूप में जाग्रत हो उठा, तब उसने अनुभव किया कि ऐसा ही कष्ट उन माताओं को भी हुआ होगा, जिनके बच्चे चुराकर उसने भक्षण कर लिये हैं ।

पुत्र-वियोग से दुःखी हारीति का मन पश्चाताप से भर गया । वह भगवान् बुद्ध के पास गई और बोली— ''भगवन् ! मेरे कर्मों का फल तो मुझे मिल गया पर अब यह बतायें कि उस पाप से मुक्ति कैसे मिले ।''

बुद्ध ने कहा— ''अब तक तुम ने शिशुओं का भक्षण किया है, अब तुम शिशुओं की रक्षा और विकास में जुट जाओ । उसी से तुम्हें शांति मिलेगी । समाज के साथ की हुई छोटी-सी भूल भी तब तक नहीं धुलती, जब तक सेवा के साबुन से उसे धोकर साफ न कर दिया जाय ।''

हारीति आजीवन बच्चों की रक्षा और उन्हें भगवान् मानकर सेवा करती रही, जिससे अन्तिम समय उसे शांति मिली और दूसरे जन्म में वह शांति यक्ष की पुत्री अभिरति हुई । उसका विवाह कुबेर के साथ हुआ ।

उन्नति का श्रेष्ठ मार्ग—त्याग

भगवान् गौतम बुद्ध के समय में बिहार में महातीर्थ नाम का एक स्थान था । वहाँ कपिल नाम का एक बहुत धनवान ब्राह्मण निवास करता था, जिसका एकमात्र पुत्र पिप्पली नाम का बड़ा ही सच्चरित्र और धर्मात्मा था । जब वह बड़ा हुआ तो माता-पिता ने उसका विवाह करने का विचार किया । इसका हाल मालूम होने पर पिप्पली ने माता से कहा— ''आप मेरे विवाह का प्रबन्ध न करें ।''

माता— तुम यह कैसी बात कहते हो ? विवाह का प्रबन्ध क्यों न करें । अब तुम गृहस्थी का बोझ सँभालने लायक हो चुके हो । इस अवस्था में विवाह न करने से भलाई के बजाय बुराई ही मानी जाती है । इसके सिवाय बहू के घर में आने से मुझे भी घर के भार से कुछ अवकाश मिलेगा और मैं धर्म साधन की तरफ ध्यान दे सकूँगी ।

पिप्पली— पर माताजी मैं किस काम के लिये हूँ ? आप दोनों की सेवा करना ही तो मेरा सबसे बड़ा धर्म है । इसलिये आप जिस प्रकार चाहें जीवन व्यतीत कर सकते हैं, मैं आपकी सब प्रकार से सेवा करता रहूँगा । आपके बाद मैं संन्यासी हो जाऊँगा ।

माता— तुम्हारा विचार उचित नहीं है । अगर बिना विवाह किये तुम संन्यासी बन जाओगे तो वंश-क्रम कैसे स्थिर रहेगा और बिना सन्तान के पूर्वजों को पिण्डदान कौन करेगा ? इसलिये तुम्हारा कर्त्तव्य

यही है कि पहले विवाह करके नियमानुसार ग्रहस्थ धर्म का पालन करो और फिर समय आने पर संन्यास ग्रहण करो ।

पिप्पली ने जब देखा कि माता इस बात के लिये कभी राजी न होगी तो उन्होंने एक दूसरा बहाना ढूंढा । उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर सोने की स्त्री की मूर्ति बनवाई थी । उसे वस्त्रों से खूब सजाकर कहा माताजी, जो लड़की इतनी सुन्दर होगी, उसी के साथ मैं विवाह करूंगा ।

माता ने इस बात को मान लिया और कई ब्राह्मण उस मूर्ति को लेकर देश-विदेश में वैसी कन्या ढूंढने चले । ढूंढते-ढूंढते वे सागल नामक गाँव में पहुँचे और मूर्ति को नदी के घाट पर रखकर वृक्ष की छाया में विश्राम के लिये बैठ गये । उसी समय गाँव के एक प्रतिष्ठित पुरुष की दाई वहाँ स्नान को आई । उसे वह मूर्ति अपने मालिक की पुत्री के समान जान पड़ी । उसके अकेले नदी पर आने का विचार करके वह क्रोधित हुई और पास जाकर उसकी पीठ में एक थप्पड़ मारा । ब्राह्मणों ने यह तमाशा देखकर दाई से पूछा कि तुमने हमारी मूर्ति को थप्पड़ क्यों मारा ? दाई ने क्षमा प्रार्थना करते हुये कहा कि यह मूर्ति दूर से मुझे अपने स्वामी की पुत्री भद्र कपिलनी जैसी दिखलाई पड़ी और उसी भ्रम में मैंने इसे मार दिया ।

ब्राह्मण— ऐसी बात क्यों कहती हो ? भला कोई स्त्री इस मूर्ति के समान सुन्दर हो सकती है ।

दाई— क्यों नहीं हो सकती ? भद्र कपिलनी अद्वितीय रूपवती है । वह अँधेरे घर में खड़ी हो जाय तो उसके रूप से ही प्रकाश जान पड़ता है ।

यह सुनकर ब्राह्मण भद्र कपिलनी के पिता कौशिक ब्राह्मण के यहाँ गये और उन्होंने देखा कि वास्तव में उनकी कन्या मूर्ति के समान ही सुन्दरता की खान है । उन्होंने पिप्पली के सब समाचार कौशिक को सुनाये और दोनों का विवाह सम्बन्ध तय करके महातीर्थ चले आये ।

विवाह सम्बन्ध हो जाने का समाचार जब पिप्पली को मालूम हुआ तो वह बड़ा चिन्तित हुआ । वह किसी तरह सांसारिक बन्धन में पड़ना नहीं चाहता था । अब उसने एक और उपाय सोचा और एक पत्र में वास्तविक बात लिखकर उसे एक अन्य ब्राह्मण के हाथ भद्र कपिलनी के पास भेजा । पत्र के अन्त में यह लिखा था कि "मेरा विचार, अवसर मिलते ही संन्यास ग्रहण करने का है, अतएव तुम अपने पिता को यह बात बतलाकर अन्य वर से विवाह की व्यवस्था करो तो अच्छा है ।"

उधर भद्र कपिलनी भी ऐसे ही विचारों की थी और देश में उसने संभ्रान्त महिलाओं को बौद्ध भिक्षुणी के रूप में भ्रमण करते देख कर वैसा ही जीवन व्यतीत करना चाह रही थी । उसने भी पिप्पली के नाम एक पत्र भेजा जिसमें अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी । संयोगवश दोनों पत्र ले जाने वाले ब्राह्मण मार्ग में मिल गये । जब वर कन्या दोनों के मनोभाव एक से ही प्रकट हुये तो उन लोगों ने सलाह करके एक नई योजना की । उन्होंने दोनों असली पत्र तो पढ़कर फेंक दिये और दो नये पत्र लिखे जिसमें दोनों तरफ से विवाह की स्वीकृति की बात लिखी थी । इस प्रकार यह चाल चल गई और उन दोनों का विवाह हो गया ।

कुछ समय बाद जब पिप्पली के माता-पिता मर गये तो गृहस्थी का भार उसको संभालना पड़ा । उस समय हिसाब लगाने से जान पड़ा कि उसके पिता कई करोड़ रुपया और बत्तीस गाँव उसके लिये छोड़ मरे हैं । पर पिप्पली जमीन-जायदाद की व्यवस्था में बहुत कम ध्यान देता था । एक दिन संयोगवश वह एक खेत पर पहुँच गया जिसे मजदूर लोग जोत रहे थे । उसने देखा कि मिट्टी के साथ केंचुए आदि जीव ऊपर आ जाते हैं और कौवे उनको खा रहे हैं । इस पर पिप्पली ने पूछा—

"भाइयो, ये पक्षी क्या खा रहे हैं ?"

नौकर— स्वामी, ये केंचुए हल चलाने से ऊपर आ जाते हैं, उन्हीं को कौए खा जाते हैं ?

पिप्पली— तो इनको मिट्टी में ही दबा दो जिससे कौए उनको देख न सकें ।

नौकर— ऐसे खेत नहीं जोता जा सकता एक-एक केंचुए को कहाँ तक दबाया जा सकता है ? बहुत-से केंचुए तो हल के लोहे से पृथ्वी के भीतर ही मर जाते हैं । यह तो ऐसा ही कार्य है ।

पिप्पली— आखिर इसमें जीव की हिंसा तो होती ही है, इसका उत्तरदाता कौन होगा ?

नौकर— जो खेत जुतवाता है वही होगा ।

पिप्पली— मुझे क्या चाहिये ? आधा सेर आटे के लिये मैं इतना पाप अपने सिर पर क्यों लूँ ? मैं आज ही समस्त सम्पत्ति भद्र कपिलिनी को देकर संन्यास ग्रहण कर लूँगा ।

उधर भद्र कपिलनी के साथ भी ऐसी ही घटना हुई । उसने पुराना अचार निकलवाकर धूप में सुखाने को फैलवाया तो देखा कि उसमे कीड़े पड़ गये हैं और कई तरह की चिड़ियाएँ उनको चुन-चुन कर खा रही हैं ।

भद्र कपिलनी— यह अचार सुखाना भी एक बड़ी हत्या है । आखिर इसका पाप किसको लगेगा ?

दासी— अगर यह हत्या है तो इसका पाप उसी को लगेगा जिसका यह अचार है ।

भद्र कपिलनी मुझे ऐसी गृहस्थी की क्या आवश्यकता है ? दो गज कपड़ा और दो मुट्ठी अनाज में तो मेरा निर्वाह हो जाता है । मैं आज ही इस समस्त भार को त्याग कर भिक्षुणी बन जाती हूँ ।

उस दिन दोपहर के समय जब वे भोजन करने को बैठे तो पिप्पली ने अपना निश्चय पत्नी को बतलाया । पत्नी पहले से ही तैयार बैठी थी बस, दोनों ने विचार किया कि कल प्रातःकाल ही इस घर-बार, सम्पत्ति और जायदाद को ज्यों का त्यों छोड़कर जंगल में निकल जायें ।

दूसरे दिन सुबह ही वे गेरू का वस्त्र पहन कर कमंडल हाथ में लेकर घर से निकल पड़े । जिन नौकरों और गाँव के लोगों ने उनको पहिचान लिया वे उनके पीछे-पीछे चले और प्रार्थना करने लगे कि हमको अनाथ करके मत चले जाइये ।

पिप्पली ने कहा कि मैं न तो किसी को बन्धन में रखना चाहता हूँ और न किसी प्रकार की सम्पत्ति की मुझे आवश्यकता है। इसलिये आज से तुम्हीं अपने खेतों के मालिक हो गये।

जब वे नगर से दूर पहुँचे तो पिप्पली के मन में विचार आया कि संन्यास ले लेने पर भी अगर वे दोनों साथ-साथ रहेंगे तो लोग उनको पाखंडी समझेंगे। यद्यपि इससे हमारी तो कोई हानि नहीं होगी, पर लोगों में पाप-भावना की वृद्धि होगी। जब यह बात भद्र कपिलनी ने सुनी तो उसने भी इसे उचित बतलाया और वह पिप्पली की तीन बार परिक्रमा करके हाथ जोड़ कर बोली— "स्वामी, कितने ही जन्मों का हमारा जो सम्बन्ध था वह आज टूट रहा है, आप बड़े हैं, इसलिये सीधे मार्ग पर चलते जाइये। मैं छोटी हूँ इसलिए इस बाईं ओर के मार्ग को ग्रहण करती हूँ। इस प्रकार ये धर्मात्मा पति-पत्नी, जिन्होंने विवाह करने पर भी संयम का पूर्णतया पालन किया था और एक-दूसरे के संघर्ष से सदैव बचे रहे थे, दूसरों को पाप से बचाने के लिये अलग हो गये।

कहते हैं कि उनके महान् त्याग से पृथ्वी हिलने लगी और उसका हिलना भगवान् गौतम बुद्ध ने अनुभव किया। वे उसी समय आसन पर से उठ कर आकाश मार्ग से उनका स्वागत करने को शीघ्र ही मौके पर जा पहुँचे। वे रास्ते में एक पेड़ के नीचे बैठ गये। जब पिप्पली वहाँ आये तो उन्होंने देखा कि भगवान् की देह से एक अत्यन्त रमणीय दैवीय ज्योति प्रकट हो रही है।

पिप्पली— भगवन् मैं आप जैसे ही किसी गुरु की खोज में था, मुझे शरण में लीजिये।

भगवान् बुद्ध— प्यारे कश्यप, आओ! मैं तुम्हें लेने को ही यहाँ आया हूँ।

आज से पिप्पली का नाम कश्यप हो गया। वे भगवान् के महात्यागी और प्रिय शिष्य हुये। किसी समय भगवान् के साथ रहने में भी उनको कष्ट समझ कर हिमालय में तप करने चले गये। वहाँ से वे उसी समय लौटे जब भगवान् बुद्ध का देहावसान हुआ। उस अवसर पर बुद्ध धर्म की व्यवस्था करने के लिये पाँच सौ मुख्य भिक्षुकों की जो सभा की गई उसके प्रधान कश्यप ही नियत किये गये।

संकल्पवान बनने की प्रेरणा

महानगरी तक्षशिला को नई दुल्हन की तरह सजाया गया था। अभिजात गौतम और उनके नवदीक्षित शिष्य अंगुलिमाल के स्वागत हेतु राज-प्रासाद में एक महोत्सव मनाया जा रहा था। जगह-जगह वन्दन-द्वार तथा तोरण बाँधे गये थे। व्यापारियों ने उन द्वारों पर अपनी वस्तुएँ लटकायीं तथा अभिनन्दनीय विशिष्ट व्यक्तियों के वन्दन-द्वार से नीचे गुजरते ही पुष्प वर्षा होने की व्यवस्था की थी।

आज मध्याह्न के समय भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ दुर्दम्य दस्यु अँगुलिमाल से त्रस्त मार्गों का विहार कर रहे थे कि उस दस्यु ने उन्हें रोक लिया। घुटे हुए सिर और शान्त, संन्यास के आत्म तेज से दीप्त मुख-मण्डल को देखकर अँगुलिमाल ठिठक गया।

तत्क्षण ही उसके भीतर का दस्यु जाग उठा और बोला— "अँगुलिमाल विचार क्या कर रहा है। अपनी योजना को पूरा कर।"

"ऐ भिक्षु!" अँगुलिमाल कड़ककर बोला— "अपने परमेश्वर को याद कर ले। तेरी मृत्यु निकट है।"

"तुम कौन हो वत्स— " बुद्ध ने प्रश्न किया।

"मुझे सारी दुनिया जानती है फिर भी तुम्हारे लिए मेरा परिचय आवश्यक है तो जान लो मैं अँगुलिमाल हूँ। मैंने एक हजार लोगों की अँगुलियाँ काटकर उनकी माला पहनने का निश्चय लिया है। इसी कारण तुम्हें भी मृत्यु का वरण करना पड़ेगा।"

"अँगुलियों की ही माला बनानी है न— " गौतम ने कहा— 'तो काट लो अँगुलियाँ उसके लिए मेरी हत्या का अपराध क्यों अपने सिर लेते हो।'

नीरव वातावरण में एक अट्टहास गूँजा और दस्यु ने उपहासास्पद शब्दों में कहा— "कायर! मौत से डरते हो। मुझे हत्या करने में रस आता है। तुम मौत से डरते हो तो प्रतिवाद करो याचना नहीं।"

"वत्स— " भगवान् बुद्ध ने कहा— "मैंने मृत्यु भय को जीत लिया है और मेरा जीवन लोक-हित के लिए अर्पित है। इसलिए असमय मृत्यु को पाना नहीं चाहता। मेरी मृत्यु से यदि तुम्हारा हित हो सके तो मैं प्रसन्नता से तैयार हूँ परन्तु जब तुम्हारा संकल्प मात्र सहस्र व्यक्तियों की अँगुलिमाला का है तो उस संकल्प को ही पूरा करूँगा।"

अँगुलिमाल ने गौतम को मारने के लिए अपना खड्ग उठाया ही था कि शान्त, धीर और नम्र शैली में बुद्ध के उपरोक्त वचनों ने उसके अन्तराल में एक द्वन्द्व मचा दिया। अपनी मूर्खता पर उसे पश्चाताप होने लगा और वह बुद्ध के चरणों में नतमस्तक हो गया।

'मैं गलती पर था भगवन्! मुझे क्षमा करो। मेरे उद्धार का रास्ता बताओ।'

गौतम ने अँगुलिमाल को उठाकर छाती से लगा लिया और उसे अपने भिक्षु संघ में सम्मिलित होकर पापों को हलका करने की प्रेरणा दी। जिस अनुपात में ईश्वरीय विधान का उल्लंघन हुआ है उसी अनुपात में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन की चेष्टा करना सच्चा प्रायश्चित है। भगवान् बुद्ध की ऐसी मान्यता थी।

तक्षशिला में इस हृदय परिवर्तन की चतुर्दिक् चर्चा थी। एक भयानक नर पशु को नर नारायण में परिणति का उल्लास था।

राज-प्रासाद में अभिजात गौतम के प्रवेशोपरान्त उत्सव का शुभारम्भ हुआ। लोगों ने गुरु शिष्य का पूरे मन से स्वागत किया अन्त में भगवान् बुद्ध ने जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा— "भिक्षुओं और गणश्रेष्ठो! अँगुलिमाल ने स्वयं को विजय किया परन्तु पूर्व ही जीवनचर्या में भी वह व्रतहीन मनुजों से श्रेष्ठ था। जो लोग व्रतहीन होते हैं वे अपने जीवन का कोई मूल्यांकन नहीं करते। एक सहस्र नर-अँगुलियों की माला निर्मित करने का संकल्प अमानवीय भले ही हो पर अव्रती जीवन से श्रेष्ठ था।

जो संकल्प करते ही नहीं उन्हें आत्म तुष्टि से भी वंचित होना पड़ता है और आत्म तृप्ति से भी।

"अँगुलिमाल की व्रत निष्ठा में सद् और असद् के अन्तर्द्वन्द्व में सत्प्रेरणाओं की विजय हुई परन्तु प्रेरणाहीन मन:भूमि अँगुलिमाल के पूर्व जीवन से भी ज्यादा पतित है इसलिए तुम भी संकल्पवान् होओ। व्रतधारी बनो और निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ो।"

कोई किसी का नहीं

महारानी उब्बरा बहुत बीमार थीं। रत्न जटित रेशमी गद्दों पर भी उसे एक क्षण के लिए चैन नहीं मिल रहा था। पल-पल पर करवटें बदलती और ईश्वर से शीघ्र ही प्राण हर लेने अथवा स्वस्थ कर देने की प्रार्थना, न केवल वह स्वयं ही कर रही थी, अपितु परिचर्या करने वाले तथा दर्शकगण भी यही इच्छा कर रहे थे।

प्रार्थना में बड़ा प्रभाव होता है। सब की सामूहिक प्रार्थना भगवान् ने सुन ली और उन्होंने यमराज को आज्ञा देकर महारानी को अपने यहाँ परम सुखमय एवं शांतिदायक लोक में बुला लिया। रानी के प्राणान्त से सारे राजमहल और पोतली नगर में शोक छा गया। राजधानी से राज्य में खबर फूट निकली और काशी राज्य भर में लोग रानी की मृत्यु का शोक करने लगे।

सारे राज्य और राजधानी का यह हाल था तो महाराज अस्सक का क्या पूछना। उब्बरा उनको प्राणों से भी प्यारी थी। उसके न रहने से वह तो बेसुध पड़े हुए थे। जब कभी होश में आते तो रानी के रूप-लावण्य, बुद्धि तथा गुणों का वर्णन करते-करते फिर मूर्छित हो जाते। कभी-कभी मूर्छित अवस्था में भी प्रलाप कर उठते और जीवन के महत्वपूर्ण अवसरों पर उसकी बुद्धि की विलक्षणता तथा व्यवहार कुशलता के विषय में बड़बड़ाने लगते।

जब अनेकों प्रयत्न करने पर राजा को चेत न हुआ तो मन्त्रियों ने रानी को तेल की नाव में रखवा दिया क्योंकि राजा को चेत नहीं हो रहा था। तो उसका दाह-संस्कार कौन करता ? यदि किसी प्रकार संस्कार भी कर देते तो राजा के मस्तिष्क में विकृति आने का भय था।

कई दिन बीत गए। राजा न उठता न बैठता। दिन-रात रोता, चिल्लाता, विलाप करता रहता। भाई, बहन, नाते-रिश्तेदार, मित्र, अमात्य, आचार्य, पुरोहित, कुलगुरु सबने इस शरीर की अनित्यता और संस्कारोंवश आत्मा के आवागमन की बात समझाते किन्तु उसकी समझ में न आती और वह विलाप करने लगते।

रानी उब्बरा वास्तव में बहुत ही सुन्दरी, गुणवती और व्यवहार कुशल थी। वह राजा को एक कुशल मंत्री का काम देती थी। पत्नी को पति की गृह-मन्त्राणी कहते हैं किन्तु वह राजा के राज्य कार्य में भी बड़े विवेक और बुद्धि कौशल से सहायता देती थी। अत: राजा का शोक व विलाप करना भौतिक व सांसारिक दृष्टि से ठीक ही था।

रोते-पीटते कई दिन बीत गए। राजा न कुछ खाता-पीता और न ही सोता लोगों को बहुत चिन्ता हुई।

उस समय बोधिसत्व पाँच अभिज्ञा और आठ सभापतियाँ लेकर हिमालय पर तपस्वी की भाँति विचरा करते थे। जम्बूद्वीप का दिव्य चक्षु से निरीक्षण करते समय राजा को इस स्थिति में पड़ा देख उन्हें दया आ गई। उन्होंने उसकी सहायता करने का निश्चय किया। उनको योगबल से ऋद्धिसिद्धियाँ प्राप्त थीं ही, तुरन्त आकाश में उड़कर राजा के बाग में उतरे और एक पत्थर की शिला पर बैठ गए। उनके मुख-मण्डल से तेज प्रकाशित हो रहा था। दूर से ही देखने वाले को उनके तेज से दिव्य-आत्मा होने का आभास होने लगा।

माणवक नामक एक पोतली निवासी ब्राह्मण किसी कार्यवश उद्यान में गया। बोधिसत्व के तेज को देखकर स्तम्भित रह गया। फिर प्रणाम करके प्रयोजन न होते हुए भी दिव्य-पुरुष जान उनके पास पहुँचा। बोधिसत्व ने तो अपने योगबल से उसे बात करने के लिए, अपना काम निकालने के लिए बुलाया ही था, जो माणवक नहीं जानता था। बोधिसत्व ने माणवक से पूछा— यहाँ का राजा कौन है ? राजधानी में इस प्रकार शोक और निस्तब्धता क्यों छा रही है ?

माणवक— "भन्ते ! यहाँ का राजा अस्सक है। अपनी पटरानी की मृत्यु के शोक में विकल, शोकग्रस्त, विलाप करता हुआ पड़ा है। खाना, पीना, सोना सभी छोड़कर अपने भी प्राण गँवाने की तैयारी कर रहा है। उसी के शोक से इस नगर में भी स्तब्धता और शोक का वातावरण छाया हुआ है।"

बोधिसत्व— क्या राजा धार्मिक है ? उसका प्रजा के प्रति व्यवहार पुत्रवत् है ? प्रजा को रक्षा व भलाई के लिए सदैव तत्पर रहता है ?

माणवक— हाँ भगवन् ! राजा महान् धार्मिक है किन्तु अपनी पत्नी की मृत्यु के कारण उसके शरीर को तेल की नाव में रखे रोता पीटता है। आज सात दिन से उसने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है। आप महापुरुष, महान् आत्मा हैं। हमारे राजा को इस कष्ट से क्यों दूर नहीं करते ? आपके होते हुए राजा अज्ञानी की भाँति इस प्रकार सांसारिक कष्ट सहे यह उचित नहीं है। आप अवश्य ही उनको ज्ञान का उपदेश करके दु:ख से छुड़ाइये।

बोधिसत्व— हे ब्राह्मण ! मैं राजा को नहीं जानता और न ही मैं राज-प्रासादों में जाता हूँ। यदि वह आकर हम से मिले और पूछे तो हम उसकी भार्या के जन्म ग्रहण करने का स्थान बतला कर उससे बात-चीत करा देंगे।

माणवक— भन्ते ! तो जब तक मैं अपने राजा को समझा-बुझा कर यहाँ लेकर आऊँ, तब तक आपको यहीं कष्ट करना होगा।

बोधिसत्व— अवश्य ! आप राजा को लाइये, मैं यहीं विश्राम करता हूँ।

बोधिसत्व से वचन लेकर माणवक राजा के पास गया। सारा वृत्तान्त सुना कर राजा से उसने प्रार्थना की— ऐसे महात्मा जिसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त है, अपने योग बल से आपको रानी से मिलाकर बात करा सकता है। ऐसे व्यक्ति से मिलकर इस अवसर से अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

राजा, माणवक की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ और महात्मा के योगबल एवं प्रतिभा की बात सुनकर पैदल ही उनके पास जाने को तैयार हो गया किन्तु इतने दिन से शोकातुर पड़े रहने के कारण, बिना अन्न-जल के रहने से अत्यन्त निर्बल हो गया था। अत: सबने समझा-बुझाकर सवारी पर जाने को तैयार कर लिया।

पालकी में सवार हो राजा माणवक और अमात्यों के साथ उद्यान में पहुँचा जहाँ बोधिसत्व बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

राजा ने पहुँचते ही बोधिसत्व को प्रणाम किया और आतुरता से निवेदन किया— भगवन् ! क्या आप सचमुच यह बात जानते हैं कि देवी उब्बरा कहाँ है ? उसने कहाँ जन्म लिया है ?

बोधिसत्व— हाँ महाराज ! यही नहीं, मैं उसकी आप से बात भी करवा दूँगा। आपको उससे मिलवा भी दूँगा।

राजा विचारों के उतार-चढ़ाव में बहने लगे। उब्बरा के प्रेम में अतीत की बातों का स्मरण करके उससे मिलने के लिए आतुर होकर बोले— महात्मन् ! बतलाइये कि वह कहाँ पैदा हुई है ?

बोधिसत्व— राजन् ! वह अपने रूप-लावण्य और यौवन के मद में रहने के कारण प्रमादवश तथा कुछ पूर्वजन्म के अवशिष्ट कुसंस्कारों के कारण अपने जीवन में कुछ अच्छे कार्य नहीं कर पाई है, थोड़े ही समय में अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करके चल बसी है। उसने इसी उद्यान में गोबर के कीड़े की योनि में जन्म लिया है।

बोधिसत्व— तुम्हें विश्वास नहीं हो सकता, यह स्वाभाविक ही है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रियजनों के लिए अशुभ या अमंगल कामना नहीं करता और न ही उसके अमंगल की बात पर तुरन्त विश्वास ही करता है। अच्छा ! तुझे दिखाकर उस से बातचीत करवाता हूँ, तब तेरी समझ में आ जायेगा कि बात सही है।

बोधिसत्व ने अपने योगबल का प्रयोग किया। दो गोबर के पिण्ड लुढ़कते-लुढ़कते आकर्षित हुए उनके पास आकर रुक गए। बोधिसत्व ने राजा को दिखाया— महाराज ! देखो, यह तुम्हारी उब्बरा तुम्हें छोड़ गुबरीले के पीछे दौड़ रही है।

राजा— भन्ते ! मुझे विश्वास नहीं होता। कैसे उब्बरा ने गोबर के कीड़े की योनि पाई है ?

''तो सुनो !'' बोधिसत्व ने अपने योगबल से ही गुबरी को बुलाते ही पूछा— उब्बरा !

हाँ भन्ते ! क्या आज्ञा है ? तू पूर्वजन्म में कहाँ थी, तेरा क्या नाम था ?

भन्ते ! मैं अस्सक राजा की पटरानी उब्बरा। इस समय तुझे राजा अस्सक प्रिय है या यह गुबरीला ?

भन्ते ! पूर्व जन्म में वह मेरा-पति परमेश्वर था। उसके साथ इसी बाग में रस, रूप, गन्ध और स्पर्श का आनन्द लेती हुई विहार करती हुई, प्रेमोन्मत्त हो जाती थी। अब यह हमारा नया जन्म है। इस जन्म में उससे हमें क्या सम्बन्ध ? अब तो हम को यह गुबरीला ही प्रिय है जिसके ऊपर ऐसे अनेकों राजा अस्सक निछावर होते हैं।

राजा अस्सक सुनकर सन्न रह गया। उनका मोहान्धकार दूर हो गया।

बोधिसत्व ने भी उसे ज्ञान का उपदेश किया। उन्होंने समझाया— राजन् ! इस संसार में कोई किसी का नहीं है। यह सब जितने प्राणी दिखाई दे रहे हैं, अपने-अपने संस्कारवश जन्म धारण करके नाटक पात्रों की भाँति कार्य कर रहे हैं। समय पूरा होते सभी अपनी काया को पुराने वस्त्र की भाँति छोड़कर अपने कर्मों के अनुसार नई योनि को, नए वस्त्र की भाँति प्राप्त होते हैं। यह शरीर अनित्य है। इससे मोह करना व्यर्थ है। आत्मा अजर है, अमर है। उसका शरीर से तभी तक संबंध है जब तक वह उस देह में है। जिस प्रकार पात्र जिस समय राजा का लिबास पहन लेता है वह राजा बन जाता है और थोड़ी देर में विदूषक के कपड़े पहन कर आपको हँसी से लोट पोट कर देता है। यदि कोई भी व्यक्ति चाहता है कि उसे उब्बरा की भाँति गोबर का कीड़ा न बनना पड़े तो इन्द्रिय भोगों में ही न पड़े रह कर, इस देह भान सुखों में लिप्त न रहकर, आत्मा को पहचानें। प्राणी मात्र में ईश्वर का दर्शन करके प्रेम, सेवा, दया, न्याय, परोपकार आदि में मन लगाकर कार्य करें और जीवन सफल बनायें।

राजा अस्सक को अब ज्ञान हो गया था। बोधिसत्व को प्रणाम करके राज-महल आकर रानी की देह को निकाल कर मिट्टी की भाँति उसका संस्कार किया और अनासक्त भाव से राज्य करने लगा।

आज जियेंगे तो कल सुनेंगे

धर्म प्रचार के लिए भगवान् बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य कलम्भन को भेजते समय आशीर्वाद देकर कहा— ''वत्स ! संसार बड़ा दु:खी है, लोग अज्ञानवश कुरीतियों में जकड़े पड़े हैं, जाओ उन्हें जाग्रति का सन्देश दो, इससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं कि तुम उन्हें आत्म-कल्याण का मार्ग दिखाओ।''

कलम्भन ने तथागत की चरण धूलि मस्तक से लगाई और वहाँ से विदा हो लिया। दिन छिपने में अभी देर थी। कलम्भन एक गाँव पहुँचे। उसमें अनेक लोग कृशकाय बीमार पड़े थे। वहाँ की स्त्रियाँ मलिन वेष में पुरुषों के काम कर रही थीं। बच्चों के शरीर सूखे हुए थे। लगता था, इनको न भरपेट अन्न मिलता है और न बीमारियों से लड़ने को औषधियाँ। शिक्षा की दृष्टि से उनमें कोई चेतना दिखाई नहीं दे रही थी। सब म्लान, मलिन और दु:खी दिखाई दे रहे थे।

कलम्भन को अपनी सेवा का स्थान मिल गया। एक झोंपड़ी के सहारे अपना सामान टिकाकर वह विश्राम की मुद्रा में बैठ गये और सारे गाँव में यह समाचार फैला दिया— ''भगवान् बुद्ध के शिष्य कलम्भन तुम लोगों के दु:ख दूर करने आये हैं, तुम लोगों को मुक्ति का मार्ग बताने पधारे हैं।''

बिच्छू का विष शरीर में जिस गति से फैलता है, उसी शीघ्रता से यह बात सारे गाँव में फैल गई। ग्रामीणों के हर्ष का ठिकाना न रहा। सबने कलम्भन के लिये विश्राम के लिए सुन्दर स्थान की व्यवस्था कर दी। रात बड़ी शांति और प्रसन्नता में बीती।

प्रात:काल बौद्ध-भिक्षु जब तक ध्यान, पूजन समाप्त करें, तब तक द्वार ग्रामवासियों की भीड़ से भर गया। कलम्भन बाहर निकले, वह रूढ़िग्रस्त, अशिक्षा और दारिद्र्य से ग्रसित चेहरे देखने ही उनके

मन में घृणा फैल गई पर उन्होंने उसकी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की । आखिर धर्मोपदेश के लिये आये थे । इतनी सहिष्णुता भी न होती तो कौन उन्हें इस महान् कार्य के लिये भेजता ।

सबको सामने बैठाकर कलम्भन ने उपदेश प्रारम्भ किया— "**धर्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि ।**" ग्रामीण-जनों की समझ में न तो धर्म आया न बुद्ध और न ही संघ । जैसे आये थे, बेचारे वैसे ही घरों को लौट गये ।

कलम्भन ने एक नहीं शत्-शत् सभायें आयोजित कीं किन्तु ग्रामीण-जनों की निराशा दूर हुई न दारिद्र्य । बेचारे धर्म को समझने की स्थिति में होते तो अपनी स्थिति आप न समझ लेते ।

कलम्भन हताश तथागत के पास लौटकर बोले— "निष्फल भगवन् ! हमारा उपदेश कुछ काम नहीं आया । ग्रामीण-जनों ने एक भी बात तो नहीं सुनी ।" भगवान् बड़ी देर तक सोचते रहे । फिर उन्होंने आचार्य जीवन और शिष्य सनातन को बुलाकर कहा— "देखो तुम उस ग्राम में जाओ, औषधि और शिक्षा का प्रबन्ध करो ।"

तथागत की आज्ञा मानकर शिष्य सनातन और आचार्य जीवन वहाँ से चल पड़े । तब कलम्भन ने प्रश्न किया— भगवन् ! आपने इन्हें तो धर्म उपदेश के लिये कहा ही नहीं । तथागत गम्भीर हो गये और बोले— समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं और सुधार की मूल-प्रक्रिया को अपनाये बिना धर्मोपदेश सम्भव नहीं । आज की आवश्यकता शिक्षा है, स्वास्थ्य है, कुरीतियों के जंजाल से मुक्ति है । अभी उन्हें जीवन की आशा चाहिये । आज जियेंगे तो कल सुनेंगे भी ।

कलम्भन यह सुनकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ और धर्मोपदेश के स्थान पर समाज सेवा के कार्यों में जुट गया ।

बुराई का बुरा अन्त

गौतम बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे । नित्य ही संध्या समय जेतवन में तथागत का उपदेश होता था और नगर के समस्त नर-नारी उनकी अमृतमयी वाणी से लाभान्वित होने जाया करते थे । उन्हीं दिनों महापाल नामक व्यापारी भी अपने व्यापारिक कार्य से श्रावस्ती आया तो उसे भी भगवान् के दर्शन करने और प्रवचन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ । उनके उपदेशों को सुनकर महापाल ने अपने को धन्य माना ।

महापाल उन पल्ला-झाड़ श्रोताओं में से नहीं था जिन पर महापुरुषों की बात का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह तो जितने दिन वहाँ रहा नियमित रूप से निश्चित समय चला जाता और भगवान् तथागत की एक-एक बात को बड़े ध्यान से सुना करता था ।

उसे संसार निस्सार प्रतीत होने लगा । उसने सोचा मानव जीवन बार-बार नहीं मिलता, फिर इसे धन कमाने और बेईमानी करने में लगाने से लाभ भी क्या है ? इस मूल्यवान हीरे का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिये ही करना चाहिए । उसका विवेक जाग उठा । भगवान् का शिष्य बनने की इच्छा बलवती हो उठी । वह अपने घर लौट गया वहाँ व्यापार का सारा कारोबार अपने छोटे भाई को समझाकर और सारा धन उसको देकर वह पुनः श्रावस्ती वापस आ गया ।

तथागत ने उसकी भावना का सम्मान किया । वह शिष्य बन गया । वर्षा काल निकट था अतः साधना सम्बन्धी सारे निर्देश लेकर वह एक गाँव में चला गया । वहाँ उचित स्थान का चयन कर वह तपस्या में लीन हो गया । उसने लेटकर सोना बन्द कर दिया । बैठे-बैठे ही साधना करते-करते वह ध्यान मग्न हो जाता था । आखिर जब नेत्रों को पूर्ण विश्राम न मिल सका तो उनमें पीड़ा होने लगी । गाँव वालों ने देखा तो वे बड़े चिंतित हुये उन्होंने दूसरे गाँव से एक वैद्य बुलाकर उस भिक्षुक से आग्रहपूर्वक नेत्र परीक्षण के लिए निवेदन किया ।

वैद्य बहुत चतुर था, उसे वस्तुस्थिति समझने में देर न लगी उसने कहा औषधि के साथ निद्रा की भी आवश्यकता है । अकेली औषधि अपना कोई कार्य न कर सकेगी । क्योंकि प्राकृतिक नियमों को तोड़ने पर प्रकृति अपना दण्ड दिये बिना नहीं मानती । निद्रा अपूर्ण रहने के कारण ही यह स्थिति आई है ।

वैद्यराज चले गये । अकेली दवा क्या करती । भिक्षु नेत्रहीन हो गया । छोटे भाई को सूचना मिली तो वह भी दौड़ा-दौड़ा आया । चातुर्मास समाप्त होने के बाद जेतवन विहार में ही एक कुटिया बना दी गई जिसमें महापाल को ठहराया गया, अब महापाल चक्षुपाल नाम से पुकारे जाने लगे ।

एक बार बरसात में उनकी कुटिया के आस-पास छोटे-छोटे लाल रंग के अनेक कीड़े निकल आये । चक्षुपाल को तो कुछ दिखता ही न था अतः उनके चलने-फिरने से कुछ कीड़े पैरों से दबकर मर भी जाते थे । अन्य भिक्षुओं ने देखा तो चक्षुपाल की सीधे जाकर तथागत से शिकायत कर दी ।

तथागत जानते थे कि चक्षुपाल की क्रियाएँ पाप रहित होती हैं, वह तो अर्हत है । उन्होंने अन्य भिक्षुओं की शंका समाधान कर विदा कर दिया पर एक भिक्षु तथागत से पूछ बैठा "भगवन् ! यदि चक्षुपाल का जीवन शुद्ध और पवित्र है तो उसके नेत्र कैसे खराब हो गये । अवश्य किन्हीं पापों का फल उसे मिला होगा।

हाँ वत्स ! बात ऐसी ही है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने अच्छे और बुरे कार्यों का फल मिला करता है । कभी-कभी यह फल उसे अपने दूसरे जीवन में भी भुगतने पड़ते हैं और चक्षुपाल के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है ।

पूर्व जन्म में चक्षुपाल वैद्य था । उसके पास एक महिला आई । उसके नेत्रों में रोग था उसने दवा के लिये याचना की और यह कहा कि यदि उसे नेत्र रोग से मुक्ति मिल गई तो वह आजीवन दासी बनना स्वीकार कर लेगी । कुछ दिनों के उपचार के बाद वह महिला स्वस्थ हो गई । आँखों की पीड़ा जाती रही और उसकी नेत्र ज्योति भी बढ़ गई ।

अब उसे अपने पुराने वचन की याद आई उसने सोचा झूठ बोलकर काम चलाया जा सकता है । उसने वैद्य से कह दिया, इतने दिन के उपचार के बाद भी आपकी औषधि से कोई लाभ नहीं हुआ ।

वैद्य भी कम न था उसने महिला को दण्ड देने की इच्छा से अन्धे करने की दवा देकर कहा यह दवा एक बार के प्रयोग करने से ही

आँखें ठीक हो जायेंगी और मेरे पास दूसरी बार आने की तकलीफ न करनी पड़ेगी ।

वैद्य के मन में पाप था । इस भावना से ही उसने दूसरी बार औषधि दी थी । उसकी दोनों आँखें फूट गईं ।

'प्यारे शिष्यो ! जो पूर्वजन्म में दूसरे को अन्धा बना चुका हो फिर इस जन्म में यदि उसे भी उसी प्रकार का दण्ड मिल गया हो तो उसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है ? दूसरे का बुरा करने पर स्वयं भी उसका बुरा फल भुगतना ही पड़ता है । अतः सुख और शांति चाहने वाले व्यक्तियों को मन, वचन और कर्म से दूसरों का हित ही करना चाहिए ।'

भर गया उस दिन भिक्षा पात्र

भगवान् बुद्ध वेलुवन पधारने वाले हैं । धर्मदीक्षा का विशाल आयोजन कुशी संघाराम में रखा गया है । बौद्ध विहार की इस सामयिक व्यवस्था के लिए कौशल, कौशाम्बी, मगध, पंचनद, जैतवन विहारों के परिव्राजकों को समय से पूर्व पहुँच जाने का निर्देश हुआ । इन परिव्राजकों में संथाली भी हैं । संथाली एक समय इसी नगर में निवास किया करते । उनके पिता यहाँ के प्रधान श्रेणिक थे । उनके विशाल भवन को देखकर राज-प्रासाद होने का भ्रम होता था । ऐसा कोई वैभव शायद ही रहा होगा जो इसमें विद्यमान न रहा हो, पर आज तो वह सर्वथा वीरान दिखाई देता है ।

संघाराम की मर्यादा के अनुसार संथाली और परिव्राजक वलैशी को भिक्षा के लिए भेजा गया । शेष भिक्षुओं को दूसरे कार्य सौंपे गये हैं । दिन भर की परिव्रजा से थके संथाली जिस क्षण इस विशाल भवन के मुख्य द्वार पर पहुँचे जो कभी उनके सांसारिक सुखों के रंगीन स्वप्नों में खोया हुआ रहता था उनके हृदय की गति में ज्वार उमड़ पड़ा, साँसें तेज हो उठीं, गला रुँध गया । अतीत के सैकड़ों दृश्य, सहस्रों स्मृतियाँ उनके मानस पटल पर एक साथ घूम गईं । "**भवति भिक्षां देहि जननी**" के चार शब्द उनके मुख से इस पीड़ा के साथ निकले जैसे कोई पंख-कटा पक्षी किसी दृश्य भय से कातर होकर अपने घोंसले से भागता है । द्वार पर कौन आता है जलती हुई जिज्ञासा से उनके नेत्र यह देखने के लिए मुख्य द्वार में अपलक टिक गये ।

"**भवति भिक्षां देहि**" का यह स्वर अन्य दिनों के स्वर से भिन्न था उसके प्रस्फुटित होते ही तन्द्रित प्राचीरों में विद्युत् दौड़ गई । जिस किसी के कान में स्वर पड़ा—उसके मुख से पहला स्वर यही फूटा संथाली । संथाली आया है, संथाली आये हैं ? माँ तात् संथाली पधारे हैं,सहोदर संथाली पिता-माता, पत्नी, शिशु, भाई सब के मुँह से एक ही शब्द । सभी द्वार की ओर भागे अपने उस संथाली को देखने के लिए जिसने पांच वर्ष पूर्व ही सांसारिक वैभव को त्याग कर बुद्ध धर्म की शरण ली थी अपने देश की आध्यात्मिक धार्मिक चेतना में नये प्राण फूँकने के लिए, जातीय जीवन को दुःखद सामाजिक परम्पराओं की निराशा से उबारने के लिए, व्यक्ति के चरित्र को अधःपतन के प्रवाह से बचाकर ऊर्ध्वगति प्रदान करने के लिए । इस अवधि में ही संथाली के त्याग, तप, सेवा, साधना की कहानियाँ घर-घर पहुँच चुकी है । यह स्वाभाविक ही था कि अपने प्रिय सपूत को देखने के लिए नगर का घर-परिवार का हर परिजन पुलकित हो उठता । बाहर आते प्रत्येक परिजन की गति इस तथ्य का स्पष्ट साक्ष्य थी ।

गैरिक चीवर और उत्तरीय, पाहन विहीन पद, मुंडित केश, हाथ में भिक्षापात्र, तपश्चर्या की साक्षात प्रतिकृति को सम्मुख खड़ा देखकर कर जननी जनक दोनों की आँखों से अश्रुधारा फूटी तो फिर फूट ही पड़ी अविराम बहती ही चली गई ।

तात् ! करुणामय वातावरण की निस्तब्धता भंग करते हुए संथाली ने पूछा आपके दुःखी होने का अर्थ तो यही हो सकता है । आर्य— मेरी साधना अभी तक अधूरी है अन्यथा आपको हर्षित होना चाहिए था ।

अवुस ऐसा न कहो । तुम इस देश के आदर्श हो तुम्हारा इतिहास कोटि-कोटि, प्राणों को तप, त्याग और सेवा की प्रेरणा देगा । ये आँसू तो पश्चाताप के आँसू हैं वत्स ! सोचते हैं यदि हम मोह में न फँसे होते, माया में ग्रस्त न हुए होते तो आज यह स्थिति क्यों होती । जो कार्य हमें करना चाहिए था, वह तुम्हें करना पड़ रहा है ।

संथाली की आत्म-ग्लानि धुल गई उसने वलैशी की ओर दृष्टि डाली, भिक्षा ग्रहण की और विहार की ओर चल पड़े और दिन की अपेक्षा आज उनका भिक्षा पात्र कहीं अधिक भरा हुआ था ।

अपने लिए नहीं औरों के लिए

कौशल नरेश राज्य के समस्त पाँच सौ कर्मचारियों की पत्नियों के लिये पाँच सौ वस्त्र दान किया करते थे । यह नियम उन्होंने राजमाता की आज्ञानुसार बनाया था ।

एक बार शीत ऋतु का आगमन होने को था । कौशल नरेश वस्त्र बाँट चुके थे, तभी बौद्ध भिक्षु आनन्द ने कौशल में प्रवेश किया । उस दिन राजधानी में ही उनका प्रवचन रखा गया । दान के महत्त्व पर बोलते हुए भिक्षु ने कहा— "अपनी आवश्यकता से अधिक द्रव्य या वस्तुयें लोकहित में दान करते रहना चाहिये, इससे समाज में विषमता पैदा नहीं होती ।"

राज कर्मचारियों को लगा जैसे राज्य से प्राप्त होने वाले वस्त्र में उनका लोभ और अपरिश्रम भी जुड़ा हुआ है, वे सब धर्मनिष्ठ, देश-भक्त और सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने वाले थे, सो सबने अपने-अपने वस्त्र लाकर आनन्द को दान कर दिये ।

अगले दिन यह चर्चा महाराज के कानों पर पड़ी । भगवान् बुद्ध के उपदेशों का उन्होंने अच्छी तरह स्वाध्याय किया था । भिक्षुओं के लिये निर्धारित आचार संहिता—शास्ता के भी वे अच्छे ज्ञाता थे । उन्हें मालूम था कि भिक्षु को अपने पास तीन चीवर से अधिक रखने का अधिकार नहीं है । उन्हें ऐसा लगा कि अपरिग्रह का उपदेश करने वाले आनन्द ने स्वयं ही शास्ता-मर्यादा तोड़ दी है, सो उनकी नाराजी और भी बढ़ गई । अगले दिन वे स्वयं ही बौद्ध स्थविर आ उपस्थित हुए ।

आनन्द अभी सन्ध्योपासन से निवृत होकर बैठे ही थे कि उन्हें महाराज के आगमन की सूचना दी गई । आनन्द द्वार तक स्वयं आये

और महाराज को सादर परामर्श कक्ष तक ले आये। महाराज उद्विग्न थे, सो जाते ही पूछ लिया— भंते ! आप भिक्षु हैं। शास्ता के अनुसार आप अधिक से अधिक तीन चीवर ही ग्रहण करने के अधिकारी हैं, फिर आपने पाँच सौ वस्त्र कैसे ग्रहण कर लिये ?

आनन्द उठे और संघ विश्रामागार की ओर प्रस्थान करते हुये बोले— महाराज ? आपका कथन सत्य है। वह समस्त चीवर यहाँ के अन्य भिक्षुओं को बाँट दिये गये हैं, अपने लिये तो एक ही चीवर— पर्याप्त था सो लिया भी एक ही है। भिक्षुओं के चीवर फट चुके थे, सो उनके लिये ही यह वस्त्र स्वीकार करने पड़े। अनावश्यक कुछ नहीं लिया।

महाराज ने पूछा— पर इस तरह इन भिक्षुओं के पास अब तक जो चीवर थे, क्या उनका अपव्यय नहीं हुआ ? क्या आपके पूर्ण उपयोग की बात यहाँ असत्य न हो गई ? आनन्द ने कहा— नहीं महाराज ! हम शास्ता की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करेंगे। भिक्षुओं के पुराने चीवर उत्तरीय वस्त्र, उत्तरीय वस्त्र अन्तर-वासक और अन्तर-वासक बिछौने के काम में उपयोग कर लिये गये हैं, महाराज इन सबके बिछावन फट चुके थे।

महाराज को अपने अविश्वास पर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। क्षमा माँगते हुए उन्होंने कहा— "भंते ! अपनी भूल के लिए हार्दिक पश्चाताप है।" इस पर आनन्द ने कहा— नहीं महाराज ! ऐसा न कहें। दान पाने वाले को ही नहीं, देने वाले को भी सन्तुष्ट होना चाहिये कि उसका सही उपयोग हो रहा है, इसके लिये यदि दान-दाता निरीक्षण करना चाहता है तो वह भी पुण्य ही है।

महाराज सन्तुष्ट होकर लौट आये।

विवेक ने खोले—अन्तर्चक्षु

राजगृह का विशाल समारोह कक्ष श्रोताओं से खचाखच भरा था। तीर्थंकर महावीर का प्रवचन चल रहा था। वाणी से अमृत की वर्षा हो रही थी। मंत्र-मुग्ध सभी उसका पान कर रहे थे। विशाल परिसर में सम्राट श्रेणिक, महामन्त्री अभयकुमार आदि मूर्धन्य भी भगवान् महावीर का धर्म उपदेश सुनने में मग्न थे। वातावरण में तीर्थंकर के उद्‌बोधन से ज्ञान एवं वैराग्य की धारा बह चली।

वातावरण की शान्ति एवं गम्भीरता भंग हुई, एक वृद्ध के आने से। लाठी टेकता हुआ वह समारोह भवन में प्रविष्ट हुआ। उसकी कमर अत्यन्त झुकी हुई थी। कपड़े तार-तार हो रहे थे। शरीर में कुष्ठ रोग के कारण मवाद की दुर्गन्ध फैल रही थी। बिना किसी की परवाह किये वह सभा को चीरते हुए सम्राट श्रेणिक के सामने पहुँचा। धर्म उपदेश बन्द हो चुका था। सबकी निगाहें उस जर्जर शरीर वृद्ध पर टिकी थीं।

सम्राट की ओर अभिमुख होकर वह बोला— "आयुष्मान् ! आप जीते रहें।" मन ही मन सभी सोचने लगे कैसा असभ्य और ढीठ है यह जो भगवान् महावीर की उपेक्षा करके बिना अभिवादन किये राजा के निकट पहुँच आशीष दे रहा है।

कुछ ही क्षणों में वह भगवान् महावीर के सामने जा पहुँचा और उसी स्वर में बोला— "आप शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करें।" सम्राट श्रेणिक की भौंहें तन गयीं। उसकी अशिष्टता हर किसी को अखरी। मन से आक्रोश फूटने लगा। पर वह तीर्थंकर की धर्म सभा थी, जहाँ हर किसी को अपनी बात कहने का अधिकार था। मर्यादावश कोई कुछ नहीं बोल सका।

तब तक अपनी लाठी टेकते हुए वह महामंत्री के पास पहुंच चुका था। क्रोध मिश्रित भाव से सभी उस वृद्ध की ओर घूर रहे थे। वृद्ध ने महामन्त्री की ओर मुस्कराकर देखते हुए कहा— "महामन्त्री ! तुम चाहे जीओ, चाहे मरो।"

मन ही मन सब सोचने लगे— सम्भवतः वृद्ध का मानसिक सन्तुलन ठीक नहीं है। इतने में वह राजगृह के क्रूर कसाई काल शौकरिक के पास जा पहुँचा तथा उसे सम्बोधित करते हुए बोला— "शौकरिक ! तुम न मरो न जीओ।" यह कहकर वह देखने ही देखते सभी के नेत्रों के सामने से ओझल हो गया। इस घटनाक्रम से सारी सभा स्तब्ध थी। हर व्यक्ति अब सोचने लगा कुछ न कुछ विशेष रहस्य की बात है।

"कौन था वह वृद्ध ? उसके कथनों का क्या अभिप्राय है ? हर किसी के मन में ये प्रश्न बारम्बार उठ रहे थे। सम्राट से रहा न गया, तीर्थंकर से पूछ पड़े— "देव ! यह विचित्र व्यक्ति कौन था ? उसके कथनों का क्या रहस्य है ? हम सबके असमंजस को दूर करने की कृपा करें।"

तत्त्वदर्शी महावीर मुस्कराये तथा बोले— "राजन् ! वह साधारण मनुष्य नहीं स्वयं महाधिदेव विवेक थे, जो हर किसी को सत्य का विशेष संकेत देकर चलते बने।"

रहस्य को स्पष्ट करते हुए तीर्थंकर ने कहा— राजन। वृद्ध ने तुमसे कहा— "जीते रहो।" संकेत यह है कि तुम्हारे सामने भौतिक ऐश्वर्य का अम्बार प्रस्तुत है। जिसका तुम उपभोग कर रहे हो। मरने के बाद तुम्हारे सामने दुःख ही दुःख हैं। वर्तमान के कर्मफल दुःखों के रूपों में कल प्रस्तुत होने वाले हैं। इसलिए तुम्हारे लिए जीना ही श्रेष्ठ है।

वृद्ध के दूसरे कथन का आशय स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा— पूर्व जन्म के कर्मफल स्वरूप मुझे जीवन धारण करना पड़ा। साधना के द्वारा शुद्ध, बुद्ध की स्थिति बनी है। वृद्ध मेरे शरीर को बन्धन मानता है तथा मरण को सदा के लिए मुक्ति। इसीलिए उसने कहा— "मर जाओ।"

मन्त्री अभय कुमार की ओर उन्मुख होकर भगवान् बोले— "मन्त्री का जीवन भोग एवं योग से सन्तुलित है। निष्काम भाव से वह कर्म कर रहा है। इसीलिए उनका वर्तमान जीवन भी सुखी है तथा अगला जीवन भी श्रेष्ठ होगा।"

वृद्ध के चौथे कथन का भाव स्पष्ट करते हुए महावीर ने सम्राट श्रेणिक से कहा "राजन ! काल शौकरिक का वर्तमान जीवन दुःख शोक से, पापकर्मों, हिंसा एवं क्रूरता से भरा है। अगले जीवन में भी उसे सुख-शान्ति नहीं मिल सकती इसलिए उसका न जीना अच्छा है और न ही मरना।" सम्राट की आँखें खुलीं और उपस्थित जनसमुदाय को नयी जीवन दृष्टि मिली।

तीसरा संस्करण

एक बौद्ध भिक्षु चिन्तामग्न बैठे थे । आस-पास घेरे बैठे कुछ लोगों में से एक ने पूछा "भगवन् । आप इतने अन्यमनस्क क्यों है ?"

"मैंने भारत में भगवान् तथागत के कुछ दुर्लभ उपदेश मूल पाली भाषा में प्राप्त किए थे ।"

"तो खो गए ?" पूछने वाले ने चिन्ता का अनुमान लगाया ।

"नहीं वे मेरे पास हैं और मैंने उन सबको यहाँ की जापानी भाषा में अनूदित भी कर लिया है ।" "यह तो प्रसन्नता की बात है फिर चिन्ता क्यों ?"

"चिन्ता प्रकाशन की है जो बिना धन संग्रह के सम्भव नहीं ।"

"यह कार्य तो यहाँ के धनपतियों को प्रभावित कर सहज ही किया जा सकता है ।"

"फिर आप ही कुछ सुझाएँ, "क्यों न हम सब मजदूरी करें ?"

"मजदूरी और भिक्षु यह कैसे सम्भव होगा ?" सभी के चेहरों पर आश्चर्य के भाव थे ।

साधन भी कार्य की गरिमा के अनुरूप होना चाहिए । श्रमशीलों के बीच में अपनी प्रामाणिकता साबित करने का यही माध्यम है । प्रामाणिक हुए बिना लोक-सेवा सम्भव नहीं ।

भिक्षुओं ने मजदूरी करना शुरू किया । लोग आते और पूछते ? ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी ? आने वालों को उद्देश्य से तथागत के उपदेशों से अनुप्राणित किया जाता । सुनने वालों ने सहायता का क्रम शुरू किया ।

यह क्रम चल ही रहा था कि तब तक जापान के एक इलाके में दुर्भिक्ष पड़ा । भिक्षु का मन बेचैन हो उठा । उसने पीड़ितों की आँखों में सेवा की प्यास देखी । संग्रहीत धन को अकाल पीड़ितों की सहायता में लगा देने का निश्चय किया ।

शिष्यों ने एक बार पुन: विरोध प्रकट किया ।"इतने परिश्रम से इकट्ठे धन को यों ही खर्च कर देना ?"

विरोध को शान्त करते हुए भिक्षु का उत्तर था स्वयं को भूलो मत । हमारा धन विभूति एक ही है— अंत: सम्वेदनाएँ । जब तक यह है, हम कंगाल नहीं हो सकते । यह न रहीं तो हम सभी निष्प्राण हो जायेंगे । "हमारा उद्देश्य जन-सेवा है धनोपार्जन नहीं ।"

"पर पुस्तक प्रकाशन ?"

जन जीवित रहा तो पुस्तक भी छपेगी । भूखों को भोजन देने, वस्त्रहीनों को कपड़े बाँटने में सारी राशि समाप्त हो गई ।

दूसरे वर्ष पुन: वर्षा हुई । क्षेत्र से अकाल के बादल छटे । भिक्षु पुन: धन संग्रह में लग गए । इस बार अपेक्षाकृत कम समय में अधिक धन संग्रह हुआ । भिक्षु को सन्तोष था इस कारण नहीं कि धन जल्दी इकट्ठा हो गया बल्कि इस कारण कि वह प्रामाणिक साबित हो गया । अब कहीं अधिक उत्तम रीति से वह अपना काम कर सकेगा ।

लेकिन इस बार दूसरे क्षेत्र में अतिवृष्टि हुई । नदियों में बाढ़ आ गई । सारे इलाके की फसल को बड़ी क्षति हुई । इस बार भी महाभिक्षु ने सारा धन बाढ़ पीड़ितों की सहायतार्थ लगा दिया ।

इस बार कुछ शिष्य तो हताश होने लगे थे पर भिक्षु ने उसी उत्साह के साथ धन संग्रह करना शुरू किया । अब की बार अपेक्षाकृत और कम समय लगा । संयोग से इस बार कोई प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ । फलस्वरूप पुस्तक प्रकाशित हो गई ।

इस अनुवाद को अनेकों ने पढ़ा और महाभिक्षु के प्रयत्नों की सराहना की ! मुख पृष्ठ पर संस्करण के सामने लिखा था तीसरा संस्करण । लोगों ने पूछा यह तो पहली बार छपी है इसके पूर्व के दो संस्करण कब और कहाँ प्रकाशित हुए ?

"पहले दो संस्करण उन्हीं लोगों को दिखाई देंगे जिनके पास सेवा और संवेदना की दो आँखें हैं महाभिक्षु भोग्गालि पुत्तस का उत्तर था । उन्होंने अपने जीवन में इन्हीं आँखों से देखा और अन्त तक सक्रिय रहे ।"

नया जन्म, नयी यात्रा

लोगों के आश्चर्य और कौतूहल का ठिकाना न रहा । परम अभिमानिनी समझी जाने वाली नगर वधू वैशाली की गलियों में इस तरह अकेली चले किसके मन की सामर्थ्य थी जो यह सोच ले । सोचे भी कैसे ? जिससे मिलने के लिए स्वयं गणपति को भी प्रतीक्षा करनी पड़ जाय, जिसके एक दर्शन के लिए दूसरे राज्याध्यक्षों को महीनों का इन्तजार करना पड़े । वही आज इस तरह किन्तु सब कुछ आँखों के समक्ष था । अविश्वसनीय, अकल्पनीय लगते हुए भी प्रत्यक्ष । वह शांत भाव से एकाकी चली जा रही थी । उसका प्रत्येक पग आश्चर्य के मस्तक पर पड़ती जा रही सिलवटों में एक की संख्या और बढ़ा देता ।

इस शांति के पीछे कितनी वेदना छुपी थी किसे मालूम ? बर्फ-सी श्वेत भस्म के भीतर छुपे अँगारे की धधकती जलन को कौन महसूस करे ? उसके पहनावे में सिर्फ एक स्वच्छ साड़ी थी । आभूषण के नाम पर केवल एक हाथ में एक सोने की चूड़ी और गले में केवल एक सूत्र का हेमहार । पैर भी उसके नंगे ही थे । ऐसा जान पड़ता था कि शोभा ने वैराग्य धारण किया है, कान्ति ने व्रतोद्यापन किया है, चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्सना धरती पर उतर आयी है । घरों की खिड़कियाँ खुल गईं । सभी झाँकने लगे । बच्चों का एक दल पीछे-पीछे दौड़ पड़ा । वृद्धों ने कौतुक भरी नजर से एक-दूसरे की ओर देखकर कहा बात क्या है ? फुसफुसाहटें हुईं । "सुना है अब पूजा-पाठ करने लगी है, कहते हैं किसी भिक्षु का प्रभाव है ।" अपने को समझदार समझने वालों में कुछ धीरे से बोले "देखते रहो, जन्म की विलासिनी करम की मायाविनी गणिका अगर पूजा-पाठ करने लगे, तो मानना होगा कि बबूल में भी कमल के फूल खिलते हैं, पनाले में भी सुगंधि फूटती है, सर्पिणी भी पुजारिन बन सकती है ।"

धीमे स्वरों में हो रही इस वार्ता के कुछ शब्द उसके कानों में पड़े बिना न रहे शब्द सिर्फ आड़े-तिरछे अक्षरों का समूह भर तो नहीं और न ध्वनि उत्पादक कण्ठ सामर्थ्य । यह तो भाव की अभिव्यक्ति है सम्प्रेषण की समर्थ विधा । इसमें समाई तीक्ष्णता, कोमलता, कटुता मधुरता की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती । सुनकर उसे लगा किसी ने उसके अस्तित्व पर ढेरों अँगारे उछाल दिए हों । किसने ? विकट

प्रश्न चिह्न उसके चिन्तन की राह पर तन कर खड़ा हो गया था। उत्पत्ति से लेकर वर्तमान पल तक अनेक घटनाक्रम कुम्हार के चाक की तरह घूम गए। छलक पड़े विषाद को पीने की कोशिश में उसने होठों का एक सिरा दाँतों से दबाया।

मनुष्य और समाज प्रशिक्षु और पाठशाला-प्रशिक्षक के रूप में समझदार कहे-सुने-समझे जाने वाले लोग। बड़ा जटिल है इस त्रिवर्गीय समीकरण का गणित लेकिन उतना ही सहज भी। मनुष्य सुगढ़-अनगढ़ कैसा भी हो, वह अपने विकास की अगली कक्षा में प्रवेश पाने के लिए इस पाठशाला में आता है और यदि पाठशाला ही टूट-फूटकर तहस-नहस हो गई हो, तब दोषी कौन ? ये समझदार-लगभग चबाते हुए उसने ये शब्द कहे, विरक्तिपूर्वक होठों को सिकोड़ा।

जन्मत: क्या अन्तर था उसमें और औरों में ? वह बालिका थी, अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही रूपवान और गुणवान। किसने बनाया उसे हेय, किसने डाला उसे कलुषित मार्ग पर ? प्रश्न के उत्तर में अनेक चेहरे चमके। नगर वधू के चुनाव के समय का सभागार आँखों के सामने घूम गया। पुरोहित, शासक, व्यापारी, विचारक वे सभी जो समाज के व्यवस्थापक होने का दम्भ करते हैं। यदि व्यवस्थापक स्वयं अव्यवस्था के पक्षधर हो जायें। व्यवस्था के नाम पर उन रीतियों मान्यताओं के पोषक बन जायें जो मानव जाति के पैरों पर कुल्हाड़े चलाती है। तब भी क्या ये व्यवस्थापक हैं ?

मन ही मन वह हँसी पर एक ही पल में सँभल गई। राजोद्यान के बहिर्द्वार पर आकर वह ठिठक विचारों की नाव में बैठी कब कैसे इतनी जल्दी आ पहुँची, पता ही न चला। उसके रुकने से लगा जैसे स्रोतस्विनी के सामने अचानक शिला-खण्ड आ गया हो। चकित मृगशावक की भाँति भयभीत नयनों से चारों ओर देखा। क्या करे, क्या न करे ? सोच नहीं पा रही थी। भिक्षु संघ के अधिष्ठाता और नगर वधू इन दो किनारों के बीच की दूरी का अनुमान लगाना सहज है, किन्तु तथागत की करुणा का सबल सेतु भी सामने था।

तभी उसकी दृष्टि बाहर निकल रहे एक भिक्षु पर पड़ी। ये आनन्द थे अपने शास्ता की करुणा के सर्वोत्तम अधिकारी। उसने विनम्रता से कहा "मैं महात्मा बुद्ध के दर्शनों के लिए आयी हूँ।" इतना कहना पर्याप्त था उनके लिये। वे उलटे पैरों लौट पड़े। बुद्ध को सन्देश दिया। नगर वधू का इस तरह आना सभी के लिए आश्चर्यजनक था। अनेक दृष्टियों में आश्चर्य को देखकर तथागत मुस्कराए। तब आम्रपाली पहुँच चुकी थी।

"आओ देवि !" उन्होंने खड़े होकर स्वागत किया। उनकी सम्मोहक दृष्टि में वात्सल्य था। आँखों से झर रही करुणा से आम्रपाली का समूचा अस्तित्व भीग गया। 'प्रभु' ! उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी। फफक कर बोली "मैं अपने पाप जीवन से ऊब गई हूँ। इस नरक से मेरा कभी उद्धार भी होगा।" उसने दीर्घ निश्वास लिया।

"न न पाप जीवन और नरक की बात मत सोचो। तुम्हारे भीतर देवता का निवास है। तुम जिस पाप जीवन की बात कर रही हो वह मनुष्य की बनाई हुई विकृत समाज-व्यवस्था की देन है। चिन्ता न करो देवि, इससे उद्धार हो सकता है। तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का उद्धार नहीं करती। वह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है।"

आम्रपाली आँखें फाड़े उनकी ओर देखती रह गई। उसे इन बातों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा था। पर बिना अर्थ समझे भी जैसे मधुर संगीत चित्त को अभिभूत कर लेता है कुछ इसी तरह की अनुभूति उसे हुई।

तथागत उसे उत्साहित करते हुए बोले "देवता न बड़ा होता है छोटा न शक्तिशाली होता है न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उसे उपासक बनाना चाहता है। तुम्हारा देवता भी तुम्हारे मन की विशालता और उज्ज्वलता के अनुपात में विशाल और उज्ज्वल होगा। लोगों के कथन की चिन्ता छोड़ो। अपने अन्तर्यामी को प्रमाण मानो।"

उसे यह नया सुनने को मिला। बाल मृगी जिस तरह बरसते मेघ के रिमझिम संगीत को सुनती है। उसी तरह वह सुनती रही चकित उल्लसित, उत्सुक। आश्चर्य हो रहा था उसे, उसके भीतर भी देवता है चिर उपेक्षित, चिर पिपासित, चिर अपूजित ! उसकी बड़ी-बड़ी आँखें धरती की ओर जो झुकीं सो मानो चिपक ही गयीं। वह दाहिने पैर के नाखून से धरती कुरेदती खड़ी रही। नाना भाव-तरंगों के आघात-प्रत्याघात से वह जड़ प्रतिमा की भाँति निश्चेष्ट हो गई।

कुछ पलों के बाद वह प्रकृतिस्थ हुई। उसे स्वयं नवीन बल का अनुभव हो रहा था। ऐसा लगने लगा लम्बे समय से सोये देवता ने अँगड़ाई ले जीवन व्यवस्था सँभाल ली हो। 'प्रभु— मैं' अटकते हुए कहे गए इन शब्दों में छुपे भाव को पहचानते हुए तथागत बोले "देवि ! जाग्रत जन ही समाज को नई व्यवस्था देते हैं। जिस कलुषित अस्त-व्यस्तता ने तुम और तुम्हारे जैसे अनेकानेक जीवनों को नष्ट किया है उसे बदल डालना नई प्रणाली की रचना करना ही इस धर्म-चक्र प्रवर्तन का उद्देश्य है। जाग्रत जीवन की अजस्र शक्तियों का नियोजन यहीं करो।"

यही तो राह में सोचती हुई आयी थी। भावों को पढ़ने में कुशल बुद्ध ने समाधान सुझा दिया। जीवन में जाग्रति आये इसकी एक ही पहचान है, एक ही कसौटी, व्यक्तित्व की समस्त सामर्थ्य भागवत प्रयोजन को पूरा करने के लिए उमड़े बिना नहीं रहती। आम्रपाली इस नूतन तथ्य की अनुभूति कर रही थी। अगला पल अडिग निश्चय का पल था। धर्म-चक्र के प्रवर्तक के चरणों में सर्व-समर्पण का तात्पर्य खोना नहीं मिटना नहीं। खोती और मिटती तो तुच्छता और क्षुद्रता है। समर्पण तो महानतम और सर्वस्व की प्राप्ति का उत्सव है और वह उत्सव मना रही थी। अपने अन्दर देवता की खोज पूरी हुई। नया जन्म, नया जीवन, नयी यात्रा। एक अभिनव कायाकल्प कभी की नगर वधू अब नई व्यवस्था की कुशल रचनाकार बन गई। परिवर्तन का उल्लास भरा पर्व, नियामक शक्ति वर्तमान क्षणों में भी संचालित कर रही है। इन क्षणों में ऐसे ही कायाकल्प की अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत कहीं प्रखर रूप से अनुभव की जा सकती हैं।

सुख की साधना

उत्पलवर्णा, श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष की अनुपम सुन्दरी कन्या षोडश वर्ष पार कर चुकी है। यौवन का निखार अपने आप ही आकर्षक होता है फिर उत्पलवर्णा तो अनुपम कांति वाली अद्वितीय सौन्दर्यवती भी थी। राग उसके अंग-प्रत्यंग से फूट रहा था। अधरों में गुलाब का परिमल, रतनारे नयन, सुन्दर ग्रीवा, कल-कंठ ऐसा लगता था उसके सौन्दर्य के साथ स्वयं ब्रह्म ही व्यक्त हो उठा है।

यही कारण था कि अनेक श्रेष्ठि-सामन्तों तथा राजकुमारों की ओर से स्वयं ही विवाह के लिए प्रार्थनाएँ आने लगीं। शमा प्रकाश के लिए जलाई जाती है, किन्तु शलभ उसे बुझाने लग जायें तो जलाने वाले का क्या दोष ? सौन्दर्य सत्य का राजदूत है पर यदि उसे वासना का माध्यम मान लिया जाये तो रचनाकार का क्या दोष ? कोषाध्यक्ष के समक्ष उत्पलवर्णा का सौन्दर्य आज समस्या बन गया था। उसका हाथ किसे दें, किसे न दें इसका निर्णय करना भी कठिन हो रहा था।

इसी चिन्ता में डूबे हुए पिता को देखकर उत्पलवर्णा स्वयं पिता के पास जाकर बोली— तात् ! आपसे एक बात पूछूँ ? पिता ने दृष्टि ऊपर उठाई और पुत्री के शीश पर हाथ फेरते हुये कहा— कहो क्या कहना चाहती हो उत्पल ?

उसी गाम्भीरता से उत्पलवर्णा ने कहना प्रारम्भ किया तात् ! आपने नहीं सुना क्या गंगातीर वासी ने पहले विवाह किया। अपनी तृष्णायें शान्त करने के लिये उसने भार्या के जीवन तत्त्व को निचोड़ा फिर उसने एक अन्य स्त्री को रख लिया, उसके गर्भ से कन्या उत्पन्न हुई उसे भी उसने सहगामिनी बनाया— जिस काल में सामाजिक व्यवस्थायें और मर्यादायें इस तरह तिनके का ढेर हो जावें नीति कहती है उस समय विचारशील लोगों को अपने लौकिक हितों का परित्याग कर देना चाहिये और व्यक्ति तथा समाज के जीवन में नया प्रकाश लाने का प्रयास करना चाहिए। आपकी चिन्ता एक योग्य वर तलाश करने की है और मेरे सौन्दर्य के झूठे आकर्षण से बचने की। विवाह का प्रस्ताव लेकर आये किसी भी कुमार में मुझे आदर्श जीवन का स्थायित्व नहीं दीखता यह सब तो रूप के प्यासे कीट-पतंगे हैं इनसे दूर ही रहना अच्छा। आप आज्ञा दें तो मैं आजीवन अविवाहित रह जाऊँ और अपने पथ-भ्रष्ट समाज को अपनी शक्ति व साधना द्वारा सीधे सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयास करूँ।

आर्य पिता ने अपनी कन्या के संस्कार व स्वाभिमान से दमकते मुख-मण्डल की ओर देखा उसमें पूर्ण निश्चित दृढ़ता झलक रही थी। मारे स्नेह के उसे हृदय से लगाते हुये कहा— ''उत्पल ! तुम धन्य हो। अपने सुख का ध्यान न देकर तुमने साधना व समाज सेवा को महत्त्व दिया तुम्हारा यह आदर्श युगों-युगों तक भारतीय नारी और उसके पुत्रों को अन्तर्वर्ती जीवन की प्रेरणायें और प्रकाश देता रहेगा।''

उत्पलवर्णा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भगवान् बुद्ध ने अपना पितृ तुल्य स्नेह, अपनी साधना की शक्ति, अपना ज्ञान देकर उसे आत्म-दर्शन की— स्थिति तक पहुँचाया। सिद्धावस्था प्राप्त उत्पलवर्णा ने धर्मोद्धार के कार्य में तथागत का हाथ बँटाया और कुंठा ग्रस्त भारतीय समाज को ऊँचा उठाने का महान् यश अर्जित किया।

आत्म साक्षात्कार

सुजाता ने खीर दी, बुद्ध ने उसे ग्रहण कर परम सन्तोष का अनुभव किया। उस दिन उनकी जो समाधि लगी तो फिर सातवें दिन जाकर टूटी। जब वे उठे, उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका था।

नेरञ्जरा नदी के तट पर प्रसन्न मुख आसीन भगवान् बुद्ध को देखने गई सुजाता बड़ी विस्मित हो रही थी कि यह सात दिन तक एक ही आसन पर कैसे बैठे रहे ? तभी सामने से एक शव लिये जाते हुए कुछ व्यक्ति दिखाई दिये। उस शव को देखते ही भगवान् बुद्ध हँसने लगे।

सुजाता ने प्रश्न किया— योगिराज ! कल तक तो आप शव देखकर दुःखी हो जाते थे, आज वह दुःख कहाँ चला गया ?

भगवान् बुद्ध ने कहा— बालिके ! सुख-दुःख मनुष्य की कल्पना मात्र है। कल तक जड़ वस्तुओं में आसक्ति होने के कारण यह भय था कि कहीं यह न छूट जाय, वह न बिछुड़ जाये। यह भय ही दुःख का कारण था, आज मैंने जान लिया कि जो जड़ है, उसका तो गुण ही परिवर्तन है, पर जिसके लिये दुःख करते हैं, वह तो न परिवर्तनशील है न नाशवान्। अब तू ही बता जो सनातन वस्तु पा ले, उसे नाशवान् वस्तुओं का क्या दुःख ?

सुजाता यह उत्तर सुनकर प्रसन्न हुई और स्वयं भी आत्म-चिन्तन में लग गई।

धर्म की जीत

मगध-सम्राट अजातशत्रु की गिद्ध-दृष्टि लिच्छवि-गणतन्त्र पर केन्द्रित थी। वज्जियों की वैशाली अजातशत्रु के विजय-रथ के लिए दुर्धर्ष शिला-खण्ड बनी गौरव से मस्तक ऊँचा किए हुए थी। भगवान् बुद्ध अन्तिम बार राजगृह के बहिर्वर्ती गृध्रकूट में पधारे तो अजातशत्रु ने मगध-महामात्य वस्सकार को उनकी सेवा में भेज कर निवेदन किया— ''भगवन्, हम वैशाली को पराभूत करना चाहते हैं। कोई उपाय बतायें।''

भगवान् ने यह सुना तो निकट बैठे आनन्द से पूछा, ''भन्ते, क्या वज्जियों के सन्निपात (संसद-अधिवेशन) बार-बार होते हैं ?''

''हाँ, भगवन् !''

''क्यों आनन्द, क्या वज्जि संघबद्ध हो उद्यम करते है, वज्जीकरणीयों (राष्ट्रीय कर्त्तव्यों) को करते ; सभा द्वारा नियमपूर्वक स्वीकृत हुए बिना कोई आदेश तो नहीं प्रचारित करते ; स्वीकृत विधि-संहिता का उल्लंघन तो नहीं करते ; वज्जीधम्म (राष्ट्रीय विधान एवं संस्थाओं) के अनुसार समवेत होकर चलते हैं ; वज्जियों में वृद्धजनों का आदर करते हैं ; उनके मान्य वचनों को मानते हैं ; अपनी कुल वधुओं एवं कुमारियों का आदर करते हैं, चैत्यों का सम्मान करते हैं ; अर्हतों की सेवा और रक्षा करते हैं ?''

''हाँ, भगवन्, लिच्छवि इन सभी धर्मों का तत्परता से पालन करते हैं,'' आनन्द ने उत्तर दिया। भगवान् की मुख-मुद्रा गंभीर हो गयी। उन्होंने अमात्य वस्सकार की ओर देखते हुए शिष्य से कहा,

"तो आनन्द, ये धर्म गणतन्त्र के प्राण-तत्त्व हैं। जब तक लिच्छवि इनका पालन करते हैं, वे अविजेय हैं।"

मारने वाला नहीं बचाने वाला बड़ा होता है

राजकुमार सिद्धार्थ और मंत्री पुत्र देवदत्त दोनों साथ-साथ बाग में घूमने जा रहे थे। सहसा सिद्धार्थ ने देखा दो सुन्दर राजहंस आकाश में उड़ते जा रहे हैं। उन्हें देखकर वह प्रसन्न हो उठा, "देवदत्त ! देखो ये कितने सुन्दर पक्षी जा रहे हैं।" देवदत्त ने ऊपर देखा और अपना धनुष-बाण उठाया एक पक्षी को मार गिराया।

सिद्धार्थ की प्रसन्नता शोक और व्याकुलता में परिणित हो उठी। सिद्धार्थ दौड़े और रक्त से सने राजहंस को गोदी में उठा लिया और सीने से लगाकर रोने लगे।

"इस पक्षी पर मेरा अधिकार है सिद्धार्थ। देखते नहीं हो। इसे मैंने अपने बाण से मारा है।" देवदत्त ने कहा।

सिद्धार्थ बिना कुछ कहे-सुने पक्षी को लेकर चले गये अपने भवन में और वहाँ उसकी सेवा सुश्रूषा करने लगे।

देवदत्त ने उस समय राजकुमार समझ कर कुछ झगड़ा नहीं किया किन्तु पक्षी के बारे में उसकी लालसा मिटी नहीं। उसने फिर सिद्धार्थ से पक्षी माँगा किन्तु जवाब इन्कारों में ही मिला। सिद्धार्थ बड़े प्यार से उसकी सेवा करने लगे।

देवदत्त ने न्याय प्राप्ति के लिए महाराज के पास जाकर शिकायत की। महाराज ने दोनों को राज-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी। एक ओर देवदत्त खड़े थे दूसरी ओर सिद्धार्थ अपनी गोद में पक्षी को लिए हुए। देवदत्त ने अपना तर्क प्रस्तुत किया— "महाराज मैंने पक्षी को बाण मारा, इसलिए इस पर मेरा अधिकार है।"

"किन्तु मैंने इसे बचाया है। मारने वाला नहीं बचाने वाला बड़ा होता है इसलिए उसका ही अधिकार होना चाहिए।" सिद्धार्थ ने बिना पूछे कहा। महाराज ने पक्षी को दोनों के बीच में छुड़वा दिया और वह स्वयं बुद्ध के पास चला गया।

हृदय परिवर्तन

राजा था दयालु और धर्म की राह पर चलने वाला, जनता के कष्टों को दूर करने का सदैव प्रयत्न करता रहता और राजकुमार का स्वभाव राजा से बिल्कुल विपरीत था। उसे निरपराध नागरिकों को को यातना देने में आनन्द आता था। स्वभाव से दुष्ट और निर्दयी, बोलने में भी कर्कश। बात-बात में उसे क्रोध आ जाता था।

राजा अपने पुत्र की इन हरकतों से बहुत खिन्न था। उसने स्वयं सुधारने का प्रयास किया। रानी ने भी नीति के मार्ग पर चलाना चाहा। कितने ही अध्यापकों की नियुक्ति की गई पर सबने हार मानली। जितने प्रयत्न सम्भव थे उतने किये गये। राज्य की जनता में विरोध बढ़ता जा रहा था और उधर उम्र के साथ उत्पात बढ़ रहे थे। सभी लोग किसी न किसी तरह उससे मुक्त होना चाहते थे। भगवान् बुद्ध तक बात जा पहुँची उन्होंने उसे भलाई की राह पर चलाने का निश्चय किया। उन्होंने राजकुमार को अपने पास नहीं बुलाया वरन स्वयं उसके पास गये।

भगवान् बुद्ध अपनी बात कहने में बड़े व्यवहारकुशल थे वह रोग के अनुकूल निदान ढूंढने में सिद्ध-हस्त थे। उन्होंने राजकुमार को धर्म का कोई पाठ नहीं पढ़ाया और न लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दिया। नरक की यातनाओं का भय दिखाने की भी उन्होंने कोशिश न की। वह घूमते हुए उसे एक छोटे नीम के वृक्ष के पास ले गये और कहा 'राजकुमार। इस वृक्ष का पत्ता तो तोड़ कर देखो कैसा है ?'

राजकुमार ने वैसा ही किया एक पत्ते को मुँह में डाला तो सारा मुँह कड़वाहट से भर गया। इतनी बात में ही वह आपे से बाहर हो गया। भगवान् बुद्ध से तो उसने कुछ नहीं कहा पर अपने नौकर को आदेश देकर उस वृक्ष को जड़ से कटवा दिया।

'अरे राजकुमार तुमने यह क्या किया।'

'इस पौधे के लिए तो यही किया जाना चाहिए था। अभी से जब यह इतना कड़वा है तो बढ़ने पर इसकी क्या स्थिति होगी ? मैं समझता हूँ साक्षात् विष ही हो जायेगा। अत: मैंने उचित ही किया जो अभी से उखाड़ फेंका।' राजकुमार ने उत्तर दिया।

भगवान् बुद्ध इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक कहा 'राजकुमार यदि तुम्हारे दुर्व्यवहार और अत्याचारों से परेशान होकर यदि जनता तुम्हारे से वही व्यवहार करने को विवश हो जाये जो तुमने नीम के पौधे के साथ किया, तो तुम क्या करोगे ? वह दिन था कि भगवान् बुद्ध द्वारा दिखाई राह पर वह राजकुमार चल पड़ा और फिर कभी बुराई की राह पर न गया।

महान् विभूतियाँ कभी-कभी ही आती हैं

बुद्ध का जन्म हुआ। सभी देखने आए। एक महात्मा हिमालय से आए। पिता ने बालक बुद्ध को महात्मा के चरणों पर रखते हुए कहा— "महात्मन् ! आशीर्वाद दें प्रभु से मंगल कामना करें ताकि बालक दीर्घायु हो, यशस्वी हो, प्रतापी हो।" किन्तु महात्मा कुछ उद्‌गार व्यक्त करने के पूर्व ही रोने लगे। राजा डर गए। पूछा कोई अपशकुन है ? कुछ अशुभ है क्या ?

महात्मा कुछ क्षणों बाद बोले— "नहीं राजन् ! ऐसा कुछ नहीं। जिसे खोजते-खोजते सारी उम्र बीत गयी, वह प्रभु का भेजा संदेशवाहक अब मिला। करुणावतार आया तो सही पर मेरे लिए तो अब देरी हो गयी। उनकी लीला देखने का सुयोग मुझे तो मिल ही नहीं सकेगा। उनके चरणों में बैठने का अवसर मुझे न मिल सकेगा, बस यही सोचकर आँखें भर आईं। राजन् ! आप धन्य हैं। ऐसी विभूतियाँ तो कभी-कभी हजारों-लाखों वर्षों बाद अवतरित होती हैं।"

आत्मबोध

वैराग्य होने के पश्चात् गौतम बुद्ध ने कई वर्ष तक जंगल में रहकर बड़ा कठोर तप किया। वहाँ उनका आहार लगभग बन्द ही

हो गया था ! इससे शरीर सूखकर अस्थि-चर्म मात्र ही रह गया था । पर इतने पर भी आत्मज्ञान नहीं हुआ और इससे उनका चित्त भ्रमित रहता था ।

एक दिन गौतम के तपस्या स्थान के पास होकर नगर की कुछ गायिकायें निकलीं । वे मार्ग में एक गीत गाती हुई चली जा रही थीं जिसका आशय यह था कि— "वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ो, अन्यथा उनसे मधुर स्वर नहीं निकलेगा । पर उनको इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायें ।"

इस गीत की ध्वनि गौतम के कान में पड़ी तो अकस्मात् उनको अपनी भूल का पता लग गया । सुफल प्राप्त करने के लिए अत्यधिक कष्ट पूर्ण तपस्या उचित नहीं वरन् संयमित आहार, विश्राम, निद्रा आदि का जीवनयापन करने से ही साधना का पूरा हो सकना संभव है । चाहे सांसारिक लक्ष्य हो और चाहे आध्यात्मिक, सफलता के लिये मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उचित है ।

बाहर भीतर वाले को

आत्मबोध होने के बाद गौतम बुद्ध ने परिव्रज्या आरंभ की । विश्राम का नाम भी नहीं । सतत् चलते रहना व लोगों को जीवनमुक्ति का पाठ पढ़ाना । शिष्य आनन्द उनसे बोला— "प्रभु ! आप इतना चले, न थके-न उकताए ।" बुद्ध बोले । "थके वह जो चले । मैं चलता ही नहीं तो थकूँ क्यों ।" आनन्द का कथन था "मैंने तो नित्य आपको अपनी इन आँखों से चलते देखा है, मैं भी आपके ही साथ चला हूं ।"

बुद्ध बोले "मैं तुम्हारी आँखों पर भरोसा करूँ या अपनी आँखों पर । भीतर देखता हूं तो पाता हूं वहाँ कोई चलता ही नहीं । तुम मुझे बाहर से ही देख पाते हो । बाहर जो चलता है, वह तो शरीर है । आत्मा की छाया मात्र है । जो नहीं चलता, वह मेरी आत्मा है । छाया के चलने से भी कोई थकता है ?"

मात्र सुख

एक बार गौतम बुद्ध राजपथ को छोड़कर कँटीली पगडण्डी पर चल रहे थे । लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ । कारण पूछने पर भगवान् बुद्ध ने बताया—

'मनुष्यो ! इस पगडण्डी में सुख दु:ख दोनों ही भोगने पड़ते हैं । अतएव यह प्रेरणा देती है कि सुखों में अधिक आशक्ति रखने और दु:खों में अधिक उद्‌विग्न होने से जीवन यात्रा बड़ी दूभर हो जाती है । सुख-दु:ख दोनों में समभाव रखने से जीवन यात्रा सुगम बनती है । अतएव मैं मात्र सुखों वाले राजपथ पर न बढ़कर पगडण्डी पर चल रहा हूँ ।'

धर्म प्रचारक की कसौटी

तथागत का परमप्रिय शिष्य था आनन्द । उस दिन सभी शिष्यों को उनकी इच्छानुसार क्षेत्रों में बसने और धर्मप्रचार करने के लिए भेजा जा रहा था । सभी ने अपने परिचित एवं सुविधापूर्ण स्थान चुन लिए । आनन्द ने सूनापरान्त नामक गाँव चुना । वह दुष्ट-दुर्जनों के लिए प्रख्यात था । वहाँ कोई साधु पैर जमा ही नहीं सका था । सभी ने आश्चर्य से पूछा— ऐसी विपरीत परिस्थितियों वाले स्थान को अपना कार्यक्षेत्र आप क्यों चुनते है ?

आनन्द ने कहा— चिकित्सक को वहाँ जाना चाहिए जहाँ भयंकर महामारी फैली हो । अपनी सुविधा और सुरक्षा की बात सोचने पर चिकित्सक और साधु दोनों ही हेय बनते हैं । दोनों के स्तर की परीक्षा तो कठिन परिस्थितियों में ही होती है ।

अमरता की फसल

भगवान् बुद्ध काशी के एक सम्पन्न किसान के पास गए । उससे भिक्षा माँगी । किसान ने भिक्षा पात्र लिए भिक्षु प्रवर की ओर देखा और व्यंग-भाव से कहा, "मैं परिश्रम से खेत जोतता-बोता हूँ, तब तो फसल उपलब्ध होती है उसी से उदर-पूर्ति करता हूँ, किन्तु आप बिना खेती किए भोजन पाना चाहते हैं ।"

"मैं भी तो किसान हूँ । खेती करता हूँ" बुद्ध ने प्रशान्त स्वर में उत्तर दिया ।

"खेती !" किसान ने काषाय वस्त्रधारी भिक्षु की ओर अचरज से देखा । "हाँ, वत्स ! तथागत ने कहा— "मैं आत्मा की खेती करता हूँ । ज्ञान के हल से श्रद्धा के बीज बोता हूँ । तपस्या के जल से सींचता हूँ । विनय मेरे हल की हरिस, विचारशीलता फल और मन नरैली है । सतत् प्रयास का यान मुझे उस गन्तव्य की ओर ले जा रहा है जहाँ न दु:ख है न संताप । मेरी इस खेती से अमरता की फसल लहलहाती है, वत्स !"

मनुष्य का चिरन्तन अस्तित्व आत्मा के रूप में ही रहता है । राजपुत्र गौतम को उसी प्रेरणा ने भगवान् बुद्ध बना दिया । यह पथ प्रत्येक आत्मदर्शी के लिए खुला है ।

ज्ञान की निरन्तर खोज

भगवान् बुद्ध एक बार आनन्द के साथ सघन वन से होकर गुजर रहे थे । रास्ते में बातचीत भी चल रही थी ।

आनन्द ने पूछा देव ! आप तो ज्ञान के भण्डार हैं । आपने जो जाना, क्या उसे हमें बता दिया ?

बुद्ध ने उलटे पूछा— इस जंगल में भूमि पर कितने सूखे पत्ते पड़े होंगे ? फिर हम जिस वृक्ष के नीचे खड़े हैं उस पर चिपके सूखे पत्तों की संख्या कितनी होगी ? इसके बाद अपने पैरों तले जो अभी पड़े हैं ये कितने हो सकते हैं ?

आनन्द इन प्रश्नों का उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे । मौन तोड़ते हुए तथागत ने स्वयं ही कहा ज्ञान का विस्तार इतना है, जितना इस वन प्रदेश में बिछे हुए सूखे पत्तों की संख्या । मैंने उतना जाना जितना ऊपर वाले वृक्ष का पतझड़ । इसमें भी तुम लोगों को उतना ही बताया जा सका जितना कि अपने पैरों के नीचे कुछेक पत्तों का समूह पड़ा है ।

ज्ञान की अनन्तता को समझते हुए उसे निरन्तर खोजते और जितना मिल सके उतना समेटते रहने में ही बुद्धिमत्ता है ।

समाज सेवी की योग्यता

धर्म दीक्षा का शिविर समाप्त हुआ । सारे भिक्षु अपनी-अपनी रुचि की दिशा में परिव्रज्या के लिये निकल गये । देववर्धन नामक भिक्षु भी गौतम बुद्ध के सामने उपस्थित हुआ और प्रार्थना की— "भगवन् मेरी इच्छा है कि मैं कलिंग जाकर संघ का प्रचार करूँ ।" कलिंग का नाम सुनकर बुद्ध ने आँखें उठाईं, देववर्धन को पास बिठाया । स्नेह से शीश पर आशीर्वाद का हाथ फेरते हुए बोले "वत्स ! वहाँ के लोग बड़े अधर्मी और ईर्ष्यालु हैं, वे मिथ्या दोष लगाकर तुम्हें सतायेंगे, गालियाँ देंगे, इसलिए वहाँ जाने का इरादा बदल डालो ।"

भिक्षु ने उसी विनय के साथ कहा— भगवन् गालियाँ देंगे तो क्या हुआ, मारेंगे तो नहीं, तथागत कहने लगे— "तात् इसमें भी संदेह नहीं वे आततायी भी हैं । तुम्हें मार भी सकते हैं ।" देववर्धन फिर भी दृढ़ रहा । उसने कहा— "देव ! थोड़े दण्ड से इस शरीर का बिगड़ता क्या है, मारेंगे तो भी बुरा नहीं, वे मेरे प्राण तो नहीं लेंगे ?"

"पर वे तुम्हें जान से मार देंगे देववर्धन, मैंने उनकी निर्दयता देखी है," बुद्ध ने कहा— "तो क्या हुआ भगवन् आपने ही तो कहा— यह शरीर धर्म कार्य में लग जाय तो पुण्य ही होता है, इस तरह तो वे लोग मेरे साथ उपकार ही करेंगे ।" तथागत भगवान् बुद्ध शिष्य के उत्तर से संतुष्ट हुये । उन्होंने आशीर्वाद दिया और विदा करते हुये बोले— "वत्स ! समाज सेवी की सच्ची योग्यता है तुम में, तुम निश्चय ही वहाँ धर्म-प्रचार कर सकोगे ।"

समाजसेवी की योग्यता है— सहिष्णुता, क्षमा और निष्ठा ।

मन की पवित्रता

भगवान् बुद्ध प्यासे थे । शिष्य आनन्द को समीप के झरने से पानी लेने भेजा । उधर थोड़ी देर पहले ही कुछ पशु नहाये थे जिससे पानी गन्दा हो गया था । आनन्द लौट आये स्थिति बताते हुए कहा— नदी से पानी ले आता हूँ ।

बुद्ध ने फिर उसी झरने पर पानी लेने भेजा किन्तु पानी गन्दला ही था । तीन बार भेजने और वापस आने के बाद चौथी बार जब आनन्द गये तो कीचड़ साफ हो गई थी । आनन्द स्वच्छ जल लेकर तथागत के पास आये ।

पानी हाथ में लेते हुए— भगवान् बुद्ध ने कहा— आनन्द, हमारे जीवन का जल भी कुविचारों के पशु लोटने से प्रायः गन्दा होता रहता है और हम भाग खड़े होते हैं । यदि हम भागें नहीं— मन के शान्त होने की प्रतीक्षा करें तो सब कुछ साफ हो जायेगा, झरने के पानी की तरह ।

परमार्थ परायणता का महत्त्व

महाविहार में भिक्षुओं की स्थिति का निरीक्षण करते हुए भगवान् बुद्ध एक कुटिया में पहुँचे तो उसमें रहने वाला साधक रुग्ण अवस्था में मल-मूत्र से सना पड़ा मिला ।

पूछने पर मालूम हुआ कि उसे अतिसार है । कोई दूसरा उसकी सहायता करने नहीं आता ।

तथागत ने आनन्द से जल माँग कर उसे स्वच्छ किया, उठाकर बिस्तर पर सुलाया और चिकित्सा की व्यवस्था की । साथ ही निकटवर्ती कुटियाओं में रहने वाले भिक्षुओं को बुलाकर पूछा— कोई उस रोगी की सहायता क्यों नहीं करता ।

उत्तर में सभी ने एक ही बात कही— वह किसी के काम नहीं आता, सदा अकेला रहता और उपेक्षा भाव बरतता है । फिर कोई क्यों उसकी सहायता करे ?

तथागत ने कहा— अज्ञान का बदला ज्ञान से और संकुचित वृत्ति का सुधार उदारता से होता है क्या तुम इतना भी नहीं जानते । क्या तुमने नहीं सुना कि परमार्थ बदले के लिए नहीं अपनी ही करुणा को विकसित करने के लिए किया जाता है ।

लोकसेवी का आचरण

महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ संध्या को एक उद्यान में घूम रहे थे । उद्यान में ही स्थित एक सुन्दर सरोवर में खिल रहे कमल पुष्पों को देख बुद्ध आनन्दमग्न हो गये, इसी बीच एक शिष्य ने सरोवर के पास जा एक पुष्प तोड़ लिया व भगवान् को भेंट किया बुद्ध ने कहा— "वत्स यह तुमने ठीक नहीं किया, किन्हीं अन्य व्यक्तियों द्वारा किये परिश्रम से लगाये गये इन पुष्पों को तोड़ने का तुम्हें क्या अधिकार ? यह पाप है ।" शिष्य ने अपनी त्रुटि स्वीकार कर क्षमायाचना की ।

दूसरे ही क्षण एक व्यक्ति आया वह निर्दयतापूर्वक पुष्पों को तोड़कर फेंकने लगा, भगवान् ने उस व्यक्ति से कुछ नहीं कहा, वे शान्त बने रहे । शिष्य ने पूछा, "भगवन् आपको अर्पित करने के उद्देश्य से एक फूल तोड़ने पर तो आपने रोका और यह निर्दयी व्यक्ति अनेकों पुष्पों को तोड़कर सरोवर की शोभा बिगाड़ रहा है, उससे आप कुछ नहीं कहते ?" बुद्ध ने कहा— "वासना तृष्णा में डूबे व्यक्ति कोई अनुचित कार्य करते हैं तो यह उनका अज्ञान है, परन्तु धर्म परायण, विवेकशील व लोकशिक्षण के व्रती यदि ऐसा कार्य करें तो यह पाप ही है । लोकसेवी का आचरण अपने स्वयं के लिए व समाज के लिए श्रेष्ठ व ज्ञानसम्मत रहना अनिवार्य है ।"

दिशा ज्ञान

राजगृह पथ पर जा रहे गौतम बुद्ध ने देखा, एक गृहस्थ भीगे वस्त्र पहने सभी दिशाओं को नमस्कार कर रहा था ।

बुद्ध ने पूछा— "महाशय ! इस छः दिशाओं की पूजा का क्या अर्थ है ? यह पूजा क्यों करनी चाहिए ?"

गृहस्थ बोला— "यह तो मैं नहीं जानता ।"

बुद्ध ने कहा— "बिना जाने पूजा से क्या लाभ होगा ।"

गृहस्थ ने कहा— "भन्ते ! आप ही कृपाकर बतलायें कि दिशाओं की पूजा क्यों करनी चाहिए ?"

तथागत बोले— "पूजा करने की दिशाएँ भिन्न हैं । माता-पिता और गृहपति पूर्व दिशा है, आचार्य दक्षिण, स्त्री, पुत्र पश्चिम और मित्र आदि उत्तर दिशा है । सेवक नीची तथा श्रमण ब्राह्मण ऊँची दिशा है । इनकी पूजा से लाभ होता है । गृहस्थ बोला— "और तो ठीक, भन्ते ! परन्तु सेवकों की पूजा कैसे ? वे तो स्वयं मेरी पूजा करते हैं ?"

बुद्ध ने समझाया— "पूजा का अर्थ हाथ जोड़ना, सिर झुकाना नहीं । सेवकों की सेवा के बदले उनके प्रति स्नेह-वात्सल्य ही उनकी पूजा है ।" गृहस्थ ने कहा— "आज आपने मुझे सही दिशा ज्ञान कराया ।"

कुल गोत्र की अहंता

बौद्ध भिक्षु होने पर अपना नाम बदलना अनिवार्य था । उसका उद्देश्य यह था कि वर्ण, गोत्र, जाति का आभास न हो व सब शिष्यगण अहंकार को विस्मृत कर दें ।

एक बार शिष्यों में चर्चा चली कि दीक्षित होने पर भी शरीर तो छूट नहीं जाते फिर गोत्र, जाति, वर्ण कैसे छूट जायेंगे । बात भगवान् के कानों तक पहुँची उन्होंने सबको एकत्र कर कहा, "वत्स, तुमने साँपों की केंचुली देखी है ?" "हाँ भगवन् देखी है " "तो कोई बतावे यह क्या है ?" "भगवन् केंचुली जब आती है तो साँप अन्धा हो जाता है ।"

"एवं जब केंचुली छूट जाय तब "

"तब साँप को पुनः दीखने लगता है ।"

तथागत ने समझाया, "हमारे गोत्र, वर्ण व जातियाँ भी साँप की केंचुली के समान ही हैं जब तक शरीर पर यह रहती है, मनुष्य अहंकार में अन्धा बना रहता है, परन्तु जब यह केंचुली छूट जाती है तो उसे सर्वव्यापी विराट सत्ता की अनुभूति होने लगती है । इसीलिए नाम, पद, यश और कुलगोत्र की अहंता से विमुक्त होना आवश्यक है ।

शिष्य वस्तुस्थिति समझकर सन्तुष्ट हो गये ।

मृत्यु जीवन का यथार्थ

गौतमी का इकलौता पुत्र मर गया । शोक से विह्वल होकर वह लाश को लिये हुए भगवान् बुद्ध के पास पहुँची । उसे आशा थी कि तथागत बालक को पुनः जीवित कर देंगे ।

बुद्ध ने गौतमी को सान्त्वना देते हुए कहा— किसी ऐसे घर से थोड़ा जल माँग लाओ, जिसके घर में कभी कोई मृत्यु न हुई हो । उस जल को अभिमंत्रित करके तुम्हारे पुत्र का अभिसिंचन करूँगा और वह पुनः जीवित हो उठेगा ।

गौतमी जल प्राप्त करने के लिए द्वार-द्वार पर घूमने लगी, पर कोई घर ऐसा न मिला— जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो । निराश वह वापस लौट आई ।

तथागत ने कहा— भद्रे तुमने देखा, इस संसार में कोई घर ऐसा नहीं जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो । इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसे मरना न पड़े । आज या कल, सभी अपने-अपने समय पर मरते हैं फिर उस अनतिपन्न प्रकृति फन्द में फँसे हुए हम लोगों में क्यों किसी के लिए शोक करना चाहिए ।

गौतमी का बोध जाग पड़ा । वह मृत पुत्र का संस्कार करके घर लौट गई । शोक को उसने विवेक द्वारा शान्त कर लिया ।

महापिशाचिनी तृष्णा

राजा श्रेणिक सदा अशान्त रहते थे । निद्रा की न्यूनता, चेहरे की उदास, अतृप्ति और आशंका उन्हें हर घड़ी हैरान किये रहती थी । कारण और समाधान पूछने वे भगवान् बुद्ध के पास गये ।

प्रवचन चल रहा था, सभी भिक्षु अति प्रसन्न मुद्रा में उसे श्रवण कर रहे थे । चेहरे पर तेजस्विता और आनन्द की पुलकन से सभी दिव्य लग रहे थे ।

राजा की जिज्ञासा को समझते हुए तथागत ने उसी प्रवचन में यह तथ्य जोड़ दिया कि मनुष्य क्लान्त और उल्लसित क्यों रहता है । उन्होंने कहा— तृष्णाएँ ही मनुष्य को खाती हैं । उनसे बचा जा सके तो राजा-रंक सभी समान रूप से सुखी रह सकते हैं ।

जाति से नहीं गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मणत्व की पहिचान

भगवान् बुद्ध अनाथ पिण्डक के जैतवन में ग्रामवासियों को उपदेश कर रहे थे । शिष्य अनाथ पिण्डक भी समीप ही बैठा, धर्मचर्चा का लाभ ले रहा था ।

तभी सामने से महाकाश्यप मौद्गल्यायन, सारिपुत्र, चुन्द और देवदत्त आदि आते हुए दिखाई दिये । उन्हें देखते ही बुद्ध ने कहा— वत्स ! उठो, यह ब्राह्मण मण्डली आ रही है, उसके लिये योग्य आसन का प्रबन्ध करो ।

अनाथ पिण्डक ने आयुष्मानों की ओर दृष्टि दौड़ाई, फिर साश्चर्य कहा— भगवन्! आप सम्भवतः इन्हें जानते नहीं । ब्राह्मण तो इनमें कोई एक ही है, शेष कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई अस्पृश्य भी है ।

गौतम बुद्ध अनाथ पिण्डक के वचन सुनकर हँसे और बोले— तात् ! जाति जन्म से नहीं गुण, कर्म और स्वभाव से पहचानी जाती है । श्रेष्ठ रागरहित, धर्मपरायण, संयमी और सेवाभावी होने के कारण ही इन्हें मैंने ब्राह्मण कहा है । ऐसे पुरुष को तू निश्चय ही ब्राह्मण मान— जन्म से तो सभी जीव शूद्र होते हैं ।

बुद्ध के पास आकर एक व्यक्ति ने उनके शिष्य की प्रशंसा की— कितनी अद्भुत बात है कि आपका अमुक शिष्य इतना ज्ञानी है ! कितना जानता है ! कितना प्रकाण्ड विद्वान् है ! धन्य हैं आप ऐसे शिष्य को पाकर ।

बुद्ध बोले— बस उसमें यही तो कमी है कि वह इतना सब कुछ जानता है, पर जीवनोद्देश्य को न जान सका, मनुष्य जीवन को न

समझ सका। यदि इतना वह और जान लेता कि जीव का उद्देश्य स्वार्थी नहीं, परमार्थी बनना है— ज्ञानी नहीं, ज्ञान की राह पर चलना है, तो वह सचमुच धन्य बन जाता और मुझे उस पर गर्व भी होता।

भाव-निष्ठा का भूखा परमात्मा

शौरपुच्छ नामक वनिक ने एक बार भगवान् बुद्ध से कहा— भगवन् मेरी सेवा स्वीकार करें, मेरे पास १ लाख स्वर्ण मुद्रायें हैं वह सब आपके काम आयें। बुद्ध कुछ न बोले चुप-चाप चले गये।

कुछ दिन बाद वह पुनः तथागत की सेवा में उपस्थित हुआ और कहने लगा— देव ! यह आभूषण और वस्त्र लें दुःखियों के काम आयेंगे मेरे पास अभी बहुत-सा द्रव्य शेष है। बुद्ध बिना कुछ कहे वहाँ से उठ गये। शौरपुच्छ बड़ा दुःखी था कि वह गुरुदेव को किस तरह प्रसन्न करे।

वैशाली में उस दिन महान् धर्म सम्मेलन था। हजारों व्यक्ति आये थे। बड़ी व्यवस्था जुटानी थी। सैकड़ों शिष्य और भिक्षु काम में लगे थे। आज शौर पुच्छ ने किसी से कुछ न पूछा काम में जुट गया, रात बीत गई सब लोग चले गये पर शौरपुच्छ बेसुध कार्य-निमग्न रहा। बुद्ध उसके पास पहुँचे और बोले शौरपुच्छ ! तुमने प्रसाद पाया या नहीं ? शौरपुच्छ का गला रुँध गया। भाव-विभोर होकर उसने तथागत को साष्टांग प्रणाम किया। बुद्ध ने कहा— वत्स परमात्मा किसी से धन और सम्पत्ति नहीं चाहता वह तो निष्ठा का भूखा है। लोगों की निष्ठाओं में ही वह रमण किया करता है। आज तुमने स्वयं यह जान लिया।

छल कपट देर तक टिकता नहीं

बुद्ध आस्वान राज्य के किसी नगर से गुजर रहे थे। यह स्थान उनके विरोधियों का गढ़ था। जब विरोधियों को बुद्ध के नगर में होने का पता चला तो उन्होंने एक चाल चली। एक कुलटा स्त्री के पेट में बहुत-सा कपड़ा बाँधकर भेजा गया। वह स्त्री जहाँ बुद्ध थे वहाँ पहुँची और जोर-जोर से चिल्लाकर कहने लगी— "देखो यह पाप इसी महात्मा का है। यहाँ ढोंग रचाये घूमता है और अब मुझे स्वीकार भी नहीं करता।" सभा में खलबली मच गई। उनके शिष्य आनन्द बहुत चिन्तित हो उठे और पूछा— भगवन् ! अब क्या होगा ?"

बुद्ध हँसे और बोले— "तुम चिन्ता मत करो कपट देर तक नहीं चलता। चिरस्थायी फलने-फूलने की शक्ति केवल सत्य में ही है।" इसी बीच उस स्त्री की करधनी खिसक गई और सारे कपड़े जमीन पर खिसक पड़े। पोल खुल गई। स्त्री अपने कृत्य पर बहुत लज्जित हुई। लोग उसे मारने दौड़े पर बुद्ध ने यह कहकर सुरक्षित लौटा दिया— जिनकी आत्मा मर गई हो, वह मरों से अधिक हैं, उन्हें शारीरिक दण्ड देने से क्या लाभ ?"

मोक्ष का महामन्त्र

"आत्म-शोध है" भिक्षुओ ! इसके लिये तुम्हें जंगल-जंगल भटकने की आवश्यकता नहीं। परम-पद तुम्हारे बिल्कुल समीप। एक स्त्री दर्पण के सामने बैठी अपना चेहरा देख रही थी और बड़ी तत्परता से उसे सुन्दर और निर्मल बनाने का प्रयत्न कर रही थी। मैंने देखा— वह बड़े ध्यान से चेहरे में लगी गन्दगी को ढूँढ़ती है और उसे साफ करती है। आत्म-परीक्षण के सम्बन्ध में भी यही बात है। अपनी चेतना के दर्पण में अपने आपको देखो और ढूँढ़ो कहीं काम, क्रोध, भय, उद्विग्नता, असन्तोष, असंतुलन तो नहीं छिपा हुआ है ? तुम्हारे विचार गन्दे तो नहीं हैं ? इन्द्रियों पर तुम्हारा नियन्त्रण है या नहीं ?

यदि इनका सही उत्तर न मिले तो उन बुराइयों को मिटाने में लग जाओ, उस स्त्री की तरह जब तुम्हें अपने आन्तरिक चेहरे की निर्मलता पर सन्तोष हो जायेगा, उसी दिन तुम मोक्ष, परम-पद या आत्म-कल्याण की स्थिति प्राप्त कर लोगे।

तन नहीं, मन की स्वच्छता भी अनिवार्य

भगवान् बुद्ध अपने ज्ञान का प्रकाश संसार को दे रहे थे। अनेक लोगों का आत्मिक कायाकल्प हो चुका था।

एक दिन तथागत घूमते हुए एक सेठ के यहाँ पहुँचे। भिक्षा हेतु अपना कमंडल उसके सामने रख दिया। वह तथागत के ज्ञान और प्रभाव की प्रशंसा सुन चुका था। उसे आशा थी कि उनका आशीर्वाद पाकर मेरी मुक्ति हो जायेगी। बड़े प्रेम से खीर बनवाई और लाकर कमंडल में देने लगे। उसने आश्चर्यपूर्वक देखा कि कमंडल में गोबर भरा हुआ है। इतनी सुन्दर खीर उस कमंडल में कैसे रखी जाय, जिसमें कि गन्दगी भरी हुई है।

उसने कमंडल उठाया उसको अच्छी तरह साफ किया। तत्पश्चात् उसमें खीर रखी और तथागत से बोला— "भगवन् ! कहीं भिक्षा हेतु पधारा करें अपना पात्र साफ करके ही लाया करें। गन्दगी भरे पात्र से तो आहार की पवित्रता नष्ट हो जायेगी।"

तथागत शांत-भाव से बोले— "वत्स ! भविष्य में जब कभी भी आऊँगा, कमंडल साफ करके ही लाया करूँगा पर तुम भी तो अपना कमंडल साफ रखा करो।" सेठ ने आश्चर्य भरे शब्दों में पूछा "भगवन् ! कौन-सा कमंडल।" तथागत बोले " यह तन रूपी कमंडल। मन में मलीनता भरी रहने से यह जीवन भी कलुषित हो जाता है और भगवान् की कृपा उसमें ठीक प्रभाव नहीं करती।" बात समझ में आ गई। उस दिन से सेठ अपनी आन्तरिक सफाई में लग गया।

झूठ तो झूठ है

एक समय भगवान् राजगृह के वेणुवन में थे। राहुल अम्बलट्ठिका में थे। एक दिन शाम को भगवान् राहुल के यहाँ पहुँचे। राहुल ने देखकर आसन बिछाया और पैर धोने के लिए लोटे में पानी लाकर रखा। पैर धोकर भगवान् आसन पर आ बैठे। उन्होंने राहुल से कहा—

"राहुल ! लोटे में बचे थोड़े से पानी को देखता है न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"राहुल, ऐसा ही थोड़ा श्रमण भाव उन लोगों में है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती ।"

जल को फेंककर लोटे को औंधा कर भगवान् ने कहा— "राहुल, ऐसा ही औंधा श्रमण भाव उन लोगों का है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती ।"

लोटे को सीधा करके भगवान् ने कहा — " ऐसा ही खाली, तुच्छ श्रमण भाव उन लोगों का है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती । जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसके लिए कोई भी पाप-कर्म अकरणीय नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ । इसलिए राहुल, हँसी में भी झूठ नहीं बोलूँगा, यह सीख लेनी चाहिए ।"

शत प्रतिशत दान

तथागत को एक विहार का निर्माण करना था । इसके लिए उन्होंने सर्व-साधारण से याचना की और अभीष्ट राशि जमा हो गई ।

कोषाध्यक्ष से पूछा गया कि किसकी सबसे बड़ी राशि थी उसने बताया— एक बुढ़िया ने जिन्दगी भर में एक रुपया जमा किया था । उसने अपनी कमाई का शत-प्रतिशत दान कर दिया । जिसके पास विपुल धन था उन्होंने उसमें से सैकड़ों भर दिये थे । जो उनकी पूँजी का एक प्रतिशत भी नहीं था । विहार पर शिला-लेख लगा । उसमें बुढ़िया की उदारता को श्रद्धापूर्वक सराहा गया ।

सर्वस्व दान

आम्रपाली अपने समय की प्रख्यात सुन्दरी थी । उसके रूप लावण्य पर अनेकों मुग्ध रहते थे । उसका नृत्य गायन स्वर्ग की अप्सराओं जैसा था ।

एक बार वह भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने गई । जीवन की गरिमा और उसके सदुपयोग की आवश्यकता पर उसने बहुत कुछ सुना । आत्म-चिन्तन किया । अपनी गतिविधियों के लिए मन ने धिक्कारा । वह शेष जीवन को सुधारने का विश्वास करके लौटी ।

भगवान् की शरण में वह दुबारा गई । उनसे सांत्वना ली और कहा— कि जो बीत चुका सो लौटने वाला नहीं । अब जो शेष रहा है उसी को सुधारना चाहिए । निर्णय यह हुआ कि उसे बौद्ध समुदाय में शिष्य होकर साधना करनी चाहिए और धर्म प्रचार में लग कर अनेकों को कल्याणकारक मार्गदर्शन कराना चाहिए । बात समझदारी की थी सो आम्रपाली ने अपना ली और भिक्षु समुदाय में सम्मिलत हो गई ।

अब दूसरा प्रश्न उभरा कि पिछले दिनों जो पाप कमाया है वह तो कुसंस्कार बना ही रहेगा । साधना को सफल न होने देगा । इसलिए पूर्व अनाचारों का प्रायश्चित भी आवश्यक है । प्रायश्चित का एक ही उपाय है जो गड्ढा खोदा गया है उसे भरा जाय । अनाचार का समापन पुण्य परमार्थ द्वारा किया जाय ।

आम्रपाली ने नर्तकी जीवन में प्रचुर सम्पदा कमाई थी । उसे धर्म प्रचार जैसे पुण्य कार्य में लगाया जाना आवश्यक था । उसने अपना समूचा संचय बौद्ध विहार के धर्म प्रचार के लिए दान कर दिया । स्वयं साधनारत होकर परिमार्जित हुई और धर्म प्रचार के परमार्थ हेतु देश-विदेश में आजीवन प्रयत्न करती रही । नर्तकी आम्रपाली परम साध्वी कहलाई ।

निरर्थक कुछ भी नहीं

तथागत समेत बुद्धसंघ राजा उदयन के घर भिक्षा के निमित्त गया । अतिथि सत्कार के उपरान्त रानी ने चीवर भेंट किये । राजा ने हँसते हुए पूछा देव आप इतने चीवरों का क्या करेंगे ? बुद्ध ने कहा— जिन भिक्षुओं के चीवर फट जाया करेंगे, उन्हें देते रहेंगे । राजा ने फिर पूछा— उन फटे चीवरों का क्या होगा ? उत्तर मिला उनके टुकड़े काटकर बिछौने बना लेंगे । फिर पुराने गद्दों का क्या होगा ? उत्तर मिला— झाड़न में काम लेंगे । अन्तत: उनके भी निरर्थक हो जाने पर किसी खेत में गाड़कर खाद बना दिया जायेगा । उदयन बुद्ध संघ की कार्य नीति से बहुत प्रभावित हुआ और उन्होंने ऐसे श्रेय सदुपयोग के लिए अपना सारा खजाना खाली कर दिया ।

प्रसुप्ति से उबरें, विवेक का आश्रय लें

भगवान् बुद्ध एक रात्रि प्रवचन कर रहे थे । प्रवचन सुनने के लिए बैठा हुआ व्यक्ति बार-बार नींद के झोंके ले रहा था । तथागत ने उस ऊँघते हुए व्यक्ति को कहा— "वत्स सोते हो" 'नहीं' ! भगवन्— हड़बड़ा कर ऊँघते हुए व्यक्ति ने कहा । प्रवचन पूर्ववत चालू हो गया और उक्त श्रोता भी पहले की तरह ऊँघने लगा । भगवान् बुद्ध ने तीन-चार बार उसे जगाया परन्तु वह नहीं भगवन् कहता और फिर सो जाता । अन्तिम बार तथागत ने पूछा— 'वत्स जीवित हो' नहीं भगवन् सदा की तरह उत्तर दिया श्रोता ने । श्रोताओं में हँसी की लहर दौड़ गयी । भगवान् बुद्ध भी मुस्कराये फिर गम्भीर होकर बोले— वत्स निद्रा में तुमसे सही उत्तर निकल गया । जो निद्रा में है वह मृतक समान है । जब तक हम विवेक और प्रज्ञा में नहीं जागते हैं तब तक हम मृतक के ही समान हैं ।

समर्पण की महत्ता

बुद्ध से मिलने एक घुमक्कड़ साधु आया । बुद्ध से आकर कहा "भगवन मेरे पास न बुद्धि है, न चातुर्य, न शब्द है, न कुशलता । अत: मैं कोई प्रश्न अथवा जिज्ञासा कर सकने की स्थिति में भी नहीं हूँ । यदि मुझे पात्र समझें तो मेरे योग्य जो कुछ भी कह सकें कह दें" । घड़ी भर के लिए बुद्ध मौन हो गये । सन्त भी शान्त बैठा रहा । कौतूहलवश सभी भिक्षु उन्हें निहारते रहे । अचानक देखा कि साधु की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी । उसने बुद्ध को साष्टांग प्रणाम किया और धन्यवाद देते हुए बोला— "बड़ी कृपा की भगवन् । आज मैं धन्य हो गया" और नाचता-गाता, गुन-गुनाता चला गया । हतप्रभ शिष्य मण्डली देखती रही । बुद्ध एक शब्द भी नहीं बोले फिर आखिर क्या घट गया उस साधु के जीवन में ?

आनन्द ने बुद्ध के पास जाकर पूछा भगवन् कुछ समझ में नहीं आया । न कोई वार्तालाप ही हुआ न कोई प्रश्नोत्तर । फिर क्या घट गया आप दोनों के बीच कि साधु परम सन्तुष्ट होकर लौट गया । हम वर्षों से आप के पास हैं, फिर भी वैसा कुछ घटित नहीं होता ।

बुद्ध ने मौन तोड़ते हुए कहा "आनन्द ! घोड़े चार प्रकार के होते हैं। एक अड़ियल घोड़ा होता है जो चाबुक मारने पर भी टस से मस नहीं होता। जितना मारो उतना ही हठ पकड़ लेता है। दूसरा ऐसा होता है कि मारो तो चल पड़ता है। तीसरे घोड़े कोड़ा फटकारते ही चल पड़ते हैं चौथे घोड़े को कोड़े की छाया ही काफी है। बस यह साधु ऐसी ही आत्मा थी। उसे इशारे भर की ही जरूरत थी और वह मेरे मन ने कही उसके मन ने ग्रहण करली। तुम्हारे मन तो उन जिद्दी घोड़ों की तरह है कि कोड़े फटकारते रहने पर अपनी जिद पर अड़े है। बात शिष्यों की समझ में आ गई। समर्पणभाव से गुरु से ग्रहण किया जाय तो बिना बोले, बिना कहे ही सब कुछ पाया जा सकता है।

इच्छा पूर्ण हुई

बुद्ध के पास एक युवक आया। उनके चरणों में सिर झुकाया और आँख उठाकर एक बार देखा— पुन: चरणों में झुक गया। बुद्ध ने पूछा किसलिए आये हो ? "युवक बोला जिस के लिए आया था वह इच्छा पूर्ण हुई। अब कुछ न पूछना है न कहना है" बुद्ध बोले क्या घट गया ? क्या पूर्ण हुआ ? यह औरों को भी बता दो। "वहाँ सत्संग में कोई दस हजार भिक्षुओं की भीड़ थी। किन्तु किसी को कुछ दिखाई नहीं दिया। मात्र इतना ही दिखाई दिया कि युवक आया चरणों में झुका किन्तु क्या घटित हुआ ? क्या परिवर्तन हो गया ? यह किसी को कुछ दिखाई नहीं दिया। युवक बोला "मैं बदलने आया था, बदल गया हूँ। मेरी आत्मा में जिस क्रान्ति के लिए चाह थी उसके पूर्ण होने के लिए विश्वास मिल गया है। कोई भरोसा पैदा हो गया है। एक विश्वास के साथ मैं बदल गया हूँ। नयी श्रद्धा ने जन्म ले लिया है। बुद्ध को देखकर मुझे विश्वास हो गया है जो बुद्ध में हो सकता है वह मुझ में भी हो सकता है। बुद्ध मेरा भविष्य है। जो मैं कल हो सकता हूँ वह बुद्ध आज है। इस भरोसे के साथ चरणों में झुका और वापस उठा, तो मैं दूसरा आदमी हो गया।"

पहले छिद्रों को बन्द करें

बुद्ध को प्यास लगी तो गाँव में कुँए के समीप ठहर गये। बुद्ध ने देखा कि एक व्यक्ति कुँए में बाल्टी डालता है। बाल्टी भर जाती है ऊपर खींचता है। इतने में सारा पानी कुएँ में ही बिखर जाता है। बाल्टी में अनेकों छेद थे। पानी बिखरना स्वाभाविक था। किन्तु वह मूढ़ व्यक्ति बार-बार प्रयास करता व असफल रहता।

बुद्ध बहुत देर तक खड़े-खड़े यह तमाशा देखते रहे। पास में उनका शिष्य आनन्द भी खड़ा था और देख रहा था। बुद्ध ने आनन्द से कहा— "देखो आनन्द ! इस व्यक्ति के पास तृष्णा की बाल्टी है। यह कभी भर नहीं सकती। सारा जीवन यह भरने का प्रयास करेगा। किन्तु बर्तन रीता ही रहेगा। यह स्वयं की प्यास नहीं मिटा सकता। इससे हमें पानी की आशा नहीं करनी चाहिए।

जो जीवन भर अपव्यय के छिद्रों से गँवाता, चुकाता रहता है, वह स्वयं तो क्या संचय करेगा, औरों को दे सकने की स्थिति में भी क्या आ पाएगा ?

हृदय परिवर्तन

मगध के एक धनी व्यापारी ने बहुत धन कमाया। उसे अपनी सम्पन्नता पर इतना गर्व हुआ कि वह अपने घर के लोगों पर ऐंठा करता। फल यह हुआ कि उसके लड़के भी उद्दण्ड और अहंकारी हो गये। पिता पुत्रों में ही ठनने लगी। घर नरक बन गया।

उद्विग्न व्यापारी ने महात्मा बुद्ध की शरण ली और कहा— "भगवन् ! मुझे इस नरक से मुक्ति दिलाइये, मैं भिक्षु होना चाहता हूँ।"

तथागत ने कुछ सोचकर उत्तर दिया— "भिक्षु बनने का अभी समय नहीं है तात् ! तुम जैसा चाहते हो वैसा आचरण करके तो घर में ही स्वर्ग के दर्शन कर सकोगे।"

व्यापारी घर लौट आया और विनम्रता बरतने लगा। उससे सारे घर का हृदय परिवर्तन हो गया और सुख-शान्ति के दर्शन होने लगे।

नैतिक आचरण

कमल सरोवर के निकट बैठे तथागत शान्त मुद्रा में— विभोर से गन्धपान कर रहे थे।

तभी एक देव कन्या ने कहा "तुम बिना कुछ दिये ही गन्ध का पान कर रहे हो। तुम गन्ध चोर हो।"

तथागत ने देखा और सिर झुका लिया। तभी एक ग्राम्य बालिका आई और निर्दयतापूर्वक कमल पुष्प तोड़ने लगी तालाब का पानी भी अस्वच्छ कर दिया। देव कन्या अभी भी खड़ी थी।

उसे मौन देखकर तथागत ने कहा 'देवि— मैंने तो केवल गन्धपान ही किया था। तब भी तुमने मुझे चोर कहा और यह तो कमल पुष्प तोड़ रही है— सरोवर को अस्वच्छ भी कर रही है। तब भी तुम इसे कुछ नहीं कह रहीं ?'

देव कन्या मुस्कराई। सहज स्मृति में से स्नेह भरा स्वर फूटा "यह अबोध है— अज्ञानी है। क्या उचित है, क्या अनुचित ? यह यह नहीं जानती। उसके कार्य-कलाप सहज संचालित हैं। पर आप ज्ञानी हैं। नीति मर्मज्ञ हैं। धर्म के ज्ञाता हैं। क्या श्रेय है और क्या प्रेय यह आप भली प्रकार जानते हैं। आपकी लघु से लघु क्रिया भी औचित्य एवं अनौचित्य की कसौटी पर कसकर ही क्रियान्वित होनी चाहिये।" पुन: तथागत का शीश अवनत हो गया। इस बार शीश ही नहीं— हृदय भी लज्जित हो आया था। उन्होंने अनुभव किया शिक्षित और विचारशील लोग जब तक नैतिक आचरण नहीं करते सामान्य प्रजा तब तक सुधरती नहीं।

सधन्यवाद वापस

भगवान् बुद्ध परिव्राजन करते हुये एक ब्राह्मण के घर ठहरे। जब ब्राह्मण को मालूम हुआ कि वह बुद्ध हैं तो उसने जी भरकर गालियाँ दीं, अपशब्द कहे और तुरन्त निकल जाने को कहा।

बुद्ध देर तक सुनते रहे । जब उन सज्जन ने बोलना बन्द किया तो उन्होंने पूछा— द्विजवर ! आपके यहाँ कोई अतिथि आते होंगे तो आप उनका सुन्दर भोजन और मिष्ठान्न से स्वागत करते होंगे ? इसमें क्या शक उन्होंने उत्तर दिया और यदि किसी कारणवश मेहमान उसे स्वीकार न करें तो आप उन पक्वानों को फेंक देते होंगे ?

फेंक क्यों देते हैं, हम स्वयं ग्रहण कर लेते हैं— उन्होंने विश्वासपूर्वक उत्तर दिया ।

''तो हम आपकी यह गालियों की भेंट स्वीकार नहीं करते, अपनी वस्तु आप ग्रहण करिये'' यह कहकर बुद्ध मुस्कराते हुये वहाँ से चल पड़े ।

सहनशीलता से बढ़कर और कुछ नहीं

एक बार भगवान् बुद्ध ने भैंसे की योनि में जन्म लिया । जंगली भैंसा होने पर भी भगवान् बड़े शान्त थे । उनके सीधेपन के कारण इन्हें एक बन्दर बड़ा तंग करता । कभी पीठ पर कूदता, कभी पूँछ खींचता, तो कभी सींग पकड़कर घुमाता । फिर भी भैंसा शान्त ही रहता । एक दिन देवताओं ने भैंसे से कहा— ''यह बन्दर तुम्हें तंग करता है । इसे दण्ड देना चाहिए ।''

देवताओं की बात सुनकर भैंसे ने कहा— ''मैं बन्दर की दुष्टता समझता हूँ और एक झटके से उसका अंत कर देने में भी समर्थ हूँ। लोग अपने से शक्तिशाली का अपराध तो बाध्य होकर सहते हैं, पर सहनशीलता तो अपने से निर्बल का अपराध सहन करने में है ।''

विनम्रता का पाठ

तथागत बोधिवृक्ष को साष्टांग दण्डवत् कर रहे थे ।

शिष्यों ने आश्चर्य से पूछा — आप तो पूर्ण हैं । फिर इस तुच्छ वृक्ष को इतना सम्मान क्यों दे रहे हैं ?

बुद्ध ने कहा— आप सबको यह बोध कराने के लिये जो नमता है सो बढ़ा होता है । ऐसा न हो कि आप लोग अहंकारी बनकर नमन की परम्परा भुला दें ।

तथागत की महानता

बुद्ध मृत्यु शैय्या पर पड़े थे । जिज्ञासु सुभद्र अपनी कुछ शंकाओं का समाधान करने दूर से चलकर वहाँ आया ।

आनन्द ने उसे रोका और कहा— ऐसे समय उन्हें कष्ट देना उचित न होगा ।

बुद्ध भीतर सुन रहे थे । उन्होंने आँखें खोलीं । आनन्द को इशारे से बुलाकर कहा— सुभद्र को ले आओ । मेरे जीवित रहते किसी जिज्ञासु को निराश जाने देना ठीक नहीं ।

सुभद्र ने तथागत की महानता देखी और बिना कुछ उपदेश सुने ही परिव्राजकों की शिष्ट मण्डली में सम्मिलित हो गया ।

संत का एक ही धर्म

भगवान् बुद्ध का अवसान काल निकट आया । उन्होंने गृहस्थ शिष्यों को बुलाकर कहा— ''अपने ऊपर निर्भर रहो । दूसरों की सहायता मत तको । भीतर का प्रकाश जगाओ और हिम्मत पराक्रम के सहारे सुखपूर्वक जियो । धर्म को अपनाने वाला दुःख नहीं भोगता ।''

अब विरक्तों की बारी आई । अन्तिम संदेश देते हुए कहा— ''तुम लोग दो से अधिक एक साथ मत रहना । तीन दिन से अधिक कहीं ठहरना मत ।'' सन्त का एक ही धर्म है— जन-जागरण के लिए पर्यटन । यही है सद्गतिदायिनी तीर्थयात्रा । सामर्थ्य रहते इसे छोड़ना मत ।''

धर्म-मर्यादा

भगवान् बुद्ध का जब मरण काल निकट आया तब उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कुछ उपदेश दिये । उन्होंने कहा—

''धर्म मनुष्य को मर्यादाओं में रखता है और शालीन बनाता है । बिना तट की सरिता उच्छृंखल होकर अपना और सबका विनाश करती है । धर्म के सीमा बन्धन तोड़ना मत ।''

''परस्पर एक होकर रहना । कारण कुछ भी हो— पृथकतावाद मत अपनाना । जो तुम में फूट डाले उनसे सतर्क रहना और उन्हें कभी क्षमा मत करना ।''

''जहाँ रहते हो उसे पथ-विश्राम मात्र मानना । तुम्हारा घर तो वहाँ है, जहाँ जीवन लक्ष्य पूर्ण होता है । रास्ते के साथियों से मिलना जरूर, पड़ावों पर ठहरना भी, पर उनके साथ इतने मत उलझ जाना कि मंजिल ही भूल जायें ।''

''भिक्षुओ, बोलना कम, करना ज्यादा । जितना ज्यादा बोलोगे उतना ही तुम्हारा सम्मान गिरेगा । उथले लोग ही बहुत बकवास करते हैं । तुम जो बोलो— ठोस, मर्यादित, थोड़ा, अनुभूत और विश्वास पूर्वक बोलना । उस थोड़े से भी बड़ा प्रयोजन सधेगा ।''

बुद्ध का अन्तिम उपदेश

बुद्ध का अन्तिम दिन था । आनन्द छाती पीटकर रोने लगा और बोला ''प्रभु आप तो जा रहे हैं मेरा क्या होगा ?'' बुद्ध ने कहा— ''आनन्द ! पागल मत बनो ! मुझसे पहले कितने ही बुद्ध हो गये और मेरे बाद अनेकों होंगे । यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा । यदि तू सीखने में कुशल है, तो किसी से भी सीख लेना । तू चालीस वर्ष तक मेरे साथ रहा तू कहता है कि मुझे ज्ञान नहीं हुआ । ''मैं जा रहा हूँ, उस दिन कह रहा है कि अब क्या होगा ? यदि चालीस साल में तुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तो चालीस जन्मों में भी तेरी क्या समझ में आवेगा ? हो सकता है मेरे होने के कारण तेरी सीखने की क्षमता क्षीण हो गई हो । तू समझता था कि गुरु मिल गये, सब कुछ मिल गया । मिलना ही पर्याप्त नहीं, तुझे भी बदलने की जरूरत थी, बनने की जरूरत थी । संभव है मेरे न रहने पर तू बुद्धत्व को प्राप्त हो '' और इतना कहकर बुद्ध ने अन्तिम साँस ली । ऐसा हुआ । कहते हैं कि आनन्द को बुद्ध के जाने के बाद ही परम ज्ञान उपलब्ध हो सका ।

महानता के चिह्न

महात्मा सारीपुत्र गौतम बुद्ध के सर्वप्रधान शिष्य माने जाते थे। इनको 'धम्म-सेनापति' की पदवी दी गई थी। 'सारी' इनकी माता का नाम था और इस कारण ये 'सारीपुत्र' के नाम से विख्यात हो गये।

× × × ×

एक दिन सारीपुत्र भिक्षा लेने जा रहे थे। पीछे से एक ब्राह्मण ने उनकी पीठ पर जोर से घूंसा मारा। महात्मा ने पीछे फिर कर भी न देखा कि कौन है और क्यों मार रहा है। वे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक आगे बढ़ते चले गये। अब तो ब्राह्मण बहुत पछताया और पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा—

ब्राह्मण— महाराज ! मुझे क्षमा कीजिये !

सारीपुत्र— भाई, तुमने क्या किया जो मैं क्षमा करूँ ?

ब्राह्मण— महाराज मैंने अपनी मूर्खता से आपकी परीक्षा करनी चाही और इसलिये पीछे से एक घूंसा मार दिया।

सारीपुत्र— प्यारे भाई, इससे मेरा क्या बिगड़ा ? तुमको संतोष हुआ और तुम्हारे मन में भी धर्म का भाव उदय हुआ ? यह तो अच्छी बात हुई।

ब्राह्मण— महाराज, यह कहना आपका बड़प्पन है। आप मुझे क्षमा कर दीजिये।

सारीपुत्र— परन्तु मैंने तो कभी तुम पर क्रोध किया ही नहीं। फिर क्षमा क्या करूँ ?

ब्राह्मण— महाराज, मेरे मन में तो संतोष तभी होगा जब आप क्षमा कर देंगे।

सारीपुत्र— अच्छा, यदि तुम्हारा इसी प्रकार संतोष हो सकता है, तो मैं कहे देता हूँ कि मैंने तुमको क्षमा कर दिया।

ब्राह्मण— मैं क्षमा करना तब समझूँगा जब आप मेरे ही घर से भिक्षा लें।

सारीपुत्र— अच्छा चलो, तुम्हारे ही यहाँ सही।

× × × ×

एक बार एक भिक्षु ने महात्मा बुद्ध के पास आकर सारीपुत्र की शिकायत की—

"महाराज, आपने महात्मा सारीपुत्र को "धम्म सेनापति" बना दिया है, इससे उनको ऐसा गर्व हो गया है कि वे भिक्षुओं पर अत्याचार करते हैं। चाहे जिसे मार बैठते हैं। मुझे भी उन्होंने बिना कारण ही मारा है।"

भगवान् बुद्ध— महात्मा सारीपुत्र किसी को कारण होने पर भी मारें, यह समझ में नहीं आता। बिना कारण मारने की तो बात ही क्या ? परन्तु तुम कहते हो तो हम उनको बुलाकर पूछते हैं ?

महात्मा सारीपुत्र के आने पर भगवान् बुद्ध ने पूछा—

"यह भिक्षु कहता है कि इसको तुमने बिना कारण मारा है। क्या यह सत्य है ?"

सारीपुत्र— भगवान्, ये भिक्षु बड़े विद्वान् और साधन करने वाले हैं। इनको मारने की भला कौन धृष्टता कर सकता है ? इस पर भी मैं तो इनका सेवक हूँ। घर-घर से भिक्षा माँग कर खाने वाला सारीपुत्र क्या ऐसा कर सकता है ? परन्तु अनजान में भी इन भिक्षु को मुझसे कोई कष्ट पहुँचा हो तो मैं उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। हे श्रेष्ठ भिक्षु मुझे क्षमा करो।

भिक्षु— (महात्मा सारीपुत्र के पैरों पर गिरकर) महात्मा तुम ही मुझे क्षमा करें। सत्य ही आप निर्दोष हैं। यह मेरी दुष्टता थी जो ईर्ष्या के वश होकर ऐसा झूठा दोष आप पर लगाया। महात्मा आप बड़े हैं, मुझे क्षमा करें।

भगवान् बुद्ध— सारीपुत्र, इसने कार्य तो दण्ड के योग्य किया था। परन्तु अब इसे क्षमा कर दो ?

महात्मा सारीपुत्र— महाराज, मुझे तो इन पर क्रोध है ही नहीं। मैं इन्हें हृदय से क्षमा करता हूँ भगवान्, सम्भव है कि अनजान में मुझसे इनको या अन्य किसी भिक्षु को कष्ट पहुँचा हो। उसके लिये मैं इनसे व अन्य सब भिक्षुओं से क्षमा माँगता हूँ। यदि मैं कभी कोई अनुचित कार्य करूँ तो भिक्षु लोग मुझे तत्काल बता देने की कृपा करें। इससे मेरा बड़ा उपकार होगा।

× × × ×

एक बार महात्मा सारीपुत्र ने पूर्ण नाम के भिक्षु की बड़ी प्रशंसा सुनी। पूर्ण जंगल में रहते थे। सारीपुत्र वहीं उनके पास गये और कुछ उपदेश करने की प्रार्थना की। महात्मा पूर्ण का उपदेश सुन कर सारीपुत्र गद्गद हो गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये

सारीपुत्र— महात्माजी, धन्य है आपको। मेरे बड़े भाग्य हैं कि आपके दर्शन हुये और आपके अमृत के समान उपदेश सुने।

महात्मा पूर्ण— आप जो प्रशंसा करते हैं वह सब आपकी कृपा है। परन्तु आपने अपना परिचय अभी तक नहीं दिया।

सारीपुत्र— महात्मा, मैं धम्म का एक तुच्छ सेवक हूँ। मुझे लोग सारीपुत्र कहते हैं।

महात्मा पूर्ण— सारीपुत्र ! आप महात्मा सारीपुत्र हैं ! जो गुरु के मुख्य शिष्य हैं। धम्म सेनापति हैं। जो गुरु के समान ही महान् हैं। धन्य है उन भिक्षुओं को जो सदैव आपके साथ रहते हैं। और धन्य है मुझको, जो आज आपके सत्संग का अधिकारी बन सका।

× × × ×

महात्मा सारीपुत्र केवल वही वस्तु लेते थे, जिसे कोई अपनी प्रसन्नता से उन्हें देता था। अपने खाने के लिये कोई चीज किसी से माँग कर नहीं लेते थे। एक बार वे बीमार पड़े। उस समय महात्मा मौग्दाल्यायन उनके पास बैठे थे। उन्होंने पूछा—

"सारीपुत्र ! क्या तुम घर पर भी कभी इस रोग से पीड़ित हुये थे ?"

सारीपुत्र— "अनेक बार।"

मौग्दाल्यायन— "उस समय तुम्हारी माता तुम्हें क्या औषधि देती थी ?"

सारीपुत्र— "शहद और दूध।"

किसी भिक्षु ने यह बात सुन ली, उसने झट शहद और दूध लाकर रख दिया।

सारीपुत्र— "भाई, तुम इनको क्यों लाये ?"

भिक्षु— "महाराज, अभी आपने कहा था कि आपके रोग की यही औषधि है।"

सारीपुत्र— तुमने बड़ी कृपा की। परन्तु मैं तो इसे ले नहीं सकता। मेरा नियम है कि अपनी कही हुई वस्तु को नहीं लेता।

मौग्दाल्यायन— सारीपुत्र, वह नियत तो साधारण अवस्था के लिये है। रोग के लिये नहीं है। इस समय इन वस्तुओं को औषधि के रूप में लेने में कोई हर्ज नहीं है।

सारीपुत्र— नहीं, मेरी आँत निकल ही क्यों न पड़े, परन्तु मैं अपने नियम को तोड़ नहीं सकता साधारण समय में नियम पालन करने में क्या कठिनाई है ? नियम पालन की दृढ़ता की जाँच तो कष्ट के समय में ही हो सकती है।

× × × ×

एक बार महात्मा सारीपुत्र भिक्षा के लिये जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक मछुए के लड़के को देखा जो रास्ते में पड़े हुये चावलों को बीनकर खा रहा था। सारीपुत्र ने उससे पूछा— क्यों बच्चे ! तुम ये रास्ते में पड़े गन्दे चावल क्यों खाते हो ?

लड़का महाराज मेरे पिता बड़े निर्धन हैं। वे मेरे खाने का प्रबन्ध नहीं कर सकते, इससे मैं चावलों को बीन कर खा रहा हूँ।

सारीपुत्र— तुम हमारे साथ चलो। तुमको खाना भी मिलेगा और धर्म का उपदेश भी।

लड़का— महाराज, फिर तो मेरा जन्म सफल हो जायेग।

महात्मा सारीपुत्र उस लड़के को साथ में लिवा लाए। उसे अपने हाथों से स्नान कराया और बुद्धधर्म का उपदेश दिया। जहाँ बड़े-बड़े राजपुत्र इनसे धर्म का उपदेश लेते थे वहाँ इनसे उपदेश लेकर वह मछुए का लड़का भी कुछ समय में अरहंत पदवी पर पहुँच गया।

भगवान् बुद्ध का सबसे अधिक नीरोग शिष्य—वक्कुल

कुछ समालोचकों ने बौद्ध धर्म को सदाचार की स्मृति कहा है। उनका यह कहना इस अर्थ में ठीक है कि बौद्ध धर्म प्रधानतया आत्म-शुद्धि का एक मार्ग है और उसके साधनों की खोज वह जीवन की जाग्रत अवस्थाओं से लेकर अन्त: संज्ञा के सूक्ष्म क्षेत्रों तक बड़े साहस के साथ करता है। कामनाओं के लोक से प्रारम्भ कर वह चित्त को उस लोकोत्तर भूमि में ले डालता है जहाँ राग, द्वेष, मोह से उसका छुटकारा हो जाता है और उस अत्यन्त परिशुद्ध, सर्वमलरहित, विशुद्ध का अनुभव करता है, जिसकी संज्ञा निर्वाण है। इस विशुद्ध का मार्ग ही बौद्ध धर्म है। किन्तु यदि उपर्युक्त कथन का यह अर्थ लिया जाय (जिस अर्थ में ईसाई लेखकों ने इसे प्राय-प्रयुक्त किया है) कि बौद्ध धर्म नैतिक नियमों का एक संग्रह और विश्लेषण मात्र है और उसमें उस रागात्मक तत्त्व का अभाव है जो कर्म प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, तो यह गलत है। बौद्ध धर्म कोरे उपदेशों का संग्रह नहीं है। उसमें ठोस जीवन है। शास्ता का शासन न केवल धर्म (सत्य) है और न केवल विनय। वह धर्म और विनय दोनों (धर्मविनय) है। भगवान् बुद्ध का अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील-समन्वित रूप जिसकी तुलना में उन्नत की निष्पाप कान्ति और पवित्रता भी फीकी है, मनुष्य-हृदय को वह प्रेरणा देता है जिससे मनुष्यत्त्व की उच्चतम भूमि का आसानी से साक्षात्कार किया जा सकता है। यह साधना कहाँ तक जा सकती है, इसका एक चित्र स्थविर वक्कुल के जीवन में देखिए।

वक्कुल स्थविर भगवान् बुद्ध के उन इने-गिने शिष्यों में से थे जिनकी साधना बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उनका कठिन तप और उग्र साधना महाकाश्यप के समान ही थी, किन्तु सारीपुत्र के समान धर्म प्रवचन करने में उनकी रुचि नहीं थी। यही कारण है कि उनके अधिक उपदेश हमें त्रिपिटक में उपलब्ध नहीं होते। वक्कुल एक ऐसे साधक के रूप में चित्रित किये गए हैं जिसका अवधूत व्रतों का पालन बड़ा परिपूर्ण है किन्तु जो दूसरों के लिए उनका उपदेश या अनुशासन नहीं करता। इसीलिए उनके विषय में कहा गया है— **"तयिदं आयुस्मा वक्कुलो धुतो नं धुतवादोति"** अर्थात् यह आयुष्मान वक्कुल स्वयं अवधूत तो है, किन्तु अवधूत-व्रतों के उपदेशक नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि इस विचित्र साधक में लोक-संग्रह का भाव कम था। इन्हें हमारे पौराणिक साहित्य के जड़ भरत के साथ भली प्रकार रखा जा सकता है। सारीपुत्र के जीवन की सी वह परिपूर्णता यहाँ दिखाई नहीं देती जिसमें स्वयं आचरण के साथ दूसरों के लिए उसका उपदेश अर्थात् समाज में व्यापक प्रचार भी उतना ही आवश्यक था। फिर भी स्थविर वक्कुल के जीवन का हमारे लिए आकर्षण है।

एक दिन वक्कुल स्थविर राजगृह के समीप निवास कर रहे हैं। वहाँ उनसे अपने एक पुराने मित्र अचेल (नग्न) काश्यप की भेंट हो जाती है। दोनों में एक-दूसरे की साधना पर संलाप होने लगता है। वक्कुल से उनके अनुभवों पर बातचीत करते हुए अचेल काश्यप उनसे पूछता है—

"मित्र वक्कुल ! आज संन्यासी हुए आपको कितना समय हुआ ?"

"मित्र ! मुझे अस्सी वर्ष हो गये !"

"इन अस्सी वर्षों में मित्र ! आपने कितनी बार मैथुन सेवन किया ?"

मित्र काश्यप ! मुझसे इस तरह प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। मुझसे इस तरह पूछना चाहिये— इस अस्सी वर्ष के समय में तुम्हें कितनी बार विषय-वासना सम्बन्धी ख्याल उत्पन्न हुआ। मित्र ! इन अस्सी वर्षों में मैं एक बार भी अपने अन्दर काम सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता।"

अचेल काश्यप रोमांचित हो उठा। वक्कुल स्थविर ने आगे अपने अनुभवों को बतलाते हुए कहा— "अस्सी वर्ष के समय में, मैं एक बार भी"

"द्वेष सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना अपने चित्त में नहीं जानता।"

"हिंसा-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता ।"

"द्रोह सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता ।"

"गृहस्थों का दिया वस्त्र पहनना नहीं जानता ।"

"कैंची आदि से कतरे वस्त्रों को पहनना नहीं जानता ।"

"सुई से सिये वस्त्र को पहनना नहीं जानता ।"

"सब्रह्मचारियों के वस्त्र बनाना नहीं जानता ।"

"निमन्त्रण खाना नहीं जानता ।"

"गृहस्थ के घर में बैठना कैसा होता है, नहीं जानता ।"

"गृहस्थ के घर में बैठकर भोजन करना नहीं जानता ।"

"स्त्रियों के आकार-प्रकार को ख्याल में लाना नहीं जानता ।"

"स्त्रियों को चार पद की गाथा तक उपदेश करना नहीं जानता ।"

"भिक्षुणियों को भी कभी धर्म उपदेश किया हो, यह भी नहीं जानता ।"

"किसी को भी कभी प्रव्रज्या दी हो, नहीं जानता ।"

"स्नानगृह में नहाना कैसा होता है, नहीं जानता ।"

"लेप से नहाना नहीं जानता ।"

"सब्रह्मचारियों (गुरुभाइयों) से देह मलवाना नहीं जानता ।"

"क्षण भर के लिए भी किसी से देह मलवाई हो, नहीं जानता ।"

"क्षण भर के लिए भी कोई बीमारी उत्पन्न हुई हो, नहीं जानता ।"

"हर्र के टुकड़े के बराबर भी कभी औषधि खाना नहीं जानता ।"

"खाट बिछाकर सोना नहीं जानता ।"

"शैय्या पर लेटना नहीं जानता ।"

"वर्षा में भी गाँव के भीतर रहना नहीं जानता ।"

इस प्रकार की लोकोत्तर साधना स्थविर वक्कुल की थी । बुद्ध-उपदेश सुनने के सातवें दिन ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया । जैसा कि उन्होंने कहा भी है— "सप्ताह भर ही मैंने चित्त-मन-युक्त हो राष्ट्र का अन्न खाया । आठवें दिन शुद्ध अर्हत्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ ।" आश्चर्य नहीं कि अपने स्वस्थ, खिलते हुए चेहरे वाले भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए, भगवान् ने एक दिन उद्घोषित किया, "भिक्षुओ ! मेरे स्वस्थ, नीरोग शिष्य भिक्षुओं में यही सबसे आगे है, यही वक्कुल ।" १६० वर्ष की आयु में स्थविर वक्कुल ने शरीर छोड़ा ।

महान् धर्म प्रचारक—कुमार जीव

बिहार प्रान्त में उत्पन्न हुए कुमार जीव असाधारण प्रतिभावान थे । वह पहले नालन्दा विश्वविद्यालय गये । पीछे तक्षशिला चले गये । वहाँ पढ़ते-पढ़ाते रहे ।

उन्होंने निश्चय किया कि ईश्वर प्रदत्त इस विशेष प्रतिभा का प्रयोग धर्म प्रचार में करना चाहिए और संन्यास ले लिया । चीनी भाषा पढ़ी और चीन देश में धर्म प्रचार के लिए चले गये । वहाँ उन्होंने समूचे क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया । जीवन भर वहीं रहे ।

कुमार जीव अपने समय के असाधारण मेधावी थे । उन्होंने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया और उसका प्रचार देश-देशान्तरों में करने का व्रत लेकर इसी प्रयास में जुट गये ।

तक्षशिला में रहकर उन्होंने मध्य एशिया की सभी प्रमुख भाषाओं का गहन अध्ययन किया । इसके उपरान्त उन्होंने चीनी भाषाई क्षेत्रों में अपना कार्यक्षेत्र बनाया और उसी में भ्रमण करते हुए प्रभावशाली लोगों का सहयोग अर्जित करते हुए लक्ष्य पूर्ति में जुटे रहे । उन्होंने चीनी एवं उसकी सहायक भाषाओं में अनेकों बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया और उस क्षेत्र के समस्त प्रमुख पुस्तकालयों में उन्हें पहुँचाया । लम्बे जीवन में वे एकनिष्ठ भाव से निर्धारित लक्ष्य में जुटे रहे और इसके लिए उन्होंने अनेकानेक जोखिम सहे तथा दुस्साहस जैसे कदम उठाये ।

यदि संक्षेप में यह कहा जाय कि देश से विदेश जाकर जिन विद्वानों ने भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार ही नहीं किया बल्कि स्थापना की, उनमें कुमार जीव का नाम सबसे आगे है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

भारत के सम्बन्ध चीन से बहुत प्राचीनकाल से चले आ रहे थे । यों तो लंका, बर्मा, जापान, सिंगापुर, हिन्देशिया, मलाया आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया किन्तु चीन एक ऐसा देश रहा है जिसमें केवल अनुयायी के रूप में ही बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया गया बल्कि उन दिनों वह एक प्रकार से बौद्ध धर्म का प्रामाणिक केन्द्र बन गया था ।

इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म के जागरणपूर्ण आन्दोलन का प्रमुख श्रेय भारतीय विद्वानों को ही है और उनमें भी कुमार जीव का स्थान सर्वोपरि है ।

कुमार जीव का जन्म ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था । इनके पिता का नाम कुमारायण और माता का नाम देवी था । कुमारायण एक रियासत के दीवान पद पर कार्य करते थे । दीवान पद पर कार्य करते हुए उन्होंने शीघ्र ही धन के साथ यश भी प्राप्त कर लिया । सब कुछ होने पर भी कुमारायण को अपने जीवन-क्रम से सन्तोष न था । दीवान के पद पर वे अपनी योग्यता एवं विद्वता का समुचित उपयोग न कर पाते थे । वे अपने वैयक्तिक सुख की अपेक्षा दूसरों को सुखी बनाने में अधिक प्रसन्नता एवं सन्तोष अनुभव करते थे । पर दीवान के एक प्रतिबन्धित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए वे जन-सेवा का कोई काम न कर पाते थे । उन्हें अपने स्वामी राजा की इच्छानुसार जनता से व्यवहार करना पड़ता था जो कि प्रायः शोषणमूलक ही होता था ।

कुमार जीव के विद्वान् पिता कुमारायण की आत्मा अधिक समय तक यह स्वीकार न कर सकी वे इसी प्रकार दासता करते हुए दुर्लभ मानव जीवन को समाप्त कर दें । अतएव उन्होंने जन-साधारण में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए अन्तःप्रेरणा से दीवानी का पद छोड़ दिया ।

नौकरी छोड़कर कुमारायण यात्रा साधनों के अभाव का कष्ट सहते हुए भी अनेक पर्वत तथा वनों को पार करते हुए मध्य-एशिया में तारिम नदी के तट पर बसे, कूची नगर चले गये ।

फैलाने को तो ज्ञान का आलोक अपने देश के भी अनेक विस्मृत कोनों में भी फैलाया जा सकता था किन्तु कुमारायण ने विदेश में ही अपना ज्ञान फैलाना इसलिए ठीक समझा कि उस समय भारत में विद्वानों की कमी नहीं थी । अनेक लोग देश की सेवा करने में लगे हुये थे । कुमारायण ने विदेश में भारत के सन्देश ले जाकर देश की अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति बढ़ाना अधिक श्रेयस्कर समझा ।

कूची में कुमारायण एक बौद्ध विहार में रहकर प्रचार करने लगे । धीरे-धीरे उनकी कीर्ति इतनी फैल गई कि कूची के राजा ने उन्हें अनुरोधपूर्वक अपना राजगुरु बना लिया । कुछ समय बाद कूची राजवंश की 'देवी' नामक एक कन्या से उनका विवाह हो गया, जिसके गर्भ से उनके विश्व-विख्यात पुत्र कुमार जीव का जन्म हुआ । कुमार जीव के जन्म के कुछ समय बाद ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और पति का प्रचार कार्य पूरा करने के लिए कुमार जीव की माता बौद्ध भिक्षुणी बन गईं ।

परमात्मा जिसे जीवन में कोई विशेष अभ्युदय अनुग्रह करना चाहता है उसकी बहुत-सी सुविधाओं को समाप्त कर दिया करता है । इस प्रकार जीवन में कठिनाइयों के आने से मनुष्य में कर्मठता का गुण जाग उठता है, वह आलस्य एवं प्रमाद से दूर रह कर परिश्रम करता और भगवद् भय से अधिक से अधिक ईमानदार तथा सत्य-परायण रहने का प्रयत्न करता है । असुविधाओं तथा कठिनाइयों में पड़ जाने से मनुष्य का सारा जीवन परिश्रम एवं पुरुषार्थ पर निर्भर हो जाता है, क्योंकि यदि वह ऐसा न करे तो जीवित नहीं रह सकता । अधिकाधिक परिश्रम का स्वभाव बन जाने से उसमें कर्मवीरता का वह गुण आ जाता है, उन्नति और सफलतायें जिसकी अनुगामिनी छाया में ही होती हैं ।

इसके विपरीत जो अधिक सुविधा एवं सम्पन्नता की परिस्थिति में रहता है वह स्वभावतः सुकुमार तथा विलासी बन जाता है, प्रमाद और आलस्य उसके मानसिक मित्र बन जाते हैं, जिससे निकम्मा होकर सामान्य कामों के योग्य भी नहीं रहता फिर ऊँचे और बड़े कामों की बात ही क्या ?

इसके साथ ही जो व्यक्ति असुविधा एवं कठिनाई के स्वर्ण अवसर को भाग्य का अभिशाप मानकर रोते-झींकते हुए निराशा अथवा निरुत्साह के वशीभूत हो जाते हैं, उनका जीवन तो निकम्मे आलसियों से भी गया-गुजरा हो जाता है और वह न केवल अपने पर ही बल्कि समाज पर एक भयानक भार बन कर जीवन काटते हैं । मनुष्यों को चाहिये कि वह कठिनाइयों को भगवान् की कृपा और अभ्युदय का सन्देश समझ कर अपनायें और उनसे प्रेरणा लेकर जीवन को उन्नत एवं उदार बनायें ।

बौद्ध भिक्षुणी हो जाने पर भी कुमारजीव की बुद्धिमती माता यह न भूलीं कि उनके सम्मुख कुमार जीव है, जिसे उनको हर प्रकार से योग्य बनाकर समाज एवं संसार की सेवा के लिए समर्पित कर देना है । निदान पुत्र की शिक्षा के लिए कुमार जीव की माता उन्हें काश्मीर ले गईं । काश्मीर उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था ।

काश्मीर पहुँच कर 'देवी' ने अपने पुत्र कुमार जीव को बन्धुदत्त नामक एक बहुत बड़े काश्मीरी विद्वान् की संरक्षता में विद्याध्ययन के लिए छोड़ दिया । बन्धुदत्त जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही शिष्य बनाने में कृपण थे । उन्होंने अपने जीवन में बहुत ही कम शिष्य बनाये और जिनको बनाया उनको फिर पराकाष्ठा का पण्डित ही बना दिया । इसलिये वे शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्तियों की कड़ी परीक्षा लेकर पहले परख लिया करते थे कि इसमें बोये हुए विद्या के बीज अंकुरित भी होंगे अथवा नहीं । निरर्थक एवं लठ शिष्यों के साथ सिर मारने के लिये फिजूल समय उनके पास न था ।

निदान अपने नियमानुसार उन्होंने बालक कुमार जीव को भी नहीं छोड़ा और उसके चरित्र, गुण, कर्म, स्वभाव में जमे बीजांकुरों को कड़ाई से जाँचा । जब बालक गुरु की कसौटी पर खरा उतरा तो उसकी शिक्षा दीक्षा में पूरी तत्परता दिखाने में कोई कसर न रखी ।

कठोर गुरु जब सुयोग्यताओं से प्रसन्न होता है तब शिष्य को पढ़ाता क्या, वास्तव में ज्ञानालोक के रूप में स्वयं उसकी आत्मा में बैठ जाता है । पितृहीन बालक कुमार जीव के भाग्य खुल गये । कुछ ही समय में बन्धुदत्त ने उसको संस्कृत भाषा तथा बौद्ध दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित बना दिया ।

काश्मीर से वापस जाकर कुमार जीव काशगर पहुँचे और बुद्धियश नामक एक विद्वान् के साथ मिलकर बौद्ध दर्शन को पुनः दोहराया और ज्ञान को पूर्णरूपेण असंदिग्ध बनाकर अपने जन्म स्थान कूची चले आये । यद्यपि कश्मीर में ही कुमार जीव के पांडित्य की ख्याति इतनी फैल गई थी कि तुर्किस्तान से आ-आकर बहुत से लोग उनके शिष्य बनकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने लगे थे । किन्तु वहाँ से चले आने में उनके दो उद्देश्य थे । एक तो यह कि कश्मीर में गुरु के सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा नहीं कराना चाहते थे और दूसरे वे अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए कूची जा कर अपने पिता का ध्येय पूरा करना चाहते थे ।

किन्तु कूची में वे अपना उद्देश्य प्रारम्भ भी न कर पाये थे कि कूची नरेश और चीन सम्राट में लड़ाई हो गई जिसमें कूची का पतन हो गया । फलस्वरूप कूची का राज्य चीन साम्राज्य में मिला लिया गया । चीनी जिन बहुत-से लोगों को बन्दी बनाकर ले गये उनमें कुमार जीव भी थे । किन्तु उनके प्रकांड पांडित्य तथा चीन में फैली हुई उनकी कीर्ति ने उन्हें प्राण दण्ड से बचा लिया । किन्तु फिर भी उन्हें लिहांग-चो प्रदेश में गवर्नर की देखरेख में अठारह वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया ।

कुछ समय बाद जब उनकी लोकप्रियता के दबाव से उन से प्रतिबन्ध उठा लिया गया तब उन्होंने अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया । कुमार जीव की नई व्याख्याओं और नए दृष्टिकोण से बौद्धधर्म

में एक नवीनता आ गई। अभी तक बौद्धधर्म के जिन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह न तो सरल था, न सुन्दर और समीचीन। निदान कुमार जीव ने अपने हाथ में बौद्ध ग्रन्थों का ठीक-ठीक अनुवाद करने का काम अपने हाथ में लिया। इसे पूरा करने के लिये उन्होंने चीनी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

उन्होंने महायान की उपशाखा 'सर्वास्तिवाद' के लगभग सौ ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवादित किये, जिनमें से 'विनय-पिटक', 'योगाचार भूमिशास्त्र', 'ब्रह्म जाल सूत्र', 'महाप्रज्ञा-पारिमिता सूत्र', 'देशभूमि', 'विभाषाशास्त्र', 'सूत्रालंकारशास्त्र' विशेष महत्त्व के है। इसमें से 'महाप्रज्ञा-पारिमिता सूत्र' का अनुवाद तो उन्होंने तीन वर्ष के अविरत परिश्रम के साथ किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने चीन में प्रचलित धर्म 'ताओ' की बुद्ध दर्शन के आलोक में व्याख्या की।

इतना अनुवाद कार्य करने के साथ ही उन्होंने भाषणों, प्रवचनों तथा विचार-विनिमय के द्वारा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का धुआंधार प्रचार किया। उनके भाषण इतने ज्ञानपूर्ण एवं प्रभावशाली होते थे कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें नत-मस्तक हो जाया करते थे। कुमार जीव के अनेक शिष्य, सहयोगी तथा सहायक विद्वानों में से विमलाक्ष तथा पुण्यत्रात के नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन दोनों ने अनुवाद कार्य में कुमारजीव को बहुत सहयोग दिया था।

कुमारजीव ने चीन में भारतीय बौद्ध धर्म की शाखा महायान के सिद्धान्तों का प्रचार करने में अपना पूरा जीवन लगा दिया। जीवन में एक दिन के लिये बैठ कर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के विषय में नहीं सोचा। कूची की पराजय के समय गिरफ्तार होने पर उन्होंने न किसी प्रकार का भय माना और न शंका की। उन्हें अपनी उस विद्या पर अखण्ड विश्वास था जिसे कि उन्होंने जीवन के सारे सुख छोड़कर प्राप्त किया था। वे जानते थे कि उनकी विशाल विद्या, किसी भी दशा में मित्र की तरह उनकी सहायता करेगी और हुआ भी यही। बंदी की दशा में भी उनका ज्ञान-प्रकाश छिटक-छिटक बाहर फैलने लगा जिसने चीन के निवासियों को इस सीमा तक आकर्षित किया कि सरकार को उन पर लगे प्रतिबन्धों को ढीला करना पड़ा।

यदि कुमारजीव के पूरे जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो पता चलेगा कि उनका सम्पूर्ण जीवन काम का दूसरा नाम था। उनका कर्त्तव्य था तो अपना काम, उनका सुख था तो अपना कर्त्तव्य, उनका मनोरंजन था तो काम करते रहना और उनका धर्म था तो अपना कर्त्तव्य कर्म। वे यह भी न जानते थे कि बिना किसी काम के बेकार कैसे बैठा जाता है, यदि कुमार जीव जैसे कर्त्तव्यवानों के नाम के साथ क्रियाहीनता, आलस्य, प्रमाद, गपशप, हास-विलास, घूमा-फिरी और टल्लेनबीसी आदि शब्द एक पंक्ति में रखे जायें तो यह शब्द इतने विजातीय विदित होंगे कि बिना हटाये मन को चैन नहीं मिल सकता। यह निर्जीव शब्द उनके नामों के साथ स्वयं झेंपते से दीखेंगे। आज तक भी समय एवं जीवनी शक्ति को निरर्थक के कार्यों में व्यय करने वाला कोई भी व्यक्ति संसार में कोई ध्यानाकर्षक काम नहीं कर सका।

जिन्होंने कर्त्तव्य का आनन्द परख लिया है, परिश्रम का स्वाद चख लिया उन्हें काम के सिवाय न तो किसी में आनन्द आ सकता है और न आराम मिल सकता है।

बौद्ध धर्म के माध्यम से विदेश में भारतीयता का गौरव बढ़ाने वाले कुमारजीव का जीवन बहुत ही सादा तथा सरल था। उनके उपदेशों में एक वाक्य भावनात्मक रूप से अवश्य रमा रहता था कि ''मेरे काम को अपनाओ लेकिन मेरे जीवन को यथावत आदर्श बनाकर अनुकरण मत करो, कमल कीचड़ में पैदा होता है। कमल को प्यार करो कीचड़ को नहीं।''

निस्पृह कुमारजीव ने संसार को बहुत कुछ दिया किन्तु उन्होंने अपने बारे में कहीं कुछ भी नहीं लिखा। उनका बहुत कुछ परिचय किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। क्योंकि अपने विषय में बहुत कुछ कहने को वे अहंकार का एक स्वरूप मानते थे। उनका कहना था कि अच्छे कार्यों द्वारा संसार की सेवा करना तो मनुष्य का सामान्य कर्त्तव्य है फिर उसके लिए परिचय अथवा प्रशस्ति की क्या आवश्यकता? संसार को लाभ तो हमारे विचारों से होगा न कि हमारे व्यक्तिगत परिचय से। अपने नाम का लोभ लेकर जो काम किया करते हैं वे वास्तव में स्वार्थी होते है। परमार्थी नहीं।

धर्म राज्य के प्रसारकर्त्ता—सम्राट अशोक

सम्राट अशोक को कलिंग का भयानक युद्ध लड़ना पड़ा। विजय उन्हीं की हुई पर उसमें जो नरसंहार हुआ, सहस्रों बालको और विधवाओं को जो व्यथा-वेदनाएँ सहनी पड़ीं उनसे सम्राट की अन्तरात्मा रो पड़ी। उन्होंने सोचा जितना श्रम, जितना धन, जितने साधन, जितना पुरुषार्थ, अहंकार और स्वार्थ की पूर्ति के लिये आरम्भ किए गए इन निकृष्ट कार्यों में व्यय किया जाता है, उतना यदि रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सके तो उससे मानवीय सुख-शान्ति, प्रगति और समृद्धि में कितना बड़ा योग मिल सकता है?

वास्तविकता भरे विचार अशोक की श्रद्धा के रूप में परिणत होते गये और अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि उन्हें जो शक्ति और स्थिति मिली है, उसे व्यर्थ कामों में नहीं, स्वार्थपूर्ण कार्यों में भी नहीं, केवल विश्व-मानव की सेवा में ही प्रयुक्त करेंगे। परमात्मा का दिया हुआ वैभव उन्हीं के चरणों में समर्पित कर देना, सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। इसी से वह अनुदान चिरस्थायी हो सकता है।

राज्य प्राप्त होने के नौवें वर्ष में उन्होंने बौद्ध धर्म की महत्ता को समझा और उसी के प्रसार में अपने सभी साधन प्रयुक्त करने आरम्भ कर दिये। यों लोग अपने धन, वैभव का एक छोटा अंश दान देकर यश लूट लेते हैं और पुण्य कमा लेने का सन्तोष भी कर लेते हैं वस्तुतः वह विडम्बना मात्र ही होती है। जिस कार्य को मनुष्य श्रेष्ठ समझे उसके लिए सर्वतोभावेन लगे, निर्वाह मात्र को अपने लिए व्यवस्था

करके शेष को अपने प्रिय लक्ष्य के लिए समर्पित करे तो ही किसी को आस्थावान कहा जा सकता है । संसार में जितने आस्थावान् महापुरुष हुए हैं उन्होंने अपने प्रिय लक्ष्य के लिए सर्वस्व अर्पण करके ही सन्तोष प्राप्त किया है । सच्चे आदर्शवादी की तरह अशोक के सामने भी वही मार्ग शेष था ।

जिस धर्म के प्रति अशोक की आस्था थी, वह भले ही बौद्ध धर्म के रूप में अशोक के सामने आया हो पर था वस्तुत: मानव धर्म ही । उनके शिला-लेखों में धर्म की विवेचना इस प्रकार मिलती है— अपासिनये (सदाचरण), बहुकयाने (बहुजन कल्याण), सचे (सत्य), सोचये (पवित्रता), मादवे (मृदुता), अनारंभो प्राणानं (प्राणियों को पीड़ा न देना), अविहिंसा भूतानं (जीवमात्र के साथ अहिंसा का व्यवहार), मातरि पितरि सुश्रूषा (माता पिता की सेवा) गुरून अपचिति (गुरुजनों का समादर), मित संस्तुन नातिकानं ब्रह्मण समणानं दानं सम्पटिपति (मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण और साधुओं की सहायता), अपव्ययता (कम खर्च करना) तथा अपमाड़ता (संग्रह न करना) इन्हीं सिद्धान्तों को बौद्ध धर्म के अवतरण के पीछे अशोक ने देखा और उनका आरम्भ कर दिया ।

यों सभी धर्मों के मूल में थोड़े हेर-फेर के साथ यही आदर्श सन्निहित हैं । पर मानव जाति का दुर्भाग्य ही कहिए कि बाह्य कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों को ही लोग धर्म समझते रहते हैं और उसमें भिन्नता देखकर परस्पर लड़ने-झगड़ने लगते हैं । यदि बाह्य आवरणों को देश-काल-पात्र की सुविधा व्यवस्था के रूप में देखा जाय और उन्हें गौण समझा जाय तो सभी धर्मों के मूल में एक ही तत्त्व सदाचार अवस्थित मिलेगा । वस्तुत: सदाचार का दूसरा नाम ही धर्म है । अशोक इसी धर्म के प्रति आस्थावान् थे और उसी का उन्होंने प्रसार किया ।

अशोक ने अपने राज्य में धर्म भावनाओं को बढ़ाने, सदाचारी जीवन बिताने की प्रजाजनों को प्रबल प्रेरणा की और अधार्मिक अवांछनीय तत्त्वों के उन्मूलन में तनिक भी शिथिलता न दिखाई । इतिहास मर्मज्ञ एच. जी. वेल्स ने लिखा है— ''संसार के सर्वश्रेष्ठ सम्राट तथा इनके २८ वर्ष के राज्यकाल को मानव-जाति के क्लेशपूर्ण इतिहास का सर्वोत्तम समय कहा जा सकता है ।'' उन्होंने मनुष्यों के लिए ही नहीं पशु-पक्षियों के लिए भी न्याय का अधिकार पाने की व्यवस्था की ।

कालसी (देहरादून), चितालदुग (मैसूर), वेर्रगुदी (मद्रास), मान मेहरा (हजारा), शहबाजगढ़ी (पेशावर), जूनागढ़ (सौराष्ट्र), धौली (पुरी), ज्यौगडा (गंजाम) आदि स्थानों में जो शिलालेख मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि अशोक ने धर्म और सदाचार के प्रति मानव प्रवृत्तियों को मोड़ने के लिए भारत ही नहीं संसार भर में विद्वान् धर्म प्रचारक भेजे, उनका व्यय-भार वहन किया, धर्म-ग्रन्थ लिखाये, पुस्तकालय स्थापित किये, विद्यालय खोले, सम्मेलन बुलाये और वे सब काम बड़ी रुचि-पूर्वक किए जिनसे धर्म बुद्धि अपनाने की जन-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले । राज्य-कोष का विपुल धन उन्होंने इन्हीं कार्यक्रमों में लगाया ।

सिकन्दर सरीखे अनेकों राजा और कारूँ जैसे धन-कुबेर अनेकों इस पृथ्वी पर हो चुके हैं पर लोभवश वे अपने प्राप्त साधनों को स्वार्थ की संकीर्ण परिधि में ही बाँधे रहे । फलस्वरूप न अपना हित कर सके न दूसरों का । अशोक ने परमार्थ बुद्धि का आश्रय लेकर अपने शासन के केवल २८ वर्षों में वह कार्य कर दिखाया जिससे अनन्त काल तक उनकी धर्मबुद्धि को सराहा जाता रहेगा ।

अशोक को यात्राओं का शौक था । प्रथम आठ वर्षों में ये विनोद यात्राएँ, विलासिता, हास-परिहास, जिह्वा स्वाद, मद्य माँस, नृत्य वाद्य जादू कौतुक, आखेट आदि के कार्यक्रमों के साथ चलती थीं । धर्म दीक्षित सम्राट ने अब इन यात्राओं को धर्म प्रचार के निमित्त की जाने वाली तीर्थयात्राओं में बदल दिया । वे बोधिवृक्ष दर्शन के लिए गये । साँची स्तूप के पूर्व द्वार पर रानी तिष्यरक्षिता समेत अशोक की बोधियात्रा का उल्लेख अंकित है । उन्होंने अपने सभी प्रधान शासकों को आदेश दिया कि अपने क्षेत्रों में दौरा करके एक धर्म प्रचारक की तरह उपदेश दिया करें तथा धर्म वृद्धि एवं अधर्म उन्मूलन के लिए आवश्यकतानुसार स्थानीय व्यवस्था किया करें । धर्म सेवकों की निर्वाह व्यवस्था पर पूरा ध्यान दिये जाने को वे राज्य कर्त्तव्य मानते थे, अतएव उन दिनों उच्चकोटि के धर्म सेवी भारत में मौजूद थे और वे अपने प्रकाश को एशिया के विभिन्न देशों तक फैलाने में लगे हुए थे ।

उस काल की उपलब्ध जानकारी से विदित होता है कि अशोक ने माँसाहार को निषिद्ध ठहराकर प्राणिमात्र की हिंसा बन्द कर दी थी । पशु एवं मनुष्यों के लिए चिकित्सालय खुलवाये । रास्तों के सहारे वृक्ष लगवाए, कुएँ खुदवाए, जेलों की दशा सुधारी, न्याय सरलता-पूर्वक मिल सके ऐसी व्यवस्था की । प्रजाजनों में परस्पर सद्‌भाव पैदा करने के लिए उन्होंने निरन्तर प्रयत्न किया ।

अशोक के धर्म प्रसार से प्रभावित होकर भारत और लंका में ही नहीं मिश्र, सीरिया, मेसीडोनिया, ऐपिरस, किरीन, गान्धार, तिब्बत, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, इन्डोनेशिया, जापान, चीन, रूस, ईरान आदि देशों की जनता ने भी उत्साहपूर्वक बौद्ध धर्म स्वीकार किया । प्रत्येक देश में एक मुख्य प्रचारक, चार उपप्रचारक और उनके साथ तीस-तीस धर्म प्रचारकों के दल भेजे गये थे । महेन्द्र, संघमित्रा, मज्झिम, कस्सपगोत्र, डुण्डुमिस्सर आदि-धर्म प्रचारकों के अवशेष पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम को सोनी के समीप मिले थे, साथ में जो अंकन उपलब्ध हुए उनसे विदित होता है कि वे विदेशों में धर्म प्रचार करते थे ।

कितने ही चक्रवर्ती शासकों ने अपने राज्य संसार में दूर-दूर तक फैलाने में सफलता प्राप्त की पर अशोक की धर्मराज्य विस्तार योजना सबसे अनुपम थी । राजाओं के राज्य उनके मरते ही बिखर गये पर अशोक द्वारा स्थापित किया हुआ धर्मराज्य आज भी बौद्ध धर्म के रूप में संसार में विद्यमान है ।

सम्राट अशोक सच्चे अर्थों में प्रजापालक थे

एक बार महाराजा अशोक के राज्य में अकाल पड़ा । जनता भूख तथा प्यास से त्रस्त हो उठी । राजा ने तत्काल राज्य में अन्न

के भण्डार खुलवा दिये । सुबह से लेने वालों का ताँता लगता और शाम तक न टूटता ।

एक दिन सन्ध्या हो गई । जब सब लेने वाले निबट गये तो एक कृशकाय बूढ़ा उठा और उसने अन्न माँगा, बाँटने वाले भी थक चुके थे अतः उन्होंने उसे डाँटकर कहा "कल आना आज तो अब खैरात बन्द हो गई ।"

तभी एक हृष्ट-पुष्ट शरीर के नवयुवक जैसा व्यक्ति आया और बाँटने वालों से कहा— "बेचारा बूढ़ा है । मैं देख रहा हूँ बड़ी देर से बैठा है यह । शरीर से दुर्बल होने के कारण सबसे पीछे रह गया है । इसे अन्न दे दो ।"

उसकी वाणी में कुछ ऐसा प्रभाव था कि बाँटने वालों ने उसे अन्न दे दिया । उस नवयुवक की सहायता से उसने गठरी बाँध ली । अब उठे कैसे ? तब वही युवक बोला "लाओ, मैं ही पहुँचाये देता हूँ ।" और गठरी उठाकर पीछे-पीछे चलने लगा ।

बूढ़े का घर थोड़ी दूर पर रह गया था । तभी एक सैनिक टुकड़ी उधर से गुजरी । टुकड़ी के नायक ने घोड़े पर से उतर कर गठरी ले जाने वाले को फौजी अभिवादन किया । उस व्यक्ति ने संकेत से आगे कुछ बोलने को मना कर दिया । फिर भी बूढ़े की समझ में कुछ-कुछ आ गया । वह वहीं खड़ा हो गया और कहने लगा "आप कौन हैं ? सच-सच बताइये ।"

यह व्यक्ति बोला "मैं एक नौजवान हूँ और तुम वृद्ध हो—दुर्बल हो । बस इससे अधिक परिचय व्यर्थ है । चलो बताओ तुम्हारा घर किधर है ?" पर अब तक बूढ़ा पूरी तरह पहचान चुका था । वह पैरों में गिर गया और क्षमा माँगते हुये बड़ी मुश्किल से बोला "प्रजापालक ! आप सच्चे अर्थों में प्रजापालक हैं ।"

उत्तराधिकार में जिन्होंने राज्य नहीं धर्म माँगा महाभिक्षु महेन्द्र

साम्राज्य विस्तार के लिए किए गये कलिंग आक्रमण में सम्राट अशोक की सेनाओं ने एक लाख लोगों का वध कर दिया । रणक्षेत्र लाशों से पट गया । घायलों का करुण चीत्कार सुनकर अशोक बाहर आया और देखी अपनी एक छोटी-सी इच्छा पूर्ति के लिए यह विनाश लीला ।

हृदय द्रवीभूत हो उठा । वह पश्चाताप की अग्नि में झुलसने लगा । उसका हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा और वह विचार करने लगा कि मनुष्यों को मारकर अधिकार और राज्य लिप्सा के लिए किसी जाति या भू-भाग को जीतना सच्ची विजय नहीं है । विजय तो आत्मा की वस्तु है और वह आत्मा के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है ।

अशोक ने तत्क्षण राज्य की सीमाएँ बढ़ाने के लिए शस्त्रों का प्रयोग न करने का निश्चय कर लिया । उन्हें लोक-सेवा और भूतदया के सिद्धान्तों पर आधारित क्रियाकलाप ही विजय का वास्तविक मार्ग दिखाई पड़ा । अशोक ने संकल्प लिया कि इन्हीं साधनों को अपनाकर वह अपना प्राप्तव्य पायेंगे ।

दिग्विजय धर्म विजय में परिणत हो गई । भेरी-घोष धर्म-घोष में बदल गया । सम्राट अशोक ने राज-भवन की समग्र सम्पदा लोक-कल्याण में लगा दी और शक्ति को नियोजित कर दिया धर्म प्रचार में, विद्वानों तथा सन्त-महापुरुषों ने भी अशोक को देवताओं का प्रिय और प्रियदर्शी कहकर सम्बोधित किया ।

आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न सम्राट अशोक के सात्विक जीवन का प्रभाव उनके पुत्र महेन्द्र पर भी पड़ा । राज-दरबार में भिक्षुओं का आगमन, उनकी निस्पृह दृष्टि और गहन गम्भीर वाणी ने राजपुत्र महेन्द्र को अत्यधिक प्रभावित किया । आखिर एक दिन पूछ ही बैठा पीत वस्त्र धारण किए एक भिक्षु के सम्बन्ध में जो राजा से मन्त्रणा कर रहा था ।

'पिताजी ! आपका परिचय ? '

' बेटा ! ये हैं पूज्य महास्थविर मोग्गालि पुत्र पुत्तत्तिस । अपने राज्य की प्रजा को आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए इन्होंने समूचा जीवन संघ को समर्पित कर दिया है ।'

'संघ क्या होता है देव !'— महेन्द्र ने फिर प्रश्न किया ।

'तात् ! धर्म प्रचारक बनने के लिये सभा । जो लोग निस्सार लौकिक आकर्षण और ऐषणाओं का त्याग कर प्रव्रज्या लेते हैं, उनके समूह का नाम संघ है ।'

इस बात का उत्तर दिया महास्थविर ने ।

मैं भी धर्म का सगा बनना चाहता हूँ । देव ! क्या मुझे भी प्रव्रज्या मिलेगी ?— महेन्द्र ने बड़े उत्साह के साथ कहा ।

'नहीं बेटा ! अभी लोकोपभोग के योग्य हो तुम । खूब खाओ, पीओ और मौज करो ।'— महात्यागी अशोक को भी पुत्र मोह तो था ही । उसने मना किया । परन्तु पुत्र ने अपने पिता से भी एक कदम आगे बढ़कर यह मोह तोड़ दिया ।

राजपुत्र बोले— 'सांसारिक सुख की निस्सारिता को समझकर कौन बुद्धिमान उन्हें भोग कर अपना समय नष्ट करना चाहेगा ?'.

सोलह वर्ष के किशोर ने इस उत्तर से महास्थविर सहित अशोक और माता देवी को हतप्रभ कर दिया । महास्थविर बोले— 'राजन ! लगता है महेन्द्र के रूप में तथागत का ही अवतरण हुआ है । शायद यही आगे चलकर लुप्त हो रही बुद्ध वाणी का जयघोष करेगा ।

अपने विचार का समर्थन पाकर महेन्द्र ने एक बार पुनः उत्साह के साथ कहा— 'देव ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आज ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ । प्रव्रजित होने से मेरा और आपका दोनों का ही कल्याण है ।'

'ठीक है बेटा ! महाभिक्षु जैसा परामर्श दें ।' और महाभिक्षु ने निर्णय दिया— "प्रव्रजित होने के लिए किसी भी व्यक्ति को बीस वर्ष से कम का नहीं होना चाहिए ।" तब तक घर में ही माता-पिता के सान्निध्य में रहकर आत्म साधना का निर्देश हुआ ।

चार वर्ष तक राजपुत्र महेन्द्र ने माता-पिता के साथ रहकर जीवन को प्रव्रज्या के अनुरूप बनाया । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह

और ब्रह्मचर्य की नियमपूर्वक साधना, साथ-साथ मद्य, माँस, कोमल शैया, नृत्य-गायन, सुगन्धित द्रव्य, कामिनी-काञ्चन और असमय भोजन के त्याग की प्रव्रज्योचित साधना का अनुष्ठान भी निष्ठापूर्वक किया ।

वय की बीसवीं-इक्कीसवीं सन्धि वेला में महास्थविर ने राजपुत्र महेन्द्र को प्रव्रज्या दी । साथ में महेन्द्र की कनिष्ठ भगिनी भी तथागत की अनुचरी बन गई और दोनों भाई-बहिन भारत भर का भ्रमण करते रहे । जब उन्होंने तैंतीस वर्ष की जीवन वेला पा कर ली तो एक दिन महास्थविर ने दोनों भाई-बहिनों को आमन्त्रित कर कहा— 'इस समय सिंहल (अब लंका) वासियों को भगवान् बुद्ध की वाणी विस्मृत होती जा रही है, उन्हें अनुस्मरण कराने के लिए तुम दोनों को ही जाना होगा ।'

सद्ज्ञान के प्रचार-प्रसार की जहाँ भी आवश्यकता हो लोक-सेवा के लिए व्रतनिष्ठ जन सदैव तैयार रहते हैं । महेन्द्र और संघमित्रा ने तुरन्त सहमति दे दी । जल मार्ग की बाधाओं तथा सिंहल नरेश की नीतियों से उन्हें अवगत करा दिया गया ।

महाभिक्षु की तथा उपस्थित स्थविरों की वन्दना कर महेन्द्र और संघमित्रा सिंहल अभियान पर चल दिये । उनके पिता ने सांस्कृतिक दिग्विजय का जो स्वप्न देखा था उसी दिशा में महेन्द्र के चरण बढ़े थे । धर्म विजय के लिए तत्पर अशोक को इस अवसर पर आमन्त्रित किया गया । अपने पुत्र को देखे गये स्वप्न साकार करने के लिए उत्साहपूर्वक जाता देख अशोक के नेत्र सजल हो उठे । पिता के चरणों में प्रणाम कर महेन्द्र और संघमित्रा नौका में जा बैठे । अशोक के साथ राजमाता देवी भी आयी थीं ।

कुछ लोगों का उनकी समुद्र यात्रा के सम्बन्ध में मत-भेद अवश्य है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसी यात्रा को प्रामाणिक माना है । बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार महेन्द्र और संघमित्रा की यह यात्रा निरापद नहीं रही । मार्ग में तूफान आया । नाविक ने लौट चलने के लिए कहा परन्तु महेन्द्र को बीच मार्ग से ही वापस आ जाना न तो उचित लगा और न ही स्वीकार्य हुआ ।

तूफान में उनकी नाव उलट गई । भारत के तट से अभी दूर नहीं पहुँचे थे फिर भी महेन्द्र ने लौट जाना अनुचित ही समझा । जिस अभियान के लिए वे आगे बढ़े हैं, उसे पूरा किए बिना ही वापस चले आना तो मानवोचित नहीं है । लाख बाधाएँ क्यों न हों शूरवीर **'कार्यं साधयेत् वा पातयेत देहं'** के सिद्धान्त का ही अनुसरण करते हैं । नाविक तो तैर कर वापस आ गया किन्तु संघमित्रा और महेन्द्र सिंहल की दिशा में ही बढ़ने लगे ।

सौभाग्य से कुछ दूरी पर ही उन्हें उलटी हुई नाव भी मिल गई जिसमें बैठकर उन्होंने अपनी यात्रा पूरी कर ली ।

लंका की भूमि पर चरण रखते ही दोनों भाई-बहिन ने भगवान् बुद्ध की आरती-वन्दना की और आगे बढ़े । नगर तक पहुँचने के लिए समुद्र तट से वहाँ तक वनों में होकर गुजरना पड़ता था ।

रास्ते में उन्हें किसी वन्य पशु के रक्त की ताजी बूँदें दिखाई दीं । महेन्द्र का हृदय पशु की पीड़ा का अनुमान लगाकर ही कातर हो उठा और वे अपनी बहिन के साथ उसी दिशा में चल दिए । कुछ दूर तक चलने के बाद उन्होंने देखा एक हिरण किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से घायल हुआ तड़प रहा है । महेन्द्र ने आसपास से वनौषधियाँ ढूँढ़ कर उसकी चिकित्सा की ।

तभी वह शिकारी पुरुष भी आ पहुँचा जिसके बाण का निशाना वह मृग बना था । महेन्द्र ने देखते ही कहा— 'धर्मराज सम्राट तिष्य के शासन में भी आप लोग इतनी निर्दयतापूर्वक इन निरपराध प्राणियों का वध करते हैं ।'

शिकारी जो राजोचित वेशभूषा में था, महाभिक्षु महेन्द्र के चरणों में गिर पड़ा । अपना परिचय देते हुए उसने कहा 'भन्ते ! मुझसे भूल हो गई । मैं ही सम्राट तिष्य हूँ जो मात्र विनोद के लिए इन निरपराध पशुओं का वध करता हूँ ।'

तिष्य उस समय लंका का राजा था । भिक्षु महेन्द्र बुदबुदाये— 'ठीक ही कहा था महास्थविर ने । लंकावासी भगवान् बुद्ध की वाणी को भूलते जा रहे हैं ।'

सम्राट तिष्य ने महेन्द्र और संघमित्रा का यथेष्ट सत्कार किया और अपने राज-दरबार में ले आये । प्रथम दिन के विश्राम ने समुद्री यात्रा की थकान उतार दी । दूसरे दिन भिक्षु महेन्द्र ने तिष्य को धर्म मार्ग की समुचित शिक्षा दी और चलने के लिए उद्यत हुए । सम्राट ने कहा— 'आप यहीं निवास कीजिए । राज्य के नागरिकों तक आपका सन्देश यहीं से पहुँचा दिया जायेगा ।'

जनमानस के सफल अध्येता महाभिक्षु महेन्द्र को सम्राट तिष्य के इस कथन को वहाँ के विहार और धर्म-प्रचारकों की रीति-नीति का संकेत दिया । उन्होंने बौद्ध विहारों को देखने की इच्छा व्यक्त की । आशंका सच निकली । सांसारिक मनुष्यों से भी अधिक विषय-वासना और भोगों में लिप्त धर्म का नेतृत्व उस तंत्र के मूल प्रयोजन को कहाँ से पूरा कर सकेगा ? संघ गठन तो इस उद्देश्य से हुआ था कि व्यवस्थित रूप से लोगों को सन्मार्ग की ओर सुख-शान्ति के पथ पर प्रेरित किया जा सके । परन्तु लोक-श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाकर भिक्षु और धर्मसेवी जन-भोगी तथा धर्मजीवी बन गये । सेवा का मार्ग जब उपभोग का माध्यम बन जाता है तभी तो गड़बड़ी पैदा होती है ।

राजभवन में निवास के आमन्त्रण को नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए स्थविर महेन्द्र ने लोकोचित और तप साधना का निर्धारित मध्यम मार्ग ही अपनाया । काषाय वस्त्रों से देदीप्यमान तथा भारत भूमि के सन्देशवाहक होने के नाते लंका में उनकी खूब प्रतिष्ठा हुई ।

उन्होंने पहला काम यह किया कि विहारों और मठों के निवासी बौद्ध भिक्षुओं को दिशा प्रदान की । श्रद्धास्पद होकर भी श्रद्धा तत्त्व के मूल कारणों की उपेक्षा भर्त्सना करने योग्य है— यह कहकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को समाज के प्रति उनका उत्तरदायित्व समझाया ।

जैसा कि सभी सुधारकों के साथ होता आया है उनके साथ भी हुआ । कुछ लोगों ने उनका विरोध किया परन्तु उन्हें इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं हुई । प्रकृति को, अगाध जलराशि को भी अपने

विरोध में खड़ा पाकर जो नहीं घबड़ाया वह निर्बल और दुष्ट मनुष्यों से क्या घबरायेगा ? पूर्वकृत साहसपूर्ण कार्य मनुष्य को आजीवन प्रेरणा देते रहते हैं। एक बार जब कोई प्रयास करने पर सफलता मिल जाती है तो व्यक्ति अपार और अटूट आत्मविश्वासी बन जाता है।

बौद्ध मठों और विहारों में आवश्यक सुधार कर महेन्द्र तथा संघमित्रा धर्म प्रचार के कार्य में जुटे। धर्म तन्त्र का परिष्कार धार्मिक समाज की पहली आवश्यकता है। जब तक यह क्षेत्र विकृत ही पड़ा रहेगा लोगों की श्रद्धा स्थिर नहीं हो सकती।

अपनी सम्पूर्ण आयु का आधा भाग लंकावासियों की सेवा में बिताकर महाभिक्षु महेन्द्र ने चैत्य पर्वत पर अन्तिम वर्षा वास किया। उस समय उनकी आयु साठ वर्ष की हो गई थी। इस वर्षा वास में उनका देहान्त हो गया। बौद्ध धर्म का एक प्रधान स्तम्भ उठ गया, मरते समय उन्होंने शोकविह्वल बहिन को आश्वस्त किया कि धर्म ही तुम्हारा भाई है। वह कभी समाप्त नहीं होता क्योंकि संसार की स्थिति का कारण पृथ्वी पर कहीं न कहीं चलती रहने वाली धार्मिक गतिविधियाँ ही हैं।

अनुराधापुर में उनकी मृत देह का अन्तिम संस्कार सम्पन्न करवाया गया। ऋषि महेन्द्र के प्रयत्न और पुरुषार्थ का ही परिणाम है कि बौद्ध धर्म आज भी लंका का राजधर्म बना हुआ है। अनुराधापुर की इन्च-इन्च भूमि सिंहल जाति की श्रद्धा भूमि है। प्रति वर्ष लाखों लोग ऋषि महेन्द्र को उस भूमि पर श्रद्धा के फूल चढ़ाने देश-विदेश से आते हैं।

सम्राट अशोक के पाँचों पुत्रों का कोई नाम भी नहीं जानता। यद्यपि वे सब क्रमशः राज्य सिंहासन के उत्तराधिकारी बने थे। इतिहास में उनके लिए चार-चार, पाँच-पाँच पंक्तियाँ ही लिखी गई हैं जबकि राज्य पद का अधिकारी होते हुए भी उसे छोड़ देने वाले राजपुत्र महेन्द्र इतिहास में अमर हो गये हैं। वस्तुतः अधिकार या पद नहीं, मनुष्य को महान् बनाता है उसका त्यागमय जीवन और उज्ज्वल चरित्र।

धार्मिक-साम्य के प्रचारक—महात्मा ईसा

अब से दो हजार वर्ष पहले की बात है कि योरूसलम (पैलेस्टाइन) में एक नवयुवक मार्ग में चला जा रहा था। उसके साथ कई सौ लोगों की भीड़ भी चल रही थी। कुछ लोग कहते जाते थे कि यह अकर्मण्य और आदर्शहीन है। इसने कुछ समय पूर्व अपनी मातृभूमि को विदेशी आक्रमणकारी— रोमनों से मुक्त कराने के लिए 'एसेन' संस्था की शपथ ग्रहण की थी, पर अब यह रोमन साम्राज्य की शक्ति से भयभीत होकर उलटी-सीधी बातें करने लगा है। इसके सिद्धान्तों का भरोसा नहीं और हमको इसका साथ छोड़ देना ही उचित है।

अन्य लोग कह रहे थे कि उसका कथन तो बिल्कुल ठीक है। मान लो कोई संस्था या गुप्त-दल विद्रोह खड़ा करके रोमनों को पैलेस्टाइन से हटा भी दे तो इससे जनता का क्या लाभ होगा ? आज भी रोमन लोग गरीब लोगों का उतना शोषण नहीं करते जितना कि इसी देश के निवासी 'सैड्यूसीज' (पूँजीपति) और 'फरीसीज' (मध्यम वर्ग वाले) कर रहे हैं। यह 'ईसा' तो गरीबों के उद्धार का मार्ग दिखला रहा है। वह कहता है कि अगर रोमन हट भी जायें और गरीब लोग इसी तरह भूखे-नंगे बने रहें, अन्याय की चक्की में पिसते रहें, तो ऐसे 'स्वराज्य' से क्या फायदा ? इसकी बात तो गलत नहीं है।

ईसा आगे बढ़ता जाता था और लोगों की भीड़ उसके पीछे तरह-तरह के तर्क-वितर्क करती चली जा रही थी। थोड़े फासले पर एक बड़ा मैदान मिला जिसके बीच में एक छोटा-सा पहाड़ी टीला था। ईसा उसके ऊपर चढ़ गया और लोगों को सम्बोधन करके कहना आरम्भ किया—

'धन्य हैं वे लोग जो गरीब हैं, जो दुःख सहते हैं और पश्चाताप करते हैं— जो नम्र, दयालु तथा शान्ति के प्रचारक हैं और न्याय की खातिर दण्ड सहते हैं। धन्य हैं वे, जो बुराई के बदले भलाई करते हैं। धन्य हैं वे, जिनके यहाँ अदालतें नहीं हैं, जो दण्ड-विधान से अनभिज्ञ हैं, जो अपने साथ बुराई करने वालों के भी कल्याण की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि समस्त मनुष्य एक ही परम-पिता की सन्तान— परस्पर भाई-भाई हैं।

"हम संसार में ईश्वरीय-राज्य के इच्छुक हैं। ईश्वरीय राज्य वह है जिसमें अन्यायपूर्ण सामाजिक भेद-भाव न हो, गरीबों के कष्ट मिटाये जायें, धन-सम्पत्ति को उपेक्षा की निगाह से देखा जाय, सब प्रकार के दमनकारी, पाशविक शक्ति पर आधार रखने वाले शासन का अन्त हो जाय और सब लोग परस्पर प्रेम-भाव से रहने लगें।"

महात्मा ईसा की इस दिव्य-वाणी को लोगों ने सुना तो सही, पर इसका मर्म समझने वाले उस भीड़ में थोड़े ही थे और उसका अनुसरण कर सकें, उनकी संख्या तो अंगुलियों पर ही गिनी जा सकती थी। पर उन बातों में एक ऐसी सच्चाई भरी थी कि उसकी प्रतिध्वनि संसार के वातावरण में सुनाई पड़ रही है और लोगों के हृदय पर उनका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। ईसा के उपदेश की इस महत्ता के सम्बन्ध में आधुनिक युग के महामानव और हिन्दू-धर्म के सुदृढ़ स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

"महापुरुष ईसा के उपदेश और कर्मवीरता की समस्त गाथा लिपिबद्ध हो जाने पर सारा विश्व उससे व्याप्त हो जायेगा। उनको धर्म-प्रचार के लिये केवल तीन वर्ष का ही समय मिला, पर मानो उसी में एक सम्पूर्ण युग की घटनायें और इतिहास समाया हुआ है। हम साधारण लोग तो क्षुद्र शक्ति वाले होते हैं— हमारी शक्ति के पूर्ण प्रसारित होकर व्यय हो जाने में थोड़ा ही समय लगता है। पर इस विशाल शक्ति पुंज (ईसा) को देखिये कि सैकड़ों और हजारों वर्ष बीत जाने पर भी, उसकी महान् शक्ति पूर्ण रूप से प्रसारित नहीं हो पाई है और जैसे-जैसे समय गुजर रहा है वह पहले की अपेक्षा प्रबल ही होती जा रही है।"

ईसा का जन्म पैलेस्टाइन के एक साधारण गाँव में हुआ। उनके पिता जीवन-निर्वाह के लिए बढ़ई का काम करते थे और माता मरियम

एक बड़ी ईश्वर परायण महिला थी । वह भी गरीबों के ऊपर धनी लोगों के अत्याचारों को देखकर बड़ी दु:खी होती थी और दीन-दुखियों की हित कामना किया करती थी, ईसा के गर्भकाल में उसने परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा था—

'उस सर्व-शक्तिमान ने अहंकारियों का दर्प भंग कर दिया । उसने शक्ति-सम्पन्नों को आसन से गिरा दिया और दीन-दु:खियों को महत्त्व प्रदान किया, दरिद्रों को उसने आशीर्वाद दिया और धनवानों को खाली हाथ लौटा दिया ।'

ईसा की शिक्षा उस समय की प्रथानुसार एक यहूदी पाठशाला में हुई थी । यद्यपि उसके धर्म-भाव से शिक्षक और गुरुजन प्रसन्न रहते थे, पर स्वयं उसको सन्तोष न था । जो 'भगवान्' धनी उपासकों पर ही प्रसन्न रहता है और गरीबों पर कृपा-दृष्टि नहीं रखता । वह ईसा को श्रद्धा के योग्य नहीं जान पड़ता था । इसलिये तेरह वर्ष की आयु हो जाने पर वे धर्म की वास्तविकता पर विचार करने लगे और केवल योरूशलम के यहूदी विद्वानों से ही नहीं दूर-दूर के ज्ञानी व्यक्तियों से उनके विचार जानकर स्वयं सत्य की खोज में प्रवृत्त हुए ।

कहा तो यहाँ तक जाता है कि वे धर्म-तत्त्व की खोज में भारतवर्ष में आये थे और कई वर्षों तक यहाँ के हिन्दू और बौद्ध योगियों के सान्निध्य में रहकर उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों और दर्शन का बहुत अच्छा अध्ययन किया था । कुछ भी हो ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की जाँच-पड़ताल करने वाले विद्वानों का आज भी यही मत है कि उनका विकास स्पष्टतया बौद्ध सिद्धान्तों से ही हुआ है । हिन्दू-धर्म की आत्मा की अभेदता की मान्यता का भी उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा ।

पर जब ईसा ने पैलेस्टाइन की सामान्य जनता में इन सिद्धान्तों पर आधारित एक नये धर्म के नियमों का प्रचार आरम्भ किया तो वहाँ के धनी और पुरोहित वर्ग वालों में बड़ी हलचल मच गई । ईसा आम सभाओं में स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि—

"चाहे सुई के छेद में होकर ऊँट निकल जाय पर स्वर्ग के दरवाजे में होकर धनवानों का निकल सकना सम्भव नहीं ।"

भला अपनी ऐसी कटु आलोचना पूँजीपति कैसे सहन कर सकते थे । फिर उनके साथ उस समय के पुरोहित और पुजारी भी थे जिनकी रोजी धनवानों द्वारा चढ़ाई जाने वाली भेंट-पूजा से ही चलती थी । इसलिये इन दोनों ने मिलकर ईसा पर यह दोषारोपण किया कि वह अपने को 'ईश्वर का पुत्र' कहकर लोगों को बहकाता है और एक वर्ग को दूसरे के खिलाफ भड़का कर समाज में अशांति उत्पन्न करता है । यद्यपि ईसा का प्रचार-कार्य सर्वथा सत्य और न्याय पर आधारित था और वह जो कुछ कहता था वह समस्त जनता की हित कामना से ही होता था, तो भी सत्ताधारी व्यक्तियों ने उसके कारण अपने स्वार्थ की हानि होते देखकर उसे गिरफ्तार करा दिया और झूठ-सच्चा मुकदमा चलाकर प्राण दण्ड की आज्ञा दे दी ।

महापुरुष ईसा को काँटों का ताज पहिनाकर 'क्रूस' (सूली) पर हाथ-पाँवों में कीलें ठोककर लटका देना एक ऐसी घटना थी, जिसकी याद संसार को दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी नहीं भूली है । उन सत्ताधारी किन्तु मूर्ख पुरोहितों तथा शासकों ने अपनी समझ से तो ईसा की उस प्रकार हत्या करके संसार के सामने अपनी शक्ति और अधिकार का प्रदर्शन कर दिया । पर वास्तव में उन्होंने स्वयं कलंक का टीका लगवाकर ईसा को युगों के लिये अमर बना दिया । खेद है कि आज भी अधिकार सम्पन्न वर्ग इतनी बड़ी घटना से कोई सबक न लेकर उसी औंधी चाल पर चल रहा है । आज भी न्याय और औचित्य को प्रधानता न देकर वह अपने स्वार्थ-साधन में ही तल्लीन है और निर्बलों तथा सरल स्वभाव के सज्जन पुरुषों को सताने में ही अपनी शान समझता है । इस दृश्य को देखकर 'रामायण' की यही उक्ति याद आती है—

'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'

अयोग्य और अनधिकारी व्यक्ति को विशेष अधिकार मिल जाने से उसकी विवेक बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और अपने को 'बहुत बड़ा' समझकर अनीति के मार्ग पर चलने लग जाता है । वह यह नहीं समझता कि उसकी यह स्थिति सामयिक है और किसी भी समय पर परिवर्तन होकर वह जहाँ का तहाँ पहुँच सकता है । आश्चर्य है कि इतिहास के ऐसे-ऐसे सैकड़ों उदाहरणों को देखकर भी उनकी आँखें नहीं खुलतीं ।

उस समय चाहे दुष्टों ने ईसा के भौतिक शरीर को नष्ट कर दिया, पर इसका परिणाम जो कुछ उन्होंने चाहा था उससे विपरीत ही हुआ । ईसा की शिक्षाओं का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से लोगों के हृदय में बद्धमूल होता चला गया और कुछ समय पश्चात् एक ईसा के स्थान पर बीसियों ऐसे प्रचारक निकल आये जो धनवानों के मुकाबले में गरीबों के अधिकारों का समर्थन करते थे । उनमें से 'जेम्स' नामक आचार्य ने कहा—

"यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वह भगवान् में श्रद्धा रखता है, पर परिश्रम नहीं करता, तो इससे क्या लाभ ? अमीर लोग केवल श्रद्धा के नाम पर धर्म-सभा में विशेष सम्मान चाहते हैं और अपने अन्य सहधर्मियों को छोटा समझते हैं । पर सच तो यह है कि बिना कर्म के श्रद्धा प्राणहीन है । अमीर याद रखें कि भगवान् गरीबों से ही प्रसन्न रहता है, जिनका धनी व्यक्ति अब भी शोषण करते है और जिनको अदालतों में घसीटा जाता है ।"

संसार में आज जो संस्कृति, सभ्यता दिखाई दे रही है, वह सब 'महामानवों' की ही देन है । उनके ही उपदेशों और चरित्र का आश्रय लेकर हम लोग मानवता के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं । ऐसी विभूतियों को स्वामी विवेकानन्द ने 'जीवन ईश्वर रूप' कहा है । महात्मा ईसा की गणना भी उन्हीं में से है । मानवता की प्रगति के मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिये उन्होंने जो आत्मबलिदान किया उसके लिये उन्हें हमारा प्रणाम है ।

महाप्रभु ईसा के अज्ञात जीवन के अनसुलझे रहस्य

बाइबिल के 'न्यू टेस्टामेण्ट' के मत्ती, मरकुस, लूका, जॉन, यूहन्ना आदि अंजीलों के अंतिम काण्डों में ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने, दफनाये जाने के बाद कब्र से गायब होने तथा पुनर्जीवित होने

का वर्णन है। उनमें उल्लेख है कि पुनर्जीवन के बाद सबसे पहले उन्होंने मरियम मगदलीनीनी एवं मरियम को दर्शन दिया और उनसे अपने शिष्यों को गलीलिया नामक पर्वत पर मिलने को कहा। योरूशलेम से सात मील दूर इम्माऊस में भी वे कुछ व्यक्तियों से मिले थे। गलीलिया पर्वत पर ग्यारह प्रमुख शिष्यों से मिलने के पश्चात् वे उन्हें बैतनिय्याह तक ले गये और हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया तथा अलग हो गये। शिष्य तो उन्हें प्रणाम करके वापस योरूशलेम लौट गये, पर ईसा कहीं अन्तर्ध्यान हो गये।

अनुसंधानकर्ता मनीषियों ने उन लुप्त प्रायः कड़ियों को अब खोज निकाला है जिनसे प्रमाणित होता है कि पुनर्जीवित होने और शिष्यों से मिलकर उन्हें कर्मक्षेत्र में उतरने का आदेश देने के पश्चात् ईसा कई देशों की यात्रा करते हुए दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर को अपना स्थायी निवास बनाया था। लोगों की उन पर श्रद्धा थी। ८० वर्ष से अधिक की परिपक्व अवस्था में वहीं पर उन्होंने अपना पंचभौतिक शरीर त्यागा था, जिसके अनेकों प्रमाण अभी-भी वहाँ विद्यमान हैं।

जर्मनी के मूर्धन्य मनीषी होल्गर केर्स्टेन ने इस संदर्भ में गहराई से खोज-बीन की है। इजरायल, मध्य पूर्व देशों, अफगानिस्तान और भारत सहित उन सभी ऐतिहासिक स्थलों की उन्होंने यात्रा की जो किसी न किसी रूप में ईसा से संबंधित है। उन्होंने अपनी और अपने पूर्ववर्ती खोजकर्ताओं द्वारा इस संबंध में की गयी प्रामाणिक खोजों को ''जीसस लिव्ड इन इण्डिया'' नामक पुस्तक में सविस्तार प्रकाशित किया है जिसमें ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने से पहले एवं बाद के अज्ञात जीवन की संपूर्ण जानकारी संग्रहीत है। उसके अनुसार सन् ६ में लगभग १३ वर्ष की उम्र में ईसा व्यापारियों के एक वर्ग के साथ पहली बार भारत आये थे और लगभग १६-१७ वर्ष तक पुरी एवं तिब्बत के बौद्ध विहारों में अध्ययनरत रहे। वैदिक साहित्य एवं बौद्ध दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने उच्चस्तरीय तप साधनाएँ भी की थीं। यही कारण था कि जब सन् ३० में ३० वर्ष की आयु में वे वापस योरूशलम पहुँचे तो भौतिक सिद्धियों और आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न महामानव बनकर पहुँचे। उनकी इस क्षमता से प्रभावित होकर लोगों की भारी भीड़ सदैव उन्हें घेरे रहती थी। अपने मिशन का प्रचार करते हुए तीन वर्ष से कुछ अधिक ही दिन बीते थे कि विरोधियों ने उन पर ईश निन्दा का अभियोग लगाकर सूली पर चढ़ा दिया और घोषणा कर दी गयी कि ईसा की मृत्यु हो गयी।

ईसा को जिस कब्र में दफनाया गया था, देखने पर वह खाली मिली। चमत्कार स्वरूप वे जीवित होकर गलीलिया (गलीली पर्वत) पर चले गये थे जैसा कि बाइबिल में उल्लेख है कि वहाँ पर शिष्यों से मिलने के बाद वे लुप्त हो गये। सन् ३४ में उनकी भेंट डैमस्कस (दमिश्क) में पॉल से हुई और वह उनका शिष्य बन गया। इसके बाद वे कुछ दिन निसबिस-तुर्की में ठहरे और ईरान सहित आसपास के देशों में उपदेश करते रहे, तदुपरान्त तक्षशिला होते हुए काश्मीर आ गये और वहीं पर ८० वर्ष की उम्र में शरीर त्यागा, ऐसा केर्स्टेन का मत है।

सुप्रसिद्ध कानूनविद् अलहज ख्वाजा नजीर अहमद ने भी अपनी पुस्तक ''जीसस इन हेवन आन अर्थ'' में लिखा है कि ईसा ने भारत में न केवल अपने यौवन के १३-१८ वर्ष अध्ययन एवं साधना में बिताये थे, वरन् सूली पर चढ़ाये जाने के बाद पुनर्जीवित होकर दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर में रहने लगे थे। वृद्धावस्था में यहीं पर उनका स्वर्गवास हुआ था। उनके अनुसार स्वयं मूसा भी कभी काश्मीर आये थे।

पर्शिया के सुविख्यात इतिहासवेत्ता मीरकावन्द ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि पुनर्जीवन के बाद ईसा डैमस्कस चले गये। जिस स्थान पर वे लोगों को उपदेश किया करते थे। वह ''मायौम-इ-ईसा'' के नाम से जाना जाता है और डैमस्कस से ५ कि. मी. दूर स्थित है। ईसा को वहाँ ठहरे हुए कुछ ही दिन बीते थे कि तुर्की में निसबिस के प्रशासक ने उन्हें अपनी चिकित्सा के लिये बुला लिया। ईसा ने पहले तो अपने एक शिष्य थॉमस को उसके पास भेजा। जिसके उपचार से ही बादशाह ठीक हो गया। पीछे वे भी निसबिस पहुँच गये। इमा-अबू-जफर मोहम्मद ने अपनी कृति ''तफसीस-इब्न जरीर एत-तबरी'' में लिखा है कि यह घटना सन् ३५ के बाद की है। इसके पश्चात् वे जगह-जगह घूमते और उपदेश करते रहे।

सूली पर चढ़ाये जाने एवं पुनर्जीवित होकर अन्यत्र चले जाने के बाद उनका उपचार जड़ी-बूटी द्वारा किये जाने का उल्लेख तिब्बत के हेमिस मठ में रखे दस्तावेजों में सुरक्षित है। इसकी पुष्टि करते हुए नोतोविच ने अपनी कृति ''द अननोन लाइफ ऑफ दी जीसस क्राइस्ट'' में कहा है कि स्वस्थ होने के पश्चात् ईसामसीह ने तक्षशिला होते हुए दूसरी बार भारत में प्रवेश किया। उन दिनों बृहत्तर भारत की सीमायें ईरान और अफगानिस्तान तक फैली हुई थीं। तुर्की और सीरिया के मध्य स्थित 'निसबिस' (नुसायबिन) को छोड़कर वे सन् ४९-५० में तक्षशिला पहुँचे थे वहीं इनकी भेंट इण्डो-पर्शियन बादशाह गुन्दाफर से हुई। इससे पूर्व उन्होंने ईरान, पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान की यात्राएँ की थीं और जगह-जगह उपदेश किये थे। ईसा के पट्टशिष्य थॉमस ने अपने संस्मरण में इस बात की पुष्टि की है कि वह ईसा के साथ तक्षशिला में राजा गुन्दाफर के यहाँ ठहरा था। इससे पहले ईसा ने उसे भारत जाने का आदेश दिया था, पर थॉमस के इन्कार करने और यह कहने पर कि वह यहूदी है और भारतवासियों को सत्य की शिक्षा कैसे दे सकता है? ईसा ने उसे इब्बन नामक एक दक्षिण भारतीय व्यापारी के हाथों इसलिये बेच दिया ताकि इसी बहाने वह भारत पहुँच जाय। वस्तुतः इब्बन राजा गुन्दाफर का एक कर्मचारी था जिसे एक वास्तुशिल्पी ढूँढ लाने के लिए नियुक्त किया गया था। इस तरह थॉमस राजदरबार में पहुँच गया। वहाँ उसे एक भव्य महल बनवाने के लिए एक बड़ी धनराशि दी गयी जिसे उसने जरूरतमंद गरीबों में खर्च कर दिया। बाद में यही राजा अपने भाई के साथ ईसा का शिष्य बन गया और थॉमस को दक्षिण भारत

में मिशन के प्रचार-प्रसार के लिये भेज दिया गया । मद्रास में उसने अनेकों अनुयायी भी तैयार किये । चौथी सदी के आरंभ में उसकी हड्डियों के अवशेष को मायलापोर मद्रास से उनके पैतृक नगर इडेसा सीरिया ले जाया गया था । थॉमस की मद्रास में कब्र होने की पुष्टि मार्कोपोलो ने की थी ।

प्रख्यात विद्वान् हजरत मिर्जा गुलाम अहमद ने भी अपनी कृति में इस बात की पुष्टि की है कि ईसा ने अपने जीवन के अंतिम ४० वर्ष 'युज आशफ' के नाम से काश्मीर में बिताये थे । शत्रुओं से बचने के लिए ही उन्होंने यह छद्म नाम रखा था । अग मुस्तफा ने अपने ग्रंथ— 'अबली अहलिऊ-परस' में कहा है कि ''ईसा ही युजआशफ थे । तक्षशिला के पश्चात् उन्होंने उससे ७० मील दूर काश्मीर की सीमा पर स्थित मुरी नामक एक छोटे-से गाँव में निवास किया था । वहीं पर उनकी माता का स्वर्गवास हुआ । आज भी वहाँ सदियों पुराना मरियम मेरी का एक मकबरा बना हुआ है जिसे मरियम मेरी का स्थान कहा जाता है ।''

सुविख्यात इतिहासवेत्ता मुल्ला नादिरी ने अपनी कृति ''तवारिख-ए-कश्मीर'' (कश्मीर का इतिहास) में ईसा के काश्मीर में निवास करने का सुविस्तृत वर्णन किया है । उन्होंने लिखा है कि जिन दिनों ईसा-युजआशफ के नाम से यहूदियों के एक बड़े समुदाय के साथ कश्मीर आये थे, उन दिनों वहाँ राजागोपदत्त— जिन्हें गोपानन्द भी कहा जाता था, का शासन था । यह घटना प्रथम शताब्दी के मध्य की है । योरूशलेम से दुबारा भारत आने के बाद ईसा ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी घाटी में व्यतीत किया । घाटी के लोगों की उन पर अगाध श्रद्धा थी । वे प्राय: एक संन्यासी की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान तक उपदेश करते हुए घूमते रहते थे पर प्राय: काश्मीर अवश्य लौट आते थे । काश्मीर से ईसा का विशेष लगाव था । तब भारत का वह भूभाग हर दृष्टि से इतना समृद्ध और खुशहाल था कि उसे धरती के स्वर्ग की संज्ञा दी गयी थी । दूसरे— इजरायल की अनेक आदिम जातियाँ पहले से ही वहाँ निवास कर रही थीं । बाद में ईसा के साथ भी अनेक यहूदी परिवार आकर वहीं रहने लगे थे । नादिरी के अनुसार श्रीनगर से कोई ७० मील दूर एक गुफा है जहाँ ईसा मसीह ध्यान किया करते थे । इस गुफा के द्वार पर एक सुन्दर भवन निर्मित है जिसे 'ऐश-मुकाम' कहते हैं । यहीं पर मूसा का बहुमूल्य दण्ड (छड़ी) जो परम्परा से ईसा को मिला था, स्थापित था । यही दण्ड १५वीं शताब्दी में प्रसिद्ध संत शेख नूरुद्दीन को प्राप्त हुआ था ।

ईसा को जिस स्थान पर दफनाया गया था, वहीं पर ख्याति प्राप्त इतिहासवेत्ता एवं 'कश्मीर रिसर्च सेन्टर फार बुद्धिस्ट स्टडीज' के निदेशक प्रोफेसर फिदा हुसैन को पत्थर पर खुदे हुए ईसा के पद-चिह्न मिले थे जिसके एक तरफ पद-चिह्न और दूसरी तरफ क्रूस के चिह्न बने हैं । यह इस बात का सुनिश्चित प्रमाण है कि वह ईसा की ही समाधि है । उनके अनुसार जब दूसरी बार ईसा ने भारत में प्रवेश किया था उन दिनों उत्तरी भारत में राजा शालिवाहन (सन् ३९ से ५० ई०) का शासन था । राजागोपानन्द का सन् ४९ से ८२ एवं कुशान राजा-कनिष्क का सन् ७८ से १०३ ई० तक शासन था । कनिष्क के शासनकाल में कश्मीर इण्डो-सीथिन राजवंशों की राजधानी थी । वहाँ अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और राजनीतिक संस्थायें थीं । ग्रीक और भारतीय दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर थे । उन्हीं दिनों लगभग सन् ८० में महाराजा कनिष्क ने श्रीनगर से १२ कि. मी. दूर हारान में विविध धर्मावलंबियों की एक महासभा बुलायी थी, जिसे 'काउन्सिल ऑफ हारान' के नाम से जाना जाता है । उस महासभा में विख्यात मनीषी एवं आयुर्वेद के ज्ञाता नागार्जुन के साथ ईसामसीह भी उपस्थित थे । तब उनकी उम्र ८० वर्ष से अधिक थी । इस तथ्य की पुष्टि बाणभट्ट ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'कादम्बरी' में की है ।

वस्तुत: ईसा की जीवन यात्रा देवसंस्कृति के बहुरंगी प्रवाह का एक अंग है । जो रहस्योद्घाटन हुए हैं, वे सभी मत-संप्रदायों को समीप लाकर देवसंस्कृति की श्रेष्ठता का तथा ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' की ऋषि मान्यता का समर्थन ही करते हैं ।

भीड़ का नहीं—न्याय का रास्ता चलें

उन दिनों भीड़ [illegible] शासक न्याय को ही रचा जाता था । पर भीड़ [illegible] आवाज इतनी धीमी पड़ती थी कि कोई [illegible]

[illegible] चलते हुए ढर्रों को बदलने की क्या जरूरत ? और [illegible] को बदलने की [illegible] क्यों अपनाई जाय ? पुरातन पंथी यह मानते थे और [illegible] कहते थे । उन्हें यह तनिक भी नहीं रुचा कि ईसा [illegible] जिससे प्रचलित मान्यताओं के प्रति अनास्था उत्पन्न [illegible] । ईसा का धर्म-प्रचार उन्हें अधर्म जैसा लगा । वे कहते थे जो चल रहा है उसे चलने देना ही धर्म-परम्परा है । उसे कोई तोड़े नहीं ।

ईसा के तीखे उपदेश लोगों की धर्म-भावनाओं को नई दिशा दे रहे थे । सुनने वालों को यथार्थता और परम्परा के बीच का अन्तर बता रहे थे । पुरातन पंथियों के लिए इस प्रकार के प्रयास सदा रोष का कारण बनते रहे हैं । ईसा भी उससे बच न सके ।

उस वर्ष का महायाजिक 'हन्ना' था । धर्म-पुरोहित ही अभियोग बनाते थे और हाकिम दंड देता था । हन्ना चाहते थे कि ढर्रे में अवरोध उत्पन्न करने वाले ईसा को प्राण दंड मिले । सो उनके अधीनस्थ पुरोहितों ने जाकर उन्हें पकड़ा और महायाजक के सामने उपस्थित किया ।

याजक ने पूछा— क्या तुमने धर्म और राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के उपदेश दिये हैं ?

ईसा ने कहा— मैंने जो कुछ कहा है खुले में और मन्दिरों के आँगन में कहा है— सो सुनने वालों से ही पूछिये कि क्या मैंने ऐसा कुछ कहा है ।

एक पुरोहित ने ईसा को चाँटा मारा और कहा— महायाजक के सामने बढ़-चढ़ कर बोलता है ?

ईसा ने कहा— मैं कुछ झूठ कहता हूँ तो कहो मैंने क्या झूठ बोला । बिना कारण मारने से क्या होगा ?

पुरोहित मंडली के गवाह आगे आये। उन्होंने कहा— यह कहता है पुराने मन्दिरों के स्थान पर नये मन्दिर खड़े होने चाहिए। पुराने राजा के स्थान पर नये राजा का शासन स्वीकार करना चाहिए।

ईसा ने कहा— मैंने मन्दिरों का नहीं, उनकी आड़ में पलने वाली अधार्मिकता का विरोध किया है और धरती के राजा के विरोध में नहीं स्वर्ग के राजा के शासन के बारे में कहा है। यदि मैं धरती के राजा का द्रोह करता तो मेरे पास भी सैनिक होते और इस प्रकार निहत्था न पकड़ा जाता।

महायाजक ने प्रतिवादी की एक न मानी और दोष लगाने वालों की बातों पर ही कान धरते रहे। उन्होंने अपराध लगाते हुए प्राण दंड देने की सिफारिश के साथ ईसा को न्यायाधिकारी पीलातुस के पास भेज दिया।

पीलातुस ने छानबीन की और ऐसा कुछ न पाया। वह चाहते थे इस निर्दोष को दण्ड न दिया जाय। पर भीड़ ने चिल्लाकर कहा ईसा विद्रोही है, उसे फाँसी पर ही लटकाया जाना चाहिए। न्यायाधिकारी ने पूछा— क्या कोड़े लगाने की सजा से काम चल सकता है ? भीड़ ने कहा— नहीं ! नहीं !!

भीड़ का बोल-बाला था। न्याय तो काष्ठपुतली मात्र था। राज्य तो अविवेकियों की भीड़ कर रही थी। पीलातुस ने अपनी कुछ चलती न देखी तो एक उपाय सोचा। ईसा गलील प्रान्त का नागरिक है सो उसे संहिता के अनुसार उसी देश के राजा को दण्ड देने का अधिकार है। अस्तु, उसे गलील प्रान्त के राजा हैरोदेश के पास भेजना चाहिए। उन्होंने वैसा ही किया भी।

राजा हैरोदेश ने गहराई के साथ पूरी छानबीन की पर ईसा पर कोई दोष सिद्ध नहीं हुआ। सो उन्होंने बन्दी को पीलातुस के पास वापस भेजते हुए लिखा— मेरी राय में वह न तो अपराधी है और न दण्ड का अधिकारी।

पीलातुस, निर्दोष को दण्ड नहीं देना चाहते थे पर भीड़ की चिल्लाहट प्राणदण्ड से कम पर राजी नहीं हो रही थी। सो खीज कर न्यायाधिकारी ने कहा— तुम्हें जो दीखे सो करो। मुझे विवश न करो।' पर भीड़ भला क्यों मानने लगी उसने यही कहा हमारी इच्छानुसार दंड देने में ही तुम्हारी भलाई है।

भीड़ के राज्य में न्यायाधिकारी की क्या चलती। ईसा को क्रूस की ओर घसीटा जाने लगा तो पीलातुस ने एक और प्रयत्न किया। उस दिन पर्व का दिन था। पर्व पर एक अपराधी को क्षमादान दिये जाने की प्रथा थी। सामने दो अपराधी थे एक हत्यारा डाकू बरअब्बा, दूसरे ईसा। दोनों में से न्यायाधीश ईसा को छोड़ना चाहते थे। पर भीड़ चिल्लाई— बरअब्बा को भले ही छोड़ दिया जाय पर ईसा को तो क्रूस पर ही चढ़ना चाहिए।

न्याय की एक न चली, हुआ वही जो भीड़ ने चाहा। क्रूस की ओर घसीटते हुए ईसा को सिपाहियों ने कोड़े मारे, लात घूँसे लगाये, थूका, काँटों की टोपी पहनाई और तरह-तरह से सताया। भीड़ को खुश करने को उत्सुक सिपाहियों के लिए इसके सिवाय और कोई उपाय था भी नहीं।

संसार में सदा से बहु-संख्यक अविवेकी लोग ही रहे हैं। विचारशीलों की संख्या उनसे सदा कम रहती है, सो भीड़ की बात जहाँ चलती है वहाँ न न्याय की बात चलती है और न औचित्य को मान्यता मिलती है। भीड़ जो चाहे सो करले जब ऐसी स्थिति आ जाय तो न कोई तथ्य को देखता है और न सत्य को।

प्रवाह का विरोध करने के लिये बहुत बड़ा आत्मबल चाहिए। उथले आदमी सत्य का समर्थन तभी तक करते हैं जब तक वैसा करना निरापद लगता है, जब भीड़ के प्रकोप में अपने ऊपर भी आँच आती दीखती है तो वे भी उखड़ जाते हैं।

ईसा के बारह शिष्य थे। इस कठिन अवसर पर वे सभी भाग कर कहीं जा छिपे। एक शिष्य पतरस न्यायालय के आँगन तक साथ गया। महायाजक के नौकरों ने कहा— क्या तू भी ईसा का साथी है। तो उसने कसम खाकर कहा मैं तो उन्हें जानता तक नहीं। दस शिष्यों का कहीं पता न था। बारहवें ने एक और चमत्कार किया था— उसने संकट की घड़ी आने से पूर्व ही सरकारी मुखबिर बनकर ईसा को पकड़वा दिया और तीस रुपया इनाम लिया। उसका नाम था— जुदास।

यों बाद में ईसा की महानता को सब ने समझा, भीड़ ने भी। तीस रुपये में गुरु को बेचने वाले जुदास ने वे रुपये महायाजक को वापस लौटा दिये और स्वयं आत्म ग्लानि की पीड़ा से बचने के लिये फाँसी लगाकर आत्महत्या करली। वे खूनी रुपये महायाजक ने भी वापस नहीं लिए और उन्हें खेत में गढ़वा दिया। खून से सने रुपये जिसमें गाढ़े गये थे वह खूनी खेत अभी भी अपने में अन्तर्कथा भरे जहाँ का तहाँ पड़ा है।

भीड़ में इतनी समझ कहाँ होती है कि वह विवेकपूर्ण निर्णय कर सके। आवेश के प्रवाह में लोग किधर भी बहते रहते हैं। इसलिए भीड़ की माँग को नहीं, न्याय की पुकार को मान्यता मिलनी चाहिए। ईसा-पवित्र बलिदान से निकला यह निष्कर्ष अनन्त काल तक आकाश में गूँजता रहेगा।

उपचार पतित पीड़ित का सबसे पहले

उन दिनों ईसा मसीह प्रचार कार्य में संलग्न थे। जगह-जगह जाना और नेक-नीयती का उपदेश देना उनका मुख्य काम था।

घूमते हुए एक बार वे एक नगर में पहुँचे, तो वहाँ उनके उपदेशों की धूम मच गई। नगर के हर कोने से सभाओं की माँग होने लगी। स्थान-स्थान पर उनका आयोजन होने लगा। उन्हें सुनने के लिए जन-समुदाय बाढ़ की तरह उमड़ पड़ता, फिर भी ऐसा जान पड़ता कि वे प्यासे के प्यासे ही हैं, ज्ञान-पिपासा उनकी शान्त हुई नहीं है। बड़ी संख्या में सम्भ्रान्त नागरिक भी उन्हें सुनने आते और उनके आचरण व उपदेश की प्रशंसा करते नहीं थकते। जो वे कहते, वह आचरण में भी दिखाई पड़ता। इसी कारण जन-समूह सैलाब-सा उमड़ता प्रतीत होता। गली-मुहल्लों, नुक्कड़-चौराहों पर सर्वत्र उन्हीं की चर्चा हर समय छायी रहती।

एक बार नगर के एक विशिष्ट मुहल्ले से उनकी माँग आयी। यह मुहल्ला उपेक्षित वेश्याओं का था। प्रभु ईशु ने वहाँ जाना स्वीकार

कर लिया। दूसरे दिन जब वे वहाँ पहुँचे, तो उनका भव्य स्वागत किया गया। मिलने-मिलाने की औपचारिकता के उपरान्त उन्होंने उद्बोधन आरंभ किया।

"देवियो! हमारे यहाँ धर्म-गुरुओं का कहना है कि भगवान् पाँचवें आसमान पर रहते हैं। मुस्लिम धर्म-वाले कहते हैं कि उनके भगवान् सातवें आसमान पर निवास करते हैं। हिन्दू धर्म में भी कुछ ऐसी ही मान्यता है कि उनके तथाकथित देवता ऊपर कहीं स्वर्ग लोक में वास करते हैं, किन्तु उस निराकार सत्ता को देखा किसने है? न हमने न आपने, पर यदि हम चाहें तो उसके साकार और जीवन्त स्वरूप को मनुष्य के रूप में अवश्य देख सकते हैं, मगर इस सामने बैठे जनसमुदाय के रूप में नहीं, वर्तमान समाज के रूप में नहीं। मनुष्य के इस रूप में तो अनेकों कमियाँ हैं, अगणित त्रुटियाँ हैं, अनेकानेक दोष-दुर्गुण हैं। जब तक हम इन्हें हटा-मिटा कर सही अर्थों में इन्सान नहीं बन जाते, तब तक हमें मनुष्य रूपी भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। हमें अपनी बुराइयाँ त्यागनी पड़ेंगी, व्यसन छोड़ने पड़ेंगे, द्वेष-भाव मिटाने और सद्भाव पनपाने पड़ेंगे, तभी वास्तविकता के निकट हम पहुँच सकेंगे। यह निर्माण का प्रथम चरण है और गलाई-ढलाई की आरंभिक एवं महत्वपूर्ण प्रक्रिया। इसके बाद भगवान् के निकट पहुँचने और उन जैसा बनने की बारी आती है।"

सभा में आज दिव्य नीरवता छायी हुई थी। लोग मंत्रमुग्ध होकर प्रभु ईशु का संदेश सुन रहे थे। सभी के चेहरों पर गहन गंभीरता स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। इससे पूर्व की सभाओं में श्रोता इतने बेसुध कभी दिखाई नहीं पड़े थे, पर सद्य: वहाँ का वातावरण ही अपूर्व था।

उन्होंने थोड़ा रुककर पुन: कहना आरंभ किया "भगवान् का जब कभी अवतरण होता है तो उसका प्रथम लक्षण है— भाव संवेदना, इससे व्यक्ति में दया, ममता, करुणा, उदारता, सेवा, सहकारिता जैसे भाव उसमें हिलोरें लेने लगते हैं। इस विश्व में न जाने कितने पथ-पन्थ और मत-मतान्तर हैं। उन सबके अपने पृथक्-पृथक् भगवान् हैं, उनका रूप-रंग, आकार-प्रकार सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु समानता एक ही बात की दिखाई पड़ती है कि वे सभी भाव-संवेदना से ओत-प्रोत हैं। हमें आज इसी गुणवाचक भगवान् को पृथ्वी पर उतारना है। देश, धर्म, भाषा, क्षेत्र व रूपवाचक भगवान् को नहीं। बगल में बहने वाली टेम्स नदी में आये दिन कितनी ही नालियाँ और गंदे नाले मिलते रहते हैं, पर उसमें विलय के बाद वह नाले का गंदा जल नहीं रह जाता, वरन् टेम्स नदी का पवित्र जल बन जाता है। उनमें एकरूपता आ जाती है। सभी एक-समान बन जाते हैं। आज इसी एकरूपता को इस धरित्री पर लाना है। ऐसा तभी संभव है, जब व्यक्ति परदु:ख कातरता का विकास करे, अपने को 'स्व' की परिधि में सीमाबद्ध न रखकर 'पर' की अपरिमित सीमा तक विस्तृत कर दे। उसमें औरों के दु:ख के प्रति कसक, दर्द के प्रति तड़पन, कष्ट के प्रति सेवा और कठिनाई के प्रति सहकार की भावना बरसाती नदी की तरह उफान मारने लगे, तो समझना चाहिए कि दैवी सत्ता का अवतरण होने लगा है और धरती पर स्वर्ग उतर आने की भूमिका बनने लगी है। जब पृथ्वी की अधिकांश आबादी ऐसे नर-रत्नों की हो जाय, तो यह कहने में किसी को तनिक भी संकोच न होगा कि स्वर्ग का मूर्तिमान रूप धरती पर अवतरित हो गया है और इंसान, भगवान् बन गये हैं, मानव, महामानव व नर, नारायण की प्रतिमूर्ति हो गये हैं, किन्तु ऐसा तभी हो सकेगा, जब देवियाँ कहलाने योग्य आप जैसी नारियाँ नर-कीटक की जिन्दगी छोड़कर नव-निर्माण के, समाज कल्याण के काम आयें।"

इतना कहकर ईसा ने व्याख्यान समाप्त किया। आज के भाव भरे उद्गार से उपस्थित जनों की बड़ी विचित्र स्थिति हो गई थी, प्रतीत ऐसा हो रहा था मानो कोई अपने वश में न हो। किसी के आँखों से झरझर आँसू बह रहे थे, तो कोई आनन्द के अतिरेक में उन्मत्त हो रही थी। किसी की स्थिति पागलों जैसी बन गई थी, तो कई निर्लिप्त भाव से बेसुध पड़ी थीं। कुल मिलाकर वातावरण अत्यन्त दिव्य बन गया था। सभी ने प्रभु की उपस्थिति में अपने विगत जीवन की मृत्यु और आज से नया जन्म धारण कर नये सिरे से नई जिन्दगी की शुरूआत का संकल्प लिया।

प्रभु जाने लगे, तो भावातिरेक की स्थिति में कैथरीन नामक वारांगना ने उनका रास्ता रोक लिया। भाव-विह्वल होकर कहने लगी—

"भगवान्! आज आपका शुभागमन न होता, तो न जाने हम सब कब तक इस गंदे जीवन को जीते और समाज को गंदा बनाते रहते। संभव था कि यह सम्पूर्ण जिन्दगी ही इसमें खप जाती, किन्तु धन्य हैं आप जो हम सब का उद्धार कर दिया, समय रहते आँखों पर बँधी पट्टी उतार दी और सही वक्त पर सही मार्ग-दर्शन किया, परन्तु हमारी एक उत्कट अभिलाषा है देव!" इतना कहकर वह उनके चरणों में गिर पड़ी और फूट-फूट कर रोने लगी। भगवान् ईसा ने उसे उठाया और आश्वासन के स्वर में कहा—

"तुम्हारी इच्छा यदि पूरी करने लायक हुई, तो हम अवश्य पूर्ण करेंगे। कहो, नि:संकोच होकर कहो।"

"अत्यन्त छोटी आकांक्षा है प्रभु!"— कैथरीन का प्रकम्पित स्वर उभरा "वह कदाचित् आपकी सामर्थ्य से परे भी नहीं है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि कल आप सब मेरे यहाँ पधारकर भोजन ग्रहण करें, तो मैं इस क्षुद्र जिन्दगी को किसी हद तक धन्य मान सकूँगी।"

"बस, इतनी सी-बात।"— प्रभु तनिक मुस्कराये और बोले— "हम अवश्य आयेंगे, तुम चिन्ता न करो।" इतना कहकर वे अपने शिष्यों के साथ चल पड़े, किन्तु इस घटना के उपरान्त पीछे चल रही शिष्य मण्डली में कुछ कानाफूसी होने लगी, जिसकी कुछ अस्फुट ध्वनि ईसा के कानों से भी टकराई। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य सिमोन से पूछा— "बात क्या है? किस प्रसंग की चर्चा चल रही है?"

मुखर सिमोन से न रहा गया। उसने कहा— "इन घृणित नारियों को आपने दिशा-निर्देश दिया, क्या इतना कम था, जो निमंत्रण भी स्वीकार कर लिया? इससे हमारी छवि धूमिल होगी। लोग हम पर अँगुली उठायेंगे।"

"सिमोन ! एक बात का सदा ध्यान रखना" प्रभु की गम्भीर वाणी उभरी— "बुरा कार्य निश्चय ही निन्दनीय है, उससे व्यक्ति को बचना चाहिए, किन्तु जिस कार्य से औरों का भला होता हो, उसमें पीछे भी नहीं रहना चाहिए । समाज चाहे कुछ भी कहता रहे, ऐसी भ्रान्ति देर तक टिकती नहीं । ग्रहण तो सूर्य पर भी लग जाता है, पर उसकी प्रखरता के आगे वह देर तक अपना अस्तित्व कहाँ कायम रख पाता है । यह नारियाँ समाज की कोढ़ हैं । हमें सबसे पहले इन्हीं का उपचार करना होगा और तुम तो स्वयं एक अच्छे चिकित्सक हो । एक बात बता सकोगे ?"

ईसा की प्रश्नवाचक दृष्टि सिमोन पर ठहर गयी । "दो रोगियों में से एक सर्दी-जुकाम का सामान्य और दूसरा जानलेवा गंभीर व्याधि से आक्रान्त हो, तो इनमें से प्राथमिकता किसे दोगे ?"

"गंभीर रोगी को ।" सिमोन का स्वर था ।

"यह भी ऐसी ही मरीज है, अतः इलाज प्रथम इनका ही होना चाहिए ।"—ईसा की दृढ़ वाणी थी । सिमोन निरुत्तर हो गया ।

दूसरे दिन ईसा अपने शिष्यों सहित कैथरीन के घर पहुँचे और भोजन किया । कैथरीन ने जब यह प्रसंग सुना, तो वह सन्त की सहृदयता पर गद्गद् हो उठी । उसी क्षण उसने ईसा का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया जिसने भी यह घटना सुनी, सन्त की महानता के प्रति उसका मन सहज श्रद्धा से भर उठा । हेम्पशायर, इंग्लैण्ड का यह मुहल्ला आज भी उक्त घटना के लिए प्रसिद्ध है ।

धनिकों की दुर्गति

ईसा अपने शिष्यों से बोले— 'ईश्वर की कृपा का गणित न्यारा है ।' एक मनमौजी था । आलीशान मकान, सेवा में खूब नौकर । रोज सुस्वाद भोजन । हमेशा खा, हमेशा पी का दौर । वह बड़ा धनी था । लेकिन ईसा बोलते-बोलते रुक गये । धीरज खोकर एक शिष्य पूछ बैठा— "लेकिन क्या हुआ भगवन ?" ईसा ने गम्भीर होकर अपनी बात जारी रखी— "वह प्रभु को भूल गया था । जिस प्रभु ने उसे इतनी आराम की जिन्दगी दी । उसे वह याद तक नहीं करता । घमण्ड में रहता । सीना ताने चलता । बड़ा गुरूर था उसे अपनी अमीरी और खुशहाली का । उसी धनी मनुष्य के दरवाजे पर लाजर नाम का एक कंगाल आया करता । धनी के घर मेज पर जो जूठन बचती, उसे दी जाती थी । उसकी देह पर घाव थे । कुत्ते उन घावों को चाटते थे । लाजर सदा हृदय से प्रभु का स्मरण करता और सतत् प्रभु की प्रार्थना कर उसके गुणगान गाता । अपनी दयनीय स्थिति का जरा भी दुःख न करता । वह दीन न था, नम्र था । प्रभु की करनी । एक दिन वह कंगाल मर गया, तो स्वर्ग के दूत नीचे उतर आये और उसे ले गये इब्राहीम के पास ! इब्राहीम ने उसका स्वागत करते हुए कहा— 'आओ बेटा ! मेरी गोद तेरी प्रतीक्षा कर रही थी ।' लाजर इब्राहीम की गोद में अत्यन्त आनन्द से लेट गया ।

उधर उस धनवान की भी मृत्यु हुई । उसके शव की यात्रा लोगों ने निकाली । बड़ी धूमधाम से शोक मनाया गया । शहर में सभा हुई । उसकी प्रशंसा की गयी । शव पर लोगों ने फूलों की वर्षा की । श्मशान में उसका शव दफनाया गया । देवदूतों ने उसकी रवानगी नरक में की । नारकीय आग में उसे बहुत ही यातनाएँ होने लगीं । वह चिल्लाने लगा । आँखें उठाकर क्या देखता है कि बहुत दूर पर इब्राहीम की गोद में लाजर शांति से लेटा है । वह लाजर जो इस धनी की जूठन पर जीता था । धनी ने चीखकर कहा 'हे पिता इब्राहीम ! दया करो ! लाजर को यहाँ भेजो । अपनी अँगुली का सिरा पानी में भिगो कर मेरी जीभ को वह ठण्डी करेगा । मैं तड़प रहा हूँ इस ज्वाला में, दया करो, दया करो ।" पर इब्राहीम के और उसके बीच एक बड़ी खाई थी । दूर से ही इब्राहीम बोला 'देख बेटा, अपने बीच यह जो खाई है उसे कोई लाँघ नहीं सकता । न तुम्हारी ओर से इधर कोई आ सकता है और न हमारी ओर से उधर कोई जा सकता है । वह धनी व्याकुल स्वर से चिल्लाया— "ऐसा क्यों किया ? मुझ पर दया क्यों नहीं ?" इब्राहीम बोला— "मेरे बेटे, याद करो । अपने जीवन में सब अच्छी से अच्छी चीजें तुम ले चुके हो और लाजर अपने जीवन से बुरी से बुरी चीजें । अब वह यहाँ चैन से, शांति से है ।" धनी को याद आई, पृथ्वी पर उसके भाई थे । उसने कहा— 'हे पिता ! लाजर को पृथ्वी पर मेरे घर भेजो । वहाँ मेरे पाँच भाई हैं । लाजर जाकर उनको सावधान करे । ताकि वे मेरे जैसे इस यातना के स्थान में न आयें ।"

इब्राहीम ने कहा— "पृथ्वी पर मूसा है और भी कई सन्त सत्पुरुष हैं ! तुम्हारे भाइयों को उनका उपदेश सुनने दो और उसे अमल में लाने दो ।" धनी चिन्ता में डूबता बोला— 'नहीं, नहीं ! वे उनकी बातें नहीं मानेंगे । मैं भी उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया करता था ।" इब्राहीम ने कहा— "तो फिर मृत्यु से उठकर लाजर वहाँ जाये, तो लाजर की बातें भी वे नहीं सुनेंगे । अतः इनके कर्मों का फल वे भुगते ।"

इतना कहकर ईसा शांत हो गये । कहानी समाप्त हुई । शिष्य आपस में फुस-फुसाने लगे । उनसे ईसा ने कहा— "दुनिया को हम ठग सकते हैं, लेकिन परमात्मा प्रभु हमारा हृदय जानता है । वह न्याय करता है । अपने ही मौज-शौक में रहने वाले, दीन-दुःखियों की उपेक्षा और अवहेलना करने वाले इस धनी जैसे घमण्डी को प्रभु कभी क्षमा नहीं करते ।

आत्मसत्ता कभी पापी नहीं होती

सहमते हुए उसने दृष्टि उठाई । लगा वह इस दृष्टि के माध्यम से अपनी समूची व्यथा एक बारगी उड़ेल देना चाहती हो, नेत्रों के मौन स्वरों से अस्तित्व के स्पन्दन झर रहे थे । न जाने कितने समय से वह उनके पास आने की सोच रही थी । कितनी आशाएँ, कितनी आकांक्षाएँ नहीं सँजोई थीं आज तक उसने । कभी-कभी तो दिवस रात्रि भावनाओं और कल्पनाओं की उमगती लहरों के बीच क्षण की तरह खो जाते । पर मिलना इतना सहज नहीं था । समाज की पारम्परिक व्यवस्था ने एक-एक अनगिनत लौह शृंखलाओं से उसके अस्तित्व को जकड़ रखा था । उबरने के हर प्रयास का परिणाम— होता विफलता और विफलता को निराशा का जामा पहनने में भला कितनी देर लगती थी । निराशा के इस निविड़तम में आशा की एकमात्र किरण

सोचते-सोचते अचानक उसके सारे शरीर में प्राण विद्युत की लहर दौड़ गई ।

'कातूशा' । सामान्य स्वरों में कहे गए इन शब्दों के साथ ही वह स्वयं में चैतन्यता अनुभव करने लगी । निराशा, भय तथा डर का सम्मिलित कुहासा शब्दघात से छँटता प्रतीत हुआ । एक विलक्षण चमत्कार की अनुभूति कर रही थी वह । चमत्कार की विलक्षणता शब्दों में नहीं कहने वाले की वाणी में थी । अन्यथा शब्द तो उसके लिए चिर प्राचीन थे । शैशव से लेकर आज तक दिन में पता नहीं कितने बार अपने इस नाम का उच्चारण सुनती आयी थी । पर आज की बात ही कुछ और थी । पुकारने वाले के पास आने का इशारा किया । पास बैठे हुए लोगों ने एक-एक कर दोनों को तीक्ष्ण नजर से देखा । देखने वालों की आँखों में आश्चर्य और तिरस्कार के मिले-जुले भाव थे ।

यहूदी शमौन को भी कम आश्चर्य न था । उसी ने उन्हें अपने यहाँ भोजन के लिए निमंत्रित किया था । सोचा इसी बहाने महापुरुष के चरणों से अपना भवन पवित्र हो जाएगा । पर तब तो उसे असहनीय लगने लगा जब कातूशा ने पास बैठकर उनके चरण पोंछे फिर उन्हें चूमने लगी । शमौन के मन को ढेरों शंकाओं ने घेर लिया । वह सोचने लगा '' यदि यह सर्वज्ञ होते तो इस दुराचारिणी को अपना स्पर्श क्यों करने देते ।''

वस्तुस्थिति को समझकर ईसा मुस्कराए । उन्होंने शमौन को अँगुली के संकेत से पास बुलाया । पास आने पर शंका का निवारण करने के लिए एक कहानी सुनाने लगे— ''एक महाजन के दो कर्जदार थे । एक पर पाँच सौ दीनारों का कर्ज था और एक पर केवल पचास दीनारों का । महाजन के पास दोनों व्यक्ति गए और अपनी असमर्थता प्रकट कर गिड़गिड़ाने लगे ।

महाजन ने कहा— ''यदि आप इस स्थिति में नहीं हैं कि कर्ज पटा सकें तो आपको माफ किया । राशि में कम-ज्यादा का फर्क जरूर था, पर माफी दोनों को बराबर दी गई । यदि ध्यान से देख सको तो पाओगे कि सबसे ज्यादा माफी पाँच सौ दीनार वाले कर्जदार को मिली । क्योंकि महाजन की दृष्टि में इसके प्रति निष्ठा और पात्रता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक थी ।''

शमौन ! यही बात तो आज कातूशा के सम्बन्ध में है । इसने अपने में जितनी पात्रता विकसित की है उतनी यहाँ मैं तुममें से किसी में नहीं देख रहा हूँ । क्या तुम्हें नहीं मालूम कि यह अपने समूचे जीवन को बदल डालने की योजना बना चुकी है । जबकि तुम केवल एक समय भोजन करवाकर ही उसका पुण्य लूटना चाहते हो । इसलिए मैंने तुम्हारी निष्ठा के अनुसार दिया है और कातूशा को उसकी निष्ठा और विश्वास के अनुसार ।

उपस्थित सभी लोग एक स्वर से चिल्लाए— ईसा ! तुम कातूशा को क्षमा कैसे कर सकते हो ? यह तुम्हारा दुस्साहस है । दुष्टों को क्षमा करने का अधिकार तो केवल ईश्वर को है ।

इन सबों के क्रोधित स्वर पर उन्हें हँसी आ गई । थोड़ा रुक कर हँसते हुए बोले— मैंने आज तक नहीं सुना कि ईश्वर किसी को वेश्या या दुराचारी बनाता है । किसी भली स्त्री को वेश्यावृत्ति की ओर ले जाने वाले तुम सब समाज के प्रतिनिधि हो । तुम्हें किसी कन्या को वेश्या बनाने का अधिकार किसने दिया ? कातूशा को अपने विगत जीवन के दुष्कृत्यों पर कितनी आत्मग्लानि है । इस आत्मग्लानि से अधिक पवित्र भला किस सरिता का जल है ।

ईसा ने कातूशा की ओर मुड़ते हुए उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखते हुए कहा— देवि ! तुम्हारी आत्मग्लानि विश्वास की रक्षा करेगी और सारे कलुष तथा पापों को भस्म कर कंचन की तरह खरा बना देगी । प्रायश्चित अन्त:करण की संरचना में फेर बदल कर डालने के लिए उतारू प्रबल पुरुषार्थ है । इसके द्वारा हर कोई अपने विगत पाप-कर्मों का शमन करके नव-जीवन प्राप्त कर सकता है ।

न कोई बुरा है न पापी

जेकस कई शराब-घर चलाता था । उसके शराब-खानों से जहाँ रईस अमीरों को शराब बेची जाती थी वहीं गरीब मजूदरों को भी शराब बेची जाती थी । अमीर उमराव तो उसके यहाँ से कोई ज्यादा मात्रा में शराब मँगाते नहीं थे । उसके शराब-घरों में अधिक ग्राहक गरीब और मजदूर-पेशा ही आते थे । अपने ग्राहकों को फँसाने के लिए वह बड़ी ही चालाकी से काम लेता था पहले तो अपने आदमियों को उनके पास दोस्ती करने के लिए भेज देता था जो उनसे दोस्ती गाँठ कर उनमें शराब की लत लगवा देते थे और जेकस के नियमित ग्राहक बना देते थे ।

शराबियों के पास कोई पूँजी तो जुट नहीं पाती । अगर होती भी है तो वह धीरे-धीरे खत्म हो जाती है । फिर अगर वह आदत किसी गरीब आदमी को लगे तो उसके परिवार का अमन चैन भी जाता रहता है । वह अपने परिवार की जरूरतों की उपेक्षा कर शराब पीता रहता है । जेकस ऐसे लोगों को उस समय उधार देता था फिर बड़ी बेरहमी से अपना पैसा वसूल करता था । इसलिए लोग जेकस को अनाचारी और दुष्ट व्यक्ति के रूप में जानने लगे थे । इस धन्धे के अतिरिक्त सम्राट ने उस पर टैक्स वसूली का काम भी छोड़ दिया था । जिस समय वह टैक्स वसूली के लिए निकलता था उस समय तो उसका रूप ही बदल जाया करता था । हाथ में हण्टर व कोड़े लिए जैकस जब भी टैक्स वसूली करने निकलता तो लोग डर के मारे घरों में जा छुपते । जिन पर बकाया टैक्स निकलता था— न दे पाने पर वह उन्हें कोड़ों से पिटवाता और बुरी-बुरी यातनाएँ देता ।

एक बार उस गाँव में ईसा का आगमन हुआ । लोगों ने बताया कि जेकस बहुत दुराचारी व्यक्ति है और वह ईसा के आने से बहुत क्रुद्ध है । क्योंकि ईसा लोगों को नेक व शराफत की जिन्दगी जीने का उपदेश देते थे । उनके उपदेशों का लोगों पर प्रभाव भी होता था । कइयों ने उनसे प्रभावित होकर शराब, नशा और कुमार्ग छोड़ा था । जेकस के नाराज होने की बात जब ईसा को पता लगी तो उन्होंने कहा ''मैं जेकस के घर जाऊँगा और कल उसी का आतिथ्य ग्रहण करूँगा ।''

जेकस को जैसे ही इस बात का पता चला तो उसने जंगल की ओर जाने का कार्यक्रम बना लिया। वह ईसा से मिलना नहीं चाहता था, क्योंकि उसने उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व के बारे में तरह-तरह की कहानियाँ सुन रखी थीं। जब ईसा उसके घर पहुँचे तो उन्हें पता चला कि वह तो जंगल में चला गया है। वे भी कहाँ मानने वाले थे उसे खोजते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ जेकस था। उसने जब उनको देखा तो बड़ा हैरान हुआ और हैरानी का तब तो और ठिकाना नहीं था जब ईसा ने कहा "जेकस मैं आज तुम्हारा अतिथि बनने के लिए आया हूँ"। ऐसा कह उसे हृदय से लिपटा लिया। पेड़ों की आड़ में चुपके खड़े शिष्य यह सब सुन रहे थे। उन्होंने सोच रखा था कि अब शायद उपदेश शुरू हो। अब सत्संकल्पों के लिए दबाव डाला जाय। किन्तु वहाँ ऐसा तो कुछ भी नहीं था। दोनों ही मौन और भाव-भरे नेत्रों से एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। अन्त: में जेकस ने चुप्पी तोड़ी। वह बोला "प्रभो मैं आपके सामने नतमस्तक हूँ, आज से आपके सामने संकल्प लेता हूँ कि न तो स्वयं कुमार्ग पर चलूँगा और न दूसरे को प्रेरित करूँगा साथ ही अब तक की अपनी सारी कमाई दरिद्र-नारायण की सेवा में अर्पित करूँगा तथा जिनसे मैंने अनुचित धन प्राप्त किया है उन्हें चौगुना वापस करने का वचन देता हूँ" ऐसा कह ईसा के चरणों में मस्तक झुकाया और उठकर चलता बना।

पेड़ों की आड़ में खड़े शिष्य यह सब क्रिया-कलाप देख रहे थे। उन्हें जेकस का व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे आड़ से निकल ईसा के सामने आए और भौंचक्के स्वर में बोले "प्रभु! आपने तो उपदेश भी नहीं दिया फिर यह चमत्कार कैसे घटित हुआ? इतने खतरनाक आदमी को आपने कैसे वश में कर लिया?"

"प्रभावी व्यक्तित्व होता है उपदेश नहीं— मेरे बच्चे! ईसा का स्वर उभरा। बुराइयाँ छोड़ने का संकल्प दिलाने का यथार्थ अधिकार उन्हीं को है जो मन, वाणी, अन्त:करण से पूर्णतया मुक्त हो चुके है। तुम में अवश्य ही बुराइयाँ शेष होंगी तभी जेकस ने संकल्प नहीं ग्रहण किया। वस्तुत: कोई व्यक्ति बुरा नहीं होता और न खतरनाक। उससे कुछ भूलें होती है जिनका परिमार्जन निश्चित रूप से सम्भव है।"

आत्मविश्वास

ईसा मसीह की असाधारण सफलता एवं उनके अभिनव उत्कर्ष में उनके व्यक्तित्व में निहित गुण ही मुख्य थे। उनका सबसे पहला गुण था उनका आत्मविश्वास। ईसा में असीम विश्वास था वे कोई भी कार्य करते समय उसकी सम्पन्नता के प्रति पूर्ण आश्वस्त रहते थे तथा पूरे विश्वास के साथ उसे पूर्ण करते थे। दूसरा विलक्षण गुण उनमें था व्यक्तित्व को परखने की शक्ति। अपने प्रथम सम्पर्क में ही वे मनुष्य में अन्तर्हित योग्यता एवं शक्ति का आभास कर लेते थे तथा तदनुसार अपने अनुकूल योग्यता वाले व्यक्तियों को वे अपने पास रखते थे। उन्होंने अपने १२ प्रमुख शिष्य चुने थे। ये बारह व्यक्ति, बाह्य रूप से कोई अच्छी पृष्ठभूमि के नहीं थे वह इनके चयन के समय इनके साथी आशान्वित नहीं थे, परन्तु बाद में इन बारह शिष्यों की कर्मठता को देख सब लोग आश्चर्यचकित हो ईसा मसीह की परख की प्रशंसा करने लगे थे। इन बारह व्यक्तियों में से कोई मछुआ था तो कोई साधारण दुकानदार। वे सभी साधारण-से व्यक्ति थे। उनमें न कोई विशेष योग्यता ही थी न कोई मान्य उपलब्धि ही उनके पास थी तथापि वे आगे चलकर ईसा की सेवा में आकर स्वर्णवत् बन गये। इन व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को विकसित करने के लिए ईसा मसीह ने सर्वप्रथम इन्हें 'शिक्षण' देना प्रारम्भ किया। अनवरत तीन वर्षों तक अपनी पूरी क्षमता एवं योग्यता की शक्ति लगाकर ईसा मसीह ने इन बारह व्यक्तियों का शिक्षण कर इनमें अभिनव संस्कार डाले।

तीन वर्ष के प्रयासों के बाद भी शिष्यगण ईसा मसीह को पूर्णत: समझ नहीं पाये थे। ये शिष्यगण सदैव ही यह पूछते रहते थे कि इतना सब कर ईसा कौन-सा राज्य स्थापित करने जा रहे हैं व उस राज्य में उन्हें (शिष्यों को) क्या-क्या पद मिलने वाले हैं। अपने शिष्यों के इस प्रकार के उपहासास्पद के नैराश्यपूर्ण व्यवहार से भी ईसा ने धैर्य नही खोया वे निरन्तर अपने लक्ष्य की पूर्ति में लगे ही रहे व फिर विश्व ने देखा कि अन्तत: ईसा के विश्वास, धैर्य व साहस को सफलता मिली।

जैसा बनना चाहते हो वैसा करो

ईसा ने कहा— तुम बड़े बनना चाहते हो तो उन गुणों को पूजो जिनके कारण मुझे बड़ा मानते हो। जिसे बड़प्पन प्यारा हो वह सबका सेवक बने और सबसे छोटा माने। सुख चाहते हो दूसरों को सुख दो और बन्धन से छूटना चाहते हो तो उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करो जो तुमसे भी अधिक बड़े बन्धनों में जकड़े हुए दु:ख सह रहे हैं।

वैराग्य का उपदेश

महात्मा ईसा कहीं जा रहे थे कि मार्ग में उन्होंने अपने मैथ्यू नामक शिष्य को देखा। उसके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह उसे रो-रोकर दफन कर रहा था।

मैथ्यू ने जैसे ही ईसा को देखा, वैसे ही दौड़ कर उनके पास आया और आस्तीन चूमकर तुरन्त ही अपने पिता के शव की ओर लौट पड़ा।

ईसा ने समझा कि इसकी मत नहीं मरी। अत: उन्होंने मैथ्यू को पुकार कर अपने पास बुलाया और उसे आज्ञा दी— 'जिसकी मृत्यु हो गई वह भूत का साथी हुआ, तू उसकी लाश से मोह कर, वर्तमान से दूर क्यों होना चाहता है?'

जब तक मैथ्यू कुछ समझे तब तक ईसा फिर बोल पड़े— 'समय बड़ा बलवान है, इसने अनेक लाशों को यत्नपूर्वक दफनाया है। उसके लिए तेरे पिता की लाश का दफनाना कुछ कठिन कार्य नहीं है।'

मैथ्यू इस असमंजस में था कि वह इस समय क्या करे? तभी उसने ईसा की स्पष्ट आज्ञा सुनी— 'भूत को भूत देखता रहेगा, तू यहाँ से मेरे साथ आ।'

शिष्य को गुरु की आज्ञा माननी पड़ी और वह लाश को वहीं पड़ी छोड़कर उनके साथ चल दिया। संयोग की बात है कि जब यह दोनों आगे बढ़े तो ईसा का एक अन्य शिष्य भी उन्हें अपने पिता की लाश दफनाता हुआ मिला। परन्तु जैसे ही उसने अपने गुरु को देखा वैसे दौड़कर उनके पास पहुँचा और उनके साथ चल दिया। ईसा ने उसे देखा तो बोले— अरे, तू क्यों चला आ रहा है ?'

शिष्य ने साथ चलने का हठ किया तो ईसा बोले— 'ऐसी कोई जल्दी नहीं है। मैं आगे के गाँव में ठहरूँगा। तुम लाश को दफना कर वहीं चले आना।'

वह शिष्य तो चला गया, परन्तु एक-समान घटनाओं पर दो प्रकार की व्यवस्था सुनकर मैथ्यू को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने गुरु से पूछा— 'इसका क्या कारण है गुरुदेव ! आपने मुझे तो अपने पिता की लाश को दफनाने भी नहीं दिया और उसे अपने पिता को दफन करने की आपने स्वयं आज्ञा दी। एक प्रकार की घटनाओं पर ही दो प्रकार की आज्ञा क्यों ?'

ईसा ने उसे समझाया— ''मैथ्यू ! मैं जो कुछ कहता हूँ वही मेरे अन्तर की आवाज है और वह आवाज एक निश्चित मत बना कर निकलती है। जीवन की धारा को एक घाट पर बाँधा जाना कभी सम्भव नहीं है। धर्म यह कहता है कि एक विचार पर दूसरे विचार को मत टिकने दो। परन्तु ऐसा करना लोहे के बंधन को दृढ़ करने के समान है और मनुष्य का यथार्थ बन्धन लौह-शृंखला नहीं, कच्चा सूत है।''

अत: जो राग में फँसा है उसे वैराग्य का उपदेश दो, परन्तु जो राग-मुक्त है, उसे वैराग्य का उपदेश देने से कोई लाभ नहीं।

चिकित्सक का संतोष

ईसा का अधिकांश समय पापी और दुखियों के साथ बीतता। वे उन्हीं के साथ अधिकांश समय चर्चा करते और सेवा-सहायता में निरत रहते। एक दिन धनवानों और विद्वानों की शिष्य मण्डली उनके पास आई और कहने लगी कि आप हम वरिष्ठों की ओर अधिक ध्यान क्यों नहीं देते। हमारी सहायता से आपका प्रयोजन अधिक सधेगा।

ईसा मुस्कराये और बोले रोगी को चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है। सच्चा चिकित्सक वही है जो गोली का अवसर ढूँढ़ने की अपेक्षा रोगियों की व्यथा समझे और उन्हीं की सहायता करते हुए संतोष लाभ करे।

दुर्गुणों से आत्मा का हनन

जुदास यों जीसस का शिष्य भले ही था, किन्तु यहूदियों की तरह उसके भी मन में जीसस पर कोई भरोसा, कोई श्रद्धा-विश्वास न था। कहते हैं उसने तीस रुपये के लोभ में आकर भेद खोल दिया और जीसस पकड़ में आ गये। जिस दिन जीसस को सूली पर चढ़ाया जा रहा था, उस दिन जुदास भी उन लाखों की भीड़ में मौजूद था। अन्तिम समय जो शब्द जीसस के मुँह से निकले कि ''परमात्मा इन बेचारे अज्ञानियों को क्षमा करना। इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं।'' इन शब्दों को सुनकर जुदास की आत्मा काँप गई। उसे ऐसा लगा जैसे उसने कौड़ियों के मोल हीरा गँवा दिया। घटना की वास्तविकता का ज्ञान तब हुआ जब दूसरे दिन जुदास ने आत्महत्या कर ली। उसे क्या पता था कि तीस रुपये में वह जगत् की अमूल्य निधि बेच रहा है। इसी प्रकार जब मनुष्य बेईमानी, चोरी जैसे कुकृत्य करता है, तो यह भूल जाता है कि वह अपने अन्दर बैठी पवित्र आत्मा को बेच रहा है।

पीड़ितों-पतितों की सेवा

ईसा मसीह केपर नाम के नगर में पहुँचे। वे दुष्ट-दुराचारियों के मुहल्ले में ठहरे और वहीं रहना भी शुरू कर दिया।

नगर के प्रतिष्ठित लोग ईसा के दर्शन करने पहुँचे तो उन्होंने आश्चर्य से पूछा— 'इतने बड़े नगर में आपको सज्जनों के साथ रहने की जगह न मिली या आपने उनके बीच रहना पसंद न किया ?'

हँसते हुए ईसा ने कहा— 'वैद्य मरीजों को देखने जाता है या चंगे लोगों को ? ईश्वर का पुत्र पीड़ितों और पतितों की सेवा के लिए आया है। उसका स्थान उन्हीं के बीच तो होगा।'

विश्वास की शक्ति सामर्थ्य

भयंकर तूफान से गेलीलो झील का पानी बाँसों ऊँचा उछलने लगा। जो नावें चल रही थीं वे बुरी तरह थरथराने लगीं। लहरों का पानी भीतर पहुँचने लगा तो यात्रियों के भय का बारापार न रहा।

एक नाव में एक कोने में कोई निर्द्वन्द्व व्यक्ति सोया पड़ा था साथियों ने उसे जगाया। जग कर उसने तूफान को ध्यानपूर्वक देखा और फिर साथियों से पूछा— आखिर इससे डरने की क्या बात है ? तूफान भी आते ही हैं, नावें भी डूबती ही हैं और मनुष्य मरते ही हैं। इसमें क्या ऐसी अनहोनी बात हो गई जो आप लोग इतनी बुरी तरह हड़बड़ा रहे हैं ?

सभी उसका उत्तर सुनकर अवाक रह गए। निर्द्वन्द्व व्यक्ति ने कहा— विश्वास की शक्ति तूफान से बड़ी है। तुम विश्वास क्यों नहीं करते कि यह तूफान क्षण भर बाद बन्द हो जायेगा।

भयभीत यात्रियों के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना उस अलमस्त ने आँखें बन्द कीं और अपने भीतर की झील में उतर कहा— पूरी शक्ति के साथ कहा— शान्त हो जा, मूर्ख ! तूफान तुरन्त शान्त हो गया।

सहमे हुए नटखट बच्चे की तरह तूफान रुक गया। नाव का हिलना बन्द हुआ कि यात्रियों ने चैन की साँस ली। अब उस अलमस्त यात्री ने— जीसस क्राइस्ट ने साथियों से पूछा— दोस्तो, विश्वास बड़ा है। तूफान को तुमने उससे भी बड़ा क्यों मान लिया था ?

समय को समझें और फर्ज निभाएँ

महाप्रभु ने धरती पर कोप बरसाने का निश्चय किया। सात दिन प्रलय मेघ बरसाकर सब कुछ को डुबा देने का निर्णय उन्होंने नूह को भी बता दिया।

महाप्रलय के बाद कुछ न बचेगा तो नई सृष्टि कैसे बनेगी ? नूह की उस जिज्ञासा पर महाप्रभु मुस्कराये, उनकी दूरदर्शिता को देखकर एक नाव बनाने का आदेश दिया। जिस पर वे खुद भी रहें और अपने साथ-साथ पशु-पक्षियों के भी कुछ जोड़े रख लें। जलयान बनाने के लिए एक वर्ष का समय दिया गया। वर्ष पूरा हुआ। महाप्रभु ने नूह को बुलाया और नाव बनने की बात कही। नूह ने सिर नीचा कर लिया। बोले— तीन बढ़ई बीमार पड़ गये। लकड़ी बेचने वाला मुकर गया। मैं क्या करता ? चालीस दिन की मुहलत और दी गई। कहा गया कि इस अवधि में काम हो जाना चाहिए। चालीस दिन बीतने पर जब नूह खाली हाथ लौटे, तो महाप्रभु ने गरमाई दिखाई और कारण पूछा। "लुहार यात्रा पर चले गये। मजदूरों ने हड़ताल कर दी। दोनों लड़के गाने-बजाने में लगे रहे। किसी ने साथ न दिया मैं क्या करता ?" नूह ने विवशता व्यक्त करते हुए कहा। सात दिन का अवसर और दिया गया। पशु-पक्षियों के जोड़े बटोर लेने की आज्ञा हुई। अन्तिम दिन आया तो भी वह अकेले खाली हाथ खड़े थे। बिना पूछे ही बोले— पशु-पक्षी भाग खड़े हुए। पुचकारने से भी नहीं लौटे, न वे बिकते हैं और न मेरी पकड़ में आते हैं। महाप्रभु अब की बार अधिक क्रुद्ध थे। बोले— ऐसी ही गैर-जिम्मेदारियाँ देखकर तो मैं आजिज आ गया हूँ और महाप्रलय बरसा रहा हूँ ? यदि धरती वाले समय और फर्ज को समझते तो मुझे उसे डुबाने की जल्दी क्यों पड़ती ?

आत्मज्ञान

ईसा जब बारह वर्ष के थे, माता मरियम के साथ फरुह का त्यौहार मनाने योरुशलेम जा रहे थे। रास्ते में एक मन्दिर में उपदेश होते उन्होंने सुना और वहीं रुक गये।

मरियम का अनुमान था लड़का भीड़ में बिछुड़ गया होगा और अगले पड़ाव पर मिल जायेगा। बहुत प्रतीक्षा के बाद भी जब अगले पड़ाव पर वे न मिले तो मरियम वापस लौटीं और उस पड़ाव को खोजा जहाँ से लड़का बिछुड़ा था।

देखा तो ईसा धर्मोपदेशकों से विवाद कर रहे थे और कह रहे थे जो तुम कहते हो— क्या उसके अतिरिक्त और कुछ सच नहीं हो सकता है ? क्या सत्य किसी वर्ग विशेष की मान्यताओं तक ही सीमित है ? पंडित उसके विलक्षण तर्कों के आगे सकपका रहे थे।

मरियम ने लड़के को पकड़ा और उठ चलने के लिए कहा।

ईसा ने कहा— जननी मैं तो अपने पिता का काम कर रहा हूँ, तुम मुझे कहाँ घसीटे लिये जा रही हो। फरुह का त्यौहार योरुशलेम में मनाया जाय इससे तो यही अच्छा है कि पिता के प्रकाश को अँधेरे में बन्दी रहने से छुड़ाया जाय।

मरियम ने पूछा— भला तेरा पिता कौन है ? तू तो कुमारी के पेट से जन्मा है।

ईसा बोले, जो शरीर को जन्म देते है वे पिता नहीं हैं। असली पिता है जो आत्मा में प्रकाश बनकर रहता है। त्यौहार मनाने के उत्सव की तुलना में क्या यह उचित नहीं कि कुहरे को हटाने वाली रोशनी पैदा की जाय। मरियम क्या कहती वह भी लड़के के पीछे चुपचाप बैठ गई और बालक के अद्भुत तर्कों को ध्यानपूर्वक सुनने लगी।

आत्मपरिष्कार

जब ईसा योरुशलेम से वापस लौटे तो उनके शिष्यों ने आवभगत की और अपनी-अपनी मनोभावनाएँ उनके सामने रखीं।

शिष्यों में से दो प्रमुख थे— जेम्स और योहन्ना। उन्होंने कहा— प्रभु यदि हमें प्यार करते हैं तो हमारा पद अपने समान ही ऊँचा कर दीजिए।

ईसा गम्भीर हो गये और कहा— बच्चो, हर कोई स्वर्ग के राज्य में अपने ही प्रयत्नों से प्रवेश करता है। दूसरा कोई दूसरे के लिए कुछ नहीं कर सकता, ऊँचा बनने के लिए मत ललचाओ, छोटे बनकर रहो, विनीत बनो और प्रेम भरी सेवा को अपनी धर्म-साधना बनाओ। जो नीचा-छोटा बनता है वही तो ऊँचा पद पाता है।

इन्हें पता नहीं कि यह क्या कर रहे हैं ?

जब नगर-नायक विक्षिप्त जनता की भीड़ लेकर ईसा को उनके निवास-स्थान पर गिरफ्तार करने लगे तो उनके शिष्य शमौन पतरस से न देखा गया, वह तलवार निकाल कर गिरफ्तार करने वालों की ओर झपटा।

महात्मा ईसा ने उसे रोकते हुए कहा— शमौन ! तलवार म्यान में करो। इन पर क्रोध मत करो। यह बेचारे नहीं जानते कि यह क्या कर रहे हैं। किन्तु तुम्हें तो जानना चाहिए कि तुमको क्या करना चाहिए और क्या कर रहे हो। यदि इनको अपने कृत्य का ज्ञान रहा होता तो ये ऐसा कदापि नहीं करते। अज्ञानी व्यक्ति क्रोध के नहीं, दया के पात्र हैं।

वातावरण शांत रखो और जो मृत्यु का प्याला परमपिता ने मेरे लिये पीने को भेजा है, उसे मुझे खुशी से पीने दो। मेरे कर्तव्य में हिंसा की दुर्गन्ध न भरो। इन्हें खुद क्षमा करो और परमपिता से भी क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करो।

सुधार का उपाय—प्रेम का विस्तार

गड़रिये ने भेड़ को बड़े प्यार से कन्धे से उतारा, उसे स्नान कराया, बाल सुखाये और हरी घास खाने को दी। जब भेड़ उस घास को खा रही थी, तब गड़रिये का आह्लाद देखते ही बनता था। महापुरुष ईसा उस गड़रिये की पर्णशाला के समीप ही बैठे विश्राम कर रहे थे। उन्होंने इस प्रसन्नचित्त गड़रिये को देखकर पूछा— वत्स ! आज तुम इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हो ?

महात्मन् ! यह भेड़ जंगल में प्राय: हमेशा भटक जाती है। मेरे पास सौ और भी भेड़ें हैं पर वह सब सीधे घर आती हैं, इसे इतना प्यार इसलिये दिया कि यह फिर कहीं न भटके।

और तब ईसा ने अपने शिष्यों से कहा— जो अपनी राह से भटक गये हैं, उन मनुष्यों को प्यारपूर्वक ही सीधे मार्ग पर लाना चाहिए।

संस्कारित आत्मभूमि की महत्ता

ईसा मसीह ने उस दिन का प्रवचन यों आरम्भ किया— "एक किसान ने जौ बोये। कुछ दाने पगडण्डी पर गिरे और तुरन्त उन्हें चिड़ियाँ चुग गयीं। कुछ गिरे पथरीली भूमि पर, जहाँ मिट्टी की परत बहुत पतली थी। ये बीज अंकुरित तो हुए, पर धूप में जल्दी झुलस भी गये, क्योंकि उनकी जड़ें गहरी न थीं। कुछ दाने कँटीली झाड़ी में गिरे, जहाँ काँटों ने उनके अंकुरों को दबा डाला। कुछ भाग्यवान् बीज अच्छी मिट्टी में गिरे, अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित हुए ! समझे ?" फिर उन्होंने रूपक का यों खुलासा किया कि धर्म-वचनों की गति भी जौ के इन दानों जैसी होती है और केवल संस्कारवान् आत्मभूमि में पड़ा धर्म-वचन फल देता है।

सिद्धान्तों को महत्त्व दें

ईसा ने जिस समय खुलकर अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू किया, उनके बहुत-से शत्रु हो गये। उनके एक शिष्य ने उनकी रक्षा के लिये साथ रहने का अनुरोध करते हुये कहा— "प्रभु ! तू संसार का कल्याण कर रहा है और ये देशवासी तुझे कष्ट देना ही अपना कर्तव्य समझ रहे हैं। तुझे मार डालना चाहते हैं। अब मैं तेरी रक्षा के लिये तेरे साथ रहूँगा।"

महात्मा ईसा अपने शरीर की रक्षा के लिये किसी को कष्ट न देना चाहते थे। उन्होंने शिष्य का दिल न तोड़ते हुये निषेध किया—

"वत्स ! देख जंगली जानवरों तथा पक्षियों तक के माद और बसेरे हुआ करते हैं। किन्त मुझ मनुष्य के पुत्र को मनुष्यों के संसार में कहीं सिर छिपाने तक को जगह नहीं है। तू मेरे साथ कहाँ-कहाँ भटकता रहेगा। मेरी शरीर रक्षा की अपेक्षा तू मेरे सिद्धान्त एवं विचारों को अधिक महत्त्व दे।"

विवेक दृष्टि

ईसा एक गाँव से होकर गुजर रहे थे। उन्होंने एक आदमी को वेश्या के पीछे भागते हुए देखा, तो रुक गए और उसे अनुचित से रुकने की बात समझाने लगे।

गौर से चेहरा देखा तो वह पूर्ण परिचित-सा लगा। स्मरण करने पर पुरानी घटना याद आई। उन्होंने फिर कहा—अरे तू तो वह व्यक्ति है जिसने दो वर्ष पूर्व अंधेपन से छुटकारा पाने की याचना की थी और मैंने प्रभु से प्रार्थना करके ज्योति दिलाई थी।

उस व्यक्ति ने ईसा को पहचान लिया और बोला— "आप जो कहते हैं सो ही यथार्थ है।" "मैंने तुझे दृष्टि इसीलिए दिलाई थी कि उसका उपयोग ऐसे घिनौने काम के लिए करे।"

व्यक्ति कुछ देर चुप बैठा रहा और अपनी भूल पर आँसू बहाता रहा, पर आगे पैर बढ़ाते हुए, महाप्रभु के चरण चूम उसने दबी जबान से इतना और कहा— "आप में नेत्र दृष्टि दिलाने की सामर्थ्य थी, यदि विवेक दृष्टि पहले दिलाई होती तो कितना अच्छा होता ?"

ईसा ने आज नया पाठ पढ़ा वे लोगों की सुविधा दिलवाने की अपेक्षा उनकी समझ सुधारने की बात को प्राथमिकता देने लगे।

दुनिया का दुर्भाग्य भी सौभाग्य बन जाता है

मृत्यु का संकट संपन्न होते देखकर परेशान होने वाले शिष्यों से महात्मा ईसा ने कहा—

"तुम लोग परेशान क्यों हो रहे हो ? आज जब तुम मुझ पर मृत्यु की घटा देखकर इतना परेशान हो रहे हो तो यदि सत्य की प्रतिष्ठा में तुम्हारे प्राणों पर संकट आ पड़ा तो उसे किस प्रकार सहन करोगे ?"

वह समय आता है जब लोग धर्म के नाम पर देवदूतों को मार डालते हैं और समझते हैं कि उन्होंने पुण्य किया, परमात्मा की सेवा की। किन्तु दुनिया का यह दुर्भाग्य अन्त में सौभाग्य बन जाता है। क्योंकि वे पिता के संदेशवाहक देवदूत को मार कर ही उसका और उसके वचनों का महत्त्व समझ पाते हैं।"

मेरा भाई-बन्धु और कोई नहीं

एक बार महात्मा ईसा बहुत-से जिज्ञासुओं से घिरे हुये उन्हें उपदेश कर रहे थे। तभी किसी ने आकर उनसे कहा कि— "तुम्हारे भाई और माता वहाँ बाहर खड़े तुम से बात करना चाहते हैं। तुम जाकर उनसे मिल लो।"

महात्मा ईसा बड़े साधारण भाव से यह उत्तर देकर अपने उपदेश कार्य में लग गये—

"संसार में मेरा भाई और मेरी माता अन्य कोई नहीं, यही जिज्ञासु जनता ही मेरे भाई और मेरी माता है क्योंकि जो मेरे स्वर्गीय पिता के आदेश पर चलें वही मेरे भाई-बहिन व माता-पिता हैं। मैं परमात्मा के आदेशों का पालन करने वाले को ही बन्धु-बान्धव मानता हूँ।"

पापियों का हित

महात्मा ईसा अपनी दयालुता के कारण सदा दुःखी और पापी कहे जाने वाले अपराधियों से हर समय घिरे रहते थे। यहाँ तक कि जब वे भोजन किया करते थे, तब भी बहुत-से पतित लोग उन्हें घेरे रहते थे।

एक बार वे बहुत-से नीच जाति पापी और पतितों के साथ बैठे भोजन कर रहे थे। यह देखकर उनके एक विरोधी ने उनके शिष्य से कहा— "तेरे गुरु ! जिसे तुम लोग भगवान् का बेटा और पवित्र आत्मा बतलाते हो, इस प्रकार नीचों और पतितों से प्रेम करता है, उनके साथ बैठा भोजन कर रहा है फिर भला तुम लोग किस प्रकार आशा कर सकते हो कि हम लोग उसका आदर और उसकी बात मानें ?"

महात्मा ईसा ने विरोधी की बात सुनली और विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया— "भाई वैद्य की आवश्यकता रोगियों को होती है, निरोगों को नहीं। धर्म की आवश्यकता पापियों को होती है, उनको नहीं जो पहले से ही अपने को धार्मिक समझते हैं। मैं धर्मात्माओं का नहीं पापियों का हित करना चाहता हूँ। उन्हें मेरी बहुत जरूरत है।"

आत्मभाव

मैं भूखा था, तुमने खाना दिया। मैं प्यासा था, तुमने पानी दिया। मैं निराश्रित था, तुमने स्थान दिया। मैं नंगा था, तुमने कपड़े पहनाये। मैं बीमार था, तुमने सेवा की। मैं संकटों में जकड़ा पड़ा था तुमने मुझे सहायता पहुँचाई— 'चलो मेरे स्वर्ग में।'

धर्मात्माओं ने पूछा— हमने कब आपको भोजन, पानी, आश्रय, वस्त्र आदि दिये और कब सेवा-सहायता की ?

ईशु ने उत्तर दिया— मैं तुमसे सच कहता हूँ— जो कुछ दीन-दुःखियों के लिये किया गया है वह मेरे ही लिये है।

जिन्होंने देना सीखा है

ईसा अपने शिष्यों के साथ धर्म-प्रचार के लिए जा रहे थे। रास्ते में रेगिस्तान पड़ा। दूर तक कोई गाँव दिखाई न देता था। भोजन की समस्या उत्पन्न हुई तो ईसा ने कहा— "जो कुछ तुम्हारे पास है उसे इकट्ठा कर लो और मिल-बाँट कर खाओ।"

शिष्यों के पास कुल मिलाकर पाँच रोटी और दो टुकड़े तरकारी निकली। गुरु ने उसे इकट्ठा किया और मन्त्र बल से अन्नपूर्णा बना दिया। शिष्यों ने भरपेट खाया और जो भूखे भिखारी उधर से निकले वे भी उसी से तृप्त हो गये। सोलोमन नामक शिष्य ने पूछा— गुरुवर, इतनी कम सामग्री में इतने लोगों की तृप्ति का रहस्य क्या है ?

ईसा ने कहा— हे शिष्यो ! धर्मात्मा वह है जो खुद की नहीं सबकी बात सोचता है। अपनी बचत सबके काम आये इस विचार से ही तुम्हारी पाँच रोटी अक्षय अन्नपूर्णा बन गईं। जो जोड़ते हैं वे ही भूखे रहेंगे। जिन्होंने देना सीखा है उनके लिए तृप्ती के साधन आप ही आ जुटते हैं।

असली पड़ोसी कौन ?

"एक आदमी योरूशलेम से यरीहो को जा रहा था, डाकुओं ने उसे घेर कर उसके कपड़े उतार लिये। उसे मार-पीटकर वे अधमरा करके छोड़ गये।"

एक पादरी वहाँ से निकला। वह उसे देखकर कतराकर चला गया।

एक लेवी भी उधर से निकला। वह भी उसे देखकर कतराकर चला गया।

तब आया एक सामरी। उसने उस घायल को देखा, तो उसे उस पर तरस आया। उसने उसके घावों पर तेल लगाया। दाख का रस डालकर पट्टी बाँधी। उसे अपनी सवारी पर चढ़ाकर सराय में ले गया और उसने उसकी सेवा-टहल की।

दूसरे दिन उसने दो चाँदी के सिक्के निकालकर भटियारे को दिये और कहा— 'इसकी ठीक ढंग से सेवा-टहल करना। जो कुछ तेरा और लगेगा, वह मैं लौटने पर तुझे भर दूँगा।'

"बता, इन तीनों में से उस घायल का पड़ोसी कौन ठहरा ?" ईसा ने पूछा

वह बोला— "वही, जिसने उस पर दया दिखायी।"

ईसा ने कहा— "जा, तू भी ऐसा ही कर।"

शास्त्रार्थ ही नहीं सेवा भी

एक बार महात्मा ईसा अपने विचार प्रकट करने और प्रश्नों का उत्तर देने के लिये एक सभा में बुलाये गये। सभा में पहुँचते ही उन्होंने देखा कि वहाँ उपस्थित एक व्यक्ति हाथ की पीड़ा से बहुत कष्ट पाता हुआ कराह रहा है। महात्मा ईसा तुरन्त उसका उपचार करने में लग गये। उनका यह कृत्य देख विरोधियों ने समझा कि वे सभा की कार्यवाही से कतरा रहे हैं। निदान एक ने व्यंग करते हुए कहा— "ईसा, तू तो शास्त्रार्थ करने आया है फिर उस मुख्य कार्य को छोड़कर हकीमी कैसे करने लगा है ?"

महात्मा ईसा ने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया— क्या तुममें से कोई ऐसा है, जिसके एक ही भेड़ हो और वह कुएँ में गिर जाय तो वह सारा काम छोड़कर उसे निकालने में न जाये ? मेरा मुख्य काम तो पीड़ितों की सेवा करना है, लोगों का दुःख-दर्द दूर करने का है। शास्त्रार्थ तथा व्याख्यान तो जीवन के साधारण कार्यक्रम हैं।

स्वर्ग का अधिकारी कौन?

"महात्मन ! स्वर्ग का अधिकार किसे मिलता है ?" एक ग्रामीण ने महाप्रभु ईसा से प्रश्न किया। पास ही एक बालक खेल रहा था, ईसा मसीह ने उसे उठाकर संकेत किया— इसे।

"आपका आशय नहीं समझा महात्मन्— " ग्रामीण ने फिर कहा। ईसा हँसे और बोले— "जो बच्चे की तरह भोला और निरहंकार है, वही स्वर्ग का अधिकारी है।

जैन तीर्थंकर—भगवान् महावीर

जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का पहला नाम 'वर्धमान' था। इनके पिता 'लिच्छविराज सिद्धार्थ' और माता का नाम 'त्रिशला' था। इनका जन्म-स्थान वैशाली का कुण्डग्राम और जन्म तिथि चैत्र सुदी त्रयोदशी थी।

जिन महापुरुषों की जन्म तिथि संसार के लिए पर्व और जिनका जन्म स्थान तीर्थ के समान पवित्र माना जाता है निःस्सन्देह उनके निर्विकार आचरण में कुछ महान् गुण होते भी हैं। उन गुणों में लोक-मंगल का गुण सबसे अधिक महान् होता है। यों तो संसार में योगी और महात्माओं की कभी कमी नहीं रही, किन्तु संसार उन सभी को कभी याद नहीं करता। संसार उन्हीं को याद किया करता और नाम लिया करता है, जो उसके हित के लिए कुछ कर जाते हैं।

श्री महावीर महात्मा थे, परमार्थी थे और 'जिन' थे किन्तु उनका यह सब कुछ था, संसार के कल्याण के लिए ही। यदि वे चाहते तो अन्य योगियों की तरह किसी गुफा-कन्दरा में चले जाते और आत्मलाभ प्राप्त करके ऋद्धि-सिद्धि अथवा निर्वाण प्राप्त कर सकते

थे। किन्तु वे हजार कष्ट सहकर भी संसार में ही रहे और उसी के लिए ही कल्याण कार्य करते रहे।

जन-कल्याण की भावना से जन्मी हुई महावीर की सेवा-भावना दिन-दिन बढ़ती गई और वे अपनी संकुचित सीमा से निकल कर संसार की विस्तृत परिधि में प्रवेश करने लगे। ज्यों-ज्यों उनका यह विकास बढ़ता गया, वे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं से विरक्त ही नहीं, प्राणी मात्र के लिये व्याकुल होते गये और आखिर शीघ्र ही वह घड़ी आ गई, जब उनकी सकरूण आत्मा ने लोकमंगल के लिये संन्यास लेने की ठान ली।

महाराज सिद्धार्थ को मंत्रियों ने न केवल सूचना ही दी, बल्कि परामर्श भी दिया गया कि वे कुमार वर्धमान को साधु होने से रोकें। माता-पिता ने राजकुमार को डाँट-फटकार से बदलता न देखा तो उन्होंने उसकी विरक्ति भावना नष्ट कर देने के लिए विवाह कर दिया।

अब, पुत्र कर्त्तव्य के वशीभूत, माता-पिता की आज्ञा पालन-स्वरूप जब उन्होंने विवाह करके एक उत्तरदायित्व ले ही लिया, तब उसे खींचतान के साथ निभाना कहाँ की बुद्धिमानी होती ? अपनी इच्छा से विरुद्ध विवाह को यदि वे एक बोझ की तरह ढोते तो यह उस पत्नी के प्रति घोर अत्याचार होता जो विभोरता के साथ पति को सुखी करके स्वयं सुखी होने आई थी।

राजकुमार वर्धमान ने अपने दाम्पत्य जीवन को एक आदर्श जीवन की तरह चलाया। राजन्य होने के बावजूद भी वे एक साधारण व्यक्ति की तरह गृहस्थी के छोटे-बड़े कामों में रुचि लेते, सेवकों के होते हुए भी सारे काम अपने हाथ से करते। पत्नी को आत्मा की गहराई से इस सीमा तक प्यार किया कि उसका मानवीय अनुराग श्रद्धा में बदल गया और उसका ममत्वपूर्ण सारा मोह वर्धमान की महानता में डूब गया।

उनकी पत्नी राजकुमारी यशोदा ने स्पष्ट अनुभव कर लिया, उसका पति परमात्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। वे केवल उसकी ही सम्पत्ति नहीं, बल्कि सारे संसार की विभूति हैं, जिसका कि लाभ दुनिया की दुःखी मानवता को मिलना ही चाहिए। कुछ की समय में एक पुत्री रत्न के रूप में पति का प्रसाद पाकर यशोदा सन्तुष्ट हो गई और उसने पति की इच्छानुसार उन्हें संसार को सौंप देने की तैयारी कर ली।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी कच्ची लगन वाले के लिये वैराग्य-मार्ग में 'विवाह' एक विशेष बन्धन है किन्तु जो अन्तरात्मा से मोह विरक्ति हो चुका हो, उसे संसार का कौन-सा प्रलोभन ध्येय मार्ग से विचलित कर सकता है ? वर्धमान ने गृहस्थी को अनासक्ति भाव से भोगा और पत्नी को इतना अधिक प्रेम किया कि कोई दूसरा सारे जीवन में भी नहीं कर पाता। वर्धमान ने अपने सरल स्वभाव तथा सादा जीवन से जन-साधारण के सम्मुख सामान्य जीवन का एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

अपने बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार से वर्धमान ने पत्नी को भी परोपकार के लिए हर त्याग करने के लिए तैयार कर लिया था, किन्तु माता-पिता का मोह कम कर सकने का कोई उपाय नहीं था। पत्नी पर तो उनका अधिकार था और उसका कर्त्तव्य था कि वह पति की महान् भावनाओं के अनुरूप अपने को ढाले और उसने वैसा ही किया भी, किन्तु माता-पिता तो उस परिधि में आते न थे। माता-पिता का अधिकार स्वयं वर्धमान पर था। वह नहीं चाहते थे कि उनका शोक-समाहित कर संन्यास ले लिया जाये। कारुणिक हृदय होने के कारण वे माता-पिता के महत्त्व का मूल्य समझते थे।

समय आया और जो माता-पिता अपने को छोड़कर वर्धमान को परमार्थ पथ पर नहीं जाने देना चाहते थे, वही एक दिन स्वयं उसे छोड़कर चले गये। माता-पिता के दिवंगत होने के समय वर्धमान की आयु अठारह वर्ष की थी, किन्तु फिर भी वे संन्यास लेकर घर से चल देने को तैयार हो गए। माता-पिता की आकस्मिक मृत्यु ने उनमें यह विचार प्रबल कर दिया कि किसी भी शुभ कार्य में देर न करनी चाहिए, क्योंकि इस क्षण-भंगुर शरीर का कोई ठीक नहीं कि किस प्रकार किस समय धोखा दे जाये ?

वर्धमान को घर से जाते देखकर उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन ने उन्हें रोककर कहा— "वर्धमान अभी तो माता-पिता के बिछुड़ने की घड़ी पुरानी भी नहीं पड़ी, उसका घाव बिल्कुल ताजा है और अब तुम भी मुझे छोड़कर जा रहे हो— क्या मेरा दुर्भाग्य इतना क्रूर और कठोर है ? परिवार को अपने विछोह का आघात सहन कर लेने के योग्य हो लेने दो, तब जाना और इसके लिये मैं तुमसे दो साल की अवधि माँगता हूँ।"

वर्धमान के बढ़ते हुये कदम रुक गये। माता-पिता की भाँति ही आदरणीय अपने भाई का हृदय तोड़ना भी उन्होंने उचित न समझा। वर्धमान ने इस दो वर्ष की अवधि को भी अपने आगामी जीवन के अभ्यास में ही लगाया। वे घर पर रुक तो अवश्य गये, किन्तु पूर्ण साधु की भाँति ही।

इधर नन्दिवर्धन ने उनके भाग की जो लाखों रुपये की सम्पत्ति दी थी, वह भी उन्होंने स्नेहियों, सेवकों तथा दीन-दुःखियों को बाँट दी। नन्दिवर्धन की ज़रा-भी इच्छा नहीं थी कि वह संन्यास लेते हुए अपने छोटे भाई का दाय भाग दबा लें। वास्तव में वे कितने अभागे होते होंगे, जो अवसर का लाभ उठाकर अपने भाइयों का अधिकार छीन लेते होंगे। यदि नन्दिवर्धन उनका भाग न भी देते तो भी उन्हें कोई शिकायत न होती। जो सारा घर-बार छोड़कर संन्यास ले रहा हो उसको सम्पत्ति से क्या काम ? फिर भी नन्दिवर्धन ने आग्रहपूर्वक उनका भाग उन्हें दे ही दिया और उसका वितरण होता देखकर उन्हें हर्ष एवं सन्तोष ही हुआ।

दो वर्ष बीते और वर्धमान ने 'महावीर' होकर अपना रास्ता लिया, उन्होंने अपने केश तथा श्मश्रु अपने हाथ से उखाड़ फेंके। एक कोपीन के अतिरिक्त सारे वस्त्र त्याग दिये। कुछ समय घूमने के बाद वर्धमान ने निश्चय किया कि अब वे किसी उपयुक्त स्थान पर जाकर समाधि का अभ्यास करेंगे, मौन धारण करेंगे और भिक्षा का अन्न हाथ पर रखकर ही खायेंगे। निदान वे इसी उद्देश्य से आस्थिक

नाम ग्राम में पहुँचे। किन्तु वहाँ पर उन्होंने देखा कि वहाँ जनता अन्ध-विश्वासों में फँसी हुई, भूतों-प्रेतों और देव-दानवों में बहुत विश्वास करती है और धूर्त लोग इस आधार पर उसे मूर्ख बनाकर खूब ठगते हैं।

आस्थिक की जनता की दुर्दशा और धूर्तों की दुरभिसन्धियों को देखकर उनकी आत्मा तड़प उठी। वे समाधि लगाना और मौन धारण करना तो भूल गये और जनता का अन्धविश्वास दूर करने लगे तथा धूर्तों से उनकी रक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। इस काम के लिए वे वहाँ पर चार माह तक ठहरे और तब ही वहाँ से चले, जब जनता ने अन्ध-विश्वासों को मूलोच्छेदन कर दिया।

आस्थिक से चलकर महावीर मौराक पहुँचे तो उन्हें पता चला कि वहाँ की जनता बुरी तरह से अनाचार के चक्र में फँसी हुई है। महावीर का समाधि साधना का कार्यक्रम पुनः रुक गया। तन्त्र-मन्त्र का पाखंड दूर करने के लिए वहाँ भी चार माह तक रुकना पड़ा।

अनन्तर वे स्वेताम्बी और सुरभिपुर होते हुए नालन्दा पहुँचे, जहाँ उनका परिचय मोखिल पुत्र गोसाल से हुआ। गोसाल उस समय के बहुत बड़े विद्वान् एवं धर्म-प्रवर्तकों में से था, किन्तु वर्धमान की त्याग, तपस्या और मानव कल्याण की भावना से वह इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें अपना गुरु मान लिया।

महावीर का यह प्रभाव न उनकी किसी बड़ी तपस्या का था और न विद्या-विभूति का, अपितु उनका यह प्रभाव उनकी उस उज्ज्वल आत्मा का था, जो हर समय विश्व-कल्याण की कामना से विह्वल रहती थी। मनुष्य कोई साधना न करे, किसी तप में अपने को न जलावे, तब भी एक अकेली परिव्याप्त विश्व भावना से उसकी वाणी तथा व्यक्तित्व में इतना तेज आ जाता है कि सम्पर्क में आया हुआ कोई भी बड़े से बड़ा व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

अपने संन्यस्त जीवन में बारह वर्ष तक देश-देश घूमते और कष्ट सहते-सहते वे पूर्ण परमहंस पदवी के योगी हो गये।

वे नंगे घूमते, बच्चे उन पर ईंट चलाते, लोग ताली बजाते और पागल-पागल कहते हुए शोर मचाते, किन्तु वीतराग वर्धमान मौन मानस में डुबकी लगाके, न सुनने के समान सहते और सत्य की खोज में लगे रहते।

अब उन्होंने पानी, साधारण साग-सब्जी तक का त्याग कर दिया था। यदि कभी पानी पीते भी थे तो गर्म पानी का ही प्रयोग किया करते थे। उन्होंने शरीर की सारी यातनायें मिटा डालने के लिए सुख की नींद सोना, जाड़ा, गर्मी और बरसात से बचना छोड़ दिया। वे जाड़ों में खुले मैदानों और गर्मियों में लुहारों आदि की दुकानों पर पड़े रहते थे। बारह वर्ष तक निद्रा का त्याग करके वे पूर्ण जिन हो गये और संसार के सारे दुःख-सुखों से परे हो गये।

शरीर साधना में सिद्ध होकर महावीर राजगिरि, मुंगेर, बसाढ़, बनारस, अयोध्या आदि प्रदेशों का भ्रमण करते हुए राढ़ पहुँचे जहाँ उन्हें सबसे अधिक कष्ट उठाने पड़े।

इस प्रकार अपनी अद्‌भुत एवं असहनीय अवस्था में बारह साल तपने के बाद उन्हें वैशाख सुदी दशमी को ऋजु बालिका नदी के तट पर जमिया नामक ग्राम में 'केवल दर्शन' अर्थात् बोध प्राप्त हुआ।

प्रकाश पाते ही उन्होंने सुख के साथ मार्ग की खोज करली और तब उन्होंने अपने मौन व्रत को उपदेशों के रूप में तोड़ दिया। उन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थों तथा असंख्यों सभाओं द्वारा पाखण्डियों तथा वंचकों को परास्त कर जनता को धार्मिक अत्याचारों से मुक्ति कराई। लाखों शिष्य एवं प्रचारक बनाये। उनके शिष्यों में केवल जन-साधारण ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े राजा, राजकुमार तथा राजकुमारियाँ भी थीं। ज्ञान तथा सत्य-पथ की प्यासी जनता की भीड़ उनके पास जाती, उपदेश सुनती तथा दीक्षा ग्रहण करने लगी जिससे सम्पूर्ण देश में उनका यश फैल गया।

अंग, काशी, श्रावस्ती तथा राजगृह आदि में राजाओं तथा राजवंशियों को दीक्षा देते और उपदेश करते हुए अपनी जन्मभूमि 'वैशाली' में गये, जहाँ पर उन्होंने अपनी पत्नी, पुत्री तथा दामाद 'जामालि' को भी धर्म-दीक्षा दी। इस प्रकार जब वे देश का धार्मिक कायाकल्प करके पावापुरी आये, तब कठोर तपस्या तथा व्यस्त कार्यक्रमों में उनका स्वास्थ्य समाप्त हो चुका था। वहाँ उन्होंने निरन्तर उपदेश देते और उपवास करते हुए दीपावली की रात को निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीर ने सत्य के जिस मार्ग का उपदेश दिया था, उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का विशेष स्थान था।

कहना न होगा कि यह भारत के वैदिक धर्म का ही सार था, किन्तु चूँकि महावीर ने इसे एक विशेष रूप से जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित किया, इसलिए यह एक भिन्न धर्म जैसा माना जाने लगा। अन्यथा भारत के सारे बौद्ध, जैन तथा सनातन आदि सारे धर्म वैदिक धर्म की शाखाएँ ही हैं।

भगवान् महावीर—मर्मस्पर्शी कथा प्रसंग

अपरिग्रह का अर्थ

भगवान् महावीर राजगृही में थे। अपरिग्रह पर उनकी व्याख्यान-माला चल रही थी। प्रतिदिन हजारों की संख्या में प्रजा आती और अपनी संग्रह एवं लोभवृत्ति महामात्य के चरणों में छोड़ जाती। सारा देश तब समता के सागर में हिलोरें लेने लगा। धनिक वर्ग निर्धनों के हित के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने लगा। भौतिकवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक था, सो लोगों में आध्यात्मिक वृत्ति विकसित होते ही प्रजा में सुख-शांति, सौम्यता का वर्षण होने लगा।

गाथापति महाशतक उन दिनों राजगृही में सर्वश्रेष्ठ धनिक था। उसके व्यापार में कोटियों स्वर्ण मुद्रायें लगी हुई थीं। महाशतक का जितना धन उसके व्यापार में लगा था, उससे अधिक उसके सुरक्षित कोष में था। उसकी विलासिनी धर्म-पत्नी रेवती इस धन का अधिकांश सुखोपभोग स्वयं करती थी। महाशतक उसे अपना सौभाग्य मानता था, इसलिये वह बहुत दिन हो जाने पर भी तथागत की सेवा में उपस्थित नहीं हुआ।

पर भगवान् तो मानो उसी के उद्धार के लिये ठहरे हुये थे। प्रवचन सुनने वालों की भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। राजगृही के सम्पन्न धनपति अपना कोष प्रजा के लिये दान कर चुके हैं, यह चर्चा प्रतिदिन महाशतक तक पहुँचती किन्तु उसके कानों में जूँ तक न रेंगी।

एक दिन महाशतक ने अभूतपूर्व घटना सुनी। एक बालिका भगवान् महावीर के पास पहुँची और उनके चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पित करती हुई बोली— "महाभाग! मेरे जीवन में क्षणों का अक्षय कोष सुरक्षित है, क्या यह परिग्रह नहीं है कि मैं अपनी आयु का उपयोग अपनी ही सुख समृद्धि में करूँ। धन के संग्रह की भाँति अपने ही सुखों में जीवन का उपयोग क्या संग्रह नहीं। यदि हाँ तो आपके चरणों में मेरा जीवन समर्पित है। आज्ञा हो देव! मैं प्रजा की भलाई का कार्य किस प्रकार करूँ।"

आयुष्मते! तुम धन्य हो। शीश पर वरद-हस्त फिराते हुए भगवान् महावीर ने कहा— "जिस देश के नर-नारी समाज के प्रति इतना आदर भाव रखते हैं, वहाँ न कोई निर्धन रहेगा, न दीन और दरिद्र। भद्रे! ऐसे पुण्य तीर्थों की रक्षा के लिए एक ही आवश्यकता शेष रहती है और वह यह कि उसे ज्ञान की धारा और विवेक के प्रकाश से निरन्तर स्नात रखा जाये सो तुम जाओ और सारे देश में मानवीय सदाचरण और ज्ञान की धारा बहाओ।"

इस घटना का समाचार महाशतक के पास पहुँचा तो उसकी आत्मा हाहाकार कर उठी। देश का बच्चा-बच्चा समाज के उत्कर्ष के लिए उत्सर्ग होने को तैयार है और वह अक्षय कोष का स्वामी होकर भी प्रजा के हित के लिये कुछ भी करने को तैयार नहीं। उसके मन में अपने ही लिये तीव्र घृणा उठ खड़ी हुई। उस रात महाशतक अच्छी तरह नींद भी नहीं ले सका।

रेवती से परामर्श किये बिना ही महाशतक दूसरे दिन प्रातःकाल तथागत के चरणों में उपस्थित हो गया। उसने अपना सम्पूर्ण वैभव तीर्थंकर के चरणों में समर्पित कर दिया। भगवान् ने उसके शीश पर आशीर्वाद के हाथ फेरते हुए कहा— "उठो तात्! जिस देश में तुम्हारे जैसे पुरुषार्थी व्यक्ति इतना त्याग करने को कटिबद्ध हो सकते हैं, उसमें धर्म और संस्कृति अपराजेय रहती हैं, उस देश के नागरिकों में परस्पर मनोमालिन्य नहीं रहता। संगठन और परस्पर हित की दृष्टि रखने वाली प्रजा का कोई भी अहित करने में समर्थ नहीं हो सकता। महाशतक को उस दिन जितना सन्तोष और हलकापन अनुभव हुआ, उतना किसी महाभोग से भी नहीं हुआ था।"

रेवती जिस बात के लिए तैयार नहीं थी, वह आखिर हो ही गयी। जैसे ही उसने सुना महाशतक ने सारा कोष प्रजा के लिए दान कर दिया, मार खाई नागिन के समान वह फुफकार कर उठी। सारा घर उसने सिर पर उठा लिया। खटपाटी लेकर उस दिन रेवती कोप-भवन जा पहुँची।

महाशतक घर पहुँचा तो दास-दासियों ने सारी बात कह सुनाई। महाशतक को उससे कोई क्षोभ नहीं हुआ। निरन्तर गिरने वाली जल की बूँदें जिस तरह कमल-पत्र का भेदन करने में असमर्थ होती हैं, उसी प्रकार परिग्रह के पाप से मुक्त महाशतक की आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं उठा। वह सीधे कोपभवन पहुँचा और बहुतेरा समझाया, किन्तु रेवती स्त्री-हठ त्यागने को तैयार न हुई।

उस दिन से महाशतक ने सामान्य प्रजा का-सा आहार, वस्त्र और जीवनोपयोगी वस्तुयें ही लेना प्रारम्भ कर दिया। रेवती के लिए यह और अपमान की-सी बात लगी। सो उसने भी बदला लेने का निश्चय किया।

दूसरे दिन रेवती ने चुपके-से गौशाला के दो शिशु बच्चों का वध कराकर वे पाकशाला भिजवाये और रसोइये को स्वादिष्ट व्यंजन बनाने का आदेश देकर आप साज-शृंगार में लग गई। सायंकाल उसने माँसाहार के साथ मदिरा भी पी। फिर वह सीधे महाशतक के आवास कक्ष की ओर चली गई। जो इन दिनों साधना कक्ष में बदल चुका था। इससे पूर्व कि महाशतक कुछ कहे, उसने अपने आपको उसकी गोद में समर्पित कर दिया।

वासना और वैराग्य में विजयी हुआ क्रोध। महाशतक को अपनी पत्नी की इस मूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। उसने कल्पना भी न की थी कि रेवती अब पुनः मदिरापान कर उसकी आत्मनिर्माण की साधना में विघ्न उपस्थित करेगी। विद्युत की कड़क जिस प्रकार बिना कहे दीवारों से प्रतिध्वनित होकर गूँजती है, महाशतक का क्रोध भी उसी प्रकार वर्तमान परिस्थिति से टकराकर द्विगुणित हो उठा। उसने अपनी पत्नी रेवती को जो भी कह सकता था, दुर्वचन कहे और दाँत पीस कर उसे मारने को दौड़ा। महाशतक ने अब तक जितना सहन कर लिया था, वही उसके लिये कम नहीं था।

महाशतक ने पत्नी रेवती को कड़ककर डाँटा ही था कि— सामने तथागत आ गये। सावधान करते हुए उन्होंने पूछा— "तात्! तुमने तो अपरिग्रह का व्रत लिया है, फिर उसे तोड़ने का यह साहस क्यों कर रहे हो?"

विस्मय विदाक! महाशतक पूछ बैठा— "भगवन्! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, मैं तो अपने संकल्प की रक्षा ही कर रहा हूँ। रेवती मेरे व्रत में आड़े आ रही है, सो मैं तो उसे दंड देने के लिये समुद्यत हुआ हूँ।"

तात्! यह न भूलो कि— तथागत ने कोमल करुणाशीलता में कहा— "आत्मा के अन्तराल में मधुर शब्दों का भी कोष भरा हुआ है और जो उसे गुप्त रखता है, प्रजा की भलाई के लिए बाँटने का साहस नहीं कर सकता, वह भी परिग्रह का ही पापी है। तात्! केवल

धन का प्रजा के लिए उत्सर्ग ही नहीं वरन् अपने जीवन, अपनी प्रतिभा अपनी योग्यता और आत्मिक गुणों का प्रजा के लिए दान ही अपरिग्रह का सच्चा अर्थ है । यदि तुम उनका दान नहीं कर सकते तो तुम्हारा सम्पत्ति-दान व्यर्थ है ।''

महाशतक को अपनी भूल का पता चला । उसने रेवती से अभद्र शब्दों के लिए क्षमा माँगी और एक बार फिर भगवान् के चरणों में गिर गया । इस बार उसके पीछे रेवती भी शीश झुकाये विनित मुद्रा में खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी कि महाशतक उठें और मैं भी तथागत की पद-रज स्पर्श कर धन्य बनूं ।

क्रोध का प्रभाव

चण्डकौशिक ने प्रचण्ड तप तो किया पर उन्होंने क्रोध का शमन न किया । वह दुष्ट दुर्गुण उनमें ज्यों का त्यों बना रहा । एक दिन उनके पैर से मेंढक कुचल कर मर गया । साथी तपस्वी ने इस प्रमाद की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो चण्डकौशिक आग-बबूला हो गये । वे उस साथी को मारने दौड़े । क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है । आवेश में उन्हें बीच में खड़ा खंभा भी न दीख पड़ा । दौड़ते हुए उसी से टकरा गये । यही चोट उनकी मृत्यु का कारण बन गई । मोहवश उन्होंने उसी आश्रम में फिर जन्म लिया और साधना के द्वारा उसी के संचालक बने । फिर भी उनका क्रोध गया नहीं ।

एक बार कुछ भक्त-जन उपहार और पूजा उपकरण लेकर उपस्थित हुए । भक्तों के व्यवहार और उपहार में उन्हें कुछ दोष दिखा और वे क्रुद्ध होकर मारने दौड़े । भक्त भागे, अधिपति पीछे दौड़े । दौड़ तेजी से चल पड़ी । आवेश ने उन्हें पागल जैसा बना दिया । रास्ते के व्यवधान भी उन्हें सूझ न पड़े । कुँऐ में पैर पड़ा और उसी में उनकी मृत्यु हो गई ।

तीसरी बार भी चण्डकौशिक का जन्म उसी आश्रम में हुआ । अब की बार वे भयंकर विषधर सर्प की देह लेकर जन्मे । जो कोई उधर से निकलता उसी का पीछा करते और जो पकड़ में आ जाता डस कर उसका प्राण हरण कर लेते । भगवान् महावीर एक बार उस आश्रम में पधारे तो उन्हें भी चण्डकौशिक के क्रोध का भाजन बनना पड़ा । दंशन से उनका पैर क्षत-विक्षत हो चला । फिर भी करूणा की उस प्रतिमूर्ति के चेहरे पर क्रोध न आया । वे मुस्कराते रहे और उस क्षुद्र प्राणी को अपनी अनन्त क्षमा का पात्र बनाते रहे । आश्रमवासी उस दुष्ट जीव को मारने आये तो उन्होंने रोक दिया ।

चण्डकौशिक ने भगवान् महावीर की उच्च सत्ता को पहचाना तो अपनी भूल पर पश्चाताप करने और क्षमा माँगने लगा ।

भगवान् ने कहा— भद्र ! तुम निर्दोष हो । दोषी तो यह क्रोध ही है । यही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है । इसी के प्रभाव से मानव प्राणी पागल, अन्धा और अपराधी बनता है । तुम ने तप किया पर क्रोध न जीता । पहले क्रोध जीतो और उसके पश्चात् तप करो ।

चण्डकौशिक ने भगवान् महावीर का उपदेश शिरोधार्य किया और वे क्रोध समेत षड्‌रिपुओं को परास्त करने की साधना करने लगे । इसी से उन्हें सिद्धि भी मिली ।

दुष्कृत्यों का परिणाम

भगवान् महावीर आत्मसंयम की साधना में उन दिनों लीन थे । उन्हें उद्विग्न करने के लिए संगम नामक एक दुष्ट पीछे पड़ा हुआ था । आये दिन वह उन्हें क्षुब्ध करने के लिए कुछ न कुछ कुचक्र रचता रहता ।

एक दिन उसने खौलता दूध उनके ऊपर उलट दिया । तो भी वे अविचल भाव से अपनी साधना में निरत रहे ।

संगम पिघला । वह अपने कुकृत्यों पर आँसू बहाता, क्षमा माँगता विदा होने लगा ।

भगवान् की आँखें भी नम हो गईं । वे बोले— तात् इन कुकृत्यों का दुष्परिणाम तुम्हें कितना कष्टकारक होगा, यही सोचकर मुझे व्यथा हो रही है । दूध से जलने पर उठे हुए फफोले देखकर नहीं ।

अनुचित मोह

महावीर स्वामी उन दिनों जंगल में घोर तप कर रहे थे । जंगल के ग्वाले उन्हें समाधिस्थ देख उनका उपहास किया करते थे । कुछ दुष्ट तो लांछन लगाकर उन्हें तंग भी करने लगे ! महावीर इन व्यवधानों से विचलित न हो तपस्या करते रहे ।

तपस्या में विघ्न डालने वालों की बात पास के व्यक्तियों तक पहुँची, वहाँ के धनिक लोग महावीर के पास आए व कहने लगे, ''देव आपको ये नादान व्यर्थ कष्ट दे असुविधा में डाल रहे हैं, हमारा निवेदन है हम आपके लिए एक भवन यहाँ बनवा दें तथा ऐसी सुरक्षा व्यवस्था करा दें जिससे आप निश्चित हो तपस्या-साधना करते रहें ।''

तात् ! साधनों का अनुचित मोह ही मनुष्य को सांसारिक बनाता है एक बार उससे निकल आने के बाद जो आत्मशांति मिली है उसकी तुलना में यह व्यवधान तुच्छ है । आप लोग मेरी चिन्ता न करें । उनकी इस दृढ़ता से ग्वाले भी पराभूत हो उठे उन्होंने फिर सताने की हिम्मत नहीं की ।

अन्धविश्वास छूटा

सकडाल का पुत्र कुम्हार का काम करता था । वह बड़ा भाग्यवादी था । पुरुषार्थ उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं रखता था ।

एक बार भगवान् महावीर उसके यहाँ रुके । महावीर को बात-बात में उसकी भाग्यवादिता अच्छी न लगी । उन्होंने पूछा— 'तुम्हारे यहाँ चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाये जाते हैं ? यह कैसे बनते हैं ?'

'नियतिवश इन बर्तनों को बनाने की प्रेरणा मिलती है ।' कुम्हार बोला ।

महावीर ने फिर पूछा— 'तुम्हारे इन पके-पकाये बर्तनों को कोई तोड़ दे तो तुम क्या समझोगे ?'

'भाग्य में यही लिखा होगा तो ऐसा ही होगा ।' सकडाल-पुत्र बोला ।

'और तुम्हारी पत्नी से कोई दुराचरण करे तो ?' महावीर पूछने लगे ।

यह सुनते ही कुम्हार क्रोध से भर उठा और बोला— 'किसकी हिम्मत है जो ऐसा कर सके ? कोई मेरी पत्नी की ओर आँख भी उठाकर देखे तो उसकी मैं अच्छी तरह खबर ले लूँगा ।'

'लेकिन यह भी तो नियतिवश ही होगा । इसमें क्रोध करने की क्या बात है ?' महावीर ने कहा ।

अब सकडाल-पुत्र की आँखें खुलीं । भाग्यवाद पर उसका अन्धविश्वास पल भर में दूर हो गया । वह विनम्र भाव से बोला 'आप ठीक कहते हैं भगवन् ! भाग्य पर अन्धविश्वास रखना मूर्खता है । जीवन में पुरुषार्थ ही प्रमुख है । वही भाग्य का निर्माता है ।'

तप से बड़ा सत्य

भगवान् महावीर उधर से गुजर रहे थे । रास्ते में मिले एक ग्रामीण ने उनके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया । उत्तर में अर्हत ने भी उसके चरणों पर मस्तक टेका ।

ग्रामीण सकपकाया— बोला— आप तपस्या के भण्डार हैं, उस विभूति को मैंने नमन किया । पर मैं तो कुछ नहीं हूँ, मेरा नमन किस लिये ।

अर्हत ने कहा— तेरे भीतर जो परम पवित्र आत्मा है, मैं उसी को देखता हूँ और नमता हूँ । मेरे 'तप' से तुम्हारा 'सत्य' बड़ा है ।

अपना पुरुषार्थ सर्वोपरि

तीर्थंकर महावीर साधना में लीन थे । पास ही मैदान में एक ग्वाला अपने बैल चरा रहा था । उसे किसी आवश्यक कार्य से गाँव में जाना था । उसने सोचा पास में बाबा बैठे हैं, यह बीच-बीच में बैल देख लिया करेंगे तब तक मैं घर से लौट ही आऊँगा ।

महावीर ध्यानास्थ थे । बैल चरते-चरते दूर निकल गये । ग्वाला लौट कर आया तो महावीर पर बहुत नाराज हुआ । वह समझा कि यह कोई चोर है और इसी की हरकत से बैल कहीं चले गये हैं । वह महावीर को ताड़ना देने लगा । रस्सी के एक टुकड़े से सपासप उनकी पिटाई शुरू कर दी । उनके शरीर पर इस निर्मम प्रहार से कई निशान पड़ गये ।

देवराज इन्द्र से ग्वाला की यह ताड़ना न देखी गई उन्होंने तीर्थंकर से आकर प्रार्थना की भगवन् ! यह ग्वाला अज्ञानी है, आपके अलौकिक महात्म्य से पूरी तरह अनभिज्ञ है । मेरी इच्छा सदैव आपके साथ रहने की है ताकि आने वाले कष्टों का निवारण करता रहूँ । आप मुझे सतत् सेवा में उपस्थित रहने की आज्ञा दीजिये ।

महावीर ने जो उत्तर दिया वह जैन साहित्य की अमूल्य निधि है और निराश व्यक्तियों को सैकड़ों वर्षों से प्रेरणा देता रहा है—

"स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्रा परमां गतिम् ।"

किसी दूसरे के सहारे रहकर अथवा दूसरे के पुरुषार्थ के भरोसे बैठकर आज तक कोई आत्मा बोधि लाभ प्राप्त नहीं कर सका । अपने पुरुषार्थ से ही अपना निर्माण किया जा सकता है । अपने भाग्य को बनाने वाला कोई दूसरा नहीं वरन् उसका पुरुषार्थ ही होता है । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ का स्थान ही सर्वोपरि है ।

विचार-क्रान्ति के देवदूत— सन्त सुकरात

सुकरात अत्यन्त कुरूप थे । गंजा सिर, चपटी नाक, गोल चेहरा, घुटने तक लटकता हुआ विलक्षण कुर्ता । इन चिह्नों के आधार पर उन्हें एथेन्स की सड़कों पर घूमते हुए आसानी से पहचाना जा सकता था । वे प्रकाण्ड विद्वान् और दार्शनिक थे । मानव जीवन की विविध समस्याओं का समाधान पूछने के लिए अनेक शिष्य उनके पीछे-पीछे फिरा करते थे । उनके शिष्यों में से कई बहुत प्रतिभावान् भी थे । उन्हीं में से एक प्लेटो भी थे जो आगे चलकर विश्वविख्यात हुए ।

सुकरात बड़े विनम्र स्वभाव के थे । उन्हें अहंकार छू भी नहीं गया था । उनका आदर उनके ज्ञान के कारण था । उनकी पत्नी बड़ी कर्कशा थी । उसके कठोर वाक्यबाण सदा ही उन्हें सहने पड़ते थे । फिर भी सुकरात के विनम्र व्यवहार के कारण उनका दाम्पत्य प्रेम शिथिल न होने पाया ।

सुकरात ने आत्मज्ञान पर बहुत जोर दिया है । वे कहते थे— अपने को जानो । यदि मनुष्य अपना और धर्म का वास्तविक स्वरूप जान ले तो अवश्य ही धर्मनिष्ठ बनने की चेष्टा करेगा । सत्य का ही पुण्य और उसका ज्ञान न होना ही पाप है ।

उनके स्वतन्त्र विचारों ने उस युग की जनता को बहुत प्रभावित किया । समाज के विभिन्न भागों में व्याप्त कलाय-कल्मषों पर उन्होंने प्रहार किया और ऐसी चेतना पैदा की जिससे निहित स्वार्थों के लोगों में हलचल मच गई, वे उन्हें सताने षड्यंत्र करने लगे ।

सुकरात की गणना संसार के महान् विद्वानों और धर्म-गुरुओं में है । उनका जन्म एथेन्स में हुआ । यद्यपि उन्हें पढ़ने-लिखने की सुविधा न मिल सकी थी, तब भी उन्होंने अपने अध्यवसाय के बल पर उच्च स्तर की विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी । महात्मा सुकरात ने जितना पढ़ा था उससे कहीं अधिक चिन्तन और मनन किया था । वे संसार को ही एक बड़ी पाठशाला मानते थे और जीवन के अनुभवों को सच्ची शिक्षा । इसी संसार की पाठशाला में महात्मा सुकरात ने जो अनुभव संचय किये थे वही उनकी एकमात्र सम्पत्ति थी । इनके अतिरिक्त न तो उनके पास कोई और सम्पत्ति थी और न उन्होंने कभी कुछ संचय करने की इच्छा ही की । वे कहा करते थे कि— 'ज्ञान से बढ़कर संसार में और सम्पत्ति क्या हो सकती है ? उसका कुछ अंश मुझे प्राप्त हुआ है । इससे मेरी आत्मा को पूर्ण शान्ति है । इसके अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं चाहिए ।

लेकिन इस बदसूरत व्यक्ति के हृदय में जो ज्ञान की मनोहारी ज्योति जलती थी उसने एथेन्सवासियों को अपने पर पतंग की तरह मोहित बना लिया था । उन्होंने अपनी साधना द्वारा जिस आत्मप्रकाश का दर्शन किया था, उसने उनके जीवन की सारी कुरूपता अपने में डुबाकर सुन्दरता में बदल दी थी । वे जिस समय भी जहाँ जाते थे वहीं शिष्यों, जिज्ञासुओं और मुमुक्षु लोगों से घिर रहते थे । पता चलते ही लोग दूर-दूर से दौड़कर उस गली, चौराहे पर पहुँच जाया करते

थे, सुकरात जहाँ खड़े जनता को उपदेश कर रहे होते। महात्मा सुकरात का मुख्य विषय आत्मा सम्बन्धी ज्ञान ही होता था। वे आत्मज्ञान प्राप्त करने पर बल देते हुए कहा करते थे—

'अपने को जानो' यदि मनुष्य अपने को और अपने धर्म के सच्चे स्वरूप को जान ले तो उसके लिए संसार में तो कोई समस्या ही न रह जाय और न दुःख का कोई कारण। आत्मा का ज्ञान ही सत्य का स्वरूप है। उसको पा लेना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा पुण्य है और उसके प्रति अज्ञान की अवस्था ही सबसे बड़ा पाप है।

महात्मा सुकरात ने अपने ज्ञान बल पर अपने युग की विचार-धारा ही बदल दी थी। उन्होंने परम्परा से चली आ रही रूढ़ियों पर गहरा प्रहार किया। जनता को विवेक का मार्ग बतलाया और आत्मा की मुक्ति के साथ बाह्य परतन्त्रता से मुक्त होने की शिक्षा दी। उन्होंने अन्धविश्वास, अन्ध-श्रद्धा और अन्ध-मान्यताओं को त्याग कर बुद्धि-संगत जीवन पद्धति अपनाने की प्रेरणा दी। उन्होंने मानव-मानव में समता का प्रतिपादन किया और जनता को साहस दिया कि वह धन, बल, शक्ति अथवा अन्य प्रकार की भौतिक उपलब्धियों के आधार पर किसी को महान् पूज्य न माने और मान्यता का मानदण्ड व्यक्ति के सदाचार एवं सद्विचारों को बनाये।

सुकरात की पत्नी जेंथिप्पी आवश्यकता से अधिक लड़ाका स्वभाव की थी। वह बाहरी लोगों से ही नहीं स्वयं सुकरात से भी बिना विशेष कारण के लड़ने लग जाती और उसको मनमानी बातें सुनाने लगती। एक दिन न जाने किस बात पर उसके मिजाज का पारा बहुत गर्म हो गया और वह बड़ी देर तक बकती-झकती रही। पर सुकरात जो इस स्वभाव के अभ्यस्त हो गये थे, कुछ न बोले और अपने काम में लगे रहे। अपनी बातों का कोई प्रभाव न होता देख कर वह और भी नाराज हो गई और उसने एक बर्तन में भरा मैला पानी लाकर सुकरात पर डाल दिया। उनके सारे कपड़े भीग गये किन्तु वे फिर भी मुस्कराते रहे और उन्होंने कहा— 'मैं तो पहले जानता था कि जेंथिप्पी इतना गरजने के बाद बिना बरसे न रहेगी। ''एक दूसरे अवसर पर जेंथिप्पी बाजार में ही उनसे लड़ने लग गई और उनका कोट खींचकर फाड़ दिया। यह बात उनके कई मित्रों को बहुत बुरी लगी और उन्होंने सलाह दी कि इसे खूब पीटना चाहिए। पर सुकरात ने कहा किसी रईस (घोड़ा गाड़ी चलाने वाले) की योग्यता इसी में देखी जाती है कि वह दुष्ट घोड़े को भी सधा और सिखा कर उससे काम ले सके। अगर वह दुष्ट घोड़े को उपयोग लायक बना सकता है तो अन्य सामान्य घोड़ों को काबू में रखने में उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार मैं भी जेंथिप्पी जैसी चिड़चिड़े स्वभाव की स्त्री के साथ रहता हूँ। अगर मैं उसके साथ निर्वाह कर लेता हूँ तो मुझे संसार के अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

उन्होंने अपने गृहस्थ जीवन को इस प्रकार दूसरों के लिये एक आदर्श बना दिया। उसका पिता शिल्पकार था जो प्रायः मूर्तियाँ बनाने का कार्य किया करता था। सुकरात ने भी कुछ समय तक अपने इस पैतृक धन्धे को किया, पर उसके पश्चात् उसे राजकीय नियमों के अनुसार सेना में भर्ती हो जाना पड़ा और पचास वर्ष की आयु तक वे उस कार्य को करते रहे। वे तीन युद्धों में लड़ने को भी गये जिनमें उन्होंने वीरता और धैर्य का अच्छा परिचय दिया। पर वहाँ भी वे कोई अनुचित कार्य करने को तैयार नहीं होते थे। न्याय और सत्य का व्यवहार आजीवन उनका आदर्श बना रहा।

उस जमाने में यूनान का देश नगर, राज्यों में बँटा हुआ था। सबके संचालक कुछ प्रमुख नागरिक ही होते थे एथेन्स का नगर राज्य उस समय बड़ा प्रसिद्ध और प्रभावशाली था तथा धन, बल, विद्या, कला-कौशल आदि सब बातों में वह अग्रगण्य माना जाता था। उस नगर में सुकरात को आरम्भ से ही एक ज्ञानी पुरुष माना जाता था और अनेक छोटी-बड़ी आयु के धनवान और कुलीन व्यक्ति उनकी संगत में रहकर उपदेश ग्रहण किया करते थे।

पचास वर्ष की आयु में सेना से अवकाश पा जाने के बाद तो उन्होंने अपना पूरा समय इसी कार्य में लगाना आरम्भ कर दिया। वे एक लबादा पहने हुए नंगे पैर शहर की सड़कों और गलियों में घूमा करते थे और चाहे जहाँ दस-बीस व्यक्तियों के इकट्ठा हो जाने पर वहीं उपदेश देने लग जाते थे। उनके उपदेश देने का ढंग भी अन्य लोगों से निराला था। वे श्रोताओं से ही प्रश्न करने को कहते और उनका उत्तर देते-देते अपने समस्त सिद्धान्तों को उन्हें समझा देते थे। उनकी खरी बातों या डाँटने-फटकारने से चिढ़कर अनेक बार लोग उनकी हँसी भी उड़ाने लगते थे, उनके बालों और खाल को खींचते थे, पर सुकरात ने कभी किसी पर क्रोध नहीं किया। उन्होंने आत्मज्ञान द्वारा क्रोध पर विजय पा ली थी। एक बार कुछ लोगों ने उनको लातों से भी मारा, उनके कुछ शिष्यों ने उनसे पूछा कि आपने इन लोगों का ऐसा व्यवहार क्यों सहन कर लिया, जब आप शारीरिक शक्ति में उनसे बहुत अधिक होने से उन्हें अच्छी तरह दण्ड दे सकते थे?'' सुकरात ने जबाव दिया कि ''यदि कोई गधा हमें लात मार दे तो क्या हम भी उसे लात मारने लग जायें।

सुकरात पर मुकदमा

पर ऐसे सरल स्वभाव तथा बैर-भाव से मुक्त पुरुष के भी एथेन्स में बहुत से विद्वेषी उत्पन्न हो गये थे। इसका मुख्य कारण तो यह था कि कितने ही धनवान लोगों के पुत्र सुकरात की शिक्षाओं से आकर्षित होकर उसके अनुयायी बनते जाते थे और यह बात उनके अभिभावकों को बुरी जान पड़ती थी। एक तो गरीबी की हालत में रहने के कारण वे सुकरात को अपने से नीचा मनुष्य समझते थे और दूसरे वह सत्य, न्याय, सदाचार की जो शिक्षा देता था उसे वे अपनी स्थिति के प्रतिकूल समझते थे। जिस प्रकार यदि किसी वेश्यागामी के सामने ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की जाय, किसी नशेबाज के सम्मुख मादक पदार्थों की बुराइयाँ दिखलाई जायें तो उनको ऐसे उपदेशों पर क्रोध आता है, उसी प्रकार जो लोग तिकड़म से अथवा अन्य अनुचित उपायों से धन पैदा करके मालदार बन जाते थे उनको सत्य और न्याय के व्यवहार की बातें खटकने वाली-सी प्रतीत होती थीं।

दूसरी बात यह थी कि जिन लोगों ने उस समय 'विद्वान्' का बाना धारण कर रखा था और जो धनवानों के लड़कों को सांसारिकता

और वितण्डावाद (तर्क-वितर्क) की शिक्षा देकर खूब कमाई करते थे, वे भी सुकरात की सीधी-सादी और आत्मज्ञान युक्त शिक्षाओं से चिढ़ते थे। सुकरात ने ऐसे कई विद्वानों से वाद-विवाद करके उन्हें निरुत्तर भी कर दिया था। जिससे वे उसके साथ विद्वेष करने लग गये थे। इन्हीं सब लोगों ने मिलकर सुकरात पर नवयुवकों को कुशिक्षा देने का आरोप लगा करके उसे गिरफ्तार करा दिया और उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया।

पर सुकरात इस घटना से भी विचलित नहीं हुआ। वह संसार की नश्वरता और सुख-दुःख की असारता को भली प्रकार समझता था। उसका विश्वास था कि यह दृश्य जगत क्षणिक और परिवर्तनशील है, इसमें राजा से रंक बनते कुछ भी देर नहीं लगती। इसलिये इसके किसी हानि-लाभ के लिये शोक या हर्ष करना अबुद्धिमत्ता है। जो व्यक्ति आत्मजगत से अपरिचित होते हैं। वे ही इसके हानि-लाभ को महत्त्व देते हैं। यह धारणा उसके हृदय में इतनी दृढ़ता के साथ जमी थी कि यह जानते हुये भी कि उससे द्वेष रखने वाले इस मुकदमे के बहाने उसके जीवन का अन्त करना चाहते हैं, उसने उनकी राई भर भी परवाह नहीं की तथा अभियोक्ताओं और न्यायाधीशों को हजारों नागरिकों के सामने ही खरी-खरी बातें सुनाईं। उसने कहा—

''इससे पहले भी एकबार इस न्यायालय की अन्यायपूर्ण आज्ञा को अन्याय कहके मैंने अपने वचन से ही नहीं वरन् अपने कर्म से भी यह सिद्ध कर दिया है कि मैं मृत्यु को तृण के समान तुच्छ समझता हूं। मेरी एक मात्र साध यही है कि मुझसे कोई अधर्माचरण या दुष्कृत न होने पाये। इसलिये मेरी आत्मा शुद्ध है और इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि ''सत्यवादी हूं और मेरा प्रतिपक्षी यह म्लेतास मिथ्यावादी है।''

इसके पश्चात् भी ऐथेन्स के बहुसंख्यक नागरिक, जो सुकरात की महानता को जानते थे इसके लिये तैयार थे कि सुकरात को इस शर्त पर छोड़ दिया जाय कि वह नवयुवकों को अपने सिद्धान्तों का उपदेश करना बन्द कर दे। पर सुकरात ने इसका उत्तर देते हुए कहा—

''ऐथेन्स के नागरिको! आप में से कुछ कहेंगे कि ''सुकरात! क्या तुम अपना मुँह बन्द नहीं कर सकते? इसके उत्तर में यही कहना चाहता हूं कि इस बात को मान लेना मेरी दृष्टि में भगवान् का अपमान होगा। मेरा विश्वास है कि अगर मैं शील-सदाचार के विषय में चर्चा नहीं कर सकता और आत्मान्वेषण करना बन्द कर देता हूं, तो वह जीवन एक कौड़ी का भी न होगा।

''मेरे अब तक के अनुभवों के अनुसार जब कभी मैं कोई गलत काम करने लगता हूं तो एक अन्तर्ध्वनि (आत्मा की आवाज) मुझे उसके करने का निषेध कर देती है। यही कारण है कि मैंने आज तक सार्वजनिक सेवा करते हुए भी राज्य की कोई ऐसी आज्ञा नहीं मानी जो मेरी दृष्टि में अनीतिपूर्ण या अन्याययुक्त थी। इस समय भी मेरे सामने वैसी ही समस्या उपस्थित है। यदि मैं न्यायालय की आज्ञा मानकर नवयुवकों को न्याय-नीति का उपदेश देना बंद कर दूं या ऐथेन्स को छोड़कर विदेश को चला जाऊँ तो मेरे प्राण अवश्य बच जायेंगे, पर मैं ऐसे प्राण बचाने की कीमत एक कौड़ी के बराबर भी नहीं समझता। इसकी अपेक्षा भगवान् और अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुसार आचरण करते हुए देह त्याग देना मेरी दृष्टि में सौ गुना श्रेष्ठ है।''

जब विषपान द्वारा मृत्यु दण्ड की आज्ञा मिलने पर सुकरात को कारागार में बन्द कर दिया गया तो विशेष कारणवश उसे तुरन्त न मार कर ३३-दिन तक जेल में ही बन्द रखा गया। पर उन दिनों भी वह अपने पास आने वाले मित्रों को सदा के समान आत्मोपदेश देता रहता और बड़ी प्रसन्नता से दिन व्यतीत करता रहा। किसी को यह प्रतीत भी नहीं होता था कि उसको मृत्यु दण्ड दिया जा चुका है और गिनती के दिनों का मेहमान है। अन्तिम दिन जब उसका प्रमुख शिष्य 'क्रितान' उसके पास बहुत सबेरे ही आ पहुंचा तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सुकरात बड़ी गहरी नींद में शान्ति से सोया हुआ है। जब मित्र ने सुकरात से इस सम्बन्ध में पूछा तो उसने यही कहा— 'मैं मृत्यु को शत्रु की तरह नहीं वरन् मित्र की तरह समझ रहा हूं, फिर उसके आगमन से मुझे अशान्ति अथवा शोक कैसे हो सकता है?'

सुकरात को न मृत्यु का भय था न दबाव

ई० पू० ३९९ में सत्तर वर्ष के दार्शनिक सुकरात के खिलाफ उनके शत्रुओं ने न्याय सभा में दो अभियोग लगाये। पहला यह कि वे गणतन्त्र के देवताओं में विश्वास नहीं करते थे और दूसरा यह कि वे युवकों को तर्क-वितर्क सिखाकर उन्हें दुश्चरित्र बना रहे थे। अभियोगकर्त्ताओं ने इन आरोपों के साथ यह सुझाव दिया कि ऐसे आदमी को जीवित नहीं रहने देना चाहिए। ये आरोप जिस रूप में प्रस्तुत किये गये थे वे सर्वथा निराधार थे। तत्कालीन शासकों ने उनसे इसलिये भयभीत होकर यह अभियोग लगाया था कि वे बहुत बार देवी-देवताओं को मानने की अपेक्षा एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहे थे तथा लोगों को समझा रहे थे कि उन्हें सत्य और न्याय का अनुसरण ही करना चाहिए।

सुकरात को न्यायालय में पेश किया गया। लीसीयस नामक एक विधि प्रवक्ता ने उनकी ओर से बहस करना चाहा तथा इसके लिए एक लम्बा बयान तैयार किया। सुकरात ने यह बयान पढ़ा और लीसीयस को धन्यवाद देते हुए उस बयान को उपयोग न करने के लिए क्षमा मांग ली। न्यायाधीश के सामने अपनी सफाई में अधिक कुछ न कहते हुए उन्होंने इतना ही कहा, ''मेरे विरुद्ध लगाये गये अभियोगों में जरा-भी सच्चाई नहीं है। मेरे पास जो कुछ भी था वह मैंने ऐथेन्सवासियों के लिए समर्पित कर दिया है। मेरी हमेशा यही इच्छा रही कि मेरे साथी नागरिकों का जीवन सुखमय हो और मैंने इसके लिए काम किया।''

न्यायाधीशों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— ''आपके प्रभुत्व की अपेक्षा इन देवताओं का प्रभुत्व मेरे लिए अधिक है। यदि आप इस शर्त पर मुझे मुक्त करने का विचार रखते हों कि मैं सत्यान्वेषण करना छोड़ दूँगा तो मैं इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। इस शर्त को पूरा करने की अपेक्षा ईश्वर का आदेश पालन करना अधिक

उपयुक्त समझता हूँ जिसने कि मेरे ऊपर यह काम छोड़ा है। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक सत्य की खोज नहीं छोड़ूँगा और जो भी व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आयेगा उससे कहूँगा कि ज्ञान और सत्य की खोज में न लगकर तुम धन और मन के पीछे पड़े रहते हो इसमें तुम्हें लज्जा नहीं आती ?

सुकरात जानते थे कि उन्हें मृत्यु दण्ड मिलेगा।

एक न्यायाधीश ने पूछा कि— क्या तुम्हें इस बात का जरा-भी डर नहीं है कि तुम्हें मृत्यु दण्ड मिल सकता है।

"मृत्यु क्या है ? यह मैं नहीं जानता— सुकरात ने कहा "वह वरण करने योग्य है क्योंकि मैंने जीवन के सभी क्षेत्रों का अनुभव कर लिया है। एक मृत्यु ही ऐसी बची है जिसका अनुभव मुझे नहीं है। अत: मैं जानना चाहता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है। इसलिए मृत्यु से मैं जरा-भी भयभीत नहीं हूँ।"

वहाँ बैठे हुए न्यायाधीशों तथा सभासदों ने बहुमत से सुकरात को अपराधी ठहराया। २८१ व्यक्तियों ने उन्हें अपराधी ठहराया तथा २२० व्यक्तियों ने उन्हें निर्दोष माना। बहुमत उन्हें अपराधी ठहरा रहा था अत: न्यायधीशों ने उन्हें मृत्यु दण्ड दिया, उस समय ऐथेन्स में ऐसा कानून था, कि मृत्यु दण्ड पाने वाला व्यक्ति अपने लिए कोई दूसरा दण्ड प्रस्तावित कर सकता है। सुकरात को भी इस सुविधा का लाभ उठाने के लिए कहा गया पर उन्होंने कहा "यदि मुझे अपना काम करने की छूट दी जाय तभी मैं कोई दण्ड प्रस्तावित कर सकता हूँ।'

न्यायाधीश ने उनकी बात को अस्वीकार करते हुए यह फैसला दिया कि वे १०० मीना जो लगभग ५२५ रुपये के करीब होते हैं, जुर्माना देकर मुक्त हो सकते हैं। सुकरात ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उनके व्यवहार से न्यायाधीश क्रुद्ध हो उठा और उसने बौखला कर कहा— "तुम्हें जहर पीकर अपनी मृत्यु का वरण करना होगा।"

इस मृत्यु घोषणा को शान्त भाव से ग्रहण करते हुए सुकरात ने कहा— "बहुत ठीक है। अब विदा ग्रहण करने का समय आ गया है मेरे लिए मृत्यु और आपके लिए जीवन। किन्तु ईश्वर को छोड़कर और कोई यह नहीं जानता कि हम दोनों में से कौन महत्तर अवस्था को प्राप्त होगा।"

जिस समय सुकरात को मृत्यु दण्ड सुनाया गया था उस समय ऐथेन्स में धार्मिक उत्सव चल रहे थे। इसलिए उक्त आदेश को क्रियान्वित करने में तीन सप्ताह का विलम्ब हुआ। सुकरात को जब तक जेल में ही रखा गया। उन्हें इतनी छूट जरूर दे दी गयी कि उनके शिष्य और अनुयायीगण उनसे मिलने के लिए कारागार में आ सकते थे। सुकरात कारागार में रहते हुए क्रम से अपने शिष्यों से मिलते रहे।

एक दिन उनका शिष्य क्रीटो उनसे अकेले में मिला और उसने कहा— मैंने आपको जेल से छुड़ाने का प्रबन्ध कर लिया है और कल हम लोग आपको यहाँ से ले जायेंगे। कैसे ? सुकरात ने पूछा— तुम कहना क्या चाहते हो। न्यायाधीश ने आपको मृत्यु दण्ड का जो फैसला सुनाया है, वह पूर्णतः अन्यायिक है और हम लोगों को आपके संरक्षण की आवश्यकता है। अत: आपको जेल से पलायन करना पड़ेगा।

क्रीटो के इस प्रस्ताव से सुकरात बहुत नाराज हुए। उन्होंने कहा— "मुझसे पूछे बिना तुम लोगों ने इस तरह की कोशिश क्यों की। मैं क्या मृत्यु से डरता हूँ ? और फिर वे बोले— जो भी हो। ये फैसला एक वैध न्यायाधीश ने किया है और मैं अपने देश के कानून की मर्यादाओं का पालन करूँगा।

शिष्यों द्वारा बहुत अनुरोध करने पर भी सुकरात ने जेल से पलायन स्वीकार नहीं किया। कारावास का अन्तिम दिन था। सुकरात के हाथ-पाँवों से हथकड़ी-बेड़ियाँ खोली गयीं। उस दिन उनके कुछ मित्र और सम्बन्धीगण वहाँ आये। सुकरात के मेधावी शिष्य क्रीटो ने उस समय का जो चित्रण किया है वह बड़ा कारुणिक है। सुकरात से मिलने के लिए आने वालों में उनकी पत्नी तथा सबसे छोटा पुत्र भी था। यों सुकरात की पत्नी जैथिपी आजीवन अपने पति को तरह-तरह से तंग करती रही थी पर उस समय वह फूट-फूट कर रो रही थी। सुकरात का लड़का भी रो रहा था। उन्होंने अपने शिष्य को कहा— क्रीटो, किसी से कहो कि इन लोगों को घर ले जाय।

तब एक शिष्य उठा तथा जैथिपी और उनके लड़के को वहाँ से हटा कर ले गया। सुकरात अपनी बिछावन पर से उठे और पाँवों के जिस स्थान पर बेड़ियाँ पहनाई गईं वहाँ मालिश करने लगे। वहाँ उपस्थित शिष्यों के चेहरों पर विषाद की काली छाया मँडरा रही थी। जो भी लोग वहाँ थे वे सब सुकरात को घेर कर बैठ गये। तब सुकरात ने बड़ी धीरता के साथ उपस्थित लोगों को सुख और दुःख पर उपदेश दिया तथा अपने शिष्यों से काफी देर तक जीवन-मृत्यु तथा आत्मा पर चर्चायें करते रहे।

काफी देर तक चर्चा करने के बाद सुकरात स्नान करने गये। उस समय सूर्यास्त हो रहा था। जब वे स्नान कर वापस आये तो एक राजकर्मचारी आया। राजकर्मचारी की आँखों में आँसू थे सुकरात ने पूछा— "तुम रो रहे हो।"

वह कर्मचारी और फफक-फफक कर रो उठा। बड़ी देर तक सान्त्वना देने के बाद वह बोला— 'मैं कितना अभागा हूँ कि आपके लिए मृत्यु का सन्देश लेकर आया हूँ।'

"अरे पगले "— सुकरात ने हँसते हुए कहा— "इसमें तुम्हारा क्या दोष। तुम तो अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हो।"

विषपान करते समय सुकरात जरा-भी अवसादग्रस्त नहीं दिखाई दे रहे थे। उस समय के दृश्य का चित्रण करते हुए प्लेटो ने लिखा है— अब तक हम लोग अपनी वेदना को दबाये हुए थे किन्तु जब हमने उन्हें विषपान करते हुए देखा तो हम अपने को रोक न सके। मेरी आँखों से बराबर आँसुओं की धारा बह चली। मैं अपने चेहरे को हाथ से ढककर रोने लगा। क्रीटो तथा अन्य व्यक्ति भी रो रहे थे। एकमात्र साक्रेटीस ही धीर-व्रत बने हुए थे। उन्होंने हमें रोते देखकर डाँटा।"

विष का प्रभाव धीरे-धीरे काम करने लगा और वे चेतनाहीन होने लगे । इस दार्शनिक ने अपना सारा जीवन महानता से भर दिया, वैसा ही उनका अन्त रहा ।

सुकरात : प्रेरक प्रसंग

मूर्ख और बुद्धिमान् की पहचान

सुकरात से उनके शिष्यों में से एक ने पूछा— मूर्ख और बुद्धिमान् की क्या पहचान है ? सुकरात ने सहज भाव से उत्तर दिया जो अपने अनुभव से भी लाभ न उठाये वह मूर्ख और जो अनुभव संचय से पहले ही दूसरों के उदाहरणों से काम की बात सीख ले— वह बुद्धिमान ।

बात पूरी होते-होते एक-दूसरा शिष्य बोल पड़ा जो अपने और पराये किसी के भी अनुभव पर ध्यान न दे उसे क्या कहा जाय ? सुकरात मुस्कराये और बोले— उसे कहना हो तो नर-पशु भी कहा जा सकता है ।

दृष्टि दोष

सन्त सुकरात से मिलने गये एक भक्त ने प्रश्न किया ''महात्मन् ! चन्द्रमा में कलंक और दीपक तले अँधेरा क्यों रहता है ?'' सुकरात ने पूछा ''अच्छा तुम्हीं बताओ— तुम्हें दीपक का प्रकाश और चन्द्रमा की ज्योति क्यों नहीं दिखाई देती ?''

भक्त ने विचार किया— ''सचमुच संसार में हर वस्तु में अच्छे और बुरे दो पहलू हैं, जो अच्छा पहलू देखते हैं, वे अच्छाई और जिन्हें केवल बुरा पहलू देखना आता है, वह बुराई संग्रह करते हैं ।

व्यर्थ का गर्व

एक जागीरदार अपने ठिकाने का विस्तार और वैभव दार्शनिक सुकरात को सुना रहा था । डींगें सुनते-सुनते जब बहुत देर हो गई तो सुकरात ने एक पृथ्वी का नक्शा मँगाया और पूछा— बताना इसमें तुम्हारा ठिकाना कहाँ है ?

नक्शे में उस ठिकाने का उल्लेख न था केवल प्रान्त ही मटर के बराबर जगह में दिखाई पड़ता था । उसने उसी की ओर इशारा किया ।

सुकरात ने फिर पूछा यह तो एक प्रान्त का नक्शा हुआ तुम अपने ठिकाने का स्थान और अनुपात बताओ । जागीरदार ने कहा इस नक्शे के अनुपात से मेरा ठिकाना एक सुई की नोंक के बराबर होना चाहिए ।

सुकरात हँस पड़े । उन्होंने ब्रह्माण्ड के नक्शे में पृथ्वी को एक तिल भर बताते हुए कहा— इस पृथ्वी में भी तुम्हारा ठिकाना अदृश्य जितना कम है फिर समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में तो वह अत्यन्त उपेक्षणीय होगा । इतनी छोटी वस्तु पाकर तुम इतनी बड़ी डींगें क्यों हाँकते हो ?

बुद्धिमान् कौन ?

जानकारी का महत्त्व समझाते हुए सुकरात ने अपने शिष्यों से कहा— जो अनजान है और अपने को जानकार मानता है उससे बचो । जो अनजान है और अपनी अल्पज्ञता से परिचित है उसे— सिखाओ । जो जानता तो है, पर अपने ज्ञान के बारे में शंकालु है उसे जगाओ और जो जानता है पर साथ अपनी जानकारी के प्रति आस्थावान है वह बुद्धिमान है । ऐसे ही व्यक्ति के पीछे चलो ।

दर्पण में अपनी ही छवि

महान् दार्शनिक सुकरात दर्पण में बार-बार अपना मुँह देख रहे थे । इसी समय उनके कुछ शिष्य वहाँ आ पहुँचे । शिष्य मण्डली उनके इस क्रिया-कलाप को नहीं समझ पा रही थी । कुरूप सुकरात बार-बार दर्पण क्यों देख रहे हैं ? आखिर एक शिष्य उनसे ही पूछ बैठा, ''गुरुवर, दर्पण में अपना चेहरा बार-बार क्यों देख रहे हैं ?'' सुकरात शिष्य की बातें सुनकर हँस पड़े । फिर गम्भीर हो बोले, ''प्रियवर, तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है । मुझ जैसे कुरूप को दर्पण देखने की क्या आवश्यकता है ? लेकिन मेरे शिष्य ! दर्पण सबको देखना चाहिए । चाहे वह सुन्दर हो या बदसूरत ।''

शिष्य बीच में ही बोल उठा, ''गुरुवर, कुरूप तो अपनी वास्तविकता जानता ही है । फिर दर्पण देखने से तो भारी कष्ट ही होगा उसे । सुकरात शिष्य को शांत करते हुए बोले, ''वत्स, कुरूप को तो दर्पण अवश्य देखना चाहिए, क्योंकि उसे अपने उस रूप को देखकर बरबस ध्यान आ जाय कि वह कुरूप है । फलस्वरूप अपने श्रेष्ठ कार्यों से उस कुरूपता को सुन्दर बनाकर ढकने का प्रयत्न करे । सुन्दर चेहरे को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि ईश्वर ने उसे सौन्दर्य दिया है, अतः उसके अनुरूप ही उसे सदैव सुन्दर कार्य करना चाहिए ।''

दार्शनिकता को सार्थक बनाने वाले कन्फ्यूशियस

कन्फ्यूशियस का जन्म एवं उदय लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व उस युग में हुआ था जो धार्मिक अन्धविश्वासों का युग कहा जा सकता है । जो धार्मिक वक्ता, धर्मचारी तथा धर्म प्रतिपादक नहीं होता था । जनता में उसका सम्मान तो दूर असम्मान ही हुआ करता था । धर्म की बातों के माध्यम से ही लोग जीवन में आगे बढ़कर जन-साधारण का नेतृत्व किया करते थे ।

ऐसे समय में आचार्य कन्फ्यूशियस जीवन दर्शन में एक नई क्रांति लेकर जन-जीवन में आये । उन्होंने जनता को जन्म, जीवन तथा मरण की पहेलियों में उलझाने के बजाय मानव जीवन के कलापूर्ण यापन का सन्देश दिया ' जन्म से पूर्व मनुष्य कहाँ था और मृत्यु के पश्चात् वह कहाँ जायेगा' के पचड़े में पड़ने के बजाय उन्होंने यह बतलाया कि उन्हें यह जो मानव जीवन मिला है उसको सच्चे मानों में किस प्रकार सार्थक तथा सफल बनाया जाये ।

महात्मा कन्फ्यूशियस जीवन में आदर्शवादिता के समर्थक अवश्य थे किन्तु ऐसे आदर्श के जो मानव-जीवन में पूरी तरह उतारे जा सकें। वे केवल बौद्धिक आदर्शवादी नहीं थे। उनका कहना था कि मनुष्य जो कुछ कहे अथवा सोचे उसे अपने व्यावहारिक जीवन में मूर्तिमान् भी करे। निष्क्रियात्मक आदर्श जीवन उन्नति की सबसे बड़ी बाधा है।

अपने जीवन में किन्हीं ऊँचे आदर्शों की स्थापना करके अपने जीवन को न चलाना सबसे बड़ी आत्मप्रवंचना है। क्योंकि कोरा आदर्शवादी बकता बहुत है किन्तु करता कुछ नहीं है। अपने वाक्जाल में सर्व-साधारण को फँस कर उन्हें राह तो दिखाता है किन्तु स्वयं उस मार्ग पर नहीं चलता। बुद्धि कौशल से पथ-प्रदर्शक बन जाने से वह अपनी चतुरता की रक्षा में लगा रहने से अपना आत्मिक सुधार नहीं कर पाता और यह एक भयंकर आत्मवंचना है।

चीन के प्रसिद्ध चांग राजवंश में पाँच सौ पचास ईसा से पूर्व कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ। जिस समय उनकी आयु तीन वर्ष की थी उस समय उनके पिता की मृत्यु हो गई। जिससे उन्हें महान् कठिनाइयों के बीच अपना जीवन चलाते हुए अध्ययन करना पड़ा। असहनीय कठिनाइयों के बीच जिनका विद्या प्रेम अक्षुण्ण बना रहता है वे अवश्य ही एक दिन भारती के वरद पुत्र बन कर रहते हैं। इस उपलब्धि का कोई अलौकिक कारण नहीं होता, इसका सीधा-सा एक कारण होता है कि कठिन परिस्थितियों में रहकर पढ़ने वाले विद्यार्थी का ध्यान अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी ओर नहीं जाता। विद्या प्राप्त करना उसके जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है, जिसे सफलता-पूर्वक हल करने में वह जी-जान से लगा रहता है। यही एक लग्नपूर्ण तन्मयता उसकी सफलता का कारण बनती है। जो विद्यार्थी अनावश्यक साधन तथा सुविधायें लेकर अध्ययन के अनिवार्य परिश्रम को ही वहन नहीं कर पाते हैं, सुविधाओं की बहुतायत होने से वे आलसी तथा छुई-मुई बन जाते हैं जिससे क्षण-क्षण पर थकान तथा शिथिलता अनुभव करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। विद्या प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को सम्भव होने पर भी अपने चारों ओर सुख सुविधाओं के साधन संचय नहीं करने चाहिये। विद्याध्ययन एक तपस्या है, एक साधना है। इसको जीवन का सामान्य कार्यक्रम मानकर अपनाने से अधिकतर असफलता ही हाथ आती है।

बालक कन्फ्यूशियस जो कुछ पढ़ते थे उसे अपने जीवन में उतारते जाते थे। इससे केवल १४ वर्ष की आयु में ही उनको महत्त्व की अनुभूति होने लगी। आदर्श जीवन की इस तात्कालिक सफलता, महानता तथा सुन्दरता को देखकर उन्हें यथार्थ जीवन के कलापूर्ण यापन में अखण्ड विश्वास हो गया और उन्होंने इस वरदान को जन-जन के बीच वितरित करने का संकल्प कर लिया।

बाईस वर्ष की अवस्था में पहुँचते-पहुँचते उन्होंने आवश्यक अध्ययन पूरा करके जन-कल्याण की दिशा में पदार्पण किया। सबसे पहले उन्होंने एक पाठशाला की स्थापना की जिसमें भरती हुए बच्चों को स्वयं पढ़ाते थे। यद्यपि आचार्य कन्फ्यूशियस में इतनी योग्यता थी कि यदि वे चाहते तो सीधे जनता के बीच अपने विचारों का प्रचार कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा न करके जिस पाठशाला की स्थापना की उसके पीछे दो कारण काम कर रहे थे। एक तो यह कि बिना कोई साकार कार्य किये सहसा जनता में उतर जाने से वे केवल वाक्वीर ही समझे जा सकते थे कर्मवीर नहीं और ऐसी दशा में जन-साधारण के अविश्वासपात्र बनने की सम्भावना थी। जीवन में सही मार्ग दिखलाने के लिए सर्व-सामान्य का विश्वास प्राप्त करना बहुत आवश्यक है जो केवल शाब्दिक शक्ति से नहीं कार्यों की मूर्तिमत्ता से ही प्राप्त किया जा सकता है।

दूसरे कन्फ्यूशियस अच्छी प्रकार जानते थे कि बच्चों की मनोभूमि अन्धविश्वासों तथा अन्य अविश्वास, संशय, तर्क, ईर्ष्या, द्वेष आदि के विकारों से कंटकित नहीं होती। उनमें बोये हुए सद्विचारों के बीज सरलता से फलीभूत हुआ करते हैं। जहाँ रूढ़-संस्कारों के कारण प्रौढ़ों को धर्म की आड़ लेकर किसी बात को समझाने में बड़ी ही सावधानी तथा सतर्कता को अपनाना पड़ेगा वहाँ बच्चों के संस्कार बनाने में इस चातुर्य की आवश्यकता न पड़ेगी और शीघ्र ही उनकी निर्मित की हुई नई पीढ़ी समाज के रंग-मंच पर उतर जायेगी। ऐसी दशा में वे एक से बहुत होकर सरलतापूर्वक अपने विचारों का प्रसार तथा प्रचार कर सकते थे।

आचार्य कन्फ्यूशियस की पाठशाला क्या थी ? सच्ची मानवता तथा नागरिकता की प्रशिक्षणशाला थी। उस पाठशाला में निर्धन तथा धनी, उच्च तथा निम्न हर प्रकार के छात्रों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार किया जाता था। यद्यपि पाठशाला के व्यय के लिये धनी विद्यार्थियों से कुछ शुल्क लिया जाता था और निर्धन विद्यार्थी शुल्क मुक्त होकर पढ़ते थे तथापि उनके बीच किसी प्रकार के पक्षपात अथवा विषमता का कोई व्यवहार नहीं किया जाता था। विद्यार्थियों का क्रियात्मक चरित्र निर्माण तथा अनुशासन इस पाठशाला की प्रमुख विशेषता थी। आचार्य शब्द ज्ञान के स्थान पर विद्यार्थियों के आचरण की ओर अधिक ध्यान देते थे। जब तक एक पाठ के उपदेश प्रत्येक विद्यार्थी के व्यक्तिगत आचरण में पूर्ण रूप से नहीं उतर जाते थे तब तक उन्हें आगे का दूसरा पाठ नहीं पढ़ाया जाता था।

आचार्य कन्फ्यूशियस की संस्था की इन मौलिक विशेषताओं ने उन्हें तथा उनकी पाठशाला को शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया और वे बालकों के जीवन-निर्माण के सफल शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

जीवन-निर्माण की इस प्रारम्भिक पाठशाला की स्थापना करके और उसकी व्यवस्था को दृढ़ बनाकर आचार्य कन्फ्यूशियस लू राज्य की प्रसिद्ध राजधानी चले गये। पाठशाला छोड़कर लू राज्य की राजधानी जाने का विशेष कारण यह था कि वहाँ लाओत्से नाम का दार्शनिक एक विशेष धर्म की स्थापना कर रहा था। एक ऐसे धर्म की स्थापना कि जिसमें एक स्वप्निल आदर्शवाद तथा रहस्यवाद के अतिरिक्त और कुछ न था। वह जन-साधारण को धर्म के नाम पर यथार्थ जीवन से दूर ले जाकर एक स्वप्नलोक में पटक देना चाहता था, जिससे वह एक दार्शनिक रहस्य बनकर सदैव पुजता रहे।

आचार्य कन्फ्यूशियस ने उससे मिल कर विचारों का आदान प्रदान किया और व्यावहारिक यथार्थता के साथ सद्गुणों के विकास तथा आत्मोन्नति के सरल सिद्धान्तों के पालन तथा प्रतिपादन की आवश्यकता पर बल दिया और इसी को सच्चा धर्म कहकर उन्होंने जनता के लिए आवश्यक बताया। कथनी और करनी में साम्य रखने वाले कन्फ्यूशियस का प्रभाव लाओत्से पर गहरे रूप से पड़ा और वह उनका सहयोगी बन गया। दो प्रभावशाली व्यक्तियों के एकमत होकर कार्य करने का जो सत्परिणाम होता है वह लू राज्य की राजधानी को प्राप्त हुआ और वहाँ अन्धविश्वासों के खण्डहर टूटकर मानवीय मान्यताओं के नये महल बनने लगे।

इसी बीच इस नवनिर्माण तथा कुछ अन्य कारणों से उक्त राजधानी में राजनीतिक हलचल शुरू हो गई। कन्फ्यूशियस अपने अनुयायियों के साथ वहाँ से यह सोचकर चल दिए कि जन-निर्माण का कार्य राजनीति की हलचल से दूर रहकर ही किया जा सकता है।

कन्फ्यूशियस के उपदेशों में सच्ची नागरिकता एवं आचरणपूर्ण अनुशासन के दर्शन पाकर तात्कालिक चीन सरकार ने उनकी कार्य कुशलता का लाभ उठाने तथा जनता का भला करने के लिए अनुरोधपूर्वक उन्हें राज्य के चुंगट नामक नगर का गवर्नर बना दिया। एक प्रकार से जहाँ यह कन्फ्यूशियस का राज-सम्मान था वहाँ उनकी योग्यता तथा कार्य-कुशलता की परीक्षा भी थी। किन्तु जो निस्पृह है, निःस्वार्थ एवं आचरणवान है, जिसके अपने परिश्रमपूर्ण प्रयत्न से योग्यताओं की सिद्धि की है और सच्चाई के साथ काम करता है उसके हाथ में हल से लेकर राजदण्ड तक क्यों न दे दिया जाये,वह उसमें उत्तीर्ण ही होकर रहेगा। असफलता का भय तो स्वार्थी, आलसी तथा अयोग्यों के लिये निर्माण किया गया है।

शीघ्र ही उनकी योग्यता ने उन्हें शासन के सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया और तब उन्होंने एक ऐसे अडिग शासन की स्थापना की कि जनता ने नित्य परिवर्तनशील शासन के त्रास से आश्वासन की श्वास ली। इस प्रकार एक सन्त शासक के अनुशासन में जनता से बेईमानी तथा दुराचरण दूर भागने लगे। लोगों में शासन के प्रति विश्वास के साथ-साथ राजभक्ति का भी उदय होने लगा।

इस प्रकार आचार्य कन्फ्यूशियस ने न केवल एक अच्छे शासन की नींव डाली अपितु जनता के हित के लिए अनेकों सराहनीय कार्य किये। उन्होंने कृषि में, व्यापार तथा उद्योगों में विकास एवं सुधार कर देश की भुखमरी को भगाया। युवा तथा वृद्ध व्यक्तियों के लिए, शक्ति, सामर्थ्य, स्वास्थ्य, कार्य तथा उपयोगिता के मापदण्ड पर तोलकर अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की। वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करके जन-साधारण को मुनाफाखोरी के अभिशाप से मुक्त किया।

कर के रूप में प्राप्त धनराशि को जनहित के कार्यों में लगाकर सड़कों, पुलों, पाठशालाओं एवं पुस्तकालयों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया, जनता में समता तथा सुख-सन्तोष की स्थापना के लिए उन्होंने धनवानों को इतना शक्तिशाली होने से रोका कि आगे चलकर वे शासन पर हावी होकर गरीब जनता का शोषण करने में समर्थ एवं निर्भय न हो जायें। कन्फ्यूशियस की शासन-सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उसकी इस व्यवस्था से क्या धनी, क्या निर्धन, क्या ऊँच तथा क्या नीच सभी प्रकार के व्यक्ति पूर्ण सन्तुष्ट थे।

इस प्रकार एक शान्तिमय, सफल शासन-व्यवस्था स्थापित करके अन्य शासकों के सामने अनुकरणीय उदाहरण रखकर कन्फ्यूशियस पुनः देशाटन पर चल दिये। उनकी शासन कुशलता की कीर्ति सुनकर अनेक राज्यों के राजाओं ने उन्हें अपने राज्य का शासन भार सम्भालने के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु जन-सेवा के कार्य छोड़कर उन्होंने दुबारा शासक बनना स्वीकार नहीं किया। अनेक राजाओं ने उनके सम्मान में उन्हें वृत्तियाँ देनी चाहीं किन्तु उनको भी अस्वीकार करके वह जन-सेवी महात्मा कठिन से कठिन परिस्थितियों में जनकल्याण के लिये देश-देश, गाँव-गाँव तथा गली-गली मानवता के सन्देश सुनाता घूमा।

एक बार भूख से व्याकुल उनके अनेक अनुयायियों ने प्रार्थना की कि इस प्रकार कष्ट उठाने से तो अच्छा है कि किसी राज्य की वृत्ति क्यों न स्वीकार कर ली जाये। इस पर आचार्य कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया कि श्रेष्ठ पुरुष सदैव ही अपने हाथ से उपार्जित धन ही काम में लाते हैं। कठिन कठिनाइयाँ श्रेष्ठ पुरुषों की कंठहार हैं जिनके कारण ही वे पहचाने जाते हैं। जो कठिनाई को वरण नहीं कर सकता, आपत्तियों को सहन नहीं कर सकता और विषम परिस्थितियों में भी प्रसन्न नहीं रह सकता वह कभी श्रेष्ठ पुरुष नहीं बन सकता और न कोई श्रेयस्कर कार्य ही कर सकता है।

महात्मा कन्फ्यूशियस जहाँ एक दार्शनिक और आध्यात्मिक व्यक्ति होने के नाते विरक्त भाव से ही रहते थे, वहाँ समाज में फैली भ्रष्ट परम्पराओं के प्रति उदासीन न होते थे। वे जहाँ भी अहितकर प्रवृत्तियों को चलता देखते थे, वहीं पहुँच जाते थे और सुधार का प्रयत्न किया करते थे। उन्होंने साधु-संन्यासियों की धर्म-संस्थाओं का अध्ययन किया और पाया कि धर्म प्रचार करने वाले लोग प्रारम्भ में तो साहसपूर्वक ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेते हैं पर वे बाद में उसका पालन नहीं कर पाते और शीघ्र ही विकारों और परिस्थितियों का शिकार बन कर व्रत-भंग के दोषी बन जाते हैं।

महात्मा कन्फ्यूशियस ने इस परम्परा को ठीक नहीं समझा। उन्होंने इस वृत्ति को धर्म की आड़ में व्यभिचार ही माना। उन्होंने लोगों को समझाया कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर तोड़ने की अपेक्षा यही अच्छा है कि विवाहित जीवन स्वीकार किया जाये और पवित्रतापूर्वक रहकर धर्म का कार्य किया जाये। अनियमित ब्रह्मचर्य की अपेक्षा नियमित विवाह कहीं श्रेष्ठ और धर्मसम्मत है।

महात्मा कन्फ्यूशियस अपने समय के बहुत बड़े प्रचारक थे। जीवन भर उन्होंने लोगों को धर्म की शिक्षा दी। लाखों लोग उन्हें अपना गुरु मानते थे और उसी के अनुरूप उनका सम्मान भी करते थे। किन्तु निस्पृह और निरभिमानी कन्फ्यूशियस ने कभी अपने को धर्म-गुरुओं की परम्परा में नहीं माना। वे सदैव यही कहा करते थे कि मैं तो एक साधारण-सा धर्म-सैनिक हूँ और धर्म का आश्रय लेकर

अपने जीवन को पूर्ण पवित्र और सार्थक बनाना चाहता हूँ। मुझे न धन की इच्छा है न यश की। मैं सम्मान और प्रतिष्ठा भी नहीं चाहता। मुझे यदि कोई इच्छा है तो केवल यही कि मैं एक पूर्ण मनुष्य बन सकूँ। उसी के लिये मैंने धर्म का आश्रय लिया है और जीवन में आध्यात्मिक सद्‌गुणों को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

वे मध्यम मार्ग पर चलने की शिक्षा लोगों को देते थे। वे 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' सिद्धान्त के समर्थक थे। उनका कहना था कि अति की सीमा पर पहुँच कर उत्तम वस्तुएँ भी विकृत हो जाती हैं। सीमा से बाहर हुई श्रद्धा आडम्बर के रूप में, सतर्कता भीरुता के रूप में, शक्ति उद्दंडता के रूप में और सरलता, मूर्खता के रूप में परिणत हो जाती है। किसी भी विषय में जब मनुष्य सन्तुलित मात्रा से आगे बढ़ जाता है तब वह सामंजस्य खो बैठता है और उसके कार्य बेढंगे, हानिकारक तथा दुःखदायक बन जाते हैं। इसलिए मध्यम वृत्ति का जीवनयापन ही सर्व-साधारण के लिए उपयुक्त है।'

वे कहा करते थे— मनुष्य को सत्यनिष्ठ होना चाहिए। सत्य केवल बुद्धि का विषय नहीं उसे जानने से ही काम न चलेगा, वरन् उसकी उपयोगिता तभी है जब उसे जीवन में व्यवहार किया जाय। निश्चलता और आत्मविश्वास मानव जीवन की सफलता के दो प्रधान सोपान हैं। इनमें कमी आने से ही मनुष्य का अधः पतन होता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि आत्म निरीक्षण करता रहे और जब भी अपने अन्दर त्रुटियाँ दिखाई पड़ें उनमें बिना संकोच के सुधार करे।'' अपने दोषों को ढूँढना और उन्हें निकाल देना सच्ची वीरता का चिह्न है।

परिपूर्ण जीवन की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि— इन्द्रियों की तृप्ति और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति से नहीं वरन् मानव जीवन की सफलता इस बात में है कि वह अपनी मानसिक और नैतिक दुर्बलताओं पर विचार करे। जिसने अपने जीवन को अनुशासित और संयमित बनाया उसी का जीवन धन्य है। दुःख और सुख में, सफलता-असफलता में विपन्नता और सम्पन्नता में धैर्य, साहस और विवेक से काम लेकर मन की साम्यावस्था को बनाये रहना ही बुद्धिमानी का चिह्न है।

कन्फ्यूशियस धर्मनिष्ठ तो थे पर अपने आपको धर्म गुरुओं की श्रेणी में कभी सम्मिलित नहीं होने दिया। उन्होंने अपने संबंध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है—श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो जैसा कहे वैसा ही आचरण करे। मैंने जीवन भर यही प्रयत्न किया है कि मैं सद्‌गुण सम्पन्न एक पूर्ण मनुष्य बनूँ और इसी को मैंने धर्माचरण माना है और इसी के लिए दूसरों को भी शिक्षा दी है।

वे चाहते थे कि कोई बुद्धिमान शासक उनकी सलाह से राजकाज चलाये पर जीवन के अंत तक ऐसा कोई शासक उन्हें मिला नहीं। जीवन के अन्तिम दिन उन्होंने ग्रन्थ लिखने और शिष्यों को पढ़ाने में लगाये। उनका 'चन चिउ किंग' ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

कई राजाओं ने आश्रय वृत्ति देने का प्रस्ताव रखा, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और गरीबी से दिन काटते रहे। उनके शिष्य जब इस गरीबी से दुःखी होते और सहायता का प्रस्ताव करते तो वे कहते ''उत्कृष्ट पुरुषों को कष्टसाध्य जीवनयापन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। निकृष्ट पुरुष इन अवस्थाओं में टिक नहीं पाते और वे शीघ्र ही महापुरुषों के उपयुक्त गरीबी को छोड़कर चले जाते हैं। मुझे अल्पहार, भूमिशयन और जीर्ण वस्त्रों पर सन्तोष है। यह पाप की कमाई से प्राप्त हुई विलासिता और धूम-धाम की वाहवाही की अपेक्षा मेरे लिए कहीं उत्तम है।''

चीन के एक अत्याचारी शासक ने कनफ्यूशियस की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद ही उनकी लिखी सब पुस्तकों को जलवा दिया और उनके अनुयायी विद्वानों को फाँसी पर लटकवा दिया, फिर भी उनके सिद्धान्त आज भी चीन ही नहीं सारे संसार में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

अत्याचारी की छत्र-छाया से तो निर्जन वन ही श्रेष्ठ

एक बार चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस, अपने कुछ शिष्यों के साथ ताई नामक पहाड़ी पर से कहीं जा रहे थे। एक स्थान पर वे सहसा रुक गये। शिष्यों ने जिज्ञासु नेत्रों से उनकी ओर देखा। वे बोले, 'कहीं पर कोई रो रहा है।' इतना कहकर वे रुदन को लक्ष्य करके चल पड़े। शिष्यों ने उनका अनुगमन किया।

कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा एक स्त्री रो रही है। उन्होंने बड़ी सहानुभूति से रोने का कारण पूछा। स्त्री ने बताया कि इसी स्थान पर उसके पुत्र को एक चीते ने मार डाला। कन्फ्यूशियस ने कहा— 'किन्तु तुम अकेली ही दीखती हो तुम्हारे परिवार के अन्य लोग कहाँ हैं ? स्त्री ने कातर होकर बताया अब उसके परिवार में है ही कौन। इसी पहाड़ी पर उसके ससुर और पति को भी चीते ने फाड़ डाला था। कन्फ्यूशियस ने बड़े आश्चर्य से कहा, 'तो तुम इस भयंकर स्थान को छोड़ क्यों नहीं देतीं ?' स्त्री बोली, 'इस स्थान को इसलिए नहीं छोड़ती कि यहाँ पर किसी अत्याचारी का शासन नहीं है।'

महात्मा कन्फ्यूशियस यह सुनकर चकित हो गये। उन्होंने शिष्यों की ओर उन्मुख होकर कहा, यद्यपि, निश्चित रूप से यह स्त्री करुणा और सहानुभूति की अधिकारिणी है। तथापि इसकी बात ने हम लोगों को एक महान् सत्य प्रदान किया है। वह यह कि अत्याचारी शासक एक चीते से अधिक भयंकर होता है। अत्याचारी शासन में रहने की अपेक्षा अच्छा है कि किसी पहाड़ी अथवा वन में रह लिया जाये। किन्तु यह व्यवस्था सार्वजनिक नहीं हो सकती। अस्तु, जनता को चाहिए कि वह अत्याचारी शासन का समुचित विरोध करे और सत्ताधारी को अपना सुधार करने के लिये विवश करने का उपाय करे। अत्याचारी शासन को भय के कारण सहन करने वाला समाज किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाता। विकासहीन जीवन बिताता हुआ वह युगों तक नारकीय यातना भोगा करता है तथा सदा-सर्वदा अवनति के गर्त में ही पड़ा रहकर जिस-तिस प्रकार जीवन व्यतीत करता रहता है। अतः दुःशासन को पलटने के लिए जनता सदैव जागरूक रहे।

सच्चा ज्ञानी

सन्त कन्फ्यूशियस अपने शिष्यों को सच्चा ज्ञानी दिखाने चले। सबसे पहले वे एक महात्मा की गुफा में पहुँचे। महात्मा वहाँ जप, तप, ध्यानादि करते थे। उन्हें देखकर वे महात्मा उन्हें अपनी साधना में बाधक जान बिगड़ पड़े और उन्हें भगा दिया।

अब वे एक गाँव में पहुँचे वहाँ एक तेली कोल्हू चला रहा था। सन्त कन्फ्यूशियस ने उससे ब्रह्म के विषय में पूछा। तेली ने उत्तर दिया- -"यह बैल ही मेरा ब्रह्म है। यह मेरी सेवा करता है और मैं इसकी करता हूँ।"

आगे चले तो एक बुढ़िया मिली जो चरखा कात रही थी। उसके निकट ही बच्चे शोर मचा रहे थे। वह किसी नटखट बालक को डाँट भी देती, कोई पानी माँगता तो पानी भी पिला देती और कोई कुछ प्रश्न पूछता तो उसका उत्तर भी दे देती। कन्फ्यूशियस और उनकी शिष्य मण्डली को देख बच्चे भाग गये। उस बुढ़िया से भी उन्होंने ब्रह्म के बारे में पूछा— बुढ़िया बोली— हाँ, अभी तो वह यहीं खेल रहा था तुम्हें देखकर भाग गया।"

कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्यों को समझाया— पहले महात्मा छोटे ज्ञानी थे जो संसार से दूर शान्ति खोजते हैं। मध्यम श्रेणी का वह तेली है जो अपनी ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा को धीरे-धीरे पूरी करता जा रहा है और निष्काम ज्ञानी के रूप में यह वृद्धा ही सच्ची ज्ञानी है।

ईर्ष्या से बचें

पुरानी बात है चीन के दो व्यक्तियों ने आमने-सामने दुकानें खोलीं। दोनों ही धड़ल्ले से चलने लगीं। ग्राहकों की भीड़ लगी रहती और कमाई भी खूब होती।

इतने पर भी दोनों ही दु:खी रहते, उन्हें कितनी ही बीमारियों ने घेर लिया और सूख-सूख कर काँटा हो चले। इलाज कोई कारगर न हुआ तो मौत के दिन गिनने लगे।

समझदारों ने सलाह दी कि वे कन्फ्यूशियस के पास परामर्श के लिए जायें। कई बार दार्शनिक चिकित्सकों से अच्छा इलाज कर देते थे।

दोनों की अन्तर्व्यथा कन्फ्यूशियस ने सुनी। दोनों ईर्ष्या के मरीज थे। सामने वाले की बढ़ोत्तरी सहन न कर पाते और मन ही मन कुढ़ते रहते। यही था उन की बीमारियों का मूल कारण।

कन्फ्यूशियस ने इलाज बताया वे दुकानों के काउन्टर बदल लें मालिकी ईश्वर की समझें और उनके गुमास्ते की तरह काम करते रहें।

इस उपाय से ईर्ष्या से पिण्ड छूटा और कुछ ही समय में दोनों पूरी तरह निरोग हो गए।

अच्छी सरकार किसे कहते हैं ?

एक बार कन्फ्यूशियस के किसी शिष्य ने उनसे पूछा " अच्छी सरकार किसे कहते है ?"

कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया "जिसके पास पर्याप्त अन्न हो— पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र हों— तथा जिस पर जनता का विश्वास हो।"

शिष्य ने पुन: पूछा "मान लीजिये तीनों बातें न मिल सकें ?"

गुरु ने कहा "इनमें से हथियार निकाल सकते हो।"

शिष्य की जिज्ञासा शांत न हुई और उसने फिर प्रश्न किया "यदि इन चीजों में से केवल एक ही रखना हो— तो कौन-सी पसंद करेंगे ?"

कन्फ्यूशियस ने गम्भीर मुद्रा में उत्तर दिया "जनता का विश्वास।"

कठोरता नहीं कोमलता अपनायें

चीन के महान् तत्वदर्शी कन्फ्यूशियस के मरने का समय आ पहुँचा। अन्तिम दर्शन के लिए उनके अनेक शिष्य समीप खड़े थे। उनकी जिज्ञासा थी, गुरुदेव हमें कुछ उपदेश देकर जायें।

कनफ्यूशियस ने शिष्यों को पास बुलाकर पूछा देखना मेरे मुँह में जीभ है या नहीं ? और उन्होंने मुँह फाड़ दिया।

जीभ मुँह में थी ही। होनी भी चाहिए। शिष्यों को आश्चर्य हुआ कि यह क्या बेतुका सवाल पूछा जा रहा है ? फिर भी शिष्टतावश उन्होंने यही कहा— है।

अब दूसरा प्रश्न पूछा गया— बताओं मेरे मुँह में दाँत हैं या नहीं ? इस बार भी उन्होंने पूरा मुँह खोला। दाँत नहीं थे। आयु के हिसाब से वे पहले ही झड़ चुके थे। शिष्यों को इस प्रश्न पर भी वैसा ही अचम्भा हुआ।

फिर उन्होंने यही कहा— दाँत तो गुरुदेव एक भी नहीं है। कन्फ्यूशियस ने तीसरा प्रश्न किया। बच्चे जीभ तो मेरे जन्म से पहले मौजूद थी और दाँत बाद में निकले। फिर यह क्या हुआ कि पीछे जन्मने वाले पहले चले गये और जो पहले पैदा हुई वह पीछे भी मौजूद है।

शिष्य क्या उत्तर देते। उनसे कुछ कहते न बन पड़ा। सब चुप खड़े थे एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे।

स्तब्धता तोड़ते हुए कन्फ्यूशियस ने कहा— बच्चो, जीभ कोमल है और सरस। दाँत कठोर, क्रूर और निर्मम। सो दाँत टूट गये और जीभ का अस्तित्व अन्त तक बना हुआ है।

इस प्रकार इस महान् दार्शनिक ने अपनी अन्तिम और अति महत्त्वपूर्ण शिक्षा शिष्यों को दी और अपनी आँखें बन्द कर लीं।

सज्जनता

कन्फ्यूशियस के एक शिष्य ने उनसे सज्जनता के विषय में पूछा। कन्फ्यूशियस ने कहा— "सामान्य जनों से सदा ऐसे व्यवहार करो जैसा किसी महत्वपूर्ण संस्कार का संचालन कर रहे हो। घर के बाहर सदा ऐसे व्यवहार करो, जैसे किसी महत्वपूर्ण अतिथि के सामने घर में करते हो। दूसरों के साथ ऐसा कुछ न करो, जैसा कि तुम नहीं चाहते कि दूसरा तुम्हारे साथ करें। सज्जन शब्दों में कृपण होते है।"

'तो क्या शब्दों की कृपणता ही सज्जनता है ?' एक अन्य शिष्य ने पूछा ।

उन्होंने उत्तर दिया— ''करना, बोलने से कितना अधिक कठिन है, यह देखते हुए बोलने में भला कौन कृपण न होगा ?''

आगे जो युग है, वह गण से वकत्व का है, नेतृत्व का नहीं । हमारे यहाँ कुछ लोग बहुत ऊँचे हो गये, पर आम जनता का स्तर नीचे रहा । यूरोप में आम जनता का स्तर हमारे यहाँ से ऊँचा है । इस पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से सोचना होगा ।

कोई एक ऊँचा मनुष्य हो और बाकी सब नीचे हों, उस एक की जय-जयकार चले और उसके कारण लोगों का थोड़ा-बहुत उत्थान हो यह अधिक अच्छा नहीं । आवश्यक यह है कि सारे समाज का चित्त ऊपर उठाएँ । वह भले ही उतना न उठे, जितना व्यक्ति का उठा था, फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी । चित्त ऊपर उठाने में, एक प्रेरणा से प्रेरित समूह काम करेगा, तो सुगमता होगी ।

सरल व सौम्य धर्म संस्थापक—कांगफ्यूत्सी

चीन के प्राचीन तीन मुख्य धर्मों में से एक है 'कनफ्यूश' दूसरी संस्था है कांगफ्यूत्सी और तीसरी है ताओ धर्म ।

कांगफ्यूत्सी ने अपने को कभी मसीहा नहीं कहा, न कोई अलौकिक चमत्कार दिखाने और सन्त-महन्त का बाना पहना । वे एक सामान्य नागरिक के घर जन्मे और उसी स्थिति में संसार छोड़कर चले गये । फिर भी उनका धर्म प्राचीनकाल के चीन में अत्यन्त लोकप्रिय रहा । करोड़ों अनुयायी बड़ी श्रद्धा के साथ उसका पालन करते रहे । लोग उन्हें महन्त ही मानते रहे, जैसे कि वे वस्तुत: थे ।

आज के शातुंग प्रदेश को उन दिनों 'लू' कहा जाता था । ईसा से कोई ५०० वर्ष पूर्व कांगफ्यूत्सी का जन्म वहीं 'त्सौ' गाँव में हुआ । दो बेटियों के बाद ७० वर्ष की आयु में उनके पिता ने यह सन्तान पाई थी, सो खुशी भी बहुत मनाई गई ।

तीन साल की उम्र में पिता स्वर्गवासी हुए और तैतीस साल की उम्र में माँ भी सिधार गईं । उन्हें अपने पाँवों पर खड़ा होना पड़ा । सरकारी गोदाम में भण्डारी की नौकरी मिल गई । विवाह का सुयोग भी इन्हीं दिनों जम गया ।

दूसरे युवक जिस तरह नौकरी से छूटते ही मटरगश्ती यार-वासी या दूसरे किस्म की समय की बातों में लग जाते हैं वह तरीका 'त्सी' को जरा-भी पसन्द नहीं आया । उन्होंने बचे हुए समय के एक एक क्षण की मूल्य बात समझी और खाली रहना एक शैतानी कृत्य जैसा मान लिया । जब देखो वे किसी के काम में लगे हुए ही दीखते ।

भण्डारी की नौकरी करते हुए जो समय बचता उसमें वे विद्याध्यन करते रहते । बाकी समय में उन्होंने संगीत और कविता का अच्छा अभ्यास कर लिया । गणित और इतिहास में भी उनकी रुचि हो गई ।

ग्यारह वर्ष के निरन्तर परिश्रम से उन्होंने अच्छी विद्या प्राप्त करली और बचत का कुछ पैसा भी जमा हो गया । चौंतीस साल की आयु में उन्होंने मानवीय आदर्शों के शिक्षण तत्वासद् गुणों के अभ्यास का विद्यालय खोला । नौकरी छोड़ कर— उनका विद्यालय चलाने का काम लोगों को अटपटा लगा पर 'त्सी' ने इसी के लिए आरम्भ में ही तैयारी की थी । वे पेट पालते हुए जीने भर के लिए नहीं जन्मे थे । मानव जीवन का सदुपयोग लोक-मंगल के लिए बढ़ कर अनुदान प्रस्तुत करने में ही समझ लिया था और दिशा निर्धारण करने में उन्हें भूलना पड़ा न भटकना ।

शिक्षण की शैली, अध्यापक की निष्ठा दोनों ने मिलकर सोने पे सुहागे का काम किया । विद्यालय ने आशातीत प्रगति की और उसमें तीन हजार छात्र पढ़ने लगे । इतनी बड़ी संख्या के छात्रों का वह एक ही विद्यालय उन दिनों उस प्रदेश में था ।

अध्ययन करके निकले हुए छात्रों के व्यक्तित्व और कर्तत्व— 'त्सी' की उनके विद्यालय की कीर्ति को बढ़ाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई । सारे देश में उन्हें कर्मनिष्ठ, चरित्रवान् और दूरदर्शी महापुरुष समझा जाने लगा था । थे वे अध्यापक, पर अपनी उन्होंने गतिविधियों के कारण वह अध्यापन कार्य भी उनकी गरिमा को आसमान तक उठा ले जाने में सफल हुआ । चीनी जनता के मन में उनके लिए असाधारण सम्मान उपजा ।

जनता ने अति आग्रह करके उन्हें 'चुंग तू' इलाके का शासक बना दिया । उनकी शासन व्यवस्था में प्रजा की खुशहाली बे-हिसाब बढ़ी और अपराधों का एक प्रकार से सफाया ही हो गया ।

लू के राजा ने उन्हें बुलाया और ऐसे अच्छे शासन के हिन्ट पूछे । उन्होंने बहुत कुछ बताते हुए सार रूप में दो बातें कहीं । अच्छों को पुरस्कार और बुरों को दंड देने में उन्होंने कभी असावधानी नहीं बरती । फलस्वरूप अच्छाइयाँ बढ़ती गईं और बुराइयाँ निरस्त हो गईं । अच्छे शासन में यह गुण होने ही चाहिए । जहाँ बुरे लोग लाभान्वित होंगे और अच्छाइयाँ नुकसान में मिलीं, वहाँ राजा और प्रजा दोनों को ही दु:खी होना पड़ेगा ।

विशाल 'लू' राज्य का उन्हें मन्त्री बनाया गया । उन्होंने पद सम्भालते ही अपनी नीति सरकारी कर्मचारियों पर लागू की और उनके गुण-दोषों को खोज कर दंडित-पुरस्कार करना शुरू कर दिया । कर्मचारियों के सुधारने से सारी शासन व्यवस्था बदल गई । प्रजा में अच्छाई बढ़ने से खुशहाली बढ़ी और बुराई को कठोरतापूर्वक दंडित करने की नीति ने अपराधों का सफाया कर दिया, राज्य की आशाजनक उन्नति हुई ।

'त्सी' ज्यादा समय शासन में नहीं रहे । उन्होंने अपनी वास्तविक स्थिति प्रजा के बीच देखी सो वे शिक्षण के लिए निकल पड़े । विद्यालय दूसरे लोग चलाते थे, शासन दूसरे लोग । परामर्श उनका उन्हें भी मिलता रहा पर वे स्वयं परिव्राजक की तरह लोक-शिक्षण को ही सर्वत्र कार्य समझ कर उसमें जुटे रहे । इस प्रकार उन्होंने तेरह वर्ष बिताये । जब शरीर भ्रमण के योग्य न रहा, शिथिलता बढ़ गई तो वे घर लौट आये और ७३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया । उनकी मृत्यु का शोक समस्त चीन में मनाया गया और शासन की ओर से उनकी समाधि पर श्रद्धाजलि अर्पित की गई ।

कांगफ्यूत्सी के स्वर्गवास के बाद उनके शिष्यों में शिथिलता नहीं आई वरन् वे उनके मन्तव्यों का प्रचार और भी अधिक उत्साह से करने लगे। इस प्रचारकों में 'मैनशियस' नाम मुख्य है। उसने अपना समय और धन उचित श्रद्धा और तत्परता के साथ लगाया उसके फलस्वरूप वह विचारधारा एक महान् धर्म के रूप में परिणत हो गई और 'कनफ्यूत्स' धर्म पुराने चीन का एक मान्य धर्म बन गया।

इस धर्म में स्वर्ग मुक्ति की, मरणोत्तर जीवन की लम्बी-चौड़ी बातें नहीं हो सकी हैं। वरन् सारा महत्त्व मानवीय सच्चरित्रता को दिया है (१) प्रेम, (२) न्याय, (३) नम्रता, (४) विवेक, (५)ईमानदारी। इन पाँच आदर्शों को मनुष्य की सुख-शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है कि— चरित्रवान् ही धर्मात्मा है। जिनके अन्तःकरण में सज्जनता और उदारता है वही मानो सही अर्थों में आस्तिक है। पूजा प्रार्थना भी इस धर्म की ऐसी है जो सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य और सरल कही जा सके।

त्सी ने यह सिद्ध कर दिया कि महान् व्यक्ति बनने के लिए विज्ञापन प्रदर्शित करने वाले साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी महान् गुणों और महान् आदर्शों के प्रति जन्मे हृदय में निष्ठावान् होने की, उसी निष्ठा ने 'त्सी' को महान् धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में ला बिठाया।

त्सी अपनी झोंपड़ी में कुछ लिख रहे थे। लेख पूरा करके उन्होंने एक लम्बी साँस खींची और उदास होकर कोने में लुढ़क गये।

उनके पोते ने यह स्थिति देखी तो घबड़ाया। तबियत का हाल पूछने के लिए आने वालों से उन्होंने यही कहा— जिनके चरित्र मैं लिखता हूँ उनकी तुलना में खुद कितना छोटा पड़ता हूँ। उसी रंज में मेरा दिल टूटता है।

त्सी ने अपने समान ही अनेकों लोक-सेवी शिष्य ढाले थे। ऐसे ही शिष्यों में एक था— येन हुई।

त्सी ने हुई की गरीबी को देखते हुए उसे अच्छा सरकारी पद दिलवाने की कोशिश की।

हुई ने उस अवग्रह को अस्वीकार करते हुए यही कहा— थोड़ी-सी जमीन मेरे पास है सो उससे गुजर आसानी से हो जायेगी, मुझे इक तारे पर घर-घर आपका आदेश सुनाने भर की अभिलम्बन है सो उसी का आशीर्वाद दीजिए।

फारस के तथागत— महात्मा जरथुस्त्र

फारस देश के मीडिया प्रान्त में एक नगर है अजरबेजान। ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व वहाँ बोरशसफ राजा का राज्य था। राजारानी ने दो पुत्रों को जन्म देने के बाद एक ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसकी यश कीर्ति से दसों दिशायें गूँज उठीं। यही पुत्र आगे चलकर महात्मा जरथुस्त्र के नाम से विख्यात हुआ और अपने जीवन-काल में ही हजारों लाखों व्यक्तियों को तमोमय अन्धकारपूर्ण मार्ग से हटाकर प्रकाश और ज्योति के पथ पर अग्रसर करने में सफल हुआ। इस विभूतिवान आत्मा को धारण करने का श्रेय उनकी धर्मपरायणा कोमल चित्त और मधुर स्वभाव वाली माता को ही है। वस्तुतः ऐसी ही आत्मायें किसी तप:पूत आत्मा का तेजस सह और धारण कर सकती हैं।

जरथुस्त्र की माता मीडिया प्रान्त के नरेश की पुत्री थीं। बोरशसफ भी कम शक्तिशाली नहीं थे। परन्तु उस समय फारस देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था और सभी राज्य एक-दूसरे को ललचायी दृष्टि से देखते थे व एक-दूसरे के विनाश व विजय हेतु आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहते। ऐसे ही किसी महत्त्वाकांक्षी किन्तु ईर्ष्यालु नरेश से किसी ने कह दिया कि बोरशसफ का मंझला बेटा— ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त है और वह शीघ्र ही सारे फारस को अपने राज्य में मिला लेगा तो कंस की तरह वह भी अपने इस शत्रु को जान से मार देने के लिए उद्यत रहने लगा। प्रारम्भिक बार तो असफल रहा लेकिन उससे जरथुस्त्र के माता-पिता अवश्य सावधान हो गये। उक्त नरेश फिर भी अपनी मंशा पूरी करने का प्रयत्न करता रहा परन्तु कड़ी सुरक्षा व्यवस्था और जरथुस्त्र की प्रबल जीवनीशक्ति के कारण वह उनका कुछ न बिगाड़ सका।

महात्मा जरथुस्त्र अपने शैशव काल में असाधारण प्रतिभा सम्पन्न और कुशाग्र बुद्धि रहे थे। यह उनके पूर्व जन्म की तप-साधनाओं का ही परिणाम कहना चाहिए। उचित समय पर माता-पिता ने अपने बेटे की शिक्षा दीक्षा का भी समुचित रूप से प्रबन्ध किया था। जिसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा दिन दूनी और रात चौगुनी गति से बढ़ने लगी। धर्मपरायणा और सुशीला माता ने अपने लाड़ले को धर्मशास्त्रों में पारंगत करने के लिए धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध भी किया। अध्यवसाय, लगन और संस्कारों के प्रभाव स्वरूप उन्होंने इस विषय में बड़ी कुशलता प्राप्त की। वे अन्य धर्मों के गूढ़ तत्त्वों को भी भलीभाँति समझने लगे।

यह बात नहीं थी कि धर्म और अध्यात्म को उन्होंने जानने भर का विषय समझा हो इस अनुभूत और खरे मार्ग को— इसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने की भी चेष्टा की थी। उस समय फारस देश के सामाजिक वातावरण में धर्म-चर्चाओं का तो खूब जोर रहता लेकिन व्यवहार और जीवन उन आदर्शों से एकदम इतना विपरीत कि कुछ कहा नहीं जा सकता। शैशव को भोग कर कैशोर्य से गुजरते हुए महात्मा जरथुस्त्र तब युवावस्था में पदार्पण कर चुके थे और अपनी खुली आँखों से उन्होंने समाज की इस स्थिति को देखा-परखा था। इसलिए उनके लिए यही विचार्य हो गया था कि किस प्रकार इस महान् मार्ग को वाक्‌विलास का साधन उपकरण न रहने देकर व्यवहार और आचरण का विषय बनाया जाय।

बोरशसफ पाँच पुत्रों के पिता थे। उनका जब चौथापन आया और बच्चे भी जवान होने लगे तो उन्होंने सोचा कि राज्य सम्पदा और समस्त जायदाद पाँचों भाइयों में बराबर-बराबर बाँट दी जाय। पता नहीं वृद्धावस्था के तकाजे में आकर प्राण अपने आपको कब मृत्यु के हवाले कर दें। एक-एक भाई को अलग-अलग बुलाकर

बोरशसफ ने अपना मनोगत कहा। सभी तैयार हो गये। पिता अपने उत्तरदायित्वों के साथ प्रचुर-धन सम्पदा भी सौंप रहे हैं, उसे भोगने का प्रलोभन किसे अस्वीकार होगा। परन्तु अस्वीकार किया एक ने जरथुस्त्र-बोरशसफ के मंझले और तीसरे पुत्र ने।

माता-पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ जरथुस्त्र अपने भाग का हिस्सा लेने से क्यों मना कर रहे हैं यह किसी की समझ में न आ रहा था। माँ ने आखिर पूछ लिया— "क्या कारण है बेटा। क्या तुझे हमारा फैसला नापसन्द है।"

नहीं माँ! यह बात नहीं है।' जरथुस्त्र ने कहा।

"तो फिर ?"

"मैंने अपने लिए एक ऐसी राह चुनी है जिस पर चलने में यह सब बाधक बनेगा।"

"क्या राह चुनी है। जरा हम भी तो सुनें।"

"वह राह है अज्ञान और कलह में डूबे अपने देशवासियों को सच्चा धर्म सिखाने का पुनीत कार्य।"

"क्या! तू धर्म के सम्बन्ध में सब कुछ जानता है जो लोगों को सिखायेगा।"

"जानता तो नहीं हूँ। परन्तु मेरे भीतर ईश्वर का एक ऐसा प्रतिनिधि बैठा है जो मुझे यह सब सिखायेगा।" "अच्छा।" एक लम्बा-सा शब्द कहा बोरशसफ ने और फिर पूछा— "अब लोगों को सच्चा धर्म सिखायेगा तो इस राज्य को कौन चलायेगा।"

"मेरे और भी भाई तो हैं और यह मेरा राज्य है भी नहीं। मेरा शासन क्षेत्र तो लोगों के हृदय हैं जिन पर मैं राज्य करूँगा।"

"और इस राज्य को नहीं भोगेगा तो खायेगा क्या ?"

"वही जो दीन-हीन और अकिंचन स्थिति में पड़े लोग खाया करते हैं"— जरथुस्त्र पूछे गये प्रश्नों का एक के बाद एक कर इस प्रकार जबाब देते जा रहे थे कि बोरेशसफ तथा महारानी ने कुछ भी कहना व्यर्थ समझा और जरथुस्त्र का निर्णय अटल जानकर छोड़ दिया। राज्य का बँटवारा हो गया और सम्पत्ति का विभाजन भी चारों भाइयों में दिया गया तो जरथुस्त्र एक छोटा-सा फटका अपनी कमर से बाँध कर निकल पड़े— गंतव्य था ईश्वर-लक्ष्य या सत्य की खोज।

घर छोड़ते ही उन्होंने साधु वेश धारण कर लिया और यत्र-तत्र भटकते रहे। अनेकों कठिनाइयाँ आयीं और अनेकों विपदायें परन्तु सत्य की खोज में निकले इस यात्री के लिए तो जैसे कुछ भी नहीं था। उन्होंने सब कुछ बिना आपत्ति किये सह लिया यहाँ तक कि दिनों और हफ्तों की भूख-प्यास भी। इस दैहिक क्षुधा तृषा से प्रबल क्षुधा तृषा थी सत्य और ईश्वर की। जिसे बुझाने के लिए वे घूमते-घूमते और कष्ट सहते सूख कर काँटा हो गये। वर्षों तक खोज चलती रही तो किसी ने बताया कि महात्मा तूर के पास जाओ वह तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। अगणित कष्ट-परेशानियाँ सह कर जरथुस्त्र महात्मा तूर के पास गये। तूर ने उनसे प्रेमपूर्ण और स्नेहमय व्यवहार किया व आत्मसाधना में दीक्षित भी। लगन-खोज यहाँ पूरी हो सकी।

दीर्घकाल तक अपने पास रखकर साधनाओं का अभ्यास कराने के बाद महात्मा तूर ने एकान्त तप की आज्ञा दी। जरथुस्त्र तूर के आश्रम से निकल कर एक पर्वत द्रोण पर चले गये और एक गुफा में रहने लगे। वहाँ उन्होंने कई वर्षों तक कठिन तप किया। निराहार, निर्जल, शीत-आतप सहन, कर्षण, अर्जन आदि तितिक्षा साधनाओं का क्रम वर्षों चला। यहीं उन्हें भगवान् बुद्ध की तरह तत्वज्ञान की प्राप्ति हुई और वे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश संसार मात्र को देने तथा दुःखों, कष्टों में जल रहे मनुष्यों को शान्त-शीतल करने के लिए निकल पड़े। उस समय उनकी अवस्था तीस वर्ष थी और उन्होंने अपनी गाथाओं का प्रथम आरम्भ कर दिया। ये गाथायें गद्य के रूप में हैं और इनमें सीधे-सादे शब्दों में मनुष्य के कल्याण का उपदेश दिया गया है।

आरम्भ में तो लोग उनकी बात सुनने के लिए तैयार नहीं हुए। हर कोई उनका उपहास उड़ाकर चल देता परन्तु वे हिम्मत न हारे। वे घूम-घूम कर गाँव-गाँव में प्रचार करते रहे। लोग सुनें या न सुनें— इसकी उन्हें तनिक भी चिन्ता न हुई। इसी धर्म-प्रवास के काल में जरथुस्त्र सीस्तान प्रान्त पहुंचे। सीस्तान का बादशाह परशातु उनकी बातों से बड़ा प्रभावित हुआ और उनकी शिक्षाओं से अपना हित भी होते देखा। परन्तु उन शिक्षाओं पर चलने से इन्कार कर दिया। निरन्तर मिल रही इन असफलताओं ने महात्मा जरथुस्त्र के लिए यह तथ्य उद्घाटित कर दिया कि जब तक आत्मबल और वाणी में प्रभावकारी क्षमता प्रखरता उत्पन्न न की जाये लोग उन्हें नहीं सुनेंगे और सुनेंगे भी सही तो मानेंगे नहीं। इसलिए अपनी वाणी में प्रखरता शक्ति उत्पन्न करने के लिए वे पुनः वन में लौट गये और वहाँ तप साधना द्वारा आत्मबल का अर्जन भी किया।

तपश्चर्या और आत्मशोधन के विविध उपचारों से उन्हें द्विगुणित उत्साह भर आया। उनका चचेरा भाई त्योमाह उनका पहला शिष्य बना। त्योमाह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। दूसरे प्रान्तों की राज-सभाओं में भी उसका खूब मान सम्मान होता था। त्योमाह के प्रभाव और जरथुस्त्र के वर्चस से सब लोग इस नये धर्म में दीक्षित होने लगे। इस प्रकार सफल प्रचार यात्रायें करते हुए वे अपनी जन्मभूमि की ओर लौटे।

महात्मा जरथुस्त्र की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। न केवल फारस के ही वरन् आसपास के देशों से भी विद्वान् और गणमान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति उनके पास आया करते थे। उनके व्याख्यान युक्तिपूर्ण, तर्कयुक्त और विवेकसम्मत विचारणाओं के प्रतिपादन हुआ करते थे। ओजस्विता और प्रभावपूर्ण वक्तृता शैली से उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति बस उनका ही होकर रह जाता था। वाणी ही नहीं उसके पीछे शक्तिरूप से विद्यमान उनका ओजस्वी और आदर्श व्यक्तित्व ही इस सफलता का कारण था। स्वभाव से वे इतने दयालु और करुणार्द्र थे कि अपने सामने किसी कीड़े को भी मरते नहीं देख पाते थे। एक बार की बात है तब वे एकान्त वन में तपाभ्यास में निरत थे। कोई कुत्ता भूख के कारण छटपटाते हुए दम तोड़ रहा था। वे दौड़कर पास की बस्ती में गये और बस्तीवासियों से खाना माँगकर लाये। जब तक वे खाना लेकर वहाँ पहुँचे तब तक कुत्ता दम तोड़ चुका था। इस घटना से उनका हृदय इतना दुःखी रहा कि कई दिनों तक वे खाना भी नहीं खा पाये।

पशुओं के प्रति भी जिनमें इतनी करुणा दबी हो, वह व्यक्ति यदि अपनी करुणा से प्रेरित होकर लोगों को सत्य और धर्म का उपदेश दे तो असम्भव नहीं है कि लोग उसे न सुनें। अपनी जन्मभूमि की ओर लौटते हुए मार्ग में पड़ने वाले एक राज्य के नरेश शाह गस्ताशप ने उनका आतिथ्य किया। शाह ने उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुना और प्रभावित हुए।

राजसभा में अन्य दूसरे धर्म-शास्त्रियों को यह सहन न हुआ। क्योंकि इससे उन्हें अपने स्वार्थों पर आघात होने का डर लगने लगा था। इसलिए उन्होंने शास्त्रार्थ की चुनौती दी। शास्त्रार्थ में शास्त्रीगण महात्मा जरथुस्त्र के अकाट्य तर्कों और प्रबल युक्तियों का सामना न कर पाये। हार कर वे जरथुस्त्र को हतोत्साहित करने लगे। परन्तु महात्मा जरथुस्त्र उनके इन प्रयासों और आक्षेपों का भी संयत उत्तर देते रहे। यूँ भी अपनी कुटिल मन्शा पूरी न होते देख छल छद्मों द्वारा उन्हें अपने मार्ग से हटाना चाहा। इन छद्मवेशी पुरुषों ने और धूर्त दुष्टों ने कुत्तों, बिल्लियों, चूहों और ऊँटों के सिर, नाक, कान इत्यादि चुपके से उस स्थान पर रखवा दिये और उधर गस्ताशप के कान इस प्रकार भर दिये कि जरथुस्त्र मायावी है। शाह ने आरम्भ में तो विश्वास कर लिया परन्तु शीघ्र ही उसे अपनी गलती का पता चल गया और भूल को सुधार लिया।

यहाँ तो उनकी जीवन रक्षा हो गई और गस्ताशप उनका परम भक्त हो गया। लेकिन कुछ वर्षों बाद पड़ोस के एक राजा शाह अजीसप ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया। सैनिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण शाह हार गया और तोहरानी कुमुक ने राजधानी पर विजय प्राप्त कर ली। तोहरान का शासक भी महात्मा जरथुस्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव से बड़ा चिन्तित था और कुछ राजद्रोही व अवसर की ताक में बैठे सभासदों ने अजीसप के कान भर दिये। परिणाम-स्वरूप अपने शाह के आदेश पर तोहरानी सैनिकों ने उन्हें एक धर्म-मन्दिर में जा पकड़ा।

शाह का आदेश हुआ और बिना कोई अभियोग लगाये बिना कोई प्रश्न पूछे महात्मा जरथुस्त्र को मृत्यु दण्ड दे दिया। उस समय उनकी आयु ७७ वर्ष की थी। नास्तिकता और अन्धविश्वास के भंवर में फँस रही जनता को बचाकर ईश्वर की उपासना और पूजा में प्रवृत्त करने तथा समाज के एक प्रगतिशील आचार-संहिता देने वाला यह महामानव उन्हीं जीवन मूल्यों के लिए बलिदान हो गया जिनके लिए वह जिया था। परन्तु उनके स्थापित आदर्श इतने शाश्वत हैं कि आज भी लाखों-करोड़ों लोग उनमें आस्था रखते हैं।

पारसी पैगम्बर जरथुस्त्र ने जिस समय जन्म लिया था, उनका देश अजरबेजान अन्धविश्वासों, अधर्म और पापों में बुरी तरह डूबा हुआ था। आडम्बरी जादूगर सारे समाज पर छाये हुये थे। मंत्र-तंत्र और बाजीगरी दिखलाकर जनता को भयभीत करते और अपनी जेब भरा करते थे। न जाने कितने प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा होती थी। धर्म के नाम पर पाप और पाखण्ड का बोलबाला था। लोग धर्म और ईश्वर को बिल्कुल भूल गये थे। जरथुस्त्र ने इस अंधकार में डूबी जनता को प्रकाश दिया। सर्व-शक्तिमान एक ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया और एक सद्धर्म का पथ दिखाया। उन्होंने पूरा जीवन ही इस उपकार में लगा दिया और उसके लिये जो भी कष्ट सहने पड़े, सहे।

जरथुस्त्र बाल्यकाल से ही बड़े ईश्वर भक्त, निर्भीक, सत्यवादी और अन्धविश्वासों के विरोधी थे। एक बार बहुत से जादूगर जरथुस्त्र के पिता पुरशस्थ के पास आये और बहुत-से चमत्कार दिखला कर कहने लगे "हमारा जादू ही भगवान् है। तुम इसी पर विश्वास करो और हमसे दीक्षा ले लो "जरथुस्त्र के भोले पिता जादूगरों को देखकर डर गये और उन आडम्बरियों से प्रभावित होने लगे।"

सात वर्षीय जरथुस्त्र भी उस समय वहाँ पर उपस्थित थे। भगवान् में अटल विश्वास रखने के कारण उन पर जादूगरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने साहसपूर्वक जादूगरों को संबोधित करते हुये कहा— "तुम लोग सब छलजीवी हो। अपने जादू को भगवान् बतलाना अथवा उस पर विश्वास करना घोर नास्तिकता है। जादू की पूजा तो नरक में ले जाने वाली है। इसलिये उस शक्तिमान परमात्मा में विश्वास करें। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा और तुम्हारे पाप छूटेंगे।"

बालक जरथुस्त्र न केवल भक्त अथवा निर्भीक भी थे वरन् बड़े दयालु और जन-सेवक भी थे। वे अपने गोदाम से भूसा-चारा निकाल कर दूसरे भूखे जानवरों को खिला दिया करते थे। जब घर में पर्याप्त चारा नहीं होता था, तो जंगल से इकट्ठा कर लाते थे और बूढ़े, असहाय और लंगड़े, भूखे जानवरों को खिलाते थे। उनके इस उपकार से जानवर उन्हें इतना प्यार करने लगे थे कि देखते ही चारों ओर जमा हो जाते थे। जरथुस्त्र सबको समान रूप से प्यार करते थे और इस तरह उनका दुःख पूछते थे, मानो वे भी उन्हीं की तरह मनुष्य हों।

एक बार रास्ते में जाते हुए जरथुस्त्र ने देखा कि कोई उदार व्यक्ति गरीबों को आटा बाँट रहा है। लेकिन भीड़ इतनी है कि उससे प्रबन्ध नहीं हो पा रहा है। जरथुस्त्र दौड़ कर गये और उनकी मदद करने लगे। निवृत्त होकर उस व्यक्ति ने जरथुस्त्र को धन्यवाद दिया और कहा— "बड़े अच्छे बालक हो।" जरथुस्त्र ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया— "आप एक परोपकारी व्यक्ति हैं। मेरे लिये यही बहुत बड़ा परिचय है। आपको आटा बाँटते देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे आप स्वर्ग के हमारे साथी हैं और भूमि पर दीनों तथा असहायों की सहायता करने आये हैं।" उस परोपकारी ने जरथुस्त्र में एक श्रेष्ठ आत्मा के दर्शन किए और आगे चलकर उनकी सेवा-साधना— लोक-मंगल के कार्यों में बड़ा सहयोगी सिद्ध हुआ।

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये जरथुस्त्र ने बड़ी कठोर साधना की। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही वे साधना करने लगे थे और बाईस वर्ष तक करते रहे। बीच के इन सात वर्षों में उन्होंने दूध के सिवाय न अन्न खाया, न फलाहार किया। अंत में उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे उसका प्रकाश संसार को देने के लिये चल पड़े। उनका लक्ष्य एक ही था— "**अयंनिजःपरोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्। उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।**"

जरथुस्त्र अपने आचरण साधन और लोक-मंगल के बल पर एक पैगम्बर बने और उन्होंने पारसी धर्म का प्रवर्तन किया । बिना साधना के कोई कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हस्तगत नहीं कर पाता और साधना करने वाला लोक-मंगल के क्षेत्र में सेवा कार्य किये बिना रह ही नहीं सकता । जरथुस्त्र को उनकी परमार्थ साधना एवं आडम्बरों से भरे संसार में विवेकशीलता के विस्तार हेतु सदैव याद किया जाता रहेगा ।

महान् शिक्षक—अरस्तू

सिकन्दर महान् का गुरु होने के नाते अरस्तू की महत्ता प्रतिपादित करने वालों की अपनी धारणा बदल कर यह मान लेना चाहिये कि सिकन्दर जैसा शिष्य पाकर अरस्तू महान् नहीं हुए, बल्कि अरस्तू जैसा गुरु पाकर ही सिकन्दर महान् बना है । एक साधारण मिट्टी से बने राजकुमार सिकन्दर को फौलादी बना देने का सारा श्रेय अरस्तू को ही है ।

विद्वान् अरस्तू का जीवन लक्ष्य लोक-शिक्षा ही था । उन्होंने जीवन में जो भी विद्या, विचार, बुद्धि अथवा सद्‌गुणों का अर्जन छिपा था वह सब उन्होंने व्यक्ति के निर्माण करने में ही लगा दिया । उन्होंने अपनी महान् उपलब्धियों का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये कभी नहीं किया । संसार में सिकन्दर ने जो कुछ भी बल, वैभव, यश अथवा महानता पाई, उसके पीछे अरस्तू की ही वह शिक्षा काम कर रही थी, जो उन्होंने एक-एक सिकन्दर को ही नहीं पूरे राष्ट्र को दी थी । सिकन्दर की सेना का एक सैनिक सिकन्दर की तरह वीर और बलशाली व्यक्ति था । एक अकेले सिकन्दर में वह शक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती थी कि संसार को विजय करने का साहस कर सकता । अथवा कमजोर चरित्र और निर्बल हृदय वाले व्यक्तियों की सेना लेकर दूर देशों तक जाकर इतिहास का निर्माण कर पाता । यह अरस्तू की शिक्षाओं का ही जादू था कि मेसीडोनिया जैसे क्षुद्र देश के लोग इतने वीर, साहसी और कष्ट सहिष्णु बन सके, जो उन्होंने तूफानों के बीच से रास्ता बनाकर भी अपने देश के यश और प्रभाव का विस्तार किया । सिकन्दर और उसका बल स्वयं में कुछ नहीं था । वह जो कुछ था महान् विद्वान् अरस्तू की शिक्षाओं का परिणाम था ।

मेसीडोन के राजा फिलिप अपने पुत्र को कुछ बनाना चाहते थे । इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की थी कि योग्य गुरु मिले । बहुत तलाश के बाद दार्शनिक अरस्तू इस योग्य दिखाई दिये कि वे किसी बच्चे का निर्माण कर सकते हैं । फिलिप विद्वान् और व्यक्ति निर्माता गुरु का मूल्य समझते थे । उन्होंने अरस्तू के पास अपना सन्देशवाहक पत्र लेकर भेजा और लिखा— ''भगवान् ने मुझे एक पुत्र दिया है उसकी मुझे खुशी है, पर उससे भी अधिक खुशी इस बात की है कि वह इस जमाने में पैदा हुआ जब कि आप जैसे व्यक्ति निर्माता दार्शनिक मौजूद हैं । इसे मैं आपके द्वारा ऐसा शिक्षित और सुसंस्कृत बना हुआ देखना चाहता हूँ जो हमारे कुल को प्रकाशित करे ।'' अरस्तू ने इसे स्वीकार कर लिया और एक साधारण से राजकुमार को महान् सिकन्दर बना दिया, जिसका नाम पराक्रमी योद्धाओं के इतिहास में सदा अमर रहेगा ।

सघन वृक्षों की छाया में पत्थर की शिला पर बैठ कर अरस्तू शिक्षा दिया करता था, शिष्य चारों ओर से उसे घेर कर बैठ जाते थे और जीवन के गूढ़ विषयों पर अनुसंधान चलता रहता था । गुरु अपने शिष्यों को लेकर कभी-कभी घने वृक्ष कुंजों में, वन-पर्वतों में चले जाते थे और वहाँ नदी सरोवरों के तट पर बैठ कर शिक्षण-क्रम चला करता था ।

सिकन्दर जब शिक्षा प्राप्त करके लौटा तो उसका पिता फिलिप अपने पुत्र के गुणों को देखकर मुग्ध हो गया । उसने अरस्तू के प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हुए सिकन्दर से कहा— ''तुम्हारे गुरु का हम अभी तक समुचित सम्मान नहीं कर सके । वे वस्तुतः उच्चतम सम्मान के पात्र हैं । तुम्हारे निर्माण का सारा श्रेय उन्हीं को है ।'' सिकन्दर ने भी एक प्रसंग में अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा— ''पिता से तो मैंने शरीर मात्र प्राप्त किया है । वस्तुतः मेरे पिता तो अरस्तू हैं जिनने मुझे अनुपम ज्ञान देकर कुछ से कुछ बना दिया ।''

सिकन्दर ने जो गुण, स्वभाव और चरित्र गुरु के समीप रहकर प्राप्त किया था, उसी के बल पर उसने अनेकों देशों को जीता, विशाल साम्राज्य बनाया और बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त कीं ।

शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सिकन्दर ने आजकल के विद्यार्थियों की तरह गुरु की ओर से अपना मुँह नहीं मोड़ लिया, वरन् उनके कार्य को प्रगति देने के लिए भरपूर सहायता की । अरस्तू ने ऐथेन्स नगर में लीसियम नामक एक विशाल सांस्कृतिक विद्यालय की स्थापना की जिसमें हजारों की संख्या में छात्र विद्याध्ययन करते थे । न केवल यूनान में, वरन् सारे संसार में वह ज्ञानपीठ एक से एक योग्य शिष्य निकाल सकने के कारण प्रख्यात हो गई ।

इस लिसियम विद्यापीठ को सिकन्दर की सहायता प्राप्त थी । अरस्तू अपने शोध कार्य में लगे थे । वे विभिन्न जीव-जन्तुओं की जीवन प्रणाली के संबन्ध में खोज कर रहे थे । इस कार्य के लिए अपेक्षित सामग्री तथा कार्यकर्ता जुटाने का व्यय भार भी सिकन्दर ने अपने ही ऊपर लिया था । अरस्तू का जन्म स्टेगिर नामक गाँव में हुआ था । किसी अत्याचारी शासन ने उसे क्रुद्ध होकर उजाड़ दिया था । वहाँ के निवासी अन्यत्र भाग गये थे । गुरु के सम्मान में सिकन्दर ने उस नगर को फिर से बसाया और जो लोग बाहर भाग गये थे उन्हें सब प्रकार की सहायता देकर वापस उस नगरी में बसाया । शिष्य अपने गुरु की नगरी को उजड़ी हुई नहीं देख सकता था ।

इटली के प्रसिद्ध कवि दान्ते ने अरस्तू को विद्वानों का अग्रतम नेता कहा । वह अपने समय का विचार सम्राट था । उसके शब्दों के साथ उसका चरित्र भी बोलता था । लगभग सवा दो हजार वर्ष उसके समय को बीते हो गये । फिर भी वह आज तक मानव जीवन के विभिन्न विचार क्षेत्रों को प्रभावित करता है ।

अरस्तू अपने शिष्यों के चरित्र गठन के लिए बहुत जोर देकर आदेश दिया करते थे । एक बार सिकन्दर का किसी स्त्री से अनुचित सम्बन्ध हो गया । अरस्तू उसे झिड़कते थे पर वह मानता न था । उस स्त्री को पता चला कि अरस्तू उसके मार्ग में काँटा है इसलिए उसने सोचा कि उसे बदनाम करके सिकन्दर से शत्रुता करा देनी चाहिए । वह एक दिन अरस्तू के पास पहुँची और एकान्त में मिलने के लिए प्रस्ताव किया । अरस्तू ने स्वीकार कर लिया और जिस उद्यान में उन्हें बुलाया गया था वहाँ नियत समय पर जा पहुँचे ।

अरस्तू ने अपने शिष्यों द्वारा सिकन्दर तक भी यह सूचना पहुँचा दी थी, पर सूचना अरस्तू ने कहलवाई है यह न बताने का आदेश कर दिया था सिकन्दर छिपा हुआ टोह में बैठा ही था । वह तरुणी आई । उसने अरस्तू के गले में हस्तपाश डाले और कहा— क्या ही अच्छा हो कुछ देर खेलें । अरस्तू ने स्वीकृति दे दी । युवती ने उन्हें घोड़ा बनाया और खुद उनकी पीठ पर बैठकर चलाने लगी । बूढ़ा घोड़ा लड़की को पीठ पर बिठाकर घुटनों के बल चल रहा था कि सिकन्दर सामने आ पहुँचा । उसने क्रोध में आकर कहा— गुरुजी यह क्या ?

अरस्तू ने अविचल भाव से धैर्यपूर्वक कहा— बेटा, पहले ही मैं कहा करता था । देखले नहीं, मुझ जैसे विद्वान् और बूढ़े को जो माया इस तरह घुटनों के बल चलने को विवश कर सकती है वह तुम जैसे अपरिपक्व बुद्धि के नौजवानों को तो पेट के बल रेंगा कर और नाक रगड़ा कर ही दम लेगी । यदि तुम इस मार्ग से मुँह न मोड़ोगे तो इतिहास में नाम अंकित न करा सकोगे ।

अरस्तू के इस शिक्षण ने सिकन्दर पर भारी प्रभाव डाला और तबसे उसने उस ओर से मुँह ही मोड़ लिया ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अरस्तू ने चार सौ ग्रन्थ लिखे । कोई-कोई उनकी संख्या एक हजार बताते हैं । उसके सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं पर जो उपलब्ध है उनसे पता चलता है कि उसे तर्कशास्त्र, खगोल विद्या, भौतिकी, विकास, काम-शास्त्र, वायु विज्ञान, प्रकृति विद्या, जन्तु-शास्त्र, काव्य, अलंकार, मनोविज्ञान, राजनीति, आचार-शास्त्र, दर्शन, अध्यात्म आदि अनेक विषयों का अगाध ज्ञान था ।

अरस्तू आत्मोन्नति के लिए सामाजिक और सामूहिक जीवन को आवश्यक मानता था और एकाकी जीवन या एकान्तवास के विरुद्ध था । उसने लिखा है— एकाकी जीवन व्यतीत करने के लिए या तो मनुष्य को पशु बनना पड़ेगा या देवता ।

परिष्कृत संस्कृत के प्रणेता— महर्षि पाणिनि

मनुष्य क्या और कितना कुछ कर सकता है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता । इसके सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि वह सब कुछ कर सकने में पूर्ण समर्थ है, यदि वह वास्तव में कुछ करना चाहता है । बात ऐसी भी नहीं है कि कुछ कर सकने की क्षमता कुछेक गिने-चुने लोगों में ही होती है । हर व्यक्ति बहुत कुछ कर सकने में समान रूप से सक्षम है ।

अब यहाँ पर मनुष्यों के कर्तव्यों में असमानता इसलिये हो जाती है कि कुछ कर दिखाने की चिन्ता करते हैं और हौसला रखते हैं बाकी अपने जीवन की सारी क्षमतायें छीना-झपटी, खाने पीने और हा-हा, ही-ही, में गँवा देते हैं । मोटे तौर पर अपनी सामान्य क्रियाशीलता को उपयोग में लाकर स्थूल रूप से चला-चली वाली जिन्दगी बिता जाते हैं । वे अपने अन्दर सुरक्षित उन विशेष शक्तियों का लाभ नहीं उठाते जिनको काम में लाने पर मनुष्य अनिवार्य रूप से ध्यानाकर्षक कार्य सकता है । जो अपने अन्दर ठहरी इस विशेष कुमुक को काम में लाते हैं वे संसार के जीवन समर में सफल होकर अपने स्थायी स्मारक अवश्य ही छोड़ जाते है ।

आचार्य पाणिनि उन्हीं बुद्धिमान व्यक्तियों में से थे जिनका ध्येय जीवन बिताना नहीं उसे पराकाष्ठा तक काम में लाना होता है और जो अपनी बूँद-बूँद क्षमता का सदुपयोग करने में जरा-भी मुरव्वत नहीं करते । इस आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता के प्रबल शत्रु ने मानव-शक्तियों के प्रमाण में जो प्रस्थापना लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व की वह 'पाणिनि अष्टाध्यायी' के नाम से आज भी अमर है और आगे भी रहेगी ।

'पाणिनि अष्टाध्यायी' वह व्याकरण शास्त्र है जिसने युगों से अदलती-बदलती आ रही भारतीय भाषा का संस्कार कर उसे एकरूपता के साथ स्थायित्व प्रदान किया । पाणिनि ने अपने इस महान् कार्य से न केवल एक सर्वांगपूर्ण भाषा को ही जन्म नहीं दिया अपितु राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति को सदा-सर्वदा के लिए अक्षुण्ण बना दिया । युग-युग की विचार-विभूति को पीढ़ी-दर पीढ़ी के लिये सुरक्षित रख सकने के लिए एक परम पात्र की रचना कर दी ।

साधारण आचार-व्यवहार से लेकर दर्शन तक और लोक-कथाओं से लेकर इतिहास तक किसी राष्ट्र की जो भी सम्पदा होती है वह सब उसी भाषा में ही संकलित रहती है और आगामी पीढ़ियाँ उसे उसी माध्यम से प्राप्त कर लाभ उठाती हैं, जिससे राष्ट्र की सभ्यता एवं सांस्कृतिक परम्परा चिरंजीविनी बनती है ।

आज तक संसार में असंख्यों भाषाओं का उदय-अस्त हुआ । अनेक तो अपने बदले हुए रूप में चलती रही हैं, कुछ के स्थान पर कोई नवीन भाषा आ गई और कोई भाषा अपने में किसी को मिलाकर अथवा स्वयं किसी में मिलकर एक नवीन भाषा बन गई और बहुतों का अस्तित्व ही संसार से मिट गया । केवल एक ही भाषा संस्कृत ही ऐसी है जो हजारों वर्षों से आज तक अपने एक रूप में चली आ रही है । इसी संस्कृत भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण रचकर महर्षि पाणिनि ने उसे नियमबद्ध किया ।

संस्कृत से पूर्व देश में कोई एक ऐसी सार्वदेशिक भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश के लोगों से विचार विनिमय कर सकते, और यह कमी राष्ट्र की एकता के लिये बहुत घातक थी । भारत का बहुमूल्य वांगमय न जाने कितनी भाषाओं में

बिखरा पड़ा था, जिसका अध्ययन कोई भी देश की लगभग सभी भाषाओं को पढ़े बिना नहीं कर सकता था और यह साधारणत: एक कठिनतम बात थी ।

महर्षि पाणिनि ने इस देश की विशाल कमी को अनुभव किया और देश के सारे शब्द-भण्डार को एक व्यवस्थित रूप में रखकर, उनकी व्याख्या और अर्थ निश्चित करके एक नियमबद्ध भाषा का निर्माण करने का निश्चय कर लिया । यह काम साधारणत: कठिन ही नहीं बल्कि बहुत ही विराट तथा असाधारण था । इस एक काम को पूरा करने के लिए कितनी शक्ति, कितने परिश्रम, कितनी लगन और कितने अध्ययन, अनुभव एवं अविरतता की आवश्यकता थी, पाणिनि इससे अनभिज्ञ नहीं थे । किन्तु उन्होंने इसकी रंच-मात्र भी चिन्ता न की । जहाँ उन्हें कार्य की कठिनता तथा विरादता का ज्ञान था वहाँ मानव की अनन्त क्षमताओं का भी पता था ।

अपने नियमपूर्ण निर्माण और संयमशील आत्मा, प्रबुद्ध बुद्धि, अविचल मन और अखण्ड अध्ययन के बल पर पाणिनि को पूर्ण विश्वास था कि वे राष्ट्र की इस बड़ी कमी को अवश्य पूरा कर लेंगे । वे जानते थे कि उन्होंने अब तक के अपने श्रम से जो कर्मठता उपार्जित की है उसकी तेजस्विता के सम्मुख आलस्य, प्रमाद, विलम्ब अथवा दीर्घसूत्रता के पतंगे आ ही नहीं सकते । जब वे शरीर के साथ अपने मन-मस्तिष्क को सम्पूर्ण रूप से नियोजित करके काम करना शुरू करेंगे तब उनकी क्रियाशीलता एक अविचल लगन के रूप में बढ़ती जायेगी और फिर ऐसी दशा में काम के अपूर्ण रह जाने का प्रश्न ही नहीं उठता । निदान उन्होंने संसार के सारे सुख-भोगों का विचार त्याग कर अपने जीवन का अक्षुण्ण उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दिया । अपने स्वार्थ, वैयक्तिक सुख और व्यक्तित्व के साथ अस्तित्व को जनोपयोगी कार्य के लिए दान कर दिया ।

अपने विद्वान् गुरुवर्य से विद्या प्राप्त कर पाणिनि घर जाने के बजाय देशाटन पर चल पड़े । उनके देशाटन कार्यक्रम में उनके दो साथी व्याडि और वररुचि भी सम्मिलित हो लिए ।

अपनी यात्रा क्रम में पाणिनि सबसे पहले हिमालय पहुँचे जहाँ उनकी भेंट ईश्वर देव नाम के एक प्रकांड विद्वान् से हुई । पाणिनि ने उनका ध्यान देश की भाषाई कमी की ओर आकर्षित किया और उसे दूर करने की अपनी योजना बताई— उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण देश में जितनी भी बोलियाँ, भाषायें तथा लोक-भाषायें प्रचलित हैं उन सबका शब्द-कोष इकट्ठा करके समानार्थक शब्दों को वर्गबद्ध कर लिया जाये अनन्तर प्रत्येक शब्द का इस प्रकार परिष्कार किया जाये कि वे एक जातीय जैसे हो जायें । फिर उनके स्वरूप, प्रयोग अर्थ तथा आकार निश्चित कर दिया जाय और इस प्रकार भारत की तमाम भाषाओं की सहायतार्थ एक ऐसी राष्ट्र-भाषा का निर्माण कर दिया जाये जो देश की समग्र जनता को समान रूप से ग्राह्य हो । श्री ईश्वर देव ने पाणिनि की इस योजना को उपयोगी ही नहीं आवश्यक बतलाते हुए उनकी प्रतिभा, दूरदर्शिता तथा सूझ-बूझ की बहुत प्रशंसा की और स्वयं भी हर प्रकार का सहयोग तथा सहायता देने का वचन दिया ।

जिस राष्ट्र में उसका हित सोचने वाले सर्वत्यागी तपस्वी होते रहे उसका अनादि से अनन्त तक जीवित रहना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है । भारत की अज्ञान प्राचीनता का यही एक रहस्य है कि यह भूमि पाणिनि जैसे तपस्वियों से कभी खाली नहीं रही और जब तक इस प्रकार के महापुरुषों की परम्परा बनी रहेगी, भारत अपने गौरव के शिखिर पर आसीन रहेगा ही । पाणिनि ने अपने उद्देश्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया । वे अपनी इस यात्रा में केवल नगरों में ही नहीं जनपदों कस्बों तथा छोटे-से-छोटे गाँव तक में गये, वहाँ रहे और अध्ययन के साथ अर्थ-भाव तथा उच्चारण सहित अपार शब्द राशि संकलित की । शब्द राशि के अतिरिक्त पाणिनि ने प्रान्त-प्रान्त, नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम के रीति-रिवाज, आहार-विहार तथा अचार विचार का भी अध्ययन किया । लोगों से मिलकर, बात कर और गहरी से गहरी खोज में उतर कर एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके इतिहास का पता लगाया ।

इतना बड़ा और व्यापक कार्य करने में पाणिनि को कितना श्रम करना पड़ा होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । पाणिनि अपनी खोज के लिए जहाँ भी गए होंगे वहाँ की भाषा सीखी होगी, निवासियों से अपनत्व प्राप्त करने के लिए आचार-व्यवहार का अभ्यास किया होगा । वृद्धों एवं विद्वानों का सहयोग सहानुभूति पाने के लिए अपनी पात्रता सिद्ध की होगी, क्योंकि इसके बिना वे अपने कार्य में कृत-कृत्य न हो सकते थे ! नि:सन्देह पाणिनि ने इस शब्द संकलन तथा स्थान-स्थान की भाषाएँ सीखने और उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन एवं अभ्यास करने में आयु का बहुत बड़ा भाग लगा दिया होगा ।

अपने इस यात्रा काल में वे भाँति-भाँति के अच्छे-बुरे, क्रूर-करुण, मूर्ख-विद्वान् स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आये होंगे और नि:सन्देह यह सारी यात्रा पैदल ही पूरी की होगी । किन्तु उनके जीवन वृत्त, कार्यकुशलता तथा उद्देश्य की महानता से स्पष्ट है कि अपने लक्ष्य-पथ के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग पर एक पद भी न चले होंगे । इतनी विराट यात्रा में उनके सम्मुख हजारों बार भय, मोह अथवा स्वार्थ-प्रलोभनों के अनेक अवसर आये होंगे किन्तु उनकी सफलता इस बात की गवाही देती है, कि वे इन मानवीय दुर्बलताओं से एक से भी प्रभावित न हुए होंगे ! भूख-प्यास, शीत-घाम तथा वर्षा के कष्टों को उठाते हुए पाणिनि निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते रहे होंगे । अन्यथा संसार की फिजूल बातों में अपने को उलझाकर वे इतना बड़ा काम न कर सके होते । जिनको जीवन में कुछ करने की लगन लगी होती है उनको सारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं का अभाव हो जाता है । इस प्रकार अपने को नि:स्वार्थ, निस्पृह एवं निर्विकार बनाये बिना इतना बड़ा काम सम्पादित कर सकना असम्भव ही होता है ।

देश का अपार शब्द भण्डार इकट्ठा करके पाणिनि हिमालय के एक एकान्त स्थान में जा बैठे और अपना काम शुरू कर दिया । अब तक का सारा पुरुषार्थ उनके असली काम की तैयारी मात्र ही था ।

एक कुशल शिल्पी की भाँति अब पाणिनी ने अपने उपकरण जमा कर लेने के बाद महाग्रन्थ की रचना शुरू कर दी ।

सर्वप्रथम उन्होंने उस विशाल शब्द संकलन को क्रम से वर्गों में बाँटा, उनका परिष्कार किया, अर्थ एवं आकार निश्चित किया, प्रयोग के नियम बनाये और इस प्रकार एक व्यापक व्याकरण की रचना करके संस्कृत नाम की भाषा को जन्म दिया, जो उसी समय से भारत की राष्ट्रभाषा और सार्वदेशिक आचार-विचार का माध्यम मान ली गई ।

पाणिनि का व्याकरण शास्त्र आठ अध्यायों में विभक्त है, अतएव उसको अष्टाध्यायी कहा जाता है । जिसमें वृत्ति तथा तद्धित एवं कृदंत सिद्धान्तों को भाषा के क्षेत्र में एक बड़ी क्रांति माना जाता है । उन्होंने शब्द निर्माण अर्थ संकोच अथवा विस्तार तथा रूपार्थ के परिवर्तन के उन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की कि जिनके आधार पर भाषा विज्ञान का जन्म हुआ ।

अपने इस विशाल कार्य को पूरा करने के बाद पाणिनि पाटलिपुत्र में महाराज नन्द के दरबार में पहुँचे । उन दिनों नन्द का दरबार देश भर के बड़े-बड़े विद्वानों से भरा रहता था और वही विद्वन्मंडली उन दिनों नये पंडितों द्वारा किये गये कार्यों की जाँच कर मान्यता प्रदान किया करती थी और किसी बहुत बड़ी नई खोज पर पंडित को 'सन्नयन' की उपाधि दिया करते थे ।

उस विद्वन्मंडली ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की जाँच की और उनको 'सन्नयन' की उपाधि देकर यह भी घोषणा की कि पाणिनि के इस व्याकरणशास्त्र को जो अच्छी तरह समझ लेगा उसे भी एक हजार मुद्रायें पुरस्कार में दी जाया करेंगी ।

भाषा शास्त्र में इस प्रकार एक क्रांति उपस्थित करने वाले महर्षि पाणिनि का जन्म गान्धार में सिन्धु तथा काबुल नदियों के संगम से चार मील ऊपर हट कर लहुर नामक ग्राम में हुआ था । किन्तु उनका पालन-पोषण उनके ननिहाल के ग्राम शलातुर में हुआ था जहाँ उनके पिता जाकर बस गये थे । इनके पिता का नाम सामन पाणिनि तथा बाबा का नाम विष्णु शर्मन पाणिनि था । केवल पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध इनका नाम आहिक पाणिनि था । इनके वंशज बाल्हीक के रहने वाले थे, इनका जन्म ईसा पूर्व ४८०-४१० माना जाता है और मृत्यु के विषय में प्रसिद्ध है कि अपनी खोज में तल्लीन पाणिनि को एक व्याघ्र ने भक्षण कर लिया था ।

राजनीति पर धर्मतंत्र का अंकुश रखने वाले चाणक्य

चाणक्य शब्द कान में पड़ते ही मानस-मुकुर पर एक ऐसी मूर्ति प्रतिबिम्बित हो उठती है जिसका निर्माण मानो विद्या, वैदग्ध, दूरदर्शिता, राजनीति तथा दृढ़ निश्चय के पंच तत्त्वों से हुआ था ।

महर्षि चाणक्य एक व्यक्ति होने पर भी अपने में एक पूरे युग थे । उन्होंने अपनी बुद्धि एवं संकल्पशीलता के बल पर तात्कालिक मगध सम्राट् नन्द का नाश कर उसके स्थान पर एक साधारण बालक को स्वयं शिक्षित कर राज्य सिंहासन पर बिठाया ।

चाणक्य न तो कोई धनवान थे और न उनका कोई सम्बन्ध किसी राजनीतिक सूत्रधार से था । वे केवल एक साधारणतम व्यक्ति— एक गरीब ब्राह्मण थे । बाल्यकाल में चाणक्य में कोई विशेषता न थी । विशेषता थी तो केवल इतनी कि वे अपनी माँ के भक्त, विद्या-व्यसनी तथा संतोषी व्यक्ति थे । वे जो कुछ खाने-पहनने को पा जाते उसी में सन्तोष रखकर विद्याध्ययन करते हुए अपनी ममतामयी माता की सेवा किया करते थे ।

उनकी मातृ भक्ति, विद्या व्यसन तथा दृढ़ संकल्प की अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं । एक बार, जिस समय वे केवल किशोर ही थे, अपनी माँ को पुस्तक सुनाते हँस पड़े । माता ने उनकी मुँह की तरफ देखा और रो पड़ी ।

चाणक्य को माँ के इस अहेतुक एवं असामयिक रुदन पर बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने पूछा— "माँ तू इस प्रकार मेरे मुँह की ओर देखकर रो क्यों पड़ी ?"

माँ ने उत्तर दिया कि "तू बड़ा होकर बड़ा भारी राजा बनेगा और तब अपनी गरीब माँ को भूल जायेगा ।"

चाणक्य ने पुन: विस्मय से पूछा— "पर तुझे यह कैसे पता चला कि मैं राजा बनूँगा ।"

"तेरे आगे के दो दाँतों में राजा होने के लक्षण हैं उन्हें ही देखकर मैंने समझ लिया कि तू राजा बनेगा ।" माँ ने चाणक्य को बतलाया ।

चाणक्य ने माँ की बात सुनी और बाहर जाकर पत्थर से अपने वे दोनों दाँत तोड़ डाले फिर अन्दर जाकर माँ से हँसते हुए बोले "ले अब तू निश्चिन्त हो जा, मैंने राज-लक्षणों वाले दोनों दाँत तोड़कर फेंक दिये । अब न मैं राजा बनूँगा और न तुझे छोड़ कर जाऊँगा ।" यह था चाणक्य की ज्वलन्त मातृभक्ति का प्रमाण ।

चाणक्य का परिवार घोर निर्धन था । किन्तु विद्या प्राप्त करने की उन्हें प्रबल इच्छा थी । तक्षशिला उन दिनों देश में बहुत बड़ा विद्या केन्द्र था । माता के न रहने और घरेलू शिक्षा समाप्त करने के बाद चाणक्य पैदल ही तक्षशिला की ओर चल दिये । बिना किसी साधन के ज्ञानपिपासु चाणक्य सैकड़ों मील की पैदल यात्रा करके, मार्ग में मेहनत-मजदूरी तथा कन्द, मूल और शाक-पात खाते तक्षशिला जा पहुँचे ।

चाणक्य तक्षशिला की विद्यापीठ में पहुँच तो गये किन्तु अब विद्यालय, भोजन, निवास, वस्त्र, पुस्तक आदि की व्यवस्था किस प्रकार हो ? घर से सैकड़ों कोस दूर परदेश में कोई साधारण किशोर हताश होने के सिवाय क्या करता । किन्तु चाणक्य हताश होने नहीं विद्वान् होने के लिए गये थे । निदान सेवा का सहारा लेकर मार्ग निकाल ही तो लिया ।

उन्होंने अनिमंत्रित आचार्यों, अध्यापकों एवं उपाध्यायों की सेवा करनी शुरू कर दी । वे गुरु माताओं के लिये जंगल से लकड़ी ला देते, कुयें से पानी भर देते, बाजार से सौदा ला देते ।

आचार्यों के हाथ से पुस्तकें लेकर उनके पीछे-पीछे विद्यालयों तक पहुँचा आते । अध्यापकों को कक्षा में पानी पिला आते, थके हुए उपाध्यायों के सिर में मालिश कर देते ।

इस प्रकार चाणक्य ने बिना कहे और बिना कोई परिचय दिये शिक्षकों को अपनी सेवा से इतनी सुविधा पहुँचाई कि उनका ध्यान आकर्षित हुए बिना न रह सका। कुछ समय तो गुरुजन तथा गुरु मातायें चाणक्य को विद्यालय की किसी शाखा का साधारण विद्यार्थी समझकर कोई विशेष ध्यान न देते रहे किन्तु जब उनकी सेवाओं का क्रम इतना बढ़ गया तो वे सोचने लगे कि यह विद्यार्थी जब हर समय सेवा ही में लगा रहता है तब अपना पाठ किस समय पढ़ता होगा ? इसी उत्सुकता से प्रेरित एक दिन एक आचार्य ने पूछ ही लिया— "बटुक ! तुम इतना समय तो हमारी सेवा में व्यतीत कर देते हो फिर अपना पाठ किस समय याद करते हो ?

चाणक्य ने सजल कंठ से उत्तर दिया कि "भगवन ! मैं विद्यालय का कोई छात्र नहीं हूँ। मगध से यहां विद्या प्राप्त करने की आशा से आया था। किन्तु कोई अन्य साधन न होने से गुरुजनों की सेवा को ही अपना साधन बना लिया है। पेट गुरु माताओं की कृपा से भर जाता है, किन्तु आत्मा की भूख तो आप गुरुजनों की कृपा से ही……।" चाणक्य आगे कुछ न कह सके उनका कंठ रुँध गया और नेत्र बहने लगे।

आचार्य का हृदय गद्‌गद् हो गया और उन्होंने उसे छाती से लगाकर कहा— "वत्स ! तुम्हारी इच्छा की पूर्ति को विधाता भी नहीं रोक सकता। जिसके आचरण में इतना सच्चा सेवा भाव और लक्ष्य के प्रति इतनी गहरी निष्ठा हो उसके लिये संसार में कौन पराया है, कौन-सा मार्ग अवरुद्ध है और कौन-से साधन दुर्लभ हैं ? आज से तू मेरा पुत्र है। घर रहेगा और विद्यालय में पढ़ेगा। इस प्रकार लगनशील चाणक्य ने सेवा के बल पर भाग्य के अवरुद्ध कपाटों को धक्का देकर खोल दिया।

लगभग चौदह वर्ष बाद वैदिक ज्ञान से लेकर राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र एवं अस्त्र-शस्त्र का प्रकाण्ड पांडित्य प्राप्त करने के बाद लगभग छब्बीस वर्ष के तरुण चाणक्य ने अपने महान् विद्या मन्दिर की पावन धूल माथे पर चढ़ाकर और गुरुजनों से आज्ञा लेकर तक्षशिला से विदा ली— इसलिए कि अब वे मगध जाकर अपनी जन्मभूमि में विद्या प्रचार करेंगे और महाराज नन्द के शासन में सुधार करवाने का प्रयत्न करेंगे जिसकी उसको उस समय नितान्त आवश्यकता थी।

तक्षशिला से आकर चाणक्य ने पाटलिपुत्र में एक साधारण विद्यालय की स्थापना की, जिसमें वे विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा देते थे। अपनी जीविका की व्यवस्था उन्होंने पिता की उस खेती से कर ली थी जिसे वे बटाई पर उठाया करते थे। चाणक्य की योग्यता ने शीघ्र ही उन्हें प्रकाश में लाकर लोकप्रिय बना दिया।

जनता में सम्पर्क स्थापित हो जाने पर वे उसके दुःख सुख में साझीदार होने लगे। चाणक्य ने अपने प्रवचनों एवं प्रचार से शीघ्र ही जनमानस में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता ला दी जिससे स्थान-स्थान पर घननन्द की आलोचना होने लगी और जनता का असंतोष एक आन्दोलन का रूप लेने लगा।

घननन्द को जब इन सब बातों का पता चला तो उसने जनता का विक्षोभ दूर करने और उसे अपने पक्ष में लाने के लिए अनेक दानशालायें खुलवा दीं जिनके द्वारा चाटुकार और राज-समर्थक लोगों को रिश्वत की तरह अन्न, वस्त्र तथा धन का वितरण किया जाने लगा। घननन्द की इस नीति का भी कोई अच्छा प्रभाव जनता पर न पड़ा। पहले जहाँ लोग उसके शोषण से क्षुब्ध थे वहाँ अब धन के दुरुपयोग से अप्रसन्न रहने लगे।

चाणक्य नन्द की कपट नीति के विरुद्ध खुला प्रचार करने लगे। समाचार पाकर घननन्द ने चाणक्य को वश में करने के लिए दानशालाओं की प्रबन्धक समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया।

चाणक्य ने शासन सुधार की इच्छा से वह पद स्वीकार कर लिया और सारे धूर्त सदस्यों को समिति से निकाल बाहर किया। अनियंत्रित दान को नियंत्रित करके दान पात्रों की योग्यतायें तथा सीमाएँ निर्धारित कर दीं।

चाणक्य के इन सुधारों से नन्द की मूर्खता से पलने वाले धूर्त उनके विरुद्ध हो गए और उसको नीचा दिखलाने के लिए तरह-तरह के षड्यंत्र करते हुए नन्द के कान भरने लगे। निदान घननन्द ने चाणक्य को एक दिन दरबार में बुलाकर उनकी भर्त्सना की और उन्हें चोटी पकड़ कर बाहर निकाल दिया।

चाणक्य को अपना यह अपमान असह्य हो गया और उनका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उन्होंने अपनी खुली चोटी को फटकारते हुए प्रतिज्ञा की कि जब तक इस अन्यायी घननन्द को समूल नष्ट कर मगध के सिंहासन पर किसी कुलीन क्षत्रिय को न बिठाल दूंगा तब तक अपने चोटी नहीं बाँधूंगा। चाणक्य चले गये और उनकी प्रतिज्ञा पर नन्द के साथ चाटुकार दरबारी हँसते रहे।

नन्द से अपमान पाकर चाणक्य की विचारधारा बदल गई। अभी तक वे शांतिपूर्ण सुधारवादी थे किन्तु अब घोर क्रांतिपूर्ण परिवर्तनवादी हो गये। अब उनके जीवन का एक ही लक्ष्य बन गया, नन्द के निरंकुश शासन का नाश और मगध के राज-सिंहासन पर किसी सुयोग्य व्यक्ति की स्थापना।

सबसे पहले चाणक्य ने भारत का एक-छत्र सम्राट बनने योग्य किसी उपयुक्त व्यक्ति की खोज शुरू की जिसके फलस्वरूप चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त उन्होंने एक दासी पुत्र प्रतिभावान चन्द्रगुप्त मौर्य को खोज निकाला। चन्द्रगुप्त लगभग सत्तरह वर्ष का एक सुयोग्य, प्रतिभावान, सूक्ष्म दृष्टि एवं दूरदर्शी किशोर था। उसका सुगठित शरीर एवं व्युत्पन्नमति मस्तिष्क शासन एवं शस्त्र संचालन के सर्वथा योग्य था।

चाणक्य ने तक्षशिला ले जाकर चन्द्रगुप्त का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने लगभग दस वर्ष तक चन्द्रगुप्त को शास्त्र, शस्त्र तथा राजनीति की शिक्षा स्वयं दी। राजनीति के क्षेत्र में गुप्तचर से लेकर सम्राट और शस्त्र के क्षेत्र में सिपाही से लेकर सेनापति तक की दक्षताओं, क्षमताओं एवं योग्यताओं को विकसित कर चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर पुनः देशाटन पर चल दिये।

चाणक्य ने अपने अनवरत प्रयत्न से भारत के पश्चिमी प्रान्तों के बहुत से राजाओं को संगठित करने के साथ चन्द्रगुप्त के लिए भी एक स्वतन्त्र सेना का निर्माण कर दिया । इस प्रकार चन्द्रगुप्त की शक्ति बढ़ाकर चाणक्य ने भारत की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया । सबसे पहले उन्होंने पंजाब के संगठित राजाओं को सहयोगी बनाकर चन्द्रगुप्त को यूनानियों को भगाने का काम सौंपा । साहसी चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को युद्ध में हराकर भारत के पराधीन भू-भाग को स्वतन्त्र करा लिया ।

चन्द्रगुप्त की इस महान् विजय ने उसे भारत के राजाओं के बीच इतना लोकप्रिय बना दिया कि वे उसे अपना नेता और चाणक्य को राजनीतिक गुरु मानने लगे ।

अनन्तर चाणक्य ने बहुत-से राजाओं का आपसी मतभेद तथा विद्वेष अपनी कुशल बुद्धि तथा सूक्ष्म राजनीति के बल पर मिटा, उन्हें चन्द्रगुप्त के झण्डे के नीचे खड़ा कर दिया । इस प्रकार विदेशियों को भगाने के बाद चन्द्रगुप्त पंजाब तथा अन्य सीमान्त प्रदेशों के राजाओं की संगठित शक्ति का अगुआ बनकर चाणक्य की देखरेख में मगध की ओर चल पड़ा ।

यूनानियों को देश से निकाल बाहर करने से चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का यश पूरे भारत में फैल चुका था । जिसके फलस्वरूप मगध तक पहुँचने में मार्ग में पड़े अधिकांश राजाओं ने न केवल चन्द्रगुप्त का स्वागत ही किया बल्कि भावी भारत सम्राट मानकर उसके झण्डे के नीचे आ गये ।

मगध सम्राट घननन्द अपने विलास तथा अन्य दुर्गुणों के कारण अन्दर और बाहर से पूरी तरह जर्जर हो चुका था । जनता तो उससे पहले ही रुष्ट थी । अतएव बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी वह चन्द्रगुप्त को न रोक सका और अन्त में सवंश चन्द्रगुप्त के हाथों मारा जाकर सदा के लिए नष्ट हो गया ।

चाणक्य ने विधिवत अपने हाथ से चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट पद पर अभिषिक्त करके सन्तोषपूर्वक अपनी चोटी बाँधते हुए कहा—

"कोई साधन न होने पर भी मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई, राष्ट्र विदेशी प्रभाव से मुक्त हुआ और देश में एक-छत्र साम्राज्य की स्थापना हुई । किस प्रकार ? केवल एकनिष्ठ कर्त्तव्यशीलता, आत्मविश्वास, अविरत प्रयत्न तथा सत्य के पक्ष में रहने के बल पर । चन्द्रगुप्त ! जब तक तुम में न्याय, सत्य, आत्मविश्वास, साहस एवं उद्योग के गुण सुरक्षित रहेंगे, तुम और तुम्हारी सन्तानें इस पद पर बनी रहेंगी । और यदि तुम और तुम्हारी सन्तानें इन गुणों से विरत हुईं तो पतन का उत्तरदायित्व देश काल अथवा परिस्थितियों पर नहीं तुम पर और तुम्हारी संतानों पर होगा ।"

एक बार वे नंगे पैरों कहीं जा रहे थे । रास्ते में उगे हुए कुश कंटकों से उनके पैरों में लहू निकल आया । उन्होंने उन कंटकों को जड़मूल से नष्ट करके ही आगे कदम बढ़ाया ।

दुर्बल नन्द वंश को हटाकर चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट बनाने को सारा चक्रव्यूह ऐसी कुशलता से और दूरदर्शिता के साथ तैयार किया कि वह सफल होकर ही रहा । यद्यपि चन्द्रगुप्त को इस बात की पूर्ण आशंका बनी हुई थी कि उसकी सीमित शक्ति नन्द-वंश का मुकाबला न कर सकेगी । सीधे आक्रमण का साहस न हो रहा था । अन्त में उसने अपनी आशंका गुरु कौटिल्य से व्यक्त कर ही दी । महापंडित कौटिल्य को घनानन्द की आन्तरिक कमजोरियों का पता था शिष्य के अधीर वचन सुनकर वे मुस्कराये फिर गम्भीर वाणी में बोले— "**इन्द्रियवशवर्ती चतुरंगवानापि विनश्यति**" अर्थात् "किसी के पास विशाल चतुरंगिणी सेना हो, किन्तु चरित्र न हो तो अपनी इस दुर्बलता के कारण वह अवश्य नष्ट हो जाता ।" चन्द्रगुप्त गुरुदेव के आशय को समझ गया । उसने मगध पर आक्रमण कर दिया और विजय भी पाई । चाणक्य इस साम्राज्य के प्रधानमन्त्री थे । शासन सूत्र का संचालन करते थे और अपनी महान् योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए चन्द्रगुप्त का उपयोग करते थे । नालन्दा विश्वविद्यालय का जीर्णोद्धार उन्होंने कराया और मनीषियों को प्रचुर परिमाण में उत्पन्न करने और उन्हें देश-देशान्तरों में भेजने का कार्य भी उतना ही महत्त्व-पूर्ण था, जितना राजतंत्र का विस्तार । प्रशासनिक और सांस्कृतिक विस्तार के लिए मनीषियों की आवश्यकता भी कम महत्त्व की नहीं है सो उन्होंने इस विश्वविद्यालय के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्य के विस्तार को भी पूरी तत्परता के साथ संचालित किया ।

चाणक्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं । 'कौटिल्य' इस नाम से उन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की जिसे आज भी समस्त संसार में अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है । आत्म साधना, साम्राज्य, नालन्दा विश्वविद्यालय, अर्थशास्त्र सृजन, बहुमुखी गतिविधियों का संचालन करते हुए चाणक्य ने अपनी हिमालय जैसी ऋषि परम्परा को अक्षुण्ण ही रखा । वे लोभ-मोह से सर्वथा दूर रहे । उनका रहन-सहन, आहार विहार वैसा ही रहा जैसा तपस्वियों का होता है । प्रचुर साधन उनके हाथ में थे पर उन्होंने अपने लिये उनमें से नहीं के बराबर ही उपयोग किया । लोक-मंगल में निरत जन-सेवकों का निर्वाह न्यूनतम स्तर का ही होना चाहिए इस आदर्श को उन्होंने सदा ध्यान में रखा ।

अपनी झोंपड़ी में वे नित्य पैदल चलकर जाते थे और वहीं अपना साधन नित्य कर्म सम्पन्न करते थे । उनके निजी रहन-सहन का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

उपलशकल मेतद्भेदकं गोमयानाम् ।
बटुभिराहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ॥
शरण मनि समिद्भिः शुष्कमाणाभिरामः ।
विनमित पटलान्तं दृष्यते जीर्ण कुड्यम् ॥

गोबर से लिपी हुई, कच्ची फूँस की झोंपड़ी, कुशाओं का गट्ठा उपला तोड़ने का पत्थर, हवन समिधाएँ, यही उस महा ब्राह्मण की सम्पत्ति थी ।

प्राचीनकाल की ऋषि परम्परा का पुनरुद्धार करने वाले चाणक्य ने आन्तरिक जीवन और भौतिक साधनों पर समान रूप से ध्यान रखा । दोनों पक्षों को प्रखर बनाने की समन्वयात्मक योजना को कार्य रूप में परिणत किया । वे जानते थे कि एकाकी वैभव विज्ञान दोनों ही

अन्धे-लंगड़े की तरह अधूरे हैं। दोनों का समन्वय किया जाना चाहिए और ब्रह्म क्षात्र को परस्पर एक-दूसरे का पूरक होकर रहना चाहिए। आज महर्षि चाणक्य द्वारा प्रतिपादित इस तथ्य को अपनाये जाने की आवश्यकता है। अस्त-व्यस्त 'ब्रह्म' और नष्ट-भ्रष्ट 'क्षात्र' यह इकट्ठे हो सकें, भौतिकता और आध्यात्मिकता के पृथक् पड़े पहिये यदि एक हाथ से जोड़े जा सकें तो सर्वतोमुखी प्रगति के दृश्य फिर उसी तरह दीख पड़ सकते हैं जैसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य के समन्वय से उन दिनों दिखाई पड़ते थे।

नीतिसार के रचयिता कामन्तर ने महर्षि चाणक्य की विशेषता और महानता का वर्णन करते हुए लिखा है—

जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदांवरः।
यो धीतवान् सुचतुरश्चतुरोप्येकवदेत्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

अग्नि जैसे तेजस्वी, महान् आत्मा, वेदों के मर्मज्ञ, अति प्रतिभाशालीन, अर्थशास्त्र के उद्धारक, नीति निर्माता महर्षि विष्णुगुप्त (चाणक्य) का अभिवादन।

धर्म—संस्कृति के लिये समर्पित—फाह्यान

सद्ज्ञान की क्षुधा को तृप्त करने के लिये मनुष्य ने कितने-कितने उद्योग नहीं किये हैं, किन-किन कष्ट-कठिनाइयों का सामना नहीं किया है, किन-किन सुख-सुविधाओं को नहीं छोड़ा है किन-किन चुनौतियों को नहीं स्वीकारा है! इसका एक अनुपम उदाहरण है चीनी यात्री फाह्यान।

मनुष्य को शक्ति सामर्थ्य का अनुदान देते समय उसका सर्जक उस पर कुछ अधिक ही कृपालु रहा है तभी तो उसने उसे जो क्षमताएँ, योग्यताएँ और विभूतियाँ दी हैं वे अन्य प्राणियों को नहीं मिली। इन क्षमताओं का उपयोग अधिकांश व्यक्ति तो उसके छिपी अपने सिरजनहार की उन अपेक्षाओं को बिसार कर उनका उपयोग व्यक्तिगत आकांक्षाओं, महत्त्वाकांक्षाओं में ही किया करते हैं पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो इनका सदुपयोग सार्वजनिक हित के लिये करते हैं। सार्वजनिक हित का सबसे बड़ा हेतु है सद्ज्ञान, जो व्यक्ति को मानवीय गौरव के अनुरूप जीवनयापन करने की दिशा में मार्ग- दर्शन देता है।

बौद्ध धर्म भारत की अध्यात्म उर्वरा धरती पर उत्पन्न होकर लगभग आधे विश्व में फैला उसमें एक देश चीन भी था। यहीं का निवासी था फाह्यान भी। उसने अपने जीवन का विनियोग व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में नहीं करके सार्वजनिक हित में करने का निश्चय करके बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। जन्म नाम कुङ था बाद में धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने के कारण उसका नाम 'फाह्यान' हो गया जिसका अर्थ होता है धर्माचार्य।

कभी-कभी व्यक्ति के लिये विपत्तियाँ और दुःखद घटनाएँ मार्गदर्शक का काम कर जाती हैं। कुङ के पिता का देहान्त जब वह दस वर्ष का था तभी हो गया। थोड़े दिनों में माता का भी देहावसान हो गया। माता-पिता की इस मृत्यु ने कुङ के चिन्तनशील मन-मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव डाला और वह जीवन के उस सत्य की खोज के लिये उत्सुक हो उठा जो जन्म और मृत्यु के इस रहस्य को सुलझा सके। आखिर इस जीवन का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित कराया और उसके पश्चात् हजार बाधाओं, विपदाओं को झेलते हुए भारतवर्ष की यात्रा करने का साहस भी इस प्रश्न ने जुटाया।

उसने बौद्ध मत में दीक्षित होकर चीन में उपलब्ध सभी ग्रंथों का अध्ययन कर डाला पर उसे तृप्ति नहीं हुई। उससे भी प्रमाणिक कुछ और ज्ञान मिले इसके लिये उसने भारत यात्रा का निश्चय किया।

फाह्यान यदि बीसवीं शताब्दी में पैदा हुआ होता उसे अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये कुछ ही हजार रुपयों की आवश्यकता पड़ती और वह वायुयान में बैठकर कुछ ही घण्टों में भारत आ गया होता लेकिन वह तो ईसा की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुआ था उस समय चीन से भारत आने का अर्थ था मृत्यु से खेलना। रास्ते में विकट वन और हिमाच्छादित गिरि शृंग थे जिनमें भयंकर हिंसक जीव-जन्तु निवास करते थे। तब न कोई सड़क ही थी और न कोई मार्ग ही। उसके पहले कितने ही यात्रियों ने भारत आने का प्रयास किया था पर एक आध को छोड़ कर उनमें से कोई वापस चीन नहीं लौट सका था।

फाह्यान के इस निश्चय को कई लोगों ने इस कारण बदलना चाहा कि इसमें प्राणों का भय था। पर फाह्यान तो प्राणों का भय करता ही नहीं था। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, आज न सही कल आयेगी ही तो फिर इसी शुभ कार्य को करते हुए क्यों न मरा जाय। अतः वह भारत यात्रा के लिये चल पड़ा। उसे चार साथी भी मिल गये जो राह में से ही वापस लौट गये पर वह नहीं लौटा। पूरे पाँच वर्ष की कठिन जोखिम भरी और कष्टपूर्ण यात्रा करने पर वह भारत पहुँचा उसे सैकड़ों पर्वत और हजारों नदियाँ लाँघनी पड़ी थीं। कई बार मरते-मरते बचा था वह।

सबसे पहले वह गांधार देश पहुँचा। वहाँ से आया और तक्षशिला और तक्षशिला से पुरुषपुर। पुरुषपुर से मथुरा, कान्यकुब्ज, श्रावस्ती, कुशीनगर, वैशाली होता हुआ वह पाटलिपुत्र पहुँचा जो तत्कालीन भारत की राजधानी थी मगध साम्राज्य की राजधानी। पाटलिपुत्र में वह कोई तीन वर्ष तक रुका। वह यहाँ के राजा, राज्य, प्रजा और उसकी शिखरस्थ सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नैतिक सामाजिक व्यवस्था को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसने चीन पहुँच कर अपने मित्र को यहाँ के जन-जीवन और राज्य प्रबन्ध के बारे में विस्तार से बताया, जिसे उसके मित्र ने लेखनीबद्ध कर लिया। उस समय मगध में पराक्रमी हिन्दू सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सुशासन चल रहा था। उसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन फाह्यान ने अपने यात्रा विवरण में किया है।

फाह्यान ने पाटलिपुत्र नगर की श्री शोभा का वर्णन करते हुए बताया— ''अशोक का बनवाया हुआ राजमहल इतना सुन्दर था कि उसे देखकर दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी। ऐसा लगता था कि यह महल आदमियों ने नहीं देवताओं ने बनवाया हो।'' इसी प्रकार यहाँ के सभ्य, शिष्ट, और नैतिक समाज का भी उसने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

फाह्यान संकीर्णमना व्यक्ति नहीं था। उसने विदेशी होते हुए भी भारतीय जन-मानस को जिस गहराई से समझा और जिस प्रकार बिना किसी दुराग्रह के उसका वर्णन किया है उसे देखकर विद्वता का ही नहीं विवेक का भी परिचय मिलता है।

वह जहाँ भी गया भारतवासियों से उसे अकुण्ठ सम्मान और आत्मीयता मिली। वह यहाँ से अनेकानेक धर्म और साहित्य ग्रन्थ अपने साथ ले गया। वह पाटलिपुत्र से नालन्दा राजगृह, काशी, सारनाथ होता हुआ ताम्रलिपि पहुँचा। वहाँ दो वर्ष तक ठहर कर वह लंका और जावा होते हुए समुद्री मार्ग से चीन पहुँचा। आते समय वह स्थल मार्ग से आया था पर जाते समय उसे कोई दिक्कत नहीं हुई क्योंकि उन दिनों भारत का सारा विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से ही होता था। अतः वह समुद्री मार्ग से ही गया।

जाते समय उसके साथ कुछ भारतीय विद्यार्थी उसे ताम्रलिपि से लंका तक छोड़ने भी गये। वह भारत के लोगों द्वारा किये अतिथि सत्कार से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। भारतवर्ष में वह लगभग छह: वर्ष तक रहा पर ये छह: वर्ष उसे ऐसे लगे जैसे किसी स्वर्ग राज्य में रहा हो। क्योंकि यहाँ का हर व्यक्ति सभ्य, सुसंस्कृत शिष्ट और प्रिय लगा था उसको। यहाँ की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का विशद वर्णन उसके यात्रा संस्मरणों में आज भी सुरक्षित है। उसने बताया है कि भारतीय सभ्य, सुशील, सदाचारी, चरित्रवान, नीतिप्रिय, व्यवस्था प्रिय, भक्ष्याभक्ष्य में अनुपम विवेकशील, धर्म-सहिष्णु और अतिथि सत्कार प्रवीण थे। दण्ड विधान कठोर नहीं था, शासन व्यवस्था सुन्दर और प्रिय थी। कर नाममात्र के लगते थे। मृत्यु-दण्ड किसी को नहीं दिया जाता था। फिर भी चोरी, लूट-खसोट और अनैतिकता नहीं के बराबर थी।

जब वह भारत से चीन लौटा तो उसके पास अनमोल ग्रन्थ रत्नों का अपूर्व भण्डार था जिसे उसने भारत से बटोरा था। अपने साहस और पुरुषार्थ के बल पर उसने चीन की जनता को बहुमूल्य सम्पदा दी। उसे चीन वासी आज भी भूले नहीं है साथ ही भारत के उस स्वर्णिम अतीत का दिग्दर्शन कराने वाले उसके यात्रा विवरण हमारी भी अनुपम निधि बन गये हैं। अंग्रेज और मुस्लिम इतिहासकारों के विकृत इतिहास के परिपेक्ष्य में उसके ये विवरण बहुत ऊँचे और निष्पक्ष ठहरते हैं। अपने इस सत्साहस के कारण फाह्यान चिरस्मरणीय बन गये।

वैदिक धर्म की रक्षार्थ जीवन दान करने वाले—श्रीशंकराचार्यजी

अब से लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष पूर्व केरल प्रान्त के एक ग्राम में एक बालक का जन्म हुआ जो असामान्य विद्या बुद्धि से सम्पन्न था। जैसे अब भी कोई-कोई बालक जिसको वैज्ञानिकगण 'प्रोडिजी' कहते हैं चार-पाँच वर्ष की आयु में ही कई भाषाओं का अथवा गणित, काव्य, संगीत आदि उच्च विद्याओं का ज्ञाता बन जाता है, उसी प्रकार इस बालक ने भी सात वर्ष की आयु में ही अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। उसकी अद्भुत विशेषता को सुनकर देश के बड़े-बड़े विद्वान् और वहाँ का विद्यानुरागी राजा भी उनको देखने तथा उनकी अगाध विद्या के सम्बन्ध में फैली जनश्रुति कहाँ तक सत्य है, इसकी जाँच करने को आये। उन सबने इतनी छोटी आयु में इतना ज्ञान प्राप्त कर लेना एक दैवी चमत्कार ही समझा और वे उनको सम्मानपूर्वक नमस्कार करके चले गये।

ऐसे आश्चर्यजनक बालक का समाचार सुनकर कुछ ज्योतिषी भी यह जिज्ञासा लेकर आये, देखें किन ग्रहों के प्रभाव से उसे ऐसी अपूर्व शक्ति प्राप्त हो सकी। उन्होंने कुण्डली में स्थित ग्रहों की स्थिति को एक बहुत बड़े महापुरुष के योग्य तो पाया, पर साथ ही उसमें उनको एक बात ऐसी खेदजनक भी दिखलाई पड़ी जिससे उनकी मुख-मुद्रा शोकपूर्ण हो गई। यह देखकर बालक की माता ने आशंकित होकर इसका कारण पूछा तो उन्होंने बड़े संकोच से कहा कि ''वैसे तो ये दैवी ज्ञान से मंडित एक महापुरुष ही हैं, पर ग्रहों के फलानुसार इनकी आयुष्य केवल ८ वर्ष की है। अगर ये तपस्या करें तो वह आयुष्य ८ वर्ष और बढ़ सकती है।

वह बालक जिनका नाम शंकर था पहले ही देश और धर्म की सेवा के लिये अपना जीवन अर्पण करना चाहते थे। अब इस भविष्यफल के प्रकट हो जाने पर उन्होंने अपनी माता से अपनी मनोभिलाषा कह सुनाई। पर घर में कोई और उत्तराधिकारी न होने से वे इसके लिये तैयार न हुई।

तब बालक शंकर ने एक उपाय से काम लेना सोचा। कुछ समय बाद जब वे अपनी माता के साथ किसी पर्व के अवसर पर नदी में स्नान करने गये तो तैरते-तैरते पुकारने लगे कि मुझे मगर ने पकड़ लिया और खींचे लिये जाता है। इस पर माता भी कुहराम मचाने लगी। शंकर ने कहा— ''माता यदि तू मुझे शिवजी के लिये अर्पण कर दे तो वे मेरी रक्षा कर सकते हैं।'' पुत्र की प्राण रक्षार्थ माता ने वैसा ही मान लिया और शंकर तैरकर घाट पर आ गये। उन्होंने कपड़े बदल कर माता को प्रणाम किया संन्यास ग्रहण करने के लिए सद्‌गुरु की सेवा में जाने की आज्ञा माँगी।

माता बहुत रोई-कलपी, पर धर्म के लिये जीवन अर्पण कर देने वाले शंकर उसके निर्वाह की उचित व्यवस्था करके नर्मदा की तरफ चल दिये। वहाँ तक कई सौ मील का जंगली और पहाड़ी मार्ग अतिक्रम कर सकना एक छोटे बालके के लिये असम्भव जान पड़ता था, पर दृढ़व्रती शंकर किसी कष्ट या भय की चिन्ता न करके निरन्तर यात्रा करते हुए वहाँ पहुँच गये। उस स्थान पर एक बहुत प्राचीन योगी गोविन्दपाद का आश्रम था जो वेदान्त शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता माने जाते थे। शंकर ने उनसे दीक्षा ग्रहण की और दो वर्ष तक वेदान्त का अध्ययन किया। इसके पश्चात् गुरुजी ने शंकर को काशी जाकर धर्म और वेदान्त मत का प्रचार करने की आज्ञा दी और स्वयं महासमाधि ले ली।

जिस समय यह बाल-संन्यासी अपने वयोवृद्ध गुरु भाइयों के साथ काशी पहुंचे और वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का प्रवचन करने लगे तो वहाँ एक हलचल मच गई और लोगों का समूह उनके दर्शनार्थ आने लगा। यद्यपि उनका शरीर बालक का था पर ज्ञान और बुद्धि पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुके थे। वे बड़े-बड़े पंडितों के प्रश्नों का उत्तर देकर उनकी शंकाओं का समाधान करते और अन्य सब मतों का निराकरण करके वेदान्त-मत का प्रतिपादन करते।

शंकराचार्य निर्गुण सिद्धांत के अनुयायी थे और वेदांत सिद्धान्त के अनुसार संसार को मिथ्या और माया समझने का भाव उनके भीतर इतना प्रबल हो चुका था कि वे भारतीय जनता में प्रचलित सगुणोपासना की तरफ कभी तनिक ध्यान नहीं देते थे। वे सदा आत्मस्वरूप की भावना करके इस प्रकार कहते रहते—

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरंजनः।
निर्विकारो निराकारो नित्यं मुक्तोऽस्मि निर्मलः॥
अहमाकाशवत् सर्वं बहिरंतर्गतोऽच्युतः।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत्॥

अर्थात— मैं सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित हूँ। मैं शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण की क्रिया से रहित हूँ, तीनों काल में मेरा अस्तित्व है, समस्त विकल्पों और काम-क्रोध आदि विकारों से रहित हूँ, आकार रहित हूँ, अविद्या रूप मल से रहित हूँ। मैं तो आकाश तत्त्व के समान सब प्राणियों में व्याप्त हूँ। देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित जो परब्रह्म है वही मैं हूँ।''

यह निर्गुण-भावना उनमें उस समय ऐसी दृढ़ हो गई थी कि एक मात्र निर्विकल्प समाधि के सिवाय भक्ति, उपासना आदि अन्य किसी साधन की तरफ वे बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे। विश्व-कल्याण की भावना चित्त में कभी-कभी अवश्य उत्पन्न होती थी, पर वह भी जगत् को 'असत्' समझने की भावना से दब जाती थी। गुरु की आज्ञा को स्मरण करके शिष्यों तथा जनता को वेदान्त-सिद्धांत का उपदेश अवश्य देते थे, पर यह कार्य भी वे यन्त्रवत् कर रहे थे। यह भाव एक मुमुक्ष की दृष्टि से अवश्य सराहनीय था, पर संसार में उनको सत्य-धर्म के प्रचार और उसकी रक्षा का जो कार्य करना था उसमें सहायक न होकर बाधक ही था।

पर काशी एक ऐसा ज्ञान-केन्द्र है जहाँ सदा शास्त्र चर्चा ही चलती रहती है और सब प्रकार के मतों का प्रतिपादन करने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म का प्रतिपादन करते रहते हैं। वहाँ श्री शंकराचार्य के सम्मुख दो-एक ऐसी घटनायें हुईं जिनसे उनको अपने वेदान्त सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देना पड़ा। एक प्रसिद्ध घटना इस प्रकार बतलाई जाती है कि एक दिन जब वे गंगातट की ओर जा रहे थे उनको सामने से एक चांडाल आता दिखाई दिया जिसके साथ चार बड़े कुत्ते थे और जो मद्य के नशे में झूमता-झामता चला आ रहा था। उससे स्पर्श हो जाने की आशंका से श्री शंकर ने कहा— ''रास्ते के एक तरफ होकर चलो और मेरे जाने के लिए स्थान को छोड़ दो।'' चांडाल ने उनकी बातों की तरफ कुछ ध्यान न दिया और चलते-चलते कहने लगा— ''कौन किसको स्पर्श करता है ? सर्वत्र एक ही वस्तु है उसके सिवाय और क्या ? किसके स्पर्श से भयभीत होकर तुम दब कर चल रहे हो ? आत्मा तो किसी को स्पर्श नहीं करती। जो आत्मा तुम में है वह मेरे भीतर भी है। फिर तुम किससे दूर जाने को कह रहे हो ? मेरी देह को या मेरी आत्मा को ? इन शब्दों को सुनते ही शंकर का ब्रह्मज्ञान सच्चे व्यावहारिक स्तर पर पहुँच गया और उन्होंने मन ही मन उस चांडाल को एक गुरु समझ कर प्रणाम किया। अनेक लोग इस घटना को सुनकर कहने लगे कि स्वयं भगवान् विश्वनाथ ने चांडाल के रूप में श्री शंकर को उपदेश दिया था और उनको केवल सिद्धान्त पर न अड़े रहकर वह मार्ग दिखलाया था जिससे वे जनमत को अपने साथ लेकर धर्म-स्थापना का कार्य कर सकें।

इसके पश्चात् शीघ्र ही उन्होंने अपना जीवन कार्य आरम्भ कर दिया। वे अपने प्रमुख शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम चले गये और ब्रह्मसूत्र पर अपना प्रसिद्ध शारीरिक भाष्य लिखा। इसके साथ ही ग्यारह प्रमुख उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर भी भाष्य रचे। ये तीनों ग्रन्थ 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये और ऐसी परम्परा पड़ गई कि जो धर्म-प्रचारक पहले इन तीनों पर ऐसे ही विद्वतापूर्ण भाष्यों की रचना करके अपने मत का प्रतिपादन कर सके वही 'आचार्य' की पदवी का अधिकारी माना जाय।

जब श्रीशंकर ने भारतवर्ष में प्रचलित बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों के खण्डन का झण्डा उठाया तो उनसे कहा गया कि उनसे भी पहले इस कार्य की घोषणा श्री कुमारिल भट्ट कर चुके हैं। वे उनसे भेंट करने प्रयाग पहुँचे, पर परस्थितिवश कुमारिल भट्ट उनसे प्रभावित होकर भी उनका साथ न दे सके और उसी समय देह त्याग दी। पर वे कह गये कि आप महिष्मती नगरी में जाइये, जहाँ मेरा शिष्य मंडन मिश्र रहता है जो मुझसे भी अधिक विद्वान् है। वह आपके कार्य में सहयोग करेगा। वास्तव में मंडन मिश्र उस युग का भारत प्रसिद्ध विद्वान् तथा पण्डित था। श्रीशंकर ने शास्त्रार्थ करके उनको अपना सिद्धांत मनवा दिया और उसके पश्चात् अन्त समय तक वही उनका सबसे बड़ा सहायक रहा।

बौद्धों को परास्त करके वैदिक मत का उत्कर्ष साधन करने पर भी शंकर को पाशुपत, शाक्त, तांत्रिक, शैव, माहेश्वर, वैष्णव आदि हिन्दू धर्म के बहुसंख्यक सम्प्रदाय वालों का भी मुकाबला करना पड़ा, जिन्होंने धर्म के विकृत रूप का प्रचार करके जनता को कुमार्गगामी बना रखा था। इसमें से उग्र भैरव नाम का एक कापालिक बदला लेने की नीयत से प्रकट में आचार्य का शिष्य बन गया और एक दिन मौका पाकर उनको मारने लगा। पर अन्य शिष्य उसकी तरफ से सावधान रहते थे इसलिए उसी समय पद्मपाद रक्षा करने को पहुँच गया और उसने कापालिक का वहीं वध कर डाला। इसी प्रकार जब वे राजा सुधन्वा को साथ लेकर प्रचार कर रहे थे तो कर्नाटक में कापालिकों के महन्त क्रुचक्र ने अपने सैकड़ों सशस्त्र अनुयायियों को लेकर उन पर आक्रमण किया। पर राजा सुधन्वा सावधान था और उसने अपनी सेना के द्वारा उनको मारकर भगा दिया।

जब वे समस्त भारत में धर्म-प्रचार करके आसाम पहुँचे तो शाक्त मत के आचार्य अभिनव गुप्त से मुकाबला हुआ। यद्यपि परास्त होकर प्रकट में उनका वह शिष्य बन गया, पर प्रतिहिंसा वश उसने कोई गुप्त प्रयोग करके इनके शरीर में भगन्दर की व्याधि उत्पन्न कर दी। अन्य अनुयायियों ने इलाज या अन्य कोई उपाय करने की बार-बार सम्मति दी, पर आचार्य ने इसको अपना प्रारब्ध मानकर कोई प्रयत्न नहीं किया और अपने कार्य को यथासम्भव शीघ्र पूरा करके धर्म के नाम पर प्रसन्नतापूर्वक जीवन की इतिश्री कर ली। उस अवसर पर उन्होंने अपने शिष्य वर्ग को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा—

"हे शिष्यो ! अब तुम सब दैवत्य प्राप्त करने और मुमुक्षजनों को उपदेश देने में सदा सावधान रहकर उद्योग करते रहना। तोटक को उत्तर दिशा में ज्योतिर्मठ, पद्मपाद को पूर्व दिशा में गोवर्धन मठ, हस्तामलक को पश्चिम दिशा में शारदामठ और सुरेश्वर को दक्षिण दिशा में शृंगेरी मठ की स्थापना करके अपने इस अभेद अद्वैत ज्ञान का प्रचार धैर्य और दृढ़ता से निरन्तर करते रहना चाहिए। अब सब शिष्यों को इन चारों का सम्मान करना चाहिये। अधिकारियों को वैदिक मार्ग में प्रवृत्त करना और दुराचारियों का सुधार करना चाहिये।"

एक दिन वे प्रात:काल नदी में स्नान कर लौट रहे थे कि सहसा एक चाण्डाल से छू गये। स्पर्श होते ही शंकराचार्य कुपित हो उठे और चाण्डाल को अपवित्र कर देने का दोष लगाकर भला-बुरा कहने लगे। चांडाल उनका रोष देखकर हँसा और बोला— महाराज ! संन्यास लेकर सन्त तो बन गये और वेद शास्त्र पढ़ कर पंडित भी। किन्तु आपका तुच्छ देहाभिमान अब भी न गया। इस प्रकार की भेद बुद्धि रहते हुए आप अपने को पूर्ण सन्त मान रहे हैं। यह तो उचित नहीं दीखता। सबके शरीरों में एक आत्मा का निवास है, इस सत्य को प्रतीत किये बिना आपका संन्यास अपूर्ण है, आडम्बर है।

चाण्डाल की बातों ने शंकराचार्य की आँखें खोल दीं। उन्होंने अपनी अपूर्णता समझी और उसे पूरा करने के लिए पुन: घोर साधना में लग गये और अब की बार जब अध्यात्म के सत्य स्वरूप को हृदयंगम कर सके तो तुरन्त ही अपने कर्त्तव्य पथ पर चल पड़े। उन्होंने अटक से कटक और कन्याकुमारी से काश्मीर तक की पैदल यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने हजारों व्याख्यान दिये। बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और धर्म के सच्चे स्वरूप को समझने-समझाने के लिये सभायें आयोजित कीं। उन्होंने धर्म का प्रचार करने के लिये चिद्विलास, विष्णु गुप्त, हस्तामलक, समित पाणि, ज्ञानवृन्द, भानु गर्भिक, बुद्धि विरंचि त्रोटकाचार्य, पद्मनाभ, शुद्धकीर्ति मंडन मिश्र, कृष्णदर्शन आदि देश के उद्भट विद्वानों को संगठित किया। वेद धर्मानुयायियों की एक विशाल धर्म सेना बनाई गई और सम्पूर्ण भारत में धर्म-सुधार की हलचल मचा दी। उनके इस अखण्ड प्रयत्न का फल यह हुआ कि जनता के मानस में धर्म सम्बन्धी जो भी भ्रांतियाँ घर कर रही थीं वे सब दूर होने लगीं और सारे देश में वैदिक धर्म का शंखनाद गूँजने लगा।

श्रीशंकराचार्य एक कर्मठ धर्मवीर थे। यद्यपि उनको भगन्दर का फोड़ा निकला हुआ था और वैद्यों की राय थी कि वे आराम से एक स्थान पर रहें उसका उपचार करें अन्यथा यह फोड़ा उनके लिये घातक बन जायेगा। किन्तु श्रीशंकराचार्य आराम से पड़े रहने को तैयार न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मेरे शरीर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मेरा कर्त्तव्य है, उसके अपूर्ण रहते हुए मैं किस प्रकार विश्राम ले सकता हूँ। वे निरन्तर उस कष्ट में भी काम करते रहे और अन्त में तीस वर्ष की अवस्था में जगद्गुरु की पदवी पाकर इस संसार से चले गये।

साहस असम्भव को सम्भव बना देता है

बौद्ध मत राज्याश्रय मिलने तथा समर्थ प्रचारकों के कारण भारत भूमि से उत्पन्न होकर देश-देशान्तरों में फैल गया। जापान, चीन और रूस तक उसका सीमा विस्तार हो गया। इस विस्तार के साथ ही उसके कुछ अनुयायियों में संकीर्णता पनपने लगी। वे दूसरे मतों का सम्मान करना भूलकर उन पर अत्याचार करने लगे। प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ बद्रीनाथ के मुख्य मन्दिर की देव मूर्ति उन्होंने नारद कुण्ड में फेंक दी जिससे वहाँ वैशाख से कार्तिक तक होने वाली मानवी पूजा ही बन्द हो गयी।

भगवान् बुद्ध ने भारतीय प्रचलित धर्म में उत्पन्न हुए गतिरोध व मूढ़ मान्यताओं को दूर करने के लिए बौद्ध धर्म चलाया था। उसे एक सामयिक सुधार-बीमारी की स्थिति में दी जाने वाली दवा व पथ्य के रूप में ही गिना जाना चाहिये था किन्तु उसी को सब कुछ मानकर बौद्ध मतावलम्बी हिन्दू देवी-देवताओं को अपमानित करने लगे तब स्वामी शंकराचार्य ने दिग्विजय का महान् संकल्प लेकर उसे पूरा किया और वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया।

जब वे बद्रीनाथ धाम पहुँचे तो वहाँ के निवासियों ने वहाँ के देवालय की दुर्दशा का वर्णन किया। वे उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए मन्दिर पर पहुँचे। पूजा आरम्भ करवाना चाहते थे, किन्तु मूर्ति के अभाव में कुछ हो नहीं पा रहा था। वहाँ के मन्दिर के पुजारी तथा सम्बन्धित विद्वज्जन नयी मूर्ति बनवाने का विचार कर रहे थे।

इस पर उन्होंने पूछा— "पहले की मूर्ति कहाँ है ?"

"उसे तो बौद्धों ने नारद कुण्ड में फेंक दिया है।"

"तो उसे ही क्यों न निकाला जाय ?"

स्वामी जी के इस कथन पर सभी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। एकत्रित शताधिक मनुष्यों के चेहरों पर 'यह असम्भव है' का भाव तैर आया। स्वामी शंकराचार्य ने पूछा— "कोई देवमूर्ति को निकालने के लिए तैयार है।"

इतने गहरे कुण्ड से मूर्ति निकालने का प्रयास करना प्राणों से खेलना था। अत: कोई तैयार नहीं हुआ। सबको इस प्रकार पस्त देख वे स्वयं अपना उत्तरीय फेंककर कुण्ड में जा कूदे। लोगों के मुँह से दीर्घ नि:श्वास निकल गया। यह संन्यासी या तो अपने प्राण गँवायेगा या अपने वचन।

बड़ी देर बाद वे खाली हाथ बाहर निकले। कुछ देर साँस लेने के बार फिर कूदे। लोगों ने मना किया पर वे माने नहीं। दूसरी बार भी वे खाली हाथ बाहर आये। तीसरे व अन्तिम प्रयास में जब वे ऊपर आये तो मूर्ति उनके हाथ में थी।

विग्रह का एक पाँव खण्डित था उसे जोड़कर पुन: उसकी प्रतिष्ठा की गयी। पण्डितों ने खण्डित विग्रह की स्थापना का विरोध किया पर शंकराचार्य के तर्कों व प्रमाणों के आगे उन्हें निरुत्तर होना पड़ा।

स्वामी शंकराचार्य ने अपने प्राणों की बाजी लगा बद्रीनाथ के विग्रह को नारद कुण्ड से निकाल कर यह प्रमाणित कर दिया कि वे पाण्डित्य और धर्म-ज्ञान में ही शीर्षस्थ नहीं है वरन् उन शाश्वत सिद्धान्तों पर दृढ़निष्ठ रखते हुए उन्हें जीवन में उतार कर दिखा भी सकते हैं। यह अध्यात्म ज्ञान की ही शक्ति थी कि जिसके द्वारा उन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उनका यह शौर्य व साहस ही उनके दिग्विजय का आधार बना था। एक अल्पायु युवक द्वारा इस महत कर्म को सम्पादित कर जाना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। उनके जीवन के साथ ऐसी कई सत्य घटनायें जुड़ी हुई हैं जिनमें उन्होंने मृत्यु और जीवन को समभाव से स्वीकार करने की तत्परता दिखायी थी।

स्वामी जी के इस साहस की गाथा आज भी असंभव को सम्भव कर दिखाने की उमंगें सत्साहसियों के हृदय में उत्पन्न करती रहती हैं। इन्हीं चरण चिह्नों पर चलकर सामान्य मानव महामानव बना करते हैं।

धर्मरक्षार्थ जीवन होमने वाले— श्री कुमारिल भट्ट

बात उस समय की है, जब बौद्ध धर्म सारे भारतवर्ष में तथा अन्य देश-देशान्तरों में भी अपने पूरे वेग के साथ फैल चुका था। और वैदिक मान्यताएँ पंगु हुई पड़ी थीं। मृत प्रायः वैदिक धर्म का पुनरुद्धार आवश्यक ही नहीं— अनिवार्य हो गया था। बौद्ध धर्म के शून्यवाद की नास्तिक मान्यताएँ अधिकांश जनता को नास्तिक बनाती चली जा रही थीं।

ऐसी संघर्षमय परिस्थितियों में श्री कुमारिल भट्ट का आविर्भाव हुआ। वे वैदिक धर्म के प्रकाण्ड पण्डित तथा पूर्णत: अनुयायी थे। उन्होंने वेदों, शास्त्रों तथा उपनिषदों का गहन अध्ययन किया था। उनका विश्वास था कि वैदिक तथ्य ही मानव जीवन को ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु जनता के सामने अपनी बात कहने तथा उसे मनवाने से पूर्व यह आवश्यक था कि उस प्रभाव को मिटाया जाय जो बौद्ध धर्म की नास्तिक विचारधारा के रूप में जन-मानस पर छाया हुआ था। उन्होंने प्रतिज्ञा की, कि— चाहे जो कठिनाई मेरा मार्ग अवरुद्ध करे— मैं वैदिक मान्यताओं का प्रचार तथा प्रसार करने में कुछ भी उठा न रखूँगा।

मार्ग की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि बौद्ध मतानुयायियों से शास्त्रार्थ करने से पूर्व बौद्ध धर्म का गहरा अध्ययन स्वयं को होना भी आवश्यक था। इसके लिये वे तक्षशिला गये और पूरे पाँच वर्ष तक बौद्ध धर्म का क्रमबद्ध तथा विशद् अध्ययन किया। जब शिक्षा पूर्ण हो गई तो चलने का अवसर आया। उस समय की प्रथा के अनुसार बौद्ध विश्वविद्यालय के स्नातकों को यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि— "मैं आजीवन बौद्ध धर्म का प्रचार तथा प्रसार करूँगा तथा धर्म के प्रति आस्था रखूँगा।"

समस्या बड़ी ही गम्भीर तथा उलझनमय थी। करना तो था उन्हें वैदिक धर्म का प्रचार। बौद्ध धर्म का अध्ययन तो उसकी ही जड़ें काटने के लिए किया था। झूठी प्रतिज्ञा का मतलब था गुरु के प्रति विश्वासघात तथा वचन भंग।

किन्तु इस मानसिक संघर्ष के बीच भी उन्होंने अपना विवेक खोया नहीं और क्या करना चाहिए यह निश्चित कर लिया। आपत्ति धर्म के रूप में उन्होंने प्रतिज्ञा ली और बौद्ध धर्म का अपार ज्ञान लेकर यहाँ से चल दिये। लौटकर उन्होंने वैदिक धर्म का धुँआधार प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। जन-जन तक वेदों का दिव्य-सन्देश पहुँचाया। फिर जहाँ भी विरोध की परिस्थिति उत्पन्न हुई वहीं पर उन्होंने बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया। अपने गहन अध्ययन के आधार पर चुन-चुनकर एक-एक भ्रान्त बौद्ध मान्यता को वैदिक तथ्यों द्वारा काटा। बौद्ध मतावलम्बियों को खुला आमन्त्रण दिया शास्त्रार्थ के लिये और बड़े से बड़े विद्वानों को अपने अगाध ज्ञान तथा विशद अध्ययन के आधार पर धर्म-सम्बन्धी विश्लेषणों तथा वाद-विवादों में धराशायी किया। दिग्भ्रमित जनता को नया मार्ग, नया प्रकाश तथा नई प्रेरणाएँ दीं। समस्त विज्ञ तथा प्रज्ञ समाज में यह साबित कर दिया कि वैदिक धर्म ही मानव जीवन के कल्याण का सही मार्ग है। बौद्ध धर्म के खण्डन तथा वैदिक धर्म के प्रचार में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया।

और जब उन्हें ये विश्वास हो गया कि गिरती दीवार थम गई है वैदिक मान्यताओं के लड़खड़ाते पैर जम गये हैं— तब उन्हें कुछ सन्तोष हुआ। अब वे यह अनुभव कर रहे थे कि जो बीज मैंने बो दिये है, वे फलते-फूलते रहेंगे।

अब उन्होंने अपनी ओर देखा। झूठी प्रतिज्ञा करने का क्षोभ उनके हृदय को निरंतर कचोटता रहा था। महान् व्यक्तित्वों की यही तो विशेषता होती है कि जरा-सा भी अनौचित्य उन्हें सहन नहीं होता। निदान उन्होंने प्रायश्चित करने का निश्चय किया। शास्त्रीय विधान के अनुसार गुरु के प्रति विश्वासघात करने का प्रायश्चित् था, जीवित अग्नि में जल जाना और वह अग्नि भी धान के छिलकों की, जो लौ उठाकर हाल नहीं जल जाती केवल सुलगती रहती है।

इस प्रायश्चित के हृदयस्पर्शी दृश्य को देखने देश के बड़े बड़े विद्वान् आये थे। उनमें आदि शंकराचार्य भी थे। उन्होंने समझाया भी कि— "आपको तो लोकहित के लिए वैसा करना पड़ा। अपने स्वार्थ के लिए तो नहीं किया। अत: इस प्रकार का भयंकर प्रायश्चित मत कीजिये।"

इस पर श्री कुमारिल भट्ट ने जो उत्तर मंद मुस्कान के साथ दिया वह उनकी महानता को और भी कई गुना बढ़ा देता है। उन्होंने कहा कि— "अच्छा काम केवल अच्छे रास्ते से ही किया जाना चाहिए तभी उसका प्रभाव लोगों पर अच्छा पड़ता है। माना कि मैंने आपत्ति धर्म के रूप में ही ऐसे किया है, लेकिन इस प्रकार की परम्परा नहीं

चलाना चाहता। कुमार्ग पर चलकर श्रेष्ठ कर्म करने की परम्परा गलत है। हो सकता है, इस समय की मेरी स्थिति की उलझन को न समझ कर कोई केवल ऊपरी बात का ही अनुकरण करने लग जाय। यदि ऐसा हुआ तो धर्म और सदाचार नष्ट ही होगा। और तब— इस प्राप्त हुए लाभ का कोई मूल्य ही न रह जायेगा। अतः मेरा प्रायश्चित करना ही उचित है।''

और उसके पश्चात् उस महान् आत्मा के लिए दिव्य चिता सजाई गई। वे उसमें सहर्ष बैठ गये और आग लगा दी गई। धीरे-धीरे सुलग-सुलग कर— पता नहीं कितनी पीड़ा के साथ, कितनी वेदनाओं के पर्त हटाकर निकले होंगे वे प्राण। और उस दारुण दुःख को सहते हुए आने वाली सन्तति के लिए उनके मन में, पता नहीं क्या-क्या भाव आये होंगे। निश्चय ही एक बात तो आई होगी कि— ''हे मेरे देशवासियो ! यदि कभी मेरे जीवन उद्देश्य अथवा जीवन-क्रम के प्रति तुम्हारे मन में किंचित् भी सहानुभूति अथवा सम्वेदना जागे— तो अपने इस प्राणप्रिय वैदिक धर्म का सम्वर्द्धन तथा पोषण करके ही मेरे प्रति अपनी ममता का प्रदर्शन करना।''

वह देह जलकर भस्म हो गई उस प्रायश्चित की भीषण अग्नि में। लेकिन उनका आदर्श सदा अमर रहेगा। धर्म की वेदी पर किया गया उनका वह बलिदान सदा हमें प्रेरणा-प्रकाश तथा उत्साह देता रहेगा।

सेवा योगी— स्वामी रामकृष्ण परमहंस

श्री रामकृष्ण परमहंस की गणना अवतारी पुरुषों में की जाती है। कोई बहुत बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर या अलौकिकताओं तथा चमत्कारों के साथ जन्म लेना, अवतार लेना लोगों की भ्रम बुद्धि को चमत्कृत भले ही करता हो, उसमें वस्तुतः कुछ भी तथ्य नहीं है। सामान्य एवं साधारण मनुष्य की तरह जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपने महान् कार्यों द्वारा अवतारी पुरुष बन सकता है। चमत्कार की शक्ति किसी के पास हो भी तो उससे किसी कार्य का सम्पादन करना उतना महान् नहीं है जितना कि परिस्थितियों, आकस्मिकताओं और प्रतिकूलताओं से लड़ते हुए किसी लोक-हितकारी कार्य का सम्पादन करना। श्री रामकृष्ण परमहंस एक ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने कर्तव्य की महानता से ही अवतार पद प्राप्त किया था।

विख्यात है कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने केवल छह वर्ष की आयु में ही भगवदानुभूति प्राप्त कर ली थी। सुनने में यह बात निःसन्देह विलक्षण लगती है और सहसा यह भाव मन में आता है कि छह वर्ष के अबोध बालक के हृदय में भगवदानुभूति का कारण केवल मात्र भगवान् की कृपा ही हो सकती है। नहीं तो छह वर्ष का एक बालक जिससे कि एक साधारण बात समझने की आशा नहीं की जा सकती भगवदानुभूति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। छह वर्ष का बालक उक्त अलौकिक उपलब्धि के लिए कौन-सी ऐसी बड़ी साधना कर सकता है ?

निःसन्देह किसी भी बड़ी उपलब्धि में भगवत् कृपा एक प्रधान हेतु होती है किन्तु इस कृपा को प्राप्त करने में मनुष्य का पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण होता है। मनुष्य जीवन कोई पहली और अन्तिम उपलब्धि नहीं होती। यह जन्म-जन्मान्तरों की एक शृंखला होती है। इसी शृंखला के अन्तर्गत मनुष्येतर योनियाँ भी आती हैं। अनेक अपने कर्मानुसार अन्य योनियों में भटकते फिरते हैं और बहुत से अपने सुकर्मों के फलस्वरूप बार-बार मनुष्यता का अवसर पाते हैं।

जन्म-जन्मान्तरों में मनुष्य जिस अनुपात से अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्मा को परिष्कार करता आता है उसी अनुपात से वह आगामी जीवन में बुद्धि, विद्या, विवेक, श्रद्धा और भक्ति की अनुभूति प्राप्त करता है। श्री रामकृष्ण परमहंस अवश्य ही पूर्व जन्म नहीं बल्कि जन्म-जन्मों में मनुष्य ही रहे थे और निरन्तर अपनी आत्मा के परिष्कार का प्रयत्न करते रहे। यह उनके पूर्व जन्म के सुकर्मों का ही फल था कि उन्होंने छः वर्ष की आयु में ही भगवदानुभूति प्राप्त करली। यही कारण है कि भारतीय ऋषि मुनियों ने मनुष्य जीवन को एक दुर्लभ अवसर कहा है और निर्देश किया है कि मनुष्य को अपने जीवन का सीमान्त सदुपयोग करके त्याग और तपस्या द्वारा भगवान् का साक्षात्कार कर लेना चाहिये और यदि वह कर्म न्यूनता के कारण यदि किसी प्रकार प्रभु का साक्षात्कार नहीं भी कर पाता तो अवश्य ही पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेकर या तो साक्षात्कार प्राप्त करेगा अथवा उस दिशा में अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ायेगा। अस्तु, मनुष्य को सावधानतापूर्वक साक्षात्कार होगा या नहीं होगा, यह तर्कवितर्क त्याग कर, मनुष्य जीवन का सदुपयोग कर, अगले जीवन में साक्षात्कार की आशा पर पूर्ण प्रयत्न रत रहना चाहिए। इसमें प्रमाद करने वाले ही आगामी जीवन की सारी सम्भावनायें खोकर चौरासी के चक्कर में घूमते हैं।

अपने पूर्व पुरुषार्थ के फलस्वरूप जब श्री रामकृष्ण परमहंस ने अल्प आयु में ही भगवान् की भक्ति प्राप्त कर ली तो वे उसी दिन से उसका साक्षात्कार करने के लिये साधना करने लगे। साधना के रूप में उन्होंने उपासना का मार्ग अपनाया। स्वयं अपनी विधि एवं बुद्धि से की हुई उपासना जब कोई उत्साहवर्द्धक फल लाते दिखलाई न दी तब उन्होंने क्रम से भारती ब्रह्मचारी और नग्न वेदान्ती तोतापुरी से सगुण साधना तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश लिया। अनन्तर उन्होंने इस्लाम तथा ईसाई उपासना पद्धतियों का भी प्रयोग किया, किन्तु पाया कि उन्हें इन उपासनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अन्त में वे अपने स्वयं के चिन्तन और मनन के आधार पर नर-नारायण की उपासना के निष्कर्ष पर पहुँचे।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस की उज्ज्वल एवं उन्नत आत्मा ने जिस दिन मनुष्य सेवा के रूप में परमात्मा की सेवा स्वीकार की उसी दिन से उन्होंने अपने में एक स्थायी सुख-शान्ति तथा सन्तोष का अनुभव किया। भगवत् प्राप्ति का अमोघ उपाय पाकर उन्होंने सारी उपासना पद्धतियों को छोड़ दिया और नर-नारायण की सेवा में लग गये।

रोगियों की परिचर्या, अपंगों की सेवा और निर्धनों की सहायता करना उनका विशेष कार्यक्रम बन गया। जहाँ भी वे किसी रोगी को

कराहते देखते अपने हाथों से उसकी परिचर्या करते । अपंगों एवं विकलांगों के पास जाकर उनकी सहायता करते, दुःखी और दीन जनों को अपनी सुधा-सिक्त सहानुभूति से शीतल करते । साधारण रोगियों से लेकर क्षय एवं कुष्ठ रोगियों तक की सेवा-सुश्रूषा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था । दीन-दुःखियों को हृदय से लगाने में उन्हें एक स्वर्गीय सुख-शान्ति का अनुभव होता था । दरिद्रों को भोजन कराना और उनके साथ बैठकर प्रेमपूर्वक बातें करने में वे जिस आनन्द का अनुभव किया करते थे वैसा आनन्द उन्होंने अपनी एकान्तिक साधना में कभी नहीं पाया था ।

एक तो अध्यात्म साधना से निर्विकार एवं निर्मल हृदय दूसरे दीन-दरिद्रों तथा आकुल समाकुलों की सेवा— फिर क्यों न उनको एक ऐसी कारुणिक अनुभूति का लाभ होता जो युग-युग की साधना के बाद पाये आत्मानन्द से किसी दशा में कम नहीं थी । दीन-दुःखियों के साथ बैठकर सच्ची सहानुभूति से उनका दुःख बँटाने में जो आनन्द है उसका अनुभव वे भाग्यवान ही कर सकते हैं जिनका हृदय पर-पीड़ा से कातर हो उठता है । जिसने लोभ, मोह, काम, क्रोध और अहंकार के शत्रुओं को परास्त कर लिया उसका हृदय अवश्य ही विश्व-प्रेम से भरकर धन्य हो उठेगा । जो सुख चाहता है शान्ति की कामना रखता है वह निःसार साधनाओं को छोड़कर स्वामी रामकृष्ण परमहंस की तरह हो जाये और दीन-दुःखियों की सेवा करता हुआ उनकी कातर तथा कारण मूर्ति में परमात्मा की झाँकी प्राप्त करे । जिसे आनन्द की प्यास हो वह दुःखियों के पास जाये और अनुभव करे कि दूसरे का दुःख बँटाने पर हृदय में किस दिव्य आनन्द का उद्रेक होता है ?

स्वामी रामकृष्ण ने न केवल भक्ति पूर्ण उपासना ही की, प्रत्युत्त आत्म शान्ति तथा अन्य चमत्कारिक सिद्धियों के लिए तान्त्रिक साधना भी की । इस तान्त्रिक साधना में सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुई वे नर-नारायण की सेवा में प्राप्त सुख की तुलना में बड़ी ही तुच्छ तथा हेय थीं । उनमें उतना ही अन्तर था जितना एक लोलुप धनवान और आत्म तुष्ट योगी में हो सकता है । इस निःसारता का अनुभव करके उन्होंने तृण के समान तुच्छ तान्त्रिक साधना को त्याग कर जन-सेवा की महान् गुणमयी साधना को अपना लिया ।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस निःसन्देह एक दिव्यदर्शी सिद्ध पुरुष थे और पंचभूत त्यागने के बाद उन्होंने मोक्ष पद को पाया होगा । उनकी साधना बड़ी और तप महान् था । उन्होंने जन-सेवा द्वारा भगवत् प्राप्ति का जो मार्ग निकाला वह कोई कल्पना अथवा मात्र धारणा नहीं थी बल्कि एक चिरन्तन वास्तविकता तथा त्रयकालिक सत्य था । नर-नारायण की सेवा का निर्देश स्वयं उनका नहीं था, वह अवश्य ही उनकी निर्विकार आत्मा में प्रतिध्वनित परमात्मा का ही आदेश था, जिसका पालन उन्होंने स्वयं किया और वैसा ही करने का उपदेश अपने शिष्यों, भक्तों एवं अनुयायियों को भी दिया ।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के निश्छल हृदय से निकली हुई पुकार ''रामकृष्ण मिशनों, मठों एवं आश्रमों में मूर्ति भले हुई, और आज क्या देश और क्या विदेश सभी जगह सैकड़ों की संख्या में श्री रामकृष्ण मिशन, सेवाश्रम तथा वेदान्त केन्द्र सहस्रों रोगियों को परिचर्या और दुःखियों को सहायता और पथ भ्रान्तों को आलोक दे रहे हैं ।

कहना न होगा कि वैयक्तिक साधना से मोक्ष पाकर गये हुये रामकृष्ण परमहंस से न संसार को कोई लाभ होता और न संसार उन्हें जानता । इसके विपरीत नर-नारायण की उपासना तथा भक्ति करने पर उन्हें मोक्ष तो मिला ही होगा, इसके अतिरिक्त संसार उनकी सेवाओं का लाभ पाकर उन्हें एक अवतारी पुरुष के रूप में याद करता रहेगा ।

श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेश

जो हीन बुद्धि हैं, वे ही सिद्धाई चाहते हैं । बीमारी को अच्छा करना, मुकदमा जिता देना, जल के ऊपर से चलना— ये सब (सिद्धाई) है । जो भगवान् के भक्त हैं, वे ईश्वर के पादपद्मों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं चाहते हैं । जिनकी थोड़ी बहुत सिद्धाई हो, उनकी प्रतिष्ठा लोकमान्य होती है ।

व्याकुल होकर भगवान् की प्रार्थना करो । विवेक के लिए प्रार्थना करो । ईश्वर ही सत्य है और सब अनित्य है, इसी का नाम विवेक है । जल-छादन (जल छानने के महीन कपड़े) से जल छान लेना होता है । मैला-कूड़ा-करकट एक तरफ रहता है और अच्छा जल दूसरे तरफ पड़ता है । तुम उनको (ईश्वर को) जान कर संसार को छोड़ो इसी का नाम विद्या का संसार है ।

नाना मत हैं । मत का पन्थ अर्थात् जितने मत हैं उतने ही पन्थ हैं । किन्तु सभी मानते हैं कि— मेरा मत ही ठीक है— मेरी ही घड़ी ठीक चल रही है ।

सत्य कथा— सत्य बोलना— कलि की तपस्या है । कलियुग में अन्य तपस्या कठिन है । सत्य मार्ग पर रहने से भगवान् पाया जाता है ।

अवतार या अवतार के अंश को ईश्वर कोटि कहते हैं और साधारण लोगों को जीव या जीव-कोटि । जो जीव कोटि के हैं, वे साधनाएँ कर ईश्वर का लाभ कर सकते हैं । वे (निर्विकल्प) समाधि से फिर लौटते नहीं हैं ।

जो ईश्वर कोटि हैं, वे मानो राजा के बेटे हैं और मानो सात मंजिल वाले मकान की चाबी उनके हाथ में है । वे सातों मंजिलों तक चढ़ जाते हैं, फिर इच्छानुसार उतर भी आ सकते हैं । जीव कोटि मानो छोटे कर्मचारी (नौकर) हैं, वे सात मंजिल के कुछ दूर तक पहुँच सकते हैं ।

जनक ज्ञानी थे । साधनाएँ कर उन्होंने ज्ञान लाभ किया था । शुकदेव थे ज्ञान की मूर्ति । शुकदेव को साधनाएँ कर ज्ञान लाभ करना नहीं हुआ था । नारद में भी शुकदेव के जैसा ब्रह्मज्ञान था किन्तु वह भक्ति लेकर था । लोकशिक्षा के लिए प्रहलाद कभी 'सोऽहं' भाव में रहते, फिर कभी दास भाव में और कभी सन्तान भाव में रहते थे । हनुमान की भी वैसी अवस्था थी ।

भगवान् को लाभ करना हो तो संसार से तीव्र-वैराग्य चाहिये । जो कुछ ईश्वर के मार्ग के विरोधी मालूम हो, उसे तत्क्षण त्यागना चाहिये । पीछे होगा यह सोच कर छोड़ रखना ठीक नहीं है । काम-कांचन ईश्वर-मार्ग के विरोधी है । उनसे मन हटा लेना चाहिये ।

दीर्घसूत्री होने से परमार्थ का लाभ नहीं होगा। कोई एक अंगोछा लेकर स्नान करने को जा रहा था। उसकी औरत ने उससे कहा कि— तुम किसी भी काम के नहीं हो, उम्र बढ़ रही है, अब भी यह सब (व्यवहार) छोड़ नहीं सके। मुझको छोड़कर तुम एक दिन भी नहीं रह सकते। किन्तु देखो, वह रामदेव कैसा त्यागी है। पति ने कहा— क्यों उसने क्या किया ? औरत ने कहा— उसकी सोलह औरत हैं। वह एक-एक करके उनको त्याग रहा है। तुम कभी त्याग कर नहीं सकोगे। पति ने कहा— "क्या वह एक-एक करके त्याग रहा है ! अरे पगली ! वह कभी त्याग कर नहीं सकेगा। जो त्याग करता है वह क्या थोड़ा-थोड़ा करके त्याग करता है ? औरत ने मुस्कराकर कहा— तो भी तुम से अच्छा है। पति ने कहा— पगली, तू नहीं समझती है त्याग करना उसका काम नहीं है। अर्थात् उसके कहने से त्याग नहीं होगा, मैं ही त्याग कर सकूँगा यह देख, मैं चल देता हूँ।"

इसी का नाम तीव्र वैराग्य है। उस आदमी को ज्यों वैराग्य आ गया त्यों ही उसने त्याग किया। अंगोछा कन्धे में ही रहा कि— वह चल दिया। वह संसार का कुछ ठीक ठाक नहीं कर पाया। घर की ओर एक बार पीछे लौट कर देखा भी नहीं।

जो त्याग करेगा उसको मनोबल चाहिये। लुटेरों का भाव ! लूटने से पहले जैसे डाकू लोग कहते हैं, ऐ मारो ! लूटो ! काटो ! अर्थात् पीछे क्या होगा, इसका ख्याल न कर खूब मनोबल के साथ आगे बढ़ना चाहिये।

तुम और क्या करोगे ? उनके (ईश्वर के) प्रति भक्ति और प्रेम लाभ कर दिन बिताना है। श्रीकृष्ण के दर्शन से यशोदा पगली जैसी बनकर श्रीमती (राधा) के पास गई। श्रीमती ने उनका शोक देख कर आद्य शक्ति के रूप से उनको दर्शन दिया और उनसे कहा— 'माँ' वर फिर क्या लूँ ? तो इतना ही कहो कि— मैं तन, मन, वचन से कृष्ण की ही सेवा कर सकूँ, इन्हीं आँखों से उनके भक्तों का दर्शन हो। जहाँ-जहाँ उनकी लीलाएँ हों इन पैरों से वहीं जा सकूँ। इन हाथों से उनके ही प्रेमी भक्तों की सेवा हो। सब इंद्रियाँ उन्हीं के दर्शन श्रवणादि में लगें।

इधर का (ईश्वरीय) आनन्द मिलने से उसको (वैषयिक) आनन्द अच्छा लगता है। ईश्वरीय आनन्द लाभ करने से संसार नमक का (शाक जैसा) नि:रस भान होता है। शाल मिलने से फिर बनात अच्छा नहीं लगता है।

जो 'संसार के धर्म' संसार में रह कर ही धर्माचरण करना ठीक है यह कहते हैं, वे यदि एक बार भगवान् का आनन्द पावें तो उनको फिर और कुछ अच्छा नहीं लगता। कर्मी के लिए आसक्ति कम होती जाती है। क्रमश: ज्यों-ज्यों आनन्द बढ़ता जाता है त्यों-त्यों फिर कर्म भी कर नहीं सकते हैं। केवल उसी आनन्द को ढूँढ़ते फिरते हैं। ईश्वरीय आनन्द के पास फिर विषयानन्द और रमणानन्द तुच्छ हो जाते हैं, एक बार स्वरूपानन्द का स्वाद मिलने पर उसी आनन्द के लिए व्याकुल होकर फिरते हैं, तब संसार गृहस्थी रहे चाहे न रहे ! उसके लिए कोई परवाह नहीं रहती है।

संसारी लोग कहते हैं कि— दोनों तरफ रहेंगे ! दो आने की शराब पीने से मनुष्य दोनों ओर ठीक रहना चाहते हैं। किन्तु अधिक शराब पीने से क्या फिर दोनों तरफ नजर रखी जा सकती है ?

ईश्वरीय आनन्द मिलने से फिर कुछ सांसारिक कार्य अच्छा नहीं लगता है। तब काम-कांचन की बातें मानो हृदय में चोट-सी लगती हैं। बाहरी बातें अच्छी नहीं लगती हैं। तब मनुष्य ईश्वर के लिए पागल होता है। रुपये-पैसे कुछ भी अच्छे नहीं लगते हैं।

ईश्वर लाभ के बाद कोई संसार है तो वह होता है— विद्या का संसार। उसमें कामिनी-कांचन का प्रभाव नहीं रहता है, उसमें रहते हैं, केवल भक्ति, भक्त और भगवान्।

परमहंस रामकृष्ण देव की अमृतवाणी

परमहंस जी एक दिन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के घर पर उनसे मिलने गये। भेंट होने पर कहा— "आज तो मैं सागर से आ मिला। इतने दिन खाई, सोता और अधिक से अधिक हुआ तो नदी देखी थीं, पर अब सागर देख रहा हूँ।" विद्यासागर ने कहा— "तो इससे लाभ क्या हुआ, थोड़ा-सा खारा पानी मिल जायेगा।" परमहंस जी बोले "नहीं जी, खारा पानी क्यों ? तुम तो अविद्या के नहीं विद्या के सागर हो, तुम क्षीर-समुद्र हो। तुम्हारा कर्म सात्विक कर्म है। यह सब सत्त्व का रजोगुण है। सत्त्वगुण से दया होती है। दया से जो कर्म किया जाता है वह राजसिक कर्म हो सकता है, पर फिर भी वह सत्त्वगुण से सम्बन्धित है, इसलिये उसमें कोई दोष नहीं बतला सकता। तुम विद्यादान, अन्नदान कर रहे हो यह भी अच्छा है। यह कर्म निष्काम भाव से करने से ईश्वर लाभ होगा।"

ब्रह्म की चर्चा चलने पर परमहंस जी ने कहा कि "आजकल वेद, पुराण, तंत्र षड्दर्शन सब झूठे हो गये हैं। क्योंकि वे मुँह से पढ़े जाते हैं, मुँह से उच्चारित होते हैं, इसीसे उनको झूठा माना जायेगा। पर केवल एक वस्तु झूठी नहीं हुई है— वह वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म क्या है, यह बात आज तक कोई मुँह से बोल कर नहीं समझा सका है।"

"एक पिता के दो लड़के थे। ब्रह्म विद्या सीखने के लिये पिता ने उन दोनों को आचार्य को सौंप दिया। कई वर्ष बाद वे गुरु गृह से लौटे और घर आकर पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि देखें इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ है। बड़े लड़के से उन्होंने पूछा— "बेटा तुमने तो सब कुछ पढ़ा है, अब यह बताओ कि ब्रह्म कैसा होता है ?" बड़ा लड़का वेदों से बहुत-से मन्त्रों की आवृत्ति करता हुआ ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा। पिता चुप रहे। फिर उन्होंने छोटे लड़के से वही प्रश्न किया पर वह सिर झुकाये चुप रहा, मुँह से कोई बात न निकली। तब पिता ने प्रसन्न होकर कहा— "बेटा तुम्हीं ने कुछ समझा है, ब्रह्म क्या है— "यह मुँह से नहीं कहा जा सकता।"

"मनुष्य सोचता है कि हम ईश्वर को जान गये, एक चींटी चीनी के गोदाम में गई। 'एक दाना खाकर उसका पेट भर गया और दूसरा दाना मुँह में लेकर अपने घर को जाने लगी। जाते समय सोच रही थी कि अबकी बार समूचे गोदाम को ले आऊँगी ? क्षुद्रजीव भी ब्रह्म

के बारे में इसी प्रकार की बातें सोचा करते हैं, वे नहीं जानते कि ब्रह्म वाणी और मन दोनों से परे है।

× × × ×

गीता का अर्थ क्या है ? जब चैतन्य देव दक्षिण में तीर्थ-भ्रमण कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक आदमी गीता पढ़ रहा है। एक-दूसरा आदमी थोड़ी दूर पर बैठे उसे सुन रहा है और सुनकर रो रहा है—आँखों से आँसू बह रहे हैं। चैतन्य देव ने पूछा— "क्या तुम यह सब समझ रहे हो ?" उसने कहा— "प्रभु ! इन श्लोकों का अर्थ तो मैं नहीं समझता हूँ।" चैतन्य ने पूछा— "तो फिर रोते क्यों हो ?" भक्त ने जवाब दिया— "मैं देख रहा हूँ कि अर्जुन का रथ है और उसके सामने भगवान् और अर्जुन खड़े हुए बात कर रहे हैं। बस यही देखकर मैं रो रहा हूँ।" इसलिये गीता केवल किताब से पढ़ी नहीं जाती, जब मन से आसक्ति दूर हो जाती है तभी उसका सच्चा आशय समझ में आता है।

× × × ×

"ब्रह्म ज्ञान की चर्चा उठने पर परमहंस जी ने कहा— पहले हृदय मंदिर में उनकी प्रतिष्ठा करो। भाषण, लेक्चर आदि जो चाहे तो उसके बाद करना। खाली 'ब्रह्म-ब्रह्म' कहने से क्या लाभ यदि हृदय के भीतर विवेक-वैराग्य नहीं है।

"किसी गाँव में पद्मलोचन नाम का एक लड़का था। लोग उसे पदुआ कह कर पुकारते थे। उसी गाँव में एक जीर्ण मंदिर था, पर उसके भीतर इस समय देवता की कोई मूर्ति न थी। मन्दिर की दीवारों पर पीपल और तरह-तरह के पेड़ पैदा हो गये थे। मन्दिर के भीतर चमगादड़ अड्डा जमाये थे। फर्श पर धूल और चमगादड़ों की विष्ठा पड़ी रहती थी। मन्दिर में कोई आता-जाता न था।

"एक दिन संध्या के बाद लोगों ने मंदिर की तरफ से शंख की आवाज सुनी। मंदिर की तरफ से भों-भों शंख बज रहा था। गाँव वालों ने सोचा कि किसी ने मंदिर में देवता की मूर्ति पधरा दी होगी और संध्या के बाद आरती हो रही होगी। लड़के, बूढ़े, औरतें, मर्द सब दौड़ते हुए मंदिर की तरफ चले कि देवता के दर्शन करेंगे, आरती देखेंगे। उनमें से एक ने मंदिर का दरवाजा धीरे से खोला तो देखा कि पद्मलोचन एक तरफ खड़ा हुआ भों-भों शंख बजा रहा है। देवता की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, मंदिर में झाड़ू तक नहीं लगाया गया था। चमगादड़ों की विष्ठा भी पड़ी हुई थी। तब उस मनुष्य ने चिल्लाकर कहा—

"तेरे मंदिर में माधव कहाँ है, पदुआ तूने तो व्यर्थ ही में शंख फूँककर हुल्लड़ मचा दिया।"

"इसी प्रकार यदि हृदय-मंदिर में माधव की प्रतिष्ठा करनी हो, यदि ईश्वर का लाभ करना चाहो, तो सिर्फ भों-भों शंख फूँकने से क्या होगा। पहले चित्त शुद्ध करना चाहिये। मन शुद्ध हुआ तो भगवान् उस पवित्र आसन पर स्वयं आ विराजेंगे।"

× × × ×

भक्तों ने पूछा कि हम ईश्वर को किस उपाय से देख सकते हैं ? परमहंस जी ने कहा कि "जब तुम उनके लिये व्याकुल होकर रोना सीख लोगे तो वे अपने आप मिल जायेंगे। जिस प्रकार कोई स्त्री अपने छोटे बच्चे को खिलौनों से बहलाकर घर के काम-काज में लगी रहती है। पर जब बालक खिलौने फैंक कर जोर-जोर से रोने लगता है तो माँ रोटी बनाना बन्द कर दौड़ आती है— बच्चे को गोद में उठा लेती है। उसी प्रकार भक्त जब ईश्वर को सच्चे हृदय से पुकारते हैं तो वे स्वयं उनके पास आ जाते हैं।"

दूसरे भक्त ने पूछा— "महाराज, ईश्वर के स्वरूप पर इतने भिन्न-भिन्न मत क्यों हैं। कोई कहता है साकार और कोई कहता है निराकार। साकारवादियों में तो अनेकों रूपों की चर्चा सुनाई पड़ती है, यह कैसा गोरखधन्धा है ?"

परमहंस जी ने कहा— "जो भक्त जिस प्रकार देखता है वह वैसा ही समझता है। वास्तव में गोरखधन्धा कुछ भी नहीं है। यदि कोई ईश्वर को एक बार प्राप्त कर सके तो वे स्वयं समझा देते हैं। जब तुम किसी मुहल्ले में गये ही नहीं तो उसकी खबर कैसे जान सकते हो ? इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है कि एक आदमी शौच के लिये जंगल में गया। उसने देखा कि पेड़ पर एक बड़ा सुन्दर-सा कीड़ा बैठा है। लौट कर उसने अपने एक साथी से कहा— "देखो जी आज हमने अमुक पेड़ पर एक बड़ा सुन्दर लाल रंग का कीड़ा देखा था।" दूसरे आदमी ने जवाब दिया कि "जब मैं शौच के लिये गया था तो मैंने भी उसे देखा था। पर उसका रंग लाल नहीं था वरन् हरा था।" तीसरे ने कहा— "उसे तो हमने भी देखा है, पर उसका रंग तो पीला है।" इसी प्रकार कुछ लोग और भी थे जिनमें से किसी ने कीड़े का रंग भूरा किसी ने बैंगनी किसी ने आसमानी बतलाया। इस पर सबके सब लड़ने लग गये। तब इसका फैसला करने को सब मिलकर उस पेड़ के पास पहुँचे ! वहाँ एक आदमी बैठा था। पूछने पर उसने कहा— "मैं इसी पेड़ के नीचे रहता हूँ। इस कीड़े को मैं खूब पहचानता हूँ। तुमने जो कुछ कहा यह सब सत्य है। यह कभी लाल, कभी हरा, कभी पीला, कभी आसमानी न जाने कितने रंग बदलता है। यह बहुरूपिया है और कभी मैं देखता हूँ कि इसका कोई रंग ही नहीं है।"

"आशय यह कि जो मनुष्य सर्वदा ईश्वर चिन्तन करता है, वही जान सकता है कि उसका स्वरूप क्या है। वही यह भली प्रकार जानता है कि भगवान् तरह-तरह के रूपों में दर्शन देते हैं, अनेक भावों में देख पाते हैं, वे सगुण भी है और निर्गुण भी। अर्थात् ईश्वर को कोई किसी खास रंग या रूप में बाँध नहीं सकता।

भावना सर्वोपरि है, विधि-विधान नहीं

कल जन्माष्टमी का उत्सव था। आज राधा-गोविन्द जी के मन्दिर में नन्दोत्सव है। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिरों की सजावट आज देखते ही बनती है। भक्तजनों के झुंड के झुंड गोविन्द जी के दर्शनों के लिये आ रहे हैं। कीर्तन अपनी चरम सीमा पर है। भक्ति रस की धारा प्रवाहित हो रही है।

दोपहर के भोग के पश्चात् गोविन्द जी के विग्रह को शयन के लिये भीतरी प्रकोष्ठ में ले जाते समय पुजक क्षेत्र-नाथ का पाँव फिसल जाने से रंग में भंग हो गया। वह मूर्ति सहित फर्श पर जा गिरे, जिससे मूर्ति का एक पाँव टूट गया। भक्ति रस की धारा मन्द पड़ गयी उसके

स्थान पर भय और आशंका के मेघ मँडराने लगे । मन्दिर में बड़ा कोलाहल मच उठा । अपने-अपने मन से सभी भावी अमंगल की सूचना दे रहे थे । सबके चेहरों पर भय की रेखायें खिंच गयीं । निश्चय ही कोई सेवा अपराध हुआ है । उसका दण्ड अमंगल के रूप में सबको भोगना होगा ।

रानी रासमणी ने सुना तो वह एक दम सिहर उठीं । अब क्या होगा ? किन्तु जो कुछ हो चुका था, उसे टाल सकने की सामर्थ्य किस में थी । अब क्या किया जाय, इसके लिये पण्डितों की सभा बुलायी गयी । पण्डित लोगों ने ग्रन्थ देखे, सोच-विचार किया और यह विधान दिया— भग्न विग्रह को गंगा में विसर्जित करके उसके स्थान पर नयी मूर्ति की स्थापना की जाय ।

रानी रासमणी को पंडितों का यह निष्ठुर विधान रुचा नहीं किन्तु उसके हाथ की बात भी क्या थी । ब्राह्मणों की सम्मति को टालना उसके बस में कहाँ था । निदान नयी मूर्ति बनवाने का आदेश दे दिया गया । रानी उदास हो गयी । भला इतनी श्रद्धा और प्रेम से जिन गोविन्द जी को इतने दिन पूजा जाता रहा, उन्हें थोड़ी-सी बात पर जल में विसर्जित कर देने का कारण उसकी समझ में नहीं आया ।

जामाता मथुरबाबू रानी की इस उदासी को ताड़ गये । उन्होंने सम्मति दी— रानी माँ क्यों न इस विषय में छोटे भट्टाचार्य (स्वामी रामकृष्ण परमहंस) की राय भी जान ली जाय ?

रानी स्वामी रामकृष्ण पर विशेष श्रद्धा रखती थीं । उनकी अनूठी निष्ठा व भक्ति के कारण वे उनके द्वारा दिये जाने वाले निर्णय को स्वीकार करने की स्थिति में भी थीं । रानी ने अपने मन की व्यथा रामकृष्ण से कह सुनायी । सुनकर उन्होंने रानी से प्रश्न किया— यदि आप के जामाताओं में से किसी एक का पाँव टूट जाता तो वह उनकी चिकित्सा करवातीं या उनके स्थान पर दूसरे को ले आतीं ?

"मैं अपने जामाता की चिकित्सा कराती, उन्हें त्याग कर दूसरा नहीं ले आती ।"

"बस उसी प्रकार विग्रह के टूटे पैर को जोड़ कर उसकी सेवा-पूजा यथावत् होती रहे तो उसमें दोष ही क्या है ।"

श्री रामकृष्ण परमहंस के इस सहज विधान को सुन कर रानी हर्षित हो उठीं । यद्यपि उनकी यह व्यवस्था ब्राह्मणों के मनोनुकूल नहीं थी । उन्होंने उसका विरोध भी किया पर अब रानी का धर्म-संकट समाप्त हो चुका था । उसे स्वामी जी की बात ही पसन्द थी । उसने ब्राह्मणों के विरोध की चिन्ता नहीं की । स्वामी जी ने टूटे विग्रह के पाँव को ऐसा जोड़ दिया कि कुछ पता ही नहीं चलता । पूजा-सेवा उसी प्रकार चलती रही ।

एक दिन किन्हीं जमींदार महाशय ने उनसे पूछा— मैंने सुना है आपके गोविन्द जी टूटे हैं । इस पर वे हँस कर बोले— "आप भी कैसी भोली बातें करते हैं जो अखण्ड मंडलाकार है, वे कहीं टूटे हो सकते हैं ।

भगवान् लोभ-मोह रहित हैं

रामकृष्ण परमहंस के शिष्य मथुरा बाबू ने एक मन्दिर बनवाया और उसमें विष्णु भगवान् की मूर्ति स्थापित करा दी गई । मूर्ति बड़ी लुभावनी थी । वस्त्राभूषण से साज-सँवार की गई थी । कुछ ही दिन बीते होंगे कि चोर मूर्ति के कीमती आभूषणों को चुरा ले गये । प्रतिमा अब उतनी आकर्षक नहीं लगती थी । मथुरा बाबू उदास होकर बोले कि भगवन आपके हाथ में गदा और चक्र दो-दो हथियार लगे रहे फिर भी चोर चोरी कर ले गये । इससे तो हम मनुष्य अच्छे । कुछ तो प्रतिरोध करते ही हैं । पास खड़े रामकृष्ण भी यह वार्तालाप सुन रहे थे । वे बोल पड़े— "मथुरा बाबू ! भगवान् को गहनों और जेवरों का तुम्हारी तरह लोभ और मोह नहीं है और फिर उनके भण्डार में कमी किस बात की है जो रात भर जागते और तुच्छ गहनों की रखवाली करते ।"

अहंकार का बीज

रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्य इसी बात पर परस्पर उलझ पड़े कि इनमें से कौन वरिष्ठ है । विवाद तय न होने पर गुरुदेव के पास जाकर उन्होंने पूछा— "गुरुदेव ! हम दोनों में से कौन बड़ा है ?" बस इतनी-सी बात के लिये उलझ रहे थे तुम लोग— परमहंस ने कहा— 'तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो बहुत सरल है । जो दूसरे को बड़ा समझता है, वही बड़ा भी है और श्रेष्ठ भी । यह समाधान पाकर वे दोनों मन में बहुत लज्जित हुए । उस दिन से बड़ा बनने की ललक और अहंकार का बीज ही मन से मिट गया ।

निराभिमानता की मूर्ति

स्वामी रामकृष्ण बगीचे में बैठे हुए ईश्वर चिन्तन में लीन थे । इतने ही में डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार उधर आये और उन्होंने स्वामी जी को बाग का माली समझकर फूल तोड़ लाने को कहा । स्वामी जी मान-अपमान से परे निर्मल स्थिति में थे, उन्होंने तत्काल फूल तोड़ कर डॉक्टर साहब को दे दिए । दूसरे दिन ये डॉक्टर साहब स्वामी जी को देखने आये तब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उनकी निराभिमानता पर द्रवित हो गये ।

वस्तुत: महान सन्त साधु व्यक्तियों की पहचान उनके अभिमान शून्य विनय युक्त स्वभाव से ही की जाती है ।

निस्पृह माँ

रामकृष्ण परमहंस की माता एक बार कलकत्ता आईं और कुछ समय स्नेहवश पुत्र के पास रहीं । दक्षिणेश्वर मन्दिर की स्वामिनी रासमणि ने उन्हें गरीब और सम्मानास्पद समझ कर तरह-तरह के कीमती उपहार भेंट किए । वृद्धा ने उन सभी को अस्वीकार कर दिया और मान रखने के लिए एक इलायची भर स्वीकार की । उपस्थित लोगों ने कहा— "ऐसी निस्पृह मातायें ही परमहंस जैसे पुत्र को जन्म दे सकती हैं ।"

मुक्त एवं स्वतंत्र आत्माएँ

रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों के साथ टहलते हुये एक नदी के तट पर पहुँचे । वहाँ मछुए जाल फेंक कर मछलियाँ पकड़ रहे

थे । एक मछुए के पास स्वामी जी खड़े हो गये और शिष्यों से कहा—तुम लोग ध्यानपूर्वक इस जाल में फँसी मछलियों की गतिविधि देखो ।

शिष्यों ने देखा कि कुछ मछलियाँ तो ऐसी हैं जो जाल में निश्चल पड़ी हैं, उन्होंने निकलने की कोई कोशिश ही नहीं की, कुछ मछलियाँ निकलने की कोशिश तो करती रहीं पर निकल नहीं पाईं और कुछ जाल से मुक्त होकर पुनः जल में क्रीड़ा करने लगीं

परमहंस ने शिष्यों ने कहा—जिस प्रकार मछलियाँ तीन प्रकार की होती हैं उसी प्रकार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं । एक श्रेणी उनकी है जिनकी आत्मा ने बन्धन स्वीकार कर लिया है और इस भव-जाल से निकलने की बात सोचते ही नहीं, दूसरी श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की है जो वीरों की तरह प्रयत्न तो करते हैं पर मुक्ति से वंचित ही रहते हैं और तीसरी श्रेणी उन मनुष्यों की है जो चरम प्रयत्न द्वारा आखिर मुक्ति प्राप्त कर ही लेते हैं ।

परमहंस की बात समाप्त हुई एक शिष्य बोला "गुरुदेव ! एक चौथी श्रेणी भी है जिसके सम्बन्ध में आपने कुछ बताया ही नहीं ।"

"हाँ चौथी प्रकार की मछलियों की तरह ऐसी महान् आत्माएँ भी होती हैं जो जाल के निकट ही नहीं आतीं फिर उनके फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता ।"

पूर्ण समर्पण

श्री रामकृष्ण परमहंस शिष्यों को उपदेश दे रहे थे । वह समझा रहे थे कि जीवन में आये अवसरों को व्यक्ति साहस तथा ज्ञान की कमी के कारण खो देते हैं । अज्ञान के कारण उस अवसर का महत्त्व नहीं समझने पाते । समझकर भी उसके पूरे लाभों का ज्ञान न होने से उसमें अपने आपको पूरी शक्ति से लगा नहीं पाते । शिष्यों की समझ में यह बात ठीक ढंग से न आ सकी । तब श्रीरामकृष्ण देव बोले— "नरेन्द्र ! कल्पना कर तू एक मक्खी है । सामने एक कटोरे में अमृत भरा रखा है । तुझे यह पता है कि यह अमृत है, बता उसमें एकदम कूद पड़ेगा या किनारे बैठकर उसे स्पर्श करने का प्रयास करेगा ।"

उत्तर मिला— "किनारे बैठकर स्पर्श का प्रयास करूँगा । बीच में एकदम कूद पड़ने से अपने जीवन-अस्तित्व के लिए संकट उपस्थित हो सकता है । साथियों ने नरेन्द की विचारशीलता को सराहा । किन्तु परमहंस जी हँस पड़े । बोले— "मूर्ख ! जिसके स्पर्श से तू अमरता की कल्पना करता है, उसके बीच में कूदकर, उसमें स्नान करके, सराबोर होकर भी मृत्यु से भयभीत होता है ।"

"चाहे भौतिक उन्नति हो या आध्यात्मिक जब तक आत्मशक्ति का पूर्ण समर्पण नहीं होता सफलता नहीं मिलती" यह रहस्य शिष्यों ने उस दिन समझा ।

ध्यान की बात

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के समय दक्षिणेश्वर में श्री प्रताप हाजरा नाम के एक महाशय रहते थे । उन्होंने साधुओं जैसा जीवन अपना रखा था । वे कभी-कभी रामकृष्ण परमहंस के साथ कलकत्ता जाकर सत्संग का लाभ उठाया करते थे ।

एक बार वे स्वामी जी के साथ कलकत्ता जाकर जब लौटे तो अपना अंगोछा वहीं एक भक्त के घर भूल आये ।

स्वामी रामकृष्ण को जब यह पता चला तो उन्होंने हाजरा महाशय से कहा, "ऐसे भुलक्कड़ स्वभाव के कारण तो तुम कभी-कभी भगवान् को भी भूल जाते होंगे । जो नित्य प्रति के सांसारिक व्यवहार में सावधान नहीं रह सकता, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में सावधानी बरत सकता है, इसमें सन्देह है ।

हाजरा महाशय स्वामी जी के कथन का आशय न समझ कर सफाई देते हुए बोले, "क्या बताऊँ महाराज ! भगवान् के भजन में लीन रहने से मुझे कुछ याद ही नहीं रहता ।"

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने हाजरा महाशय की झूठी आत्म श्लाघा समझ ली । वे दुःखी होकर सोचने लगे साधु का नाम धरा कर इतनी आत्मप्रशंसा ! फिर प्रकट में बोले, "हाजरा तू धन्य है । जो थोड़े से जाप से ही इतना पहुँच गया कि सांसारिक विषयों की याद ही नहीं रहती । एक मैं ऐसा तुच्छ प्राणी हूँ जो दिन-रात भगवान् के चरणों में ही ध्यान दिये रहता हूँ फिर भी आज तक न कभी अपना बटुआ कहीं भूला हूँ और न अंगोछा ।

अब हाजरा महाशय को अपनी भूल का भान हुआ । वे स्वामी जी के चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगे ।

मंत्र-शक्ति का प्रभाव

रामकृष्ण परमहंस से किसी जिज्ञासु ने पूछा— 'क्या मन्त्र जप सबके लिए समान फलदायक होते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया— नहीं । ऐसा क्यों ? के उत्तर में परमहंस जी ने जिज्ञासु को एक कथा सुनाई ।

एक राजा था । उसका मन्त्री नित्य जप करता । राजा ने जप का फल पूछा तो उसने कहा— वह सबके लिए समान नहीं होता । इस पर राजा को असमंजस हुआ और वह कारण बताने का आग्रह करने लगा । मन्त्री बहुत दिन तक तो टालता रहा, पर एक दिन उपयुक्त अवसर देखकर समाधान कर देने का ही निश्चय किया ।

मन्त्री और राजा एकान्त वार्ता कर रहे थे । एक छोटा बालक और वहाँ खड़ा था । मन्त्री ने बच्चे से कहा— 'राजा साहब के मुँह पर पाँच चपत जमाओ, मन्त्री की बात पर बच्चे ने ध्यान नहीं दिया और जैसे का तैसा ही खड़ा रहा । इस अपमान पर राजा को बहुत क्रोध आया और उसने बच्चे को हुक्म दिया कि मन्त्री के मुँह पर जोर से पाँच चाँटे लगाओ । बच्चा तुरन्त बढ़ा और उसने तड़ातड़ चाँटे लगा दिए ।

मन्त्री ने निश्चिन्ततापूर्वक कहा— राजन् ! मन्त्र शक्ति इस बच्चे की तरह है जिसे इस बात का विवेक रहता है कि किस का कहना मानना चाहिए, किस का नहीं । किस पर अनुग्रह करना चाहिए किस पर नहीं ।

उपयुक्त वस्तु ही माँ को अर्पित

रामकृष्ण परमहंस को दक्षिणेश्वर में पुजारी का स्थान मिल गया । ईश्वर भक्त को ईश्वर की पूजा-उपासना के अतिरिक्त और चाह ही क्या होती है ? गुजारे के लिये बीस रुपये बाँधे गये जो पर्याप्त थे ।

पन्द्रह दिन तो तब बीते जब मन्दिर कमेटी के सम्मुख उनकी पेशी हो गई और कैफियत देने के लिये कहा गया । एक के बाद एक कितनी ही शिकायतें उनके विरुद्ध पहुँच चुकी थीं । किसी ने कहा कि यह पुजारी कैसा ? स्वयं चखकर भगवान् का भोग लगाता है, फूल सूँघकर भगवान् के चरणों में अर्पित करता है । पूजा के इस ढंग पर कमेटी के सदस्यों को भी आश्चर्य हुआ आखिर उन्होंने एक दिन बुलाकर पूछ ही लिया क्यों रामकृष्ण इसमें कहाँ तक सत्यता है कि तुम फूल सूँघकर देवता पर चढ़ाते हो ?'

''मैं बिना सूँघे भगवान् पर फूल क्यों चढ़ाऊं ? पहले देख लेता हूँ कि उस फूल में कुछ सुगन्ध भी आ रही है या नहीं'' रामकृष्ण ने सफाई देते हुए कहा फिर तो दूसरी शिकायत भी सत्य होगी कि भगवान् को भोग लगाने से पहले अपना भोग लगा लेते हो वह दूसरा प्रश्न था ।

''मैं अपना भोग तो नहीं लगाता ।'' पर मुझे अपनी माँ की याद है कि वे भी ऐसा ही करती थीं जब कोई चीज बनातीं तो चखकर देख लेती थीं और तब मुझे खाने को देती थीं । मैं भी चखकर देखता हूँ पता नहीं जो चीज किसी भक्त ने भोग के लिए लाकर रखी है या मैंने ही बनाई है वह भगवान् के देने योग्य है भी या नहीं । रामकृष्ण परमहंस का सीधा उत्तर था ।

असन्तुलन की भरपायी

रामकृष्ण परमहंस के गले में कैंसर हो गया और वे उसका भारी कष्ट सहते हुए मरणासन्न स्थिति में जा पहुँचे ।

उनके एक भक्त ने कहा— आप भवानी से प्रार्थना क्यों नहीं करते जिससे वे आपका कष्ट दूर कर दें । उत्तर में उन्होंने कहा कि एक तो मैंने जीवन भर देना ही देना जाना है । माता को भी समर्पण किया । माँगने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई । अब चलते-चलते दानियों में से नाम कटाकर याचकों में गणना क्यों कराऊँ ? आत्म सम्मान क्यों गंवाऊँ ।

इसके अतिरक्त दूसरी बात यह है कि दुःखियों को अपना पुण्य फल देकर उनके कष्ट घटाता रहा जितना पुण्य जमा था उससे अधिक खर्च कर डाला । उस घाटे की भरपाई के लिए याचकों वाला कष्ट भार मुझे ही सहना होगा । विधि विधान मूल्य पाकर ही किसी को कुछ देता है । भले ही किसी की जेब से उसे चुकाया जाय। कैंसर कष्ट सहकर उसी असन्तुलन की भरपाई कर रहा हूँ । जो पीड़ितों को कष्ट मुक्त करने के लिए पेशगी खर्च किया था ।

नारीमात्र में मातृ दर्शन

सुधीर बोस रामकृष्ण परमहंस के मुँहलगे शिष्य थे । वे बिना संकोच के कई बार ऐसी बातें कह बैठते थे जिससे पीछे नीची आँखें करनी पड़ें । एक दिन इन्होंने परमहंस जी से पूछा— ''जब आप विवाहित ही हैं तो पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन का निर्वाह क्यों नहीं करते ?

परमहंस गम्भीर हो गये बोले— ''मैं नारी मात्र में मातृशक्ति का दर्शन करता हूँ ।'' शारदा माता भी उसी समुदाय में से एक हैं इसलिए मुझे माता तुल्य प्रतीत होती हैं । माता के साथ दम्पत्ति जीवन कैसे बने । सुधीर ने आँखें नीची करलीं । परमहंस की महानता का पहली बार अनुभव हुआ ।

ईश्वर की प्रतीति

केशव चन्द्र रामकृष्ण परमहंस के बड़े तार्किक शिष्य माने जाते हैं । रामकृष्ण जितने सीधे थे, केशव चन्द्र उतने ही तेज और अव्वल नम्बर के तार्किक । वे रामकृष्ण से भी तर्क करते रहते और अधिकांश समय यही सिद्ध करने की कोशिश करते कि ''कहाँ है ईश्वर ? किसने देखा है ?'' एक दिन तर्क इतनी जोरों से चल पड़ा कि शिष्यों की भीड़ इकट्ठी हो गई ।

रामकृष्ण की प्रत्येक बात को केशव चन्द्र काट देते थे । किन्तु देखते ही देखते बात उलटी हो गई । केशव चन्द्र बिल्कुल नास्तिकों जैसे वक्तव्य देने लगे ।

रामकृष्ण उठे और नाचने लगे । किन्तु केशव चन्द्र को बेचैनी होने लगी कि अब क्या करें ? यदि रामकृष्ण प्रतिवाद करें तो वाद विवाद आगे बढ़े । किन्तु वे तो हार कर केशव चन्द्र की बातें सुनकर नाचने लगते । धीरे-धीरे केशव चन्द्र के सभी तर्क चुक गये । अब केशव चन्द्र ने रामकृष्ण से पूछा कि ? तो फिर ! आप भी मानते हैं और मेरी बातों से सहमत है कि ''ईश्वर नहीं है ।''

रामकृष्ण ने कहा कि ''तुम्हें न देखा होता तो शायद मान भी लेता किन्तु तुम्हारी जैसी विलक्षण प्रतिभा जहाँ पैदा होती है तो बिना ईश्वर के कैसे होगी ? तुम्हें देखकर यह प्रमाण और पक्का हो गया कि ईश्वर जरूर है । ईश्वर निराकार है । वह तो प्रतिभा प्रतिभासम्पन्न प्रज्ञा के रूप में ही हो सकता है ।''

कहते हैं, केशव चन्द्र उस दिन तो भीड़ में से उठ कर चले गये । किन्तु फिर लौटे तो पक्के आस्तिक होकर और रामकृष्ण के ही होकर रहे ।

जगत जननी का ही सर्वत्र दर्शन

स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस तब २४-२५ वर्षीय नव-युवक थे। यद्यपि उनके क्रिया-कलाप सिद्ध पुरुषों के से थे तथा माता शारदा मणि के साथ रहते हुए भी वे ब्रह्मचारी ही थे— तथापि लोगों को उनके चरित्र की परीक्षा लेने की बात सूझी।

रानी रासमणि के जमाता श्री मथुरदास जी रामकृष्ण देव को लेकर मछुआ बाजार की एक सुन्दर वेश्या के यहाँ गये। वहाँ जाकर उन्हें तो एक ऐसे कमरे में बैठा दिया जहाँ आठ-दस नव-युवतियाँ अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य एवं आवेगों के साथ उपस्थित थीं। स्वामी जी को पहुँचाकर वे स्वयं वहाँ से चले गये— तब कहीं जाकर परमहंस देव की समझ में सारी बात आई। सुन्दरियाँ अपने हाव-भाव तथा उत्तेजक मुद्राओं द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगीं।

बचाव का कोई उपाय न देख, परमहंस देव ने 'माँ' 'माँ' की रट लगादी। और "आनन्दमयी माँ" कहकर सभी को प्रणाम करने लगे। उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु उमड़ने लगे और वे शीघ्र ही समाधि अवस्था में पहुँच गये।

सभी नर्तकियाँ यह देखकर घबरा गईं और अपना उद्देश्य भूल गईं। थोड़ी देर बाद वे प्रकृतिस्थ हुए। सामने मथुरा बाबू लज्जावनत खड़े थे। सिर उठाये भी ऊपर न उठता था।

सत्संग की शक्ति

रामकृष्ण परमहंस की धर्म-पत्नी शारदामणि महिलाओं का अलग सत्संग चलाती थीं। उनमें अधिकांश धार्मिक प्रकृति की और सम्भ्रान्त घरों की महिलाएँ आती थीं।

एक महिला सत्संग में ऐसी भी आने लगी जो वेश्या के रूप में कुख्यात थी। इस प्रकार अन्य महिलाएँ नाक-भौं सिकोड़ने लगीं और उसे न आने देने के लिए माताजी से आग्रह करने लगीं।

इस पर माताजी ने कहा— सत्संग गंगा है। वह मछली, मेढकों के रहने पर भी अशुद्ध नहीं होती। तनिक-सी मलीनता से ही जो अशुद्ध हो जाय वह गंगा कैसी ? तुम लोग सत्संग की शक्ति पहचानो और अपने को गंगा के समतुल्य मानो।

यदि पात्र सोने का हो तो

तोतापुरी जी ने अपने चमकते हुए पीतल के लोटे की तरफ संकेत करते हुए कहा "देखिए, यह लोटा कैसा चमचमा रहा है। यदि इसे रोज माँजा न जाय तो इस पर मैल चढ़ जायेगा। यही दशा मन की भी है। यदि ध्यान धारण आदि द्वारा मन को निरन्तर स्वच्छ न किया जाय, तो उस पर भी मैल चढ़ जायेगा और उसकी दमक का स्थान मलिनता ले लेगी।"

परमहंस देव ने हँसकर कहा "किन्तु महाराज ! यदि यही लोटा सोने का हो— तब तो मलिन होने की कोई सम्भावना नहीं" तोतापुरी समझ गये, परमहंस का मन वास्तव में स्वर्ण कांति जैसा ही देदीप्यमान तथा अपरिवर्तनशील है।

OOO

धार्मिक नवचेतना के उन्नायक प्रख्यात संत-महात्मा

सन्त रैदास की साधना

'सन्त काल' उस समय को कहा जाता है जिन दिनों यवन काल के उत्पातों से जनता किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। आन्तरिक फूट, आदर्शों में विडम्बना का समावेश, संगठन का अभाव आदि कितने ही कारण ऐसे आ जुटे थे कि बहुसंख्यक जनता मुट्ठी भर विदेशी विधर्मियों द्वारा बुरी तरह पद-दलित की जा रही थी। उत्पीड़न और अपमान के इतने कडुए घूँट आये दिन पीने पड़ रहे थे कि चारों ओर अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ दीख ही न पड़ता था। लोग हताश होकर पराजित जाति जैसी हीनता को स्वीकार करने लगे थे। लँगड़ा, लूला प्रतिरोध सफल न हो सका तो उसे ईश्वरीय कोप मान कर चुप बैठे रहने में ही लोग अपनी भलाई सोचने लगे। ऐसी परिस्थितियों में आशा की एक नवीन किरण के रूप में भारत में 'सन्त मत' पनपा।

नानक, गुरु गोविन्दसिंह, रामानन्द, कबीर, ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, तुलसीदास, सूरदास, रामदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, कबीर, दादू, रैदास, चैतन्य आदि अनेक सन्त-महात्मा उन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न हुए और उन्होंने धर्म और ईश्वर पर से डगमगाती हुई निराश जनता की आस्था को पुनः सजीव करने का सफल प्रयत्न किया। रैदास इसी माला की एक उज्ज्वल मणि थे।

सन्त रैदास हरिजन कुल में उत्पन्न हुए। उनके पिता चमड़े का व्यापार करते थे। जूते भी बनाये जाते थे। रैदास बचपन से ही बड़े उदार थे। घर में सम्पन्नता थी। वे सोचते थे कि सम्पन्न लोगों को अपनी सम्पदा में दूसरे अभाव-ग्रस्तों को भी भागीदार बनाना चाहिए अन्यथा संग्रह किया हुआ अनावश्यक धन उनके लिए विपत्ति रूप ही सिद्ध होगा। वे प्रतिदिन एक जोड़ा जूता अपने हाथ से बनाकर असमर्थों को दान करते, जिससे वे कुश-कटकों और शीत-धूप से पैरों को बचाते हुए अपना कार्य करते रह सकें।

यह उदारता युवक रैदास के पिताजी को पसन्द न आई। दूसरे अन्य असंख्य लोगों की तरह वे अपने बेटे को 'कमाऊ' देखना चाहते थे। कमाऊ होना ही तो सब से बड़ा गुण माना जाता है। पिता ने उन्हें रोका, न माने तो बिना छप्पर का एक बाड़ा रहने के लिये देकर उन्हें और उनकी स्त्री को घर से निकाल दिया। पराई कमाई पर निर्भर रहने की अपेक्षा परिश्रमपूर्वक स्वावलम्बी जीवन रैदास को पसन्द आया और वे पूरे परिश्रम तथा मनोयोगपूर्वक बढ़िया जूते बनाने लगे। इसी से अपना गुजारा करते और एक जोड़ी जूता नित्य दान भी करते।

गृहस्थ रहते हुए भी मनुष्य महात्मा हो सकता है इसका अनुकरणीय उदाहरण रैदास ने प्रस्तुत किया और वे उसमें पूर्ण सफल भी रहे। गुजारे के लिए आठ घण्टा श्रम करने से काम चल सकता है। आठ घण्टा नित्य-कर्म और भोजन विश्राम के लिए पर्याप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त आठ घण्टा समय लगभग सभी के पास शेष रहता है। प्रबुद्ध लोग उसका सदुपयोग करके अभीष्ट लक्ष्य की ओर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं जबकि प्रमादी लोग इस मूल्यवान समय को बर्बाद करके मौत के दिन ही पूरे कर पाते हैं। रैदास प्रबुद्धों की श्रेणी में थे। उन्होंने बचे हुए समय को तप और साधना में लगाने का क्रम बनाया। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित अगणित लोग उनके पास आते और उनकी शिक्षाएँ प्राप्त करके अपना पथ निर्धारित करते। उनके घर में सत्संग का क्रम चलता ही रहता। जूते बनाते हुए भी वे धर्म चर्चा करते रहते।

''मन चंगा तो, कठौती में गंगा'' कहावत किसने नहीं सुनी ? वस्तुतः आध्यात्मिकता के ठोस लाभ प्राप्त करने के इच्छुकों के लिये यह एक वाक्य ही सिद्धि दाता मंत्र है। इस मंत्र के मंत्र दृष्टा थे हरिजन संत रविदास— उन्हें कहीं-कहीं रैदास भी कहते हैं।

बनारस की बात है एक दिन एक स्त्री गंगा स्नान करने गई। वहाँ उसके हाथ का एक कंगन पानी में खिसक गया। स्त्री बड़ी दुःखित हुई। संत रविदास, जो जन्म से चर्मकार थे, के विरोधियों को इस बात का पता चला तो वे इसी बात को लेकर संत से झगड़ा करने जा पहुँचे। प्रतिक्रियावादियों ने सन्त रविदास के पास जाकर कहा— चर्मकार होकर आप अपने आप को सच्चा भक्त और गंगा जी का सेवक कहते हैं तो आज अमावस्या के दिन भी गंगा स्नान करने क्यों नहीं गये ? सन्त रविदास बोले— ''मन चंगा तो कठौती में गंगा'' अरे भाई व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो तो गंगा अपने पास ही है। धार्मिक कर्मकाण्ड का मूल मन्तव्य अपनी भावनाओं को निर्मल और पवित्र बनाये रखना है यदि भावनायें शुद्ध हैं तो (अपने बगल में रखे कठोते के पानी की ओर संकेत करते हुये) इस कठौतें में ही गंगा जी है।

विरोधियों को बात लग गई। बोले— तुम तो अपने आप को बहुत शुद्ध और पवित्र मानते हो, तुम्हारे लिये गंगा यहीं है तो इस बेचारी स्त्री का कंगन कठोते से ही निकाल कर दे दीजिये न ? कहते हैं सन्त रविदास ने कठौते में हाथ डाला और उस स्त्री का कंगन उसी में से निकाल कर दे दिया ?

घटना कहाँ तक सच है इस विवाद में पड़ने की अपेक्षा सन्त रविदास के जीवन की यह घटना यह बताती है कि आध्यात्मिक सिद्धियों का मूलाधार पवित्र हुई आत्मा और निर्मल मन ही है यदि अन्तःकरण अपवित्र और अशुद्ध है तो व्यक्ति ने भले ही जन्म किसी

अतिशय सनाढ्य कुल में लिया हो पर वह उन विशेषताओं एवं महत्ताओं से वंचित ही बना रहेगा जो एक सच्चे अध्यात्मवादी में होनी चाहिये।

संत रविदास का जन्म वाराणसी में सं. १४५६ विक्रमी में चमार वंश में हुआ उनके पिता का नाम रघुजी और माता का नाम विनिया था। हिन्दू जाति का अंग होने पर भी जिस तरह अन्य अनेक हरिजन जातियों को सवर्णों के आगे दबकर रहना पड़ता है इस परिवार का जीवन भी कुछ ऐसा ही था। बनारस जो कि ब्राह्मण वाद का गढ़ माना जाता है जहाँ ''**जन्मना जायतो ब्राह्मणाः**'' की भ्रान्त धारणा आज भी सवर्णों के प्रमाद और मिथ्या गर्व का कारण बनी हुई है। इस पूर्वाग्रह ने जहाँ प्रमाद में पड़े सवर्णों को आध्यात्मिकता के महत्त्वपूर्ण लाभों से वंचित रख दिया वहाँ जातीय संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया। हजारों हरिजन ईसाई बन गये, हजारों बौद्ध तथा मुसलमान, हिन्दू-हरिजनों की उपेक्षा न हुई होती तो आज पाकिस्तान नहीं होता। दुर्भाग्यवश तब यह बात किसी की समझ में नहीं आई थी, आज भी लोग नहीं समझ रहे— ऐसे समय में संत रविदास का जन्म एक प्रकार से परमात्मा की ओर से स्थापित उदाहरण था कि **''जाँति पाँति पूछे नहीं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय''** अर्थात् भगवान् को हर कोई प्राप्त कर सकता है वहाँ छूत-अछूत का कोई भेद नहीं, यह मात्र मानवीय संकीर्णता है।

रविदास का मन बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिकता की ओर मुड़ता जा रहा था। माता-पिता ने उनकी शादी करनी चाही, पहले तो रविदास ने इन्कार किया और अपना जीवन सेवा साधना में बिताने का निश्चय किया पर माता-पिता इतने ऊँचे आदर्शों की बात नहीं समझते थे, समझते भी थे तो उन्हें एक बात मालूम थी, कि अपने अनेक ऋषि-मुनि भी गृहस्थ थे और गृहस्थ में रह कर ही उन्होंने अनेक सिद्धियाँ सामर्थ्य प्राप्त की थीं। सो उन्होंने कहा— तुम्हें भी सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुये भगवान् को प्राप्त करना चाहिये। रविदास विचारशील थे उन्होंने इस तर्क को मान लिया। माता-पिता ने एक समृद्ध परिवार की कन्या लोणा के साथ उनका विवाह कर दिया। विवाह सामान्यतः आत्मोन्नति का बाधक माना जाता है पर संत रविदास ने अपने आप को प्रस्तुत करके यह दिखा दिया कि बाधक तो मनुष्य की कामनायें और वासनायें हैं। यदि मनुष्य अपनी तृष्णाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को नियंत्रण में नहीं रख सकता तो जो आसक्ति, मोह और मिथ्याचार वह अपने कुटुम्ब के साथ कर सकता है वही वह समाज के अन्य व्यक्तियों में आरोपित कर सकता है। क्योंकि शरीरयापन के लिये उसे अन्ततः मनुष्य समाज पर ही तो निर्भर रहना पड़ेगा।

सन्त रविदास १२० वर्ष जिये। जीवन के आखिरी प्रहर तक धर्मपत्नी लोणा उनके साथ रहीं पर उन्होंने अपने जीवन को इस तरह संयमित, सुव्यवस्थित बनाया कि पारिवारिक जीवन में भी सुख-शान्ति का अभाव नहीं होने पाया और आत्मोन्नति में भी कोई बाधा नहीं पड़ी। वे कहा करते थे, असली वस्तु तो मनो-निग्रह है यदि मन को आत्मा का गुलाम बना लिया जाये तो घर-बाहर सर्वत्र वैराग्य ही वैराग्य है यदि उसे इन्द्रियों का दास बना रहने दिया जाय तो चाहे कोई उच्च भौतिक और आत्मिक सम्पदायें ही लेकर क्यों न जन्मा हो उसका पतन ही सुनिश्चित है।

रविदास का जीवन संघर्षों से प्रारम्भ हुआ और संघर्षों में ही बीता उससे वे न तो निराश हुये न सत्य पर से निष्ठा डिगाई। ''हरिजन को भगवान् की भक्ति का अधिकार नहीं है।''— इस भ्रान्त धारणा वाले सवर्णों ने उन्हें प्रारम्भ से ही यातना देना प्रारम्भ किया। सवर्णों के इस अनुचित दबाव का लाभ उस समय मुसलमानों को मिलता था। वे बहकाकर अछूतों को मुसलमान बना लेते थे। संत रविदास एक ओर अपने लोगों को समझाते और कहते तुम सब हिन्दू जाति के अभिन्न अंग हो तुम्हें दलित जीवन जीने की अपेक्षा मानवीय अधिकारों के लिये संघर्ष करना चाहिये— दूसरी ओर वे कुलीनों से टक्कर लेते और कहते वर्ण-विभाजन का सम्बन्ध परमार्थ से नहीं, मात्र सामाजिक व्यवस्था से है। उनकी इस सच्चाई में अटूट निष्ठा का ही फल था, कि रामानन्द जैसे महान् सवर्ण सन्त एक दिन स्वयं ही उनकी कुटिया में पधारे शिष्य गुरुओं की खोज किया करते हैं पर वहाँ गुरु स्वयं ही सत्पात्र शिष्य को खोजता हुआ उसके घर पहुँचा। उन्हें दीक्षा देकर न केवल उन्हें वरन् उनके आदर्शों की प्रामाणिकता को खरा सिद्ध कर दिया।

सन्त रविदास गुरु प्रदत्त मंत्र और उपदेश के सहारे आत्म-विकास करने लगे। उनके जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाओं के प्रसंग सुने जाते हैं। सन्त रविदास कथाओं के माध्यम से लोगों को धर्मोपदेश दिया करते थे। उनकी सीधी-सच्ची मधुर वाणी में अमृतोपम उपदेश सुनने के लिये हजारों लोग एकत्रित होते, उसमें से अधिकांश सवर्ण होते। एक दिन एक सेठ जी भी उपस्थित हुये। कथा के अन्त में प्रसाद वितरण हुआ। भगवान् के प्रसाद को ठुकराना पाप है इस भय से सेठजी ने प्रसाद हाथ में तो ले लिया पर संत रविदास हरिजन थे उनके हाथ के प्रसाद से उन्हें घृणा हो आई बाहर आकर उन्होंने प्रसाद एक ओर फेंक दिया उधर एक कोढ़ी बैठा था, प्रसाद उसके शरीर पर गिरा और वह कोढ़ी कुछ ही समय में चंगा हो गया जब कि अपनी ही घृणा और आत्महीनता के शिकार सेठ जी स्वयं ही उस कठिन रोग से ग्रस्त हो गये, अन्त में उन्हें पुनः संत की शरण में जाना पड़ा। मन की बात जानने वाले रविदास ने सेठ जी से कहा वह जल तो मुल्तान गया। अर्थात् अब वह प्रसाद मिलना कठिन है पर पीछे दया वश उन्होंने सेठ जी को भी अच्छा कर दिया।

इसी प्रकार उनके आह्वान पर एक भगवान् की मूर्ति स्वयं ही उनके सम्मुख प्रकट हुई— यों यह चमत्कार आज के वैज्ञानिक युग में कोई महत्त्व नहीं रखते पर भावनाओं की शुद्धता और आत्मा के प्रताप से परिचित व्यक्ति ऐसे तथ्यों को नकारते भी नहीं— अध्यात्म एक सर्वसमर्थ सत्ता है उस शक्ति के लिये संसार का कोई भी चमत्कार असंभव नहीं। विशाल ब्रह्माण्ड में अगणित ग्रह-नक्षत्र अपनी-अपनी मर्यादा में चल रहे हैं। यह सब आध्यात्मिकता का ही तो चमत्कार है। फिर सन्त रविदास ने इतना कर दिखाया हो तो उसमें क्या आश्चर्य ?

इस प्रकार धर्म प्रचार से एक ओर जहाँ उनकी ख्याति बढ़ रही थी दूसरी ओर उनके विरोधी भी बढ़ते जाते थे । ईर्ष्या की डाकिन ने मानवीय प्रगति में कितनी बाधा पहुँचाई है, सत्पुरुषों और निर्दोषों को कितना सताया है, अकारण कितने ही लोगों को दूसरों की उन्नति देख कर जल-भुन कर खाक होने के लिए विवश किया है, इसे देखते हुए यही प्रतीत होता है कि इस की सर्पिणी से बढ़कर और कोई व्यापक बुराई शायद ही मनुष्य का अहित करने में समर्थ हो सकी हो । उच्च वर्ण कहलाने वाले लोगों को रैदास की प्रतिष्ठा असह्य लगती, वे उनसे मन ही मन कुढ़ते, निन्दा, व्यंग और उपहास करते तथा तरह-तरह के लांछन लगाने में पीछे न रहते । रैदास इस पर हँस भर देते और कहते हाथी अपने रास्ते चला जाता है उसे किसी के धूलि फेंकने या चिढ़ाने से विचलित होने की जरूरत नहीं होती । धैर्य, साहस और सच्चाई जिसके साथ है उसका सारा संसार विरोधी होकर भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता । उन्होंने अपना धर्म-प्रचार जारी रखा ।

उन दिनों उच्च वर्ण के लोग भी आतंक से डर कर और प्रलोभन में खिंचकर धड़ाधड़ विधर्मी बन रहे थे, फिर छोटे वर्ण वालों के लिए तो उस ओर लुढ़कने लगना और भी सरल था । छोटी कहलाने वाली जातियाँ और भी तेजी में विधर्मी बनने लगी थीं । शासन का प्रलोभन और उच्च वर्ण वालों का तिरस्कार यह दुहरा दबाव उनके मन को डॉवाडोल करने लगा था । इन परिस्थितियों में सन्त रैदास ने हिन्दू धर्म की महत्ता, आस्तिकता एवं ईश्वर विश्वास की आस्था को बढ़ाने के लिए कार्य आरम्भ किया और असंख्यों हरिजन उस प्रेरणा से प्रभावित होकर विचलित होने से बच गये । उन्होंने अपनी वाणियों में अपने आदर्शों का भली-भाँति प्रतिपादन किया है— अपना धर्म छोड़ कर विधर्मी बनने के लिए लोगों को उन्होंने कहा—

हरि-सा हीरा छोड़ि के, करै आन की आस ।
ते नर नरकै जायेंगे, सत भाषै रैदास ॥

विधर्मियों की पराधीनता के लिए भर्त्सना करते हुए उन्होंने भारतीय-समाज को ललकारा और कहा—

पराधीन का दीन क्या, पराधीन बेदीन ।
पराधीन पर दास को, सब ही समझैं हीन ॥

सन्त रैदास सच्चे ईश्वर भक्त् थे । वे पूजा किये बिना जल तक ग्रहण न करते थे । आपने अपने ही स्थान पर भगवान् का मन्दिर बनाया जिसमें निरन्तर भजन, कीर्तन और उपदेश होते रहते थे ।

उन्होंने अपने गुरभाई कबीर, धन्ना, पीपा आदि के साथ मिलकर सारे भारत का भ्रमण किया और निराशाग्रस्त जनता को आशा का सन्देश पहुँचाया । ईश्वर पर विश्वास और धैर्य रख कर आशाजनक भविष्य के लिए कमर कस कर काम करने का मार्ग बताया । उनके अनेकों शिष्य हुए जिनमें प्रसिद्ध भक्तनारी मीराबाई भी एक थीं । ईश्वर भक्ति के माध्यम से सन्त काल के महात्माओं ने संगठन, आशा और उत्साह की जो धारा प्रवाहित की वह उन परिस्थितियों में सर्वथा उपयुक्त ही थी । खुले प्रतिरोध का कोई कार्यक्रम तो उन दिनों चल नहीं सकता था । सन्त मत के माध्यम से सिख गुरुओं ने कितना बड़ा काम किया यह सर्वविदित है । सीधा संघर्ष न सही संघर्ष की भूमिका में सभी सन्तों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योग रहा है । सन्त रैदास ने हरिजन कुल में जन्म लेकर पिछड़े लोगों में धैर्य और स्थिरता की जो भावना उत्पन्न की उससे हिन्दू-धर्म की कितनी भारी सेवा सम्भव हुई आज उसका मूल्यांकन कर सकना भी हमारे लिए कठिन है ।

अध्यात्म के सच्चे प्रतिनिधि—संत तुकाराम

यों तो समाज में साधु-संतों के रूप में हजारों रंगे स्यार देखने में आते हैं और हजारों अनपढ़, मूर्ख और गँवार उनकी पूजा करते देखे जाते हैं । यह रँगे स्यार इन अन्धविश्वासी मूर्खों की श्रद्धा का लाभ उठाकर खूब गुलछर्रे उड़ाते हैं ।

लोग इन रंगे स्यारों की हजारों अवांछनीय हरकतें देखते हैं किन्तु फिर भी उनकी पूजा-अर्चना करने में संकोच नहीं करते । इसका कारण यह नहीं है कि अंध श्रद्धालुओं को उनसे कोई लाभ है और भला ये धूर्त साधु संन्यासी उनको लाभ पहुँचा भी क्या सकते हैं ? उलटे उनका शोषण कर कुछ हानि ही पहुँचाते हैं । इसका कारण वास्तव में यह है कि समाज को सच्चे साधु-संन्यासियों ने इतनी सुख-शांति पहूँचाई है कि देश में उनके वेष तथा नाम की पूजा होने लगी है ।

समाज और संसार के हित साधन करने और उसकी तापतप्त आत्मा को शीतल करने के लिए, उसे कुमार्ग से सुमार्ग पर चलाने के लिए जिन महात्माओं ने अपने सर्वस्व को, सुख-सुविधा को, परिवार-परिजनों को त्याग कर तपस्यापूर्ण जीवन अपनाकर अपने को तिल-तिल बलिदान कर दिया है, भला वे साधु-महात्मा जन-आदर के पात्र क्यों न बनते ? अब यह एक अन्य अभिशाप है कि उनके नामों और कामों का लाभ उठा कर, उन जैसा वेष बनाकर और बातें करके अपना वैयक्तिक स्वार्थ साधन करते हैं, और अविवेकी जन-समुदाय उनकी परीक्षा किये बिना, उनके कर्तृत्त्वों को देखे बिना उनकी अंध भक्ति करने लगता है ।

महाराष्ट्र के संत तुकाराम एक ऐसे ही सर्वस्व-त्यागी महात्मा थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज का हित करने में लगा दिया । उनके लिखे हुए अभंग ताप-तप्त जन-मानस को अपने चन्दन जैसे शीतल भावों से शांत करते हैं । विषाद, निराशा और असहायता के समय उनको प्रकाश देकर जीवन में आगे का मार्ग दिखलाते हैं । कौन कह सकता है कि संत तुकाराम जैसे महात्माओं ने अपने गद्य-पद्यात्मक उपदेशों का संग्रह यदि समाज को न दिया होता तो उन परिस्थितियों में समस्त जन-साधारण की क्या दशा हुई होती ?

वैसे संसार के किसी भी समाज में कवितायें रचने वालों तथा उपदेश देने वालों की कभी कमी नहीं रही है, किन्तु संतों को छोड़ कर अन्य किसी की वाणी ने दुःखियों का दुःख दूर नहीं कर पाया ।

भाषा के उन्हीं शब्दों में अन्य कवि तथा उपदेशक भी अपने विचार व्यक्त किया करते हैं, जिनमें कि एक संत। तब क्या बात है कि सन्तों की वाणी का प्रभाव जन-मानस पर ही नहीं बल्कि उसकी आत्मा को स्थायी रूप से प्रभावित करता है और परम्परागत अपना प्रभाव बनाए रहता है। बात यह नहीं है कि जन-साधारण किसी अन्य कवि अथवा उपदेशक की वाणी की जान-बूझ कर उपेक्षा करते हैं अथवा हठात् उन पर विश्वास नहीं करना चाहते।

बात वास्तव में यह है कि जहाँ अन्य लेखक अथवा वक्ता अपने निवास पर वास करते हुए ही कल्पना के बल पर रचनायें करके जनमानस को प्रभावित करना चाहते हैं, साथ ही अपनी कृतियों का धन अथवा मान सम्मान के रूप में कुछ मूल्य भी चाहते हैं। उनकी कृतियों में उनका अपना व्यक्तित्व प्रधान रहता है और उनके सोचने, समझने तथा लिखने का सार बहुधा बौद्धिक ही रहता है। उनमें आत्मा की पुकार तथा मन की कसक बहुत कम रहती है।

इसके विपरीत एक संत संसार का दु:ख दूर करने के लिए अथवा दु:ख पीड़ित मानवता को देखकर विरक्त होकर अपना सारा सुख, सारी सुविधा, परिजन तथा प्रियजनों को त्याग कर चल देता है और जन-साधारण के बीच पाप-ताप तथा परितापों से पीड़ित मानवता के क्लेशों को अपनी आत्मा में सच्चाई के साथ अनुभव करता है और उसकी पवित्र आत्मा से जो शब्द अनायास निकल पड़ते हैं वही अकृत्रिम शब्द उसकी रचनायें अथवा उपदेश बनकर जन-मानस में घर बना लेते हैं, अपना एक स्थायी प्रभाव डालते हैं। यही कारण है कि लोग अन्य कवियों की कला-कृतियों की उपेक्षा संतों की टूटी-फूटी वाणी में की गई सीधी-सादी रचनाओं को अधिक मात्रा में कंठहार बना लेते हैं। किसी आपत्ति, दु:ख अथवा निराशा के समय कलापूर्ण कृतियों के स्थान पर इन्हीं का सहारा लेते हैं।

संसार के दु:खाग्नि में दग्ध जीवों के लिए शांति-शीतल भागीरथी लाने वाले संतों में संत तुकाराम का विशेष स्थान है। छत्रपति शिवाजी के निर्माता समर्थ गुरु रामदास का जो स्थान महाराष्ट्र में है उससे कम आदरपूर्ण स्थान संत तुकाराम का नहीं है। यद्यपि उनके दिवंगत होने के बाद उनके भक्तों तथा अनुयायियों ने उनके साथ अनेक चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियों को जोड़ कर उन्हें अतिमानव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है कि संत तुकाराम कोई चमत्कारी अथवा अलौकिक पुरुष थे। हाँ यदि वे अतिमानव थे तो इस अर्थ में कि उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर अपने को समाज की सेवा करने में तिल-तिल गला दिया। संसार की सुखशांति के लिए ही उन्होंने भगवान् की भक्ति की और उसी के लिए जिये तथा मरे। उन्हें अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति, सिद्धि, समृद्धि अथवा मोक्ष आदि की कोई इच्छा नहीं थी।

संत तुकाराम का जन्म पूना में इन्द्रायणी नदी के तट पर देहु नामक ग्राम में हुआ। इनके जन्म काल के विषय में मतभेद पाया जाता है। तब भी कतिपय विश्वस्त विद्वान् इनका जन्म सम्वत् १५३० ई० अर्थात् शाके १५९० बतलाते हैं। यद्यपि इनका जन्म शूद्र कुल में बतलाया जाता है तथापि इन्होंने अपने तप-त्याग तथा परमार्थ साधन से अपने में ब्राह्मणत्त्व उत्पन्न कर महाराष्ट्र में अतुल सम्मान प्राप्त किया।

पहले-पहल जब इन्होंने भगवद्भजन-कीर्तन तथा पूजा-पाठ प्रारम्भ किया, गाँव के रूढ़िवादी तथा संकीर्ण दृष्टिकोण वाले सवर्णों ने इनका घोर विरोध किया। इनको तरह-तरह के त्रास दिये। किन्तु भगवद्भजन का रस अनुभव कर लेने वाले तुकाराम तनिक भी विचलित न हुए। वे रूढ़िवादियों का तिरस्कार तथा दण्ड सहन करते हुए भी भगवान् के भजन-कीर्तन में लगे रहे। उन्होंने न तो अपने पर किये जा रहे अत्याचार का प्रतिवाद किया और न किसी विरोधी की निन्दा की। संत तुकाराम अच्छी तरह समझते थे कि रूढ़िवादियों के पास विवेक की कमी होती है। वह परम्परा के पालन में बुद्धि से काम न लेकर अपने अंधविश्वासों से प्रेरित रहा करते हैं। उन्हें पूरा विश्वास था कि आज अज्ञानवश जो लोग उनके सत्कर्म का विरोध करते हुए दण्ड और क्लेश दे रहे हैं एक दिन उनको सद्बुद्धि प्राप्त होगी और ये लोग अपने किये पर पछतायेंगे।

संत तुकाराम सब कुछ शांतिपूर्वक सहते रहे, यहाँ तक कि कुरीतिवादियों का अत्याचार उनको अपने ध्येय पथ से विचलित न कर सका तो उन्होंने जबरदस्ती उन्हें गाँव से बाहर निकाल कर गाँव में प्रवेश वर्जित कर दिया। इस अकारण निर्वासन का भी उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया। बल्कि गाँव के बाहर एक शिला पर बैठे हुए तेरह दिन तक भगवद्भजन करते रहे।

सन्त तुकाराम का यह घोर तप देखकर विरोधवादियों का आसन हिल गया और उन्होंने सन्त तुकाराम को एक सच्चा महात्मा मानकर अत्याचार करना बन्द कर दिया और गाँव में प्रवेश का प्रतिबन्ध उठा लिया।

भजन के प्रभाव से भगवान् की यह अनुकम्पा देखकर उनका ध्यान और भी अधिक परमात्मा की ओर लग गया। इधर ज्यों-ज्यों वे भगवान् में तन्मय होते गये त्यों-त्यों हृदय में अहिंसा, सत्य तथा जन-सेवा के भाव बढ़ते चले गये। जिससे दीन-दु:खियों की सक्रिय सेवा करना उनके भगवद्भजन का एक विशेष अंग बन गया। अब उन्होंने अपने परमार्थ चिन्तन को दीन-दु:खियों की सेवा करने में क्रियात्मक रूप दे दिया। वे राह चलते बटोहियों के सिर का बोझ अपने सिर पर ले लेते और उनको उनके गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देते। किसानों के खेतों की रखवाली करते, उन्हें खेत जोतने, बोने में मदद करते। किसी के बैलों तथा किसी की गायों के लिए घास काट लाते और अपने हाथ से बड़े प्रेम से खिलाते। तीर्थ-यात्रियों के सूजे हुए पैरों को अपने हाथ से धोते और घण्टों तक उनकी सिकाई करते रहते। वे पैदल गाँव-गाँव की यात्रा करते और जहाँ भी किसी रोगी, अपाहिज अथवा अनाथ, दीन-दु:खी को देखते वहीं रम जाते और दिन-रात उनकी सेवा-सुश्रूषा करते।

अपने इस प्रकार के सेवा कार्यों से सन्त तुकाराम बड़े ही जन-प्रिय बन गये। अब ग्रामवासी दिन-भर का अपना काम करने के बाद

उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ जाते, उनके उपदेश सुनते और मिलकर कीर्तन भजन करते ।

संत तुकाराम के सामूहिक कीर्तन-भजनों का इतना प्रभाव पड़ा कि ग्राम-ग्राम के अपने आपसी झगड़े खत्म हो गये । लोग मिलजुल कर एक-दूसरे की सहायता करने लगे । सभी जाति तथा वर्णों के लोग उनके पास आते, भ्रातृत्त्व भाव से भरकर मिल-जुल कर कीर्तन करते । उनमें ऐसा प्रेम उत्पन्न हो गया कि पूरे के पूरे गाँव एक परिवार की तरह दीखने लगे । जहाँ पहले लड़ाई-झगड़े होते रहते थे वहाँ अब प्रेम की गंगा बहने लगी ।

संत तुकाराम लोगों को भक्ति का उपदेश देते, त्याग और वैराग्य की प्रेरणा करते । किन्तु उनके त्याग का मार्ग निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति था । वे कभी किसी को घर-बार त्याग कर सन्त होने के लिए नहीं कहते और न कभी इस बात की प्रेरणा करते कि वे जीवन के आवश्यक कर्त्तव्य को त्याग कर केवल भजन, कीर्तन में ही लगे रहें । उन्होंने लोगों को परिश्रम और पारस्परिकता का महत्त्व समझाया और कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान बनने की प्रेरणा दी ।

धीरे-धीरे तुकाराम की कीर्ति पूरे महाराष्ट्र में फैल गई । एक बार छत्रपति शिवाजी उनके दर्शनों के लिए आये और उनका कीर्तन सुनकर सारा राज-काज छोड़कर वैरागी होने को तैयार हो गये । किन्तु सन्त तुकाराम ने उन्हें प्रवृत्ति मार्ग का सच्चा स्वरूप समझाकर अपना कर्त्तव्य करते रहने की प्रेरणा दी । वे जानते थे कि निवृत्ति एक विशेष प्रकार के संस्कारवान लोगों के लिए ही सम्भव है । साधारण स्थिति के लोग तो निवृत्ति-मार्गी बनकर और भी अधिक भटक जाते हैं ।

इस प्रकार तेतालीस वर्ष की आयु तक महाराष्ट्र में एक नवजीवन का जागरण कर के एक दिन स्वयं कीर्तन करते-करते परम धाम चले गये ।

संत तुकाराम का जीवन परदुःखकातरता एवं करुणा से लबालब भरा था । घटना १६३२ की है अकाल का वह चौथा वर्ष था । चार वर्ष से वर्षा ऋतु में भी सूर्य उसी तरह चमकता था जैसे चैत-वैशाख में । सुबह से ही सूरज की तीखी किरणें लोगों के चेहरों को झुलसाती और पेट की भूख तल को निचोड़े डालती थी जैसे पानी में भिगोये कपड़े को सुखाने के पूर्व धोबी निचोड़ देता है । किसान नंगे आकाश की ओर सूनी आँखों से ताकते रह जाते— शायद कोई बदली उठे और बरसने लगे पर बदली तो क्या धुआँ भी उठता नहीं दिखाई देता था । धुआँ उठे भी तो कैसे, किसी के घर में अनाज के थोड़े से दाने होते तो कोई पकाता भी । लोग गाँव से निकल कर आस-पास के जंगलों में जाते और कन्दमूल ढूँढ़ते । कहीं मिल जाते तो उन्हें ही अपने कमजोर दाँतों से होले-होले चबा लेते ।

पूना के पास देहू नाम का एक गाँव, उस गाँव में थी एक साहूकार की दुकान । साहूकार कहीं दूर देश से थोड़ा अनाज लाया, एक ही दिन में सारा अनाज बिक गया । बिक क्या गया— लोगों के पास कुछ था तो उसे लेकर पहुँच गये साहूकार के पास और जितना हिस्से में आया उतना अनाज उठा लाये । साहूकार भी कितना उदारमना था । उसने अकाल के इन दिनों में अपने घर भरने की बात नहीं सोची थी, बात सोची थी कि गाँव के प्रत्येक व्यक्ति तक उसके हिस्सा का अनाज पहुँच जाये । चाहता तो वह ऐसे समय में खूब पैसा लूट सकता था । पर उसके सामने अपनी सम्पन्नता का आकर्षण फीका पड़ गया था, भूख से बिलबिलाती आँखों का सूनापन देखकर उसने गाँव भर में कहलवा दिया था कि साहूकार के यहाँ अनाज आया है । सभी लोग पहुँच जायें और अनाज ले जायें ।

जिनके पास कुछ था, वे तो कुछ लेकर पहुँच गये थे । जिनके पास कुछ नहीं था उन्हें साहूकार की दुकान पर जाने में संकोच हो रहा था, पर भूख हर तरह का संकोच तोड़ देती है, उसकी आँच में काँच की तरह स्वाभिमान भी चटख जाता है । सो जिनके पास कीमत चुकाने के लिए नहीं था वे भी साहूकार की दुकान पर पहुँच गये और साहूकार ने उन्हें निराश भी नहीं किया । इस प्रकार आनन-फानन में दुकान का सारा अनाज उठ गया । तब एक स्त्री आती है— साहूकार की ओर निहारती है । उसकी आवाज भी नहीं निकल रही है । पेट में अन्न नहीं है तो बोलकर कहे भी कैसे ? और साहूकार की आँखों में विवशता तैर आती है ।

उस विवशता को देखकर स्त्री की आँखों की याचना और भी घनीभूत हो उठी । साहूकार अपनी जगह से उठा— शायद बिखरे हुए दाने समेट कर थोड़ा-अनाज जुट जाय । लेकिन समेटा तो पहले ही जा चुका था । साहूकार जब खाली हाथ दुकान पर आता है तो देखता है स्त्री मर चुकी है । कितनी कारुणिक स्थिति उत्पन्न हुई होगी उस समय— कहा नहीं जा सकता और साहूकार के अन्तःकरण से एक अभंग फूट पड़ती है— 'मुझे शर्म आ रही है । यह स्त्री अन्न की आशा में आई थी— मेरे यहाँ अनाज नहीं है और मुझ से आशा टूट जाने के कारण वह मर गई है ।'

यह अभंग मराठी साहित्य की अमूल्य निधि है । इस अभंग के रचनाकार की वाणी महाराष्ट्रीय तथा मराठी साहित्य के मर्मज्ञों के लिए वेदवाणी बन गई । उक्त अभंग के स्रष्टा थे साहूकार सन्त तुकाराम जिनकी देहू में अनाज की दुकान थी और १६२८ में महाराष्ट्र में अकाल चला आ रहा था । तुकाराम अपनी सारी सम्पत्ति इसी अकाल की भेंट चढ़ा चुके थे । उन्होंने गाया है । "अकाल के कारण लोगों का धन निःशेष हुआ, उनका आत्मसम्मान खो गया, एक स्त्री 'अन्न-अन्न' करती हुई भूख से तड़पती दम तोड़ गई और शर्म से मेरा माथा जमीन में गढ़ गया । मैं भी क्या करूँ, मैं इस दुःख से ऊब गया हूँ । सारा व्यवसाय ही चौपट हो गया है ।" तुकाराम को व्यवसाय के चौपट हो जाने का रंज नहीं था, रंज था लोगों को भूख से तड़प-तड़प कर मरते देखने का ।

तत्कालीन समाज में घर-परिवार के उत्तरदायित्त्वों से विरक्त होकर वैराग्य और भक्ति के गीत गाना ही साधु-संन्यासियों का आदर्श था। किन्तु तुकाराम समाज में रहे, समाज के कठोर यथार्थ से सामना किया और कठिन परिस्थितियों— तोड़ डालने वाली विपत्तियों को उन्होंने सहा और सन्त परम्परा में एक नई कड़ी जोड़ी । इस प्रकार कठिन परिस्थितियों और विकट प्रतिकूलताओं में भी पारिवारिक और

सामाजिक उत्तरदायित्वों को भली प्रकार निभाते हुए सन्त परम्परा के आदर्शों का अनुकरण करने वाले सन्त तुकाराम का जन्म महाराष्ट्र में पूना के पास देहू नामक गाँव में हुआ था। साहूकारी पैतृक व्यवसाय था— अच्छी तरह परिवार चलता था। गाँव में भी खुशहाली थी। बड़ा भाई पिता के कारोबार में हाथ बँटाता था सो तुकाराम को प्रारम्भ में पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त ही रहना पड़ा। अपने समय का उपयोग वे गीता, रामायण के अध्ययन में करते थे और जब भी सुनते कि गाँव में कोई महात्मा आया है तो तुरन्त जा पहुँचते उसके पास। परिवार के लोगों को तुकाराम की साधु-संगति से चिन्तित होना स्वाभाविक था। वे सोचते कहीं बेटा घर-बार छोड़कर किसी दिन खुद भी साधु न हो जाय। कभी वे टोक कर तुकाराम की मनःस्थिति का परिचय भी लेते तो तुकाराम कहते— ''मैं तो गीता, रामायण पर महात्माओं से चर्चा करने जाता हूँ। गीता में तो भगवान् ने अर्जुन को संन्यासी होने से रोक कर सांसारिक कर्त्तव्यों में प्रवृत्त किया था। फिर उसके उपदेश का मुझ पर विपरीत प्रभाव कैसे हो सकता है।''

सुनकर कुछ देर के लिए तो घर वालों का समाधान हो जाता पर पीछे फिर वही आशंका होने लगती। तुकाराम अपनी निष्ठा को प्रमाणित करते हुए घर वालों को आश्वस्त नहीं कर सके और परिजनों को आश्वस्त करने का अवसर भी आया तो ऐसे समय जबकि उनकी निष्ठा का दर्शन करने वाले माता-पिता ही नहीं रहे थे। तब तुकाराम ने किशोरावस्था में पदार्पण ही किया था कि उनके माता-पिता दोनों का ही देहान्त हो गया। परिवार की जिम्मेदारी बड़े भाई पर आ पड़ी। कारोबार इतना फैला हुआ था कि उसे सम्हालना भी बड़ा श्रमसाध्य था पर बड़े भाई के स्वभाव में वैसी श्रमशीलता भी नहीं थी और नहीं थी दायित्वों को अनुभव करने की क्षमता।

माता-पिता तुकाराम पर शंका किया करते थे कि कहीं घर-बार छोड़ कर संन्यासी न हो जाय। उनके बारे में तो वह शंका सही नहीं निकली। घर-बार छोड़कर चले गये उनके बड़े भाई की पत्नी और उसके बच्चों सहित घर के अन्य सदस्यों और अपने स्त्री-बच्चों का भार भी तुकाराम के कन्धों पर आ गया। तुकाराम ने उस उत्तरदायित्व को बड़ी कुशलता से सम्हाला और कारोबार भी भली-भाँति चलाने लगे। आकस्मिक रूप से इतने बड़े परिवार का बोझ कन्धों पर आ जाने से सामान्य मनोबल का व्यक्ति घबड़ा उठता है परन्तु तुकाराम ने बिना घबड़ाये ही इन बड़ी जिम्मेदारियों को अपने ऊपर ले लिया।

लेकिन परीक्षा अभी बाकी थी। धर्म और अध्यात्म दर्शन का स्वाध्याय निष्कर्ष और साधु-संगति का प्रभाव कितना गहरा होता है— इसकी परख अभी भी शेष थी। आस्तिकतावादी आस्था के अनुसार सुख और दुःख दोनों का स्वागत करने की मनःस्थिति अभी विकसित हुई है या नहीं— भगवान् शायद यह देखना चाहता था। तुकाराम ने तो सीख रखा था—

सुख सपना दुःख बुदबुदा, दोनों एक समान।
सबका आदर कीजिये जो भेजे भगवान्॥

और इस सीख को उन्होंने अपने आचरण में भी उतारा था। कारोबार ठीक चल रहा था कि सन् १६२८ में उस क्षेत्र में पहली बार बारिश नहीं आई लोगों के हाथ तंग हो गये। अब की बार नहीं तो अगली बार ऋण चुका दिया जायेगा— इस आशा में तुकाराम पूर्ववत् ग्राहकों से व्यवहार करते रहे। किन्तु अगली बार भी वर्षा नहीं हुई और उसके अगली बार भी नहीं। इस तरह तीन साल गुजर गये। पास की सम्पत्ति चुकने लगी, लोगों से उधार पटाने के लिए तकाजा भी करें तो कैसे, मानवीय आदर्शों से संस्कारित मन इसकी अनुमति नहीं देता था। तीसरे वर्ष गाँव में बीमारी भी फैली। उस बीमारी की चपेट में तुकाराम की पत्नी भी आ गई। वह दमे की मरीज तो पहले से ही थी सो पिछली और नई बीमारी के सम्मिलित आक्रमण ने तुकाराम को चिरविरही बना दिया।

पत्नी का देहान्त हुए अभी अधिक समय भी नहीं हुआ था कि तुकाराम के बच्चे भी चल बसे। उनके लिए सारी दुनिया सूनी हो गई। निराशा और एकाकीपन के ऐसे क्षणों में अक्सर लोग आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पलायनवादी वैरागी बाना धारण कर लेते हैं। पर तुकाराम दूसरी मिट्टी के बने थे। उन्होंने न तो पलायनवाद का रास्ता अपनाया और न खोई हुई वस्तुओं को प्राप्त करने तथा नया परिवार बसाने की आतुरता दर्शाई बल्कि अकाल से पीड़ित जनसमुदाय की सेवा का धर्म मार्ग ही उन्होंने अपनाया। यद्यपि उनके सामने अपने स्वयं के परिवार की कोई जिम्मेदारी नहीं थी किन्तु बड़े भाई का परिवार तो था ही। उसके निर्वाह की व्यवस्था तुकाराम को अपना कर्त्तव्य लगा और कारोबार ठप्प पड़ जाने पर भी तुकाराम उसके लिए प्रयत्न करते रहे।

अकाल के दिनों में उन्होंने उच्च कहे जाने वाले वर्ग की नैतिकता को भी निकट से देखा जो केवल दूसरों को उपदेश देने के लिए प्रयुक्त की जाती है। उन्होंने गाया है कि लोग तिलक और टोपी तो इस तरह दिखाते हैं जैसे वे दुनिया में एक ही गोस्वामी हैं जबकि भीतर विषय वासना ठूँस-ठूँस कर भरी पड़ी है।

समाज के शीर्षस्थ व्यक्तियों की इस दोहरी नैतिकता को ढोंग बताते हुए तुकाराम ने न केवल ऐसे लोगों की आलोचना ही की वरन् समाज में नैतिकता और आदर्शवादिता की प्रतिष्ठा के लिए जन-जागृति का कार्य भी किया। अकाल खत्म हो जाने पर उनका कारोबार भी धीरे-धीरे सम्हल गया किन्तु तुकाराम पूर्ववत् अपने गाँव वालों की सेवा में, उनका नैतिक स्तर ऊँचा उठाने में लगे रहे। जीवन के उत्तरार्द्ध में परिवार के बड़े बच्चे घर-गृहस्थी और कारोबार सम्भालने योग्य हो गये तो तुकाराम परिवार के सीमित दायरे से बाहर आकर समाज को ही अपना परिवार बनाने के लिए बाहर आ गये। कहते हैं उन्हें इसी विजनवास में आत्म साक्षात्कार हुआ। उस समय उनकी स्थिति सिद्ध अवधूतों की-सी थी— ''आकाश मण्डप है, पृथ्वी आसन है, मन जहाँ रमता है— वहाँ क्रीड़ा करता है। देह की सेवा के लिए कम्बल और कमण्डल पर्याप्त है। हवा के निमित्त से समय भी ध्यान में आता है। हरिकथा के भजन में मनचाहा विस्तार किया जा सकता है और उसके विविध प्रकार बनाकर रुचि से खाये जा सकते

है यहाँ अपने ही मन से संवाद हो सकता है तो अपने से ही विवाद किया जा सकता है ।''

इस स्थिति को प्राप्त होने पर भी तुकाराम समाज सेवा से विमुख नहीं हुए । समाज को शिक्षा देने और लोकशिक्षण का कार्य करने में वे पहले की भी अपेक्षा अधिक लगे रहते । उनके हृदय में संतप्त और संत्रस्त मानवता के लिए जो पीड़ा थी और उपचार था वह अभंगों के रूप में व्यक्त होता रहा । यद्यपि उनके द्वारा समाज का मार्गदर्शन होते देख तथाकथित उच्च वर्ग नाराज भी हुआ किन्तु तुकाराम अपने आचरण और उपदेश से तथा अपनी ईमानदारी और पर-दुःखकातरता से विरोधियों को भी जीतते रहे । पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सन्त परम्परा का सच्चा अनुकरण करते रहे । सन् १६४९ में उनका पटरपुरा में देहान्त हो गया । आज भी फाल्गुन मास में उनकी निधन तिथि पर वहाँ एक बड़ा मेला लगता है । लोग दूर-दूर से संत तुकाराम को श्रद्धांजलि अर्पित करने आते हैं ।

संत तुकाराम के जीवन के कुछ अद्भुत प्रसंग

ईश्वर की कृपा

संत तुकाराम जन्मजात शूद्र थे । उनका ईश्वर भक्ति करना तथा भक्ति गीत लिखना तात्कालिक सवर्ण पंडितों की दृष्टि में अनुचित ही नहीं— एक अपराध था ।

एक निकटवर्ती पंडित श्री रामेश्वर भट्ट ने उन्हें बुलाया और कहा ''कि तुम्हें शूद्र होने के नाते यह सब कुछ नहीं करना चाहिए । न ईश्वर भक्ति, न भजन कीर्तन और न अभंगों की रचना ।''

तुकाराम अत्यन्त ही सरल स्वभाव के— आवश्यकता से अधिक नर्म तथा बहुत ही सीधे-सादे व्यक्ति थे । उन्होंने रामेश्वर भट्ट की बात स्वीकार कर ली । और पूछा— ''किन्तु जो अभंग रचे जा चुके हैं— उनका क्या होगा ?'' तब उस हृदयहीन पंडित ने कहा— ''उन्हें नदी में बहा दो ।''

अनासक्त योगी— तुकाराम ने सचमुच ही अपने अभंगों की पोथी इन्द्रायणी में प्रवाहित कर दी ! उस दबाव में वे ऐसा कर तो गये, पर मन मर्माहत हो गया कि वे विट्ठल मन्दिर के सामने तेरह दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किए पड़े रहे और सोचते रहे ''मेरी भक्ति में ही कहीं कोई त्रुटि है जो भगवान् मुझसे प्रतिकूल हो गये हैं ।''

दुःखी मन की पुकार— जो मन सत्य के प्रकाश से उद्भासित हो— कभी खाली नहीं जाती । तेरहवें दिन तुकाराम को स्वप्न हुआ कि ''पोथियाँ नदी किनारे पड़ी हैं— जाकर उठा ला'' ''तब उनके स्वप्न का हाल सुनकर उनके भक्तगण जयघोष करते हुए गये और पोथियाँ किनारे पर से उठा लाये ।''

अनुभूति

सन्त तुकाराम अपने प्रारम्भिक जीवन में जब अत्यन्त ही अभावग्रस्त हो गये तो उन्होंने लिखा ''हे भगवान् ! अच्छा ही हुआ जो मेरा दिवाला निकल गया । अकाल पड़ा यह भी अच्छा ही हुआ । स्त्री तथा पुत्र भोजन के अभाव से मर गये और मैं भी हर तरह से दुर्दशा भोग रहा हूँ यह भी ठीक ही हुआ । संसार में अपमानित हुआ, यह भी अच्छा ही हुआ । गाय, बैल, द्रव्य सब चला गया, यह भी अच्छा ही है । लोक-लाज भी जाती रही यह भी ठीक ही है क्योंकि इन्हीं बातों के फलस्वरूप तो तुम्हारी मधुरिमामय, शांतिपूर्ण गोद मिली ।''

भगवान् का दिया

सन्त तुकाराम को कहीं से कुछ गन्ने प्राप्त हुए । वे उन्हें लेकर घर आ रहे थे । रास्ते में बच्चे मिलते गये । बालक सन्त की सरल प्रकृति को जानते थे । वे गन्ने माँगते गये और सन्त उन्हें एक-एक बाँटते गये । घर पहुँचते-पहुँचते केवल एक गन्ना शेष रहा । शेष रास्ते में बालकों को ही बँट गये ।

तुकाराम की पत्नी को गन्ना घर आने की पूर्व सूचना मिल चुकी थी, वह बहुत गन्ने घर आने की आशा लगाये बैठी थी । हाथ में केवल एक ही देख कर उसका कर्कश स्वभाव और भी उग्र हो गया । कारण पूछा तो तुकाराम ने सारी बात सरलतापूर्वक बता दी । क्रुद्ध पत्नी ने वह एक गन्ना भी उनकी पीठ पर दे मारा । गन्ने के दो टुकड़े हो गये ।

हँसते हुए सन्त तुकाराम ने कहा— देवि, तुमने ठीक बँटवारा कर दिया । इन दो टुकड़ों में एक तुम ले लो, दूसरा मुझे दे दो । जो कुछ थोड़ा बहुत भगवान् ने दिया है उसे मिल-बाँट-कर खाना ही ठीक है ।

अद्भुत सहनशीलता

एक आदमी सन्त तुकाराम का कीर्तन सुनने तो नित्य ही आता— पर उनसे बहुत द्वेष रखता । वह मन ही मन किसी अवसर पर सन्त तुकाराम को नीचा दिखाने की ताक में रहा करता था ।

एक दिन तुकाराम की भैंस उसके बाग के कुछ पौधे चर आई । बस वह आकर लगा गालियाँ सुनाने । इस पर भी जब सन्त उत्तेजित न हुए तो उसे और भी गुस्सा आया और एक काँटों वाली छड़ी लेकर तुकाराम को इतना पीटा, कि रक्त बहने लगा । फिर भी तुकाराम को न क्रोध आया— न प्रतिरोध ही किया ।

सन्ध्या समय जब वह व्यक्ति नित्य की भाँति कीर्तन में नहीं आया— तो सन्त स्वयं उसके घर गये और स्नेहपूर्वक भैंस की गलती की क्षमा माँगते हुए उसे कीर्तन में ले आये ।

वह व्यक्ति तुकाराम की महानता देखकर उनके चरणों में आ पड़ा ।

परीक्षा

भगवत्भजन में लीन हुआ मन ऐसे ही भासित होता है जैसे तपा हुआ कुन्दन। फिर वहाँ वासना का एक भी कण जम नहीं पाता।

जिस समय सन्त तुकाराम भंडारा पर्वत पर अपनी साधना में लीन थे— एक स्त्री अपने रूप-पाश में बाँधने के उद्देश्य से वहाँ आई। सन्त तुकाराम ने एक अभंग में उसे जो उद्बोधन दिया उसने उस स्त्री का मन ही पलट दिया। वे कहते हैं ''परस्त्री मेरे लिए रुक्मिणी माता के समान है, इसलिए हे माता ! तुम जाओ और मेरे लिये कुछ प्रयत्न मत करो, हम तो विष्णु के दास हैं। मुझसे तुम्हारा यह पतन नहीं देखा जाता। तुम आगे कभी ऐसी अपवित्र बात मुख से मत निकालना।'' और उस कामासक्ता रमणी को इस प्रकार रुक्मिणी माता बनाकर सन्त ने उसे विदा कर दिया।

धार्मिक नवचेतना के प्रचारक— महाप्रभु चैतन्य

अब से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व दिल्ली में मुसलमान शासकों का आधिपत्य था। कहने को तो ये समस्त देश के 'सम्राट' थे पर उनका वास्तविक अधिकार दिल्ली और उसके आस-पास सौ दो सौ मील तक ही रहता था। शेष भागों पर 'सूबेदार' लोग शासन करते थे जो सम्राट के शक्तिशाली होने पर कुछ रुपया 'कर' (खिराज) के रूप में देते रहते थे अन्यथा अपने प्रदेश के खुद मुख्तार मालिक बने बैठे रहते थे।

उन दिनों बंगाल पर पठान सूबेदार का शासन था। अब हकूमत जम जाने के कारण यद्यपि वे पहले की तरह मारकाट तथा लूटमार नहीं करते थे, पर तो भी हिन्दुओं के साथ उनका व्यवहार कठोर और स्वार्थपूर्ण ही रहता था। हिन्दुओं का धन, मान, इज्जत सुरक्षित नहीं थे। कोई भी उद्दण्ड मुसलमान हाकिम चाहे जब उनको सता सकता था, उनसे जबरदस्ती धन वसूल कर सकता था, उनके धर्म पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आघात कर सकता था।

ऐसे ही जमाने में एक दिन नदिया (बंगाल) के काजी चाँद खाँ ने हिन्दुओं द्वारा किये जाने वाले 'हरिकीर्तन' को बन्द करने की आज्ञा दे दी। यद्यपि उसके पास कुछ मुसलमान और हिन्दू नागरिकों ने शिकायत की थी कि रात में हरिकीर्तन वालों के शोर के कारण हमारी नींद में बाधा पड़ती है, पर अन्तरंग रूप से भी वे स्वयं भी यह पसन्द नहीं करते थे कि हिन्दुओं के धार्मिक क्रिया-कलाप और धर्मोत्सव वगैरह अधिक बढ़ें। क्योंकि इससे हिन्दुओं के संगठन और शक्ति की वृद्धि होती थी, जिसे वे अपने लिये अहितकर समझते थे।

चैतन्य देव (सन् १५४२ से १५९०) ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया और निश्चय किया कि सरकारी आज्ञा को चुपचाप मान लेने से हिन्दुओं की कमजोरी जाहिर होगी और तब वे पूर्वापेक्षा भी अधिक दबाये जायेंगे। इसलिये सब उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर घोषणा करा दी कि कल संध्या के समय हरिकीर्तन का एक विशाल जलूस नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों में भ्रमण करता हुआ धर्म-प्रचार करेगा। दूसरे दिन नगरवासियों ने इस जलूस का स्वागत करने के लिये सब रास्तों को वन्दनवारों और केले के स्तम्भों से सजा डाला और स्थान-स्थान पर उसकी आरती करके अपनी आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त की। जलूस धीरे-धीरे चल कर काजी के घर के सामने पहुँचा और वहाँ तुमुल ध्वनि से कीर्तन करने लगा। काजी भयभीत होकर घर के भीतर जा छिपा, पर चैतन्य ने उसे आश्वासन देकर बुलाया और प्रेमपूर्वक भेंट की। काजी ने उनका सद्व्यवहार और जनता पर प्रभाव देखकर कीर्तन सम्बन्धी आज्ञा को वापस ले लिया और सब लोग धर्म की जय-जयकार करते हुये वापस चले आये।

जिस समय की यह घटना है उस समय चैतन्य की आयु तेईस-चौबीस वर्ष की ही थी। पर इसी आयु में अपनी अपूर्व विद्या, बुद्धि तथा परिश्रम द्वारा उन्होंने नदिया के समस्त पण्डितों में अन्यतम स्थान प्राप्त कर लिया था। केशव काश्मीरी नाम का एक भारत प्रसिद्ध पण्डित उनसे शास्त्रार्थ में पराजय स्वीकार कर चुका था। उन्होंने न्यायशास्त्र पर भी एक सर्वोच्च ग्रन्थ लिखा था, पर अपने एक मित्र रघुनाथ की मान रक्षा के निमित्त उसे गंगा जी में डुबा दिया। शारीरिक दृष्टि से भी प्रकृति ने उनको अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया था और रंग इतना गोरा था कि उनका एक नाम 'गोरांग' भी प्रसिद्ध हो गया था। उनकी पत्नी 'विष्णुप्रिया' भी वैसी ही लावण्यमयी थी और इस दम्पत्ति में प्रगाढ़ प्रेम था, नदिया उस समय बंगाल का प्रमुख विद्या और शास्त्र-चर्चा का केन्द्र था और उसे 'बंगाल की काशी' के नाम से पुकारा जाता था। समस्त प्रान्त के विद्यार्थी वहाँ विद्याध्यन करने को आते थे और चैतन्य (निमाई पण्डित) की ख्याति सुनकर उन्हीं के पास पढ़ने में अपना सौभाग्य समझते थे। इससे उनको कीर्ति और धन का भी अभाव न था।

गृहस्थ-जीवन का त्याग

पर जिस समय समाज और धर्म की विपन्न अवस्था का ख्याल उनके मन में आया तब वे अपने जीवन की समस्त सफलताओं को भूल गये। यद्यपि उस अवसर पर उन्होंने अपने बुद्धिबल और व्यवहार कुशलता से सफलता प्राप्त कर ली, पर विधर्मियों के प्रभाव से हिन्दू-जाति किस प्रकार संकटग्रस्त हो रही है यह भी उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया। उन्होंने निश्चय जान लिया कि यदि उसे किसी उपाय से जागृत और संगठित न किया गया तो उसका अस्तित्व ही सन्देह में पड़ जायेगा। सारी परिस्थिति पर विचार करके वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक कुछ सच्चे धर्मानुयायी और आत्म-त्याग करने को तैयार व्यक्ति इस कार्य का भार न उठायेंगे तब तक जाति की रक्षा हो सकना सम्भव नहीं।

जब एक बार वे इस निर्णय पर पहुंच गये, तो आगे का मार्ग स्पष्ट ही था। महापुरुष ऐसे अवसरों पर दूसरे लोगों की राह नहीं देखते। वे जानते हैं कि इस प्रकार की गूढ़ और गम्भीर स्थिति का ठीक-ठीक स्वरूप समझ सकना और उसके लिये अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सकना हर एक व्यक्ति का कार्य नहीं है, जनता में से यदि कुछ लोग साहस करके इस कार्य में सहयोग देने को तैयार होंगे, कष्ट

सहन के लिये आगे बढ़ेंगे तो यह भी तभी सम्भव है जब पहले कोई आगे बढ़कर उनका मार्गदर्शन करे। उन्होंने अपने को ही इस योग्य समझा और गृह-त्याग के लिये तैयार हो गये। साथ ही उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया कि देश तथा समाज की वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार का प्रचार कार्य बिना सन्यास ग्रहण किये नहीं हो सकता। सन्यासी ही बिना कौड़ी-पैसा लिये देश भर में भ्रमण कर सकता है और सब श्रेणियों के व्यक्ति उसी की बातों को श्रद्धापूर्वक सुन सकते हैं।

पर पत्नी के प्रेम और माता की ममता को देखते हुए यह कार्य प्रकट रूप से कर सकना सम्भव न था। अतएव वे रात्रि के समय बिना किसी से कुछ कहे चुप-चाप चल दिये। चौबीस वर्ष की पूर्ण युवा अवस्था में घर के सब सुखों और प्रेम-बन्धनों को एक क्षण में त्याग कर कंटकाकीर्ण सेवा मार्ग पर चल देना सामान्य बात न थी। इसको देख कर हमको बुद्ध के राजपाट त्याग की ही बात याद आती है। बुद्ध ने तो फिर भी एक पुत्र हो जाने पर घर छोड़ा था, पर चैतन्य ने तो उसकी भी चिन्ता न की।

घर से निकलते ही वे गंगा पार करके केशव भारती के आश्रम में पहुँचे और उनसे संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की। प्रथम तो वे इनकी नवीन वयस को देखकर तैयार न हुये, पर जब इनके दृढ़ निश्चय को किसी प्रकार बदलना सम्भव न जान पड़ा, तब उन्होंने दीक्षा दी और इनका भक्तिभाव देखकर 'कृष्ण-चैतन्य' नाम रखा। कुछ समय तक आस-पास के प्रदेश में भ्रमण करके वे फिर नदिया आये और अपने परम हितैषी अद्वैताचार्य के यहाँ ठहरे। कुछ लोग वहीं पर उनकी माता को बुला लाये पुत्र का मुड़ा हुआ सिर और गेरुआ वस्त्र देखकर माता को कष्ट तो हुआ, पर वे महान् पुत्र की माता थीं। इससे धैर्य-धारण करके कहने लगीं "चैतन्य! तेरा मार्ग मंगलमय हो, तू अब हमारा न रहकर सम्पूर्ण विश्व का बन गया है। तेरे द्वारा अनेकों का कल्याण होगा। हमारी रक्षा तो भगवान् करेंगे ही, वे विश्वम्भर हैं। इसलिये तू निश्चिन्त होकर अपने सेवा-मार्ग पर चलना।"

माता की धर्मसम्मत वाणी सुनकर चैतन्य बहुत सन्तुष्ट हुये। फिर उन्होंने पत्नी को भी प्रबोध किया और अपने सहकारी नित्यानन्द (निताई) को लेकर पुरी के लिये रवाना हो गये। उड़ीसा की सीमा पर रक्षकगण बंगाल से आने वाले यात्रियों को बहुत तंग किया करते थे, पर चैतन्य देव के समदर्शी मनोभाव को देखकर वे ऐसे प्रभावित हुए कि बड़ी विनय के साथ उनको मार्ग दे दिया। पुरी में भी वे अधिक समय तक नहीं ठहरे क्योंकि कर्मक्षेत्र उनको पुकार कर रहा था। वे अपने साथ केवल एक सेवक कृष्णदास को लेकर भारत भ्रमण के लिये चल दिये। समाज और धर्म के संगठन का अभियान आरम्भ करने से पूर्व 'देश-दर्शन' कर लेना परमावश्यक था। शंकराचार्य से लेकर तुकाराम तक सभी धर्माचार्यों और सन्तों ने इसी परिपाटी का पालन किया है। क्योंकि जब तक जनता की नब्ज को अच्छी तरह टटोला न जाय, उसके रोग का ठीक-ठीक निर्णय न कर लिया जाय तब तक उसके लिये उपयुक्त चिकित्सा का निर्णय किया जाना भी किस प्रकार सम्भव है? गुरु नानक ने तो, जो चैतन्य के ही समकालीन थे पन्द्रह वर्ष तक देश भ्रमण करके अपने सिख-समुदाय का संगठन बनाया था।

पुरी से चलकर चैतन्य देव गोदावरी, तटवर्ती विद्यानगर होते हुये कृष्णा, कावेरी, ताम्रपर्णी आदि नदियों पर बसे हुये अनेक नगरों तथा तीर्थों का भ्रमण करते रहे। इसी प्रकार चलते-चलते वे सेतुबन्धु रामेश्वर पहुँचे। वहाँ से पश्चिमी घाट के समानान्तर यात्रा करते हुए त्रिवेन्द्रम, मैसूर, कर्नाटक, नासिक, पंढरपुर आदि अनेक स्थानों का अवलोकन किया। फिर बम्बई प्रदेश में होकर द्वारिका पहुँच और विजय नगरम् (दक्षिण भारत) होकर पुरी को लौट आये।

इस यात्रा में वे लगातार तीर्थस्थानों में एकत्रित धार्मिक जनता को उपदेश करते रहते थे और विशिष्ट भक्तजनों से मिलकर उनको धर्म रक्षा की प्रेरणा देते थे। उस समय अपना संदेश देश के विभिन्न स्थानों में पहुँचाने का यदि कोई मार्ग था तो वह तीर्थ ही थे, वहीं दूर और समीप के धर्म-प्रेमी व्यक्ति इकट्ठे मिल सकते थे। उनसे वार्तालाप करके ही अपने कार्यक्रम को उन्हें समझाना और उनकी समस्याओं तथा परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करना सम्भव था। इस प्रकार चैतन्य देश के एक बड़े भाग की स्थिति से अवगत हो गये, लोगों की विचारधारा को समझ लिया और यह भी अनुमान कर लिया कि उनको जागृत और संगठित करने को कौन-सा मार्ग उपयुक्त रहेगा। उन्होंने यह भी जान लिया कि अपने प्रचार-कार्य के लिये सर्वोत्तम और केन्द्र स्वरूप स्थान पुरी ही हो सकता है। वहाँ के लोग कृष्ण भक्त हैं, बंगाल में भक्त्-जन भी काफी आया करते हैं और भारत के चार धामों में से एक प्रसिद्ध धाम होने से देश भर के व्यक्ति वहाँ एकत्रित हुआ करते हैं, जिनके द्वारा अपना सन्देश बहुत कम समय में देशव्यापी बनाया जा सकता है। इसलिये चैतन्य ने अपने हरिदास आदि प्रमुख सहकारियों को पुरी में ही रख कर प्रचार कार्य आरम्भ किया।

कुछ समय पश्चात् उनका ध्यान उत्तर प्रदेश की तरफ गया। कृष्ण भक्ति के प्रभाव से बंगाल तथा उड़ीसा के अनेक भक्त मथुरा वृन्दावन की यात्रा को आया करते थे और पश्चिमी भारत के तीर्थ यात्री भी वहाँ पर्याप्त संख्या में आते थे। पुरी का केन्द्र महत्त्वपूर्ण अवश्य था पर वह देश की पूर्ववर्ती अन्तिम सीमा पर होने से, पश्चिम भारत को बहुत कम प्रभावित करता था। इसलिये प्रथम यात्रा से लौटने के कुछ समय बाद ही उन्होंने वृन्दावन की भी यात्रा की। प्रयाग में उनकी भेंट बल्लभाचार्य से हुई। भक्ति-मार्ग के इन दोनों महारथियों में जो विचार-विनिमय हुआ वह अवश्य महत्त्वपूर्ण रहा होगा। वृन्दावन उस समय थोड़े-से साधुओं का ही निवास स्थान था। चैतन्य ने यहाँ पर अच्छी तरह भ्रमण करके एक ऐसा सार्वजनिक तीर्थ स्थापित करने की योजना बनाई, जहाँ सामान्य जनता सदैव आती रहे और भगवत् भक्ति के साथ धर्मनिष्ठा और जातीयता की रक्षा की प्रेरणा ग्रहण करती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने सुयोग्य सहकारी रूप-सनातन को यहाँ स्थायी रूप से नियुक्त कर दिया और इसमें सन्देह नहीं कि आज वृन्दावन ने जो महिमा प्राप्त की है उसका बहुत

कुछ श्रेय चैतन्य और उनके अनुयायियों को ही है । इस प्रकार बीस-पच्चीस वर्ष तक प्रचार कार्य करके चैतन्य ने भारत के बड़े भू-भाग की जनता में इतनी धार्मिक नवचेतना उत्पन्न कर दी कि वह अपने धर्म पर सुदृढ़ हो गई और विधर्मियों का प्रभाव उस पर पड़ने का सन्देह बहुत कुछ दूर हो गया । चैतन्य द्वारा प्रचारित कीर्तन-प्रथा ने इस दिशा में बहुत कार्य किया । बंगाल तो उसका घर बन ही गया, धीरे-धीरे उसने बिहार और उत्तर प्रदेश में भी प्रवेश किया । आज हम अपने चारों तरफ कीर्तन का जो प्रचार और प्रभाव देख रहे हैं, यद्यपि वह चैतन्य के आदर्शों से बहुत हट गया है, कुछ लोगों ने उसे एक पेशे की तरह बना लिया है, तो भी जनता के एक भाग में धार्मिक भावना को फैलाने का वह एक बड़ा माध्यम है ।

चैतन्य महाप्रभु एक परम भक्त थे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं । किन्तु उनको केवल भक्त और कीर्तनकार मानकर रह जाना उनके व्यक्तित्व का अपूर्ण अंकन है । वे भक्त होने के साथ-साथ समाज के महान् सेवक और धर्म के रक्षक थे । जहाँ एक ओर उनकी भक्ति का उद्देश्य आत्मोद्धार था वहाँ दूसरी ओर वे उसके प्रभाव का उपयोग जन-जागरण के लिये किया करते थे । यदि वे केवल आत्म-कल्याण तक सीमित रहने वाले स्वार्थी भक्त होते तो संन्यास लेने के बाद किसी से कोई सम्बन्ध न रखते और दिन-रात भगवत्चिन्तन करते हुए अपने में ही मगन रहते । किन्तु इसके विपरीत महाप्रभु चैतन्य ने सारे देश की पैदल यात्रा करके जन-जन में धर्मभावना का जागरण कर उन्हें मुसलमान शासकों के अत्याचार से होने वाली निराशा से बचाया ।

वह समय बड़ा विषम था । हिन्दू धर्म भयंकर सँक्रांति काल से गुजर रहा था । मुसलमान शासक न केवल राजनीतिक अत्याचार करते थे अपितु वे हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार भी कर रहे थे । वे अपनी शक्ति तथा आतंक का उपयोग हिन्दू जनता को मुसलमान बनाने में कर रहे थे । हिन्दू राजाओं की शक्ति विलासिता, स्वार्थपरता और विशृंखलता के कारण नष्ट हो चुकी थी । हिन्दू जनता और हिन्दू धर्म का उस समय कोई रक्षक न दिखलाई देता था । उस निराश्रय पूर्ण संक्रांति काल में हिन्दू जनता में धर्म तथा भगवान् के प्रति अनास्था उत्पन्न होने लगी थी, जिसका लाभ उठाकर मुसलमान उन्हें आसानी से धर्मभ्रष्ट करते जा रहे थे ।

महाप्रभु चैतन्य ने हिन्दू और हिन्दू धर्म की उस दुर्दशा को देखा । उनकी समाजभावी आत्मा उसकी रक्षा के लिए तड़प उठी । उनके पास एक भगवन्नाम और तीव्र भगवत्भक्ति के सिवाय और कोई साधन तो था नहीं । किन्तु एक यही साधन संसार के समस्त साधनों से शक्तिशाली सिद्ध होता है, यदि उसका उपयोग सच्चाई के साथ जनकल्याण में किया जाये ।

महाप्रभु चैतन्य ने गम्भीरतापूर्वक उस संकट और उसके उपायों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि हिन्दू जनता में धर्म के प्रति उखड़ी आस्था और भगवान् के प्रति भक्ति भावना का पुनर्स्थापन कर दिया जाये तो उनकी निराशा, निरुत्साह और निराश्रय की भावना नष्ट हो जाये और उसके स्थान पर निर्भयता, साहस, विश्वास और आत्मगौरव का तेज आ जाये । ऐसी दशा में धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित अथवा आतंकित कर सकना सरल न रहे । जब जिसमें आत्मतेज और आत्मगौरव का उदय हो जाता है तब प्राण देकर भी आत्मत्त्व की रक्षा करने को तत्पर रहता है । उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचते ही उन्होंने अपने आत्म-प्रभाव से निराश जनता का हृदय परिवर्तन तथा धर्म मार्ग में उनका नेतृत्व करने का निश्चय कर लिया । इस व्रत पालन के संकटों से वे पूरी तरह अवगत थे, तथापि जन-सेवा की प्रबल भावना लेकर वे कर्तव्य मार्ग पर, हथेली पर सिर लेकर उस आतंक और अत्याचार के अन्धकार में प्रकाश करने के लिये निकल पड़े ।

श्री चैतन्य ने अध्यापक के आदरपूर्ण पद, सुख-साधनपूर्ण घर, रूप लावण्य से भरपूर यौवन का आकर्षण और पतिव्रता पत्नी का पावन प्रेम— सब कुछ धर्म और जनकल्याण के लिए त्याग दिया और संन्यास लेकर जन-जागरण का अलख जगाने के लिये चल पड़े ।

महाप्रभु चैतन्य की वाणी बड़ी ही मधुर और प्रभावशालिनी थी । उनके गाये कीर्तन तथा भजनों से लोगों पर जादू हो जाता था । अस्तु उन्होंने अपनी इस विशेषता का उपयोग जनता के हितार्थ करना शुरू किया । उन्होंने अपने एक मित्र श्रीवास पंडित के घर एक कीर्तन केन्द्र स्थापित किया और वहीं नित्य सायंकाल नियमित रूप से हरिकीर्तन करने लगे । लोगों को आकर्षित करने का उनका उद्देश्य पूरा हुआ । लोग आ-आ कर उनके कीर्तन में सम्मिलित होने लगे । महाप्रभु नित्य ही, आयोजन समाप्त होने के बाद लोगों को धर्म की महत्ता और आत्म-गौरव की भावना पर उपदेश देते । भगवान् की शरण लेकर निर्भय रहने को कहते और अपने घरों पर नियमित रूप से कीर्तन का आयोजन जमाने की प्रेरणा देते, जनता में उत्साह का संचार होने लगा जिसके फलस्वरूप नदिया नगर के घरों पर मृदंग-मंजीरा के साथ हरिनाम की गूँज उठने लगी और मृतप्राय: हिन्दू धर्म श्वास लेता-सा विदित होने लगा ।

हिन्दुओं में धर्म-जाग्रति के लक्षण देख कर नदिया का काजी चाँद खाँ बौखला उठा और उसने उठती हुई धर्म भावना का दमन करने के लिए हरिकीर्तन बन्द करने की आज्ञा निकाल दी । पुन: आतंक का वातावरण छा गया और लोग भयभीत हो गये । भक्तों की कीर्तन मंडली के सदस्य अपने नेता चैतन्य प्रभु के पास गये और दु:खी स्वर से बोले— यदि इस प्रकार प्रतिबन्ध लगाए और अत्याचार होता रहा तो हम लोग हरिकीर्तन किस प्रकार कर सकेंगे ? इससे तो यही अच्छा है कि यह नगर छोड़ कर कहीं ऐसे स्थान पर चलें जहाँ पर स्वतन्त्रतापूर्वक भगवान् का नाम ले सकें ।

श्री चैतन्य देव ने भक्तों की निराश वाणी सुनी और बोले— भक्तों को इस प्रकार पलायनवादी भाव शोभा नहीं देता । विघ्न यदि नदिया में आ सकता है तो दूसरे स्थान पर भी आ सकता है । विघ्न का उपाय पलायन नहीं है । उसका उपाय है दृढ़तापूर्वक उसका सामना करना । यदि हरिनाम का कीर्तन करने से आप लोगों में किसी विघ्न-बाधा का सामुख्य करने का भी साहस नहीं आ सका

तब तो यही मानना होगा कि आपकी भक्ति अधूरी है। किसी भगवत् भक्त के लिये भय अथवा आतंक का क्या मूल्य ? आप लोग निर्भय तथा निश्चिन्त रहें। हरिकीर्तन करना, भगवान् का नाम लेना कोई नहीं रोक सकता। हम सब इसी नगर में रहेंगे और सार्वजनिक कीर्तन द्वारा काजी के अन्यायपूर्ण प्रतिबन्ध को तोड़कर भगवत्शक्ति का प्रभाव प्रकट कर देंगे।

दूसरे दिन श्री चैतन्य देव ने नगर-कीर्तन की योजना बनाई और भगवत्भक्तों को आदेश दिया कि आज ही नगर में कल के नगर-कीर्तन की घोषणा कर दी जाये और कह दिया जाये कि सब लोग कल सायंकाल हमारे घर पर एकत्र हो जायें वहीं से कीर्तन प्रारम्भ करते हुए सारे नगर में सार्वजनिक रूप से कीर्तन करेंगे। प्रकाश के लिये सब लोग एक-एक मशाल और जिसके पास ढोल, मृदंग और झाँझ मंजीरा हों लेता आये। भक्तों ने सारे नगर में महाप्रभु की इस घोषणा का सम्वाद फैला दिया और लोग दूसरे दिन के समारोह में लग गये।

नियत समय पर श्री चैतन्य देव के निवास से कीर्तन का जलूस उठा और लोग जय ध्वनि और स्वर ताल के बाद्यों पर हरिनाम का संकीर्तन करते हुए चल दिये और राज-मार्गों पर घूमने लगे। वह अभूतपूर्व समारोह देखने के लिये स्थान-स्थान पर अपार भीड़ लग गई। नगर-वासियों ने उस कीर्तन मंडली का अनुपम स्वागत किया। जिधर से वह कीर्तन मंडली निकलती थी उधर ही सैकड़ों लोग उसमें सम्मिलित हो जाते थे और हरिनाम जपते हुए साथ चलने लगते थे। देखते ही देखते कीर्तन का वह जलूस सैकड़ों हजारों का हो गया। नगर में एक अभूतपूर्व जागरण की हलचल छा गई।

काजी को समाचार मिला और उसने अनेक सैनिक उस जलूस को भंग करने और कीर्तन बन्द कर देने के लिए भेजे। सैनिक आये और क्रोधपूर्वक काजी की आज्ञा सुनाते हुए कीर्तन बन्द कर देने के लिए धमकाने लगे। श्री चैतन्य देव ने सैनिकों की ओर अपनी तेजपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा— "तुम लोग चलकर काजी से कहो कि हम लोग उन्हीं के घर कीर्तन करने आ रहे हैं। महाप्रभु का वह तेज और निर्भय वाणी देखकर सैनिकों का साहस टूट गया और उन्होंने जाकर काजी को सारा समाचार सुनाया"। काजी झल्ला उठा और बोला—आने दो देखूँगा उस फकीर को।

किन्तु जब उसने दूर से कीर्तन के विशाल जलूस को गाते-बजाते आते देखा तो वह इतना डर गया कि तुरन्त घर के भीतर जाकर छुप गया। श्री चैतन्य देव अपनी मण्डली के साथ आये और सीधे काजी के घर में जा कर उसके चौक में कीर्तन करने लगे। भगवान् का आश्रय और उसका बल लेकर चलने वाले की गति कौन रोक सकता है।

दो घण्टे जमकर कीर्तन करने के बाद श्री चैतन्य देव ने एक नौकर से कहा, अपने मालिक से जा कर कहो कि हम सब तो उनके घर पर उनसे मिलने आये हैं और वह घर में घुसे बैठे हैं यह कहाँ की रीति है ? नौकर ने जा कर काजी को समाचार दिया। जब उसे विश्वास हो गया कि यह कीर्तनकार उसे कोई हानि नहीं पहुंचायेंगे तो वह बाहर निकल कर आया और महाप्रभु से माफी माँगते हुए बोला— मैं समझा था कि आप सब लोग मुझसे नाराज हैं और दण्ड देने के लिए आ रहे हैं। इसी डर से मैं घर के भीतर भाग गया था।

श्री चैतन्य देव ने काजी के साथ बड़ा भद्र व्यवहार किया पूछा— "काजी साहब ! अब क्या भगवान् का नाम लेने पर भी बन्धन लगाया जायेगा ? जिस परमात्मा ने हम आप सब को उत्पन्न किया उसका नाम लेने से रोकना तो उचित नहीं है।" आपने किस विचार से ऐसा प्रतिबन्ध लगा दिया है ? काजी ने अपनी गलती मानते हुए बतलाया कि दरअसल बात यह थी कि नगर के लोगों ने कीर्तन के खिलाफ मेरे पास शिकायत की थी कि इससे शहर में अशान्ति का अंदेशा है। इसलिये शान्ति की रक्षा में मैंने उस पर प्रतिबन्ध की आज्ञा निकाल दी थी। किन्तु देखता हूँ कि लोगों की यह शिकायत झूठ थी। आप सब लोग खुशी से कीर्तन करिये और उस दुनिया के मालिक का नाम लीजिये, मैं अभी उस प्रतिबन्ध को रद्द किये देता हूँ और ऐसा कहकर उसने प्रतिबन्ध की आज्ञा रद्द करते हुए फरमान निकाल दिया। यह श्री चैतन्य देव के सत्य एवं साहस की अन्याय और आतंक पर पहली विजय थी। उनका आन्दोलन और उद्देश्य सफल हो गया। हिन्दू जनता के हृदय से भय का भूत निकल गया और लोग साहसपूर्वक अपने धर्म-कर्मों का पालन करने लगे।

किन्तु केवल नदिया ही तो पूरा देश नहीं था। श्री चैतन्य देव को तो पूरे देश में ही जन-जागरण की लहर उठानी थी। निदान वे सब के मना करने पर भी सारी ममता-मोह त्याग कर जन-कल्याण की दिशा में चल पड़े।

सबसे पहले वे जगन्नाथपुरी गये और कुछ दिन वहाँ जन-जागरण का काम करने के बाद अकेले ही पैदल सम्पूर्ण भारत में जाग्रति का शंख फूँकने के लिये चल दिये। गोदावरी के तट पर बसे विद्यानगर के हिन्दू राजा और वहाँ की जनता में धार्मिक प्रेरणा भरकर वे कृष्णा, कावेरी और त्रिवेणी नदियों के तट पर बसे नगरों में अलख जगाते, कीर्तन मंडलियाँ स्थापित करते, साहस और निर्भयता का मन्त्र फूँकते। हिन्दू धर्म की महत्ता तथा महिमा बतलाते और भगवान् वासुदेव में अखण्ड विश्वास जमाते सेतुबन्ध रामेश्वरम् में जाकर जनता में धर्म-आन्दोलन उठाने लगे।

सेतुबन्ध रामेश्वरम् से चलकर वे पश्चिमी घाट को जगाते हुए त्रिवेन्द्रम, मैसूर, कर्नाटक, नासिक और पंढरपुर की जनता की मोह निद्रा भंग कर द्वारिकापुरी गये। अनन्तर दक्षिण भारत को प्रबुद्ध तथा सावधान करने के बाद वे पुन: जगन्नाथपुरी आ गये। इस प्रकार दो-तीन वर्ष तक देश की चारों दिशायें अपने सन्देशों तथा उपदेशों द्वारा एकात्मभाव में बाँध कर श्री चैतन्य देश के अन्तर में भ्रमण करते और जन-जागरण का मन्त्र फूँकते वृन्दावन आये। यहाँ पर उन्होंने बल्लभाचार्य जैसे महान् भक्तों तथा धर्म प्राण विद्वानों को एक संगठन सूत्र में बाँधा और उन्हें जनता की निराशा दूर करने और साहसपूर्वक अन्याय का सामना करने की प्रेरणा देने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार महाप्रभु चैतन्य देव सारे देश को जगाकर और भक्तों, विद्वानों, राजाओं तथा सामान्य जनता को एक धर्म-सूत्र में बाँध कर जगन्नाथपुरी में स्थायी रूप से रहने और भगवान् का भजन करने लगे। भक्ति

और समाज सेवा के समन्वय से उनको शीघ्र ही भगवान् के दर्शन हो गए ।

उस समय यद्यपि चैतन्य की आयु ४८ वर्ष की ही थी, पर उन्होंने भावावेश में इतने वेग से कार्य किया था, कि उनकी जीवनी शक्ति समाप्त होने लग गई थी । धर्म-जागरण का कार्य भी अन्य सहयोगी भली प्रकार चलाने लग गये । यह देखकर चैतन्य ने अपनी लीला सम्वरण कर लेना ही उचित समझी । सन् १५९० में ४८ वर्ष की आयु में ही एक दिन कथा सुनते-सुनते वे भावावेश में उठकर जगन्नाथ जी की मूर्ति के सम्मुख पहुँचे और प्रार्थना करते-करते कुछ क्षणों में प्राण त्याग दिये ।

यदि ऐसी भक्ति मुझे भी मिली होती

आरती का पुनीत समय था शंख और घण्टे की आवाज से भगवान् जगन्नाथ का मन्दिर गूँज रहा था । महाप्रभु चैतन्य गरुड़-स्तम्भ के पास खड़े भगवान् की आरती को बड़ी तन्मयता से गा रहे थे । मन्दिर में भक्तों की भीड़ बढ़ती जा रही थी । बाद में आने वालों को मूर्ति के दर्शन नहीं हो पा रहे थे । एक उड़िया स्त्री जब दर्शन करने में असमर्थ रही तो झट गरुड़ स्तम्भ पर चढ़ गई और एक पैर महाप्रभु के कन्धे पर रखकर आरती देखने लगी ।

महाप्रभु ने तो इस बात को सहन कर भी लिया परंतु उनका शिष्य गोविंद भला क्यों सहन करता ? वह उस स्त्री को डाँटने लगा पर महाप्रभु ने ऐसा करने से मना किया । 'क्यों बाधक बनते हो भगवान् के दर्शन कर लेने दो । इस माता को दर्शन की जो प्यास भगवान् ने दी है यदि मुझे भी प्राप्त होती तो मैं धन्य हो जाता । इसकी तन्मयता तो देखो कि इसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि पैर किसके कन्धे पर है ?'

महाप्रभु का इतना कहना था कि वह खम्भ से नीचे आ गिरी और उनके चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगी । महाप्रभु ने अपने चरण हटाते हुए कहा— 'अरे ! तुम यह क्या कर रही हो, मुझे तुम्हारे चरणों की वन्दना करनी चाहिए ताकि तुम जैसा भक्ति-भाव मैं भी प्राप्त कर सकूँ ।'

महाप्रभु चैतन्य के जीवन में आध्यात्मिकता का वास्तविक स्वरूप— लोकसेवा का लक्षण पूरी तरह प्रकट हुआ था । उन्होंने अपना सारा जीवन दुःखी-दरिद्रों तथा गिरे हुओं को ऊंचा उठाने में लगाया ।

उक्त वृद्धा को उन्होंने पैरों में से उठाकर खड़ा किया और स्वयं पैर छूने लगे । उन्हें पैर छूते देखकर आसपास के लोगों ने, जो उन्हें पहचान गये थे महाप्रभु से कहा— 'यह क्या करते हो महाराज । इस नीच बुढ़िया के पैर छू रहे हो ।'

'क्या हुआ भाइयो'— चैतन्य बोले— अपने से अच्छे और श्रेष्ठ लोगों को आदर सम्मान देने में कोई बुराई थोड़े ही है । वैसे भी यह 'वृद्धा मुझसे आयु में बड़ी है । मैं इनके पैर छू रहा हूँ तो कौन-सा पाप कर रहा हूं । यह तो लक्ष्मी का ही अवतार है ।'

भक्ति भाव से गद्‌गद वाणी को सुनकर आसपास एकत्र लोग धन्य-धन्य कह उठे ।

परम भागवत् सन्त नामदेव

मनुष्य लोहे-पत्थर से नहीं, भावना से बना परिवर्तनशील प्राणी है । मनोभूमि बदले तो उसे बदलते देर नहीं लगती । आलसी और उद्योगी, सज्जन और दुर्जन, दुर्गुणी और सद्‌गुणी, घृणित और सम्मानास्पद स्थिति मनुष्य की आदतों पर निर्भर रहती है और ये आदतें यदि चाहे तो कोई भी मनुष्य आसानी से बदल सकता है ।

सन्त नामदेव का आरम्भिक जीवन कुत्सित प्रकार का था । डाकू और लुटेरे की तरह वे अपना जीवनयापन करते थे । उनका आतंक चारों ओर रहता था, लोग नामदेव का नाम सुनते ही काँपने लगते थे । इनके उपद्रवों की शिकायत से सरकार भी क्षुब्ध हुई और उन्हें पकड़ने के लिए अस्सी घुड़सवार भेजे । कहते हैं कि इन सबका उन अकेले ने सफाया कर दिया ।

दुर्दान्त दस्युओं में भी अन्तरात्मा रहती है और वह जब कभी पलटती है तब बुरे से बुरे आचरण के व्यक्ति को सुधरते देर नहीं लगती । पूर्वकाल में वाल्मीकि, अँगुलीमाल, बिल्वमंगल, अम्रपाली, अजामिल, सदन आदि पतित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों ने अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर दुर्जनता का मार्ग छोड़ कर सज्जनता अपनाई तो वे देखते-देखते दुरात्मा से महात्मा बन गये । नामदेव का परिवर्तन भी इसी प्रकार आत्मा की पुकार सुनने वाले लोगों की शृंखला का एक उदाहरण माना जा सकता है ।

ईश्वर विश्वास और आस्तिकता की भावना जब मन में जमी तो दुष्टता के लिए जीवन में स्थान ही कैसे रहता ? जो ईश्वर को घट-घट वासी जानेगा वह सब में समाये हुए परमात्मा के साथ दुर्व्यवहार कैसे कर सकेगा ? यों झूठे भक्त 'मुख में राम बगल में छुरी' का बानक भी बना लेते हैं । पाप निर्भय होकर करते हैं और कुछ पूजा-पाठ करके यह आशा लगाये रहते हैं कि यह सब कुछ तो भजन के प्रताप से छूट ही जायेगा फिर अनीति का लाभ उठाने से डरें क्यों ? यह मान्यता तो झूठे और बहके हुए भक्तों की रहती है । जिसके अन्तःकरण में एक कण भी सच्ची ईश्वर भक्ति का उत्पन्न हो जायेगा वह सब में अपने प्रभु की झाँकी देखेगा और उनके साथ प्रेम एवं सज्जनता का व्यवहार करेगा । नामदेव जब ईश्वर भक्ति की ओर सच्चे मन से झुके तो उन्हें अनीति का मार्ग छोड़ना ही पड़ा । आस्तिक के लिए दुरात्मा बने रहना संभव नहीं, नामदेव की ईश्वर भक्ति ने उन्हें न तो दुष्ट रहने दिया और न डाकू ।

गुरु की तलाश में नामदेव भटक रहे थे तो भगवान् पाण्डुरंग ने उन्हें निर्देश किया कि विसोबा खेचर नामक कोढ़ी को वे गुरु बनावें । नामदेव ने वैसा ही किया । वे कोढ़ी को गुरु बनाकर उसकी सच्चे मन से सेवा करने लगे । आरम्भ में तो उन्हें यह निर्देश अटपटा लगा पर पीछे कुछ ही दिन में इस ईश्वरीय आज्ञा का रहस्य उनकी समझ में आ गया । पीड़ितों, अपेक्षितों और तिरस्कृतों की सेवा के बिना किसी का अन्तःकरण पवित्र नहीं हो सकता और जिसका हृदय पवित्र न होगा वह न तो गुरु ज्ञान का अधिकारी बन सकेगा और न उसे ईश्वरीय प्रकाश का अनुभव ही होगा । सेवा भावना की अधिकता

सन्त हृदय की पहली विशेषता है। गुरु-दीक्षा के रूप में भगवान् पाण्डुरंग ने विसोबा कोढ़ी की सेवा करने का आदेश दिया और सेवा धर्म को अपनाते हुए नामदेव ने जो ज्ञान पाया वह जीवन को सार्थक बनाने में अत्यन्त उपयोगी भी सिद्ध हुआ। मनोरंजन के लिए या कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए आज के लोगों की तरह यदि उन्होंने भी गुरु दीक्षा ली होती तो संभवतः उनको भी खाली हाथ रहना पड़ता और निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगता।

नामदेव धान्य-कुधान्य का बड़ा ध्यान रखते थे। अभाव-ग्रस्त जीवन व्यतीत करते हुए भी वे किसी का दान स्वीकार न करते थे। उनकी धर्मपत्नी परिश्रमपूर्वक जो कमाती उसी में से वे जो दे जातीं उसी से रूखा-सूखा खाकर फटा-टूटा पहन कर काम चलाते। कई उदार लोग उनकी निर्धनता का पता चलने पर सहायता भेजते पर वे किसी का भी दान स्वीकार न करते और कहते जिसका अन्न खाया जाता है उनके लिए अपना भजन भी चला जाता है। फिर यदि किसी की अनीति की कमाई हुई तो उसे खाने पर अपना मन भी कलुषित होगा।

प्राणि मात्र में भगवान् की झांकी करना और प्रत्येक के साथ प्रेम एवं आत्मीयता का व्यवहार करना यही तो ईश्वर भक्ति की कसौटी है। इस कसौटी पर भक्त नामदेव सदा खरे उतरते रहे। एक दिन वे रोटी बना रहे थे कि अचानक एक कुत्ता आया और उनकी बनाई हुई रोटियाँ मुँह में दबा कर भागा। नामदेव उसके पीछे चुपके से घी की कटोरी लेकर जा पहुँचे और कुत्ते से कहा— 'मेरे भगवान्! आपको भोग लगाने के लिए यह घी भी मैंने मंगा रखा था फिर आप रूखी रोटी क्यों खाते हैं?' नामदेव ने कुत्ते को प्रेमपूर्वक खिलाया और उसकी रोटियाँ घी से चुपड़ दीं। यह तो एक घटना मात्र है। उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि प्राणि-मात्र में भगवान् को देखने और उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करने की नीति पर चलती थी। सच्चे सन्तों की अनादि परम्परा रही भी यही है।

जाति के दर्जी होने के कारण दूसरे लोग उन्हें समय-समय पर तिरस्कृत करते रहते थे पर इससे वे कभी खिन्न न हुए। 'जो भूल करता है उसे दुःखी होना चाहिए, मेरी मान्यता तो प्राणिमात्र में एक आत्मा देखने की है, जो इस सत्य के विपरीत जाति वंश के आधार पर किसी को छोटा माने तो यह उनका अविवेक है। किसी की भूल का दण्ड मैं क्यों सहूँ' यह कहकर उन तिरस्कार करने वालों की बात को उपहास में उड़ा देते थे और अपने मन को कभी छोटा न होने देते थे। लोग कुछ भी कहते रहें उन्होंने न अपने को किसी से ऊँच माना और न नीच। सन्तों की उपयुक्त समता पर उनकी अगाध आस्था थी वह जीवन भर वैसी ही बनी रही।

सन्त नामदेव ने धर्म-प्रसार को अपना आवश्यक धर्म कर्त्तव्य बनाया और वे महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक भागवत्धर्म का उपदेश जन-साधारण को करते रहे। तत्कालीन पण्डित लोग दान-पुण्य, पाठ-पूजा, कथा-कीर्तन और स्नान-दर्शन मात्र से ही भगवान् की प्राप्ति होने का प्रतिपादन करते थे। सदाचार और कर्त्तव्य-पालन को उन्होंने व्यर्थ मान रखा था और कहते थे कि इन कर्मकाण्डों से ही जब पाप नष्ट हो सकते हैं तो उन्हें छोड़कर घाटे में रहने की क्या आवश्यकता है? नामदेव के प्रतिपादन में यह अन्तर था कि वे कर्मकाण्ड को उपयोगी और आवश्यक तो मानते थे पर सदाचार एवं कर्त्तव्यपालन को प्रथम स्थान देते थे और स्पष्ट कहते थे कि दुरात्मा का भजन विडम्बना मात्र रह जाता है। भागवत्धर्म से उनका प्रयोजन उसी आस्था से था जो उपासना के साथ-साथ सच्चरित्रता एवं परमार्थ की प्रेरणा भी देती हो।

सच्चे भगवद्भक्त की तरह नामदेव ने भागवत्धर्म को अपने जीवन में उतारा और उसी की शिक्षा दूसरों को भी दी। संसार में अधिक संख्या निहित स्वार्थों से ग्रसित संकीर्ण लोगों की होती है, वे ऐसे सत्य को सहन नहीं कर पाते जो उनकी मान्यताओं से भिन्न हो। सत्य का प्रतिपादन करने के अपराध में उन्हें विरोध और निन्दा का सामना करते रहना पड़ा। शूद्र समझे जाने वाले वंश में उत्पन्न होना भी एक जन्मजात अपराध की तरह उन्हें तथाकथित पण्डितों का कोप-भाजन बनाये रहा। पर इससे क्या? सचाई का सूर्य चमकता ही रहा। उस पर धूल उड़ाने वाले अपनी दुरभिसन्धियों में कृतकार्य न हो सके। विवेकशील जौहरियों ने उनकी परख तब भी की थी और सन्त नामदेव ऊँचे सन्त-महात्माओं की श्रेणी में अब भी विद्यमान हैं। वे आज शरीर समेत भले ही न हों पर यह सन्देश तो देते ही रहेंगे कि आदमी बदल सकता है, उसे बदलना चाहिए। जब दुर्दान्त दस्यु से कोई व्यक्ति उच्च श्रेणी का सन्त बन सकता है तो गुण, कर्म, स्वभाव के साधारण परिवर्तनों में तो किसी मनस्वी व्यक्ति को कुछ भी कठिनाई न होनी चाहिए।

भाई रे भक्ति की शक्ति अपार

महाराष्ट्र हो या पंजाब सन्तों की विशाल दृष्टि से अनंत आकाश में बालक के छोटे वाले गेंद के समान तैरती हुई सारी पृथ्वी ही घर है— यह सोचकर विश्वमंगल का भाव लिये आस्तिकता और आध्यात्मिता का प्रचार करते हुये योगी श्री नामदेव महाराष्ट्र से पंजाब की ओर चल पड़े। पंजाब में भी उनके ज्ञान-यज्ञ का विस्तार और प्रसार होने लगा। आध्यात्मिकता को सरल और सरस बनाने के लिए उन्होंने कीर्तन को माध्यम बनाया। वे स्वयं भावविभोर होकर कीर्तन करते थे सो जहाँ भी उनका कीर्तन होता रस बरसने लगता।

एक दिन की बात है सन्त नामदेव का पंजाब के एक गाँव में कीर्तन चल रहा था— घटना सिखों के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ— 'ग्रन्थसाहब' से उद्धृत की जा रही है— मुसलमान नवाब उनके आस्तिक भाव को साम्प्रदायिकता और कुफ्र मानकर पहले ही जला-भुना बैठा था। पड़ौस में ही कीर्तन की बात से तो वह आग-बबूला हो गया। उसने दो सिपाहियों को समझा-बुझाकर भेजा। क्रूर सिपाही एक गाय को लेकर पहुँचे। भरे कीर्तन के बीच गाय की हत्या कर बोले— तुम्हारी भक्ति में कुछ शक्ति हो— तुम्हारी आस्तिकता सच्ची हो, तो इस मरी गाय को जिला दो?

नामदेव ने गाय की लाश देखी तो बड़े दुःखी हुये बोले— भाई मुझ से द्वेष था तो मुझे मारते— गाय ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था— मेरी क्या शक्ति सब भगवान् का खेल है जिलायेगा तो वही कहकर उन्होंने

भगवान् विठ्ठल देव का आह्वानपरक 'बिरहा' गाया और शुरू कर दिया भावपूर्ण कीर्तन। सभी लोग स्वर में स्वर मिलाकर कीर्तन करने लगे। विद्युत् की-सी तड़ित शक्ति का अवतरण और कीर्तन की तन्मयता। दोनों के बीच अलौकिक घटना घटी और लोग देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि गाय की सांस चलने लगी है धीरे-धीरे वह उठ खड़ी हो गई और पीछे कई वर्ष तक स्वस्थ रह कर जीती रही। सिपाही तो वहाँ ठहरे भी नहीं, नामदेव को प्रणाम कर वहाँ से चलते बने।

तथाकथित सभ्य जगत में चतुराई की चर्चायें और दाँव-पेच चला करते हैं जो एक मनुष्य का हृदय दूसरे से तोड़ते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिकता के जगत में भी मनमुग्धकारी तरह-तरह के करतब चलते रहते हैं। कोई उन्हें योगसिद्धि कहता है, कोई सत्य और धर्म का प्रभाव, भक्त लोग उसे ईश्वर की अनन्य कृपा मानते हैं। अपनी-अपनी निष्ठा की अपनी-अपनी अनुभूति। काम सब एक ही तत्त्व करता है। किसी को वह काम, भक्ति द्वारा सम्पन्न होता दिखाई देता है किसी को साधना की शक्ति द्वारा। वस्तुतः बातें दोनों एक हैं। तथापि सतोगुणी होने के कारण भक्ति को बड़ा मानते हैं।

पंढरपुर की तीर्थयात्रा के समय सन्त नामदेव और योगी ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) की भेंट हो गई। दोनों ने साथ-साथ तीर्थ यात्रा का निश्चय किया। तीर्थाटन से लौटते हुए जब वे बीकानेर से दस-बारह मील दूर कौलायत जी स्थान से गुजर रहे थे, तीव्र गर्मी के कारण उन्हें प्यास सताने लगी। ओंठ सूख गये, दम घुटने लगा— कुआँ तो दिख गया पर बहुत नीचा और उस पर भी पानी नहीं। किया क्या जाय? श्री ज्ञानेश्वर तो योगी थे, उन्होंने योगाभ्यास द्वारा विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। लघिमा शक्ति का आह्वान किया और जिस प्रकार लंकानगरी में प्रवेश के समय 'मसक समान रूप कपि धरी'— मच्छर जैसा छोटा रूप पवनसुत हनुमान ने रखा था उन्होंने भी अत्यन्त लघुरूप बनाया और कुयें में प्रविष्ट कर गये। उसकी सतह को भेद कर उन्होंने जल पी लिया और ऊपर आकर नामदेव से बोले— आप कहें तो आपको भी पानी ला दूँ।

नामदेव प्यासे थे, ज्ञानदेव की सहायता स्वीकारने में उन्हें कठिनाई भी न थी पर उनकी दूर-दृष्टि ने अनुभव किया— सिद्धियाँ अहंकार की पोषक होती है कहीं ऐसा न हो मैं श्री ज्ञानदेव के अहंकार बढ़ाने और उनके आत्मविकास में बाधा उत्पन्न करने का भागी बनूं। जब परमात्मा सर्व समर्थ है तो अपने शरीर-यन्त्र को शक्ति-सिद्धियों के अहंकार में क्यों फँसाया जाये। भक्त को तो हर क्षण भगवान् स्वर्ग और मुक्ति ऋतम्भरा प्रज्ञा, भक्ति और वैराग्य जैसी बहुमूल्य सम्पदायें दे सकते हैं तो एक लोटे पानी में क्या रखा है उनके लिये। बच्चा निर्धन होता है पर जब तक माँ रहती है वह निर्धनता कहाँ अनुभव करता है। सोचता है चाहे जब चाहे जितनी आवश्यक वस्तुयें ले लूँगा। नामदेव के अन्तःकरण का स्रोत उमड़ा और अभंग (भक्ति गीत) लहराने लगा, वायुमण्डल में तानपूरा बजा, नामदेव विह्वल नाचने लगे। शब्द भाव का स्थल रूप है— शब्द की शक्ति से मोटरें चल सकती हैं, इस्पात काटा जा सकता है, सूक्ष्म ऑपरेशन किये जा सकते हैं तो भाव से तो न जाने क्या-क्या किया जा सकता है। स्थूल की अपेक्षा द्रव अधिक शक्तिशाली होता है और सूक्ष्मतर होने पर भी गैसें द्रव से भी शक्तिशाली। प्लाज्मा पदार्थ की चौथी और गैसें भी सूक्ष्मतम स्थिति है उसकी शक्ति गैसों से भी अधिक अकूत है। सूक्ष्मता के इस परिवेश में भावनाओं की शक्ति की थाह तरंगों की प्रतिक्रिया थी कि जैसे ही सन्त नामदेव ने भगवान् का आह्वान कर उन्हें अपना प्यासे होने का कष्ट निवेदन किया न उन्हें लघिमा प्रयोग करना पड़ा न अणिमा, कुयें की तली से जल-स्रोत फूटा और उमड़ पड़ा ऊपर की ओर जलधारा ऊपर फूट पड़ी— नामदेव ने भी पिया और ग्रामवासियों ने भी। आज भी इस क्षेत्र में लोग लोक-गीतों में नामदेव की भक्ति के इस प्रभाव को गाते और उसका स्मरण कर पुलकित होते हैं।

एक और ऐसी ही घटना है सन्त नामदेव के जीवन की जो भक्ति की महान् शक्ति का प्रतिपादन करती है। शिवरात्रि पर्व था महाराष्ट्र के औढ़िया नामक स्थान में नामदेव भगवान् शंकर के दर्शनों के लिये गये। खेल में संलग्न बच्चा जब तक माँ को नहीं देखता तब तक माँ के प्रति उसके भाव भी प्रसुप्त से रहते हैं। माँ भी अपने काम से लगी रहती है पर खेल के बीच कभी उधर माँ आ गई तो बच्चा अपने अच्छे-अच्छे खिलौने, फल-फूल, मिठाई छोड़कर तड़फ उठता है दोनों हाथ ऊँचे कर अपनी जननी के स्नेह वात्सल्य के लिये। माँ भी लपक कर बच्चे को गोद में उठा कर प्यार करती है, चूमती-चाटती है। भले ही वह आत्म-शक्ति की प्रतिक्रिया हो पर मूर्ति स्थापना का उद्रेक होना ही तो है। नामदेव भगवान् के मन्दिर पर चढ़ गये— भाव उमड़ने लगे तभी मन्दिर के प्रबन्धक दौड़े और बोले— नीच। हरिजन (श्री नामदेव दर्जी या छीपी जाति के थे) तू ऊपर मंदिर में क्यों चढ़ आया? हमारे धर्म की यह भूल बड़ी दुःखद है कि एक ओर तो वह अद्वैत आत्मा का प्रतिपादन करता है दूसरी ओर केवल मात्र सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से बनाई गई वर्ण-व्यवस्था का आत्मभेद, ऊँच-नीच, छूत-अछूत का कुत्सित रूप दे देता है। इस मध्यकालीन साम्प्रदायिकता ने ही हिन्दू-जाति के संगठन और उसके समर्थ स्वरूप को नष्ट किया। भगवान् के लिये तो दुनिया के सभी लोग सन्तानवत प्रिय है कोई भेदभाव क्यों करे। नामदेव को धक्के मारकर नीचे उतार दिया गया, नामदेव ने अपने अपमान का ख्याल तो भुला दिया स्वयं पिछवाड़े खड़े होकर कीर्तन करने लगे। न जाने कौन-सी शक्ति थी जिस पर सारा महाराष्ट्र और देश चकित है कि भगवान् शिव की मूर्ति ने अपना मुँह फेर लिया और अपने भक्त को दर्शन दिया। इस घटना का बोध-स्वरूप आज भी इस मन्दिर का 'नादिया' शिवजी के सम्मुख न होकर पीठ पीछे प्रतिष्ठित है। सच्ची भक्ति के प्रभाव से लोग नत-मस्तक हुये और श्री नामदेव के लिये मन्दिर के द्वार खोल दिये गये।

संतों के जीवन-वृत्त अद्भुत घटनाओं से भरे हुये हैं उन घटनाओं का आधार वह शक्ति ही है जो भक्ति द्वारा अस्तित्व में आती और ऐसे चमत्कार पूर्ण करतब दिखा जाती है।

ज्ञान धारा बहाने वाले दक्षिण के भगीरथ संत ज्ञानेश्वर

भक्ति मार्ग के प्रवर्तक प्रसिद्ध धार्मिक सन्त स्वामी रामानन्द काशी से रामेश्वरम् की यात्रा पर निकले थे। मार्ग में एक गाँव पड़ता था आलन्दी। स्वामी रामानन्द ने वहाँ अपना डेरा डाला और कुछ दिनों तक रुक जनसाधारण को ज्ञान-कर्म और भक्ति त्रिवेणी में मज्जित कराते रहे। स्वामी रामानन्द एक मारुति मन्दिर में ठहरे हुए थे, उसी मन्दिर में गाँव की एक युवती स्त्री भी प्रतिदिन दर्शन और पूजन के लिए आया करती थी। संयोग से एक दिन स्वामीजी का उससे सामना हो गया। स्त्री ने रामानन्द जी को प्रणाम किया तो बरबस उनके मुँह से निकल गया— 'पुत्रवती भव।'

आशीर्वाद सुनकर युवती पहले तो हँसी फिर एकाएक चुप हो गयी। स्वामी जी को कुछ समझ में नहीं आया उन्होंने पूछा— 'देवी तुम हँसी क्यों हो ? फिर एकाएक चुप क्यों हो गयी ?'

उस युवती ने कहा— 'मेरी हँसी और फिर चुप्पी का कारण यह है कि आप जैसे महात्मा का आशीर्वाद बिल्कुल निष्फल जायेगा।'

'क्यों बेटी तुम्हारी कोई सन्तान नहो है क्या— माथे पर सिन्दूर और हाथों में चूड़ियाँ देखकर स्वामी जी ने उसके सधवा होने का अनुमान लगाते हुए कहा। तो स्त्री बोली — 'सन्तान हो भी तो कैसे स्वामी जी। मेरे पति तो वैराग्य धारण कर संन्यासी हो गये हैं। सुना है उन्होंने आप ही से ही दीक्षा ली है।'

'मुझसे'— स्वामी जी ने चिन्तामग्न होकर पूछा। चिन्ता इसलिए थी कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले तो गृहस्थ धर्म अंगीकार किया और इस धर्म में अभी ठीक से निर्वाह भी नहीं हुआ था कि उसने पलायन कर लिया और मुझसे ही दीक्षा ग्रहण की। कुछ सोचते हुए स्वामी जी ने पूछा— 'बेटी तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारे पति किस नाम से पुकारे जाते हैं।'

'मेरा नाम रुक्मिणी है और मेरे पति विट्ठल पन्त कहे जाते हैं— युवती ने कहा— 'वे एक दिन गंगा स्नान की कह कर गये और फिर कभी नहीं लौटे। लौटे तो उनके समाचार कि उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया है। तभी से मैं भी आठ पहर में केवल एक बार भोजन करती हूँ। पीपल की प्रदक्षिणा करती हूँ। इस बात को बारह वर्ष हो गये हैं।'

रुक्मिणी अभी २९-३० के लगभग की थी। इसका अर्थ 'क्या' कि विट्ठल पन्त के कारण यह असमय में ही तापस वेश धारण करने के लिए विवश हो गयी थी। स्वामी जी ने कहा— समझ गया। समझ गया। इतने ही वर्ष पूर्व विट्ठल पन्त ने मुझसे संन्यास दीक्षा ली थी और चैतन्याश्रम स्वामी नाम धारण किया था।

फिर उन्होंने अपनी रामेश्वर यात्रा का विचार निरस्त करते हुए कहा— अब मैं काशी ही जाऊँगा और चैतन्याश्रम को वापस तुम्हारे पास भेजूँगा। जो व्यक्ति सन्तानहीन युवती पत्नी को छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है, शास्त्रों की दृष्टि से वह आश्रम व धर्म की मर्यादा भंग करने वाला पातकी है। उसे दीक्षा देने वाला गुरु भी उस दोष का भागी बनता है।

स्वामी जी के इस निश्चय को सुनकर रुक्मिणी ने भी उनके साथ काशी चलने का विचार व्यक्त किया। अपने माता-पिता की सम्मति लेकर वह उनके साथ काशी गयी। स्वामी जी ने चैतन्याश्रम को बुलाकर सारा हाल पूछा तथा उसे समझा-बुझाकर रुक्मिणी के साथ आलन्दी भेज दिया। चैतन्याश्रम फिर गृहस्थ होकर विट्ठल पन्त हो गये। इन्हीं दम्पत्ति ने सन १२७३ में ज्ञानदेव को जन्म दिया जो सन्त ज्ञानेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब उनके माता-पिता समाज से बहिष्कृत कर दिये गये थे। स्वामी रामानन्द ने तो विट्ठल पन्त को संन्यास छोड़कर गृहस्थ धर्म का पालन करने की आज्ञा दे दी थी और इसे शास्त्रोचित्त भी बताया था पर महाराष्ट्र के पण्डित इसे सहन नहीं कर पा रहे थे। उस समय किसी संन्यासी का संन्यास छोड़कर गृहस्थाश्रम में लौट आना एक बहुत अद्भुत बात थी और इसे किसी भी रूप में सहन नहीं किया जाता था। समझा जाता था कि इससे संन्यासाश्रम का भी अपमान होता है और गृहस्थाश्रम पर भी कलंक लगता है। इसलिए वहाँ के ब्राह्मण पण्डितों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि उन्हें जाति और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाय।

विट्ठल पन्त जब बहिष्कृत कर दिये गये तो उनकी आलोचना भी खूब हुई। पर गुरु द्वारा दी गयी व्यवस्था के कारण लोकापवाद से वे जरा-भी विचलित नहीं हुए। उलटे उनके स्वाध्याय, आत्म चिन्तन और ईश्वर भजन में लगने वाला समय बढ़ता गया। पत्नी भी पति के पद-चिह्नों पर चलने लगी। इस प्रकार एक तरह से सारा परिवार ही भगवद्भक्त बन गया। उस समय विट्ठल पन्त की दशा अत्यन्त शोचनीय चल रही थी। न कहीं काम मिलता और न कोई शिक्षा देता था। फिर भी परम सन्तोषी वृत्ति के विट्ठल पन्त और उनकी पत्नी रुक्मिणी कई बार पेट की आग को पानी से बुझा लेते।

ज्ञानेश्वर अपने पिता की दूसरी सन्तान थे। उनसे पूर्व निवृत्ति नाथ का जन्म हो चुका था। बाद में एक भाई और बहिन जन्मे। इस प्रकार चार सन्तानों का पेट भरना बड़ा कठिन काम था। इस पर उनके भविष्य की चिन्ता अलग से। यह तो निश्चित था कि बहिष्कृत परिवार की सन्तान होने के कारण चारों को भी समाज में प्रतिष्ठा नहीं मिलती। न मिली ही। जब ज्ञानदेव के बड़े भाई निवृत्ति नाथ सात वर्ष के हुए तो विट्ठल पन्त ने उनका उपनयन कराने का विचार किया। उन्हें पता था कि संस्कार के समय कोई ब्राह्मण नहीं आयेगा। फिर भी उन्होंने अपनी ओर से अनुनय-विनय किया। कोई नहीं आया और निराश होकर विट्ठल पन्त ने पूरे परिवार को लेकर त्र्यंबकेश्वर चलने का निश्चय किया।

वहाँ अप्रत्याशित रूप से प्रसिद्ध योगी गहिनीनाथ ने निवृत्ति नाथ को दीक्षा दी। इसके बाद पूरा परिवार अपने गाँव आ गया। वहाँ कुछ दिनों तक रहे। फिर विट्ठल पन्त और रुक्मिणी अपने चार बच्चों को अनाथ छोड़कर प्रयाण कर गये। सब बालक अनाथ और असहाय

होकर भिक्षावृत्ति से अपना गुजारा करने लगे। पिता की तरह शास्त्राध्ययन और सत्संग चर्चा में उनकी भी बड़ी रुचि थी। उनकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर जहाँ पैठण के ब्राह्मण बड़े प्रभावित होते थे वहीं उनकी दुर्दशा देखकर उन्हें दया भी आती थी।

कुछ ही वर्षों में ज्ञानदेव ने शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ समाज की स्थिति का भी खुली आँखों से अध्ययन कर लिया। इससे उनकी समझ में यह तथ्य भली-भाँति आ गया कि इन दिनों समाज में वर्ण, जाति और आश्रम के अनुसार बड़ा भेद-भाव प्रचलित था। और इस भेद-भाव के शिकार न केवल वही लोग हुए हैं बल्कि निम्न जाति के कहे जाने वाले लोग उनसे भी गयी गुजरी स्थिति में हैं। ज्ञानदेव अपने अनुभव भाइयों को भी बताते हैं और सुझाते कि इन भेद-भावों को दूर किया जाना चाहिए। यह सुधार कार्य किस प्रकार हो इसका उचित उपाय यही समझा गया कि समाज में रहते हुए सौम्य और नम्र उपायों से ही काम लिया जाय।

इधर पैठण के ब्राह्मणों ने भी अच्छी उदारता का परिचय दिया। उन्होंने निर्णय दिया कि माता-पिता के अपराधों का दण्ड उनकी सन्तानों को देना अन्यायपूर्ण है इसलिए इन चारों भाई-बहिनों की शुद्धि कर समाज में ले लेना चाहिए। तदनुसार सन् १२८८ में पैठण के ब्राह्मणों ने इन चारों बालकों की शुद्धि करवा कर समाज में सम्मिलित कर लिया। शुद्धि कराकर ज्ञानेश्वर अपने भाई-बहिन सहित देवा से आ गये और वहीं रहने लगे। यहीं रहकर ज्ञानेश्वर जी ने भगवद्गीता पर १२९८ में एक सुन्दर भाष्य लिखा। जो 'ज्ञानेश्वरी गीता' के नाम से मराठी साहित्य और धर्म ग्रन्थों के भाष्यसाहित्य में आज भी अपना महत्त्व रखता है।

यों ज्ञानेश्वरजी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनायें प्रचलित हैं। पता नहीं वे कितनी सत्य हैं और कितनी असत्य। पर ज्ञानेश्वरी-गीता के नाम से उन्होंने जो ग्रन्थ धार्मिक जनता को दिया वह अपने आप में एक बहुत बड़ा चमत्कार है। लगभग ८००० पृष्ठों के इस वृहद् ग्रन्थ में गीता का भावार्थ मराठी के ओवी छन्दों में बड़े सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया गया है अब से लगभग ७०० वर्ष पूर्व लिखी गई इस ज्ञानेश्वर गीता में ४६ भाषाओं के शब्द आये बताये जाते हैं। इसी से पता चलता है कि ज्ञानेश्वर जी ने अल्पायु में ही कितनी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

जिस समय ज्ञानेश्वर जी ने गीता पर अपनी भावार्थ दीपिका टीका लिखी उस समय उनकी आयु केवल १५ वर्ष की बतायी जाती है। इतनी कम आयु में गीता जैसे गूढ़ग्रन्थ पर सुलझा हुआ भाष्य लिख देना एक चमत्कार ही कहा जायगा। ज्ञानेश्वरी पूरी करने के बाद वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। तीर्थयात्रा का उद्देश्य था लोगों को गीता के माध्यम से अधिक आत्म-कल्याण और ईश्वर प्राप्ति का सरल सुगम मार्गदर्शन दिखाना। कहते हैं कि उनके समकालीन प्रसिद्ध सन्त नामदेव भी इस तीर्थयात्रा में साथ थे। उनके बड़े भाई निवृत्ति नाथ— जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे, सोपानदेव और मुक्ताबाई तो साथ थे ही। साथ में कई ओर लोग हो गये थे।

जगह-जगह जाकर उन्होंने सर्व-साधारण को गीता का भावार्थ समझाया। इस ग्रन्थ की भाषा उन्होंने प्रयत्नपूर्वक इतनी सरल रखी कि जन-साधारण को आसानी से वे तथ्य समझ में आ जायें। जहाँ-जहाँ भी वे जाते भिक्षा-वृत्ति पर निकलते समय गीता सुनने के लिए भी लोगों को निमंत्रित कर देते। पहले दिन जितने लोग उन्हें सुनने आते दूसरे दिन श्रोता बनकर आने वालों की संख्या उससे बढ़ी-चढ़ी ही रहती। क्योंकि ज्ञानेश्वर के वक्तव्यों की भाषा सीधी-सादी होने के साथ-साथ वे कहते समय भावविभोर भी हो उठते। इसके अतिरिक्त वे अविश्वासी और दुराग्रही प्रवृत्ति के लोगों को अध्यात्म की शक्ति सामर्थ्य बताने के लिए विलक्षण कार्य भी कर बैठते। एक-बार कहते हैं उनके प्रतिपादनों की गूढ़ता देखकर कुछ लोगों ने उन पर संदेह किया था कि ये कहीं रटी-रटाई बातें तो नहीं हैं। ज्ञानदेव पर आपेक्ष करते हुए किसी ने कहा था, 'नाम से क्या होता है ? यह भैंसा जा रहा है। इसको भी ज्ञानदेव कह सकते हैं।'

इस पर ज्ञानदेव बोले— हाँ-हाँ ठीक है। इसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। इसमें भी मेरी ही आत्मा है।

इतना सुनने पर उस व्यक्ति ने भैंसे की पीठ पर कस कर तीन कोड़े लगाये उस समय ज्ञानेश्वर जी ने सर्वात्मभाव की सिद्धि का अद्भुत परिचय था। कहते हैं कि भैंसे की पीठ पर कोड़े पड़ते ही उसके निशान ज्ञानदेव की पीठ पर उभर आये थे और उन घावों से खून-बहने लगा था। इस प्रकार के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरों और चमत्कारिक दृश्यों ने उपस्थित जनता को ज्ञानेश्वर जी के पक्ष में कर दिया। अब उन्हें पण्डितों की हठधर्मिता की कोई चिन्ता नहीं रही। उससे भी अधिक उन्हें सफलता मिल चुकी थी। वह थी पण्डितों के अनुचित प्रभाव और अवांछनीय धारणाओं में लगाव का तिरोधान।

कुछ लोग भले ही मान्यताओं के सम्बन्ध में दुराग्रह करते रहें, उससे हानि तो तब है जब जन-साधारण में उनका प्रभाव बना रहे। सन्त ज्ञानेश्वर इस स्थिति को बदलने में बहुत कुछ सफल हो गये थे, इसलिए उन्होंने मूढ़ पण्डितों से उलझना छोड़ दिया। इस घटना के बाद वे कुछ दिनों तक अपने भाई-बहनों सहित पौण ग्राम में ही रहे और धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोगों में प्रचार करने लगे।

पौण में लोग उनकी विद्या-बुद्धि और धर्म-दर्शन में प्रवेश से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने विवेक और परमार्थ को ही धर्म का सच्चा स्वरूप निरूपित किया। लोगों के प्रश्न और जिज्ञासाओं का समुचित समाधान करने में उन्होंने अद्भुत कुशलता प्राप्त कर ली। ज्ञानवृद्धि के लिए धर्मशास्त्रों का अध्ययन और मनन-चिन्तन का क्रम भी चलता रहा। फलस्वरूप उनके विद्या भण्डार में वृद्धि होने लगी।

धर्म प्रचार के लिए उन्होंने उस समय की प्रचलित पद्धति ही अपनाई। कथा-वार्ता और कीर्तन-प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों को नया सन्दर्भ देना आरम्भ किया। वे प्रतिपादित करते थे कि धर्म और ईश्वर विश्वास ही सब सुखों का केन्द्र तथा कष्ट-कठिनाइयों के निवारण का मार्ग है। दु:ख-कष्टों के निवारण में प्रभु विश्वास सहारे का काम देता है। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के अभाव में धर्म लोगों को अति भावुक और अन्ध श्रद्धालु बना देता है। इस कारण लोग ईश्वर को अपनी कामना पूर्ति तथा अस्वाभाविक लाभों का आधार बना लेते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार की

मान्यताओं का खण्डन ही किया और कहा कि ईश्वर की सहायता आत्म बल की वृद्धि, धैर्य-धारण और सद्भावनाओं की प्रेरणा के रूप में ही प्राप्त की जा सकती है ।

पौण से चलकर वे जब नेवा ग्राम में पहुँचे तो वहाँ के लोगों ने उनका अद्वितीय सन्त और प्रखर ज्ञान सिद्ध महात्मा के रूप में स्वागत किया । अन्ध श्रद्धा और कामना पूर्ति के लिए कई लोगों ने उनसे सहायता की याचना भी की परन्तु ज्ञानेश्वर जी ने पुरुषार्थ और प्रयत्न को ही सफलता का मार्ग बतलाया । नेवा गाँव में एक स्त्री इस कामना से उनके पास आई कि वे उसके मृत पति को जिन्दा कर दें । सन्त ज्ञानेश्वर ने उस स्त्री से पति का नाम पूछा। स्त्री को आशा बँधी कि अब उसका पति जीवित हो जायेगा और उसने नाम बता दिया । मृत व्यक्ति का नाम था— 'सच्चिदानन्द' । ज्ञानेश्वर ने तुरन्त कहा— "सच्चिदानन्द तो अमर है । वह कभी मर ही नहीं सकता ।"

स्त्री यह सोचकर लौट गई कि उसका पति इतना कहने मात्र से जीवित हो गया होगा । परन्तु घर आकर उसने अपनी आशा के विपरीत पति को उसी अवस्था में पाया । वह फिर ज्ञानेश्वर के पास लौट कर आई । तब उन्होंने जन्म-मरण को प्रकृति का सहज-स्वाभाविक तथा आत्मा की अमरता के सम्बन्ध में विस्तार से समझाया । इन उपदेशों को सुनकर उस स्त्री का शोक सचमुच ही दूर हो गया । उनके वे उपदेश बाद में 'सच्चिदानन्द-विजय' नामक ग्रन्थ के रूप में पद्यमय लिपिबद्ध कर लिए गये ।

सन्त ज्ञानेश्वर के सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण घटनाएं भी लोक-श्रुतियों के रूप में मिलती हैं जिन्हें उन्हें अति मानवी स्वरूप देने के लिए कल्पना रंजित कर दिया गया है अन्यथा उन्होंने धर्म-साधना और ईश्वर-भक्ति की चमत्कारिक सिद्धियों का सदा विरोध ही किया । भगवान् की दी हुई विशेषताओं और योग-साधना के फलस्वरूप अर्जित की गई सिद्धियों और चमत्कारों का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए प्रदर्शन के रूप में करना उनकी दृष्टि में आत्म-कल्याण में बाधक ही था ।

चांगदेव नामक एक सिद्ध सन्त उन दिनों ताप्ती नदी के किनारे आश्रम बनाकर रहते थे । वे कई विद्याओं के ज्ञाता तथा परकाया प्रवेश, अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के स्वामी थे । ताप्ती के तटवर्ती इलाकों में उनकी बड़ी ख्याति थी । सन्त ज्ञानेश्वर ने इन तटवर्ती क्षेत्रों में प्रवेश किया तो स्वाभाविक ही उनकी कीर्ति फैली । चांगदेव को उनकी प्रसिद्धि से बड़ी ईर्ष्या हुई । अपना प्रतिस्पर्धी जानकर उन्हें अपमानित करने के लिए चांगदेव ने एक शिष्य को कोरा कागज देकर उनके पास भेजा । ज्ञानेश्वर ने उस कागज को उपस्थित कई लोगों के सामने खोला और चांगदेव के भावों को समझकर उसके जवाब में एक कविता लिखी । जिसमें अद्वितीय ब्रह्मज्ञान और चांगदेव के प्रति सम्मानप्रद भावनाएं व्यक्त की गई थीं ।

अपने व्यवहार के प्रत्युत्तर में इतना सद्व्यवहार करते देखकर चांगदेव का हृदय पिघल गया और वे अपने चौदह सौ शिष्यों के साथ सन्त ज्ञानेश्वर के पास आये । सन्त जी उनके आगमन का समाचार सुनकर उनका स्वागत करने के लिए कई मीलों दूर तक स्वयं चल कर आये ।

चांगदेव और भी प्रभावित हुए और बाद में तो उनके शिष्य ही बन गये । सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने इस नये शिष्य को चमत्कारों का प्रदर्शन छोड़कर आत्म-कल्याण की साधना में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया ।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने सदाशयतापूर्ण व्यवहार और आत्मीयता के प्रभाव से कई लोगों को सही मार्ग पर लगाया । वास्तव में मनुष्य जितना कहता है उससे कहीं अधिक सुना और समझा जाता है क्योंकि उसकी वाणी में उसके हृदय में बसने वाली भावना तथा सम्पर्क में आने वालों के प्रति व्यवहार और सद्गुण ही बल तथा प्रभाव उत्पन्न करते हैं । सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने को और मस्तिष्क को ही नहीं व्यवहार और हृदय को भी साधा था । इसी कारण लोग उनके उपदेशों से अधिक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते थे ।

धर्म प्रचार के लिए वे अपने शिष्यों सहित देश भर की यात्रा पर भी निकले थे । वे घूम-घूम कर ही लोगों को धर्म का उपदेश देते थे । दिल्ली पर उन दिनों कट्टर-पन्थी 'सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी' का राज्य था, जो हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था । उसके शासन में उपासना, पूजा-पाठ, यज्ञ, कीर्तन-भजन आदि सर्वथा निषिद्ध था । सन्त ज्ञानेश्वर को यह सब पता था । फिर भी उन्होंने दिल्ली की सीमा में प्रवेश करते हुए भी अपना यह क्रम चालू रखा । भजन-कीर्तन करते हुए वे राजधानी की सड़कों पर घूमने लगे । मौलवियों ने पहले तो मना किया परन्तु जब वे नहीं माने तो उनकी शिकायत सुल्तान से कर दी । सुल्तान ने उन्हें पकड़वाकर बुला लिया । ज्ञानेश्वर जी की तेजस्वी वाणी, अगाध ज्ञान और आदर्श व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जलालुद्दीन खिलजी ने हिन्दू धर्म पर लगे सभी प्रतिबन्ध हटा लिए और सब लोगों को अपने धर्म और उपासना की खुली छूट दे दी ।

इसी प्रकार सतपुड़ा के एक लुटेरे भील का हृदय परिवर्तन भी उनकी यात्रा के दौरान हुआ था और वह डाकू सन्त ज्ञानेश्वर का निष्ठावान शिष्य बन गया था । सन्त ज्ञानेश्वर ने घूम-घूमकर धर्म का सही मर्म सर्वसाधारण को समझाया तथा उसे स्वयं भी अपने जीवन में उतारा ।

उनकी मान्यता थी कि पूजा-पाठ तब तक अधूरा ही है, जब तक हृदय में सेवा और सद्भावनाएँ नहीं जागें । स्वयं गिरी हुई अभावग्रस्त स्थिति से ऊँचे उठे थे । बिना किसी का सहारा लिए स्वयं के प्रयासों से फिर भी गिरे हुए लोगों के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त सहानुभूति और उन्हें ऊँचा उठाने के लिए सहयोग देने की भावना थी । इसके लिए उन्होंने स्वयं भी प्रयत्न किया । चारित्रिक और आत्मिक दृष्टि से गिरे हुओं को ऊँचा उठाया और दीन-दुःखियों के प्रति सेवा-सहयोग की हवा बनाई । श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए कई धनवान और सम्पन्न व्यक्ति उन्हें धन-सम्पदा भेंट करने आते रहते थे । अर्पित पैसों की ओर से आँख मूँद कर उसे दीन-दुःखियों की सहायता में लगाने के लिए वे ज्यों का त्यों वापस कर देते ।

प्रवचन और उपदेशों द्वारा ही नहीं, लेखनी और क्रियाओं द्वारा भी उन्होंने मानव मूल्यों के प्रतिपादक धर्म का प्रचार किया । भविष्य

में भी लोग इन सिद्धान्तों को भूल न जायें, इसका समुचित प्रबन्ध किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने साहित्य भी लिखा। उनकी रचित ज्ञानेश्वरी गीता, अमृतानुभव योग वाशिष्ठ-टीका आदि पुस्तकें आज भी आध्यात्मिक साहित्य की अमूल्य सम्पदा मानी जाती हैं। ये सब कृतियाँ उन्होंने अपनी यात्राओं और प्रवासों के समय ही लिखीं।

आषाढ़ और कार्तिक कृष्ण पक्ष की एकादशी को पंढरपुर में प्राचीनकाल से भारी मेला लगता है। इस अवसर पर देश-देशान्तर से हजारों की संख्या में लोग आते हैं। उन्हें धर्म के सच्चे स्वरूप से परिचित कराने का सहज-सुलभ अवसर जानकर सन्त ज्ञानेश्वर भी इस मेले में गये। स्थान-स्थान से आये दूर-दूर के लोगों ने उनके सान्निध्य का लाभ उठाया। इस मेले में कुछ विरोधियों ने उनसे पूछा कि— "आप महान् सन्त और ज्ञानी हैं तो घर बैठकर ही क्यों नहीं पुजते ? इधर-उधर भटकते रहने की क्या जरूरत है ?"

ज्ञानेश्वर जी ने कहा— "जगह-जगह घूमकर लोगों को ज्ञान और सन्मार्ग दिखाना तो मेरा धर्म है। कुंआ प्यासे के पास नहीं जाता, इसलिए वह छोटा ही रह जाता है। सूखे तथा जरूरत के क्षेत्रों में नदी बहती है तो वह अणु से विभु, क्षुद्र से महान् और छोटी जलधारा से सागर बन जाती है। यह समझकर ही मैं भी अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए यत्र-तत्र भटकता रहता हूँ।" कितना सटीक उत्तर था उनका। सन्त महापुरुषों की लोक-हित साधना भी उनके आत्म-कल्याण में सहायक बन जाती है।

कहा जाता है कि ज्ञानेश्वर जी ने एक बार गधे के मुँह से भी वेद ऋचाओं का पाठ करवाया था। तीर्थ यात्रा द्वारा गाँव-गाँव में भक्तिमार्ग का प्रचार कर ज्ञानेश्वर जी वापस पंढरपुर लौटे। उन्होंने आत्म-कल्याण के लिए जिस मार्ग का उपदेश दिया उसमें ज्ञानकर्म और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए अधिकांश आचार्यों ने किसी एक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसे शंकराचार्य ने ज्ञान को ही सर्वाधिक प्रधानता दी है तथा कर्म और भक्ति को गौण बताया है लेकिन ज्ञानेश्वर ने ज्ञान, भक्ति और योग तीनों विषयों का समुचित विश्लेषण करते हुए साधक से अपनी रुचि के अनुकूल मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी है।

ज्ञानेश्वर जी ने अपनी ज्ञानधारा प्रयाग से लेकर वृन्दावन, पंजाब, मारवाड़, काशी, गिरनार आदि स्थानों पर बहाई और मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों तथा स्थानों को उस ज्ञान गंगा में स्नान कराते गये। तीर्थ यात्रा पूरी कर लेने के बाद पंढरपुर में ही उन्होंने सन् १२९६ में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वरी गीता के अतिरिक्त योगवाशिष्ठ पर भी उन्होंने अमृतानुभव नाम की एक टीका लिखी है। उनके उपदेशों से समाज में पिछड़े और निम्नकुल के लोगों में आत्मविश्वास का भाव जागा। बड़े-बड़े शास्त्रियों और धर्मगुरुओं ने उन्हें जब सर्व धर्म के लाभ से ही वंचित कर रखा था तब ज्ञानेश्वर जी ने उनके लिए ईश्वरीय राज्य का द्वार खोला और धार्मिक क्षेत्र में समानता का आदर्श स्थापित किया।

लोक-सेवी महात्मा— स्वामी विवेकानन्द

देश-विदेशों में श्री रामकृष्ण मिशन नाम से जो संस्था अपनी शाखाओं द्वारा लोक-सेवा के महान् कार्य कर रही है, उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द का घरेलू नाम नरेन्द्रनाथ था। उनका जन्म श्री विश्वनाथ दत्त के आत्मज के रूप में १२ फरवरी, १८६३ को कलकत्ता में हुआ था।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर पूरी करने के बाद उन्हें कलकत्ता के मैट्रोपोलिटिन इन्स्टीट्यूट में प्रवेश कराया गया। स्वामी विवेकानन्द को प्रारम्भ से ज्ञान प्राप्त करने की बड़ी लगन थी। वे मन लगाकर पढ़ते थे और तब तक किसी प्रसंग को न छोड़ते थे जब तक उसे पूरी तरह समझ कर हृदयंगम न कर लेते थे। अनेक बार उनके अध्यापकों ने उनसे कहा— नरेन्द्र ! तुम हर बात पर तर्क बहुत किया करते हो। जो बात बताई जाया करे उसे सुन कर मान लिया करो।

बाल विवेकानन्द ने निवेदन किया कि आप की आज्ञा शिरोधार्य है। विभिन्न प्रकार से बात जानने के लिये तर्क करने में मेरा मन्तव्य यही रहता है कि बात मेरी समझ में पूरी तरह आ जाये। ऐसी किसी बात पर तर्क नहीं करता जो सामान्यतः मेरी समझ में आ जाती है। आगे से जिज्ञासा होने पर तर्क न करूँगा। गुरु की आज्ञा मान लेने में सब प्रकार से हित ही है। अध्यापक विवेकानन्द के कथन से सन्तुष्ट हो गये और कह दिया कि नरेन्द्र ! जब तक तुम्हारी जिज्ञासा सन्तुष्ट तथा शंका समाधान न हो जाये तब तक किसी भी बात को तर्कों के साथ पूछ और समझ सकते हो। विवेकानन्द का सतर्कतापूर्ण अध्ययन चलता रहा और उनकी सच्ची जिज्ञासा ज्ञान के रूप में परिणित होकर उन्हें आयु एवं अध्ययन के अनुपात से आलोकित करती रही।

बाल विवेकानन्द जिस समय कलकत्ता में मैट्रिक परीक्षा की तैयारी कर रहे थे बहुत बीमार हो गये। बीमारी की दशा में भी वे अपने अध्ययन में पूर्ववत् ही लगे रहे जिससे उनका स्वास्थ्य निराशाजनक स्थिति में पहुंच गया। स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता प्रकट करते हुए एक दिन उनके कक्षा अध्यापक ने कहा—नरेन्द्र ! तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत गिर गया है, जिसे उन्नत करने के लिये आवश्यक है कि तुम कुछ समय के लिये अध्ययन से अवकाश लेकर विश्राम करो।

अध्यापक की बात सुनकर विवेकानन्द ने दुःखी होकर कहा— 'गुरुदेव ! यदि अध्ययन से अवकाश लेकर बैठा रहूँगा तो मैं उस ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूँगा जिसे पाने के लिये लालायित हूँ। ज्ञान रहित अन्धेरा जीवन मृत्यु से बुरा होता है ऐसा मैंने अनेक पुस्तकों में पढ़ा है। अध्यापक ने नरेन्द्र को समझाते हुए कहा— यह बात ठीक है कि अज्ञान का अन्धकार मृत्यु के अन्धकार से भयानक होता है। फिर भी संसार की सारी उपलब्धियाँ शरीर के साथ ही हैं। जब आरोग्य के अभाव में शरीर ही अक्षम हो जायेगा तब न तो तुम

ज्ञान प्राप्त कर सकोगे और न उसका कोई उपयोग ही कर सकोगे। ज्ञान पाकर उसका उपयोग लोक-मंगल के लिये न कर सकना भी ज्ञान न पाने के समान है। इस अस्वस्थ अवस्था में ज्ञान का एक बिन्दु पाने में जीवन के अनेक बिन्दु नष्ट हो जायेंगे। फिर अस्वस्थ अवस्था में हठपूर्वक पाया हुआ ज्ञान उतना निर्विकार एवं प्रसादपूर्ण नहीं होता, जितना कि उसको स्वभावत: होना चाहिये।

घर आकर विवेकानन्द ने अपने अध्यापक का परामर्श माता को बताया। आँखों में आँसू और मुख पर निराशा की छाया लिये विवेकानन्द से माता ने कहा—इसमें निराश होने की क्या आवश्यकता, अभी तेरी आयु ही क्या है? थोड़े दिन विश्राम करके स्वास्थ्य सँभाल ले। अनन्तर पुन: अध्ययन करने लगना। गुरुजनों की बात मान कर नरेन्द्र ने विद्यालय छोड़ दिया। किन्तु वह चौदह वर्षीय किशोर विवेकानन्द इस व्यवधान से प्रसन्न न हो सका जिससे विश्राम की अवस्था में भी स्वास्थ्य का कोई लाभ न हुआ। निदान माता ने उसके पिता को स्थिति से अवगत कराया।

विवेकानन्द के पिता उस समय मध्य प्रदेश में काम कर रहे थे। उन्होंने नरेन्द्र को अपने पास बुला लिया। सावधानीपूर्वक जब श्री विश्वनाथ दत्त ने नरेन्द्र के स्वास्थ्य लाभ की ओर बढ़ा दिया तब उसे स्वयं थोड़ा-थोड़ा पढ़ाने लगे। उन्हें पता था कि अनाभ्यास से प्राप्त विद्या भी चली जाती है।

दो वर्ष तक अपने पास रखकर स्वास्थ्य एवं शिक्षा वृद्धि कर श्री विश्वनाथ दत्त ने नरेन्द्र को पुन: 'मैट्रोपोलिटिन इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता में पढ़ने के लिए भेज दिया। इस स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवधान से नरेन्द्र मैट्रिक की परीक्षा में दो साल पिछड़ गये। इसका उन्हें बहुत खेद था। किन्तु जो समय निकल जाता है वह किसी प्रकार वापस नहीं लाया जा सकता। उसकी क्षतिपूर्ति केवल इस उपाय से हो सकती है कि सामान्य अनुपात से कुछ अधिक समय काम किया जाय। स्वास्थ्य के प्रत्येक नियम का सावधानीपूर्वक पालन किया जाये जिससे कि समय की क्षतिपूर्ति में अस्वास्थ्य बाधा रूप न बन सके।

इस समय तक नरेन्द्र की आयु सोलह वर्ष की हो गई थी। वह पहले से अधिक सावधान, संयमित एवं संतुलित रह कर इस संकल्प के साथ अध्ययन में लग गया कि उसे हर परिश्रम के मूल्य पर मैट्रिक उत्तमोत्तम श्रेणी में पास करना है। पुरुषार्थी नरेन्द्र का संकल्प पूरा हुआ और वह स्कूल में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ।

मैट्रिक पास कर नरेन्द्र ने जिस समय कॉलेज में प्रवेश लिया उस समय उसके हृदय ने पुलकित होकर कहा अब मैं उस क्षितिज के निकट आ गया हूँ जहाँ से ज्ञान के गहन स्तरों का उद्घाटन होता है। यदि मैं अपने परिश्रम के बल पर ईश्वरीय कृपा के समान ज्ञान की प्राप्ति कर सका तो संसार का अंधकार दूर करने में जीवन का एक-एक क्षण लगा दूँगा। इस शिव संकल्प की अनुभूति ने नरेन्द्रनाथ के हृदय में एक ऐसे उत्तरदायित्व का जागरण कर दिया जिससे उनका मानसिक स्तर सामान्य से उठ कर असामान्य स्थिति की ओर बढ़ गया। उनकी आत्मा में महानता का रोमांच होने और मन में कल्याण की कामनायें कल्लोल करने लगीं। उन्होंने आनन्द में आँख मूँद कर परमात्मा को धन्यवाद दिया और मन ही मन अपने आप से कहा—नरेन्द्र! लोक-सेवा की मंगल कामना में इतना सुख है तब न जाने उसका प्रतिपादन करने में कितना सुख और संतोष होगा! कर्तव्य ध्वनित हो चुका है उसका पालन करना और फलस्वरूप मानव जीवन की धन्यता प्राप्त करना अब तेरे हाथ में है। नवयुवक नरेन्द्रनाथ के इस मानसिक परिवर्तन को किसने देखा? उसकी उस आत्मा ने जो लोक-कल्याण की भावना से तड़प उठी और उस भविष्य ने जो उनको स्वामी विवेकानन्द के रूप में पूजने की प्रतीक्षा कर रहा था। विश्वकल्याण के शिव संकल्प के साथ जीवन में जाग उठने वालों को ऐसे कौन श्रेय हैं जो पूर्ण रूप से न मिल जाते हों।

लोक-कल्याण के लिये नरेन्द्र नाथ ने जिस ज्ञान की आवश्यकता समझी उसे प्राप्त करने के लिये उन्होंने पाश्चात्य दर्शनों के साथ भारतीय दर्शन का अध्ययन किया। अनेक वर्षों तक दर्शनशास्त्रों में निमग्न रहने के बाद जब उन्होंने भली प्रकार जान लिया कि अँग्रेजों ने जिस भारतीय तत्त्वज्ञान को दिमागी उड़ान कह संसार में हेय स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है, भारत का वह तत्त्वज्ञान संसार में सबसे अधिक सत्य है, शाश्वत एवं श्रेष्ठ है। तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे संसार को भारतीय तत्त्वज्ञान से अवगत करायेंगे और अँग्रेजों की इस दुरभिसन्धि को निर्मूल कर देंगे जो कि वे भारतीयों को जड़, अन्ध-विश्वासी तथा अविवेकी कह कर स्वराज्य के अयोग्य बतलाते हुए विश्व-मत को भारत के पक्ष में होने से रोकते हैं।

इसके पूर्व कि वे संसार में भारत का आलोकित पक्ष प्रस्तुत करने के लिये आध्यात्मिक अभियान प्रारम्भ करते उन्होंने किसी सुयोग्य गुरु की छाया में योगाभ्यास द्वारा अपनी आत्मा तथा ज्ञान को प्रामाणिक बना लेना चाहा। निदान उन्होंने स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शरण ली और उनकी कृपा से तेज-पूर्ण तपस्या के साथ ज्ञान-सागर को अपनी आत्मा में भर लिया।

अभी तक जो नरेन्द्रनाथ अपने गुरु के सम्मुख आध्यात्मिक विद्यार्थी थे गुरुदेव के विसर्जित होने के साथ ही संन्यास धारण कर धर्म सेनानी बन कर स्वामी विवेकानन्द के रूप में बदल गये। गुरु के प्रति स्वामी विवेकानन्द की अनन्य श्रद्धा ने उन्हें स्वामी रामकृष्ण परमहंस का तरुण संस्करण बना दिया। जिन्हें देखकर न जाने कितने तरुण देश-धर्म की सेवा करने के लिए तपस्वी बन गये।

तभी अमेरिका के शिकागो शहर में संसार का सर्वधर्म सम्मेलन हुआ जिसमें स्वामी जी ने भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व किया और अपने ज्ञानपूर्ण ओजस्वी भाषण द्वारा न केवल अमेरिका बल्कि इंग्लैण्ड को आश्चर्यचकित बनाकर भारतीय तत्त्व ज्ञान की यथार्थता का समर्थक बना दिया। अनेक मास अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में सम्मान एवं साधुवाद पाकर जब स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे तब उनके साथ अनेक ऐसे शिष्य थे जो इससे पूर्व भारतीय धर्म को असभ्यों का विश्वास सिद्ध करने में ही जीवन की क्षमतायें लगा रहे थे।

धार्मिक विजय कर देश में लौटने पर स्वामी विवेकानन्द की शिष्य बनने की परम्परा लग गई जिनमें अधिकतर सुशिक्षित एवं सम्पन्न परिवार के तरुण ही थे जो कि आध्यात्मिक लाभ के लिये संसार के

भोगों को छोड़कर उन महात्मा की शरण में आये थे। शिष्यों का अनुरोध था कि स्वामी विवेकानन्द आश्रम बना कर रहें और उन सब को योग साधना की शिक्षा देकर मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ायें। किन्तु वे लोग सेवा का संकल्प छोड़कर मठाधीशों की तरह रहने को तैयार न हुए।

स्थानीय पूजा की मोहमयी मान्यता को ठोकर मारकर स्वामी विवेकानन्द ने दीन-दुःखियों, अनाथों तथा विधवाओं की सेवा करने के लिए अनेक मठ स्थापित किये, जिनमें वे आश्रयहीनों को आश्रय और शिष्यों को लोक-सेवा का शिक्षण एवं प्रशिक्षण करते थे। ज्ञानगरिमा की साकार प्रतिमा स्वामी विवेकानन्द ने एकान्त-साधना द्वारा प्राप्त होने वाले आत्मानन्द को अंगीकार न कर सिद्ध कर दिया कि सच्चे योगी और वास्तविक परमार्थी लोक-कल्याण तुलना में परम पद का कोई मूल्य नहीं मानते।

सन् १८८८ में रामकृष्ण मठ का कार्य अन्य गुरु भाइयों के सुपुर्द करके अपने उस महान् जीवन कार्य को सिद्ध करने के लिये निकल पड़े। उनका पहला कार्यक्रम यह था कि एक बार समस्त देश का भ्रमण करके जनता की दशा और प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाय, जिससे उसके उद्धार और प्रगति का ठीक-ठीक मार्ग निश्चय किया जा सके। उन्होंने यह प्रवास ब्रजभूमि से आरम्भ किया और राजस्थान, गुजरात, बम्बई, प्रान्त, मैसूर, मद्रास में कभी पैदल, कभी रेल द्वारा यात्रा करते हुये ठेठ कन्याकुमारी तक जा पहुँचे। इस यात्रा में उनको लगभग चार वर्ष लगे और अनेक राजा, महाराजाओं तथा जन-साधारण से उनका परिचय हुआ और सब प्रकार के भेद-भावों को त्याग कर साम्यभाव करने का अवसर मिला। संन्यास का सिद्धान्त है कि ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक को समदृष्टि से देखा जाय और वैसा ही व्यवहार किया जाय। स्वामी जी ने संन्यास ग्रहण किया था पर अभी उसे व्यवहार में लाने का अवसर यहीं मिला था। वृन्दावन को जाते हुये मार्ग में उन्होंने एक व्यक्ति को हुक्का पीते देखा तो उनके मन में भी चिलम पीने की इच्छा हो आई। पर जब उस व्यक्ति से चिलम माँगी तो उसने यह कह कर देने से इंकार कर दिया कि मैं तो जाति का मेहतर हूँ। यह सुनकर इनको भी संकोच हुआ और आगे चल दिये। पर कुछ ही क्षण बाद उनको ध्यान आया कि क्या यही मेरा संन्यास है कि मैं अब भी मेहतर को नीच मान रहा हूँ। वे फिर वापस लौट आये और उस मेहतर से आग्रहपूर्वक चिलम माँग कर पी।

इसी प्रकार जब वे खेतड़ी में भ्रमण कर रहे थे तो एक गाँव में उनको तीन दिन तक अन्न-पानी नहीं मिला, यह देखकर एक वृद्ध चमार को बड़ा तरस आया और वह रात में चुपचाप उनके पास पहुँचा और खाने के सम्बन्ध में पूछने लगा। स्वामी जी ने उससे रोटी लाने को कहा पर उसने उत्तर दिया कि मैं चमार हूँ। अगर आपको रोटी खिलाऊँगा तो मालूम होने पर मुझे गाँव से निकाल दिया जायेगा। पर स्वामी जी के आश्वासन देने पर वह रोटी ले आया। कुछ समय पश्चात् जब स्वामी जी खेतड़ी के राजा के अतिथि बने तो उन्होंने इस घटना का जिक्र महाराज से किया। राजा ने चमार को बुलाया जिससे पहले तो वह बहुत डरा और रोकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा। पर राजा ने उसे धैर्य देकर अच्छा इनाम दिया और जन्म भर के गुजारे की व्यवस्था कर दी।

स्वामी विवेकानन्द को सौराष्ट्र में भ्रमण करते समय किसी ने बताया कि सन् १८९३ में अमेरिका के शिकागो नगर में एक धर्म संसद का आयोजन किया जाने वाला है। उनके मन में विचार आया कि यदि पराधीन भारत विदेशी धर्म मंच से अध्यात्म का प्रकाश विभिन्न देशों को दे सके तो बड़े ही गौरव की बात होगी। एक दिन कन्याकुमारी के दर्शन कर वे समुद्र की लहरों में तैरने का आनन्द ले रहे थे कि पास में ही एक शिलाखण्ड दिखाई दिया। उस पर बैठ कर वे ध्यान-मग्न हो गये। साधना के बाद उठे तो उनमें शिकागो जाने का दृढ़ संकल्प था।

मद्रास में जाकर उन्होंने लोगों से अपने संकल्प की विधिवत् घोषणा कर दी और वह दिन निकट ही आ गया जिस दिन जलपोत में सवार हो शिकागो की ऐतिहासिक यात्रा करनी थी। ३१ मई, १८९३ को उनके जलपोत ने भारत से विदा ली। वह वेनकूवर पहुँचे वहाँ से रेलगाड़ी द्वारा शिकागो तक की यात्रा पूर्ण की। शिकागो पहुँच कर स्वामी जी को जो जानकारी मिली वह बड़ी निराशाजनक थी। धर्म संसद का आयोजन तो सितम्बर माह में होना था पर वक्ताओं के नाम रजिस्टर्ड हो चुके थे और किसी मान्यता प्राप्त संस्था के प्रतिनिधियों को ही उस संसद में सम्मिलित होने का अधिकार था।

स्वामी जी तो किसी मान्य संस्था के प्रतिनिधि बन कर आये नहीं थे, फिर आयोजन में तो अभी दो माह शेष रह गये थे उनके पास इतना धन कहाँ था जो दो माह का समय किसी प्रकार बिता सकें। इस प्रकार की कठिनाइयों के मध्य वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। वह तो किसी और ही धातु के बने थे। स्वभाव से ही आशावादी तथा साहसी थे। बोस्टन अमेरिका का कम खर्चीला स्थान था अत: वह वहाँ चले गये। उन्होंने सोचा कि जब तक अपने पास थोड़े-बहुत पैसे हैं तब तक वहाँ गुजारा किया जायगा। इसके बाद कुछ और व्यवस्था सोच ली जायेगी।

स्वामी जी का देदीप्यमान चेहरा और मधुर वाणी सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। उनका व्यक्तित्व ही चुम्बकीय था। वह रेल यात्रा कर रहे थे कि धनी परिवार की एक महिला उनके स्वभाव को देखकर मन्त्र-मुग्ध-सी हो गई। उस महिला का कृषि फार्म मेटकाफ नामक स्थान में था जहाँ स्वामी जी को आतिथ्य स्वीकार कर जाना पड़ा।

अब तक स्वामी जी का नाम रजिस्टर्ड न हुआ था। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक साहित्य के प्राध्यापक प्रोफेसर जान हेनरी राइट जब स्वामी जी से प्रथम बार मिले तो वे बड़े प्रभावित हुए। उन्हें ऐसा लगा कि वे ऐसे उद्भट विद्वान् तथा विचारक से अपने जीवन में प्रथम बार ही भेंट कर रहे हैं। उन्होंने अपनी ओर से ही स्वामी जी से निवेदन किया कि वे संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करें। प्रतिनिधि-चयन-समिति के अध्यक्ष उनके मित्र थे अत: उन्होंने अध्यक्ष महोदय को स्वामी जी का परिचय कराते हुए कहा कि मेरे विश्व-विद्यालय के समस्त प्राध्यापकों की विद्वत्ता से भी अधिक विद्वत्ता

स्वामी जी में है। अन्त में स्वामी जी को विदा करते समय प्रो. जान ने शिकागो तक का एक टिकट भी खरीद कर दिया।

स्वामी जी कठिनाइयों से जूझने वाले थे, घबराने वाले नहीं। पास में एक भी पैसा न रहा तो रात भर भूखे पड़े रहे। सर्दी के दिन, जोर का हिमपात, बचाव के लिए कुछ भी नहीं मिला तो सड़क के किनारे पर पड़े टूटे सन्दूक में बैठकर ही सर्दी बचा ली। सुबह उठ कर द्वार-द्वार भिक्षा माँगी तो बदले में मिला एक भारतीय सन्त को अपमान और अपशब्द क्योंकि स्वामी जी पराधीन देश के निवासी थे। सहायता देना तो दूर रहा कितने ही व्यक्ति तो उनसे बात करना तक पसन्द नहीं करते थे।

सोमवार ११ सितम्बर, १८९३ शिकागो कला संस्थान का कोलम्बस हाल और समय ठीक दस बजे का। आश्चर्य भी इस बात का कि एक धर्म मंच पर विश्व के दस धर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित थे। विश्व के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। मंच के मध्य में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के आचार्य कार्डिनल गिवन्स बैठे थे। उनके बाईं ओर रोमन कैथौलिक, प्रोटेस्टेण्ट, प्रेस्बेटिरियन आदि ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के पादरीगण काली पोशाक में तथा दायीं ओर पूर्वी देशों के प्रतिनिधि विभिन्न प्रकार की रंग-बिरंगी पोशाकों में विराजमान थे। लंका से श्री धर्मपाल बौद्ध भिक्षु तथा जैन धर्म की ओर से गाँधी जी के एक सम्बन्धी पहुँचे थे। ब्रह्म समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले थे बंगाल के प्रतापचन्द्र मजूमदार तथा बम्बई के नागरकर। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और श्री चक्रवर्ती ने थियासोफ़ी सोसाइटी का प्रतिनिधित्व किया। पर इन सबके मध्य सर्वाधिक आकर्षित करने वाले थे स्वामी विवेकानन्द।

जो 'सिस्टर्स एण्ड ब्रादर्स ऑफ अमेरिका' ही बोल पाये थे कि सारा हाल करतल ध्वनियों से गूँज उठा। सारे श्रोता उनके सम्मान में खड़े हो गये। वैसे अब तक कितने ही विद्वानों के भाषण सुने जा चुके थे पर जो आत्मीयता और मधुरता स्वामी जी के प्रथम शब्दों में थी वह अन्य किसी के भाषण में सुनने को न मिली थी। स्वामी जी स्वयं आश्चर्य में पड़ गये कि अभी तक मैं कुछ कह भी नहीं पाया हूँ फिर भी यह जन-समूह में हर्ष ध्वनि क्यों? स्वामी जी का यह प्रथम भाषण बहुत ही संक्षिप्त था। आमतौर से बोलने के पूर्व लोगों की यह धारणा थी कि पराधीन देश का कोई पिछड़ा व्यक्ति अपनी बात शिक्षित समाज के सम्मुख क्या रख सकेगा? पर छोटे-से भाषण ने भी लोगों को अपनी धारणा बदलने के लिए विवश होना पड़ा।

स्वामी जी ने कहा जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों से निकलने वाली और विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होने वाली सभी सरिताएँ समुद्र में ही जाकर मिलती हैं उसी प्रकार अपनी रुचि की विभिन्नता के कारण टेढ़े अथवा सीधे मार्ग पर चलकर हम सब पहुँचते एक ही परमतत्त्व के पास हैं। इसके बाद तो स्वामी जी के भाषण को सुनने के लिये सैकड़ों मील से व्यक्ति आने लगे और स्वामी जी के नम्बर की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से करते थे। संसद के व्यवस्थापक भी कम चालाक न थे उन्होंने स्वामी जी के प्रति सामान्य जनता का जब यह झुकाव देखा तो उनका कार्यक्रम सबसे अन्त में रखा जाने लगा जिससे अन्त तक सारा प्रवचन हाल भरा रहता था। जहाँ अन्य वक्ताओं को आधे घण्टे बोलने का समय निर्धारित किया गया था वहाँ स्वामी जी पर से समय का यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया।

उन दिनों स्वामी जी के शिकागो कार्यक्रमों के समाचार भी दैनिक पत्रों में प्रकाशित होते थे। न्यूयार्क हेरल्ड के सम्पादकीय लेख में तो यह लिखा था कि स्वामी जी का व्यक्तित्व धर्म संसद के समस्त वक्ताओं में अद्वितीय है। ऐसे विद्वान् का भाषण सुनकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारत अध्यात्म और विद्वता की दृष्टि से कितना बढ़ा-चढ़ा देश होगा, फिर ऐसे देश में ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार के लिये भेजना कितनी बड़ी मूर्खता है।

भारत से दूर दो वर्षों तक स्वामी जी इस नई दुनिया का भ्रमण करते रहे और सैकड़ों स्थानों पर धर्म-जिज्ञासुओं को अध्यात्म का सन्देश सुनाते रहे पर उनके भाषणों में पिष्टपेषण नाम की कोई चीज न थी। प्रत्येक भाषण नये विचारों से ओत-प्रोत रहता था। सन् १८९७ में वे भारत लौटे। यहाँ ५ वर्ष तक देश के कोने-कोने में जाकर सन्देश देते रहे कि देशवासियों उठो, जागो और जब तक उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय तब तक रुको मत।

स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणावादी कथा प्रसंग

स्पष्टवादी

किशोरावस्था में ही विवेकानन्द एक ऐसे गुरु की खोज में थे जिन्होंने स्वयं ईश्वर को देखा हो और उन्हें भी दिखा सके। वह जिस साधु-सन्त को देखते उसी से प्रश्न करते— "क्या आपने भगवान् को देखा है?"

एकबार उन्हें रामकृष्ण परमहंस के दर्शन हुए। उनके व्यक्तित्व और प्रवचनों से विवेकानन्द जी बहुत प्रभावित हुये। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में उन्हें मिलने के लिये बुलाया।

विवेकानन्द उनसे मिलने गये तो देखा कि एक से एक बड़े आदमी उनकी सेवा में तत्पर हैं और वे उन्हें ईश्वर सम्बन्धी उपदेश कर रहे हैं। बालक विवेकानन्द उस प्रभावपूर्ण वातावरण में जरा-भी नहीं झिझके और श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रश्न कर दिया— "क्या आपने भगवान् को देखा है?"

बालक का यह दु:साहस देखकर श्रीरामकृष्ण के भक्तों ने बुरा माना और कहा— बालक! तुम्हें भगवान् से ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिये, स्वामी जी तो स्वयं भगवान् स्वरूप हैं।

बालक विवेकानन्द ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया— "मैं बिना ठीक से समझे किसी बात पर अन्धविश्वास नहीं करता।" श्रीरामकृष्ण उनकी इस स्पष्टवादिता से बहुत प्रसन्न हुये।

साथी की रक्षा

बालक विवेकानन्द अपने साथियों के साथ मेला देखकर आ रहा था। रास्ते में उसका एक साथी एक ताँगे के सामने इस प्रकार आ गया कि उसको दबते देखकर सभी चीख-पुकार करने लगे।

तभी वे बिजली की तरह दौड़कर घोड़े के सामने इस प्रकार खड़े हो गये कि सहसा घोड़ा एक तरफ मुड़ गया और वह अपने साथी को खींच कर किनारे ले आये।

सहज शालीनता

स्वामी विवेकानन्द रेल के जिस डिब्बे में सफर कर रहे थे उसी डिब्बे मे कुछ अंग्रेज यात्री भी थे। उन अँग्रेजों को साधुओं से बहुत चिढ थी। वे साधुओं की भर पेट निन्दा कर रहे थे। साथ वाले साधु यात्री को भी गाली दे रहे थे। उनका विचार था कि वह साधु अंग्रेजी नहीं जानता होगा। उन दिनों अंग्रेजी जानने वाले साधु होते भी नहीं थे।

बड़े स्टेशन पर हजारों स्वागतार्थी उपस्थित थे जिनमें विद्वान् एवं अधिकारी भी थे। अंग्रेजी में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर स्वामी जी अंग्रेजी में ही दे रहे थे। ऐसी अच्छी अँग्रेजी बोलते देखकर अंग्रेज यात्री स्तब्ध रह गये और अवसर मिलने पर नम्रतापूर्वक पूछने लगे कि आपने हम लोगों की बातें सुनीं और बुरा माना होगा। स्वामी जी ने अपनी सहज शालीनता से कहा—

''मेरा मस्तिष्क अपने ही कार्यों में इतना अधिक उलझा हुआ था कि आप लोगों की बातें सुनते हुए भी उन पर ध्यान देने और उनका बुरा मानने का अवसर ही नहीं मिला।''

मनुष्य की पहचान

गेरुआ वस्त्रधारी स्वामी विवेकानन्द न्यूयार्क की सड़क पर चले, तो पीछे कौतूहलप्रिय भीड़ चलने लगी। लोग उनका हँसी-मजाक बनाते और उनकी वेशभूषा पर टिप्पणी करते जा रहे थे। थोड़ा चलने के बाद, स्वामी जी रुके। भीड़ की ओर मुँह किया और बोले— ''सज्जनो ! आपके देश में सम्भवतः सभ्य होने की परख वेशभूषा से की जाती है। किन्तु जिस देश से मैं आ रहा हूँ, वहाँ मनुष्य की पहचान उसके कपड़ों से नहीं, चरित्र से होती है।''

उन तेजस्वी वचनों को सुनकर भीड़ स्तब्ध-सी रह गई। स्वामी जी आगे बढ़ गये।

भागो मत—सामना करो

दुष्ट परिस्थितियों की तरह काशी के बन्दर भी बड़े दुष्ट होते हैं। एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था। उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे जो आने-जाने वालों को अकारण तंग करने में बड़े विख्यात थे।

मेरे साथ भी उन्होंने वही किया। मेरा रास्ते से गुजरना उन्हें अच्छा न लगा, वे चिल्लाकर मेरी ओर दौड़े और पैरों में काटने लगे। उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत हुआ। तेजी से भागा पर जितना भागता बन्दर भी उतना दौड़ते और काटते। तभी एक अपरिचित स्वर सुनाई दिया— ''भागो मत सामना करो।'' बस मैं खड़ा हो गया और ऐसी जोर की डाट बताई कि एक घुड़की में ही बन्दर भाग खड़े हुए।

जीवन में जो कुछ भयानक है उसका हमें साहसपूर्वक सामना करना पड़ेगा। परिस्थितियों से भागना कायरता है। कायर पुरुष कभी विजयी नहीं होगा। भय, कष्ट और अज्ञान का जब हम सामना करने को तैयार होंगे तभी वे हमारे सामने से भागेंगे। यह शिक्षा मुझे उन बन्दरों से मिली।

धर्म की महत्ता आचरण में

स्वामी विवेकानन्द विश्व भ्रमण पर थे। वे अपने उपदेशों से भारतीय संस्कृति व धर्म की श्रेष्ठता का शंखनाद कर रहे थे। इसी बीच जापान के एक विद्वान् ने उनसे पूछा— ''भारत में गीता, रामायण, वेद, उपनिषद् आदि का इतना उच्च ज्ञान व दर्शन उपलब्ध है; फिर भी भारतवासी पराधीन और निर्धन क्यों बने हुए हैं ?'' इस पर स्वामी विवेकानन्द ने उत्तर दिया— सर्वश्रेष्ठ व शक्तिशाली बन्दूक होते हुए भी उसके उपयोग की विधि उसका मालिक न जाने तो बन्दूक से वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यही विडम्बना है कि अपने श्रेष्ठ धर्म व संस्कृति के होते हुए भी भारतवासी तद्नुरूप उसका आचरण नहीं करते। धर्म की महत्ता उसके आचरण में निहित है।

जरूरतमंदों की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म

कलकत्ता में स्वामी रामकृष्ण मठ की स्थापना हो चुकी थी। उनके सारे भक्त सन्यास लेकर मठ में प्रवेश कर चुके थे। मठ का सारा काम मठ में लगी जमीन से चलता था।

तभी कलकत्ता में प्लेग का प्रकोप हुआ। लोग बुरी तरह मरने और बीमार होने लगे। स्वामी विवेकानन्द जी से यह देखा न गया और उन्होंने मठ को सुश्रूषा शिविर में बदल दिया।

सारे अध्यात्म साधकों को सेवा कार्यों में लगा दिया और कहा— आज भगवान् ने अपने सच्चे भक्तों और सच्चे संन्यासियों की परीक्षा ली है। आज मनुष्य और महामारी के बीच संग्राम छिड़ गया है। आज मठ के प्रत्येक संन्यासी को अपनी सच्चाई का प्रमाण देना है। ऐसी सेवा करो, इतनी परिचर्या करो, इतनी सहानुभूति बरसाओ कि मठ में आया हुआ कोई भी रोगी मृत्यु से पराजित न होने पाये। धन की कमी होने पर मठ की भूमि बेच दूँगा। चिन्ता न करना।

स्वामी जी की प्रभावोत्पादक पुकार पर संन्यासी जीवन के देवदूतों की भाँति रोगियों की सेवा में जुट गये।

पहले स्वयं को जानो

स्वामी विवेकानन्द के प्रवचनों से प्रभावित होकर किसी ने कहा— ''लगता है आपकी पहुँच ईश्वर तक है। आप मुझे उस तक पहुँचा दीजिए। उसको मिलने का स्थान बता दीजिए।''

स्वामी जी ने कहा— "आप अपना पता मुझे लिखा जाइये। जब ईश्वर को फुरसत होगी तब उसे आपके घर ही भेज दूँगा।"

वह व्यक्ति अपने मकान का पता लिखाने लगा।

स्वामी जी ने कहा— "यह तो ईंट-चूने से बने घरोंदे का पता है! आप स्वयं अपना पता बताइये कि आप कौन हैं? किस प्रयोजन के लिए नियत थे और क्या कर रहे हैं?"

व्यक्ति इनके प्रश्न में छिपी दार्शनिकता का संकेत समझा और इस नतीजे पर पहुँचा कि पहले आत्म सत्ता के स्वरूप और उद्देश्य का पता लगाना चाहिए, बाद में ही ईश्वर से मिलने की बात बनेगी।

तप द्वारा विश्वहित में संलग्न पौहारी बाबा

हमारे शास्त्रों में मानव जीवन का सबसे उच्च उद्देश्य आत्मज्ञान बतलाया है। खाना-पीना, सोना-जागना, जीना-मरना तो सभी प्राणियों में स्वभावतः पाया जाता है। मनुष्य की विशेषता यही है कि वह इस प्राकृतिक-जीवन में रहते हुये अन्तर-जीवन को भी विकसित करे। इसी के लिये भजन-पूजन, साधना-उपासना आदि की अनेक प्रणालियाँ निकाली गई हैं, जिनके द्वारा मनुष्य को भौतिक-जगत की संचालिका आत्मशक्ति का ज्ञान हो सकता है और वह साधारण सांसारिक भोगों के संकीर्ण-जीवन से ऊपर उठकर एक विशाल और उच्च जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने में समर्थ होता है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार की बहुसंख्यक साधन प्रणालियाँ निर्धारित की हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध योग-साधन ही बतलाया गया है, पर 'योग' की भी सोलह शाखायें हो गई हैं जो एक-दूसरे से बहुत भिन्न जान पड़ती हैं। इनमें से कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग का नाम तो सर्वत्र प्रसिद्ध है और गीता में भी उनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। एक ही स्थान पर तीन प्रकार की प्रणालियों का उपदेश होता देखकर अनेक व्यक्ति विवाद करने लगते हैं कि इनमें से किसको अधिक उत्तम अथवा उपयुक्त माना जाय? पर जो मनुष्य इस प्रकार के वाद-विवाद में न पड़कर सच्चे हृदय से किसी भी प्रणाली का अनुसरण करके उसे अपने जीवन में कार्य रूप में स्थान देने लगता है, उसे कुछ ही समय में अनुभव हो जाता है कि ये सब भेदभाव बाहरी हैं और समस्त प्रणालियों का वास्तविक लक्ष्य एक ही है। इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर गीताकार ने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥४।१८

अर्थात 'जो कर्म में अकर्म (अर्थात् विश्रान्ति या शान्ति) का अनुभव करता है और अकर्म (अर्थात् शान्ति) में कर्मपरायण बना रहता है, वह मनुष्यो में बुद्धिमान है, वही योगी है और उसी ने सब कर्म किये हैं।"

पिछले सौ वर्षों में हमारे देश में जिन अनेक उच्चकोटि के महात्माओं का आविर्भाव हुआ है उनमें पौहारी बाबा इसी श्रेणी में थे। उन्होंने किसी विशेष प्रणाली का आग्रह न रखकर साधारण भाव से आत्म-साधन को ही अपना लक्ष्य बनाया। सबसे पहले उनके चाचा लक्ष्मी नारायण ही उनके गुरु बने और वे उनके आश्रम में रहकर विद्याभ्यास और धार्मिक नियमों का पालन करने लगे। फिर जहाँ सुविधा मिली शास्त्रों का अध्ययन करते रहे और पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में इन विषयों के विद्वान् हो गये।

इसी समय संवत १९१३ में उनके चाचा का देहान्त हो गया और उसके स्थान पर इनको मन्दिर और आश्रम की देखभाल और पूजा-पाठ का भार ग्रहण करना पड़ा। वे कुछ समय तक इस कार्य को करते रहे, पर इससे अध्यात्म-मार्ग में विशेष प्रगति न होते देखकर उनका चित्त अशान्त रहने लगा। इससे एक वर्ष बाद वे अपने एक गुरु भाई को मन्दिर का भार देकर देश भ्रमण के लिये चल दिये। अनेक तीर्थों का भ्रमण करते हुये जब वे गिरनार पर्वत पर पहुँचे तो वहाँ एक सिद्ध योगी से इनकी भेंट हो गई। उसने इन्हें शिष्य बनाकर योग की शिक्षा दी। वहाँ से ये दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा करके दो-तीन वर्ष बाद पुनः अपने आश्रम में वापस आ गये।

अब उनका साधन-कार्य विधिवत् होने लगा। सुबह से लेकर दस बजे तक का समय वे स्नान, संध्या और पूजा-पाठ में लगाते। जब वे गंगा के जल में खड़े होकर हाथ जोड़कर स्तोत्र पढ़ते तो यही जान पड़ता कि मानो देवगण अभी उनके सामने खड़े हो जायेंगे। पूजा समाप्त करके योगाभ्यास में प्रवृत्त होते और चार-पाँच घण्टा तक योग की विभिन्न क्रियाएँ करते रहते। इसके पश्चात् वे स्वयं रसोई बनाकर रामचन्द्र जी की मूर्ति के सम्मुख भोग लगाते। वे पाक विद्या में निपुण थे और भोग के लिये उत्तमोत्तम पदार्थ बनाते थे, पर उन सब पदार्थों को स्वयं न खाकर दीनजनों को या परिचित व्यक्तियों को बाँट देते थे और स्वयं बहुत साधारण भोजन बनाकर खाते थे। इस प्रकार कई वर्ष तक करने के पश्चात् उनको विचार आया कि इस प्रकार कई घण्टा रसोई बनाने में व्यर्थ चले जाते हैं, इसलिए यह नियम धीरे-धीरे कम करना चाहिये। तब वे चाहे जब भोजन न बनाकर थोड़े से विल्वपत्र दूध के साथ उबाल कर खा जाते या पचास-साठ मिर्चे पीसकर पानी के साथ पी जाते। किसी दिन पूर्ण उपवास ही कर डालते। इस प्रकार उनका भोजन घटते-घटते नाम मात्र को रह गया।

कुछ समय पश्चात् उन्होंने आश्रम में एक गुफा बनवाई और उसमें बैठकर समाधि-योग करने लगे। अब वे कई-कई दिन तक गुफा से बाहर नहीं निकलते थे और न किसी तरह का भोजन लेते थे। इससे लोगों में उनका नाम 'पौहारी बाबा' (पवन का आहार करने वाले) प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने अपनी कुटी से भी बाहर निकलना बन्द कर दिया था। बाहर के स्थानों से जो स्त्री-पुरुष उनके दर्शनों के लिये आते उनके लिये एकादशी का दिन नियत कर दिया था। इस प्रकार वे सांसारिक कार्यों से यथासंभव दूर रहकर अपना समय साधना में ही व्यतीत करने लगे।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि पौहारी बाबा प्राचीन ढंग के एक भजनानन्दी साधु ही थे और उनको लोक-कल्याण, समाज-सेवा आदि

विषयों का कोई ज्ञान न था। सुप्रसिद्ध देशभक्त सन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी इन पौहारी बाबा के निकट कई महीने तक रहे थे, और उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर अमरीका में भाषण देते हुये यह कहा था कि "मैंने भारतवर्ष में गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस के पश्चात् किसी अन्य महापुरुष में महान् आध्यात्मिक शक्ति और ज्ञान के दर्शन किये तो वे पौहारी बाबा ही थे।" पर उन्होंने लोक-सेवा का कोई बड़ा कार्य सार्वजनिक रूप से नहीं उठाया तो इसका कारण यही था कि वे नम्रतावश अपने को उस योग्य नहीं मानते थे। एक बार बातचीत करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा कि "आप संसार को धर्म मार्ग दिखलाने के लिये अपनी गुफा से बाहर क्यों नहीं निकलते ?" इस पर उन्होंने उस दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त सुनाया जिसने अपनी नाक कटाने जाने पर इसी को साधना का अंग बतलाया था और धीरे-धीरे एक 'नकटा सम्प्रदाय' की स्थापना ही कर दी थी! उन्होंने हंसते हुये स्वामी जी से कहा कि क्या आप चाहते हैं कि मैं भी ऐसा ही कोई 'नकटा-सम्प्रदाय' स्थापित कर जाऊं ? पर जब इसके बाद भी स्वामी जी उनसे सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का आग्रह करते रहे तो उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा— "तुम्हारी क्या ऐसी धारणा है कि केवल स्थूल-शरीर द्वारा ही दूसरों की सहायता की जा सकती है ? क्या शरीर के क्रियाशील हुए बिना केवल मन से दूसरे लोगों की सहायता नहीं की जा सकती ?"

एक-दूसरे अवसर पर जब उनसे प्रश्न किया गया कि "श्रेष्ठ ज्ञानी और सिद्ध योगी होते हुए भी आप मूर्ति पूजा और होम आदि क्यों करते हैं ? ये कर्म तो साधना के आरम्भिक अंग ही माने जाते हैं।" तब उन्होंने कहा— "क्या प्रत्येक कर्म अपने कल्याण की दृष्टि से ही किया जाता है ? ज्ञानी मनुष्य भी बहुत से साधारण कृत्य दूसरों को उपदेश देने और उन्हें धर्म मार्ग पर स्थिर रखने के उद्देश्य से किया करते हैं।"

इस प्रकार पौहारी बाबा अपने ढंग से लोकोपकार और सेवाधर्म के पथिक थे। आश्रम के कार्यों की कुछ देख-रेख और वृद्धि करते हुये भी उससे पूर्णत: निस्पृह रहते थे और उनमें उसके प्रति किसी प्रकार की ममता-मोह का भाव न था। एक बार एक वैष्णव साधु उनके पास आकर उनकी भर्त्सना करने लगा कि "तुम साधु और त्यागी होकर भी आश्रम की माया में क्यों फंसे हुये हो ? तुमने वैराग्य धारण करके इतनी बड़ी सम्पत्ति और सामग्री क्यों इकट्ठी कर रखी है ? इस सबको मुझे देकर तुम अज्ञात रूप से कहीं चले जाओ।" पौहारी बाबा ने उसकी बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया और अपनी कुटी की चाबी चुपचाप उसे देकर रात के समय वहां से चल दिये। प्रात:काल जब शिष्यों तथा अन्य आश्रमवासियों ने बाबा को वहाँ न पाया तो बड़ा कोलाहल मचा और इस घटना का कारण उस साधु को समझकर उसे मारने-पीटने लगे। पर पौहारी बाबा का कहीं पता नहीं लगा। कई महीने बाद किसी जानकार व्यक्ति से उनकी खबर मिली और तब उनको बड़ी कठिनाई से समझाकर आश्रम में फिर से लाये।

एक बार कोई चोर उनके आश्रम में चोरी करने आया और जो कुछ मिला उसे गठरी में बाँध लिया। इतने में पौहारी बाबा जाग गये और यह देखकर चोर गठरी छोड़कर भागने लगा। ये भी गठरी लेकर चोर के पीछे दौड़े और बहुत दूर जाकर उसे पकड़ लिया। इन्होंने चोर को पोटली देकर उससे क्षमा माँगी कि वे जग जाने से उसके काम में बाधक बने। वे बार-बार उससे यही प्रार्थना करते रहे कि "तुम इस सामान को ले जाओ, यह तुम्हारा ही है।"

अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में वे प्राय: एकान्त में ही रहे और इस बीच में शायद ही किसी ने उनको देख पाया हो। उनकी गुफा में दरवाजे के पीछे एक ताक में थोड़ा आलू और मक्खन रख दिया जाता था और जब वे समाधि से उठकर ऊपर वाले कमरे में आते तो इन चीजों को ले लेते थे। कभी वे पाँच-पाँच, सात-सात दिन तक गुफा से बाहर नहीं निकलते थे और भोजन सामग्री जैसी की तैसी ही रखी रहती थी। वे प्राय: रात के समय ही गुफा से निकलते थे और उसी समय आवश्यकतानुसार गंगा के उस पार जाकर कुछ योग-क्रिया भी किया करते थे। एक बार अकस्मात् किसी के आ जाने से इस क्रिया मे विघ्न पड़ गया जिससे उनकी तबियत बिगड़ गई। लोगों ने अनेक बार जानना चाहा कि उनको क्या कष्ट है पर उन्होंने कुछ बतलाया नहीं। वे जीवनमुक्त स्थिति में पहुँच जाने के कारण शरीर के रहने या न रहने का कोई महत्त्व नहीं समझते थे और इसके लिये स्वयं चिन्ता करना या किसी अन्य को कष्ट देना उन्हें स्वीकार न था। अन्त में संवत् १९५५ के जेष्ठ मास की सप्तमी को उन्होंने अपनी कुटी के भीतर हवन कुण्ड को प्रज्ज्वलित करके अन्य सामग्री के साथ अपनी देह की आहुति भी दे दी। कितने ही लोगो के देखते देखते उनका प्राण ब्रह्मरंध्र को फोड़कर बाहर निकल गया। सर्व साधारण ने इन घटना के विषय में तरह-तरह के अनुमान लगाये और कुछ ने इस कार्य को अनुचित भी बतलाया पर उनके सुपरिचित स्वामी विवेकानंद ने यही कहा कि "जब पौहारी बाबा ने यह जान लिया कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आ गया है, तो उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनके कारण किसी को कष्ट न हो, इसलिए उन्होंने स्वस्थ शरीर और मन से आर्योचित रीति से अपना अन्तिम संस्कार भी स्वयं ही कर लिया।"

वास्तव में महापुरुषों के चरित्र की अनेक घटनायें गूढ़ अर्थ रखती हैं और उनका रहस्य न समझ सकने के कारण सामान्यजन उनकी विपरीत आलोचना करने लगते हैं। पौहारी बाबा ने आजन्म अपना यह सिद्धान्त रखा कि दूसरों की यथाशक्ति अधिक से अधिक सेवा और भलाई करते रहना, पर अपनी किसी प्रकार की सेवा किसी से न कराना।

अपने आरम्भिक जीवन में उन्होंने पर्याप्त परिश्रम करके आश्रम की उन्नति करके उसे इस योग्य बनाया कि उससे अतिथियों और आस-पास वालों की सेवा की जा सके और इसके बाद धीरे धीरे उसकी व्यवस्था दूसरों को देकर स्वयं पृथक् होते चले गये। अंत में पूर्ण निष्काम भाव का उदाहरण उपस्थित करते हुए वे आश्रम या उसकी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक शब्द भी बोले बिना विश्व-सत्ता में लीन हो गये।

योग मार्ग के प्रबल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ

"जहाँ दो कोस तक चारों ओर जनशून्य स्थान मिले, वहीं आसन लगा।" अपने समर्थ शिष्य को दीक्षा देने के बाद मत्स्येन्द्रनाथ जी ने आदेश दिया। यह हिमप्रान्त जनशून्य क्या प्राणिशून्य था। नेपाल में मुक्तिनाथ से काफी आगे दुर्गम पर्वतमालाओं में स्थित है यह शालिग्राम क्षेत्र। दामोदर कुण्ड के पास की इस भूमि को बरफ ने अपनी लम्बी-चौड़ी सफेद चादर से ढक रखा था।

कितना कठिन है देहाध्यास। आज भी जहाँ जाने के लिए विशेष पोशाक, विशेष जूते और अनेकों औषधियाँ जरूरी पड़ती हैं। जहाँ आँखों पर चश्मे का नीलावरण न हो तो बर्फ पर प्रतिबिम्बित सूर्य की किरणें आधे क्षण में अन्धा बना दें। नासिका किसी चिकने लेप से ढकी न हो तो हिमदंश ने उसे कब गला दिया, पता ही न लगे। ऐसे विकट क्षेत्र में उन दिनों जो केवल काली कोपीन लपेटे नग्नदेह नंगे पाँव जा पहुँचा हो, उसकी कठिनाइयों का क्या ठिकाना?

"बहुत बाधक है देह की अनुभूति।" उन जैसे के लिए भी मन को देह से हटाकर एकाग्र कर पाना कठिन हो रहा था। प्राणायाम से प्राप्त उष्मा थोड़ी देर में चुक जाती। तब, ऐसा लगने लगता कि सर्दी हड्डी में बलात घुस कर उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर देगी। नाड़ियों के फटने की असह्यवेदना मन को चंचल होने के लिए विवश कर देती। पुनः प्राणायाम का सहारा लेना पड़ता।

"देह जब लक्ष्य की ओर जाने नहीं देती तब क्यों न देह को ही लक्ष्य बनाकर पहले उस ओर से निश्चिन्त हो लिया जाय।" सर्वथा नया नहीं था यह तर्क। अवधूत गुरु दत्तात्रेय ने रसेश्वर— सम्प्रदाय की स्थापना इसीलिए की थी और वह सिद्ध रसेन्द्र प्रक्रिया से अपरिचित न थे।

शुभ्र शशांक धवल विप्र पारा आज अप्राप्य है और सुलभ कभी था ही नहीं। किन्तु महायोगी के लिए दुष्प्राप्य क्या? रस प्रक्रिया आरंभ कर दी गयी। आधिदैविक शक्तियों ने स्वयं को असमर्थ पाया उस महासाधक के सामने। जहाँ छिद्र होता है, विघ्न वहीं आते हैं। प्रमादरहित पूर्ण जागरूक गोरखनाथ के समीप विघ्न कहाँ से जाते?

सहसा वह आसन से उठ खड़े हुए। उन्होंने जल और बिल्व पत्र हाथ में लिया। धरती और गगन को अपने पदाघात से पीड़ित करती भगवती छिन्नमस्ता दौड़ती आ रहीं थीं। 'गोरखनाथ' जी अत्यन्त विनीत स्वर में बोले "माता! आप कोई रूप ले लें, अपने शिशु पर निष्करुण नहीं हो सकतीं।"

क्षण भर में चारों ओर शान्ति छा गई। महादेवी का हस्त स्थिति मस्तक गले पर आ लगा। उनके बगल में खड़ी दोनों मूर्तियाँ उनमें लीन हो गईं। वे दिगम्बरा निरूपा अब पाटल अरुण वस्त्रों में किंचित श्याम रंग लिए त्रिपुर भैरवी बन चुकी थीं।

"**शंकर हृदि स्थिता करुणामयी अम्बे!**" गोरखनाथ ने सविधि स्तवन किया। किन्तु वह रूप त्रिपुर सुन्दरी नहीं बना। कोई चिन्ता की बात नहीं थी। त्रिपुर भैरवी महाकाल शिव के हृदय में स्थित होने से अतिशय करुणामयी हैं। साधक के लिए सिद्धिप्रदा हैं।

"तुमने महाशक्ति की अर्चना के बिना ही यह कर्म प्रारम्भ कर दिया। यह भी याद है तुम्हें कि समय कौन-सा है। इस समय रस सिद्धि कदाचित ही होती है। तुम केवल इसे अपने तीन शिष्यों को दे सकोगे।" भगवती सीमा निर्धारित कर अन्तर्ध्यान हो गयीं।

रस को संस्कारित करने का श्रम तथा संकट को जिसने स्वीकारा उस कौमारी शक्ति को तो वंचित नहीं किया जा सकता। सिद्ध रस के सेवन ने उन्हें अमर योगिनी बना दिया। विभिन्न योग सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में अनेक नामों से उनका उल्लेख है।

रसेन्द्र का सेवन करके देह सिद्ध हो गई। अब उन्होंने फिर से दामोदर कुण्ड के पास एक हिमशिला पर आसन जमाया। प्रकृति की शक्तियाँ अब उनकी देह पर अपना प्रभाव छोड़ने में असमर्थ थीं। ध्यान में अब देह की बाधा नहीं थी।

"दम्भी कहीं का?" एक प्रबल अट्टहास के बीच गूँजते इन शब्दों ने उनका ध्यान तोड़ दिया। बिखरी जटाएँ, अंगार जैसी आँखें, दिगम्बर, मलिनकाय, भारी-भरकम डील-डौल वाला पागल इस निर्जन में कहाँ से आ गया। सबसे बड़ा आश्चर्य यह था कि वह अपना ध्यान किसी भी तरह नहीं जमा पा रहे थे। सैकड़ों वज्रध्वनियाँ करते शिलाखण्ड जहाँ थोड़ी-थोड़ी देर में टूटते हों, उस प्रचण्ड कोलाहल में सर्वथा अप्रभावित रहने वाले इस योगी को इस पागल के अट्टहास ने विचलित कर दिया था। उसे लगता था किसी ने उसके बल को बलपूर्वक बाहर निकाल कर पटक दिया है।

"आप कौन हैं?" गोरखनाथ जी ने पूछा। वे अपनी आँखों की पलकें भी नहीं झपका पा रहे थे।

"अपने बाप का परिचय पूछता है, मूर्ख कहीं का।" पागल ने हाथ की तलवार से उन पर प्रहार किया। किन्तु योगी की सिद्ध देह से टकराकर तलवार एक तीव्र झंकार ध्वनि के साथ पागल के हाथ से छूट कर दूर जा गिरी। उनके शरीर पर कोई चिह्न नहीं बना था।

"दम्भी तेरा गुरु" यह पागल गुरुदेव को पता नहीं क्या अपशब्द कहेगा। गुरु के अपमान की संभावना को वह सहन नहीं कर पाये। उन्होंने झपट कर तलवार उठाई और पूरी ताकत से पागल पर चोट की। पर यह क्या? आघात के वेग ने उन्हें स्वयं एक हिमशिला पर पटक दिया। पागल के शरीर में से तलवार ऐसे निकल गई, जैसे हवा में चलाई गयी हो।

"आप कौन?" वह हतप्रभ थे, ऐसा कौन है जो उनकी सर्वज्ञ दृष्टि की पकड़ में नहीं आ रहा। "मैं झूठ नहीं कहता। अपने दम्भ के कारण तू अविश्वासी बन गया है।" पागल का स्वरूप बदल गया और वह अपने गुरु को पहचान कर उनके चरणों में गिर पड़े।

"आपको छोड़कर ऐसा शक्तिसम्पन्न धरती पर और कोई नहीं।" उनकी आँखों से झरती अश्रुधारा गुरु चरणों को धो रही थी। "वज्रदेह पाने का मेरा गर्व गल गया। मुझ पर अनुग्रह करें देव!

मेरा दम्भी ।'' ''माँ को अपने अबोध शिशु की चिन्ता रहती है और गुरु का हृदय माँ से भी कहीं ज्यादा ममत्त्व लिए होता है । तू क्या समझता है मत्स्येन्द्र अपना कर्त्तव्य भूल गया । एक बार जिसे शिष्य स्वीकार किया उसे परम सिद्धि तक पहुँचाना तो मेरा कर्त्तव्य था । तेरे हर क्रियाकलाप पर मेरी दृष्टि रही है । छिन्नमस्ता को तूने प्रसन्न कर लिया पर यदि चामुण्डा आती तो ?''सचमुच आना तो चामुण्डा को था । उनकी वज्र देह पीपल के पत्ते की तरह काँप उठी । शिववत् ताण्डव करने वाली उग्र भैरवी को वे कैसे शान्त करते ? वे तो कोई मर्यादा नहीं मानती ।

''चामुण्डा पीठ से चला आ रहा हूँ मैं ।'' गुरु हँसे ''मेरी अर्चा की उपेक्षा वह नहीं कर सकती ।'' शिष्य का मस्तक अपने समर्थ गुरु के चरणों पर था ।

''किन्तु तू दम्भी है'' मत्स्येन्द्रनाथ कह रहे थे । ''मेरी इच्छा थी कि तू इस निर्जन में थोड़े दिनों तप करता । तप अपार शक्ति का द्वार खोल देता है ।''

'दम्भ !' गुरु मुख से अपने लिए अनेक बार निकले इस शब्द का आशय वह नहीं समझ पा रहे थे । दम्भ तो दूसरों के सामने अपना बड़प्पन दिखाने के लिए किया जाता है । इस निर्जन भूमि में उनके आचरण को कौन देखने वाला है ?

''तप का मूल है तितिक्षा और तितिक्षा कहते हैं शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करने को । तितिक्षा की आग में पक कर शरीर और मन निर्द्वंद्व होते हैं । समत्त्व का परम लाभ प्राप्त करते हैं ।'' मत्स्येन्द्र का स्वर खिन्न था । वज्रदेह से कौन-सा तप करेगा तू ? जब शरीर पर किसी सर्दी-गर्मी का प्रभाव ही नहीं है, तब यहाँ तेरा रहना तप का दम्भ नहीं तो और क्या है ।''

वह चुप थे । उनके समीप कोई जवाब नहीं था । गुरु थोड़ा रुक कर बोले ''मुझ से भी यही भूल हुई थी । व्योमदेह पाने के बाद मैं प्रसन्न हुआ था । अब जानता हूँ वह मेरी हार थी । माया ने मुझे देह की ओर आकृष्ट कर पंगु कर दिया ।''

''परमात्मसत्ता करुणा की निर्झरिणी है । देह को यदि वज्र या व्योम जैसा बनना जरूरी होता तो उसने ऐसा करने में संकोच न किया होता ।'' शिष्य की ओर देखते हुए परम गुरु बोले ''देह की दुर्बलता कष्ट अनुभव करने की क्षमता ही मानव को तप एवं तितिक्षा के साधन देती है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि को बदल डालने की शक्ति है ।''

''अब से मेरी तरह संसार में रहकर लोक-कल्याण के लिए स्वयं को नियोजित करो । मनुष्य जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए जो मान-अपमान सहना पड़े उसमें समान रहो । यह तुम्हारा— मानसिक तप है । शारीरिक तप के लिए तो तुमने स्वयं को अयोग्य बना लिया ।'' ''महाशिव की इच्छा पूर्ण हो ।''

शिष्य गोरखनाथ गुरु के पीछे चल पड़ा । उसका मन 'तितिक्षा दुःख सम्मर्षः' के सूत्र पर मनन करने में लग गया था । अब उसे बोध हो गया था कि कैसे वह अपने पथ से विचलित हो गया था । सही समय पर गुरु ने आकर उसे मार्गदर्शन न दिया होता तो संभवतः अपने ही अहंकार में चूर वह लक्ष्य से भटक कर न जाने किधर चल दिया होता ।

व्यावहारिक जीवन जीते हुए, संघर्ष करते हुए, दुःखों का सामना करते हुए जो तपकर कुन्दन की तरह दमकता है, वही सही अर्थों में तपस्वी है ।

देश एवं धर्म साधना के साधक महर्षि अरविन्द

स्वामी विवेकानन्द ने मानव अन्तरात्मा को जाग्रत करने के लिए जो प्रबल प्रयत्न किए थे उनका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर— विशेषतया बंगाल पर पड़ा । अध्यात्म कायरों या भगोड़ों की बपौती नहीं वरन् शूरवीरों और सत्पुरुषों की जीवन नीति है, यह उपदेश करते हुए स्वामी जी देशव्यापी प्रचार कार्य में लगे थे । तेजस्वी नवयुवक उनसे बहुत प्रभावित हुए । धर्म, संस्कृति समाज और राष्ट्र के प्रति निष्ठा पैदा करना और मानवता के महान् उत्तरदायित्त्वों को समझते हुए महापुरुषों जैसी जीवन-नीति के लिए भावनाशील व्यक्तियों को तैयार करना स्वामी जी का लक्ष्य था । उस कषाय वस्त्रधारी महात्मा ने भारत के सच्चे सपूत की तरह उस अध्यात्म का प्रसार किया जिससे मृतकों में भी जीवन उत्पन्न होता है । स्वामी रामदास ने जिस प्रकार यवन काल में सारे महाराष्ट्र को जाग्रत करके स्वतन्त्रता संग्राम के सैनानी पैदा किये थे उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने देश भर में, विशेषतया बंगाल में ऐसी लहर उत्पन्न की, जिससे प्रभावित होकर भावनाशील लोग गौरवास्पद जीवन जीने के लिए आतुर हो उठे । यही भावना बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में फूटी । यह प्रकट तथ्य है कि अँग्रेजों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में बंगाल ही अग्रणी रहा ।

आत्मदर्शी नेताओं द्वारा झकझोर कर जाग्रत की गई नई पीढ़ी भारत के अतीत को वापस लाने के लिये जिन दिनों छटपटाहट अनुभव कर रही थी, उन्हीं दिनों १५ अगस्त, १८७२ में कलकत्ता में अरविन्द का जन्म हुआ । उस समय स्वराज्य की बात करना भी अपराध था पर अरविन्द की सतत् साधना फलित हुई । ७५ वर्ष के तप ने ठीक उनके जन्म दिन पर ही भारत में अपना पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त कर लिया ।

अरविन्द के पिता सुप्रसिद्ध सिविल सर्जन डॉक्टर कृष्णघन घोष, अपने इस बालक को उच्च शिक्षा दिलाकर सरकार में कोई बड़ा अफसर बनाना चाहते थे । अतएव ७ वर्ष की आयु में ही इंग्लैण्ड पढ़ने भेज दिया । १८ वर्ष की आयु में उसने सिविल सर्विस की परीक्षा दी । और आई. सी. एस. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली । इस अवधि में अपने निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा उन्होंने अँग्रेजी के अतिरिक्त जर्मन, लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच और इटली की भाषाओं में निपुणता प्राप्त कर ली ।

आई. सी. एस. पास करने पर उन्हें भारत सरकार द्वारा कोई उच्च पद दिया जाने वाला था । पर उनका जन्म गुलामी का पट्टा

बाँधकर ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने के लिए नहीं हुआ था। उन्हें कुछ बड़े काम करने थे। सोचा यदि अफसरी मिल गई और फिर उसी में फँस गए तो प्रलोभन के बन्धन तोड़कर बाहर निकलना कठिन होगा। अतएव घुड़सवारी की परीक्षा देने से इन्कार कर दिया, इस प्रकार वे जानबूझ कर असफल बनने के लिए अड़ गये।

हीनताग्रस्त मस्तिष्क दूसरों के अन्धानुकरण में अपनी बड़ाई समझते हैं। जैसा कि आज अँग्रेजों के चले जाने पर भी उनके रहन-सहन, आहार-विहार, भाषा, भेष, नकल बनाने में अपना बड़प्पन अनुभव करते हैं। अरविन्द ऐसे ओछे न थे। १८ वर्ष वे इंग्लैण्ड में रहे और उन्होंने अँग्रेजों के जातीय गौरव और उपयुक्त गुणों को सीखा, स्वतन्त्र देश में रहकर उन्हें स्वतन्त्रता प्राणप्रिय लगने लगी। भारत लौटे तो उनके कण-कण में भारत को इंग्लैण्ड जैसा स्वतन्त्र, सम्पन्न और प्रबुद्ध बनाने की आकांक्षा भरी हुई थी।

अरविन्द की प्रतिभा और व्यक्तित्व से बड़ौदा नरेश बहुत प्रभावित हुए और उनकी नियुक्ति शिक्षा शास्त्री के रूप में हो गई। १३ वर्षों तक वे प्रधानाध्यापक और वाइस प्रिंसिपल और निजी सचिव का काम योग्यतापूर्वक करते रहे। इस बीच उन्होंने सहस्रों छात्रों में जातीय जीवन की भावनाएँ भरीं और उन्हें चरित्रवान देशभक्त बनाया।

इंग्लैण्ड से लौटते ही उन्होंने बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन की नींव जमाने का कार्य आरम्भ कर दिया। संगठन के अतिरिक्त प्रचार को माध्यम बनाया। बम्बई के अँग्रेजी साप्ताहिक 'इन्दु-प्रकाश' में 'पुरानों के बदले नये दीपक' शीर्षक लेखमाला चालू रख कर भारत के नव-निर्माण के लिए प्रत्येक देशभक्त का आह्वान किया। उन दिनों पत्र कम निकलते थे, जो निकलते थे वे चाव से पढ़े जाते थे। इन लेखों का भारी प्रभाव पड़ा और उन्हें अनेकों साथी सहयोगी मिलने लगे। उन्होंने 'तरुण संघ' की स्थापना की जिसमें आगे चलकर भारत के कितने ही स्वतन्त्र क्रान्तिकारी संगठन सम्मिलित हो गए। राष्ट्रीय दैनिक 'वन्दे मातरम्' के सम्पादक बने और क्रान्तिकारी दैनिक 'युगान्तर' का संचालन किया। उन्होंने क्रान्तिकारी योजना बनाने के लिए सुयोग्य विचारकों की एक 'अनुशीलन समिति' बनाई जो भारत की और संसार की परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके योजना तैयार करती और 'तरुण संघ' के सदस्य उन्हें कार्यान्वित करने में लग जाते। उन दिनों एक तरह से भारत में स्वाधीनता संग्राम की क्रान्तिकारी योजनाओं का समग्र संचालन वे स्वयं ही कर रहे थे।

अरविन्द के जीवनोद्देश्य का परिचय पाणिग्रहण के दिनों अपनी पत्नी को लिखे गये पत्रों में भली प्रकार मिल जाता है। उन्होंने एक पत्र में अपनी सहधर्मिणी को लिखा— "तुम चाहो तो मुझे सनकी कह सकती हो, मुझे एक नहीं तीन तरह का पागलपन है। एक पागलपन यह है कि मुझे जो कुछ ईश्वर ने दिया है उसमें से केवल निर्वाह योग्य अपने लिये केवल बाकी सबका सब जनता जनार्दन को लौटा देना चाहता हूँ। इस गये-गुजरे समाज का अंग होते हुये भी यदि मैं अपने इस आराम या संग्रह की बात सोचूँ तब वह मेरे लिये चोरी, बेईमानी की तरह ही एक घृणित काम होगा। दूसरा पागलपन यह है कि— मैंने निश्चय किया है कि मैं ईश्वर को प्राप्त करके रहूँगा। आज के सम्प्रदायवादियों के आडम्बरों पर मेरा कोई भरोसा नहीं, तो भी यह पक्की निष्ठा है कि ईश्वर है और उसे कोई भी सच्चा मनुष्य प्राप्त कर सकता है। मैं मार्ग तलाश करूँगा, उस पर चलूँगा और कितना ही श्रम, समय एवं कष्ट क्यों न हो मैं अपना ईश्वर प्राप्त कर लक्ष्य प्राप्ति करके रहूँगा। तीसरा पागलपन यह है कि भारत माता को अपनी सगी माता जैसी भावना से पूजना चाहता हूँ। उसका सच्चा भक्त बनना चाहता हूँ और इस मातृ-भक्ति के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने की प्रसन्नता अनुभव करना चाहता हूँ।" सचमुच उनकी यह तीनों सनकें अन्तकाल तक बनी रहीं और वे एक साधारण बंगाली से बढ़कर विश्व की महान् विभूति इन सनकों के आधार पर ही बन सके।

लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में बाँट देने के लिये जो 'बंग-भंग' योजना रखी उससे सारा देश तिलमिला उठा। बंगाल में उसके प्रतिरोध के लिये सक्रिय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। अरविन्द घोष उसका नेतृत्व करने लगे। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, राष्ट्रीय स्वयं सेवकों का संगठन, अदालतों का बहिष्कार, शिक्षा का विस्तार तथा अँग्रेजों को आतंकित करने के अन्य उपाय इस आंदोलन के अंग थे। उन्होंने नेशनल कॉलेज की स्थापना में प्रमुख भाग लिया और मात्र ७५ रु० मासिक वेतन पर काम करते रहे। काँग्रेस में उन्होंने प्रवेश किया और नेताओं की अग्रिम पंक्ति में जा पहुँचे।

सरकार उनके क्रान्तिकारी विचारों और कार्यों से आतंकित हो उठी। २ मई सन् १९०८ को कलकत्ता के मानिक तल्ला बाग में तलाशी हुई, जिसमें बम, पिस्तौल और कारतूसों का भण्डार मिला, चालीस युवक पकड़े गये जिनमें अरविन्द घोष भी थे। अलीपुर षड्यन्त्र केस का यह मुकदमा सेशनजज की अदालत में एक वर्ष तक चला। देशबन्धु चितरंजनदास की योग्यता और परिश्रम से अरविंद इस मुकदमे से छूट गये। पीछे हाईकोर्ट ने हाथ मलते हुए अपने फैसले में लिखा— 'प्रमुख अपराधी और षड्यंत्रकारी तो इस मुकदमें में अरविन्द घोष थे जिन्हें पहले ही मुक्त कर दिया गया।'

जेल में उन्हें एकान्त काल कोठरी में रखा गया, जिसका अनुभव करते हुए उन्होंने लिखा है— "एकान्त में रहने वाला या तो सन्त बन जाता है या फिर पूरा शठ हो जाता है।" इनके इस कथन की सच्चाई भारत में जहाँ-तहाँ फैले एकान्तवासी 'शठों' के रूप में प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। पर वे सन्त ही बने।

कलकत्ता के बमकेस से छुटकारा पाने के कुछ ही समय पश्चात् वे पाण्डिचेरी (मद्रास) चले गये, जिससे वहाँ अँग्रेजी पुलिस की छेड़खानी से बचकर निर्विघ्न रूप से योगाभ्यास कर सकें। आरम्भिक वर्षों में उनको आर्थिक अभाव से अपना समय एक छोटे मकान में व्यतीत करना पड़ा जिसमें स्नान तक की सुविधा न थी। पर १९२० में फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाल रिचार्ड तथा उनकी पत्नी मीरा रिचार्ड आश्रम में आकर रहने लगे। मीरा एक कुशल महिला थीं, उसकी

व्यवस्था से आश्रम की व्यवस्था का बहुत कुछ सुधार हो गया और उसकी आर्थिक दशा भी कुछ वर्षों में संतोषजनक हो गई ।

पूर्ण योग का प्रचार

पाण्डिचेरी के आश्रम में अरविंद का मुख्य लक्ष्य लोगों को एक ऐसी योग प्रणाली की शिक्षा देना था जिससे वे सुनिश्चित रूप से अध्यात्म के उच्च स्तरों तक पहुँच सकें । इसका नाम उन्होंने 'पूर्ण योग' रखा था । उनका कहना था कि "विश्व में जितनी भी ह्रास और विकास की क्रियायें चल रही है वह परम आत्मा का क्रमबद्ध योग है । इसी अर्थ में श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' कहा गया है और ईश्वर की इस शक्ति को ही योगमाया कहते हैं । व्यक्ति विशेष इस योग की ओर अनजाने ही खिंच आता है और बाद में उसे यह मालूम हो जाता है कि उसको इसमें अमुक काम करना है तो फिर वह योग में 'सचेतन' होकर हिस्सा लेता है और अनंत के साथ सहयोग का आनंद प्राप्त करने लगता है ।"

अपने विचारों तथा योग-प्रणाली का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'आर्य' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया जिसका उद्देश्य था (१)अस्तित्व की उच्चतम अवस्थाओं का विधिवत् अध्ययन, (२) ज्ञान के विशाल समन्वय की रचना । पूर्व और पश्चिम की सभी मानवता विरोधी धार्मिक परंपराओं का परिष्कार । इस कार्य को बौद्धिक और वैज्ञानिक अनुशासन के साथ पूरा करना ।

'आर्य' के प्रथम पाँच-छः वर्षों में जो लेख मालायें प्रकाशित हुई वे आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की है । उनमें से 'देवी जीवन,' 'योग समन्वय,' 'वेद-रहस्य,' 'मानव एकता का आदर्श,' 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान' आदि कितने ही निबन्ध तो एक स्थायी निधि के समान हैं । श्री अरविंद ने इन निबन्धों तथा अन्य रचनाओं में जो विचार प्रकट किए हैं, वे एक प्रकार से भविष्य के स्वप्न थे । सन् १९४७ की १५ अगस्त को भारतीय स्वतंत्रता-दिवस पर उन्होंने कहा था—

"मेरा एक स्वप्न एशियावासियों के पुनरुत्थान और मुक्ति का था, जिससे वे मानव सभ्यता की प्रगति में अपना महान् योग दे सकें । दूसरा स्वप्न था सारे संसार का एक संघ स्थापित होने का, जिसका बाह्य आधार मानव मात्र का श्रेष्ठ, समुज्जवल और शिष्ट जीवन हो ।" कहना न होगा कि ये दोनों बातें अधिकांश में पूरी हो चुकी हैं या उनकी सम्भावना निरंतर बढ़ती जाती है ।

आगे चलकर उन्होंने भावी परिवर्तनों की जो रूपरेखा खींची वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । उन्होंने कहा— "जो कुछ प्रयत्न किए जा रहे हैं, उनके मार्ग में आपत्तियाँ आ सकती हैं, उन प्रयत्नों को नष्ट कर सकती हैं, फिर भी अंतिम परिणाम निश्चित है । कारण यह कि एकीकरण ही प्रकृति की आवश्यकता और अनिवार्य गति है । मानव की जड़ता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थभाव उसमें बाधक बन सकता है, पर प्रकृति की आवश्यकता और दैवी इच्छा के आगे ये चीजें सदैव टिकी नहीं रह सकतीं । पर इसकी प्राप्ति के लिए केवल बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है । इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा पारस्परिक अनुराग की भी आवश्यकता है । इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों की राष्ट्रीय भावना सर्वथा जाती रहेगी, पर वह अपने आप में पूर्णता प्राप्त कर लेगी और उसकी युद्धप्रियता नष्ट हो जायेगी ।"

"एक और स्वप्न है, संसार को भारत की तरफ से आध्यात्मिकता का उपहार, जिसका श्रीगणेश हो चुका है । यह आंदोलन बढ़ता ही जायेगा । जमाने के संकटों के साथ-साथ संसार की अधिकाधिक आँखें उसकी ओर आशा से देख रही हैं और बहुसंख्यक लोग उसके समीप 'क्रियात्मक ज्ञान' प्राप्त करने आ रहे हैं ।

श्री अरविंद को संसार का त्याग किये कई वर्ष हो चुके हैं और इस बीच में एक नहीं अनेक ऐसी विशेष घटनाएँ हो चुकी हैं जिनसे उपर्युक्त परिवर्तनों की आशा बढ़ती जाती है । जहाँ इस बीच में युद्ध की अभूतपूर्व तैयारियाँ की गई हैं, वहाँ विश्व संघ का प्रभाव भी बढ़ा है और कई बार उसने महायुद्ध की संभावना को टाला है । अरविंद के कथनानुसार बहुसंख्यक लोगों की जड़ता और स्वार्थ भावना के कारण इस आदर्श की प्राप्ति में बाधाएँ अवश्य पड़ेंगी, पर अंत में नये समाज और संसार का आगमन निश्चित है । वह नया संसार कैसा होगा इसकी भी थोड़ी-सी झाँकी श्री अरविंद ने इन शब्दों में कराई है—

"अंतिम स्वप्न है विकास की ओर एक नया कदम, जिससे मनुष्य वर्तमान की अपेक्षा उच्च और विशाल चेतना की ओर अग्रसर हो सके और उन समस्याओं का हल खोज सके, जिनको हल करने में वह आज तक परेशानी और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का अनुभव करता रहा है । यह एक ऐसा आदर्श है जिसका प्रभाव भारत और पश्चिम के मस्तिष्कों पड़ने लगा है । इस कार्य में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ हैं, पर वे दूर की जा सकती हैं और जगन्नियंता की इच्छा हुई तो ये कठिनाइयाँ बिल्कुल दूर हो जायेंगी । इस कार्य का आरम्भ आत्मा और अंतर्चेतना द्वारा इसी देश में हो सकता है । यद्यपि इसका लक्ष्य सार्वभौम होगा, पर इसका केन्द्र भारत में ही रह सकता है ।"

वास्तव में अरविंद घोष ने एक ऐसे नये संसार का स्वप्न देखा था जो आज नहीं है, पर भविष्य में उत्पन्न होने वाला है । वर्तमान संसार अधिकांश में भौतिकवाद पर आधारित है, इसलिए लोगों का ध्यान धन, सम्पत्ति तथा अन्य सांसारिक सामग्री पर रहता है । जब उसमें किसी कारण कमी पड़ती है तभी सब में खींचतानी और कलह होने लगती है, पर भावी जगत का आधार अध्यात्म रहेगा और उसमें बहुत से कार्य आत्मशक्ति से सम्पन्न कर लिए जायेंगे, इसलिए उस समय आजकल के लड़ाई-झगड़ों का अंत हो जायेगा और मनुष्य एक ऐसे उच्च धरातल पर पहुँच जायेगा जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

श्री अरविंद की साधना जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे ही उनका सम्बन्ध बाह्य जगत से कम होता गया । अंत में उनकी सिद्धि का दिन आ पहुँचा और २४ नवम्बर, १९२६ को उन्होंने संसार से पूर्णरूप से अवकाश ग्रहण कर लिया । उसके पश्चात् उन्होंने किसी से भी

मिलना बिल्कुल बंद कर दिया। शिष्यों तथा साधकों का जो मार्ग-दर्शन करते थे वह 'माताजी' (मीरा रिचार्ड) द्वारा होने लग गया।

इस प्रकार सन् १९२६ से १९५० तक श्री अरविंद एकांतवाद में एक ऐसी साधना में निमग्न रहे, जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक मार्ग के अन्यान्य साधकों को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर आगे बढ़ाना था। वे स्वयं तो योग के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच कर सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके थे, पर साथ ही अपनी साधना द्वारा एक ऐसा मार्ग भी प्रस्तुत करना चाहते थे, जिस पर चलकर मुमुक्षु व्यक्ति सांसारिक बंधनों को काट कर फेंक सकें। संसार को आगे बढ़ाने के लिए यह एक बहुत बड़ा कदम था। इसलिए ५ दिसम्बर, १९५० को ७८ वर्ष की आयु में जब उनका देहावसान हुआ तो लोगों ने इसे एक बड़ी क्षति समझा। उस अवसर पर भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने जो उद्‌गार प्रकट किए थे उनसे श्री अरविंद की महत्ता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

"श्री अरविंद प्राचीन ऋषियों की भाँति साहसी और निर्भीक विचारक थे। वे केवल विचारक ही न थे साथ ही उन विचारों को कार्य रूप में भी परिणत करते थे। लिखित और मौखिक शास्त्रों का अध्ययन करके उन्होंने अपनी साधना द्वारा उसे और भी दृढ़ रूप दे दिया था। उनके भौतिक शरीर को तो अब कोई देख न सकेगा, पर जो संदेश वे छोड़ गये हैं, वह न केवल भारतवासियों को वरन् सारे संसार को प्रेरणा देता रहेगा। भारत उनकी स्मृति की पूजा और प्रतिष्ठा करता रहेगा और उन्हें महान् मुनियों तथा देवदूतों में स्थान देगा।"

उनकी भावी भारत की परिकल्पना यह थी "हमें देश तथा मानवता के लिए मन प्राण लगाकर अथक परिश्रम करना होगा। अभी तक यह आदर्श एक छोटा-सा बीज मात्र है और जो जीवन इसे मूर्त रूप देता है वह स्वयं एक नन्हा-सा केन्द्र मात्र है, किन्तु हमारी ध्रुव आशा है कि बीज एक महान् वृक्ष बनेगा और केन्द्र एक सदा विस्तृत होती हुई रचना का हृदय होगा। इस विसर्जित होते हुए जगत की अस्त-व्यस्तता में जन्म लेने के लिए नई मानवता संघर्ष कर रही है जो भावना हमें प्रेरणा दे रही है उसमें दृढ़-विश्वास के साथ हम उस नई मानवता का, भावी भारत के ध्वजवाहकों का दर्शन करते हैं। यह विशद भारतीय अध्यात्म ही थके-मंदे शरीर का जीर्ण देव संस्कृति का काया-कल्प करके उसे नया जीवन देगा। वह दिन जल्दी ही आएगा।

त्याग का परिणाम

उस समय भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। सरकारी शिक्षा संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करने का भी बहिष्कार होना आवश्यक था, किन्तु उस समय आन्दोलनकारियों के पास न इतना धन था और न साधन ही थे जिससे वे महाविद्यालय चला सकें। कुछ रुपया इकट्ठा हुआ। महाविद्यालय की रूपरेखा बनाई गई किन्तु, उसके संचालन के लिए भी तो योग्य अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो बिना काफी वेतन के सम्भव नहीं था। विद्यालय की ओर से केवल ७५ रु. मासिक वेतन पर संचालक का विज्ञापन किया गया। सभी ने सोच रखा था इतने-से वेतन पर कौन अच्छा आदमी आयेगा ? सब निराश ही थे कि अचानक एक आवेदन-पत्र आया और वह भी एक योग्य अनुभवी व्यक्ति का जिसकी स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती थी। बड़ौदा कॉलेज के अध्यक्ष श्री अरविन्द घोष ने, जिन्हें उस समय अन्य सुविधाओं के साथ सात-सौ पचास रुपया मासिक वेतन था, उसे छोड़कर बंगाल में स्थापित इस नव-राष्ट्रीय महाविद्यालय के लिए ७५ रु. मासिक वेतन पर काम करना स्वीकार कर लिया। जहाँ इतना त्याग आदर्श किसी संस्था का संचालक उपस्थित करे वहाँ छात्रों के चरित्र एवं भावनाओं पर क्यों प्रभाव न पड़ेगा ? उस विद्यालय के छात्रों ने आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में भारी भाग लिया और उनमें से कितने ही चोटी के राजनैतिक नेता बने।

महर्षि रमण—आत्मान्वेषण ही जिन्हें इष्ट था

घर में किसी अतिथि का आगमन हुआ। १५ वर्षीय किशोर ने स्वागतार्थ उनसे पूछा "आप कहाँ से आ रहे हैं ?" अतिथि ने उत्तर दिया 'अरुणाचल से।' 'अरुणाचल' शब्द का सुनना था कि किशोर का रोम-रोम एक अपूर्व आनन्द से भर उठा। जाने कौन-सी तरंगें इस शब्द के साथ जुड़ी हुई थीं कि उसकी विलक्षण प्रतिक्रिया इस किशोर पर हुई।

माँ अवगम्माल और पिता सुन्दर अय्यर वेंकटरमण के घर इस बालक का जन्म सन् १८७९ में हुआ था। सुन्दर अय्यर वेंकटरमण मदुरा में वकालत करते थे। ये एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे, वैसी ही उनकी पत्नी साध्वी एवं धर्मनिष्ठ थी। इनके संस्कारों का बालक के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। माता-पिता बालक के प्रथम गुरु होते हैं। स्वाभाविक है सुसंस्कृत परिवार का बालक सुसंस्कृत होगा ही।

पढ़ने के लिए इसे कई पाठशालाओं में भेजा गया पर यह जिस प्रकार की शिक्षा चाहता था, उसे वहाँ नहीं मिलती थी, इस कारण प्रायः शिक्षा के प्रति उदासीन ही रहा करता था। इसे सन्तों की जीवनियाँ बड़ी अच्छी लगती थीं। उसने तमिल सन्तों का जीवन चरित्र पढ़ा। उसके मन में वैसा ही बनने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। यही बालक आगे चलकर महर्षि रमण के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उपनिषद् काल के आत्मान्वेषी ऋषियों की परम्परा को पुनर्जीवित करने का श्रेय महर्षि रमण को ही दिया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों ये बड़े होते गए इनका चिंतन बढ़ता गया। सत्रह वर्ष की आयु में इन्होंने मृत्यु पर चिन्तन किया। मृत्यु के बाद इस शरीर के नष्ट हो जाने पर क्या चेतना समाप्त हो जाती है ? या कहीं अन्यत्र चली जाती है ? इसका उत्तर पाने के लिये वे चिंतन करते-करते थक गए। पर कोई निष्कर्ष नहीं निकल सका। मैं मर जाऊँगा। क्या यह शरीर ही 'मैं' हूँ, शरीर हूँ तो मरता क्यों हूँ ? आदि प्रश्नों के उत्तर वे नहीं पाते थे।

ज्यों-ज्यों इनकी आयु बढ़ी त्यों-त्यों इनका चिन्तन और भी गहन होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ये पढ़ाई में पिछड़ गये। उन्हें प्राय: गृह कार्य पूरा करके न लाने के कारण अध्यापक की डाँट सहनी पड़ती थी। इनके बड़े भाई नाग स्वामी इनकी इस दशा को देखकर इन पर कुपित हो जाते थे। इस बालक को इस विद्या से तृप्ति नहीं हो पाती थी। वह तो शाश्वत सत्य को जानने के लिये भटक रहा था। उसे इस प्रकार की विद्या से विराग हो गया। उनका मन्दिरों में आना-जाना बढ़ गया। वे घण्टों देव प्रतिमा के सम्मुख बैठकर उनसे अपने वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने की प्रार्थना करते रहते।

उन्हें लगा कि उन्हें 'अरुणाचल' बुला रहा है। वहीं उनकी सारी जिज्ञासा शान्त हो सकती है। इस खोज के लिये प्रयोगशाला वहीं बनाई जा सकती है। सत्रह वर्ष की आयु में वे घर छोड़कर इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिये अरुणाचल के लिये चल पड़े।

जितना बड़ा उद्देश्य होता है उतना ही साहस और श्रम भी आवश्यक होता है। जिन रहस्यों को वे खोजना चाहते थे वे इतने गूढ़ थे कि उसके लिए सारा जीवन समर्पित करना पड़ता है। इस प्रकार का साहस बिरले ही कर पाते हैं।

अरुणाचल पहुँच कर वे अपनी गहन साधना में लीन हो गए। इन्होंने अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ समेट कर एकाग्र करलीं अपने ध्येय में सफल होने के लिये उन्होंने मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रवेश किया जहाँ वर्षों से जहरीले कीड़े-मकोड़ों का साम्राज्य तो था ही साथ ही घुप्प अंधेरा भी था। यह विचलित न हुए। इनका एक ही लक्ष्य था कि अपने विषय में चरम सत्य की खोज करनी है। इसके लिये उन्होंने अन्य सब कामनाएं त्याग दीं।

इनका सारा शरीर काला पड़ गया, केश बढ़कर जटा का रूप धारण कर गए, नाखून बड़े-बड़े हो गये पर इनका चिन्तन क्रम बन्द नहीं हुआ।

माता अवगम्माल अपने पुत्र को देखने के लिये आई। उस समय ये मौन धारण किए हुए थे। इनकी यह दशा देख माँ का हृदय रुक न सका वे रो पड़ीं तथा इन्हें घर चलने का आग्रह करने लगीं। इन्होंने माता को लिखकर बताया कि जो हो रहा है ठीक है आप चिन्ता न करें।

अरुणाचल आने पर महर्षि कहीं नहीं गए समस्त प्राणियों में एक ही दिव्य चेतना का अनुभव इन्होंने यहाँ किया। उसी आत्म-तत्त्व को सब में देखकर उसकी सत्यता को अपने जीवन-क्रम के द्वारा सिद्ध किया।

मौन भी वाणी से अधिक मुखर हो सकता है आँखों की भाषा में भी कहा सुना जा सकता है। महर्षि स्वयं इसके अनुपम उदाहरण थे। कई शंकाएँ लेकर लोग इनके पास आते थे ये इन्हीं भाषाओं में आत्मा की स्फुरणा के द्वारा उनका समाधान कर देते थे। इनसे लाभ उठाने वालों में गणपति शास्त्री, कपालि शास्त्री, शुद्धानन्द भारती, शेषाद्रि स्वामी, योगी रंगनाथ, हम्फ्रीस, पाल ब्रंटन आदि व्यक्ति भी थे।

शरीर भाव से महर्षि बिल्कुल शून्य थे वे चिदानन्द आत्मा के जीवित जाग्रत स्वरूप थे। स्कन्दाश्रम में एक बार योगी रंगनाथ ने देखा महर्षि के पावों में अगणित काँटे चुभे हुए थे। वे निकालने का आग्रह करने लगे। महर्षि ने कहा "काँटे तो चुभेंगे ही तुम कब तक निकालते रहोगे।"

सभी प्राणियों को आत्म रूप समझने वाले महर्षि रमण का आत्म तत्त्व ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं था। उन्होंने अपने इस सत्य स्वरूप को केवल देखा ही नहीं उसे पा भी लिया था। सभी प्राणियों में एक ही चेतन तत्त्व है इसका उदाहरण रमणाश्रम में उन्होंने प्रस्तुत किया था। आश्रम के बन्दर, गिलहरी, मोर, साँप, गाय और कुत्ते महर्षि रमण की तरह ही महत्त्वपूर्ण अंग थे।

महर्षि रमण तपस्या करने के लिये पर्वत की एक कन्दरा में गये थे। उस कन्दरा पर कितने ही समय से जीव-जन्तुओं का साम्राज्य था। उन्हें इस नवागन्तुक पर बड़ा क्रोध आया। वर्षों से जो मकान केवल उनकी ही बपौती था अब उसका दूसरा अधिकारी आ पहुँचा, यह जानकर उनके एकाधिकार में विघ्न आ उपस्थित हुआ। यह प्राणी शरीर में उन्हें बड़ा लम्बा-चौड़ा और भयानक लगा।

वे सब अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनको कष्ट देने लगे। महर्षि को कोई दु:ख नहीं हुआ। वे जानते थे कि यह स्थान तो उन्हीं का है। मैंने तो यहाँ आने की अनधिकार चेष्टा की है। इनके एकान्त में विघ्न उपस्थित किया है। वे नहीं चाहते थे कि अपने एकान्त के लिये इन प्राणियों के अधिकारों का हनन करें, पर विवश थे। अपने को उनका अतिथि मानकर रहने लगे। अतिथि अपनी सब कामनाओं का त्याग कर देता है। उसे कोई दाल-सब्जी या रोटी जैसी कि गृह स्वामी खिलाता है, अस्वीकार ही नहीं करता वरन् प्रशंसा भी करता है। जहाँ वह सुलाता है वहीं सोता है जैसा कुछ व्यवहार करता है स्वीकार करता है। यही नीति महर्षि ने अपनाई।

इनका स्वागत सत्कार गृहस्वामी करने लगे। जब ये साधना करने बैठते तो कोई छिपकली ऊपर आ कूदती और भाग जाती। मच्छर अपना राग अलापने लगते, यही नहीं तीन बार तो बिच्छुओं ने डंक मारा। इस स्वागत को वे निर्विकार भाव से ग्रहण करने लगे। वे ध्यानस्थ हो जाते उनके क्रिया-कलाप चलते रहते उन्होंने अपने शरीर में पत्थर की-सी दृढ़ता उत्पन्न कर ली। उन्हें न विष व्याप्त हुआ न इन प्राणियों की इन हरकतों का कुछ प्रभाव ही हुआ।

कुछ दिन बाद स्वामी जी को इन लोगों ने अपने परिवार का ही मान लिया। मनुष्य के प्रति जो इन प्राणियों में धारणा थी वह इनके व्यवहार को देखकर समाप्त हो गई। वे मनुष्य को प्रेम हीन प्राणी मानते थे। जो सदा इनकी अकारण हत्या करता था। लेकिन स्वामी जी में उन्होंने ऐसा कुछ भी न पाया, तो परायेपन की दीवार टूट गई।

एक विषधर सर्प उनके स्कन्दाश्रम में आया । उन दिनों महर्षि की माता जी भी वहाँ थीं । वे उसे देखकर डर गईं पर महर्षि ने उसे बड़े स्नेह से देखा। उसे विश्वास हो गया । वह महर्षि के चरणों पर लेट गया । इसके बाद वह प्रायः आया करता व उनके चरण स्पर्श करता ।

एक मादा कौआ तो अपने बच्चों का भार ही महर्षि पर छोड़ देती थी । वह दिन को भोजन की तलाश में जाती तो बच्चे उनके पास छोड़ जाती । वे उनकी देख-भाल करते और जब उन्हें भूख लगती वे चिचियाते तब उन्हें भोजन देते और पानी पिलाते ।

महर्षि के वहाँ निवास से कई प्राणी अपने परम्परागत वैमनस्य को भुलाकर मित्र बन गए । यह साँप आश्रम के एक मोर का मित्र बन गया और जब मोर पंख फैलाकर नाचता तो साँप भी अपना फन फैलाकर लहराने लगता ।

आश्रम के पशु-पक्षी उनके बन्धु-बांधव बन चुके थे वे प्रायः उन्हें प्रेम से सहलाते उनसे बात करते और प्रतिदान में उनसे भी स्नेह पाते थे । प्राणी मात्र में एकात्मता की यह अनुभूति ही उन्हें साधना पथ पर शीघ्रता से आगे बढ़ाने में सहायक हुई थी ।

महर्षि रमण एक बार शिलाखण्ड पर बैठे थे । एक सर्प रेंगता हुआ आया और उनके पैर पर चढ़कर चला गया । शिष्यों ने पूछा, ''सर्प ने काटा क्यों नहीं ?'' महर्षि ने उत्तर दिया, ''क्या सर्प भूमि पर फन से प्रहार करता है ?'' सर्प के लिए भूमि कोई अवरोध, वैषम्य या अहंकार पैदा नहीं करती । सर्प के काटने का कारण जीव का अहंकार, उससे उत्पन्न् विषमता, भेद और उससे उत्पन्न अवरोध है । जहाँ अहंकार नहीं वहाँ शत्रुता नहीं है ।''महर्षि मौन रहते थे पर उनके समीप आने वालों और प्रश्न पूछने वालों को मौन भाषा में ही उत्तर मिल जाते थे । उनकी दृष्टि नीची रहती थी । पर कभी किसी की आँख से आँख मिलाकर देखा तो इसका अर्थ होता था, उसकी दीक्षा हो गई । उन्हें ब्रह्मज्ञान का लाभ मिल गया । ऐसे ब्रह्मज्ञानी बड़भागी थोड़े से ही थे ।

आरम्भिक दिनों में वे अरुणाचल के कतिपय अनुकूल स्थानों में निवास करते रहे । पीछे उन्होंने एक स्थान स्थायी रूप से चुन लिया । आरम्भ में उनकी साधना का कोई नियत स्थान और समय नहीं था । पीछे वे नियम-बद्ध हो गये, ताकि दर्शनार्थी आगन्तुकों को यहाँ-वहाँ तलाश में न भटकना पड़े ।

महर्षि रमण सिद्ध पुरुष थे । मौन ही उनकी भाषा थी । उनके सत्संग में सब को एक जैसे ही सन्देश मिलते थे मानो वे वाणी से दिया हुआ प्रवचन सुन कर उठे थे । सत्संग के स्थान में उस प्रदेश के निवासी कितने ही प्राणी नियत स्थान और नियत समय पर उनका सन्देश सुनने आया करते थे । बन्दर, तोते, साँप, कौए सभी को ऐसा अभ्यास हो गया कि आगन्तुकों की भीड़ से बिना डरे झिझके अपने नियत स्थान पर आ बैठते थे और मौन सत्संग समाप्त होते ही उड़कर अपने-अपने घोंसलों को चले जाया करते थे ।

संस्कृत के कितने ही विद्वान् उनकी सेवा में आये तथा अपने-अपने समाधान लेकर वापस गये । उन्हीं लोगों ने रमण गीता आदि कतिपय संस्कृत पुस्तकें लिखीं जिनमें महर्षि की अनुभूतियों तथा शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है ।

वे सिद्ध पुरुष थे पर उन्होंने जान-बूझकर कभी सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं किया । भारत में योगियों की खोज करने वाले पाल ब्रंटन ने बड़े सम्मानपूर्वक उनकी कितनी ही अलौकिकताओं का उल्लेख किया है ।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में जिन तपस्वियों का उल्लेख किया जाता है उनमें योगीराज अरविन्द, रामकृष्ण परमहंस और महर्षि रमण के नाम प्रमुख हैं ।

रमण महर्षि की समदृष्टि

भारतवर्ष के मद्रास प्रांत में उत्तरी भारत की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की सभ्यता तथा संस्कृति के दर्शन होते हैं, जिसे विद्वान् लोग 'द्रविड़' के नाम से पुकारते हैं । यद्यपि वहाँ के निवासी भी हिन्दू हैं और वेदों का वहाँ उत्तर भारत की अपेक्षा बहुत अधिक प्रचार है, तो भी उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, पूजा-पाठ, भजन-ध्यान आदि सभी बातों में उत्तरी प्रान्तों की अपेक्षा बहुत विलक्षणता पाई जाती है । यद्यपि उत्तर भारत में प्रचलित वैष्णव सम्प्रदायों के सभी आचार्य दक्षिण भारत में ही उत्पन्न हुये थे पर वहाँ के निवासी प्रायः शैव हैं और शिव की पूजा का जितना प्रचार वहाँ है, उतना अन्य प्रांतों में देखने में नहीं आता ।

इसी मद्रास या तमिल प्रांत में हाल ही में एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ था जो आध्यात्मिक दृष्टि से एक दैवी पुरुष थे और जिनके आकर्षण से भारतवर्ष ही नहीं विदेशों के भी अध्यात्म प्रेमी व्यक्ति खिंचकर चले आते थे । इस भौतिकवाद के युग में भी अच्छे-अच्छे आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति इस जंगल में रहने वाले, अल्पशिक्षित और नंगे व्यक्ति के दर्शन करने और उपदेशों को सुनने के लिये पहुँच जाते थे । वहाँ के धार्मिक व्यक्ति तो उनको शिवजी के पुत्र स्कन्द जी का अवतार मानने लगे थे और अरुणाचल महादेव के साथ उनकी भी पूजा करते । इनका नाम था महर्षि रमण ।

कहते हैं कि महर्षि रमण के पूर्वजों के वहाँ किसी समय एक संन्यासी भिक्षा माँगने आया । उसे वहाँ एक दाना भी नहीं दिया गया, उलटे दो-चार खरी-खोटी बातें सुनाई गईं । इस पर संन्यासी को भी गुस्सा आ गया और उसने श्राप दिया कि तुम्हारे वंश में भी कोई न कोई मेरे समान भीख माँगने वाला पैदा होता रहेगा । तब से वास्तव में इनके वंश में ऐसी घटना स्पष्ट दिखलाई पड़ रही थी । रमण के एक बाबा संन्यासी थे । उनके एक चाचा 'वेंकटेशय्यर' भी योगी बन गये थे । महर्षि रमण के पिता एक अच्छी स्थिति के वकील थे और इनकी शिक्षा की व्यवस्था भी उत्तम थी पर ये घर के सब बन्धनों को

तोड़ कर और घर वालों के, विशेषतया माता के, आग्रह की भी उपेक्षा करके संन्यासी बन गये ।

× × × ×

घर से निकलने पर साधन करते हुये, रमण को बहुत विघ्नों का सामना करना पड़ा था । वे न तो अधिक बोलते थे और न किसी से कुछ माँगते थे, अधिकांश समय ध्यान में आँखें बन्द किये बैठे ही रहते थे, इसलिये लोगों ने उनको एक पागल समझ लिया था। आस-पास के आवारा लड़के उन पर धूल, मिट्टी, कंकड़, पत्थर फेंकते रहते थे । इससे उनको बड़ा कष्ट होता, तपस्या में बाधा पड़ती और चोट भी लग जाती । इनसे बचने के लिये वे मंदिर के नीचे की अंधेरी कोठरी में जा बैठते तो वहाँ तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े काटते जिससे बदन में घाव हो जाते । अन्त में कुछ लोगों ने उनकी तपस्या के महत्त्व को समझा और वे उपद्रवकारियों से उनकी रक्षा करने लगे । फिर भी स्वामी जी कभी जीव को हानि नहीं पहुँचाते थे और सबको आत्मवत् समझते थे । अरुणाचल पहाड़ की गुफा में रहते समय तीन बार बिच्छुओं ने उनको डंक मारा, पर उन्होंने बिच्छुओं को मारने के बजाय जीवित ही छोड़ दिया । एक बड़ा काला नाग भी प्रायः इनके पास होकर निकल जाता था और कभी-कभी तो इनके ऊपर चढ़ने लगता था, पर उससे भी इन्होंने कभी कुछ नहीं कहा । आस-पास में रहने वाले गिलहरी, कौए, चिड़िया तो उनसे ऐसे निर्भय हो गये थे कि पास में आकर हाथ से दाना, फल आदि खाते रहते थे । एक बन्दर का बच्चा भी दूसरे बड़े बन्दरों के भय से इनकी शरण में चला आया और इनके पास ही रहने लगा । एकाध बार उसने इनको भ्रमवश मार भी दिया, पर इन्होंने उसे क्षमा प्रदान कर दी ।

× × × ×

इस प्रकार अज्ञान पशु-पक्षी तो स्वामी जी के शुद्ध और अहिंसात्मक मनोभाव को देख कर उनके मित्र बन जाते थे, पर मनुष्य तो इस दृष्टि से पशुओं से भी नीचे गिरा हुआ है । एक दिन रात के समय कुछ चोर स्वामी जी के आश्रम में उनको लूटने के लिये आ पहुँचे उस समय स्वामी जी के साथ अन्य पाँच-सात साधू भी आकर रहने लगे थे और उन सबके खाने-पीने के लिये थोड़ा-सा सामान वहाँ एकत्रित हो गया था । चोरों ने समझा था कि अन्य मंदिर-मठों की तरह यहाँ भी गहरी रकम जमा होगी, पर जब सब जगह ढूँढने पर भी उनको छः रुपया से अधिक नहीं मिला तो वे बड़े गुस्से में आये और उन्होंने स्वामी जी तथा अन्य साधुओं को डण्डों से मारा । चोरों ने कई बार स्वामी जी पर लाठी तानकर पूछा "बताओ, तुमने अपना धन कहाँ छुपाया है ?" पर स्वामी जी के पास धन होता तब तो वे बतलाते । अन्त में चोर लौट गये ।

थोड़ी देर बाद आश्रम का एक साधू, जो चोरों के आते ही दौड़ गया था, पुलिस वालों को लेकर वहाँ आया । पुलिस ने कहा कि "आप चोरी की रिपोर्ट लिखाइये ।" पर महर्षि ने इस बात पर ध्यान न दिया और केवल यही कहा कि "कुछ अज्ञानीजन आश्रम में चोरी करने चले आये थे, पर जब उनको यहाँ बहुत कम सामान मिला तो निराशा के साथ लौट गये ।" बाद में पुलिस के बड़े अफसर स्वयं इस घटना की तहकीकात करने को आये, पर स्वामी जी ने उनसे भी अपने पीटे जाने या चोरों की दुष्टता की कोई बात नहीं कही ।

× × × ×

महर्षि के आश्रम से थोड़ी ही दूर एक गाँव में कोई अध्यापक रहता था । महर्षि की कीर्ति सुनकर उसने इरादा किया कि वह भी उनके समान ही त्यागी और तपस्वी बन जायेगा और तभी उनके पास जायेगा । पर संसार त्याग का सच्चा भाव हँसी-खेल तो है नहीं । फलतः वैराग्य तो दूर रहा उसके चित्त में बुरी-बुरी भावनाओं का उदय होने लगा । झक मार कर वह महर्षि की शरण में गया । महर्षि में अन्य लोगों के मन की बात जानने की स्वाभाविक शक्ति थी । इस अध्यापक को देखकर वे मुस्कराने लगे और यह भाव प्रकट किया कि "पंख आने के पहले ही उड़ने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, अन्यथा नीचे गिरना पड़ेगा । सभी साधक एक ही मार्ग पर नहीं चल सकते । पहले तो साधक को उचित है कि परहित को ही स्वार्थ समझ कर समाज सेवा की शक्ति प्राप्त करे । जब इसमें कृत कार्य हो जाय तब एकान्त में रहकर साधना की अभिलाषा करे ।"

कुछ समय बाद इसी अध्यापक ने अपने कौटुम्बिक जीवन से ऊब कर आत्महत्या का विचार किया । यदि यह न हो सके तो संन्यासी होकर वन में निकल जाने का निश्चय था । वह इस सम्बन्ध में महर्षि की सम्मति जानने के लिये इनके पास आया । उस समय ये आश्रम वासियों के भोजन के लिये पत्तलें बना रहे थे । अध्यापक के कुछ कहने से पूर्व ही स्वामीजी कहने लगे— "देखो, पत्तल बनाना आसान नहीं है । पत्ते बीनने पड़ेंगे, सींकें लानी होंगी और बड़ी सावधानी से पत्तों को एक-दूसरे से जोड़ना होगा । तब कहीं जाकर भोजन करने के लिये पत्तल तैयार मिलेगी । उसका पूरा उपयोग करने के बाद ही उसको फेंक देना चाहिए । अध्यापक ने स्वामी जी का आशय समझ लिया कि मनुष्य शरीर बड़ी कोशिश से मिलता है, उससे आत्मोन्नति का पूरा-पूरा लाभ उठाने के पहले उसको छोड़ना नहीं चाहिये ।"

वेदान्त को अपने जीवन माध्यम से समझाने वाले—स्वामी रामतीर्थ

घटना सन् १९०१ की है । मथुरा में एक धर्म सम्मेलन का आयोजन हुआ । इस सम्मेलन के आयोजक आचार्य शिवगण ने सभी धर्मों के प्रतिनिधि विद्वानों को आमन्त्रित किया पर सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया स्वामी रामतीर्थ को जिनका न कोई मठ था और न कोई आश्रम । तीसरे दिन की बात है । ईसाई धर्म के प्रतिनिधि फादर स्काट ने अपने धर्म का विवेचन करते हुए हिन्दू धर्म पर कुछ भौण्डे आक्षेप किये । श्रोतागणों में क्षोभ उत्पन्न हो गया, लोग शोर मचाने, पर स्वामीजी ने सबको शान्तिपूर्वक बैठे रहने का आग्रह किया ।

फादर स्काट जब अपना भाषण समाप्त कर चुके तो स्वामी रामतीर्थ उठे और उन्होंने फादर स्काट के आक्षेपों का इतना नम्र-समाधान किया कि पादरी स्काट को बड़ी लज्जा अनुभव हुई और उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की तथा उपस्थित जनसमुदाय से क्षमा माँगी। यह प्रभाव स्वामी जी की वाणी से अधिक उनके व्यक्तित्व का था अन्यथा सैकड़ों लोग हैं जो अपने वाक्चातुर्य से लोगों को हतप्रभ करते हैं पर उनकी वाणी का जरा-भी असर नहीं पड़ता. स्वामी जी की स्वयं यह मान्यता रही है जितना तुम बोलते हो उससे ज्यादा तुम्हारा व्यक्तित्व सुना जाता है और स्वामी जी ने वेदान्त को जो तब तक चर्चा और परिसम्वाद का विषय ही समझा जाता था अपने जीवन और आचरण में उतार कर निज के व्यक्तित्व को इतना तेजस्वी तथा प्रखर बना लिया था कि उसके आगे हर कोई नतमस्तक हो उठता था।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म उत्तरी सीमा प्रान्त में स्थित गुजरांवाला जिले के मुरली वाला गाँव में २२ अक्टूबर, १८७३ ई. को हुआ। उनके पिता का नाम हीरानन्द था और बालक का नाम रखा गया तीर्थराम। तीर्थराम का जन्म होने के कुछ माह बाद ही उनकी माँ का देहान्त हो गया। परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण थी। अत: उनको उच्च शिक्षा नहीं दिला सके। जब तक वह गाँव में रहे तब तक वहाँ के एक मौलवी से उर्दू पढ़ते रहे।

परिवार की आर्थिक स्थिति भले ही दयनीय हो पर हीरानन्द जी की आकांक्षा थी कि अपने पुत्र को पढ़ा-लिखाकर योग्य बनायें इसलिए उन्होंने नौ वर्ष की आयु में तीर्थराम को अपने एक मित्र धन्ना भगत की देखरेख में शहर में रख दिया और हाईस्कूल में भर्ती करवा दिया। भगत धन्ना कसरती पहलवान थे और अविवाहित थे। साथ ही अध्यात्म में भी उनकी रुचि थी। तीर्थराम उनसे धर्म और अध्यात्म आदि विषयों पर चर्चा करते थे, धन्ना भगत के सान्निध्य का तीर्थराम पर बहुत प्रभाव पड़ा।

पन्द्रह वर्ष की आयु में तीर्थराम ने एण्ट्रेंस की परीक्षा पास की और पंजाब भर में प्रथम आये। इस सफलता ने उनकी प्रतिभा को प्रमाणित किया और परीक्षा बोर्ड ने उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए छात्रवृत्ति दी। लेकिन हीरानन्द जी तीर्थराम को और अधिक पढ़ाना नहीं चाहते थे। तीर्थराम ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध आगे पढ़ाई जारी रखने का निश्चय किया और कॉलेज में भर्ती हो गए। कॉलेज की पढ़ाई के लिए स्कूली खर्चा और भोजन वस्त्र के व्यय का प्रबन्ध तो आवश्यक था वह कहाँ से पूरा हो। तीर्थराम ने इसका सहज रास्ता निकाल लिया। उन्होंने छात्रवृत्ति से तो स्कूल की फीस और पुस्तक आदि का खर्च चलाने का निश्चय किया तथा भोजन, वस्त्र के लिए ट्यूशन द्वारा खर्च चलाने का रास्ता निकाल लिया। अपनी मर्जी के खिलाफ कॉलेज में भर्ती होने के कारण हीरानन्द जी ने तो उन्हें कोई भी किसी भी तरह की मदद न करने की ठान ली थी। पर तीर्थराम जी की आवश्यकतायें थीं ही कितनी जिन्हें पूरा करने के लिए ज्यादा परिश्रम करना पड़े और वे अपना काम बड़ी मितव्ययिता तथा सादगी से चलाते रहे। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को इस स्तर का रखा जो आसानी से पूरी हो सकती थीं। कदाचित कभी कोई कमी पड़ती भी तो वे उसे बड़ी सूझबूझ के साथ निभा लेते थे। इस तरह की कई घटनाओं का उल्लेख उनके जीवनी लेखकों ने किया है जिनसे विदित होता है कि घोर अभाव के दिनों में भी वे अपने आपको किस प्रकार परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेते थे। उनकी आमदनी औसतन तीन पैसे रोज थी और उसी में वे सन्तोषपूर्वक गुजारा कर लेते थे। लाहौर जैसे शहर में तीन पैसे रोज पर गुजारा करना बड़ा ही कष्टसाध्य था। वे सुबह के वक्त एक दुकान पर दो पैसे की रोटी खरीद लेते। दाल मुफ्त मिलती थी। उसी से काम चल जाता था। कुछ दिन तो इसी तरह बीत गये पर बाद में दुकानदार ने अपना नियम बदल दिया और तीर्थराम से कह दिया कि दाल मुफ्त नहीं मिल सकती। इस पर विवश होकर तीर्थराम ने शाम का खाना बन्द कर दिया और सुबह एक वक्त ही भोजन करने लगे। उनके पास कड़ाके की सर्दी में भी पहनने के लिए कोट नहीं था न ही पतलून और न नेकटाई ही थी। पहनने के लिए केवल खद्दर की एक कमीज और एक पायजामा भर था।

पैरों में साधारण से देशी जूते थे। एक बार वे किसी दुकान से कुछ सामान खरीद रहे थे। सामान खरीद कर दुकान से उतर ही रहे थे कि पाँवों से एक जूता खिसक गया और नाली में गिर गया। नाली गहरी थी और उसमें काफी पानी था सो जूता उसमें डूबकर बह गया। निर्द्वन्द भाव से तीर्थराम एक जूता हाथ में लिये घर आये और उन्होंने बेमेल का दूसरा जूता दूसरे पाँव में डालकर काफी दिनों तक काम चलाया। इस हालत में देखकर तीर्थराम के कई सहपाठी उनकी हँसी उड़ाते थे पर तीर्थराम को इसकी कोई परवाह नहीं थी। बाद में जब उनके पास पैसे आ गये तो उन्होंने नये जूते खरीदे।

इस प्रकार तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए ही तीर्थराम बड़ी लगन के साथ पढ़ते रहे। सभी वर्ग की परीक्षाओं में वे सदा प्रथम ही आते रहे पर अपनी योग्यता का लाभ अपने लिए उठाने की उनमें जरा भी भावना नहीं थी। जब वे एम. ए. की परीक्षा का फार्म भर रहे थे तो लाहौर कॉलेज के अंग्रेज प्रिन्सीपल ने उनकी सच्ची लगन और योग्यता, प्रतिभा से प्रभावित होकर एक दिन तीर्थराम से कहा— 'क्या मैं आपका नाम आई. सी. एस. (इण्डियन सिविल सर्विज) की परीक्षा के लिए भेज दूँ ?'

तीर्थराम कुछ समय तक विचारमग्न रहे। उनकी आँखों में आँसू भर आये और डबडबाती आँखों से ही बोले— "मैंने इतनी मेहनत से ज्ञान का जो खजाना पाया है उसे धनवान बनने के लिए खर्च नहीं करना चाहता। उच्च पदों पर आसीन रहकर मैं अपनी इस प्रतिभा का क्या उपयोग करूँगा ? मैंने तो यह ज्ञान इसलिए कमाया है कि इस दौलत को बाँट कर अपने आपको तथा अन्य औरों को सुखी बनाऊँ।"

'तो एम. ए. पास करने के बाद क्या करोगे'— तीर्थराम से पूछा— प्रिन्सीपल ने। वे अपने इस होनहार शिष्य के इन विचारों को सुनकर न केवल आश्चर्यचकित रह गये थे वरन् बेहद प्रभावित भी हुए थे।

प्रिन्सीपल का यह प्रश्न सुनकर तीर्थराम ने कहा— 'यदि कोई विचार है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक साँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ तथा मानव मात्र की सेवा करता रहूँ।'

स्वामी रामतीर्थ के अन्तःकरण में सच्चा सेवा-भाव था और जन-सेवा की उत्कट लगन थी। विद्यार्थी जीवन में उन्होंने तप साधना तथा कठोर व्रतों को निभाना आरम्भ कर दिया था। शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने कॉलेज में अध्यापन कार्य अपनाया। साथ ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया। सन् १८९७ में लाहौर में कॉंग्रेस अधिवेशन हुआ। तीर्थराम जी भी उसमें शामिल हुए और उन्होंने बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने, पर उन्होंने अनुभव किया कि भाषणों से देश का कोई उद्धार नहीं हो सकता। इन्हीं दिनों भारत के सामाजिक और धार्मिक क्षितिज पर स्वामी विवेकानन्द का अवतरण हुआ। तीर्थराम जी स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से बहुत प्रभावित हुए और उनके सम्पर्क में आकर उन्होंने भी अध्यात्म के प्रयोगों को ही अपना लक्ष्य बना लिया।

एक दिन वे अपने साथ बिना कोई सामान लिये घर से निकले और उत्तराखण्ड के जंगलों में चल पड़े। काफी दिनों तक उन्होंने उत्तराखण्ड के वन प्रान्तों का भ्रमण किया। वहाँ की जलवायु का उन पर विपरीत प्रभाव हुआ। इस भ्रमण के दौरान ही उनका नारायण स्वामी से साक्षात्कार हुआ। नारायण स्वामी ने अपने युग के इस विभूतिवान व्यक्तित्व को पहचाना और शिष्य भाव से स्वामी रामतीर्थ की सेवा सुश्रुषा करने लगे। इन्हीं नारायण स्वामी ने स्वामी रामतीर्थ के देहान्त के बाद उनके विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार का कार्य सम्भाला तथा उनके प्रयासों से ही देश भर में स्वामी रामतीर्थ के भाषण और उपदेश विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो सके थे।

१९०१ में मथुरा में धर्म सम्मेलन हुआ। स्वामी तीर्थराम इस धर्म सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये। उन्होंने जिस कुशलता से सम्मेलन का संचालन किया वह प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ की पंक्तियों में बताया जा चुका है। धर्म सम्मेलन सम्पन्न हो चुकने के बाद उन्होंने मथुरा में कुछ समय तक एकान्तवास किया और अप्रैल, १९०२ में टेहरी चले गये। टेहरी नरेश को जब उनके आगमन का समाचार मिला तो उन्होंने स्वयं स्वामी रामतीर्थ से भेंट की और उनके लिए गंगा किनारे एक कुटी बनवा दी।

उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में जापान की राजधानी टोकियो में एक विश्व-धर्म सम्मेलन होने की सूचना छपी, सूचना में आयोजित सम्मेलन को उसी स्तर का बताया गया था जैसा कि १८९३ में अमेरिका में हुआ था और स्वामी विवेकानन्द ने उसमें हिन्दू धर्म की विजय दुन्दुभि बजायी थी। टेहरी नरेश ने इस सम्मेलन में स्वामी रामतीर्थ को भेजने का निश्चय किया और उनसे इस तरह का आग्रह भी किया। स्वामी राम तुरन्त इस आग्रह को मान गये और आवश्यक तैयारियों के बाद जापान को प्रस्थान किया। वे जापान के लिए जहाज से रवाना हुए, रास्ते में जहाज जहाँ-कहीं भी रुका लोगों ने स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया।

जापान में स्वामी जी लगभग दो सप्ताह ठहरे। उनके भाषणों को वहाँ हर किसी ने पसन्द किया। एक बार किसी जापानी ने स्वामीजी से पूछा कि आपने स्त्री-बच्चों को क्यों छोड़ा तो उन्हें उत्तर दिया कि अपने छोटे से परिवार को एक बहुत बड़ा और विशाल परिवार बनाने के लिए। इसी तरह उन्होंने अपने कृत्यों द्वारा भी जापानियों को बहुत कुछ सिखाया। जिस सर्वधर्म सम्मेलन की बात सुनकर स्वामीजी जापान गये थे वह गलत निकली, इसकी पुष्टि हो जाने के बाद भी स्वामी जी स्वदेश वापस आने को उत्सुक नहीं हुए और अपना प्रचार अभियान चलाते रहे।

जापान में प्रचार कार्य सम्पन्न कर वे अमेरिका रवाना हुए और वहाँ लगभग दो वर्ष तक रहे। अमेरिका में उनके सैकड़ों व्याख्यान हुए। कई व्यक्ति उनसे प्रेरणा प्राप्त कर उनके मार्गदर्शन से आत्मविकास की साधना में संलग्न हुए। उनके अमरीकी शिष्यों ने ही उनके व्याख्यानों के नोट्स लिये, स्वामी नारायण भी उनके साथ ही रहते थे और वे भी प्रस्तुत कार्य में आवश्यक सहयोग दिया करते थे।

अमेरिका से वापस भारत लौटते समय स्वामी जी कुछ समय यूरोप के अन्य देशों तथा मिस्र में रुके। मिस्र में इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उनके व्याख्यानों को बड़े ध्यानपूर्वक सुना और अनुभव किया कि इस्लाम धर्म के मूल सिद्धान्तों की इतनी सुन्दर व्याख्या कोई व्यक्ति आजीवन अध्ययन करता रहकर भी शायद ही कर सके।

भारत आने के बाद उन्होंने कुछ समय तक देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और लोगों को व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा दी। बाद में उत्तराखण्ड चले गये और वहीं उन्होंने अपना स्थायी निवास बना दिया। सन् १९०६ की दीपावली थी। उन दिनों उन्होंने एक लेख लिखा जिसमें मौत का आह्वान किया गया था। उससे कुछ दिन पूर्व ही उन्होंने अपने शिष्य नारायण स्वामी से कहा था कि— 'राम की तबियत अब संसार से ऊब गयी है। अतः वह शीघ्र ही इस संसार को त्यागने वाला है और दीपावली को ही तेतीस वर्ष की आयु में उन्होंने गंगा में जल समाधि ले ली। स्वामी रामतीर्थ जिस समय संसार से विदा होने लगे उस समय मृत्यु को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो भाव व्यक्त किये वे एक अध्यात्मवादी भारतीय के अनुरूप ही थे उन्होंने आनन्द विभोर होते हुए कहा था—

ऐ माँ की गोद के समान शांतिदायिनी मृत्यु! आओ और इस भौतिक शरीर को ले जाओ। मेरे पास और बहुत से नये शरीर हैं।

मैं तारों की चमक और चन्द्रमा की किरणों का शरीर धारण कर सकता हूँ। मैं आत्मा रूप हूँ संसार के सारे शरीर मेरे हैं। सारी सृष्टि ही मेरी देह है और मैं उसका शाश्वत, अविनश्वर और चिर-चेतना देही हूँ। मैं शुद्ध, बुद्ध और निरुपाधि ब्रह्म हूँ ब्रह्म। व्यापक और विकार रहित ब्रह्म।''

प्रेम-पथ के निर्भय पथिक

विद्यालय चल रहा था। छात्रगण दो कतारों में बैठे शिक्षक से पाठ पढ़ रहे थे। पाठ खत्म होने पर अध्यापक ने श्याम पट पर एक लकीर खींची और छात्रों से प्रश्न किया— ''बच्चो तुममें से कोई लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता है।''

सभी छात्र चुप रह गये। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। एक छात्र उठा और श्याम-पट के निकट आया। उसने शिक्षक के हाथ से खड़िया लेकर श्याम-पट पर खींची हुई लकीर के पास ही, उससे एक बड़ी लकीर खींच दी।

अध्यापक उस छात्र के बुद्धिचातुर्य से अवाक रह गये और विद्यार्थियों से बोले— यह याद रखो कि जीवन में महान् बनने के लिए किसी को मिटाना आवश्यक नहीं है। इसके लिए तो हमें स्वयं ही अपने कार्यों द्वारा औरों से आगे बढ़ना होगा।''— यह अध्यापक थे— प्रोफेसर तीर्थराम। प्रायोगिक प्रतीकों के माध्यम से शिक्षा देने की यह उनकी अपनी विधि थी।

बाल्यकाल से ही उनमे विद्याध्ययन के प्रति अटूट लगन थी। फाकाकशी का जीवन व्यतीत करते हुए भी उन्होंने अपनी क्रियात्मक-आराधना में लवलेश कमी नहीं आने दी। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके प्रिन्सीपल ने उस समय आग्रह किया जब कि वे एम. एस-सी. गणित में सर्वाधिक अंकों से उत्तीर्ण हुए थे कि— ''तुम्हारा नाम सिविल-सर्विस की परीक्षा के लिए दे रहा हूँ।'' तो तीर्थराम ने कहा— ''मैंने अपनी फसल से लाभ उठाने के लिए— उसे बेचने के लिए मेहनत नहीं की है। मैं तो उसे बाँटना चाहता हूँ और सेवक बनकर ही रहूँगा।''

खूब समझाया प्रिन्सीपल ने परन्तु वे अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। फलस्वरूप उसी कॉलेज में अगले सत्र में प्रथम मास में ही वे प्रोफेसर बन गये।

विद्यार्थी जीवन में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इण्टर पास कर लेने के बाद घर वालों ने आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। परन्तु तीर्थराम तो अपनी विद्या व्यसनी वृत्ति को किसी भी प्रकार मेटना नहीं चाहते थे। इसी बात पर माँ-बाप से मतभेद हो गया। तीर्थराम घर छोड़कर लाहौर चले आये। साथ में पत्नी भी। घर से विरोध रखने वाले पुत्र की पत्नी का खर्च अभिभावक क्यों उठाएँ। वहीं उनका शिक्षण चलता रहा। किन कठिनाइयों से वे अपना तथा अपनी पत्नी का निर्वाह करते हुए पढ़ रहे थे उस समय के बड़े ही मर्मस्पर्शी संस्मरण सरदार पूर्णसिंह ने लिखे हैं। और जब शिक्षा पूरी हुई तो अधिकारी बनने की अपेक्षा अध्यापक बनना पसन्द किया।

अध्यात्म-साधना के प्रति उनके मन में आरम्भ से ही लगन थी। विद्यार्थी-जीवन में एक बार उनसे किसी ने पूछा— 'तुम एम. ए. कर लेने के बाद क्या करोगे ?'

तीर्थराम ने उत्तर दिया— ''यदि कोई इच्छा है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक साँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ और मनुष्य मात्र की सेवा करूँ।''— इस उत्तर में उनकी आध्यात्मिक विचार धारा स्पष्टतया परिलक्षित होती है। कोई भी सच्चा आत्मवादी शरीर की सुख-सुविधा और साज-सज्जा पर निर्वाह मात्र से अधिक ध्यान नहीं देता। यही कारण है कि स्वामी जी एम. ए. में जब ६० रु. प्रति मास शिष्य वृत्ति प्राप्त कर रहे थे जब कि और अध्यापन काल में दो सौ रु. वेतन पाने लगे तब की स्थिति में कोई अन्तर नहीं लाए। जो रुपया बचता उसे गरीब विद्यार्थियों की मदद करने में लगाते। गरीबी का उन्हें अच्छा अनुभव था और इसी कारण उनकी सहानुभूति गरीबों से सदैव जुड़ी रही।

शरीर में कभी रोग उत्पन्न हो जाए तो उसकी चिन्ता किए बिना भी अपने काम में लगे रहना उनका स्वभाव बन गया था। एक बार उन्हें गुर्दे का दर्द होने लगा। धीरे-धीरे बढ़ता गया और उन्हें बिस्तर पकड़ लेना पड़ा। कोई और होता तो कराह-तड़प कर ही मर जाता परन्तु स्वामी राम के चेहरे पर वही हँसी-मुस्कान खिली रहती। उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल उनके घनिष्ट मित्रों में से थे। वे उन्हें देखने पहुँचे, जैसी दीन-दयनीय दशा की कल्पना थी ठीक उसके विपरीत स्थिति देखकर आश्चर्यचकित रह गए। स्वामी राम ने कहा— ''क्या हुआ अगर शरीर रोगी है। पर आत्मा तो सब जगह है। वह प्रसन्न है। शारीरिक रोग उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।''

सन् १८९६ में स्वामी विवेकानन्द लाहौर आये। उनके प्रवचनों की व्यवस्था हुई। रामतीर्थ तो इस प्रकार के आयोजनों में अग्रणी रहते ही। वहाँ उनका स्वामी जी से निकट सम्पर्क बना और वे उनके व्यक्तित्व से बड़े प्रभावित हुए। अन्तिम दिन विदाई के अवसर पर रामतीर्थ ने स्वामी जी को एक घड़ी भेंट में दी। विवेकानन्द जी ने उसे कुछ देर तक अपने पास रखा और फिर रामतीर्थ जी की जेब में ही रखते हुये कहा— 'मैं इसे अपनी जेब में रखूँगा ?' अब तो जैसे रामतीर्थ को अपना वांछित आदर्श प्राप्त हो गया। इस प्रसंग ने उनके सामने जीवन का एक नया आयाम प्रस्तुत कर दिया। वे अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए स्थान-स्थान पर घूमने लगे। हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनाथ आदि कई स्थानों पर उन्होंने एकान्त जप और ध्यान साधना की।

नौकरी से भी उनका मन हट गया। मिशन कॉलेज में वे केवल दो घण्टे काम कर निर्वाहोपयोगी जीविका प्राप्त कर लेते थे और सन् १८९९ में उन्होंने नौकरी भी छोड़ दी। सब लोग आश्चर्यान्वित हो उठे। विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी ने इनके त्याग-पत्र पर विचार किया। सीनेट के सदस्यों ने रामतीर्थ को हर तरह मनाया परन्तु वे

स्तीफा वापस लेने के लिए राजी न हुए। अन्तत: एक सदस्य के मुँह से निकल गया— "तीर्थराम पागल हो गये हैं।"

इकबाल भी वहीं पर बैठे हुए थे। बोले— "तीर्थराम पागल हो गये हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि दुनिया में फिर अक्ल कहाँ है।"

स्वामी रामतीर्थ ने नौकरी छोड़कर संन्यास ले लिया और वे वेदान्त का प्रचार करने लगे। इस दार्शनिक विचारधारा का जो परिष्कृत रूप उन्होंने सर्व-साधारण के सामने रखा वह आज तक की प्रचलित सभी मान्यताओं से अलग और प्रगतिशील अर्थ रखता है। इसके प्रति उन्हें इतनी दृढ़ आस्था थी कि एक-एक अवसर पर उन्होंने कहा— "भारतवर्ष का पतन वेदान्त के जीवन मूल्यों में अनास्था होने से हुआ है।"

उनके कर्तृत्व और व्यावहारिक वेदान्त के विचारों में सामञ्जस्य ढूँढ़ा जाय तो यही प्रतीत होता है कि स्वामी रामतीर्थ वेदान्त के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी धारणा का मूल था— "हर घड़ी ऐसा अनुभव करो कि जो शक्ति सूर्य और नक्षत्रों में अपने को प्रकट कर रही है वही तुम में भी है और तुम उसी के अविभाज्य अंग हो। तुच्छ विचारों और बन्धनों को सर्वथा भूल जाओ फिर तुम अमर जीवन प्राप्त कर सकोगे।" स्वयं को ईश्वर का अंश— अविनाशी राजकुमार, आत्मा स्वीकार कर लेने के बाद कौन मनुष्य, साधक निराश और अकर्मण्य रह सकता है।

जापान के नागरिकों की कर्मनिष्ठा और परिश्रमशीलता देखकर उन्होंने कहा था कि वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तों से भले ही आप परिचित न हों परन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष आप लोगों की उन्नति का मूल कारण है। उन्होंने 'प्रेम' को सब धर्मों का मूल कहा, इसकी शक्ति के बल पर ही उन्होंने स्थान-स्थान पर असंख्य लोगों को प्रभावित किया। प्रेममय होकर ही कोई व्यक्ति पवित्रता की रक्षा कर सकता है क्योंकि प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का प्रकाश है। ईश्वर भक्ति का लक्षण वे प्रेम ही मानते थे और कहते थे जब तक किसी साधक के आचार-विचार में यह दिव्य गुण नहीं झलकता तब तक वह अपूर्ण ही है।

परिवार को वे प्रेम की प्राथमिक शाला कहा करते थे। उनके एक अनन्यतम सहयोगी सरदार पूर्णसिंह ने जब परिवार छोड़कर संन्यास लेने की बात कही तो उन्होंने सरदार जी को मना किया और कहा कि जब तक तुम इस प्राथमिक कक्षा में दिव्य प्रेम का अवतरण नहीं कर लेते संन्यास की बात भी नहीं सोचनी चाहिए।

कैसे संयोग की बात है कि जन्म दिन के पर्व पर ही १७ अक्टूबर, १९०६ को अन्धकार की अँधेरी रात में टिमटिमाते हुए दीपों से एक प्रकाश पुन्ज निकला और सचमुच उनकी आत्मा चाँद की किरणों को पहन कर देह मुक्त हो गयी।

दृष्टि-भेद नहीं

स्वामी रामतीर्थ संन्यास से पूर्व जिस मुहल्ले में रहते थे उसमें वेश्याएँ भी रहती थीं। मुहल्ले वालों ने सरकार को अर्जी दी कि इन वेश्याओं को यहाँ से हटाया जाय। अर्जी पर हस्ताक्षर करने के लिए रामतीर्थ से भी कहा गया।

उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा— मैंने आज तक यहाँ कोई वेश्या नहीं देखी। हर घर में इधर तो मृदुल मनोहर बहिनें ही रहती हैं।

ज्ञानमयी श्रद्धा

स्वामी रामतीर्थ बचपन में गाँव के मौलवी साहब से पढ़ा करते थे। प्रारम्भिक पढ़ाई पूरी होने पर उन्हें पाठशाला भेजा गया। तब मौलवी साहब को क्या दिया जाय यह प्रश्न सामने आया। स्वामी जी के पिताजी उन्हें मासिक वेतन के अतिरिक्त इस समय कुछ और भेंट करना चाहते थे तभी स्वामी जी बोल उठे "पिताजी ! इन्हें अपनी बढ़िया दूध देने वाली गाय दे दीजिये। इन्होंने मुझे सबसे बढ़िया दूध विद्या का दूध पिलाया है। शिष्य की इस ज्ञानमयी श्रद्धा से पिता तथा गुरु दोनों ही पुलकित हो उठे।"

आत्मीयतापूर्ण वाणी का प्रभाव

जहाज सेनफ्रांसिस्को बन्दरगाह पर रुका। जहाज खड़ा होते ही सभी यात्री जल्दी-जल्दी अपना सामान सँभालने लगे। सबमें उतरने की जल्दी और उत्सुकता दिखाई देने लगी। जहाज में एक तरफ एक व्यक्ति शान्तभाव से डैक पर खड़ा था। उसे कुछ देर तक एक अमेरिकन व्यक्ति देखता रहा और अन्त में बोला— "क्यों महाशय, आपको यहाँ नहीं उतरना है क्या ? अपना सामान क्यों नहीं सँभालते ?"

व्यक्ति स्वाभाविक मुस्कराहट की मुद्रा में प्रत्युत्तर देते हुए बोला— "मेरे पास कोई सामान नहीं है।" 'तो पास में पैसे तो होंगे ही, जिससे खाने-पीने का काम चलता है ?' यह तुरन्त दूसरा प्रश्न हो उठा। "मैं अपने पास पैसे भी नहीं रखता।" 'तब तो यहाँ कोई आपका मित्र होगा, जिसके यहाँ ठहरना होगा ?' यह उस व्यक्ति का तीसरा प्रश्न था।

स्वामी जी युवक को प्रत्युत्तर देते हुए बोले— "हाँ यहाँ हमारा एक मित्र है, जिसके यहाँ हमें रुकना है और जो हमारी सब सहायतायें करेगा।" "वह व्यक्ति कौन है ?" सच्चे वेदान्ती रामतीर्थ जी हँसे और उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले— "आप ही मेरे मित्र हैं।"

प्रेम की पवित्रता से भीगता हुआ वह व्यक्ति सचमुच ही उनका परम मित्र बन गया।

सुख और शान्ति का मार्ग

स्वामी रामतीर्थ उन दिनों अमेरिका के दौरे पर थे, एक दिन स्वामी जी का प्रवचन समाप्त होने पर एक महिला आई और विषाद युक्त वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगी। 'स्वामी जी ! मेरे एक ही पुत्र था। थोड़े दिन पूर्व उसकी मृत्यु हो गई। मैं विधवा हूँ।

किसी तरह चित्त को शांति नहीं मिलती। आप कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मेरे जीवन को शान्ति मिल सके।'

आपको शान्ति की पुन: प्राप्ति हो सकती है और अपने जीवन में आनन्द का अनुभव कर सकती हैं। पर हर वस्तु का मूल्य चुकाना पड़ता है क्या आप सुख-शांति की पुन: प्राप्ति हेतु कुछ त्याग करने को तैयार हैं ?

'बस आपके आदेश देने की देर है। मैं अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हूँ।'

'पर इतना ध्यान रखना कि आपके देशवासी भौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देते हैं। वहाँ डालर और सेण्ट के त्याग से काम नहीं चलेगा। यदि आप सचमुच तैयार हैं तो मैं कल स्वयं ही आपके निवास स्थान पर उपस्थित होऊँगा। दूसरे दिन स्वामी रामतीर्थ एक हब्शी बालक को अपने साथ लेकर उस महिला के घर पहुँचे और उसे अपने बच्चे के तौर पर पालने के लिए कहा।'

उसे देखकर महिला बोली— "स्वामी जी ! यह हब्शी बालक मेरे घर में प्रवेश कैसे कर सकता है ?" माँ ! यदि इसमें आपको इतनी कठिनाई अनुभव हो रही है तो सच्चे सुख और शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग तो और भी कठिन है।"

ज्ञान साधना

स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो उनकी भेंट वहाँ एक वृद्ध से हुई, जीर्णशीर्ण काया का यह बूढ़ा ७५ वर्ष की आयु में भी युवकोचित उत्साह से जर्मन भाषा सीख रहा था। स्वामी जी ने पूछा— "बाबा ! इस उम्र में यह भाषा सीखकर आप क्या करेंगे ?" वृद्ध बोला— स्वामी जी ! सीखने के लिये कोई उम्र नहीं होती। मैंने प्राणिविज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की है, जर्मन भाषा में इस विषय पर कई अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मैं उनका जपानी में रूपान्तरण करूँगा ताकि हमारे देशवासी भी उससे लाभान्वित हो सकें।' उसके उत्साह, राष्ट्र की शैक्षणिक प्रगति के लिये उत्कट लालसा को देख स्वामी रामतीर्थ ने श्रद्धा से उसके पैर छू लिये और कहा— "मैं समझ गया, अब जापान को आगे बढ़ने से कोई रोक नहीं सकता।"

विचारों का महत्त्व

अध्यात्मवेत्ता स्वामी रामतीर्थ अमेरिका में महिलाओं की शंकाओं का समाधान कर रहे थे। धर्म की अनेक गुत्थियाँ सुलझाते जा रहे थे। तब तक एक युवती पूछ बैठी— 'कृष्ण अधिकत्तर गोपियों के मध्य रहते थे। क्या युवतियों के मध्य घिरा रहने वाला व्यक्ति पवित्र हो सकता है ?"इसमें भी कोई शंका की बात है ? व्यक्ति के चरित्र का सम्बन्ध तो उसके विचारों से है। विचारों की पवित्रता उसे कभी विचलित नहीं होने देती।'

'मैं इस बात पर विश्वास नहीं करती।' इतना सुनते ही बिना कुछ कहे सुने स्वामीजी अपना आसन छोड़ भागने लगे। काफी दूर निकल जाने पर वह खड़े होकर पीछे की ओर देखने लगे। उनमें से अधिकतर महिलाएँ स्वामी जी के पीछे-पीछे दौड़कर आ रही थीं। जब वे सभी महिलाएँ निकट आ गईं तो स्वामी जी ने पूछा— 'अच्छा बताइये क्या मैं अपवित्र हो गया।' 'नहीं ! बिल्कुल नहीं !! फिर योगिराज कृष्ण को गोपियों से घिरे रहने पर कैसे अपवित्र कहा जा सकता है।'

हम भी बोन्साई न बनें

स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो उन्होंने कितने ही बगीचों में छोटे देवदारु के पेड़ देखे जो बीस-बीस वर्ष पुराने थे। इतने दिन में तो वह वृक्ष पूरा बढ़ जाता है।

स्वामी जी ने माली से पूछा इनके इतना छोटा रह जाने का क्या कारण है ? उसने बताया इनके बड़े होने पर हम लोग हर साल काटते रहते हैं। उन्हें फैलने नहीं देते इसलिए वे आजीवन बौने ही बने रहते हैं। इन्हें 'बोन्साई' कहते हैं।

स्वामी जी इस घटना का अपने प्रवचनों में प्राय: उल्लेख किया करते थे और कहते थे जो लोग अपने सद्गुणों की जड़ें फैलने नहीं देते उन्हें काटते ही रहते हैं वे व्यक्ति की दृष्टि में ऐसे ही बौने रह जाते हैं।

अब और कलंक नहीं

स्वामी रामतीर्थ की विद्वता तथा ओजस्वी वाणी से प्रभावित होकर अमेरिका की १८ युनिवर्सिटियों ने मिलकर उन्हें एल. एल. डी. की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा। जिसे उन्होंने सधन्यवाद अस्वीकार करते हुये कहा— 'स्वामी' और 'एम. ए.' ये दो कलंक पहले ही नाम के आगे-पीछे लगे हुए हैं अब तीसरे कलंक को कहाँ रखूँगा ?

यश, कीर्ति, लोकेषणा, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, पूजा, मान, बढ़ाई के फेरे में पड़कर सन्तों और लोक-सेवियों का अहंकार उभरता है। इसलिये सच्चे सन्त मान-बढ़ाई से सदा बचते रहते हैं।

सिख धर्म के गृहस्थ गुरु

किसी व्यक्ति के उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँचने में, जीवन लक्ष्य प्राप्त करने में गृहस्थ धर्म-बाधक नहीं है। गृही और विरक्त दोनों ही स्थिति में रहकर ईश्वर की उपासना और आध्यात्मिक साधना की जा सकती है। इन दोनों मार्गों में से जिसे जो अनुकूल जँचा है उसे उसने स्वीकार किया है। प्राचीनकाल में अनेकों ऋषि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए साधना संलग्न रहे और बहुतों ने एकाकी जीवन को सुविधाजनक समझकर ब्रह्मचारी या संन्यासी रह कर आत्मिक प्रगति की।

आन्तरिक विकास का सम्बन्ध भावना की उत्कृष्टता से है। सत्यनिष्ठा, सदाचार, दया, निस्पृहता, अनासक्ति, निरहंकारिता, ईश्वर उपासना, परमार्थ भावना आदि सद्वृत्तियों को अपनाने से किसी भी वर्ण आश्रम में र[illegible] हुए मनुष्य लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इनके अभाव में वेश धारण कर लेने या घर त्याग [illegible] अविवाहित रहने

जैसी बाह्य प्रक्रियाओं के ही आधार पर कोई लक्ष प्राप्त करना चाहे तो सम्भव नहीं ।

सन्तों के कई सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमें पत्नी न रखने का विधान है, पर कई सम्प्रदाय ऐसे भी हैं जिनमें गृहस्थ जीवन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । सिख धर्म भी उन्हीं सम्प्रदायों में से एक है जिसके गुरुओं और सन्तों ने गृहस्थ धर्म में रहकर आत्म-कल्याण और लोक-सेवा का महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपस्थित किया है ।

सिख धर्म के संस्थापक और आदि गुरु नानक का विवाह १९ वर्ष की आयु में हुआ । गृहस्थ होने पर भी वे विरक्त की भाँति भावनायें रखे रहे । उनके दो पुत्र हुए । प्रथम उदासीमत के प्रवर्तक श्रीचन्द जी और दूसरे लक्ष्मीदास ।

दूसरे गुरु अंगद देव भी गृहस्थ थे । उनकी धर्म-पत्नी का नाम जीवी था । जिससे चार सन्तान हुईं दो पुत्र तथा दो कन्यायें ।

तीसरे गुरु अमरदास जी हुए हैं, उनकी धर्म पत्नी का नाम रामकुँवर था । उनकी भी चार सन्तानें थीं । दो कन्यायें, दो पुत्र ।

चौथे गुरु रामदास जी का विवाह गुरु अमरदास जी की कन्या भानी कुँवर से हुआ । उनके तीन पुत्र हुए, पृथ्वीचन्द, महादेव और अर्जुन देव । सबसे छोटे पुत्र अर्जुन देव को उन्होंने अपनी गद्दी सौंपी ।

पाँचवे गुरु अर्जुन देव जी के दो विवाह हुए । पहला मोड़गाँव के चन्दनदास खत्री की कन्या रामदेवी जी के साथ, दूसरा कृष्ण चन्द्र की पुत्री गंगादेवी के साथ । प्रथम स्त्री से कोई सन्तान नहीं थी । दूसरी से भी कई वर्षों तक सन्तान नहीं हुई । अन्त में गंगादेवी के गर्भ से एक बालक जन्मा— हरगोविंद सिंह, सिख धर्म के वे ही छठवें गुरु बने ।

छठवें गुरु हरगोविन्द जी के तीन विवाह हुए । पहला उल्ले गाँव में नारायणदास की पुत्री दामोदरी के साथ । दूसरा अमृतसर निवासी हरिचन्द की पुत्री नानकी के साथ । तीसरा मंदयाली के दयाराम की पुत्री महादेवी के साथ । प्रथम पत्नी से पुत्र गुरुदित्ता और कन्या बीबी वीरोजी थी । द्वितीय पत्नी से तेग बहादुर और तीसरी पत्नी से तीन पुत्र सूरजमल, हरराम और अटल जी जन्मे । इस प्रकार गुरु हरगोविन्द जी की तीन पत्नियों से पाँच पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ । इसके साथ ही गुरुजी के एक और विवाह का भी पता लगता है । एक मुसलमान काजी की कन्या कौल्ला उनके पास किसी प्रकार आ गई । वह बड़ी रूपवती और बुद्धिमती थी । गुरु साहब उस पर बहुत अनुराग रखते थे । गुरु साहब ने उसके नाम पर अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर के पास एक सरोवर बनवा दिया और उसका नाम कौलसर रखा । गुरु हरगोविन्द जी अपने पौत्र— गुरुदत्त के पुत्र हरराय से विशेष प्रेम रखते थे । अतः उन्होंने उन्हें ही अपना उत्तराधिकारी बनाया ।

सातवें गुरु हरराय का विवाह सं० १७०४ में दयाराम की पुत्री कृष्णकौर से हुआ । उससे दो पुत्र हुए, रामराय और हरकिशन । अपने छोटे पुत्र हरकिशन को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया । तब वे केवल पाँच वर्ष के थे । गुरु गद्दी प्राप्त करने के तीन वर्ष बाद ही— आठ वर्ष की आयु में वे स्वर्गवासी हो गये । इसलिए उनका विवाह न हो सका । इस प्रकार आठवें गुरु हरकिशन जी अविवाहित ही स्वर्गवासी हुए ।

नौवें गुरु तेगबहादुरजी का विवाह सं० १६८६ में लालचन्द की पुत्री गुजरी जी से हुआ । उनके पुत्र गुरु गोविन्दसिंह सं० १७१३ में जन्मे ।

दसवें गुरु गोविन्दसिंह के दो पत्नियाँ थीं । उनका बड़ा पुत्र अजीतसिंह मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ । दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने भी इसी प्रकार की वीरगति प्राप्त की । दो छोटे पुत्र जोरावरसिंह और फतेहसिंह मुसलमानों द्वारा पकड़े गये और उन्हें जीवित ही दीवार में चुनवा कर मारा गया । इस प्रकार दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी के चारों पुत्र धर्म के लिए बलिदान हो गये ।

इस प्रकार दसों गुरुओं की परम्परा गृहस्थ-धर्म की है । यह उचित एवं युग-धर्म के सर्वथा अनुकूल भी है । विरक्त जीवन जनसमाज से सर्वथा दूर जंगलों में एकाकी रहने वाले महात्माओं के लिए अनुकूल हो सकता है पर यदि वे जन-सम्पर्क में आते हैं तो उनके चारित्रिक पतन की भारी संभावना रहती है, जैसी कि आजकल आमतौर से देखी जाती है । आत्म-कल्याण के जो पथिक जनसम्पर्क से दूर नहीं रह सकते है उनके लिये गृहस्थ धर्म ही उपयुक्त है । इस दृष्टि से सिख गुरुओं ने एक अनुकरणीय परम्परा की स्थापना की ।

धार्मिक ऐक्य के प्रचारक— गुरु नानक

भारत में सम्प्रदायवाद का रोग काफी पुराना है । हम में यदि इतनी उदारता और विचारों की विशालता न हो कि मनुष्यमात्र को— प्रत्येक धर्मावलम्बी को— अपना भाई समझ सकें, तो कम से कम अपने मजहब के मानने वालों से तो बन्धु-भाव रखें । पर हिन्दुओं में इसका भी अभाव हो गया था । वे बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक सम्प्रदायों को ही गैर नहीं समझते थे वरन् शैव, वैष्णव, शैव-शाक्त आदि सम्प्रदाय तथा ब्राह्मण, वैश्य आदि जाति के कहे जाने वाले व्यक्तियों को भी एक-दूसरे से अलग और विरोधी मानने लग जाते थे ।

मुसलमानों के आक्रमण से पहले ही भारत के इन धार्मिक सम्प्रदायों में वैमनस्य का भाव बहुत अधिक फैल गया था और अनेक स्थानों पर तो इसी के नाम पर निर्दोष लोगों पर अकथनीय अत्याचार और हत्यायें तक की गयी थीं । जिस प्रदेश में जिस सम्प्रदाय वालों की प्रबलता होती अथवा जहाँ का राजा जिस सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेता वहाँ अन्य सम्प्रदाय वालों की कम्बख्ती आ जाती थी । या तो उन्हें अपना धार्मिक विश्वास बदलना पड़ता था अथवा विरोधियों के हाथों तरह-तरह की यातनायें उठानी पड़ती थीं । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विदेशी आक्रमणकारियों की सफलता और पराधीनता का एक कारण आपस का यह धार्मिक वैमनस्य भी था ।

यह सम्प्रदायवाद का भूत लोगों के सिर पर इतना अधिक सवार हो गया था कि वे धार्मिक उदारता को भूल ही गए थे। यह नहीं समझते थे कि धर्म का पहला लक्षण प्राणिमात्र में सद्भाव रखना, उनके कष्टों में सहायक बनना है, न कि अन्धविश्वास और संकीर्णता के वशीभूत होकर अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाना और थोड़े-से मतवैभिन्य के लिए अपने सहवासी मनुष्यों पर अत्याचार करना।

गुरु नानक (सन् १४६९ से १५३८) आरम्भ से ही इस भेदभाव को देखकर परेशान होते थे। उनकी समझ में नहीं आता कि जब सब लोग भगवान् को मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि सबको उसी ने बनाया है, तब धर्म के नाम पर झगड़ा किस बात का ? इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में एक परमात्मा का नाम ही सत्य है और उसकी उपासना सच्चे मन से की जानी चाहिए, चाहे वह मन्दिर में हो या मस्जिद में, जंगल में हो शहर में।

पिता ने नानक को पढ़ा-लिखा कर संसारी बनाने की कोशिश की, पर उनको तो भगवान् का चस्का लग गया था, इससे संस्कृत, फारसी कुछ भी न पढ़ सके थे। तब उनकी बहिन, जिसका नाम भी नानकी था, उनको संग ले गई और एक मुसलमान शासक दौलत खाँ के मोदीखाने में नौकर करा दिया। उनका विवाह भी करा दिया गया। पर वहाँ भी वे हिसाब-किताब की परवाह न करते थे और जिस किसी को जरूरतमन्द देखते थे उसको दाम न मिलने पर भी सौदा दे देते थे। इससे उनकी यह नौकरी थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गई।

इससे कुछ समय बाद वे भारत भ्रमण के लिए चल पड़े और उन्होंने चारों दिशाओं में सैकड़ों मील तक पैदल यात्रा करके देश और समाज की स्थिति का भरपूर अनुभव प्राप्त कर लिया। उन्होंने देखा कि सम्प्रदायों की विभिन्नता, छुआछूत, अंधविश्वास, पाखंडों के कारण हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न जर्जर हो रहा है और यही उसकी निर्बलता का मुख्य कारण है। यदि हमको सबल बनकर अपनी रक्षा करनी है, संसार में कुछ करके दिखाना है तो उसके लिये आवश्यक है कि इन पारस्परिक भेद-भावों और अंधविश्वासों को दूर किया जाय। जब तक हम धर्म और ईश्वर के सच्चे स्वरूप को नहीं समझेंगे, तब तक न तो हम अपना कुछ भला कर सकेंगे और न संसार में कुछ काम करके दिखला सकेंगे।

अपने विचारों के प्रचार करने का गुरु नानक का ढंग निराला ही था। वे मुँह से ज्यादा बात नहीं करते थे और न शास्त्रों के प्रमाणों को पेश करते थे। उनके उपदेश क्रियात्मक होते थे। कहा जाता है कि जब वे तीर्थयात्रा करते हुये हरिद्वार पहुँचे और पण्डाओं द्वारा लोगों को तर्पण कराते देखा तो वे भी गंगाजी में खड़े होकर पूर्व के बजाय पश्चिम को पानी उछालने लगे। लोगों ने उनको मूर्ख समझकर पूर्व दिशा में जल देने को बताया। उन्होंने कहा— "मेरा गाँव तो पश्चिम की दिशा में है और मैं चाहता हूँ कि यहाँ जल छोड़कर अपने खेतों की सिंचाई करूँ।" लोगों ने उनकी हँसी उड़ा कर कहा कि कहीं इतनी दूर से खेत सींचे जाते हैं ? नानक जी ने उत्तर दिया कि— "अगर तर्पण का जल परलोक में पितरों के पास पहुँच जायेगा तो मेरा जल दो-तीन सौ कोस के फासले पर खेतों तक क्यों नहीं पहुँच सकता ?" लोग निरुत्तर रह गये।

इसी प्रकार जब वे पश्चिमी देशों की यात्रा करते हुये मक्का पहुँचे तो अनजाने में काबा की तरफ पैर कर सो गये। किसी मुसलमान मुल्ला ने देखा तो उनको फटकारा— 'कैसे बेवकूफ हो जो खुदा के घर की तरफ पैर करके सो रहे हो !' नानक ने कहा— मुल्ला जी ! मैं अजनबी हूँ, मेहरबानी करके मेरे पैरों को आप ही उस दिशा में कर दें जिस तरफ खुदा का घर न हो।' मुल्ला सोचने लगा कि— खुदा तो सब जगह व्यापक है, मैं किस तरह उनके न होने की बात कह सकता हूँ ? वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

नानक गरीबों के साथी थे क्योंकि वे जानते थे कि अमीरों का पैसा जुल्म-जोर से ही इकट्ठा होता है। एक दिन वे किसी गाँव में जाकर एक गरीब किसान की झोंपड़ी में टिक गये। उस दिन वहाँ के जमींदार के यहाँ एक बहुत बड़ा भोज था, जिसमें गाँव के समस्त निवासियों को खाने के लिए बुलाया गया। वह जमींदार किसी काम से बाहर निकला तो देखा कि नानक अपने लिए किसान से रोटी बनवा रहे हैं। उसने कहा— आज तो मेरे यहाँ भोज है, बहुत तरह के पकवान बनाये गये हैं, आप वहीं खाना खाइये। नानक जी ने कहा— "मुझे जो स्वाद परिश्रम की कमाई इन सूखी रोटियों में मिलता है वह लूट-खसोट कर जमा किये हुए धन से बनाये गये पकवानों में नहीं मिल सकता।" जमींदार अपने धन की असलियत को समझ कर कुछ न कह सका।

इस प्रकार गुरु नानक आजीवन लोगों को नेकी और परोपकार की राह पर चलने का उपदेश देते रहे। उन्होंने बतलाया कि— यही सच्चा धर्म है और इसी से ईश्वर प्रसन्न हो सकता है। अन्यथा तरह-तरह के कर्मकाण्डों में लगे रहना, पूजा-पाठ का ढोंग करते रहना और इन बातों के नाम पर आपस में झगड़े, द्वेषभाव, कलह फैलाना किसी प्रकार का धर्म नहीं कहा जा सकता। उनकी इन शिक्षाओं का असर हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों, जाति वालों के साथ सैकड़ों निष्पक्ष मुसलमानों पर भी पड़ा। सन् १५३८ में उनका देहांत होने पर सबने मिलकर उनका अन्तिम संस्कार किया और हजारों कण्ठों से यही आवाज निकली—

गुरु नानक शाह फकीर।
हिन्दू का गुरु मुसलमान का पीर॥

जिस समय गुरु नानक अपने गाँव से जमींदार दौलतखाँ के यहाँ से नौकरी छोड़ कर सत्-धर्म का प्रचार करने के लिए चलने लगे उस समय दौलतखाँ ने उनका हिसाब कराया। हिसाब किये जाने पर गुरु नानक के सात सौ रुपये जमींदार पर निकले। उसने गुरु नानक से वह धनराशि ले लेने के लिये कहा। किन्तु उन्होंने उसे न लिया और कहा कि वह रुपया गरीबों की मदद करने में खर्च कर दिया जाये। दौलत खाँ उनके इस त्याग से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने कई हजार रुपये अपने पास से लेकर गुरु नानक को भेंट किये और उन्हें स्वीकार करने की प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने वह धन भी स्वीकार न किया

और गरीबों को बाँट देने के लिये कहा । गुरु नानक के सम्बन्धियों ने समझाया कि वे वह धन लेकर अपने बच्चों को क्यों नहीं दे देते । गुरु नानक ने कहा— "दुनिया के सारे गरीब बच्चे हैं । उनके सामने मेरी दृष्टि में मेरी निजी बच्चों का कोई महत्त्व नहीं ।"

एक बार उनके एक जमींदार शिष्य ने उनको रहने और परिवार के गुजारे के लिए एक गाँव दान किया । गुरु नानक ने उसे स्वीकार कर लिया और उसमें एक बड़ा स्थल बनवाकर संत-समागत तथा सत्संग की व्यवस्था कर दी । स्वयं भी उसी में रहने लगे । गाँव की आमदनी को उन्होंने उस स्थल को ही दान कर दिया । जिसके द्वारा गरीबों को भोजन, महात्माओं को सुविधा और असहायों को सहायता दी जाने लगी ।

गरीबों को दिये जाने वाले भोजन की व्यवस्था स्वयं गुरु नानक ही करते थे । वे अपने हाथ से बहुत-सा काम करते थे । स्वयं ही भोजनार्थियों को बुलाकर लाते थे और स्वयं ही अपने हाथ से परोसकर खिलाते थे । सबको खिला लेने के बाद ही जो कुछ बचता था उससे अपना काम चलाते इस नियम के अन्तर्गत बहुत बार कुछ भी न बचता था और गुरुनानक स्वयं भूखे ही रह जाते थे । वे अपने लिये दुबारा भोजन नहीं बनाने देते थे अनेक बार तो उन्हें पाँच-पाँच छ:-छ: दिन एक साथ ही भूखा रहना पड़ता था । तब भी वे कोई चिन्ता न करते थे ।

भौतिक विग्रह की अवधि समाप्त होते देखकर गुरु नानक ने धर्म-प्रचार और जन-सेवा का कार्य आगे चलाने के मन्तव्य से अपनी गद्दी के लिए उत्तराधिकारी खोजने का विचार बनाया । लोगों का विचार था कि गुरु नानक उत्तराधिकार का भार अपने बड़े पुत्र श्रीचन्द्र को सौंपेंगे । किन्तु लोगों का यह अनुमान गलत सिद्ध हुआ । इस विषय में गुरु नानक के सम्मुख बेटे-पोते का प्रश्न नहीं था, प्रश्न था योग्य व्यक्ति का जो उन्हीं की भाँति निस्पृह भाव से निर्वाह कर सके । सच्चे सत्गुरु नानक अपने और पराये के भेद-भाव से सर्वथा मुक्त हो चुके थे ।

उनकी खोज निरन्तर जारी रही । उन्होंने अनेक लोगों पर दृष्टि डाली । लेकिन कोई शत-प्रतिशत अर्थों में उत्तीर्ण नहीं हुआ । अन्त में एक लोहाना नाम का व्यक्ति उनके पास शिष्य होने के लिये आया । उसने जब गुरु का धर्म-प्रवचन सुना तो वह प्रेम-विह्वल होकर बेहोश हो गया । गुरु नानक ने उसके हृदय के भाव और आत्मा की कोमलता को समझा और होश में आने पर उन्होंने उसका नाम अंगद रखकर अपने पास ही रख लिया ।

अंगद जब ज्ञान और आयु में पूर्ण हो गया तो गुरु नानक ने उसे विवाह कर लेने का आदेश दिया । अंगद ने आश्चर्य से कहा कि महाराज मैं तो आपकी और आपके माध्यम से भगवान् की पूजा भक्ति करना चाहता हूँ मुझे इस जाल-जंजाल में पड़ने का आदेश न दें । गुरु नानक ने कहा— अंगद मैं तो गृहस्थों के लिये सत्-धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ और चाहता हूँ मेरा हर प्रचारक भी अच्छा गृहस्थ बने । अंगद ने गुरु का आदेश मानकर विवाह कर लिया ।

विवाह के बाद गुरु नानक एक दिन अंगद को जंगल में ले गये और कहा— 'अंगद गऊ के लिए थोड़ी-सी घास तो बाँध कर लेता चल । पास में कोई कपड़ा तो था नहीं । अंगद ने तुरन्त ही बहुत सारी घास अपने विवाह के बेशकीमती दुपट्टे में बाँध कर रख ली और चल दिया । गुरु नानक बहुत खुश हुए । उन्होंने सोच लिया कि उन्हें योग्य उत्तराधिकारी मिल गया ।

अन्त में गुरु नानक ने विग्रह त्याग किया तो उसके कुछ क्षण पहले अपने हाथ से अंगद को गुरु गद्दी पर अभिषिक्त कर दिया । यहीं अंगद गुरु अंगद देव के नाम से दूसरे गुरु हुए ।

गुरु नानक जिस समय सैयदपुर में गये हुए थे, उन्हीं दिनों भारत पर बाबर का आक्रमण चल रहा था । उसका शिविर भी सैयदपुर में लगा हुआ था । नगर लूटा जा रहा था । प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी, कोई सुनने वाला नहीं था । चारों ओर भय और आतंक छाया हुआ था । गुरु नानक का हृदय यह सब देखकर दु:खी हो उठा और वे प्रजा का कष्ट निवारण करने की युक्ति सोचने लगे ।

उन्होंने सोचा यदि किसी प्रकार बादशाह बाबर के पास पहुँच सकूँ तो उसे उसके किये का ज्ञान कराकर ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करूँ । उन्होंने बहुत-से उपाय किये पर बाबर के पास जाने का अवसर न मिला । लेकिन वे हताश नहीं हुये और अवसर की तलाश करते रहे । अन्त में लगन पूरी हुई और उन्हें बाबर के पास पहुँचने का रास्ता मिल गया ।

उन्होंने देखा कि बाबर के सिपाही जो कुछ लूटते हैं, वह सब एक स्थान पर इकट्ठा करते हैं और उसे गरीब भारतीयों के सिर पर लादकर फिर उसे बाबर के पास ले जाते हैं । गुरु नानक ने तत्काल एक गरीब का वेष बनाया और ऐसी जगह पर पहुँच गये जहाँ पर सिपाही माल लादने के लिए आदमियों को पकड़ रहे थे । गुरु नानक ने जन-कल्याण के लिये अपने मान-अपमान की जरा-भी परवाह नहीं की और हर त्याग करने को तैयार हो गये ।

गुरु नानक ने अपने मुख मण्डल का तेज छिपाने के लिये उसे कुछ-कुछ ढंक लिया था और फटे-पुराने कपड़े पहन लिये थे । सिपाहियों ने उन्हें भी एक गरीब आदमी समझा और धक्के मारते हुये सामान लादने के लिये ले गये । गुरु नानक ने उस अपमानपूर्ण बेगार के लिये पकड़े जाने के लिये ईश्वर को धन्यवाद दिया और सिर पर ढेर-सा सामान लाद कर बाबर के पास चल दिये । सैनिक उन्हें जानवरों की तरह हाँकते हुये ले चले ।

बाबर के सम्मुख पहुँचकर गुरु नानक ने सामान रखा तभी अपना मुँह ठीक से खोला । जन-कल्याण की भावना से भरे नानक का मुख-मण्डल एक साथ दमक उठा । वह प्रकाश बाबर ने भी देखा और तत्काल उस अनुभवी ने समझ लिया कि हो न हो यह कोई खुदा परस्त (भगवत्-भक्त) फकीर (सन्त) है । उसका अस्तित्व यह सोचकर काँप उठा कि कहीं इस अपमान की पीड़ा से इसकी आत्मा क्षुब्ध होकर उसे बददुआ (शाप) न दे दे । बाबर तत्काल उठा और आदरपूर्वक उन्हें अपनी गद्दी पर ले आया ।

पहले तो उसने उनका परिचय पूछा और उसके बाद उनके चरित्र की परीक्षा लेने की ठानी। बाबर ने गुरु नानक की खूब अभ्यर्थना की और उसके बाद उन्हें शान्त पाकर शाही सम्मान की रीति के अनुसार शराब मँगाकर पीने के लिए अनुरोध किया। गुरु नानक हँसे और बोले— बादशाह बाबर! हमने तो वह आला शराब पी रखी है जिसका नशा जन्म-जन्मान्तर तक नहीं उतरता अब हम यह दुनिया की शराब क्या पियेंगे। जिसका नशा नकली ही नहीं बल्कि आदमी को इन्सानियत से गिरा देने वाला भी होता है।

उनको बाबर ने बहुत-से जवाहरात और कीमती कपड़े मँगाकर उनकी भेंट किये और कहा— 'अगर आप शराब नहीं पीते तो इन्हें मंजूर कर लीजिये।' गुरु नानक ने वह भेंट भी नामंजूर करते हुए कहा— इनको तू उन गरीबों को बाँट दे जिन्हें जरूरत है। मेरे पास तो भगवान् नाम का वह धन है जिसकी तुलना में दुनिया की सारी दौलत मिट्टी है।

बाबर ने कहा— 'आपने न शराब पी और न जवाहरात ही मंजूर किये। कोई तो ऐसी खिदमत (सेवा) बतलाइये जिसको करके मैं अपनी रूह (आत्मा) को खुश कर सकूं।' गुरु नानक ने कहा— 'अगर तू हमारी सेवा ही करना चाहता है तो सारे कैदियों को छोड़ दे और लूट-पाट बन्द करा दे। यही हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी।'

बाबर ने तत्काल सारे बन्दियों को मुक्त कर दिया और लूटपाट बन्द करने का आदेश दे दिया। सच्चे सन्त इसी प्रकार जनता के हित के लिये हर कष्ट सहने और हर त्याग करने पर तत्पर रहते हैं।

गुरु नानक ने देखा कि थोथे उपदेशों से समाज का कोई सुधार होने वाला नहीं है इसलिए उन्होंने कोरे उपदेश के स्थान पर व्यवहार द्वारा प्रशिक्षण देने का क्रम अपनाया। उनके जीवन की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और मिथ्याडम्बरों का खण्डन ही नहीं किया वरन् मूल से उखाड़ने का पूरा-पूरा प्रयास किया। मध्यकालीन सन्त परम्परा के अधिकतर सन्तों ने मातृ शक्ति की घोर निन्दा की है और नारी को नरक की खान बताकर धर्म के मार्ग में बाधक बताया। पर नानक ने उन नारी निन्दकों की कसकर खबर ली और अपनी ओज़स्वी वाणी में नारी की महत्ता को प्रतिपादित किया—

भंडि जमीए भंडि निमीए, भंडि मंगणि—विआहु।
भंडहु वेद सती भंडहु चले राहु।
सकिउ मंदा आखिर जितु भंडहि राजन।
भंडहु ही अपने वंडे पाश्नु न कोई।

अर्थात्— स्त्री से मनुष्य का जन्म होता है। उसी से विवाह होता है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम स्त्री से ही चलता है। यह राजा तक को जन्म देने वाली है कि फिर उसके महत्त्व को कम क्यों समझा जाय!

सामाजिक विकास को अवरुद्ध कर एकता को तिरोहित करने वाली जातिप्रथा पर भी उन्होंने करारा प्रहार किया। उन्होंने सबके सम्मुख स्पष्ट शब्दों में कहा— जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से अनेक प्रकार के बर्तन बनाया करता है उसी तरह ईश्वर ने पाँच तत्वों से मानव शरीर बनाया है फिर ऊँच-नीच का भेद-भाव क्यों? सांसारिक व्यक्तियो! तुम्हें जाति का गर्व नहीं करना चाहिए इससे अनेक प्रकार के बखेड़े उत्पन्न होते हैं।

उनके लिए न कोई हिन्दू था और न मुसलमान वे तो केवल मानवता के उपासक थे। उनकी दृष्टि में सभी धर्मावलम्बी समान थे। मरदाना नाम के मुसलमान ने उनकी शिष्यता ग्रहण की थी और आजीवन उनके साथ रहा। जब वे सुल्तानपुर में थे तब एक फकीर वहाँ से जाते समय अपना निवास उन्हें प्रदान करने का प्रस्ताव करने लगा तो नानक ने तुरन्त उत्तर दिया— निवास पर उसी व्यक्ति का अधिकार होना चाहिए जो बेघर है। उनका यह कथन वर्तमान समस्या के सन्दर्भ में कितना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है जब देश में करोड़ों व्यक्ति भूमिहीन और घर-हीन हैं।

गुरु नानक को गरीबों के साथ रहने में विशेष आनन्द आता था। उन्होंने मलिक भागो जैसे अमीर व्यक्ति की अपेक्षा लालो नामक एक सामान्य व्यक्ति का आतिथ्य स्वीकार किया था। जब वे सुल्तानपुर के अनाज भण्डार में किसी उत्तरदायी पद पर कार्यरत थे तो कितने ही गरीबों की आर्थिक सहायता करते रहते थे। वे दूसरों के अधिकारों को हड़पने के सख्त विरोधी थे। वे सादा जीवन व्यतीत करते थे और सरल भाषा बोलते थे। उन्हें आडम्बर किसी भी तरह का पसन्द न था। उनके सबद, इतने सरल हैं कि कोई अशिक्षित व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। उनकी भाषा दार्शनिक ऊहापोहों और तर्क-वितर्कों से मुक्त है। यदि अपने देश की भाषा नीति निर्धारण में उनके सन्देश को ग्रहण कर सकें तो काफी समस्या हल हो सकती है।

नानक देव सामाजिक जीवन से समानता के समर्थक थे। उन्होंने अपने इस आदर्श को लंगर के रूप में सबके सामने रखा था। इसमें बिना किसी भेद-भाव के सभी लोग भोजन कर सकते थे। इससे परस्पर सद्भाव और सामूहिकता में वृद्धि हुई। वे सबका भला चाहते थे। गाँधीजी ने सामाजिक और आर्थिक विकास के रूप में जिस सर्वोदय सिद्धान्त की स्थापना की वह नानक के 'सरबवत्त का भला' में देखने को मिलता है। उनकी यह शिक्षा राष्ट्र की अनेक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे चरित्र निर्माण के लिए आंतरिक पवित्रता को अधिक आवश्यक मानते थे। उन्होंने सेवा और प्रेम के एक व्यावहारिक धर्म का उपदेश दिया। उनकी अधिकतर शिक्षायें 'जप जी' नामक गीत में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। इसे सर्व प्रसिद्ध रचना स्वीकार किया गया है। विद्वानों का यह कहना है कि नानक और कुछ भी न होते फिर भी इस रचना के प्रणेता होने के कारण अमर रहते। मुसलमानों में कुरान को और ईसाइयों में बाइबिल को जो गौरव प्राप्त है वह सिक्ख समाज में 'जप जी' को है। मध्यकाल में अधिकांश नर रत्नों द्वारा समाज निर्माण के लिए जो सन्देश दिये गये थे वे कविता में ही थे। नानक ने भी कविता

का आश्रय लिया था। जन-साधारण में जिस भाषा में उन्होंने काव्य का सृजन किया वह अविकसित स्थिति में थी फिर भी उन्होंने समृद्ध बनाने के लिए विभिन्न बोलियों के शब्दों का उपयोग किया। पंजाब की चप्पा-चप्पा भूमि से तो वे परिचित थे ही इसके अतिरिक्त उन्होंने लाहौर, एमनाबाद, हरिद्वार, दिल्ली, मथुरा, आगरा, बक्सर, गया, पटना, बंगाल, गुजरात, सिंध और करांची तक पूरे देश का भ्रमण किया था। मक्का, मदीना, बगदाद, पेशावर, कंधार और बलोचिस्तान आदि अनेक सुदूर क्षेत्रों तक पहुंचकर अपनी अमृतमयी वाणी से लोगों को कृत-कृत्य किया। इसलिए उनकी भाषा में अरबी, फारसी और खड़ी-बोली के शब्दों का उपयोग देखने को मिलता है।

नानक देव सत्य को ही ईश्वर मानते थे। उनका विश्वास था ईश्वर का नाम स्मरण करने और उसकी स्तुति गाने से हमारी भक्ति भावना जाग्रत होती है जिस प्रकार गन्दे कपड़े साबुन और पानी से धुलकर साफ हो जाते हैं उसी प्रकार प्रार्थना से मन के कलुष धुल जाते हैं। उन्होंने जनता को बताया कि वे अपनी भाषा में ईश्वर से सीधा सम्पर्क कर सकते हैं पर कोरे शब्द जाल से काम नहीं चलता। इसके लिए भावना के समन्वय की भी विशेष आवश्यकता है।

आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगाने से मनुष्य की इच्छा परमात्मा के अधीन हो जाती है और फिर उसके सारे क्रिया-कलाप ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ही चलते हैं। ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र इच्छा शक्ति मानव के लिए बहुत बड़ा वरदान है उसके सम्मुख सत्य और असत्य, पाप और पुण्य के मार्ग खुले रहते हैं उसे मार्ग चयन की पूरी-पूरी छूट रहती है। यदि ऐसा न होता तो उसका जीवन एक स्वचालित यन्त्र की तरह नीरस हो जाता। ऐसी स्थिति में न वह प्रतिष्ठा प्राप्त कर पाता और न महान् बन पाता।

ईश्वर को समर्पित जीवन जीने वाले लोगों का व्यक्तित्व प्रभावशाली इसलिए है कि वे सामान्य मनुष्यों को प्राप्त अवसरों से लाभ उठाकर अपने को महानता की ओर ले जाते हैं और अपने चारों ओर के मनुष्यों से ऊपर उठ जाते हैं।

गुरु नानक के आगमन को भले ही पाँच शताब्दियाँ बीत गई हों पर उनके प्रेरक जीवन प्रसंग एवं सन्देश शाश्वत हैं। जो आज के अज्ञानांधकार में भटकते मानव को प्रकाश किरणों की तरह मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं और धार्मिक एकता एवं राष्ट्रीय कल्याण की भूमिका में सहायक हो सकते हैं।

संग्रह की सार्थकता

बगदाद के शासक ने जितना कर सकता था धन-सम्पत्ति जमा की। उसके लिये वह प्रजा पर तरह-तरह के अन्याय और अत्याचार भी करता था। उससे प्रजा बड़ी दुःखी थी।

एक दिन गुरु नानक घूमते-घूमते बगदाद जा पहुँचे। खलीफा के महल के सामने ही वह कंकड़ों का छोटा-सा ढेर जमा करके उन्हीं के पास बैठ गये।

किसी ने खलीफा को नानक के आने की सूचना दी। खलीफा स्वयं वहाँ पहुँचा। कंकड़ों का ढेर देखते ही उसने पूछा— "महाराज! आपने यह कंकड़ किसलिये इकट्ठे किये हैं।"

गुरु नानक ने मुस्करा कर उत्तर दिया— "खलीफा जी! इन्हें कयामत के दिन ईश्वर को उपहार में दूँगा।"

खलीफा जोर से हँसा और बोला— "अरे नानक! मैंने तो सुना था तू बड़ा ज्ञानी है पर तुझे इतना भी पता नहीं कि कयामत के दिन रूहें अपने साथ कंकड़ तो क्या सुई-धागा भी नहीं ले जा सकतीं।"

गुरु नानक ने चुटकी ली— "मालूम नहीं महोदय, पर मैं आया इसी उद्देश्य से हूँ कि और तो नहीं पर शायद आप प्रजा को लूटकर जो धन इकट्ठा कर रहे हैं, उसे अपने साथ ले जायेंगे तो उसके साथ ही यह कंकड़ भी चले जायेंगे?"

खलीफा समझ गया, इसके आगे प्रजा का उत्पीड़न बन्द कर उनकी सेवा में जुट गया।

सज्जनता का बिखराव

सन्त नानक एक गाँव में गये। वहाँ के निवासियों ने बड़ा आदर किया— चलते समय नानक जी ने आशीर्वाद दिया— 'उजड़ जाओ।'

वे दूसरे गाँव में गये तो वहाँ के लोगों ने तिरस्कार किया, कटु वचन बोले और लड़ने-झगड़ने पर उतारू हो गये नानक जी ने आशीर्वाद दिया— 'आबाद रहो।'

साथ में चल रहे शिष्यों ने पूछा— भगवन्! आपने आदर करने वालों को 'उजड़ जाओ' और तिरस्कार करने वालों को 'आबाद रहो' का उलटा आशीर्वाद क्यों दिया?

नानक ने कहा— सज्जन लोग उजड़ेंगे तो वे बिखर कर जहाँ भी जायेंगे सज्जनता फैलावेंगे इसलिए उनका उजड़ना ही ठीक है। किन्तु दुर्जन सर्वत्र अशान्ति उत्पन्न न करें इसलिए उनके एक ही जगह रहने में भलाई है।

चोरी से छुटकारा

एक चोर सन्त नानक के पास पहुँचा और इस बुरी आदत से छुटकारा पाने का उपाय पूछा।

नानक ने जो उपाय बताये वे उससे निभते न थे। एक के बाद एक उपाय बदलते-बदलते जब बहुत दिन बीत गये और किसी से भी वह आदत न छूटी तो उन्होंने चोर को बताया कि तुम अपने पाप सबके सामने प्रकट करने लगो।

चोर का बार-बार आना और पूछना समाप्त हो गया और आदत भी सुधर गई। पाप प्रकट करने से उसे लज्जा लगती थी, सो उसने चोरी करना ही बन्द कर दिया।

सम्पत्ति का दर्प

लाहौर के प्रसिद्ध सेठ दुनीचन्द को अपनी सम्पत्ति के ऊपर बहुत नाज था। उन्होंने अपने मकान के ऊपर अनगिनत झण्डे लगा रखे थे, जो इस बात के प्रतीक थे कि जितने झण्डे हैं उतने करोड़ रुपया सेठ के खजाने में जमा है।

एक दिन गुरु नानक वहाँ पहुँचे उनके धन का इस प्रकार का प्रदर्शन देख, एक सुई देते हुए कहा इसे अभी सुरक्षित रख ले और स्वर्ग में मुझे वापस कर दें। गुरु की बात सुनकर दुनीचन्द को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने मुस्कराते हुए पूछा— "महोदय मैं अपने मरने के बाद यह सुई आपको कैसे लौटा पाऊँगा मरने के बाद तो किसी वस्तु को स्वर्ग नहीं ले जाया जा सकता।"

इस पर गुरु नानक देव मुस्करा उठे और करुणा भरे शब्दों में कहा— "यदि तुम अपने मरने पर एक छोटी-सी सुई भी नहीं ले जा सकते तो यह करोड़ों की सम्पत्ति तुम कैसे ले जा सकते हो ?" गुरु के इस वचन ने दुनीचन्द के हृदय को छू लिया और उसने गुरु नानक के उपदेशों का पालन करते हुए त्याग और सेवा का मार्ग अपनाने का संकल्प लिया।

खरी कमाई

ईश्वर भक्ति और नानक देव की बढ़ती लगन को देखकर उनके पिता चिन्तित रहने लगे। उन्होंने सोचा यदि यही स्थिति रही तो यह कभी भी परिवार छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं, इसलिए किसी रोजगार में लगाना उचित है।

दूसरे दिन उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर कहा— "इधर-उधर भटकने से काम न चलेगा। खाने को तो दोनों समय भोजन चाहिए ही। अब तुम बराबर के हो गये हो अतः दुकान की ओर ध्यान देना चाहिए। तुम आज बाहर चले जाओ। वहाँ से दुकान के लिए सामान ले आओ। हाँ, इतना ध्यान रखना कि सामान अच्छी किस्म का हो और किसी के बहकावे में आकर गाँठ का पैसा भी मत गँवा आना।"

नानक ने रुपये लेकर कहा— "पिताजी ! आप चिन्ता न करें। मैं सच्चा और खरा सौदा करके ही लौटूँगा।" पुत्र का आश्वासन पाकर पिता निश्चिन्त हो गये। उन्हें मार्ग में भगवान् का गुणानुवाद गाते हुए कुछ साधु मिले जो कई दिन से भूखे थे। जब नानक को पता चला तो उन्होंने अपनी गाँठ के सारे रुपयों से साधुओं के भोजन की व्यवस्था की। उन्हें भरपेट खाना खिलाया और रात भर उनके साथ रहकर सत्संग किया। दूसरे दिन खाली हाथ घर लौट आये।

जब पिता ने दुकान के माल के सम्बन्ध में पूछताछ की तो उन्होंने सारी घटना का विवरण समझाते हुए कहा— "धर्म की कमाई सर्वश्रेष्ठ कमाई है। इसका सुफल इस लोक में ही नहीं वरन् परलोक में भी मिलता है। मैं आपसे कहकर गया था कि सच्चा और खरा सौदा करके ही लौटूँगा। अब आप ही बताइए कि भूखे ईश्वर भक्तों को भोजन कराने से भी बढ़कर कौन-सा सच्चा सौदा हो सकता है ?"

फकीरी का सही स्वरूप

एक बार गुरु नानक पानीपत गये, जहाँ शाहशरफ नामक एक प्रसिद्ध सूफी फकीर रहते थे। गुरु नानक उस समय गृहस्थियों वाले वस्त्र धारण किए हुए थे। यह देखकर शाहशरफ ने पूछा— "फकीर होकर आपने गृहस्थियों वाले कपड़े क्यों पहन रखे हैं और संन्यासियों की तरह आपने अपना सिर क्यों नहीं मुड़ा रखा है ?"

नानक ने उत्तर दिया— मूड़ना मन को चाहिए, सिर को नहीं और मिट्टी की तरह नम्र होकर ही मन को मूड़ा जा सकता है। अपने वेश के सम्बन्ध में उन्होंने कहा— जो मनुष्य परमेश्वर के दर पर अपने सुख, स्वाद और अहंकार को त्याग कर गिर पड़े वह जो भी वस्त्र धारण करे, परमात्मा उसे स्वीकार करता है। दरवेश का चोगा और टोपी यही है कि वह ईश्वरीय ज्ञान को अपनी आत्मा में बसा ले। जो कोई मन जीत ले, सुख-दुःख में एक समान रहे और हर समय सहजावस्था में विचरण करे, उसके लिए हर तरह का वेश शोभनीय है।

जब शाहशरफ ने पूछा— "आपकी जाति क्या है, आपका मत क्या है, गुजर कैसी होती है ?"

गुरुजी ने कहा— "मेरा मत है सत्यमार्ग, मेरी जाति वही है जो अग्नि और वायु की है— जो शत्रु-मित्र को एक समान समझती है। मेरा जीवन वृक्ष धरती की तरह है। नदी की तरह मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि मुझ पर कोई धूल फेंकता है या फूल और मैं जीवित उसी को समझता हूँ जिसका जीवन चन्दन के समान दूसरों के लिए घिसता हुआ संसार में अपनी सुगन्ध फैला रहा हो।"

यह सुनकर शाहशरफ ने कहा— 'दरवेश कौन है ?" नानक ने कहा— "जो जिन्दा ही मरे की तरह अविचल रहे। जागते हुए सोता रहे, जानबूझकर अपने आपको लुटाता रहे। जो क्रोध में न आये, अभिमान न करे। न स्वयं दुःखी हो, न किसी को दुःख दे। जो हमेशा ईश्वर में मग्न रहे और वही सुने जो उसके अन्दर से ईश्वर बोलता है और उसी सर्वान्तर्यामी परमात्मा को हर व्यक्ति हर स्थान में देखे।

तपोनिष्ठ महात्मा श्रीचन्द्र

भगवत भक्ति से ओत-प्रोत योग साधन में कितनी शक्ति होती है। इसका उदाहरण सन्त श्रीचन्द्र के जीवन की अनेक घटनाओं से मिलता है।

महात्मा श्रीचन्द्र गुरु नानक के सबसे बड़े पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता से ही योग-साधना तथा भगवत् भक्ति की शिक्षा-दीक्षा ली थी। कुछ समय तक गृहस्थ धर्म में रहकर उन्होंने साधना की और बाद में समय आने पर जब उन्हें सहज वैराग्य हो गया तो वे संन्यासी हो गए। महात्मा श्रीचन्द्र ने एक सौ साल की आयु पायी थी और उनके सामने सिक्खों के छह गुरु गद्दी पर बैठे थे।

महात्मा श्रीचन्द्र कितने बड़े त्यागी और योग सिद्ध महापुरुष थे उसके उदाहरण में एक घटना है। गुरुनानक ने शरीर त्याग के कुछ समय पूर्व श्री अंगद देव को गद्दी देदी थी। श्री अंगद देव स्वयं ही बड़े त्यागी व्यक्ति थे और सदा भगवान् के ध्यान में निमग्न रहा करते थे। गुरु का पद पा लेने के बाद भी वे महात्मा श्रीचन्द्र के पास गये और विनयपूर्वक बोले— "आप गुरु के सबसे बड़े पुत्र हैं और बड़े भारी महात्मा हैं। उनकी गद्दी के आप ही सच्चे उत्तराधिकारी हैं। कृपापूर्वक गुरु की गद्दी पर बैठिये और शिष्यों को उपदेश दीजिये !

आप गुरु पुत्र हैं और मेरे लिये गुरु के समान ही हैं। गद्दी पर बैठना और शिष्यों को उपदेश देना आपके लिये ही योग्य है।''

श्री अंगद देव की बात सुनकर श्रीचन्द्र प्रेम से विभोर हो उठे और गद्‌गद कण्ठ से बोले— ''हे स्वरूप ! आप मुझसे ऐसा क्यों कह रहे हैं। मुझे तो सारा संसार एक भगवत् रूप ही मालूम होता है। मैं भला लोगों में गुरु और शिष्य का भेद करके उपदेश किस प्रकार कर सकता हूं। मेरा हृदय तो परमात्मा के अखण्ड प्रेम में डूबकर मतवाला हो चुका है। शिक्षा-दीक्षा देने की योग्यता मुझ में नहीं रह गई है। गुरु की कृपा से आप में यह शक्ति और योग्यता अवश्य है कि आप आवश्यकतानुसार जब चाहें संसार में उतर कर लोगों को उपदेश कर सकते हैं इसलिये गुरु की गद्दी पर आप ही बैठिये और उनका मन्तव्य आगे बढ़ाइए ? श्री अंगद देव ने बहुत कुछ अनुरोध किया किन्तु महात्मा श्रीचन्द्र ने गद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया।

महात्मा श्रीचन्द्र अधिकतर जंगल में ही रहा करते थे और वहीं आने वाले जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश दिया करते थे। एक बार साप्ताहिक समाधि से उठने के बाद उन्होंने भोजन के नाम पर थोड़ा-सा गुड़ खाने की इच्छा प्रकट की। एक शिष्य भागा-भागा पास के गाँव में गया और वहाँ के दुकानदार से कहा— ''भाई थोड़ा-सा गुड़ दे दो गुरु ने खाने की इच्छा प्रकट की है। बनिये ने समझ लिया कि यह पैसे देने वाला तो नहीं।'' निदान उसने कह दिया कि गुड़ नहीं है। लेकिन उसका बड़ा भारी कोठा गुड़ से भरा हुआ था।

शिष्य ने कहा, ''भाई तुम्हारे पास कोठे के कोठे गुड़ भरा है लेकिन तुम थोड़ा-सा देने के लिये झूठ बोलते हो। दुकानदार ने कह दिया उसमें तो मिट्टी भरी है गुड़ नहीं।''शिष्य निराश होकर वापस आ गया और महात्मा श्रीचन्द्र से दुकानदार की शिकायत करते हुये बोला— ''महाराज दुकानदार के पास गुड़ के कोठे भरे हैं लेकिन उसने न देने के लिये झूठ बोल दिया और कहा उनमें तो मिट्टी भरी है गुड़ नहीं।''

स्वरूप ! क्या तुमने उसका कोठा खोल कर देखा था। गुरु ने पूछा। शिष्य ने कहा नहीं महाराज ! गुरु ने फिर कहा— तब तुम बिना देखे दुकानदार को झूठा कैसे कहते हो। यह तो ठीक नहीं। क्या ठीक उसके कोठे में मिट्टी ही भरी हो या उसका गुड़ खराब होकर मिट्टी हो गया हो और वह दुकानदार सच बोलता हो। बिना प्रमाण पाये किसी को झूठा कहना भले आदमियों को शोभा नहीं देता।

बताया जाता है कि जब उस दुकानदार ने दूसरे दिन गुड़ का कोठा खोला तो उसका सारा गुड़ खराब होकर मिट्टी हो गया था। दुकानदार ने अपना परिवार बुलाया और कहा अब इस गाँव से चलो। यहाँ तो ऐसे योगी आ गये हैं कि जो कुछ कह देते हैं वही हो जाता है। दुकानदार गाँव छोड़कर चला गया।

महात्मा श्रीचन्द्र को जब पता चला तो वे दुःख के मारे रोने लगे और बोले धिक्कार है मुझे जो मेरे भय से एक आदमी गाँव छोड़ गया ! उन्होंने दुकानदार को बुलवाया और कहा, 'भाई ! तुम गाँव में आ जाओ।'' वह बोला महाराज हम संसारी आदमी हैं कहीं फिर कोई गलती हो गई तो आप शाप दे देंगे और हमारा नाश हो जायेगा। श्रीचन्द्र उसे समझाते हुये बोले भाई मैंने तो कोई शाप नहीं दिया तुम्हारे कहे का समर्थन कर दिया था। हो सकता है तुम्हारे वचन तुम्हें फलीभूत हुए हों। तुम गाँव में आ जाओ और अच्छे आदमियों की तरह सत्य और ईमानदारी का पालन करते रहो। मैं क्या किसी महात्मा का शाप तुम्हें नहीं लग सकता। दुकानदार गाँव में चला आया।

महात्मा श्रीचन्द्र ने समझ लिया कि भगवत् भजन से उनकी वाणी में शक्ति आगई है इसलिये वे आगे किसी के लिये भी कुछ कहने के लिये बहुत सावधान हो गये।

इसी तरह एक बार भानाराम नाम का एक आदमी उनके पास आया और बोला— ''महाराज ! मेरे पिता घर छोड़कर संन्यासी हुए जा रहे हैं। किसी के समझाने से मानते ही नहीं। आप उन्हें समझा दें तो शायद मान जायें। महात्मा श्रीचन्द्र ने पिता को उनके पास भेज देने के लिए कहकर भानाराम को विदा कर दिया।''

भानाराम ने घर जाकर पिता से गुरु का संदेश कह दिया। वह बड़ा खुश हुआ। उसने सोचा महात्मा श्रीचन्द्र तो संन्यासी हैं। मेरे संन्यास लेने की बात सुन कर मुझे दीक्षा दे देंगे। वह उनके पास आया और बोला— ''महाराज ! मौका आ गया। मेरे लिए क्या आदेश है ? आशा है आप मुझे संन्यास की दीक्षा दे देंगे।''

श्रीचन्द्र ने कहा— ''पहले तुम एक रात जंगल में रहकर आओ और जो कुछ वहाँ अनुभव हो उसे आकर मुझे बताओ और तब दीक्षा की बात है।'' वह व्यक्ति वन में चला गया। सबेरा होने पर गुरु के पास आया। महात्मा श्रीचन्द्र ने उससे उसका अनुभव पूछा। उसने बतलाया— महाराज ! रात को एक पेड़ के नीचे बैठा भजन कर रहा था तभी देखा कि एक कबूतर और कबूतरी सूखी डालियाँ और पत्ते तोड़ तोड़कर मेरे सामने डाल रहे हैं। मैंने उन्हें यों ही एक जगह इकट्ठा कर दिया और फिर भजन करने लगा। थोड़ी देर बाद देखा कि ये दोनों पक्षी एक जलती हुई डाली ले आये और मेरे सामने डाल गये। कुछ सर्दी थी। मैंने उस आग से वह पत्ते और डालों का ढेर जला दिया और फिर आँख बन्द कर भजन करने लगा। थोड़ी देर बाद फड़-फड़ की आवाज सुनकर मैंने आँख खोलीं तो देखा कि वे दोनों पक्षी आग में पड़े फड़-फड़ा रहे हैं। मैंने उन्हें निकाला पर वे बच न सके। मैं रात भर उनके शोक में बैठा रहा और प्रभात होने पर आपके पास चला आया।''

कथा सुनकर गुरु ने कहा— ''अब एक रात बस्ती में रहकर आओ और जो अनुभव हो उसे मुझे आकर सुनाओ !'' वह व्यक्ति रात भर एक बस्ती में रहा और सबेरे आकर अपना अनुभव महात्मा को सुनाया। वह बोला— ''महाराज ! मैंने देखा कि कड़ाके की सर्दी में एक साधु एक स्थान पर नंगा बैठा कुछ ध्यान-सा कर रहा है। एक आदमी उधर से निकला और उससे बोला, इधर से लोगों के घरों की बेटियाँ निकलती हैं और तू नंग-धड़ंगा बैठा है। जा भाग जा यहाँ से। लेकिन उस साधु ने न तो कोई उत्तर दिया और न उधर गया ही। अपने ध्यान में बैठा रहा। उस आदमी ने उसे पीटा और फिर पैर पकड़ कर घीटता हुआ ले जाकर एक तरफ डाल आया।

तब भी उस साधु ने उससे कुछ न कहा । उसका सारा शरीर घसीटने से लहूलुहान हो गया था !

तभी एक दूसरा आदमी आया और उसने उस साधु की मरहम पट्टी की और उसे एक शाल उढ़ा गया । लेकिन उस साधु ने उसको भी कोई दुआ या धन्यवाद नहीं दिया । उसी प्रकार अपने ध्यान में बैठा रहा । तभी प्रभात हो गया और मैं आपके पास चला आया ।

महात्मा श्रीचन्द्र बोले !'देखो स्वरूप' जंगल के उस कपोत जोड़े ने तुम्हारे सामने सच्चे गृहस्थ का उदाहरण रखा । उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति जाड़े में उनके वृक्ष के नीचे बैठा है । उन्होंने तुम्हारे लिए ईंधन और आग का प्रबन्ध किया और रात में तुम्हारी क्षुधा तृप्ति के लिए अपने को ही आग में डाल कर भून दिया और दूसरा उस साधु ने तुम्हारे लिए एक सच्चे साधु का उदाहरण रखा जो कष्ट तथा सुख में एक जैसा ही रहता है । न तो मारने-घसीटने वाले को बुरा कहता है और न सुख देने वाले को वरदान देता है उसके लिए जिस प्रकार सुख-दुःख समान होते हैं उसी प्रकार दुःख-सुख देने वाले भी समान होते हैं । अब तुम संन्यास अथवा गृहस्थ धर्म जो भी चाहो ग्रहण कर लो ।

उस व्यक्ति ने कहा महाराज गृहस्थ धर्म, संन्यास धर्म से मुझे तो ऊँचा लगा है तो वही ग्रहण करूँगा और वह साधु होने का विचार छोड़कर अपने घर चला गया ।

समर्पण के आदर्श प्रतीक— गुरु अंगद देव

गन्दे नाले में गुरु नानक का प्याला गिर गया । उन्होंने अपने शिष्यों की ओर देखा और कहा— 'इस प्याले को उठाओ ।' शिष्य दौड़े, प्याला उठाने के लिये नहीं मेहतर को बुलाने के लिए । नानक की आँखों में निराशा का भाव उभर आया । जिन शिष्यों को उन्होंने कार्य को ही पूजा समझने तथा स्वावलम्बी बनने का पाठ पढ़ाया था वे ही एक छोटे-से कार्य को करने में हिचक रहे हैं ।

परन्तु लहिणा नाम का एक शिष्य उठा और प्याला निकालने के लिए गन्दे नाले में झुका । प्याला नाली में डूब गया, तह में बैठ गया । लहिणा ने अपने कपड़े ऊँचे चढ़ाये और नाली में उतर गया । हाथों को गन्दे पानी में डालकर प्याला उठा लिया । इस कार्य में उनके कपड़ों पर कुछ दाग भी लग गये । इतने में दूसरे शिष्य भी मेहतर को बुला लाये थे । गुरु नानक ने सबके सामने लहिणा की प्रशंसा की । दुत्कारा दूसरे शिष्यों को भी नहीं कारण वे समझते थे— जन्म जन्मान्तर के संस्कारों को सीमित अवधि में मिटा सकना सम्भव नहीं है । वे कार्य की पूजा साधना में और अधिक निष्ठा के साथ संलग्न होने के लिए प्रेरित करते रहे ।

इसी प्रकार की एक घटना है— लहिणा खेतों में से घास का गट्ठर उठाकर ला रहे थे । उनके कपड़े पर गीली मिट्टी के दाग पड़ गये । गुरु नानक की पत्नी ने गुरु से कहा— 'आप लहिणा को कैसे-कैसे काम बता देते हैं । देखिए उसके कपड़ों पर कितना कीचड़ गिर गया है ।'

यह सुनकर वे मुस्कराये— यह कीचड़ नहीं केसर है जो लहिणा के चरित्र को सुवासित कर देगा और वास्तव में लहिणा जी का जीवन इतना सुगन्धित हो उठा कि गुरु नानक ने अपने बाद उन्हें ही सिक्खों का मार्गदर्शक चुना ।

यही लहिणा आगे चलकर गुरु अंगद देव के नाम से विख्यात हुए । उनका जन्म सन् १९०४ में पंजाब के फिरोजपुर जिले में हुआ । माता-पिता धार्मिक स्वभाव के थे । उसके साथ बालक लहिणा प्रतिवर्ष दूर देवी दर्शन के लिये जाया करते थे । इसी दर्शन यात्रा में उनका संपर्क एक बार गुरु नानक से हुआ ।

माता दया कौर तथा पिता फेरू जी गुरु नानक के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे । लहिणा को देखकर गुरु नानक ने उन दम्पत्ति से पुत्र माँग लिया और फेरू जी तथा दया कौर ने इसे गुरु कृपा समझ कर सहर्ष स्वीकार कर लिया । गुरु अंगद देव भी नानक से बड़े प्रभावित हुए । उनके पास रहने के बाद वे बड़ी श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ गुरु की सेवा में लगे रहते ।

नानक ने अंगद की हर प्रकार से परीक्षा ली और सेवा साधना की कसौटी पर खरा पाया । उनकी सेवा, निष्ठा की अनेकों प्रेरणाप्रद कथायें साखियों के रूप में प्रचलित हैं । अनुशासन और आज्ञापालन में गुरु अंगद देव की कोई सानी नहीं रखता । समर्पण के वे जीते जागते प्रतीक थे । कठपुतली की तरह अपने गुरु के हाथों का खिलौना बनकर रहने का सिद्धान्त उन्होंने जीवन में पूरी तरह उतार लिया था । सूत्रधार की तरह गुरु जिस प्रकार नचाता उसी प्रकार नाचना— काम करना उनका धर्म हो गया था । अपने इष्ट की इच्छा के अनुकूल रहना, जो आदेश हुआ उसी का पालन,जिस स्थिति में मार्गदर्शक रखना चाहे उसी में सन्तोष समर्पण की यही तो सच्ची स्थिति है । यही कारण है कि गुरु कृपा का लाभ उन्होंने अन्य शिष्यों की अपेक्षा अगणित गुना ज्यादा उठाया था ।

उत्तराधिकार में गुरुपद मिलने के बाद भी उन्होंने नानक की शिक्षाओं और आदर्शों को ही महत्त्व दिया । सच्चे धर्म और आस्तिकता के जीवन मूल्यों का प्रचार किया । गुरु नानक ने अपने उपदेश प्रचलित भाषा में दिये थे । उस समय सामान्य जनता में एक पुरानी लिपि जिसे उस समय 'शारदा' लिपि के नाम से जाना जाता था, में नानक की वाणी बिखरी पड़ी थी । अंगद देव ने सर्वप्रथम गुरु की शिक्षाओं साखियों को एकत्रित किया और उसे लिपिबद्ध करवाया । यही शारदा लिपि आगे चलकर गुरुमुखी कहलायी । पंजाबी भाषा इसी लिपि में लिखी जाती है । अंगद देव की संकलित साखियों का संग्रह आज जनम साखी के नाम से उपलब्ध है ।

गुरु अंगद का सबसे प्रमुख कार्य है लंगर प्रथा को प्रचलित करना । लंगर सामूहिक भोज की तरह होता है । जिसमें सभी वर्ग के ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन, अमीर-गरीब एक साथ बैठकर एक ही समान खाते हैं । इस परंपरा से सिक्खों में सामूहिकता और सहयोग की भावना का विकास हुआ । बिना किसी प्रकार के भेदभाव के लोग इसमें एक साथ भोजन बनाते हैं । इस प्रथा को चलाकर मानव मात्र एक समान के सिद्धान्त को उन्होंने व्यावहारिक रूप दिया । यद्यपि

इस परम्परा का विरोध करने वाले भी उस समय मौजूद थे। ऊँची जातियों के लोग गुरु अंगद की निन्दा करने लगे। उन्हें नानक की पवित्रता और मर्यादा को भंग करने वाला निरूपित किया जाने लगा परन्तु इसकी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। विरोध के बावजूद भी हजारों लोग उनके लंगर में सम्मिलित होते थे। जो भोजन बचता उसे लोगों के घरों में बाँट दिया जाता।

उसके बाद भी कुछ बचता तो तालाबों में डाल दिया जाता ताकि मछलियाँ उन्हें खा लें। मानव मात्र ही नहीं जीव मात्र के प्रति समान भावना का उच्चतम विकास उनमें हुआ था।

अपने पिछड़ी मनोवृत्ति के गुरु भाइयों को अंगद देव ने वही प्यार और स्नेह दिया जिसकी परम्परा नानक ने डाली थी। इसी प्रकार की एक घटना है। जोध भाई नामक एक जाति अभिमानी विद्वान् उनके दर्शन करने आये। गुरु अंगद देव चाहते थे कि उनमें अहंकार का दोष न रहे। जोध भाई ने कुछ योग्य सेवा बताने के लिए कहा तो गुरु अंगद ने कह दिया— "लंगर की सेवा करो।"

जोध भाई के मन में बड़ी ठेस पहुँची परन्तु निष्ठा का उनमें अभाव नहीं था सो लंगर की सेवा में भोजन बनाने से लेकर बरतन साफ करने तक का काम उन्होंने किया। धीरे-धीरे उन्हें अपनी भूल और अहंकार का भान हुआ वे बड़ा पश्चाताप करने लगे। अंगद देव के पास पहुँचे और कहा— "अभिमान के कारण मैं अपने आपको न जाने क्या समझने लगा था। मुझसे बड़ी भूल हुई है।"

अंगद देव ने कहा— कोई चिन्ता नहीं। बर्तन साफ करते-करते अब तुम्हारा हृदय भी साफ हो गया है। चाहो तो इस काम को छोड़ सकते हो।

जोध भाई ने अपने कार्य के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा— जिस साधना के परिणाम में मेरा मलीन हृदय स्वच्छ हो गया है उसे कैसे छोड़ दूँ। गुरु अंगद के अन्य कार्यों में सहयोग देते हुए भी जोध भाई ने फिर कभी लंगर सेवा को छोटा नहीं समझा।

गुरु अंगद देव ने समझा शरीर ही धर्म साधना का आधार है। इसे स्वस्थ रखना ईश्वर की पूजा का प्रथम कृत्य है इसलिए स्वास्थ्य रक्षा के लिए लोगों को श्रम और व्यायाम का अभ्यासी बनाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जगह-जगह व्यायामशालायें खोलीं और अखाड़े बनाये। स्वास्थ्य के प्रति आरम्भ से ही जागरूकता बनी रहे इसके लिए उन्होंने बच्चों को दण्ड-बैठक एवं कुश्ती का अभ्यास कराया। भारतीय समाज में बल की उपासना का भाव जगाने के लिए वे इन व्यायामशालाओं तथा अखाड़ों में स्वयं देखरेख करने जाते। कहते हैं हुमायूँ भी इन अखाड़ों में कुश्तियाँ देखने के लिए आया था तथा गुरु अंगद देव से बड़ा प्रभावित हुआ था। कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि वह अपने पुत्र को इन अखाड़ों के संरक्षण में देने के लिए भी तैयार हो गया था।

अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे अपना सर्वस्व मानव सेवा में लगा दें। यहाँ तक कि कल के लिए भी कुछ बचाकर रखना आवश्यक नहीं है। जो भगवान् आज के लिए हमारे निर्वाह का प्रबन्ध करता है कल की व्यवस्था भी वही करेगा। इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वयं के जीवन में भी उतार कर दिखाया।

सन् १५५२ में ४८ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। अपने उत्तराधिकारी उन्होंने अपने शिष्य अमर दास को सिक्खों का तीसरा गुरु बनाया। उनके चुने हुए उपदेश गुरु ग्रन्थ साहब में भी संकलित हैं।

योग्य गुरु के योग्य शिष्य अमरदास और रामदास

गुरु अमरदास सिक्खों के तीसरे गुरु थे। वे गुरु अंगद देव के उत्तराधिकारी बने थे। गुरु अंगद देव के शिष्यों में बड़े धनवान और विद्वान् लोग थे और आशा करते थे कि गुरु का उत्तराधिकार उन्हें मिलेगा। अमरदास के गुरु बनने की किसी को आशा न थी। अमरदास कुछ अधिक पढ़े-लिखे भी नहीं थे और गरीब आदमी भी थे। लेकिन उनमें गुरु निष्ठा और सेवा भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था। इन्हीं गुणों के आधार पर उन्होंने वह प्रतिष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व पाया था।

गुरुद्वारे में जब-जिस समय भी कोई अतिथि आ जाता था तो अमरदास उसकी सराहनीय सेवा किया करते थे। आधी-आधी रात को उठकर उन्होंने अतिथियों और अभ्यागतों की सेवा की और कोई अन्य प्रबन्ध न होने पर अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाया। अमरदास अतिथियों के लिए खुद अपने हाथ से पानी भरते और उन्हें नहलाते थे। इसके अतिरिक्त गुरुद्वारे की सफाई और वहाँ रहने वालों का सारा काम अपने हाथ से किया करते थे।

गुरु के प्रति उनकी निष्ठा और भक्ति अपनी समता न रखती थी। गुरु के नित्य स्नान के लिए वे प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में स्वयं स्नान करके नदी से पानी लेने जाया करते थे। नदी जाते समय वे गुरुद्वारे की ओर जहाँ गुरु का निवास होता था, कभी पीठ नहीं करते थे और पूरे मार्ग उल्टे चलकर जाया करते थे। इस क्रम में बहुत बार ठोकर लग जाने से वे गिर भी पड़ते थे, किन्तु तब भी गुरुद्वारे को पीठ न देते थे। गुरु को स्वयं स्नान कराते और उनके वस्त्र स्वयं धोते थे। इसी सेवा और भक्ति को देखकर गुरु अंगद देव ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। उनका कहना था कि गुरु की गद्दी जन-सेवा का उत्तरदायित्व है, शासन का अधिकार नहीं। अमरदास सच्चा जन-सेवक और हर तरह से गद्दी पर बैठने योग्य है।

गुरु अमरदास भी अपने गुरु अंगद देव के समान ही न्यायपरायण और सच्चा सेवा भाव रखने वाले का बड़ा आदर करते थे। उनके मोहनचन्द और मेहरचन्द नाम के दो लड़के थे, पर उन्होंने अपना उत्तराधिकार अपने किसी लड़के को न देकर रामदास नाम के एक शिष्य को दिया था।

रामदास बड़े ही निरभिमानी, सज्जन और सेवाभावी व्यक्ति थे। वे भी अपने गुरु अमरदास की तरह ही अतिथियों की सेवा और गुरुद्वारे का सब काम किया करते थे। गुरु अमरदास उनसे बड़े प्रसन्न थे और अपने पुत्रों से अधिक उन्हें चाहते और प्यार करते थे। रामदास

पर गुरु की कृपा देखकर उनके लड़के मोहनचन्द और मेहरचन्द उनसे बहुत जला करते थे । बहुत दिन तक तो वे उन्हें पीटते और तरह-तरह से परेशान करते रहे । किन्तु रामदास ने उनसे कभी कुछ नहीं कहा और न गुरु से कभी शिकायत की । वे सदा ही गुरु पुत्रों को आदर की दृष्टि से देखते रहे ।

एक बार की घटना है कि दोनों गुरु पुत्र और रामदास जंगल में सैर करने गये । रास्ते में एक पानी से भरा पोखर पड़ा । मोहनचन्द ने रामदास को उसमें धकेल दिया और अपने भाई को साथ लेकर सैर करने को निकल पड़ा । भोला रामदास देर तक उसमें गोते खाता रहा । फिर किसी प्रकार उससे बाहर निकल कर गुरु पुत्रों की तलाश में चल दिया । उसके सब कपड़े भींग गये थे और जगह-जगह कीचड़ लग गई थी । जब वह गुरु पुत्रों के पास पहुँचे तो वे दोनों हँसने लगे, पर रामदास ने उन पर किसी प्रकार का क्रोध नहीं किया और न शिकायत ही की ।

घर वापस आने पर भी रामदास ने गुरु से उसकी शिकायत नहीं की, किन्तु गुरु अमरदास को उस घटना का पता चल चुका था । गुरु ने तीनों को बुलाया और पूछा आज क्या बात हुई तुम तीनों के बीच । मोहनचन्द और मेहरचन्द ने तो झूठ बोलकर कह दिया कि कुछ भी नहीं हुआ । गुरु पुत्रों को डाँट न पड़े— इस डर से रामदास ने भी कह दिया कि गुरुजी कुछ नहीं हुआ । हम तीनों जंगल में खेलने गये थे । लेकिन गुरु ने मोहनचन्द को उसके अपराध के लिए डाँटा और रामदास से क्षमा माँगने को कहा । किन्तु जब ईर्ष्यावश मोहनदास ने अपने अपराध की क्षमा नहीं माँगी तो उन्होंने उसे घर और पन्थ दोनों से निकाल दिया ।

इस दण्ड पर रामदास रोने और प्रार्थना करने लगे कि भाई मोहनचन्द को इतना कठोर दण्ड न दिया जाये । उन्हें क्षमा कर दिया जाए । गुरु ने देखा कि रामदास के हृदय में अपने को दुःख देने वाले के प्रति भी प्रेम और सहानुभूति भरी है और सन्तोष के योग्य सज्जनता और सहनशीलता भी है । उसी दिन से रामदास गुरु अमरदास की दृष्टि में चढ़ गये और आगे चलकर उन्हीं को गद्दी दी गई ।

सेवाधर्म के उपासक—अमरदास

तृतीय सिख गुरु अमरदास जी ने बासठ वर्ष की उम्र तक कोई गुरु न किया । उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता तो उन्होंने गुरु अंगद देव जी से दीक्षा ली । वे बड़े भोर उठ कर तीन कोस दूर व्यास नदी से गुरु के स्नानार्थ जल ले आते । एक अँधेरी रात में वे जल लेकर लौट रहे थे तो रास्ते में जुलाहे की खड्डी से उन का पाँव टकरा गया और वे गिर पड़े । जुलाहा जाग उठा और पत्नी से बोला "देख तो कौन गिर पड़ा खड्डी में ?"

जुलाहिन ने कहा, "और कौन होगा, वही अनाथ अमरू आधी रात में गुरु की खिदमत के लिए उठ जाता है ।"

प्रातःकाल गुरु अंगद देव जी ने यह वार्ता सुनी । उन्होंने सिखों के दरबार में विह्वल कंठ से रात की घटना बतायी और अमरदास जी को गले लगा कर बोले, "यह अमरू अनाथ नहीं, सिखों का स्वामी है । सेवा-धर्म का पालन करने के कारण यह गुरु-गद्दी का अधिकारी है ।" जिस स्थान पर गुरु अमरदास जी ठोकर खा कर गिरे थे वहाँ आज भी विशाल गुरुद्वारा उन की गुरु भक्ति का संदेश देने के लिए खड़ा है ।

मनुष्य-मनुष्य में भेद कैसा

संसार में अपरिमित ज्ञान भरा पड़ा है पर उसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जब अपना अहंकार मिटा कर शिष्य भाव लाया जाय, श्रद्धा और भावनापूर्वक ज्ञान पाने की पवित्रता व्यक्त की जाय— इसलिये हे वत्स् ! आप शहंशाह अकबर से जाकर कहिये वे जब तक बादशाह होने का घमण्ड परित्याग नहीं करते तब तक अमरदास के दर्शन असम्भव है ।

अमरदास सिक्ख सम्प्रदाय के तृतीय गुरु थे, उन्होंने अपने अनुयायियों को सामूहिक लंगर में भोजन कराने की प्रथा का सूत्र-पात किया । उन दिनों हिन्दुओं में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भाव अत्यधिक विकृत रूप धारण कर चुका था । गुरु अमरदास की धारणा थी कि इस प्रथा से— मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की खाई पटेगी इसलिये ही उन्होंने अपने अनुयायियों को इस प्रथा से बाँध दिया था ।

बलिदानी सन्त गुरु तेगबहादुर

सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर बड़े ही धर्मात्मा और भागवत भक्त थे । उनके समय में भारत में मुगल बादशाह औरंगजेब का शासन था । वह बड़ा ही कट्टर बादशाह था । मुसलमान धर्म के सिवाय वह सारे धर्मों को ढोंग कहता था और मिटा देने की कोशिश करता था । उन दिनों वह काश्मीर के हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनवा रहा था ।

अत्याचार से त्रस्त होकर काश्मीर के बहुत-से पण्डित एक बार गुरु तेगबहादुर के पास आए और बोले— "गुरुजी ! हम हिन्दू लोग तो बड़ी मुसीबत में पड़े हैं । हमारी बहू-बेटियों की लाज और धन-दौलत दिन दहाड़े मुसलमानों द्वारा लूटी जा रही है । इसके अतिरिक्त काश्मीर में हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जा रहा है । आप हिन्दू धर्म की रक्षा कीजिए । आपके सिवाय इस समय कोई रक्षक दिखलाई नहीं देता । हम आपकी शरण हैं । हमारी रक्षा कीजिए ।"

गुरु तेगबहादुर काश्मीरी पण्डितों का दुःख सुनकर मौन हो गये और बड़ी देर तक विचार करते रहे । तत्पश्चात् बोले— "भाई ! बात दरअसल यह है कि धर्म की रक्षा बलिदान द्वारा होती है । यदि कोई बड़ा और भला आदमी इस समय अपना बलिदान दे दे तो धर्म की रक्षा हो सकती है ।" गुरु की बात सुनकर सब लोग सोचने लगे कि ऐसा बड़ा और भला आदमी कौन हो सकता है, जो अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा करे । इस बलिदान के लिए तो कोई सच्चा धर्मात्मा ही होना चाहिए ।

गुरु तेगबहादुर के पाँच वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह उस समय वहाँ बैठे थे । सबको असमंजस में बैठे देखकर बोले— "पिताजी ! इस

समय आप से बढ़कर और कौन बड़ा और भला आदमी हो सकता है। आप तो पूरे धर्मात्मा हैं। आप अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा क्यों नहीं करते।'' पुत्र की बात सुनकर गुरु तेगबहादुर गद्गद हो उठे और बोले, ''धन्य है मेरे वीर पुत्र ! तू ने मेरा पथ प्रदर्शन किया है।'' उसके बाद काश्मीरी पण्डितों को यह कह कर विदा कर दिया कि अब जब कोई तुम से मुसलमान होने के लिए कहे तो कह देना कि यदि गुरु तेगबहादुर मुसलमान हो जायें तो हम सब खुशी से हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हो जायेंगे।

कुछ समय बाद औरंगजेब को इस शर्त का पता लगा। उसने गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलवाया। गुरु तेगबहादुर घूमते-घामते और लोगों को धर्मोपदेश देते हुए दिल्ली पहुँचे तो वहाँ के हिन्दू-सिक्खों ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। औरंगजेब को जब पता चला तो उसने उन्हें दरबार में बुलवा भेजा। गुरु के भक्तों और शिष्यों ने प्रार्थना की कि वे दरबार में न जायें। औरंगजेब बड़ा खराब बादशाह है। वह हिन्दू और सिक्खों से शत्रुता मानता है। आपका वहाँ जाना भय से खाली नहीं है।

गुरु तेगबहादुर ने कहा— ''सच्चा सन्त किसी भय से अपने कर्त्तव्य का त्याग नहीं करता। मैं दरबार में जाऊँगा और बादशाह से बात करूँगा। सिक्खों और भक्तों को समझाकर गुरु तेगबहादुर औरंगजेब के दरबार में गये।

बादशाह ने कहा— ''आप एक पहुँचे हुए फकीर बतलाए जाते हैं, अगर ऐसा है तो कोई करामात या कमाल दिखलाइये।'' गुरु तेगबहादुर ने कहा— ''बादशाह ! करामात या कमाल तो बाजीगर दिखलाते हैं, हमारी करामात तो सत्य का पालन करना है।'' औरंगजेब ने कहा— ''सत्य तो हमारा इस्लाम धर्म है तो फिर उसे मंजूर क्यों नहीं कर लेते।'' गुरु तेगबहादुर ने कहा— ''यह तुम्हारा भ्रम है। यदि इस्लाम ही केवल सच्चा होता तो खुदा दुनिया में और धर्म पैदा ही न होने देता जब कि यहाँ पर बहुत-से धर्म मौजूद हैं। सदाचार, प्रेम और दया जिस धर्म में होगी वही सत्य होगा और संसार में जीवित रहेगा। यह गुण जिस धर्म में नहीं है वह सत्य नहीं मिथ्या है।''

औरंगजेब फिर बोला— ''यह सब बेकार की बातें हैं। जब कोई करामात नहीं दिखला सकते तो फिर नया धर्म चलाने का तुमको क्या हक है ?'' बादशाह का हठ देखकर गुरु तेगबहादुर ने कहा— ''मेरी करामात यही है कि एक मन्त्र लिखा हुआ यह परचा मेरी गरदन में बँधा है। इसके प्रभाव से तुम्हारी तलवार का वार हमारी गर्दन पर असर नहीं कर सकता। चाहो तो परीक्षा कर देखो। औरंगजेब ने जल्लाद को तलवार चलाने को कहा। किन्तु जल्लाद के तलवार चलाते ही गुरु का सिर कट कर गिर गया दरबार में सन्नाटा छा गया। उनकी गरदन से खोलकर पर्चा पढ़ा गया, उसमें लिखा था— ''सर दिया लेकिन सार नहीं दिया।'' गुरु का बलिदान अपूर्व था जिसने आगे चलकर औरंगजेब का तख्त हिला दिया।

पुष्प से कोमल, वज्र से कठोर गुरु गोविन्दसिंह

चमकौर के किले में गुरु गोविन्दसिंह को समाचार मिला कि उनके दो बेटे किले की दीवार में जिन्दा चुनवा दिए गये हैं और उनके दुःख में उनकी माता और पत्नी ने प्राण छोड़ दिये हैं। इस हृदय विदारक समाचार को सुनकर भी गुरु गोविन्दसिंह विचलित न हुए और रोते हुए साथियों को समझाते हुए बोले—

''भाइयो ! आप लोग उस समाचार पर रो रहे हैं जिसको सुनकर हर्ष विह्वल हो उठना चाहिए था। यह तो खुशी की बात है कि बच्चों ने प्राण दे दिए लेकिन धर्म नहीं दिया। दुःख की बात तो तब होती जब वे भय और लोभ में आकर अपना धर्म दे देते। यदि आप लोग जीवन के सार की ओर न देखकर नश्वर शरीरों का शोक कर रहे हों तो भी ठीक नहीं।''

गुरु गोविन्दसिंह बोले, ''इस रहस्य को समझो— आप लोग जमीन पर दो लकीरें खींचो।'' साथियों ने लकीर खींचीं, उन्होंने फिर कहा— ''अब इन्हें मिटा डालो।'' साथियों ने लकीरें मिटा दीं। गुरु गोविन्दसिंह ने पूछा— 'क्या आप लोगों को यह लकीरें बनाते हुए कोई आनन्द हुआ।'' साथियों ने कहा, 'नहीं।' ''क्या आप लोगों को इन्हें मिटाते समय कोई दुःख हुआ ?'' गुरु गोविन्दसिंह ने फिर पूछा। साथियों ने कहा, ''नहीं।''

गुरु गोविन्दसिंह समझाते हुए बोले— ''बस इसी तरह मानव शरीरों को समझ लो, इन्हीं रेखाओं की तरह बने और मिटते रहते हैं। जो जन्म लेता है वह एक दिन मरता भी है। एक दिन उन दोनों कुमारों ने भी इन्हीं रेखाओं की तरह अस्तित्व पाया और उन्हीं की तरह मिट गए। उन्होंने धर्म पर अपना बलिदान दे दिया है। इसलिए उनकी मृत्यु बधाई का विषय है, दुःख अथवा शोक का नहीं।'' गुरु का सार वचन सुनकर सबको ज्ञान हो गया और सभी सतश्री अकाल के घोष के साथ हर्षित हो उठे।

छोटे कुमारों के बलिदान के समाचार की ताजगी अभी कम न हुई थी कि जब तक बलिदान की घड़ी और आ गई। मुगलों ने चमकौर पर एक बड़ी फौज के साथ हमला कर दिया और किले को सब तरफ से घेर लिया। साधन और सामग्री की कमी में भी गुरु गोविन्दसिंह मोर्चा लेते रहे। किन्तु अन्त में जब रसद और सैनिकों के नाम पर 'नहीं' का शब्द बनने लगा तो मैदान में लड़कर बलिदान हो जाने का निश्चय किया गया।

गुरु गोविन्दसिंह हथियार बाँधकर चले तो उनके बड़े लड़के अजीतसिंह ने हाथ जोड़कर कहा— ''पिताजी आप नहीं, पहले मैं युद्ध में जाऊँगा।'' गुरु गोविन्दसिंह का उत्साह दो गुना हो गया। बोले— ''अजीत ! तुम अभी बच्चे हो। शत्रु की ताकत ज्यादा है। इस समय मैदान लेना मृत्यु का आलिंगन करना है। अच्छा हो कि तुम किले में रहो और मुझे मैदान में जाने दो।'' अजीत उदास होकर बोला— ''आप हमें धर्म पर बलिदान होने से रोकना चाहते हैं।''

गुरु गोविन्दसिंह ने उस वीर बालक की भावनाएँ समझीं और अपने हाथ से हथियार बाँधकर युद्ध में भेज दिया। जिस समय सैकड़ों शत्रुओं को मौत के घाट उतार कर अजीतसिंह ने वीरगति पाई गुरु गोविन्दसिंह बोल उठे— "धन्य अजीतसिंह ! धर्म के लिए बलिदान होकर तुम अमर हो गये।" दूसरी बार उनके दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने युद्ध में जाने की आज्ञा माँगी। गुरु गोविन्दसिंह ने उसको भी हथियार बाँधे। साथी सैनिक कह उठे— "गुरुजी ! आप क्या कर रहे है ? तीन बेटे तो आपने बलिदान कर दिये। अब क्या इस अकेले बचे बेटे को भी बलिदान कर देंगे। कुल का दीपक ही बुझा लेंगे क्या ? गुरु गोविन्दसिंह ने कहा— "खेद है कि इसके बलिदान देने के बाद मेरे पास कोई भी बेटा न बचेगा। भाइयो ! कुल का प्रकाश तो पुत्रों के शरीरों से नहीं उनके सत्कर्मों से होता है। सो यह सब कर ही रहे हैं।" उन्होंने चौथे पुत्र को भी युद्ध में भेज दिया और उसका बलिदान भी अपने आंखों से देखा, पर आह नहीं की।

अन्धविश्वास के विरोधी—गुरु गोविन्दसिंह

सिक्ख सम्प्रदाय के दसवें गुरु— गुरु गोविन्दसिंह एक महान् योद्धा होने के साथ बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति थे। धर्म के प्रति उनकी निष्ठा बड़ी गहरी थी। वह धर्म के लिए ही जिये और धर्म के लिये ही मरे। धर्म के प्रति अडिग आस्थावान् होते हुए भी वे अन्ध-विश्वासी जरा भी न थे और न अन्धविश्वासियों को पसन्द करते थे।

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों का संगठन और शक्ति बढ़ाने की चिन्ता में रहते थे। उनकी इस चिन्ता से, एक पण्डित ने लाभ उठाने की सोची। वह गुरु गोविन्दसिंह के पास आया और बोला— यदि आप सिक्खों की शक्ति बढ़ाना चाहते हैं तो दुर्गा देवी का यज्ञ कराइये। यज्ञ की अग्नि से देवी प्रकट होगी और यह सिक्खों को शक्ति का वरदान दे देगी। गुरु गोविन्दसिंह यज्ञ करने को तैयार हो गये। उस पण्डित ने यज्ञ कराना शुरू किया।

कई दिन तक यज्ञ होते रहने पर भी जब देवी प्रकट नहीं हुई तो उन्होंने पण्डित से कहा— "महाराज देवी अभी तक प्रकट नहीं हुई।" धूर्त पण्डित ने कहा देवी अभी प्रसन्न नहीं हुई है। वह प्रसन्नता के लिये बलिदान चाहती है। यदि आप किसी पुरुष का बलिदान दे सकें तो वह प्रसन्न होकर दर्शन दे देगी और बलिदानी व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

देवी की प्रसन्नता के लिये नर बलि की बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह उस पण्डित की धूर्तता समझ गये। उन्होंने उस पण्डित को पकड़ कर कहा— "बलि के लिये आपसे अच्छा आदमी कहाँ मिलेगा। आपका बलिदान पाकर देवी तो प्रसन्न हो ही जायेगी, आप को भी स्वर्ग मिल जायेगा। इस प्रकार हम दोनों का काम बन जायेगा।" गुरु गोविन्दसिंह का व्यवहार देखकर पण्डित घबरा गया। गुरु गोविन्दसिंह ने बलिदान दूसरे दिन के लिये स्थगित करके पण्डित को एक कोठरी में रख दिया।

पण्डित घबराकर गुरु गोविन्दसिंह के पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाने लगा— "मुझे नहीं मालूम था कि बलिदान की बात मेरे सिर पर ही आ पड़ेगी, गुरु जी मुझे छोड़ दीजिए। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।" गुरु गोविन्द सिंह ने कहा— अब क्यों घबराते हो ? बलिदान से तो स्वर्ग मिलेगा, क्यों पण्डितजी, बलिदान की बातें तभी तक अच्छी लगती हैं न जब तक वह दूसरों के लिये होती है ? अपने सिर आते ही असलियत खुल गई न।"

पण्डित बोला— "इस बार क्षमा कर दीजिये महाराज। अब कभी ऐसी बातें न करूँगा।" गुरु गोविन्दसिंह ने उसे छोड़ दिया और समझाया— "इस प्रकार का अन्धविश्वास समाज में फैलाना ठीक नहीं। देवी अपने नाम पर किसी के प्राण लेकर प्रसन्न नहीं होती। वह प्रसन्न होती है अपने नाम पर किये गये अच्छे कामों से।" बाद में गुरु गोविन्दसिंह ने उसे रास्ते का खर्च देकर भगा दिया।

'एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला'—मंत्र को अपनाने वाले आगे आयें

गुरु गोविन्द सिंह अपने बड़े लड़कों अजीत सिंह और जुझार सिंह के साथ चमकौर के किले में बैठे मुगलों के विरुद्ध अपनी रणनीति बनाने और योजना को क्रियान्वित करने में व्यस्त थे। यहाँ पहुँचने से पूर्व ही इनसे माँ, दो लड़के फतेहसिंह व जोरावरसिंह बिछुड़ गये थे। युद्ध में व्यस्त गोविन्द सिंह उन्हें खोजने के बजाय सुरक्षित स्थान खोजकर अपनी बिखरी सेना को व्यवस्थित करने में जुट गये। तभी एक दिन मुखवाल और आनन्दगढ़ से कुछ दूत उनके पास सन्देश लेकर आये। दूतों ने उन्हें बताया "गुरुजी ! जो सिक्ख आपका साथ छोड़कर चले गये थे, जब गाँव पहुँचे तो उनके परिवार वालों ने उन्हें बहुत धिक्कारा वे आप से क्षमा माँगने इधर चल पड़े हैं।" गुरुजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा यह तो बड़ा शुभ समाचार है। धर्म युद्ध में सभी को अपनी भ्रान्तियाँ दूर कर अब एक हो जाना चाहिए। जरा, माँ व हमारे दोनों बेटों की कोई खबर तुम्हें मिली हो तो बताओ।

दूत वस्तुतः दोनों कुमारों के शहीद होने का समाचार ही लाये थे। पर गुरु जी को सुनकर धक्का न लगे, इसी कारण तुरन्त बता नहीं पा रहे थे। उन्होंने प्रश्न को टाल कर कहा कि मुगलों की सेना आक्रमण करने चमकौर शीघ्र रवाना होने वाली है। इस समाचार को भी चुनौती के रूप में लेते हुए गुरु जी बोल उठे "लगता है तुम मेरे बेटों व माता का समाचार इसीलिये नहीं दे पा रहे हो कि उन्होंने शत्रुओं को समर्पण कर दिया है अथवा धर्म से विचलित हो गए हैं।" दूत तुरन्त रो पड़े और रुंधे कण्ठ से बोले— "गुरुजी ! ऐसा न कहें। दोनों कुमारों ने धर्म के नाम पर बलिदान दे दिया। सरहिन्द के नवाब की धमकी व लालच किसी का भी उन पर प्रभाव न पड़ा और उन्हें हमारे देखते-देखते किले की दीवार में जिन्दा चुनवा दिया गया। वह समाचार सुनते ही माता ने छत से कूद कर प्राण दे दिए।"

पिता के रूप में नहीं, धर्म-रक्षक संस्कृति के उद्धारक के रूप में गुरु गोविन्दसिंह यह समाचार सुनते ही खुशी से उछल पड़े और कहा— "धन्य हो मेरे बेटो ! तुमने आज धर्म की साख बढ़ा दी। तुमने बता दिया कि धर्म-संस्कृति की रक्षा के लिए तुम बलिदान होना

पसंद करोगे न कि विधर्मी बनना ।'' तीन सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु का समाचार सुनकर भी दुगुने उत्साह से विधर्मियों से लड़-मरने का संकल्प लेने वाले गुरु गोविन्दसिंह अवसाद की उन घड़ियों में अवतरित हुए थे जबकि विदेशियों के बार-बार आक्रमण हो रहे थे और आपसी फूट-विद्वेष के कारण संगठित विरोध किधर से भी नहीं बन पा रहा था ।

भक्ति भावना प्रधान सिक्ख धर्म को गुरुजी ने नई दिशा दी । अन्याय, अनीति के प्रतिरोध को भी उन्होंने आस्तिकता ईश्वर भक्ति का पर्याय बताते हुए 'एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला' देकर बड़ी संख्या में धर्म-प्रेमियों को धर्म-युद्ध के मंच पर ला खड़ा किया । युद्ध कला से अपरिचित उनकी सेना जब युद्ध में उतरती तो उनकी प्रचण्ड भावना देखते बनती थी । उन्होंने सेना में कोमल हृदय वालों को सेवा कार्य सौंपा तो साहसी— हिम्मत के धनी वीरों को तलवार थमाई । उनका धर्म-युद्ध किसी मत-सम्प्रदाय के विरुद्ध नहीं वरन् अत्याचार बलात् धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध था ।

दो छोटे पुत्रों की शहादत के बाद उनके अपने दो नवयुवक पुत्र जुझार और अमरसिंह भी आनन्दपुर, मुक्तसर, सिरमातट के युद्ध में काम आए । अपने डेढ़ हजार शिष्यों के साथ ही बहादुरी से लड़ते हुए उन्होंने चालीस हजारी मुगल बादशाही सेना को परास्त कर दिखाया । इन संघर्षों के साथ उपासना क्रम की भी उन्होंने कभी अवहेलना नहीं की । धर्म-साहित्य का सृजन वे निरन्तर करते रहे, अपने अनुयायियों में भक्ति भावना भी भरते रहे तथा अपनी सेना में शौर्य का संचार भी करते रहे । उन्होंने मात्र बयालीस वर्ष की ही आयु पायी और अपने एक मुसलमान शिष्य के हाथों धोखा खाकर शहीद हो गए ।

गुरु गोविन्दसिंह जी ने जिस पराक्रम, पुरुषार्थ को इस अल्पावधि में कर दिखाया था, उसी की परिणति आज इस धर्म-सहिष्णु भारतवर्ष के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है । आवश्यकता के अनुरूप महामानवों को चोला बदल बदलकर अवतरित होना पड़ा है । आज फिर माला और भाला के मन्त्र को जीवन में उतार लेने वालों की आवश्यकता आ पड़ी है । संस्कृति की रक्षा हो अथवा राष्ट्र की सुरक्षा, भावनाशील प्रखर अनीति से मोर्चा लेने वाले शूरवीर ही हमेशा काम आए हैं । आज जब आस्था का संकट गहन होता जा रहा है, मानवी मूल्यों का ह्रास हो रहा है समाज की रक्षा के लिये गुरु गोविन्दसिंह की सेना की परम्परा में ही, 'मृत्यु' जिनका जाग्रत हो, ऐसे सत्साहसियों को एक-जुट हो जाना चाहिये ।

आह्वान—मनु की सन्तानों से

नासिक के पास पंचवटी में एक तरुण बैठा ध्यान कर रहा था । आज पन्द्रह वर्षों से उसका एक ही क्रम था प्रातः-सांय गोदावरी में स्नान, दिन भर स्वाध्याय-जप-तप, रात्रि के कुछ घण्टों को नींद के लिए छोड़कर ध्यान । क्रम की निरन्तरता अनवरत चल रही थी । उन्हीं दिनों दशम गुरु गोविन्दसिंह जन-जागरण के लिए देश भर की यात्रा के लिए निकले थे । पंचवटी पहुँचने पर उन्होंने इस तरुण तपस्वी का साधना क्रम देखा । आस-पास के लोगों से पता लगाया । जिज्ञासा और बढ़ी । रात्रि को ध्यान से उठकर जब वह प्रातः नदी स्नान की ओर जा रहे थे गुरु साथ हो लिए ।

पूछा ''आप का शुभ नाम ?''

''अब माधवदास ।''

''अब का तात्पर्य ?''

''एकान्त साधना के पहले लक्ष्मण देव था ।'' छोटे प्रश्न का छोटा उत्तर । ऐसा जैसे अन्तर्मुखी तपस्वी कुछ अधिक बताने के लिये उत्सुक न हो । गुरु ने कुरेदा, अपने बारे में अधिक बताने की कृपा करेंगे ?

उसने गुरु के सिर से पाँव तक एक नजर डाली । प्रखर तेजोमूर्ति का अनुरोध वह अस्वीकार न कर सका । उसने बताना शुरू किया । ''मैं काश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में जन्मा हूँ । पिता का नाम रामदेव था । उन्होंने मुझे शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात किया । एक दिन जब मैं शिकार खेल रहा था तीर गर्भवती हिरणी को लगा । उसके नीचे गिरते ही गर्भ से दो मृगशावक छिटक गए और कुछ ही समय बाद तीनों कलपते-तड़पते मर गए । हृदय विदारक इस दृश्य ने मुझे इतना व्यथित किया कि मैं यहाँ तप के लिए चला आया । उस समय मेरी आयु सोलह वर्ष की थी और आज कुछ सोचते हुए रुक कर उसने ३१ वर्ष ''। '' तो इस तप साधना का लक्ष्य क्या है ? युवक ''! मान-अपमान में समान रहना, उद्वेगों को शान्त करना और कहते-कहते वह रुक गया ।

''बताओ-बताओ'' गुरु ने प्रोत्साहित किया । मुक्ति निर्वाण का परम लाभ पाना ।

''अच्छा तो यह है आपकी साधना ''। गुरु ने उसकी ओर इस तरह से देखा मानो वह कोई बहुत छोटी चीज के लिए यत्न कर रहा हो । अभी तक उसे प्रशंसा करने वाले मिले थे । पर गुरु की आँखों में प्रशंसा का कोई भाव न था उलटे उनमें उद्धारक की करुणा थी ।

अच्छा ! सच बताना अभी तक तुम मान-अपमान में समान रहकर उद्वेगों को शान्त कर सके ?

युवक कुछ क्षण मौन रहा मानो अपने अन्दर निहार रहा हो । मौन के बाद बोला नहीं— और शायद इस तरह जल्दी कर भी न सको उन्होंने धीरे से कहा ।

क्या ? कहकर वह अवाक् रह गया । लगा उसके पैरों से जमीन खिसक गई हो । एक साथ हजारों साँप-बिच्छू शरीर पर रेंग गए हों ।

कुछ क्षणों तक दोनों मौन रहे । 'क्यों' ? तपस्वी ने पूछा । 'वत्स' । गुरु का स्वर करुण विगलित था । ''जहाँ तुम्हें कोई सम्मान देने वाला नहीं, अपमानित तिरस्कृत करने वाला नहीं, उद्वेगों के अवसरों का पास फटकारने का मौका नहीं वहाँ समत्व कैसा ''? तो क्या अब तक की तपश्चर्या व्यर्थ गई । 'नहीं' उससे तुम निष्पाप हुए पर अधिक समय इसी में जुटे रहना हठ होगा । समय को पहचानने की कोशिश करो

कुछ क्षण वह युवक की आँखों में देखते रहे फिर प्यार भरे स्वर से बोले ''तुम मुक्ति चाहते हो न ?'' ''यदि मैं उसे इसी जीवन में उपलब्ध करा दूँ।''

''सच ! जैसे उसे सारी दुनिया का वैभव एक साथ मिल गया हो। अस्फुट स्वरों में बुदबुदाया— जीवन मुक्ति।''

'हाँ' गुरु का स्वर था, ''पर कीमत चुकानी होगी'' ''मैं बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हूँ'' '' तो उठो और जुट पड़ो जन-क्रान्ति का शंख फूँकने में। अपने तपे-तपाए जीवन और सधे-सधाए मन के द्वारा घर-घर जाकर बताओ मनुष्य कब कैसा होता है ? मनुष्य देवता कैसे बनता है ? मेरे बेटे ! जन-समुदाय अनुकरण का आदी है। उसकी प्रवृत्तियों को सत् की ओर मोड़ने के लिए तुम्हारे जैसे खरे शिक्षक चाहिए।'' बोलो— ''क्या तैयार हो ? मनु की सन्तानें अज्ञान के अन्धकार में पड़ी कीड़े-मकोड़ों की तरह बिलबिला रही हैं। उनके उद्धार के लिए विद्या का आलोक चाहिए, जो पुस्तकों से नहीं तपे-तपाए ढले-ढलाए जीवन से ही सम्भव है। चुप क्यों हो ? कुछ तो बोलो ! क्या नीलकण्ठ बन मानवीय जीवन में भरती जा रही विषाक्तता के शमन के लिए तैयार हो ?'' कहते-कहते गुरु का गला भर्रा गया, आँखों की कोरों से आँसू ढुलक पड़े।

तैयार हूँ गुरुदेव ! कहकर वह साष्टांग पैरों पर गिर पड़ा।

गुरु ने उठा कर छाती से लगाया। दोनों बेसुध हो रोते रहे। बड़ी देर बाद एक-दूसरे से अलग हुए। दोनों की आँखों में अभी भी आँसू थे, पर ये दुःख के नहीं प्रसन्नता के थे। गुरु को प्रसन्नता थी कि मानवता के प्रति उसके हृदय की मर्मान्तक पीड़ा को पीने वाला शिष्य मिला। शिष्य को प्रसन्नता थी कि उसके जीवन को सही राह दिखाने वाला गुरु मिला।

घटना का पटाक्षेप हुआ। उस दिन से लक्ष्मणराव गया, माधवदास गया, रह गया सिर्फ गुरु का 'बन्दा वैरागी'। यह उपाधि उसे गुरुगोविन्द से जो मिली थी। अब उसमें स्वार्थ संकीर्णता का कण भी न था, सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय काम करने की लगन। यही था उसका वैराग्य। इन्हीं अर्थों में वह बन्दा वैरागी था।

वैरागी ने माला रखकर तलवार उठाई और तत्काल बलि-भूमि पंजाब पहुँचा। वहाँ जाकर उसने नये सिरे से संगठन का शंख फूँका और धर्म-युद्ध का समारम्भ कर दिया। बन्दा ने अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सारी शक्तियाँ धर्म-युद्ध में लगा दीं। नव सूर्योदय के समान बन्दा को पाकर पंजाब का सारा हिन्दू और सिक्ख समाज जागकर उसके झण्डे के नीचे आ गया। बन्दा ने इस जन-बल के आधार पर सरहिन्द जीता, पंजाब के अट्ठाईस परगनों से यवन शासन का अन्त कर दिया और सतलज से यमुना तक की भूमि पर धर्मध्वज फहरा दिया।

पंजाब को स्वाधीन कर बन्दा आगे की योजना बनाने और बलिदान हुए वीरों की याद में एक गुरुद्वारा बनवाने में व्यस्त हुआ। तभी भारत भर के मुसलमान शासकों ने औरंगजेब के नेतृत्व में उस पर चारों ओर से धावा बोल दिया।

अत्याचारी बादशाह ने बन्दा का माँस नोच-नोच कर मार डालने का आदेश दे दिया। बन्दा जंजीरों से बाँधकर खड़ा कर दिया गया और जल्लादों ने गरम चीमटियों से उसका माँस निकालना शुरू किया, किन्तु धर्मवीर सच्चा वैरागी अन्त तक आनन्द की हँसी ही हँसता रहा।

जून १७१६ में उन्होंने अपनी नश्वर काया का परित्याग किया। परन्तु आज शरीर के न रहने पर भी उनकी आत्मा चीख-चीख कर पुकार रही है ! गुरु के बन्दो ! कहाँ हो ? मनु की सन्तानों की पीड़ा तुम से कैसे देखी जाती है ? इनके लिए वापस सत्युग लौटा लाने के लिए तुम्हारा पराक्रम क्यों नहीं जाग रहा ? क्या वे पुकारें हमें सुनाई पड़ रही हैं ? यदि हाँ, तो फिर गुरु के बन्दे बनें और कर्तव्य कर्म को पहचान कर जुट पड़ें।

बलिदान का महत्त्व

एक संगठित शक्ति की आवश्यकता हुई। गुरु गोविन्दसिंह ने एतदर्थ एक नरमेध यज्ञ किया। उक्त अवसर पर उन्होंने घोषणा की भाइयो ! देश की स्वाधीनता पाने और अन्याय से मुक्ति के लिये चण्डी बलिदान चाहती है तुममें से जो अपना सिर दे सकता हो वह आगे आये। गोविन्दसिंह की माँग का सामना करने का किसी में साहस नहीं हो रहा था तभी दयाराम नामक एक युवक आगे बढ़ा। गुरु उसे एक तरफ ले गये और तलवार चला दी रक्त की धार बह निकली, लोग भयभीत हो उठे। तभी गुरु गोविन्दसिंह फिर सामने आये और फिर पुकार लगाई अब कौन सिर कटाने आता है। एक-एक कर क्रमशः धर्मदास, मोहकम चन्द, हिम्मत राय तथा साहब चन्द आये और उनके शीश भी काट लिये गये। बस अब मैदान साफ था कोई आगे बढ़ने को तैयार न हुआ।

गुरु गोविन्दसिंह अब उन पाँचों को बाहर निकाल लाये और विस्मित लोगों को बताया यह तो निष्ठा और सामर्थ्य की परीक्षा थी वस्तुतः सिर तो बकरों के काटे गये। तभी भीड़ में से ''हमारा भी बलिदान लो''— ''हमारा भी बलिदान लो'' की आवाज आने लगी। गुरु ने हँसकर कहा— यह पाँच ही तुम पाँच हजार के बराबर हैं जिनमें निष्ठा और संघर्ष की शक्ति न हो उन हजारों से निष्ठावान पाँच अच्छे ? इतिहास जानता है इन्हीं पाँच प्यारों ने सिख संगठन को मजबूत बनाया।

अनुपम साहसपूर्ण त्याग

सिखों के नौवें गुरु श्री तेगबहादुर को औरंगजेब ने दिल्ली बुलाकर मरवा डाला था और उनकी लाश को नगर के एक चौराहे पर डलवाकर घोषणा कर दी कि जो कोई इसका अन्तिम संस्कार करने का प्रयत्न करेगा उसे भी प्राणदण्ड की सजा दी जायेगी। जब यह खबर गुरु गोविन्दसिंह जी के पास पहुँची तो वे उनकी लाश को प्राप्त करने दिल्ली की तरफ चले। उस समय उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। जब वे दिल्ली के निकट पहुँचे तो उनको एक गरीब गाड़ी वाला सिख मिला। उसने गुरुजी से कहा कि ''आपको दिल्ली जाना

बड़े भय की बात है'' औरंगजेब कभी आपको नहीं छोड़ेगा। इसलिए आप इसी जगह गुप्त रूप से ठहरे रहें, हम आपके पिता के शव को यहीं ला देंगे। यह कह वह अपने बेटे को साथ लेकर दिल्ली पहुँचा। उस समय तक गुरु तेगबहादुर का शव काफी गल सड़ गया था और उसमें से बड़ी बदबू आने लगी थी। पहरे वाले भी दूर हटकर बैठने लगे थे। वे गाड़ी वाले बाप-बेटे जब वहाँ पहुँचे तो बाप ने बेटे से कहा— गुरुजी के शव को हटाने से पहले हम दोनों में से एक को प्राण त्याग करना पड़ेगा क्योंकि पहरे वाले शव को न देखकर उसे ढूँढने लगेंगे। अभी तुम जवान हो इसलिए मेरा मरना ही उचित है। बेटे के जवाब देने से पहले बुड्ढे ने कृपाण अपनी छाती में मार ली और वहीं गिर गया। बेटे ने गुरुजी के शव के स्थान पर अपने पिता का शव रख दिया और गुरुजी के शव को गुरु गोविन्दसिंह के पास पहुँचा दिया।

आत्मबल ही चमत्कार है

आज मुगल दरबार में विशेष हलचल थी। सन्धि-वार्ता हेतु सिक्खों के सम्माननीय गुरु गोविन्दसिंह जी आज आमन्त्रण पर पधारे थे। उनके गुरु शब्द से एक मौलवी को मन में रोष था। वह सोचता था सेना संचालन, युद्ध आदि के कार्यों से सन्त, गुरु का क्या सम्बन्ध ? उसने उनके आध्यात्मिक स्तर पर चोट करने के विचार से प्रश्न कर दिया— महाराज, आप गुरु हैं— अपने नाम की सार्थकता के उपयुक्त कुछ चमत्कार दिखलायें ?

गुरु गोविन्दसिंह हँसे। बोले— ''मौलवी जी चमत्कार तथा आध्यात्मिकता का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। गुरु का काम चमत्कार दिखाना नहीं, शिष्यों का सही मार्गदर्शन करना होता है।'' पर मौलवीजी ने पुनः आग्रह किया— ''कोई चमत्कार तो दिखावें ही ?'' गुरुजी ने मुस्कुरा कर कहा— चमत्कार देखना ही है तो आँखें खोल कर देख लो, ईश्वर ने चारों ओर बिखेर रखे हैं। यह पृथ्वी, आकाश, तारे, वायु सभी चमत्कार हैं।'' पर मौलवी का आग्रह था मनुष्य का चमत्कार दिखाने हेतु। गुरुजी ने पुनः समाधान किया— ''अपने शहंशाह का चमत्कार देख लो न ! किस प्रकार एक व्यक्ति की शक्ति पूरे राज्य में काम करती है।'' पुनः आग्रह हुआ ''वह नहीं अपनी सीमा में कुछ चमत्कार दिखावें।''

गुरु गोविन्दसिंह के माथे पर बल पड़ गये। बिना रुके वे तड़प कर खड़े हो गये। म्यान से तलवार निकाल कर कड़वी आवाज में बोले— ''मेरे हाथ का चमत्कार देखने की शक्ति यदि तुझ में है तो देख ! अभी एक हाथ से तेरा सिर अलग हुआ जाता है।''

मौलवी जी को पसीना छूट गया। यदि स्वयं शहंशाह उनको नम्रतापूर्वक रोक कर, हाथ पकड़ कर अपनी बगल में न बिठालते तो मौलवी साहब खुदाबन्द के दरबार में पहुँच चुके होते।

सेवा के बिना

दसवें सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह आनन्दपुर साहिब में विराजमान थे। उन्हें प्यास लगी तो बोले— 'कोई मुझे पवित्र हाथों से जल पिला दे।' एक धनवान व्यक्ति उठा और जल ले आया। जल पात्र लेते समय उस व्यक्ति के हाथ गुरुजी को स्पर्श कर गये। वे पूछ ही बैठे— 'तुम्हारे हाथ तो बड़े कोमल हैं।'

वह व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर फूला न समाया और बोला— गुरुजी मेरे अनेक सेवक हैं। मैंने स्वयं कोई सेवा कार्य नहीं किया इसलिए, मेरे हाथ इतने कोमल हैं। सुनकर गुरुजी ने होठों तक लाये जल पात्र को रख दिया और बोले— जिन हाथों ने कभी कोई सेवा नहीं की वे पवित्र कैसे हो सकते हैं। मैं तुम्हारे हाथ का जल ग्रहण नहीं कर सकूँगा।

वहीं प्यास बुझा लेना

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने १६ वर्षीय बड़े पुत्र अजीतसिंह को आज्ञा दी कि तलवार लो और युद्ध में जाओ। पिता की आज्ञा पाकर अजीतसिंह युद्ध में कूद पड़ा और वहीं काम आया। इसके बाद गुरु ने अपने द्वितीय पुत्र जोझारसिंह को वही आज्ञा दी। पुत्र ने इतना ही कहा— पिताजी प्यास लगी है, पानी पी लूँ। इस पर पिता ने कहा 'तुम्हारे भाई के पास खून की नदियाँ बह रही हैं वहीं प्यास बुझा लेना'। जोझारसिंह उसी समय युद्ध क्षेत्र को चल दिया और वह अपने भाई का बदला लेते हुए मारा गया।

धार्मिक मतभेदों के समन्वयकारी— संत कबीर

सन् १८०० के लगभग दिल्ली का बादशाह सिकन्दर लोदी बनारस आया। उसके सामने उस नगर के मुसलमान काजी ने शिकायत की कि यहाँ पर कबीर नामक उपदेशक लोगों को इस्लाम के विरुद्ध नसीहत देता है, जिससे बहुत-से मुसलमान कुरान के मार्ग से हटकर हिन्दुओं की तरह ध्यान और भजन करने लग गये हैं। साथ ही कुछ प्रमुख हिन्दुओं ने भी कहा कि कबीर परम्परा से चले आये धार्मिक और सामाजिक नियमों का खण्डन करता है और लोगों को ऐसे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है जिसे न हिन्दू कहा जा सकता है और न मुसलमान। वह स्वयं ही सब का गुरु बनकर अपना नया ही पंथ चला रहा है।

यद्यपि धर्म के नाम एक ही व्यक्ति के विरुद्ध हिन्दू-मुसलमानों द्वारा शिकायत किया जाना एक नई बात थी, तो भी सिकन्दर लोदी ने एक शासक की हैसियत से कबीर को दरबार में हाजिर होने का हुक्म दिया। उनके आने पर मुसलमान और हिन्दुओं द्वारा कही गई शिकायतें उनको बतलाईं और भविष्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार न करने की आज्ञा दी। सरकारी फैसले की बात सुनकर कबीर साहब ने कहा—

हिन्दू तुरक कहाँ से आया, किन यह राह चलाई।
हिन्दू तुरक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई॥

कबीर साहब का कहना था कि हिन्दू और मुसलमानी धर्म आखिर कहाँ से आये ? ये सृष्टि के आदि से तो नहीं हैं, बीच में ही किन्हीं

आचार्यों या धर्मोपदेशकों ने इनका प्रचार किया है। अगर ये परमात्मा द्वारा ही प्रेरित होते तो इनमें इतना अधिक भेदभाव दिखाई न पड़ता और न इनके अनुयायी इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते। इससे मालूम होता है कि इनके सिद्धान्तों में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं अथवा बाद में नये-नये विचारकों और आचार्यों ने उनमें ऐसे पारस्परिक विरोधी परिवर्तन कर दिये हैं। कुछ भी हो, इन हानिकारक मतभेदों को देखते हुए अगर हम दोनों में समन्वय करते हैं और जीवन को सार्थक बनाने योग्य सरल और सच्चे सिद्धान्तों पर अमल करने की बात समझाते हैं, तो इसमें दोष क्या है ?

पर जमाना इस प्रकार के तर्क और न्याय की बातों को सहज में मान्यता दे सकने का नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों मजहबों के गुरुओं में अहमन्यता और स्वार्थ के भाव भरे हुए थे और वे यह सहन करने को कभी तैयार न थे कि कोई नया आदमी जनता को उनके प्रभाव से निकाल कर अपना अनुयायी बना लेवे। इसलिए इस प्रकार के धर्मजीवी लोगों ने बादशाह को खूब भड़काया और खास तौर से मुसलमानी धर्म को हानि पहुँचने का भय दिखाया। मुसलमान बादशाह स्वयं भी तलवार के जोर से धर्म प्रचार करने में विश्वास करते थे। इसलिए सिकन्दर लोदी ने कबीर को दण्डनीय समझा। कबीर पंथियों के कथनानुसार तो बादशाह ने ५२ प्रकार के उपायों से कबीर साहब को मरवाने का प्रयत्न किया पर दैवी शक्ति के प्रभाव या चमत्कार के कारण उनमें से कोई कारगर नहीं हो सका। अन्य लोगों के मतानुसार काशी की जनता का एक बड़ा भाग कबीर साहब की शुद्धता और परोपकारिता से प्रभावित था और उसका परिचय पाकर बादशाह ने उनको छोड़ देना ही उचित समझा। कुछ भी हो कबीर जैसे सत्य की राह पर चलने वाले कभी अन्याय के सामने सिर नहीं झुका सकते और उनकी आत्मशक्ति अन्त में उनको विजयी बनाती है।

कबीर साहब के जन्म के सम्बन्ध में लोगों में काफी मतभेद है। अधिकांश लोगों का मत है कि वे एक सद्य: जात शिशु के रूप में काशी के लहरतारा तालाब पर नीरू नामक जुलाहे को मिले थे। कुछ लोग इनको नीरू का ही पुत्र बतलाते हैं। कुछ भी हो जनता में वे नीरू (पित्ता) और नीमा (माता) के पुत्र के रूप में ही प्रसिद्ध थे और उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में अपनी जाति जुलाहा ही लिखी है। बाल्यावस्था में ही साधु-सन्तों की बातें सुनकर उनके हृदय में भक्ति भाव उत्पन्न हो गया था और वे सरल भाव से भगवान् का भजन करने लग गये। पर शीघ्र ही उनको अनुभव हुआ कि दुनिया के लोग भगवान् को सच्चे अन्त:करण से मानने का महत्त्व नहीं समझते वरन् सबसे पहले जाति और मजहब का 'लेबिल' ही देखना चाहते हैं। हर एक व्यक्ति कबीर से पहला प्रश्न यही करता कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान ? पर कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान अत: पूछने वाले को उत्तर से उनको कैसे सन्तोष होता ? बस, हिन्दू उनको मुसलमान कह कर पास बैठाने से इन्कार करते और मुसलमान उनको 'राम' का नाम लेने के कारण काफिर बतला कर भर्त्सना करते।

पर कबीर भी अपने सिद्धान्त के पक्के थे। वे जानते थे कि सच्चाई किसी खास मजहब से बँधी हुई नहीं है। जो कोई अपनी अन्तरात्मा में घुसकर निष्पक्ष भाव से उसकी खोज करेगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने स्वतंत्र चिन्तन द्वारा छोटी अवस्था में ही उसको प्राप्त कर लिया और डंके की चोट पर कहने लगे— "तुई जगदीश कहाँ से आया।" इसके साथ ही वे हिन्दू-मुसलमानों के अन्धविश्वासों और रूढ़िवादिता की भी तीव्र आलोचना करने लगे। जहाँ उन्होंने हिन्दुओं के 'माला और तिलक' धारण करने मात्र से सद्गति मिलने की आलोचना की वहाँ मुसलमानों से कहा— "क्या खुदा बहरा हो गया है जो इतने जोर से उसे पुकारते हो ?" उन्होंने "वे हलाल वे झटका मारें आग दुहुन घर लागी" कहकर दोनों मजहब वालों को फटकारा कि "मूढ़ लोगो ! धर्म के नाम पर गौ और बकरों की हत्या करके चट कर जाते हो और इसी पर अपने को ऊँचा बतलाते हो।" धर्म का पहला लक्षण किसी पीड़ित, दु:ख से व्यथित प्राणी की सहायता और रक्षा करना ही हो सकता है, इसके बिना हर प्रकार का बाह्य कर्मकाण्ड केवल ढोंग है। इस प्रकार खरी बात करने के कारण पुराने विचारों के संकीर्ण मनोवृत्ति वाले बहुत से व्यक्ति उनके विरोधी हो गये।

काशी भारतवर्ष का सर्वप्रधान तीर्थ और हिन्दू धर्म का केन्द्र माना जाता था। आज भी वहाँ के 'पण्डितों' से किसी धार्मिक समस्या की व्यवस्था लेने के लिए लोग हजारों रुपये भेंट देते हैं। जब लोकमान्य तिलक ने काशी के एक शास्त्री से विदेश यात्रा की व्यवस्था कर देने को कहा तो उसने पाँच हजार रुपये माँगा था। जब आजकल यह दशा है तो पाँच सौ वर्ष पहले जब जनता में शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम था और रूढ़ि पूजा को ही धर्म का मुख्य अंग माना जाता था, तब उस जमाने में इन 'पण्डित' और 'पुरोहित' नामधारी लोगों का प्रभाव कितना अधिक रहा होगा इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। इन लोगों ने कबीर को तरह-तरह से तंग किया। पर सच्चे सन्तों पर ऐसी बातों का प्रभाव कब पड़ता है ? वे अपने अपकारियों को भी सदा क्षमा करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सबने उनकी महत्ता को समझ लिया। कबीर साहब के सिद्धान्त उनके जीवन काल में ही अच्छी तरह फैल गये।

कबीर छोटे-बड़े का भेद नहीं मानते थे। वे ज्ञानमार्ग के पथिक थे और उपनिषदों के इस तत्त्व को अच्छी तरह समझते थे कि "ब्राह्मण और शूद्र के भीतर एक ही आत्मा का अस्तित्व है।" इस युग में महात्मा गाँधी ने शूद्रों के उत्थान के लिए उन्हें 'हरिजन' की पदवी देकर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। कबीर ने पाँच सौ वर्ष पहले ही लिखा था 'हरिजन सबीन जाति' अर्थात् हरिजन से बढ़कर कोई जाति नहीं है। अवश्य ही उनका आशय इस शब्द से केवल शूद्रों से न था, फिर भी उन्होंने शूद्रों को ऊपर उठाने का मार्ग दिखलाया और घोषणा की कि वे भी अपने जीवन को शुद्ध और भक्तिमय बनाकर ऊँची जातियों के समकक्ष बन सकते हैं। भारत में कुछ समय से जन्म

से ही मनुष्य को छोटा-बड़ा मान लेने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी है उसके ऊपर कबीर ने तीव्र प्रहार किया। वास्तव में यह दोष 'वर्ण व्यवस्था' के सिद्धान्त का नहीं है। अधिकांश विदेशियों ने भी इसको समाज संगठन और आवश्यक कर्मों को सुचारु रूप से सम्पन्न किए जाने का माध्यम माना है इसका व्यवहार प्राचीनकाल की तरह गुण-कर्म के आधार पर ही होना चाहिए। कबीर साहब की शिक्षा इसी से मिलती-जुलती है और उन्होंने वास्तव में करोड़ों अछूतों को ऊँचा उठाने में प्रशंसनीय कार्य किया है।

कबीर के जीवन में दूसरी अनुकरणीय बात यह थी कि उन्होंने शारीरिक श्रम की महत्ता को स्वीकार किया, सदैव अपने पेशे को करते रहे। जैसे गाँधी जी ने चर्खा चलाने को एक धर्म-कार्य का रूप दे दिया उसी प्रकार कबीर कपड़ा उन्होने में भी भगवान् की भक्ति और आध्यात्मिक प्रगति का अनुभव करते थे। उनके समय में और आजकल भी हिन्दुओं में साधु-सन्तों का एक लक्षण यह भी मान लिया गया है कि गृहस्थ जीवन के सांसारिक कर्त्तव्यों को त्यागकर केवल भजन उपासना में ही सब समय व्यतीत कर दिया जाय। इस हानिकारक मनोवृत्ति का ही परिणाम हुआ है कि देश में लाखों अकर्मण्य 'साधु' और 'संन्यासियों' का आविर्भाव हो गया जिनके जीवन निर्वाह का भार समाज को उठाना पड़ रहा है। इनमें से कितने ही 'साधु-संत' तो 'त्यागी और विरागी' कहलाते हुए भी गृहस्थों की अपेक्षा बहुत अधिक शान-शौकत और आराम से रहते हैं। कबीर ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण से इसका प्रतिकार किया और एक महान् सन्त होते हुए भी अपने परिश्रम की कमाई से ही सदैव अपना जीवन निर्वाह किया।

इस प्रकार कबीर ने सामान्य जनता के लिए ऐसा मार्गदर्शन किया जिससे वे सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार का जीवन बिताते हुए समाज में सम्माननीय स्थिति प्राप्त कर सकें। यद्यपि आज धन का गौरव सबसे अधिक बढ़ गया है और उसी के आधार पर मनुष्यों को छोटा-बड़ा समझा जाने लगा है और यह बात सभी महापुरुषों के सिद्धान्त के विपरीत है। बुद्ध, ईसा और सुकरात जैसे संसार के सबसे बड़े धर्मज्ञ और ज्ञानी पुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार उसके चरित्र, नैतिकता और परोपकारिता को ही बतलाया था। सन्त कबीर भी इसी मार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने गरीबी की ही प्रशंसा की है और "माया महा ठगिनि हम जानी" कहकर सांसारिक वैभव को ठुकराया ही है। इसीलिए इस नये युग में भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे आधुनिक विचार के महानुभावों ने कबीर की महत्ता स्वीकार करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विश्व इतिहास की झलक में लिखा है—

"कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे। हिन्दी में उनके भजन बहुत दूर-दूर के गाँवों तक में खूब प्रचलित थे। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू-मुसलमान दोनों थे या दोनों के बीच के थे और दोनों मजहबों तथा सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे तो उनका शव एक चादर से ढँक दिया गया। हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द दफन करने पर जोर दे रहे थे। इस पर दोनों में विवाद और झगड़ा बढ़ा। पर जब चादर हटाई गई तो देखा कि वह शरीर जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पड़े थे। मुमकिन है यह कहानी काल्पनिक ही हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।"

कबीर पढ़े-लिखे भी नहीं थे। उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि 'कलम गही नहिं हाथ।' फिर भी केवल अपने सहज ज्ञान और उसी के अनुसार सदाचरण के मार्ग पर चलकर उन्होंने एक अमर पदवी प्राप्त कर ली। वे बाहरी पूजा-पाठ और उपासना की बजाय 'सेवा-धर्म' को अधिक महत्त्व देते थे और सर्वत्र भगवान् की विभूति का अनुभव करते थे।

जो पग धरूँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत्, पूजूँ और न देवा॥

उन्होंने समाज में फैली हुई दुष्प्रवृत्त्यिों को मिटाने के लिए बड़े जोरदार ढंग से प्रचार किया। देवी-देवताओं के नाम पर जीव हिंसा करने वालों को फटकारते हुए कहा— "सन्तो! पांडे निपुण कसाई, बकरा मार भैंसा पर धावें, दिल में दर्द न आई।" इसके साथ ही मुसलमानों के लिए भी कहा "गाय बधे तेहि तुरक कहिए, इनते क्या वे छोटे।" वे केवल परोपकार और दूसरों के साथ भलाई करने को ही मानवता का सबसे बड़ा लक्षण बतलाते थे और उपदेश करते थे— "जो तो कूँ काँटा बुवे, ताहि बोहि तू फूल।" वे भगवान् को सर्वव्यापी देखते हुए कहते थे— 'मोको कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।' वे धर्म में अन्ध श्रद्धा के भी विरुद्ध थे और स्वयं अपने लिए भी कहते थे कि "जब लग देखें न अपने नयनों, तब लग न मानों गुरु की बैनां।' इस प्रकार जनता में सत्य धर्म और सत् शिक्षाओं का आजीवन प्रसार करने वाले संत कबीर दास के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त और उसके बाद की कई चमत्कारी किंवदन्तियाँ हैं। वे कितनी सच हैं और कितनी मन-गढ़न्त इसकी चर्चा तो अनावश्यक है, परन्तु सच यह है कि मध्य काल में ऐसे चमत्कारों, अन्धविश्वासों और मुल्ला-पण्डितों द्वारा निर्मित अन्ध-परम्पराओं से लेकर सामाजिक कुरीतियों पर कितना घातक प्रहार कबीरदास करते रहे उतना शायद ही किसी संत या आध्यात्मिक विभूति ने किया हो।

उनकी दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-वंश, परिवार और पद-प्रतिष्ठा नहीं व्यक्ति का व्यक्तित्व और आन्तरिक निष्ठा ये ही अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वस्तुत सन्त या साधारण इन्सान में अन्तर जानने के लिए परख की कसौटी है भी यही। उच्च ब्राह्मणों और राजकुलों में जन्म लेने वाले व्यक्ति का स्तर भी निम्न और पतित हो सकता है तथा निम्न कुल के, उपेक्षित और पिछड़े वंश परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपनी आन्तरिक श्रेष्ठता के कारण संत, महात्मा और देव पुरुषों की पंक्ति में जा बैठ सकता है। उस समय जब कबीर का जन्म हुआ तो लोक-संसार के साथ अध्यात्म जगत में भी यही मान्यता स्थापित की हुई थी। समाज और राजपरिवार में तो प्रगति और श्रेष्ठता का आधार जाति या वंश था ही, आध्यात्मिक क्षेत्र में

भी साधना और आत्म-कल्याण का अधिकार उच्च कुल के व्यक्तियों को ही दिया गया। समाज में इस परम्परा का इतना दुष्प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि अध्यात्म क्षेत्र में। क्योंकि इससे तो व्यक्ति के विकास की सम्भावनाएँ ही नष्ट हो जाती हैं और इसलिए संत कबीरदास ने सर्वप्रथम इस मान्यता को तोड़ा और 'जाति न पूछो साधु की पूछ लेउ बस ज्ञान'। ऐसी कुरीतियाँ भी प्राय: चिरपोषित अन्धविश्वास के परिणामस्वरूप जन्म लेती हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है स्वयं कबीर दास के कुल और वंश का कोई पता नहीं है। जहाँ तक उनके सम्बन्ध में पता चला है उनका पालन-पोषण नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति ने किया था। अधिकांश लोगों की मान्यता है कि इस दम्पत्ति को काशी के लहरतारा तालाब के तट पर एक बालक पड़ा मिला था वे नि:सन्तान थे— स्वाभाविक ही उनके मन में इस अनाथ शिशु के प्रति ममत्व जागा और वे इसे उठाकर अपने घर ले आये तथा बेटे की तरह पालन करने लगे। यहीं कबीर बड़े हुए और अपने अभिभावक माता-पिता के पेशे में लगे।

काशी जैसा पवित्र तीर्थ स्थल। उन दिनों काशी में एक से एक पहुँचे हुए सिद्ध महापुरुष थे, जिनकी जीवन वाटिका में धर्म-साधना और ईश्वर उपासना की कला से विकसित पुष्पों की सुगन्ध महानगरी में फैली हुई थी। स्वामी रामानन्द जैसे वैष्णव संत भी वहीं निवास करते थे और वहाँ की जनता पर अनूठा प्रभाव था। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी के मन में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी। नीरू जुलाहा भी उनके प्रति श्रद्धावनत् था और इन नियोजित माता-पिता की श्रद्धा भावना— कबीर को उत्तराधिकार में मिली।

संत कबीर जब थोड़े बड़े हुए तो उनके अन्त:करण में आरोपित ईश्वर की भक्ति की बेल भी फलने-फूलने लगी। हृदय में तीव्र आकांक्षा थी कि स्वामी रामानन्द से ईश्वर भक्ति की— उपासना साधना की दीक्षा ली जाय। परन्तु असमंजस यह था कि जुलाहा परिवार का सदस्य होने के कारण, जाति से मुसलमान होने के कारण कहीं स्वामी जी मना न कर दें, अनधिकारी घोषित न कर दें और यदि यह आशंका सच निकली तो उन्हें अपना गुरु मानने की आशंका धूल-धूसरित हो जायेगी।

इस सम्भावना को दृष्टिगत रखते हुए कबीर ने एक ऐसा उपाय सोचा जिससे यह सम्भावना भी न रहे और स्वामी जी के शिष्यत्व की पात्रता भी मिल जाये। स्वामी रामानन्द प्रात:काल ब्रह्ममुहूर्त में गंगा स्नान के लिए जाया करते थे। कबीर को यह पता चला तो वे आधी रात को ही उसी घाट पर जा बैठे तथा स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। सूर्योदय होने में कोई एक पहर ही बाकी रहा होगा तब स्वामी जी आये और कबीर दास उनके जाने से पूर्व ही घाट की सीढ़ियों पर लेट गये।

अन्धकार के कारण स्वामी जी न देख पाये और उनका पाँव कबीर की देह पर रख गया। जैसे ही उन्हें यह लगा कि पाँव के नीचे कोई दब रहा है वे एक-दम राम-राम कहते हुए उछले और इधर कबीर भी उठ बैठे। बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने स्वगत कहा— 'मिल गया। अब कोई चिन्ता नहीं।'

स्वामी जी ने विस्मित हो पूछा— 'क्या मिल गया।'

"मैं जाति का जुलाहा हूँ और आप से गुरुदीक्षा चाहता हूँ, सो मुझे गुरु मन्त्र मिल गया।"

'गुरुदीक्षा ही लेनी थी तो मुझसे कहना था। इस प्रकार के लेटने से क्या लाभ मिला।'

कबीर ने कहा— 'मैं सोचता था। कहीं मुसलमान होने के कारण मुझे दीक्षा का अनधिकारी न कह दें।'

लोक-व्यवहार में परिणाम विपर्यय की सम्भावना से सावधान रहते और चातुरी बरतते देखा है परन्तु धर्म और अध्यात्म का क्षेत्र भी इतना संदिग्ध है कि मुमुक्षु को पहली सीढ़ी पार करने के लिए यह मार्ग अपनाना पड़ा। स्वामीजी ने अपने इस विचित्र शिष्य को गले से लगा लिया और उन्हें लगा कि जिस प्रतिभासम्पन्न शिष्य की तलाश थी वह मिल गया।

धर्म के क्षेत्र में पनप रहे छल-कपट तथा धूर्त व्यवहार से स्वामी जी भलीभाँति विज्ञ थे। उसे निर्मूल करने के लिए कबीर श्रेष्ठ भूमिका निवाह सकेंगे— प्रथम भेंट में ही उन्होंने जान लिया और कबीर को धर्म तथा अध्यात्म के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने के साथ-साथ साधना मार्ग पर भी आरूढ़ किया।

स्वयं को ईश्वर से भी अधिक गुरु का उपकृत मानने वाले कबीर की श्रद्धा इन पंक्तियों में मुखरित हुई है —

गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

वे कैसे साधु-महात्माओं के विरोधी हो सकते हैं ? फिर भी वे साधु-पण्डित, काजी, मुल्लाओं के सबसे बड़े और प्रबल शत्रु थे। उस वर्ग के जिन्होंने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म के पुण्य क्षेत्र को विकृतियों से दूषित किया। जन-साधारण के कल्याण और सुख-शान्ति के मार्गदर्शन के स्थान पर जनमानस में अन्धविश्वास, पतन, हिंसा और अन्य व्यक्तिगत विकृतियों तथा सामाजिक कुरीतियों के विष बीज बोये।

कबीर समाज में ऐसे वर्ग से उठकर आये जिसे अभी तक विद्या बुद्धि प्रगति के क्षेत्रों में आगे बढ़ने का अवसर ही नहीं मिला था। उस वर्ग को अमानव या पशु का दर्जा दिया गया था। उस समय के कई पण्डितों और काजियों ने तो इस वर्ग को जड़ भी घोषित कर रखा था। ऐसे वर्ग और समुदायों की कुन्ठाओं या प्रतिक्रियाओं ने कबीर जैसे विद्रोही को जन्म दिया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। कुछ लोग कबीर को हठवादी और पूर्वाग्रही सिद्ध करने पर आज भी तुले हैं। परन्तु यह मान्यता अपने आप में एक पूर्वाग्रह है।

उस समग्र समाज की तन्द्रा तोड़ने के लिए यह आवश्यकता थी कि प्रचलित विश्वासों, मान्यताओं और प्रतीकों पर तीव्र प्रहार किया जाय। उन्हें तोड़े बिना जनता की निष्ठाएँ और आस्थायें सच्चे धर्म के प्रति उद्भूत ही नहीं हो सकती थीं। कबीर ने इस मर्म को

गम्भीरता से समझा, अपनी पैनी दृष्टि से देखा और अपनी तीखी शैली में कह दिया धर्मतन्त्र और अध्यात्म की स्थापना साधु-सन्तों की महिमा और शाश्वत सिद्धान्तों के जीवन मूल्यों की अवहेलना किये बिना असम्भव ही है। इस तथ्य को कबीर की नस-नस में बहता हुआ देखा जा सकता है। साधना, उपासना, चरित्र, सद्गुण, सत्य, न्याय, प्रेम, गुरु, शास्त्र, दर्शन आदि के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करने में, आवश्यकता प्रतिपादित करने में कबीर अपने समय के सभी विद्वानों से आगे निकल गये।

संत कबीर ने अपने समय में प्रचलित पाखण्ड और अन्ध-विश्वास का ही खण्डन नहीं किया वरन् उस समय की कई सामाजिक कुरीतियों और परम्पराओं को भी नहीं बख्शा। जाति-पाँति से लेकर मुसलमान तक और बाह्य चिह्न पूजा से लेकर पशुबलि के अन्धविश्वास तक कोई भी विकृति उनके आक्रमण से बच नहीं सकी। नि:सन्देह ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्बन्धित नेतृत्व में निहित स्वार्थ की भावना पनपने के कारण आती हैं। इन परम्पराओं और मान्यताओं पर प्रहार होते देखकर स्वार्थी तत्त्वों का कुपित होना स्वाभाविक ही है और संत कबीर को ऐसों का कोपभाजन बनना ही पड़ा परन्तु उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा।

तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी ने उन्हें तरह-तरह से उत्पीड़ित किया। शारीरिक यातनाओं से लेकर मरणान्तक कष्ट देने तक कोई उपाय नहीं छोड़ा। परन्तु अन्तर्निहित जाग्रत आत्मदेव की शक्ति क्षमता ने उनका सदैव बचाव किया। एक बार तो उन्हें गंगा तक में फेंक दिया गया, पर सिद्धान्तों और आस्था निष्ठाओं के धनी कबीर ने जीवन मूल्यों को ही अधिक महत्त्व दिया।

उनके व्यक्तिगत निजी जीवन की ओर दृष्टिपात करने पर तो सर्वाधिक विस्मित रह जाना पड़ता है। कुलहीन व्यक्ति ने और वह भी अनपढ़ जिसकी अँगुली ने कभी कागज और कलम को छुआ तक नहीं, कैसे इतना साहित्य सृजन किया, अपने व्यक्तित्व में कहाँ से इतनी प्रभावकारी क्षमता अर्जित की जिसने क्या मुगल साम्राज्य और क्या हिन्दू धर्म की पण्डा-पुरोहित नियन्त्रित व्यवस्था की जड़ें हिला दीं। कबीर के कई-कई दोहे ऐसे है जिनका अर्थ आज तक नहीं खोजा जा सका है। उनकी उलटवांसियाँ तो शोध छात्रों का प्रिय विषय बनी हैं। उन पर शोध प्रबन्ध लिखकर ही वे अपनी योग्यता तथा विद्वता को प्रमाणित करते हैं। कबीर के व्यक्तित्व की इस समृद्धि और सम्पन्नता की ओर देखने पर अध्यात्म तथा धर्म को, जीवन विद्या में निहित शक्ति जागरण की महानतम सम्भावनाओं को स्वीकार करना ही पड़ता है।

समाज में उनका प्रभाव और अनुयायियों की एक बड़ी संख्या होते हुये भी कबीर ने जुलाहों का-सा घर का पेशा अपनाया। वे एक साधारण गृहस्थ की तरह जिये। लोई जो उनकी धर्मपत्नी थीं ने दो बच्चों को भी जन्म दिया। पारिवारिक उत्तरदायित्वों के होने पर भी कबीर की मस्ती और सेवा साधना में कोई अन्तर नहीं आया। समाज में व्यापक परिवर्तन के सूत्रधार बनकर भी— अहर्निश इन प्रवृत्तियों और गतिविधियों में संलग्न रहकर भी कबीर ने अन्य साधु-संन्यासियों की तरह कभी भिक्षा या दान नहीं लिया। इस मार्ग के अन्य पथिकों को भी उन्होंने सदैव यही प्रेरणा दी—

साधू संग्रह न करे, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जो माँगो सो देय॥

और—

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सज्जन को काम॥

इस आदर्श को लेकर जीने वाले व्यक्ति ही अपने जीवन में समाज सेवा के लिए, नवनिर्माण के लिए कुछ कर पाने में समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा जीवन स्त्री-बच्चों के लिए विलास सुविधायें जुटाने में ही बीत जाता है। १२० वर्ष की आयु में सन्त कबीर का देहान्त सन् १५८० ई० में हुआ। अपने अन्तिम समय में वे मगहर चले गए थे क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि मगहर में मरने वाला व्यक्ति नर्क को जाता है। मरने के बाद भी अन्धविश्वास टूटे इसके लिए कबीर कितने यत्नशील थे।

कबीर की सिखावन

एक बार एक गृहस्थ कबीरदास के पास सत्संग के लिये गया। वह व्यक्ति अपने दाम्पत्य जीवन से असंतुष्ट था। स्वागत शिष्टाचार के बाद गृहस्थ ने पूछा— भगवन्! सुखी दाम्पत्य जीवन का रहस्य क्या है?

कबीर उस व्यक्ति की निराश मुख-मुद्रा देख कर समझ गये कि उसकी धर्मपत्नी से पटती नहीं। कबीर यह कह कर कि— "अभी समझाता हूँ" घर के भीतर चले गये।

थोड़ी देर में घर से सूत लेकर लौटे और उस व्यक्ति के सामने बैठकर उसे सुलझाने लगे। दो मिनट बाद अपनी पत्नी को आवाज लगाकर कहा यहाँ बड़ा अँधेरा है सूत नहीं सुलझता, दीपक तो रख जाओ। उनकी पत्नी दीपक जलाकर लाई और चुपचाप रखकर चली गई।

उस व्यक्ति को आश्चर्य हुआ कि क्या कबीर जी अंधे हो गये हैं जो सूरज के प्रकाश में भी उन्हें अँधेरा लगता है। इनकी पत्नी भी कैसी है जो बिना प्रतिवाद किये दीपक जलाकर रख गई। इसी बीच उनकी स्त्री दो गिलासों में दूध लेकर आई, एक उस आदमी के सामने रख दिया दूसरा कबीर को दे दिया। दोनों दूध पीने लगे। थोड़ी देर में स्त्री फिर आई और कबीर से पूछने लगी दूध में मीठा तो कम नहीं है। कबीर बोले नहीं, बहुत मीठा है, इसके बाद वे उसी भाव से दूध पी गये। वह आदमी फिर हैरान हुआ कि उसमें मीठा तो था भी नहीं गलती से चीनी की जगह नमक डाल दिया गया था।

आदमी बहुत झल्लाया, बोला— महाराज मेरे प्रश्न का उत्तर न दे सकें तो चलूँ? कबीर बोले भाई समझा तो दिया और क्या सुनना चाहते हो? विस्तार से सुनना चाहते हो, तो? देखें परिवार के लिये आवश्यक है कि सदस्यों को अपने अनुकूल बनाओ और स्वयं भी

परिवार के अनुकूल बनो । पत्नी और संतति को सुशील और आज्ञाकारी बना सको और स्वयं भी जीवन में हर जगह स्नेह और क्षमता का दान दे सको, तभी गृहस्थ जीवन सफल हो सकता है । वह व्यक्ति सारी बात समझ गया और खुशी-खुशी घर लौट आया ।

दृष्टिकोण की भिन्नता

कबीर सिद्ध पुरुष की तरह प्रख्यात हो गये । दूर-दूर से जिज्ञासु लोग आते । तब भी वे पहले की तरह ही कपड़ा बनाते रहते और साथ-साथ सत्संग चलाते ।

शिष्यों में से एक ने पूछा— "आप जब साधारण थे तब कपड़ा बुनना ठीक था, पर अब जब कि सिद्ध पुरुष हो गये और निर्वाह में कमी नहीं रहती तो आप कपड़ा क्यों बुनते है ।"

कबीर ने सरल भाव से कहा— "पहले मैं पेट पालने के लिए बुनता था । पर अब मैं जन-समाज में समाये हुए भगवान् का तन ढकने और अपना मनोयोग साधने के लिए बुनता हूँ ।"

कार्य वही रहने पर भी दृष्टिकोण की भिन्नता से उत्पन्न होने वाले अन्तर को समझने से शिष्य का समाधान हो गया ।

विश्वास की प्रगाढ़ता—दाम्पत्य जीवन की आधारशिला

कबीर अपने दरवाजे पर बैठे ग्रामवासियों को उपदेश दे रहे थे । तभी एक युवक ने पूछा— महाराज ! यह तो बताइये कि विवाह करना ठीक होता है या नहीं ? कबीर एक क्षण चुप रहे फिर अपनी पत्नी को आवाज देकर बुलाया और कहा— देख ! यहाँ बड़ा अन्धकार फैला है दीपक तो जला कर ले आ । धर्म-पत्नी घर गई और दीपक जलाकर ले आई । युवक हँस कर बोला— महाराज ! आप तो विलक्षण हैं ही आपकी पत्नी भी खूब है । आप दिन को रात बताते हैं तो पत्नी ने दीपक लाकर आपकी बात का समर्थन भी कर दिया । क्या खूब नाटक रहा । कबीर हँसकर बोले— नाटक नहीं, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर । यदि युवक-युवती एक-दूसरे पर इतना प्रगाढ़ विश्वास रख सकें तो ही उन्हें विवाह करना चाहिए ।

संन्यासी बनूँ या गृहस्थ

एक जिज्ञासु कबीर के पास पहुँचा, बोला— 'दो बातें सामने हैं— संन्यासी बनूँ या गृहस्थ ।'

कबीर ने कहा— 'जो भी बनो आदर्श बनो ।'

उदाहरण समझाने के लिए उन्होंने दो घटनाएँ प्रस्तुत कीं ।

अपनी पत्नी को बुलाया । दोपहर का प्रकाश तो था, पर उन्होंने दीपक जला लाने के लिए कहा ताकि वे कपड़ा अच्छी तरह बुन सकें । पत्नी दीपक जला लायी और बिना कुछ बहस किये रखकर चली गई ।

कबीर ने कहा— 'गृहस्थ बनना हो तो परस्पर ऐसे विश्वासी बनना, कि दूसरे की इच्छा ही अपनी इच्छा बने ।

दूसरा उदाहरण सन्त का देना था । वे जिज्ञासु को लेकर एक टीले पर गये, जहाँ वयोवृद्ध महात्मा रहते थे । वे कबीर को जानते न थे । नमाज के उपरान्त उनसे पूछा 'आपकी आयु कितनी है ।' बोले— 'अस्सी बरस ।'

इधर-उधर की बातों के बाद कबीर ने कहा— 'बाबा जी, आयु क्यों नहीं बताते ?' सन्त ने कहा था— 'बेटे, अभी तो बताया था, अस्सी बरस ! तुम भूल गये हो । टीले से आधी चढ़ाई उतर लेने पर कबीर ने सन्त को जोर से पुकारा और नीचे आने के लिए कहा । वे हाँफते-हाँफते चले गये । कारण पूछा, तो फिर वही प्रश्न किया— 'आपकी आयु कितनी है ?' सन्त को तनिक भी क्रोध नहीं आया । वे उसे पूछने वाले की विस्मृति मात्र समझे और कहा— 'अस्सी बरस है ।' हँसते हुए वापस लौट गये ।

कबीर ने कहा— 'सन्त बनना हो तो ऐसा बनना, जिसे क्रोध ही न आये ।'

शैतान का वश नहीं चलता

महर्षि कबीर अपने शिष्यों से कहा करते कि 'रोज सबेरे शैतान आकर मुझसे प्रश्न करता है— 'आज तू क्या खायेगा ?' मैं जबाब देता हूँ— 'मिट्टी खाऊँगा ।' वह पूछता है— 'क्या पहनेगा ?' मैं जवाब देता हूँ— 'मुर्दे का कपड़ा ।' वह फिर पूछता है 'रहेगा कहाँ !' मैं जवाब देता हूँ— 'श्मशान में ।'

मेरे ये उत्तर सुनकर शैतान मुझे बड़ा अभागा बताकर चल देता है । क्योंकि मैं उन सभी चीजों से अनिच्छा प्रकट करता रहता हूँ कि जिनमें वह संसार के प्राणियों को फँसाकर मनुष्य से राक्षस बना देता है । इसी से उस का वश नहीं चलता ।

पत्नी की सूझ-बूझ

एक पापी मनुष्य को एक बार अपने पापों के लिए पछतावा हुआ । उससे किसी ने कहा— 'तू कबीर दास के पास जा । वे तेरे मन को शान्ति प्रदान करेंगे ।' वह मनुष्य जैसे रोगी अस्पताल में जल्दी जाय, उसी तरह कबीर के यहाँ गया । कबीर घर पर नहीं थे । इसलिए उनकी पत्नी ने दृढ़तापूर्वक तीन बार भगवान् का नाम लेने को कहा । पापी ने सच्चे भाव से वैसा ही किया । इससे उसका मन शान्त हो गया और वह नाचता-कूदता हुआ ईश्वर-स्मरण में मस्त हो गया । इसी समय कबीर घर आ गये । ऐसे प्रेमी मनुष्य को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए । पत्नी ने उस भक्त का सब हाल बताया । कबीर ने खिन्न होकर अपनी पत्नी से कहा— 'केवल एक बार प्रभु का नाम ले लेने से सब कुछ सिद्ध हो जाता है । तब तुमने तीन बार हरिनाम लेने को क्यों कहा ? इससे मालूम होता है कि तुमको ईश्वर पर विश्वास नहीं है ।' स्त्री बोली— 'तीन बार नाम लेने का आशय यह था कि जिससे उस पापी का कायिक, वाचिक और मानसिक मैल दूर हो जाय ।' कबीर अपनी पत्नी की इस सूझ पर बहुत प्रसन्न हुए ।

मन से दुर्भावनाएँ दूर न हुईं तो फिर गंगा स्नान किस काम का ?

प्रातः का समय था। भक्त लोग स्नान कर रहे थे। कुछ ब्राह्मण भी गंगा स्नान करने आये। पानी काफी गहरा था। अतः घुसकर स्नान करने का साहस नहीं हो रहा था। पात्र कोई नहीं था। एक किनारे पर सन्त कबीर स्नान कर रहे थे। उन्होंने देखा तो उनसे न रहा गया। उन्होंने अपना लोटा माँज-धोकर एक व्यक्ति को दिया और कहा कि जाओ, ब्राह्मणों को दे आओ ताकि वे भी सुविधा से स्नान कर लें।

कबीर का लोटा देखकर ब्राह्मण चिल्ला उठे— "अरे, जुलाहे के लोटे को दूर रखो।" भाइयो ! कबीर बोले— "इस लोटे को कई बार माँजा और गंगा-जल से धोया फिर भी पवित्र न हुआ, तो यह मानव-शरीर जो दुर्भावनाओं से भरा है, गंगा जी में स्नान करने से कैसे पवित्र होगा ?"

कबीर के ये शब्द सुनकर ब्राह्मण बड़े लज्जित हुए और एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

अन्तिम समय मगहर में

कबीर का अंतिम समय आ पहुँचा। वे शिष्यों से बोले— "मेरी अंतिम साँस मगहर में ली जाय। मुझे तुरन्त वहाँ ले चलो।" सभी हैरान कि मरते समय तो लोग काशी आते हैं पर यह मगरह जाना चाहते हैं। कबीर बोले— मरकर यदि मैं स्वर्ग भी चला गया तो फिर काशी की ही महिमा गायी जाती रहेगी। मेरे खुद के किये-धरे का तो फिर कोई मतलब नहीं है। लोगों के मनों में बैठी भ्रान्तियों को निकालने के लिए मेरा मगहर में शरीर छोड़ना जरूरी है। लोग जानें कि कबीर ने ऐसी जगह शरीर त्यागा, जहाँ मरने पर अधोगति प्राप्त होती है किन्तु उसके कर्म इतने पवित्र थे कि परमपिता परमात्मा ने उसे सद्गति प्रदान की।

धर्मोद्धारक—राघवेन्द्र स्वामी

पुत्र के निर्माण में माता-पिता की भावनाएँ एक विशेष महत्त्व रखती हैं। माता-पिता की भावनायें ही सन्तान में संस्कार बनकर आत्मानुसार उसके आचरण की रचना करती हैं।

जिन अभिभावकों को राष्ट्र से प्रेम और समाज से स्नेह होता है, जो यह चाहते हैं कि उनका राष्ट्र संसार में मस्तक ऊँचा करके खड़ा हो, राष्ट्र का हर घटक अपने में एक पूर्ण मनुष्य बने, वे देश को अच्छे नागरिक देने के अपने कर्त्तव्य को बड़ी जागरूकता से निभाते हुये सन्तान का निर्माण किया करते हैं।

देश को एक होनहार नागरिक प्रदान करना बहुत बड़ी राष्ट्र-सेवा है। यदि देश के सारे माता-पिता समाज को उपयुक्त नागरिक देने के अपने उत्तरदायित्व को समझने लगें तो कुछ अन्य प्रयत्न किये बिना शीघ्र ही देश व समाज का कल्याण हो जाये।

राघवेन्द्र स्वामी के पिता श्री तिम्मण्ण भट्ट एक ऐसे ही उत्तरदायी व्यक्ति थे। समाज का वे जो कुछ थोड़ा बहुत हित कर सकते थे, वह तो उन्होंने अपनी परिस्थितियों के अनुसार किया ही, साथ ही देश को एक महान् नागरिक देने के लिए कुछ कम प्रयत्न नहीं किया।

पुत्र की कामना सबको होती है। किन्तु उनको यह कामना केवल अपने स्वार्थ तथा हर्ष के लिये ही होती है। ऐसे कितने बुद्धिमान होते हैं जो पुत्र की कामना इसलिये करते हैं कि वे एक ऐसे मनुष्य, एक ऐसे नागरिक का निर्माण कर देश को प्रदान करने के अपने राष्ट्रीय-कर्त्तव्य को पूरा कर सकें, जो कि युग-आवश्यकता को पूर्ण करने में अपना तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर कर दे। अपने स्वार्थ-साधन को न देख कर पुत्र को समाज सेवा के लिये प्रदान कर देना एक महान् तपोपूर्ण त्याग ही है।

तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महात्मा माध्वाचार्य जी द्वारा भक्ति मार्ग का उद्धार करने के लिये जिस वैष्णव मत की स्थापना की गई थी वह लगभग तीन सौ वर्ष की यात्रा करके सोलहवीं शताब्दी में आकर लड़खड़ाने लगा। श्री माध्वाचार्य का यह वैष्णव भक्ति मार्ग कोई साधारण उपासना प्रणाली मात्र ही नहीं था बल्कि यह उन मांगलिक साधनों में से एक था जिसने यवन बादशाहों के अत्याचारपूर्ण प्रयत्नों द्वारा तीव्रता से बढ़ते हुये इस्लामी प्रभाव से शिखा-सूत्र की रक्षा की थी। यह मत एक धार्मिक धरोहर थी जिसे हिन्दुत्व में चिर जीवन फूँकने के लिये सुरक्षित रखना आवश्यक था।

भक्ति प्राण तिम्मण्ण भट्ट ने वैष्णव मत की जीर्णता को पहचान लिया और उनकी आत्मा उसकी रक्षा के लिये छटपटा उठी। किन्तु वे आयु, पारिवारिक परिस्थिति, योग्यता एवं समय की कमी के कारण इच्छा होते हुये भी उतना कुछ नहीं कर पाते थे जितना कि सम्प्रदाय की रक्षा के लिये करना आवश्यक था।

श्री तिम्मण्ण भट्ट के कोई पुत्र नहीं था और न उन्हें पुत्र की कोई कामना ही थी। वे निरन्तर भगवत्-भजन में लीन रहने से निस्पृह, निष्काम तथा एषणाओं से रहित हो चुके थे। किन्तु, जिस भक्ति का फल वे आत्मानन्द के रूप में भोगते हुये संसार के दुःख-द्वन्द्वों से दूर हो चुके थे उसी सर्व सुख-सम्पन्न वैष्णव भक्ति का तिरोधान होते देख कर विचलित हो उठे और एक ऐसे पुत्र की कामना करने लगे जो समाज के कल्याण और उनकी आत्म-शान्ति के लिये उक्त भक्ति मार्ग को पुनर्जीवित कर सके।

निष्काम भक्त ने पुत्र की कामना से आराधना प्रारम्भ की और अपनी परमार्थपूर्ण इच्छा की प्रबलता से अपने विश्वासानुसार भगवान् वेंकटेश से इस वरदान के साथ पुत्र रत्न प्राप्त कर ही लिया— कि उनका पुत्र संसार के विषय-वासनाओं से विरक्त रहकर अपने कर्तृत्वों द्वारा देश और धर्म का उद्धार करे।

अपनी समस्त मंगल कामनाओं के साथ मन-मार्ग द्वारा अपने पुत्र में समाहित होकर श्री तिम्मण्ण भट्ट इस प्रसन्नता के साथ शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये कि यदि भगवान् वेंकटेश की इच्छा धर्मोद्धार की न होती तो वे मुझे इस उतरती आयु में माँगने पर पुत्र रत्न प्रदान न करते।

भगवान् वेंकटेश के नाम पर अभिधानित पितृहीन वेंकटनाथ के लालन-पालन का भार उनकी विधवा माता पर आ पड़ा। पति को पुत्र रूप में पाकर गोपा देवी ने अपने वैधव्य पर रोते रहना अयोग्य समझकर पति की भावनाओं को पुत्र में निष्ठापूर्ण कर्त्तव्य के रूप में रच देना ही पतिव्रत के अनुरूप समझा।

भक्त के पास विभूति का क्या काम? वेंकटनाथ के पिता ने अपने पीछे कोई सम्पत्ति तो छोड़ी न थी, अतएव उनकी माता ने अपने परिश्रम के बल पर जीविका की व्यवस्था करके संतोषपूर्वक पुत्र का पालन प्रारम्भ कर दिया। उनके पुत्र-पालन का अर्थ था अवस्थानुसार विविध उपायों द्वारा पुत्र के मनोविकास के साथ उसमें पति की भावनाओं की स्थापना करना। यद्यपि वे कुछ पढ़ी-लिखी न थीं तथापि पुत्र वर्णमाला की आयु में पहुँचा तो वे उसके हृदय में विद्या की आधार-शिला रखने की योग्यता प्राप्त कर चुकी थीं।

प्रारम्भिक शिक्षा देकर गोपा देवी ने अपने मोह को दबाकर पुत्र को उच्च शिक्षा के लिए अपने विद्वान् दामाद पं. लक्ष्मी नरसिंहाचार्य के पास भेज दिया। किसी महान् मन्तव्य के लिए सुरक्षित की हुई पति की धरोहर को आत्म-सन्तोष के लिए अपने तक सीमित रखने का अधिकार गोपा देवी को नहीं था। इस बात को वे अच्छी तरह जानती थीं और इसीलिए अपने भविष्य की चिन्ता छोड़कर उन्होंने पुत्र को उसी मार्ग पर अग्रसर किया जिस पर चलकर वह अपने स्वर्गीय पिता की इच्छा पूर्ण करके कुल को उज्ज्वल करे। गोपा देवी अच्छी तरह जानती थीं कि उन्होंने पुत्र में जिन संस्कारों का जागरण किया है और जिस मार्ग पर उसे अग्रसर किया है उससे वापस आकर वह उन्हें पुनः प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु देश-धर्म की धरोहर उसे सौंपकर उन्होंने सन्तोष ही पाया।

माता द्वारा निर्मित मनोभूमि की उर्वरता, मस्तिष्क की प्रखरता तथा पिता की इच्छा के प्रतिनिधित्व भाव ने मिल कर वेंकटनाथ में एक ऐसी लगन उत्पन्न कर दी जिससे वह आगामी कर्तव्यों के योग्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यावारिधि में आमूल निमग्न हो गया। शीघ्र ही उसने धर्म के सारे अंगों-उपांगों के साथ साहित्य, व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि में निपुणता प्राप्त कर ली।

विद्या विदग्ध होने के साथ-साथ तरुण होकर आए, अपने पुत्र को देखकर गोपा देवी के हृदय में हर्ष के साथ मोह की भी पुनरावृत्ति हो उठी और वे कम से कम पुत्र को विवाह बन्धन में बाँधकर उसको सपत्नीक देखने की अपनी इच्छा को न रोक सकीं। कोई इच्छा अथवा आवश्यकता न होने पर भी ज्ञान-गरिमा के पुण्य-प्रभाव से वीतराग हुए वेंकटनाथ ने माता की प्रथमान्त इच्छा को पूर्ण करना अपना धर्म-कर्त्तव्य ही समझा।

अपनी सहधर्मिणी के रूप में विद्वान् वेंकटनाथ ने जिस सरस्वती नामक कन्या का चुनाव किया वह देखने में सुन्दर तो नहीं थी किन्तु विद्या, बुद्धि और पति-परायणता में हजार सुन्दरियों से बढ़कर थी। वेंकटनाथ के इस चुनाव की जब लोग चर्चा करते तो वे एक ही उत्तर देते थे कि 'मुझे अपने चुनाव चातुर्य पर न केवल सन्तोष ही है अपितु गर्व भी है। जो व्यक्ति नारी के आन्तरिक सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देते हैं वे अधिक बुद्धिमान नहीं कहे जा सकते। नारी का वास्तविक सौन्दर्य तो उसके गुण हैं, बाह्य सौन्दर्य अचिर-जीवी विभ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।'

ध्येय-धर्म की तैयारी करके और माता को तोष देकर श्री वेंकटनाथ अपने कर्त्तव्य मार्ग पर चल पड़े। इसके पहले कि वे जनता में धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करते उन्होंने अपने गुरु श्री सुधीन्द्रतीर्थ जी का आशीर्वाद ले लेना आवश्यक समझा। गुरु ने वेंकटनाथ का उद्देश्य सुनकर तथा उस पर गहराई से विचार करके उन्हें अपने पास रोक लिया और शास्त्रों की पुनरावृत्ति का परामर्श दिया। यद्यपि वेंकटनाथ को अपने शास्त्रीय ज्ञान में कोई सन्देह न था तथापि वे गुरु की आज्ञा में किसी महान् मंगल का समावेश समझकर रुक गये और शास्त्रों के पुनर्मन्थन के साथ गुरु की सेवा में तल्लीन हो गये।

गुरु आश्रम में रहकर उन्होंने न केवल अपने ज्ञान को ही परिपुष्ट किया अपितु वक्तव्य-विकास के लिये अनेक शिष्यों को भी पढ़ाया। विद्या और वाणी पर समान रूप से अधिकार पाकर वेंकटनाथ ने गुरु से पुनः धर्माभियान की अनुमति माँगी। गुरु ने आश्वस्त होकर न केवल अनुमति ही दी अपितु अपने विश्वस्त शिष्य को स्वयं साथ लेकर पुण्य-पर्यटन पर चल पड़े।

सबसे पहले वेंकटनाथ अपने गुरु के साथ धर्म-जिज्ञासुओं के सम्मेलन तथा व्यावसायिक धर्म-प्रचारकों के केन्द्र स्थल तीर्थों पर अन्धविश्वास तथा भ्रांतियों को दूर करने के लिये गये। यद्यपि तीर्थों पर उन्हें धन्धकों के विकट विरोध का सामना करना पड़ा तथापि उन्होंने अपने साहस, आत्मविश्वास तथा विद्या के बल पर पुण्य स्थलों को मायावियों से मुक्त कर दिया। उन्होंने वर्णानुवर्ण सच्चे वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करके भजन-कीर्तन तथा पूजापाठ के रूप में अपना सत्य सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचा दिया। उनकी ख्याति से उत्तेजित होकर अनेक धर्माधिकारियों तथा सम्प्रदायवादियों ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। चुनौती स्वीकार करके उन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और अपने अमोघ वक्तव्यों द्वारा विरोधियों के न केवल मुँह ही बन्द कर दिये बल्कि उन्हें वैष्णव मत का प्रचारक बना दिया।

श्री वेंकटनाथ की अविचल निष्ठा, अनवरत प्रयत्न एवं अप्रतिम प्रतिभा ने तात्कालिक धार्मिक क्षेत्र में एक क्रांति उपस्थित कर दी जिसकी हलचल ने भ्रांतिपूर्ण विश्वासों को भागने पर विवश कर दिया। ध्येय के प्रति अर्पितात्मा वेंकटनाथ की धाक सारे देश में बैठ गई और वे वैष्णव मत के पुनरुद्धारक के रूप में पूजे जाने लगे।

धार्मिक क्षेत्र में वांछित परिवर्तन लाकर श्री वेंकटनाथ ने संन्यास ले लिया और कृत्यकृत्यता के सन्तोष के साथ राघवेन्द्र स्वामी के नाम से गुरु आश्रम में रहकर शान्तिपूर्वक लोक-शिक्षण की व्यवस्था करने लगे।

सेवा धर्म अपना कर आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचे हुये श्री राघवेन्द्र स्वामी ने लोक-शिक्षा के लिये अन्तिम दिन तक आश्रम के नियमों का निर्वाह किया। वे नित्य ब्रह्ममुहूर्त में उठते, कावेरी में स्नान करके गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों का प्रवचन करते। शिष्यों को पढ़ाते तथा कीर्तन-भजन के लिये पदों की रचना करते।

वैष्णव मत की रक्षा करके और अनेक भविष्य-रक्षकों का निर्माण करने के बाद श्री राघवेन्द्र स्वामी ने संसार में आगे अपनी आवश्यकता न समझकर तुंगभद्रा के तट पर मंचाली ग्राम में वृन्दावन नामक स्वरचित समाधि-संधि के बीच निर्धारित समय पर, भजन करते हुये ब्रह्म समाधि प्राप्त की। उनके शिष्यों ने गुरु के आदेशानुसार बारह सौ शालिग्रामों से उन्हें ढक दिया और समाधि-संधि बन्द करके पत्थर पर— "**यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत**" का भगवद्-वाक्य अंकित कर दिया। स्वामी जी धर्म की स्थापना के लिये अवतरित हुये थे, उस कर्तव्य को अन्तिम श्वास चलने तक वे पूरा करते रहे।

धार्मिक क्रान्ति के स्वप्नदृष्टा— स्वामी विरजानन्द

स्वामी दयानन्द— जब मूलशंकर सत्य की खोज के लिए अपनी साधना में किसी योग्य पथ-प्रदर्शक को सहायक और सूत्र-धार बनाने के लिए यत्र-तत्र घूम रहे थे। बरसों हो गये इस खोज में घूमते हुए परन्तु बात बनती न दिखाई दी। घर-परिवार का व्यामोह चक्र भी बड़ी मुश्किल से तोड़ पाये थे कि यह एक और समस्या सामने आ गयी। अध्यात्म क्षेत्र में पनप रहा पाखण्ड और ढोंग इतनी चालाकी से खड़ा किया जाता था कि उसकी असलियत का पता ही नहीं चल पाता। मूलशंकर कई ऐसे साधु-महात्माओं के सान्निध्य में महीनों तक रहे परन्तु यही पाया कि जितनी ख्याति उनकी सुनने में आती थी अन्दर से उतने ही वे उथले और स्तरहीन होते। असलियत का पता चलते ही वे उन्हें छोड़कर अपनी खोज पुनः शुरू करते।

यह खोज पूरी हुई मथुरा में। पुण्य सलिला यमुना के तट पर इस नवजिज्ञासु ने एक कुटिया का द्वार खटखटाया। अन्दर से पूछा गया— कौन तो जिज्ञासु साधक ने कहा— मैं दयानन्द। कुटिया में निवास करने वाले सन्त अपने आपको दयानन्द कहने वाले इस युवक से अपरिचित ही थे सो पुनः पूछा— "क्या चाहते हो।" "मैं शिष्य बनना चाहता हूँ।" और इतना कहने के बाद इस कुटिया के द्वार खुले। एक कृशकाय, नेत्रहीन किन्तु आत्म साधना तपः तन से उद्दीप्त मुख मण्डल के दर्शन हुए। शरीर पर वस्त्रों के नाम पर एक लंगोटी थी और नग्न देह की कृशता इस तरह की थी कि एक-एक हड्डी गिनी जा सके। दयानन्द को उनके मुखमण्डल पर चमकता तेज देखकर लगा कि अब खोज पूरी हो गयी है। अब उन्हें कहीं अन्यत्र न भटकना पड़ेगा। प्रथम दर्शन में ही स्वतः नतमस्तक होकर दयानन्द ने प्रणाम किया और ऋषि ओष्ठ बुदबुदाये "आयुष्मान भव।"

कृशकाय, नेत्रहीन किन्तु प्रज्ञाचक्षु सम्पन्न यह ऋषि थे स्वामी विरजानन्द। जिनके प्रथम दर्शन से ही स्वामी दयानन्द का स्थापित अनुमान सत्य निकला और सचमुच उन्हें विरजानन्द जी को छोड़कर कहीं और न जाना पड़ा। स्वामी विरजानन्द जी तब मथुरा में— उसी कुटिया में रहते हुए एक संस्कृत पाठशाला चलाते थे। इस पाठशाला का उद्देश्य था वैदिक धर्म के सम्बन्ध में अनधिकार चेष्टा से हस्तक्षेप करने वाले पुरोधा और पण्डितों द्वारा फैलायी गयी भ्रान्तियों का उन्मूलन तथा उनके स्थान पर छात्र को संस्कृत भाषा का ज्ञान करा कर स्वयं वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में सक्षम बनाना।

ईश्वर आराधना और आत्म साधना के बाद स्वामी विरजानन्द जी का यही एकमात्र मिशन था। प्रकाण्ड विद्वता और प्रचण्ड तपश्चर्या से उद्भूत आत्मबल इस मिशन को पूरा करने में सक्षम तो था परन्तु शारीरिक स्थिति इस मिशन को पूरा करने में बाधक थी। सो विरजानन्द जी किसी ऐसे शिष्य की प्रतीक्षा में थे जो सत्पात्र हो और जिसे वे अपनी इन सभी विभूतियों से आलोकित कर इस मिशन को पूरा कर सकें। स्वामी दयानन्द के रूप में उनकी यह साध पूरी हुई और लगा कि जिस सत्पात्र की उन्हें तलाश थी वह घर बैठे ही आ गया है। गुरु की अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए तीन गुण आवश्यक हैं— जिज्ञासा, निष्ठा और सेवा। स्वामी दयानन्द में ये तीनों गुण कूट-कूट कर भरे हुए थे। जिज्ञासा-ज्ञान पिपासा के प्रति उनकी निष्ठा इस प्रकार विकसित थी कि जब गुरु ने कहा— सब अनार्य ग्रन्थों को फेंक दो और अपने ज्ञान को भूल जाओ। यद्यपि यह एक कठिन कार्य था। मन को सहज ही इस दृष्टि से तैयार नहीं किया जा सकता। परन्तु दयानन्द जी ने अपनी गुरुभक्ति के बल पर यह कर दिखाया। पात्रता की अन्य कसौटियों पर भी जब दयानन्द एक के बाद एक कर खरे उतरते गये तो विरजानन्द जी ने अपनी समस्त ज्ञान सम्पदा और आत्मिक विभूतियों को उन पर न्योछावर कर दिया।

सन् १८६० से ६३ तक— तीन वर्ष में दयानन्दजी ने गुरु सान्निध्य में रहकर शास्त्राध्ययन और साधन मार्ग का प्रशिक्षण प्राप्त किया और जब गुरुगृह से संन्यासाश्रम की दीक्षा लेकर विदा होने लगे तो अपने शिष्य से दीक्षा माँगी— दयानन्द मुझे दक्षिणा में क्या दोगे।

"गुरुवर ! यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।"

"तेरे पास क्या है रे जो माँगू।"— गुरु ने कहा।

'बहुत कुछ है। जो भी चाहे माँग लो। आज तो इन्कार न करूँगा।'

'तो ठीक है अपना सारा जीवन ही मुझे दे डाल। मन में बड़ी साध है कि वैदिक धर्म के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियाँ दूर करूँ उस कार्य को तू ही पूरा करना।'

बिना कोई सोच-विचार किये दयानन्द जी ने कह दिया जो आज्ञा पूज्यवर और ऋषि ने अपने शिष्य को भी छाती से लगा लिया। इस अनूठे आत्मदान के साथ ही गुरु के अजस्र अनुदान भी प्रवाहित हो उठे और आत्मदान का संकल्प पूरा करने के लिए दयानन्द निकल पड़े।

इस गुरुदक्षिणा को स्वामी दयानन्द ने किस प्रकार चुकाया यह सर्वविदित है। स्वामी दयानन्द के कार्य और वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान अभियान की उपलब्धियाँ ऐतिहासिक हैं। उन ऐतिहासिक उपलब्धियों के पीछे कारण और शक्तिरूप से स्वामी विरजानन्द जी का व्यक्तित्व ही विद्यमान है। अन्यथा स्वयं के बलबूते पर इतना कार्य नहीं हो सका होता। स्वामी विरजानन्द के व्यक्तित्व की जिस प्रखरता का यहाँ संकेत किया जा रहा है वह भी आत्म-साधना, धर्म-

निष्ठा और अध्यात्म दर्शन की अभूतपूर्व मिसाल है। कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने जो बीज वपन किये वे ही अपनी विशालकाय सम्भावनाओं के रूप में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर ऐतिहासिक बन गये। यह बात और है कि श्रेय की दृष्टि से उन्होंने अपने शिष्य को आगे कर दिया।

स्वामी विरजानन्द को सामान्यत: लोग दण्डी स्वामी के नाम से सम्बोधित करते थे। उनका जन्म सन् १७७८ ई० में पंजाब के गंगापुर गाँव में हुआ था। यह गाँव कर्तारपुर के समीप बुई नदी के तट पर स्थित है। घर-परिवार की आर्थिक स्थिति औसत स्तर की थी। जब उनकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी तभी उन्हें शीतला का रोग हुआ और उसी रोग के कारण उनकी आँखें जाती रहीं। वे अपने चर्म चक्षुओं से केवल पांच वर्ष की अबोध आयु तक ही यह संसार देख सके और उनकी शेष आयु में अन्धेरा हो गया। लेकिन उन्होंने तपश्चर्या, पुरुषार्थ, अध्यात्म और जीवन साधना के कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलकर अपने उन्मीलित प्रज्ञा चक्षुओं को खोल लिया और उसके बल पर इतना कुछ देखा व परखा जिन्हें देखने में हजार आँखें भी अक्षम हैं।

दैवी प्रकोप उनसे आँखें छीनकर सन्तुष्ट न रह गया। इसके तीन चार वर्ष बाद ही उनके माता-पिता भी स्वर्गवासी हो गये। जब तक माता-पिता थे— अपने अन्धे ही सही किन्तु बेटा तो है और उसी के प्रति दायित्वों को ध्यान में रखने के कारण उनके संरक्षण में शिक्षण की व्यवस्था चली। वह व्यवस्था भी अब नष्ट हो गयी और विरजानन्द अनाथ। बड़े भाई ने लोक लाज से अपने अनुज को पास में रखा। लेकिन लोक-लाज ही भाई के प्रति कर्त्तव्य अच्छी तरह निभाने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती। दुनिया की निगाह में विरजानन्द का पालन-पोषण उनके भाई-भावज कर रहे थे परन्तु उनकी नासमझी और दुर्व्यवहार के कारण विरजानन्द जी को कितना कष्ट तथा दु:ख सहना पड़ा— यह कहा नहीं जा सकता। आरम्भ में तो ९-१० वर्ष का यह अबोध और संसार के ऊँच-नीच से अज्ञ बालक सब-कुछ सहता रहा। परन्तु जैसे-जैसे समझ बढ़ती गयी— स्थिति असह्य लगने लगी और अन्तत: वे १४ वर्ष की आयु में घर छोड़कर भाग निकले।

परिवार के वातावरण और माता-पिता से विरासत में मिली थी— ईश्वरनिष्ठा। मन में यह आस्था सुदृढ़ हो चली थी कि ईश्वर ही सबसे अच्छा और सबसे ऊँचा साथी है सो उसी सबसे अच्छे और सबसे सच्चे साथी से मिलने की धुन सवार हुई। गंगा और तीर्थ स्थानों पर बड़ी श्रद्धा थी सो मार्ग के कष्टों और कठिनाइयों को सहते हुए वे ऋषिकेश जा पहुँचे। गंगाजल में घण्टों तक आकण्ठ खड़े रहकर उन्होंने गायत्री का जाप किया और अपनी अन्तश्चेतना को तपश्चर्या की शान पर निखारा।

इसके बाद वे कनखल पहुँचे और वहाँ स्वामी पूर्णाश्रम जी से संन्यास आश्रम की दीक्षा लेकर काशी आ गये। इन दिनों उनके अनुभव में यह भली-भाँति आ गया था कि धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में असफल जो धारणायें प्रचलित हैं उनसे सत्य की अपेक्षा भ्रम ही उपलब्ध हो सकता है। इस अनर्थपूर्ण विडम्बना को उलटने के लिए आवश्यक है कि लोगों को धर्म और अध्यात्म का सच्चा अर्थ समझाया जाय। धर्म और अध्यात्म के शास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए वे काशी आकर रहने लगे और वहाँ संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित विद्याधर से संस्कृत सीखी। अल्प समय में ही उन्होंने संस्कृत का इतना ज्ञान अर्जित कर लिया कि शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ-साथ वे बालकों को संस्कृत भी पढ़ाने लगे। अध्ययन और अध्यापन से बचा हुआ समय वे सत्संग और वेदान्त चर्चा में लगाते।

काशी के वातावरण से वे जल्दी ही ऊब गये। चूँकि उनकी क्रिया पद्धति सही अर्थों में क्रान्तिकारी थी इसलिए मठाधीश और महन्तों का अवरोधक बनना भी स्वाभाविक था। इसी कारण और संन्यास आश्रम की मर्यादाओं के प्रति निष्ठा से प्रेरित होकर वे कलकत्ता और गया पहुँच कर सोरों में आ गये और फिर गाड़िया घाट। गाड़िया घाट में भी गंगा के जल में उनकी ऋषिकेश वाली पद्धति पर गायत्री जप साधना चली। साथ ही वे कुछ स्तोत्रों का भी पाठ करते। परन्तु वे स्तोत्र होते थे उनके स्वरचित।

अलवर नरेश द्वारा स्वत: और स्वयं सम्पर्क साधने व अलवर चलने का सघन आग्रह करने पर दण्डी स्वामी अलवर चले गये। वहाँ पर अलवर नरेश और उनकी पत्नी को संस्कृत पढ़ाने लगे। अतिरिक्त समय में वे अन्य विद्यार्थियों को भी संस्कृत पढ़ाने लगे। राजा के शिक्षक होने के नाते राजगुरु होने पर भी वे एक साधारण सी कुटिया में रहते थे। यहीं रहकर उन्होंने संस्कृत व्याकरण पर शब्द बोध नामक एक पुस्तक लिखी। लेकिन अलवर में भी वे स्थायी रूप से न रहे वहाँ से चलकर सोरों, मुरसान, भरतपुर आदि स्थानों पर रहते मथुरा आ गये और यमुना तट पर एक कुटिया में रहने लगे। इसी कुटिया में स्वामी जी ने संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। अब यहाँ पर उनकी स्मृति में विरजानन्द वैदिक अनुसन्धान भवन स्थित है।

दण्डी स्वामी आत्मकल्याण की तपसाधना के साथ लोकमंगल और जन-कल्याण के लिये धर्म और संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए भी शेष जीवन भर यहीं रहते हुए प्रयत्न करते रहे। उस समय वेद और दर्शनशास्त्रों की अपेक्षा मध्यमाल में रचे गये— अपने-अपने सम्प्रदायों और मतों के प्रतिपादन हेतु विभिन्न ग्रन्थों का ही अधिक प्रचलन था। इन ग्रन्थों में न केवल वैदिक आदर्शों की उपेक्षा तथा अवहेलना की गयी है वरन् उनके स्थान पर अनैतिक और अनार्ष मान्यताओं का भी बड़ा समर्थन किया गया है। परिणामस्वरूप ये अध्येता मुमुक्षु को आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर करने के स्थान पर उन्हें नैतिक दृष्टि से पतित बनाने में ही अधिक सहायक होते हैं।

इस विडम्बना के उन्मूलन हेतु यह आवश्यक था कि वैदिक ग्रन्थों की पुनर्प्रतिष्ठा की जाय। अत: स्वामी जी ने अपने शिष्यों को उक्त अनार्ष ग्रन्थों का परित्याग कर आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन पर ही अधिक जोर दिया। उनके सम्पर्क और प्रभाव से भारत के कई प्रसिद्ध विद्वान् आर्ष ग्रन्थों के परम भक्त बन गये। दण्डी स्वामी जी शास्त्र ज्ञान के अगाध सागर थे। यद्यपि उनकी पाठशाला में कई स्थानीय और बाहरी छात्र अध्ययन करते थे परन्तु उनकी आकांक्षा थी कि कोई ऐसा

शिष्य मिले जो उनके सिद्धान्तों का प्रचार कर संसार में विशेषकर भारत में एक नयी विचार क्रान्ति करने में सफल हो।

उनकी यह आकांक्षा स्वामी दयानन्द के रूप में पूरी हुई। पराधीनता का कलंक भी प्रज्ञा चक्षु दण्डी स्वामी से अछूता अनदेखा न रहा था। उन्होंने स्वतन्त्रता के बारे में विचार-विमर्श करने हेतु एक सर्वजाति सभा भी आयोजित की थी जिसमें प्रभावशाली निर्णय लिया तथा धर्म और समाज के क्षेत्र में नई क्रान्ति के पृष्ठभूमि निर्माता स्वामी विरजानन्द जी अपनी विभूतियों से देश और समाज को लाभान्वित करते हुए ९० वर्ष जीवित रहे। सन् १८६८ में उनका देहान्त हो गया।

धर्म समन्वयकर्त्ता—सन्त मलूकदास

समय-समय पर सन्तजनों ने अपनी साधना, आचरण, व्यवहार व वाणी से भारतीय जनमानस को अनुप्राणित किया है। उसके प्रभाव को आज भी भारतीय जनता में देखा जा सकता है। सन्त मलूकदास भी इसी कोटि के सन्त थे। उनका यह दोहा—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥

अपने आप में बहुत गूढ़ार्थ लिए हुए है, पर उसके पीछे छिपी आस्तिकता और ईश्वर विश्वास की प्रामाणिकता के स्थान पर लोग मनचाहे ढंग से उसका यह अर्थ लगाते है कि हमें भी अकर्मण्यता को स्वीकार लेना चाहिए। इसमें दोष मलूकदास का नहीं उन लोगों का ही है जो उसका गलत अर्थ लगाते हैं। जो कुछ भी हो इस दोहे के माध्यम से मलूकदास की स्मृति सदियों बाद भी बनी हुई है, पर इसके गूढ़ार्थ पर न जाकर उसके छिछले और विकृत अर्थ के सहारे हम सन्त मलूकदास की जो तस्वीर अपने मस्तिष्क में बना सकते हैं, वे वास्तव में उससे भिन्न थे। उनका जीवन, उनके विचार और उनके दृष्टिकोण बड़े ही उच्च थे। वे मूढ़ परम्पराओं के अन्धभक्त न होकर बड़े प्रगतिशील और क्रान्तिकारी थे।

मलूकदास पर जो साहित्यिक शोध हुई है, उससे उनके सम्बन्ध में, उनके साहित्य और विचारधारा के सम्बन्ध में, जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, वे बहुत प्रेरक हैं। सन्त मलूकदास की गणना इस नवीन शोध के आधार पर कबीर, रैदास और दादू जैसे सन्त कवियों के साथ की जा सकती है।

सन्त मलूकदास सन्त तुलसीदास के समकालीन थे। उनका जन्म उसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष में तुलसी ने रामचरितमानस की रचना करनी आरम्भ की थी। सम्वत् १६३१ में इलाहाबाद से ३८ मील दूर कड़ा नामक स्थान पर सन्त मलूकदास का जन्म हुआ था। अधिकांश हिन्दी सन्त कवियों के जन्म, शैशव और जीवन सम्बन्धी अन्य जानकारियाँ कहीं उल्लिखित नहीं होने के कारण जिस प्रकार विस्मृति के गर्भ में चली गई हैं वैसा ही सन्त मलूकदास के साथ भी हुआ। उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के बारे में उनके साहित्य से ही थोड़ी-सी जानकारी मिल पाई है।

जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं होने से मलूकदास जी की महत्ता कम नहीं हो जाती। हिन्दी काव्य साहित्य, आध्यात्मिक साधना और लोकमानस के परिष्कारार्थ समुचित मार्ग दर्शन विषयक उनकी देन भारतीय साहित्य, संस्कृति व इतिहास की अमूल्य निधि है।

उनकी संयम, साधना और लोकहित में निरत जीवन यात्रा १०८ वर्ष लम्बी रही। उनके जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर चार मुगल बादशाह—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब बैठे। अकबर के बाद मुगल बादशाहों की हिन्दू विरोधी नीति और भारतीय जनमानस में तज्जनित निराशा, असहिष्णुता और धार्मिक विद्वेष पैदा हो गया था उसे मिटाने के लिए सन्त मलूकदास ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रयास किया। सम्राटों द्वारा फैलाये गये धार्मिक विद्वेष के इस गरल से समाज शरीर को रोगाक्रान्त होने से बचाने के लिए उन्होंने एक कुशल वैद्य की भूमिका सम्पादित की थी।

अकबर के बाद मुगल बादशाहों की नीति हिन्दुओं के प्रति कठोर होती गई और औरंगजेब के समय में तो इस कठोरता की पराकाष्ठा ही हो गई। इन शासकों के धार्मिक अत्याचारों के कारण हिन्दू समाज अत्यन्त पीड़ित हुआ। अनेक धार्मिक आडम्बरों और बहुदेववादी धार्मिक व्यवस्था के कारण एक तो हिन्दुओं का धार्मिक जीवन पहले ही अस्त-व्यस्त था, उस पर मुगल शासकों की धार्मिक संकीर्णतापूर्ण मुस्लिमपरस्त नीति के कारण यह और भी छिन्न-भिन्न हो गया। परस्पर धार्मिक भेदभाव के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच विरोध उग्र होता चला गया।

ऐसे विषम समय में सन्त मलूकदास ने न केवल हिन्दू-मुसलमानों के बीच सहिष्णुता उपजाने का कार्य किया वरन् उन्हें धर्म के सच्चे स्वरूप का भी ज्ञान कराया। उन्होंने दोनों मतावलम्बियों को इस सत्य से परिचित कराया कि ईश्वर एक है। ईश्वर एक है तो उसके बेटों का धर्म के नाम पर लड़ना कहाँ तक उचित है? हिन्दू जिसे भगवान् कहते हैं, उसे ही मुसलमान खुदावन्द-करीम की संज्ञा देते हैं। यह तो मात्र नाम का भेद हुआ। इससे ईश्वर दो नहीं हो जाते। वही एक ईश्वर इस जगत का सृष्टा, पालक और नियन्ता है। उसके नाम पर कोई मस्जिद खड़ी करता है कोई मन्दिर; किन्तु ईश्वर इन्हीं में तो निवास नहीं करता। वह तो सर्वव्यापक है। वे कहते थे—

दास मलूका कहा परयो तुम, राम रहीम कहावत एके।

इस प्रकार के अपने उपदेशों के माध्यम से इस महान् सन्त ने धार्मिक समन्वय की नीति का प्रचार किया— धार्मिक विद्वेष के फैलते हुए जहर से मानवता को बचाने के लिए।

सन्त मलूकदास की सामाजिक भेदभाव और भिन्नताओं तथा विविधताओं में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने बिना किसी भेदभाव के हर वर्ग के, हर जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनका कहना था कि हर प्राणी को ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकार है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा समाज का हो।

उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता तथा समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सन्त कबीर की तरह ही उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही आडम्बरों पर करारी चोट करते हुए परम सत्य की शाश्वत दिशा दिखाई।

वह धर्म जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाता, उसमें दया, ममता, करुणा, सहनशीलता, पर-दुःखकातरता और आत्मीयता के भाव नहीं उपजाता, वह उनकी दृष्टि में धर्म नहीं था। वे स्पष्ट कहते थे—

सब कोउ साहब बन्दते, हिन्दू मुसलमान।
साहब तिनको बन्दता, जिनका ठोर इमान॥

मलूकदास अध्यात्म साधना के क्षेत्र में भी पहुँचे हुए सन्त माने जाते थे। उनके जीवन के साथ लोगों ने कई चमत्कारिक किंवदन्तियाँ जोड़ दी हैं। उनकी सच्चाई पर विश्वास सहज ही नहीं होता। पर इतना सत्य है कि जो अपने आपको साध लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जो सिद्ध हो जाता है वह ऐसे कार्य सम्पादित कर जाता है जो साधारण मनुष्य के बस के नहीं होते।

उस समय में जब यातायात के साधनों का अभाव था, वे सत्य और शाश्वत सिद्धान्तों के प्रचार के लिए न केवल भारतवर्ष की वर्तमान भौगोलिक सीमाओं में ही घूमे वरन् वे नेपाल और काबुल तक पहुँचे थे। यह भी अपने आप में क्या कम चमत्कार था।

उनकी वाणी की प्रभावोत्पादकता, उनके आध्यात्मिक सम्पदाओं से भरे-पूरे व्यक्तित्व और तथ्यपूर्ण उपदेशों ने समुचित प्रभाव दिखाया। उनके शिष्य हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। वे भी बहुत बड़ी संख्या में थे। ऐसे काल में इस प्रकार का कार्य कर दिखाना भी क्या कम चमत्कार की बात थी।

औरंगजेब जैसा कट्टर बादशाह भी उनके व्यक्तित्व और उनकी वाणी का लोहा मान चुका था। औरंगजेब जैसे कट्टरपंथी ने उन्हें कड़ा के पास के आठ गाँव उनके निर्वाह तथा ध्येय पूर्ति के निमित्त अपेक्षित आर्थिक साधन जुटाने के लिए जागीर में दिये थे। इसे भी एक चमत्कार ही कहना चाहिए

वस्तुतः बाजीगरी और चमत्कार में बहुत बड़ा अन्तर होता है। जो बाजीगर है वह चमत्कारी नहीं हो सकता और जो चमत्कारी है वह बाजीगरी नहीं दिखाता फिरता। सन्त मलूकदास ने समय की हवा के ठीक विपरीत कार्य हाथ में लिया और उसे करके दिखा दिया। यह उनका चमत्कार था।

उस समय लोग धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप को भुलाकर उसके बाह्य क्रियाकलाप को ही मुख्यता देने लगे थे। उन प्रचलित धारणाओं पर सन्त मलूकदास ने करारी चोट करते हुए कहा है—

न वह रीझे जप तप कीन्हें, न आतम के जागे।
न वह रीझे धोती नेती, न वह चरण पखारे॥
दया करे धर्म मन राखे, घर में रहे उदासी।
अपना सा दुःख सबका जाने, ताहि मिले अविनाशी॥
भूखे ही टूक प्यासे ही पानी, यह भगति हरि के मन मानी।
कहे मलूक आतम लौ लावे, जगन्नाथ घर बैठे पावे॥

उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि लोग पत्थर की मूर्ति को तो जाने क्या-क्या समझ कर उसकी पूजा करते रहते हैं लेकिन चलते-फिरते चैतन्य इन्सान के प्रति उन्हें अपना कुछ भी दायित्व समझ में नहीं आता। तभी तो वे कहते थे—

आतम राम न चिन्हहीं, पूजत फिरे पषान।
केसहु मुक्ति न होयगी केतिक सुनो पुरान॥

धर्म तथा अध्यात्म मात्र मन्दिर में जाकर ईश्वर की पूजा करने, कथा प्रवचन सुनने या व्रत-उपवास करने तक ही सीमित नहीं है। यह बाह्य कर्मकाण्ड तो अपने भीतर के देवता को, भगवान् को जगाने के लिए है। मूर्ति और कथा-प्रवचन आदि तो साधन भर हैं, इन्हें साधन जितना ही महत्त्व दिया जाना चाहिए— इस बात का उन्होंने खुलकर प्रचार किया।

देखने में आज भी यही आता है। धर्म के नाम पर वही कुछ हो रहा है जो ऊपर बताया जा चुका है। धर्म आज कहने-सुनने भर की बात रह गया है। इसके पीछे मनुष्य को पशु से ऊपर उठाकर और उसके बाद देवता बनाने का जो विधान था, उसकी उस आत्मा को ही बिसार दिया गया है। सन्त मलूकदास ने अपने समय में इस प्रकार की गलत धारणाओं का खण्डन किया था और लोगों को सच्चा मार्ग बताया था।

साहित्य के क्षेत्र में भी सन्त मलूकदास जी की देन अपूर्व है। उन्होंने जिन विशद् ग्रन्थों की रचना की वे साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके जीवन और उनके कृतित्व पर जो शोध प्रबन्ध लिखे गये है— उनसे कई महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाश में आई हैं।

सन्त मलूकदास ने अपने १०८ वर्ष के दीर्घजीवन में मानव समाज की जो सेवा की, अपना सारा जीवन एक महान् ध्येय को समर्पित किया, उसे देखते हुए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। जो कार्य उन्होंने आज से चार सौ वर्ष पहले आरम्भ किया था वह अभी भी पूरा नहीं हुआ है। धर्म के सच्चे स्वरूप के दिग्दर्शन और उसमें निहित लोकोपकारी तत्त्वों को समझना, आत्मसात करना और उनका प्रचार-प्रसार करना आज भी आवश्यक है। सन्त मलूकदास के पास उतने साधन भी नहीं थे जितने आज के मनुष्य के पास हैं। उन्हें देखते हुए यह कार्य आज और भी सहज है।

धार्मिक समता के प्रचारक— श्री रामानुज

धर्म का क्या लक्षण है ? इस बात पर सदा से बिगाड़ होता चला आया है। दुनियादार लोग तो भगवान् के नाम थोड़ी पूजा-पाठ कर लेने को ही धर्म का पालन करना समझ लेते हैं और इस 'धर्म' को भी वे इसलिये महत्त्वपूर्ण समझते हैं जिससे प्रसन्न होकर भगवान् उनको धन-वैभव, स्त्री-पुत्र का भरपूर सुख देवें। पर विचारकों ने 'धर्म' उसे बतलाया जिससे अभ्युदय, निश्रेयस और मुक्ति की प्राप्ति हो।

यह लक्षण अधिकांश में सत्य और स्वार्थपरायण व्यक्तियों के कथन से बहुत ऊँचा है, पर इसमें भी एक मुख्य बात विचारणीय है। हमारे यहाँ के धार्मिक जन इसका आशय व्यक्तिगत शुद्धाचरण, त्याग, तपस्या, साधना को ही मानते हैं। सम्भव है कि इसका पान करने से वे अन्तिम लक्ष्य 'मुक्ति' के अधिकारी बन जाते हों। पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ऐसी व्यक्तिगत मुक्ति मनुष्य का चरम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। प्रत्येक मनुष्य को 'अभ्युदय, निश्रेयस, मुक्ति' का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, पर वह केवल अपने लिये न होकर समस्त समाज के लिये होना चाहिये। कारण यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जन्म से मृत्यु तक उसका निर्वाह अन्य अनेक व्यक्तियों के सहयोग से ही होता है। इसलिये यदि वह समाज जिसमें वह जीवनयापन करता है, उन्नत नहीं बनता, सद्गुणों का ग्रहण करना तो उसके अकेले के सुधर जाने से कोई विशेष फल नहीं निकल सकता।

श्री रामानुजाचार्य (आविर्भाव ११वीं शताब्दी) ने इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया था और इसलिये जन्म से बहुत उच्च ब्राह्मण होते हुए भी वे चरित्र और कर्त्तव्यपालन को ही सर्वाधिक महत्त्व देते रहे, चाहे वह किसी जाति के व्यक्ति में क्यों न पाया जाता हो। उनमें इस प्रवृत्ति के चिह्न छोटी अवस्था से ही पाये जाते थे। जब वे अपनी पितृभूमि पेरूबुधेरम् (मद्रास) रहते थे तो उनकी भेंट एक दिन 'कांचीपूर्ण स्वामी' नामक वैष्णव संन्यासी से हो गई। वे उनकी त्यागवृत्ति को देखकर घर लिवा लाये और आदरपूर्वक भोजन कराया। भोजन के पश्चात् जब कांचीपूर्ण बाहर बरामदे में जाकर विश्राम करने लगे तो रामानुज उनके पैर दबाने को पहुँचे। पर कांचीपूर्ण ने उनको यह कह कर रोक दिया कि तुम ब्राह्मण हो और मैं शूद्र वर्ण का हूँ, इसलिये तुमको मेरे पैर नहीं छूने चाहिये। इस प्रकार रामानुज को बड़ा दुःख हुआ और कहने लगे— 'यह मेरा अभाग्य ही है जो आप जैसे सर्वस्व त्यागी महात्माओं की सेवा मैं नहीं कर सकता। जनेऊ पहन लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। सच्चे भक्त ही वास्तविक ब्राह्मण हैं।'

रामानुज को विद्याध्ययन से असाधारण प्रेम था। अनेक महापुरुषों की तरह उनकी भी विद्याध्ययन की भारी रुचि थी। जन्म भूमि में पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद वे कांची चले आये जो दक्षिण भारत में विद्या का केन्द्र माना जाता था। वहाँ पर वे अध्ययन करने लगे। बाद में उन्होंने घर रहकर ही अपने आप शास्त्रों का अध्ययन, मनन किया।

उस समय वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र स्थान श्रीरंगम् था, जहाँ यामुनाचार्य जी महन्त की गद्दी पर विराजमान थे। रामानुज की विद्वत्ता और उच्च विचारों से अवगत होने पर उन्होंने निश्चय किया कि श्रीरंगम् की गद्दी पर वे ही बिठाये जायें। इसके लिये उन्होंने अपने एक प्रमुख शिष्य को रामानुज को बुलाने भेजा। पर जिस समय वे श्रीरंगम् पहुँचे यामुनाचार्य का देहावसान हो चुका था। इससे वे बिना जरा भी ठहरे कांची वापस चले आये। कुछ समय बाद एक योग्य नेता की आवश्यकता समझ कर श्रीरंगम् के वैष्णवों ने फिर एक दूत भेजा। अब वे कर्त्तव्य की पुकार को अधिक अनसुनी न कर सके और उन्होंने श्रीरंगम् जाकर महन्त की गद्दी का कार्य संभाल लिया। पर इस उच्च पदवी पर पहुँच कर भी उन्होंने मन्दिर की आय में से अपने लिये कुछ खर्च करना अनुचित समझा, वह सब मन्दिर की व्यवस्था में ही खर्च की जाती थी और रामानुज एक साधु की तरह भिक्षा लेकर ही निर्वाह करते थे। रुपये-पैसे के सम्बन्ध में वे आजन्म ऐसे ही निस्पृह बने रहे।

रामानुज के जीवन का उद्देश्य परोपकार और दूसरों की कल्याण-भावना ही था। वैष्णव सम्प्रदाय के एक मन्त्र का रहस्य जानने के लिये वे यामुनाचार्य के एक वृद्ध शिष्य गोष्ठीपूर्ण स्वामी के पास गये। उन्होंने १८ बार रामानुज की प्रार्थना को टाल दिया। जब उन्होंने १९वीं बार वही प्रार्थना की तो वे इस शर्त पर मन्त्र का रहस्य बतलाने को राजी हुए कि वह किसी अनधिकारी व्यक्ति को कभी न बतलाया जाय।

'गोष्ठीपूर्ण स्वामी' से मन्त्र दीक्षा लेकर वे अपने निवास स्थान को लौटे। रास्ते में नृसिंह स्वामी का मन्दिर मिला जहाँ पर उस दिन मेले के कारण वैष्णवों की अपार भीड़ थी। उस समुदाय को देखकर रामानुज से न रहा गया और उन्होंने जोर-जोर से उस मन्त्र को दुहरा कर सब लोगों को उसे अच्छी तरह सुना दिया। यह समाचार जानकर 'गोष्ठीपूर्ण स्वामी' बहुत नाराज हुए और रामानुज को बुलाकर कहा— 'क्या तुम्हें मालूम है कि गुरु की आज्ञा न मानने का क्या फल होता है ?'

रामानुज ने हाथ जोड़ कर कहा— 'हाँ गुरुदेव मैं जानता हूँ कि ऐसा आचरण करने पर दस हजार वर्ष तक नर्क में रहना पड़ता है।'

गोष्ठीपूर्ण ने पूछा— 'तब तुमने मेरी आज्ञा के विरुद्ध उस मन्त्र को उन लोगों को क्यों बतलाया ?'

रामानुज ने उत्तर दिया— 'भगवन् ! मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ। पर आपने ही मुझे बतलाया था कि इस मन्त्र के सभी सुनने वाले स्वर्ग जायेंगे। इतने लोगों को वहाँ इकट्ठे देखकर मेरे मन में यह भाव उठा कि मन्त्र को सुनकर उन सब लोगों को स्वर्ग प्राप्त हो, चाहे मुझे नरक में ही क्यों न जाना पड़े। मेरे इस अपराध के लिए आप जो कुछ दण्ड देंगे उसे मैं भोगने को तैयार हूँ।'

रामानुज के उत्तर से गोष्ठीपूर्ण शांत हो गये और रामानुज को गले लगा कर कहने लगे— तुम्हीं मेरे गुरु हो। यही सच्चे वैष्णव का कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अधिक अवस्था हो जाने पर नदी स्नान के लिये जाते समय किसी ब्राह्मण शिष्य का सहारा लेकर घाट तक जाते थे, पर वहाँ से लौटते समय एक शूद्र का सहारा ले लेते थे। लोगों ने इसे ठीक न बतलाकर कारण पूछा उन्होंने कहा कि- मेरे भीतर अपनी शुद्धता अथवा श्रेष्ठता का अहंकार न जग जाय, इसलिये मैं शूद्र का सहारा लेकर चलता हूँ। भगवान् की निगाह में कोई नीच नहीं है।

रामानुज ने अपने समुदाय में जिस धार्मिक-समता का प्रचार किया और दीन-दु:खियों की सेवा को धर्म का सर्वोच्च लक्षण बतलाया उसी का परिणाम है कि आज भी वैष्णवों में छुआछूत और ऊँच-नीच की भावना अपेक्षाकृत कम है। जो धर्म लोगों में भेदभाव की दीवारों को ऊँचा करता है उसे श्रेष्ठ मानना भूल है। धर्म वही है जो मानव मात्र के उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर सके।

कहाँ जाऊँ ?

पाठ समाप्त हुआ। आचार्य रामानुज प्रदक्षिणा के लिये उठे ही थे कि सामने से चाण्डाल आ गया। उसे देखते ही आचार्य श्री क्रुद्ध हो उठे और गरजकर बोले— शठ ! आगे से हट जा, रास्ते को अपवित्र न कर। चाण्डाल ठिठक गया। लौटना चाहा पर किसी अज्ञात शक्ति ने उसे रोक दिया। हाथ जोड़कर उसने विनयपूर्वक पूछा— भगवान् अभी चला जाता हूँ किन्तु आप यह बताइये जाऊँ किधर ? मेरे चारों ओर पवित्रता बिखरी पड़ी है फिर मैं अपवित्र कहाँ जाऊँ ? रामानुज की आँखों से अज्ञान का पर्दा गिर गया। चाण्डाल सब ओर पवित्रता के ही दर्शन करता है और मैं भगवान् का भक्त होकर भी अपने मन का मल भी नहीं साफ कर सका ?

रामानुज ने हाथ जोड़कर कहा— क्षमा करो तात ! आज तो तुमने मेरी आँखें खोल दीं। तुमने तो मुझे भी पवित्र कर दिया।

ब्रह्मराक्षस क्यों बना ?

कांची नरेश की राजकुमारी प्रेत बाधा से पीड़ित हुई। भूत सामान्य नहीं, ब्रह्मराक्षस था। तब श्री रामानुजाचार्य बुलाये गये। उन्होंने वहाँ जाकर पूछा— "आपको यह योनि क्यों कर मिली।" रोकर ब्रह्मराक्षस बोला— "मैं विद्वान् था, किन्तु मैंने अपनी विद्या छिपा रखी। किसी को भी मैंने विद्या दान नहीं किया, इससे ब्रह्म-राक्षस हुआ। आप समर्थ हैं, मुझे इस प्रेतत्व से मुक्ति दिलाइये।" श्री रामानुज ने राजकुमारी के मस्तक पर हाथ रखकर जैसे ही भगवान् का स्मरण किया, वैसे ही ब्रह्मराक्षस ने उसे छोड़ दिया, क्योंकि वह स्वयं प्रेतयोनि से मुक्त हो गया। उस दिन से श्री रामानुज ने प्रतिज्ञा की कि वह स्वाध्याय का लाभ अपने समाज को भी देते रहेंगे।

धर्म का तत्वज्ञान समझाने वाले— सन्त वसवेश्वर

धर्म का वास्तविक प्रयोजन है जन-साधारण को कर्तव्य और विवेक का अवलम्बन लेकर परिष्कृत जीवन जीने के लिये तत्पर करना। इसी के लिए भक्ति भाव से लेकर विविध-विधि-कर्मकांडों की अनेकों क्रिया-प्रक्रियाएँ, व्यवस्थाएँ तत्त्वदर्शियों ने विनिर्मित की हैं।

जन मानस का ढुलमुलपन ही कहना चाहिये कि लोग तथ्य को भूल जाते हैं और आवरण को पकड़ बैठते हैं। प्राण की उपेक्षा करते हैं और कलेवर को पूजते हैं। धर्म के बारे में यही होता रहा है लोग विधि विधानों को ही सब कुछ मानने लगते हैं और यह नहीं सोचते हैं कि इनका सृजन किया किस प्रयोजन के लिये गया था। कर्मकाण्डों को ही लक्ष्यपूर्ति का आधार मान लेते हैं। क्रिया मुख्य हो जाती है और भावना गौण। धर्म अन्धविश्वास भर रह जाता है। कर्त्तव्यहीन व्यक्ति तथाकथित धर्म-कृत्यों को ही सब कुछ मान लेते हैं। परिणाम यह होता है कि लोग आदर्शवादी तथ्य अपनाने के कष्टकारक कार्य को व्यर्थ कहकर निरर्थक समझने लगते हैं। जब सस्ते में ही अभीष्ट लाभ होता हो तो कोई महँगे रास्ते पर क्यों चले।

इसी धर्म-विकृति का समाधान करने के लिये समय-समय पर तत्त्वदर्शी ऋषि मनीषी अवतरित होते हैं और विडम्बनाओं का निराकरण करके जनसाधारण को यथार्थता से अवगत कराते हैं ताकि धर्म का मूल-भूत प्रयोजन जीवित बना रहे और वह अपनी उपयोगिता अक्षुण्ण बनाए रख सके।

कर्नाटक के महान् सन्त वसवेश्वर इसी स्तर के धर्म-संशोधकों में एक हुए हैं। शुद्ध नाम उनका वृषभेश्वर था पर कर्नाटक की उच्चारण प्रक्रिया के अनुसार वह शब्द वसवेश्वर बन गया और वे उसी नाम से प्रख्यात भी हो गये। वे दक्षिण भारत के बीजापुर नगर से २५ मील दूर 'बसवन बागेवाड़ी' नामक ग्राम में सन् ११२५ में जन्मे थे।

उन दिनों उस क्षेत्र में बहु देवी-देवतावाद फैला पड़ा था। धर्म के नाम पर अगणित कुरीतियाँ चल पड़ी थी। ढोंग, पाखण्ड से बुरी तरह धर्म-क्षेत्र को आच्छादित करके उसे अनुपयोगी ही नहीं अवांछनीय भी बना दिया था। यह उनसे सहा न हो सका। उन्होंने निश्चय किया कि वे अपना जीवन धर्म का परिष्कृत रूप प्रस्तुत करने और उसे प्रतिपादित करने के लिए ही समर्पित करेंगे।

इसके लिये विद्याध्ययन आवश्यक था। उन्होंने कृष्णा और मलप्रभा सरिताओं के संगम पर अवस्थित ऋषि जठवेद के आश्रम में जाकर शास्त्रों का प्रगाढ़ अध्ययन किया और साधनानिरत रहकर आत्मबल बढ़ाया। वाणी की मधुरता, चरित्रनिष्ठा, निरहंकारिता, कर्मठता, निर्लोभता जैसे संतगुणों का जब समुचित विकास हो गया तो उनके गुरु ने उन्हें धर्मोपदेशक का कार्य कर सकने योग्य घोषित किया और भ्रमण करके धर्मोद्धार में निरत रहने का आदेश दे दिया। गुरु का आश्रम छोड़कर वे धर्म-प्रचार के लिये चल पड़े। उन्होंने व्याख्यान शैली नहीं अपनाई वरन् सुकरात की तरह प्रश्नोत्तर करके विचार-विमर्श और मंत्रणा करने का क्रम अपनाकर चले। फलस्वरूप उनके सम्पर्क में आने वाले सच्चे धर्मपरायण बनते चले गये। यह संख्या इतनी बढ़ी कि उनका समूह एक धर्म-सम्प्रदाय ही बनता चला गया। पीछे यह सम्प्रदाय 'लिंगायत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण भारत में यह सम्प्रदाय बहुत बड़ी संख्या के जनसमूह द्वारा अपनाया गया है। आज उस मान्यता के व्यक्ति लाखों की संख्या में है। इस विस्तार का कारण केवल धर्म-प्रेरणा ही नहीं उनके व्यक्तित्व की, सद्गुणों और उच्च जीवन नीति अपनाने की महानता भी थी।

उन्होंने प्रधानतया कर्मयोग का प्रतिपादन किया । भक्ति और ज्ञान के दर्शन को कर्म-निष्ठा के बिना अधूरा और अपूर्ण बताया । उनका कहना था कि जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करता है वही सच्चा धर्मपरायण है । वे पूजा-पाठ द्वारा पाप फल न मिलने का बहकावा नहीं देते थे वरन् यह कहते थे कि जो धर्म-प्रेमी है उसे पाप से घृणा करनी चाहिये, और अवांछनीय गतिविधियों का सर्वथा त्याग करना चाहिये, उसके लिये भले ही अभावग्रस्त या कष्टसाध्य जीवन क्यों न जीना पड़े । बाहर से वे धर्म-गुरुधर्म संस्थापक जैसे लगते थे, पर उनका लक्ष्य और प्रतिपादन देखकर उन्हें नीति-शिक्षक, समाज-निर्माता ही ठहराया जा सकता था ।

आध्यात्मिक विशेषताओं से भरापूरा उनका व्यक्तित्व ऐसा प्रभावशील, आकर्षक और सिद्धि-सम्पन्न बन गया कि सर्वसाधारण द्वारा उसे अलौकिक समझा गया । वे सिद्ध पुरुष माने जाते थे । उनके कहे हुए वचन और दिये हुए आशीर्वाद प्राय: सफल सार्थक ही होते थे । इस प्रकार का उनका चरित्र-चित्रण तेलगू के महाकवि पाल कुरिकी द्वारा लिखित 'वासवपुराण' में विस्तारपूर्वक किया गया है । इस ग्रन्थ में उस महान् विभूति के मूल मन्तव्यों और क्रियाकलापों का तात्विक विवेचन किया गया है । उसे पढ़कर यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि उनकी जीवन-साधना किस महान् प्रयोजन के लिये नियोजित रही ।

शैवमत के लिंगायत सम्प्रदाय को इन्होंने एकेश्वरवाद पर केन्द्रित किया । संकीर्ण जाति-पाँति को अधार्मिक घोषित करते हुए मानव-मात्र की एकता समता को सही बताया । विश्व-प्रेम और सेवा-साधना को स्वर्ग, मुक्ति की आधार भूत साधना सिद्ध किया । उन्होंने बताया ईश्वर की प्राप्ति उच्च-चरित्र, उदार-प्रकृति, परमार्थ-परायणता पर निर्भर है । केवल पूजा-प्रार्थना के आधार पर भगवान् का अनुग्रह नहीं प्राप्त किया जा सकता ।

सन्त बसवेश्वर को सामाजिक क्रान्ति का ध्वजवाहक भी कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी । उन दिनों दक्षिण भारत में ऊँच-नीच, छूत-छात का पूरी तरह बोलबाला था । अहंकारी सवर्ण वंश-परम्परा के आधार पर अपनी श्रेष्ठता ही नहीं बताते थे, दूसरे लोगों को अछूत-अंत्यज बताकर उनके साथ हेय और तिरस्कृत व्यवहार करने में अपनी गरिमा भी समझते थे । ऐसे समय में इस ऊँच-नीच को अधर्म ठहराना कितना कठिन और कितना जोखिम भरा था । यह जानते हुए भी इन्होंने सामाजिक काया-कल्प का संकल्प लिया और सवर्णों के कोपभाजन रहते हुए भी अपना मिशन आगे बढ़ाया ।

समाज में अन्धविश्वासों का बाहुल्य था । बरसाती उद्भिजों की तरह फैले पड़े देवी-देवताओं, भूत-पलीतों की आड़ में ओझा, झाड़-फूंक वालों का आतंक छाया हुआ था । लोग बहुत-सा धन और समय इसी आतंक से भयभीत होकर बर्बाद करते थे । धूर्तों की पाँचों अँगुलियाँ घी में रहती थीं । भोली-भाली जनता बेतरह ठगी जाती थी । मनक्षेत्र में भीरुता और जड़ता की जड़ें गहराई तक घुस जाने से अनेक प्रकार की सामाजिक और नैतिक कुरीतियों का जाल-जंजाल बुरी तरह फैल गया था । उसमें जकड़ी हुई जनता अवांछनीय जीवन जी रही थी ।

इन विकृतियों के विरुद्ध सन्त वसवेश्वर विद्रोह का झंडा लेकर आगे बढ़े और असम्भव दिखने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाया, उन्होंने युक्तियों से काम लिया । काँटे से काँटा निकाला । चमत्कारों पर विश्वास करने वाली जनता को अपनी चमत्कारी विशेषताओं से प्रभावित करके अवांछनीय मान्यता और गतिविधियाँ छोड़ने तथा विवेकशीलता का मार्ग अपनाने के लिए सहमत, तत्पर बना दिया । उनकी नीति इतनी सफल रही कि तत्कालीन विचारशील लोगों द्वारा उन्हें 'भगवान' कहा जाने लगा और उन्हें संत नहीं भगवान् भी समझा जाने लगा । अब भी लिंगायत सम्प्रदाय के लोग उन्हें भगवान् की तरह श्रद्धा और भक्ति के साथ नमन करते हैं ।

केवल पूजा-पाठ और जप-तप तक सीमित एकाकी और व्यक्तिवादी तथाकथित सम्प्रदायवादियों के लिये सन्त वसवेश्वर का जीवनक्रम आदर्श के रूप में प्रस्तुत है और प्रकाश प्रेरणा से भरी दिशा दे रहा है ।

संत वसवेश्वर के जीवन से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण घटना प्रसंग इस प्रकार हैं—

एक दिन भगवान् की सामूहिक उपासना का आयोजन किया गया । अधिष्ठाता वसवेश्वर स्वयं थे । व्यक्तित्व उनका साधारण नहीं आसाधारण था । उस पूजा मंडली में नीची जाति के लोग भी सम्मिलित थे और अक्क महादेवी, बिज्जव्वा तथा नीलम्मा आदि विदुषी देवियाँ भी सम्मिलित थीं । कीर्तन पूजन भावनाशील वातावरण में सम्पन्न हुआ । इसके बाद सन्त का प्रवचन प्रारम्भ हुआ, उस दिन "कर्म ही परमात्मा की सच्ची पूजा है और ईश्वर आराधना का अधिकार प्राणिमात्र को है" इन दो विषयों पर सन्त को भाषण देना था ।

पता न चला गाँव के प्रतिक्रियावादी उच्च वर्ण लोगों में कब कानाफूसी हुई और कब संगठित विरोध का वातावरण तैयार हो गया । वे अभी प्रवचन प्रारम्भ कर ही रहे थे कि बीच में खड़े होकर किसी अभद्र व्यक्ति ने उग्र होकर कहा— 'आपने स्त्रियों और नीच वर्ण के लोगों को सभा में स्थान दिया है । इसे हम भ्रष्ट मानते हैं और विरोध करते हैं ।"

ऐसी आवाजें चारों ओर से आईं, विरोध उग्र हो उठा तो जिस तरह जल की ठंडी बूँदें अग्नि पर छींटे मारती हैं उसी प्रकार वसवेश्वर विनम्र वाणी में बोले— उपासना का सम्बन्ध भाइयो ! मन, हृदय और अन्त:करण से है । किसी की अन्तरात्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य, शूद्र होती हो तो बताइये ।"

"आत्मा विशुद्ध तत्त्व-स्वरूप है । अनन्त, अजन्मा, अखण्ड, अभेद, अनाम, अरूप आत्मा ही विभिन्न शरीरों में व्याप्त है । शारीरिक बन्धनों से विमुक्त होकर आत्मस्वरूप में रमण करने का अधिकार किसी को हो, किसी को न हो यह न तो मानव धर्म है और न शास्त्रानुमोदित है ।" भला विरोधी लोग उसका क्या जवाब दे पाते । तो भी गड़बड़ी में उस दिन का अनुष्ठान विधिवत् सम्पन्न न हो पाया ।

तरुण-साधक का हृदय अधीर हो उठा । उन्होंने विचार किया हम जिस समाज में रहते हैं, उसमें सामाजिक समानता न होना मनुष्य जाति पर कलंक ही है उसे मिटाने के लिये मेरा शरीर भी लग जाये तो कुछ हर्ज नहीं ।

उस दिन की निराशा मिटाने के लिए और सामाजिक चुनौतियों के प्रति प्रबल संघर्ष के लिए तप की आवश्यकता अनुभव हुई । ऐसी परिस्थितियों में जहाँ साधारण लोग निराश होकर चुप हो बैठते हैं वहाँ उत्कृष्ट और तेजस्वी आत्मायें प्रौढ़ पथ अपनाती हैं । वही वसवेश्वर ने भी किया । उन्होंने कुछ दिन के लिये घर का परित्याग कर दिया । एकान्त साधना और शास्त्र के अध्ययन, चिन्तन द्वारा आत्मशक्ति संचयन किया । कृष्णा नदी के तट पर संगम क्षेत्र में आपने जातवेदन मुनि से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की । इससे उनकी आत्मा, बुद्धि और आध्यात्मिक संस्कार और भी सशक्त हुए ।

गुरु की इच्छा थी वसवेश्वर गहन साधना द्वारा समाधि-स्थिति को प्राप्त करें । शिष्य की कामना वर्तमान योग्यता का लाभ समाज को ऊँचे उठाने में लगाने के लिए हो रही थी । उन दिनों सामाजिक जीवन में बड़ी अस्थिरता थी । भक्ति-साधना न रहकर अन्ध-श्रद्धा के रूप में प्रचलित थी । कर्मवाद से बचा जा रहा था लोग घर-बार छोड़ कर संन्यास ग्रहण करने और संसार को मिथ्या मानने को ही असली अध्यात्म मानते थे । वसवेश्वर चाहते तो योग साधना में लग गये होते, पर उनके नवनीत हृदय ने पुकारा— ''वसवेश्वर— तुम्हारी हिन्दू संस्कृति जर्जरित होती जा रही है, समाज अपने आप में ही विशृंखलित होकर टूट रहा है । धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, पारिवारिक व्यवस्थायें और मर्यादायें नष्ट होती जा रही है, क्या अपने जातीय स्वाभिमान, धार्मिक गौरव की रक्षा करना पुण्य और आत्म-कल्याण नहीं । मेरी जाति, मेरा धर्म और मेरे देश का कल्याण ही आत्मकल्याण है और मुझे अपना जीवन उसी में लगाना चाहिये ।''

समाज-सेवा को सर्वोपरि मानकर वसवेश्वर ने गुरु आश्रम छोड़ दिया और प्रजा में भक्ति और कर्मयोग का प्रसार करने लगे । बसव कहते थे— भक्ति सरल नहीं है, उसकी पूर्णता और सार्थकता के लिए मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक आचरण शुद्ध, सच्चरित्र, ईमानदार, नेक और पवित्र होना चाहिए । मनुष्य अपने परिवार और सामाजिक उत्तरदायित्वों का समुचित पालन किये बिना आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर नहीं हो सकता । संसार को छोड़कर मोक्ष पद की कल्पना की ही नहीं जा सकती ।

पर एक दिन उन्होंने अपने आपको भी अभी तक इस सिद्धान्त से अव्यवहार्य पाया, क्योंकि उन्हें आजीविका के लिये परावलम्बी रहना पड़ता था । वाचिक सन्देश तो दिया करते थे, पर स्वयं गृहस्थ में प्रविष्ट नहीं हुए थे, इसलिए उन्हें अपना ही कथन अधूरा लगा करता था ।

उन्होंने तब अपने परिश्रम से काम करने और कर्मवाद को व्यावहारिक जीवन में ढालने का दृढ़ निश्चय किया । इसी विचार से वे कल्याण की ओर चल पड़े । राज-दरबार में वह राजकीय पत्र लेखक के रूप में काम करने लगे । अब उनके सिद्धान्तों के चरितार्थ होने का असली समय था ।

राज्य कर्मचारी के रूप में उनके सामने अनेक प्रलोभन आये, आलस्य, भोग और सामन्तशाही के विचार और परिस्थितियों की बिजली मस्तिष्क में कौंधी पर तटस्थ योगी की भाँति वसवेश्वर पूर्ण योग्यता, सच्चरित्रता, कर्तव्य-परायणता और प्रामाणिकता से काम करते रहे । ''**योग: कर्मसुकौशलम्**'' कर्म में दत्तचित्तता, कुशलता और परमात्मा के प्रति भावनात्मक समर्पण रखना ही सच्चा कर्मयोग है, उसे वसवेश्वर पूर्ण निष्काम भाव से निभाते रहे ।

ईमानदारी, सच्चरित्रता, दृढ़ता और परिश्रमशीलता जहाँ है, सुख-वैभव, साधन, सुविधायें भी वहाँ अनायास ही जुटती चली जाती हैं । कल्याण की मंत्रिपुत्री गंगाम्बिका के साथ उनका पवित्र ग्रन्थि-बन्धन हुआ । उनकी योगनिष्ठ कर्त्तव्य भावना से प्रभावित होकर कल्याण-नरेश दिज्जल ने सम्मानपूर्वक उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त किया । इस तरह उन्हें भारतीय अध्यात्म की उपयोगिता और व्यावहारिकता को और भी प्रभावशाली ढंग से प्रसारित करने का अवसर मिला ।

बसव अपने राजकीय कार्यों से बचा हुआ समय समाज, हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रसार में लगाने लगे । धर्म-प्रचार और आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए 'अनुभव मंडल' की स्थापना की और स्वयं भी स्थान-स्थान पर घूमकर पशु-बलि, जाति-भेद, अन्ध-विश्वास और दाम्भिकता पर प्रहार करने लगे । उनका मुख्य उद्देश्य जनता के जीवन में ज्ञान और सन्मार्ग का प्रवाह जाग्रत करना था, उसके लिये उन्होंने मन्त्री होते हुए भी एक छोटे से कर्मचारी की भाँति काम किया । यही कारण था कि उस समय बौद्ध और जैन धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव रुक गया और हिन्दू धर्म का शुद्ध स्वरूप लोगों की निगाह के सामने आया । जाति-पाँति के भेद-भाव शिथिल हुए । स्त्रियों को धर्माचरण के लिए समान अधिकार मिले । कन्नड़ भाषा में उन्होंने हिन्दू धर्म के सन्देश प्रसारित कर उसे सर्व-साधारण के लिये सुलभ और सरल बना दिया । ''कायकवे कैलास ऽ''— अर्थात्— कर्म ही ईश्वर की सच्ची पूजा है, उनका यह जीवन मन्त्र अधिकांश लोगों का जीवन मन्त्र बना ।

परम्परागत धार्मिक प्रथाओं और विधि-विधानों के प्रति संघर्ष कर हिन्दू धर्म को संगठित करने में उन्होंने अभूतपूर्व साधना की । उसी का यह प्रतिफल था कि भारतीय संस्कृति की मुरझाई बेलि पुन: हरी हो चली उसे एक नया जीवन और नया प्रकाश मिला ।

वसवेश्वर का जन्म कर्नाटक के बीजापुर जिले में ग्राम बागेवाड़ी में हुआ था । उनके पिता मादरास बड़े धार्मिक व्यक्ति थे । माता मदलाम्बिका आदर्श और श्रद्धालु नारी थीं । माता-पिता के भावनात्मक संस्कारों ने ही बच्चे को सन्त बनाया । अपने महान् त्याग, तप, साधना, श्रम और लगन से भारतीय धर्म को ऊँचे उठा कर उन्होंने न केवल कर्नाटक वरन् सारे भारतवर्ष को गौरवान्वित किया । उनके इस उत्सर्ग को भुलाया नहीं जा सकता । उसे तो अब नया रूप लेने का अवसर आ गया है ।

ऋषि परम्परा निभाने वाले— महात्मा 'लिखित'

ऋषि 'लिखित' अपने बड़े भाई के आश्रम की ओर चल पड़े। दीर्घकाल तक एक स्थान पर साधना करते-करते एक दिन उन्हें भाई के पास जाने की इच्छा हो आई थी। उनका उद्देश्य भाई के पास जाकर उनके आश्रम में विश्राम करने का नहीं था। उनके अग्रज आयु में ही बड़े नहीं थे, तप और ज्ञान में भी श्रेष्ठ थे। उन्हीं के निर्देशन के अनुसार 'लिखित' अपनी साधना चला रहे थे। समय-समय पर यह भाई के पास जाकर प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्राप्त किया करते थे।

नदी के किनारे भाई के सुन्दर आश्रम में लिखित ऋषि पहुंचे। भाई को प्रणाम किया। भाई ने आशीर्वाद दिया— स्नेह से पास बिठाकर कुशल क्षेम तथा साधना की प्रगति पूछी। फिर स्नेहसिक्त स्वर में कुछ दिनों आश्रम में ही रुकने का आग्रह किया। लिखित को विशेष प्रसन्नता हुई। भाई के सान्निध्य में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। साधना के निर्देशों के साथ उन्हें बहुधा जाने की आज्ञा भी तुरन्त मिल जाया करती थी। मार्गदर्शक भाई के आदेश का पालन वह परम कर्त्तव्य मानते थे। अस्तु, कभी अपनी रुकने की इच्छा भी व्यक्त नहीं किया करते थे। आज जब भाई द्वारा स्वयं कुछ दिन रुकने का आग्रह किया गया तो उन्हें मुँह-माँगा वरदान ही मिल गया।

दोनों भाई स्वर्गीय सुख का अनुभव करते हुए एक साथ रह रहे थे। साधना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग आश्रम व्यवस्था आदि के व्यस्त कार्यक्रम के बीच समय बीतता प्रतीत ही नहीं होता था। एक दिन लिखित ऋषि आश्रम के उपवन में टहल रहे थे। भाई के श्रमपोषित वृक्षों को देखकर आह्लादित हो रहे थे। अचानक उन्हें भूख का अनुभव हुआ। भाई की खोज में दृष्टि दौड़ाई किन्तु वह दीखे नहीं। अस्तु उन्होंने फल तोड़कर खा लिये। थोड़ी देर बाद ही भाई के आने पर उन्होंने भूख लगने तथा फल खाकर उसे शान्त करने की बात सामान्य ढंग से कह दी। भाई ने सुना तो गम्भीर हो गये, बोले "अनुज मेरे तुम्हारे में कोई भेद नहीं है। किन्तु बिना पूर्व अनुमति के इस प्रकार फल खा लेना तुम्हारी अस्तेय साधना के विपरीत है। तुम्हारी साधना में विघ्न आ गया।"

'लिखित' ऋषि स्तब्ध रह गये। भाई का तर्क सुनकर नहीं, "अपनी विचारहीनता को स्मरण करके।" इतनी सामान्य बात पहले ही मस्तिष्क में क्यों नहीं आई? किन्तु अब तो भूल हो ही चुकी थी। साधना में खण्डन ऋषि के लिये यह कल्पना ही कष्टकर थी। भाई से भूल के परिहार हेतु अनुशासन माँगा। सन्तुलित उत्तर मिला "तुम्हें नियमानुसार अपराधी की भाँति राजदण्ड मिलना चाहिए।" लिखित ऋषि का चित्त हल्का हुआ। दोष-परिहार का विधान सामर्थ्य के बाहर नहीं था। जहाँ दोषों को स्वीकार न करने तथा उसकी प्रतिक्रिया से बचने का प्रयास करने की वृत्ति पनपने लगती है, वहाँ प्रगति रुक जाती है। यह सत्य वह भली भाँति जानते थे। अस्तु किंचित मात्र भी विलम्ब किये बिना उन्होंने भूलवश हुए अपराध के दोष निवारण का प्रयास किया। वे राजदरबार में अपराध का दण्ड पाने के लिये पहुंचे।

दरबार में ऋषि के अचानक पहुँचते ही सभासद् आसन छोड़कर खड़े हो गये। महाराज ने आगे बढ़कर प्रणाम किया तथा स्वागत सत्कार करके कुशल पूछी। फिर नम्रतापूर्वक इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से पहुँचने का कारण पूछा। ऋषि द्वारा कारण बतलाये जाने पर राजा तथा सभासद चौंक पड़े। ऋषि को दण्ड? वह भी चोरी का। राजा ने कहा— "महात्मन परस्परं स्नेह से रहने वाले भाइयों में एक-दूसरे की वस्तुओं का उपभोग किया जाना स्वाभाविक है। बिना पूछे फल तोड़कर खा लेना चोरी नहीं है जिसके कारण दण्ड दिया जावे।"

ऋषि की भृकुटी तन गई। भावभंगिमा में परिवर्तन देख राजा सहम गये— कुछ समझ न सकने के कारण मौन खड़े रहे। ऋषि की गम्भीर वाणी निकली "राजन! अनधिकार चेष्टा मत करो। सीमा से बाहर निर्णय लेने का प्रयास अहितकर होता है।" सारा दरबार स्तब्ध था। राजा ने पुनः प्रश्नवाचक दृष्टि से ऋषि की ओर देखा यह समझ न सके थे उनसे कहा सीमा का उल्लंघन हो गया। ऋषि उनकी दृष्टि समझ गये। स्वर में थोड़ा स्नेह प्रकट करते हुए कहा— "राजन्! वर्णाश्रम व्यवस्था भूल गये? किस कार्य को उचित किसको अनुचित कहा जाये यह निर्णय ऋषि-ब्राह्मण किया करते हैं। राजा का कार्य तो अनुचित घोषित किये जाने वाले कार्यों का वर्गीकरण करके उन पर दण्ड विधान बनाना है। मेरी साधना के स्तर के अनुसार मेरा कार्य चोरी घोषित किया जा चुका है। अब आप उसमें अपना निर्णय लगाने का प्रयास न करें। चोरी के अपराधी को क्या दण्ड दिया जाये यह निर्णय करना आपको उचित है।"

राजा एवं सभासदों ने ऋषि का उद्बोधन सुना और उनके कहे का औचित्य स्वीकार किया। परन्तु राजा अभी भी सहमे हुए खड़े थे। उनके दण्ड विधान में चोर के हाथ काटे जाने की व्यवस्था थी। यह दण्ड ऋषि को कैसे दें। ऋषि लिखित ने राजा की दुविधा समझी तथा पुनः बोले— "कर्तव्य पालन में सामने वाले के प्रति मोह नहीं करना चाहिए। राजा ही दण्ड देने में लड़खड़ायेगा तो राज्य व्यवस्था कैसे चलेगी?" राजा ने समझा ऋषि प्रश्न नहीं कर रहे, आदेश दे रहे हैं और उन्होंने उनके हाथ काटे जाने की आज्ञा दे दी।

ऋषियों तथा शासकों का यह सन्तुलित सम्बन्ध जहाँ विचारक तथा सत्ताधारी एक दूसरे के पूरक बनकर कार्य करते हैं किसी समाज के लिये आदर्श व्यवस्था कही जा सकती है। जब तक शक्ति को विचार का प्रकाशदर्शन, व्यवस्था को चिन्तन का मार्गदर्शन मिलता रहा मानव दिनों-दिन प्रगति करता रहा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

कटे हाथ लिये लिखित ऋषि प्रसन्नचित्त भाई के पास पहुँचे। हाथों के अग्रभाग न रहने से क्या-क्या कठिनाइयाँ खड़ी हो जावेंगी इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। बिना हाथों के अनेक प्राणी अपना कार्य किसी प्रकार चला लेते हैं और जीवित रहते हैं तो बुद्धि सम्पन्न मनुष्य भी वैसा कर सकता है। बड़े भाई ने उनके दण्ड पाने का विवरण

सुना और उन्हें हृदय से लगा लिया । कहा— ''तुमने ऋषि परम्परा को सुशोभित किया है । अविचलित भाव से दण्ड स्वीकार करना तथा शासन को कर्त्तव्य बोध कराना, दोनों ही कार्य अभिवन्दनीय हैं । तुम्हारे इस कार्य से हम प्रसन्न हैं— इच्छित वर माँग लो ।

सामने तपोपुञ्ज समर्थ भाई खड़े थे तथा कटे हुए हाथों को लिए लिखित ऋषि । हाथों की पीड़ा की ओर उनका ध्यान नहीं था । भाई के अनुग्रह से उनकी आँखें चमक उठीं । बोले— ''बन्धु श्रेष्ठ आप प्रसन्न हैं यह जानकर मैंने सब कुछ पा लिया । किन्तु आपने स्वयं कहा है तो मन की बात बाहर न लाना उपयुक्त न होगा ।'' भाई ने अर्थ भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा कहने की अनुमति दी । तब लिखित बोले— ''मेरे अन्त:करण में फल खाने के पूर्व इतनी सामान्य बात न जगी इसका मुझे दु:ख है । ऐसा प्रयास करें कि मेरी सहज प्रज्ञा जाग्रत हो ।'' भाई हँस पड़े, बोले— बन्धु उसके तो तुम सहज अधिकारी हो । तुम्हारी साधना से ही तुम्हें वह प्राप्त हो चुकी है । वह तो मैंने तुम्हारी निष्ठा की परीक्षा के लिये उस समय फल खाने के भाव पैदा किये थे । तुम्हारी भावना तो पवित्र है ।

आज का भाई हो तो न जाने क्या अनर्थ खड़ा हो जाता । ऐसी भी क्या परीक्षा, मेरे हाथ कटवा दिये अब किसके सहारे बैठूँ ? किन्तु ऋषि लिखित सब सुनकर भाई के पैरों पर गिर पड़े । बोले— ''भ्रातृ श्रेष्ठ आपकी कृपा का मैं कहाँ तक आभार मानूँ मेरे लिये आपने सदैव कष्ट सहे । मेरे निर्माण में अपना अमूल्य तपोबल नष्ट करने की क्या आवश्यकता थी ?''

भाई ने उन्हें आश्वस्त किया । कहा— ''मार्गदर्शक को अपना कर्त्तव्य निभाना पड़ता है । तुम परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए । तुम्हारी साधना सफल है । अब तुम अपने सिद्धान्त का प्रसार संसार में सहर्ष कर सकते हो, अनुभूत तथा परिपुष्ट ज्ञान ही संसार को प्रभावित कर सकता है । आचरणहीन व्यक्ति का सिद्धान्त थोथा सिद्ध होता है । तुम्हारे द्वारा मानव कल्याण का महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा होगा— यह हमारा आशीर्वाद है ।''

भाई का आशीर्वाद मिला, साधना की सफलता का प्रमाणपत्र । लिखित ऋषि हर्षविभोर हो उठे । भाई के स्नेह तथा तपोबल से वह चकित थे । किन्तु उनका हर्ष तथा आश्चर्य दूसरे दिन प्रात: सीमा पर था जब स्नान के बाद तर्पण के लिये हाथ जल में डालते ही उनके हाथ पूर्ववत् हो गये । पीछे खड़े उनके अग्रज मुस्कुरा रहे थे । उन्होंने कहा— ''लोक-सेवी को किसी प्रकार के अभाव में रखना पातक है वत्स ! मैंने ही तुम्हारे हाथ कटवाये थे उसकी पूर्ति भी कर दी । अब अपने प्रयासों से ईश्वर की इस पुण्य भूमि को सुशोभित करते रहना ।

यह आदर्श ऋषि परम्परा जिस देश में रही है उसका विश्वगुरु कहलाना कोई आश्चर्य की बात न थी । अभी भी वह परम्परा जाग्रत की जा सकती है, वह गौरव प्राप्त किया जा सकता है ।

क्षमाशील हो तो सन्त दादू जैसा

सन्त दादू शहर से दूर एक जंगल में ठहरे हुए थे । उस क्षेत्र के लोगों को पता चला तो सभी सत्संग करने हेतु जंगल में ही आने लगे । शहर कोतवाल को उनके शुभागमन का सन्देशा मिला तो उनके मन में भी सन्त के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई । वह उनकी ख्याति कितने ही व्यक्तियों के मुँह सुन चुके थे । अत: घोड़े पर सवार चल पड़े जंगल की ओर ।

वहाँ कोई सुन्दर-सी कुटिया तो बनी न थी और न संकेत के लिए किसी प्रकार के बोर्ड लगे थे । काफी दूर आने पर एक दुबला पतला व्यक्ति रास्ते की झाड़ियाँ साफ करता दिखाई दिया । वह बड़ी मुस्तैदी से झाड़ियों को काटने में लगा था । जैसे ढेर इकट्ठा हो जाता किनारे के किसी गड्ढे में फेंक देता । शरीर पर वस्त्र के नाम पर केवल एक लंगोटी थी । कोतवाल ने सोचा शायद सन्त का पता इस व्यक्ति से चल जाये उन्होंने उसके पास आकर घोड़े को रोक लिया और पूछा— ऐ भिखारी ! तूने संत दादू की कुटिया देखी है ।

दादू ने कोतवाल की ओर देखा और चुपचाप अपने कार्य में लगे रहे । अब कोतवाल घोड़े से नीचे उतर चुका था । उसे लगा कि सामने वाला व्यक्ति बहरा है अत: चिल्लाकर पूछा— मूर्ख ! क्या तू दादू को बता सकता है ? इतना सुनकर भी दादू ने उसकी ओर नहीं देखा । वे झाड़ियाँ काटने के काम में लगे रहे ।

कोतवाल को गुस्सा आ चुका था । घोड़े को हाँकने वाला चाबुक उसके हाथ में था । उसी से कोतवाल ने पिटाई शुरू कर दी । दादू के शरीर में नीले निशान पड़ चुके थे । फिर भी उसने कुछ न कहा । कोतवाल गाली देता हुआ गुस्से में चिल्लाया— 'बेवकूफ' । एक भी शब्द नहीं बोल सकता । गूँगे और बहरे होने के साथ क्या पागल है । इतना कहकर कोतवाल ने चाबुक का डण्डा उसके सिर पर दे मारा । उसका सिर लहूलुहान हो गया । रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी । दादू को ऐसी दयनीय स्थिति में वहीं पड़ा छोड़ कर वह आगे बढ़ गया ।

थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर उसे एक किसान जाता हुआ दिखाई दिया । उसे रोककर कर कोतवाल ने दादू का पता पूछा ! उसने कहा— 'मैं अभी सन्त से ही मिल कर आया हूँ । ऐसा लगता है कि आप उन्हें पीछे ही छोड़ आये हैं । दुबले पतले शरीर वाला, लंगोटी धारी, मार्ग की कँटेदार झाड़ियों को साफ करने वाला और कोई व्यक्ति नहीं सन्त दादू हैं ।'

कोतवाल ने चौंकते हुए पूछा— ''वह दुबला-पतला व्यक्ति दादू है । वह तो मजदूर की तरह झाड़ियाँ काट रहा था ।''

'वही तो महात्मा दादू हैं । आप उन्हें पीछे छोड़ आये । कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता । उन्होंने देखा बरसात में झाड़ियों से सारा मार्ग अवरुद्ध हो गया है और यात्रियों को बड़ी कठिनाई होती है । अत: बचे हुए समय में इस कार्य को ही करना ठीक समझ कर लग गये इसमें ।'

कोतवाल घोड़े को पीछे की ओर मोड़कर उस स्थान पर आये जहाँ एक व्यक्ति को गूँगा-बहरा और पागल समझकर पीटा था । अब उस व्यक्ति के सिर में पट्टी बँधी हुई थी । पास में जाकर घोड़े से नीचे उतर पड़े । और हाथ जोड़ते हुए बड़े विनम्र शब्दों में बोले— 'आप, क्या आपको सन्त दादू कहते हैं ?'

दादू ने सहज भाव से उत्तर दिया— 'हाँ ! इस शरीर को लोग दादू के नाम से ही जानते हैं ।'

अब कोतवाल उनके चरणों में पड़ा आँसू बहा रहा था । अपनी करनी पर बार-बार पछता रहा था । उसने बड़ी दीनता भरी आवाज में कहा— महाराज ! मुझे क्षमा कीजिये । मैं तो आपको गुरु बनाने की इच्छा से आया था ।

दादू ने बड़े स्नेह से उसे उठाकर अपने गले से लगा लिया । सन्त दादू ने क्रोध को जीतकर धर्म की राह पर चलने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा देने की शक्ति प्राप्त की थी ।

इसी तरह की अन्य घटना है— 'महाराज आप कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र या कवच दीजिये जिससे मेरा पति वश में हो जाय'— सन्त दादू दयाल के पास एक सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार की महिला आई ' दादू ने कहा— बेटी मैं कोई तन्त्र-मन्त्र नहीं जानता ईश्वर का विश्वास ही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है ।'

स्त्री ने दादू के पैर पकड़ लिऐ और कहने लगी—

' नहीं स्वामी जी ! ऐसा नहीं हो सकता कि आप कोई तन्त्र मन्त्र नहीं जानते हों । आप मुझे इस कठिनाई से नहीं उबारेंगे तो मैं मर जाऊँगी '

दादू ने उसकी कठिनाई का युक्तिपूर्ण निराकरण ढूँढ़ने के लिए स्वयं परिस्थिति का अध्ययन करना चाहा । स्त्री से दूसरे दिन उसके पति को बुलाकर साथ लाने के लिए कहा दूसरे दिन दोनों साथ आये । दादू ने स्थिति का अन्दाज लेने के लिए आदमी से कुछ प्रश्न पूछे । पता लगा कि— 'स्त्री पति के कुल से गरीब घर की है । विवाह पूर्व उसकी सेवाभावना पर रीझ कर उस आदमी के पिता ने लड़की को अपनी पुत्रवधू बना लिया था । स्त्री एकदम सम्पन्न और सुखी वातावरण में आ गयी । जीवन स्तर जैसे ही थोड़ा ऊँचा उठता है, सामान्य लोगों में अहंकार, घमण्ड की भावना धीरे-धीरे घर कर लेती है और परिणाम यह होता है कि एक-एक कर सभी सद्‌गुण विदा हो जाते हैं तथा व्यक्ति घृणा और तिरस्कार का पात्र बन जाता है ।'

इसी प्रकार की परिस्थितियाँ उक्त परिवार में घटी थीं फलस्वरूप पहले की तुलना में प्यार व मान कम हो जाने के कारण युवती का मन उद्विग्न हो उठा था ।

सन्त दादू ने परिस्थिति का भली-भाँति अध्ययन कर स्त्री को अलग ले जाकर एक लिखा हुआ कागज का पुर्जा दिया और कहा कि— इसका ताबीज बनाकर अपने गले में पहनना तथा इस यन्त्र को सिद्ध करने के लिए अपने पति की खूब सेवा करना ।

मुस्लिम दम्पत्ति चले गये । यन्त्र की साधना के लिए स्त्री अपने पति की खूब सेवा करने लगी और अन्तत: वह प्रसन्न हो गया । वह भी अपनी पत्नी को पूर्ववत् प्रेम करने लगा । स्त्री अपनी सेवा निष्ठा के कारण पहले से भी ज्यादा घर के लोगों की प्रेम भाजन हो गयी । दादू दयाल का यंत्र अपना चमत्कारी प्रभाव दिखा गया ।

'एक दिन ही बात में स्त्री ने उस यन्त्र और साधना की चर्चा अपने पति से कर दी पुरुष ने कौतूहलवश यन्त्र खोलकर देखना चाहा तो स्त्री ने मना कर दिया और कहा कि— उस सन्त को यथेष्ट दक्षिणा दिए बगैर ताबीज गले से नहीं उतारूँगी ।

दक्षिणा की व्यवस्था की गयी । अपने नौकरों और रिश्तेदारों के साथ सब लोग दादू दयाल के पास पहुँचे । सन्त तो एक क्षण यह जुलूस देखकर स्तम्भित रह गये और स्त्री ने उनका ताबीज सिद्ध हो जाने की बात बताई तो सारी बात समझ गये ।

यहाँ सन्त ने सोचा कि लोग इस प्रकार ताबीजों और यन्त्रों के चक्कर में फँस जायेंगे तो जो बात अपना प्रभाव करती है उस सेवा साधना की उपेक्षा होने लगेगी इसलिए सब बातें स्पष्ट कह देना ही उचित समझा ।

दादू ने कहा— पर उस यन्त्र में कोई खास बात नहीं लिखी । मैंने तो तुमसे जो कहा था वही शब्द उस पुर्जे में भी लिखे हैं । इतना कहकर सन्त ने ताबीज में से कागज का पुर्जा खोलकर पढ़ा— सेवा साधना से भगवान् भी वश में हो जाता है ।

वस्तुत: किसी तन्त्र व मन्त्र के पीछे मनुष्य की अपनी संकल्प शक्ति काम करती है । यहाँ भी उस स्त्री के मन की शक्ति ही काम कर रही थी । वह समझ रही थी कि ताबीज की सामर्थ्य से यह सब हुआ है । इस महिला की सेवा साधना का ही सुपरिणाम था कि उसका पति तथा उसके परिवार के सदस्य उससे प्रसन्न रहने लगे थे । सही अर्थों में यह सेवा साधना ही व्यक्ति की लोकप्रियता का आधार होता है ।

ब्राह्मणत्व का पालन करने वाले— संत एकनाथ

वर्ण-व्यवस्था की स्थापना किसी समय समाज को सुसंगठित बनाये रखने और उसकी आवश्यकताओं की उचित रूप से पूर्ति होते रहने के उद्देश्य से की गई थी । उसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च पद दिया गया था और साथ ही उनके कर्तव्य भी उतने ही कठिन रखे गए थे त्यागमय जीवन बिताना और समाज की अधिक से अधिक सेवा करना ब्राह्मणत्व का आदर्श बतलाया गया था । जिन्होंने इसके अनुसार आचरण किया उनके नाम हजारों वर्ष बीत जाने पर आज भी आदर के साथ लिये जाते है । समय के परिवर्तन से इस प्रकार के ब्राह्मणों की संख्या मध्यकाल में बहुत घट गई और अधिकांश ब्राह्मण कर्तव्य को भूल कर केवल अपने विशेष अधिकारों के लिए ही सचेष्ट रहने लगे । ऐसे समय में महाराष्ट्र प्रांत में श्री एकनाथ महाराज ने व्यावहारिक रूप से ब्राह्मणत्व के उदाहरण को उपस्थित करके देश और जाति की उन्नति में विशेष रूप से योग दिया ।

एकनाथ महाराज का आविर्भाव अब से लगभग सवा चार सौ वर्ष पूर्व पैठण में हुआ था । यह नगर उस समय में विद्या और शास्त्रों के अध्ययन का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था । दूर-दूर के मनुष्य वहाँ के पण्डितों से धार्मिक प्रश्नों पर व्यवस्था लेने आते थे । एकनाथ भी बाल्यावस्था से धर्म में अभिरुचि रखने वाले और बड़े प्रतिभाशाली

तथा मेधावी थे। छोटी अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत में बातचीत करने की योग्यता प्राप्त करली थी। बारह वर्ष की अवस्था तक उन्होंने रामायण, महाभारत, भागवत् के अनेक अंश और कितनी ही पौराणिक कथाओं का अध्ययन कर लिया। इससे उनका ध्यान ईश्वर की तरफ जाने लगा और उनमें आध्यात्मिक ज्ञान की अभिलाषा उत्पन्न होने लगी। एक दिन अन्त:प्रेरणा से वे घर से निकल पड़े और देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी के शिष्य बन गए। ये जनार्दन स्वामी अपने उच्चकोटि के आध्यात्मिक ज्ञान के कारण 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध थे। वैसे वे चालीसगाँव नामक स्थान के प्रधान अधिकारी थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य घर रहकर ही जितनी चाहे आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और इस बात को उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से पूरा करके भी दिखा दिया था।

जनार्दन स्वामी के पास रहकर एकनाथ छ: वर्ष तक आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करके अभ्यास करते रहे। इसके बाद कितने ही मास तक उन्होंने शूलभंज नामक पर्वत पर जाकर एकान्त में तपस्या की। जब गुरु ने उनको सब प्रकार से योग्य देख लिया तो तीर्थ-भ्रमण के लिए जाने की आज्ञा दी जिससे संसार का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर सकें, भिन्न-भिन्न स्थानों पर सन्तों और विद्वानों के सत्संग में रहकर अपने अनुभव और ज्ञान की वृद्धि कर सकें और समाज की परिस्थिति को देखकर अपने कर्तव्य का निर्णय कर सकें। उन्होंने दो-तीन वर्ष में भारत के प्राय: सभी तीर्थों की यात्रा की और अन्त में अपने गाँव पहुँच कर गृहस्थ आश्रम में रहना स्वीकार कर लिया।

एकनाथ के जीवन की ऐसी अनेक घटनायें प्रसिद्ध हैं जिनसे मालूम पड़ता है कि वे एक महान् आत्मज्ञानी और विद्वान् होने के साथ ही सहिष्णुता और सेवाभाव के मूर्तिमान अवतार भी थे। कहते हैं कि जिस मार्ग से वे नित्य गोदावरी स्नान करने के लिए जाया करते थे उस पर एक मुसलमान का घर था जो स्वभाव से बड़ा दुष्ट था। वह जब इनको स्नान से लौटते देखता तो जान-बूझ कर ऊपर से कुल्ला कर देता जिससे इनको पुन: स्नान करने जाना पड़ता। इस प्रकार वह इन पर कई-कई बार कुल्ला कर देता। एक दिन उसने हद कर दी और एकसौ आठ बार कुल्ला किया। पर धन्य है एकनाथजी की सहिष्णुता कि उस पर जरा भी क्रोध किये बिना ये बार-बार स्नान करते रहे। अन्त में जब वही थक गया, तब इन्होंने उसे धन्यवाद दिया कि आज तुम्हारे कारण मुझे १०८ दफे पवित्र गोदावरी का स्नान करने का पुण्य प्राप्त हो सका। इसके उपलक्ष में इन्होंने उसे अपने घर बुलाकर उत्तम भोजन भी कराया। इससे वह अत्यन्त लज्जित हुआ और फिर शिष्य की तरह इनका आदर-सम्मान करने लगा।

इसी प्रकार एक बार कुछ शरारती लोगों ने एक ब्राह्मण को दो सौ रुपये का लालच देकर इनके पास भेजा कि वह किसी तरह इनको क्रोधित कर दे। जब वह इनके स्थान पर पहुँचा तो ये मन्दिर में पूजा कर रहे थे। वह आकर अचानक इनकी पीठ पर बैठ गया। पर क्रोधित होने के बजाय ये उससे कहने लगे कि 'वाह भाई, मेरे पास इतने व्यक्ति आते हैं, पर तुम्हारा जैसा प्रेमी कोई नहीं आया जो आते ही लिपट जाय।' कुछ देर बाद वह इनके साथ भोजन करने बैठा तो अचानक उछल कर भोजन परोसती हुई इनकी पत्नी गिरिजाबाई की पीठ पर बैठ गया। यह देखकर ये हँसने लगे और कहा— "देखना यह बड़ा बालक पीठ से गिरकर चोट न लगाले।" गिरिजाबाई ने भी हँसकर उत्तर दिया कि मुझे बच्चे को पीठ पर लेकर काम करने का अभ्यास है इससे मैं इसे गिरने न दूँगी।" अन्त में अत्यन्त लज्जित होकर उसने पैरों पर गिर कर इनसे क्षमा माँगी और कहा कि मैंने आवश्यकतावश कुछ लोगों के कहने से ऐसा अनुचित व्यवहार किया। एकनाथजी ने स्वयं ही उसकी आवश्यकता की पूर्ति करदी।

भारतवर्ष में अछूत जाति वालों की दशा आजकल भी बड़ी हीन है। कुछ सौ वर्ष पूर्व महाराष्ट्रीय समाज में उनकी स्थिति और भी शोचनीय थी। पर एकनाथजी उच्चकुल के ब्राह्मण होते हुए भी किसी से घृणा व उपेक्षा का व्यवहार नहीं करते थे, वरन् सब के साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त का ही पालन करते थे। एक दिन उनके पूर्वजों का श्राद्ध था और इसलिए गिरिजाबाई ब्राह्मण-भोजन के लिए उत्तम पकवान बना रही थीं। उसी समय कुछ अछूत जाति के व्यक्ति उनके घर की बगल में होकर निकले और पकवानों की खुशबू आने से आपस में चर्चा करने लगे कि "हम लोगों का ऐसा भाग्य कहाँ जो ऐसे पकवान पा सकें।" संयोगवश यह बात घर के एक कमरे में बैठे एकनाथजी के कानों में सुनाई दे गई। उन्हें इन लोगों की दुर्दशा पर बड़ी दया आयी और उनको घर में बुलाकर अच्छी तरह भोजन करा दिया। इसके पश्चात रसोईघर और समस्त बर्तनों को फिर खूब अच्छी तरह साफ करके ब्राह्मणों के लिए फिर दुबारा रसोई बनाई। पर उनके लिए बनाया गया भोजन अछूतों को खिला देने की बात सुनकर वे ऐसे नाराज हुए कि उन्होंने खाने से इंकार ही कर दिया। एकनाथजी के बार-बार आग्रह करने पर भी वे राजी नहीं हुए तो उन्होंने अपनी लाचारी बताकर पित्रों का आह्वान किया। उनकी हार्दिक भावना को देखकर पितृगण सशरीर वहाँ उपस्थित हो गए और उन्होंने भोजन को ग्रहण किया। यह देखकर हठधारी ब्राह्मण बहुत पछताए और क्षमा प्रार्थना करने लगे।

इसी प्रकार एक बार रान्या नामक अछूत ने एकनाथ को अपने घर भोजन करने का निमन्त्रण दिया। उसने कीर्तन करते हुए एकनाथजी को एक उपदेश करते सुना कि "प्राणिमात्र में एक ही परमेश्वर का निवास है।" इस पर उसने सोचा कि यदि हम में भी वास्तव में परमेश्वर का निवास है तो एकनाथजी हमारे हाथ का भोजन ग्रहण क्यों न करेंगे? वैसे भी वह रान्या बहुत ही धर्मनिष्ठ और सदाचारी था तथा कभी मद्य-माँस को छूता भी नहीं था। एकनाथ ने उसका निमन्त्रण निस्संकोच भाव से स्वीकार कर लिया और अन्य ब्राह्मणों के बहुत कुछ बुरा कहने पर भी उनके यहाँ जाकर भोजन किया। इसके लिए कट्टरपंथी उनकी बहुत समय तक निन्दा करते रहे, पर उन्होंने इसकी कुछ भी परवाह न की।

इसी प्रकार पैठण में रहने वाली एक वेश्या इनके घर कभी-कभी कथा सुनने आ जाया करती थी। एक दिन उसने इनके मुख से भागवत् में वर्णित पिंगला नाम की वेश्या का आख्यान सुना, जिससे उसको

वैराग्य हो गया। वह बार-बार यही विचार करने लगी कि "मैं कैसी पापिनी-अभागिनी हूँ जो जीवनभर इन रक्त, माँस, विष्ठा, मूत्र के पिण्ड परपुरुषों का आलिंगन करने में ही लगी रही और कभी अन्तरात्मा में रहने वाले भगवान् का ध्यान भी नहीं किया।" इस प्रकार रोती और पश्चाताप करती वह घर में ही पड़ी रही। वह एकनाथजी का स्मरण करने लगी और विचार करने लगी कि क्या वे मुझ जैसी पापिनी को अपनी चरण रज प्रदान करेंगे ? एक दिन जब वह इस प्रकार विचार कर रही थी तो उसने उसी समय एकनाथजी को गोदावरी में स्नान करके अपने घर के पास से जाते हुए देखा। वह दौड़ती हुई आई और कहने लगी— 'महाराज ! क्या आप इस पापिनी के घर को अपनी चरण रज से पवित्र कर सकते हैं ?' एकनाथजी ने सहज भाव से कहा— 'इसमें कौनसी कठिनाई है ?'' वे घर के भीतर गए और उनके पहुँचते ही वहाँ का पाप पूर्ण वातावरण नष्ट होकर सात्विकी भाव का अनुभव होने लगा। वेश्या ने उनसे 'राम कृष्ण हरि' का मन्त्र ग्रहण किया और फिर जीवन के अन्त तक भगवान् के ध्यान और पुण्य कार्यों में ही समय लगाती रही।

इस प्रकार एकनाथजी ने अपने उदाहरण द्वारा अपने समकालीन लोगों को सच्चे ब्राह्मणत्व का आदर्श दिखलाया कि केवल बाह्य शुद्धाचार और पूजा-पाठ से ही मनुष्य ब्राह्मण नहीं बन सकता, वरन् उसका असली कर्त्तव्य तो नीची दशा में पड़े हुए प्राणियों को ऊँचा उठाकर पुण्य-मार्ग पर चलने की प्रेरणा करना है। जो व्यक्ति समझता है कि नीच या पतित लोगों के संसर्ग में आने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे अथवा हमको पाप लगेगा, वे शुद्धता और ज्ञान का ढोंग ही करते हैं। जो निष्काम भाव से किसी जीव के उद्धार के लिए किसी अवसर पर अशुद्ध अथवा पापयुक्त वातावरण में भी जाता है, तो उसका उससे कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। किसी गिरते-पड़ते को बचाने में थोड़ी देर के लिए हमारे हाथ गन्दे भी हो जायें तो उससे हमारी आत्मा दूषित नहीं हो सकती। श्री एकनाथ महाराज ने आजीवन इसी प्रकार के सत्यधर्म के पालन का उपदेश देकर अन्त में यह कहते हुए संसार से विदा ली कि— "भगवद् भक्तो मेरे चले जाने के बाद तुम भागवत् धर्म का प्रचार जारी रखना और लोगों के विरोध, निन्दा आदि की परवाह न करके इस पवित्र कार्य के लिए प्राण देने को भी तैयार रहना।"

उपकार का प्रतिफल

कुछ ग्रामीण एक साँप को मार रहे थे तभी उधर आ पहुँचे सन्त एकनाथ, बोले भाइयो इसे क्यों पीट रहे हो— कर्मवश सर्प होने से क्या ? यह भी आत्मा ही तो है। एक युवक ने कहा— आत्मा है तो फिर काटता क्यों है ? एकनाथ ने कहा— तुम लोग सर्प को न मारो तो वही तुम्हें क्यों काटेगा ? लोगों ने एकनाथ के कहने से सर्प को छोड़ दिया।

कुछ दिन पीछे एकनाथ अँधेरे में नदी स्नान करने जा रहे थे। तभी उन्हें सामने फन फैलाये खड़ा सर्प दिखाई दिया, उन्होंने उसे बहुत हटाना चाहा पर वह टस से मस न हुआ। एकनाथ मुड़कर दूसरे घाट स्नान करने चले गये। उजाला होने पर लौटे तो देखा बरसात के कारण वहाँ एक गहरा खड्ड हो गया है सर्प ने न बचाया होता तो एकनाथ उसमें कब के समा चुके होते।

तुम्बा पलटी की आदत न गयी

सन्त एकनाथ के साथ तीर्थयात्रा पर एक चोर भी चल पड़ा। साथ लेने से पूर्व सन्त ने उससे रास्ते में चोरी न करने की प्रतिज्ञा कराई।

यात्रा मण्डली को नित्य ही एक परेशानी का सामना करना पड़ता। रात को रखा गया सामान कहीं से कहीं चला जाता। नियत स्थान पर न पाकर सभी हैरान होते और जैसे-तैसे जहाँ-तहाँ से ढूंढ़कर लाते।

नित्य की इस परेशानी से तंग आकर कारण की खोज शुरू हुई। रात को जागकर इस उलट-पुलट की वजह ढूँढ़ने का जिम्मा एक चतुर यात्री ने उठाया।

खुराफाती पकड़ा गया। सबेरे उसे सन्त एकनाथ के सम्मुख पेश किया गया। पूछने पर उसने वास्तविकता कही। चोरी करने की उसकी आदत मजबूत हो गई है। चोरी न करने की यात्राकाल में कसम निभानी पड़ रही है पर मन नहीं मानता तो तुम्बा पलटी- इधर से उधर सामान रख आने से उसका मन बहल जाता है। इससे कम में काम चल नहीं सका तो वह कौतूहल करने लगा।

सन्त एकनाथ ने मण्डली के साथियों को समझाया कि मन भी एक चोर है उसे बाहरी दबाव से एक सीमित यात्रा में ही काबू में रखा जा सकता है। आत्म सुधार तो हृदय परिवर्तन से ही सम्भव है और उसे स्वयं ही संयम साधना के आधार पर करना होता है।

दरिद्र नारायण की सेवा ही सच्ची भक्ति

सन्त एकनाथ गंगाजल की काँवर रामेश्वर पर चढ़ाने के लिए हरिद्वार से चल पड़े।

सफर लम्बा था। रास्ते में कई विराम करने थे। एक जगह उन्होंने प्यासे गधे को देखा जो मरणासन्न स्थिति में पड़ा था। उस क्षेत्र में कहीं दूर-दूर तक पानी था नहीं।

एकनाथ जी को दया आई। प्यासे गधे को देखकर उन्होंने गंगाजल का एक घड़ा गधे के मुँह में डाल दिया। पीकर वह खड़ा हो गया और बोला दूसरा घड़ा भी पिला दे तो बड़ी कृपा होगी। इसके बिना इस रेगिस्तान से पार जा नहीं सकूँगा।

सन्त ने दूसरा घड़ा भी पिला दिया और खाली काँवर एक ओर पटककर वापस चलने लगे। भगवान् पर जल चढ़ाने का पुण्य न मिला, तो न सही एक प्यासे की जान तो बच गई।

गधा लौट पड़ा। बोला, सन्त आओ गले मिलें और एक-दूसरे को निहाल करने पर प्रसन्नता व्यक्त करें।

आश्चर्यचकित सन्त का समाधान करते हुये गधे ने कहा— मैं रामेश्वरम् हूँ। सच्चे भक्त का दर्शन करने हेतु इस मार्ग पर पड़ा

रहता था। पुजारी बहुत निकलते थे, पर दयालु सन्त आप ही मिले, मेरा दर्शन मनोरथपूर्ण हो गया।

एकनाथ ने पीड़ित के रूप में भगवान् को देखकर नमन किया। बोले, अब मैं सदा आपके दरिद्र नारायण स्वरूप की ही पूजा करूँगा और पीड़ितों-पतितों की सेवा में निरत रहकर आपकी सच्ची भक्ति में संलग्न रहूँगा।

धर्म के लिये मर मिटने वाले— महात्मा पाल

जब तक मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में रहता है तब तक उसे सत्य के दर्शन नहीं होते। वह असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझता रहता है। किन्तु जब स्वाध्याय, सत्संग और विचार-चिन्तन द्वारा अपने को प्रकाशित करता है तब सत्य का महान् अनुयायी बन जाता है और जीवन भर उसका प्रचार करता रहता है। उसके सारे पूर्वाग्रह नष्ट हो जाते हैं और वह यथा तथ्य बात को ग्रहण करने लगता है।

सन्त पाल ईसा धर्म के महान् प्रचारक हुए हैं। विदेशों में और यहूदी जातियों में ईसा धर्म के प्रचार का अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। पहले सन्त पाल ईसाइयों के घोर विरोधी थे। पर बाद में जब उसके प्रति उनका अज्ञान दूर हो गया तो वे उसके बहुत बड़े प्रचारक बने और उस प्रचार में अपार कष्ट सहे। अन्त में उसी उद्देश्य के लिये प्राण तक दे दिये।

अज्ञानावस्था में पाल ईसाई धर्म के कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि जब महात्मा स्टेफिन को उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार करते हुए देखा तो लोगों को उनके विरुद्ध भड़काया और पत्थरों से मार-मार कर मार डालने की प्रेरणा दी। यहूदी लोग वैसा करने को तैयार हो गये। पाल ने उनके लिये पत्थर जमा किये और अत्याचारियों के कपड़ों की खुद रखवाली की। अन्त में उन्होंने महात्मा स्टेफिन को पत्थरों से मरवा ही डाला।

पाल ने ईसाइयों को नष्ट कर डालने की कसम खा रखी थी। उन्होंने योरूशलम में उन्हें चैन नहीं लेने दिया और जब वे योरूशलम से भागकर दमश्क आदि नगरों में भाग गये तो वहाँ भी उनका पीछा किया और बहुतों को मार डाला और बहुतों को जेलखाने में डलवा दिया। इस प्रकार जब पाल ईसाइयों को मारने और नष्ट करने में लगे थे एक दिन उनके मस्तिष्क में आया कि एक बार यह भी तो विचार करना चाहिए कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह ठीक भी है या नहीं। ईसाई जिस धर्म के लिये इतना कष्ट सह रहे हैं उसमें क्या विशेषता है। यह पाल के हृदय परिवर्तन का पुण्य क्षण था। उन्होंने निष्पक्षता पूर्वक विचार किया और ईसा के उपदेशों का अध्ययन किया। ऐसा करने से उन्होंने शान्ति, अहिंसा, प्रेम और दया, क्षमा का महत्त्व समझा। उन्हें अपनी पिछली क्रूरता पर बड़ा पश्चाताप हुआ और वे भगवान् ईसा के पक्के अनुयायी बन गये और ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे।

अपने प्रचार कार्य में महात्मा पाल ने अपार कष्ट सहे। उन्हीं की चलाई रीति के अनुसार यहूदियों ने उन्हें योरूशलम में ही पत्थर मार-मारकर मार डालने का प्रयत्न किया। महात्मा पाल के पत्थर लगते थे और वे खुश होकर कहते थे "मारो और मारो— जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है। दूसरों के लिये कुँआ खोदने वाला खुद उसमें गिरता है।" जब महात्मा पत्थरों की मार से चूर होकर गिर पड़े तो लोगों ने उन्हें मरा हुआ समझा और घसीट कर नगर के बाहर डाल आये। किन्तु पाल होश में आते ही फिर धर्म प्रचार में लग गये। अबकी बार लोगों ने उनको एक टोकरी में बन्द करके शहर-पनाह के बाहर फेंक दिया। किन्तु वे फिर भी किसी प्रकार बच गये और अपना काम करने लगे।

उनके इस प्रभाव को वहाँ के कट्टर लोग सहन न कर सके और उन्होंने सन्त पाल को बहुत बार कोड़ों से मारा। जब यह अत्याचार भी उन्हें उनके उद्देश्य से विचलित न कर सका तो उनको जेलखाने में डाल दिया गया। उनको काठ में देकर एक कोठरी में बन्द कर दिया गया, किन्तु उनकी दृढ़ता, प्रेम, क्षमा, दया और सहनशीलता ने ज्यादा दिन जेल में नहीं रहने दिया।

अन्त में जब दश्मिक से पाल योरूशलम आये तो आखिर आततायियों ने उन्हें मार ही डाला। इस प्रकार एक बार ज्ञान पाकर पाल जीवन भर उसका प्रचार करते रहे और अन्त में उसी उद्देश्य में हर्षपूर्वक बलिदान हो गये।

धर्म के लिये बलि हो जाने वाले— संत पीटर

ईसाई धर्म के प्रथम प्रचारक सन्त पीटर प्रारम्भ में मछली पकड़कर बेचने का काम करते थे। ये न तो कुछ पढ़े-लिखे थे और न धर्म-कर्म से ही सम्बन्ध रखते थे। उनकी प्रवृत्ति भी नास्तिकता की ओर झुकी हुई थी। मछली मारना, बेचकर रोटी कमाना और पेट भरकर सो रहना— यही तीन बातों को वे जानते थे। कभी कहीं होने वाले धार्मिक सत्संगों में वे कभी नहीं गए। ऐसे आयोजनों को वे बेकार की चीज समझते थे।

एक बार महात्मा ईसा अपने कुछ शिष्यों के साथ उधर जा पहुँचे जिधर पीटर नाव पर मछली मार रहे थे और कोई उपयुक्त स्थान न देखकर महात्मा ईसा उसकी नाव पर चढ़ गए और लोगों को उपदेश देने लगे। पीटर के जीवन में यह पहला अवसर था, उनको एक महात्मा का सम्पर्क प्राप्त हुआ था और प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला।

महात्मा ईसा का प्रवचन सुनते-सुनते पीटर अपने आपको भूल गए। उन्हें ऐसा लगा जैसे अमृत की धारा उनके कानों द्वारा हृदय में जा रही है और आत्मा में एक दिव्य प्रकाश का जागरण हो रहा है। ईसा का प्रवचन समाप्त हुआ और वे चलने लगे तो पीटर भाव-विह्वल होकर उनके चरणों पर गिर गये और बोले— "प्रभो! मैं कृतार्थ हुआ। आपके वचनों ने मुझे मानव-जीवन का रहस्य बता दिया। मुझे ज्ञान का प्रकाश मिल गया। अब तक मैंने अपना सारा जीवन

जानवरों की तरह ही बिताया। न कभी सत्संग किया और न महात्माओं के वचन सुने। इसका मुझको खेद है। किन्तु इसकी प्रसन्नता भी कम नहीं है कि आज मैं सत्संग का महत्त्व समझ गया। अब आप मुझे अपने साथ ही रखलें जिससे आपके सम्पर्क तथा प्रवचनों का लाभ उठाकर ज्ञान का पूरा प्रकाश पा सकूँ और आगे का जीवन सार्थक बना सकूँ।" महात्मा ईसा ने उन्हें अपने साथ कर लिया।

महात्मा ईसा के कथनानुसार पीटर ने उनके स्वर्गवास के बाद से उनके धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। पीटर ईसा की तरह ही जनता में प्रवचन करते थे। लोगों को सत्य और सदाचार का मार्ग बतलाते थे। इसके अतिरिक्त वे रास्ते चलते लँगड़ें-लूलों और अपाहिजों की सेवा करते रहते थे। पीटर ने कुछ ही समय में हजारों लोगों को ईसा-धर्म में दीक्षित कर लिया।

एक बार जब योरूशलम में पीटर का प्रवचन सुनकर लोग ईसा-धर्म में प्रवेश कर रहे थे, तो वहाँ के रूढ़ि-धर्म के मानने वाले सद्‌यूसी लोगों ने बड़ा विरोध किया। वे झुण्ड के झुण्ड उनके पास आए और बोले— "तू किसके नाम का प्रचार कर रहा है?" पीटर ने उत्तर दिया— "भगवान् के उस नाम का जो पृथ्वी पर ईसामसीह के नाम से प्रसिद्ध है।" सद्‌यूसी लोग इस बात से बड़े कुपित हुए और बोले— "तू या तो नये धर्म का प्रचार करना छोड़ दे नहीं तो मरने को तैयार हो जा।" पीटर ने उत्तर दिया— "आप लोग जिसको नया धर्म कहते हो वह पुराने धर्म का ही सुधरा हुआ रूप है। उसका ही सच्चा स्वरूप लोगों को बतलाता हूँ।

किन्तु सद्‌यूसी लोग न माने उन्होंने कहा कि पुराना धर्म जिस रूप में चला आ रहा है तुम उसमें सुधार मत करो। इससे धर्म-क्रान्ति पैदा हो सकती है।" पीटर ने कहा, "मैं एक सद्-क्रान्ति ही तो लाना चाहता हूँ जिससे धर्म के नाम पर रूढ़ियों और कुरीतियों की चलती परंपरा समाप्त हो जाए और लोग सत्पथ का दर्शन पा सकें।"

इस पर सद्‌यूसी लोगों ने उन्हें बुरी तरह मारा-पीटा और धर्म-सभा में मुकदमा चलाकर जेल में डाल दिया। किन्तु सत्यव्रती पीटर ने जेल से छूटकर फिर वही काम शुरू कर दिया। इस प्रकार वे जीवन-भर जेल और जुल्म सहते रहे किन्तु सच्चे धर्म-प्रचार से विचलित न हुए।

यही कारण है कि ईसाई धर्म के प्रचारकों में सन्त पीटर का प्रमुख स्थान है। यह उसी धर्म के पहले प्रचारक भी हैं। सन्त पीटर ईसामसीह के मात्र शिष्य अथवा अनुयायी ही नहीं थे बल्कि अपने चरित्र और आचरण में उनके प्रतिबिम्ब थे। सन्त पीटर ईसा के समान ही सहनशील, क्षमाशील और शान्ति, प्रेम तथा अहिंसा के पुजारी थे। धर्म-प्रचार के कार्य में उन्होंने आजीवन कष्ट सहे और यातनाएँ भोगीं, किन्तु अपने उद्देश्य से विचलित न हुए।

पीटर के धर्म-प्रचार से यहूदी जाति के बहुत-से लोग ईसा-धर्म को मानने और उसके नियम तथा रीति-रिवाजों को पालने वाले बन गये। चूँकि ईसा और पीटर यहूदी जाति के थे इसलिये यहूदी, ईसाई उन्हें अपनी ही सम्पत्ति समझने लगे। संकीर्णतावश वे नहीं चाहते थे कि ईसाई धर्म का प्रचार ऐसे लोगों में किया जाये जो यहूदी नहीं थे, किन्तु सन्त पीटर इस संकीर्णता से परे थे। वे ईसा-धर्म में सबका अधिकार मानते थे और सभी जातियों को उपदेश दिया करते थे।

कैसरिया नगर में जाने और वहाँ के लोगों को उपदेश करने पर योरूशलम में यहूदी ईसाई विरोधी हो गये। उन्होंने कहा— "पीटर अनधिकारी जाति के लोगों को धर्म का उपदेश कर के अनधिकार चेष्टा करते हैं।" पीटर की प्रतिष्ठा चली जाने का संयोग आ गया। किन्तु निरहंकार पीटर ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की और स्पष्ट कह दिया— "ईश्वर किसी एक जाति का पक्ष नहीं करता। वरन् जो भी जाति अथवा जो भी मनुष्य उससे डरता है, उसमें विश्वास और आस्था रखता है, वह उसे अच्छा लगता है और ऐसी जाति अथवा मनुष्य को सद्धर्म का उपदेश दिया जा सकता है यह उसे पाने का सर्वथा अधिकारी है।"

किन्तु इस कथन से यहूदी ईसाइयों को सन्तोष न हुआ और उन्होंने एक बड़ी भारी धर्म-सभा की और पीटर पर यह आरोप लगाया कि वह उस जाति के लोगों को भी धर्म का उपदेश देते हैं, जो अपवित्र हैं और यहूदी जाति के नियमों से भिन्न नियम मानती है। धर्म-सभा ने पीटर से इसका स्पष्टीकरण माँगा। पीटर ने निर्भीक होकर उत्तर दिया—

"भाइयो! मैं संसार की सारी जातियों को उत्पन्न करने वाला एक ही ईश्वर मानता हूँ। इसलिये मेरी दृष्टि में कोई भी जाति अपवित्र नहीं है। यदि किसी जाति के रस्म-रिवाज दूसरी तरह के हैं, तो इससे यह जाति ईश्वरीय उपदेश की अनधिकारिणी नहीं हो जाती। पवित्र आत्मा की छाया उन पर भी उसी प्रकार पड़ती है जिस प्रकार हम लोगों पर।"

पीटर ने आगे कहा— "भगवान् की भक्ति किसी एक प्रकार के रस्म-रिवाजों में नहीं बँधी है। आप लोग भी पहले यहूदी रस्म-रिवाजों को मानने वाले थे। आप लोगों को भी भगवान् ईसा का उपदेश मिला और आप लोगों ने उन पर आस्था की। उनके बतलाये नियम ग्रहण किये। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् की भक्ति किसी प्रकार के रस्म-रिवाज मानने वाले कर सकते हैं। ईसाई-धर्म किसी एक जाति के लिये नहीं है। इस धर्म का स्वरूप तो भगवान् की भक्ति, भगवान् ईसा के विश्वास और सदाचार हैं, जिसमें सभी जातियों और सभी वर्ग का अधिकार है।"

धर्म-सभा ने पीटर का स्पष्टीकरण स्वीकार किया और सभी जातियों को ईसा-धर्म का अधिकारी मान लिया।

विदेशों में प्रचार करते-करते पीटर रूस देश गये और वहाँ भी अपने धर्म का प्रचार करने लगे। रूस देश का राजा नीरोवंड संकीर्ण, अनुदार और निर्दयी था। उसने पीटर को पकड़ कर क्रास पर लटका देने की आज्ञा दे दी। सजा का हुक्म सुनकर पीटर बहुत प्रसन्न हुए और बोले— "यह मेरा अहोभाग्य है कि जो सजा धर्म-प्रचार में हमारे प्रभु ईसा को मिली वही मुझे मिल रही है।"

लोंकाशाह—जिन्होंने धर्म-क्रान्ति का सूत्र संचालन किया

इतिहासकारों का मत है कि पन्द्रहवीं शताब्दी विश्व में धर्म-क्रान्ति की शताब्दी थी । योरोप में इन्हीं दिनों पोप की जर्जर धर्म-सत्ता के विरुद्ध अभिनव धर्म-चेतना जाग रही थी, मार्टिन लूथर के नेतृत्व में । भारत में भी कबीर और नानक जैसे सुधारवादी सन्तों का आविर्भाव इसी समय में हुआ था जिन्होंने धर्म-चेतना पर आ गयी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की राख को हटाया था । आडम्बरों और बाह्याचारों के विरुद्ध सन्त नामदेव के नेतृत्व में एक नया स्वर गूँज रहा था । इन्हीं दिनों जैनधर्म में भी जो शिथिलता और गतिरोध आ गया था उसे दूर करने का उद्योग लोंकाशाह नामक धर्म-सुधारक ने किया ।

चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर से लेकर जैन मुनि भद्रबाहु तक जैन धर्म की धारा अविकल गति से बढ़ती रही थी । पर उसके पश्चात् जैन संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में बँट गया और उस धारा का प्रवाह भी बहुत कुछ अवरुद्ध हो गया । उस धारा के जल में वह वेग, वह निर्मलता नहीं रही थी जो नदी की प्रारम्भिक अवस्था में होती है । पूर्वोत्तर भारत से श्रमण संस्कृति का पराभव होने लगता है । अधिकांश श्रमण दक्षिण पश्चिम की ओर चल पड़ते हैं ।

वस्तुत: प्रत्येक धर्म-सुधारक ने किसी अभिनव धर्म की सृष्टि नहीं की है वरन् उस सनातन धर्म-धारा में आ गये गतिरोधों, कूड़े-कर्कटों, शैवालों और झाड़-झंखाड़ों को हटाकर उस धारा की चिरन्तनता का सातत्य बनाये रखा है । जैन मत और बौद्ध मत ही नहीं सभी भारतीय मत उसी धर्म-धारा के सातत्य को बनाये रखने का प्रयास भर था । भगवान् महावीर का प्रयास भी विवेकशील और पूर्वाग्रह मुक्त धर्मावलम्बियों को ऐसा ही लगता है । किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते उस मत में भी कई ऐसी बातें आ गयी थीं कि जो भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के भी विपरीत थीं । स्त्रियों को निर्वाण की अधिकारिणी नहीं मानना और शूद्रों के द्वारा दिये गये अन्न का बहिष्कार करना आदि ऐसी ही बातें थीं जो रूढ़ियों का आकार ग्रहण करने लगी थीं ।

इसके साथ ही श्रमणों का जीवन भी अपने मूल उद्देश्य से हटने लगा था । वे भी चैत्य और धर्म-प्रभावना के नाम पर धन की वर्षा कराने लगे और पूजा और जिन भक्ति के नाम पर आडम्बर रचने लगे । श्रमणों के जीवन का उद्देश्य घर-घर, गाँव-गाँव जाकर अपने उपदेशों व आचरणों द्वारा जन-मन को चेतना प्रदान करना न रहकर मठाधीश बनने जैसा ही बनता जा रहा था । यद्यपि इसके पीछे उनके मन में कोई लौकिक एषणा नहीं थी । यह सब वे धर्म-प्रचार के लिये ही करना चाहते थे । किन्तु आगे चलकर इसका परिणाम शुभ होने वाला नहीं था क्यों यह मार्ग ही गलत था, उनके लिये । कहने का अर्थ यही है कि भगवान् महावीर ने धर्म के क्षेत्र में जो सुधार किये थे वही मत यहाँ आकर सुधार परिष्कार की चाह करने लगा था ।

इसे आश्चर्य का विषय ही कहना होगा कि साधु समुदाय के मानस, चिन्तन में आ गये इस शैथिल्य को दूर करने का प्रयास एक सामान्य गृहस्थ द्वारा किया गया । यह गृहस्थ थे—लोंकाशाह । पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में उन्होंने पश्चिमी भारत से धर्म-क्रान्ति का शंखनाद किया ।

एक सामान्य गृहस्थ द्वारा श्रमण, योगी और यतियों के विचारों और क्रियाकलापों पर अँगुली उठाना साधारण काम नहीं था । जैसा कि आज भी कहावत प्रचलित है । राजा, जोगी और अग्नि से डरते रहना चाहिए क्योंकि ये प्रीति बहुत कम पाला करते हैं, तो उस समय जबकि धर्म-सत्ता आज की अपेक्षा कई गुना अधिक समर्थ थी और उस सत्ता के धारक थे श्रमण और यती जिनके तन्त्र-मन्त्रों से सामान्य जन तो क्या बड़े-बड़े राजा और धनपति भी भय खाते थे तो एक सामान्य स्थिति के व्यक्ति लोंकाशाह द्वारा उनके विरुद्ध क्रान्ति का शंख फूँकना कितने साहस,आत्मबल, बुद्धिबल और शास्त्रबल का काम था ।

लोंकाशाह ने क्रान्ति का शंखनाद तो किया पर उसका जो ढंग अपनाया वह मृदुता और शिष्टता का था, कठोरता और निन्दा का नहीं । उन्होंने साधु परम्परा की निन्दा नहीं की । उनका विद्रोही स्वर सत्य की दृढ़ता लिये तो था पर उसमें किसी को नीचा दिखाने का भाव उन्हें पराजित करके अपने बुद्धिबल का झण्डा फहराने का भाव नहीं था वरन् यही भाव था कि यह सब हम सबके हित के लिए आवश्यक है । इसलिये मुझे करना पड़ रहा है । उनका विद्रोह भी मर्यादा में बँधा हुआ औचित्य की सीमा में सिमटा हुआ था ।

उनकी अपनी बात कहने का तरीका, उनकी भाषा भी शिष्ट है, खण्डन-मण्डन का कटु तरीका उन्होंने नहीं अपनाया । वे अपनी बात जनता के सामने, विद्वज्जनों के सामने, विवेकीजनों के सामने रखते थे और कहते थे कि वे इसे समझने का प्रयास करें । यदि बात समझ में आ जाती है तो सहयोगी बनें नहीं तो मन में कोई कटुता नहीं लावें । वे आक्षेप नहीं करते थे, किसी की बात को काटते नहीं थे, अपनी बात कहते थे । किसी के गले उतरती है तो उसे माने बस यही उनका विनम्र आग्रह रहता था ।

लोंकाशाह एक सामान्य वणिक परिवार में जन्मे थे । घर की आर्थिक स्थिति सामान्य ही थी । विद्याध्ययन का नियमित अवसर तो उन्हें नहीं मिला पर उन्होंने अपनी ज्ञानार्जन की लालसा को तृप्त करने की एक राह अवश्य खोज निकाली । उनका हस्त लेख सुन्दर था अत: उन्होंने लिपिक का काम करना आरम्भ कर दिया । उन दिनों आज की तरह मुद्रणालय नहीं थे । ग्रन्थ हाथ से ही लिखे जाते थे । लोंकाशाह ने भी 'गन्ने की बिक्री पुष्कर यात्रा' जैसा ही काम अपनाया । उनके पास जो ग्रन्थ नकल करने के लिये आते थे उन्हें वे बड़े ध्यान से पढ़ते थे और उनमें निहित विचारों पर चिन्तन, मनन किया करते थे ।

जैन मतावलम्बी होने के कारण जैन साहित्य और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन उन्हें विशेष प्रिय था। इस प्रकार नकल करने के साथ-साथ ग्रन्थों के स्वाध्याय और चिन्तन-मनन का क्रम चलता रहा। जब उन्होंने ग्रन्थों में लिखे उपदेशों के, विचारों को प्रचलित धर्म-परम्पराओं में देखने का प्रयास किया तो उन्हें लगा कि बहुत कुछ उन विचारों के विपरीत हो रहा है जो धर्म-ग्रन्थों में संग्रहित है तो वे धर्म-परम्पराओं में आ गयी विकृतियों को दूर करने के विषय में विचार करने लगे।

अपनी लगन, जिज्ञासा और चिन्तन, मनन के द्वारा उनके भीतर तलस्पर्शी चिन्तक का जन्म हुआ साथ ही उन विचारों को व्यवहार में लाने के कारण उनके चरित्र में एक प्रखरता भी उत्पन्न हो गयी थी। वे यह कैसे सहन कर सकते थे कि भगवान् महावीर ने जिन श्रमणों के लिये पुष्प की पंखुड़ी का स्पर्श करने और अन्न के एक कण को भी संग्रह करने का निषेध कर रखा था उन्हीं की पूजा और भक्ति के नाम पर पुष्प, अन्न और धन के संग्रह किये जायें। वीतराग कहाने वाले जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर माणिक्य सजाये जायें। समता और वैराग्य के आदर्शों पर आडम्बरों और बाह्याचार की धूल जमते देखकर उनका हृदय वेदना से भर उठा।

यह जानते हुए कि श्रमण समुदाय के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण उन्हें लोक-प्रतिष्ठा का मोह छोड़ना होगा, सुख, सुविधाओं को त्यागना होगा, बड़े-बड़े विरोध और आतंक सामने आयेंगे, बहुत सम्भव है प्राण विसर्जन भी करने पड़ें इस क्रान्ति यज्ञ में, उन्होंने विद्रोह का क्रान्ति का स्वर गुंजाया।

आरम्भ में उन्हें बहुत दुःख सहना पड़ा। अपने धर्मगुरु, मार्गदर्शक, गृहत्यागी श्रमणों के विरुद्ध जन-सामान्य में जो अन्ध श्रद्धा थी उस अन्ध-श्रद्धा ने उन्हें पग-पग पर अपमानित, लांछित और प्रताड़ित किया। पर वे इस प्रारम्भिक प्रतिक्रिया को अविचलित होकर सह गये। फिर तो कुछ विवेकीजनों ने उनके विद्रोह के अर्थ को समझा, सराहा और सहायता देना आरम्भ किया। पाटण का एक धनाढ्य व्यापारी-लखपती उनका समर्थक बन गया। उसके प्रभाव से लोंकाशाह के समर्थकों की संख्या में वृद्धि हुई।

'सत्य में हजार हाथियों का बल होता है' इस उक्ति की सत्यता, स्वामी दयानन्द, शंकराचार्य, मार्टिन लूथर, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति कई महामानवों के कर्तृत्व में देखने को मिलती है। वही सत्य लोंकाशाह के समय में भी उजागर हुआ था। एक सामान्य से लिपिक ने जिसके पास केवल सत्य का बल था उसके अतिरिक्त, न राज्य का बल था, न धन का पर उस सत्य के बल पर उसने तत्कालीन जैन परम्पराओं में श्रमण संस्कृति में जो विकृतियाँ आ गयी थीं उनके विरुद्ध सफल क्रांति का सूत्र संचालन किया।

परम्पराओं के मूल में जो विचार होता है वह कभी मरता नहीं है। उसका प्रारम्भिक प्रवाह तो निर्मल होता है पर आगे चलकर उसमें रूढ़ियों का कचरा आ जाता है। फिर कोई महापुरुष आता है और वह उस कचरे को दूर कर देता है। लोंकाशाह ऐसे ही एक महापुरुष थे। अपने अध्यवसाय, आत्मशक्ति और साहस के बल पर वे इस गौरव तक पहुँचे थे। ऐसा साहस जो जुटाता है वही महापुरुष की गणना में गिना जाता है।

सत्य के साधक लोंकाशाह ने जब आगम के साथ तत्कालीन साधु जीवन के आचार-व्यवहार की तुलना की और उन्हें उसमें जमीन और आसमान का अन्तर दिखायी दिया। इस पर वे चुप बैठ जाते तो उन्हें यह श्रेय कभी न मिलता। वे चुप नहीं बैठे वरन् क्रान्ति के कण्टकाकीर्ण पथ पर चल पड़े। अपने पक्ष को विनम्र किन्तु दृढ़ स्वरों में मृदुता के साथ रखने के कारण उन्हें सफलता भी शीघ्र मिली। आरम्भ में उनका विरोध साधारण था पर धीरे-धीरे यह प्रबल होता गया। वे मूर्ति पूजा और वेश परिवर्तन आदि का विरोध भी करते थे।

यह बात आरम्भ में भी कही जा चुकी है कि समय की अपनी एक गति होती है। काल-चक्र अबाध गति से चलता ही रहता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति का वातावरण भारत में ही नहीं सारे विश्व में भी उत्पन्न हुआ था। उस विराट ब्रह्म का स्फुल्लिंग बनकर कुछ व्यक्ति ज्योति लिए हुए थे। उन्हीं में से एक लोंकाशाह भी थे। समय की इस नियति को, गति को पहचानने और युग धर्म-पालन के लिये उठ खड़ा होने के बीच तो जनमानस में होते ही हैं ऐसे वातावरण में वे शीघ्र अंकुरित होते हैं। अतः जब लोंकाशाह ने धर्म-क्रान्ति का स्वर निनादित किया तो उसकी प्रतिध्वनियाँ भी सब ओर से उठीं और क्रान्ति का महारथ बन गयीं। उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आन्दोलन दिन पर दिन समर्थ होता गया। हजारों साधक उनके इस कार्य को सफल बनाने के लिये निकल आये।

लोंकाशाह को मृत्यु भी वैसी मिली जैसी प्रायः महामानवों को मिला करती है। सुकरात की तरह उन्हें भी विषपान करना पड़ा था। सत्य के लिये अपना जीवन समर्पित कर देने वालों के लिये धर्म-सरिता की धारा में आये अवरोधों को हटाने के लिये जीवन समर्पित करने वाले महात्माओं का यही अभिनन्दन किया करता है मनुष्य समुदाय।

हजरत मोहम्मद—सहिष्णुता से हृदय जीता

घटना अरब देश के एक सुसम्पन्न परिवार की है.उन दिनों अरब में हजरत मूसा का मूसाई मत बड़े जोरों पर अपना प्रभाव जमाये बैठा था। उन दिनों इस धर्म में अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और कट्टरता प्रधान रूप से विद्यमान थे।

इस धर्म से पूर्ण प्रभावित और आबद्ध अजमत नाम की एक महिला थी। इनके पति 'अमीर' वास्तव में अमीर थे। खुदा ने उन्हें सब कुछ दे रखा था। किसी भी वस्तु की कमी न थी। अजमत को इस बात का भी बहुत बड़ा घमण्ड था और वह पास-पड़ोस तथा मोहल्ले की स्त्रियों में अपने को नवाबजादी बताया करती थी। जब

भी वह कहीं जाती दूसरी स्त्रियों को उपेक्षा भरी नजरों से देखती और बात-चीत तथा व्यवहार में भी अभिमान एवं अहंकार टपका करता था।

अजमत के घर के बगल से जो रास्ता जाता था उसी से इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब नित्य ही प्रातः-सायं वायु सेवन के लिये निकला करते थे। अपने मत को वह सही मानती थी और इस्लाम की निन्दा किया करती थी। मोहम्मद साहब से भी इसे चिढ़ थी। अजमत को ऐसी शरारत सूझी कि वह अपने घर का कूड़ा-कचरा एक टोकरी में इकट्ठा कर लेती और उनकी प्रतीक्षा में बैठी रहती थी। ज्यों ही वे उस मार्ग से निकलते त्योंही उनके ऊपर निःसंकोच भाव से फेंक देती। ऐसा लगता था मानो वह उन्हें कूड़ा-करकट का घूरा समझती हो।

यही नित्य का क्रम चल पड़ा था। देखने वाले राहगीर और पास-पड़ोस के लोग भी हैरत करते थे। सहिष्णुता और दुष्टता दोनों में जोरों की होड़ लगी हुई थी कि देखें कौन बाजी मार ले जाता है? अन्त में अजमत को हार माननी पड़ी। आत्मग्लानि से उसका पराजित दिल बेतरह घायल हो गया और अपने कुकृत्यों पर स्वयं पश्चाताप करने लगी। इसी अफसोस में वह बीमार पड़ गई और चारपाई पकड़ ली।

उस दिन मोहम्मद साहब शान्त भाव से आगे निकल गये और कूड़ा-कचरा उन पर न पड़ा। इसी तरह दूसरा, तीसरा और चौथा दिन भी व्यतीत हो गया, जब अजमत बिल्कुल ही दिखाई न दी। अन्त में मोहम्मद साहब ने पास के एक पड़ोसी से पूछा, "भाई! आज कई दिनों से बहिन अजमत दिखाई नहीं दे रही है?" पड़ोसी मुस्कराते हुए बोला "कूड़े-कचरे का मेह सिर पर बरसते हुए अधिक आनन्द आता है क्या?" हँसते हुए मोहम्मद साहब ने कहा, "हाँ भाई! बहिन की इन सेवाओं को भी मुझे स्वीकार ही करना पड़ता है। इसलिये तो मुझे इतनी बेचैनी है।" आगे पड़ोसी के द्वारा मालूम हुआ कि वह कई दिनों से बीमार है।

अजमत की बीमारी का समाचार सुनते ही हजरत साहब का चेहरा उदास हो गया, मानो उनका कोई परम स्नेही सम्बन्धी बीमार पड़ गया हो। तुरन्त ही वे परिचारिका से आज्ञा लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ अजमत बिस्तर पर लेटी पड़ी हुई थी। उसे इस अवस्था में देखते ही हजरत का हृदय करुणा से भर आया और बोले, "बहिन अजमत, तुम्हारी यह क्या दशा हो गई? तबियत कैसी है?" उन्हें देखते ही अजमत की आँखें शर्म से नीचे गड़ गईं। अन्तःकरण अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करके नीचे दबा जा रहा था। आखिर वह बोलती क्या? उसके आँखों के सामने तो वे सब दृश्य नाच रहे थे, जो उनके साथ व्यवहृत किये थे। हजरत उसकी कठिनाइयों और उलझनों को समझ रहे थे।

उन्होंने अधिक वार्तालाप की आवश्यकता न समझी और तुरन्त चिकित्सा व्यवस्था में लग गये। अच्छे चिकित्सक को लिवाकर लाना, दवादारू तथा परिचर्या की व्यवस्था करना मोहम्मद साहब का दैनिक कार्य बन गया और वह तब तक चलता रहा जब तक कि अजमत पूर्ण स्वस्थ न हो गई।

दूसरों पर रहम करो

बदर के युद्ध में कुरैश लोग बुरी तरह परास्त हो चुके थे और हजरत मुहम्मद साहब के खून के प्यासे हो रहे थे। अनेक कुरैश युवकों ने बीड़ा उठाया था कि हम एक दिन जरूर मुहम्मद का सिर काट कर लावेंगे। दासूर उन्हीं कुरैश युवकों में से एक था।

एक दिन दोपहर के समय हजरत मुहम्मद साहब अपने खेमे से कुछ फासले पर एक वृक्ष की छाया में लेटे हुए थे। ठण्डी-ठण्डी हवा चली, तो उनकी आँख लग गई। दासूर उनके पीछे लगा हुआ था ही। यह मौका पाया, तो वह अपने घोड़े को तेजी से दौड़ा कर उनके निकट जा पहुँचा। घोड़े की टापों की भनक पड़ी, तो हजरत मुहम्मद साहब जाग उठे। परन्तु, वे सम्हलने भी न पाये थे कि दासूर ने उनके कण्ठ पर तलवार रखदी और अभिमानपूर्वक कहा 'मुहम्मद! बोल इस वक्त तुझे कौन बचावेगा?'

मुहम्मद साहब ने गरज कर उत्तर दिया— 'अल्लाह!' उनकी आवाज में ऐसी कुछ शक्ति थी कि दासूर का हृदय हिल उठा और उसके हाथ से तलवार छूट कर भूमि पर जा गिरी। मुहम्मद साहब ने फौरन पैंतरा बदलकर तलवार उठा ली और उसे खींचते हुए पुनः गर्जना की— 'दासूर! बोल अब तुझे कौन बचावेगा?'

दासूर काँपते हुए उनके पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ा कर बोला— "या हजरत, अब आपके सिवा मुझे कोई नहीं बचा सकता।"

यह सुनना था कि मुहम्मद साहब ने तलवार फेंक दी और दासूर से कहा— ऐ बदनसीब इन्सान! इस वक्त भी तेरे मुँह से खुदा का नाम न निकला! उफ, तेरे माफिक मोहताज और कौन होगा? जा, आज से दूसरों पर रहम करना सीख।"

दासूर पर हजरत मुहम्मद के इस व्यवहार से ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी समय उन पर ईमान लाया और उनका शिष्य हो गया।

स्वर्ग उन लोगों के लिए है

पैगम्बर मुहम्मद के नाती हुसैन बहुत सम्पन्न थे। उनके कई दास थे। एक दिन दास खौलते जल से भरा पात्र ले जा रहा था। उधर हुसैन भोजन कर रहे थे। थोड़ा-सा जल पात्र से उछला और हुसैन के पैरों में छींटे पड़े। वे क्रोध से चीख पड़े। दास वहीं घुटने टेककर बैठ गया, पर डरा नहीं। उसने कुरान की एक आयत पढ़ी— "स्वर्ग उन लोगों के लिए है, जो अपने क्रोध को वश में रखते हैं।"

हुसैन का क्रोध हवा में उड़ने लगा। तभी दास ने दूसरी आयत पढ़ी— "और स्वर्ग उन लोगों के लिए है, जो क्षमा करते हैं।" हुसैन का क्रोध समाप्त हो गया। उन्होंने दास को उठाकर उसे चार सौ दिरहम देते हुए कहा— "आज से तुम स्वतन्त्र हो?"

अब तू मेरी सच्ची बेटी है

हजरत मोहम्मद एक दिन फातिमा से मिलने उसके घर गये। वहाँ जाकर देखा उनकी बेटी हाथों में चाँदी के मोटे-मोटे कंगन पहने है और दरवाजों पर रेशमी परदे लहरा रहे हैं। मोहम्मद साहब बिना कुछ बोले उलटे पाँव घर से वापस चल दिये और मस्जिद में जाकर रोने लगे।

फातिमा कुछ न समझ सकी। उसने अपने लड़के को दौड़ाया कि देख तो तेरे नाना घर आकर एकाएक वापस क्यों चले गये।

लड़के ने जाकर देखा कि नाना मस्जिद में बैठे रो रहे हैं। उसने घर से एकाएक वापस चले आने और इस प्रकार रोने का कारण पूछा। मुहम्मद साहब ने कहा— 'यहाँ गरीब भूख से परेशान होकर मस्जिद के सामने रो रहे हैं और वहाँ मेरी बेटी रेशमी परदों के बीच चाँदी के कड़े पहने मौज कर रही है— यह देखकर मुझे बड़ी शर्म आई और मैं मस्जिद में वापस चला आया।'

लड़के ने जाकर अपनी माँ को सारी बातें बतलाई। फातिमा ने रेशमी परदों में चाँदी के कड़े बाँधकर पिता के पास भिजवा दिये। मोहम्मद साहब ने उन्हें बेचकर गरीबों को रोटी बाँटी और खुशी से जाकर अपनी बेटी से मिले और बोले— अब तू मेरी सच्ची बेटी है।

विवेक का आश्रय

हजरत मुहम्मद ने मुआज को यमना का सूबेदार बनाकर भेजा। जब सूबेदार चलने लगा, हजरत ने पूछा कि वहाँ की समस्याओं का समाधान कैसे करोगे? मुआज ने कहा, "कुरान के आधार पर"। हजरत ने पूछा, "अगर कुरान के साथ समस्याओं का तालमेल न बैठा तो?" मुआज ने कहा, "पैगम्बर की मिसाल सामने रखकर"। हजरत ने पूछा, "यदि वह भी ठीक न बैठे तब"। मुआज ने कहा, "अपनी अकल और इन्साफ को आगे रखकर काम करूँगा।"

हजरत ने इसी तरीके को ठीक बताया और समझाया कि हर बात दूसरों के कहने पर ही सही नहीं माननी चाहिये।

उद्दण्डता का प्रतिकार कैसे करें ?

अरब देश में इस्लाम अपने प्रथम चरण में था। एक बार कुछ लोग मुहम्मद साहब के पास आये। उन्होंने अतिथियों की मेहमानदारी का प्रबन्ध किया। अपने मित्रों से कहा कि एक-एक आदमी ले लो और उनकी अच्छी तरह सेवा करो।

इन मेहमानों में एक व्यक्ति अपनी उद्दण्डता के लिए कुख्यात था। उसे अपने यहाँ मेहमान बनाना किसी ने स्वीकार नहीं किया। मुहम्मद साहब ने उसे अपने यहाँ अतिथि बनाया। घर में सब लोगों के लिए जितना पका था, वह इस नीयत से सब खा गया कि सब भूखे पेट सोयें। मुहम्मद साहब ने उसे एक अलग कोठरी में सुलाया और आरामदेह बिछौना बिछा दिया। अधिक भोजन कर लेने से उसे बदहजमी हो गयी। उसने बिस्तर भी खराब कर दिया।

सुबह जल्दी उठ कर वह डर से भाग गया। जब मुहम्मद साहब उस को जलपान देने पहुँचे तो उसे न पाकर उन्हें अफसोस हुआ। फिर वे बिस्तर और कमरे की सफाई में लग गए।

वह आदमी अपनी तलवार कोठरी में ही भूल गया था। उसे लेने के लिए वह लौट पड़ा। उसे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि उसके द्वारा अपवित्र किए कपड़े मुहम्मद स्वयं साफ कर रहे हैं और उनके चेहरे पर क्रोध का कोई चिह्न नहीं है। जब मुहम्मद साहब ने उसे देखा तो प्रसन्नतापूर्वक उस से बोले, "भाई, कहाँ चले गये थे? चलो, नाश्ता कर लो।" उद्दण्ड व्यक्ति शर्म से पानी-पानी हो गया।

श्रद्धालु को अश्रद्धालु न बनायें

हजरत मूसा ने एक अनपढ़ किसान देखा जो ध्यानमग्न होकर प्रार्थना कर रहा है— "हे परमेश्वर यदि तू मेरे पास आ जाय तो तुझे खूब स्नान कराऊँ, अच्छे कपड़े पहनाऊँ, भोजन कराऊँ और पैर दबाऊँ, सुख पहुँचाऊँ।"

किसान की प्रार्थना सुनी तो हजरत मूसा अप्रसन्न हुए और डाँटते हुए बोले— मूर्ख, ईश्वर कोई मनुष्य थोड़े ही है जो भोजन, वस्त्र आदि से प्रसन्न होगा। वह तो निराकार है।

हजरत की बात सुनकर किसान उदास हो गया और सोचने लगा भला निराकार ईश्वर की मैं क्या सेवा कर सकूँगा। मेरे जैसों के लिए तो पूजा का रास्ता ही बन्द है। दुःखी किसान ने हजरत से अपने अज्ञान की क्षमा माँगी और आगे से पूजा-प्रार्थना बन्द कर दी।

परमेश्वर ने सन्देश भेजा और कहा— मूसा हमने तुम्हें श्रद्धा उत्पन्न करने लोगों के पास भेजा था, कि श्रद्धावानों को अश्रद्धालु बनाने के लिए।

धर्म और जाति से परे— फकीर अजीजउद्दीन

"आप माला के दाने बाहर की ओर फेरते हैं और हम अंदर की ओर। बताइये इन दोनों में कौनसा तरीका श्रेष्ठ है?" पंजाब केशरी महाराजा रणजीतसिंह ने सिख साम्राज्य के विदेश मंत्री फकीर अजीजउद्दीन से पूछा और फकीर ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दिया— "महाराज! मुसलमान माला के दाने बाहर की ओर फेरकर दोष निकालने का प्रयास करते हैं जबकि हिन्दू अंदर की ओर फेरकर गुण ग्रहण करने का यत्न करते हैं।"

धर्म और जाति की सीमा को पाकर मानवता के अनन्य उपासक फकीर अजीजउद्दीन का जन्म नाई परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज बुखारा से आए थे। लाहौर के प्रमुख हकीम लाला हाकिमराय के पास रहकर इन्होंने चिकित्सा का कार्य सीखा और अपनी योग्यता तथा परिश्रमशीलता के आधार पर यह राज-दरबार के चिकित्सक बन गए। इतना ही नहीं फकीर अजीजउद्दीन महाराजा रणजीतसिंह के प्रमुख परामर्शदाता, उच्च श्रेणी के मनोविज्ञानवेत्ता तथा बड़े प्रतिभावान व्यक्ति थे। उनके जीवन की सरलता, सादगी तथा चरित्र की उत्कृष्टता का महाराजा पर विशेष प्रभाव था।

अजीजउद्दीन अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे । जब महाराजा की जिह्वा पर आंशिक रूप से लकवे का प्रभाव हो गया था तब तो इनके उत्तरदायित्वों का क्षेत्र भी बढ़ गया था । उच्च अधिकारियों से परामर्श के समय अजीजउद्दीन अनुवादक एवं प्रवक्ता के रूप में सामने आते थे । महाराजा को उनमें कुशल कूटनीतिज्ञ के गुण दिखाई दिए । इसलिए ईस्ट इंडिया कंपनी से पत्र-व्यवहार करते समय उनसे सलाह लिया करते थे ।

सैनिक और नागरिक सेना में धर्म और जाति भेद को प्रश्रय न देने की नीति में अजीजउद्दीन की प्रेरणा ने ही काम किया था । महाराज की सेनाओं को सही अर्थों में राष्ट्रीय कहा जा सकता था क्योंकि धर्म और जाति के भेदभाव को तिलांजलि देकर सेना में सभी वर्गों के व्यक्तियों को भर्ती किया गया था । मुसलमान, सिख, ईसाई, डोगरा, राजपूत और गोरखा सभी तो सेना में थे । ये सैनिक राष्ट्र हित में अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए सदैव तैयार रहते थे । सैन्य संगठन और संचालन में अजीजउद्दीन का प्रमुख हाथ था ।

युद्ध संचालन की तरह शांति स्थापना हेतु उनके प्रयत्नों को भी भुलाया नहीं जा सकता । घटना सन् १८०९ की है । सर चार्ल्स मेटकाफ सिख राज्य की सीमा निर्धारण हेतु आए हुए थे । दोनों ओर की सेनाएँ तैयार थीं । स्वर्ण मंदिर, अमृतसर के शहीदी जत्थे ने गोरी सेना पर आक्रमण कर दिया । उस समय स्थिति बड़ी भयंकर हो गई । ऐसी विकट स्थिति में अजीजउद्दीन ने महाराजा को सलाह दी कि वह अपने गोविंदगढ़ दुर्ग से निकल कर सफेद रूमाल हिलाते हुए सर चार्ल्स मेटकाफ के डेरे की ओर बढ़ें । उनका यह प्रयास शांति का प्रतीक माना जायेगा । महाराजा ने ऐसा ही किया । दोनों ओर से मोर्चे बंदी थी । लड़ाई की पूरी तैयारी थी । अजीजउद्दीन की सूझ-बूझ का ही यह परिणाम हुआ कि अमृतसर की युद्ध बंदी संधि हो गई और सारे पंजाब में शांति की स्थापना हुई । न जाने इस भयंकर युद्ध से कितनी धन-जन की हानि होती ? महाराजा रणजीतसिंह और सर विलियम बैंटिक के मध्य जो संधि हुई थी, उसके पीछे भी अजीजउद्दीन का ही हाथ था ।

जब काबुल के दोस्त मोहम्मद ने सिखों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की और अफगानिस्तान की सीमा पर मोर्चेबंदी होने लगी उस समय भी अजीजउद्दीन ने आगे बढ़कर वार्तालाप की पहल की और महाराजा को रक्तविहीन विजय दिलवाई । अजीजउद्दीन विदेश मंत्री के रूप में लोकप्रियता प्राप्त करते जा रहे थे । राज्य स्तर की गुप्त से गुप्त मंत्रणा भी इनके अभाव में अपूर्ण मानी जाती थी । वे इस्लाम के अनुयायी होते हुए भी हिन्दू धर्म के प्रति पूरी श्रद्धा रखते थे । दिसंबर १८४५ में देशभक्त अजीजउद्दीन ने अंतिम सांस ली ।

भक्ति-मार्ग के अविचल पथिक—सनम साहब

जहाँ इष्ट और उपासक का प्रश्न है वहाँ यदि उपासना, भक्ति में अविचल निष्ठा से तो व्यक्ति धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सार्वजनीन प्रेम के चरम सत्य तक पहुँच जाता है अपनी उत्कट भक्ति के कारण । उसके लिए फिर मानव मात्र में कोई भेद नहीं रहता । कई कृष्ण भक्त मुस्लिम सन्तों ने हिन्दू, मुस्लिम के विभेद से ऊपर उठकर जन-सामान्य को प्रेम और भक्ति की रस सरिता से आप्लावित किया है । रहीम, रसखान प्रभृति सन्त इसी कोटि के थे । उसी परम्परा की एक कड़ी थे, सनम साहब ।

अपने मार्मिक और भक्ति भावपूर्ण प्रवचनों में उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया था— "श्रीकृष्ण को हम दो रूपों में भजते हैं— निराकार और साकार । निराकार तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है— प्रेम, जीवन तथा आनन्द के रूप में । प्रेम ही जीवन विधान है । जीवन सत्यता का आधार है तथा आनन्द ही जीवन का मूल उद्देश्य है । श्रीकृष्ण में ये तीनों भाव प्रखर रूप में उद्भासित हुए हैं । श्रीकृष्ण की भक्ति करने का अर्थ इन तीनों में गहन आस्था रखना है । जो इन तीनों में आस्था रखता है उससे इस जगत का कोई अहित नहीं हो सकता है । होगा तो मंगल ही । भक्ति का अर्थ यही है कि व्यक्ति में, अपने इष्ट में निहित महाभाव-उपासक में भी उतरे । श्रीकृष्ण का निराकार रूप सब के लिये उपास्य है । उसके लिये हिन्दू, मुस्लिम का भेद करना बेमानी है ।" सनम साहब के कथन में निहित इस सत्य को सभी धर्मावलम्बी समझ सके होते तो धर्म के नाम पर असहिष्णुता कहीं देखने को नहीं मिलती ।

परम सत्य-परमात्मा तक पहुँचने, ईश्वर को पाने के कई मार्ग हैं । उन्हीं में से सबसे सुगम और सहज मार्ग है— भक्ति मार्ग । यही मार्ग सामान्य जन के लिये उपयोगी है । मन्दिर, मस्जिद और गिरजों की स्थापना इसी के लिये की गयी है । ये सब एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं । इतने अधिक मार्ग होने से मनुष्य को अपने लिये उपयुक्त, मनभावन मार्ग को पाने के अधिक अवसर मिले हैं किन्तु इन्हें रूढ़ नहीं बना दिये जायें, इतने जटिल न बना दिये जायें कि पारस्परिक सौमनस्य-सहिष्णुता ही नष्ट हो जाय । सनम साहब का जीवन इसी रूढ़िता को मिटाने का अथक् प्रयास कहा जा सकता है ।

उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक के प्रथम चरण में अजमेर के एक मुस्लिम परिवार में जन्मे मोहम्मद याकूब खाँ का बड़े होकर सनम साहब बन जाना यह स्पष्ट करता है कि धर्म व्यक्ति की आस्थाओं पर टिका होना चाहिये न कि जन्म पर । पिता हिन्दू धर्मावलम्बी है या इस्लामपरस्त है यह आवश्यक नहीं कि पुत्र भी उसी मत को माने । ईश्वर में उसकी आस्था जिस मार्ग का अनुसरण करके दृढ़ होती है, मानवता और लोक-मंगल की भावनाएँ जिस पथ पर चलकर क्रियात्मक अभिव्यक्ति पाती हैं उसे ग्रहण करने में कोई बाधा, दबाव न हो ।

किशोर मोहम्मद याकूब को रसखान, सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं ने ऐसा मोहा कि वे भी उसी भाव-सरिता में बह चले । पिता सम्पन्न थे, पढ़ने की जिज्ञासा मन में थी ही सो अपनी लगन और परिश्रम जुटाकर वे संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू, अँग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञाता बन गये । इन सभी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले कृष्ण भक्ति साहित्य का गहन अध्ययन किया । श्रीकृष्ण

भक्ति के सर्वांगपूर्ण चरित्र ने उन्हें ऐसा मोहा कि उन्होंने अपना सारा जीवन उनकी भक्ति करते हुए लोकसेवा में लगा देने का निश्चय कर लिया ।

अपने गुरु की आज्ञा लेकर उन्होंने देश भर में कृष्ण भक्ति और उसके साथ जुड़ी हुई सार्वजनीन प्रेम, जीवन के प्रति दृढ़ आस्था और सुख-दु:ख से ऊपर उठकर आनंद के नित्य रस का रसास्वादन करने की भावनाओं का प्रचार करने का उद्योग किया । कहना न होगा कि इस प्रचार के पीछे लोकहित की उत्कट भावनाएँ छिपी हुई थीं ।

सनम साहब एक मुस्लिम परिवार में उत्पन्न हुए थे अत: कई मुस्लिम धर्मावलम्बी यह समझते थे कि वे मुसलमान हैं, उन्हें कृष्ण भक्ति का प्रचार नहीं करना चाहिए । किन्तु उन्होंने न तो इस्लाम को छोड़ा था और न हिन्दू धर्म को ग्रहण किया था । वरन् वे तो कृष्ण के परम भक्त बन गये थे । उनकी दृष्टि करुणामय हो चुकी थी जिसमें हिन्दू, मुसलमान के विभेद का कुछ भी महत्त्व नहीं था । वे उपासना के क्षेत्र में संकीर्णता को महत्त्वहीन मानते थे ।

उनकी इस दृष्टि को समझ सकना कई इस्लाम मतावलम्बियों के लिये दुष्कर था । वे उन्हें समझाने के लिये उनके पास पहुँचे । उन्होंने बताया कि आप मुसलमान हैं आपको हिन्दुओं के भगवान् कृष्ण की भक्ति नहीं करनी चाहिए और न ही उसका प्रचार । इस पर सनम साहब ने बताया कि ईश्वर के दरबार में न कोई हिन्दू है न मुसलमान, वह अपने प्रभु को जिस रूप में भजना चाहे वह उस रूप में भज सकता है । भक्ति और उपासना के क्षेत्र में उसके लिये स्वतन्त्रता आवश्यक है । चाहे जिस मार्ग से हो मनुष्य को मनुष्य बनना चाहिए यह उसकी इच्छा पर है कि वह अपने लिये कौनसा मार्ग उपयुक्त समझता है ।

समझाने-बुझाने का उन पर कोई असर नहीं हुआ तो कुछ संकीर्ण-मना धर्मान्ध लोगों ने उनको जान से मार देने की धमकियाँ भी दीं । पर वे विचलित नहीं हुए उन्हें ईश्वर ने जिस प्रयोजन से भेजा है वह पूरा होने तक तो उन्हें कोई मार नहीं सकता । "उसे जब तक मुझसे कोई काम लेना होगा तब तक तो मेरा कोई कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता ।" यह उनका विश्वास था अत: वे धमकियों से डरे नहीं । कई बार उन पर आक्रमण भी हुए पर हर बार वे बच जाते ।

अजमेर में 'श्रीकृष्ण पुस्तकालय' उन्हीं के सद्प्रयासों के फलस्वरूप स्थापित हुआ । इस पुस्तकालय के लिये १२०० दुर्लभ ग्रन्थों को संग्रहित करने के लिये उन्हें बड़ा श्रम करना पड़ा था । धर्म और उपासना के क्षेत्र में मनुष्य की स्वतन्त्रता और सभी धर्मों की पारस्परिक सहिष्णुता का यह स्मारक छोटा भले ही हो कम महत्त्व पूर्ण नहीं है ।

सन् १९३४ में महामना मालवीय जी ने उन्हें वाराणसी आमन्त्रित किया । इनसे भक्ति विषयक वार्तालाप करने पर—उनके लोक-हितकारी विचारों को सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए । सनम साहब ने व्यक्तित्व में जिस भक्ति, ज्ञान और विद्वत्ता की त्रिवेणी बही थी उसे देखकर वे बहुत-बहुत प्रसन्न हुए । महामना ने अपने क्षेत्र में उनके कई प्रवचन कराये । उनकी निष्ठा और भक्ति से कई हिन्दू सन्त, भक्त भी बहुत प्रभावित हुए थे ।

कीर्तन करना उनके नित्य कर्म का महत्त्वपूर्ण अंश था । कीर्तन के माध्यम से जन-मन में भक्ति और उदात्त जीवन दृष्टि का रसोद्रेक करना और उसे दिशा देने में वे सिद्धहस्त थे । उन्हीं जैसे एक ईसाई कृष्ण भक्त रोनाल्ड निक्सन से भी उनका निकट सम्पर्क रहा । भारतीय संस्कृति और धर्म के एक पहलू भक्ति मार्ग पर आरूढ़ रहकर जन-जीवन में धर्म-श्रद्धा को बनाये रखने का उसे विकसित, परिपुष्ट करने का उनका जीवन यज्ञ अबाध गति से चलता रहा था । मार्ग के अवरोधों की परवाह उन्होंने कभी नहीं की ।

वे किसी की आस्थाओं पर चोट नहीं करते थे । वे श्रीकृष्ण को अवतार मानते थे, पर जो उन्हें महापुरुष मानते थे उनसे वे किसी प्रकार का कोई मलाल नहीं रखते थे विवाद करने की अपेक्षा वे अपनी भावना को स्पष्ट कर देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे ।

१५ अगस्त सन् १९४५ में श्रीकृष्ण की लीला भूमि ब्रजभूमि में उनका देहावसान हुआ । जिस प्रकार जाति का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार किसी विशेष धर्मावलम्बी के घर उत्पन्न होकर ही कोई उस धर्म का अनुयायी नहीं बन जाता यह तो अपनी श्रद्धा का विषय है । व्यक्ति को धार्मिक होना चाहिए यह तो आवश्यक है पर उसके लिये कोई दुराग्रह पालना ठीक नहीं । इस तथ्य की सत्यता और व्यावहारिकता को उनके जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है ।

अन्याय के विरोधी—
हजरत इमाम हंबल

हजरत इमाम अहमद हंबल ईराक के प्रख्यात सन्त थे । उनका ज्ञान अगाध और वैराग्य अटल था । धर्मांधता के वे कट्टर विरोधी थे तथा कुरान की भ्रान्त व्याख्याओं का स्पष्ट खण्डन करते थे । तत्कालीन रूढ़िवादी काजियों के निहित स्वार्थों को इससे चोट पहुँचती । वे कुरान शरीफ की विवेकपूर्ण व्याख्या कर ऐसे काजियों के आचरण की असलियत उखाड़ कर रख देते । इन काजियों की राजसत्ता में पहुँच व सहभागिता थी । उन्होंने खलीफा के कान भरे । कहा गया कि सन्त कुरान शरीफ की गलत-सलत व्याख्या कर उस पवित्र ग्रन्थ का अपमान कर रहे हैं ।

वयोवृद्ध सन्त को बन्दी बनाकर खलीफा के महल के सामने लाया गया । अन्यायी शासक के अमानवीय अत्याचारों की अनेक घटनाएँ सन्त ने सुन-जान रखी थीं । अत: उन क्रूरताओं का स्मरण कर उनके मन में उथल-पुथल-सी मच रही थी ।

तभी महल के द्वार पर पहरा दे रहा एक सिपाही सन्त के समीप पहुँचा और फुसफुसाकर कहने लगा— "हजरत, सच्ची बहादुरी दिखाइएगा । जुल्म से डरिएगा नहीं । मैं एक बार चोरी के जुर्म में पकड़ा गया । मुझे एक हजार कोड़ों की सजा दी गई । मैंने कोड़े सह

लिए, पर जुर्म कबूल नहीं किया और मुझे छोड़ दिया गया। मैंने झूठ के लिए इतनी हिम्मत दिखाई, तो फिर आप तो सच के लिए कष्ट सहेंगे। "डर कैसा ?"

वृद्ध सन्त को लगा, जैसे कोई दिव्य-ज्योति पथ-संकेत कर रही है। भावविह्वल हो उठे। वे बोले— "मेरे आत्मीय ! तूने सही समय पर मुझे जगाया है।"

खलीफा के दरबार में सन्त सत्य-पक्ष पर अडिग रहे। असत्य के अभ्यस्त लोग भला यह कैसे सहते ? हजार कोड़ों का दण्ड सन्त को दिया गया। हजरत इमाम अहमद का वृद्ध शरीर इतने बेंत सहने लायक नहीं था। पर उनका मन प्रसन्न-संतुष्ट था। क्रूर प्रहारों से शिथिल उनका शरीर धराशायी हो गया। मृत्यु से मिलने की बेला में भी हजरत को उस चोर-सिपाही की बातें याद रहीं और प्रफुल्ल चित्त से उन्होंने शरीर त्यागा।

धर्मगुरु और शासक हजरत उमर जिन्होंने जिम्मेदारी निभायी

इस्लाम धर्म के आरम्भिक दिनों में शासन-व्यवस्था के साथ-साथ सत्प्रवृत्तियों के सुसंचालन का दायित्व भी उनके कंधों पर रहता था, इसलिए खलीफा वे ही बनते थे, जो व्यक्तित्व की दृष्टि से इसके योग्य होते थे। फलस्वरूप इस काँटों के ताज को पहनने के लिए आपाधापी भी नहीं होती थी। त्रुटियों के भय से उस दायित्व से कतराते भी थे, पर उस आवश्यकता की पूर्ति किये बिना काम चलता भी नहीं था। इसलिए आत्मविश्वासी लोगों को इसके लिए आगे आना भी पड़ता था। वे सामान्य लोगों से अधिक कठिनाइयाँ उठाते थे सतर्कता बरतते थे, फिर भी उस कठिन दायित्व के निर्वाह की अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण ही होते रहते थे।

खलीफाओं की जीवन गाथाओं में ऐसे ही प्रेरणाप्रद संस्मरण बड़ी मात्रा में भरे हुए हैं। इन्हीं में से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है। यदि ऐसी विशेषताएँ उनमें न रही होतीं तो अपने प्रयास को इतना व्यापक, लोकप्रिय बनाने में ये कदाचित् ही सफल हो सके होते।

रसूल के न रहने पर विरोधियों की बन आयी थी। वे न केवल झूठे-सच्चे आरोप लगाने लगे, वरन् लुकछिपकर तथा आमने सामने आक्रमण भी करने लगे। साधारण लोग राज्य कर स्वेच्छापूर्वक चुकाने में भी आनाकानी करने लगे। ऐसी दशा में बहुमुखी मोर्चे को सँभालना असाधारण काम था, जिसे हजरत अबूबक्र ने बड़ी कुशलतापूर्वक निबाहा।

उन्होंने शासन सँभालते ही जनता को एकत्रित करके कहा— "लोगो ! मैं तुम पर शासन करने के लिए नियुक्त किया गया हूँ, लोगो ! मैं तुमसे अच्छा नहीं हूँ ? यदि मैं भलाई का काम करूँ तो मेरी सहायता करो और अगर बुराई की ओर बढ़ूँ, तो मुझे ठीक कर दो। जब तक मैं श्रेष्ठता के मार्ग पर चलूँ तो मेरा कहना मानना, जब इसके विपरीत करूँ तो मेरी आज्ञा पर चलना अनिवार्य नहीं है।"

शासकीय कर्मचारियों से उन्होंने कहा— "खुदा के बन्दों के साथ भलाई करो, भेद-भाव या पक्षपात से दूर रहो। अपने अधिकारों से निकट संबंधियों और मित्रों को साधारण लोगों की तुलना में अधिक लाभ न पहुँचाओ। अपने अधीनस्थ के दुःख-दर्द में सम्मिलित रहो। ऐसा न हो कि वे आपत्ति में हों और तुम मजे करो।"

हजरत अपने बचे हुए समय में निर्बलों की सेवा करने के लिए अवसर निकालने में उत्सुक रहते थे।

खलीफा बनने से पूर्व वे एक बूढ़ी औरत की बकरियाँ दुहा दिया करते थे। जब वे शासक के पद पर पहुँचे, तो बुढ़िया ने उलाहना देते हुए कहा— "अब तो खलीफा हो गये हो, हमारी बकरी दुहाने और दुहने क्यों आया करोगे ?" हजरत ने मुस्कराते हुए कहा— "नहीं अभी भी मैं तुम्हारी बकरियाँ दुहता रहूँगा।"

— वे खलाफत में व्यस्त रहते हुए भी अपने पुश्तैनी धन्धे कपड़ा बेचने के लिए समय निकाल लेते थे, ताकि निर्वाह के लिए जनता का पैसा खर्च न करना पड़े।

— कोई उन्हें आतिथ्य में शरबत पिलाता तो इन्कार करते और सादा पानी ही पीते। एक बार शाही भण्डार में जमा शहद में से एक गिलास शरबत बना कर दिया। वह भी उन्होंने यह कहकर लौटा दिया कि यह बीमारों और कमजोरों के लिए सुरक्षित रखा जाय।

— स्वर्गवास के समय उन्होंने अपनी सारी निजी सम्पत्ति राज्यकोष में जमा कर दी। वह मात्र मुट्ठी भर कीमत की थी। कफन के लिए उन्होंने नया कपड़ा इस्तेमाल करने से मना ही कर दिया और कहा— मुर्दे के लिए पुराने कपड़े का कफन काफी है। नया कपड़ा तो जीवित को चाहिए। वे अपने बड़प्पन का इजहार करने के साथ-साथ यह भी कहते कि "दुनिया में सामर्थ्यवानों और साधन वालों का उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ जाता है।" कयामत के दिन उनसे पूछताछ अधिक होती है और लम्बे एमालनामे की अच्छी खासी कुरेदबीन की जाती है।

हजरत सुलेमान के पास कुछ शिक्षार्थी विद्या ग्रहण करने आया करते थे। गुरु शिष्य मिलकर निर्वाह सम्बन्धी घरेलू कार्यों को पूरा किया करते थे। गुरु हमेशा यह प्रयत्न करते कि बच्चों को कम और उन्हें अधिक काम करने का अवसर मिले। वे पढ़ाते भी जाते और काम भी करते जाते। इस प्रकार बिना किसी नौकर की सहायता के मिल-जुल कर सारे काम निपट जाते। रोटी बनाने से लेकर पशु चराने तक।

सीरिया से एक अमीर कुछ सामान लेकर आ रहा था। बोझ भारी था। रास्ते में हजरत सुलेमान मोटे कपड़े पहने और सादे वेशभूषा में मिले। उसने मजूर समझकर गट्ठा ले चलने का हुक्म दिया। हजरत ने खुशी-खुशी उठा लिया और उसके घर तक पहुँचाया। जब भेद खुला कि यह तो यहाँ के शासक हजरत सुलेमान हैं तो घबराया और माफी माँगने लगा। हजरत यही कहते रहे— 'खिदमत का मौका देकर तुमने अहसान ही किया है। माफी किस बात की।'

हजरत उमर इब्न अब्दुल अजेजा ने मरते समय अपने बच्चों को बुलाया। उनके लिए न वे कुछ सम्पत्ति जमा कर सके थे और

न उन्हें योग्य बना सके थे। इसका कारण बताते हुए उन्होंने बच्चों को समझाया कि मेरे सामने दो ही रास्ते थे। एक तुम लोगों के लिए खुशहाली की सोचता। दूसरा यह कि दीन की सेवा का जो काम सिर पर आया उसे पूरा करता। दोनों में से एक ही काम हो सकता था सो मैंने दूसरा ही चुना। तुम मेरी स्थिति को समझना और खुद भी ऐसा ही करना।

सीरिया फतह करने के बाद वहाँ के शासक सईद बिन आमिद नियुक्त किये गये। समय निकाल कर बड़े अफसर को वहाँ के असहाय असमर्थों की सहायता करने भेजा गया। सूची बनी तो सबसे निर्धन वहाँ के शासक सईद का नाम आया। हजरत उमर ने जब उनकी इतनी गरीबी सुनी तो दीनारों की एक थैली भेजी ताकि वे गरीबी से छुटकारा पा सकें। पर उन्होंने वह पैसा लिया नहीं और धर्म युद्ध में लगे सैनिकों की जरूरतों के लिए भेज दिया। वे गरीबी में ही दिन काटते रहे।

हजरत सुलेमान जब मरने लगे तो उनकी आँखों से पानी बह रहा था। लोगों ने पूछा तो उन्होंने कहा— मैं रसूल के राहे कदम न चल सका। उन्होंने कहा था कि आदमी के पास इतना सामान होना चाहिए जितना एक मुसाफिर के पास होना चाहिए। पर मैं तो अपना सामान इतना बिखरा देख रहा हूँ। सारा सामान बेच कर वह धर्म-सभा में जमा किया गया। उसकी कीमत बीस दिरम उठी। उस वजन को हलका करके हजरत ने अपना मन हलका कर लिया।

शासक सईद के पास हजरत उमर की शिकायत पहुँची कि वे लोगों से मिलने के लिए कम वक्त निकालते हैं। जाँच करने पर मालूम हुआ। उनके पास एक ही कपड़ा था जिसे धोते और सुखाते। तब तक नंगे होने के कारण घर से बाहर न निकलते। दिन भर घर का काम करते। बीबी उतनी मेहनत करने की स्थिति में नहीं थी। रात को वे घण्टों नमाज पढ़ते। इतने पर भी जो समय मिलता उसमें लोगों से मिलते और उनकी सारी जरूरतें पूरी करते।

हजरत उमर को मदीने बुलाया गया। उनकी आर्थिक तंगी की रिपोर्ट मिल चुकी थी सो आवश्यक सामान ले जाने के लिए उनके सामने रखा गया।

उमर ने कहा— सात सैर जौ घर छोड़कर आया हूँ सो अनाज का संग्रह करके क्या करूँगा। हाँ बीबी को एक धोती में गुजर चलाते कठिनाई होती है, सो उसके लिए एक और ले लेता हूँ। सुल्तान ने हजरत उमर से कहा— ''यदि आप जैसे त्यागी और कर्मठ कुछ और मिल पाते तो मिल्लत का आसमान चूमने का मौका मिलता।''

हजरत उस्मान बहुत बड़े व्यापारी थे। मदीने में उन दिनों अकाल पड़ा हुआ था। अनाज के लाले पड़ रहे थे। हजरत उस्मान ने एक हजार ऊँट अनाज मदीने भेजा। यद्यपि व्यापारी उसे खरीद कर भारी लाभ उठाना चाहते थे। पर उन्होंने उन्हें बीच में नहीं पड़ने दिया और हर स्थिति के व्यक्ति को उसके कहे दाम पर अनाज दे दिया। फलतः यह अकाल का वर्ष बिना भुखमरी का सामना किये गुजर गया।

सूफी सन्त 'सरमद'

औरंगजेब जब मरने लगा तो उसने कई मुल्लाओं को बुलाया कि मुझे अपने तीन पाप बहुत भारी मालूम पड़ते हैं। आप लोग किसी तरह उन्हें खुदा से माफ करा दें। तीन पाप थे (१) पिता को जेल में बन्द करा देना। (२) दारा वगैरह भाइयों को कत्ल करा देना तथा (३) सूफी फकीर सरमद का सिर उतरवा लेना। गुनाह माफ हुए या नहीं यह तो ईश्वर ही जाने पर यह स्पष्ट है कि मरते समय उसे इन पापों का रंज अवश्य था।

सरमद सूफी सन्त थे। मध्य ऐशिया से भारत व्यापार के लिए आये थे। पहले वे सिन्ध में तिजारत करते रहे, साथ ही सूफी पन्थ का प्रचार भी। जन्मतः वे यहूदी थे। बाद में मुसलमान हुए और अन्त में वेदान्त धर्म के अनुयायी हो गये। दारा उनकी विद्वता और भक्ति से बहुत प्रभावित थे। औरंगजेब ने जब दारा को कत्ल करा दिया तो उसे यह भय बराबर बना रहा कि दारा के मित्र और जनता में अत्यन्त लोकप्रिय सरमद कहीं उसके लिए कोई संकट खड़ा न करें। वे उसकी आँखों में काँटे की तरह खटकने लगे।

एक दिन औरंगजेब सरमद के पास से गुजरे। देखा कि वे नंग-धड़ंग पड़े हैं। कम्बल दूर पड़ा है। औरंगजेब ने कड़ककर कहा— नंगा क्यों पड़ा है, पास में पड़े कम्बल से बदन क्यों नहीं ढक लेता, सरमद ने कहा— इतनी कृपा आप ही कर दें। मुझे तो बन नहीं पड़ता। औरंगजेब ने कम्बल उठाया तो उसके नीचे उन सबके सिर थे जिन्हें उसने कत्ल कराया। औरंगजेब के बूते कम्बल न उठा। तो सरमद ने कहा— तू ही बता— तेरे पापों को ढकना ज्यादा जरूरी है या अपने बदन को ढकना।

सरमद का दिल्ली की जनता पर असाधारण प्रभाव औरंगजेब से देखा न गया। उसके इशारे पर मुल्लाओं ने इल्जाम लगाया कि वह अधूरा कलमा पढ़ता है। अदालत में पेश किया गया तो वहाँ भी उसने वह अधूरा ही सुनाया 'ला इला इललिलाह' जिसका अर्थ होता है। सभी दोषी हैं। शेष अंश जो रह गया था। वह था। मुहम्मद 'रसूलिल्लाह'। सरमद का कहना था कि मैंने अभी उस देवदूत का दर्शन नहीं किया। जिन्हें देखता हूँ, दोषी पाता हूँ। इस कथन पर मुल्लाओं की अदालत में सरमद को दोषी पाया गया और उसका सिर उतार लेने का हुक्म हुआ। सरमद का सिर काट लिया गया। जब सिर कटा तो उसमें से तीन बार आवाज निकली— 'ला इलाह इल्लिलाह'। सरमद के सच्चे विश्वास की इस गवाही को देख कर सभी दंग रह गये।

जिस दिन सरमद का सिर कटा उस दिन पूरी दिल्ली में रंज मनाया गया। न किसी के घर में चिराग जला न चूल्हा। बादशाह के सामने कोई कुछ कह ही नहीं सकता था, पर इतना सभी ने अनुभव किया कि एक बेगुनाह सच्चे फकीर का कत्ल हुआ।

औरंगजेब के मन पर उस अन्याय का बोझ जिन्दगी भर लदा रहा और जब वह मरा तब भी उसे वह गुनाह बेतरह अखरता रहा।

सूफी सन्त अपनी भक्ति भावना के लिए भारत भर में लोकप्रिय रहे । अजमेर के ख्वाजा भी सूफी थे । जिनकी दरगाह पूजने हिन्दू, मुसलमान सभी जाते हैं । सूफी धर्म के सिद्धान्त, हिन्दुओं के वेदान्त दर्शन से पूरी तरह तालमेल खाते हैं । सरमद की कब्र दिल्ली में है जिन्हें उनका इतिहास स्मरण है उन सब के सिर उस स्थान के समीप जाकर झुक जाते है ।

प्रेम और सेवा का अवतार— महात्मा फरशाद

बहराम बिन फरशाद फारस देश के एक बड़े सन्त हुए हैं । उन्होंने प्रेम और सेवा के रूप में भगवान् की प्राप्ति की थी । वे कहा करते थे कि मनुष्य को हर साँस पर भगवान् का नाम लेना चाहिए । आई हुई एक श्वास ही अपनी होती है । आने वाली दूसरी साँस का कोई भरोसा नहीं । वह आ भी सकती है और नहीं भी । इसलिये अपनी किसी साँस को भगवान् के नाम के बिना बेकार नहीं जाने देना चाहिए ।

महात्मा बहराम बिन फरशाद भगवान् का नाम लेते-लेते इतने भाव-विभोर हो जाते थे कि रोने लगते थे । उनके लिये प्रसिद्ध था कि उनके सामने कैसा ही क्रूर और कुटिल आदमी क्यों न जाये वह भी उनकी प्रेम भावना से प्रभावित होकर सज्जन बन जाता था । महात्मा बहराम बिन फरशाद सब में भगवान् की ज्योति देखते थे और हर आने वाले को खुद ही पहले उठकर प्रणाम किया करते थे ।

एक बार एक बड़ा ही दुष्ट आदमी उनकी प्रेम-परीक्षा लेने गया । महात्मा बहराम बिन फरशाद उस समय भगवान् का भजन कर रहे थे । उस आदमी को आया देखकर विह्वल होकर दौड़ पड़े और आलिंगन करते हुए बोले— "मेरे भगवान् तुम आ गये । आइये और मेरे पास बैठकर मुझे कृतार्थ करिये ।" कहने के साथ उन्होंने प्रेमाश्रुओं से उस आगन्तुक के कपड़े भिगो दिये । आगन्तुक अवाक् रहकर उन्हें देखता रहा । फिर उनके पैरों पर गिरकर रो उठा और बोला— महात्मन ! मुझे क्षमा करें । मैंने आपको गलत समझा । आप सक्षात् प्रेम के अवतार है । बाद में वह दुष्ट व्यक्ति उनका शिष्य बनकर बड़ा भारी सन्त बना ।

एक बार महात्मा बहराम बिन फरशाद कहीं जा रहे थे । उन्होंने देखा कि एक सिपाही एक आदमी को बुरी तरह मार रहा है । वे उसके पास पहुँचे और पूछा— "भाई आप इस आदमी को क्यों मार रहे हो । इसने क्या अपराध किया है ।

सिपाही बोला— इसका भाई मेरे पास नौकर था । मैंने उसे पेशगी रुपये दे रखे थे । मगर वह भाग गया । अब मैं इससे रुपये माँगता हूँ तो यह नहीं देता । इसलिये इसे पीट-पीट कर रुपये वसूल करने की कोशिश कर रहा हूँ । यह बेईमान सीधी तरह मेरे रुपये थोड़े ही देगा ।"

महात्मा बहराम बिन फरशाद ने कहा— भाई तुम्हारे रुपये तो इसका भाई लेकर भाग गया है और तुम मार इसे रहे हो । इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि कोई आदमी अपराध करके भाग जाय और न मिले तो उसका दण्ड उसके किसी सम्बन्धी को दिया जा सकता है । यदि आपके भाई की गलती के लिये कोई आपको दण्ड देने लगे तो क्या उसे आप उचित कहेंगे । मेरा ख्याल है, शायद नहीं । इसी तरह इस बात को समझ लो । आप अन्याय तो खुद कर रहे हैं और बेईमान इस बेचारे को बतला रहे हैं । यह तो ठीक नहीं ।

वह सिपाही बड़ा अहंकारी था । बात का महत्त्व समझने के बजाय महात्मा बहराम बिन फरशाद पर सीधा हो गया । अपनी मुसीबत किसी भले आदमी के सिर पर जाते देखकर वह आदमी बोल उठा— "मैं अपने भाई को बुलवा दूँगा "। सिपाही उसकी तरफ घूमा और बोला, "तब तक मेरा काम कौन करेगा ?"

महात्मा बहराम बिन फरशाद ने तुरन्त उत्तर दिया— "तब तक आपका काम मैं करूँगा" । सिपाही तैयार हो गया और उन्हें अपने घर लेकर चला गया ।

महात्मा बहराम बिन फरशाद बड़े प्रेम और लगन से सिपाही के घर का सब काम करने लगे । वे झाड़ू, बुहारी लगाने, पानी भरने, आटा पीसने और बरतन साफ करने से लेकर सबको नहलाने-धुलाने तक का काम करते थे । जो कुछ खाने-पीने को मिल जाता था खा पी लेते थे, भजन का समय मिल जाता था कर लेते थे नहीं तो उसी सेवा को भगवान् का भजन समझ लेते थे । इस प्रकार कई दिन गुजर गये ।

महात्मा बहराम बिन फरशाद के शिष्यों को बड़ी चिन्ता हुई कि गुरु जी कई दिन से कहाँ चले गये वे ? ढूँढ़ते-खोजते और पता लगाते उस सिपाही के घर पहुँच गये । उस समय वे बाहर कुँए पर सिपाही को नहला रहे थे । उनको देखते ही सब शिष्य गुरुदेव ! "आप यहाँ यह क्या कर रहे हैं" कह कर पैरों पर गिर पड़े । सिपाही यह दृश्य देखकर बड़े सकते में पड़ गया और शिष्यों से उनका परिचय पूछा । जब उसे पता चला कि यह तो महात्मा बहराम बिन फरशाद हैं, तो वह घबरा उठा ओर पैरों पर गिर कर माफी माँगने लगा । महात्मा बहराम बिन फरशाद ने शिष्यों से कहा कि तुम लोग चलो । मैं इनकी सेवा की अवधि पूरी करके आऊँगा । सिपाही बोला— भगवन् अब मैं आप से सेवा लेने का पाप आगे नहीं कर सकता । महात्मा बहराम बिन फरशाद ने कहा— इससे क्या हर्ज है— सेवा करना तो हमारा धर्म है । सिपाही गिड़गिड़ाने लगा— भगवन् जो दण्ड चाहें दे लें लेकिन अब मुझे क्षमा कर दें । बहुत कहने पर महात्मा बहराम बिन फरशाद ने उससे कहा— कि अगर तुम जीवन में किसी को मारने, सताने अथवा अन्याय न करने की प्रतिज्ञा करो तो मैं अपना सेवा-व्रत अवधि से पूर्व तोड़ सकता हूँ । सिपाही ने ईश्वर को साक्षी कर तीन बार कसम खाई और तब महात्मा बहराम बिन फरशाद उसे आशीर्वाद देकर चले गये ।

धर्म-सहिष्णु सुल्तान— जैनुल आब्दीन

महाकट्टर सुल्तान सिकन्दर से परम उदार धर्म-सहिष्णु सुल्तान जैनुल आब्दीन का जन्म होना कैसा विचित्र संयोग है । काश्मीर के

हिन्दू राजाओं में जो स्थान ललितादित्य मुक्तापीड का है, वही मुस्लिम शासकों में जैनुल आब्दीन का है। काश्मीर की जनता आज भी इस महान् सुलतान को 'बड़े शाह' के नाम से याद करती है। सुल्तान जैनुल आब्दीन ने सन् १४२० से १४७० तक ५० वर्ष राज्य किया। इसके शासनकाल में काश्मीर अपने गौरव तथा उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँच गया था। सभी इतिहासकारों ने एक मत से उसे महान् उदार शासक बतलाया है।

सिंहासन पर बैठते ही उसने सबसे पहला काम अपने पिता सिकन्दर द्वारा चलाए कठमुल्लावाद का अन्त किया। उसने संगीत, नृत्य आदि पर से रोक हटाली। सुल्तान स्वयं संगीत का बड़ा प्रशंसक था और उसकी सभा में अनेक महान् संगीतकार थे।

सुल्तान ने कलाकौशल और शिक्षा के विकास में बहुत ध्यान दिया। काश्मीरी शालों के लिए सैकड़ों कारीगर रात दिन एक से एक सुन्दर डिजाइन और कलात्मक सज्जा की ओर ध्यान देते थे। कितने ही चित्रकार, मूर्तिकार और कलाकार उसके द्वारा पुरस्कृत हुए। उसने शिक्षा के लिए अनेक मदरसे व विद्यालय स्थापित किए। उसने दूर-दूर से मुल्ला, मौलवी, पण्डित तथा आचार्यों को बुलाया और उन्हें जागीर देकर अपने राज्य में बसाया। वह संस्कृत की पाठशालाओं के लिए खुले हाथ दान देता था।

सुल्तान स्वयं फारसी, संस्कृत, तिब्बती और काश्मीरी इन चार भाषाओं का पण्डित था। उसे नए-नए ग्रन्थ खरीदने और संग्रह करने का बड़ा शौक था। इस शौक को पूरा करने के लिए उसने एक विशाल पुस्तकालय भी बनवाया। उसने दूर-दूर देशों से हजारों ग्रन्थ मंगवाये और खुले हाथ से उनका मूल्य चुकाया, जिन्होंने ग्रन्थ बेचने से इन्कार किया उस ग्रन्थ की फौरन साफ सुन्दर अक्षरों में नकल करवाई। मिस्र और बंगाल तक उसके आदमी पुस्तकों की खोज में घूमते रहे, संस्कृत और फारसी का ऐसा कोई ग्रन्थ न था, जो सुल्तान के पुस्तकालय में न हो।

हजारों ग्रन्थ एकत्रित हो जाने के बाद सुल्तान ने सोचा कि संस्कृत और फारसी दोनों ही भाषायें साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं अतः क्यों न इनके चुने हुए काव्यों व अन्य ग्रन्थों का एक से दूसरी भाषा में अनुवाद कर दिया जाएँ जिससे फारसी के जानकार संस्कृत का और संस्कृत के जानकार फारसी साहित्य का पूरा-पूरा आनन्द उठा सकें। इस प्रकार के दोनों साहित्यों की महान् सेवा भी हो जाएगी।

ऐसा विचार कर सुल्तान ने एक अनुवाद विभाग खोला और उसने काश्मीर के दिग्गज विद्वानों को इस कार्य में लगाया संस्कृत का ऐसा कोई काव्य-नाटक नहीं था, जिसका फारसी में अनुवाद न हुआ हो। यही बात फारसी के सम्बन्ध में भी थी। उसकी सभा में विद्वानों की कमी न थी। योगभट्ट नामक एक विद्वान् को फिरदौसी का पूरा 'शाहनामा' ही कण्ठस्थ था। उसने संस्कृत में इसका सुललित अनुवाद किया। पण्डित श्रीवर कवि ने जामीकृत 'यूसफो जुलेखाँ' का 'कथा कौतुकम्' नाम से अनुवाद किया। इसी तरह मुल्ला अहमद ने, जो फारसी और संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान् था, महाभारत एवं राजतरंगिणी जैसे विशालकाय ग्रन्थों का फारसी में सुन्दर अनुवाद किया।

सुल्तान जैनुल आब्दीन की उल्लेखनीय विशेषता अपनी हिन्दू प्रजा के साथ उदार व्यवहार करना था। उसने उन सभी हिन्दुओं को आदरपूर्वक काश्मीर बुलवा लिया, जो सिकन्दर की कट्टरता से दुःखी होकर जम्मू और पंजाब की ओर भाग गये थे। हिन्दुओं को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई। उनके तीज-त्यौहार एवं पर्वों पर लगी हुई सभी रोक पूरी तरह समाप्त कर दी। उसने सिकन्दर द्वारा तुड़वाए मन्दिरों को फिर से बनवाने और नई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने की आज्ञा दे दी। सुल्तान ने बहुत-से मन्दिर स्वयं अपने खर्च से बनवाए। उनमें मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय होने वाले यज्ञ व उत्सव में वह बड़े उत्साह से अपने सभासदों के साथ शामिल होता था।

उसके पिता के शासन-काल में जिन लाखों हिन्दुओं को धर्म-बदलने के लिए बाध्य किया गया था, उन्हें उसने बड़ी उदारता से आज्ञा दे दी कि यदि वे चाहें तो फिर अपने धर्म में वापस जा सकते हैं। सुलतान की इस देवोपरम उदारता से बहुत से लोग फिर अपने पुराने धर्म व जाति में आ गए। हिन्दुओं का दिल जीतने के लिए वह दरबारियों के साथ उनके उत्सवों में सम्मिलित होता था, झेलम नदी के जन्मोत्सव के अवसर पर वह नदी के दोनों ओर होने वाली दीपमाला को देखने के लिए सारी रात नदी में ही नाव पर बिता देता था। जगह-जगह होने वाले संगीत-समारोह, नृत्य आदि देखता और दूसरे दिन आयोजित पुष्प-प्रदर्शनी में भाग लेता एवं सबको दान, मान और पुरस्कारों से सन्तुष्ट करता था।

सुल्तान जैनुल आब्दीन जाति और धर्म की संकीर्णता से बहुत ऊपर उठा हुआ था। योग्य व्यक्ति ही उसके शासन में ऊँचे पद पर आते थे। जाति और धर्म का उसमें कोई भेदभाव नहीं होता था। यही कारण था कि उसके समय में हिन्दू बहुत ऊँचे और विश्वस्त पदों पर आसीन थे। कर्पूर भट्ट और शिव भट्ट नामक दो आयुर्वेदाचार्य ब्राह्मण सुल्तान के व्यक्तिगत चिकित्सक थे। तिलकाचार्य नामक एक बौद्ध विद्वान् ब्राह्मण सुल्तान के उच्च-न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश था। सिंह भट्ट और रुप्पय भट्ट उसकी सभा में महान् ज्योतिषी थे।

सुल्तान बहुत न्यायप्रिय था। वह जब-तब राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करता रहता था और खलीफा हारूँ रशीद, विक्रम एवं भोज आदि की तरह वेश बदल कर रात को घूमा करता ताकि प्रजा के सुख-दुःख का पूरा-पूरा पता लगा सके। यदि उसे कोई सरकारी अधिकारी रिश्वत लेता हुआ या अत्याचार करता हुआ मिल जाता तो वह उसे सख्त सजा देता था। उसने मौर्य सम्राट अशोक की तरह अपने राज्य के नियम बड़े-बड़े शिलालेखों में खुदवा दिए थे। गाँव-गाँव में ताम्रपत्रों पर उसकी विभिन्न आज्ञायें खुदी रहती थीं। आज भी श्रीनगर के पुरातन संग्रहालय में उसके बहुत-से ताम्रपत्र एवं शिला-लेख देखे जा सकते हैं।

सुल्तान ने काश्मीर की आर्थिक स्थिति सुधारने का बहुत यत्न किया। उसने खेती की दशा सुधारने के लिए अनेक नहरें बनवाईं।

श्रीनगर की भार नहर पर सात पुल बनवाये, जिससे आवागमन और व्यापार में बहुत सुविधा हो गई।

कला की उन्नति के लिए उसने अपने आदमी प्रशिक्षण के लिए दूर-दूर देशों में भेजे ताकि वहाँ से नई-नई चीजें नए-नए इल्म व हुनर सीख कर आयें। उसने यह नियम बना दिया था कि कोई भी विदेशी काश्मीर को जब तक नहीं छोड़ सकता जब तक कि अपनी कला लोगों को सिखा न जाए। इन कारणों से काश्मीर में कलाकौशल की अभूतपूर्व उन्नति हुई। शालों की कढ़ाई-बुनाई में तो सदियों बाद आज भी कोई काश्मीर के सामने टिक नहीं सकता। इसी प्रकार लकड़ी का काम, कागज बनाना, आतिशबाजी, रेशम आदि के निर्माण में भी यह प्रदेश बहुत बढ़ा-चढ़ा था और ये चीजें दूसरे देशों को भी पर्याप्त मात्रा में भेजी जाती थीं।

सुल्तान बहुत न्यायप्रिय था। न्याय करते समय वह धनी-निर्धन, ऊँच-नीच और अपने पराये का भेदभाव पास फटकने भी नहीं देता था। चाहे किसी ने अपराध किया हो, उसे उचित दण्ड भोगना ही पड़ता था। एक बार उसके एक विश्वस्त साथी मीरशाह ने क्रोध में आकर अपनी पत्नी की हत्या कर दी। सुल्तान ने इसके फलस्वरूप उसको मृत्युदण्ड दिया था।

सुल्तान अत्यन्त दयालु था। उसने चोर, डाकुओं को मिलने वाला मृत्युदण्ड समाप्त करके उन्हें उपयोगी कामों में लगाया। उन पर कोड़े नहीं बरसाए जाते थे, सिर्फ जंजीर से बाँधकर रखा जाता था और खेती, खान आदि में उनसे काम लिया जाता था। उसने यह नियम भी बना दिया था कि किसी गाँव या नगर में यदि चोरी, डकैती होगी तो उसके मुखिया को वह सारी रकम भरनी पड़ेगी। इस नियम के कारण सभी मुखिया बहुत चौकन्ने रहने लगे और काश्मीर राज्य से चोरों का अस्तित्व ही मिट गया।

सुल्तान के सम्बन्ध अन्य देशों से बहुत ही मैत्रीपूर्ण थे और उनमें समय-समय पर बहुमूल्य भेंटों का आदान-प्रदान हुआ करता था। एक बार तैमूरलंग के विद्वान् पुत्र समरकन्द के शासक शाहरुख ने सुल्तान के लिए बहुत से हाथी, हीरे, जवाहरात भेंट भेजे। सुल्तान ने धन्यवाद सहित उन्हें वापस करते हुए एक पत्र लिख भेजा— "यदि आप इनके स्थान पर मेरे लिए कुछ विद्वान् तथा अरबी, फारसी और संस्कृत के ग्रन्थ भेज सकें तो मुझे बड़ी खुशी होगी।" इससे यह ज्ञात होता है कि सुल्तान की नजर में हीरे-जवाहरात से भी ज्यादा कीमत एक विद्वान् की थी।

सुल्तान प्रजा-पालन की ओर भी खूब ध्यान देता था, वह प्रजा के सुख और हित के लिए सर्वस्व त्यागने को तैयार हो जाता। सन् १४६० में काश्मीर घाटी में भयंकर हिमपात हुआ, जिससे धान की फसल को बहुत हानि पहुँची। भूख के कारण लोग जड़ें और पत्तियाँ तक खाने को मजबूर हो गए। हजारों व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मरने लगे। लोगों ने अपनी जमीन, मकान, गहने आदि गिरवी रखकर अन्न खरीदा। यह संकट देखकर सुल्तान ने सरकारी गोदामों के द्वार खोल दिए। सभी को मुफ्त अन्न बाँटा जाने लगा जब अकाल दूर हो गया तो सुल्तान ने विशेष आज्ञा निकाली कि कोई भी व्यापारी अन्न की कीमत के रूप में गिरवी रखी हुई— किसी भी चल या अचल सम्पत्ति पर अधिकार न करे। अन्न की सारी कीमत सरकारी खजाने से चुकाई जायेगी। इस तरह उस दयालु और उदार सुल्तान ने अपनी सारी प्रजा का ऋण खुद ही चुकाया।

सुल्तान जैनुल आब्दीन की ६९ साल की अवस्था में १२ मई, १४७० शुक्रवार को मृत्यु हुई। उस दिन राज्य में किसी के घर चूल्हा नहीं जला। सारी प्रजा अपने पितृतुल्य सुल्तान के लिए रो रही थी। सुल्तान की इच्छानुसार कब्र के पत्थर पर क्रमशः पाली, संस्कृत और फारसी भाषाओं में नाम व लेख खोदे गये। सुल्तान की कब्र पर तीन प्रमुख धर्मों की तीन भाषाओं में खुदे हुए वे अक्षर आज भी उस धर्म-सहिष्णु सुल्तान की अमर-गाथा गा रहे हैं।

आज भी काश्मीर में जाकर आप किसी वृद्ध काश्मीरी सज्जन से सुल्तान जैनुल आब्दीन की चर्चा करें तो वह आपको भावविभोर होकर बड़े प्रेम से अपने 'बड़े शाह' से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ सुनाएगा। उन पर भले ही आपका पूरा-पूरा विश्वास न हो पर उन शब्दों के पीछे छिपी उन भोले लोगों की इच्छा से आप प्रभावित हुए बिना न रहेंगे। पाटलिपुत्र में जो स्थान सम्राट अशोक का और उज्जयिनी में विक्रमादित्य का है वही स्थान श्रीनगर में सुल्तान जैनुल आब्दीन का है।

इब्ने सिना—ज्ञान ही जिनका अराध्य देवता था

सन् १००० के आस-पास की बात है। बुखारा में उस समय सुल्तान अब्न मंसूर का राज्य था। भोग-विलास और ऐशो-आराम के जीवन ने उनके स्वास्थ्य को बड़ी बुरी तरह झकझोर कर रख दिया। सुल्तान एक भयंकर रोग का शिकार हो गया और अब तब की स्थिति आ गयी। चारों ओर नजरें दौड़ाई गयीं। चिकित्सक बुलाये गये परन्तु कोई भी औषधि काम करती नहीं दिखायी दे रही। निश्चित लगता था यह कि सुल्तान बच नहीं सकेगा। मुल्ला और मौलवी अन्तिम समय में अदा किये जाने वाले रस्म-रिवाजों की व्यवस्था तैयारी कर रहे थे।

तभी राजमहल के सिंहपौर पर सत्रह-अठारह वर्ष का कोई किशोर आकर चौकीदार से कहने लगा— जरा सम्राट तक यह समाचार पहुँचा देना कि मैं उनकी चिकित्सा करना चाहता हूँ। ठीक होना तो मालिक के हाथ में है फिर भी मैं अपना प्रयोग तो कर देखूँ। मुझे पूरा यकीन है कि सुल्तान ठीक हो जायेंगे।' सत्रह-अठारह वर्ष का यह किशोर! सुल्तान के रोग का उपचार कर सकेगा। मुश्किल है यह बात। अस्सी अस्सी वर्ष के अनुभवी और वृद्ध हकीम जब सुल्तान की बीमारी ठीक नहीं कर सके तो यह कल का छोकरा ऐसी निश्चित बात कैसे कह रहा है। जरूर इसका दिमाग फिर गया है और चौकीदार ने डाँटते हुए कहा— 'चल-चल! क्यों अपनी जान का दुश्मन बना हुआ है।

यह समझ ले अच्छी तरह कि यदि सुल्तान को कुछ हो गया तो तेरी गर्दन अलग करवा दी जायेगी ।'

कुछ होना न होना तो ऊपर वाले के हाथ में है भाई उस युवक ने कहा— मैं तो यकीन भर दिला सकता हूँ कि मेरी दवाई व्यर्थ नहीं जायेगी ।

''कभी किसी का इलाज भी किया है । जो यकीन होने लगा तुझे और हमें क्या बेवकूफ समझ रखा है कि हम इतनी आसानी से तुझ जैसे गैर-तजुर्बेकार को सुल्तान तक पहुँचने देंगे ''— अर्दली लोग अपनी बात पर अड़े हुए से मालूम देते थे । और आगंतुक किशोर इन लोगों की कमजोरियों को अच्छी तरह जानता था । उसने जेब में हाथ डाला और एक सिक्का निकाल कर देते हुए कहने लगा— कौन जाने मेरे दोस्त ! मेरा इलाज सुल्तान को एकदम ठीक कर दे । तुम लोग अपनी जिद भी क्यों अड़े हुए हो जाओ और जरा पूछ कर तो आओ ।'

सिक्के ने सचमुच जादू का-सा काम किया । एक अर्दली दौड़ता हुआ अन्दर गया और कुछ ही मिनटों बाद वापस लौटा तो उसकी मुखमुद्रा पर स्वीकृति की सूचना झाँक रही थी । अर्दली ने आकर भी वही कहा— ऐ भाई तुम अन्दर जा सकते हो ।

और राजमहल के अन्तर्कक्ष में जाकर युवक ने सुल्तान की रोग परीक्षा की । उसका उपचार आरम्भ किया । औषधियों से अधिक युवक के प्रेम प्रदर्शन ने काम किया । वस्तुत: अपने चारों ओर चापलूस, खुशामदखोर स्वार्थी लोगों का जमघट लगा रहने के कारण सुल्तान सच्चे और श्रद्धा के अभाव में जीवन के प्रति अश्रद्धालु, निराश और हताश हो चुका था । जीवन की आशा ज्योति ही जब बुझ गयी हो तो कोई सार्थकता नहीं रह जाती है जीने में और वह जीवन मृत्यु की एक शामिल प्रतीक्षा ही बन कर रह जाता है ।

सुल्तान का जीवन भी मृत्यु की प्रतीक्षा ही बन कर रह गया था । लेकिन जब उसे नये वैद्य किशोर को औषधियों के साथ क्रमश: प्रेम, स्नेह, आशा और उत्साह मिलने लगा जो सूखी पड़ी जीवन की बेल पुन: हरी-भरी होने लगी । कुछ ही दिनों में सुल्तान का स्वास्थ्य लौटने लगा और रोग विदा आने की स्थिति में आ गया । लौटते हुए सुल्तान के स्वास्थ्य ने महलवासियों की दृष्टि में युवक का मूल्य और महत्त्व बढ़ा दिया । एक दिन जब सुल्तान आराम से सो कर उठा था । अपने पास उसी युवक को बैठा पाया । रात अपने पूरे उभार पर थी और ऐसे समय में परिचारक का जागते हुए मिलना वस्तुत: एक सुखद आश्चर्य ही था । कृतज्ञता से भर उठा सुल्तान और उसने पहला प्रश्न किया— 'आप कौन हैं ?'

'मैं आपका अदना-सा सेवक हूं ।''

सुल्तान का तात्पर्य कुछ और ही था । वह अभी तक अपने वैद्य का परिचय भी नहीं जान पाया था और युवक का उत्तर उसका अपना परिचय नहीं था । इसलिए और अधिक स्पष्टता से सुल्तान ने पूछा— मेरा मतलब है आपका परिचय प्राप्त करना । मैं आपको अभी तक नहीं जान पाया है कि आप किनके साहबजादे हैं ।''

'मैं अब्द अल्लाह का बेटा हूँ और मेरा नाम है अबुआनी इब्ने सिना ।'

'अच्छा अच्छा'— सुल्तान ने अपनी स्मृति पर जोर डालते हुए कहा— वही इब्ने सिना । जिन्होंने कम उम्र में ही गणित, दर्शन और हकीमी में काबिलियत कर ली है ।'

इब्ने सिना की आँखें अपनी प्रशंसा होते देख शर्म से झुक गयीं । सुल्तान और अधिक कृतज्ञता दर्शाते हुए कहने लगा— ''अब आप भी मुझे उपकार का थोड़ा प्रतिदान करने का मौका दें । सुबह तक आप भली-भाँति विचार करलें और अपनी मनपसंद वस्तु का नाम मुझसे कह दें । वह चाहे जो भी हो मैं उसे अवश्य दे दूँगा । आपने मुझे मेरी दुनिया की अनमोल चीज दी है— जीवन ।''

'नहीं ! नहीं !! इब्ने सिना ने कहा— मैंने प्रत्युपकार के लिए यह सब नहीं किया था । आपके हाथों हमारे देश का भविष्य है इसलिए आपके स्वास्थ्य की चिन्ता करना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा और उसका ही पालन किया'।

'मैं आपकी भावना को समझता हूँ'— सुल्तान बोला ''मैं जानता हूँ कि आपने यह कार्य प्रत्युपकार के लिए नहीं किया था । फिर भी आपकी सेवा का जो गहन भार मेरे ऊपर है उसे थोड़ा हलका करने के लिए ही यह है ।''

'ठीक है'— सुल्तान की भावनाओं का ख्याल रख कर इब्ने सिना ने कहा । अन्यथा व्यक्तिगत रूप से उन्हें अपने लिए कुछ प्राप्त करने की तनिक भी आकांक्षा नहीं थी । सुबह सुल्तान ने दरबार में आने की घोषणा करवा दी । अब इस योग्य हो गया था कि धीरे धीरे सामान्य दिनचर्या बना सके और उस रोज दरबार में सम्राट को स्वास्थ्य लाभ के लिए बधाइयाँ देने वालों का ताँता-सा लग गया । सामान्य कर्मचारी से लेकर जन-प्रतिनिधि और उच्च अधिकारियों तक ने सम्राट के लिए प्रभु से दुआ माँगी । दरबार से सम्राट के समीप ही इब्ने सिना को बिठाया गया । सभा की कार्यवाही इस नन्हें से कुशल चिकित्सक को पुरस्कृत करने की घोषणा से आरम्भ हुई ।

सभी सभासद् यह भली-भाँति जानते थे कि सुल्तान पर इब्ने सिना का महती उपकार है और उसके लिए इब्ने सिना पुरस्कार में जो भी माँग रखेगा वह मिल जायेगा । पूरी रात सोच-सोच कर इब्ने सिना ने अपना मन-पसन्द पुरस्कार चुन लिया था जब वे खड़े हुए यह कहने के लिए कि मैं यह पुरस्कार लूँगा तो लोगों के मुँह पर कौतूहल के भाव थे ।

इब्ने सिना ने सम्राट के अभिमुख होकर कहा— महाराज आप मुझे पुरस्कृत करना ही चाहते हैं तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ जो मुझे आश्वासन है कि मेरी मन-पसंद वस्तु मिल जायेगी । सभासदों का कौतूहल यह सुनकर और बढ़ गया । सचमुच इब्ने सिना सम्राट् की सर्वाधिक प्रिय वस्तु ही माँगेगा । वह राज्य और जागीर से लेकर सुन्दर महल और खूबसूरत स्त्री बेगम या बेटी भी हो सकती है । लोगों की आतुरता बेहद बढ़ गयी ।

और इब्ने सिना ने कहा— मैंने सुना है कि आपके पास एक बहुत अच्छा और समृद्ध पुस्तकालय है । अगर आप मुझसे खुश हैं तो मुझे इस पुस्तकालय में अध्ययन करने की अनुमति दें ?

लोग सुनकर बड़ी हैरत में पड़ गये । इब्ने सिना को मिले हुये हुए अवसर का लाभ उठाना नहीं आया । वह मूर्ख हो गया है । उस समय दरबार में उपहासास्पद अट्टहासों का सम्मिलित शोर गूँज उठा । सब अपनी समझ में बुद्धिमान थे । जिन्हें इब्ने सिना जैसे मूर्ख पर हँसने का जन्म-जात अधिकार था । लेकिन सुल्तान की दृष्टि में इब्ने सिना का मूल्य और भी अधिक बढ़ गया था । क्योंकि उन्होंने बड़े प्रयत्नपूर्वक सँजोये और एकत्रित किये गये ज्ञान के प्रकाश स्रोतों के पाठ का महानतम् बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया था ।

अपने वायदे के अनुसार ज्ञान और विद्या के उस श्रेष्ठतम मंदिर से मंसूर ने इब्ने सिना को भगवती सरस्वती की आराधना का अवसर दिया और इब्ने सिना अहर्निश उसी पुस्तकालय में बैठे रहकर संसार के सर्वश्रेष्ठ विद्या ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे । उन दिनों जबकि इब्ने सिना निष्ठापूर्वक ज्ञान साधना में लगे हुए थे— स्मरण करते हुए उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है— ''मैं रात को बिल्कुल सो नहीं पाता था । मैं सदा पुस्तकों की ओर ही केन्द्रित रहता । जब कभी ऐसी गुत्थियाँ आ जातीं जिन्हें मैं समझ नहीं पाता तो मेरी परेशानियाँ बढ़ जातीं और मैं मस्जिद में जाकर अल्लाह से प्रार्थना करता कि गुत्थी को सुलझाने की शक्ति दे मुझे । रात को देर तक चिराग जला कर पढ़ता रहता और जब मेरी आँखों को नींद थका देती तो सो जाया करता । यह क्रम अनवरत चलता रहा । मुझे कभी अपने ज्ञान पर संतोष नहीं हुआ ।''

यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि जीवन में उपलब्धियों के सभी क्षेत्रों में संतोष को सुख और प्रगति का अन्तिम मार्ग समझा जाता है परन्तु ज्ञान-साधना में तो असंतोष है विकास का मार्ग । उसके बिना कोई भी ज्ञान पिपासु इंच भर भी आगे नहीं बढ़ पाया । इब्ने सिना को आजीवन अपने से असंतोष ही रहा । परिणामस्वरूप वे वृद्धावस्था में भी पुस्तकों के लिए यत्र-तत्र भटकते रहे और खुशामद करते रहे उन लोगों की, जिनके पास उनकी मनचाही पुस्तक मिली ।

आजीवन अतृप्त रहने वाली यह ज्ञान पिपासा उन्हें अपने परिवार से विरासत के रूप में मिली थी । उनके पिता के पास भी सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थ थे और वे स्वयं उन ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहते । रात में जब कभी इब्ने सिना की आँख खुलती तो वे पुस्तकों के ढेर के बीच चिराग की रोशनी में झुके हुए अध्ययन करते अपने पिता को देखते । इसी प्रेरक परिवेश ने इब्ने सिना को ज्ञान साधना के पथ पर आरूढ़ कर दिया । युवावस्था तक तो उन्होंने तर्कशास्त्र, विज्ञान, गणित और चिकित्सा के विषयों का अधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था ।

इब्ने मंसूर के ग्रन्थालय में उन्होंने अद्-नम्र-अलफरावी नामक दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ा और वे अध्यात्म विज्ञान की ओर आकृष्ट हुए । इसके बाद तो उन्होंने विख्यात दार्शनिक अरस्तू के भी कई अन्य ग्रन्थों का बीसियों बार अध्ययन कर डाला ।

सन् १०१२ में उनके पिता का देहांत हो गया । अब उनकी परीक्षा का समय आया । अभी तक तो उनके और परिवार के निर्वाह का दायित्व पिता सम्हाल रहे थे । इसलिए ज्ञान साधना में कोई अवरोध नहीं आ पाया था । लेकिन पिता का देहांत हो जाने से ज्ञान साधना में बड़ा भारी व्यतिक्रम आ उपस्थित हुआ । परिवार की जीविका के लिए भी उन्हें ही चिंतित होना पड़ा । दुनियादारी के क्षेत्र में उनका अनुभव नहीं के बराबर था सो मुश्किलें आना स्वाभाविक ही था । लेकिन इब्ने सिना तो जीवन में प्राण फूँकने वाली संजीवनी के सान्निध्य में रह चुके थे । वहाँ घबड़ाने या चिंतित होने की क्या आवश्यकता ? निर्विकार और अविक्षिप्त लिप्त से वे जीविका की तलाश के साथ साथ नियमित ज्ञान साधना भी करते रहे । परिवार को उन दिनों बड़े दुर्दिन देखने पड़ते । इब्ने सिना उतना ध्यान जीविका की तलाश में नहीं दे पाते वे जितना कि देना चाहिए । उनका अधिकांश ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर ही रहता ।

सुल्तान अब्ल मंसूर को उनकी इस स्थिति का पता चला तो उसने इब्ने सिना को बुलाकर एक उच्च पद पर नियुक्त कर दिया । स्वाभाविक ही ज्ञान और विद्या की संपदा ने उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया । लेकिन पुराने, लम्बे समय से काम करते चले आ रहे ईर्ष्यालु अधिकारियों को यह नहीं भाया । उन लोगों ने इब्ने सिना के विरुद्ध मन-गढंत दोष लगाना शुरू किये । अपने प्रति अनर्गल प्रचार को वे सह न सके और न ही उन्होंने स्वयं को ऐसी स्थिति में रह सकने योग्य पाया । पता चलते ही सिना के उच्च पद से त्यागपत्र दे दिया और गुरगांज चले गये ।

वहाँ उनके एक परिचित अमीर थे इब्न अलमामून इस परिचय को उन्होंने मैत्री सम्वेदना तक ही सीमित रखा । किसी प्रकार का लाभ उठाना उचित न समझा । उन्होंने वहाँ वकालत करना आरम्भ किया । लेकिन वे इस धन्धे में नहीं रह सके । इसका कारण था उनका आदर्श निष्ठ व्यक्तित्व । वे वकालत के पेशे में केवल उन्हीं लोगों की पैरवी करते थे जिसका पक्ष सत्य और न्याय का हो । वे झूठे मुकदमे नहीं लेते और अदालतों में तो झूठे लोग ही अच्छा वकील ढूंढ़ते हैं । इब्ने सिना के पास योग्यता थी, प्रतिभा थी और इन सबसे भी अधिक थी सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा ।

परिणामस्वरूप वे सफल न हो सके वकालत के धन्धे में और इब्ने सिना को फिर रोजी-रोटी की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ा उन्होंने परिवार को साथ लेकर दर-दर की ठोकरें खायीं । भटकते भटकते वे जुरजान शहर पहुँचे । वहाँ के राजकुमार असाध्य रोग के शिकार बने हुए थे । इब्ने सिना ने उसकी चिकित्सा की, वह ठीक भी हो गया और राज-परिवार ने उन्हें आश्रय देना चाहा । परन्तु नौकरियों का बड़ा कटु-अनुभव था उन्हें भूखे रहना स्वीकार कर उन्होंने नौकरी नहीं की । चिकित्सा का जो पारिश्रमिक मिला उसी में संतोष किया ।

और यहीं रहकर चिकित्सा विज्ञान पर अल-कानून फिल तिब नामक ग्रन्थ लिखा । जो बाद में बड़ा प्रसिद्ध हुआ और विज्ञान की

निधि बन गया । हमदन में रहकर उन्होंने एक और पुस्तक लिखी— 'किताब अल शफा' । इस पुस्तक ने हमदन के सुल्तान को इतना प्रभावित किया कि उसने सिना को अपने यहाँ मंत्री बना कर रख लिया । उनकी इस प्रतिष्ठा ने वहाँ भी ईर्ष्यालु अधिकारियों की आँख का खटना बना दिया । वहाँ भी उनके विरुद्ध षड्यंत्र रचे जाने लगे । इब्ने सिना को भी इसका पता तो चल गया था परन्तु अबकी बार वे यह निश्चय कर चुके थे कि चाहे जो हो अवांछनीयता के आगे सिर न झुकायेंगे ।

वस्तुत: अनीति और अवांछनीयतायें इसीलिए बढ़ती हैं कि उसके सामने औचित्य और न्याय पस्तहिम्मत हो कर भाग खड़े होते हैं । औचित्य के साथ साहसिकता भी जुड़ी हो तो कोई संदेह नहीं कि अनीति को परास्त करने का उपक्रम न किया जा सके । इब्ने सिना ने भी यही किया । उन्होंने विश्वास किया स्वयं पर कि इस बार मर भले ही जायें अनौचित्य के सामने सिर न झुकाऊँगा और सचमुच उन्हें मर ही जाना पड़ा परन्तु सिर न झुकाया । अनीति से हार न मानी ।

गुप्त षड्यंत्रों द्वारा ईर्ष्यालु अधिकारियों ने नजरबन्द कर लिया । इब्ने सिना को एकांत और घने वन में स्थित एक बड़ी इमारत में कैद किया गया । महीनों तक वहीं भूखे-प्यासे रह कर कैद रहे । एक रात उनके कुछ साथियों ने उन्हें मुक्त कराया और भगा कर ले गये अपने साथ । इब्ने सिना को जब होश आया तो उन्होंने स्वयं को इस्फहान राज्य में— एक सूफी संत के वेष में पाया । यहाँ के सुल्तान ने उन्हें अपना दरबारी बना लिया ।

जीवन भर संघर्ष करते रहने के बाद उन्हें थोड़ा अवकाश मिला था । इस अवकाश में भी उन्होंने विश्राम नहीं किया । वे अपनी कुछ अधूरी पुस्तकें पूरी करने लगे । लम्बी कष्ट-यातनाओं के कारण और बाद में एकदम सामान्य जीवन-क्रम बन जाने के कारण उन्हें उदर रोग हो गया । रोग बड़ा भयंकर था— इतना भयंकर कि जिससे उन्होंने सैकड़ों व्यक्तियों को मुक्ति दिलायी वही उनकी जीवन मुक्ति का कारण बन गया । जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने यह कह कर किसी भी प्रकार की औषधियाँ लेना बंद कर दिया था कि— "जो सदैव मेरी रक्षा करता रहा है वह अब अरक्षित रहने में ही मेरा हित समझता है । इसलिए अब कोई दवा लेना मैं नहीं चाहता ।

इस वाक्य में ईश्वर के प्रति उनकी वह आस्था ही व्यक्त हुई है जिसे वे जीवन भर सुदृढ़ करते आये । अभी कुछ वर्षों पूर्व विश्वभर में उनकी सहस्राब्दी मनायी गयी है । दुनिया के कई प्रतिष्ठित विश्व-विद्यालयों में उनकी पुस्तकें पाठ्यक्रम में सम्मिलित की गयी हैं । मरने के बाद जिस व्यक्ति की महामानव के रूप में प्रतिष्ठा की गयी वह व्यक्ति जीवन में कभी किसी से प्रोत्साहन नहीं पा सका परन्तु उनका वस्तु जीवन तो मरणोपरांत ही आरम्भ हुआ । सही मायने में मर कर ही जीवन पाया भी जाता क्योंकि वह जीवन अमर है । जो मरण धर्मा है वह कोई जीवन नहीं है वस्तुत: वह तो जीवन की तैयारी है ।

इब्राहीम बिन अदहम— सियाराम मय सब जग जानीं

सूफी सन्तों के इतिहास में सन्त इब्राहीम बिन अदहम का मूर्धन्य स्थान है । एक बार उनके मन में इच्छा जाग्रत हुई कि मक्का की यात्रा कर काबा के दर्शन किये जायें । सो, वे विचार करने लगे कि यह किस प्रकार की हो । क्योंकि वे चाहते थे कि यह सामान्य प्रकार की न होकर कोई विशेष तरह की हो, ताकि पैगम्बर मुहम्मद उससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद वरदान से उन्हें निहाल कर दें । ध्यान आया कि क्यों न हर कदम पर रकअत (एक विशेष प्रकार की नमाज) का पाठ करते हुए यात्रा सम्पन्न की जाय ।

बस, फिर क्या था । विचार को क्रिया रूप दे दिया गया । यात्रा शुभारंभ हुई । पग-पग पर नमाज पढ़े जाने के कारण मक्का पहुँचने में उन्हें काफी विलम्ब हुआ । चौदह वर्ष लग गये । इतनी लम्बी यात्रा के उपरान्त भगवान् की इबादत करते हुए गन्तव्य पर जब वे पहुँचे तो हतप्रभ रह गये । काबा अपने स्थान से गायब था । सोचा, शायद दृष्टि में कोई अन्तर आ गया है । कई बार आँखें मलीं, मुलमुलायीं, किन्तु फिर भी काबा नदारद । अभी वे इस संबंध में लोगों से पूछताछ करना चाह ही रहे थे कि आकाशवाणी हुई कहा गया— अदहम ! न तो तुम्हारी आँखों में कोई फर्क आया है, न जो तुम देख रहे हो, वह भ्रम ही है । काबा वस्तुत: इस समय अपने स्थान पर नहीं है । वह अपने एक अत्यन्त प्रियपात्र के स्वागतार्थ गया हुआ है ।"

इतना सुनना था कि अदहम सोच में पड़ गये कि आखिर वह कौन-सा सौभाग्यशाली है, जिसकी अगवानी करने के लिए काबा को अपना स्थान छोड़ना पड़ा ? हमने तो पग-पग पर, कदम-कदम पर भगवान् को याद किया, उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं किया, फिर भी हम उनके प्रेमभाजन न बन सके ।

इन्हीं विचारों में खोये इब्राहीम अदहम अपने भाग्य का रोना रो रहे थे कि चौदह वर्ष हमने बेकार में गँवा दिये । यदि इतना मालूम होता कि पैगम्बर इस तरह के मनुहार से प्रसन्न नहीं होते हैं, तो भला इतना समय और श्रम क्यों बरबाद करता । इतने में सामने से सन्त राबिआ आती दिखाई पड़ीं ।

आकाशवाणी एक बार पुन: हुई— "ऐ ! इब्राहीम ! यही खुदा की वह हबीब है, जिसके स्वागत के लिए काबा गया हुआ था । तू अफसोस न कर और राबिआ से वह रहस्य ज्ञात कर कि वह हमारी इतनी प्रिय किस प्रकार बन गई । उपाय जान कर तू भी उसी तरह के कार्य में संलग्न हो जा । तुम्हारी वह सेवा हम ग्रहण करेंगे । फिर तुम भी हमारे उतने ही निकटस्थ व अजीज होंगे, जितनी राबिआ है ।"

सन्त बीच ही में बोल पड़े— "ऐ बन्दानवाज ! आप ही क्यों नहीं बता देते कि मेरी बन्दगी में कमी क्या रह गई, जिससे आप उसे कबूल नहीं किया ?"

'तो सुन'— इब्राहीम के कानों से आवाज टकरायी "तुमने मेरी सच्ची सेवा की जगह प्रदर्शन और आडम्बर को अपनाया, सस्ती वाहवाही लूटनी चाही। इसलिए तुम्हें उसका फल प्राप्त नहीं हो सका, जबकि राबिआ ने इन सब से सर्वथा मुक्त रहकर मेरी सच्चे हृदय से सेवा की है फलतः उसका परम पुनीत फल सामने देख रहे हो।"

अब तक राबिआ इब्राहीम के काफी करीब आ चुकी थी। उसने सन्त को पहचान कर आदाब में सिर झुका लिया। सन्त ने भी उसका प्रत्युत्तर दिया। इब्राहीम इस आश्चर्य में डालने वाली घटना से कुछ गंभीर और परेशान से लग रहे थे। राबिआ ने इसे भांप कर सन्त से पूछा! "यदि इजाजत हो, तो एक सवाल पूछूं?" हाँ में इब्राहीम ने सिर हिला दिया।

"आप अल्लाह के दरबार में इतने गंभीर और गमगीन क्यों दिखाई पड़ रहे हैं? यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। कुछ रोशनी डालेंगे? इसका कारण क्या है?"

एक गंभीर निःश्वास छोड़ते हुए सन्त की करुण वाणी मुखरित हुई— "क्या बताऊं राबिआ! तुमने जो कुछ इतनी जल्दी पाया है, उसे मैं अब तक न पा सका। इसे मैं तुम्हारी तपश्चर्या ही कहूँगा, जिसका हाथों-हाथ फल तुम्हें मिला है।" उनकी आवाज से दुःखभरी करुणा टपक रही थी। उन्होंने अपनी सन-की-सी श्वेत दाढ़ी को सहलाते हुए पुनः कहना आरंभ किया— "यह देख रही हो? जीवन भर परवरदिगार की इबादत में ही बाल सफेद हो गए, किन्तु आज समझ में आयी कि उनकी बन्दानवाजी के योग्य मैं क्यों न हो सका? अच्छा एक बात बताओगी राबिआ?"

'अं!' अचानक के प्रश्न से वह चिहुँक उठी। 'फरमाइए।'

"तुम खुदा की बन्दगी कैसे करती हो? यह बता सकोगी।" सन्त का अनुरोध था।

"क्यों मजाक उड़ा रहे हैं मेरी" राबिआ ने तनिक संकोच भरे लहजे में कहा— "भला आपकी तुलना मुझसे कैसे हो सकती है। तनिक सोचिए तो तप-तप कर सफेद हुए आपके इन बालों और भव्य व्यक्तित्व के समक्ष मेरे श्याम केशों और क्षुद्र अस्तित्व की क्या बिसात!"

"नहीं-नहीं, इसे हँसी में न टालो राबिआ, अभी-अभी इलहाम हुआ है कि मुझे तुमसे इबादत का वह रहस्य जान कर उसी में संलग्न हो जाना चाहिए, जिसे सिर्फ तुम्हीं जानती हो।"

'अच्छा!' राबिआ ने आश्चर्य प्रकट किया। "यदि परवरदिगार की यही मर्जी है तो सुनिए" राबिआ कह रही थी— "यदि बन्दगी से आपका मतलब नमाज की अदायगी से है, तो वह तो मैं दिन में सिर्फ एक ही बार पढ़ती हूँ और शेष समय खुदा के बन्दों की सेवा में बिता देती हूँ। यही मेरी प्रतिदिन की दिनचर्या है। यहां मक्का भी मैं इसी दिनचर्या का पालन करती हुई आयी हूँ। रास्ते में मिलने वाले राहगीरों, अपंगों, अपाहिजों की खिदमत करते-करते आने के कारण ही मुझे यहाँ पहुँचने में पाँच वर्ष लग गये, अन्यथा एक महीने में पहुँच जाती, पर क्या बताऊं मेरे अजीज! मुझसे इनकी पीड़ा सहन नहीं होती और बरबस इनकी सहायता करने को जो तड़फड़ाने लगता है। मैं तो इसी को खुदा की नेक बन्दगी मान लेती हूँ और प्रार्थना करती रहती हूँ कि जब तक यह शरीर जीवित रहे, इसी काम आये। खुदा इसे स्वीकारे या न स्वीकारे मुझे इसकी कोई परवाह नहीं।"

"नहीं-नहीं राबिआ! ऐसा मत कहो। उस बन्दानवाज ने तुम्हारी सेवा प्रसन्नतापूर्वक कबूल की है और इसे ही अपने सच्ची खिदमत बतायी है व मुझे भी इसी राह पर चलने की सलाह दी है। तुम धन्य हो, तो तुम्हें नूरे-इलाही के दीदार होने वाले हैं।"

इस घटना के बाद घर पहुँच कर इब्राहीम ने अपने छोटे से मकान और दौलत को गरीबों में बाँट दिया और स्वयं एक छप्पर तले रहने लगे व कंगालों एवं जरूरतमंदों की खिदमत करने लगे। कहते हैं कि इस बार की सेवा से खुश होकर पैगम्बर मुहम्मद ने इब्राहीम को उनके झोंपड़े में दर्शन व आशीर्वाद दिये, जो एक सच्चे सन्त को ही नसीब होता है। हदीस पर आधारित यह कथा हमें सेवा साधना का सच्चा रूप समझाती है व विराट ब्रह्म की आराधना करने की प्रेरणा देती है।

सच्चे साधु-महात्मा आजर कैवाँ

आजर कैवाँ फारस के शाही खानदान के व्यक्ति थे। किन्तु इन्होंने जीवन का सार भोग-विलास के जीवन में नहीं तप और त्याग में देखा। इन्हें प्रारम्भ से ही भगवान् के प्रति बड़ी आस्था थी और उसे पाने के लिये व्यग्र रहते थे। भगवान् की ज्योति पाने के लिए इन्होंने बड़ी कठोर साधना की थी। इन्होंने १२५ वर्ष का लम्बा जीवन पाया और सारे का सारा भगवान् की उपासना में लगा दिया। इसमें से अट्ठाइस वर्ष तो दिन-रात भगवान् के भजन में ही लगाये और उस समय बड़े संयम का पालन किया। भोजन की मात्रा कम करते थे, दिन-भर में एक तोले भोजन पर आ गये थे। ये भारतीय योग-साधना की शिक्षा लेने भारत भी आये थे और बिहार की राजधानी पटना में रहे थे। इन्होंने त्रिकुटी समाधि और अनहद नाद की साधना सीखी और अपने पारसी शिष्यों को सिखलाई थी। जिनमें से मूबद होशियार और मूबद सरोश नाम के शिष्य इस योग के बड़े सफल साधक हुए हैं।

आजर कैवाँ बड़े विद्वान् सन्त थे और ज्ञान को ही भगवान् की ज्योति मानते थे। इन्होंने अध्यात्म दर्शन और सदाचार पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी थीं। ये अपने पारसी धर्म के बड़े ही पक्के और सच्चे अनुयायी थे। उस समय जब कि पारसी धर्म लोप हो रहा था और उसके स्थान पर मुसलमान धर्म बढ़ रहा था, महात्मा आजर कैवाँ ने पारसी धर्म का उच्चादर्श उपस्थित कर उसकी रक्षा की थी। यह उनका श्रेय है, जो आज अन्य धर्मों के साथ पारसी धर्म का भी अस्तित्व संसार में है अन्यथा इसके इस्लाम धर्म में निहित हो जाने में कोई सन्देह नहीं रह गया था। महात्मा आजर कैवाँ को पारसी धर्म का रक्षक कहा जाय तब भी अतिश्योक्ति न होगी। सच्चा सन्त सब कुछ करने में समर्थ होता है।

पारसी होने पर भी वे बड़े ही अहिंसावादी और जीव दया समर्थक थे और सदैव ही मांसाहार का निषेध किया करते थे। एक बार एक

मुसलमान ने इनसे पूछा— "हजरत ! आप अपने शिष्यों और अनुयायियों को जानवरों को मार कर उनका मांस खाने से क्यों रोकते हैं ? माँस खाना तो पारसियों में जायज माना जाता है ।"

उन्होंने उत्तर दिया— "जीव हिंसा और माँस भोजन की आज्ञा किसी धर्म में नहीं है । यह तो स्वार्थी और जिह्वा के दास लोगों ने आरोप कर दिया है । आपको पता है कि जब काबा-शरीफ की यात्रा की जाती है तो माँस भोजन का निषेध रहता है । जानते हो क्यों ? इसलिये कि काबा-शरीफ ईश्वर का घर माना जाता है और लोग उसकी खोज में ही वहाँ जाते हैं । इसी तरह जो भगवान् का भक्त है, उस पर विश्वास रखता है , उसके लिये उसका दिल ही काबा है, ईश्वर का घर है । भक्ति द्वारा हृदय में परमात्मा की खोज करने वाले का जीव-हिंसा अथवा माँस-भोजन किस प्रकार उचित हो सकता है । मेरे सारे शिष्य और सारे अनुयायी हृदय में ही परमात्मा की खोज करते हैं, उनको मैं जीव-हिंसा न करने और माँस न खाने के लिए कहता हूँ ।" प्रश्नकर्ता उनका उत्तर सुनकर संतुष्ट हो गया और उस दिन से पूरा निरामिषहारी बन गया ।

एक बार एक मनुष्य उनके पास आया और बोला— "महात्मन् ! मैंने देख लिया है कि संसार निस्सार है । इसलिये उसे छोड़ कर फकीरी ले लेने का विचार किया है ।" लेकिन उसके योग्य माला, कमंडल, आसन और गुदड़ी आदि वस्तुयें नहीं मिल पाई हैं ।"

महात्मा आजर कैवाँ ने कहा— "भाई ! तुम तो संसार छोड़ कर भी संसार की वस्तुयें इकट्ठी करना चाहते हो । फकीरी सामान जमा करने में नहीं, छोड़ने में होती है । तुम अभी संन्यास के योग्य नहीं हो । जाओ घर-गृहस्थी में रहकर अपने कर्तव्य के साथ भगवान् का भजन करो । यही तुम्हारे लिये फकीरी और दरवेशी है ।"

धर्मोद्धारक राजा— अर्दशीर बाबकान

फारस का राजा अर्दशीर बाबकान अपने समय का बड़ा धर्मात्मा राजा हुआ है । यह एक भेड़ें चराने वाले दास का बेटा था । किन्तु अपने गुणों के बल पर बढ़ता-बढ़ता फारस का बादशाह बन गया । यह पारसी धर्म का मानने वाला था । उसके पहले जब फारस को सिकन्दर ने जीत लिया था— बहुत से राजा फारस पर राज्य कर चुके थे । किन्तु वे सभी बड़े ही नास्तिक और विलासी थे । इसलिए फारस के सच्चे पारसी धर्म का लोप हो गया था और उसका स्थान अन्ध-विश्वासों और पाखण्डों ने ले लिया था । किन्तु आगे चलकर अर्दशीर बाबकान ने पारसी धर्म का पुनरुत्थान किया ।

अर्दशीर जब बालक ही था तभी बादशाह अर्दवान ने उसे अपने पास बुलाकर रख लिया था और उसके गुणों पर रीझकर अपने बेटे के समान मान लिया था । अर्दशीर बाबकान और शाहजादा एक साथ ही रहते थे । एक बार शाहजादा और अर्दशीर साथ-साथ शिकार खेलने गये । वहाँ पर एक हिंसक पशु शाहजादे पर दौड़ पड़ा । अर्दशीर ने तुरन्त ही उसे तीर मारकर मार गिराया और तभी शाहजादे ने भी अपना तीर उस पर चला दिया ।

अपने साथी का श्रेय छीन लेने के लिये शाहजादे ने कहा यह जानवर तो मेरे तीर से मरा है । अर्दशीर तुम इसे मारने के घमण्ड में मत आ जाना, यह मेरा शिकार है । अर्दशीर ने हँसकर कहा कि लीजिये आपका शिकार ही माने लेते हैं । वैसे सच्चाई की बात यही है कि इसे मैंने ही मारा है । शाहजादे के अहंकार पर चोट लगी और वह अर्दशीर से जिद करने लगा कि वह कहे कि शिकार शाहजादे का है उसके तीर से मरा है, मैंने इसे नहीं मारा । अर्दशीर को शहजादे की जिद पर बड़ा खेद हुआ— वह बोला— शाहजादे अब तुम गैर ईमानदारी पर उतर आये और मुझसे सरासर झूठ बुलवाना चाहते हो । जो मुझसे नहीं हो सकता है । शाहजादा खिसिया गया और उसने आकर अपने पिता बादशाह से शिकायत की ।

बादशाह ने अर्दशीर को बुलवाया और कहा कि तुम शाहजादे की बराबरी करने लगे हो इसलिये अब उसके साथ रहने योग्य नहीं रहे । मैं तुम्हें अस्तबल का अफसर बनाकर उससे अलग करता हूँ । किन्तु अर्दशीर के स्वाभिमान में उस अपमान को स्वीकार न किया और वहाँ से चला आया और बाद में अपनी वीरता और गुणों के आधार पर फारस का बादशाह बना ।

बादशाह बनकर अर्दशीर भोग-विलास में नहीं पड़ा । उसने धर्म-सुधार का और उसके प्रचार का काम अपने हाथ में लिया । जिन दिनों वह कुरीतियों, रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विनाश कर रहा था उन्हीं दिनों किर्मानशाह नामक नगर राज्य में एक बड़ा भयंकर अंध-विश्वास चल रहा था । वहाँ के एक किले के भीतर एक मन्दिर में बहुत दिनों से न जाने कहाँ एक अजदहा साँप आकर रहने लगा था । पाखण्डियों ने उसकी पूजा शुरू करवादी और उस नगर को कर्म अजदहे (अजगर साँप की राजधानी प्रसिद्ध कर दिया था । धूर्त लोग उसी के नाम पर नगर पर राज्य करने और प्रजा को लूटने लगे । प्रतिदिन उस अजगर को बीसों भेड़ें और दूसरे जानवर मार कर उनका खून पिलाया जाता था । बहुत बार तो धूर्त लोग किसी से रुष्ट होकर धर्म और राजा अजगर के नाम पर मनुष्यों को ही काटकर उनका खून पिला दिया करते थे । खून पी-पीकर अजगर खूब मोटा और भयानक हो गया और वहीं जमकर रहने लगा ।

उसी अजगर राजा का नाम दूर-दूर तक फैल गया और लोग देशान्तर से उसकी पूजा और दर्शन करने आने लगे । इस प्रकार धूर्तों का न केवल प्रभाव ही बढ़ने लगा बल्कि राज्य विस्तार भी हो गया । धर्मात्मा अर्दशीर ने इसको धर्म के लिये एक बड़ा खतरा समझा और उस अजगर की पूजा करने के बहाने जाकर उसे खून के स्थान पर पिघला हुआ गरम ताँबा पिलाकर मार डाला । बाद में किर्म अजदहे और अर्दशीर के राज्यों में घमासान युद्ध भी हुआ । किन्तु उसमें धर्म के पक्षपाती अर्दशीर की ही विजय हुई । इस प्रकार अर्दशीर ने एक भयंकर अन्धविश्वास मिटाकर धर्म और जनता की बड़ी सेवा की ।

वृद्ध होने पर अर्दशीर ने राज्य का भार अपने बेटे को दे दिया और पूरी तरह धर्म-सुधार और प्रचार में लग गया । उसने चालीस

हजार दस्तूरों (पुजारी) और विद्वानों की एक सभा की । उनमें से चार हजार चुने और चार हजार में से चार सौ, चार सौ में से चालीस और चालीस में से सात व्यक्तियों को चुनकर एक धर्म-प्रचार समिति बनादी और मरते समय अपने पुत्र को उपदेश दिया—

"यह कभी मत भूलो कि धर्म की रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार राज्य की । धर्म और राज्य एक-दूसरे की शक्ति हैं । फिर भी बिना राज्य के धर्म तो रह सकता है किन्तु धर्म के बिना राज्य नहीं रह सकता । राज्य में शान्ति रखने के लिये धर्म सर्वोत्तम साधन है । इसलिये अपने आचरण से ऐसा आदर्श उपस्थित करो जिससे तुम्हारी प्रजा धर्मात्मा बनी रहे ।"

सत्य के प्रति अगाध निष्ठा— सैयद अब्दुल कादिर

प्राचीन समय में, जब यातायात के साधनों का विकास नहीं हुआ था, रेगिस्तानी देशों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने की बड़ी असुविधा थी । व्यापारी लोग प्रायः ऊँटों पर सामान लादकर, काफिले बनाकर चलते थे क्योंकि मार्ग में लुटेरों का भी भय रहता था ।

एक बार एक विद्याव्यसनी बालक ने बगदाद जाकर ज्ञानार्जन की बात सोची । माँ ने मातृसुलभ ममत्व के वशीभूत होकर प्रारम्भ में तो उसे अपना घर छोड़कर इतनी दूर न जाने के लिए समझाया, परन्तु बालक का हठ तथा ज्ञान-प्राप्ति के प्रति उसकी असामान्य निष्ठा देखकर अन्ततः अनुमति देनी ही पड़ी ।

माता ने पुत्र की सदरी के अन्दर चालीस अशर्फियाँ सावधानी से टाँक दीं, जिससे कि किसी को उसका पता न लग पाये । चलते समय बालक को समझाया— "बेटे ! तुम्हारे पिता इतना ही धन छोड़ गये थे । इसे सावधानी से खर्च करना । एक बात ध्यान रखना-तुम पर चाहे कितने ही संकट आयें, कभी झूठ मत बोलना । अल्लाह पर विश्वास रखना, वे बुरी से बुरी परिस्थितियों में भी तुम्हारी सहायता करेंगे ।

माँ की सीख बच्चे ने गाँठ बाँध ली और उनका आशीर्वाद लेकर काफिले के साथ चल दिया । रास्ते में अचानक काफिले को चारों ओर से डाकुओं ने घेर लिया । व्यापारी भय से काँपने लगे । डाकुओं ने उन्हें बहुत पीटा और सारा सामान छीन लिया ।

चलते समय डाकुओं की दृष्टि सहसा एक स्थान पर खड़े बालक पर पड़ी । एक डाकू पूछ बैठा 'अरे लड़के क्या तेरे पास भी कुछ है ?' उसे अपनी माता की बात याद आ गयी । बोला— "मेरे पास चालीस अशर्फियाँ हैं ।" डाकुओं को विश्वास न आया कि इस फटे-पुराने कपड़े पहनने वाले गरीब बालक के पास इतना धन कहाँ से आया । एक डाकू ने डराया— 'या तो अशर्फियाँ निकाल कर दे, अन्यथा अभी मारते हैं । तुझे झूठ बोलने का परिणाम भुगतना पड़ेगा ।'

सभी की आँखें फटी की फटी रह गयीं जब उसने अपनी सदरी फाड़कर चालीस अशर्फियाँ निकाल कर दीं । डाकुओं के सरदार ने पूछा— 'लड़के क्या तुझे पता नहीं था कि हम तेरी अशर्फियाँ छीन लेंगे ?' बालक ने उत्तर दिया— "इन थोड़ी-सी अशर्फियों के पीछे मैं झूठ कैसे बोलता । यदि तुम मेरा धन छीन लोगे— तो भी खुदा मेरी सहायता करेगा परन्तु झूठ बोलने तथा दूसरों को सताने वालों को खुदा कभी माफ नहीं करता ।'

एक बार साधु-जनों के तनिक से वार्तालाप से लुटेरे बाल्मीकि के ज्ञान चक्षु खुल गये थे । इस इतिहास की पुनरावृत्ति यहाँ भी हुई । छोटे-से बालक के मुख से ऐसी बातें सुनकर डाकुओं के अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव पड़ा । उन्होंने उसी दिन भविष्य में कभी इस प्रकार की लूट मार न मचाने का संकल्प लिया तथा व्यापारियों को सारा माल लौटा दिया ।

सत्य के प्रति ऐसी असामान्य निष्ठा रखने वाला यह बालक एक महान् सन्त हुआ । आज संसार इन्हें हजरत अब्दुल कादिर जीलानी के नाम से जानता है । मुसलमानों में ये बड़े पीर साहब के नाम से जाने जाते हैं । इनका मकबरा आज भी बगदाद शरीफ में बना हुआ है जहाँ प्रति वर्ष हजारों मुसलमान विश्व के कोने-कोने से आते हैं तथा अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं ।

अब्दुल कादिर का जन्म लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व ईरान देश में जीलान नामक स्थान पर हुआ था । उन दिनों जीलान के आस-पास शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था अतएव इन्होंने बगदाद जाकर ज्ञान-पिपासा तृप्त की थी ।

इनका सम्पूर्ण जीवन त्याग, तपस्या और साधना की कथा है । मानव अन्तःकरण में प्रसुप्त देवत्व की भावनाओं को जगाने वाले ऐसे महापुरुषों के चरणों में जितनी श्रद्धांजलियाँ चढ़ायी जायें । उतनी ही कम हैं ।

अनीति के जन्मजात विरोधी— मौलवी अहमदुल्ला

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में आजादी के लिए संघर्ष करने वाले क्रान्तिकारियों में विस्मृत योद्धा मौलवी अहमदुल्ला का नाम भी सदैव याद रखा जाना चाहिए । वे आजीवन अँग्रेज और अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा लिए खड़े रहे और अपने अनुयायियों को दासता की जंजीरों को तोड़ देने अथवा मर जाने के लिए प्रेरित करते रहे ।

पटना (सादिकपुर) के एक विख्यात मौलवी परिवार में उनका जन्म हुआ । यह परिवार अपनी विद्वत्ता और सम्पन्नता के कारण भारतीय मुसलमानों के साथ ही साथ उनके सम्पर्क में आए मुस्लिमेतर लोगों में भी आदर की दृष्टि से देखा जाता था । अहमदुल्ला का बाल हृदय आरम्भ से ही अँग्रेजों की कुटिल नीति तथा अत्याचारों के प्रति घृणा और विद्वेष से भरने लगा । किशोरवय में अपने साथियों को उन्होंने विरोध व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने हेतु संगठनबद्ध भी किया । जिस परिवार का बालक

इतना आक्रोश व्यक्त करता है उसके अभिभावक तो और भी ज्यादा विद्रोह भावना वाले तथा खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। किशोर युवा अहमदुल्ला की गतिविधियों को देख जानकर अँग्रेज अधिकारी उनके परिवार के प्रत्येक सदस्य को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। परन्तु परिवार के प्रभाव और जन-साधारण का श्रद्धास्पद होने के कारण उन पर हाथ डालने की हिम्मत नहीं हुई।

कुछ बड़े होने पर अहमदुल्ला ने सीमा प्रान्तों की विद्रोही सैनिक छावनियों से सम्पर्क बनाया और उन्हें प्रत्येक आवश्यक सहायता देना आरम्भ कर दिया। आदमी, रुपया, हथियार और अन्य प्रकार से उनकी मदद की। इन क्रियाकलापों का समाचार अँग्रेजों के पास भी पहुँचा। उन्होंने पर्याप्त प्रमाण जुटाए और अहमदुल्ला को अपना शिकार बनाना चाहा। जिस अधिकारी को इस कार्य के लिए भेजा था जनसाधारण पर 'मौलवी परिवार' की अगाध श्रद्धा के कारण वह भी चुप रह गया। विद्रोही छावनी के मुन्शी मुहम्मद अली और उसके साथियों को पकड़ कर उन्हें ही सजा दी गयी और मामला खत्म कर दिया गया।

मौलवी साहब को इन घटनाओं से अपनी गतिविधियाँ और अधिक तीव्र करने का साहस मिला। अब आया सन् १८५७ तब तत्कालीन क्रान्तिकारियों ने सभी स्थानों पर एक नियत दिन। सशक्त संघर्ष छेड़ देने का समय निर्धारित कर लिया था। परन्तु हृदय में भरे अपरिमित उत्साह के कारण साहसी और जान की बाजी लगाकर स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए लालायित वीरों ने नियत समय से पूर्व ही विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप स्थान-स्थान पर एक साथ मोर्चा सम्भालने की अपेक्षा अलग-अलग समय पर लड़ाई चली। अँग्रेजों ने स्थान-स्थान पर अपने थोड़े-से सैन्य बल से ही विद्रोह कुचलने के सफल प्रयास किये।

पटना भी इस आन्दोलन से अछूता कैसे रह सकता था। वहाँ भी उत्तेजना फैलने लगी और तत्कालीन कमिश्नर से न रहा गया। मौलवी साहब को घर बुलाया नगर में शान्ति रखने के उपायों के सम्बन्ध में परामर्श करने के बहाने। मौलवी साहब तो जानते थे कि जन-भावनाओं को और अधिक नहीं कुचला जा सकता। स्वतन्त्रता संघर्ष के रूप में जो विस्फोट हुआ है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अवश्य ही सफल होगा। यही पक्ष रखने के लिए मौलवी अहमदुल्ला कमिश्नर टेलर के घर गये। परन्तु कुटिल टेलर तो अपने काम की तैयारी पहले से ही कर चुका था। मौलवी साहब को गिरफ्तार कर लिया गया।

सोचा गया था जनता को उत्तेजित करने तथा विद्रोह की आग फूंकने का काम मौलवी साहब ही करते हैं। अभी तक तो पटना शहर में उत्तेजना ही फैली थी। जैसे ही लोगों में यह समाचार फैला कि उनके प्रिय जन-नेता को गिरफ्तार लिया गया है उपद्रव होना शुरू हो गये। ३ जुलाई, १८५७ को एक बड़े जन-समूह ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का झण्डा उतार कर अपना झण्डा फहराया और स्वाधीनता की घोषणा कर दी। एक सिख रेजीमेंट को यह आन्दोलन कुचलने के लिए भेजा गया तो भीड़ ने उसका डटकर मुकाबला किया। शस्त्रास्त्रों से लैस प्रशिक्षित सैनिकों के आगे निहत्थे या थोड़े से हथियारबन्द भी परन्तु अप्रशिक्षित लोग कब तक टिके रहते। अन्ततः सेना जनता पर भारी पड़ने लगी। आन्दोलन शान्त होने के बाद लगभग चालीस व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया जिनमें से आठ को फाँसी हो गयी।

मौलवी अहमदुल्ला बहुत दिनों तक नजरबन्द रखे गए। अँग्रेजी शासन ने देखा कि यह 'उपद्रव' उनकी गिरफ्तारी के कारण ही जनता ने उत्तेजित होकर किया था तो कमिश्नर टेलर को पद मुक्त कर दिया गया तथा मौलवी साहब रिहा हो गये।

लाखों भारतीयों का खून बहाकर अँग्रेजों ने इस क्रान्ति को विफल कर दिया। परन्तु सीमा प्रान्त की इस विद्रोही छावनी की सक्रियता मौलवी साहब के रिहा हो जाने के बाद और भी अधिक बढ़ने लगी। क्रान्ति के बाद इस छावनी की शक्ति भी काफी बढ़ गयी। स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले बहुत-से विद्रोही सुरक्षा और अपने प्राण बचाकर आजादी के लिए लड़ने की संकल्प पूर्ति दृष्टि से इस छावनी में आ गए। इस समय हिन्दू और मुसलमान सभी धर्म और जाति के लोग विदेशियों को भारत से खदेड़ने के लिए पीढ़ियों से चले आ रहे बैरभाव को भुलाकर यत्नशील थे। इस छावनी के लोग ब्रिटिश चौकियों पर हमला कर अपनी सामर्थ्य के अनुसार विरोध तथा बगावत की आवाज बुलन्द करते। संख्या के रूप में नगण्य रहते हुए भी सन् १८६३ में सीमा प्रान्त पर स्थित इस छावनी में एक बार फिर विद्रोह कर दिया। सन् ५७ के बाद के वर्षों में उन्होंने पर्याप्त युद्ध सामग्री जुटा ली थी। सरहद की पहाड़ियाँ एक बार फिर शोले उगलने लगीं। अँग्रेजों ने अब की बार कूटनीतिक चाल चलनी पड़ी। पठान कबीलों को अपनी ओर फोड़ लिया। युद्ध जारी रहा परन्तु शक्ति और सामर्थ्य की तुलना में अँग्रेजी सेनाएं भारी पड़ीं। एक बार फिर विद्रोह कुचल दिया गया।

इस युद्ध में अँग्रेज बौखला उठे और मौलवी अहमदुल्ला को दूसरी बार गिरफ्तार किया गया तथा उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। पंजाब-सरकार ने इस मुकदमे में लोगों को बहला फुसला कर अपने गवाह खड़े किए। मौलवी साहब पर सरकार के विरुद्ध युद्ध की योजनाएँ बनाने, सीमा प्रान्त की छावनी का संगठन और सहायता करने तथा विद्रोह के लिए लगातार प्रयास करने के अभियोग लगाकर उन्हें फाँसी की सजा सुना दी गयी।

हाईकोर्ट ने इस प्राण दण्ड को आजीवन कारावास में परिवर्तित कर दिया और उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और उसे नीलाम कर दिया गया। जन-साधारण में से कोई भी व्यक्ति इस देशभक्त का सामान खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ इसलिए सरकारी अफसरों को ग्राहक भी जुटाने पड़े।

अण्डमान जेल में भी मौलवी साहब सीमा प्रान्त की छावनी को जीवित रखने के लिये योजनाओं पर विचार करते रहे तथा उसे अपने मित्रों, भाइयों और रिश्तेदारों को बताया करते।

सीमा प्रान्त की यह छावनी जिसे मौलवी अहमदुल्ला ने अपने जीवन से सींचा था सन् १९४७ तक बनी रही और अँग्रेजों की छाती पर मूंग दलती रही। भरसक कोशिशें करने पर भी इसे सर्वथा नष्ट नहीं किया जा सका। इस छावनी के अन्तिम नेता मौलवी फजल इलाहाबादी थे जो भारत के स्वतन्त्र होने के बाद ही इस छावनी से वापस आये।

जो लोग मौलवी साहब और उनके कृत्यों से परिचित हैं उन्हें नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की आजाद हिन्द सेना के साथ ही मौलवी साहब की इस सीमान्त सैनिक छावनी का भी सहज-स्मरण हो आता है। जो अपने लक्ष्य को प्राप्त करने तक संघर्षरत रही। यों स्वतन्त्रता का श्रेय अन्यान्य लोगों को भी दिया जा सकता है परन्तु उनका साहस और देशप्रेम अभूतपूर्व है।

मिर्जा अहतशामुद्दीन

परिश्रमशील और निष्ठावान् होते हुए भी जिनका जीवन एक करुण गाथा है

अँग्रेज भारत में यद्यपि व्यापारी के रूप में आये थे। परन्तु अवसरवादिता, चालाकी, मक्कारी और झूठ-फरेबी के आधार पर वे किस प्रकार यहाँ के शासक बन बैठे इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले यह अच्छी तरह जानते हैं। १६३४ में तत्कालीन मुस्लिम बादशाहों की खुशामद और वाक्यचातुरी के बल पर अँग्रेजों ने बंगाल में अपना व्यापार आरम्भ किया था। अँग्रेज प्रारम्भ से ही अपने इरादों को किसी भी प्रकार पूरा करने के लिये प्रयत्नशील थे। व्यापार से उन्होंने राजकीय व्यवस्था में भी अपना सिर घुसाया और १६९८ में सूलामारी, कलकत्ता और गोविंदपुर की जमींदारी प्राप्त की। उस समय इस क्षेत्र का नाम कलीकाता था। कलकत्ता तो आगे चलकर कहा जाने लगा। उन दिनों दिल्ली पर शक्तिशाली और राजनीतिज्ञ मुस्लिम बादशाह राज्य करते थे। इसलिए तब तो अँग्रेजों की चल न सकी।

लेकिन जब नादिरशाह ने १७३४ में दिल्ली को लूटा और दिल्ली के बादशाहों की कमजोर नसों का राज खुला तो अपने फन के माहिर अँग्रेजों ने मौका देखकर राजसत्ता को डस लेने में बड़ी चातुरी दिखाई। बड़े पैमाने पर व्यापार कार्य के बहाने से सुरक्षा के लिए अँग्रेज सेनाओं को भी तब रखा जाने लगा था और जब इतना प्रबन्ध कर लिया कि वे किसी देशी रियासत से टकरा सके तो तो क्लाइव के सेनापतित्व में अँग्रेजी सेनायें बंगाल पर टूट पड़ीं और नवाब को हराकर अँग्रेजी राज की नींव रखी। इसी कारण लार्ड क्लाइव भारत में अँग्रेजी राज्य की आधारशिला रखने वाला माना जाता है। इसके बाद क्लाइव ने बड़ी चालाकी से शाहआलम को नवाब बनाया और अपना उल्लू सीधा कर पूरी बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की।

शाहआलम को उस समय तक कुछ पता नहीं था। लेकिन जिन शर्तों के आधार पर दिल्ली सम्राट ने अँग्रेजों को इन प्रान्तों की दीवानी सौंपी थी उन शर्तों की अवहेलना की जाने लगी तो शाहआलम का माथा ठनका। इन शर्तों में एक शर्त यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी दिल्ली सम्राट के लिए दिल्ली में एक अँग्रेज रेजीमेन्ट रखेगी। लेकिन दीवानी प्राप्द करते ही क्लाइव ने इस शर्त की भी उपेक्षा कर दी, शाहआलम अनुभव करने लगे कि क्लाइव ने उन्हें धोखा दिया है। जब उन्होंने यह अनुभव किया तो बात बूते से बाहर हो चुकी थी।

शायद कहीं भूल हो रही हो। हालांकि ऐसा था नहीं फिर भी यह सोच कर क्लाइव को इस शर्त की याद दिलायी गयी तो जवाब आया कि सन्धियों में यह सूत्र जल्दबाजी के कारण आ गया है। इंगलैण्ड के राजा की अनुमति प्राप्त किये बिना कम्पनी किसी भी भारतीय के लिए उसके अधीन अँग्रेजी सेना नहीं रख सकती। यह सलाह भी दी गयी कि शाहआलम अपने संदेशवाहक को इंग्लैण्ड भेजें। प्रश्न उठा कि नजराना भी ले जाया जाय तो एक लाख रुपये पर पहुँच कर बात खत्म हुई कि इतना रुपया नजराने के रूप में दिया जाय। राजदूत के हाथों दिल्ली सम्राट और लार्ड क्लाइव को इसी संदर्भ में सिफारिशी-पत्र भेजा जाय निश्चित हुआ। इस विश्वासघात से शाहआलम इतने टूट चुके थे कि उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं आ रहा था। एक लाख रुपये उस समय काफी मूल्य रखते थे। जब लोगों को पाँच सात रुपये मासिक वेतन मिलता हो— अच्छे-अच्छे अधिकारियों का वेतनमान भी इतना हो। तो एक लाख रुपये देखकर तो हर किसी का ईमान डोल सकता है और इस बात की भी कोई निश्चित सम्भावना नहीं थी कि इंगलैण्ड का राजा अपने पक्ष में ही निर्णय देगा। क्लाइव की तो यह एक चाल ही थी। मन्तव्य यह था कि शाहआलम को पूरी तरह निचोड़ कर कमजोर कर दिया जाय। और शाहआलम यह आखिरी दाँव चल देना ही चाहते थे।

सभी पक्षों से विचार कर उन्होंने अपने विश्वासपात्र मीर मुंशी-जो हर कसौटी पर उनके लिए विश्वस्त, प्रामाणिक और वफादार सिद्ध हो रहा था— को एक लाख रुपया और दोनों पत्र देकर भेजने का निश्चय किया। यह विश्वासपात्र मीर मुंशी थे मिर्जा अहतशामुद्दीन। अहतशामुद्दीन वर्षों से शाहआलम की सेवा करते रहे थे। एक सामान्य और दीन निर्धन स्थिति में रहते हुए अपनी कर्मठता, परिश्रम, लगन और सूझबूझ के आधार पर उन्होंने शाहआलम के हृदय में सर्वाधिक विश्वासपूर्ण स्थान बनाया था। कई बार ऐसे अवसर आये जिसका फायदा यदि मिर्जा उठा लेते तो उनका सारा जीवन बड़ी शान के साथ गुजर सकता था परन्तु उन्होंने सम्पत्ति को ईमान से अधिक महत्त्व नहीं दिया। हक और ईमान की जो भी नसीब हुई भले ही वह रूखी सूखी क्यों न हो— पाकर उन्होंने सदैव सन्तोष ही किया। इसी कारण शाहआलम का उन्होंने इतना विश्वास अर्जित किया कि कहते है— 'शाह अपने आप पर विश्वास खो सकता है परन्तु मिर्जा अहतशामुद्दीन पर नहीं।''

मिर्जा अहतशामुद्दीन का जन्म पश्चिम बंगाल के जिला नदिया ग्राम पाचनूर में हुआ था। १७३० में जन्मे मिर्जा की पारिवारिक आर्थिक दशा अत्यन्त साधारण थी। जिस समय वे जन्मे उस समय बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर नवाब मुर्शिदाबाद का शासन था। नवाब के ही दफ्तर में उनके निकट सम्बन्धी मुंशी शमी अल्लाह काम करते थे। शमी अल्लाह ने ही उनके पालन-पोषण और शिक्षादीक्षा का प्रबन्ध किया। शमी अल्लाह एक परिश्रमी और कर्त्तव्यनिष्ठ कर्मचारी थे। जब क्लाइव ने बंगाल के नवाब को हराकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य कायम किया तो जिन आठ मुंशियों को कम्पनी में लिया गया उनमें से एक शमी अल्लाह भी थे।

शमी अल्लाह के सान्निध्य और संरक्षण में रहने से अहतशामुद्दीन पर भी उनके व्यक्तित्व का असर हुआ और वे भी मुंशीजी की ही तरह कार्य कुशल और कर्त्तव्यनिष्ठ सिद्ध हुए। शमी अल्लाह ने ही उन्हें पढ़ाया-लिखाया और जीविका के सम्बन्ध के तौर पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी दिलवादी।

अहतशामुद्दीन को कम्पनी में मेजर पार्क के अधीन काम मिला था। मेजर उनके व्यक्तित्व, असाधारण कार्य क्षमता और वफादारी से काफी प्रभावित हुए। युद्ध में कई बार मिर्जा ने अपने प्राणों पर खेल कर मेजर की जान बचायी। दोनों में अधिकारी और अधीनस्थ का सम्बन्ध होते हुए भी विश्वसनीय हार्दिक मैत्री का नाता बना। इसलिए जब मेजर सेवा निवृत्त होकर इंग्लैण्ड जाने लगे तो उन्होंने अहतशामुद्दीन की वफादार मित्रता से थोड़ा उऋण होना चाहा और किसी अच्छे पद पर नियुक्ति दिलाने का प्रबन्ध किया।

मेजर पार्क के ही एक स्वजातीय गहरे मित्र थे मेजर एडम। जिनका विभागीय कार्य क्षेत्र था अजीमाबाद। अहतशामुद्दीन जब अपने बास को विदा करने उनके साथ दूर तक गये और वापस लौटने लगे तो मेजर ने एक पत्र दिया और कहा कि इसे लेकर वे अजीमाबाद; मेजर एडम के पास पहुँच जायें। एडम उनके लिए और अधिक अच्छी व्यवस्था कर देंगे। उस पत्र में लिखा था— अहतशामुद्दीन बहुत मेहनती और वफादार आदमी है। उन्हें किसी अच्छे काम पर रखा जाय।

अहतशामुद्दीन वह पत्र लेकर मेजर एडम के पास गये परन्तु उन्हें खाली हाथ ही लौट आना पड़ा। मेजर एडम की कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जिनके कारण वह अपने मित्र की इच्छा का आदर नहीं कर सका था। उधर की भी गयी और इधर की भी नहीं रही। अब अहतशामुद्दीन बेकार इधर-उधर भटकने लगे।

लेकिन परमात्मा परिश्रमी और मेहनती व्यक्तियों के लिए कोई न कोई प्रवेश द्वार खोल ही देता है। एक विचारक का यह कथन— 'ईश्वर एक द्वार बन्द करता है तो दस नये द्वार खोल देता है।' मिर्जा के सम्बन्ध में पूरी तरह सत्य सिद्ध हो रहा था। वे जशोर चले आये और प्रयत्न किया तो कैप्टन निम्सन के अधीन एक छोटा-सा काम मिल गया। जो प्राप्त है उसे ही स्वीकार कर आगे बढ़ने के लिये प्रयत्न करना— मिर्जा का सिद्धान्त वाक्य था। कार्य कुशलता, परिश्रम और ईमानदारी तो उनमें थी। उसी के बल पर अपने वर्तमान दायित्वों को भली प्रकार निभाते हुए मिर्जा कुतुबपुर के तहसीलदार बन गये। बाद में और भी विकास किया।

शाहआलम ने जब उनके गुणों की चर्चा सुनी और पक्ष भेंट का अवसर मिला तो वे उनकी बुद्धिमत्ता और पैनी सूझबूझ से बड़े प्रभावित हुए। शाहआलम के निमंत्रण पर वे शाह के निजी सचिव-मीर मुंशी हो गये। कई पेचीदे मामलों को उन्होंने इस तरह सुलझा कर रख दिया कि लगने लगा कि ये इस क्षेत्र के पुराने खिलाड़ी रहे हों, उनकी कार्य कुशलता से प्रसन्न हो कर शाहआलम ने उन्हें मिर्जा की उपाधि से विभूषित किया। यह उपाधि उस समय सर्वोच्च सम्मान का द्योतक समझी जाती थी और कदाचित् ही विख्यात घराने के बड़े अमीरों को मिलती थी। सो अब उनकी गणना दिल्ली के अमीरों में की जाने लगी। इस उपाधि ने उन्हें गर्वित करने की अपेक्षा विनीत और उदार ही बनाया तथा दायित्वों के प्रति और अधिक सजग भी।

शाहआलम ने जब मिर्जा को इंग्लैण्ड भेजने का प्रस्ताव किया तो— 'जिसका नमक खाया उसके लिए यह भी हाजिर मानने वाले मिर्जा ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। कम्पनी ने नजराने का एक लाख रुपया यह कह कर पहले ही वसूल कर लिया कि मार्ग में चोर डाकुओं का खतरा होने से इतनी बड़ी राशि सुरक्षापूर्वक आसानी से नहीं ले जायी जा सकती। नजराने का यह रुपया उनके राजदूत को जलयान में ही दे दिया जायगा। शाह ने मिर्जा को मार्ग व्यय के चार हजार रुपये देकर विदा किया।'

जहाज हुगली नदी के सीने पर तैरता हुआ समुद्र में उतरा परन्तु मिर्जा को नजराने की राशि नहीं दी गयी। मिर्जा को आशंका हुई कि कहीं उनके साथ धोखा तो नहीं हुआ। उन्होंने जहाज के कप्तान से पूछ-तलाश की तो पता चला कि वह रुपया और पत्र क्लाइव ने अपने पास ही रख लिया है। क्योंकि वे एक और अन्य जहाज से इंग्लैण्ड आने वाले है। आशंका अब प्रतीति में बदल गयी कि उनके साथ सरासर धोखा हुआ है। उनके हृदय को बड़ा आघात लगा और वे बीमार पड़ गये। उन्होंने खाना-पीना भी छोड़ दिया था. किस मुँह से वापस हुआ जा सकेगा तथा पत्र के बिना उन्हें इंग्लैण्ड में पहचानेगा भी कौन कि वे शाहआलम के प्रतिनिधि हैं।

जहाज के डॉक्टरों ने उन्हें दवा बगैरा पिलाना चाहा परन्तु मिर्जा ने इसके लिए अनिच्छा जाहिर कर दी। इंग्लैण्ड में उनके बहुत से परिचित व्यक्ति थे और किसी प्रकार यह बात भी लंदन में पहुँच गयी थी कि मिर्जा शाहआलम के प्रतिनिधि रूप में यहाँ आ रहे हैं। मार्ग में पड़ने वाले कई देशों और बंदरगाहों का निरीक्षण करते हुए वे लंदन पहुँचे। जब उनके साथ घटी घटना के बारे में वहाँ के अधिकारियों ने जाना और यह भी जाना कि वे क्लाइव के व्यवहार से तथा अपने मिशन की असफलता से दुःखी होकर वापस भारत जाने की तैयारी कर रहे है, तो अँग्रेजों को यह डर सताने लगा कि कहीं उनकी काली करतूतों का पर्दाफाश न हो जाय।

इसका एक ही समाधान था कि उन्हें इंग्लैण्ड में ही रोका जाय। दो वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब क्लाइव इंग्लैण्ड नहीं आया तो मिर्जा ने वापस भारत आने का प्रबन्ध किया। अँग्रेजों ने उन्हें इंग्लैण्ड में रोकने का प्रयत्न किया। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में फारसी का प्रोफेसर बनाने का प्रस्ताव किया। यह भी लालच दिया कि बंगाल में उनके रिश्तेदारों को काफी पैसा देकर मालदार बना दिया जायेगा परन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ। उन्होंने समझ लिया कि वे दिल्ली-सम्राट, को मुँह दिखाने लायक नहीं रहे हैं। परन्तु जब वे भारत लौटे तब तक तो भारत की तस्वीर ही बदल गयी।

मिर्जा अहतशामुद्दीन का जीवन एक कर्त्तव्यनिष्ठ, ईमानदार और परिश्रमशील व्यक्ति की प्रेरक कहानी होते हुए भी अन्ततः हृदय द्रावक और करुण है। समय रहते जो कुटिल व्यक्ति की या समुदाय की कुटिलताओं को समझते नहीं उनके हाथ पछताने के सिवा कुछ नहीं आता। ईमानदारी, परिश्रमशील और कर्त्तव्य निष्ठ के साथ-साथ सजग चातुरी भी हो तो सुखद फल प्राप्त किये जा सकते हैं। मिर्जा ने अपने यात्रा के संस्मरण 'सफर नामा विलायत' में लिखा जिसमें अँग्रेजों की छद्मनीति को अनावृत किया गया है। ०००

विश्व मानवता के संदेशवाहक

स्वामी सहजानन्द—जिन्होंने संन्यास को सार्थक बनाया

प्राचीन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार संन्यास व्यक्ति के आत्मविस्तार का वह अन्तिम चरण होता था जहाँ जाकर वह परिवार से सब प्रकार से नाता तोड़ प्राणिमात्र से आत्मीयता जोड़ लेता था । अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम स्तर तक घटाकर अपनी समस्त शक्ति, ज्ञान, अनुभव का लाभ सारे विश्व को समभाव से बाँटता था । संन्यास आश्रम वह संस्था थी जो समाज के निरीक्षण, संचालन, नियन्त्रण और दिशा निर्धारण का कार्य भली प्रकार से सम्पादित कर सकती थी । संन्यासी होने का अवसर प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिलता था । उसके पात्रत्व की कसौटी भी बड़ी खरी होती थी । थोड़े-से ज्ञान वृद्ध ब्राह्मणों को यह सौभाग्य मिलता था ।

ज्यों-ज्यों आश्रम धर्म में विकृतियाँ आती गयीं त्यों-त्यों संन्यास की महान् गरिमा, महत्ता भी क्षीण होती गयी और आज स्थिति यह है कि संन्यासी का अर्थ मात्र भिक्षुक रह गया है । हजारों में से एक-आध व्यक्ति अपवाद हो सकता है । पर अन्य सभी आज के तथाकथित संन्यासी, साधु, बाबा, त्यागी समाज पर बहुत बड़ा बोझ बने हुए हैं ।

स्वामी सहजानन्द भी इसी समुदाय के एक घटक थे । उन्होंने इस वर्ग की समस्त दुर्बलताओं से ऊपर अपने को सर्वतोभावेन लोकहित के लिये समर्पित कर संन्यास को सार्थक किया । उन्होंने मठों में पड़े रहने और अकर्मण्यता का जीवन बिताने की अपेक्षा देश की स्वतन्त्रता व देशवासियों की, विशेषकर कृषकों की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कर्मक्षेत्र में आकर जो उद्योग किया वह उन्हें चिर-स्मरणीय बनाये हुये है ।

सन् १८६९ में गाजीपुर (उ. प्र.) के निकटवर्ती एक गाँव के सामान्य ब्राह्मण परिवार में जन्मे स्वामी सहजानन्द जब अठारह वर्ष के थे तभी उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया । बचपन में वे नवीं कक्षा तक पढ़ सके थे । सन्यासी बनने के पीछे उनका उद्देश्य शास्त्राध्ययन व योगाभ्यास ही था न कि किसी मन्दिर का अधिकारी बनने का ।

सन्यासी जीवन के थोड़े-से वर्षों के अनुभव से वे समझ गये कि ये परम्परा अत्यधिक विकृत हो चुकी है, बस संन्यास से तो गृहस्थ धर्म क्या बुरा था ? पर अब जब वे संन्यासी बन ही गये हैं । उन्हें पूर्व पद्धति के अनुसार लोक-सेवा का बहुत बड़ा क्षेत्र मिल गया है । उन्हें उसी क्षेत्र में जम कर कार्य करना है ।

भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए उन्होंने सामान्य जनता की जो दुरावस्था देखी तो वे उसे दूर करने के लिए कृत-संकल्प हो गये । आगे चलकर उन्होंने इस दुरावस्था को मिटाने के लिए जो काम किये वह बड़े क्रान्तिकारी सिद्ध हुए ।

काशी में रहकर विद्याध्ययन व साधना करते हुए उनको निकटवर्ती क्षेत्रों को देखने का अवसर मिला । उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बलिया के ब्राह्मण लोग अपने खेतों पर स्वयं कृषि कार्य नहीं करके दूसरों से कराते थे । वे खेती को पाप कर्म मानते थे क्योंकि इसमें जीव हत्या की सम्भावनाएँ रहती थीं । १९१४ ई. में भूमिहार ब्राह्मण महासभा में उन्हें आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने वहाँ प्रवचन में मुख्य बात यही कही कि आज की परिस्थिति में पुरोहित कर्म करने की अपेक्षा खेती करना अधिक श्रेयस्कर है । यह एक क्रान्तिकारी विचार था इसे सुन लोगों को यह तो आश्चर्य हुआ पर स्वामी जी ने उनकी शंकाओं का समाधान किया तो बात उनके गले उतर गयी ।

धीरे-धीरे स्वामी जी का ध्यान प्राणायाम और समाधि से हटकर लोकसेवा की ओर गया तो परम्परा के अन्ध-पुजारी लोगों ने उनका विरोध भी किया किन्तु उन्होंने विरोधियों की परवाह न करते हुए क्षेत्र के भूमिहार ब्राह्मणों की भिन्न-भिन्न शाखाओं को एक करने के उद्देश्य से समस्त बिहार में घूम-घूम कर ऐसे तथ्य एकत्रित किये जिनसे कि एक ही जाति के भिन्न-भिन्न गोत्रों के मध्य वैवाहिक तथा सम्बन्ध स्थापित हो सकें । इससे उनके बीच का बिखराव समाप्त हो सके । इन तथ्यों के आधार पर उन्होंने भूमिहार ब्राह्मण परिचय नामक चार-सौ पृष्ठ का एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ तैयार किया ।

स्वामी सहजानन्द बिहार और उत्तरप्रदेश के सीमावर्ती जिलों में यह कार्य कर रहे थे उन्हीं दिनों जालियाँवाला बाग काण्ड हो गया । इसका समाचार जब उन्हें मिला तो उनका मन भारत को अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के लिए जो जन-आन्दोलन चल रहा था, उसमें भाग लेने के लिये तड़प उठा । इसका फल यह हुआ कि गाँधी जी जब पटना आये तो स्वामी सहजानन्द ने उनसे सम्पर्क किया । गाँधी जी से मिलने के बाद वे उनके परम भक्त बन गये और असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए कटिबद्ध हो गये ।

नागपुर काँग्रेस अधिवेशन में भी उन्होंने भाग लिया । वहाँ से लौटकर अपने क्षेत्र में जोर-शोर से प्रचार करने लगे । जातीय सुधार के कार्य के साथ ही जनता पर उनका प्रभाव तो बढ़ ही चुका था, अब वे पैदल-पैदल ही गाँवों का दौरा करके जन-साधारण का काम

करने लगे । वे गाँधी जी के हर आदेश का पालन करते और काँग्रेस समर्थकों की संख्या में वृद्धि करते । इस कर्म के लिये उन्होंने न दिन को दिन समझा न रात को रात । पाँव में बिवाई फट गयी है तो भी उनका चलना नहीं रुकता । जो कुछ रूखा-सूखा मिल जाता उसे ही स्वीकार कर वे स्वतन्त्रता का शंखनाद किया करते ।

स्वामी जी ने राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर ही ध्यान नहीं दिया वरन् उन्होंने समग्र शोषण से जनता को मुक्त कराने का प्रयास किया । शोषण, अत्याचार, उत्पीड़न चाहे वह विदेशी शासकों द्वारा किया जाता हो या भारतीय जमींदारों द्वारा या पूँजीपतियों द्वारा, वे इसके विरोधी थे । उनका विरोध किसी जाति या वर्ग से न होकर शोषण व अत्याचार से था । अतः आगे चलकर वे राजनैतिक नहीं आर्थिक स्वतन्त्रता के पृष्ठ पोषण में ही निरत रहे ।

प्रिंस आफ वेल्स के आगमन के समय ददरी (बलिया) में हुई हड़ताल और प्रान्तीय कौंसिल की सदस्यता के चुनाव में हथुआ नरेश को हराकर काँग्रेस की धाक जमा देने के बाद उन्होंने शाहबाद के सिमिरी ग्राम को अपना कर्मक्षेत्र बनाया । वहाँ के निवासियों में से उन्होंने राम सुभग पाण्डे व राम आदर्श पाण्डे जैसे दृढ़ सत्याग्रही साथी ढूँढ़ निकाले । राम आदर्श पाण्डे को इस आन्दोलन में अपनी एक आँख की आहुति देनी पड़ी किन्तु उन्हें इस बात का कोई मलाल नहीं रहा ।

स्वामी सहजानन्द जी ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य बिहार और उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती जिलों में किया वह था किसान आन्दोलन, जो यहाँ से उठकर राष्ट्रव्यापी आन्दोलन बना । इसके पूर्व वे काँग्रेस के एक अग्रगण्य सेनानी की तरह कार्य करते रहे थे । उन्हें सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जेल भी जाना पड़ा । जेल में भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे रहे । वहाँ राजनैतिक कैदियों का एक संगठन बनाकर वे उन्हें गीता पढ़ाया करते थे । उनकी राजनीति का मूल उद्गम अध्यात्म ही था। जेल में उन्हें पर्याप्त समय मिला और उन्होंने गीता का गम्भीरतापूर्वक मनन-चिंतन किया ।

एक वर्ष की जेल काटकर वे गाजीपुर लौटे । यहीं आने के बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि काँग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति से अनुचित लाभ उठाने की गरज से कुछ अवसरवादी अमीर और जमींदार लोग इसमें घुस आये हैं । यह अब जन-सामान्य की पार्टी न रहकर अमीरों की पार्टी बन जायेगी इस बात की उन्हें भनक लग गयी । उन्होंने सामान्यजन विशेषकर कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने और उन्हें जमींदारों के शोषण तथा अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये उन्हें संगठित करने की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया ।

इस आन्दोलन में उन्हें काँग्रेस से सहायता नहीं भी मिल सकती है बहुत सम्भव है उसका विरोध भी सहना पड़ सकता है । यह सोचकर स्वामी जी ने अपना पृथक् केन्द्र स्थापित किया क्योंकि आज तक के अनुभवों से वे यह सीख ले चुके थे कि कई अच्छे-अच्छे संगठनों में अवसरवादी और स्वार्थी तत्त्वों ने घुसकर उन्हें सिद्धान्तहीन बना दिया । जनतन्त्र आने पर जनता को उसका समुचित लाभ मिले इसके लिये उसे अपने अधिकारों के लिए जागरूक बनाना बहुत जरूरी है । उनके अपने इस कार्य के लिये काँग्रेस से विशेष सहायता मिलने वाली नहीं है । यह अनुमान उन्होंने पहले ही लगा लिया था और अपने कृषक आन्दोलन के लिये कार्यकर्त्ता तैयार करने के लिए उन्होंने पटना से थोड़ा दूर बिहटा नामक स्थान में श्री सीतारामाश्रम की स्थापना की ।

वही हुआ जिनकी उन्हें आशंका थी । अगले दिनों उन्हें किसान आन्दोलन का सूत्र संचालन करना पड़ा । इस आन्दोलन में काँग्रेस से उन्हें कोई सहायता नहीं मिली । १९२६-२७ में उन्होंने 'लोक संग्रह' नामक निर्भीक पत्र का पटना से प्रकाशन आरम्भ किया। इसका उद्देश्य किसानों को जमींदारों के शोषण, अत्याचार से मुक्त होने के लिए संगठित करना था । यहीं से आगे चलकर किसान सभा संगठित हुई और उसने जोरदार आन्दोलन चलाया ।

१९३० में नमक सत्याग्रह में भाग लेने के कारण सहजानन्द जी छह मास की कड़ी सजा भोगकर वापस बिहटा आये तो उन्हें यह देखकर बड़ा खेद हुआ कि उनके दल के समानान्तर कुछ स्वार्थी लोगों ने नकली किसान पार्टी स्थापित कर ली है । स्वामी जी ने सारे राज्य का तूफानी दौरा करके उस नकली किसान सभा का भण्डाफोड़ किया

जमींदारों ने स्वामी जी को धन का लालच दिया । उनके लिए अच्छा सा मठ बना देने का लालच दिया पर वे जनहित के काम से हटे नहीं इन सब को ठुकराकर वे किसान सभा को मजबूत बनाते गये । इस प्रश्न को लेकर उन्हें काँग्रेस का भी विरोध सहना पड़ा किन्तु वे तो सत्य के समर्थक थे । सब कुछ सहते हुए भी उन्होंने इस किसान सभा को राष्ट्रीय स्तर पर विकसित किया ।

१९३७ में बिहार में काँग्रेस का मन्त्रिमण्डल बन जाने पर भी किसानों के हितों की उपेक्षा की गयी तो स्वामी जी ने आन्दोलन की गति और तेज कर दी । सन् १९३८ मे स्वामी जी पटना के सेक्रेटेरियट तक एक मील लम्बा जलूस लेकर गये । सामान्य जन शोषित वर्ग की इस बढ़ती शक्ति से सरकार भी भयभीत होने लगी । स्वामी जी को काँग्रेस छोड़नी पड़ी पर जनहित का जो कार्य उन्होंने हाथ में लिया था उसे नहीं छोड़ा । बिहार से उठकर यह कृषक आन्दोलन राष्ट्रव्यापी बना । सरकार ने किसानों के साथ सख्ती बरती । आन्दोलन व भूख हड़ताल में कई लोगों ने प्राणों की आहुति दी । स्वामी जी को भी दो वर्ष तक जेल भोगनी पड़ी । जमींदारी उन्मूलन में उनके इस आन्दोलन का बहुत बड़ा हाथ रहा । अगर यह किसान आन्दोलन नहीं चला होता तो बहुत सम्भव था जमींदारियाँ इतनी शीघ्र समाप्त नहीं होतीं ।

१९५० में स्वामी जी की मृत्यु हुई तब तक वे अपने इसी कार्य में लगे रहे । एक संन्यासी का समाज को दिया गया यह अनुदान उन्हें सच्चे संन्यासी की उस प्राचीन कसौटी पर खरा सिद्ध करता है । उनका यह जीवन संन्यासियों को अपना धर्म और जनता को जो सीख देता है वह कम मूल्यवान नहीं है ।

मातृ हृदय—मातृ उपासक—साने गुरुजी

अछूत और दलित वर्ग की जातियों के लिए महात्मा गाँधी ने सर्वप्रथम ऐसे शब्द का प्रयोग किया जो इतिहास में शायद ही कभी किसी के लिए किया गया हो । उनके शब्दों में 'अस्पृश्यता के सर्प

को मारे बिना हम कुछ नहीं कर सकते। अस्पृश्यता वह विष है, जो हिन्दू समाज के मर्म को खोखला कर रहा है। वर्णाश्रम ऊँच-नीच का धर्म नहीं है। भगवान् का कोई भी भक्त दूसरे को अपने से नीच नहीं समझता। उसे तो प्रत्येक भाई को अपना सगा मानना चाहिए।" इसी आधार पर गाँधीजी ने अस्पृश्यता निवारण को स्वराज्य के समकक्ष का सवाल माना था और छुआछूत के निवारण हेतु प्रबल अभियान भी छेड़ा था।

तब हरिजनों को भगवान् के मन्दिर में जाने और उनके पूजा विग्रह का दर्शन करने का भी अधिकार नहीं था। इसलिए हरिजनों को मंदिर प्रवेश का अधिकार हरिजनोद्धार का एक प्रमुख कार्यक्रम बना। इस आन्दोलन की लहर महाराष्ट्र प्रान्त में भी पहुँची और वहाँ भी हरिजनों के लिए मंदिर प्रवेश की माँग उठी। महाराष्ट्र में इस अभियान के प्रमुख सेनानी का दायित्व ग्रहण किया साने गुरुजी ने। उन्होंने अपने साथी कार्यकर्ताओं को लेकर मंदिर प्रवेश का सन्देश गाँव-गाँव जाकर सुनाया। गोवा से नागपुर तक सभी स्थानों पर उनके माध्यम से यह सन्देश गूँजा।

और सब जगह तो अपेक्षित सफलतायें मिलीं परन्तु महाराष्ट्र प्रान्त भर के प्रमुख तीर्थ स्थल पंढरपुर के मन्दिर में अछूतों को प्रवेशाधिकार नहीं मिला। ऐसे स्थानों पर हरिजनों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिलाने के लिए गाँधीजी, आचार्य विनोबा भावे तथा अन्य सर्वोदयी, गाँधीवादी नेताओं ने सत्याग्रह करने का आह्वान भी किया था। पंढरपुर में भी सत्याग्रह का प्रश्न उठा और उसके लिए स्वयं को प्रस्तुत किया साने गुरुजी ने। अनशन के लिए स्वयं को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था— "अगर हमारे जीने से कुछ नहीं होगा तो हमें अपने जीवन की आहुति देकर इस काम को करना होगा।"

सत्याग्रह की प्रेरणा देते हुए वे छह माह तक आस-पास के गाँवों में घूमे और हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का औचित्य प्रचारित करते रहे। यद्यपि इस कार्य को जनशक्ति के आधार पर भी सम्पन्न किया जा सकता था परन्तु गाँधीजी का समग्र जीवन दर्शन नैतिक बल और हृदय परिवर्तन पर निर्भर है। इस विचार का छह माह तक प्रचार करते हुए उन्होंने जन-जागरण किया और छह माह बाद अनशन के लिए बैठे।

एक दिन— दो दिन— तीन दिन यह अनशन लगातार ग्यारह दिन तक चला। साने गुरुजी अपने सकंल्प पर दृढ़ रहे अन्ततः पुजारियों को ही उनके सामने घुटने टेकने पड़े और पंढरपुर मन्दिर के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये। आरम्भ में पुजारियों तथा मन्दिर के अधिकारियों द्वारा लोकमत की उपेक्षा होते देख यह भय होने लगा था कि कहीं साने गुरुजी को अपने प्राण ही न गँवाने पड़ें। परन्तु साने गुरुजी नैतिक बल और न्याय तथा औचित्य के आधार पर पुजारियों का हृदय परिवर्तन कराने में सफल रहे। इस अवसर पर महात्मा गाँधी ने साने गुरुजी की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा— "पंढरपुर का पुराना और मशहूर मन्दिर उन्हीं शर्तों पर हरिजनों के लिए खोल दिया गया जैसे कि दूसरे हिन्दुओं के लिए। इसका समूचा श्रेय साने गुरुजी को है, जिन्होंने उसे हरिजनों के लिए हमेशा खुलवाने के मकसद से आमरण उपवास किया। उनकी यह हरिजन यात्रा इतिहास में अभूतपूर्व कही जायेगी।"

इस प्रकार सामाजिक न्याय और धार्मिक अधिकारों के लिए अपने प्राणों को भी दाँव पर लगा देने वाले साने गुरुजी का नाम सर्वोदय और स्वराज्य आन्दोलन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। उनका पूरा नाम पाण्डुरंग सदाशिव साने था लेकिन लोग श्रद्धा से उन्हें साने गुरुजी के नाम से ही अधिक जानते हैं। यह नाम आचार्य विनोबा भावे का दिया था— जो उनके आचरण और व्यवहार से वाणी तथा विचार से— वाणी और लेखन से लोक-मानस का शिक्षण करने के लिए गाँधीजी ने सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

साने गुरुजी का जन्म २४ दिसम्बर, १८९९ ई० को हुआ था। उनके पिता महाराष्ट्र में वडवली नाम के गाँव के छोटे से जमींदार थे। इस गाँव से जमींदारी के रूप में कोई विशेष आमदनी नहीं होती थी। जो होती थी वह भी उनके पिता अपने पर-दुःखकातर स्वभाव से विवश होकर दूसरे लोगों की आवश्यकताओं में लगा देते थे। परिणामतः परिवार को सदैव आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा। साने गुरुजी की माता भी बड़ी संस्कारवान महिला थीं— वे भी अपने पति के कदम व कदम चलती थीं। दोनों का स्वभाव इतना मेल खाता था कि दोनों ने एक-दूसरे को अपने कार्यों में बाधक नहीं पाया।

पूरे परिवार को सदैव अभावग्रस्त स्थिति में रहना पड़ा परन्तु संस्कारवान माता-पिता ने अपने बच्चों को इतना स्नेह और वात्सल्य दिया कि उन्हें कभी अभावों का अनुभव ही नहीं हुआ और न ही दूसरे सम्पन्न बच्चों से अपनी तुलना करने की इच्छा। माता-पिता के स्वभाव का प्रभाव अनिवार्य रूप से सन्तान पर पड़ता है और उस स्थिति में तो और भी अधिक जब माता-पिता इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखते हों। विशेषतः उनकी माता ने साने गुरुजी को सुसंस्कृत व्यक्तित्वसम्पन्न बनाने पर ज्यादा ध्यान दिया। छोटी-छोटी बातों को लेकर वे अपने बच्चों को इस प्रकार शिक्षित करतीं कि साने गुरुजी में ऊँचा और अच्छा बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत हो गयी और जोर भी पकड़ गयी।

शिक्षा प्राप्ति के लिए निर्वाह की भाँति ही उन्हें काफी तंगियों का सामना करना पड़ा। घर में कभी-कभी तो फाका भी हो जाता। ऐसी स्थिति में उनकी माता भगवान् की इच्छा में सन्तुष्ट रहने तथा ध्येयमुखी दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करतीं। समय पर साने गुरुजी पाठशाला की फीस भी नहीं दे पाते— अक्सर भूखे पेट ही स्कूल दौड़ना पड़ता और इधर माँ का स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता जा रहा था। इन सब परिस्थितियों में वे बजाय हताश होने के इस धुन में रहने लगे कि किस प्रकार माँ को आराम दिया जाय। एक ही रास्ता था कि खूब पढ़ें और वे दिन-रात मेहनत से जी लगाकर खूब पढ़ते परन्तु उनका वह सपना अधूरा ही रह गया जो उन्होंने अपनी माँ के लिए देखा था। जिस समय वे मैट्रिक में अपने गाँव से बाहर पढ़ रहे थे— उनकी अनुपस्थिति में माँ स्वर्ग सिधार गयीं।

साने गुरुजी को लगा सब-कुछ लुट गया। अब उन्हें पढ़ने में कोई रस नहीं आता। तभी उनके मन में यह विचार आया कि शरीर ही कोई माँ नहीं मातृ-भावना तो शरीर से परे है और उसका विकास करना— माँ की आकांक्षा पूरी करने के लिए साधनारत रहना ही सच्ची मातृ-सेवा है और सचमुच ही उन्होंने मातृ भावना का उच्चतर विकास किया। अपनी सर्वाधिक चर्चित कृति में मातृशक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"माता के रूप में ही भारतीय संस्कृति की अपार महिमा है। वह सार सम्भाल करने वाली है। बच्चों को सँभालने वाली, पति को सम्भालने वाली, ध्येय को सम्भालने वाली है। वह किसी को भी मरने नहीं देती ईश्वर को भी माँ कहकर पुकारने से बढ़कर और कोई अर्थ वाली उपयुक्त पुकार नहीं है। यदि ऐसी कोई वस्तु है जिससे ईश्वर के प्रेम की कल्पना हो सकती है तो वह 'माँ' ही है।"

यही भावना आगे इन शब्दों में व्यक्त हुई है— "विठ्ठल (ईश्वर) माँ है। भारत माँ है। गाय माँ है। भारतवर्ष में सब जगह माता की वंदना पहले की जाती है। कोई भी मंगल कार्य क्यों न हो सबसे पहले माँ को ही प्रणाम किया जाता है।"

न केवल 'भारतीय संस्कृति' पुस्तक में वरन् जीवन के हर क्षेत्र में उनकी यह मातृ-भावना ही प्रबल रही है। मातृ-शक्ति के प्रति श्रद्धा जगाने के लिए भी आगे चलकर उन्होंने कई प्रयास किये और 'श्यामयी आई' जैसी पुस्तक लिखी, जिसमें उनकी माँ के संस्मरण संकलित हैं। इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों की आँखें अनायास ही अश्रुपूरित हो उठती हैं। जिस लेखक की कृति में इतनी भाव-प्रवणता हो उसकी अन्तःस्थिति का परिचय और आन्तरिक निष्ठाओं का बोध शब्दों में नहीं दिया जा सकता।

मातृ-भावना के विकास में इतनी ऊँची मंजिलों को अपना लक्ष्य बनाकर चलते हुए साने गुरुजी उस समय पुनः पढ़ने लगे। यद्यपि बाह्य परिस्थितियाँ तो पहले से भी अधिक विकट हो उठी थीं लेकिन उन्होंने पुरुषार्थ और परिश्रम के बल पर उन सभी परिस्थितियों को परास्त करते हुए एम. ए. पास किया और अमलनेर के तत्वज्ञान मन्दिर में प्रवेश प्राप्त किया। एक साल वहाँ रहने के बाद वे अमलनेर हाईस्कूल के शिक्षक बनकर युवकों को पढ़ाने लगे। यद्यपि उनके सामने और भी क्षेत्र पड़े थे— उन दिनों तो एम. ए. पास युवकों का अच्छा मान था और ऊँचे पदों पर भी ऐसे युवकों की सदा आवश्यकता अनुभव की जाती। परन्तु साने गुरुजी ने शिक्षक का कार्य ही चुना।

वे जानते थे कि छात्रों का रचनात्मक मार्गदर्शन कर उन्हें देश के नव-निर्माण के लिए तैयार किया जा सकता है और यह कार्य भावनाशील तथा कसक रखने वाले लोग ही कर सकते हैं। सौभाग्य से यह टीस उन्होंने अपने में उत्पन्न कर ली थी अतः उन्होंने शिक्षक का पेशा ही चुना। इस नौकरी से उपार्जन का एक रास्ता तो खुला परन्तु उन्होंने अर्जित राशि का उपयोग अपनी अपेक्षा ऐसे विद्यार्थियों पर ही अधिक किया जो उनकी-सी परिस्थितियों में रहते हुए पढ़ रहे थे। उनका यापन स्तर पूर्ववत ही रहा। अमलनेर के हाईस्कूल में छात्रों से सम्पर्क बना रहे इस उद्देश्य से उन्होंने छात्रावास का काम भी सम्हाला। वहाँ विद्यार्थियों को उन्होंने मातृवत् प्यार दिया। यद्यपि वे काय-कलेवर से तो पुरुष थे परन्तु उनके सीने में माँ की ममता भरा हृदय था। उसी ममत्व का परिणाम कहना चाहिए कि उनके शिष्य छात्र त्यागी और संयमी बन गये। उन्होंने ऐसे छात्रों को भी सुधारा जो विलासप्रिय और उद्दण्ड-उद्धतता के लिए कुख्यात रहे थे।

स्कूल के पाठ्यक्रम के अतिरिक्त उन्होंने अन्य विषयों की जानकारी देना भी अपने अध्यापन में सम्मिलित किया। इस प्रकार के अतिरिक्त शिक्षण का कार्य मुख्यतः छात्रों के चारित्रिक निर्माण को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता था। कुछ दिनों बाद विद्यार्थियों के लिए हस्तलिखित पत्र निकलने लगे। यह प्रक्रिया आगे चलकर छपे हुए 'विद्यार्थी' मासिक के रूप में विकसित हुई।

१९२०-२१ में आरम्भ हुआ असहयोग आन्दोलन। यह आन्दोलन अँग्रेजी शासन के विश्वासघात के जवाब में छेड़ा गया था। प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों का सहयोग अँग्रेजी सरकार ने इस वचन-बद्धता के आधार पर लिया था कि वह धीरे-धीरे भारतीयों को उनका देश सौंप देगी परन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अँग्रेज सरकार अपने वचनों से मुकर गयी और उससे खिन्न तथा क्षुब्ध होकर महात्मा गाँधी, काँग्रेसी नेता तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आन्दोलन का शंखनाद किया। यह आन्दोलन दिनों-दिन बढ़ता गया और कुछ ही वर्षों में पूर्ण स्वाधीनता की माँग का प्रतीक बन गया। साने गुरुजी ने इस स्थिति में अनुभव किया कि उन्हें अब भारतमाता पुकार रही है। और वे असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े— उनके साथ उनके पुत्रवत विद्यार्थी भी।

अँग्रेजी सरकार ने विद्यार्थी मासिक-पत्र भी बन्द करा दिया क्योंकि उसमें राष्ट्रभक्तिपूर्ण लेख निकलते थे। साने गुरुजी जब असहयोग आन्दोलन में कूदे तो अमलनेर के अधिकारियों ने उन्हें पकड़ कर कारावास में भेज दिया। जेल में उनके अन्य परिचित, मित्र, साथी भी थे, वे अपने साथियों को निरन्तर देश के लिए कुर्बानी और त्याग बलिदान की प्रेरणा दिया करते। अन्य कैदियों पर उनका गहरा प्रभाव होता था अतः अधिकारियों ने उन्हें सुदूर दक्षिण की त्रिचनापल्ली जेल में भेज दिया। यहाँ उनसे मिलने-जुलने वाले तो थे नहीं— परिचय करने के लिए भी वहाँ की भाषा का जानना आवश्यक था अतः उन्होंने दक्षिण की भाषायें वहाँ रहकर सीख लीं।

१९३० में उनकी रिहाई हुई। इसके बाद वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के साथ-साथ एक ऐसी संस्था खोलने का स्वप्न देखने लगे। जहाँ देशभर के लोगों में भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए कुछ किया जा सके। आन्तर भारती नाम की इस संस्था का स्पष्ट चित्र मस्तिष्क में बहुत कुछ रवीन्द्रनाथ टैगोर की विश्व-भारती जैसा था। इस स्वप्न को साकार किया जा सके इससे पूर्व ही सरकार ने उन्हें १९३२ में पुनः गिरफ्तार कर लिया और जेल भेज दिया।

उस समय धूलिया जेल में महाराष्ट्र के कई तपे हुए देशभक्त नवयुवक थे। जमनालाल बजाज, विनोबा भावे आदि भी उस समय कारावास कर रहे थे। विनोबा जी साने गुरुजी से परिचित हुए, तो बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने साने गुरुजी को धूलिया जेल में रह

रहे महाराष्ट्रीय युवकों को संस्कारित करने का दायित्व सौंपा और यहीं से उन्हें साने सर के स्थान पर साने गुरुजी कहा जाने लगा। साने गुरुजी तथा विनोबा भावे में प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध कायम हो गये। जैसे दोनों में पूर्व जन्म के सम्बन्ध हों। इन्हीं दिनों विनोबा भावे ने कैदियों को गीता समझाने के लिए प्रति रविवार गीता के एक अध्याय पर प्रवचन देना आरम्भ किया। २१ फरवरी से ये प्रवचन आरम्भ हुए तथा अन्तिम प्रवचन १९ मई को हुआ। इन प्रवचनों में विनोबा भावे ने गीता पर अपना दृष्टिकोण सरल भाषा में व्यक्त किया— जिसमें गीता के गूढ़ ज्ञान का सहज विश्लेषण भी आ गया। साने गुरुजी प्रवचन के समय कागज-कलम लेकर बैठते और नोट करते जाते। बाद में यह प्रवचन (गीता-प्रवचन) के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। यह पुस्तक अब तक पच्चीस संस्करण में छप चुकी है तथा लाखों प्रतियाँ बिक चुकी है। यही नहीं देश-विदेश की २० अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद प्रकाशित हुआ है और इसका श्रेय साने गुरुजी को ही जाता है। विनोबा भावे ने स्वयं लिखा है— "मेरी तो कल्पना में भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी जैसा सहृदय और शार्ट हैण्ड से लिख सकने वाला लेखक यदि नहीं मिल पाता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना उन्हीं में इसकी परिसमाप्ति हो जाती।"

विनोबा और साने गुरुजी का संयुक्त प्रभाव धूलिया जेल में इतना गहरा हो गया कि अंग्रेज अधिकारियों को चिन्ता होने लगी और अन्ततः दोनों को अलग-अलग करना ही उन्होंने हित में समझा। साने गुरुजी को वहाँ से हटाकर नासिक जेल में भेज दिया गया। वहाँ रहकर उन्होंने कई कवितायें, संस्मरण तथा गद्य साहित्य लिख डाला। पत्र, श्यामची आई तथा धडपडणारी भुले आदि के रूप में ये पुस्तकें प्रकाश में आयीं। पत्री की कवितायें तो इतनी क्रान्तिकारी सिद्ध हुईं कि अंग्रेज सरकार ने उसे जब्त ही कर लिया।

जेल से छूटने के बाद वे अज्ञात रहने लगे और अपने कार्य करते रहे। विद्यार्थियों का समुदाय ही प्रमुख रूप से उनका कार्यक्षेत्र होता था। अज्ञातवास में पूना में रहते हुए उन्होंने मराठी भाषा की कोई दो हजार ओवियों का संकलन किया जो बाद में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ।

उन दिनों स्वाधीनता ही उनकी आत्मा की पुकार बन चुकी थी तथा भारत माता की सेवा ही एकमात्र कार्य। इसके लिए उन्होंने अहर्निश परिश्रम किया। महाराष्ट्र में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के लिए तो उन्होंने अपने प्राणों की बाजी ही लगा दी। वे इस बात के लिए कृत संकल्प थे कि एक वर्ष में कांग्रेस की सदस्य संख्या एक लाख हो जाय। राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए उन्होंने कांग्रेस नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला।

१९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध हुआ। राष्ट्रीय नेता जेल में ठूँसे जाने लगे। साने गुरुजी को भी गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। रिहा होने पर उन्होंने जन-जागरण की नयी पद्धति अपनायी। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के अनेकों किस्से और घटनायें वे गाँव-गाँव जाकर सुनाने लगे।

१९४८ में महात्मा गाँधी की हत्या कर दी गयी। यह हत्या अपने ही देश के एक युवक ने की थी उसका उन्हें काफी दुःख हुआ और इसके प्रायश्चित के लिए उन्होंने २१ दिन का उपवास किया। उन्हीं दिनों साम्प्रदायिक तनाव बढ़ा और जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। साने गुरुजी जगह-जगह शान्ति स्थापना के लिए जाने लगे। ११ जून, १९५० ई० को उनका निधन हो गया। उस समय उन्हें सम्भवतया अपने जीवन से पूर्ण सन्तोष था कि उन्होंने अपनी लौकिक माता की आकांक्षायें सच्चे अर्थों में पूरी कर दी हैं।

धर्मात्मा सुचारु नरेश की न्यायप्रियता

समुद्र के तट पर बसा वह प्रदेश धरती का स्वर्ग कहा जाता था। प्रकृति का प्रसन्न दर्शन, सुस्वादु अन्न से भरे भण्डार, निर्मल नीर से परिपूर्ण जलाशय, फुलवारियों की प्रफुल्ल सुमनावली, फलों, औषधियों और बहुमूल्य काष्ठ से भरपूर वन श्री। प्रजाजन निष्ठा और आस्था के प्रतिरूप। श्रद्धा-भक्ति, भावना और सहानुभूति से सम्पन्न आबाल, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सन्तुष्ट, सुखी और समृद्ध, जीवन का आनन्द लेते हुये यह जानते ही न थे, कि उनकी मातृभूमि के अतिरिक्त कहीं कोई अन्य स्वर्ग भी है और अपने इस स्वर्ग को उन्होंने न्याय, नियम, सहयोग, सह-अस्तित्व, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बल पर स्वयं रचा था। आत्मनिर्मित अपने उस स्वर्ग से उन्हें बहुत प्रेम था। जन-जन अपने प्राणपण से अपनी उस श्री को बनाये रखने में सदा सावधान तथा संलग्न रहते थे।

उस प्रदेश के पूतचरित्र सुचारु नरेश विषय, वासना भोग विलास, शोषण-पीड़न से सर्वथा विरत आत्मोपार्जित अजीविका में ही विश्वास करते थे। राजकोष का एक पैसा भी अपने पर खर्च करना पाप मानते थे और महामात्य। वह तो सामान्यजन से भी अधिक परिश्रम करते और साधारण स्थिति में रहते थे। प्रजा की सेवा करने का वह कोई पारिश्रमिक न लेते थे। स्वयं खेती करते और सन्तुष्ट रहते। ऐसे शुभ संस्कार और पूत चरित्र के रक्षक और शिक्षक पाकर क्यों न प्रजाजन वैसे बनते और क्यों न वह प्रदेश स्वर्ग का उपमान बनकर सर्वसाधनों से सुसम्पन्न होकर सुखी रहता।

एक बार झंझावात से विक्षुब्ध वह समुद्र भयंकर हो ही उठा। ऊँची-ऊँची तरंगों के अंक में फँसकर एक व्यापारी का बहुमूल्य सामग्री से भरा जहाज समुद्र में डूब गया। किसी प्रकार वह व्यापारी एक सहायक नौका के सहारे तट पर आकर लग गया। किन्तु उसने उस जीवन को व्यर्थ समझा। वह धन-कुबेर से भिखारी बन चुका था। उसका सर्वस्व उस समुद्र के तल में समा चुका था। समुद्र-तट पर बैठा वह विलाप करता हुआ, भाग्य को कोस रहा था। तभी एक व्यक्ति आया और उससे दुःख का कारण पूछा। उस व्यापारी ने रोते हुये अपना दुर्भाग्य कह सुनाया। उस व्यक्ति ने उस दुःखी व्यापारी को ढाढस बँधाया और राजा के पास जाकर सहायता की प्रार्थना करने

को कहा । व्यापारी को आशा बँध गई और वह नगर की ओर चल दिया ।

नागरिकों द्वारा निर्दिष्ट किये संकेतों के अनुसार वह राजा के निवास पर पहुँचा । किन्तु उसे विश्वास न हुआ कि राजालय हो सकता है । उस निवास और नगर में देखे अन्य निवासों में कोई विशेष अन्तर न था । उसने विश्वास के लिये पास ही जाते हुये एक व्यक्ति से पूछा— क्या राज-निवास यही है ? 'हाँ भद्र' उत्तर सुनकर व्यापारी झिझकता हुआ अन्दर बढ़ा । उसे कोई द्वारपाल अथवा प्रहरी रोकने नहीं आया और वह आगे बढ़कर एक सुन्दर उद्यान से घिरे एक विशाल प्रांगण के द्वार पर आकर रुक गया । तभी सुना— 'आइये भद्र, निस्संकोच चले आइये । व्यापारी ने पास जाकर देखा कि एक स्फटिक वेदिका पर अमराई की सघन छाया में एक अत्यन्त सुन्दर, स्वरूप और तेजस्वी युवा बैठा हुआ सन कात रहा है ।

उसने क्षण भर अपना काम रोककर आगन्तुक को पास ही बनी उपवेदिका पर बैठने को कहकर कहा ''यात्री मालूम होते हैं ।'' कहिये कैसे कष्ट किया । युवक का काम पुन: शुरू हो गया था । व्यापारी ने कहा— ''भद्र मैं मुसीबत का मारा एक व्यापारी हूँ, इस प्रदेश के राजा से मिलकर कुछ निवेदन करना चाहता हूँ । आप मुझे उनके दर्शन करा दें । बड़ी कृपा होगी ।''

युवक ने बड़े सौम्यभाव में बतलाया, ''मैं ही इस प्रदेश का राजा कहा जाता हूँ । कहिये आपको क्या कहना है ।'' व्यापारी श्रद्धा से आत्मविभोर होकर चरणों पर गिरकर रो उठा । राजा ने अपना सन और चरखा एक ओर हटाकर व्यापारी को ढाढस दिया और अपनी व्यथा बतलाने को कहा ।

व्यापारी ने रुँधे हुये कंठ और भरी हुई आँखों से अपनी दु:ख-कथा कह सुनाई । राजा ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी खोई हुई सम्पत्ति वापस मिलेगी और एक चिट्ठी के साथ महामात्य के पास भेज दिया ।

व्यापारी महामात्य के निवास पर पहुँचा और यह देखकर चकित रह गया कि प्रदेश के महामात्य बाहर से जल भर कर ला रहे थे । व्यापारी ने नमस्कार करके पत्र सेवा में प्रस्तुत किया । महामात्य ने पत्र पढ़ा और वे तुरन्त व्यापारी को साथ लेकर कार्यालय आये । वहाँ उन्होंने समुद्र के नाम एक आदेश लिखा कि इस व्यापारी का जहाज तुरन्त वापस कर दिया जाय— और उस पर राजमुद्रा अंकित कर व्यापारी को सौंपते हुये निर्देश किया कि वह पत्र को समुद्र में पहुँचा दे ।

व्यापारी ने समुद्र-तट पर पहुँच कर उस पत्र को एक पत्थर से बाँधकर समुद्र में फेंक दिया और किनारे पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा । कुछ ही देर बाद उसका विशाल व्यापार-पोत समुद्र के बाहर सकुशल आकर किनारे पर लग गया । व्यापारी पुन: राजा के पास आया और पैरों पर गिर पड़ा । राजा ने पूछा आपका जहाज मिल गया । व्यापारी ने 'हाँ' उत्तर दिया और हाथ जोड़कर निवेदन किया— 'महाराज, अब मैं इस जहाज को ले न जाऊँगा । आप इसे उपहार रूप में स्वीकार करें ।''

राजा ने मुस्कराते हुये पूछा— ''श्रेष्ठी ! क्या तुम्हारे देश में किसी आपत्तिग्रस्त की सहायता करने का उपहार भी लिया जाता है ? यदि ऐसा है तब तो निश्चय ही तुम्हारे देश में जल नहीं बरसना चाहिये ।'' नहीं, महाराज ! पानी खूब बरसता है ।'' व्यापारी ने उत्तर दिया । 'तब वह पानी अवश्य ही उन पशु-पक्षियों के पुण्य-प्रताप से बरसता है जो अपनी सेवा और उपकार के बदले में कोई उपकार न तो लेते हैं और न चाहते हैं । आपकी विपत्ति का निवारण ही मेरा उपहार है । जाओ और आनन्दपूर्वक अपनी मातृभूमि के दर्शन करो ।'

साधुओं के लिये मार्गदर्शक—स्वामी सोमदत्त गिरि

एक थे साधु । एक गाँव के शिव मंदिर में पूजा किया करते थे । गाँव वालों ने उनकी आजीविका के लिये कुछ सम्पत्ति व थोड़ी जमीन लगा दी थी । उस जमीन का कोई उपयोग न हुआ । साधु के लिये गाँव वाले ही भोजन की, दूध-पानी की व्यवस्था करते थे । जैसी स्थिति आज सामान्य साधुओं की है ठीक वैसी ही, उसी परम्परा के यह भी एक साधु बाबा थे, जिन्हें न तो लोकशिक्षण से कोई प्रयोजन था न तप-साधना से । स्वावलम्बन की बात तो बेचारे सोचते भी कहाँ से ।

यह कोई कहानी नहीं एक सत्य घटना है । जो इन पंक्तियों में उद्धृत की जा रही है । दिल्ली से कोई २० मील दूर दिल्ली-कलकत्ता ग्रान्ड ट्रंक रोड पर अब— स्थित बुलन्दशहर जिले का भूमदादरी गाँव है यहीं पर वह मन्दिर है जहाँ इस प्रकार के एक बाबा जी रहा करते थे ।

कुछ दिन में एक आत्म-जिज्ञासु वैरागी शिष्य भी उधर आ गुजरे । बाबा जी को जीवन के अन्तिम दिन सेवा-सुश्रूषा के लिये एक चेले की आवश्यकता भी थी सो इस बात का कोई ध्यान किये बिना कि उसकी जिज्ञासाओं की कोई तृप्ति की जा सकती है अथवा नहीं । उस अबोध शिष्य को आत्मज्ञान का कोई प्रकाश एवं मार्गदर्शन दिया भी जा सकता है या नहीं, सहर्ष शिष्य वरण कर लिया गया। शिष्य का नाम था सोमदत्त गिरि ।

गिरि महाशय ने थोड़े दिन के ही सत्संग से जान लिया कि उन्हें यहाँ क्या मिल सकता है । उन्हें साधु-बाबाओं की दयनीय स्थिति का बड़ा दु:ख हुआ । उन्होंने सोचा क्या यही वह लोग हैं जो समाज का मार्गदर्शन किया करते थे । क्या यही वह वर्ग है जिसे समाज ने भगवान् की तरह पूजा और यह आशा की कि वे जन-जन के कल्याण का, देश, धर्म, जाति एवं संस्कृति के उत्थान की पावन ज्योति जाग्रत रखेंगे । जब समाज शिक्षण के कोई लक्षण उनमें न जान पड़े तो सोमदत्त गिरि को बड़ा दु:ख हुआ, पर अब वे पीछे कदम हटाकर गृहस्थ में भी नहीं आ सकते थे । उससे पंथ कलंकित होने का भय था । इसलिये उन्होंने सोचा यदि हम समाज को कुछ दे नहीं सकते तो हमें उस पर आश्रित रहने का भी कोई अधिकार नहीं होना चाहिए ।

जब तक सोमदत्त के गुरु जीवित रहे तब तक वे चुप रहे । स्वाध्याय के द्वारा, कुछ कथा-कीर्तन के द्वारा अपनी योग्यता और

भक्ति बढ़ाते रहे। इसी बीच गुरु की मृत्यु हो गई। अब श्री गिरि ने विचार किया कि क्या उन्हें अब तक चली आ रही परम्पराओं पर ही चलते रहना चाहिये अथवा कुछ ऐसा सुधार करना चाहिये जिससे ग्रामवासियों के हित में मन्दिर का कुछ उपयोग भी हो सके, उसमें लगी सम्पत्ति निरर्थक न पड़ी रहे और अपना साधु-व्रत भी कलंकित न हो।

अपनी विचार शक्ति ने काम नहीं दिया तो उन्होंने कई शिक्षित व्यक्तियों से परामर्श किया। कई लोगों ने कई काम के सुझाव दिये जिससे उनकी कठिनाई का सरल समाधान निकल आया।

उन्होंने पहला काम तो यह किया कि मन्दिर में नियमित कीर्तन की व्यवस्था की जिससे नवयुवक, बच्चे और वृद्ध जो अपने खाली समय का उपयोग झगड़े और राजनीतिबाजी में किया करते थे वे उन बुराइयों से बचने लगे। लोगों का मनोरंजन होने लगा और धर्मभावना के प्रसार से परस्पर प्रेम भाव, आत्मीयता, सहयोग और संगठन के भाव भी पनपने लगे। जन-मार्गदर्शन के लिये तो आज साधुओं के उत्तरदायित्व बहुत अधिक और बहुत कठिन हैं किन्तु इतना भी क्या कम था कि श्री सोमदत्त गिरि ने अवांछनीय परम्परा को उसी तरह तोड़कर रख दिया जिस तरह किसी अयोग्य और अशिक्षित बाप का शिक्षित और समझदार बेटा परिवार में अब तक चल रहे रूढ़िवादी रीति-रिवाजों, अन्ध मान्यताओं, मृतक भोज, शादियों में अपव्यय से जेवर जकड़े के मोह, बालिकाओं को न पढ़ाने आदि की संकीर्णताओं को तोड़कर रख देता है और पारिवारिक जीवन में नये आदर्शों, कई और विवेकशील मान्यताओं को प्रतिष्ठित और क्रियान्वित करता है।

सोमदत्त ने एक बार मन्दिर के आस-पास दृष्टि दौड़ाई। सब जगह झाड़-झंखाड़ भरा पड़ा था। पेड़-पौधों की न कभी निकाई हुई थी न गोड़ाई, न ही उन्हें खाद-पानी मिला था, इसलिये वे ऐसे सूख गये थे जिस तरह मार्गदर्शन, उचित पालन-पोषण एवं संरक्षण के अभाव में छोटे बालकों के संस्कार सूख जाते हैं। श्री गिरि ने कई दिन केवल सफाई में लगाये, अनावश्यक झाड़ियाँ, सूखे पेड़ काटकर लकड़ी एक स्थान पर जमा की और जो कूड़ा-करकट था उसे दूसरी तरफ इकट्ठा करके आँच लगा दी। अब वही स्थान साफ-सुथरा व सुन्दर दीखने लगा जो लोग न भी आना चाहते थे वह भी मन्दिर आने लगे। सौन्दर्य के आकर्षण के साथ ही ग्रामीणों की श्रद्धा-भक्ति का भी विकास होने लगा।

दूसरा काम, जो श्री सोमदत्त की प्रतिष्ठा बढ़ाता है वह यह था कि आपने अन्न के लिये पराश्रय त्याग दिया। सूखी लकड़ी बेचकर चार गायें खरीदीं, उनके दूध से अपना अधिकांश भोजन का काम चलाते। बचा हुआ दूध बेच देते उससे जो पैसा बचता उसका छोटा अंश अपने भोजन, मन्दिर के प्रसाद आदि पर लगाते, शेष से जमीन को खेती योग्य बनाने और एक बाग लगाने का काम प्रारम्भ किया। पहली बार ही उन्हें खेतों से ६०० रुपये का गेहूँ मिला। यह उस हिस्से से अलग था जिसे उन्होंने अपने खाने के लिये रख छोड़ा था। इस धन से मन्दिर की सफाई, सजावट, कथा, कीर्तन, स्वागत-समारोह, सत्कार का खर्च खूब मजे में चलने लगा और गाँव वालों के असहयोग की जो बात थी सो दूर हो गई।

एक फसल उतारने के बाद जमीन खाली पड़ी रहती थी, उसका कैसे उपयोग किया जाये ? यह प्रश्न कई दिन तक गिरि जी को परेशान किये रहा, अन्त में उसका भी एक उपयुक्त हल निकल ही आया।

गिरि जी ने तीन गायें बेच दीं। अपने और मन्दिर में भोग के लिये एक गाय रखी। कुछ पैसा पहले एकत्रित था उससे एक ट्यूबवेल लगवा दिया और जमीन को खाद देकर उसे फसल के अतिरिक्त समय में साग-भाजी पैदा करने का कार्य आरम्भ कर दिया। बाहर खेतों में घीया, टिन्डे, टमाटर, भिण्डी आदि सब्जियाँ बोनी प्रारम्भ कर दीं। उससे उन्होंने दूध की कमी पूरी की, शेष को बेचने की व्यवस्था कर दी। इस तरह फसल और साग-सब्जी के दोहरे उपयोग ने मन्दिर की आर्थिक स्थिति सम्भाल दी। उन्होंने ८-८ घण्टे लगातार का कठोर श्रम खेतों में किया। फसल की निकाई-गुड़ाई तक अपने हाथों की। खुरपी-फावड़ा ही उनके धूनी और कमंडल हैं, वेष से ही वे एक साधु लगते हैं अन्यथा हैं वे शत-प्रतिशत किसान ही।

जिस तरह कोई चतुर किसान अपनी उन्नति के लिये तरह-तरह के उन्नत बीज, खाद और पानी की व्यवस्था के नये और उन्नत प्रयोग करता है, मन्दिर की खेती की उन्नति के लिये श्री सोमदत्त जी ने भी वैसे ही प्रयोग किये हैं। सोनारा ६४ किस्म का गेहूँ और मैक्सिकन गेहूँ का बीज लाकर बोया पर उपज बढ़ाने के लिये कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट व यूरिया आदि का भी उपज-वृद्धि साधनों में उपयोग किया और उसके सत्परिणामों से न केवल साधु-महन्त वरन् गाँवों की किसान जनता भी बहुत प्रभावित हुई। गिरि जी ने ग्रामीणों के मनोरंजन और देश-विदेश की गतिविधियों की जानकारी के लिये रेडियो भी लगाया है। इस तरह मन्दिर को समुन्नत और स्वावलम्बी संस्था का सफल रूप प्रदान करने का श्रेय श्री सोमदत्त जी गिरि ने प्राप्त किया और यह सिद्ध कर दिया कि साधुओं को यदि सामाजिक जीवन में अपनी प्रतिष्ठा और उत्तरदायित्व के पालन की योग्यता बनाये रखनी है तो उन्हें स्वावलम्बी, कर्मठ और परिश्रमी होना चाहिये। जो औरों को मार्ग दिखाता, औरों का कल्याण करता है, उसे पर-मुखापेक्षी और परावलम्बी क्यों होना चाहिये।

साधुवेश का गौरव बढ़ाने वाले— स्वामी शंकरदास

इन पंक्तियों में जिस व्यक्ति का जिक्र किया जा रहा है, इसका संक्षिप्त परिचय इतना ही है कि वे एक साधु हैं, वेश से भी और वृत्तियों से भी। समाज के सहारे जीवित रहे तो बदले में उनसे अधिक सेवा भी करते रहे। साधु का यही धर्म है कि वह अपना जीवन तुच्छ भोगों से हटाकर परोपकार में लगाये। उसके बदले में समाज जो कुछ रूखा-सूखा दे उसे भिक्षा के रूप में नहीं, प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लें। भिक्षा को अधिकार नहीं मानना चाहिये। भिक्षा से प्राप्त धन नशा, संचय-भोग जैसी दुष्प्रवृत्तियों में नहीं लगाया चाहिये।

प्रथम भेंट में बाबा शंकरदास के बारे में भी धारणा ऐसी ही थी। एक हृष्ट पुष्ट अधेड़ व्यक्ति को भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाते हुए देख बड़ा कष्ट हुआ। हमारे मन में विचार आया कि आज देश में वैसे ही खाद्य-संकट है, दूसरे इन आलसी बाबाओं का बोझ और ढोना पड़ता है। क्या ये अपने उदर-पोषण के लिये भी मजदूरी नहीं कर सकते ? कर सकते हैं, पर हराम का खाने की इनकी आदत पड़ गई है। अविवेकशील वर्ग इनकी प्रतिष्ठा करता है और प्रबुद्ध वर्ग उदासीन है, इन्हें निरुत्साहित नहीं कर सकते, इसी से भिक्षावृत्ति बढ़ती जा रही है। हम और कुछ नहीं कर सकते तो इनकी संख्या न बढ़ने देने का काम तो कर ही सकते हैं।

शंकरदास को रोककर मैंने व्यंग से कहा— महाराज, डील-डौल से तो कमजोर नहीं दिखाई देते, फिर क्या अपना अकेले का पेट भी नहीं भर सकते ?

मेरी माता जी को मेरी वाचालता अच्छी नहीं लगी, पर मुझे हर्ष हुआ। समझ रहा था, साधु महाराज अप्रसन्न हो उठेंगे, उठकर चल देंगे या कुछ उलटी-सीधी कहेंगे। पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बाबा जी ने न कुछ कटु कहा और न अप्रसन्न हुए। उनके भर्राए शब्दों से इतना ही जान पड़ा कि उन्हें मानसिक आघात अवश्य पहुँचा है। बाबा जी जाते-जाते कह गये— बेटा ! तुमने सचेत कर दिया। आगे भीख न मागूँगा।

हुआ भी ऐसा ही, बाबा शंकरदास ने आगे किसी के सामने भिक्षा-पात्र नहीं उठाया, पर इस घटना ने मुझे बड़ा मानसिक कष्ट पहुँचाया। बाद में माता जी और दूसरे ग्रामवासियों ने बताया कि यह बाबा जी वैसे तो टिकैया पुरवा के निवासी हैं, पर आस-पास के २५-३० गाँवों में उनका इतना अच्छा परिचय है कि किसी दरवाजे पर रुक जायें, वहीं लोग प्रसन्नतापूर्वक उनका आतिथ्य करते हैं। भोजन वे स्वयं पकाते हैं। भिक्षा में एक घर से एक मुट्ठी से अधिक कोई देना भी चाहे तो नहीं लेते। दस घर से ज्यादा माँगते नहीं। जो खाने से बच जाता है उसे गाँव के गरीब हरिजनों को बाँट देते हैं। बचा कर रखना उन्होंने पाप समझा, बीड़ी-तम्बाकू पीते नहीं, भिक्षा का अनाज बेच कर कभी कोई चीज खरीद कर खाई हो, यह किसी ने नहीं देखा।

साधु शंकरदास पढ़े-लिखे नहीं हैं इसलिए कथा-प्रवचन या उपदेश नहीं दे सकते, पर उनके शरीर से जो सेवा होती है वह किसी प्रेरणाप्रद शिक्षण से कम महत्त्व नहीं रखती। आस-पास के गाँवों में वे हलकारे का काम करते हैं। दस घर माँगने के बाद उनका अधिकांश समय लोगों से मिलने-जुलने में लगता है। योग्य लड़कों की जानकारी लड़की वालो को देना, सगाई पक्की कराना, दहेज लेने वालों पर दबाव डालकर कम करा देना, किसी के जानवर को चोट लगे तो पशुओं के डॉक्टर को बुला देना, बाजार से कोई सौदा ला देना यह सारे कार्य शंकरदास जी ऐसे करते हैं जैसे सब उन्हीं का काम हो। इन गाँवों के लोगों में उनके प्रति विश्वास जम गया है। बाबा जी स्वयं पढ़े-लिखे नहीं, पर बच्चों को बड़े आग्रह करके पढ़ने भिजवाते हैं। उनका लोगों में सम्मान भी कुछ ऐसा है कि कोई उनकी बात नहीं ठुकराता।

जब इन सब बातों की जानकारी मिली तो बड़ा पश्चाताप हुआ। उनका जी दुःखाने का असमंजस बहुत दिन तक बना रहा। फिर काफी दिनों तक उनके दर्शन नहीं हुए। एक दिन अवसर निकाल कर टिकैया पुरवा गया। वहाँ जो कुछ देखा उससे स्तब्ध रह गया, एक बाड़ी लगा ली थी, उसमें तरह-तरह की सब्जियाँ लगी थीं। लोगों ने बताया कि अब ये भीख नहीं माँगते, सब्जी और तरकारी उगाते हैं और उसी को खाकर ही गुजारा करते हैं और समाज-सेवा का कार्यक्रम ? हाँ, उसमें कोई अन्तर नहीं आया, जन-सम्पर्क का कार्य यथावत् चलता है। मैंने जब उनसे अपने कहे की क्षमा माँगी तो हँसकर बोले— बेटा, तुमने ठीक ही किया था, हम साधु हो गये तो इसका मतलब यह नहीं कि मैं गलती नहीं कर सकता। अच्छी बात कोई भी कहे, मानना चाहिये। तुमने तो भला ही किया।''

इधर टिकैया पुरवा में एक शिवालय की स्थापना की गई तो बाबा शंकरदास ही उसके पुजारी नियुक्त कर दिये गये। यह काम तो वे करना नहीं चाहते थे, पर जब लोगों ने स्वीकार कर लिया कि उनकी क्रियाओं पर प्रतिबन्ध न लगेगा तो वे शिवालय में रहने लगे। यहाँ रहकर भी उनकी समाज-सेवा का काम ज्यों का त्यों चलता रहा। इसी बीच गाँव वालों ने भण्डारा करने का निश्चय किया। शिवालय के लिए जो जमीन लगाई गई है उसकी उपज का बहुत-सा अनाज जमा था, उसे खर्च करने की बात थी। पर फसलों में सूखा पड़ रहा था, दूरदर्शी साधु ने जैसे पहले ही भविष्य जान लिया था और वे भण्डारे के लिए हरगिज तैयार न हुए। कई लोग बुरा मान गये, पर शंकरदास इस बार चट्टान की तरह अडिग हो गये।

सचमुच पिछले वर्ष भयानक सूखा पड़ा। ग्रामीणों में सर्वत्र हल-चल मच गई। जिसके पास अनाज था, उसने दाब लिया और मनमाने दामों पर बेचा। पर न तो किसी ने गरीबों की परवाह की, न कृषि के लिए बीज की। ऐसे समय में शंकरदास देवता सिद्ध हुए। मन्दिर के भण्डार में जो सुरक्षित गल्ला था, उसे वे बीज बोने वालों को उधार बाँटने लगे। बाद में धनी लोगों को भी लज्जा आई और उन्होंने भी अनाज के बोरे खोल दिये। अन्न के अभाव में कोई मरने न पाया, साथ ही साथ समय पर किसानों को बीज मिल गया।

इस तरह अपना एक छोटा-सा क्षेत्र बनाकर बाबा शंकरदास आत्म-कल्याण और समाज-सेवा के कार्य किया करते हैं। इस युग में इतना भी कम नहीं है। देश में जितने साधु हैं वे सब अपने लिए इसी तरह सेवा के छोटे-छोटे दायरे नियत कर लें और उस पर सच्चाई के साथ चलते रहें तो उसी से समाज का बड़ा हित हो सकता है।

भक्त हरिदास—जो कठिन से कठिन परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए

भारतवर्ष में सदैव भगवान् के अनेक भक्त होते रहे हैं। ये भक्त प्रायः त्यागी हुये हैं और सर्वसाधारण में भक्ति का प्रचार करने के लिये उन्होंने प्रयत्न भी किया है। पर इधर कुछ समय से भक्ति-मार्ग में कुछ अन्तर आने लगा है। अब अनेक भक्त वैभव और

ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं और इस कारण अन्य लोगों पर उनका प्रभाव भी स्थायी नहीं होता ।

× × × ×

यवन हरिदास प्रथम श्रेणी के भक्त थे । वे मुसलमान खानदान में उत्पन्न होने पर भी बाल्यावस्था से ही हिन्दू धर्म के अनुसार भक्ति के रस में डूब गये थे । इसलिये छोटी अवस्था में ही उनको अपना घर त्याग देना पड़ा और वे बनग्राम नामक स्थान के समीप जंगल में कुटी बनाकर निवास करने लगे । वे प्राय: लोगों के घरों पर जाकर भिक्षा माँग लाते थे और उनके भक्त भी अनेक प्रकार के फल-फूल लाकर दे देते थे । हरिदास इस सामग्री में से दिन-रात में केवल एक बार आवश्यकतानुसार खा लेते और जितना बच रहता था उसे अगले दिन के लिये न रखकर बालकों तथा अन्य आगन्तुकों को बाँट देते थे ।

× × × ×

बनग्राम का जमींदार रामचन्द्रखाँ दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति था । हरिदास की प्रशंसा सुनकर उसने निश्चय किया कि हरिदास को भजन से भ्रष्ट करके बदनाम किया जाय । इसलिये एक रूपवती, यौवन सम्पन्न वेश्या को सिखा पढ़ाकर हरिदास के पास भेजा । वह संध्या के समय हरिदास की कुटी पर पहुँची । हरिदास भी रूप-यौवन सम्पन्न पुरुष थे और उनको देखकर वह उन पर मोहित हो गई । उसने हाव-भाव द्वारा अपना आशय उन पर प्रकट कर दिया । हरिदास ने कहा ''मैंने नाम जप का जो व्रत ग्रहण कर रखा है वह पूर्ण हो जाय तो मैं तुम्हारी जो इच्छा हो उसे पूर्ण करूँ । बस वे जप करने लग गये, उस जप में न विराम था और न नाम कीर्तन थोड़ी भी देर के लिये रुका । वेश्या कुटी के द्वार पर बैठी-बैठी सब देखती रही । भजन ही भजन में सबेरा हो गया । तब वह उठकर जमींदार के पास गई और कहने लगी कि ''कल तो काम नहीं हो सका, पर आज मैं उसे अपने रूप-जाल में फँसाकर अवश्य भ्रष्ट कर दूँगी ।'' शाम होने पर वह फिर कुटी पर पहुँच गई और कामुकतापूर्ण हाव-भाव और नजाकत दिखाने लगी । हरिदास ने फिर वही उत्तर दिया कि ''नाम-जप की संख्या पूरी होने पर तुम्हारी बात पर ध्यान दूँगा ।'' उस दिन भी भजन करते-करते सबेरा हो गया और वेश्या को निराश होकर उठ जाना पड़ा । जब इसी प्रकार तीन दिन बीत गये और चौथे दिन भी हरिदास ने वैसा ही उत्तर दिया तो वेश्या का मनोभाव बदल गया । उसने विचार किया यह रक्त-माँस का पुतला जब ऐसे ज्वलन्त प्रलोभन को इस प्रकार ठुकरा रहा है, तो यह सच्चा हरिभक्त है और इसके सामने किसी प्रकार का नीच प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । उसकी आँखों में अनुताप के आँसू भर आये और उसने अपनी समस्त पाप कथा भक्त के आगे निवेदन कर दी ।

हरिदास ने कहा— ''मैं तो तुम्हारे उद्धार के लिये ही यहाँ टिका हुआ था । अब तुम्हारे पास जितनी सम्पत्ति हो वह सब दीन-दु:खियों को बाँट दो और अपना शेष जीवन भगवान् का भजन करने में लगाओ ।'' यह कह कर वे अपनी कुटी को छोड़ कर अन्यत्र चले गये । इधर उस वेश्या ने अपना सर्वस्व गरीबों को दान करके सिर मुड़ा लिया और हरिदास की उसी कुटी में रहकर तपस्वी जीवन बिताने लगी । वेश्या के जीवन में ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन देखकर सब लोगों की भक्तिहरिदास पर और भी बढ़ गई ।

× × × ×

कुछ समय बाद हरिदास की कठिन परीक्षा का अवसर उपस्थित हो गया । उस प्रदेश के काजी ने नवाब के यहाँ जाकर हरिदास की शिकायत की कि ''उसने मुसलमान होकर हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया है । इस उदाहरण का दूसरे मुसलमानों पर भी बुरा असर पड़ सकता है, इसलिये हरिदास को उचित दण्ड दिया जाय ।'' इस पर हरिदास अपने निवास स्थान फुलिया गाँव में गिरफ्तार कर लिये गये और नवाब के सम्मुख हाजिर किये गये । पहले तो उनको फिर से मुसलमानी धर्मानुसार आचरण करने को बहुत समझाया गया, पर जब वे अपने विश्वास पर अटल रहे तो काजी के आग्रह पर नवाब ने उनको बाईस बाजारों में ले जाकर बेतों से मारने का दण्ड दिया । सरकारी सिपाही उनको पकड़ कर एक-एक बाजार में ले जाते और पीठ पर सड़ासड़ बेतों की बौछार करते । पर रोना-चिल्लाना या क्रोध करना तो दूर रहा हरिदास भगवान् का नाम लेते हुये बेतों की मार को प्रसन्नता- पूर्वक सहन कर रहे थे । जब सिपाहियों ने देखा कि इन पर इस भयंकर मार का भी कोई असर नहीं होता तो वे बड़े घबड़ाये और कहने लगे— ''महाराज, हमको आज्ञा दी गई है कि बेतों से मारते-मारते आपके प्राण ले लिये जायें । पर यदि आप न मरे तो नवाब हमको दण्ड देंगे ।'' हरिदास तो अपने शत्रुओं पर भी दया करने वाले थे । उन्होंने सिपाहियों की विपत्ति को मिटाना स्वीकार कर लिया और उसी समय योग बल के प्रभाव से शरीर से प्राणों को खींच कर अचेत होकर गिर गये । सिपाही लोग उनको उठाकर नवाब के सामने ले गये और जब सबको उनकी मृत्यु का निश्चय हो गया तो उनके शरीर को गंगाजी में फेंक दिया गया । गंगाजी में बहते-बहते कुछ देर में वे फिर होश में आकर हरिनाम लेने लगे । जब यह समाचार नगर में फैला तो स्वयं नवाब और काजी आदि उनके दर्शनों को पहुँचे और उनके चरणों पर गिरकर अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी ।

× × × ×

अन्त में हरिदास बंगाल में भक्ति रस की धारा बहाने वाले चैतन्य महाप्रभु की शरण में जा पहुँचे । वे अपने को बहुत दीन-हीन और मुसलमान खानदान में जन्म लेने के कारण अपवित्र मानते थे, इस लिये कीर्तन के समय सबसे पीछे बैठे रहते, पर चैतन्य ने उनको अपने पास बुलाकर कहा— ''तुम अपने को अशुद्ध कदापि मत समझो, तुम्हारी देह मेरी अपेक्षा भी पवित्र है ।'' जब चैतन्य महाप्रभु पुरी धाम में जाकर रहने लगे । तो वहाँ भी उन्होंने हरिदास के लिये एक सुन्दर उद्यान में कुटिया बनवा दी । हरिदास जीवन के अंतिम समय तक वहीं रहकर लोगों को भगवत्भक्ति का उपदेश करते रहे, और हजारों पतित लोगों को दुष्कर्मों से छुड़ाकर सुमार्ग पर चलाते रहे । अत्यन्त दीन-हीन वेष में रह कर भी उन्होंने अनगिनती लोगों का उपकार किया और उनके जीवन को सुधार दिया ।

अभिनव समाज के रचनाकार हारीत मुनि

"इतने समय कौन ?" उन्होंने अचकचा कर इधर-उधर देखा न दिखाई देने पर भी पदों की आहटें, शरीरों के रगड़ खाने से उठी पत्तों की सरसराहट साफ सुनाई दे रही थी, वह सोचने लगे इस धुँधलके में यहाँ कौन भटक गया ? सामान्यतया यहाँ तो कोई आता भी नहीं, जानवर चराने वाले लड़के भी दिवस के तीसरे प्रहर तक वापस चले जाते हैं। इतने में कुछ सुनाई पड़ा, आवाजें क्रमशः साफ होती गईं। वह भी कान लगाकर सुनने लगे। एक अपने साथियों से कह रहा था, "अरे ! यहाँ कहाँ आ फँसे इस बियावान जंगल में रात हो चली है, कुछ सूझ भी नहीं रहा, अच्छा हो हम लौट चलें।"

कोई और कुछ कहे, इसके पहले सभी की आँखें नजदीक आती जा रही मशाल की ज्योति शिखा की ओर जा टिकीं, कौन ? कौन मार्गदर्शक, देवदूत, आश्रयदाता सभी के मनों में अलग-अलग भाव उभरे। धीरे-धीरे मशाल के प्रकाश में एक आकृति स्पष्ट हुई अरे ! यह तो साधू है— एक साथ कई कंठस्वर बोल पड़े, हाँ भाई ! मैंने आप लोगों की आवाजें सुनीं, मुझसे रहा नहीं गया, मशाल जलाई और इधर चला आया। कौन हैं आप लोग ? आने वाले ने सहज भाव से पूछा। "मैं ब्राह्मण हूँ," वृद्ध दिखने वाले व्यक्ति ने कहा। "साधू और ब्राह्मण, एक कर्महीन दूसरा विचारहीन।" कहकर ठहाका लगाकर हँस पड़ा सुनने वाले सकपका गए, अपने को सँभालते हुए एक ने कहा— "महाराज ! एक के बाद अनेक असह्य दुःखों ने आचार्य जी को व्यथित कर दिया है, उनके कथन का बुरा न मानें।"

नहीं भाई इसमें बुरा मानने की क्या बात ? यह तो कठोर सच्चाई है, जर्जरित समाज की दुरावस्था का प्रधान कारण है— साधु ने सौम्य स्वर में बात आगे बढ़ाई, अच्छा हो आप सब यहीं पास में मेरी कुटिया तक चलें। थोड़ी ही देर में पच्चीस-तीस लोगों का समूह कुटिया के सामने था। सभी ने हाथ, पैर, मुँह धोए। इतने में गौरिक वस्त्रधारी सन्त ने भुने हुए कन्दों का एक छोटा ढेर सबके सामने लगा दिया, कुछ अन्य जंगली फल भी थे। सभी धीरे-धीरे खाने लगे, आज अनेक दिनों के बाद उन्हें तृप्ति अनुभव हो रही थी। तृप्ति सत्कार की, अपनत्व की, प्यार की, सम्मान की। सिर्फ भोजन से भला कौन कहीं तृप्त हुआ है ?

भोजन के बाद बातों का क्रम चल निकला। फूट पड़ी व्यथा कथा सिन्ध के राजा दाहिर पर आक्रमण की, किसी ने तो उसका साथ नहीं दिया। हे मानव ! तूने पड़ौस में लगी आग बुझाने को बड़ा सोचा है। तेरी नींद तो खुद के जल रहे घर को देखकर भी नहीं टूट रही। महिलाएँ कुचली-मसली गईं। बच्चे भालों की नोंक पर उछलने के लिए मजबूर हुए। पुरुषों की रक्तधार से मेदिनी सिक्त हुई और आप लोग इतने पर भी भाग कर चले आए। साधु के शब्द बताने वाले के वाणी प्रवाह के सामने बाँध बनकर खड़े हो गये। एक क्षण के लिए वह सहमा फिर प्रकृतिस्थ होकर बोला— "भागे— भागते क्यों ? नहीं हम सावधान करने, आए हैं यह बताने आए हैं कि हम तो जल गए अब तुम्हीं झुलसने से बचो।" कहते-कहते वह तमतमा उठा। तमतमाहट सिसकियों में घुलने लगी। साधु ने सभी को आश्वासन दे जैसे-तैसे उन्हें सोने के लिए प्रेरित किया। वह भी कुटिया के अन्दर चले गए।

सोने की कोशिश की पर आँखों में नींद कहाँ ? सोचने लगे आज समाज में चारों ओर छिद्र ही छिद्र हो गए हैं। जन अज्ञान, अभाव और आत्म चिन्तन से जर्जर है, कुरीतियों की सर्पमालाएँ, रूढ़ियों के वृश्चिक दंश उसे मूर्छित और विकल कर रहे हैं, अनन्तधा विदीर्ण हो उठा है। जन-जीवन ! क्या करूँ ? तुम्हीं कुछ कर्त्तव्य सुझाओ— एकलिंग ! कहकर उसने सामने प्रतिष्ठित शिवलिंग की ओर कातर भाव से ताका। सोचते-विचारते पता नहीं उसे कब नींद आ गई। स्वप्न में देखा ज्योतिर्लिंग साकार हो उठा है। धीरे-धीरे उसने एक ज्योति पुरुष का रूप लिया। ज्योति रेखाओं से इसका शरीर बना है, माना अग्नि शिखा को छानकर स्वर्ण शलाकाओं से बाँधकर, विद्युत शिखाओं से खरादकर और सूर्यकान्त मणियों को गलाकर ही यह अपूर्व ज्योति मण्डल तैयार किया गया है। अहा यह अकारण दयालु परमदेव कौन है ?

मानव का चिरपुरातन और चिरनवीन मार्गदर्शक अन्तःस्थित और बहिर्व्याप्त महाकाल। एक गुरु गम्भीर स्वर उभरा। समाज जर्जर है तो सिर्फ इस कारण कि हर कोई अपने स्वार्थों का घरोंदा बनाने के फेर में है। यहाँ तक कि तेरा भी जगत प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तिगत साधना के कंचुक से निरन्तर संकुचित होते रहकर स्वयं के मुक्ति लाभ की आशा करना और क्या है ? समाज की रक्षा का अर्थ है— स्वार्थों का बलिदान। धरती पर स्वर्ग वही लाएगा, जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा, उठो, रोंदों इन स्वार्थों को तुम्हारे बलिदानों का प्रत्येक कण भावी पीढ़ियों को साहस और निर्भीकता का सन्देश देगा, प्रचण्ड आँधी की तरह बढ़ो, बिजली की तरह कड़को, सुधा की तरह बरसो, कायरों और निकम्मों के गढ़ पर धक्का मारो। उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने वाले प्रत्येक निःस्वार्थ कदम के साथ मैं स्वयं हूँ।

टूट गई उसकी झपकी, सोचने लगा कैसी सारगर्भित थी उद्बोधक वाणी, स्वप्न होने पर भी जाग्रत से कहीं अधिक सजीव, यही तो वह सन्देश है जिसे सुनने के लिए मेरा अन्तर तक व्याकुल था। सचमुच कहाँ समाज की स्तब्धता, अवमानता, भय, कातरता और परमुखापेक्षिता से बचाने का महान् सन्देश और कहाँ व्यक्तिगत चौखटों में छटपटाने वाली मुक्ति-साधना के मेरे प्रयत्न ! उपास्य के निर्देश ने उसके अंग-अंग में स्फूर्ति, उल्लास और प्रसन्नता भर दी थी।

लक्ष्य स्पष्ट था धरती पर स्वर्ग उतार कर रहूँगा। राह सुस्पष्ट थी— महाकाल का सहचर बनने की। योजना दिमाग में कौंध गई। कौन देगा मेरा साथ ? धनिक ! जो वैभव के मद में चूर हैं, विद्वान ! बुद्धि के तिकड़मों की पट्टी जिनकी आँखों से कस कर बँधी है, फिर कौन ? शासन करने वाले, पर उन्हें शोषण और उत्पीड़न से फुरसत कहाँ ? तब फिर ? साधारण जन, भील, आदिवासी हर व्यक्ति जिसके

कान विकलता की मर्मभेदी पुकारों को सुनने के लिए बहरे नहीं हुए हैं, जिनका सम्वेदनशील हृदय हर किसी छटपटाहट और तड़पन के साथ धड़क उठता है, और योजना के प्रथम चरण में वह जा पहुँचा भीलों की बस्ती में उनके तरुण नायक बप्पा के मन में अपनी सारी व्यथा उड़ेल दी। सहज जीवन को अपनी सम्पत्ति मानने वाले भील कह उठे— हम तैयार हैं महाराज किन्तु किन्तु क्या ? हम अनगढ़ और अशिक्षित माने जाते हैं, तैयार होने पर भी हम आपके अनुगामी बन सकेंगे, सन्देह है। अनुगामी हमारे नहीं, भगवान् एकलिंग के उस परा चेतना के जिसने मुझे झकझोर कर उठाया है, अपना यंत्र बनाना चाहा है। वही तुम्हें, तुम जैसों को अपना यंत्र बनाना चाहते हैं। परवाह नहीं, यदि तुम बहुत नहीं हो, धन का अभाव है, रहने के लिए गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ नहीं हैं, वर्तमान के जराजीर्ण समाज में तुम्हारा स्थान नहीं है। हमें नया समाज रचना है, नया समाज जिसका हर स्पन्दन मनुष्य में दिव्यत्व को उभार सके। जिसके समस्त मान-दण्डों के आधार धन और बुद्धि न होकर संवेदनशील मानवीयता होगी।

बोलो तैयार हो ? हाँ शताधिक कंठस्वर गूँज उठे। ये शब्द सुनकर साधु भी हर्षपूर्वक बोला, "भीलो तुम्हारे काले शरीरों में उजले दिल हैं, तुम्हारी आत्माएँ महान् और पवित्र हैं, आज के तुम्हारे ये संकल्पित स्वर आने वाली मानवता का दिग्दर्शन करेंगे। तुम्हारा कर्तृत्व प्रज्वलित दीपशिखा की तरह अनेकों के थके पाँवों को बल देगा। उसके ये शब्द हारीतमुनि की जय, बप्पा रावल की जय की प्रचण्ड ध्वनि के साथ फैल गए।

प्रचण्ड गति से बढ़ चला परिवर्तन का चक्र जिसकी धुरी हारीत मुनि थे। बप्पा रावल लोकनायक बने। उनकी प्रचण्ड कर्मनिष्ठा ने इतिहास में एक स्वर्णयुग रचा। बीतते समय में महाकाल के स्वर पुनः गूँजे हैं पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सतेज सूरज की तपन, हवा का बहाव, जल की लहरें एक ही गीत गा रही हैं— किसी भी स्थिति में लोकनायक चाहिए।

ईसा के सच्चे शिष्य और सच्चे प्रेम पुजारी—वेरियर एल्विन

कटनी बिलासपुर रेलवे लाइन पर एक छोटा-सा स्टेशन— 'पेण्ड्रारोड'। यहाँ के आदिवासी क्षेत्रों से सर्वथा अनभिज्ञ, दो युवक बापू का आशीर्वाद लेकर इसी स्टेशन पर उतरे। दोनों ने इस अनजान इलाके में आने की बात तो दूर कल्पना तक नहीं की थी। उन्हें करंजिया तक जाना था, पुलिस की सहायता लेना अनिवार्य लगा। पेण्ड्रारोड के पुलिस स्टेशन से मदद मिली भी सही। लेकिन कुछ दूर चलकर पुलिस इन्सपेक्टर ने आगे चलने से इन्कार किया। दोनों साथी समझाने-बुझाने लगे पर इन्सपेक्टर टस से मस नहीं हुआ और वापस चला गया।

एक गोंड युगल आता दिखाई दिया। उन्होंने सोचा इनकी मदद से गाँव तक पहुँचा जाय परन्तु वह युगल इन्हें देखकर ही भाग गया। ऐसे जीवन्त और संघर्षशील अनुभवों को शुरूआत में ही सहकर दूने उत्साह से अपने काम में लगे रहने वाले इस महामानव का नाम था— वेरियर एल्विन और उनके साथी थे शामराव। जिन्होंने अपना सारा जीवन आदिवासियों की सेवा में लगा दिया। एल्विन उसी घने जंगल में बैठ गये और शामराव करंजिया पहुँचे। गाँव वालों को सारी घटनाएँ सुनाईं। कुछ भलेमानुस साथ आए जहाँ एल्विन बैठे शामराव की प्रतीक्षा कर रहे थे।

एल्विन को इस क्षेत्र में आने की प्रेरणा तत्कालीन काँग्रेस के निष्ठावान नेता श्री जमनालाल बजाज ने दी थी। एल्विन ने महात्मा गाँधी से भी परामर्श किया। उनकी भी सहमति और आशीर्वाद पाकर नर्मदा के भोले लाड़लों की सेवा भावना से अमर कंटक से दस मील दूरी पर स्थिति इस रम्य स्थान पर आये।

करंजिया में एल्विन चार बरस रहे। पूरे आदिवासी बनकर— ठेठ आदिवासी। आदिवासियों के समरस जीवन बनाकर ही उनकी सेवा कर सकना सम्भव था अन्यथा किसी शहरी आदमी का वहाँ रहना तो क्या ठहर पाना भी मुश्किल था। और कोई शहर का विलायती साहब एकदम ग्रामीण— आदिवासियों जैसा जीवन बिता सकेगा इसकी कल्पना करने से पहले भी हजार बार सोचना पड़ेगा। परन्तु एल्विन ने यह सब कर दिखाया और सिद्ध कर दिया कि जिनके मन में सेवा की लगन है वे हर वातावरण में साँस ले सकते हैं। किसी भी प्रकार के सामयिक जीवन में अपने आपको एक रस कर सकते हैं।

एल्विन इंग्लैंड के रहने वाले थे। आरम्भ में ही इनमें लोकसेवा के लिए बड़ी उमंग थी। इनका पालन-पोषण भी धार्मिक वातावरण में हुआ था फलस्वरूप महात्मा ईसा की पवित्र शिक्षाओं के प्रसार का सेवा मार्ग चुना। उन दिनों शासक वर्ग यूरोपीय देशों में भारत की भद्दी एवं विकृत तस्वीर जनता के सामने रखते थे। जिससे वहाँ के लोगों के मन में भारत के गन्दे, असभ्य, गरीब और अन्धविश्वासी जन-समाज के प्रति घृणास्पद भाव पैदा हो जाता। एल्विन को मालूम हुआ तो उन्होंने भारत के पिछड़े समझे जाने वाले समाज को ही अपना कार्यक्षेत्र चुन लिया।

'क्रिस्त सेवा संघ'— नामक संस्था के अंतर्गत वे भारत आये। परन्तु उन्होंने सेवा का यहाँ दूसरा ही रूप देखा। इस संघ का उद्देश्य था गरीब आदमियों को प्रलोभन देकर ईसाई बनाना तथा उनकी राष्ट्रीय और धार्मिक मान्यताओं को खरीद लेना। इस प्रकार विदेशी साम्राज्य वाद की जड़ें भारत में मजबूत बनाने का कुचक्र चल रहा था। एल्विन ने यह सब देखा तो मिशनरियों की कार्य पद्धति से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

उन्हीं दिनों भारत में राजनैतिक स्वतन्त्रता का युद्ध घोष चल रहा था। भारत की सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना करवट बदल रही थी। संघर्ष और उत्थान का यह समय गाँधी की प्रतिष्ठा का युग था। यहाँ की नैतिक और प्राचीन सभ्यता की महानता अरविन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ जैसे उद्भट विद्वानों और महापुरुषों के रूप में व्यक्त हो रही थी। एल्विन ने भारत की सांस्कृतिक गरिमा के आगे पश्चिम को बहुत बौना अनुभव किया।

उन्होंने पाया कि जिन सिद्धान्तों और धार्मिक मान्यताओं का प्रचार करने के उद्देश्य से वे यहाँ आये हैं। पर भारत तो उनका प्रवर्त्तन ईसा के जन्म से भी शताब्दियों पूर्व कर चुका है। मानवता की शिक्षाएँ भारत में प्रचारित करने का झाँसा देने का षड़यन्त्र तो उन्होंने यहाँ आते ही अनुभव कर लिया। परन्तु जब वे यहाँ के दार्शनिक विचारों के सम्पर्क में आये तो लगा कि अपना प्रयास क ख ग जानने वाले विद्यार्थी का विद्वान् आचार्य को उपदेश देने सरीखा है।

अन्ततः उपदेश देने और अपने पाण्डित्य को प्रदर्शित करने की अपेक्षा उन्होंने आदिवासियों की सेवा का मार्ग अपनाया। तथा अपने साथियों के साथ मिलकर करंजिया में ही एक 'गोंड-सेवा मण्डल' की स्थापना की। वहाँ उन्होंने आदिवासियों में शिक्षा के प्रचार के लिए एक स्कूल खोला, एक अस्पताल भी खोला। जिसके माध्यम से वे आदिवासियों के निकटवर्ती सम्बन्धियों की तरह स्नेह पात्र बन गये। कहाँ तो शुरू में लोग उनसे डरकर भाग जाते थे और कहाँ बात-बात में एल्विन— 'बड़े-भैया'—की सलाह को मान्यता दी जाने लगी। इस श्रमसाध्य परिवर्तन और लोकप्रियता का कारण एल्विन की सेवा भावना तथा वहाँ के जन-जीवन से तादात्म्य प्राप्त कर लेना ही था।

एल्विन का विश्वास था कि कोई मिशन या सेवा कार्य विश्वास और लगन से ही पूरा हो सकता है परन्तु इसकी यह एक और अनिवार्य शर्त है कि— जिस समाज को अपना कार्यक्षेत्र चुना जाए, उसके अनुरूप स्वयं को ढाला जाय। उस समाज से समरस हुए बिना न तो नागरिकों की सहानुभूति प्राप्त की जा सकती है और न ही सहयोग। इसीलिए एल्विन ने स्वयं को भी अपनी इस मान्यता के साँचे में ढाला। लोकाराधन के मार्ग में आने वाली हर कठिनाई को उन्होंने धैर्य के साथ सहन किया तथा आजीवन आदिवासियों सरीखे, उनमें घुल-मिलकर रहे। आदिवासियों की तरह पोशाक, उन्हीं की तरह नंगे पैर। वहीं के अन्दाज में बात करने का प्रयास। एल्विन की हर दैनंदिन कार्य चेष्टा आदिवासियों की शैली में होने लगी। वहाँ के लोकगीतों को वे बड़े चाव से सुनते, उनके अनुवादों की भावात्मा को जिन्दा रखकर अनुवाद कर सकंलित रखते व लोकनृत्यों में भाग लेते। खाना भी एकदम आदिवासियों जैसा। एल्विन का रहन-सहन देखकर उन्हें आदिवासियों से भिन्न कह पाना मुश्किल था।

स्वयं को आदिवासी समाज में ही घुला देने के लिए उन्होंने अपना जीवन साथी भी एक गोंड कन्या 'लीला' को चुना। यद्यपि लीला निरक्षर और गँवार थी परन्तु ऐसे उदार और आदर्श पति को प्राप्त कर लीला ने अपनी अन्तर्निहित महानता को साक्षात् कर लिया। उनकी धर्म-पत्नी का जीवन इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि कोई भी महान् उद्देश्य पूरा करने के लिए साक्षर होना जरूरी नहीं है। महानता हर स्थिति में और हर श्रेणी के व्यक्ति में है तथा उसे प्रकट किया जा सकता है निष्ठा और लगन के बल पर। लीला अपने पति के साथ हर क्षेत्र में कदम से कदम मिलाकर चली। उसने भी इस शहरी और विदेशी बाबू के मिशन को अपनी अशिक्षित बुद्धि से समझा था और उसकी महत्ता को स्वीकारा था। स्वयं एल्विन ने अनेक स्थानों पर यह स्वीकार किया है कि जो सन्तोष और सहयोग उन्हें लीला से मिला वह अन्य दूसरी शहरी लड़की से नहीं मिल सकता था।

आदिवासियों की सेवा के साथ-साथ एल्विन एक साहित्यकार के रूप में सामने आये। उन्होंने कुल २६ किताबें लिखी हैं और एक-एक किताब पर वर्षों मेहनत की। आदिवासियों के रहन-सहन, विश्वास, परम्पराओं और कार्य-शैलियों की जितनी जानकारी उनकी पुस्तकों से मिल सकती है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

चार साल तक एल्विन करंजिया में रहने के बाद पारमगढ़ आये। उन्होंने वहाँ भी अपना सेवा यज्ञ आरम्भ किया। पूर्ववत् अस्पताल और स्कूल खोले। सेवा धर्म के प्रति समर्पित भावना से गाँव वालों के मन से उन्होंने एक भय के भूत-अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाई। लोगों का विश्वास था कि मरघट एक अशुभ जगह है परन्तु एल्विन ने अपना दफ्तर वहीं खोला। लोगों के मन से अन्धविश्वास का भूत भगाने के लिए वे वहीं काम करते रहे— निरापद, लोकापवाद की बिना चिन्ता किये।

उन दिनों पूना चर्च मिशन के प्रधान विनस्लो थे। बीमारी के कारण उन्हें लन्दन जाना पड़ा। उनके स्थान पर यह पद एल्विन को दिया गया। आरम्भ से ही मिशनरियों की कार्य पद्धति के प्रति उनके मन में घृणा भरने लगी थी। इस उत्तरदायी पद पर अनाचार का सूत्रधार बन जाने से उन्हें और क्षोभ हुआ। आखिर एक दिन क्रिस्त सेवा संघ के ऊपर एक तिरंगा झण्डा लहरा दिया। अँग्रेजी शासन की जड़ें सींचने वाले पाखण्डी धर्म प्रचारकों का रोष भड़क उठा और उन्हें मिशन से निकाल दिया गया।

एल्विन अब साबरमती आश्रम आ गये। बापू ने उन्हें आश्रम में जगह दी और वे वहीं रहने लगे। यहीं रहकर वे भारत के सभी बड़े नेताओं के सम्पर्क में आए। मन पर बोझ बना हुआ अनुशासन और शहरी नियन्त्रण तो था नहीं। पहले से ज्यादा उन्मुक्त और स्वच्छन्द। एल्विन ने खुलकर स्वातन्त्र्य समर में भाग लेना आरम्भ कर दिया। आश्रम के हर आयोजन और कार्यक्रम में अपना सहयोग देते तथा मानवता के मुक्ति आन्दोलन को सबल बनाने में सचेष्ट रहते।

बम्बई में जब गाँधी जी की गिरफ्तारी हुई तो एल्विन साबरमती में ही थे। वे सारी व्यवस्था सम्भाल रहे थे। उस समय के कार्यों से खुश होकर गाँधी जी ने इन्हें अपना बेटा मान लिया। कभी-कभी वे कहा करते थे कि मीरा (बहन) मेरी बेटी है तो एल्विन बेटा।

अपने उदार दृष्टिकोण और मृदुल स्वभाव के कारण एल्विन ने सहज में ही पटेल, नेहरू, सुभाष बोस, सीमांत गाँधी आदि जैसे नेताओं का स्नेह प्राप्त कर लिया। आचार्य कृपलानी के साथ वे मध्यप्रदेश के अनेक शहरों और गाँवों में घूमे। स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाने लगे। एक अँग्रेज के मुँह से ही अंग्रेजियत के विरोध में भारत की दासता और उससे उत्पन्न कुत्सित स्थिति का विश्लेषण सुनकर हर नागरिक का अन्तःकरण मचल उठता। दासता और

पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए हर आबाल वृद्ध का रक्त उबलने लगा ।

राष्ट्रीय पुनर्जागरण के क्षेत्र में उनका सहयोग अविस्मरणीय है । साथ ही व्यक्तिगत सम्बन्धों में भी उनकी सदाशयता कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही । वे सभी धर्मों का समान आदर करते थे फलस्वरूप समय आने पर प्रत्येक धर्मावलम्बी ने उनकी मदद की । जब चर्च ने नाराज होकर उनकी आर्थिक सहायता करना बंद कर दिया तो एक प्रसिद्ध उद्योगपति ने उनकी मदद की । जिन मित्रों ने भी उनकी सहायता की, उनका आजीवन एल्विन ने अहसान माना । उनकी आत्मकथा में करीब-करीब सभी साथियों का उल्लेख आया है । शामराव के बारे में उन्होंने एक जगह लिखा है कि— "वे जीवन में जो कुछ भी कर पाये वह सब शामराव की मदद से ही कर पाये ।"

उनके पिता ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध पादरियों में एक माने जाते थे । चर्च में उनका अच्छा-खासा प्रभाव था इसलिए वे चाहते थे कि उनका बेटा भी धर्म प्रचारक ही बने । इसीलिये उन्होंने एल्विन को भारत भेजा था परन्तु हुआ उलटा ही पैतृक परम्परा से हटकर वे विद्रोही बन गए ।

विद्रोही बने या मानवता के— परमात्मा के— सच्चे सेवक इसका निर्णय तो इतिहासकार ही कर पायेंगे, परन्तु ईसा के पवित्र नाम का और उनकी शिक्षाओं का उपयोग गरीबों और दलितों की आस्था तथा विश्वासों को लूटने में प्रयोग करना कितना समाचीन है ? एक-दूसरे देश को दैन्य और दरिद्रता की महामारी देकर वहाँ की आर्थिक उपलब्धियों का जौंक की तरह शोषण कहाँ तक मानवता की सेवा है ? ईसा के प्रेम और न्याय की आड़ में निहित स्वार्थी तत्त्वों का कुचक्र देखकर कोई सजग आत्मा अपने साथियों का साथ देने से इन्कार कर दे तो वह विद्रोह कितना पुण्यवान होगा, कल्पनातीत है ।

गाँधी जी के जेल जाने के बाद वापस करंजिया आकर और अन्त तक करंजिया के गोंडों में ही नहीं देश के विभिन्न भागों में बेंगा, भुरिया, बाँदा, नागा, अगरिया आदि लोगों की सेवा करते रहते । वे जहाँ भी रहते मिट्टी के कच्चे मकान में लालटेन के उजाले में लिखा-पढ़ी करते । कुष्ठ रोगियों के इलाज के लिए अस्पताल, शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूल जैसी सेवा संस्थाएँ खोलते और अन्त तक विश्व मानव परमात्मा की सेवा करते रहे ।

गाँधी जी के इस प्रिय शिष्य और आदिवासियों के 'बड़े भैया' का निधन फरवरी ६२ में हो गया । मानवता का यह महान् पुजारी युगों-युगों तक अमर रहेगा ।

बेसहारों का मसीहा—ओवेपियर

फ्रांस के सुविख्यात पादरी फादर ओवेपियर पेरिस में रहते थे । जाड़ों की कड़कड़ाती सर्दी की एक रात में जब वह लिहाफ में घुसे पलंग पर चैन की नींद सो रहे थे कि किसी ने दरवाजा खटखटाया । खट-खट की आवाज ने उनकी नींद भंग की ।

इतनी रात गए कौन हो सकता है ? मन ही मन फादर ने प्रश्न किया और उत्तर वहीं से आया जहाँ से प्रश्न पूछा गया था— शायद कोई मुसीबत का मारा व्यक्ति है ।

दरवाजा खोला तो सचमुच एक व्यक्ति जिसके तन पर नाम मात्र के वस्त्र थे, याचना की मुद्रा में खड़ा था । फादर ने कहा— "कहो बेटे क्या बात है" ?

"फादर ठंड लग रही है । आज आपके मकान में शरण चाहता हूँ"— व्यक्ति ने कहा ।

ईसा की राह पर चलने वाले फादर न कैसे करते । उन्होंने उलटे प्रेमपूर्वक डाँट ही लगाई । "इतनी देर क्यों कर दी । कभी का आ जाना चाहिए था ।" और वह व्यक्ति अन्दर आ गया ।

फादर ने उसके सोने, ओढ़ने को अच्छा प्रबन्ध कर दिया और रात भर वह चैन की नींद सोया ।

सुबह हुई, दिन बीत गया पर रात बिताने की इच्छा से आये उस व्यक्ति का जाने का मन नहीं हुआ । मौसम ही ऐसा था और उसने सारा दिन गुजार दिया । एक दिन, दो दिन, तीन दिन— चार-पाँच, पूरा सप्ताह ही बीत गया । न आये व्यक्ति की जाने की इच्छा हुई और न फादर ने उसे जाने के लिए कहा ।

विपरीत इसके कुछ और लोग वातावरण के गिरते तापमान को देखकर अपने आपको बचाने के लिए फादर के पास आकर रहने लगे ।

जब आगन्तुकों की संख्या बढ़ने लगी तो फादर का ध्यान उनकी ओर गम्भीर हुआ । पूछा— "सारे नगर में तुम्हारे जैसे कितने लोग हैं" ?

"बहुत सारे" उत्तर मिला ।

"तो एक काम करो । फादर ने कुछ विचार करने के बाद कहा ।" उन सबको चर्च में इकट्ठा करो ।

संध्या समय ऐसे सभी लोग चर्च में इकट्ठे हुए और फादर ने उन्हें अपनी बात समझाते हुए कहा— "क्यों न हम सब लोग मिलकर जाड़े की समस्या का स्थाई हल ढूँढें । इसके लिए हमें मकान बनाना होगा ।" उन्होंने बात आगे बढ़ाते हुए कहा ।

सुनकर सब लोग आश्चर्य और अविश्वास भरे भावों से उनकी ओर देखने लगे ।

एक ने खड़े होकर कहा— "क्यों हँसी करते हैं, फादर ? हम लोग तन का कपड़ा और पेट की रोटी तो जुटा नहीं पाते फिर भला मकान कैसे बनाएँगे ।" फादर ने उत्साह भरते हुए कहा— "तुम नहीं जानते हो सामूहिक प्रयासों में बड़ी ताकत होती है । यदि इस शक्ति का सही सदुपयोग किया जा सके तो क्रान्तिकारी परिणाम सामने आ सकते हैं । हम लोग ऐसा ही करेंगे । मेरी योजना ध्यानपूर्वक सुनो- उचित लगे तो उत्साहपूर्वक क्रियाशीलता के लिए कटिबद्ध हो ।"

और उन्होंने योजना बतानी शुरू की । इसके अनुसार बेघर लोगों ने शहर के तमाम कूड़े-कबाड़दानों को छान मारा, जो कि सड़कों के आस-पास कई स्थानों पर लगे थे । टूटी क्राकरी, टूटे-फूटे बर्तन और पुराने टूटे फर्नीचर मिले । इन सब सामानों को जो व्यर्थ समझकर

फेंक दिए गए थे इकट्ठा किया गया और उनकी मरम्मत कर बाजार में सस्ते दामों में बेच दिया गया।

जो राशि इकट्ठी हुई उससे पुन: वही धन्धा चलाया गया। धीरे-धीरे रकम इकट्ठी हुई जिससे कि एक साफ बस्ती के निर्माण की योजना को साकार रूप दिया जा सके और जब वह योजना साकार होने की ओर अग्रसर हुई तो पेरिस ही नहीं फ्रांस भर के समाचार पत्रों ने फादर की सूझ-बूझ और बेघर लोगों की श्रमशीलता की मुक्त कंठ से सराहना की। जनसहयोग भी प्राप्त हुआ। इस उपलब्धि से सूझ-बूझ और श्रमनिष्ठा की प्रेरणा मिलती रहे इसलिए बस्ती का नाम भी ''रैग पिकर्स कालौनी'' अर्थात कूड़ा-करकट बटोरने वालों की बस्ती रखा गया। काश ! फादर ओवेपियर की भाँति कोई साधक भारत में भी होता।

जीवन यज्ञ के उद्गाता—संत एमर्सन

आत्मा हमें उन प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध करती है, जो चेतनावाद से हमें प्राप्त नहीं होते। प्रकृति के प्रत्येक अणु में आत्मा का निवास है। वह आत्मा अथवा चेतन तत्त्व ही परब्रह्म है·····मेरे कार्यों के बारे में अपनी आत्मा का मत क्या है ? यही मेरे लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, दूसरे लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, यह नहीं ?''

परमात्मा सम्बन्धी इन विचारों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी पुरातन भारतीय मनीषी ने प्रस्तुत किये हैं। पर ऐसा है नहीं, यह शब्द भारतीय 'प्रचारधारा के अनुप्राणित अमेरिकी संत एमर्सन के है।'

एमर्सन का जन्म अमेरिका के बोस्टन नगर में २५ मई, १८०२ को हुआ था। अपनी शिक्षा को पूर्ण कर हार्वर्ड डिविनिटी स्कूल में प्रमुख पद पर कार्य करने लगे, पर उस कार्य को उद्देश्य से परे जानकर त्यागपत्र दे दिया और निकल पड़े दो वर्षों के लिए यूरोपीय देशों का भ्रमण करने। भ्रमण के दौरान उनकी भेंट कार्लाइल, जे. एस. मिल, मैक्स मूलर, वर्ड्सवर्थ और रस्किन जैसे विचारकों और दार्शनिकों से हुई। इन विद्वानों से भारतीय दर्शन पर उनकी खुलकर चर्चा होती थी जिससे वे बहुत प्रभावित हुये।

एमर्सन के मस्तिष्क पर पड़े हुये विचारों ने हलचल मचा दी और वह अपनी भारतीय विचारधारा के प्रचार-प्रसार में लग गये। उनकी प्रेरणा से एक चिन्तक मण्डल अस्तित्व में आया जो 'कौन्कर्ड मण्डली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय एमर्सन कौन्कर्ड में रहते थे वहीं इस मण्डल की स्थापना हुई थी अत: उस मण्डल का नाम नगर के नाम पर ही पड़ गया। इसके सदस्य 'सर्वाति-शायीवाद' के चिन्तन-मनन में व्यस्त रहने लगे।

एमर्सन ने अपने ऊपर राजा राममोहन के प्रभाव को स्वीकार किया है। राजा राममोहन राय ने भारतीय वांगमय का अध्ययन कर जिन तथ्यों को स्पष्ट किया था वह कौन्कर्ड मण्डली के विचारों से काफी मेल खाते थे। राजा राममोहन राय हिन्दू तथा ईसाई धर्म के समन्वय का प्रयत्न कर रहे थे।

महात्मा गाँधी एमर्सन के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुये थे कि उन्होंने अपने पुत्र मणिलाल को एक पत्र लिखा— ''·····एमर्सन के निबन्धों को पढ़कर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य गुरु के द्वारा भारतीय दर्शन की शिक्षा दी गई है। अपनी संस्कृति पर दूसरे विद्वानों के विचारों को पढ़कर प्रसन्नता होती है तुम मगनलाल से कहना कि यह एमर्सन के निबन्धों को ध्यान से पढ़ा करे। महत्त्वपूर्ण अंशों को रेखांकित कर अलग किसी कापी पर उतार लिया करे।''

सन् १८८२ में एमर्सन का देहान्त हो जाने के कारण गाँधी से भेंट का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने एक राजनीतिक निबन्ध में लिखा था कि मुझे किसी ऐसे व्यक्ति का स्मरण नहीं आ रहा है जिसने नैतिक कारणों से प्रचलित नियमों तथा कानूनों की सविनय अवज्ञा करने का साहस दिखाया हो। महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में एमर्सन के विचारों को ही चुनौती दी थी। उन्होंने नैतिक कारणों से प्रचलित नियमों को तोड़ा और कानून की सविनय अवज्ञा की। सरकार की दृष्टि में यही उनका अपराध था और इसी के लिये दक्षिण अफ्रीका में कारावास का दण्ड दिया गया था।

पं. जवाहर लाल नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन पर भी एमर्सन के विचारों का प्रभाव था। इसीलिये उक्त ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में एमर्सन के निबन्ध 'सैल्फरि लाइन्स' से अनेक अंश उद्धृत हैं।

एमर्सन को सर्वप्रथम जून १८४५ में भगवत् गीता का अध्ययन करने का अवसर मिला। उसकी आत्म-तत्त्व की विवेचना से वे इतने अधिक प्रभावित हुये कि उन दिनों एमर्सन के द्वारा लिखे गये अनेक पत्रों में भी गीता के प्रसंगों की चर्चा मिलती है।

उन्होंने भारतीय वेदान्त दर्शन का अध्ययन ही नहीं किया था वरन् बहुत कुछ सीखा भी था। वह जीवन में सुख और दु:ख को समान भाव से देखते थे। वह अपने व्याख्यानों में प्रकृति की एकता तथा मानव की आधारभूत सरलता पर जोर दिया करते थे।

सृष्टि में उन्हें शाश्वत तत्त्व का साकार रूप दिखाई पड़ता था, जहाँ ईश्वर ने जगत की मौलिक एकता को विविधता प्रदान की है। एमर्सन कौन्कर्ड नगर के जिस मकान में रहते थे उसमें उनके द्वारा प्रयुक्त, प्रत्येक वस्तु सुरक्षित है उसे देखने से 'सादा जीवन उच्च विचार' का भारतीय मूलमंत्र स्मरण हो आता है।

वह शरीर से भले ही अमेरिका के रहे हों पर उनकी आत्मा भारतीय मनीषियों की आत्मा थी। वह जीवन में एकरसता के सिद्धान्त को मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि कोई मनुष्य प्रयास करे तो इन्द्रियों के प्रभुत्व से मुक्त हो सकता है। उन्होंने इन्द्रियवाद से चेतनवाद की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त किया पर चेतनवाद उनका साध्य न था। चेतनवाद की कमी आत्मा के द्वारा पूरी होती है और वह आत्मा ही परमात्मा है, परब्रह्म है।

एमर्सन प्रत्येक प्राणी में देवत्व के दर्शन करते थे। उन्होंने जन-साधारण शब्द का कभी प्रयोग न किया। वह मानते थे कि साधारण जन कोई नहीं होता सब असाधारण होते हैं। सबमें देवत्व होता है और यह देवत्व ही प्रत्येक जन की रचना का अनिवार्य अंग है।

उनका कहना था कि किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उस आधार पर कभी नहीं किया जाना चाहिये कि दूसरे व्यक्तियों की धारणा उसके प्रति क्या है। अपने विचारों की सत्यता जानने के लिये हमें अपनी आत्मा से ही पूछना चाहिये।

जो सत्य उनके जीवन का आधार था, उसके दर्शन जब अल्प-संख्यकों में ही पाते तो दुःख होता था। अधिकांश लोगों में कृत्रिमता दिखाई पड़ती थी, उनके विचारों और प्रतिज्ञाओं में मौलिकता का अभाव रहता था। व्यक्ति मरते समय भी आत्म-निरीक्षण नहीं करना चाहता बल्कि यह सोचता है कि उसकी शव यात्रा में कितने लोग सम्मिलित होंगे।

भारतीय विचारधारा में ओत-प्रोत होने के कारण इस वेदांती संत पर यहाँ के लोगों को गर्व है और प्रत्येक भारतीय की उनके प्रति अगाध श्रद्धा है। दक्षिण भारत द्वारा एक नये राग का नामकरण 'एमर्सन प्रिया' इस श्रद्धा का द्योतक है।

ईसाई धर्म के सच्चे अनुयायी—डॉ. क्रिश्चन

अर्द्धरात्रि का समय होगा। अस्पताल के सभी कर्मचारी अपने अपने कमरों में विश्राम कर रहे थे। डॉ. क्रिश्चन अभी ही रोगियों को देखकर, सब वार्डों का निरीक्षण कर लौटे ही थे और सोने की तैयारी कर रहे थे। इतने में ही किसी ने कॉलबेल दबायी। डॉक्टर आधे कपड़े पहने ही दरवाजे की ओर दौड़े। इस समय कौन हो सकता है? डॉक्टर के पास कोई रोगी ही असमय में आता है। दरवाजा खोलकर देखा— एक गाँव का भोला-भाला युवक अपनी माँ को बरामदे में छोड़कर आया था। माँ बहुत बीमार थी। हालांकि वह अपने घर से दोपहर को चला था। तीन-चार मील का रास्ता तै करने में ज्यादा समय तो नहीं लगना चाहिए था। रास्ते में तेज बारिश और फिर गाड़ी ने धोखा दे दिया इसलिए समय पर पहुँच नहीं सका।

डॉक्टर ने बारिश में भीगे युवक की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा— 'क्या बात है?'

माई-बाप— युवक ने कहा— 'मेरी माँ सख्त बीमार है। बारिश की ठण्डी हवा के कारण उसे रास्ते में ही तेज बुखार चढ़ गया। आपको अभी तकलीफ उठानी पड़ेगी।'

डॉक्टर भी तुरन्त तैयार होकर युवक के साथ हो लिए। न चेहरे पर परेशानी के भाव और न ही मन में किसी प्रकार की उकताहट। उनके लिए तो रोगी के रूप में स्वयं ईसा ही आते थे। डॉक्टर ने इत्मीनान के साथ मरीज वृद्धा का परीक्षण किया और इन्जेक्शन दिये। युवक को दिलासा देने लगे— 'देखो! हालत अगर सुधरी नहीं तो मुझे फिर जगा देना।'

एक वार्ड में रोगी को दाखिल भी कर दिया। यह सब करते हुए उन्होंने किसी भी नर्स या कर्मचारी को नहीं जगाया। स्वयं ही अपने हाथों से अस्पताल का कमरा खोला और दवाइयाँ दी थीं। ऐसे समय कोई पेशेवर या नौकरी से ही सम्बन्ध रखने वाला डॉक्टर होता तो यों ही युवक को टरकाकर भगा देता। डॉक्टर क्रिश्चन के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। रोज ही ऐसा क्रम चलता रहता। शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो जब उन्हें सोते हुए जागना नहीं पड़ा हो। इतना होते हुए भी उन्होंने कभी किसी प्रकार की कोई परेशानी अनुभव नहीं की। कई बार तो निर्धन रोगियों के लिए स्वयं ही औषधियों का प्रबन्ध किया और जब रोगी परिवार के सदस्य उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते तो बड़े संकोच के साथ वे कह देते— 'भाई' इसमें मैंने क्या बड़ा उपकार किया है। यह तो मेरा फर्ज था। तुम लोगों के रूप में मेरा भगवान् ही आया है, उसकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करूँ तो फिर क्या करूँ।

यह उत्तर मात्र औपचारिक नहीं हृदय से निकलता था। इसका प्रमाण है उनके द्वारा अपनाया गया वह रवैया जब उपकृत लोग अधिक ही कृतज्ञता ज्ञापन करते और उन्हें बड़ा संकोच होता था। डॉ. क्रिश्चन ऐसे अवसरों पर कह देते यह दवाई तो सरकार ने तुम लोगों के लिए ही भेजी है। मैं कोई अपनी जेब से थोड़े ही दे रहा हूँ।

वेतन का अधिकांश भाग इसी प्रकार खर्च हो जाता। डॉ. सामान्य स्तर का जीवन जीते और अपनी आवश्यकता भर का पैसा अपने लिए रखते थे। कर्मयोग का इससे उत्तम उदाहरण और क्या हो सकता है। अपनी उपार्जित कमाई को दीन-दुःखियों की सेवा में निःस्वार्थ भाव से लगा देना, स्वयं के लिए न्यूनतम और शेष सब अन्य औरों की सहायता में खर्च कर देना— डा. क्रिश्चन की यही साधना बन गयी थी।

अजन्ता एलोरा की गुफाओं के बीच, महाराष्ट्र के औरंगाबाद शहर में पश्चिमी पोशाक पहने ईसाई मत के अनुयायी डॉ. क्रिश्चन के व्यक्तित्व की सुवास कुछ ही वर्षों पूर्व फैल चुकी है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर अब नहीं रहा फिर भी उनसे लाभान्वित हुए लोग अभी उनकी चर्चा प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं। सेवा का मार्ग व्यक्ति को इसी प्रकार सत्कीर्ति और यश प्रदान करता है। केवल कीर्ति और ख्याति ही नहीं सेवा के बदले मिलने वाला सन्तोष और तृप्ति मनुष्य को एक ऐसे आनन्द से भर देता है, जो बड़े-बड़े साम्राज्यों के अधिपति, सम्राटों और करोड़पति धन्ना सेठों के लिए दिवास्वप्न ही सिद्ध होती है।

विनोबा जी जब औरंगाबाद गये तो डॉ. क्रिश्चन की ख्याति उन्हें भी सुनने को मिली। स्वयं डॉक्टर भी उनसे मिलने आये। उनकी गतिविधियों से परिचित होकर विनोबा जी के मुँह से सहसा निकल पड़ा— 'वास्तव में आप ईसा के सच्चे अनुयायी हैं। ईसा ने भी दीन, दुःखियों और रोग पीड़ितों में उसी परमात्मा का दर्शन किया था जिसका कि आप करते हैं।'

डॉक्टर साहब ने बड़ी विनम्रता के साथ उत्तर दिया था— 'आप मुझे शर्मिंदा कर रहे हैं। मैं अपने प्रयत्नों से सन्तुष्ट नहीं हूँ। इसके लिए क्या करना चाहिए यह आपसे जानने के लिए आया हूँ, न कि अपनी प्रशंसा सुनने।'

डॉ. क्रिश्चन की सेवा भावना अभी अतृप्त ही थी । यद्यपि उनके सहयोग से कई लोकसेवी संस्थायें चल रही थीं । फिर भी असन्तोष ! विनोबा ने कहा— 'अपनी प्रगति से असन्तोष करना ही साधक को ऊँचा उठाता है । आप अपनी लोकसेवा की साधना में लगे रहें । विशेष चिन्ता न करें ।'

और डॉक्टर साहब ने विनोबा के मार्गदर्शन को गाँठ से बाँध लिया । उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी था जिसने उन्हें निखरा हुआ रूप प्रदान किया है । दिन-रात रोगियों की सेवा में लगे रहते हुए भी वे सामाजिक कार्यों में भाग लेते रहते थे । रोटरी क्लब, मेडिकल ऐसोसियेशन, मराठवाड़ा सांस्कृतिक मण्डल, कुष्ठ सेवा समिति, विवेकानन्द समिति आदि कई संस्थाओं के वे अध्यक्ष रहे और इन संस्थाओं के कई कार्यक्रमों में भाग लेना, मरीजों की देख-भाल भी करना— दोनों ही कामों में समान रूप से रुचि रखते हुए उसका निर्वाह करना आसान नहीं है । परन्तु डॉ. क्रिश्चन ने जितनी सफलता के साथ ये दोनों कार्य बिना रुके चलाये उसे देखकर आश्चर्य ही होता है ।

उनसे कई बार लोगों ने पूछा भी सही कि— आप किस प्रकार इतना सब कर लेते हैं ? डॉक्टर ने इसका सूत्र समझाते हुए कहा था— सामाजिक कार्यों के लिए मेरा समय बँधा हुआ है । दोनों काम आसानी से इसी कारण चल सके हैं कि मैंने नियमित और अनुशासित दिनचर्या को सर्वाधिक महत्त्व दिया है । एक भी क्षण बर्बाद नहीं जाने दिया । वस्तुत: किसी के भी पास समय की कमी है नहीं । लोकोपयोगी कार्यों में लगने के लिए एक-एक क्षण का सदुपयोग किया जाये तो बहुत कुछ हो सकता है ।

डॉ. क्रिश्चन की एक और बड़ी विशेषता थी सभी धर्मों के प्रति समभाव । यही नहीं सभी धर्मों का अन्तर्विरोध मिटाकर वे एक-दूसरे को नजदीक भी लाना चाहते थे । इसी उद्देश्य से उन्होंने 'सर्वधर्म समन्वय-ज्योति मन्दिर' का निर्माण भी करवाया था, जहाँ सभी मतों के अनुयायियों के लिए आराधना की व्यवस्था है । स्वयं उन्होंने अपने घर में भी भगवान् राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध और कुरान के वचनों की तस्वीरें तथा चित्र लगा रखे थे । प्रत्येक के सामने वे एक समान ही श्रद्धा और आदर के साथ झुकते थे । सब धर्मों को एक ईश्वर की ओर ले जाने वाली विभिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियाँ मानते हुए वे बताते कि वस्तुत: इन सबका आधारभूत सिद्धान्त एक है । सभी धर्म सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, करुणा, सेवा जैसे सद्गुणों की समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं और इन्हें व्यावहारिक जीवन में उतारने का उपदेश देते हैं । उपासना मार्गों के मूल सिद्धान्त भी एक हैं । किसी भी पद्धति से ईश्वर की अर्चना वन्दना एक ही भाव निष्ठा के साथ की जाती है । ईश्वर को अपने समीप, सम्मुख, साथ मानकर उसका प्यार पाने की प्रार्थना ही तो उपासना का मर्म है । देश, काल, पात्र के अनुसार पद्धतियाँ अलग-अलग बना दी गयीं तो क्या हुआ ?

उनकी सेवानिष्ठा ने उन्हें जहाँ आस-पास के क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाया वहीं उनके सर्वधर्म समभाव और ज्योति मन्दिर ने उनकी कीर्ति को देश विदेशों में भी विस्तारित कर दिया । विदेश यात्रा के दौरान दूसरे देशों के लोग उन्हें 'क्रिश्चन योगी' के नाम से जानते थे । ईसा को उन्होंने अपने जीवन में जितनी सफलता के साथ अवतरित किया है । वह अन्य लोगों के लिए भी अनुकरणीय है ।

कुंग फुत्ज—मनुष्य जो देवता की तरह पूजा गया

तेरह वर्ष तक वह एक राजा से दूसरे राजा के पास जाता रहा कि वे उसकी नैतिक पुनरुत्थान परक सेवाएँ लें । किन्तु किसी ने भी उसकी बात नहीं मानी । सम्मान सभी ने किया । सभी ने कहा— "आप बहुत बड़े विचारक हैं, विद्वान् हैं । आपसे हमारी सभा की शोभा है । आपके लिये हम सब प्रकार की सुविधाएँ जुटाएँगे । आप हमारे पास रहिये, हमें कृतार्थ कीजिए ।"

राजा लोगों की यह बात उसे मनोनुकूल नहीं लगी । वह मात्र आदमी ही नहीं था कि उसे आवास, भोजन व अन्य सुख-सुविधाएँ मिल जाने से ही सन्तुष्ट रह जाता । उसका एक मिशन (ध्येय) भी तो था, जो कच्चे धागे से बाँधकर उसे द्वार-द्वार भटका रहा था । उसका यह ध्येय था चीन के लोगों की नैतिकता में दृढ़ आस्था उत्पन्न करना। उसने सभी राजाओं से यही कहा— "यह नहीं हो सकता महाराज ! सेवा नहीं लेते तो मैं कैसे राज-धन पर अपना निर्वाह करता रहूँ यों ही अकर्मण्य बनकर ।" और वह बिना राज्याश्रय के ही चीन देश में अपने सुविचारित नैतिक सिद्धान्तों को जन-जन को सुनाता रहा उनकी उपयोगिता समझाता रहा । कालान्तर में उसके यही उपदेश चीन का धर्म बन गये ।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि उसे भूखा रहना पड़ता था । उसके एक शिष्य ने उससे पूछा— "गुरुदेव ऐसे धर्म प्रचार से क्या लाभ ?" इस पर वह बोला— "प्रत्येक काम मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये नहीं करता और सच्चा मनुष्य तो ऐसा कभी नहीं करता । हमने भी सच्चे मनुष्य बनने की शपथ ली है । भूखों मरने से हमारी सच्चाई धूमिल होने वाली नहीं है वरन् वह तो कष्टों की आँच में तप कर खरा कुन्दन बन जाने वाली है, जिसे सभी को स्वीकार करना होगा । कष्ट सबके सामने आते हैं जो अविचलित भाव से उनका स्वागत करते हैं वे कष्टों को जीत लेते हैं । सच्चे आदमी ऐसे ही होते हैं ।" और उनकी यह तपस्या, द्वार-द्वार, घर-घर जाकर अपने नैतिक सिद्धांतों का प्रचार करने का, स्वेच्छा से अभावों को सिर ओढ़ने जैसा काम रंग लाया । उसके मरणोपरान्त सारे चीन में करोड़ों लोग उसके अनुयायी बन गये और १९१२ तक उसके द्वारा चलाया गया धर्म चीन का राजधर्म रहा । बौद्धधर्म के प्रसार के उपरान्त भी उसके नैतिक सिद्धान्तों के करोड़ों अनुयायी चीन में थे और आज भी करोड़ों लोगों की आस्थाएँ उनमें है । यह व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी बाद में देवता मानकर पूजा गया । उसका नाम था कुंग फुत्ज जिसे हिन्दी में सामान्य तथा कनफ्यूशियस कहा जाता है ।

बाल्यकाल से ही नियति ने उसकी परीक्षाएँ लेना आरम्भ कर दिया था। हइहत्सी प्रदेश के प्रशासक के वे अन्तिम और इकलौते पुत्र थे। उनके पैदा होने के तीन वर्ष बाद ही उनके पिता का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु होते ही उनका पद दूसरे व्यक्ति को मिल गया। पिता धन के प्रति विशेष अनुरक्ति नहीं रखते थे अतः उनके मरते ही परिवार पर आर्थिक सकंट के बादल मँडराने लगे, अभावों की वर्षा होने लगी। किन्तु यदि उनके पिता धन-दौलत व भौतिक सम्पदा छोड़ जाते तो बहुत सम्भव था वे उसी में फँस जाते और उनके द्वारा मानवता की कोई सेवा नहीं हो पाती और न आज उनका नाम ही कोई जानता। सद्‌गुणों और आदर्शवादिता की जो सम्पदा पिता से विरासत में मिली थी वही उनकी प्रगति में सहायक बनी।

बाल्यावस्था में ही कुंग फुत्ज को आजीविका कमाना और परिवार का खर्च चलाना पड़ा। उनके मन में ज्ञान की अदम्य तृषा थी। उन दिनों आज की तरह न तो पुस्तकें ही प्रचुरता से मिलती थीं न इस प्रकार गाँव-गाँव में स्कूल होते थे। चीन भर में कोई थोड़े से गिने-चुने शिक्षालय थे। कुंग फुत्ज ने जीवन में बिखरी ज्ञान की मणि मुक्ताओं को यत्नपूर्वक बटोरा और उसे अपनी झोली में सहेजा।

प्रकृति से चिन्तक और शिक्षक या साधु बनकर लोकशिक्षण करने की उनकी कामनाओं को देखकर उसकी माता को भय लगा कि कहीं यह विरागी न बन जाय सो बारह वर्ष के होते न होते उनके गले में पत्नी रूपी डोर बाँध दी कि वे भाग खड़े न हों। उन्नीस के हुये तब तक तो वह डोर और भी कस गयी। दो लड़कियाँ भी उत्पन्न हो गयीं उनके। किन्तु परिवार का पालन करना एक बात है और अन्धे मुर्गे की तरह परिवार की चक्की के चारों और चक्कर काटना दूसरी बात। परिवार समाज सेवा के काम में विशेष आड़ा नहीं आता वरन् वह व्यक्ति का नियमन करता रहता है।

थोड़े दिनों सरकारी नौकरी करने के बाद उन्होंने अपना एक विद्यालय खोला। उस समय उनकी आयु २२ वर्ष की थी। इस विद्यालय में मात्र अक्षर ज्ञान की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी वरन् सदाचार और सुशासन सिखाना उनका मुख्य लक्ष्य था। थोड़े ही दिनों में उनका यह विद्यालय बहुत प्रसिद्ध हो गया। वे गरीबों को निशुल्क शिक्षा देते थे जबकि धनिकों से शुल्क लिया करते थे।

यह विद्यालय वास्तव में सद्‌विचारों के प्रसार का केन्द्र था और समाज सुधार का केन्द्र भी। वे तत्कालीन कुरीतियों का डटकर विरोध किया करते थे। वे धर्म के उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों को मानते थे जो चिरन्तन थे, शाश्वत थे। समय के साथ उनमें कोई विकृति नहीं आती थी। सदाचार के उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन वे किया करते थे। उन्होंने इतिहास और दर्शनशास्त्र का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात सदाचरण व सुशासन के जो नियम बनाए थे वे बहुत लोकप्रिय हो गये। उन्हें सुयोग्य शिक्षक व प्रशासक माना जाने लगा।

शिक्षक होते हुए भी उनके मन में अपने शिक्षक होने के प्रति कोई दुराग्रह नहीं था। ३४ वर्ष की आयु में जब लू प्रदेश के दो मेधावी युवक उनके शिष्य बने तो उन्हें नैतिक व प्रशासन सम्बन्धी शिक्षा देने के साथ ही उनसे उन्होंने संगीत भी सीखा। संगीत को वे ईश्वर की बहुत बड़ी देन मानते थे।

कुंग फुत्ज ने जो उपदेश दिये वे ठोस व्यावहारिक धरातल पर टिके होने के कारण अधिक व्यावहारिक थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक जोर दिया। समाज के व्यक्तियों द्वारा जिन नियमों को पालने से समाज में सुख, शान्ति, सन्तोष और स्वर्गीय वातावरण बने वे नियम ही उनके धर्म के आधार थे। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसकी वस्तु कोई दूसरा गुपचुप या छीन कर न ले इसलिये अस्तेय की उपयोगिता है। धर्म के सभी सिद्धान्तों को उन्होंने व्यावहारिक स्वरूप में प्रस्तुत किया। अतः वे शीघ्र प्रभावी हुये।

उनकी भेंट उनके समकालीन सन्त लोओत्से से भी हुई जो ताओ धर्म के प्रतिपादक थे। कुंग फुत्ज ने धर्म को मात्र सैद्धान्तिक स्वरूप न देकर उसे व्यावहारिक बनाया ताकि समय के साथ उसमें विकृतियाँ न आ जायें और सम्प्रदायवादी विकृतियाँ उठ खड़ी हों— भिन्न-भिन्न मतावलम्बी आपस में मार-काट मचाएँ।

राज्य में उनका प्रभाव बढ़ रहा था। प्रदेश का राजा उनका बड़ा आदर करता था। तभी लू राज्य में क्रान्ति हो गयी। राजा कोत्सी राज्य के राजा के यहाँ शरण लेनी पड़ी। विद्रोहियों ने परेशान किया पर वे अविचलित भाव से उन्हें सहते रहे। वे जानते थे कि कोई भी अच्छा काम किया जाता है तो उसमें कष्ट-कठिनाइयाँ आती हैं। अब वे शिक्षालय का भार अपने योग्य शिष्यों के भरोसे छोड़कर धर्म, नैतिकता व सदाचरण के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रचार करने निकल पड़े। उनकी वाणी की ओज, व्यक्तित्व की प्रखरता और चरित्र की दृढ़ता उनके इस धर्म प्रचार में बहुत सहायक रही। उनके पास शिक्षा लेने वालों का जमघट लगा रहता। उनके अनुयाइयों की संख्या बहुत बढ़ गयी। उनके शिष्य उनके उपदेशों को लिपिबद्ध कर लिया करते थे।

बावन वर्ष की आयु में उन्हें लू राज्य के चुंग तू नगर का प्रशासक बना दिया गया। उन्होंने इस नगर का प्रशासन अपने सिद्धान्तों के आधार पर किया जिससे नगर एक प्रकार का स्वर्ग ही बन गया। उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी लोग उनके गुणगान करने लगे। सदाचरण और नैतिकता के पालन से ऐसा चमत्कार उन्होंने कर दिखाया जो अद्‌भुत था।

अपने नगर प्रशासन में उन्होंने रोगियों व दुर्बलों के लिए मुफ्त भोजन की व्यवस्था की साथ ही सबल व्यक्तियों के लिये काम करना अनिवार्य कर दिया। उन्होंने व्यापार को बढ़ावा दिया, सड़कों व पुलों का निर्माण किया, सामंतों के अधिकार कम किये, न्याय की दृष्टि में गरीब-अमीर का भेद-भाव नहीं बर्ता, चोर-डाकुओं का सफाया किया। नगर में अमन-चैन रहने लगा। यह देखकर लू प्रदेश का राजा उनका भक्त बन गया।

कुंग फुत्ज के इस बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर कुछ ईर्ष्यालु दरबारी उनसे जलने लगे। उन्होंने राजा को सुन्दरियों के मोहपाश

में बाँधकर विलासी बना दिया। यह कुंग फुत्ज को बहुत बुरा लगा। उन्होंने राजा को सचेत भी किया किन्तु राजा पर तो बुराइयों ने विजय पा ली थी। निदान कुंग फुत्ज ने राजा पर दबाव डालने के लिये नगर के प्रशासक पद से इस्तीफा दे दिया। किन्तु राजा तो विलास के मदिरा में डूबा पड़ा था, उसने इस्तीफा स्वीकार कर लिया।

नगर के प्रशासक पद को त्याग कर वे पुन: धर्म प्रचार के लिये निकल पड़े। कहीं राज्याश्रय मिल जाय तो ठीक है कि वे किसी एक नगर को चुंग तू की तरह आदर्श बना सकें। किन्तु तेरह वर्ष तक ऐसा अवसर नहीं आया और वे घर-घर, द्वार-द्वार जाकर शाश्वत मानव धर्म का प्रचार करते रहे। जब वे सत्तर वर्ष के हुए तो लू राज्य के नये राजा ने उन्हें शासन के प्रशासन में सुधार करने के लिये आमन्त्रित किया। चार वर्ष तक उन्होंने लू राज्य में लोगों को धर्माचरण सिखाया। उसके पश्चात् ७४ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। श्रेष्ठ पथ पर चलकर जीते जी भी उन्हें खूब श्रद्धा-सम्मान मिला मरने पर उन्हें देवता की तरह पूजा गया।

मनुष्य जीवन तो पानी का बुलबुला है। वह पैदा भी होता है और मर भी जाता है। किन्तु शाश्वत रहते हैं उसके कर्म और विचार। सद्विचार ही मनुष्य को सद्कर्मों को करने के लिये प्रेरित करते हैं और सत्कर्म ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध करते है। मनुष्य के विचार ही उसका वास्तविक स्वरूप होते हैं। ये विचार ही नये-नये मस्तिष्कों में घुसकर हृदय में प्रभाव जमाकर मनुष्य को देवता बना देते हैं और राक्षस भी। जैसे विचार होंगे मनुष्य वैसा ही बनता जाएगा।

कुंग फुत्ज का पार्थिव शरीर मर सकता था पर उनके विचार तो शाश्वत थे। आदमी की तरह विचारों को नहीं मारा जा सकता। ईसा को सूली पर टाँग देने से ईसाइयत नहीं मरी। कुंग फुत्ज के दो सौ वर्ष पश्चात् एक राजा ने उनके विचारों— उनकी शिक्षाओं को नष्ट कर देने का प्रयास किया। उनकी लिखी पुस्तकें, उनके उपदेशों व शिक्षाओं के संग्रह उसने जला दिये। जो लोग उनके मतानुयायी थे और प्रचार करते थे उन्हें उसने मौत के घाट उतार दिया। फिर भी कुंग फुत्ज के विचार मरे नहीं, वे और जीवन्त हो उठे। उनके उपदेश लोगों के मन, मस्तिष्क, हृदय अन्त:करण में जीवित रहे। बाद के सम्राटों ने उन विचारों को स्वीकारा। कुंग फुत्ज के धर्म को मान्यता मिली, राज्याश्रय मिला और वह खूब फला-फूला। आज भी चीन में करोड़ों व्यक्तियों को उनके उपदेश कण्ठस्थ हैं। यह है विचारों का अमृतत्त्व।

कुंग फुत्ज ने स्वयं केवल एक पुस्तक लिखी— 'बसंत और पतझड़।' इसमें २५० वर्ष का इतिहास लिखा है। उस इतिहास का वर्ण्य विषय मात्र घटनाएँ या लोगों के विवरण ही नहीं हैं। "व्यक्ति कोई अच्छा कार्य करता है तो उसका स्वयं पर और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है और बुरा काम करता है तो वह समाज में दु:ख फैलाने के साथ स्वयं अपना कितना अहित करता है।" इस तथ्य को बिना किसी आग्रह के इस पुस्तक में बताया है। इसे चीन के लोग बड़ा पवित्र-मानते थे। आज भी करोड़ों लोगों की उस पर श्रद्धा है।

कुंग फुत्ज अपने विचारों के रूप में आज भी अमर हैं और वह अमरत्व मनुष्य जीवन में ही सुलभ होता है। अवसर खोने पर पछताना ही हाथ लगता है, हमें यह भूलना नहीं चाहिए।

करुणा तथा सेवा के पुण्य प्रतीक— जार्जेज पियरे

बेल्जियम के पादरी श्री जार्जेज पियरे को जब अभिनन्दनपूर्वक, उनकी शांति सेवाओं के लिये नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया तब उन्होंने जो उद्‌गार प्रकट किये वे सच्चे लोकसेवी के लिये सर्वथा उपयुक्त ही थे। उन्होंने गद्‌गद कण्ठ से कहा—

"एक सच्चे मनुष्य को पीड़ित मानवता के लिये जितना जो कुछ करना चाहिए, उतना मैं न कर सका। मेरी सेवायें तो सिन्धु में एक बिन्दु बराबर भी नहीं हैं। मैं एक पादरी हूँ जनसेवा तो मेरा एक स्वाभाविक कर्त्तव्य है। मैंने जो कुछ किया वह कोई विशेष बात नहीं है। इसके लिये जिन महानुभावों ने मुझे पुरस्कार दिया है उन्होंने उदारतापूर्वक मेरी सेवाओं का अधिक मूल्यांकन किया है। मैं उनकी इस उदारता के लिये चिर कृतज्ञ रहूँगा। लोकसेवा ही मेरी ईश्वर भक्ति है। अभी उस मार्ग में मैं कुछ ही दूर चल पाया हूँ। इस सम्मान और इस पुरस्कार को मैंने अपने लिये जनसेवा की अधिकाधिक सेवा के लिये एक प्रेरणापूर्ण उत्तरदायित्व माना और उसी नाते इसको स्वीकार किया है। देखता हूँ आगे मैं अपने इस दायित्व निर्वाह में कहाँ तक सफल होता हूँ। जो लोग मुझे बधाई दे रहे हैं, मेरी सराहना कर रहे हैं, उनसे मैं यही कहूँगा कि वे मेरे बजाय उन लोगों का अभिनन्दन करें जिन्होंने मेरे साथ यह उदारता बरती है। वे ही इसके पात्र भी हैं और अधिकारी भी हैं, मैं नहीं।"

इन विनम्र तथा निस्पृह लोक-सेवी को जब यह आशंका हुई कि द्वितीय महायुद्ध की सम्भावनायें साकार हो सकती हैं तो युद्ध की भयानक विभीषिका की कल्पना से उनका हृदय रो उठा और वे मानवता को उस संहार से बचाने के लिये प्रयत्नशील हो उठे। फादर पियरे कोई राजनेता तो थे नहीं और न किसी शक्तिशाली राष्ट्र के कर्णधार, जो वे राजनीति के दाँव-पेंच चलाकर अथवा अपना प्रभाव प्रयोग करके सम्भावित युद्ध को स्थगित कर सकते। वे तो धर्म प्रचारक एक पादरी थे। वे युद्ध रोकने के जो उपाय कर सकते थे उनमें से प्रार्थना, निवेदन और युद्ध द्वारा मनुष्यता के विनाश का दिग्दर्शन कराने के सिवाय और क्या हो सकते थे। उन्होंने अपने साधन और शक्ति भर उपाय किया भी।

सबसे पहले उन्होंने उद्धत राष्ट्रों के लिये युद्ध से विरत रहने की अपील निकाली। राष्ट्रों के राजनेताओं से मानवता पर दया करने के लिये प्रार्थनायें कीं। युद्धोन्मुख देशों की जनता में युद्ध के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिये उसकी भयंकरता का प्रकाशन करते हुए बड़ी मार्मिकता के साथ लेख लिखे। उन्होंने यथासम्भव स्थान-स्थान पर जा-जाकर जन-सभायें कीं और उसमें अपनी बात लोकमत के सम्मुख

रखी। जिन राष्ट्र नेताओं से मिलना और बात कर सकना सम्भव हो सका उनसे मिले और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उन्होंने लोगों को युद्ध और धर्म के विरोध में अवगत कराया और सत्य, अहिंसा एवं शान्ति के देवदूत ईसा के अनुयायियों के लिये उसको घोर पाप बतलाया। इस प्रकार फादर पियरे युद्ध रुकवाने के लिये अपनी स्थिति और साधनों के अनुसार जो कुछ कर सकते थे उन्होंने तत्परतापूर्वक किया किन्तु काल के प्रभाव से उनके प्रयत्न नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गये। विनाश से सिर टकराने की कसम खा कर उन्मत्त हुए संसार ने युद्ध के द्वार खोल ही तो दिये। फादर पियरे के पास अब मानवता की कल्याण कामना करने के सिवाय और चारा ही क्या रह गया था।

उस भयानक युद्ध के समय फादर पियरे के लिये जो राष्ट्रीय कर्त्तव्य उचित थे उनका पालन तो वे करते ही थे, साथ ही शेष समय में परमात्मा से प्रार्थना करते रहते थे कि वह युद्ध रोके और आसुरी प्रवृत्तियों से प्रभावित युद्धरत लोगों को सद्‌बुद्धि देकर उस विनाश से विरत करे। वे स्वयं प्रार्थनायें करते थे सो तो करते ही थे, चर्चों और धर्म-सभाओं में सम्मिलित होने वाले लोगों को भी वही प्रेरणा देते थे। वे घर-घर जाकर परिवार वालों से विनय करते थे कि वे लोग संसार में शान्ति स्थापना के लिये घरों में साँझ-सबेरे पूरे परिवार के साथ ईश्वर प्रार्थना किया करें। इस प्रकार उन्होंने शान्ति स्थापना के लिये एक प्रार्थना-आन्दोलन ही चला दिया।

अपने प्रचण्ड परिणामों के साथ युद्ध का उपसंहार हुआ और उसकी नारकीय विभीषिका की भयानक मूर्ति संसार के सम्मुख खड़ी हो गई। चारों ओर अनाथों, निराश्रितों, अपंगों, घायलों, रोगियों और विस्थापितों का हा-हाकार सुनाई पड़ने लगा। अभाव, आवश्यकता और भुखमरी का ताण्डव प्रारम्भ हो गया। जले खेत, उजड़े और गिरे घरों से इलाके के इलाके वीरान दिखाई देने लगे। कुछ समय पहले सामान्य गति से चलने वाला जन-जीवन भयंकर रूप से अस्त-व्यस्त हो गया। संसार की सूरत ही बदल कर डरावनी हो गई।

फादर पियरे को अधिकार था कि वे उनकी बात न सुनने वाले संसार को उसकी दुर्दशा का उलाहना देते। युद्ध लिप्सालु राष्ट्र नेताओं की गरदन पकड़कर ध्वंस के दृश्य दिखलाते। रोती-बिलखती मानवता के आँसुओं में उनका अहंकार डुबाते और युद्ध के समर्थक असुर अनुयायियों की जी-भरकर भर्त्सना करते। किन्तु नहीं, सज्जन एवं जन-सेवी सन्त पुरुष कहीं किसी के साथ कटु व्यवहार करते हैं? उनके हृदय में तो अपराधियों तथा पापियों तक के लिये दया, क्षमा और सुधार की सत्भावनायें निवास करती हैं।

युद्ध से संत्रस्त एवं जर्जर हुए असंख्यों विस्थापित एवं शरणार्थी बेल्जियम के विभिन्न भागों में आने लगे। उनके पास न खाना था न कपड़ा। घर उनके उजड़ चुके थे। परिवार बिछुड़ गये थे। न उनके पास आजीविका के साधन थे और न दुःख के कारण उनका मन-मस्तिष्क ही ठीक से काम कर रहा था। घायलों, रोगियों और अपंगों का शुमार नहीं था। सब के सब एक अजीब दयनीय दशा से ग्रसित पागल से बने हुए थे। विधवाओं और अनाथ बच्चों-बूढ़ों की सेना-सी तैयार हो गई थी।

फादर पियरे उनकी दशा देखकर आँसुओं के साथ रो उठे और अपने जीवन के सारे कार्य और सुख-सुविधाओं को छोड़कर उनकी सेवा, सहायता करने के लिये दौड़ पड़े। वे दुःखी जनों के पास गये और रोते हुए मनुष्यों के आँसू पोंछे, बिलखते बच्चों को गले लगाया। निराशों को आशा और तड़पते हुओं को धैर्य का प्रसाद दिया। उन्होंने दुःखियों का दुःख पूछा और सहानुभूतिपूर्वक ढाढ़स बँधाया। मानवता की यह पहली मानसिक सेवा करके फादर पियरे सक्रिय सेवाओं में लग गये।

उन्होंने विस्थापितों के लिये अनेक शरणार्थी शिविरों की स्थापना की और ला-लाकर उनको उनमें आश्रय दिया। जो कुछ उनके पास था वह तो उन्होंने उनकी सेवा-सहायता में समर्पित ही कर दिया। इसके अतिरिक्त लोगों से दुःखी-जनों की सहायता करने की अपील की। घर-घर जाकर नंगों-भूखों के लिये भोजन, वस्त्र की भीख माँगी। डॉक्टरों तथा अत्तारों से रोगियों तथा घायलों के लिये उपचार तथा औषधियों की भीख माँगी और हजारों स्वयंसेवकों को अपंगों का सहारा बनाया। इस प्रकार दयावान फादर पियरे ने अथक प्रयत्नों द्वारा उस उखड़ी हुई मनुष्यता को फिर से बसाया और वर्षों तक उनकी सेवा में तब तक लगे रहे जब तक उसकी अस्तव्यस्तता में व्यवस्था न आ गई। फादर पियरे के वे शरणार्थी शिविर नगरों में बदलकर आज भी उनकी सेवाओं के साक्षी बने हुए हैं।

संसार में शान्ति स्थापना के बाद फादर पियरे ने एक अक्षुण्ण एवं स्थायी शांति के लिये संसार में प्रचार का कार्य उठाया और उस मन्तव्य से लगभग तीन, साढ़े तीन लाख मील की यात्रा की। उनकी इन्हीं महानीय शान्ति सेवाओं के लिये उन्हें नोबेल पुरस्कार दिया गया था, जिसको स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने को उसके योग्य नहीं माना था।

अन्ध-महाद्वीप के प्रदीप—डेविड लिविंगस्टन

एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में पादरी का प्रशिक्षण पाने वाला एक सुन्दर सुगठित किन्तु लजीला युवक जब पहली बार जन-समूह के सामने उपदेश देने के लिए खड़ा हुआ तो कुछ ऐसा हुआ कि जो कुछ उसने तैयारी की थी सब भूल गया। हार कर उसे यही कहना पड़ा— "मित्रों जो कुछ मैं कहना चाहता था भूल गया हूँ।" शर्म के मारे वह धर्मोपदेशक के आसन पर भी नहीं बैठ सका था। असफलता के कारण युवक कहीं लोकमंगल के पथ पर बढ़ाया हुआ अपना पग पीछे न हटा ले इस भय से एक सहृदय सज्जन राबर्ट मोफट, जिन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के कुरुमान नगर में अपना मिशन स्थापित किया था, ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा— "घबराकर तुम यह उद्देश्य छोड़ मत देना। तुम उपदेशक नहीं तो डॉक्टर बनकर मानवता की सेवा कर सकते हो" युवक भी अस्थिरमति नहीं था उसने उपदेशक व डॉक्टर दोनों बनने का दृढ़ संकल्प ले लिया जिसे उसने पूरा किया।

इस युवक डेविड लिविंगस्टन ने आगे चलकर मानवता की महान् सेवा की। उसने करोड़ों लोगों के हृदयासन पर स्थान पाया। अफ्रीका के घने जंगलों में वहाँ की विषम जलवायु तथा भयानक जंगली जानवरों के बीच रहकर उसने वहाँ के आदिवासियों की सेवा करते-करते ही प्राण त्यागे। उस दिन उन लोगों के मुँह से यही शब्द निकले थे— "देवता चला गया। उन लोगों ने भगवान् को तो कभी देखा नहीं था। डेविड लिविंगस्टन के मुँह से सुना अवश्य था, किन्तु वह स्वयं उनके लिए किसी दूसरे भगवान् से कम नहीं थे। अपने जीवन के ३३ बहुमूल्य वर्ष उन्होंने इन्हीं लोगों की सेवा में लगा दिये थे।"

डेविड लिविंगस्टन का जन्म लंकाशायर नगर के एक श्रमिक परिवार में १८ मार्च सन् १८१३ में हुआ था। श्रमिकों की दशा आज से भी बदतर थी। अपने पिता का भार हलका करने के लिए वह छोटी आयु में ही बारह घण्टे लंकाशायर के कपड़ा मील में काम करते थे। यह गरीबी और अभावों का वातावरण उनकी प्रगति में बाधक नहीं बना। वे स्वयं कमाते और पढ़ते थे। इसी प्रकार उन्होंने डॉक्टरी और धर्मोपदेशक दोनों क्षेत्रों में सफलता अर्जित की।

बचपन में उनका लक्ष्य एक अमीर आदमी बनने का था किन्तु ज्यों-ज्यों उनका ज्ञान भण्डार बढ़ता गया त्यों-त्यों उनका झुकाव अध्यात्म, सेवा और ज्ञान प्रसार की ओर होता गया। उनके मन में यह बात पूरी तरह जम गयी कि धन कमाना या मौज करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। यदि मनुष्य जीवन का इतना ही प्रयोजन रहा होता तो ईश्वर मानव को अन्य प्राणियों से अधिक सुविधाएँ क्यों देता ? यह सब उसे मिली हैं ईश्वर की सृष्टि को सुन्दर-सुसज्जित बनाने के लिए— गिरे हुए लोगों को उठाने और पिछड़े हुओं को बराबर लाने के लिए। अभी भी इस विश्व में ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ के मनुष्य पशुओं जैसा ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मैं उन तक धर्मशिक्षा और सभ्यता की प्रकाश किरणें पहुँचाऊँगा।

अपनी इसी अन्त:प्रेरणा के कच्चे धागों से बँधे वे डॉक्टर बन जाने के बाद सन् १९४० में एक ईसाई मिशनरी बनकर अफ्रीका पहुँचे। अफ्रीका उस समय अन्ध महाद्वीप कहलाता था। विश्व के मानचित्र में अफ्रीका महाद्वीप का मध्यवर्ती भाग बिलकुल कोरा दिखाया जाता था क्योंकि यहाँ के सम्बन्ध में किसी को कुछ ज्ञात ही नहीं था। इस क्षेत्र को प्रकाश में लाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को जाता है। यहाँ के लोगों को गुलामी, अन्धविश्वास तथा अशिक्षा रूपी राक्षसियों के पंजों से छुड़ाने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन बलिदान कर दिया।

अफ्रीका से जहाजों पर पशुओं की तरह काले दास लादकर लाये जाते थे जिनके साथ गोरे मालिक पशुओं से भी गया-गुजरा व्यवहार करते थे। अपने शिक्षा काल में भी वे इन लोगों के साथ यह अमानवीय व्यवहार होता देखते थे तो उन्हें बड़ा दु:ख होता था। उनकी यह संवेदना ही उन्हें अफ्रीका खींच कर लायी थी, जहाँ आने के नाम से ही लोग काँपते थे। ये काले अफ्रीकी गोरे लोगों से बहुत डरते थे तथा उन पर कभी विश्वास नहीं करते थे। उनका यह अविश्वास थोड़े समय तो लिविंगस्टन व उनके बीच दीवार बना रहा पर उनकी प्राणरक्षक औषधियों में जीवनयापन के उत्तमोत्तम तरीकों की शिक्षा ने थोड़े ही दिनों में पाट दिया तथा वे उन लोगों के बीच 'एक देवता' बन गये।

उनके द्वारा बढ़ाया गया एक-एक पग जोखिम भरा तथा रोमांचक होता था क्योंकि अफ्रीकावासी अपने कबीलों के लोगों पर ही विश्वास करते थे। वे निर्भय होकर प्रत्येक अफ्रीकावासी से मिलते थे। इससे पहले उन्होंने कोई गोरा आदमी नहीं देखा था। वह उन्हें कपड़े, दवाएँ तथा मित्रता के प्रतीक रूप में कोई न कोई उपहार देते थे। इस मित्रता की स्थापना के बाद कुछ दिन वे एक कबीले में काम करते फिर आगे बढ़ जाते थे।

रविवार के दिन वे उन्हें धर्मोपदेश देते थे। उन्हें समझाने के लिए डा० डेविड लिविंगस्टन को उन्हीं की भाषा का प्रयोग करना था। उनकी लगन तथा कर्मनिष्ठा का ही परिमाण था कि वे थोड़े ही समय में कठिन से कठिन भाषा भी सीख लेते थे। जितना प्रभाव उनके उपदेशों का नहीं होता था उतना उनके व्यवहार एवं चरित्र का होता था। अफ्रीकावासियों के लिए यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी कि कोई व्यक्ति इतना उदार और पर-दु:ख कातर हो सकता है। यदि है तो यह व्यक्ति कोई न कोई देवता है और उसकी बातों में सच्चाई है। इसे मानना चाहिए। सच है बिना आचरण में लाये उपदेशों का कोई महत्त्व नहीं होता।

सर्वत्र उनका स्वागत ही होता हो ऐसी बात नहीं थी कहीं-कहीं उन्हें घोर विरोध भी सहना पड़ता था। कबीले का मुखिया यदि कोई अड़ियल होता तो वह इनके कामों में कम अड़ंगे नहीं डालता। एक बार तो उनके एक सवारी के लिए प्रयुक्त होने वाले बैल को मार डाला गया तथा उन्हें पकड़ लिया गया। वे निर्विकार भाव से मुखिया के सामने पहुँचे उससे अपनी बात कही तो उसने लज्जित होकर उन्हें छोड़ दिया।

कई बार उन्हें उस समय बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता था जब ये जंगली लोग उन्हें दैवी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति मानकर उनके सामने अस्वाभाविक प्रस्ताव रखते थे और उन्हें समझाना भारी पड़ जाता था। फिर भी वे साहस नहीं खोते थे। एक बार बेकवेन कबीले के लोगों ने सूखे मौसम में उन्हें वर्षा करवाने के लिए कहा। लिविंगस्टन ने उनकी इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा— 'यदि आप लोग मेरी सहायता करें तो मैं पानी ला सकता हूँ।' वे सब सहमत हो गये। उन्होंने उन आदिवासियों की सहायता से निकटवर्ती झील से लकड़ी की नालियों के सहारे सिंचाई की नहर निकाली।

प्रतिकूल वातावरण, जलवायु, असभ्य जंगली लोगों, भयंकर साँपों व खूँख्वार शेरों के इस प्रदेश में पग-पग पर प्राणों का भय था। कई बार वे मृत्यु के मुँह में जाते-जाते बचे थे। मोम्बोत्सा नामक स्थान पर एक क्रुद्ध शेर ने उन पर आक्रमण कर दिया और उनका बायाँ हाथ लगभग तोड़ ही डाला। उनके एक अफ्रीकी शिष्य के कारण उनकी प्राण रक्षा हुई। पर्याप्त चिकित्सा के बाद भी वह हाथ पहली स्थिति में नहीं आ सका। जब भी उस हाथ से कोई कार्य लिया जाता वह दर्द करता ही रहता।

उनकी सहन शक्ति गजब की थी। उन्होंने बाका कबीले के सरदार के साथ यह जानते हुए भी कि उसने तथा उसके साथियों ने कुछ ही दिन पहले एक निर्दोष अरब व्यापारी की हत्या कर दी थी, भोजन किया। उसी की झोंपड़ी में सोये। ''पाप से घृणा करो पापी से नहीं'' ईसा के इन वचनों को उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह उतारा था।

उनकी चिकित्सक के रूप में की गई सेवाएँ एक धर्मोपदेशक से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। मलेरिया जो यहाँ की सामान्य बीमारी थी उसे दूर करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। स्वयं उनको पहले पाँच वर्षों में इकत्तीस बार मलेरिया से ग्रस्त होना पड़ा था। उन्होंने उसके बाद कुनेन का नियमित सेवन आरम्भ कर दिया। वे कहते थे कि कुनेन न लेता तो मैं मर ही जाता।

केपटाउन से लगाकर विषुवत् रेखा तक और अटलांटिक सागर के अफ्रीकी तट से हिन्दमहासागर के अफ्रीकी तट तक यायावर की तरह घूमने और अन्धकार में प्रकाश फैलाने का काम उन्होंने अकेले सम्पन्न किया था। मध्य अफ्रीका की बहुत कुछ जानकारियाँ दुनिया को इन्हीं की देन थीं। वे प्रथम यूरोपवासी थे जिन्होंने नियाग्रा से दुगुनी ऊँचाई से गिरने वाले जल-प्रपात नगामी को पहली बार देखा था। उन्हीं ने उसका नामकरण विक्टोरिया प्रपात किया था।

कुरुमान मिशन के संचालन मि. मोफाट की पुत्री मेरी मोफाट से उन्होंने विवाह किया था। मेरी कभी अफ्रीका में स्वस्थ नहीं रह सकी थीं। अत: उन्हें बार-बार उसे तथा अपने पुत्र-पुत्रियों को इंगलैण्ड भेजना पड़ता था। उनका अधिकांश जीवन परिवार से दूर असभ्य आदिवासियों में ही बीता किन्तु धुन के धनी और सच्चे लोकसेवा व्रती डेविड लिविंगस्टन के चेहरे पर कभी उदासी की क्षीण रेखा भी नहीं उभरी। वे सदा मुस्कराते रहते थे।

कोलोबेंग में पाँच-छह वर्ष तक वे अपने परिवार के साथ रहे थे। उनकी पत्नी मेरी का हृदय भी उन्हीं की तरह सेवा भावना से परिपूर्ण था। वह उनके मिशन में भरसक सहायता करती थी किन्तु थोड़े ही दिनों में अस्वस्थ हो जाती थी। हारकर उन्होंने उसे इंगलैण्ड भेज दिया। जब वे अपने परिवार को जहाज में बिठाने केपटाउन गये तो लौटने पर उन्होंने पाया कि उनका सारा घर अस्त-व्यस्त पड़ा है। कपड़े व पुस्तकें चुरा ली गयी हैं। फर्नीचर जला दिया गया है। यह सब उन लोगों ने किया था जो दासों का व्यापार करते थे। लिविंगस्टन दास प्रथा के घोर विरोधी थे। उन्होंने इसे बन्द कराने के लिए आन्दोलन किये थे।

यह सब उन्हें डराने के लिए किया गया था। किन्तु वे डरते होते तो इंगलैण्ड से अफ्रीका ही क्यों आते। उन्होंने निर्भय होकर दास प्रथा के विरुद्ध आंदोलन किया तथा अफ्रीका का तूफानी दौरा किया। ब्रिटिश सरकार को भी उन्होंने इस धन्धे को बन्द कराने के सम्बन्ध में कठोर कदम उठाने के लिए पत्र लिखे।

लिविंगस्टन का जीवन एक मिशनरी धर्म प्रचारक व डॉक्टर का ही नहीं था उन्हें नये-नये स्थान खोजने का बड़ा शौक था। यही इस अन्ध महाद्वीप में उनके लिए मनोरंजन का साधन भी था। जेम्बेजी नदी तथा न्यासा झील को उन्होंने ही खोजा था। उनकी पत्नी मेरी तथा पुत्र ऑसवेल भी कई खोज अभियानों में उनके साथ थे। ऐसे ही एक दौरान मेरी को भयंकर ज्वर हुआ और प्राण लेकर ही गया। अपनी जीवनसंगिनी से बिछुड़कर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। अपनी पत्नी ही नहीं उन्होंने अपना एक साथी खो दिया था। किन्तु इस बिछोह ने उन्हें कर्म पथ पर अग्रसर ही किया।

अपने इन कार्य-कलापों से वे अफ्रीकावासियों में ही लोकप्रिय नहीं हुए वरन् विश्व भर में उनकी ख्याति फैल चुकी थी। एक मनुष्य किस प्रकार एक सभ्य जगत को छोड़कर महान् उद्देश्य की खातिर अपनी जान हथेली पर लेकर अफ्रीका के घने जंगलों में भटक रहा था। इन दो मानव समाजों के बीच जो चौड़ी नदी बह रही थी उस पर वे पुल बना रहे थे।

वे अपनी खोज और सहायता के कार्यों में इतने मग्न हो गये थे कि वर्षों तक उनके परिचितों तथा मित्रों तक कोई समाचार ही नहीं पहुँचा। उन्होंने स्थान-स्थान पर स्कूल खोले, चर्च स्थापित किये, लोगों को खेती करने के सही तरीके बताए, उनकी रोगों से रक्षा की। इतने बड़े महाद्वीप में वे अकेले सब कुछ कर रहे थे। उन्हें एक क्षण भी चैन की साँस लेने का समय नहीं मिलता था।

उन्हें खोजने के लिए आये लोगों ने उन्हें उनके साथ इंगलैण्ड लौट चलने का आग्रह किया तो उन्होंने उत्तर दिया— ''मुझे यहाँ बहुत काम करना है।'' उन्होंने अफ्रीका की धरती पर ही प्राण त्यागे। मरने पर उनका शव इंगलैण्ड पहुँचाया गया पर हृदय अफ्रीकावासियों को मिला जिसके वे ही अधिकारी थे।

कोढ़ियों में ईश्वर देखने वाले—फादर दामियेन

''कोढ़ियों को अलग बसाकर सरकार ने जन-सुरक्षा की दृष्टि से ठीक ही किया है, किन्तु उन्हें हम भी उपेक्षा की दृष्टि से देखें तो अनीति होगी। उन बेचारों को शरीर का कुष्ठ रोग हो गया है, तो क्या उनकी आत्मा की दिव्यता जाग्रत होने का अवसर भी नहीं दिया जाना चाहिए? वे भी तो प्रभु के प्यारे बच्चे हैं। उन्हें हम शारीरिक सुविधायें न दे सकें तो क्या हृदय का प्यार भी न दें?''

फादर 'दामियेन' अपने मित्रों को समझा रहे थे। मित्र उनके लिए चिंतित थे। 'हवाई द्वीप' राष्ट्र की अनोखी घटना— वहाँ की सरकार ने मोलोकाई नामक एक छोटे टापू को कोढ़ियों का द्वीप बना दिया था। कोढ़ के रोगियों को समाज से पृथक उत्तर द्वीप में निर्वासित कर दिया जाता था। वहाँ पहुँचे व्यक्ति का अन्य संसार से सम्पर्क टूट जाता था। कभी किसी स्वस्थ व्यक्ति के वहाँ जाकर रहने की किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। जब फादर दामियेन ने उन्हीं निर्वासित कोढ़ियों के बीच जाकर रहने की अपनी योजना बतलाई तो उनके मित्र स्तब्ध रह गये।

सेवा के लिए धार्मिक नेताओं को तत्पर रहना चाहिये यह बात उनके मित्रों को उचित लगती थी। उपेक्षितों के प्रति करुणा होना भी अच्छी बात है। दु:खियों के लिए प्राण की बाजी लगा देना भी किसी

अवसर पर उपयुक्त हो सकता है। किन्तु जान-बूझकर, सारे जीवन तिल-तिल कर जलने की तैयारी ?…… मित्र सिहर उठे। कोढ़ जैसा भयानक रोग। एक बार भी किसी कुष्ठ रोगी के निकट जाने में व्यक्ति हजार बार सोचता है। अपनी सुरक्षा के साथ उनके लिए कुछ कर देना और बात है। किन्तु जहाँ कोढ़ी ही हों— अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था न हो, शेष संसार से जहाँ सम्पर्क टूट-सा जाता हो— वहाँ जाकर रहना— कल्पना तक भयावह थी। किन्तु फादर दामियेन उसी के लिये कृत निश्चय थे।

हर प्रश्न का संतुलित उत्तर उनके पास था। हर भय की कल्पना करने वाले को उनकी दिव्य मुस्कान शान्त कर देती थी। उनका मत था कि "भय किस बात का किया जावे ? जब अपना जीवन उस कुशल शिल्पी के हाथ में औजार के रूप में दे दिया तो भला-बुरा सब उसी के हिस्से में चला गया— हम क्यों चिन्ता अपने सिर लें ?"

भक्त की कितनी उत्कृष्ट भावना है। हमारे यहाँ धर्म के सर्वेसर्वा कहलाने वाले— ईश्वर भक्ति में आँसू बहाने वाले, उसी नाम पर अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज से कराने वाले कम नहीं हैं। भगवान् को दीनदयाल, करुणानिधान कहकर उनकी उपासना का दम भरने वाले ढेरों हैं। किन्तु उन्हें न दीन दीखते हैं और न हृदय में दया अथवा करुणा आती है। "सियाराम मय सब जग जानी" तथा **'यो मां पश्यति सर्वत्र'**— का जाप श्वास प्रश्वास के साथ करने वालों के दर्शन भी ऐसे 'पापियों' को होना कठिन है जिनकी सेवा का संकल्प फादर दामियेन ने लिया था। यहाँ तो भक्त बना जाता है सेवा करने के लिए, न कि सेवा कराने का सार्वभौमिक अधिकार पाने के लिए। सम्भवतः भगवान् को यदि परहेज होगा तो ऐसे ही भक्तों से हो सकता है।

किन्तु फादर दामियेन ईश्वर भक्त थे, सही अर्थों में धर्म के प्रतिनिधि थे। उन्हें ईसा के शब्द स्पष्ट सुनाई देते थे "इन छोटों में से छोटों के लिए भी तुम जो कुछ करोगे, वह मेरे लिये करोगे।" और वह चल पड़े मोलोकाई टापू की ओर। मित्रों और सुहृदों की आँखों में आँसू थे, हृदय भारी था— किन्तु आशीर्वादों से लबालब भरा हुआ। युवा दामियेन सिर्फ तैंतीस वर्ष की आयु में चले जा रहे थे— अपने जीवन से खेलने कोढ़ियों के संसार में ? नहीं, अपनी जीवन साधना को सफल करने अपने प्रभु के उन प्यारों के पास जिनके शारीरिक तथा आध्यात्मिक दुर्भाग्य पर उनका हृदय रक्त के आँसू बहाया करता था। मन में अपूर्व उत्साह था कि उनके लिये कुछ किया जा सकेगा।

मोलोकाई द्वीप। एक ओर ऊँचे पर्वत तथा दूसरी ओर अथाह समुद्र, बीच में रहते हुए ८०० चलते-फिरते निर्जीव शरीर। निर्जीव ही कहा जावेगा उन्हें— जिनमें न आशा की चमक, न उत्साह की लहर। समय काटना और मृत्यु की प्रतीक्षा, यही दो कार्य उनकी दृष्टि में थे। फादर दामियेन वहाँ पहुँचे १६०० भावहीन आँखें उस ओर उठीं ……फिर उनमें आश्चर्य का भाव आ गया। आगन्तुक के शरीर पर कोढ़ के चिह्न नहीं— फिर क्यों आया यहाँ ?

उन्हें शब्दों से कुछ भी कहकर समझाया जाता तो उन्हें कभी भरोसा न होता कि कोई उनके हित की दृष्टि से उनके बीच पहुँचा है। किन्तु फादर दामियेन ने अपने व्यवहार तथा कार्यों द्वारा शीघ्र ही उनके मनों में यह बात बिठा दी। उन्हें भरोसा हो गया कि आने वाला व्यक्ति सचमुच उनके जीवन में दुःख बँटाने तथा सुखों का संचार करने आया है। हर तरह से उपेक्षित उन दीन रोगियों के लिए यह विचार ही अनुपम निधि था कि उन्हें भी कोई हृदय से प्यार करने वाला है। प्यार ! इससे मधुर कल्पना और क्या हो सकती है ? फादर के प्यार ने उन चलती-फिरती लाशों में प्राण डाल दिए। उदास चेहरे मुस्कराने लगे, मन में उमंगें उठने लगीं।

फादर ने उन्हें स्वयं ही प्यार नहीं किया, ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति भी करा दी। वह अपने आपको सर्वथा उपेक्षित मानते थे, ईश्वर द्वारा दण्डित पापी, जिनके हिस्से में केवल यातनाएँ तथा पीड़ायें ही हैं। किन्तु उन्हें बतलाया गया कि ईश्वर उन्हें भी प्यार करता है, वह भी जन-साधारण से अधिक। पिता जो ठहरा, शरीर से रोगी बच्चों का उसे विशेष ध्यान रहना ही चाहिए और अपने को दुर्भाग्य का पिटारा समझने वाले अपने सौभाग्य पर झूम उठे। जब उनका भाई कहलाने वाला मनुष्य उन्हें इतना प्यार करता है तो वह परम कृपालु परमपिता कितना प्यार करता होगा ? कोढ़ियों का मन स्वर्गीय सुख से सराबोर हो उठा। ईश्वर के सच्चे भक्त के प्रेम का चमत्कार संसार के सारे चमत्कारों से ऊपर है।

फादर दामियेन की सेवावृत्ति तथा व्यवस्था बुद्धि ने कार्य करना प्रारम्भ किया। उनके हृष्ट-पुष्ट शरीर की चेतना जैसे सारे द्वीपवासियों में संचारित हो उठी। स्वयं उनकी श्रमशीलता अद्वितीय थी। प्रातः से सायं तक कठोर श्रम— किसी छोटे या बड़े कार्य की भावना से मुक्त वह करते रहते। भारी शहतीर ढोना हो या नालियाँ खोदना, रोगी परिचर्या हो या प्रार्थना-सारे कार्य एकरस होकर वह किया करते थे। उन्होंने कोढ़ियों के लिये अच्छे मकान बनाये, गिरजे बनाये, नालियाँ आदि एवं सफाई की अन्य व्यवस्थायें कीं। स्वच्छ पानी की व्यवस्था की। अनाथ बच्चों के लिये अनाथालय एवं स्कूल की भी व्यवस्था की। मोलोकाई की काया पलट गयी।

इतना सब फादर दामियेन ने निस्पृह भाव से बिना किसी लौकिक कामना के किया। उन्हें सांसारिक एषणाओं की नहीं सच्ची प्रभु भक्ति की कामना थी। संसार की बड़ी से बड़ी विभूति उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी। उनकी निर्लिप्त एवं अनासक्ति की झलक निम्न घटना से मिल सकती है—

सन् १८८१ में 'हवाई द्वीप' राष्ट्र की महारानी मोलोकाई टापू गयीं। वहाँ फादर दामियेन के कार्य से वह अत्यधिक प्रभावित हुईं। जिन मानवीय कर्त्तव्यों का निर्वाह राज्य न कर सका था उनकी पूर्ति फादर दामियेन द्वारा होती देख उनको आन्तरिक सन्तोष एवं प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनका अभिनन्दन किया तथा बहुत सम्माननीय खिताब से विभूषित किया। उसके प्रतीक रूप उन्हें सोने का मैडिल भी भेजा गया।

उक्त घटना के कुछ माह बाद फादर के एक मित्र उनसे मिलने गये। उन्होंने उनके कमरे के एक कोने में किसी डिब्बे में रखा वह मैडिल पाया। इतने बड़े सम्मान के लिये लोग न जाने क्या-क्या करते हैं ... और यहाँ उसकी यह कीमत ...? मित्र ने दामियेन से पूछा तो उनका सामान्य उत्तर मिला "भला इसका मैं करूँ भी तो क्या ?"

बारह वर्षों तक वह कोढ़ियों की सेवा तन्मय होकर करते रहे। वह यथा-शक्ति कोढ़ियों को यह अनुभव नहीं होने देना चाहते थे कि उनमें कोई अन्तर है। अन्तर चाह भी कैसे सकते थे जब वह अपने इष्ट का दर्शन इन्हीं में किया करते थे। उनका साधनामय जीवन चलता रहा। कभी उन्हें होनोलूलू (राजधानी) जाना पड़ता था तो वहाँ शाही मेहमान के रूप में उनका स्वागत होता था। किन्तु वह नर्म बिस्तरों के स्थान पर फर्श पर अपना कम्बल ओढ़कर सोना पसन्द करते थे। सच्चे इन्द्रियजयी की तरह उन्होंने सांसारिक सुखों के प्रति रसानुभूति को भी जीत लिया था।

संयमशील जीवन के बारह वर्ष बाद वह दिन भी आया जिसकी कल्पना से उनके स्नेहियों के हृदय बैठ जाते थे। उन्हें पैर पर गर्म जल के स्पर्श का अनुभव न हुआ। उन पर भी कुष्ठ का प्रभाव हो गया था। सामान्य व्यक्ति के लिये यह भयंकर दुर्भाग्य एवं कष्ट की बात थी। किन्तु फादर दामियेन किसी अन्य धातु के बने थे। वह मुस्करा उठे, उन्होंने अनुभव किया कि परमात्मा ने अब उनकी साधना का पारितोषिक भेज दिया है। उन्हें 'इष्ट' के साथ एकरूपता प्राप्ति का सुख हुआ। अपने साथियों को जैसे खुशखबरी सुनाते हुए बोले— "भाइयो, अब मैं सही अर्थों में तुम्हारा साथी बन गया। ईश्वर के प्रेम का आप जैसा ही अधिकारी हो गया।"

फादर दामियेन ने समझ लिया कि अब शरीर अधिक दिनों सेवा न कर सकेगा। अतः उन्होंने अपनी गति और भी तीव्र कर दी। अगले पाँच वर्ष उन्होंने अविरल सेवा की। उनकी भावना यथावत् थी। मोलोकाई के लिये रवाना होते समय उनमें जो उत्साह था इसमें वृद्धि ही हुई थी— कमी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने कार्य अकेले किया था किन्तु कभी अकेलापन अनुभव नहीं किया। उन्हें अपना प्रिय— अपना प्रभु सदा अपने साथ दिखता था। जीवन भर उसी के साथ उन्होंने कार्य किया था और मृत्यु रूप में भी वहीं उन्हें निकट आता दिखता था।

अन्त में १५ अप्रैल सन् १८९९ को वह देवदूत चला गया पार्थिव शरीर छोड़कर। कोढ़ियों को लगा कि वे अनाथ हो गये— किन्तु फादर दामियेन की आत्मा जैसे बोल रही थी— "उस प्रभु की छाया के नीचे कोई अनाथ नहीं है। शरीर से कोढ़ी होने के कारण अपने आपको उसकी दृष्टि में छोटा मत गिनो। उसकी दृष्टि में कोढ़ी वे हैं जिनके मन में दुष्टता एवं क्रूरता के, स्वार्थ एवं ईर्ष्या के घाव हैं। शरीर तो तुम्हारा भी इसी प्रकार छूटने वाला है जैसे मेरा छूट गया। ईश्वरीय दिव्य प्यार से अन्तःकरण को पवित्र रखना प्रभु में तुम्हारा मूल्य असामान्य रहेगा।"

फादर दामियेन ने मानवता एवं ईश्वर भक्ति का सही रूप समझा— सही साधना की तथा संसार के लिये एक मूर्तिमान आदर्श छोड़ गये। जब तक मानवता तथा ईश्वर भक्ति के प्रति लोगों के मन में श्रेष्ठता की भावना है तब तक ऐसे मानव रत्नों के आगे सबके मस्तक झुकते रहेंगे।

लोकनिर्माण के नैष्ठिक पथिक— संत पायर

एक फ्रेम में मढ़ा हुआ एने फ्रैंक का वाक्य— "प्रकृति बदलेगी और मनुष्य पुनः अच्छा बनेगा। बुरा दिन समाप्त हो जायेगा और संसार एक बार फिर देख सकेगा— शांति व्यवस्था और सुख" आफिस की उस दीवाल पर टँगा था जहाँ पायर एक सैनिक अफसर की हैसियत से काम करते थे।

पायर का जन्म बेल्जियम में हुआ था। रोम के डोमिसियम कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे बेल्जियम में प्रोफेसर हो गये थे। इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ और वे सेना में भर्ती हो गये।

हम आये दिन महापुरुषों के सूक्त, वेद-वाक्य और सुभाषित पढ़ते और सुनते रहते हैं पर हमारे जीवन में उनकी प्रेरणाएँ और प्रभाव कहाँ उतर पाते हैं ? जबकि पायर को इन शब्दों ने ही सोचने के लिये एक नई दिशा और जीवन का कार्यक्षेत्र चुनने की नई सूझ दे दी।

वे इन वाक्यों पर विचार करने लगे— क्या सचमुच युग बदल सकता है ? युद्ध और आतंक की वर्तमान विभीषिकाएँ, मनुष्य का मनुष्य के प्रति द्वेष, दुर्भाव, स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के कष्ट-कलह भी, क्या कहीं शान्ति, सदाचार, व्यवस्था और सुख में बदल सकते हैं ? क्या कोई ऐसी सत्ता है जो स्वयं यह कर दे ? उन्होंने इतिहास के पृष्ठ उलट कर देखे तो उन्हें एक ही बात सूझ पड़ी— जिस तरह अपनी भूल, पाप और व्यक्तिगत दोषों के कारण मनुष्य पतित होता है और कालचक्र को कलंकित करता है उसी प्रकार यदि संसार के सब आदमी अच्छे बन जायें तो युग स्वर्गीय परिस्थितियों में क्यों नहीं बदल सकता ? बदला है पर उसके लिये अनेक संत और समाज सुधारकों ने लोकमंगल के लिये त्याग और संघर्ष किये हैं तब वह परिस्थितियाँ बन पाई हैं अपने आप युग क्या एक दिन की परिचर्या तक नहीं बदल सकती ?

फिर करे कौन ? इस प्रश्न का सबसे अच्छा उत्तर यही था— "हमारे पास जो भी शक्ति और योग्यता है उसे इस प्रयोजन में जुटाने के लिए हमें तो लग पड़ना ही चाहिये शेष की बात शेष जानें"— यह विचार आते ही भरी आजीविका को ठोकर मारकर, बड़े सम्मान को हाथ जोड़कर पायर पादरी हो गये और सामाजिक जीवन को अच्छा व सुव्यवस्थित बनाने के कार्य में जुट गये।

बीमारों की सेवा, जहाँ स्कूल न थे वहाँ स्कूलों की स्थापना और रूस से आये हुए शरणार्थियों की सेवा में उन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ जुटा दिया। शरणार्थियों की समस्या उन दिनों बेल्जियम

पर भार थी । १,५०,००० तो केवल बूढ़े, बीमार व बच्चे थे । २०,००० टी. बी. के मरीज, ३५,००० बच्चे और ९,५७,००० वृद्ध । उनके निवास, औषधि तथा शिक्षण के लिये दिन-रात काम करके उन्होंने यह दिखा दिया कि असहायों की सेवा और दलितों के उत्थान कार्य से बढ़कर पुण्य नहीं । इससे मनुष्य को सच्ची शान्ति मिलती है ।

पायर पादरी थे पर उनमें धार्मिक— असहिष्णुता का किंचित मात्र भाव न था । वे मानवता के सेवक और सन्त थे । जिस कार्यालय में बैठकर वे काम करते थे उसकी चार दीवालों में एक में (१) महात्मा गांधी, (२) अल्बर्ट स्वीत्जर, (३) फ्रायड जाक नैन्सेन और (४) जर्मनी के एने फ्रैंक के चित्र टँगे थे और उनसे सत्याग्रह, संघर्ष, समभाव और प्राणिमात्र के प्रति प्रेम की प्रेरणा ग्रहण करते थे । एक दिन वह था जब उन्हें अपने लक्ष्य का चुनाव करना पड़ा था तब उन्होंने यह अनुभव किया था कि कोई मूल्यांकन करे या न करे शहीद, सुधारक और सन्त से बड़ा सम्मान कुछ नहीं है और जब वे उस पर निष्ठापूर्वक चल पड़े तो उनका विश्वास सत्य में बदलता दिखाई दिया ।

पायर कमरे में बैठे थे । टेलीफोन की घण्टी बजी । चोंगा उठाकर कान में लगाया— उधर से किसी ने बधाई भेजी थी— ''आपको यह जानकर हर्ष होगा कि आपको इस वर्ष का शान्ति के लिये नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है ।''

किन्तु पायर को इससे कोई ऐसी प्रसन्नता न थी कि उछलते फिरते । कर्तव्य-निष्ठ के लिए तो कर्तव्य ही सुख है । मान-अपमान यश-अपयश की उसे क्या चिन्ता । अपनी सम्पत्ति वे पहले ही जनता जनार्दन की सेवा में सौंप चुके थे । नोबेल पुरस्कार में प्राप्त धनराशि उन्होंने शरणार्थियों के हित के लिये दान कर दी ।

फीजी द्वीपवासियों के सच्चे बन्धु—पादरी बर्टन

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जब भारत में अँग्रेजों का एकछत्र राज्य था तो शासक जाति इस देश का दोहन कर अधिक से अधिक लाभ उठाने की किसी भी सम्भावना से नहीं चूकती थी । अँग्रेजों का शासन और भी कई देशों में था— द्वीपों और महाद्वीपों में । उनमें कई ऐसे देश भी थे जहाँ प्रचुर प्राकृतिक संपदा थी और उस संपदा को प्राप्त करने के लिए आवश्यक था, मानवीय श्रम । यह मानवीय श्रम ही दुर्लभ था सो अँग्रेज अपने अधीन देशों के निवासियों को उन स्थानों पर रोटी-कपड़े के मूल्य पर श्रम करने के लिए ले जाते थे । किसमें साहस था जो इतने सस्ते मूल्य पर अपने परिवार से हजारों मील दूर जाने से इन्कार करना तो दूर रहा उस स्थिति में अपनी कठिनाइयाँ भी कह सकें ।

इस तरह हजारों की संख्या में भारतीय मजदूरों को जबरन घसीट कर उन देशों में ले जाया गया जहाँ अँग्रेजों ने उसकी आवश्यकता अनुभव की । ऐसा ही एक देश है— फीजी, जहाँ हजारों मजदूर ले जाये गये और उनसे १२ से १६ घण्टे तक काम लिया जाता । वहाँ उन्हें किन-किन यन्त्रणाओं से गुजरना पड़ता था इसका विवरण कई लेखकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने किया है, निस्संदेह ही उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था वह किसी भी स्तर से मानवीय नहीं था और उन पर किये जाने वाले अत्याचारों, उन पर ढाये जाने वाले अन्याय को कई बुद्धिजीवियों ने अमानवीय और अनुचित ठहराया किन्तु ऐसे क्रान्तिकारी व्यक्ति बहुत थोड़े ही हुए हैं जिन्होंने इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई हो । ऐसे ही तपे हुए, मानवीय आदर्शों की स्थापना के लिए कटिबद्ध व्यक्ति थे— पादरी जे. डब्ल्यू. बर्टन । उन्होंने कई ऐसी घटनाओं और स्थितियों से साक्षात किया था जिसे देखकर उनकी आत्मा चीत्कार उठी थी ।

एक बार की घटना है । बर्टन साहब खेतों में घूम रहे थे । खेत की मेड़ पर उन्होंने नवजात एक शिशु देखा जो भूख से तड़प रहा था और रह रहकर रो उठता था बर्टन उस शिशु के पास गये और उसे प्यार से सहलाने लगे । उस बच्चे के पास ही कुछ और बच्चे भी लेटे हुए थे किन्तु वे उस शिशु से बड़े थे । उसे देखकर तो यही लगता था कि उसे इस धरती पर आये एक सप्ताह से अधिक समय नहीं हुआ । सोचने लगे थे कि कितना अभागा है यह बच्चा, जिसे अपने जन्म के बाद, इतनी आयु देखने पर ही भूख और व्याकुलता व्याप रही है ।

जब वे उसे सहला रहे थे, उसे चुप कराने की कोशिश कर रहे थे तो एक स्त्री दौड़ी आई और उसने चट से उठाकर उस बच्चे को अपनी छाती से लगा लिया । उसकी आँखों से सन्देह के साथ-साथ याचना का भाव भी था । संदेह तो इसलिए कि बर्टन भी गोरे आदमी थे और इन गोरों के व्यवहार का उसे बहुत ही कटु अनुभव था ये लोग किस प्रकार जानवरों का सा व्यवहार इन कुलियों-मजदूरों से करते थे और याचना इसलिए कि काम छोड़कर बच्चे को सम्हालने के लिए आने पर कहीं गोरे मालिक उसे दण्ड न देने लगें । बर्टन ने पूछा कि ''बच्चा कितने दिन का है ? तो उस स्त्री का सन्देह कुछ कम हुआ कि साहब नाराज नहीं हैं ।'' उसने कहा— 'अभी चार दिन का ही है '

बर्टन ने पूछा— 'तो अभी इतनी जल्दी खेत पर आने की क्या जरूरत थी ।'

बर्टन नये-नये थे, इसलिए उन्हें मालूम नहीं था कि अपने सजातीय अँग्रेजों में इन काले जानवरों के लिए आराम या स्वास्थ्य की क्या जरूरत है । यह प्रश्न सुनकर स्त्री को भी आश्चर्य हुआ और वह कुछ नहीं बोल सकी । बर्टन साहब ने फिर कहा— 'अभी तो चार दिन ही हुए है प्रसव को । इस बीच तुम्हारी हालत भी ऐसी नहीं हो सकती कि तुम खेत में काम कर सको । बच्चे को हवा लग जायेगी, प्रसव के बाद इतनी जल्दी ही मेहनत में लग जाने पर तुम बीमार भी हो सकती हो । अभी तुम्हें आराम करना चाहिए था, अपनी सेहत ठीक बनानी चाहिए थी ।'

अपनी ओर से तो बर्टन उस स्त्री को समझा रहे थे और वह स्त्री चुपचाप सुने जा रही थी । साथ ही उसकी आँखों में विवशता के आँसू

भी तैरने लगे थे, पीड़ा के भाव चेहरे पर उतरने लगे थे। प्रतीत होता था कि बर्टन से सहानुभूति पाकर वह स्त्री भी फूट-फूट कर रोने लगी थी। किन्तु बर्टन की कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था.......।

इतने में ही एक गोरा साहब उधर आया और उस स्त्री को डाँटने लगा— 'पिल्ले से लाड़ लड़ा रही है। चल भाग और काम कर अपना।' देखते रह गये बर्टन और वह स्त्री अपने बच्चे को चुपचाप लिटाकर खेत में चली गयी। बच्चा फिर रोने लगा किन्तु उस माँ ने पीछे मुड़कर भी न देखा।

अब बर्टन की समझ में आया कि वह स्त्री चार दिन का बच्चा लेकर ही खेत पर काम करने के लिए क्यों आ गयी थी। इस तरह की कई और स्थितियाँ थीं जिनका साक्षात बर्टन साहब ने अपनी पत्नी के साथ-साथ किया था। किन्तु वे केवल देखकर ही चुप न रहे गये वरन् उन्होंने अपने समान ही कुछ और सहृदय व्यक्तियों को लेकर एक आंदोलन चलाया जिसके परिणामस्वरूप प्लाण्टर न केवल प्रसूता स्त्रियों को छुट्टी देने लगे वरन् उनके लिए दाई का प्रबन्ध करने को भी राजी हो गये। इससे पूर्व मजदूर स्त्रियाँ अपने बच्चों को खेत की मेड़ पर टाट बिछाकर लिटा देती थीं और काम में लग जाती थीं। बर्टन दम्पत्ति द्वारा चलाये गये आंदोलन के परिणामस्वरूप उन बच्चों की देखभाल एक दाई करने लगी।

फीजी में कुली मजदूरों की स्थिति सुधारना बर्टन साहब का काम नहीं था। वे तो मुख्यतः फिजियनों तथा भारतीयों में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए आये थे। किन्तु वहाँ आकर जब उन्होंने मजदूरों की कष्टपूर्ण स्थिति देखी तो उस स्थिति को उनका हृदय सह नहीं सका और वे मुख्यतः उनकी स्थिति सुधारने के लिए ही प्रयत्नशील रहने लगे। उन्होंने मजदूरों की समस्याओं, उनके कष्टों को निकट से देखा और वहाँ के प्रभुत्त्व सम्पन्न लोगों को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया। वह वर्ग जिम्मेदार था भी, क्योंकि वही लोग उन कुलियों को फीजी लाये थे और उनकी व्यवस्था, मजदूरी का भुगतान, उन्हीं के द्वारा होता था। बर्टन साहब ने पहले तो इस वर्ग को हृदय परिवर्तन कराकर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। किन्तु इन प्रयत्नों का जब कोई परिणाम होता नहीं दिखाई दिया तो उन्होंने विश्व के प्रबुद्ध व्यक्तियों तक इनकी जानकारी पहुँचा कर जनमत को प्रभावित करने का निश्चय किया। ताकि जनमत का दबाव वहाँ के गोरे स्वामियों पर पड़े और मजदूरों की स्थिति में सुधार हो सके।'

इसके लिए मजदूरों की स्थिति का चित्रण उन्होंने अपने कई लेखों और पुस्तकों में किया। ज्यों-ज्यों वे कुली-मजदूरों की समस्याओं का निकट से अध्ययन करते जाते थे त्यों-त्यों इस निष्कर्ष पर पहुँचते गये कि समूची कुली प्रथा ही जड़मूल से नष्ट कर देनी चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक 'फीजी ऑफ टुडे' में लिखा था— "कुली प्रथा बड़ी निष्ठुरतापूर्ण है और उसकी अच्छी से अच्छी देखभाल भी उसकी निर्दयता और अन्याय को दूर नहीं कर सकती। पूँजी लगाकर व्यवसाय करने के लिए मजदूर रखने की यह पद्धति भले ही आवश्यक हो पर यह सम्पूर्ण प्रथा भ्रष्ट, अपकृष्ट और मनुष्यत्व को नष्ट करने वाली है। कुली लोगों के लिए तो यह बुरी है ही अँग्रेजों के लिए भी यह अच्छी नहीं है।"

बर्टन साहब आये तो ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए किन्तु वे लग गये विवश मानवों के कष्टों का निवारण करने में। उनके यह प्रयास गोरों की सहनसीमा से बाहर थे। वे अपने स्वार्थ पर आघात क्यों सहन करते। 'फीजी ऑफ टुडे'— पुस्तक जब प्रकाशित हुई प्रबुद्ध व्यक्ति इस प्रथा को नष्ट करने के लिए भाग उठते दिखाई दिये। प्रबुद्ध जनमत को अपने विरुद्ध जाते देख गोरों ने बर्टन की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का विचार किया और उसके लिए एक आन्दोलन ही चला दिया। फीजी सरकार ने बर्टन के खिलाफ एक विरोधी पत्र लिखकर मैथोडिस्ट मिशन के अधिकारियों को भी भेजा पर मिशन वालों ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया और उत्तर में लिख दिया कि— "बर्टन साहब के विचारों के लिए हम जिम्मेदार नहीं है।"

उस समय हैनरी ग्रे फीजी के गर्वनर थे। उन्होंने बर्टन साहब के खिलाफ एक मुहीम भी चला दी और जगह-जगह उनके व्यक्तित्व पर आक्रमण होने लगे। हमेशा यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता कि ग्रन्थकार एकदम लापरवाह, दुराग्रही और अविश्वसनीय आलोचक है। किन्तु बर्टन ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। जब कभी कोई उनसे इस बारे में पूछता तो वे यही कहते— "मैंने ईमानदारी के साथ जो कुछ सोचा तथा देखा है उसे ही ईमानदारी के साथ व्यक्त करने का प्रयास किया है।"

पादरी बर्टन साहब का जन्म सन् १८२५ ई. में यार्कशायर के लेज नदी नामक स्थान पर हुआ था। बचपन से ही वे अपने माता-पिता के साथ कई स्थानों पर भ्रमण करने गये और २२ वर्ष की आयु में मिशनरी बन गये। मिशनरी बनकर धर्म प्रचार करते समय उनका दृष्टिकोण ईसाई मतावलम्बियों की संख्या बढ़ाना मात्र नहीं होता था, बल्कि वे मनुष्य में सोये हुए मानव को जगाने के लिए ही अधिक प्रयत्नशील रहते। इसके साथ ही वे दुःखियों और कष्ट पीड़ितों की सेवा के लिए भी हर घड़ी प्रस्तुत रहते। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के साथ-साथ वे सेवा-साधना द्वारा महात्मा ईसा के आदर्शों को जीवन में उतारने के लिए भी प्रस्तुत रहते।

सन् १९०३ में जब वे फीजी आ गये तो सेवा धर्म, पीड़ा और कष्ट का निवारण ही उनका मिशन बन गया। उनकी पत्नी भी उनके समान ही सहृदय और सेवाभावी थी। पण्डित तोताराम ने उनके सम्बन्ध में लिखा है "एक बार पादरी बर्टन साहब और उनकी धर्मपत्नी मुझे साथ लेकर मजदूरों की हालत देखने के लिए एक कोठी में गये। उस कोठी की प्रवासी भारतीय बहिनें गन्ने के खेत में काम कर रही थीं। उनके वस्त्र बहुत फटे हुये तार-तार हो रहे थें, काया दुर्बल थी और चेहरे से लगता था कि उन्हें शायद ही कभी भरपेट खाना मिलता हो। बर्टन साहब ने उनसे उनकी स्थिति के बारे में कई प्रश्न किये। बहुत-सी बातें सुन कर तो बर्टन साहब तथा उनकी धर्म-पत्नी हिलकी बाँधकर रोने लगे और बोले— हमारा यदि कोई वश होता तो इस शर्तबन्दी गुलामी को जड़मूल से नष्ट कर देते।

बर्टन साहब के साथ, उनकी धर्मपत्नी भी उनकी सेवाप्रवृत्तियों में योगदान देतीं। उन्होंने फीजी में रहकर कुली प्रथा, शर्तबन्दी की प्रथा को नष्ट करने के लिए ही अपना सारा जीवन लगा दिया। स्थानीय कार्यक्रमों का संचालन और आन्दोलन चलाने के साथ ही उन्होंने संसार को कुलियों की दुर्दशा से अवगत कराने के लिए कई पुस्तकें भी लिखीं और विचारशील व्यक्तियों को आह्वान किया कि वे इस प्रथा को समूल नष्ट करने के लिए प्रबल प्रयत्न करें। उनका अपेक्षित परिणाम प्रभावी भी रहा। अपने सेवा प्रयासों के साथ विश्व जनता के कष्टों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखते थे और ९६ वर्ष की आयु तक अपने ढंग से समूची मानवता की सेवा करते रहे। सन् १९२१ में उनका देहान्त हुआ। फीजीवासी उन्हें अपने पिता की तरह सम्मान देते थे क्योंकि वे जानते थे एक जन्म पिता ने दिया है और मानवों द्वारा ही बाँधी गयी शर्तबन्दी, कुली प्रथा की बेड़ियों को काट कर उन्हें दूसरा जन्म पादरी बर्टन साहब ने दिया है।''

सच्चा धर्मनिष्ठ जुलाहे का बेटा पोप-पायस

उन्नीसवीं शताब्दी में रोम पर ईसाई धर्म के विश्व गुरु पोप का शासन था। जनता भी उनके इशारों पर नाचती थी स्वेच्छया भी और विवश होकर भी। अनुशासन की दृष्टि से योग्य प्रशासनिक नियमों का अनुगामी होना बहुत अच्छी बात है। बिना कारण सत्ता के खिलाफ कभी विद्रोह नहीं होता। भले ही वे कारण कृत्रिम हों परन्तु षड्यन्त्रकारियों द्वारा उन कारणों तथा दोषों को प्रचारित करना ही पड़ता है। फिर पोप का शासन तो उस समय एकदम स्वेच्छाचारी था। लोग सभी प्रकार से तंग आ गये थे।

धर्म के क्षेत्र में पाखण्ड का बोलबाला था। स्वर्ग के सर्टिफिकेट और धनपतियों को अपना मन्तव्य पूरा करने की खुली छूट, जनता का निरीह शोषण इस युग में धर्मसम्मत ही बन गया था। राजनीति में भी नित नये कुचक्र चलते। अवसरवादिता, भाई-भतीजावाद और चापलूसी का पूरा साम्राज्य था। पाप का घड़ा भर जाने पर फूटता ही है। अनाचारी आरम्भ में तो बहुत ऊँचाई पर चढ़ता है और बाद में इतनी वीभत्स स्थिति से गिरता है कि चकनाचूर हो जाता है। यही हालत तत्कालीन सत्ताधीशों की हुई। जनता परेशान हो गयी और तभी इटली की सेना ने रोम पर हमला कर दिया।

शासन तन्त्र हलके-से झटके में ही लड़खड़ा गया। दम्भ और अहंकार के कारण तत्कालीन शासक पूरी सुरक्षात्मक व्यवस्था भी नहीं कर पाये थे। वे तो समझते थे कि दुनिया के तमाम ईसाई उनकी इच्छाओं के दास हैं, कठपुतली मात्र हैं उन्हें चाहे जिस समय मनचाही दिशा में मोड़ दिया जायेगा। परन्तु यह विचार, विचार मात्र ही सिद्ध हुआ पोप ने अपने अनुयायियों को धर्म और ईश्वर का भय दिखाया परन्तु किसी ने भी एक न सुनी। उनकी समझ में धर्म का यथार्थ स्वरूप तो अब आया था कि अनीति का विरोध किया ही जाना चाहिए भले ही कितने ही आराध्य और वन्दनीय व्यक्ति द्वारा क्यों न चलाई जा रही हो। आखिर सत्ता पोप के हाथों से छीन ली गयी। उसके शासन तन्त्र के अंग पादरी लोग जान बचाकर भागने लगे। कितने ही पादरियों ने तो सरकार से प्रार्थना कर जेल में पहुँचे।

यह स्थिति देखकर इटली के एक छोटे-से गाँव में जन्मा जुलाहे बाप का बेटा ऐचिले बड़ा दुःखी हुआ। पादरियों के प्रति उसके मन में बड़ी श्रद्धा थी। उनकी बाहरी कलेवर और कृत्रिम पावन जीवन से प्रभावित होकर वह स्वयं भी पादरी बनने का स्वप्न संजोये हुआ था। परन्तु उस समय पादरियों की यह दुर्गति देखकर वह बड़ा दुःखी हुआ। उसे लगा कि मेरा लक्ष्य झूठा है। मेरी भी यही दुर्दशा होगी। अपमान और क्षोभ मिलेगा। मेरे अन्दर भी वे सभी बुराइयाँ होंगी जो इन पादरियों में हैं। उस समय जो पादरी पकड़े गये थे, सार्वजनिक रूप से उनके कुकर्मों का भण्डा-फोड़ किया जाता और उन्हें दण्ड दिया जाता। ऐचिले के मन में बैठी आदर्श की मूर्ति टूटने-सी लगी। पवित्र, धर्मात्मा और ईश्वर भक्त दीखने वाले लोग भी शेर की खाल में गीदड़ हैं यह जानकर उसका हृदय टूट गया और वह उदास रहने लगा।

पहले ऐचिले कई बार अपनी माँ से कह चुका था कि मैं भी पादरी बनकर प्रभु की सेवा करूँगा। इटली और रोम में जो कुछ चल रहा था उसे तथा अपने पुत्र की मनोदशा ताड़कर माता सारी बात समझ गयी और बोली— बेटा निराश होने की जरूरत नहीं है। सच्चे धर्म प्रचारकों की सदैव आवश्यकता रही है और रहेगी। इस समय जिन साधुओं की दुर्दशा देखकर तुम खिन्न हो वे सच्चे साधु नहीं थे बल्कि साधु का वेष धारण किये विलासी और नरपशु थे। वास्तव में यदि कोई सच्चा साधु बने तो उसमें उसका भी कल्याण है और जनता का भी।

ऐचिले ने पूछा— 'तो सच्चा धर्म प्रचारक बनने के लिए क्या करना पड़ेगा।'

माता ने बताया कि— 'धर्म प्रचारक बनने के लिए ज्ञान और चरित्र की आवश्यकता होती है। ज्ञानार्जन के लिए शिक्षा प्राप्त करो और स्वयं के सद्गुणों का विकास करो।

उत्साही एचिले तुरन्त अपने पिता के पास पहुँचा और शिक्षा का प्रबन्ध करने का आग्रह करने लगा। उसके पिता दस-बारह घण्टे प्रतिदिन कठोर परिश्रम कर अपने परिवार के गुजर-बसर जितना कमाते थे। बेटे की शिक्षा के लिए अलग से व्यवस्था कैसे हो यह वह सोचने लगे। पति-पत्नी दोनों ने विचार-विमर्श किया और मार्ग भी दिखाई पड़ा।

एचिले के चाचा पास के ही एक गाँव में पादरी थे। ग्रामवासियों को उनके चरित्र में कहीं भी कोई बुराई नहीं दिखाई दी। इस कारण उन पर कोई आँच नहीं आई। कुछ समय बाद एचिले को उनके पास पढ़ने के लिए भेज दिया गया। अस्सो— जहाँ पर उसके चाचा पादरी थे, पर्वतों की घाटियों में बसा एक सुन्दर गाँव था। प्राकृतिक सुषमा भरे इस उपवन से गाँव में ऐचिले की प्रारम्भिक शिक्षा पूरी हुई और चाचा ने आगे के अध्ययन हेतु शहर के स्कूल में भर्ती करवाया।

वे कई पाठशालाओं में पढ़े। लगन और निष्ठा के बल पर उन्होंने तीन विषयों में डॉक्टरेट किया। शिक्षा पूरी कर लेने के बाद वे जनसेवा के क्षेत्र में उतरे। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने नौकरी कर ली। आरम्भ में वे इटली ही एक कॉलेज में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए और आगे चलकर अम्ब्रोशियन लाइब्रेरी के प्रधान-संचालक नियुक्त हुए इसे उन्होंने अपना बहुत सौभाग्य माना। देश-विदेश के ज्ञान विज्ञान के सम्पर्क में आने का यह अलभ्य अवसर था जिसका लाभ उठाने से वे नहीं चूके, अम्ब्रोशियन लाइब्रेरी उस समय दुनिया का सबसे बड़ा पुस्तकालय था।

ज्ञान जो सच्चे धर्म प्रचारक की सर्वोपरि अनिवार्य आवश्यकता है, अर्जित करने के साथ-साथ ऐचिले ने व्यक्तिगत जीवन में चरित्र और सामाजिक जीवन में सेवा पर भी बराबर ध्यान दिया। ज्ञान-चरित्र और सेवा ही किसी मनुष्य को महामानव के पद पर बिठाने में सक्षम होती है। ऐचिले ने नर से नारायण की साधना में इन तीनों गुणों का समावेश किया।

उसका चरित्र तो प्रामाणिक था ही। जन-सेवा के क्षेत्र में उनका कृतित्व भी उल्लेखनीय रहा। कई शिक्षा संस्थाओं को उन्होंने सहयोग दिया। बचपन में माँ से मिला हुआ यह उपदेश कि जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए शिक्षा या ज्ञान की सम्पदा जरूरी है। धर्म प्रचारक एक प्रकार का युग निर्माता होता है। सच्चे मनुष्यों, आस्तिकजनों और अध्यात्मवादियों का निर्माण धर्म प्रचारक का कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य बोध से समाज निर्माण की पहली शर्त पूरी करने के लिए ऐचिले ने शिक्षा प्रसार में सहयोग दिया।

बाइबिल में पढ़ा था— वे धन्य हैं जो दया करते हैं और पीड़ितों और दुःखियों की सेवा में लगे रहते हैं। स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। इस शिक्षा को उन्होंने आत्मसात किया और मजदूरों, स्त्रियों, बच्चों के सुधार के हेतु कई महत्वपूर्ण कार्य किये। बीमार तथा दुःखियों की सेवा सुश्रूषा से लेकर बेरोजगार व्यक्तियों के लिये काम की व्यवस्था के अनेकों उदाहरण उनके दैनन्दिन जीवन में दिखाई दिये।

उनकी इसी सेवा निष्ठा ने उन्हें जन-जन का प्रिय पात्र बना दिया। १८७० में पादरियों के अन्दरूनी कुत्सित जीवन को देखकर लोगों का यह विश्वास उठ चला था कि इस धरती पर कोई सच्चा धर्म प्रचारक है। परन्तु ऐचिले को उन्होंने जब हर तरह से ठोक-बजा कर देखा तो लोकसेवी की कसौटी पर उन्हें सौ टन्च खरा पाया।

ऐसे आदर्श महामानव की हर क्षेत्र में आवश्यकता होती है। तत्कालीन सरकार ने उन्हें राजनीति में भाग लेने तथा प्रशासनिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करने का आग्रह किया। उन्होंने तो हर क्षेत्र में 'सुधार' और सृजन को ही अपना लक्ष्य चुना था। राजनीति का क्षेत्र कितना ही गन्दा क्यों न माना जाता हो। पावन चरित्र के लोगों की मान्यता अलग ही होती है। उनकी दृष्टि में मलीनता बाहर नहीं अन्तर में रहती है। उन्होंने सरकार का आग्रह स्वीकार कर लिया। पोलैण्ड में उन्हें अपोस्टालिक विजिटेटर बनाकर भेजा गया। तीन साल तक उन्होंने इस पद पर कुशलतापूर्वक कार्य किया और फिर अपने देश लौट आये।

स्वदेश लौटने पर वे आर्क बिशप बनाये गये। पहले ही कहा जा चुका है १८७० की राजनैतिक और धार्मिक क्रान्ति ने जनता के श्रद्धा पात्रों और धर्म गुरुओं के सम्बन्ध में उनके विश्वासों को तोड़ दिया था। देश में पादरियों का कोई सम्मान नहीं था परन्तु ऐचिले अपनी योग्यता और सेवा भावना के बल पर लोगों का प्यार जीतने में सफल हो गये। ज्ञान, चरित्र और सेवा से समन्वित उनका व्यक्तित्व एक चुम्बक बन गया था। जिसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उनका ही होकर रह जाता था। इसी कारण जनता की श्रद्धा बदल गयी।

पोप का शासन समाप्त होने के बाद कोई योग्य और अनुभवी व्यक्ति का चुनाव किया जाना था। सभी लोगों की राय ऐचिले के पक्ष में गयी और वे आर्क बिशप ऐचिले से ईसाई धर्म के विश्व गुरु पोप पायस बन गये। सरकार ने उन्हें 'नाइट ऑफ क्रास' की उपाधि से सम्मानित किया। उस समय लोक-सेवी प्रतिभाओं का यह सर्वोच्च सम्मान था।

ऐचिले को जब पोप पायस चुना गया। उस पद का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के बाद वे बाहर विशाल मन्च पर आये। हजारों लोगों का समूह उस समय वहाँ उपस्थित था। पोप पायस के मन्च पर आते ही सबने घुटने टेक कर नये पोप का सम्मान किया। शासकीय सेना ने उनके अभिवादन स्वरूप अपने शस्त्रास्त्र भेंट किये। तत्कालीन प्रत्यक्षदर्शियों ने लिखा है कि ऐसा सम्मान पिछले पचास वर्षों से उनके अपने जीवन-काल में कभी नहीं देखा गया।

पोप पायस भारतीय संस्कृति की उस व्यवस्था के प्रतीक थे जिसके अनुसार राजनीतिक पर धर्म तन्त्र का नियन्त्रण रहना चाहिए। सरकार ने अनेक अवसरों पर आपसी और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों पर उनकी सहमति और निर्देशन में कई सफलतायें प्राप्त कीं। उन्होंने संसार भर में सद्भावनाओं का विकास करने और विश्व शान्ति के लिए कई प्रयास किये। इटली और रोम के परस्पर विवाद से फ्रांस की श्रमिक व्यवस्था तक को सुलझाने में अपूर्व सहयोग दिया। फ्रांस में कपड़े के मिल-मालिकों और श्रमिकों में मतभेद हो जाने के कारण एक बार सभी कारखाने बन्द हो गये। पोप पायस ने श्रमिकों की न्यायिक माँग का पूर्ण समर्थन किया।

साम्यवादी नास्तिकता की निन्दा करते हुए पूँजीवादी शोषण को भी उन्होंने नहीं बख्शा। उस समय ईसाई मतावलम्बी यहूदियों के प्रति घृणा का प्रचार कर रहे थे, पोप पायस ने इसे अधार्मिक और मूर्खतापूर्ण कहा। इतना सब कुछ होते हुए भी वे अतिविनम्र बने रहे। उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व शान्ति और मानव मात्र की सुख अभिवृद्धि के लिए समर्पित कर दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे कुछ दिनों तक बीमार रहे। इस लोक से परलोक में प्रयाण करते समय मानव मात्र के लिए उनका अन्तिम सन्देश था— "विश्वशान्ति के लिए मानव मात्र को प्रयत्न करना चाहिए और स्वयं के लिए तो केवल सच्चा मानव बनना ही पर्याप्त है। ऐचिले पोप पायस का स्थूल शरीर संसार में नहीं है। परन्तु उनके प्रतिष्ठापित आदर्श और जीवन मूल्य धर्म गुरुओं का ही नहीं मानव मात्र का मार्गदर्शन करते हैं।"

नोवास्कॉटिया के मसीह— फादर जेम्स थापकिन्स

सन् १९२३ की एक उजली संध्या में एक ईसाई धर्म प्रचारक ने कान्सो के मनोरम सागर तट के नैसर्गिक सौन्दर्य को अपनी आँखों में भर लेना चाहा। वह आज सवेरे ही यहाँ आया था। थोड़ा घूमने के लिए सागर तट तक चला आया था। किन्तु यह क्या ? इस उजली संध्या व नीली लहराती फेनिल जलराशी से उचटकर उसकी दृष्टि अन्यत्र ही जा ठहरी। भूख से जर्जर अस्थि पंजर हुई मछुओं और सिंकिया पहलवान से उनके बच्चों को देख उसे विस्मय हुआ। ढेर से मछुओं में एक भी उसे हृष्ट-पुष्ट दिखाई नहीं दिया

अभावों ने यौवन पर वृद्धावस्था की अकाल छाया डाल दी थी। कैशोर्य और अधेड़ के बीच की कड़ी— जीवन का स्वर्ण काल इस दैत्य ने लील ही लिया था। पराजय के स्मृति चिह्न प्रत्येक पर अपनी रेखाएँ छोड़ गये थे। इस लहराते सागर के तट पर उसने एक और सागर फुफकारता देखा था— गरीबी, अज्ञान और अस्वस्थता का सागर। ये वही मत्स्य व्यवसायी थे जो प्रतिदिन शताधिक मनुष्यों के लिए भोजन सामग्री जुटाते हुए भी स्वयं भूखे थे। उनके परिवार भूखे थे।

वह इन्हीं लोगों को उपदेश देने— धर्म मार्ग बताने आया था। किन्तु जिनके पेट में भी पाँव नहीं वे किस बल पर आदर्शों के— धर्म के कठिन मार्ग पर चल पायेंगे इन्हें चाहिये रोटी और उसके पास थे उपदेश। वह जानता था कि उपदेशों से पेट नहीं भरा जा सकता। अतः उसने पहले उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने की योजना बनाना आरम्भ किया।

अब वह धर्मोपदेशों की बातें नहीं करता वरन् सहकारी संस्थान खोलने, सहकारी ऋणदात्री समितियाँ गठित करने की बातें करता। पाप और पुण्य के भेद-विभेदों की व्याख्या करने के स्थान पर वह मत्स्य सम्पदा का मूल्य बढ़ाने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करता। उसके साथी उपदेशक उसके इन क्रिया-कलापों को देखकर कन्धे उचकाते— एक दूसरे से फुसफुसाकर कहते "यह अध्यात्मवादी कहाँ भौतिक माया-जाल में फँसा जा रहा है।" कोई तो उसके सामने ही आलोचना— सर्गों का पारायण करने लगता तो वह खीझ कर कह उठता— "यदि मेरे स्थान पर स्वयं महात्मा येशु भी होते तो भी वे इन लोगों को कदापि धर्मोपदेश नहीं देते। वे वही करते जो मैं कर रहा हूँ।"

यह विवेकी तथा दृढ़ निश्चयी धर्मोपदेशक थे डा. जेम्स थापकिन्स। वे अपने इस 'एन्टीगोनिश' आन्दोलन के कारण विश्व-विख्यात हुए उन्होंने कनाडा के नोवास्कोटिया प्रदेश के मछुओं, कोयला-खान-श्रमिकों तथा कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अथक् श्रम किया और अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त की। अपनी सहायता आप करने की यह हिम्मत इन शोषित, पीड़ित, निर्धन वर्गों में जगाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। इनके इसी आन्दोलन का परिणाम था कि विश्वव्यापी मन्दी की लहर नोवास्कोटिया तक पहुँच ही नहीं पायी थी। सर्वत्र मूल्य गिरे थे, बेकारी बढ़ी थी। इसके विपरीत उस क्षेत्र में मूल्य बढ़े थे, बेकारी मिटी थी।

डॉ. थापकिन्स का जन्म १८७१ में केप ब्रिटेन द्वीप के एक कृषक परिवार में हुआ था। छह फुट से भी अधिक ऊँचाई के लोगों के परिवार में वे ही सबसे कम ऊँचे सदस्य थे किन्तु व्यक्तित्व एवं कृतित्व के गज से नापने पर वे सबसे लम्बे ठहरते हैं। बचपन में अपने गाँव के एक कमरे वाले स्कूल में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर वे पादरी बनने के उद्देश्य से रोम पहुँचे। इकतीस वर्ष की आयु में उन्होंने नोवास्कॉटिया के एन्टिगोनिश नगर स्थित एक छोटे-से कॉलेज में प्राध्यापक के स्थान पर नियुक्ति पाकर पद भार सम्हाला। यह कॉलेज सेंट फ्रांसिस जेवीयर विश्वविद्यालय, सेंट फ्रांसिस जेवियर के अन्तर्गत चलता था। वहाँ थोड़े दिन अध्यापन कार्य करने के बाद उन्हें मिशन का उपाध्यक्ष बना दिया। उन्होंने इस परमार्थ परायण कार्य को अपनी पूरी सामर्थ्य से किया। नये-नये स्कूल कॉलेज खोलने, धर्म गृहों की स्थापना करने के लिए वे पूरे क्षेत्र में घूम-घूम कर धन संग्रह करते थे। इस भ्रमण के दौरान उन्हें लोगों की वास्तविक स्थिति जानने का पूरा-पूरा अवसर मिला।

नोवास्कॉटिया प्रदेश के नागरिकों की आर्थिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। किसानों को कृषि कर्म करने का कोई लाभ नहीं मिलने से वे लोग खेती की ओर से मुँह मोड़ते जा रहे थे। मछुओं तथा खान श्रमिकों के साथ शोषण का ऐसा चक्र चल रहा था कि वे गरीबी के व्यूह को भेद नहीं पा रहे थे। थोड़े से सम्पन्न लोगों को छोड़कर शेष की स्थिति निराशाजनक थी। उन्हें अपना वर्तमान अभावों से जर्जर तथा भविष्य अन्धकार से परिपूर्ण लग रहा था। ऐसी उलझन भरी नैराश्य की मनःस्थिति में धर्म और आदर्शों की पौध नहीं लगायी जा सकती थी। पहली आवश्यकता उनके जीवन में उत्साह, उमंग और आशाओं को पुनर्जीवित करना था।

इन समस्याओं के पीछे बड़ा कारण शिक्षा का अभाव था। उनका मिशन जो शिक्षण संस्थाएँ खोलता था उससे बालक, किशोर तथा युवक ही लाभान्वित हो सकते थे। प्रौढ़ वर्ग तो उनका लाभ नहीं उठा पाते थे। उन्हें शिक्षित बनाने के लिए उन्होंने प्रौढ़ शिक्षण का एक व्यापक अभियान चलाया जिसके लिए उन्होंने अपने मिशन द्वारा चलाये जाने वाले कॉलेजों के विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों से पूरी सहायता मिली। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपलब्धियों को सामान्य कृषक तक पहुँचाने, खान श्रमिकों को संगठन एवं संघर्ष का मार्ग बताने तथा मछुओं को सहकारिता का पाठ पढ़ाने में यह वर्ग बहुत सक्रिय रहा।

१९२३ में कांसो जाने पर तो वे दीन-हीन मछुओं की दुर्दशा देखकर लगभग रो ही पड़े थे। सच ही तो है धर्म, व्यक्ति को एकान्त सेवी तथा पलायनवादी नहीं बनाता गिरि कन्दराओं में बैठा हुआ संन्यासी उतना धार्मिक तथा अध्यात्मवादी नहीं माना जा सकता जितना वह व्यक्ति जो जन-जन की पीड़ा को अपने सागर जैसे विशाल हृदय में स्थान देता है। डॉ. जेम्स थाम्पकिन्स जिन्हें लोग श्रद्धा व

आदर से फादर जिम्मी कहा करते थे, उन्हें इस पीड़ा से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया ।

प्रथम तो उन्होंने इन सागर के बेटों की इस दीनता के कारणों को खोजने का प्रयास किया। पर्याप्त पूछताछ के बाद उनके इस दारिद्र्य का जो कारण उन्हें मिला वह था मनुष्य का स्वार्थ उनकी संकीर्णता । माँसाहारी पशु एक-दूसरे को खा जाते हैं । उन्हें प्रकृति ने ऐसे ही क्रूर तथा बुद्धिहीन बनाया है । उन्हें साधन-सुविधाएँ देने में भी प्रकृति ने कम कृपणता नहीं की । किन्तु मनुष्य को सब प्राणियों से अधिक समर्थ, बुद्धिमान तथ सुख-सुविधाओं से युक्त किया है, भावनाओं की पुष्करणियों के अमृत से उसके हृदय को सींचा है । वह भी अपने ही जैसे मनुष्यों को खा— उनका शोषण कर अपना पेट भरे तो उसे पशु से भी गया-गुजरा माना जायेगा । इन मछुओं को मत्स्य व्यापारी नौका, मकान, जाल, रस्सियाँ तथा थोड़ी-सी धन राशि देकर अपना कर्जदार बना लेते हैं तथा फिर उनका मनमाना शोषण करते हैं । कर्ज भार से दबे होने के कारण उन्हें अपनी पकड़ी हुई मछलियाँ, व्यापारी को उसके मनमाने भाव पर देनी पड़ती थीं जो बहुत कम होता था । ये व्यापारी कनाडा व अमेरिका की बड़ी-बड़ी फर्मों के एजेन्ट थे जो गरीबों को आर्थिक चक्रव्यूह में फँसाए हुए थे । इसी शोषण के अन्ध कूप में उन्हें व्यापारियों ने कैद कर रखा था ।

नोवास्कोटिया समस्याओं का केन्द्र बना हुआ था । दो वर्ष में ही मत्स्य केन्द्रों का मूल्य १५० डालर से घट कर ९० लाख हो गयी थी । केप ब्रिटेन जैसे कोयला उत्पादक नगर में बेकारी महामारी की तरह फैल रही थी । किसान अपनी खेती छोड़ रहे थे । इस कारण लोग इस प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र जाने लगे थे । अमेरिका के एक अकेले नगर में एक लाख नौवास्कोटिया वासी गिने गये थे ।

अपनी मातृभूमि तथा उसके निवासियों की इस दशा से वे बहुत दुःखी हुए । वे इन समस्याओं का निदान करना चाहते थे । किन्तु वे अकेले क्या कर सकते थे । इसलिए चुप थे । एक दिन उन्हें एक ऐसा अस्त्र मिल गया जो उन्हें अपने उद्देश्य में सफल बना सकता था। जिस प्रकार परमाणु बम एक व्यक्ति को अपार शक्ति प्रदान कर देता है और वह लाखों-करोड़ों पर भारी पड़ता है, वैसा ही अस्त्र उन्हें मिला था । वह अस्त्र था 'विचारों' का अस्त्र । उन्हें पूरा विश्वास था कि इसके बल पर वे लोगों के खोये हुए सुख को पुनः ला सकते हैं ।

उन्होंने लोगों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उठ खड़े होने तथा सहकारिता के आधार पर धनपतियों का जाल छिन्न-भिन्न कर देने के लिये उद्बोधन देना आरम्भ कर दिया। वे कहा करते थे— ''विचारों के हाथ-पाँव होते हैं वे तुम्हारे लिए वह काम कर सकते हैं जो तुम चाहते हो ।'' उन्होंने अपनी योजनाओं को कार्यान्वित कराने के लिये प्रभावशाली व तथ्यपूर्ण शब्दों में छोटी-छोटी विज्ञप्तियाँ तैयार कीं जिनमें मछुओं, किसानों व खनिकों की समस्याओं का समाधान था। वे इन विज्ञप्तियों को अपने झोले में रखे रहते तथा जिससे भी भेंट होती उसके हाथ में एक विज्ञप्ति थमा कर कहते— इसे पढ़ें इसमें आपकी समस्या का समाधान है ।

केवल विज्ञप्तियाँ बाँटकर ही वे सन्तुष्ट नहीं हो जाते वे लोगों को समझाते, उनसे तर्क करते— अपनी बात को उसके गले उतारते भी थे । यही नहीं वे लोगों को रोकते भी थे । जब कोई मछुवा अपने माल को कम मूल्य पर बेच देता तो उससे पूछते— 'तुमने उस कॉड को केवल डेढ़ सेंट में क्यों बेच दिया जब कि हेलीफेक्स में उसका मूल्य ३० सेंट है ! तुम अमुक को इतने में ही क्यों दे देते हो जब कि होटल पर उसका मूल्य एक डालर से कम नहीं होता ।'

वे जानते थे कि छोटे-छोटे आदमी मिलकर संगठन बना लें तो वे राक्षस को भी हरा सकते हैं । पतले-पतले सूत के धागों से बटी हुई रस्सियाँ मनों भार उठा लेती हैं । संगठन की जनशक्ति ही इन सब समस्याओं का समाधान कर सकती है । मछुओं को, खनिज श्रमिकों को व किसानों को संगठित करने के लिए उन्होंने दिन-रात एक कर दिया । उसका परिणाम भी आशातीत ही हुआ ।

छोटे-छोटे लोगों को जगाने के साथ-साथ उनकी आवाज को समर्थ व्यक्तियों तक पहुँचाने का काम भी फादर जिम्मी ने किया । उन्होंने जजों, इन्जीनियरों तथा राजनीतिज्ञों से भी इनकी प्रगति में सहयोग देने के लिए अनुरोध किया । उन लोगों ने यह जाना कि वह ऋण ही इन गरीबों के पाँवों की जंजीर बनकर उन्हें शोषण के नरक में भटकने को बाध्य कर रहा है ।

जब मनुष्य अपनी छिपी सामर्थ्य को जन-समुदाय में छिपी शक्ति को पहचान लेता है तो फिर उसे कोई दीन-हीन दशा में पड़ा रहने को बाध्य नहीं करता । धड़ाधड़ सहकारी संस्थाएँ खुलने लगीं । उन्होंने अपनी ऋणदात्री समितियाँ स्थापित कीं । वस्तुओं को उचित मूल्य पर ही बेचने की कसम खा ली । व्यापारियों तथा बड़ी फर्मों को अपना व्यूह टूटता दिखा तो उन्होंने अपने हथकण्डे अपनाये । सरकार ने भी उनका पक्ष लिया । मछुओं व मजदूरों ने प्रतिवाद किया। थोड़े समय कड़ा संघर्ष हुआ । अन्त: में विजय जनता की हुई । नोवास्कोटिया में समृद्धि का सूर्य चमकने लगा जिसे मन्दी के बादल भी छिपा नहीं सके । इसका श्रेय फादर जिम्मी को ही जाता है ।

उन्होंने जीवन-भर लोगों को धर्म का— सच्चाई का— आदर्शों का जीवन जीने का उपदेश दिया । स्वयं भी वे इन सिद्धान्तों का कठोरता से पालन करते रहे । इन सबसे अधिक उन्होंने अपने आन्दोलन के माध्यम से नोवास्कोटियावासियों के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया । यह आन्दोलन इनकी १९५३ में मृत्यु हो जाने के बाद अमेरिका में ही नहीं अन्यान्य देशों में भी चल पड़ा नर्क में स्वर्ग के सुन्दर प्रभात लाने वाले इस महामानव की कीर्ति भला किसे उनके चरण चिह्नों पर चलने को बाध्य न करेगी ?

उपेक्षित किशोरों के मार्गदर्शक— फादर जिम्मी

किशोर जेम्स बटरवर्थ को समय की ठोकरों ने समय से पूर्व ही वयस्क और विवेकी बना दिया था। अत: उसने अपना जीवन लक्ष्य

भी अपनी उस ज्ञान-प्रौढ़ता के अनुरूप ही चुना— संसार में सद्ज्ञान और सत्प्रवृत्तियों का प्रसार करना। वह जानता था कि जिसने अपनी सहायता स्वयं करना सीख लिया, जिसने आत्म देवता को मना लिया उसके लिये ईश्वर की कृपा पा लेना बहुत सहज होता है। उसके लिये किसी भी क्षेत्र में कैसी भी उपलब्धि पा लेना असम्भव नहीं होता। पर यह जानते हुए भी उसने अन्य लोगों की तरह धनवान, विद्वान, कलावान या सामर्थ्यवान बनने की अपेक्षा एक सामान्य पादरी बनना चाहा ताकि वह ऐसे वर्ग को ज्ञान दान दे सके, जिन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। उसका यह संकल्प पूरा हुआ और वह सामान्य-सा किशोर अपने इस उच्च दृष्टिकोण और परोपकारी वृत्ति के कारण लाखों लोगों का श्रद्धाभाजन फादर जिम्मी बन गया।

जेम्स बारह वर्ष का ही था उसके पिता ने आत्महत्या कर ली। गरीबी तो पहले ही उसके परिवार के पल्ले बँधी हुई थी ही कि अब वह अनाथ भी हो गया। परिवार में वही एक ऐसा सदस्य था जो पिता के रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकता था। विधवा माँ और चार छोटे-छोटे भाई-बहिनों के भरण-पोषण के दुर्वह दायित्व को उसने अपने दुर्बल कंधों पर उठाने का दृढ़ निश्चय करके लंकाशायर के सूती कपड़े के एक मिल में मजदूरी की। सबेरे की कड़कड़ाती शीत में उसे काम पर जाना पड़ता था। रविवार की छुट्टी को छोड़कर सप्ताह में पूरे छः दिन उसे नमी और कास्टिक के घोल युक्त फर्श पर खड़े रह कर काम करना पड़ता था। जिससे उसके हाथ-पाँव व अँगुलियों के पोरों से रक्त रिसने लगता था। इतना कठोर श्रम करने पर उसे सप्ताह भर में तीन शिलिंग नौ पेंस ही मजदूरी मिलती थी, जिससे छह सदस्यों वाले उसके परिवार की गाड़ी बड़ी मुश्किल से चलती थी। इस अपर्याप्त वेतन की कमी की पूर्ति वह अतिरिक्त समय में समाचार पत्र बेचकर किया करता था। इस प्रकार वह अपनी पारिवारिक नौका का नन्हा माँझी बन गया और उसे डूबने से बचा लिया।

छुट्टी का दिन रविवार का दिन उसने धर्म कार्य के लिये नियुक्त कर रखा था। इस दिन वह चर्च जाता था। उसे चर्च जाना बहुत भाता था। वहाँ उसे जो आत्मिक शान्ति मिलती थी वह उसकी जीवनी शक्ति थी, जो बचपन में ही उसे इतना दृढ़ बना सकी थी। अपनी इस धार्मिक अभिरुचि के अनुरूप ही उसने अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित किया था।

जेम्स जब मनुष्य की तुलना अन्य प्राणियों से करता था तो उसे मनुष्यों पर ईश्वर की विशेष कृपा का सहज परिचय मिल जाता था। वह सोचा करता था जिस तरह कमाना और खाना तथा बच्चे-बच्ची पैदा करने का काम मनुष्य करते हैं वह तो अन्य प्राणियों जैसा ही है। उसे तो अपने विशिष्ट स्वरूप तथा सामर्थ्य के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए। वह कार्य कैसा हो इस सम्बन्ध में धर्म ही दिशा निर्देश दे सकता है। मनुष्य को अपनी गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने सम्बन्धी मार्गदर्शन वही दे सकता है। अतः उसने भी धर्म प्रचार को ही अपना लक्ष्य बनाया।

वह जानता था कि धर्म प्रचार के लिये जीवन समर्पित करने वाले अधिकांश पादरी-गण भी गरीब और पिछड़े वर्ग के लोगों की ओर ध्यान नहीं देते जबकि उन्हें इस दिशा-निर्देशन की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। महात्मा ईसा भी तो स्वयं दीन-दुखियों तथा पापियों से घिरे रहते थे क्योंकि ऐसे ही लोगों को उनके उपदेशों की सबसे अधिक आवश्यकता होती थी। सम्पन्न और समृद्ध लोगों को धर्म शिक्षण हर कोई देता है पर ऐसे विरले ही होते हैं जो दीन-दुःखियों और पथ भ्रमितों की ओर ध्यान देते हैं। ऐसे धर्मसेवियों की कमी मैं पूरी करूँगा यह संकल्प उसके बाल मन में दृढ़ हो गया।

एक दिन उस मिल के मालिक ने जिसमें जिम्मी बटरवर्थ कार्य करता था, मजदूरों को उपदेश देने के लिये मेथोडिस्ट चर्च के पादरी को आमंत्रित किया। पादरी के उपदेश मन को छू लेने वाले थे। उन्हें सुनकर उसके भीतर का संकल्प दृढ़तर हो गया। वह भाषण समाप्ति पर सकुचाते हुए बड़े पादरी के पास पहुँचा और सकुचाते हुए बोला "मैं भी आपकी तरह पादरी बनकर इस प्रकार धर्मोपदेश देना चाहता हूँ। क्या मेरी यह कामना कभी पूर्ण हो सकेगी।"

बड़े पादरी ने इस नाटे-दुबले किशोर की ओर देखा। उसकी आँखों में संकल्पजन्य दृढ़ता विद्यमान थी। उसे आश्वासन प्रोत्साहन मिला— "अवश्य! यदि तुम प्रयत्नशील रहोगे तो यह कामना पूरी होकर रहेगी। प्रयत्न करने से तो हर कामना पूरी हो सकती है। फिर तुमने तो कामना ही ऐसी की है जिसमें लोक-हित की दृष्टि है तो वह क्यों पूरी न होगी।"

सचमुच एक दिन जिम्मी बटरवर्थ की यह कामना पूरी हो गयी। एक दिन स्थानीय मेथोडिस्ट चर्च के उस बड़े पादरी जिसने उसके मिल में प्रवचन दिया था और वह इस किशोर की धर्म भावना से बहुत प्रभावित हुआ था, ने उसे पादरी बनने के लिये आमंत्रित किया। १९ वर्ष की आयु में वह लंदन स्थित एक चर्च में पादरी बन गया।

जब उसे अपने स्वप्नों को साकार करने का अवसर मिला। वह ऐसे लोगों में कार्य करना चाहता था जो सब ओर से उपेक्षित थे। वह गरीब वर्ग के किशोरों की दयनीय स्थिति से बहुत दुःखी रहता था। वह जानता था कि यह वय बहुत विषम होती है। इस वय संधिकाल में यदि उन्हें उचित मार्गदर्शन तथा यथोचित व्यवहार न मिले तो वे भटक जाते हैं। इससे उनके भविष्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उन लोगों के बच्चों का भविष्य तो प्रायः अनिश्चित ही रहता है जो गरीब अथवा निम्न मध्यम वर्ग से हैं। ऐसे किशोरों के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लेने की योजना उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थी। वह ऐसे किशोरों के कल्याण के लिए एक संस्थान खोलना चाह रहा था।

एक दिन वह कहीं जा रहा था तो उसका ध्यान एक वीरान से मकान की ओर गया। मकान का फर्श उखड़ गया था, खिड़कियों के पल्ले टूट गये थे। वर्षों से इसकी पुताई नहीं हुई थी। इसमें कोई रहता ही नहीं था। तो पुताई कौन करवाता। यदि इस मकान की मरम्मत की जाये तो यह उसकी कल्पना के संस्थान का प्रारम्भिक आधार बन सकता है। उसने मकान मालिक से बातचीत की। उसे

अपनी सारी योजना समझायी । मकान मालिक सहृदय व्यक्ति था । जिम्मी मकान अपने व्यक्तिगत हित साधन के लिये तो माँग नहीं रहा था सो उसने पादरी की माँग को सहज स्वीकार कर लिया । यही नहीं उस सहृदय व्यक्ति ने उसकी योजना पूर्ति के लिये और भी सहायता दी ।

जिम्मी बटरवर्थ ने यह मकान ही क्यों चुना था इसके पीछे कई कारण थे । एक तो यह ऐसे स्थान पर था जिसके आस-पास बसने वाले लोग वैसे ही थे जिनको उसे आवश्यकता थी और उन्हें ऐसे संस्थान की । इस मकान के आस-पास वे गरीब लोग बसते थे जिन्हें अपने बच्चों के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं थी और न इतने योग्य ही थे कि उनका निर्माण कर सकें ।

युवा पादरी जिम्मी बटरवर्थ ने आस-पास के इन लोगों से अपनी योजना सम्बन्धी बातचीत की पर एक-दो को छोड़कर शेष किसी ने उसकी इस योजना में कोई रुचि नहीं ली । उन्हें अपने मोहल्ले में ऐसे संस्थान की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। आज तक किसी पादरी ने उन गरीबों के पास आकर ऐसी बातें की नहीं थीं अत: वे इस युवा पादरी की बातों को कौतूहलपूर्वक ही सुन रहे थे । उसका साथ नहीं दे रहे थे ।

इन लोगों की इस उदासीनता ने जिम्मी को निराश नहीं किया । उसके स्थान पर कोई दूसरा होता तो वह यही सोचता, किस के लिये किया जाय यह सब मैं क्यों मरूं-खपूं जिनके लिये कुछ करना चाहते है वे तो खड़े ही नहीं होते । पर वह इस प्रकार के पलायनवादी विचारों को अपने पास फटकने ही नहीं देता था । अपने थोड़े-से सहयोगियों के साथ उसने इस वीरान पड़े मकान की मरम्मत करना आरम्भ कर दिया । दूसरे लोग कुछ देर तक तो तमाशा देखते रहे पर जब उन्होंने देखा कि ये लोग वास्तव में कुछ करना चाहते है तो वे भी सहयोग देने लगे । फिर तो जन-सहयोग से जिम्मी बटरवर्थ ने इस मकान का काया-कल्प ही कर दिया ।

यहाँ उसने किशोरों के 'क्लब लैण्ड' की स्थापना की । यह गरीब और निम्न मध्यम वर्ग के बालकों-किशारों का निर्माणस्थली था। यहाँ उनके फादर जिम्मी उन्हें उपासना कराते थे, खेल खिलाते थे तथा मानवोचित जीवन जीने की राह बताते थे । आरम्भ में उसे बड़ी मुश्किल से छह लड़के मिल सके थे जो 'क्लब लैण्ड' में नियमित प्रशिक्षण पाने को बड़ी मुश्किल से तैयार हुए थे । इस मुहल्ले के दूसरे बच्चों को तो अपने हुड़दंग से ही फुर्सत नहीं थी । इन सब बच्चों का सम्मिलित अनुदान सिर्फ पाँच पौण्ड धनराशि से आरम्भ हुआ यह क्लब लैण्ड आगे चलकर अपनी गतिविधियों के कारण सारे इग्लैण्ड में विख्यात हुआ तथा हजारों साधनहीन किशोरों के उज्ज्वल भविष्य का भाग्य विधायक बना ।

क्लब लैण्ड की अपनी योजना को साकार करने के लिये फादर जिम्मी को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था । मार्ग में कई बाधाएँ भी आयीं । उसने क्लब लैण्ड की किशोर निर्माण की गतिविधियाँ आरम्भ की ही थीं कि उसे पादरी के प्रशिक्षण के लिये मेनचेस्टर के मेथोडिस्ट कॉलेज जाना पड़ा । प्रशिक्षण के दौरान क्लब लैण्ड का कार्य रुका रहा । वापस लौटकर उसने पुन: अपना 'क्लब लैण्ड' चलाया तो उसे यह अनुभव हुआ कि यह कार्य इतना समय लेने वाला है कि वह चर्च की अन्य गतिविधियों को ठीक से सम्पादित नहीं कर सकेगा । अत: उसने मेथोडिस्ट चर्च के प्रबन्धकों को अपना मन्तव्य बताते हुए स्तीफा पेश कर दिया। प्रबन्धकगण उसकी इस निष्ठा व ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुए । यह जानकर कि फादर जिम्मी जो कार्य कर रहा है वह चर्च की पारम्परिक गतिविधियों से कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है सो उन्हें पूरी तरह 'क्लब लैण्ड के कार्यों में लगे रहने की स्वीकृति दे दी । इसके लिये पादरी पद त्याग देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी ।'

यह फादर जिम्मी की लगन, निष्ठा व उनके उद्योग का परिणाम था कि उन्नीस वर्षों में क्लब लैण्ड इतनी प्रगति कर गया कि उसके चर्चे सारे देश में होने लगे । १९४५ तक इसमें सभागृह, क्रीड़ांगण कर्मशाला तथा क्लब लैण्ड संसद सभी कुछ बन चुके थे । यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों साधनाओं की संतुलित शिक्षणशाला बन चुकी थी । किन्तु उनकी इन दो दशाब्दियों की तपस्या से लहलहाते इस उद्यान को बीस सेकंड की जर्मन बमबारी ने भूसात कर दिया ।

स्वप्न दृष्टा जिम्मी बटरवर्थ ने क्लब लैण्ड के स्वप्न को साकार किया था । उसे सजाया-सँवारा और समृद्ध किया था । जिस क्लब लैण्ड का आरम्भ छह बालकों और पाँच पौण्ड धनराशि से हुआ था वह बीस वर्ष बाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था पर युद्ध की भयंकर विभीषिका ने उनके सृजन को नष्ट करके रख दिया था । युद्ध मानवीय बर्बरता का कटु उदाहरण होता है जिसमें मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिक ही नहीं वरन् नागरिकों को भी इस बर्बरता का शिकार होना पड़ता है ।

रात्रि में बम वर्षा हुई । प्रात:काल फादर जिम्मी ने अपने क्लब लैण्ड की दुर्दशा देखी तो वे रो पड़े । इन आँसुओं में जहाँ शोक था, युद्ध के बर्बर विनाश पर जहाँ दु:ख था वहीं नव-सृजन का शुभ संकल्प भी था । किसी की छत गिर गयी थी तो किसी की दीवारें धसक गयी थीं । किसी का फर्श उखड़ चुका था तो कोई मलवे का ढेर बन चुकी थी । कल तक जहाँ सब कुछ रमणीक था वहीं आज खण्डहर खड़े विनाश की दु:खद कहानी कह रहे थे ।

फादर को उन सैकड़ों किशोरों ने घेर लिया, क्लब लैण्ड जिनकी आशाओं का केन्द्र था । वे यहाँ उपासना, उपार्जन, मनोरंजन तथा प्रशिक्षण मार्गदर्शन पाते थे । उन्होंने अपने मार्गदर्शक को रोते देखा तो उनकी भी आँखों से आँसू बह निकले । एक किशोर ने पूछा ''फादर हमारे स्वप्नों का क्लब-लैण्ड धराशायी हो गया । अब हम क्या करेंगे ?''

''प्यारे बच्चो ! हमारे क्लब लैण्ड का भवन ही तो धराशायी हुआ है हमारे संकल्प तो नहीं टूटे हैं, हमारे सपनों का क्लब लैण्ड तो हमारी आँखों में सपना बनकर ज्यों का त्यों विद्यमान है । कल यहाँ भव्य भवन थे, आज यहाँ खण्डहर है तो कल फिर यहाँ भव्य भवन बन सकते हैं । यह सब असम्भव नहीं है । हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए ।''फादर बटरवर्थ ने स्नेहसिक्त स्वर में संकल्पजन्य

दृढ़ता घोलते हुए कहा । उनके ये आशा भरे वचन सुनकर निराशा के बादल छंट गये । वहाँ पर आशा का सूर्य चमकने लगा । अपने छतविहीन वर्च में दैनिक उपासना करके वे अपने-अपने घरों को चले गये । उन्हें आशा बँध गयी थी कि क्लब लैण्ड के संस्थापक तथा संचालक फादर जिम्मी वटरवर्थ उसका पुनर्निमाण कर सकेंगे ।

सौ-सौ पौण्ड के व्यक्तिगत चन्दे से क्लब लैण्ड का पुनर्निमाण आरम्भ हो गया । रानी मेरी की ओर से भी पर्याप्त सहायता मिली । उसने आधार के पाँच पत्थर अपने पाँच पुत्रों की स्मृति में लगवाये । सहायता तो मिल रही थी पर वह जिस गति से मिल रही थी उसे देखते हुए तो वर्षों बाद यह कार्य पूरा हो सकेगा तब तक जो किशोर क्लब लैण्ड से अपने जीवन निर्माण की आशाएं लगाए बैठे थे वे तो उस आयु को ही पार कर चुके होंगे । यह व्यथा उन्हें शांतिपूर्वक सोने भी नहीं देती थी ।

फादर जिम्मी ने अमेरिका जाकर धन संग्रह करने की सोची । वे अमेरिका गये । जन-सेवा का लक्ष्य रखकर भीख भी माँगी जाय तो वह पुण्य कार्य ही होता है । यह सोचकर उन्होंने अमेरिका में क्लब लैण्ड के पुनर्निर्माण के लिए झोली फैलायी । वहाँ एक ही दाता ऐसा मिला कि उसने उनको इतना देने का वादा किया कि उन्हें और अधिक झोली फैलानी नहीं पड़ी । यह दाता था हालीवुड का प्रसिद्ध हास्य अभिनेता बॉब होप । उसने दो सप्ताह तक प्रिंस आफ वेल्स थियेटर में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करके ११,५०० पौण्ड की जो धनराशि प्राप्त की वह सारी की सारी क्लब लैण्ड को दे दी । यही नही उसने प्रति वर्ष दो सप्ताह तक लन्दन में कार्यक्रम प्रस्तुत करके उपार्जित राशि क्लब लैण्ड को देने की परम्परा ही चला दी और उसे तब तक निभाया जब तक उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हुईं ।

फादर जिम्मी ने अपने ध्येय समर्पित जीवन द्वारा एक आदर्श प्रस्तुत किया है कि जन-कल्याण की योजनाएँ एक अकेला व्यक्ति भी चला सकता है जन-सहयोग के माध्यम से ।

निराशा में आशा के सन्देश वाहक—बेन्द्रे

मेरा बेटा एक दिन बहुत बड़ा आदमी बनेगा बहन ! तुम नहीं जानती, उसके अध्यापक कहते हैं इसमे कोई दैवी प्रतिभा है । अभी वह पाँचवीं कक्षा में है पर उसे संस्कृत में धारा-प्रवाह बोलने का अभ्यास है, उसने शेक्सपियर का मर्चेण्ट ऑफ वेनिस अभी से कंठस्थ कर लिया है, वह बात-बात में पं.जगन्नाथ के भामिनी विलास के श्लोकों के उदाहरण देता है । क्या यह उसके बड़े बनने के लक्षण नही है ?

इससे पूर्व की आगन्तुका कुछ अपनी राय व्यक्त करे बालक बेन्द्रे वहाँ आ गया । समस्या का समाधान उसने स्वयं कर दिया— माँ तुम ठीक कहती हो, मैं एक दिन राम-कृष्ण मिशन का संन्यासी बनूंगा और दुनिया के तमाम पीड़ित मनुष्यों की सेवा करूँगा ।

मा स्तब्ध रह गई क्योंकि उसके मस्तिष्क में बड़प्पन की कल्पना कुछ और ही थी उसने अपने बेटे के बड़े होने की कल्पना— समृद्धि, सम्पन्नता, उच्च पद और यश से की थी, मनुष्य सेवा और परोपकार से भी बड़ा बनता है ऐसा उसने सोचा भी न था । इसमें उस बेचारी का दोष ही क्या था । हमारे जीवन की संकीर्णता, हमारे समाज का छिछलापन जब लोगों को ऐसा अनुभव करने का अवसर प्रदान करे तब न । जब तक ऐसे स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं होती जिसमें मानवता की सेवा को शीर्ष प्रतिष्ठा मिले तब तक बेचारी स्त्रियाँ ही क्यों पढ़े-लिखे लोगों में भी यदि बड़प्पन का यही मापदण्ड हो तो उसमें आश्चर्य क्या ?

अल्पायु से ही जीवन जैसी बहुमूल्य वस्तु को सेवा जैसी महान् साधना से जोड़ने का स्वप्न देखने वाला यह विद्यार्थी एक दिन कन्नड़ भाषियों की जिह्वा पर उसी तरह छा गया जिस तरह उत्तर भारतवर्ष में लोग तुलसीदास को जानते हैं । जानवर चराने वालों से लेकर आचार्यों तक को आशा और सन्तोष-सेवा और सदाचार की प्रेरणा देने वाले इस कवि का अपना जीवन तो एक तपस्या ही रहा है इसलिये उसे लोग अभी भी उतने ही प्यार से स्मरण करते हैं जैसे कोई माँ अपने छोटे शिशु को करती है ।

बेन्द्रे का पूरा नाम द. रा. बन्द्रे था पर साहित्यिक क्षेत्र में उनको 'अम्बिका तनय दत्त' के नाम से जाना जाता है । उनका जन्म पाखाड़ नगर के एक साधारण परिवार में हुआ था । नरगुंद (गुलबर्गा) और फार्गुसन कॉलेज पूना से उन्होंने बी.ए. तक का शिक्षण पूरा किया । पिता यद्यपि आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे तथापि उनकी यह मान्यता थी कि बच्चे के लिये धन न छोड़े पर उसे शिक्षित और संस्कारित करने में कोई भी कसर नहीं छोड़नी चाहिये । शिक्षा और संस्कारों के अभाव मे बड़े होने वाले बच्चे पाई हुई कमाई को अपने पतन का ही कारण बनाते हैं और समाज के लिये भी सिरदर्द बनते हैं, अपनी इस आदर्शवादिता से प्रेरित होकर उन्होने बच्चे को उच्च शिक्षा दिलाई किन्तु बेन्द्रे अभी ग्यारह वर्ष के ही थे कि उनका निधन हो गया और इसीलिये बी.ए. पास करने के तुरन्त बाद बेन्द्रे को यह सोचना आवश्यक हो गया कि अब आगे जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए ।

संसार के मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त करें तो एक वह होते हैं जो काल के प्रवाह में जैसा कुछ सामने आया उसी में बहते चले गये, एक वह जो जीवन निर्धारित तरीके से समझ-बूझकर जीते हैं । दूसरी प्रकार के मनुष्य भले ही अपनी सांसारिक स्थिति मजबूत न बना पाते हों पर संसार को विचार, ज्ञान, प्रकाश और मार्गदर्शन ऐसे लोगों ने ही दिया है । जो अपने जीवन का आकार-प्रकार भी निश्चत नहीं कर सकते वे परिस्थितियों के थपेड़ों से अपनी ही सुरक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते, समाज को कुछ देना तो उनसे हो भी कैसे सकता है ।

बेन्द्रे की कल्पना संन्यासी बनकर धार्मिक सेवा करने की थी । वे संसार को ज्ञान का, मानवता का सन्देश देना चाहते थे पर जब उन्होंने अपने परिवार को पिता के निधन के कारण असहाय पाया तो उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदला और विचार करने लगे क्या मनुष्य अपने सीमित क्षेत्र से ही सेवा का तथ्य पूरा नहीं कर सकता, क्या अपने आपको पीड़ाओं से अलग रखकर ही पीड़ितों की सेवा की जाती

है ? दोनों प्रश्नों का जो उत्तर उन्होंने खोजा वह यह था कि मनुष्य उन परिस्थितियों में स्वयं भी बना रहे जिससे पीड़ितों की सेवा को जाग्रत प्रेरणा मिलती है। बस इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही उन्होंने वर्षों से संचित अभिलाषा का परित्याग कर दिया और एक स्कूल में अध्यापक हो गये।

अध्यापक होकर उन्होंने जाना— समाज की सबसे अच्छी सेवा तो उसे अच्छे विचार देकर ही की जा सकती है। इसलिए अपने व्यवसाय के प्रति उन्हें सहज ही प्रेम हो गया पर उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि वर्तमान शिक्षा पद्धति से अक्षर ज्ञान का उद्देश्य तो पूरा होता है पर मनुष्य शरीर ही नहीं दर्शन भी है, मनुष्य, कर्म ही नहीं धर्म भी है, मनुष्य की आयु ६० और १०० वर्ष ही नहीं, वह उस गहराई से निकला है जिसकी आयु सीमा कभी निर्धारित नहीं की जा सकती। जीवन की उन गहराइयों को पाठ्यक्रम में प्रवेश किये बिना शिक्षा अधूरी है इसलिये अध्यापन में पूर्ण रुचि रखते हुये भी उससे उनका मन न भरता था। उनकी इच्छा ऐसे शिक्षण के विकास की थी जो मनुष्य को बुद्धिवादी ही नहीं हृदय और आत्मदर्शी भी बना सकती हो पर दुर्भाग्य कि न तो तब ऐसी परिस्थितियाँ थीं और न ही उनके पास साधन। भारतवर्ष ब्रिटानिया दासता के चंगुल में था और वे जिस स्कूल में पढ़ाते थे वह भी उसी का अंग था।

इस बीच उन्होंने मानवीय स्वच्छन्दता के नाम पर शासक और प्रजा के बीच की खाई को देखा, इस बीच उन्होंने समृद्धि और निर्धनता के बीच खड़ी हुई दम्भ की दीवार देखी, इस बीच उन्होंने धार्मिकता के अभाव में पाप पंक में जलते हुए सामाजिक जीवन को देखा। वह स्वयं भी एक मनुष्य थे और उस नाते उन्होंने वह सांसारिक कष्ट भी देखे जो संसार में आकर प्रत्येक प्राणी को देखने पड़ते हैं। दो बेटे और दो बेटियों का निधन उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। माता और पिता के शव तभी फूँक चुके थे जब वह छोटे ही थे। छोटा भाई आनन्द भी उन्हीं के हाथों श्मशान घाट तक गया था, १९४४ का वह दिन जब वह कक्षा में पढ़ा रहे थे एक सम्बन्धी आये और उनके हाथ में एक पर्चा दिया। पर्चा पढ़कर भी उस मूर्तिवंत तपस्वी की मुख-मुद्रा और वाणी में कोई कम्पन न था। जब कक्षा समाप्त हुई तब लोगों को पता चला कि आज बेन्द्रे के २० वर्षीय युवक पुत्र का देहावसान हो गया है उसे क्या बेन्द्रे भूल सके होंगे, पर उन्होंने एक सहज मुस्कान के साथ कहा— यह तो जीवन के स्वाभाविक नियम हैं, हमें उनसे विचलित न होकर निरन्तर समाज की सेवा में जुटे रहना चाहिये— जिससे आने वाली पीढ़ी यथार्थ मुक्ति और स्वाधीनता, जीवन और सक्रियता का आनन्द उपभोग कर सके। इस प्रकार के चिन्तन और इस तरह की परिस्थितियों से उनका हृदय समाज और पीड़ित मानवता के लिये द्रवित ही होता गया और वह वेदना एक दिन उनकी लेखनी से प्रवाहित हो ही उठी। वाणी से सेवा का कार्य उन्हें व्यावसायिक रूप में ही मिल गया था अब अपने ज्ञान, अपनी साधना और जीवन सम्बन्धी अनुभवों का लाभ वे काव्य रूप में जन-जन तक पहुँचाने लगे।

सत्य की आत्मा बड़ी सुन्दर है। उसे व्यक्त करने और लोक-प्रतिष्ठा दिलाने के लिये बनावट की आवश्यकता नहीं होती। बेन्द्रे की आत्मा से सत्य फूट रहा था इसलिये उसका स्वाद हर एक को मधुर लगा। उनके गीतों में भाषायी जटिलता नहीं, सीधे-सादे जीवन का प्रवाह था। कविता तो क्या कहें जन-गायन लिखते थे वे, उनमें वह प्रवाह और मधुरता होती थी कि चरवाहे ढोर चराते समय भी वही आनन्द पाते उन गीतों को गाकर जो विद्वान् अध्यापक कक्षाओं में गाते हुये पाते।

भलाई के रास्ते को भगवान् ने, कहते हैं, काँटों से सजाया है। यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा न करता तो उसे अपने जन को पहचानने में कठिनता होती है। भगवान् उन्हें प्यार करता है जो कंटकाकीर्ण पथ पर चलकर भी मानवीय आदर्शों को पीठ नहीं दिखाता। अपनी इस परीक्षा से तो उसने हरिश्चन्द्र और नारद को भी नहीं छोड़ा, बेन्द्रे तो उनके बहुत बाद में हुये थे। अभी उनका कविता संग्रह 'गरि' प्रकाशित ही हुआ था कि अँग्रेज कलक्टर के हाथ एक प्रति पड़ गई। उसमें उसे बगावत की गन्ध आती दिखाई दी फलस्वरूप वह पुस्तक भी जब्त हो गई, नौकरी भी छूट गई और उन्हें कारावास भी भुगतना पड़ा। तो भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुये। उन्होंने निराश भारतीय जनता को संघर्ष और पौराणिक भविष्य की उज्ज्वल आशा का सन्देश देना बंद नहीं किया उनके गीतों में जहाँ जीवन की नश्वरता और मुक्ति की गाथाएँ गूँजती थीं वहीं उनकी प्राप्ति के लिये पौरुष की ध्वनि भी प्रस्फुटित होती थी। मोहित अर्जुन को वीरोचित कर्म करने की जैसी आज्ञा भगवान् कृष्ण ने दी थी बेन्द्रे ने भी वैसी तपश्चर्या, धैर्य, सहिष्णुता, साहस और जीवन मुक्ति का पाठ भारतीयों को पढ़ाया। 'मेरा गीत' (नन्न हाडु) में उन्होंने अपने पाठक को बताया— रस ही जीवन है और उससे विमुखता ही मृत्यु। इन दोनों के बीच रहकर भी जो दुःखी नहीं होता वही जीवन सच्चा है। इन पंक्तियों में उन्होंने सम्पूर्ण कर्मयोग को निचोड़कर रख दिया।

बेन्द्रे ने अपना जीवन अपने आदर्शों की सीमा में ही बिताया। भारतीयों की यही तो विशेषता रही है कि वे सत्य-सिद्धान्तों का समर्थन कठिन परीक्षाओं में भी उसी तरह करते रहे हैं जिस तरह सुख की घड़ियों में। जब तक सुख मिले या सम्मान मिले तब तक भगवान् और समाज को प्यार करने की पद्धति पाश्चात्य है, भारतीय जीवन का आदर्श तो वह शिवत्व है जो विष पीकर भी भगवान् को गले से लगाये रहता है। बेन्द्रे जेल से छूटे तब उन्हें कमीज सिलवाने के लिये अपने मित्र मास्ति वेंकटेश अय्यंगर से एक रुपया उधार लेना पड़ा पर इतने पर भी उन्होंने समाज से घृणा नहीं की। यह तो परिस्थितियाँ हैं चलती ही रहती है बच्चा दूध पीते-पीते माँ के स्तनों को काट भी खाता है क्या उतने से माँ अपने बालक से विद्रोह कर देती है। अपने इसी भारतीय आदर्श के कारण बेन्द्रे की आत्मा महानता के लक्ष्य पर उठती ही गई। सम्भवतः रामकृष्ण मिशन का संन्यासी हो जाने पर उन्हें यह शान्ति, वह प्रसन्नता, वर्चस्व और यश भी— न मिलता जो उन्होंने अपने कर्मयोग की साधना द्वारा अर्जित किया। उन्होंने संस्कृत, अँग्रेजी, कन्नड़ और मराठी भाषा के माध्यम से विश्व

को जो ज्ञान प्रेरणाएँ और प्रकाश दिया उसे देखकर आज भी कन्नड़ भाषी विद्वान् कहा करते हैं बेन्द्रे जी तो संन्यासी थे। वेश से भले ही वे गृहस्थ रहे हों पर उनकी जीवन साधना संन्यासियों जैसी ही थी।

धर्म पर आस्था रखने वाले, दया न छोड़ने वाले—महात्मा रिचे

नावेल्ड (अलबानिया) का एक छोटा देहाती गाँव है जहाँ अधिकांश कृषक रहते हैं। वहाँ की परम्परा और स्थिति ऐसी है जिससे वहाँ अधिकांश व्यक्ति माँसाहार को स्वाभाविक भोजन मानते और प्रयोग करते हैं।

ऐसे ही एक कृषक परिवार का छोटा बालक न्यूनररिचे पास के मिशन स्कूल में भर्ती हुआ। स्कूल में सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त एक घंटा धर्म-शिक्षा का भी होता था। ढर्रा मुद्दतों से चल रहा था। पादरी बाइबिल पढ़ाते और लड़के उसे पढ़ते। ऊँचे आदर्शों की चर्चा होती, ईसाई धर्म का गौरव बताया जाता, पर था वह सब धर्म-शिक्षण— जानकारी की आवश्यकता पूरी करने तक ही सीमित।

एक दिन धर्म-शिक्षा के घण्टे में पादरी प्रभु यीशु की सहृदयता और शिक्षा की विवेचना कर रहे थे। वे बता रहे थे— "यीशु ने दया और करुणा की सरिता बहाई और अपने अनुयायियों को हर प्राणी के साथ दया का सहृदय व्यवहार करने का उपदेश दिया। सच्चे ईसाई को ऐसा ही दयावान होना चाहिये।"

यह सब पढ़ा-पढ़ाया एक लकीर पीटने के लिये पढ़ाया जाता था। पर बालक रिचे ने उसे गम्भीर रूप से लिया। वह कई दिन तक लगातार यह सोचता रहा— क्या हम सच्चे ईसाई नहीं है? क्या हम प्रभु यीशु के उपदेशों को कहते-सुनते भर ही हैं? उन्हें अपनाते क्यों नहीं? उन पर चलते क्यों नहीं?

बालक ने कई दिन तक अपने घर में माँस के लिये छोटे जानवरों और पक्षियों का वध होते देखा था। उनके कष्ट और उत्पीड़न को भी आँखों में आँसू भरकर देखा था। कोमल भावना वाले बालक ने एक दिन इस दृश्य को देखकर तड़पते हुए प्राणी के साथ अपनी आत्मीयता जोड़ी तो उसे लगा जैसे उसी को काटा— उधेड़ा जा रहा है। बेचारा घर से बाहर चला गया और सुबक-सुबक कर घण्टों रोता रहा।

तब वह इतना छोटा था कि अपने मनोभाव घर के लोगों पर ठीक तरह प्रकट नहीं कर सकता था, पर आज वह बड़ा हो चला था, लगभग दस साल का। अपनी संवेदनाओं को प्रकट करने लायक शब्द उसके हाथ आ गये थे। अपनी वेदना उसने दूसरे दिन शिक्षक पादरी के सामने रखी— और पूछा, क्या माँस के लिये पशु-पक्षियों की हत्या करना ईसाई धर्म के और प्रभु यीशु की शिक्षाओं के अनुरूप है?

पादरी स्वयं माँस खाते थे। वहाँ घर-घर में, माँस खाया जाता था। इसलिये वे कुछ स्पष्ट बात न कह सके। अगर-मगर के साथ दया के प्रतिपादन और माँसाहार के समर्थन की बात कहने लगे। आत्म-शिक्षित बालक के गले सुशिक्षित पादरी की लम्बी-चौड़ी व्याख्या तनिक भी न उतरी। उसे लगा वह बहकाया जा रहा है। यदि दया, धर्म का अंग है, तो उसे धर्मात्मा लोग हर प्राणी के लिये प्रयोग क्यों न करें? धर्म यदि वास्तविक है तो उसे व्यवहार में क्यों न उतारें?

बालक रिचे ने निश्चय किया कि वह सच्चा ईसाई बनेगा, प्रभु यीशु का सच्चा अनुयायी। उसने माँस न खाने का निश्चय कर लिया। सामने भोजन आया तो उसने माँस की कटोरी दूर हटा दी। कारण पूछा गया तो उसने यही कहा— "यदि हम धर्म पर आस्था रखते हैं तो हमें उसकी शिक्षाओं को व्यवहार में भी लाना चाहिये। हत्यारे और रक्त-पिपासु लोग धर्मात्मा नहीं हो सकते।" घर के लोगों ने माँस न खाने से शरीर कमजोर हो जाने की दलील दी तो उसने पूछा— क्या शारीरिक कमजोरी आत्मिक पतन से अधिक घृणित है? घर वालों का समझाना-बुझाना बेकार चला गया, उसने माँस खाना छोड़ा सो छोड़ ही दिया।

ईसाई धर्म और यीशु की दया, शिक्षा का प्रसंग जहाँ भी चलता तब रिचे रूठे कण्ठ और डबडबाई आँखों से यही पूछता— क्या पेट को बूचड़खाना बनाये रहने वालों को धर्म और परमेश्वर की चर्चा करने का अधिकार है? लोगों के तर्क कुण्ठित हो जाते और सच्चाई के आगे सिर नीचा हो जाता।

बालक रिचे जब भी माँस की प्राप्ति के लिये होने वाले उत्पीड़न पर विचार करता तभी उसकी आत्मा रो पड़ती, उसकी इस मनोदशा से उसकी माँ प्रभावित हुई, फिर दोनों बड़ी बहिनें। तीनों ने माँस छोड़ा। भावनाओं का मोड़ अशुभ या शुभ की दिशा में जिधर भी मुड़ चले उधर बढ़ता ही जाता है। उस सारे परिवार ने माँस खाना छोड़ दिया। यह हवा आगे बढ़ी। पड़ौस और परिनय क्षेत्रों में यह विचार जड़ जमाने लगा कि सच्चे धर्मात्मा को दयालु ही होना चाहिये? जो दयालु होगा वह माँसाहार कर कैसे सकेगा?

रिचे बड़े होकर पादरी बने। उन्होंने घर-घर घूमकर सच्ची धार्मिकता का प्रचार किया और माँसाहार से विरति उत्पन्न कराई। "दयालु धर्म-प्रेमियों की संस्था" नामक संगठन ने अलबानिया में अनेकों धर्म-प्रचारकों तथा प्रचार सामग्री के माध्यम से जो लोकशिक्षण किया उससे प्रभावित होकर लाखों व्यक्तियों ने माँसाहार छोड़ा और धार्मिकता अपनाई। कट्टर कम्युनिस्टों के हाथ में जाने से रिचे के सत्प्रयत्नों को धार्मिक क्षेत्रों में सच्चे मन से सराहा जाता रहा है।

धर्मशिक्षा को व्यावहारिक रूप देने वाले—श्री राबर्ट

१७८० की एक धुंध भरी सन्ध्या। ग्लाउसस्टर नगर की एक गन्दी बस्ती में एक सम्पन्न व्यक्ति जा रहा था। उसका नौकर उसके

आगे-आगे अपने स्वामी का पथ-प्रदर्शन करने के लिए लालटेन हाथ में लिये हुए चल रहा था ।

इस गन्दी कीचड़ भरी बस्ती के बालक अपने इस क्षेत्र में एक सम्पन्न व्यक्ति को जाते देखकर उस पर व्यंग्य कस रहे थे । एक ने तो उस पर कीचड़ ही उछाल दिया जो उसके कपड़ों पर आ लगा था । वह इन उच्छृंखल लड़कों के मुँह लगना नहीं चाहता था, किन्तु उनका यह व्यवहार उसे बहुत अभद्र लगा था ।

उसे इस प्रकार शान्त देखकर लड़कों ने उसको और भी परेशान करना आरम्भ कर दिया । विवश होकर उसे एक टूटे-फूटे मकान के दरवाजे में घुसकर शरण लेनी पड़ी ।

इस जीर्ण-शीर्ण घर की मालकिन एक रोगिणी वृद्धा थी जो अपने जीवन के दिन किसी तरह काट रही थी । इस सम्भ्रान्त व्यक्ति ने उस वृद्धा से इन बच्चों के इस व्यवहार का कारण पूछा— "क्या इन बालकों के माता-पिता इन्हें शिष्टाचार नहीं सिखाते । वे अपने बच्चों की ये गन्दी हरकतें किस तरह सहते होंगे ?"

वृद्धा ने उसके प्रश्न का उत्तर दिया — "यह लोग इस प्रकार का हुड़दंग न करें तो क्या करें । इनके माता-पिता न तो इतने समझदार ही है कि वे इन्हें कुछ समझा सकें न इतने चरित्रवान ही हैं कि वे इन्हें उपदेश देने की क्षमता उत्पन्न कर सकें । वे सब अपने शराब, जुये तथा अन्य अशोभनीय कामों में लगे होंगे । इन बच्चों का भी क्या दोष इन्हें छह वर्ष की आयु में ही बारह-बारह घण्टे काम करना पड़ता है । इसके पश्चात् इस खाली समय में उनके लिये न तो कोई पढ़ने का इन्तजाम है, न खेलने का ही, न मनोरंजन का । इसलिये इस समय ये लोग इसी प्रकार हुड़दंग किया करते हैं । हर किसी राह चलते को गाली दे देना ही इनके लिए मनोरंजन ।"

यह धनीमानी व्यक्ति जिसका नाम रॉबर्ट रेक्स था इन बालकों के विषय में चिन्तन करने लगा । ग्लाउसस्टर के एक प्रमुख पत्र के सम्पादक तथा मुद्रक के नाते वह इस प्रकार के लाखों बालकों की समस्या से अनभिज्ञ नहीं था । आज उसको अपनी आँखों से देख भी चुका था तथा उस वृद्धा के मुँह से उसका कारण भी सुन चुका था ।

उसने अपने आप से पूछा— समाज के सदस्य के नाते मेरा इन लोगों के प्रति कोई दायित्व है या नहीं । उत्तर सकारात्मक ही मिला । तो मुझे इस दिशा में — इन भावी नागरिकों के लिये कुछ न कुछ करना चाहिये । वह जानता था कि मनुष्य बुरा नहीं होता । वह इस प्रकार की परिस्थितियों में पड़कर बुरा बन जाता है । ये किशोर वर्तमान में जैसा दिशाहीन जीवन जी रहे हैं । उसका परिणाम यह होगा कि ये समाज में अनैतिकता तथा अव्यवस्था फैलाने के माध्यम बनेंगे । इन्हें अभी सही दिशा दी जाय तो ये अपना जीवन तो सुधारेंगे ही साथ-साथ समाज की समृद्धि तथा सुव्यवस्था में योगदान भी देंगे ।

राबर्ट ने निश्चय कर लिया कि वह जितना उससे बन पड़ेगा उतना इन बच्चों को सुधारने का प्रयास करेगा । आरम्भ में लोग उसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं किन्तु यदि वह अपने ध्येय पर डटा रहा तो उसे जन-सहयोग की कमी नहीं रहेगी । यदि जन-सहयोग न मिला तो भी वह इस पुण्य पथ पर चलकर स्वयं तो कृत-कृत्य हो ही जायगा ।

इस दृढ़ निश्चय का शुभ परिणाम यह हुआ कि दूसरे ही रविवार को वह उस गन्दी बस्ती में जा पहुँचा जहाँ के बच्चों ने उसका कीचड़ तथा गालियों से स्वागत किया था ।

रविवार के दिन सभी फैक्ट्रियों तथा कारखानों में साप्ताहिक अवकाश रहता था । इस कारण बच्चे दिन भर घर पर ही रहते थे । आज तो उनकी शैतानियाँ चरम सीमा पर थीं । कुछ ने मिल कर एक मकान की खिड़की तोड़ दी थी तथा मकान मालिक से उलझ रहे थे ।

राबर्ट ने उन्हें अपने ही जैसा मनुष्य मानकर उन्हें आत्मीयता पूर्वक समझाया कि रविवार को वे लोग उसके साथ गिरजाघर चला करें या यहीं किसी गिरजाघर के पादरी या स्कूल के अध्यापक का प्रवचन रखा जाये तो कितना अच्छा रहे । यह खिड़की तोड़ने जैसे खेल जो आप लोग खेलते हैं उसमें किसी की हानि होती है । इससे अच्छे खेलों का भी इन्तजाम हो सकता है ।

लड़के इस भद्र पुरुष की बात को एक मजाक ही मान रहे थे । आज तक वे अपने को इस प्रकार के लोगों से भिन्न ही समझते आये थे । उनके जीवन का इनके जीवन से कोई तालमेल नहीं था । इनके बच्चे स्कूल तथा कॉलेजों में पढ़ते रहते हैं तब तक तो इन गन्दी बस्तियों में उपजने वाले ये बच्चे कई बार जेलों की सैर कर आये होते हैं । कई तो खतरनाक अपराधी तथा उठाईगीर बन चुके होते हैं ।

इनमें से अधिकांश ने तो राबर्ट के कथन के अनुसार काम करने से मना कर दिया फिर भी बीस लड़के दूसरे रविवार को उसके साथ चर्च चलने को तैयार हो गये ।

चर्च के उपदेशों की सहायता प्राप्त किये बिना राबर्ट का प्रयोजन पूरा होने वाला नहीं था । वह इन लड़कों से निपट कर चर्च के उपदेशकों से मिला । उसकी भावनाओं की प्रशंसा तो सभी ने की किन्तु पूर्वाग्रहों से ग्रस्त ये पादरी उसको सहयोग देने के लिए तत्पर नहीं हुए । बहुत प्रयास करने पर एक सहृदय उपदेशिका श्रीमती किंग इस शुभ कार्य में राबर्ट का सहयोग देने के लिए तत्पर हो सकीं ।

दूसरे रविवार को ये दोनों व्यक्ति लड़के ही उस बस्ती में जा पहुँचे । ये लोग अपने साथ साबुन, तेल, कंघी आदि लेते गये थे । इन मैले कुचैले बालकों को उन्होंने स्नान कराया, उनके कपड़े धोकर पहनाये तथा उन्हें सभ्य व्यक्ति जैसा बनाकर गिरजाघर ले गये । वहाँ उन्हें शिक्षाप्रद कहानियाँ कही गईं, खेल खिलाये गये, मिठाइयाँ बाँटी गईं साथ ही एक-एक पेनी भेंट में दी गई । इस दिन बारह बच्चों ने इस प्रशिक्षण में भाग लिया ।

मनुष्य में सभ्य तरीके से रहने की लालसा जन्म-जात होती है । यह रविवार का प्रशिक्षण इन बच्चों के लिये अपर्याप्त नहीं था ।

प्रथम दिन बारह बालक आये थे । वे जब चर्च से लौटे तो उन्हें देखकर दूसरों को अपनी भूल का ज्ञान हुआ तथा वे भी अगले रविवार के दिन इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिए तैयार हो गये ।

बालकों की संख्या बढ़ने लगी। रविवार के दिन राबर्ट अत्यधिक व्यस्त रहता था। उसकी यह व्यस्तता इन बालकों को लेकर ही थी। उसे इन बालकों को उत्तम नागरिक बनाने के प्रयास में जो आनन्द मिलता था वैसा अन्य किसी काम में नहीं मिलता था।

रविवार के दिन चर्च जाने से आरम्भ होकर यह कार्यक्रम रविवार के स्कूल के रूप में परिणित हो गया। सेंट कैथेरिन स्ट्रीट चर्च रविवार के दिन नियमित स्कूल लगाने लगा था। बालकों की देखा-देखी अब बालिकाएँ भी जाने लगी थीं।

धार्मिक, नैतिक शिक्षण तथा स्वस्थ मनोरंजन के कारण इन बालकों की कार्य-क्षमता में भी वृद्धि होने लगी। जिन कारखानों में रेक्स की पाठशाला के बालक काम करते थे, उनके व्यवस्थापक इन बच्चों के आचरण तथा कार्य-कुशलता से बहुत प्रभावित हुए।

चर्च के कई मुख्य पादरी इस प्रकार के बच्चों को चर्च में पढ़ाने के विरोधी थे। उन्होंने रेक्स की योजना का जमकर विरोध किया किन्तु वह रेक्स तथा उसके साथियों के सदुद्देश्य तथा कर्म निष्ठा के आगे ठहर नहीं सके।

कई औद्योगिक संस्थानों के संचालकों से भी राबर्ट रेक्स ने इस प्रकार की रविवासरीय पाठशालाएं चलाने का अनुरोध किया। अपना तथा इन बालकों दोनों का हित देखते हुए इन उद्योगपतियों ने रविवासरीय पाठशाएँ चलानी आरम्भ कर दीं।

राबर्ट रेक्स के साथियों तथा सहायकों की संख्या बढ़ने लगी तथा पाठशालाओं की संख्या में भी उसी अनुपात में वृद्धि होने लगी। १७८५ तक केवल पाँच वर्षों में इन पाठशालाओं मे धार्मिक तथा नैतिक शिक्षण पाने के लिए ढाई लाख बालक-बालिकाएँ नियमित रूप से आने लगे थे।

यह सब राबर्ट तथा उसके साथियों की सेवा-साधना तथा लगन के कारण ही सम्भव हो सका था। ऐसे बालक जिनके माता-पिता या तो जेल में थे या वे अनैतिक कामों में लगे हुए थे अथवा गरीबी के शिकंजे में जकड़े हुए कराह रहे थे। उन्हें ढंग के वस्त्र देना, नहलाना, कंघी करना, तेल लगाने के तरीके बताने जैसे सामान्य कार्य के लिए इन्हें रविवार को ही नहीं अन्य दिनों भी घर जा-जाकर सिखाना पड़ता था।

आगे चलकर उसकी यह योजना पूरा तरह सफल ही नहीं हुई वरन् उसे यथेष्ठ सम्मान भी मिला। महारानी चारलोट उसके इस मिशन की संरक्षिका बनीं तथा सारे इंगलैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा आयरलैण्ड में उसके द्वारा चलायी गयी रविवासरीय पाठशालाओं की धूम मच गयी।

इन पाठशालाओं ने बाल श्रम बन्द करने में समुचित योगदान दिया। राबर्ट की मृत्यु सन् १८११ में हुई तब तक ये पाठशालाएँ सप्ताह में छह दिन चलने लगी थीं तथा बच्चों को बारह के स्थान पर चार घण्टे ही फैक्ट्रियों में काम करना पड़ता था शेष समय में वे इन पाठशालाओं में पढ़ते थे।

राबर्ट की यह योजना महान् उद्देश्य का छोटा-सा शुभारम्भ कही जाती है। ऐसा सत्साहस सदा ही स्मरणीय तथा अनुकरणीय रहेगा।

सार्त्र की जीवन दर्शन पाठशाला

ज्यां पाल सार्त्र (फ्रांस) संसार के माने हुए दार्शनिक थे। उन्होंने सारा जीवन परमार्थ प्रयोजनों में लगाया। साथ ही जीवन को आनन्द से भरा-पूरा बनाने के लिए उन्होंने अपने अनुभवों का सार संक्षेप भी अनेक लेखों में लिखा है। उनके सामने कठिनाइयाँ भी कम नहीं रहीं। पर एक दिन के लिए भी कभी किसी ने उन्हें खिन्न, उद्विग्न या उदास नहीं देखा। वे परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाते थे और दूसरों को भी वैसी ही शिक्षा देते थे। उनकी शिक्षाओं ने अनेकों के मुरझाये जीवनों में उल्लास भरी किरणें उत्पन्न करने में सफलता पाई।

सार्त्र की एक आँख आरम्भ से ही खराब थी। दूसरी पर अत्यधिक दबाव न डालने के लिए डॉक्टरों ने सलाह दी तो भी वे शिक्षा से वंचित नहीं रहे। पढ़कर सुना देने हेतु उन्होंने अपने घर के लोगों को सहमत कर लिया। इसके उपलक्ष में कृतज्ञता व्यक्त करने और दूसरों के सामने प्रशंसा करने में कभी उन्होंने कोताही न की। कर्कश और रूखा स्वभाव होने पर जो लाभ उठाना उनके लिए कठिन पड़ता वह उन्हें सरलतापूर्वक उपलब्ध होता रहा और उन्होंने अपनी स्मरण शक्ति पर पूरा जोर देकर स्नातकोत्तर परीक्षा अच्छे डिवीजन में पास कर ली एवं अपने काम में जुट गये। लेखन कार्य में भी वे दूसरों की सहायता लेते रहे। साथ ही जीवन दर्शन पर अति महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सृजन करते रहे। आँखों के अभाव में जो कठिनाई किसी को हो सकती है वे सभी उनके सामने थी। पर इसके कारण न तो कभी उन्होंने चेहरे पर उदासी आने दी, न निराशा व्यक्त की और न अपना काम रोका। बुढ़ापे में दूसरी आँख ने भी जवाब दे दिया था पर वे इस पर भी सदा यही कहते रहे कि संसार में करोड़ों आँखें मेरी हैं। सहायता करने को इच्छुक और उत्सुक लोगों की कमी नहीं। मात्र हम अपनी कर्कशता के कारण ही उस सहयोग का लाभ नहीं उठा पाते।

सार्त्र सदैव मित्रों से घिरे रहते थे। उपयोगी ज्ञान का आदान-प्रदान क्रम वे सदा ही चलाते रहते। उनके मित्रों में वृद्ध कम थे और युवक अधिक। इसका कारण वे बताते, मैं युवक जो हूँ। फिर अपने साथियों की संख्या अपनी आयु वालों के साथ ही क्यों न बढ़ाऊं। उन्हें बूढ़ों (मानसिक दृष्टि से) के प्रति चिढ़ थी। कारण कि वे सदा अपने अच्छे भूतकाल का बखान करते रहते है और भविष्य को आशंकाओं से भरा अनुभव करते रहते हैं। जबकि बुढ़ापे में मनुष्य का आयुष्य और अनुभव परिपक्व होने के कारण वह अधिक उपयोगी होना चाहिए एवं जो उपयोगी है उसका मस्तिष्क उज्ज्वल होना चाहिए। सार्त्र ने परामर्श के लिए कई घण्टों का समय निर्धारित कर रखा था। उसमें वे उन्हीं प्रसंगो को छेड़ते थे जिसमे कठिनाइयों के बीच प्रसन्नता से रह सकना और सफलता के मार्ग पर चल सकना सम्भव हुआ हो। ऐसे घटनाक्रमों के लिए उनकी स्मृति एक विश्व-कोष मानी जाती थी। जो भी परामर्श वे देते थे उनके पीछे सिद्धान्त की विवेचना थोड़ी और घटना-क्रमों की लड़ी बहुत लम्बी होती थी।

उदाहरणों के माध्यम से वे यह गले उतारते थे कि साधन सम्पन्न व्यक्ति किस प्रकार अपनी क्षमताओं को सत्प्रयोजनों में लगाकर अपने क्षेत्र में प्रशंसा के पात्र बनें। साथ ही उन्हें ऐसी घटनाओं की स्मृति भी कम नहीं थी जिनमें कठिनाइयों से घिरे हुए लोगों ने अपने धैर्य, साहस और अनवरत प्रयत्न के आधार पर इतना कुछ कर दिखाया जितना कि साधन-सम्पन्न लोगों के लिए भी सम्भव नहीं थे। मनुष्य का पराक्रम कितना सामर्थ्यवान है और किसी को भी किस प्रकार आगे बढ़ाने तथा ऊँचा उठाने में कारगर हो सकता है, इसके रहस्य वे इतने अच्छे ढंग से समझाते थे कि किसी को उस परामर्श प्रतिपादन में सन्देह न रह जाता था। उनकी मित्र मण्डली में से एक भी ऐसा नहीं था जो अपने को अनेकों के लिए अनुकरणीय न बना सका हो। एक मित्र दूसरे अनेक मित्रों को साथ लेकर आता था। इस प्रकार उनकी नियत समय पर चलने वाली वार्ता एक प्रकार से जीवन दर्शन की पाठशाला बन गई थी। सुकरात भी ऐसी ही शिक्षा विधि के लिए विख्यात थे। सार्त्र को सुकरात का बीसवीं सदी संस्करण माना जा सकता है।

यशस्वी गुलाम—ईसप महान

संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में ईसप की कहानियाँ पाई जाती हैं और उनका उपयोग बच्चों को शिक्षा देने में किया जाता है।

ईसप कोई व्यवसायी लेखक नहीं था और न वह प्रचार, धन अथवा यश के लिये कथायें लिखता। वह ऐसा कर भी कैसे सकता था। वह बेचारा तो एक गुलाम था। ऐसा गुलाम जो जानवरों की तरह बेचा और खरीदा जा सकता था। यह यूनान में ही किसी परम्परागत गुलाम के घर पैदा हुआ था, उसी स्थिति में बढ़ा और काम करने लायक होते ही उसके माँ-बाप के स्वामी ने उसके दाम खड़े कर लिये थे। वह बाजार में बेच दिया गया और तब से न जाने कितनी बार बाजारों में उसकी बोली लगाई जा चुकी थी। ईसप बहुत ही कुरूप और दुबला-पतला भी था। इसलिये कोई स्वामी उसे ज्यादा दिन अपने पास न रखता था। कुछ दिन काम लेकर बेच दिया करता था। ऐसी दशा में पढ़ना-लिखना उसके भाग्य में कहाँ से हो सकता था।

ईसप ने अपनी इस शीघ्र-शीघ्र तब्दीली का लाभ अनुभव के रूप में उठाया। उन्हीं अनुभवों को उसने कहानियों के रूप में बदल दिया था। अनुभवजन्य होने के कारण ईसप की कहानियाँ बड़ी मार्मिक, यथार्थ तथा शिक्षाप्रद होती थीं। वह उनमें पशु-पक्षियों का समन्वय करके बड़ी ही रोचक तथा मनोरंजन भी बना लेता था। वह अपनी कहानियाँ अधिकतर बच्चों को ही सुनाया करता था और जब-तब स्वामियों के बच्चे उसे कहानी सुनने के लोभ से घेरे ही रहते थे।

ईसप ने सैकड़ों कहानियाँ गढ़ीं, बच्चों को सुनाई जो कि बच्चों द्वारा बड़ों के पास और बड़ों के मुख से समाज में पहुँच कर यूनान भर में फैल गईं। फिर उसके बाद तो ईसप की कहानियाँ अपनी शिक्षण विशेषता के कारण सारे संसार में ही जा पहुँचीं, जिन्होंने ईसप को बड़ा ही लोकप्रिय तथा जन-परिचित बना दिया। दूर-दूर से चल कर जन-साधारण, शिक्षित तथा विद्वान् उसके पास आने और कहानियाँ ले जाने लगे। ईसप की प्रतिभा और उसके उचित प्रयोग ने उसे न केवल एक प्रतिष्ठित गुलाम ही बना दिया बल्कि मुक्त करा कर ऊँचे पद पर पहुँचा दिया।

यूनान के राज-दरबार में एक बार एक जटिल प्रश्न आ पड़ा। कोई भी दरबारी उसका उत्तर न दे सका। राजा ने ईसप की बुद्धिमत्ता के विषय में सुन रखा था। उसने उसकी परख करने का यह अच्छा अवसर समझा। दूत भेजकर ईसप को दरबार में बुलाया गया। दरबारी लोग उसका फटा-पुराना वेश और कुरूपता देखकर हँस पड़े और उसका उपहास उड़ाने पर आ गये। लेकिन राजा ने सबको शान्त कर ईसप के सम्मुख प्रश्न रखा और उत्तर माँगा। ईसप ने कुछ देर विचार किया और उसके बाद ऐसा उपयुक्त उत्तर दिया कि दरबारियों को अपनी पूर्व भूल पर लज्जित होना पड़ा। राजा बेहद प्रसन्न हुआ। उसने ईसप को दासता से मुक्त करा कर अपना सभासद बना लिया। किन्तु ईसप का यही सम्मान अन्य सभासदों की ईर्ष्या के कारण उसके प्राणों का ग्राहक बन गया।

ईसप अन्य गुलामों की तरह अपनी स्थिति पर रोते रहने वाला गुलाम नहीं था। उसने अपने को बड़ा ही सामंजस्यपूर्ण तथा शिष्ट बना लिया था। वह गुलाम होकर भी स्वामियों को अपनी सभ्यता और शालीनता का परिचय देता रहता था। जो भी काम करता था पूरी दक्षता, मनोयोग के साथ अपना समझ कर करता था। उसने किसी प्रकार भी अपनी स्थिति पर असंतोष प्रकट नहीं किया। वह सदैव संतुष्ट तथा प्रसन्न ही रहा करता था। प्रतिकूलतायें कब तक गुणी को छिपायें रख सकती हैं या कब तक उसका मार्ग रोक सकती हैं? गुणों ने ईसप की गरिमा बढ़ाई और समय की संस्था में उसका मूल्यांकन हुआ। उसे एक मालिक मिला जिसके पास रह कर वह और अधिक प्रगति एवं विकास कर सका।

एक स्वामी दो अन्य दासों के साथ ईसप को बाजार में बेचने के लिये लाया। ईसप तो कुरूप और क्षीणकाय था ही, दूसरे दोनों दास भी बड़े ढीठ और कामचोर मालूम होते थे। बाजार के सारे दास बिक गये लेकिन इन तीनों को किसी ने नहीं पूछा। मालिक बड़ा परेशान था। वह उन्हें बेचना ही चाहता था। उसने उनका मूल्य भी घटा दिया। एक वृद्ध दार्शनिक सस्ते माल की खोज में आया और उसने भाव-ताव करके दासों की योग्यता परखने के लिये प्रश्न किया— "तुम लोग क्या काम कर सकते हो?"

दो दासों में से एक ने तो रटा उत्तर कि "मैं कुछ भी कर सकता हूँ।" दूसरे ने कहा— "मैं सब कुछ कर सकता हूँ।" अब ईसप का नम्बर आया तो उसने बड़े ढंग से उत्तर दिया— "मालिक! हमारे साथियों में से जब एक कुछ भी कर सकता है और दूसरा सब कुछ कर सकता है तो मेरे करने को रह ही क्या जाता है?"

वह दार्शनिक ग्राहक ईसप का उत्तर सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसकी प्रतिभा पहचानी और केवल उसी को खरीद कर घर ले आया। मालिक ने ईसप के साथ अभी घर में प्रवेश भी नहीं किया

था कि मालकिन दूर से ही देखकर बरस पड़ी— "क्या बाजार भर से सब दास मर गये थे, जो इस काले कुरूप जानवर को खरीद लाये हो । ले जाकर वापस करो मैं इसे अपने घर में नहीं रखूँगी ।"

मालिक ईसप को अलग ले जाकर बोला— "ईसप ! अब इस घर में तुम्हारा रह सकना तुम्हारी इस योग्यता पर निर्भर है कि मालकिन को प्रसन्न कर लो । मैं तुम्हें अपने पास से अलग नहीं करना चाहता ।" ईसप ने बड़े आत्मविश्वास से कहा— "मालिक चिन्ता न करें, मेरी सेवाएँ मालकिन को इतना प्रसन्न कर लेगीं कि यदि आप मुझे बेचना भी चाहें तो वे बेचने न देंगीं ।"

और हुआ भी यही । मालिक से अधिक मालकिन प्रसन्न रहने लगी । ईसप को बड़ी सुविधायें मिल गईं । यहीं उसने पढ़ना सीखा और यहीं पर अधिकांश कहानियाँ गढ़ीं । यहीं से उसने अपना विकास किया और यहीं से राजसभा में पहुँचा ।

राज-दरबार में ईसप की प्रतिष्ठा से सभासद जलने लगे और उन्होंने उसे नीचा दिखलाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया । तभी लीडिया के राजा क्रूसस ने यूनान पर चढ़ाई कर दी । आक्रमण की शक्ति अधिक थी । यूनान कमजोर पड़ गया । सन्धि के सिवाय और कोई उपाय न था । प्रस्ताव रखा गया और लीडिया का राजा सन्धि करने को तैयार हो गया, पर यूनान की तरफ से उस विजेता के दरबार में वार्ता करने जाय कौन ? सभी को क्रूसस की ओर से मनमानी शर्तों का डर था । ऐसी दशा में या तो वार्तिक को असफल होना था या फिर राज्य की हानि पर अपने राजा का कोपभाजन बनना था । सभासदों ने ईसप को नीचा दिखलाने का यह अच्छा मौका देखा और राजा को समझाकर ईसप को सन्धि-वार्ता करने के लिये भिजवाया ।

ईसप क्रूसस के दरबार में पहुँचा । लेकिन उसने उसका कुरूप चेहरा देखकर घृणा से मुख फेर लिया और बात करने से इंकार कर दिया । ईसप निराश न हुआ । उसने विनम्रतापूर्वक कहा— "श्रीमान मेरा कुरूप मुख न देखें । लेकिन यों ही मुख फेरे-फेरे मेरी एक कहानी अवश्य सुन लें ।" क्रूसस ने जिज्ञासावश स्वीकृति दे दी । ईसप ने एक चिड़िया की बड़ी ही मार्मिक तथा करुणापूर्ण कहानी सुनाई । क्रूसस का हृदय द्रवित हो गया और वह यूनान को स्वतन्त्र करके चला गया ।

ईसप की इस सफलता ने उसके सम्मान में चार चाँद लगा दिये । किन्तु ईर्ष्या ने दरबारियों को पिशाच बना दिया था । उन्होंने एक बार ईसप की अनुपस्थिति में राजा की एक बहुमूल्य सुराही उसके बिस्तर में रखवाकर चोरी का अभियोग लगवा दिया और न्यायकर्त्ताओं पर प्रभाव प्रयोग कर उसे मृत्यु-दण्ड दिला दिया ।

ईसप को एक पहाड़ की चोटी से गिराकर मार डाला गया । वे नर-पिशाच दरबारी आज संसार में नहीं रहे किन्तु ईसप की महान् कहानियाँ, कीर्ति और सदाशयता के आधार पर अब भी जीवित हैं ।

हँसती हँसाती जिन्दगी

महान कहानी लेखक ईसप छोटे बच्चों के साथ खेल रहे थे और उन्हीं की तरह हँसने-चिल्लाने और कुछ बनाने-बिगाड़ने में व्यस्त थे । नगर के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने ईसप की इन बालक्रीड़ाओं को देखा और उनकी महानता का स्मरण दिलाते हुए अपना समय नष्ट करने का कारण पूछा ।

ईसप ने उत्तर में खूँटी पर से खुली प्रत्यंचा का धनुष उठाकर दिखाया और कहा यदि इसकी डोरी सदा खिंची रखी जायेगी तो यह समय पर काम देने योग्य न रहेगा । इसी प्रकार यदि मनुष्य सदा गम्भीर और तनावग्रस्त रहे तो वह अपनी विशिष्टताएँ जल्दी ही गँवा बैठेगा । मनुष्य के हिए हँसना-हँसाना भी आवश्यक है ।

ईसप की नीति शिक्षा

(१)

पिता के मरने के बाद उसके भोले किन्तु उदार लड़के को खेती का सारा कारोबार सँभालना पड़ा । लड़के ने देखा कि अंगूरों के हरे भरे खेतों के किनारे नागफनी के कँटीले पौधे लगे हुए हैं । लड़के को यह उचित मालूम न हुआ कि अंगूरों के साथ कँटीले पौधे भी रहें, उसने तुरन्त ही सब नागफनी उखड़वाकर फेंक दी । दूसरे दिन से ही जंगली पशु उस खेत में निधड़क आने लगे और एक पखवारा भी न होने पाया था कि सारे खेतों का उजाड़ कर गये । तब लड़के की समझ में आया कि अंगूरों की हिफाजत के लिए नागफनी की भी जरूरत है ।

दण्ड की व्यवस्था हुए बिना दुष्टों से रक्षा नहीं हो सकती ।

(२)

एक बच्चे ने बिच्छू को जरा-सा छू दिया, इस पर बिच्छू ने उसे डंक मार दिया । बालक रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा और कहने लगा— देखो माँ, मैंने उस बिच्छू को कुछ भी नुकसान न पहुँचाया था, सिर्फ छू भर दिया था, इस पर ही उसने मुझे डंक मार दिया । माता ने कहा— तुमने उसे छूकर छोड़ दिया, इसीलिए तो उसने काट ही खाया अगर देखते ही उसे मार डालते तो उसे काटने का मौका न मिलता ।

दुष्ट को देखते ही उसका मुँह जला देना चाहिए ।

(३)

प्यास के मारे घबराया हुआ एक कबूतर इधर-उधर उड़ रहा था । उसने बाजार में एक दुकान पर ठण्डे मीठे शरबत का साइनबोर्ड लगा देखा । उसे विश्वास हो गया कि यहाँ मुझे पानी मिल जायेगा । इसलिए वह उस दुकान पर उतरा । अभी वह तख्ते पर बैठने भी न पाया कि दुकान वाले ने उसे पकड़ लिया और बावर्ची के सुपुर्द कर दिया ।

निर्बल की कोई सहायता नहीं करता ।

(४)

सृष्टि से आदि में जब सब जीव अपना-अपना काम करने लगे तो मधुमक्खियों ने अपने छत्ते में मधु जमा करना आरम्भ किया ।

उस मधु को देवता लोग बहुत पसंद करते और नित्य छत्ते को निचोड़ ले जाते । मक्खियों के कार्य से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उनसे कहा— वर माँगो । मधुमक्खियों ने कहा— भगवन् हमें ऐसा डंक दीजिए जिससे मुफ्तखोरों को मजा चखा सकें और अपनी कमाई की रक्षा कर सकें । ब्रह्मा जी ने उन्हें डंक दे दिया ।

सीधे आदमी को हर कोई अनुचित रीति से सताता है ।

(५)

एक आदमी को कुत्ते ने काट खाया । एक आदमी ने उसे सलाह दी कि अपने घाव के लोहू में भीगी हुई रोटी कुत्तों को खिलाओ तो तुम्हारा घाव अच्छा हो जायेगा । यह उपाय सुनकर वह आदमी हँस पड़ा और बोला— इस उपाय को करने का मतलब है कि काटने वालों की संख्या और बढ़ाऊँ ?

जालिम को रिश्वत देकर अपना छुटकारा करने का अर्थ है कि अपने तथा दूसरों के ऊपर अधिक जुल्म करने का निमन्त्रण देना ।

(६)

जाड़ों के दिनों में एक किसान अपने घर लौट रहा था, रास्ते में उसने देखा कि एक साँप ठण्ड से अकड़ा पड़ा है । किसान को उस पर दया आई वह उसे उठाकर घर ले आया और आग के पास तपाने के लिये रख दिया । जब साँप की ठण्ड छूटी और शरीर में गर्मी आई तो वह किसान के बच्चों को काटने लपका ।

किसान ने यह कहते हुए उस साँप का मुँह कुचल डाला कि— दुष्ट के साथ भलमनसाहत करना बेकार है ।

दक्षिण के विनोबा कुट्टी जी

स्नायु रोग के तेज आघात से उनके दोनों हाथ खराब हो गए । जिसने सुना वही पीड़ा से कराह उठा । हरेक के मुँह से निकल पड़ा अरे ! अब क्या होगा ? जो हमेशा दूसरों की सेवा के लिए तत्पर रहा करता हो उसे अब स्वयं के भोजन के लिए दूसरों का सहारा तकना पड़ेगा । मित्रों ने पूछा "अब क्या होगा आपकी सेवा का ?" "क्यों ? वह तो चलती रहेगी" उनका जवाब था ।

'कैसे ?' सुनने वाले आश्चर्यचकित थे ।

"अरे भाई ! हाथ ही तो खराब और बेकार हुए हैं । अभी मेरे पास भावनाओं से लबालब हृदय, सक्रिय, सतेज मस्तिष्क और सुदृढ़ पैर हैं ।"

"भला इनसे कैसे करेंगे सेवा ?" "ओह ! शायद आप नहीं जानते आज मनुष्य को दूसरों की शारीरिक सहायता की उतनी जरूरत नहीं जितनी मानसिक सहायता की । शारीरिक सेवा तो सिर्फ बीमारों को चाहिए । ऐसे कितने हैं ? बहुत थोड़े । अधिकांश जनसंख्या जो शरीर से स्वस्थ रहते हुए मानसिक रूप से बेतरह परेशान है । उसकी सहायता तो विचारों से ही हो सकना सम्भव है ।"

सुनने वालों को उनकी बात कितनी समझ में आयी पता नहीं । पर उनकी पदयात्रा शुरू हो गई । घर-घर, दरवाजे-दरवाजे पहुँचने लगे । हरेक से मिलते बड़े प्रेम से उसके घर का हाल-चाल पूछते उनकी हैरानी परेशानी मालूम करते और उपयुक्त समाधान सुझाते ।

कभी-कभी उनके इस तरह पूछने पर लोगों को अत्यधिक विस्मय होता जिसके स्वयं हाथ नहीं है वह हमारी तकलीफें पूछ रहा है । कभी कभार इसे प्रकट भी कर देते । सुनकर वह कहते "मेरे तो हाथ रोग से बरबाद हो गए । पर ऐसे न जाने कितने जो सब कुछ सही सलामत रहते हुए भटक रहे हैं, उन्हें राह नहीं सूझ रही क्या करें ? कैसे करें ? मेरा काम उन्हीं भटकों को राह दिखाना है । उन्हें जीवन का मर्म सुझाना है । यह बात उनके गले उतारनी है कि अभावों का रोना मत रो अभी भी तुम्हारे पास ऐसा कुछ है जिसका उपयोग कर स्वयं निहाल हो सकते हो औरों को निहाल कर सकते हो ।"

कर्नाटक के मेलुकोटे नामक स्थान में जन्मे इस अलौकिक लोक-सेवी ने अपने समूचे प्रान्त की तीन बार पदयात्रा की । लोग उन्हें सन्त-समर्थ मानने लगे । उनके बारे में यह बात फैल गई कि वह तमाम तरह की समस्याओं को हँसते-मुस्कराते सुलझा देते हैं । किसी ने पूछा कौन से तप द्वारा आपको यह शक्ति मिली ? सत्साहित्य के अध्ययन से । यही मेरा वह तप है जिसके द्वारा स्वयं शक्ति पाता और औरों को बाँटता हूँ ।

उनकी ख्याति को सुनकर तमिलनाडु निवासियों ने अपने यहाँ आने का आग्रह किया । सारा भारत मेरा घर "नीति के मानने वाले वे वहाँ भी पहुँच गए । थोड़े ही प्रयास से तमिल भाषा सीखकर तमिलनाडु में अपनी पदयात्रा शुरू कर दी ।"

उनका समूचा जीवन मुखर होकर प्रेरणा देने लगा । वाणी के द्वारा इसे वह मर्मस्पर्शी व सौ गुना अधिक प्रभावशाली बनाने लगे । एक बार तंजौवुर जिले के एक गाँव में सभा हो रही थी । उन्होंने कहा यदि हम सब एक-दूसरे के दुःख-दर्द में हिस्सा बँटाना सीख जाएँ तो परेशानियों का हौआ खुद ही गायब हो जाए । गाँव में विद्यालय की समस्या थी । इसके निदान के लिए धन इकट्ठा करने की बात आयी । सभा में स्तब्धता छा गई । थोड़ी देर बाद एक अंधा भिखारी तानपुरे को ठीक करते उठा । मंच के पास आया और गाँठ खोलकर पैसे गिनने लगा । कुल एक रुपए के पैसे उसके पास निकले । सबके सब उसने दान में दे दिये । कई दिन की बची हुई कमाई का सारा भाग समर्पित करने वाले भिखारी को देखकर औरों की थैलियाँ खुलीं, समस्या सुलझ गई ।

चलते-फिरते समस्याओं का निदान प्रस्तुत करने वाले इस व्यक्ति से विनोबा जी अपनी भूदान यात्रा के समय मिले । नाटे कद के दोनों हाथों से रहित इस व्यक्ति को देखकर उन्होंने कहा वह वामन नहीं विराट हैं जिन्होंने अपने पैरों से पूरे दो प्रान्तों को नाप लिया । विनोबा ने उन्हें चलते-फिरते विश्वविद्यालय का नाम दिया जो हरेक का दरवाजा खटाखटाकर उन्हें जीवन विद्या की सीख देता है । सीख

देने वाले ये व्यक्ति थे पेनुगोंडे जो अपने नाटे कद के कारण जनजन में कुट्टी जी के नाम से विख्यात हुए। सचमुच वे चलते-फिरते विश्व-विद्यालय थे।

अविनीत: धर्मो रक्षति रक्षित:

'अविनीत-सुनने वाले की भौंहों पर बल पड़ गए। माथे की रेखाएँ कुछ गहरी हुईं। स्वर में कसैलापन झलका पर अन्य कोई उपाय भी तो नहीं। कुछ बुदबुदाते हुए उसने एक ओर कदम बढ़ाए। शब्द अस्फुट और अस्पष्ट भले हों किन्तु उसके चेहरे से यही लग रहा था जैसे वह कह रहा हो धार्मिकों के इस महानगर में यह अधार्मिक कहाँ से आ गया? पर विवशता थी। उसके बिना किसी का काम भी तो नहीं चलता।

उसका यह महानगर अब तो गहरे शोध प्रयत्नों का विषय बन चुका है। लेकिन इस सत्य को भौतिक विज्ञान के भूतत्त्व विशेषज्ञ तथा प्राणिशास्त्र के विशारद एकमत से स्वीकार कर चुके हैं कि पृथ्वी की केन्द्र च्युति से पहले उत्तर दक्षिण दोनों ध्रुव प्रदेशों में मनुष्य सुख पूर्वक रहते थे। इसी दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में एक महाद्वीप था अन्त:कारिक जिसे अब अण्टार्कटिका कहते हैं। इसी के एक महानगर की बात है यह, जिसे अन्त:सालिक नाम से जाना जाता था।

यों अभी भी इस क्षेत्र में अनेक रहस्य हैं। इनमें से कुछ को आधुनिक अन्वेषकों ने भी स्वीकारा है। जैसे वहाँ प्रत्येक वस्तु में दाहिने घूमने की विचित्र प्रवृत्ति है। आँधियाँ दक्षिणावर्त चलती हैं। वहाँ के पक्षी बायें से दाहिने मण्डलाकार चलते हैं। प्रकृति की यह शक्ति मन पर भी अनेक प्रभाव डालती है। मन बहुत कम बाहरी दृश्यों और कार्यों में रस ले पाता है। स्वभाव से चुपचाप बैठने और अन्तर्मुख होने का जी करता है यहाँ।

जहाँ प्रकृति स्वयं अन्तर्मुख होने में सहायक है, मनुष्य एकाग्रता प्राप्त करने के अनेक साधनों को जीवन में उतार ले इसमें आश्चर्य की बात क्या? महाद्वीप के प्रत्येक नगर में बहुत कम कोलाहल था। राहों पर बहुत जरूरी होने पर ही कोई निकलता था। जीवन बहुत सादा और परिग्रह रहित।

कोई कान बन्द किए दोनों कानों में गुटिका लगाए बैठा है। अनहद के माधुर्य के समान जगत के सारे रस उसे फीके लग रहे हैं। कोई जिह्वा का दोहन-छेदन कर उसे कण्ठ छिद्र में दबाए गगन गुफा से झरते रस के आस्वादन में मग्न है। इस स्वभाव का विचित्र परिणाम यह हुआ कि लोगों में बोलने की प्रवृत्ति नहीं रह गई, सुनने के लिए तो जैसे किसी को अवकाश ही न था।

बस पूरे अन्त:सालिक नगर में अगर कोई अपवाद था तो बस अविनीत। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अन्तर्मुखता के प्रयत्नों, उपलब्धियों और अपने धार्मिक होने पर गर्व था। वहीं रहकर उसने कभी अन्तर्मुख होने की कोई चेष्टा नहीं की। किसी के टोकने पर वह हँसकर बोल पड़ता। क्या परमात्मा तुम्हारे इसी हाड़-माँस के पिटारे में कैद है? बाहर की दुनिया में उसका अभाव है क्या? सुनने वाले का चिढ़ना सहज था। लेकिन सबको उचित सम्मान देता था वह, शायद उनके धार्मिक होने के नाते।

"मेरा पशु कीचड़ में फँस गया है। मैं अकेले उसे नहीं निकाल पाऊँगा। यदि आप चलते।"

वह शायद विनय के कुछ और शब्द कहता तभी कानों में यह नाम पड़ा 'अविनीत'। मन ही मन झुंझलाकर रह गया लेकिन कहने वाला सहज ढंग से कह रहा था— मेरे सन्ध्याकालीन कृत्य का समय है। नियम को भंग करना असम्भव है। आप उसी को ढूँढ लें। अब विवशतावश इस अधार्मिक व्यक्ति से आश्रय लेना ही था।

मैं बीमार हूँ, बच्चा बहुत कष्ट में है। चिकित्सक को बुला देने की कृपा करेंगे आप। एक रोगी पड़ोसी से प्रार्थना करने के अलावा और कर भी क्या सकता है?

"मैं अर्चन में बैठने जा रहा हूँ। आराधना में व्यतिक्रम अभीष्ट नहीं। आप राह पर नजर रखें अविनीत आता होगा इधर से।' उत्तर अप्रिय अवश्य है किन्तु प्रार्थना करने वाले को मालूम है कि इस परिस्थिति में उसका उत्तर भी यही होता।

'अविनीत' इस शब्द के उच्चारण के साथ हरेक के मन में उपेक्षा, तिरस्कार, फटकार के भाव घुल जाते हैं, आखिर वह अधार्मिक जो है। पर वही एक आश्रय भी है इन विपत्ति में पड़े लोगों का। वह किसी के लिए औषधि लाने दौड़ रहा है और किसी के लिए चिकित्सक बुलाने। किसी का खोया पशु उसे ढूँढना है अथवा किसी के प्रियजन तक संदेश पहुँचा देना है। बनावट, कृत्रिमता तथा संकोच उसमें नाम का नहीं।

सबके कार्य करके, सबकी सहायता करके, सबसे भिन्न रीति से रहने वाला यह अविनीत है बड़ा विचित्र। सभी कहते हैं सांसारिक है यह। कोई अन्तर्मुख होने का साधन उसने नहीं अपनाया। उससे सेवा चाहे जितनी लोग लें, समाज में तिरस्कृत, उपेक्षणीय ही है वह।

अचानक एक रात वह चौंक कर उठा। काफी कोशिश के बाद अपने गोल भवन का दरवाजा खोलने में समर्थ हुआ। बाहर उसने जो कुछ देखा उसे देख ... फूट-फूट कर रोया।

उसे अपने आप-पास कुछ नहीं दिख रहा था। कोई भवन, कोई मार्ग, कोई जीवन चिह्न शेष नहीं थे पृथ्वी की केन्द्र च्युति हुई है यह कौन बतलाता। सम्पूर्ण सृष्टि पर श्वेत अंधकार छाया दिख रहा था। काले अंधकार से कहीं अधिक भयानक था यह सफेद अँधेरा।

एक रात में समूचा अन्त:कारिक द्वीप आज के अण्टार्कटिका में बदल गया था। पूरी रात में कितना हिमपात हुआ, जानने का कोई साधन नहीं था, कदम बढ़ाते ही अविनीत कमर तक कोमल बर्फ में धँस गया। कठिनाई से निकला लेकिन अब तक भवन का द्वार भी हिम के गर्भ में अदृश्य हो चुका था, जिसमें से वह अभी बाहर आया था।

वह सिर पकड़ कर बैठ गया और रोता रहा। उसकी आँखों के सामने धुँधलका गहराता गया। लगा उसका शरीर ही नहीं मन, विचार शक्ति, समूची चेतना एक गहरे अँधेरे में विलीन होती जा रही है।

उठो वत्स ! पता नहीं कितनी देर के बाद एक कोमल स्पर्श का उसे आभास हुआ । आभास या सत्य ? उसने बड़ी कठिनाई से आँखे खोलीं-- सारा शरीर अभी भी थकान से चूर था । उसे अनुभव हुआ कि उसका सिर किसी की गोद में है, किसकी ? यह सोच पाए इसके पहले एक बेहोशी पुन: उसे दबाने लगी ।

सिर पर स्नेह भरी थपकी देने वाले महापुरुष के प्रयत्न उसे होश में लाए । अब वह चैतन्य था । काफी देर बाद वह विश्वास कर सका— वह मरा नहीं बल्कि जीवित है और यह हिमाच्छादित प्रान्त अन्त:कारिक द्वीप नहीं— बल्कि हिमालय है— और ये महापुरुष अध्यात्म के इस ध्रुव केन्द्र में रहने वाली सिद्ध मण्डली के सदस्य परम सिद्ध कन्हैया हैं ।

लेकिन स्वस्थ होते ही उसका मन पुन: चिन्ता से घिर गया । सामने बैठे महापुरुष ने कारण पूछा— उनके स्वर में पर्याप्त वात्सल्य था ।

''वह पूरा महादेश धार्मिक था । धर्म को जो धारण करता है, धर्म उसे धारण करता है।'' किसी समय माता से सुने वचनों को स्मरण कर वह कह रहा था ''धर्म ने वहाँ के धार्मिक लोगो का धारण रक्षण क्यों नही किया ?''

''किया तो अवश्य पर धार्मिक का, उनका नहीं जिन्हें अपनी धार्मिकता का दम्भ था ।'' महासिद्ध के होंठों पर रहस्यपूर्ण मुस्कान थिरक रही थी ।

''मैं और धार्मिक ?'' उसे इस विकट परिस्थिति में भी हँसी आ गई । हँसी थमने पर उसने उन कृपा पुरुष की ओर देखा ।

''उन परम सिद्ध की आँखों से अभी भी स्नेह झर रहा है । अविनीत को सम्बोधित कर वे बोले वे सभी दया के पात्र थे वत्स । उनके साधनों की भीड़ में साध्य कहीं खो गया था । काश वे जान सके होते अपनी छलनामयी झूठी तपस्या के बारे में । साधना धार्मिकता की ओर बढ़ चलने के प्रचण्ड पुरुषार्थ का नाम है पुत्र । महासिद्ध एक क्षण के लिए रुके दूसरे ही क्षण उनकी-वाणी का प्रवाह-हिमसरिता के समान बह चला और धार्मिकता है संवेदनशीलता का चरमोत्कर्ष । इसकी प्राप्ति के लिए एक ही साधना है दूसरों की शान्ति के लिए अशान्त होना, अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़ कर महाअज्ञात के चरणों में उड़ेल देना । तुम इस साधना में सिद्ध हुए हो । तुम्हारी धार्मिकता के कारण उस महाअज्ञात की प्रेरणा मुझे तुम्हारे पास ले गई और आज तुम यहाँ सिद्धों की मण्डली के सदस्य हो ।''

अविनीत आश्चर्य से सब कुछ सुन रहा था, धर्म और साधना के गूढ़ तत्त्व उसे प्रत्यक्ष हो रहे थे । तभी हिमालय के श्वेत धुँधलके से कुछ छायाएँ उभरीं जो पास आकर प्रत्यक्ष हो गईं, सभी दिव्य ऋषि सत्ताएँ थीं जिनका सान्निध्य प्राप्त हो रहा था । सामने योजनों तक रुई की तरह बर्फ का साम्राज्य था ।

अविनीत अभी भी अपनी सिद्ध देह से हिमालय के अदृश्य परिकर में रहने वाले कारक पुरुषों के साथ रहते हैं । सिद्ध समाज में उनका नाम अब अविनीतप्पा लिया जाता है । मादाम ब्लावतास्की जैसे अधिकारियों ने उनके दर्शन किए हैं । यह सुलभता उनके लिए भी होना सम्भव है जिन्होने उन्हीं की भाँति धर्म-साधना को समझा हो ।

योग-विद्या के अन्वेषक— स्वामी कुवलयानन्द

जिन्होंने योग-शिक्षा द्वारा समाज का आध्यात्मिक पुनर्निर्माण करने के लिय सारा जीवन अर्पित कर दिया था, ऐसे असामान्य योगी स्वामी कुवलयानन्द जी के देहावसान से भारत एक महान् अध्यात्मवादी विद्वान् से वंचित हो गया है । स्वामी का कुछ वर्ष पहले ही स्वर्गवास हुआ है ।

स्वामी कुवलयानन्द का दृढ़ विश्वास था कि भारत का पुनरुत्थान, आधुनिक विज्ञान और योग के समन्वय एवं नित्य जीवन में उसका सम्बन्ध स्थापित करने से ही हो सकेगा । उन्होंने योग द्वारा अनेक असाध्य रोगों की चिकित्सा की अन्वेषण एवं आविष्कार कर उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का सतत प्रयास किया था। योग-विद्या, जो अब तक केवल विशिष्ठ योगियों तक सीमित गद्ध ज्ञान माना जाता था, उसे सामान्य साधक की पहुँच तक लाने का अधिकांश श्रेय 'कैवल्य धाम' के संस्थापक स्वामी कुवलयानन्द जी को ही है ।

स्वामी जी का जन्म सन् १८८३ में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनका पूर्वाश्रम का नाम जगन्नाथा गुणे था । उन्हें अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिये सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ा था । स्वामी जी ने बालपन में ही आजन्म ब्रह्मचारी रहने तथा सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी, जिसका उन्होंने अन्त तक पालन किया ।

स्वामी जी ने अपने जीवन के तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे— (१) धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा द्वारा राष्ट्र-निष्ठ तेजस्वी तरुण पीढ़ी का निर्माण । (२) शारीरिक बल-संवर्धन की भारतीय पद्धतियों का आधुनिकीकरण कर उनका शिक्षा-योजना में समावेश और (३) शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से योग का आधुनिक विज्ञान से समन्वय कर अध्यात्म और विज्ञान में अद्वैत सिद्ध करना ।

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं भाषाओं की जननी संस्कृत का गहन अध्ययन कर उसका शिक्षा-संस्थाओं में प्रचार किया । सन् १९२३ तक खानदेश शिक्षण-संस्थान द्वारा संचालित 'नेशनल कॉलेज' में प्राचार्य एवं रेक्टर के पद पर रहकर उन्होंने इस दिशा में असाधारण प्रगति की थी ।

दूसरे उद्देश्य की सिद्धि के लिये स्वामी जी ने बड़ौदा के सुविख्यात शारीरिक शिक्षा-विशेषज्ञ प्रोफेसर मानिकराव से मार्गदर्शन प्राप्त किया तथा उनके सक्रिय सहयोग से सन् १९०७ से १९१० तक की तीन वर्ष की कालावधि में बड़ौदा राज्य में अनेक व्यायामशालायें तथा खेल-कूद संस्थायें स्थापित कीं । उनका अटल-विश्वास था कि सुदृढ़ राष्ट्र-

निर्माण एवं विश्वबन्धुत्व के लिये पुस्तकीय पढ़ाई के साथ-साथ शरीर-संवर्धन एवं क्रीड़ांगण के खिलाड़ी जीवन की भी अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु शारीरिक शिक्षा की अपनी कल्पनाओं को मूर्तरूप प्रदान करने में उन्हें सन् १९३७ तक प्रतीक्षा करनी पड़ी । सन् १९३७ में बम्बई सरकार द्वारा शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए एक समिति गठित की गई और उक्त समिति के अध्यक्ष पद पर स्वामी जी की नियुक्ति हुई । स्वामी जी बम्बई राज्य शारीरिक शिक्षा मण्डल के अध्यक्ष के नाते बारह वर्ष तक इस कार्य में संलग्न रहे और अपने निदिध्यास और सतत परिश्रम से बम्बई राज्य में शारीरिक शिक्षा की ठोस बुनियाद कायम की ।

अपने तीसरे उद्देश्य में अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय को प्रत्यक्ष प्रमाणित करने के लिये स्वामी जी ने सन् १९१७ में गुजरात में मालसर स्थित परमहंस स्वामी माधवदास जी महाराज से योग की दीक्षा ली । स्वामी जी ने सन् १९२४ में पूना के समीप लोनावला में 'कैवल्य-धाम' नामक एक योगाश्रम की स्थापना की । यह संस्था भारत में ही नहीं, सारे संसार में अपने ढंग की अनोखी संस्था है, जहाँ प्रयोगों द्वारा योग व आधुनिक विज्ञान की सुसूत्रता सिद्ध की गई है और योग को व्यावहारिक एवं वास्तविक स्वरूप देकर उसके द्वारा आत्मोन्नति के साथ ही रोग-चिकित्सा किस तरह की जा सकती है, इसकी प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा शिक्षा दी जाती है । प्रति वर्ष भारत के कोने-कोने से सैकड़ों जिज्ञासु मुमुक्षु एवं रोग-ग्रस्त व्यक्ति वहाँ जाकर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते हैं । कई विदेशी सज्जन भी इस संस्थान में रहकर योग पर आविष्कार का कार्य कर रहे हैं ।

प्रथम आश्रम का कार्य एक मामूली किराये के मकान में आरम्भ किया गया था पर आज 'कैवल्य-धाम' की खुद की लगभग १०० एकड़ भूमि है, जिसमें विविध प्रकार की आनुष्ठानिक संस्थायें स्थापित हैं । संस्था की तीन शाखायें हैं — बम्बई, राजकोट (गुजरात) व कनकेश्वर महाराष्ट्र में ।

स्वामी जी के मार्गदर्शन में उपलब्ध संशोधन कार्य को सारे संसार में मान्यता प्राप्त हुई है । वहाँ विभिन्न प्रकार के आसन, बन्ध और मुद्रा आदि के अतिरिक्त भाव-समाधि व भूगर्भ-समाधि इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ आदि का भी शास्त्रीय परीक्षण किया जाता है । संस्था की प्रयोगशाला में लगभग दो लाख के आधुनिक शास्त्रीय उपकरण है । जिनके द्वारा मस्तिष्क, हृदय तथा शरीर के विविध मज्जातंतुओं की क्रियाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन किया जा सकता है । तत्त्व-ज्ञान युक्त साहित्य की दृष्टि से योगशास्त्र पर एक वृहत् कोश तैयार करने का कार्य जारी है । साथ ही १९५० से उपाधि प्राप्त स्नातक विद्यार्थियों के लिए स्वामी जी ने एक 'योग-विद्या महाविद्यालय' भी स्थापित किया । सेठ माखन लाल सक्सेरिया की उदार आर्थिक सहायता से यह सब सम्भव हुआ । यशस्वी छात्रों को योगशास्त्र की उपाधि प्रदान की जाती है । गत कुछ वर्षों से एम. एस-सी. उत्तीर्ण छात्र भी उक्त महाविद्यालय में प्रविष्ट हो रहे हैं । पाठ्यक्रम में योग, भारतीय तत्त्व-ज्ञान, शरीर-विज्ञान, मानव-शास्त्र तथा आसन, क्रिया, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम आदि की शिक्षा दी जाती है । कॉलेज से संलग्न एक सुसज्ज पुस्तकालय भी है ।

'कैवल्य-धाम' की स्थापना के समय ही स्वामी जी के पास योग सम्बन्धी संशोधनात्मक साहित्य पर्याप्त मात्रा में संग्रहित था । अतएव उन्होंने उसके आधार पर 'योगमीमांसा' नामक त्रैमासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया । 'योग-मीमांसा' द्वारा स्वामी जी का भारत तथा विदेशों में अच्छा प्रचार हुआ और उनकी लोकप्रियता में पर्याप्त वृद्धि हुई । महात्मा गाँधी, महामना मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू आदि नेताओं ने भी उनके कार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की ।

'आसन और प्राणायाम' सम्बन्धी स्वामी जी का साहित्य न केवल भारत में अपितु विदेशो में भी अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है । इन पुस्तकों में स्वामी जी ने अपने दीर्घ व्यक्तिगत अनुभव मूलगामी शास्त्रीय विचार एवं पारम्परिक शिक्षा के आधार पर योग-शास्त्र का सरल भाषा में सुसम्बद्ध प्रतिपादन किया है ।

स्वामी जी का साधु-संन्यासी एवं योगियो के लिये निर्धारित गेरुए वस्त्र आदि परिधान पर विश्वास नहीं था । अत: उन्होंने सर्वसाधारण वेश-भूषा में ही अपना जीवन बिताया । वे नियमित रूप से कुछ समय तक गायत्री मन्त्र के जप तथा आत्म-चिंतन में लीन रहा करते थे पर उन्होंने कभी सिद्धि प्राप्त करने, चमत्कार कर दिखाने आदि भौतिक प्रवृत्तियों में अपनी आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया । मनुष्य मात्र की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का निराकरण कर उसे आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करना, यही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, जिस पर वे अन्त तक आरूढ़ रहे । हृदय-व्यथा और वृद्धावस्था के बावजूद वे 'कैवल्य-धाम' के नित्य कार्य में अन्त समय तक जुटे रहे ।

स्वामी जी का यह विश्वास था कि जब तक मनुष्य स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, भय आदि विषयों से अलिप्त नहीं हो पाता, तब तक स्थायी विश्व-शांति की आशा नहीं है । उनकी मान्यता के अनुसार योग इस ध्येय प्राप्ति के लिये एक परिणामकारी साधन हो सकता है ।

जिसके द्वारा राजकीय, आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों पर अधिष्ठित हों, ऐसे योगनिष्ठ समाज का पुन: निर्माण ही स्वामी जी का जीवन स्वप्न था, जिसे प्रत्यक्ष करना भारत की प्रबुद्ध पीढ़ी का कर्तव्य है । प्रभु, सबको इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा दे, यही प्रार्थना है ।

कर्मयोग का सन्देश देने वाले— केदारनाथ कुलकर्णी

परतन्त्र भारत की दयनीय स्थिति देखकर युवक केदारनाथ कुलकर्णी की चेतना जाग उठी । वह सोचने लगे शायद ईश्वर की जब कृपा होगी तब देश का उद्धार अपने आप हो जायेगा । ईश्वर-

दर्शन की लगन तो उन्हें पहले से ही लगी थी। उपासना, जप, तप, अनुष्ठान आदि धार्मिक कर्मकाण्ड जिसने जो बताये वह करने लगे। घर-गृहस्थी को व्यर्थ का झमेला समझ एकान्तवास के लिए हिमालय की ओर चल पड़े। जमुनोत्री, गंगोत्री, बद्रीनारायण और केदारनाथ आदि तीर्थों की यात्रा भी कर ली। इस बीच हजारों साधु और संन्यासियों को धर्म और राम के नाम पर रोटी तोड़ते और समाज पर बोझ बने देखा तो एक बार परमार्थ का ठेका लेने वाले इन साधुओं के प्रति आस्थाएँ हिलने लगीं।

योग-साधना के प्रति जिज्ञासा हुई तो उसमें भी काफी सिद्धि प्राप्त कर ली, पर एक दिन समाज की बुरी स्थिति देखकर योग-साधना के मार्गदर्शक से वह पूछ ही बैठे— "महाराज ! यह जो विभिन्न प्रकार की साधनाएँ की जा रही हैं और लोग चमत्कार दिखाने में अपना मूल्यवान समय नष्ट कर रहे हैं। कृपया यह तो बताइये कि देश की उन्नति और लोक-कल्याण की दृष्टि से उनका क्या महत्त्व है ?"

उन्हें यह स्वप्न में भी ध्यान न था कि उन्हीं का शिष्य उनसे ही ऐसा बेढंगा प्रश्न पूछ बैठेगा। कुछ जानते होते तो बताते आखिर झेंप मिटाते हुए यही कह दिया— "बेटा ! यह तो राम की दुनिया है, राम ही जाने।" इतना सुनते ही कुलकर्णी जी के विचार ही बदल गये और मन में एक नई हलचल उत्पन्न हो गई। बार-बार यह सोचने लगे कि जिस साधना से कोई समष्टिगत लाभ नहीं उसे करने से लाभ ही क्या है ? अब चमत्कारी दुनिया के प्रति उनका आकर्षण समाप्त हो गया और फिर अपने परिवार में आकर रहने लगे। जिस समाज से सम्बन्ध तोड़ दिया था अब पुन: जोड़ लिया।

वयोवृद्ध आत्म-साधक कुलकर्णी जी अपने कार्यक्षेत्र में नाथ जी महाराज के नाम से विख्यात हैं। इनका जन्म १८८३ में हुआ था। पिता के शासकीय सेवा में होने के कारण नाथ जी का बचपन थाना, खानदेश और रत्नगिरि आदि कई जिलों में बीता। जब यह कक्षा ५ में पढ़ते थे, उस समय के पाठ्यक्रम और शिक्षा के ढंग को देखकर उनके मन में भारतीय शिक्षा प्रणाली के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। उनके मन में आया कि जो शिक्षा देश को स्वतन्त्र नहीं करा सकती, वह किसी काम की नहीं। अत: पढ़ाई-लिखाई छोड़कर अपने साथियों में स्वस्थ शरीर और व्यायाम के प्रति उत्साह पैदा करने लगे। उन्होंने नव-युवक साथियों को नियमित रूप से व्यायाम करने और अखाड़े में जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने लोगों को बताया कि कमजोर व्यक्ति अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता फिर राष्ट्रीय कार्यों की उससे क्या आशा की जाय। उनका स्वयं का शरीर इतना सुगठित और सुदृढ़ था कि लोग देखते ही रहते थे। उन्होंने एक बार कहा भी था कि व्यक्तियों के शरीर इतने मजबूत और फौलादी होने चाहिए कि यदि उसे पत्थर पर गिरने का भी अवसर आ जाये तो एक बार पत्थर को भी उसका डर लगने लगे।

ऐसे बलिष्ठ व्यक्ति का मन चमत्कार की दुनिया में लग भी कैसे सकता था सन् १९०८ से १९१८ तक १० वर्ष का समय जो बिना परिश्रम के बीता था उस पर उन्हें आत्मग्लानि होने लगी और हिमालय की एकान्त दुनिया को छोड़कर अन्य लाखों व्यक्तियों की तरह समाज में रहकर उसी के लाभ के लिए कार्य करने लगे। पिछले दस वर्षों में प्राप्त अनेक अनुभवों से नाथ जी का न तो समाधान हुआ और न कर्तव्य का निर्धारण ही कर सके। विवेक दृष्टि से आँकने पर जीवन के उत्साह भरे दस वर्षों की गतिविधियाँ बेकार साबित होने लगीं। पर चिन्तन की यह दिशा भीतर छिपे उग्र विचारों को समाज के सामने प्रकट करने लगी। उपासना के नाम पर चलने वाले ढोंग व गुरुडम के प्रति उन्होंने लोगों को सचेत किया और पुरानी परम्पराओं के स्थान पर अपने विवेक को ही गुरु मानकर आगे बढ़ने का निश्चय किया और लोगों को भी इसी प्रकार का शिक्षण दिया।

वह स्वदेशी का व्रत लेकर बढ़ईगीरी, बुनाई और सिलाई जैसे अनेक कार्य सीखने लगे और लोगों को वाणी द्वारा नहीं वरन् करनी से यह बताने लगे कि संसार में शारीरिक परिश्रम का कोई कार्य बुरा नहीं है। नाथ जी गाँधी जी के निकट सम्पर्क में अन्त तक रहे। आध्यात्मिक चिन्तन और साधना का जीवन जीने के साथ-साथ परिश्रमशील बनने पर उन्होंने विशेष जोर दिया।

प्रसिद्धि से कोसों दूर रहने वाले नाथजी का पश्चिमी भारत में विशेष प्रभाव है फिर भी किसी सम्प्रदाय की स्थापना न कर सामान्य ढंग से जीवन जीते हैं। किसी का मार्गदर्शक बनकर नाम कमाने की भावना तो उनमें कभी आई ही नहीं। बाल-ब्रह्मचारी होने पर भी अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह उन्होंने बड़ी ईमानदारी से किया है। वह अपनी विधवा भानजी चन्दा की व्यवस्था आज भी कर रहे हैं। वे सदैव प्रवृत्तियों को छोड़ने के स्थान पर उन्हें शुद्ध करने के लिए जोर देते रहे हैं। गृहस्थाश्रम छोड़कर त्याग का ढोंग करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि परिवार का पालन करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को पवित्रता से जिया जाय। संसार में रहते हुए भी जो अपने सगे-सम्बन्धियों की चिन्ता नहीं करता, उन्हें दयनीय स्थिति में रहने को विवश करता है उसका राष्ट्र कार्य में लगना अथवा संन्यासी बनना व्यर्थ है। नाथ जी तो यह मानते हैं कि स्थान या वेष बदल जाने से मनुष्य की प्रवृत्तियाँ नहीं बदल जातीं। उसे तो अपने में मानवीय गुणों को विकसित करने के लिए सभी का ध्यान रखना चाहिए।

दूसरों के दु:ख को अपना दु:ख मानकर सेवा सहायता करने वाले नाथ जी के प्रति उन्हीं के एक मित्र ने कहा था कि यदि नाथ जी की सेवा उपलब्ध हो सके तो पुन: बीमार पड़ने की इच्छा होती है। रोगियों की सेवा करना और जीवन के प्रति आशावान बनाना तो उनके दैनिक जीवन का एक अंग रहा है। गाँधीवादी विचारक स्वर्गीय किशोरीलाल मशरूवाला को जब अपने निकट सम्बन्धियों में ही स्वार्थ की गंध आने लगी तो सबको मिथ्या तथा नाशवान मानकर घर छोड़ने की तैयारी कर दी तो गाँधी जी के कहने पर नाथ जी ने ही उन्हें रोका था और समझाया-बुझाया था। जीवन की सार्थकता पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था— "मनुष्य को पूर्णता तक ले जाने की सामर्थ्य सिर्फ कर्मयोग में है। अत: हमारे छोटे-बड़े सभी कार्य

सावधानीपूर्वक और निर्दोष भाव से सम्पन्न होने चाहिए। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है।''

आज भी ८५ वर्ष की आयु में अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण नवयुवकों के प्रेरणा केन्द्र बने हैं क्योंकि कर्म में, उनकी आस्था में प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थी बनने की ही प्रेरणा देते रहते हैं।

संन्यास जीवन के सार्थक प्रयोक्ता—स्वामी केशवानन्द

पन्द्रह-सोलह वर्ष के एक अनाथ किशोर ने अपने हम उम्र बच्चों को पढ़ते-लिखते देखा तो स्वयं भी पढ़ने की इच्छा हुई। उस समय किशोर गायें चराने का काम किया करता था। पिता पहले ही चल बसे थे— छह वर्ष की आयु में माँ भी उसी राह पर चल दी। घर में अकेला रह गया किशोर पेट पालने के लिए गाँव वालों के गाय, भैंस, बछड़े, बछड़ियाँ चराने लगा।

विद्याध्ययन की इच्छा के बलवती होने पर किशोर ने अपना जन्म स्थान छोड़ दिया और इधर-उधर भटकने लगा। देश में तो स्कूलों की ही भरमार थी। ऐसी शिक्षण संस्था कहाँ मिलती जो विद्यार्थी के भरण-पोषण का भी दायित्व निवाहे। विद्या की प्यास लेकर किशोर यत्र-तत्र भटकता रहा और पंजाब के फाजिल्का क्षेत्र में जा पहुँचा।

यहीं संयोग से महन्त कुशलदास जी के सम्पर्क में आया और शिक्षा प्राप्ति के लिए साधु बन गया। महन्त कुशलदास ने उन्हें नाम दिया— केशवानन्द। साधु बनने का प्रस्ताव उनके गले तो नहीं उतरता था परन्तु विद्या के प्रति प्रेम इस दीक्षा को स्वीकार करने के लिए विवश कर रहा था।

शिक्षा प्राप्ति करने के लिए साधु वेष ग्रहण कर केशवानन्द जी पढ़ने लगे। कई महीने तक परिश्रम करने के बाद भी वे थोड़ा-सा ही ज्ञान प्राप्त कर सके। इसका कारण उनमें लगन और अध्ययन शीलता का अभाव नहीं था, वरन् योग्य शिक्षक की कमी थी। फाजिल्का के आश्रम में कोई खास शैक्षणिक प्रगति नहीं कर सके इसलिए वे १९०५ में इलाहाबाद चले आये।

उस वर्ष प्रयाग में कुम्भ का मेला लगा था। केशवानन्द जी ने साथी साधु-महात्माओं के सामने अपना विचार और इच्छा व्यक्त की। सन्त-महात्माओं ने उन्हें हरिद्वार के गुरुकुलों में जाने की सलाह दी। सबकी सलाह से वे कुछ दिनों के लिए हरिद्वार रहकर पढ़ते रहे और बाद में अमृतसर चले आये। वहाँ एक आश्रम में रहकर उन्होंने संस्कृत का साधारण ज्ञान प्राप्त किया। अब उन्हें स्वयं ही अध्ययन करने की योग्यता पर विश्वास हो गया था।

सन् १९०८ में उनके गुरु स्वामी कुशलदास जी का देहान्त हो गया। स्वामी जी के सभी शिष्य साधुओं में केशवानन्द जी अधिक पढ़े-लिखे थे इसलिए उन्हें ही आश्रम के अधिपति पद पर बिठाया गया। अभी तक तो स्वामी केशवानन्द अपने ही विकास की बात सोचते थे। उन्हें जब महन्त बनाया गया तो इस पद की गौरव गरिमा को समझ कर उसे सार्थक बनाने का विचार भी स्वाभाविक ही जन्मा।

स्वामी जी ने साधु पद के महान् उत्तरदायित्व को समझा। यह जीवन अकर्मण्य बनकर, समाज पर भाररूप बनकर पूजा पाठ करने के लिए ही नहीं अपनाया जाता है। वरन् इसकी एक महान् जिम्मेदारी है, जो सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक सेवा करने के लिए उत्तरदायित्व का बोध कराती है। साधु और संन्यासी जीवन की यही आदि परम्परा है। जिसे आज का साधु समाज अपनाना तो दूर उसे समझना भी नहीं चाहता। उन्हें तो केवल आश्रम में रहकर आराम से खाना-पीना और मौज-मजे करना ही अच्छा लगता है, केशवानन्द जी ने इस लीक से हटकर कुछ करने का निश्चय किया।

और लोग साधु की महान् परम्परा निभायें या न निभायें, मुझे तो उस कर्तव्य का पालन करना ही है। इस निश्चय के साथ उन्होंने सेवा क्षेत्र तलाश किया। उन्होंने स्वयं के जीवन में अशिक्षा और अज्ञान का दुष्परिणाम भोगा था। आज भी भारत की अधिकांश जनता निरक्षर ही है। शिक्षा और ज्ञान का लाभ सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी मिलना चाहिए, इस विचार से उन्होंने अपने आश्रम में एक पुस्तकालय खोला, अन्य साथी साधु-महात्माओं को ज्ञानार्जन कर समाज सेवा की दिशा में प्रेरणा दी। कुछ दिनों बाद उन्होंने आश्रम में ही संस्कृत पाठशाला भी खोली।

दो वर्ष तक सफलतापूर्वक स्थानीय प्रयास चलाकर स्वामी केशवानन्द देश यात्रा के लिए निकल पड़े। इस यात्रा का उद्देश्य था देशवासियों की स्थिति का निरीक्षण और सेवा करने योग्य क्षेत्र की तलाश। उन्होंने पाँच-सात वर्ष तक देश भर का भ्रमण किया और देखा कि सर्व-साधारण जन अभाव, गरीबी, अशिक्षा, दासता तथा अन्य कई प्रकार की समस्याओं का शिकार बने हुए हैं। इन समस्याओं के निराकरण के उन्होंने दो ठोस और अचूक उपाय ढूँढ़ निकाले— स्वतन्त्रता आन्दोलन और शिक्षा का प्रचार।

अबोध— सामाजिक विकास और राष्ट्रोत्थान में सबसे बड़ी बाधा थी विदेशी-दासता। संसार के कई देशों का इतिहास पलट कर उन्होंने पाया कि पराधीन राष्ट्रों ने किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं की है। स्वराज्य और स्वतन्त्रता राष्ट्रीय प्रगति की मूलभूत आवश्यकता है। इसलिए केशवानन्द जी स्वाधीनता संग्राम में भी कूद पड़े।

इसके पूर्व सन् १९२० में उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के नाम से उत्साही युवकों का एक दल तैयार किया था। जो मात्र साक्षरता ही नहीं अध्ययन और ज्ञानवर्द्धन की प्रवृत्तियों को भी प्रोत्साहित करता था। इस दल का एक पुस्तकालय भी था, जहाँ चुनी हुई विचारोत्तेजक देश विदेश की मूल और अनुवादित कृतियाँ रखी हुई थीं। स्वामी जी इस दल की गतिविधियों के साथ-साथ असहयोग आन्दोलन में भी भाग लेने लगे थे। इस कारण उन्हें जेल भी जाना पड़ा। लम्बे समय तक कारावास में रहने के कारण नागरी प्रचारिणी सभा की व्यवस्था विशृंखलित हो गयी।

जेल से छूटने पर उन्होंने अपनी संस्था की यह दशा देखी तो बड़ी निराशा हुई। युवकों द्वारा सभा के पुस्तकालय की सभी पुस्तकें आश्रम में जमा करवा दी गयी थीं। स्वामी जी ने इन नयी परिस्थितियों

की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई निराशा पर तुरन्त काबू पा लिया और एक नये पुस्तकालय की स्थापना की। अब की बार वाचनालय अपने निजी मकान में बनवाया गया था। स्थायी रूप से यह लाइब्रेरी चलती रहे इसके लिए उन्होंने वाचनालय भवन और जमीन आदि सब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नाम कर दी। इसका आशय यह नहीं कि वे वाचनालय के सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त होना चाहते थे। बल्कि वे तो अब अगला कदम उठाने का विचार कर रहे थे।

सन् १९२६ में स्वामी केशवानन्द द्वारा संस्थापित अबोहर, साहित्य सदन कार्यशील हो गया। अच्छी पुस्तकों और साहित्यिक कृतियों की आवश्यकता हर काल में रहती है। महापुरुषों के विचार, व्यक्तित्व का सान्निध्य लाभ हर कोई आसानी से उठा सके इसके लिए पुस्तकालय ही अत्यन्त उपयोगी होते हैं। मात्र शिक्षित होना ही पर्याप्त नहीं है। प्राप्त शिक्षा के प्रकाश में अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निर्धारण कर उनका निष्ठापूर्वक पालन करना ही शिक्षा की सार्थकता है। पुस्तकालय इस दिशा में भारी सहायक सिद्ध होते हैं। शिक्षितों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति के साथ-साथ अशिक्षितों में शिक्षा की भी एक अप्रत्यक्ष प्रेरणा जागती है।

स्वामी जी का अगला कदम था शिक्षा का प्रचार। बिना पढ़े लिखे लोगों का सद्ज्ञान और अपने अस्तित्व, महत्त्व तथा मूल्य से परिचित कराने का एकमात्र उपाय शिक्षा ही तो है। मनुष्य और पशु के अन्तर को स्पष्ट करने वाली बौद्धिक चेतना शिक्षा के माध्यम से ही तो विकसित होकर उसके गौरव के अनुरूप जीवन की प्रेरणा देती है। इसके लिए उन्होंने अपना प्रथम प्रयास राजस्थान के एक ऐसे गाँव में किया, जहाँ मीलों के क्षेत्र में एक भी विद्यालय नहीं था।

सन् १९१६ में स्वामी जी ने राजस्थान के सर्वाधिक पिछड़े क्षेत्र संगरिया में एक छोटा-सा स्कूल खोलने का निश्चय किया। उस समय उनके पास न तो सहयोगियों की कोई सेना थी और न ही अर्थ शक्ति। साधनों के नाम पर उनके पास केवल संकल्प बल था जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य को अजेय और सफल बनाता है। इस शक्ति के बल पर ही वे अत्यल्प सामर्थ्य और साधनों से अपना लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में बढ़े।

कोई व्यक्ति एकाकी ही परामर्श प्रयोजनों के लिए जुटता है तो अन्य कई और भी उत्साही लोग उसके सहयोगी और अनुयायी बन कर आगे आते हैं। स्वामी केशवानन्द जी ने एक टूटे मकान में जैसे ही अपनी छोटी-सी पाठशाला खोली तो गाँव के लोगों ने पर्याप्त सुविधा-साधन जुटाने का उत्साह दिखाया। गाँव के ही एक स्थानीय व्यक्ति ने चौदह बीघा जमीन विद्यालय भवन के लिए दान कर दी। वहाँ के निवासियों ने दौड़-धूप कर इमारत बनवाने के लिए चन्दा एकत्रित किया और स्कूल खुलने के एक वर्ष बाद ही विद्यालय का निजी भवन तैयार हो गया।

तत्कालीन सामाजिक कुरीतियाँ भी उनके मार्ग में बाधा बनकर आयीं। स्वामी जी सभी जाति के बच्चों को अपने विद्यालय में प्रवेश देते थे। यह बात ऊँच-नीच का भेदभाव मानने वाले पण्डितों और रूढ़िवादी ग्रामवासियों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने अपने बच्चों को स्कूल भेजना बन्द कर दिया और इस विद्यालय को ढेड़ियों (चमारों) का स्कूल कह कर बहिष्कृत करने लगे। स्वामी जी इस विरोध और असहयोग से अप्रभावित रहकर लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए यत्नशील रहे। जनमानस में सही दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास कभी निष्फल नहीं जाता। स्वामी जी को भी अन्ततः सफलता मिली ही। शीघ्र ही ग्रामीण कठमुल्ला पण्डितों के अनुचित तर्कों और आदेशों को अमान्य करने के लिए तैयार हो गए।

सेवा कार्यों के सत्परिणाम की प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक ही करनी पड़ती है। उतावली और तत्काल प्रगति की बात लोकसेवा के क्षेत्र में तो नहीं ही बनती। ग्रामवासियों का विरोध शान्त हो जाने के बाद संगरिया स्कूल का कार्यक्षेत्र बढ़ने लगा। यह प्रतिकूल परिस्थिति मानो स्वामी जी तथा उनके सहयोगियों की परीक्षा लेने आयी थी। धैर्य और लगन, निष्ठा के बल पर वे इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इसके पुरस्कार में संस्था विकास की दिशा में अग्रसर होने लगी।

१९२५ तक विद्यालय में १२० छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तथा संगरिया क्षेत्र में संस्थान की १२ शालायें कार्यरत हो गयी थीं। कार्यक्षेत्र बढ़ जाने पर आर्थिक साधनों की भी आवश्यकता हुई। संस्था के पास आय का कोई स्रोत तो था नहीं। सारा कार्य गाँववासियों के सहयोग से चलता था। एक बार अर्थाभाव के कारण विद्यापीठ बन्द हो जाने की नौबत आयी। बड़ी मुश्किल से स्थिति को टाला जा सका। गाँव के प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न लोगों ने अवसर पर अगाध सहयोगी भाव का परिचय दिया और घर-घर से चन्दा एकत्रित कर स्कूल चलाया।

सर्वसाधारण को इतना गहरा प्रभावित करने की शक्ति स्वामी जी के उस व्यक्तित्व में थी, जो व्यर्थ के बाह्य आडम्बर और शान-शौकत से कोसों दूर था। सादगी और सज्जनता ही मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावोत्पादक बनाते हैं, न कि लच्छेदार भाषण और स्वयं को विशिष्ट बनाने की झूठी महत्त्वाकांक्षा, अपने लिए— साधारण-सी आवश्यकताओं के लिए ही धन का प्रयोग तथा सेवा कार्यों में सही स्थान पर समुचित व्यय। इस नीति ने स्वामी जी को लोकाराधन का पात्र बना दिया। बीमार रहने पर भी, वे मूल्यवान पथ्य और अनाप-शनाप औषधियाँ नहीं लेते थे। कोई आगन्तुक व्यक्ति जबरन इसलिए कुछ भी दे जाता तो उसे भी दीन-हीन छात्रों के लिए खर्च कर देते।

शिक्षा प्रसार के साथ शिक्षा पद्धति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का श्रेय उन्हें प्राप्त है। मात्र किताबी ज्ञान को महत्त्व देने वाली संस्थायें ही उन्होंने खड़ी नहीं कीं वरन् जीविका-उपार्जन और उद्योग शिल्पों का प्रशिक्षण देने की संस्थायें भी उन्होंने खोलीं। सन् १९४४ से उनके विद्यापीठ में शिल्प और उद्योग-धन्धों को भी पाठ्यक्रम में समाविष्ट किया गया। ज्ञान, व्यवहार और निर्वाह की सर्वांग शिक्षा पद्धति के कारण कई युवक इस विद्यापीठ में भर्ती हुए। अगले चार वर्षों में दो हजार से भी अधिक छात्रों ने वहाँ शिक्षा प्राप्त की और सीधे जीवन क्षेत्र में तैयारी के साथ प्रवेश किया। अब तो इस विद्यालय में कई रचनात्मक कार्य बिना किसी बाहरी सहायता के सम्पन्न होने लगे हैं।

संसद में पहुँच कर स्वामी जी देशभक्ति एवं जनसेवा के सिद्धान्तों के लिए अन्तिम समय तक संघर्ष करते रहे। शिक्षा जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले स्वामी केशवानन्द का देहान्त १३ सितम्बर १९७२ को हुआ। स्वामी जी केशवानन्द साधु की महान् और गौरवशाली परम्परा मर्यादा के आदर्श प्रतीक थे।

अनपढ़ साधु की शिक्षण सामर्थ्य

घटना सन् १९३२ की है। राजस्थान के गंगानगर जिले में एक स्थान है, संगरिया। वहाँ के निवासियों में शिक्षा के प्रति न कोई रुचि थी और न ही ग्रामवासी शिक्षा की कोई आवश्यकता ही अनुभव करते थे। परिणामस्वरूप उनके बच्चे या तो अपने माता-पिता के साथ खेत-खलिहानों में हाड़-तोड़ मेहनत करते अथवा आवारागर्दी करते रहते। शिक्षा के कोई संस्कार तो उन्हें मिले ही नहीं थे, जिससे कि अपना, अपने परिवार का तथा अपने गाँव का कोई विकास कर सकें। पीढ़ियों से चली आ रही हालत ज्यों की त्यों बनी रहती और उन्हें हर कोई बहला-फुसलाकर आसानी से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता, दूसरे शब्दों में ठग लेता। बेचारे भोले-भाले ग्रामीण किसी की भी बातों में आ जाते और खुशी-खुशी अपने को लुटवा देते।

क्षेत्र के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए एक भूतपूर्व सैनिक ने वहाँ एक स्कूल खुलवाया और गाँव वालों में शिक्षा के प्रति रुचि जगाने का मोर्चा सम्हाला कुछ और सेवाभावी व्यक्ति भी इस कार्य में आ लगे और संगरिया के आस-पास के गाँवों से भी बच्चे उस स्कूल में पढ़ने के लिए आने लगे। किन्तु लोगों में शिक्षा रुचि का विकास संतोषजनक रूप से न हो सका। परिवर्तन इतना भर हुआ कि जिन दिनों खेतों में कोई काम नहीं होता था, उन दिनों ही ग्रामीण लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजते और जब खेती होने लगती थी तो फिर स्कूल वीरान हो जाता। गाँव वालों का कोई सहयोग भी स्कूल को नहीं मिलता था परिणामस्वरूप स्कूल की व्यवस्था धीरे-धीरे लड़खड़ाने लगी। संचालकों ने कुछ समय तक तो विद्यालय को जैसे तैसे चलाया पर सन् ३२ में ऐसी स्थिति आ गयी कि विद्यालय को बन्द करने की बात सोची जाने लगी।

काफी प्रयत्न किये गये कि विद्यालय चलाने की व्यवस्था किसी प्रकार बन जाय और जैसे-तैसे भी विद्यालय चलता रहे। लेकिन संचालकों को कोई रास्ता ही नहीं सूझता था अन्त में इस समस्या पर विचार करने के लिए क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक मीटिंग बुलायी गई और बताया गया कि अर्थाभाव के कारण विद्यालय बन्द करना पड़ रहा है। उपस्थित सभी व्यक्तियों ने समस्या के ऊपरी समाधान बताये। कोई ठोस रास्ता नहीं निकल रहा था, जिसे अपना कर विद्यालय को सुव्यवस्थित रीति से चलाया जा सके।

उस सम्मेलन में इलाके के एक अनपढ़ साधु भी थे। साधु अनपढ़ तो जरूर थे परन्तु उनका व्यक्तित्व इतना तेजस्वी था कि उन्हें लोग ऋषि महर्षि की तरह पूजते थे। उनके पास साधन भी कुछ नहीं थे, रहने को एक कुटिया भर थी, जहाँ ग्रामवासी उनके खाने-पीने को पहुँचा देते थे। उन स्वामी जी ने जब देखा कि मीटिंग इस निर्णय पर पहुँच रही है कि विद्यालय बन्द कर दिया जाय तो उन्होंने उठकर कहा विद्यालय इसलिए नहीं खोले जाते कि उन्हें बन्द करना पड़े। प्रश्न उठा कि फिर किया भी क्या जा सकता है। तो साधु ने कहा, करने की जिम्मेदारी मेरी रही।

और विद्यालय की जिम्मेदारी उक्त साधु ने ग्रहण की। उन्होंने दिन-रात परिश्रम किया, लोकश्रद्धा को सहयोग की दिशा दी और विद्यालय जन-सहयोग तथा स्वामी जी के परिश्रम से फिर चल पड़ा। न केवल विद्यालय चल पड़ा बल्कि पहले से कहीं अच्छे रूप में चलने लगा। लोगों में भी शिक्षा के प्रति इतना प्रेम जगा कि वह मिडिल स्कूल कुछ ही वर्षों में महाविद्यालय हो गया। इतना ही नहीं उस क्षेत्र में चार महाविद्यालय, दो उच्च माध्यमिक विद्यालय, एक बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय खुल गया। जन-सहयोग से उन स्वामी जी ने रियासत भर में लगभग तीन सौ प्राथमिक शालायें भी खुलवायीं। आज संगरिया में उस मिडिल स्कूल के स्थान पर 'ग्रामोत्थान विद्यापीठ' स्थापित है, जो क्षेत्र में इन शिक्षण प्रवृत्तियों का संचालन करता है एक लड़खड़ाते हुए मिडिल स्कूल को समूचे क्षेत्र में शिक्षण प्रवृत्तियों के प्रसार का केन्द्र बनाने वाले साधु थे— स्वामी केशवानन्द, जो अनपढ़ थे, किन्तु जिन्होंने कितने ही व्यक्तियों को प्रकाश दिया।

संन्यासी का आदर्श

स्वामी केशवानन्द जिन्होंने शिक्षा का व्यापक प्रचार किया, राज्य सभा के सदस्य थे। तब की बात है कि उनके एक सहकारी ने देखा कि वे हाथ पर दो-तीन रूखी रोटियाँ रखे दाल से खा रहे है। रोटियाँ सूखी व ठण्डी थीं उन्हें वे जल्दी-जल्दी चबाकर गले के नीचे उतार रहे थे। सहकारी ने इसका कारण पूछा तो बोले— "मुझे कई जगह जाना है और शाम को गाड़ी पकड़नी है इसलिये तंदूर से यहीं दो रोटियाँ मँगवाली है।"

"इस आयु में आपको ऐसा भोजन नहीं करना चाहिए। कुछ, नहीं तो घी, मक्खन व फल तो लिया करें।" सहकारी बोला। इस पर वे मुस्कराते हुए बोले— "ठीक तो है पर जब इन्हीं बातों की चिन्ता करनी थी तो संन्यासी बनकर कुछ सेवा करने का व्रत ही क्यों लेता।"

व्यक्तिगत सुखों की चिंता न करना सेवा-व्रती का आदर्श है।

जे. कृष्णमूर्ति—भगवान् जो इंसान बन गये

जे. कृष्णमूर्ति कभी भगवान् थे, पर अब इंसान हो गये। यह एक अचम्भे की बात है। इंसानों में से अपने को भगवान् घोषित करते अनेक देखे और सुने गये हैं, पर ऐसा कदाचित् ही कहीं हुआ हो कि भगवान् ने अपना ईश्वरीय चोला उतार फेंका हो और मात्र इंसान रह गये हों।

यह कथा जे. कृष्णमूर्ति की है। इन्हें थियोसोफिकल सोसायटी ने नया मसीहा घोषित किया था। बाइबिल के एक प्रसंग में ईसा मसीह का दुबारा प्रकट होने का जिक्र है। समय का वर्णन भी ऐसा ही है,

जिसकी संगति इस शताब्दी से मेल खाती है । उसमें जो चिह्न होने चाहिए, उसका तुक भी थियोसोफिकल सोसायटी की कर्ता-धर्ता श्रीमती एनीबेसेन्ट एवं श्री लेडबीटर ने कृष्णमूर्ति के साथ मिला दिया था ।

एक अवकाश प्राप्त ब्राह्मण अफसर के घर कृष्णमूर्ति का जन्म हुआ । यूरोप में ख्याति प्राप्त अध्यात्म नेता लेडबीटर ने अपने दिव्य ज्ञान के सहारे घोषणा की कि इस बालक में ईसा मसीह की दिव्य आत्मा है । इस घोषणा पर विश्वास किया गया और बालक को अधिक योग्य बनाने के लिए उनकी शिक्षा-दीक्षा की गई, उन्हें इंग्लैण्ड ले जाया गया, उन्हें कुलीनों के लिए विनिर्मित विद्यालयों में पढ़ाया गया । वयस्क होने पर उन्हें फ्रांस की सोरबीन यूनिवर्सिटी में पढ़ने भेजा गया । चुपके-चुपके उनकी ख्याति फैलायी गयी, फलतः उनके भक्तों की कमी न रही ।

सन् १९२९ में कैम्ब्रिज नगर के एर्डे किले के मैदान में एक सम्पन्न भक्त ने अपनी पाँच हजार एकड़ भूमि इस नये मसीहा को भेंट की, ताकि भक्तजनों के लिए एक साधन-सम्पन्न नगर उस पर बसाया जा सके ।

पर यह सिलसिला बहुत दिन न चल सका । कृष्णमूर्ति के कितने ही स्वागत समारोह हो चुके थे, उनमें वे नपी-तुली बातें कहते थे और बताये हुए तौर-तरीके से बैठते थे, पर हेम्पशायर के वुक्स वुड पार्क में एक नया धमाका हुआ । उस समारोह में उन्होंने अपनी पोल स्वयं खोल दी और कहा कि "न तो मैं मसीहा हूँ, न कोई विचित्र व्यक्ति । दूसरों की तरह मैं साधारण आदमी हूँ । मुझसे किसी चमत्कार की आशाएँ कोई न करे । आप लोग अपने ही जैसा एक सामान्य व्यक्ति मुझे समझें । जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, अन्य व्यक्ति भी मेरे ही जैसे हैं । मसीहा या उद्धारकर्ता अपने सिवाय अपने लिए और कोई हो नहीं सकता । यदि कोई व्यक्ति ऊँचा उठा, तो वह अपने प्रयास-पुरुषार्थ से स्वयं ही ऊँचा उठा है । आप में से जो ऊँचे उठना चाहते हों या उद्धार के इच्छुक हों अपने ही प्रयास-पुरुषार्थ की ओर देखें, अन्य किसी की आशा न करें, मेरे सम्बन्ध में अब तक की मान्यताओं को बदल दें, किसी भ्रम में न रहें । मैं भगवान् नहीं, मात्र इंसान हूँ ।"

इनका यह भाषण धमाके जैसा था । जो उनसे बड़ी-बड़ी आशाएं लगाये बैठे थे, उन पर एक प्रकार से तुषारापात हो गया । भगवान् के ईसा के नये अवतार के सम्बन्ध में जिन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे थे, उनकी आँखें खुल गईं ।

साथ ही सत्य के अन्वेषकों को एक बड़ा सहारा मिला जो उठा है अपने ही कर्मों या पुरुषार्थ से उठा है । जो गिरा है, उसे अपने कर्मों ने ही गिराया है । दूसरे किसी को सलाह भर दे सकता है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि अपने बलबूते किसी का उद्धार करें ।

जे. कृष्णमूर्ति के इस भाषण से धर्मक्षेत्र में व्यापक हलचल मच गई । अवतार की आशा पर बहुत कुछ पाने की जो आशा लगाये बैठे, उनके सपनों का बालू का महल ढह गया । जिन्होंने उन्हें भगवान् बनाया था और उनके सहारे बहुत खेल खड़ा करने की आशा कर रहे थे, उनके पैरों के नीचे से भी जमीन खिसक गयी । इसके बाद जे. कृष्णमूर्ति ने साधक वेष-भूषा से सत्य का उद्घाटन करते हुए अपना प्रचार आरम्भ किया कि हर मनुष्य आत्मनिर्भर है, अपने विचारों और कार्यों से ही वह उठ या गिर सकता है । अभी भी वे यही कर रहे हैं ।

सन्त परम्परा सार्थक करने वाले—स्वामी कृष्णानंद

सन्त जीवन के आदर्श उद्देश्य को यों एक प्रकार से इस देश में भुला ही दिया गया है फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषिप्रणीत महान् प्रक्रिया सर्वथा लुप्त हो गई । उसके ध्वंसावशेष अभी भी बाकी हैं । वे जहाँ कहीं अपने यथार्थ रूप में कहीं भी दीख पड़ते हैं वहाँ उज्ज्वल भविष्य की आशा से आँखें चमकने लगती हैं ।

सन्त परम्परा के यथार्थ उद्देश्य, स्वरूप की एक झाँकी कराने वाले संन्यासियों में एक हैं— स्वामी कृष्णानंद जी ! वे इन दिनों भारतीय मूल के नागरिकों के बहुमत वाले देश मॉरीशस द्वीप में जन-जागरण के लिये सतत प्रयत्नरत हैं । व्यक्तिगत ईश्वर उपासना द्वारा अपने मल आवरण पर साबुन लगाने की प्रक्रिया वे थोड़े ही समय में पूर्ण कर लेते हैं और फिर अहर्निश लोकमंगल के क्रियाकलापों में ही जुटे रहते हैं । उनकी साधना तपस्या का यही स्वरूप है जिसने नर-नारायण की गरिमा बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है ।

स्वामी जी का जन्म यों तो उत्तरप्रदेश के किसी गाँव में हुआ पर वे पीछे विश्व नागरिक के रूप में ही विकसित हो गये । संन्यास की प्रेरणा और दिशा भी यही है । कुछ समय तप साधना करके अपनी अन्तरात्मा को पवित्र के उपरान्त उन्हें यही उपयुक्त प्रतीत हुआ कि अपने अस्तित्व को लोकमंगल के लिए— विश्व मानव के लिए समर्पित किया जाय और मानवी गरिमा को ऊँचा उठाने में अपनी क्षमता को सर्वतोभावेन समर्पित किया जाय ।

सेवा साधना के आरम्भिक दिनों में उन्होंने गुजरात प्रान्त को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । शहरों के सुविधाजनक क्षेत्र में तथाकथित लोकसेवियों की भीड़ बरसाती मेंढकों की तरह सर्वत्र दीखती है पर देहातों के कष्टसाध्य क्षेत्र में जाने और फोटो, समाचार, जलूस-माला, स्वागत-सत्कार आदि का लोभ छोड़कर ईसाई पादरियों की तरह जंगलों में भटकने की प्रवृत्ति अपने देश में कहा है ? स्वामी जी ने इसी अभाव की पूर्ति आवश्यक समझी और देहातों को अपना कार्य क्षेत्र बनाया ।

"सेवा के साथ शिक्षा" की पद्धति ईसाई मिशनरियों ने अपनाई है और उन्होंने अपना लक्ष्य आश्चर्यजनक रीति से पूरा किया है कुछ ही शताब्दियों में ईसाई धर्म संसार का सबसे बड़ा— विश्व की एक तिहाई जन-संख्या का धर्म बन गया है, इसका कारण उसके दर्शन की उत्कृष्टता नहीं वरन् सेवा सम्मिश्रित धर्म शिक्षा ही प्रधान है ।

ईसाई प्रचारकों तथा पादरियों से इस दिशा में हमें बहुत कुछ सीखना है। स्वामी कृष्णानंद जी ने वही मार्ग अपनाया था। हिमालय साधना से लौटकर वे अपने सेवा प्रयोजनों में लग गये।

भड़ोंच (गुजरात) के जम्बूसर क्षेत्र में गजेरा ग्राम से उन्होंने सेवा सहित शिक्षा कार्य आरम्भ किया। उस क्षेत्र में उन दिनों नेत्र रोग बहुत फैले हुए थे। उन्होंने हर घर से एक-एक रुपया एकत्रित करके नेत्र दान यज्ञों की व्यवस्था की और हर रोगी का आपरेशन निशुल्क ही नहीं वरन् आपरेशन कराने वाले के लिये बिना मूल्य आवास की भी व्यवस्था की। प्रथम शिविर में मात्र ६०० नेत्र आपरेशन हुए जिनमें रोगियों तथा उनके साथ वालों को मिलाकर लगभग १००० व्यक्तियों का भोजन प्रतिदिन होता था। प्रथम शिविर में ही २५ हजार रुपया खर्च हुआ। पर-सेवा की सच्ची लगन, सद्व्यवहार और कुशल सेवा वृद्धि के कारण उसकी पूर्ति सहज ही हो गई। ऐसे कई शिविरों की व्यवस्था की और सेवाभावी डॉक्टरों, अस्पतालों को प्रभावित करके उस क्षेत्र के ऐसे ही रोग पीड़ितों की सेवा करने का कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। क्षय पीड़ितों के लिए भी ऐसी ही चिकित्सा व्यवस्था करके अगणित मृत्यु के मुख में झूलते हुए लोगों को जीवन दान दिया।

स्वास्थ्य ही नहीं शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने काम किया। मादणा नामक ग्राम में जन-सहयोग से एक कॉलेज खड़ा किया। कितने ही छोटे-बड़े अन्य शिक्षा संस्थान खड़े किये। इन सब सृजनात्मक कार्यों में २५ लाख रुपया लग गया पर जन-श्रद्धा जो उनकी सेवा साधना के फलस्वरूप उभरी थी उसके कारण उन साधनों को जुटाना कुछ भी कठिन न रह गया।

इस कार्य में दूसरे लोग भी साथ देने लगे और उन सेवा सहित शिक्षा वाले कार्य को चलाने के लिए उन्होंने बड़ौदा में विश्वामित्री स्टेशन के पास 'विश्व ज्योति आश्रम' बना दिया। और स्वयं प्रवासी भारतीयों में भारतीय धर्म-संस्कृति की जड़ें मजबूत करने के लिए निकल पड़े।

स्वामी जी ने प्रवासी भारतीयों में संगठन, सदाचरण और सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिये विश्वव्यापी भ्रमण किया। इस सन्दर्भ में उन्हें अफ्रीका, सोमालिया, युगांडा, टंगानिया, केनिया, रुआण्डा, कांगो, बरुण्डी, अडम, जाम्बिया, रोडेशिया, नेपाल, भूटान, हांग-कांग, फिलीपाइन, जापान, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, सिंगापुर आदि में भ्रमण किया और प्रवासी भारतीयों में नवजीवन संचार किया।

लोकसेवा यों तो कोई भी किसी भी प्रकार कर सकता है पर आज की परिस्थितियों, आवश्यकताओं और उपलब्धियों का समन्वय करके किस तरह अधिक लोगों को अधिक महत्वपूर्ण लाभ पहुँचाया जा सकता है। इसके लिए सुव्यवस्थित रीति से कैसे काम किया जा सकता है यह जानने के लिए उन्हें सेवा संस्थाओं की कार्य पद्धति देखना और वहाँ से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अस्तु, इन देशों में जाना पड़ा जहाँ इस दिशा में कुछ अधिक खोजबीन की गई है। इस संदर्भ में इंग्लैण्ड, अमेरिका और जापान की यात्रा पर चले गये।

वहाँ से लौटने के उपरान्त उनका प्रधान कार्य-क्षेत्र अफ्रीका का मौरीशस द्वीप बन गया। यह भारतीय मूल के बहुमत प्रधान व्यक्तियों का एक छोटा-सा द्वीप है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई केवल ३० x २८ मील है। यहाँ केवल ४०० गाँव हैं। इनमें घूम-घूम कर उन्होंने घर-घर जन-सम्पर्क बनाया और सेवा शिविर संगठन संस्था के अन्तर्गत हजारों युवकों को मानवीय उत्कर्ष की विविध-विविध प्रवृत्तियों में लगा दिया। भारतीय संस्कृति के मूल उद्देश्यों से उस क्षेत्र के सर्वसाधारण को परिचित कराने के लिए उन्होंने एक लाख रामायण की पुस्तकें भारत से ले जाकर वहाँ के हर घर में पहुँचाई। हिन्दी को लोग भूल न जायें, इसके लिए प्रयाग महिला विद्यापीठ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति के परीक्षा केन्द्र खुलवाये और उनमें पढ़ने के लिए सभी भारतीयों में उत्साह की नई उमंग पैदा की। उस सेवा संगठन के संचालन का कार्य उन्होंने प्रोफेसर कुमारी सीता को सौंप दिया और वे अथक परिश्रम के साथ सेवा शिविर का कार्य संचालन कर रही हैं।

आस्तिकता— प्रार्थना की नियमितता के प्रशिक्षण से स्वामी जी का सेवा कार्य अधिक होता है। वे अपने मधुर स्वभाव और सेवा कृत्यों में अथक उत्साह के साथ जन-साधारण का मन सहज ही जीत लेते हैं और सम्पर्क में आने वालों को— आस्तिक, उपासना परायण ही नहीं बनाते वरन् उन्हें लोकसेवा की दिशा में कुछ न कुछ करने को मानव जीवन का लक्ष्य समझाते हुए उसमें प्रवृत्त करते हैं। यही कारण है कि भारत में और प्रवासी भारतीयों में उन्होंने कहने योग्य सेवा कार्य सम्पन्न किया है।

विविध भाषा-भाषी लोगों के साथ सम्पर्क के लिए उन्होंने प्राय: उन सब भाषाओं को अपने प्रवास काल में सीखने का प्रयत्न किया है जिनकी आवश्यकता अनुभव होती है। वे गुजराती, पंजाबी, नेपाली, मराठी आदि कितनी ही भारतीय भाषाएँ जानते हैं यह शिक्षण उन्होंने सेवा साधना के साथ-साथ ही पूरा किया है।

स्वामी कृष्णानंद भारत की सनातन सन्त परम्परा के मूर्तिमान प्रतीक हैं। वे अपने आचरण से उस युग की झाँकी कराते हैं जब सेवा-भावी साधु-संन्यासी अपनी अन्तरात्मा को पवित्रतम बनाकर परमात्मा स्तर तक पहुँचा करते थे और जन-सेवा द्वारा संसार की शारीरिक और मानसिक आधि-व्याधियों के निवारण में अपने आप को अथक और अनवरत रूप से जुटाये रहते थे।

काश, भारत माता ऐसे सन्त परम्परा की उपयोगिता सिद्ध कर सकने वाले अन्य साधु भी उत्पन्न कर सकी होती।

श्रम के साधक बाबा गरीबदास

बाबा गरीबदास को भाणडेर क्षेत्र में सर्व-साधारण बड़ी आदर की दृष्टि से देखता है। साधारण कर्मचारी से लेकर उच्च अधिकारी तक तथा श्रमिक से लेकर बड़े व्यापारी तक, क्या डॉक्टर क्या वकील, क्या स्त्री क्या पुरुष सभी उनका नाम आदरपूर्वक लेते हैं।

उन्हें यह सर्व-साधारण का सम्मान कैसे प्राप्त हुआ ? उनके पास चमत्कार नाम की कोई चीज नहीं है । कोई बड़ा यज्ञ अथवा भंडारा उन्होंने कराया हो ऐसी भी बात नहीं । बड़े भारी विद्वान, ज्ञानी, चमत्कारी होने की बात तो दूर, साधारण पढ़े-लिखे भी वह शायद ही हों । प्रचलित उपासना या तप की कोई बड़ी साधना भी उन्होंने नहीं की । फिर भी आबाल वृद्ध नर-नारी उनके प्रति सहज श्रद्धा रखने लगे इसका एकमात्र कारण है उनकी "श्रम की साधना" ।

बाबा जी भगवान् का नाम हाथ में सुमिरनी लेकर नहीं, खुरपी, फावड़ा या (कुदाली) गैंती लेकर जपते हैं । इसे ही वह अपनी माला या सुमिरनी कहते हैं । भगवान् के नाम के साथ-साथ वह भगवान् का काम भी अपने तरीके से करते जाते हैं । किसी साधु ने सुमिरनी फेरकर कुछ तप शक्ति अर्जित करके किसी का कुछ भला किया हो इस पर शंका या तर्क-वितर्क के लिए स्थान हो सकता है किन्तु उनकी सुमिरनी से एक के बाद एक खुदने वाले कुएँ तथा उनके आस-पास लगे हुए छोटे-छोटे बगीचों के प्रति कोई क्या शंका करेगा ?

किसी नई जगह पहुँचने पर बाबाजी कोई ऐसा स्थान चुन लेते हैं । जहाँ आस-पास थोड़ा खुला स्थान हो तथा सर्व-साधारण के लिए दूर भी न हो । विशेषकर पानी की आवश्यकता जहाँ हो । ऐसे स्थान पर उनकी धुनी जम जाती है । स्थानीय व्यक्तियों से ही, जिनके पास उपलब्ध हो, फावड़ा, कुदाली आदि माँग लेते हैं । शुरू में लोग उन पर शक करते थे । एक व्यक्ति अकेले कुआँ खोदेगा, इस बात पर आज के पुरुषार्थहीन वातावरण में सहज विश्वास नहीं होता । फिर कुआँ बनने के बाद उसको बँधवाने आदि की भी व्यवस्था साधारण नहीं है । ईंटों व चूने आदि से लेकर कारीगर व मजदूरों तक की व्यवस्था का प्रश्न सामने आ जाता है ।

लेकिन साधनसम्पन्न व्यक्तियों को भी जो व्यवस्था समस्या रूप लगती है वह श्रम के साधक बाबा के लिए मानो कुछ चीज ही नहीं । उनकी माला खिसकना शुरू हुई कि धरती माता ने रास्ता देना प्रारम्भ किया । किसी से कोई शिकायत नहीं, कोई सहायता की अपील नहीं । साधक की साधना चलती रहती है । कोई सहज प्रेरणा से आ गया तो साथ ले लिया— चला गया तो 'सीताराम' बोल कर विदा दे दी । हाथ न निरुत्साह से धीमा पड़ा न उतावली में तेज हुआ ।

और अपने इस सपूत के प्रति स्नेह के कारण धरती माता अपने अन्दर का स्रोत अधिक देर रोक नहीं पाती । अन्दर से मधुर जल की धार के रूप में वह फूट पड़ता है । अब तक बाबा द्वारा खोदे गये कुओं का जल मीठा ही निकला है ।

अब बाबा की माला थोड़ा रुख बदलती है तथा भगवत् नाम के साथ निकलने लगती है ईंटों की कतार । आवश्यकता भर की ईंटें भी देखते-देखते तैयार हो जाती हैं । एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का यह कार्य लोगों के अन्दर की चेतना को बैठा नहीं रहने देता । बात की बात में ईंटें पकाने, चिनाई के साधन आदि एकत्रित हो जाते हैं । जन-सहयोग से कार्य पूरा होते देर नहीं लगती । समाज में साधनों की कमी नहीं है उनका ठीक-ठीक उपयोग करा सकने वाला चाहिए ।

कुँए का कार्य पूरा होने पर आस-पास छोटी-सी रमणीक बगीची लगा दी जाती है । अधिकांश स्थानों पर कोई देवस्थान या तो पहले से ही होता है— या बना दिया जाता है । बैठने के लिये चबूतरा, कुँए पर स्थाई रूप से रस्सी-बाल्टी आदि की व्यवस्था भी हो जाती है ।

महायोगी गोरखनाथ और उनका योग-मार्ग

महात्मा गोरखनाथ अपने समय के एक बहुत प्रसिद्ध योगी हो गये हैं । वैसे योगाभ्यास करने वालों की भारतवर्ष में कभी कमी नहीं रही, अब भी हजारों योगविद्या के जानकार और अभ्यासी इस देश में मिल सकते हैं, पर गोरखनाथ योगविद्या के बहुत बड़े आचार्य और सिद्ध थे और अपनी शक्ति द्वारा बड़े-बड़े असंभव समझे जाने वाले कार्यों को भी कर सकते थे ।

गोरखनाथ का समय खोज करने वाले विद्वानों ने विक्रम संवत् ११०० के लगभग माना है । कहा जाता है कि एक बार उनके भावी गुरु मत्स्येन्द्रनाथ फिरते-फिरते अयोध्या के पास 'जयश्री' नाम के नगर में पहुँचे । वहाँ एक ब्राह्मणी के घर जाकर भिक्षा माँगी और उसने बड़े आदर सम्मान से उनको भिक्षा दी । ब्राह्मणी का भक्तिभाव देखकर मत्स्येन्द्रनाथ बड़े प्रसन्न हुये और उसके चेहरे पर उदासीनता का चिह्न देखकर कारण पूछने लगे । ब्राह्मणी ने बतलाया कि उसके कोई सन्तान नहीं है, इसी से वह उदासीन रहती है । यह सुन योगीराज ने अपनी झोली से जरा-सी भभूत निकाली और उसे देकर कहा कि "इसको खा लेना, तेरे पुत्र हो जायेगा ।" उनके चले जाने पर उसने इस बात की चर्चा एक पड़ोसिन से की । पड़ोसिन ने कहा "कहीं इसके खाने से कोई नुकसान न हो जाय ?" इस बात से डरकर भभूत नहीं खाई और गौओं के बाँधने के स्थान के निकट एक गोबर के गड्ढे में उसे फेंक दिया ।

इस बात को बारह वर्ष बीत गए और एक दिन फिर मत्स्येन्द्रनाथ फेरी लगाते उस ब्राह्मणी के यहाँ जा पहुँचे । उन्होंने उसके द्वार पर 'अलख' जगाया । जब ब्राह्मणी बाहर आई तो उन्होंने पूछा— "अब तो तेरा पुत्र १२ वर्ष का हो गया होगा, देखूँ तो वह कहाँ है ?" यह सुनकर स्त्री घबड़ा गई और डरकर उसने समस्त घटना उनको सुना दी । मत्स्येन्द्रनाथ ने भभूत को फेंकने का स्थान पूछा और वहाँ जाकर 'अलख' की ध्वनि की । उसे सुनते ही एक बारह वर्ष का तेजपुन्ज बालक बाहर निकल आया और उसने योगीराज के चरणों में मस्तक नवाया । यही बालक आगे चलकर 'गोरखनाथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । मत्स्येन्द्रनाथ ने उसे शिष्य बनाकर योग की पूरी शिक्षा दी । गोरखनाथ ने गुरु की शिक्षा से और स्वानुभाव से जो योग-मार्ग में बहुत अधिक उन्नति की और उसमें हर प्रकार से पारंगत हो गए । लोगों की तो धारणा है कि योग की सिद्धि के प्रभाव से उन्होंने 'अमर स्थिति' प्राप्त की थी और आज भी वे कभी किसी भाग्यशाली

को दर्शन दे आते हैं । अनेक विद्वानों का मत है कि गोरखनाथ ने भारतीय संस्कृति के संरक्षण में बहुत अधिक सहयोग दिया है और शंकराचार्य और तुलसीदास के मध्यकाल में इतना प्रभावशाली और महिमान्वित व्यक्ति भारतवर्ष में कोई नहीं हुआ था । उनके विषय में 'गोरक्षविजय' ग्रन्थ में लिखा है—

ए बलिया जतिनाथ आसन करिल ।
लंग महालंग दुई संहति लइल ॥
आसन करिया नाथ शून्ये कैल भरा ।
साचन उड़भे जेन गगन ऊपर ॥
आड़े-आड़े चाहे नाथ शून्य भर करि ॥

"गोरखनाथ योगासन लगाकर आकाश मार्ग में पहुँच गए और बाज की तरह उड़ते हुए एक देश से दूसरे देश को जाने लगे ।"

बंगाल के राजा गोपीचन्द की माता मयनावती गोरखनाथ की शिष्या थी और योग साधना तथा तपस्या द्वारा महान् ज्ञान की अधिकारिणी बन गई थी । उसने अपनी विद्या के बल से देखा कि उसके पुत्र के भाग्य में थोड़ी ही अवस्था लिखी है और वह बीस वर्ष की अवस्था में मर जायेगा । इससे बचने का एकमात्र उपाय है कि वह किसी महान् योगी से दीक्षा लेकर योग साधना करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करे । इसलिये उसने जालंधरनाथ से गोपीचन्द को योग-मार्ग की शिक्षा दिलाकर उसे उच्च कोटि का योगी बनाया ।

गोरखनाथ योग-विद्या के आचार्य थे । वर्तमान समय में जो हठ योग विशेष रूप से प्रचलित है उसका उन्होंने अपने अनुयायियों में बहुत प्रचार किया और उनके लिए गुप्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का मार्ग खोल दिया । इस सम्बन्ध में उन्होंने 'गोरख-संहिता,' 'गोरख विजय,' 'अमरौध शासन,' 'काया बोध' आदि बहुत-से ग्रंथ रचे थे जिनमें से कुछ अब भी प्राप्त हैं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अगर तुम शरीर और मन पर अधिकार प्राप्त करना चाहते हो तो इसका एकमात्र यही मार्ग है । यदि मनुष्य सोचे कि वह धन-सम्पत्ति द्वारा समस्त अभिलाषाओं को पूरा कर लेगा अथवा जड़ी-बूटी से रसायनों की सहायता से शरीर को सुरक्षित रख सकेगा तो यह उसका भ्रम है—

सोने रूपे सीझै काल । तौ कत राजा छाड़े राज ॥
जड़ी-बूटी भूले मत कोई । पहली रांड वैद की होई ॥

अमर होने का उपाय तो योग का पंथ ही है जिसमें अमृत प्राप्त करने का मार्ग बतलाया गया है—

गगन मंडल में औंधा कुंवा, तहाँ अमृत का वासा ।
सगुरा होइ सु भर-भर पीया, निगुरा जाय पियासा ॥

शून्य गगन अथवा मनुष्य के ब्रह्म रंध्र में औंधे मुंह का अमृत कूप है, जिसमें से बराबर अमृत निकलता रहता है । जो व्यक्ति सतगुरु के उपदेश से इस अमृत का उपयोग करना जान लेता है वह अजरामर हो जाता है और जो बिना गुरु से विधि सीखे केवल मन के लड्डू खाया करता है, उसका अमृत सूर्य तत्त्व द्वारा सोख लिया जाता है और वह साधारण मनुष्य की तरह आधि-व्याधि का ही शिकार बना रहता है । योग द्वारा इस अमृत को प्राप्त करने का सर्वप्रथम उपाय ब्रह्मचर्य-साधन या वीर्यरक्षा (बिन्दु की साधना) है—

व्यंदहि जोग, व्यंद ही भोग ।
व्यंदहि हरै जे चौंसठि रोग ॥
या व्यंद का कोई जाणे भेव ।
सो आपै करता आपै देव ॥

बिन्दु (वीर्य) का रहस्य समझकर उसकी पूर्ण रूप से रक्षा करने पर मनुष्य सर्व-शक्तिशाली और देवस्वरूप बन जाता है । इस प्रकार का साधन कर लेने से मनुष्य स्वयं शक्ति और शिव स्वरूप हो जाता है और उसे तीनों लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है—

यहु मन सकती यहु मन सीव ।
यहु मन पंच तत्त्व का जीव ॥
यहु मन लै जो उन्मन रहै ।
तौ तीनों लोक की बातैं कहै ॥

गोरखनाथ का मत समन्वयवादी है । वे स्वयं बाल-योगी थे और यह भी कहते थे जो वास्तव में योग में सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, उसे युवावस्था में ही कामदेव को वश में करना चाहिये । पर वह अन्य कितने साधना-मार्गों की तरह शरीर को अनावश्यक कष्ट देने, दिखावटी तपस्या करने के पक्ष में नहीं थे । उनका कहना था—

देव-कला ते संजम रहिबा । भूत- कला आहारं ॥
मन पवन ले उनमन धरिया । ते जोगी ततसारं ॥

"साधक को देव-कला (आध्यात्मिक मार्ग) पर चलकर आत्म शक्ति प्राप्त करनी चाहिये और भूत-कला (पार्थिव-विधि) से आहार की व्यवस्था करनी चाहिये । ऐसा करने पर ही वह योगाभ्यास में सफलता प्राप्त कर सकेगा ।" इस प्रकार साधना मार्ग में अग्रसर होते रहने पर अंत में साधक 'निष्पत्ति' अवस्था में पहुँच जाता है, जिससे उसकी समदृष्टि हो जाती है, राग-द्वेष का अन्त हो जाता है, सांसारिक माया-मोह सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और वह काल के भय से भी छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है ।

उनका कहना है कि "सतगुरु कहते हैं कि गोरखनाथ जब माया रूपिणी नारी के सम्पर्क में आया तब वह जीवित थी, पर उसने माया को वशीभूत करके उसे मृत (नष्ट) कर दिया ॥ १ ॥ पहले तो माया रूपी भैंस संसारी सुख रूप दूध देती थी, जिससे उसका मान होता था । पर जब साधना द्वारा उसका आवरण अलग कर दिया तो उल्टी स्थिति हो गई । तब भैंस को बाँध रखने वाला खोला (खूँटा) तो अपार्थिव आनन्द रूपी दूध देने लगा और माया रूपी भैंस ज्ञान की दासी बनकर उस दूध को खिलाने लगी जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रूपी मक्खन प्राप्त हुआ । माया सास है और मानवीय इच्छा बहू है । यह इच्छा माया का पालन करती है (अर्थात उसे पालने में झुलाती है) ॥ २ ॥ मनुष्य के काया रूपी खेत में साधन रूपी खेती की जाती

है और परिपक्व हो जाती है तब वह अहंकार को खा जाती है (नष्ट कर देती है)। इसी प्रकार काम-क्रोध रूपी पारिधी (शिकारी) पहले मन का शिकार करता रहता है अर्थात उससे इच्छानुसार अनुचित कार्य कराता है। पर जब मन जाग्रत हो जाता है, साधना में सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह उलटा इस शिकारी को ही बाँध लेता है।। ३ ।। पहले कुंडलिनी शक्ति रूप हाँडी नीचे (नाभिकमल) में सुप्त अवस्था में पड़ी थी, पर जब वह जाग्रत होकर चैतन्य हो गई तो ऊपर चढ़ती गई। पहले मन रूपी मछली को माया रूपी बगुला खाता रहता था, जब मन अपने स्वरूप को समझ कर सावधान हो गया तो वह उलटा माया को ही निगलने लग गया ।। ४ ।। आरम्भ में मिथ्या जगत रूपी आकाश क्षणिक आनंद की वर्षा करता था, पर जब (परब्रह्म का) ज्ञान हृदय रूपी धरती पर जागृत हुआ तो भूमि तो वर्षा करने लगी और आत्मा स्पर्श करने लगा, इस प्रकार वह जल ऊपर की तरफ चढ़ने लगा। इसका आशय यह कि पहले माया का प्रभाव अधोगामी था, पर कुंडलिनी शक्ति के जागृत होने से साधना ऊर्ध्वगामी होने लग गई।। ५ ।। मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ कहता है कि "अब मैं ममता माया-मोह को त्याग कर अवधूत हो गया हूँ।। ६ ।।"

इस प्रकार गोरखनाथ जी ने एक 'अगम-अगोचर' परमात्मा की अनुभूति का मार्ग दिखलाकर लोगों में फैले अनेक भ्रांत मतों का निराकरण किया और साधना की एक ऐसी स्पष्ट विधि बतलाई जिससे साधारण-जन भी आत्मोन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं।

प्रेम धर्म के उपदेष्टा—
महात्मा चरणदास

भारतीय इतिहास के मध्यकाल को आपदाओं का युग कहा जाता है। उस समय यहाँ की बहुसंख्यक जनता शासक वर्ग के अत्याचारों से बुरी तरह पीड़ित हो रही थी। शासक वर्ग भी अपने अधिकार मद में मानवता को भुलाकर जनता का आर्थिक ही नहीं नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक शोषण में प्रमत्त होकर लगा हुआ था। ऐसे समय यहाँ की निवासी जाति तथा विदेशी आक्रमणकारी जातियों में अपने व्यक्तित्व, प्रभाव और वर्चस्व के बल पर सेतु का काम किया महात्मा चरणदास ने। अनाचार, अनीति और अराजकता के युग में वे शासक और प्रजा दोनों के नैतिक उत्थान में प्राणपण से जुट गये।

१८वीं शताब्दी के आरम्भिक समय में जब हिन्दू मन्दिर और देवालय औरंगजेब के इशारों पर ध्वस्त हो रहे थे। कहीं कोई रक्षक बनकर सामने नहीं आ रहा था। उसी जमाने में अलवर के एक गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में महात्मा चरणदास का जन्म हुआ। बचपन से ही उन्हें हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के शिकार लोगों के सम्पर्क में रहने का मौका मिला। उस समय औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था। आगे चलकर चरणदास ने अनुभव किया कि जब तक हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य को समाप्त नहीं किया जाता लोग सुख-शांति का जीवन नहीं जी सकेंगे। इसी केन्द्र के परिधिगत चिन्तन में उन्होंने इस समस्या का निदान ढूंढ़ा और पाया कि इन दोनों जातियों में प्रेम और सद्भाव की स्थापना करना ही एक-मात्र समाधान हो सकता है।

औरंगजेब के बाद चरणदास जी ने युवावस्था में प्रवेश किया तो नादिरशाह और मुहम्मदशाह जैसे बादशाहों ने भी उसी परम्परा को जारी रखा और उधर चरणदास जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करने लगे। उस समय मुसलमानों में भी शासन की नीति के अनौचित्य को स्वीकार करने वाले कई विचारशील लोग थे। महात्मा चरणदास जी ने ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और दोनों जातियों में एकता-अभिवर्द्धन के लिए कार्यक्रम बनाये।

कुछ दिनों बाद कई मुस्लिम-हिन्दुओं के त्यौहार और उत्सवों में सम्मिलित होने लगे तथा बहुत-से हिन्दू भी मुस्लिम पर्वों में उसी प्रकार भाग लेने लगे। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य का अन्त करने तथा आत्मीयता एकता की भावना बढ़ाने के लिए यह एक व्यावहारिक सफल प्रयोग था। देखा-देखी तो बाद में यह एक परम्परा ही बन गयी और हिन्दू-मुसलमान एक साथ बड़े प्रेम से रहने लगे। इन गतिविधियों के समाचार नादिरशाह को लगा तो वह बड़ा आग-बबूला हुआ। महात्मा चरणदास जी को अपने दरबार में बुलाया और पूछा— "आप यह सब किस उद्देश्य से कर रहे हैं। आप नहीं जानते इस प्रकार इस्लाम को फैलाने में आप कितनी रुकावट पैदा कर रहे है। यह कभी माफ नहीं किया जा सकता।"

चरणदास जी ने बादशाह को शांत और निर्भय शब्दों में स्पष्ट उत्तर दिया— "नादिरशाह तुम ख्वाबे गफलत में रहकर इस्लाम के असली अर्थ को भूल रहे हो। कोई भी मजहब इन्सान में ऊँच-नीच का भेद नहीं करता। सभी धर्म एक ईश्वर तक ही पहुँचाने वाले अलग-अलग मार्ग हैं। महात्मा जी ने और कई तर्क, उदाहरण देकर प्रेमधर्म का आधार प्रतिपादित किया। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और ओजस्वी वाणी से बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ। इसी प्रकार की घटनायें अन्य कई राज-दरबारों में भी घटीं। मुहम्मद शाह ने भी आरम्भ में तो उनका विरोध किया परन्तु बाद में उनके प्रशंसक बन गये।"

मुस्लिम शासकों द्वारा चरणदास जी की प्रशंसा किये जाने पर हिन्दू राजाओं को शक हुआ। उस समय कुछ हिन्दू राज्य अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए शक्ति भर प्रयत्न कर रहे थे। जयपुर नरेश सवाई ईश्वरसिंह तथा प्रतापसिंह जैसे राजपूत राजाओं को मुगल बादशाहों द्वारा महात्मा जी की शिष्यता स्वीकार करने की घटना में किसी षड्यन्त्र की गन्ध आयी। उन्हें लगा कि चरणदास जी मुगलों से मिल गये हैं। अपनी इस आशंका को परखने के लिए वे महात्मा जी के पास गये। परन्तु उन्हें भी चरणदास जी के विचारों और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्मुख नत-मस्तक हो जाना पड़ा। जो राजपूत मुसलमानों के कट्टर दुश्मन थे वे ही उन लोगों को गले से लगाने के लिए तैयार हो गये।

चरणदास जी की इस सफलता ने उन्हें भारत भर में विख्यात बना दिया। समस्त उत्तरी भारत की आध्यात्मिक चेतना उनके इर्दगिर्द

घूमने लगी। मूर्ति भन्जक औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता स्वयं को असहाय और निर्बल अनुभव कर रही थी। ऐसे समय में उन्होंने शक्तिपुन्ज निर्बलों के बल और प्रेरणा स्रोत ईश्वर पर विश्वास रखकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। ईश्वर हमारी सहायता करेगा। इस विश्वास ने चरणदास जी के अनुयायी हिन्दुओं में आत्मविश्वास को जायगा।

धीरे-धीरे उनके आस्तिकता, आत्मविश्वास, ईश्वर भक्ति और कर्मनिष्ठा के विचार फैलने लगे। कविता के माध्यम से उन्होंने अपने सिद्धान्तों को पद्यबद्ध किया और उनके शिष्यों ने कण्ठस्थ कर गा-गाकर सुदूर प्रान्तों तथा देश में विशुद्ध अध्यात्मवादी जीवन दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार के प्रचार द्वारा उनकी विचारधारा उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत से लेकर अफगानिस्तान तक फैल गयी।

इन विचारों की सार्वजनीन ख्याति का एकमात्र कारण है तत्कालीन कठिन परिस्थितियों का समाधानकारक प्रतिपादन। हिन्दू जाति को शक्ति स्रोत परमेश्वर का उपदेश देने के साथ-साथ उन्होंने मानव मात्र को उसी एक परमात्मा का पुत्र भी निरूपित किया। निस्सन्देह इसका एकमात्र उद्देश्य तत्कालीन भेदभावपरक समाज व्यवस्था को संशोधित करना था।

उस समय हिन्दू जाति में व्याप्त निराशा में एक अस्पृश्यता और छुआछूत की मान्यता भी थी। चरणदास जी ने इनका निराकरण करते हुए मानव मात्र को भगवान् की प्रिय सन्तान घोषित किया और उन्हें भजन का अधिकार दिया। उनके पदों और छन्दों में सर्वत्र समानता का स्वर मुखरित हुआ है। एक बार किसी गाँव में अछूतों द्वारा भजन गवाने पर चरणदास जी को ठाकुरों तथा उच्च जाति के लोगों का विरोध भी सहना पड़ा था। कुछ लोग तो मारने पर भी उतारू हो गये थे। ऐसे समय में महात्मा जी ने अपनी मोहक वाणी तथा प्रभावपूर्ण वक्तृत्व शैली द्वारा स्थिति पर काबू पाया। इस प्रकार की सफलताओं के कारण लोग उन्हें सिद्ध योगी कहने लगे। कई निष्ठावान शिष्यों तथा गृहस्थ अनुयायियों ने इस सिद्धि का राज भी पूछा तो चरणदास जी ने बिना किसी दुराव-छिपाव के बता दिया— "प्रेम ही सबसे बड़ी सिद्धि है। आत्मीयता और सद्व्यवहार से किसी भी मनुष्य का हृदय जीता जा सकता है।"

एक बार सिद्ध योगी के रूप में जानकर कोई स्त्री उससे वशीकरण का उपाय पूछने आयी तो चरणदास जी ने एक कागज पर मन्त्र लिखते हुए उसे घर में रखने के लिए कहा और उसका साधना विधान बताया— 'घर के जिस सदस्य को वशीभूत करना हो उसकी खूब सेवा किया करो।'

कुछ समय बाद ही उस स्त्री के पारिवारिक जीवन में आवश्यक सुधार हुआ। वह अपने पति के साथ महात्मा जी के पास कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए आयी। चरणदास जी ने कहा— 'यह मन्त्र का नहीं तुम्हारी साधना का प्रभाव है और तावीज में लिपटा हुआ कागज का पुरजा खोलकर बताया जिसमें लिखा था— 'प्रेम ही प्रभु है और सेवा ही भक्ति।'

प्रेम के उपदेष्टा इस महान् सन्त का एक ही जीवन सूत्र था जिसके माध्यम से द्वेष, क्लेश, अशांति और फूट की असह्य वेदनामूलक समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है और वह है निष्काम सेवा तथा आत्मीय भावना। योग और सिद्धि के इस सरल किन्तु श्रमसाध्य होने के कारण दूभर भी विधि-विधान का दिग्दर्शन करने वाले सन्त के रूप में महात्मा चरणदास जी सदैव याद किये जाते रहेंगे। राजा महाराजाओं की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से लेकर दीन-दरिद्र की झोंपड़ी तक उनका समान रूप से आदर होता था। यही नहीं आज भी वे अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में उसी सम्मान के साथ याद किये जाते हैं।

समाज व संस्कृति के सेवक—शंकर देव

घटना अब से लगभग ४०० वर्ष पुरानी है। तब भारत में जाति-पाँति और ऊँच-नीच का बड़ा प्रचलन था। समझा जाता है कि उस समय मन्दिरों के परकोटे से पड़ने वाली जमीन पर छाया तक में शूद्रों को पाँव नहीं रखने दिया जाता था। उस समय अलिपुखुरी नामक एक गाँव में बहुत बड़े जागीरदार थे। लोग उन्हें जागीरदार शिरोमणि कहा करते थे और अपनी कष्ट-कठिनाइयों का हल तथा समस्याओं का समाधान खोजने के लिए उनके पास आया करते थे।

उस क्षेत्र में जागीरदारों और ब्राह्मणों को ऊँची जाति का तथा शेष सब को नीची जाति का समझा जाता है। अब से पचास वर्ष पहले भी शहरों-कस्बों तक में यह स्थिति थी कि तथाकथित उच्च कुल के लोग गरीबों और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को अपने सामने जूते पहन कर निकलते नहीं देखना चाहते थे। कैसी भी धूप हो और कितनी ही धरती तप रही हो तो क्या उनके लिए नंगे पैरों निकलना अनिवार्य था। कई गाँवों में तो अभी तक यह प्रथा रही है। पचास वर्ष पहले की यह स्थिति है तो सहजता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चार सौ वर्ष पूर्व तो इससे भी अधिक भयावह स्थिति रही होगी।

एक वर्ष की बात है उस इलाके में पर्याप्त बारिश नहीं हुई। सर्दी में होने वाली फसलें सूखने लगीं तो ब्राह्मणों और उच्चवर्ग के लोगों ने मिलकर जागीरदार से कहा कि— पास ही एक नाला (बाँध) बना लिया जाय ताकि गर्मियों में पानी की परेशानी न हो।

सहृदय जागीरदार ने प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और मुहूर्त निकलवा कर सारी तैयारियाँ की जाने लगीं। निश्चित किया गया कि पहला पत्थर जागीरदार की उपस्थिति में रखा जाय और अब मुहूर्त पर पूजन वगैरा हो गया तो लोग सोचने लगे कि अब जागीरदार साहब पत्थर रखकर बाँध की आधारशिला रखेंगे। सारे गाँव के व आस-पास के सारे गाँवों के लोग वहाँ जमा हुए थे और जागीरदार को पितृ तुल्य श्रद्धा की दृष्टि से देख रहे थे।

जागीरदार ने अपने आसपास खड़े प्रतिष्ठितजनों से पूछा— 'पहला पत्थर कौन रखेगा।'

'हुजूर जिसे आज्ञा दें।'

जागीरदार की दृष्टि सब ओर दौड़ गई और जाकर दूर खड़े मल्लाहों के समूह पर जा टिकी। उसमें से उन्होंने एक महिला को पुकारा— 'उस झुण्ड में से कोई भी बहिन आगे आ जाय।'

सार्थका नाम की एक केवट युवती आगे आई और जागीरदार ने कहा— 'यह बहिन पहला पत्थर रखेगी ।'

सब लोग देखते से रह गये । किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर ही नहीं वरन् हर समय पददलित लोगों का पारिवारिक आत्मीयता के भाव से ध्यान रखने वाले इस जागीरदार का नाम था शंकरदेव जो आगे चलकर एक सच्चे भगवत्भक्त के रूप से प्रसिद्ध हुए । शंकरदेव का जन्म आलिपुखुरी के जागीरदार परिवार में सन् १४४९ ई. में विजयादशमी के दिन हुआ । उनके पिता का नाम कुसुंबर और माता का नाम सत्यसंधा देवी था । लेकिन शंकरदेव के जन्म के कुछ समय बाद ही थोड़े बहुत अन्तर से माता-पिता दोनों चल बसे । पितामह ने—जिन्होंने अपनी जागीरदारी अपने पुत्र पर छोड़ दी थी और भगवत्भजन में लगे रहते थे पुनः लौकिक जीवन में प्रवेश किया और पोते के पालन-पोषण के साथ-साथ जागीरदारी का कामकाज भी सम्हालने लगे । उनको मातृवत प्रेम दिया दादी खेरसुती ने ।

माता-पिता के अभाव में बच्चा अपने आपको अकेला अनुभव न करे दादा-दादी इस बात का बड़ा ध्यान रखते थे । इसी कारण वे बचपन में पढ़ने-लिखने की ओर ध्यान नहीं दे पाये । लगभग बारह वर्ष तक वे अपने संगी-साथियों के बीच खेलते कूदते रहे । बाल-संगियों को साथ लेकर वे जंगल में निकल जाया करते । साथ में तीर-कमान भी होता कभी चिड़ियाएँ पकड़ते, कभी तीर कमान से शिकार करते और कभी ब्रह्मपुत्र में इस किनारे पर उतर कर तैरते हुए उस पार पहुँच जाते ।

१२ वर्ष की आयु तक उन्होंने पढ़ाई-लिखाई में कोई ध्यान नहीं दिया । खेलकूद और बालसंगियों के सहवास में इतने अधिक व्यस्त कि उन्हें खाने-पीने तक की फुर्सत नहीं रहती थी । अपने पोते को खेल में इस प्रकार मशगूल रहते देखकर आरम्भ से दादा-दादी पहले तो बहुत खुश हुए । उन्होंने सोचा कि इस प्रकार शंकरदेव अपने माता-पिता के अभाव को भूल रहा है । पर अधिक दिन तक वे पोते की इन गतिविधियों को सह नहीं सके ।

एक दिन दादी को इस कदर चिन्ता सवार हुई कि वे व्यथित हो उठीं । उन्होंने शंकर को अपनी गोदी में बिठाया । कुछ कहने ही जा रही थीं कि आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे और वे बोलीं— बता बेटे तू पढ़ता क्यों नहीं ?

न जाने आत्मीयता और व्यथा से भरे इस प्रश्न ने शंकर के अन्तरंग के किस तार को छू लिया । वे बोले रो मत दादी । अब मैं सारे शास्त्र पढ़ लूँगा ।

हृदय के जिस कोने ने यह प्रश्न पूछा उत्तर भी ठीक वहीं जाकर सुनाई पड़ा और खेरसुती ने अपने पति से शंकर को चारसाल (पाठशाला) में भर्ती करा देने के लिए कहा । दादा उन्हें महेन्द्र कन्दली की पाठशाला में भर्ती करा आये ।

इसके बाद तो शंकर जैसे सभी खेलकूद और संगी-साथियों के साथ घूमना-फिरना भूल गये और तन्मयतापूर्वक विद्याभ्यास में जुट गये । कुछ ही वर्षों में शंकरदेव व्याकरण, काव्यशास्त्र और धर्मशास्त्रों में गहरा प्रवेश करने लगे ।

गुरु महेन्द्र कन्दली अपने समय के जाने पहचाने विद्वान् तो थे ही । अध्यात्म और योग साधना में भी वे अधिकार रखते थे । शंकर में आत्मिक विकास की सम्भावनाओं को देखकर उन्होंने अपने इस प्रिय शिष्य को योग सिखाना तथा भागवत् पढ़ाना आरम्भ कर दिया । भागवत् में शंकर को इतना रस मिला कि अब सोते-जागते उन्हें इसी भागवत्‌रस की प्यास रहने लगी । हर घड़ी वे भागवत् का रसास्वादन करते ही दिखाई देते । अब स्वयं तो भागवत् का स्वाध्याय करते ही दूसरों को भी भागवत् पढ़ कर सुनाते तथा उसके तथ्यों को समझाया करते ।

अब घर-परिवार के लोगों को नई चिन्ता सवार हुई । शंकर कहीं भक्तिरस में डूबकर हमारे हाथ से ही न खो जाय । एक दिन चिढ़ कर परिवार के किसी वृद्ध सदस्य ने उनसे कहा— शंकर बेटा ! अब हम से तो कुछ होना जाना है नहीं । हम सबके लिए बैकुण्ठ तू ही बना दे ।

बड़ी सहजता से शंकर ने इस कटाक्ष को लिया । महेन्द्र कन्दली की पाठशाला में उन्होंने कुछ चित्रकारी तो सीखी थी ही । अतः तूलिका उठाई और पर्दे तानकर बैकुण्ठ का चित्र बनाने लगे । ईंगुर, हरताल आदि रंगों से उन्होंने सात पर्दों पर सात स्वर्ग के दृश्य खींचे और जहाँ तहाँ झीलें तथा फुलवारियाँ भी बनायीं । शंकर की इस कलात्मक प्रतिभा को देखकर सभी लोग दंग रह गये । कहा जाता है कि अलिखुपुरी का शायद ही कोई नागरिक उस समय रहा हो जिसने इन चित्रों को देखकर वाह न कहा हो ।

चित्रकारिता के बाद व्यक्त हुई शंकर की काव्य प्रतिभा । गाँव की भाषा में ही उन्होंने 'चिह्न यात्रा' नामक एक नाटक लिखा । कुछ अभिनेताओं को तैयार किया और गाँव की चौपाल पर यह नाटक खेला जाने लगा । भक्तिभाव से भरे इस नाटक को देखकर सभी ग्रामवासी भावविभूत हो गये । इन्हीं दिनों उन्होंने एक खण्ड काव्य भी लिखा ।

शंकरदेव जैसे-जैसे बड़े होते गये— समाज को समझने लगे । वे अनुभव करने लगे कि समाज में आदमी और आदमी के बीच विषमता तथा ऊँच-नीच की दीवारें खींची हुई हैं । ऊँचे लोगों का झूठा अहं सता रहा है तो नीचे लोगों को विवशता की हीनता । इन विषमताओं को और विडम्बनाओं को देखकर शंकरदेव का युवा हृदय बड़ा पसीज उठता ।

उस समय आसाम में योगमार्ग का बड़ा जोर था । शंकर ने भक्तिमार्ग का अवलम्बन लेकर लोगों को नयी दिशा देने का संकल्प लिया । भक्तिमार्ग के द्वारा वे लोगों में यह विश्वास उत्पन्न करने लगे कि दुनिया में सभी धर्म बराबर हैं, सभी लोग बराबर हैं और सभी जातियाँ बराबर हैं क्योंकि सभी भगवान् के हैं ।

इन भावनाओं से भरे कीर्तन उन्होंने विपुल संख्या में लिखे और आसाम में स्थान-स्थान पर नामघरों (कीर्तन-मन्दिरों) की स्थापना का निश्चय किया । २१ वर्ष की आयु में ही वे इतना ऊँचा और आदर्श स्वप्न देखने लगे थे । घर वालों ने जब यह देखा कि वे रात-दिन धर्मकर्म में ही व्यस्त रहते हैं तो उनका विवाह सूर्यवती से कर दिया । भक्तिमार्ग की प्रवृत्तिधारा के उपासक होने के नाते उन्हें घर-परिवार

भी अपने लक्ष्य में सहायक ही लगा और बिना किसी ना नुकर के विवाह कर लिया ।

इसके साथ ही उन्हें जागीरदारी की देखभाल का दायित्व भी सौंप दिया गया । शंकरदेव ने यह दायित्व भी कुशलतापूर्वक सम्हाला । पर अपनी गतिविधियों का आधारभूत सिद्धान्त वही रखा जिसके कि वह प्रचारक थे । यानि कि ऊँच-नीच के भेदभाव से रहित समतापूर्ण व्यवहार ।

सन् १४७८ ई. में उनकी पत्नी ने एक कन्या रत्न को जन्म दिया और खुद उसे नौ महीने का छोड़कर चल बसीं । जीते जी शंकरदेव बाहरी दायित्वों के साथ-साथ अपनी पत्नी का भी बराबर ध्यान रखते थे । सूर्यवती देवी ने कभी यह महसूस नहीं किया कि वह एक विरागी की पत्नी है । पर जब पत्नी का देहान्त हो गया तो इस घटना को उन्होंने प्रभु की इच्छा मानकर निर्विकार भाव से स्वीकार किया ।

नौ वर्ष तक पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सन् १४८७ में वे तीर्थयात्रा पर निकल पड़े ताकि अपनी विचारधारा का प्रचार कर सकें और टूटे दिलों को जोड़ सकें । बारह वर्ष तक उन्होंने देश के कई क्षेत्रों का भ्रमण किया और पूर्व निर्धारित लक्ष्य— नामघरों की स्थापना— की पूर्ति के लिए अनथक प्रयत्न करते रहे । इन नामघरों की विशेषता यह थी की इनमें सभी वर्ग और जातियों के लोग साथ-साथ भगवद्भजन करते । पुराणखण्डी पण्डितों को छोड़ कर उनकी मोहक वाणी ने सभी को प्रभावित किया और सभी स्थानों पर उन्हें सहयोग मिलने लगा ।

यात्रा में ही उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे 'कीर्तन घोषा', 'भक्ति प्रदीप,' 'रुक्मणी हरण,' 'काव्य बड़गी,' 'गुणमाला' आदि कई कृतियाँ उन्होंने लिखीं जिसमे कीर्तन शैली में अपने विचार और भक्त हृदय को खोल कर रख दिया है ।

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद सत्तानवे वर्ष की आयु में भी आसाम में कीर्तनों की धूम मचा दी । उनके विरोधी भी प्रबल हुए और विरोधियों के प्रभाव में आकर कोचराज ने उन्हें गिरफ्तार कर दण्डित करने की सोची । पर शंकरदेव को सामने पाकर उनकी प्रतिभा से परिचित होते ही कोच राजा उनका शिष्य हो गया । सन् १५६८ ई. में उनका देहान्त हुआ पर उन्होंने अपने भक्त हृदय से समाज, साहित्य और संस्कृति की जो सेवा की उसने उन्हें अमर बना दिया ।

धर्म व राष्ट्र के महान् सेवक— साधू वास्वानी

लाहौर कॉलेज के प्राचार्य अपनी माता का अन्तिम संस्कार करके आए तो उनके मन में बड़ी उथल-पुथल मचने लगी । उन्हें माँ की वह बात याद आ गई । जब ये एम. ए. कर चुके थे तब कहीं थी— ''बेटा अब तू इतना पढ़ गया है जितना मैं चाहती थी । अब चाहे जो कर बस एक बात याद रखना कि इसका समुचित सदुपयोग हो ।''

टी. एल. वास्वानी को इस पद को पाने के लिये बड़ी मेहनत करनी पड़ी थी । बचपन में पिता चल बसे । घर की स्थिति ठीक थी नहीं कि वे पढ़ सकते । इनकी माता इन्हें पढ़ाना चाहती थीं । कम से कम एम. ए. कराना चाहती थीं ।

इन्होंने सीमित साधनों, विपरीत परिस्थितियों की चिन्ता नहीं की और अपने उद्देश्य में डटे रहे । जिनके पास साधन-सुविधाएँ थीं, सदा उनसे आगे रहे । इस प्रकार उन्होंने एम. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया ।

इस प्रकार की तप साधना से अर्जित ज्ञान का उपयोग केवल स्वयं के हित में किया जाय इतना हीन दृष्टिकोण इनका न था । वे तो इसका कण-कण सदुपयोग में लाना चाहते थे । शारीरिक आवश्यकताएँ तो इतनी न्यून होती हैं कि वे सहज पूरी हो जाती हैं फिर सम्पदा का मोह इस प्रकार के ज्ञानी को क्यों होता ?

माता की सेवा तथा सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने प्राचार्य पद स्वीकार कर लिया था । अपने वेतन का अधिकांश वे साधनहीन विद्यार्थियों को बाँट देते थे । अब उन्हें इस पद पर रहने की आवश्यकता न रही । मातृ-ऋण चुका दिया । अब वे समाज व देश के लिये ही जीना चाहते थे ।

उन्होंने प्राचार्य पद से त्याग-पत्र दे दिया । मित्रों, परिचितों को यह अजीब लगा । इतने सम्मानित पद को छोड़ना कौन-सी विवेक-शीलता है ? यह उनके समझ में नहीं आया । पूछने पर जब उन्हें उनके महान् उद्देश्य का परिचय मिला तो वे इनकी महानता के सामने नतमस्तक हो गए । उसी समय प्राचार्य वास्वानी साधु वास्वानी कहलाने लगे ।

ये भारतीय प्रतिनिधि के रूप में उन्हीं दिनों बर्लिन में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में सम्मिलित हुए । अंग्रेजी पर इनका बड़ा अच्छा अधिकार था । वहाँ भारतीय धर्म व संस्कृति पर इन्होंने अंग्रेजी में जो भाषण दिया तो लोग इनकी प्रतिभा व भारतीय संस्कृति के उदात्त रूप से बहुत प्रभावित हुए । भारत के लिये उन देशों के लोगों में सम्मान की भावना पैदा हुई । जिससे स्वतन्त्रता संग्राम में बहुत सहायता मिली ।

वे सच्चे अर्थों में साधू थे धर्म व्यवसायी साधु बाबा नहीं । भारत आकर वे भारत माता को अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे । सिंध क्षेत्र जो इस लपट से अछूता था वहाँ इन्होंने देश प्रेम की अग्नि प्रज्ज्वलित की । पुस्तकों, लेखों व परिपत्रों के माध्यम से सोये भारतीयों को जगाने का सराहनीय प्रयास किया । साधु वास्वानी के इस कृत्य से अंग्रेज सरकार बड़ी कुपित हुई । इन्हें बन्दी बना लिया गया । उन्होंने उस समय कहा था— ''मेरे कार्यों में कुछ सार है तभी सरकार ने जेल दी है ।''

साधु वास्वानी का शरीर भले ही बन्दी था किन्तु उनका मन, मस्तिष्क और आत्मा तो मुक्त थे । इस समय में उन्होंने नव-जागरण के लिये भावी रूपरेखा बनाई । गहन चिन्तन और मनन किया । उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि धर्म और संस्कृति की एक व्यापक परम्परा इस देश में चली आ रही है । अंग्रेज इस धर्म और संस्कृति को ही अपनी शिक्षा के द्वारा मिटा देना चाहते हैं । अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में ऐसी शिक्षा संस्थाएँ चलाकर ही भारत को इस मानसिक पराभव से बचाया जा सकता है ।

कारावास से मुक्त होते ही उन्होंने अपनी योजना क्रियान्वित करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने देहरादून, मंसूरी मार्ग पर स्थित राजपुर ग्राम में एक आश्रम की स्थापना की, उसका नाम रखा शान्ति आश्रम। इस केन्द्र का कार्य ऐसे प्रशिक्षित लोकसेवियों की सेना तैयार करना था, जो समाज में नई चेतना उत्पन्न करने में सहायक हों। यहाँ भारतीय धर्म, संस्कृति की शिक्षा दी जाती थी तथा उसे सारे भारत में फैलाने को प्रवृत्तियाँ चलाई जाती थीं।

अब तक ये इतने विख्यात हो चुके थे कि इन्हें सर्वत्र आमन्त्रित करने के लिये जनता लालायित हो उठी। इन्होंने देखा कि सिन्ध इस जाग्रति में बहुत पीछे रह गया है। वे सिन्ध चले गये। वहाँ 'शान्ति आश्रम' तथा 'मीरा शिक्षण' की स्थापना इन्होंने की। इनके द्वारा लोक-शिक्षण चलने लगा। साथ ही साथ भजन मण्डलियों द्वारा उस क्षेत्र में धार्मिक चेतना फैलाने का प्रयास साधु वास्वानी ने किया।

देश को आजादी मिली साथ ही बँटवारा भी हुआ। साधु वास्वानी भी अन्य हिन्दुओं की तरह भारत आ गये। उन्होंने पूना में 'शांति आश्रम' तथा 'मीरा शिक्षण' की पुनः स्थापना की। अब इनका एक लक्ष्य राष्ट्र को स्वतन्त्रता दिलाने का तो समाप्त हो चुका था। अब केवल एक ही लक्ष्य रह गया था। उसी में उन्होंने अपना पूरा मनोयोग जुटा दिया। उन्होंने वहाँ आकर 'मीरा' नाम की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया।

पुनः अब देश-विदेश में धर्म प्रचार करने का केन्द्र बनाया गया। भारतीय जनता धर्म के आडम्बरों से इतनी भ्रमित हो चुकी थी कि उन्हें पुराणादि ग्रन्थों से अपने जीवन उत्थान की कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती थी। इसके लिए इन्होंने महापुरुषों के जीवन चरित्र लिखे जिससे कि जनमानस उनके जीवन में धारण किये आदर्शों को अपने जीवन में उतारकर स्वयं सुखी हो सके तथा समाज में सुख की वृद्धि कर सके। 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नामक एक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उन्होंने देश-विदेश के प्रबुद्ध वर्ग को भारतीय संस्कृति का अनुगामी बनाने के लिये अंग्रेजी तथा सिन्धी भाषा में लगभग १५० पुस्तकें लिखीं।

इनके सामने काम इतने अधिक और समय इतना कम था कि इन्होंने विवाह तक नहीं किया। ये अपनी सम्पूर्ण योग्यता, प्रतिभा तथा श्रम समाज तथा राष्ट्र के हित में ही नियोजित करना चाहते थे। शादी करते तो जाने कितने झंझट इनके मार्ग में आ खड़े होते। वे कहते थे "साधु का सारा जीवन समाज के लिये ही तो नियोजित होना चाहिये।"

इनकी अन्तिम इच्छा एक गीता मन्दिर स्थापित करने की थी इसके लिये इन्होंने जनता से कहा। एक विदेशी गीता भक्त महिला के सहयोग से इनकी यह इच्छा भी पूरी हो गई।

१६ जनवरी १९६५ को इस महान् देशभक्त तथा भारतीय संस्कृति के लिये सर्वस्व बलिदान करने वाले साधु का शरीरान्त हुआ। साधु केवल समाज पर भार बनकर जीने वाला नहीं कहला सकता। साधु की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है यह उन्होंने मुँह से कहकर नहीं जीवन जीकर बताया। काश ! इस चरित्र का आजकल के तथाकथित साधु अनुकरण करते।

मुक्तिदायिनी गुफा में स्थिर प्रवेश

साधु टी. एल. वास्वानी ने एक स्थान पर लिखा है— मैं स्वर्ग का राज्य पाना चाहता हूँ। पर इस दुनिया का निवास छोड़ना नहीं चाहता। क्या मुक्ति प्राप्ति में गुफा का निवास कुछ सहायक होगा ? ऐसी मुझे कुछ आशा नहीं है। क्योंकि सारा खेल मन का है। वह गुफा में बैठे-बैठे महल बना सकता है और यह भी हो सकता कि महलों में रहते हुए राजा जनक की तरह उसी में अपने लिए गुफा की संरचना कर ली जाय।

मैंने अपनी गुफा बना ली है और जहाँ चाहूँ वहाँ अपने साथ लिये-लिये फिरता हूँ। इसे मन के अतिरिक्त और कोई मुझसे कभी छीन नहीं सकता। अपने मन के अन्तराल की गहराई में बैठकर मैं जिस मुक्ति का सपना देखता हूँ वह जन-सेवा पर आधारित है। वह जन-सेवा आन्तरिक पवित्रता का वातावरण बन जाने के उपरान्त ही बन पड़ती है।

मन की गुफा में लालसाएं भरी पड़ी हैं, तो उस गन्दगी के रहते जो कुछ भी सोचा जायेगा, मात्र कल्पना-लोक होगा। ऐसा कल्पना लोक जिसका यथार्थता से कोई सीधा सम्बन्ध न होगा। यह ठीक है कि आरम्भ कल्पना से होता है पर उसके साथ-साथ वे होनी ऊंची स्तर की चाहिए। ऊंचे स्तर से तात्पर्य है— मनुष्य मात्र की सच्ची सेवा और उस सेवा की सम्भावना को सार्थक करने के लिए लक्ष्य और चरित्र की पवित्रता अभीष्ट है।

साध्य ऊंचा हो तो भी साधनों के भ्रष्ट होने पर वह नहीं पड़ता। मकड़ी का जाला भर बनकर रह जाता है। जिन सपनों में सच्चाई और सम्भावना है उन्हीं का कोई मूल्य है। जहाँ इन दोनों का अस्तित्व न हो वहाँ जो कुछ रचा जा रहा होगा, वह कल्पना का महल मात्र होगा। ऐसी मुक्ति के प्रति भी मुझे अरुचि है जो रंगीन सपने बना सामने खड़ी हो किन्तु यथार्थता के साथ उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो समझना चाहिए कि एक काल्पनिक मुक्ति अपनी टोकरी में जमा कर ली है।

लोकसेवा की कार्यपद्धति अपनाते ही मुझे अपने लक्ष्य की समीपता और यथार्थता दीखती है। अन्तरात्मा में तत्क्षण सन्तोष होता है कि अपने से कुछ भलाई बन पड़ी वह भलाई काल्पनिक तो नहीं थी, इसकी यह कसौटी रखी है कि चिन्तन और चरित्र में पवित्रता का संचार करती है या नहीं।

बड़ों ने कहा है कि मुक्ति के लिए गुफा का निवास आवश्यक है। उनके कथन को मैंने झुठलाया नहीं है। गुफा का शब्द और स्वरूप दोनों ही मुझे भले लगे हैं। किन्तु उस भलाई को, सेवा धर्म को अपनाने पर ही कसौटी पर खरा पाया है। जब तक मुक्ति की बात सोचता रहा और उसके लिए कल्पना की गुफा बनाता रहा तब तक समाधान हुआ नहीं और प्रतीत होता रहा कि कोई कल्पना लोक गढ़ लिया है और उसमें विचरण करते हुए मन के मोदक खाये जा रहे हैं।

अब मुझे विश्वास हो गया है कि सच्चाई के साथ अपनाई गई सेवा की रीति-नीति मुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। इसलिए भटकने की अपेक्षा इसी गुफा में प्रवेश करना और सदा सर्वथा के लिए उसी में रहना मुझे भला लगा है।

गुजरात के गौरव— रविशंकर महाराज

"खबरदार ! एक भी कदम आगे बढ़ा तो गोली छूटेगी ।"

चारों ओर छाया हुआ घना अंधकार । दोनों ओर खड़ी टेकड़ियों के बीच बहता छोटा-सा झरना । वातावरण को भयानक बनाने वाली रात, कीड़ों की आवाज और उस भयानकता को बढ़ाने वाली किसी महाकाय व्यक्ति की भयंकर आवाज सुनकर मुसाफिर रुक गया, चारों ओर से बन्दूकधारी डाकुओं ने उसे घेर लिया । उनको देखकर मुसाफिर का हास्य फूट रहा था— हा ऽ ऽ ऽ हा ऽ ऽ हा ऽ ऽ ।

"कौन हो तुम ?" बन्दूकों के पीछे से आवाज गरज उठी ।

"लुटेरा हूँ ।" शांति से उत्तर मिला ।

"यहाँ क्यों आये हो ?"

"आप सबसे मिलने आया हूँ ।"

"किस टोली के हो ?"

"गाँधी महात्मा की । तुम लोगों को लूटने की सही रीति सिखाने आया हूँ । उस महात्मा ने अंग्रेज सरकार के सामने बगावत आरम्भ की है । आप लोग भी चलिये हमारे साथ । उसमें शामिल होइये ।"

आत्मविश्वास के साथ ये शब्द कहने वाला मुसाफिर था, गुजरात का गौरव— रविशंकर महाराज ! इस नारद ने अनेक डाकुओं के दिल में घुसकर उनका जीवन-परिवर्तन किया है । हृदय-परिवर्तन की एकाएक घटना उनकी जीवन फुलवारी में खिले हुए सुन्दर, सुगन्धित फूल के समान है । जनसेवा का व्रत धारण किये हुये इस महातपस्वी को जनता ने अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा कर 'महाराज' की उपाधि दे दी ।

गुजरात के खेड़ा जिले में सरसवणी नामक गाँव में शिवराम मास्टर के घर सन् १८८४ में महाराज का जन्म हुआ । माता नाथीबा बचपन से ही बच्चे को रामायण, महाभारत की कथायें सुनाया करती । भोर होते ही काम में लगी रहती । हाथ में काम और ओठों पर भगवान् का नाम— यही मातृ-स्वरूप बालक देखता आया । ऐसी संस्कारी मातृ-छाया में महाराज के जीवन का निर्माण हुआ । बचपन में 'राणा प्रताप' नाटक का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा । वचन के लिये सर्वस्व त्याग करने का बल उनको उस नाटक से मिला ।

पिता की मृत्यु के पश्चात् घर-गृहस्थी की सारी जिम्मेदारी उन पर आई, जो उन्होंने बहुत कुशलता से निभाई । इतने में भारत में गाँधी जी की आँधी आई और परिणामस्वरूप महाराज के जीवन को बन्दी करने वाली दीवारें गिर गईं ।

एक दिन महाराज ने अपनी पत्नी सूरज बा से कहा— "आज से हमारे बच्चे सरकारी स्कूल में पढ़ने के लिये नहीं जायेंगे ।" कुछ दिन बाद आदेश हुआ— "तुम्हारी सूती रेशमी सब साड़ियाँ निकालो ।" 'क्यों ?' सूरज बा ने पूछा । "बापू की आज्ञा है मिल के कपड़े जला दो ।" महाराज ने कहा ।

"तो क्या आप सब कपड़े जला देंगे ?" पत्नी बोली ।

'तुमको क्या चाहिये— कपड़ा, पैसा या मैं ?'

महाराज ने शांतिपूर्वक पूछा । पत्नी ने तुरन्त उस होली में अपना पूरा योगदान दे दिया । वे समझ गईं कि यह तो अनोखी राह का यात्री है । तब उन्होंने विरोध करने की अपेक्षा सहयोग का रास्ता अपनाया और पति के लोकमंगल कार्यों में पूरा-पूरा योगदान देने लगीं ।

महाराज कर्मयोग में जुट गये । बड़ौदा राज्य में बारैया और पाटणवाड़ियाओं की बस्ती में उनका प्रचार-कार्य चला । वहाँ के लोग चोरी में सिद्धहस्त थे । महाराज गाँव-गाँव घूमते थे । एक गाँव में एक दिन रुकते थे और दाल चावल माँग का खुद खिचड़ी पका लेते थे । सालों तक महाराज ने खिचड़ी के सिवा अन्य भोजन नहीं किया, साथ में कुएँ से पानी निकालने के लिए एक रस्सी रखते थे । यह क्रम दस वर्ष तक चला । आखिर बारडौली सत्याग्रह के समय सरदार वल्लभ भाई ने उनका यह रवैया बदलवाकर सबके साथ भोजन करने का क्रम आरम्भ करवाया ।

महाराज ने एक दिन अपनी सारी सम्पत्ति को विसर्जन करने के लिये सूरज बा से कहा । लेकिन बा इसके लिये तैयार नहीं हुई । तब से महाराज ने एक ही भोजन पर रहने का निश्चय किया । आखिर बा को अपना निश्चय बदलना पड़ा ।

महाराज का अपरिग्रह व्रत भी आदर्श है । एक बार पद-यात्रा में बारिश आरम्भ हुई । साथ में दो कार्यकर्ता थे । बारिश की बूँदें आने लगीं तो उन भाइयों ने अपने झोलों में से प्लास्टिक की टोपी निकाली और सिर पर चढ़ा ली । महाराज ने अपनी सफेद टोपी उतार कर जेब में रख ली । बारिश का जोर बढ़ने लगा तो उन भाइयों ने झोले में से रेनकोट निकाला और बदन पर चढ़ाया । महाराज ने अपने बदन पर से कुर्ता उतारा और झोले में रख लिया । भाई पूछने लगे— "महाराज ! यह क्या ?" महाराज ने कहा— "आप लोगों ने बारिश से बचने के लिये वाटरप्रूफ रेनकोट पहना, वैसे मैंने भी मेरे पास जो वाटरप्रूफ था, वह बारिश के सामने खोलकर रख दिया ।"

डाकुओं का हृदय-परिवर्तन करवाने वाले जैसे महाराज के लोक-सेवा के अनेक कार्य विश्रुत हैं । इसके अलावा महाराज आदर्श शांति सैनिक भी हैं । जहाँ कहीं झगड़े की गंध आती हो, महाराज वहाँ बेखौफ पहुँच जाते हैं । अहमदाबाद में जब हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ, तब महाराज मुस्लिम क्षेत्र में अकेले घूम रहे थे । एक बार दो बहिनें उनके साथ थीं । वे मस्जिद में गये । वहाँ एक फकीर कपड़ा लपेटकर बैठा हुआ था । महाराज उसके पास गये और तुरन्त लौट आये । लड़कियाँ पूछने लगीं— "महाराज, क्या हुआ ?"

महाराज ने कहा— "उस फकीर के कपड़े के अन्दर हथियार थे । तुम दोनों साथ थीं, इसलिये बाहर आ गया ।" रास्ते पर शव पड़े हुये थे । उन शवों को उठाकर अग्नि-संस्कार करने की जिम्मेदारी महाराज ने उठाई । हिन्दू-मुस्लिम दोनों बस्तियों में महाराज निःशंक हो घर-घर पहुँच जाते और सबकी कुशल पूछते ।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद जनता का यह प्रतिनिधि किसी सत्ता-स्थान पर नहीं बैठा— जनता के साथ ही रहा। सत्य और अहिंसा के लिये, जहाँ आवश्यकता महसूस हुई । हमारी सरकार का भी उन्होंने विरोध किया ।

सुनते हैं कि प्रत्येक युग का एक-एक पुरुषार्थ होता है। अपने युग के पुरुषार्थ में जिसकी शक्ति खर्च हो जाती है, उसकी शक्ति दूसरे युग के पुरुषार्थ के लिये नहीं बचती। परन्तु महाराज ने नित्य युवा बन कर, स्वराज्य प्राप्ति के बाद आर्थिक और सामाजिक क्रांति का जो नया पैगाम आया, उसको भी स्वीकार कर लिया और भूदान माँगते हुये गाँव-गाँव पैदल घूमे। दो वर्ष तक सतत पद यात्रा का व्रत ही रहा। विनोबा जी के साथ गुजरात से अजमेर तक पैदल यात्रा की और वहाँ से गुजरात वापस आये भी पैदल।

८० वर्ष की आयु में भी वे उत्तराखण्ड की पैदल यात्रा कर आये। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ चढ़े। लोगों की बातें सुनीं और अपनी लोगों को सुनाई।

लोकसेवा कार्य में इतने व्यस्त होते हुए भी महाराज का सूत्र-यज्ञ सतत चलता रहता। साल भर में वर्षा के दो महीने शरीर शुद्धि के लिये एक स्थान पर निवास कर वे सात दिन का उपवास करते थे। उपवास के बाद पहले कुछ दिन मूँग का पानी फिर थोड़ा अनाज। यों करते-करते महीने भर में पूरे आहार पर आते। अपने निजी कार्य के अलावा बाकी सारे समय में अध्ययन-अध्यापन चलता रहता। कताई भी साथ-साथ चलती। कहा करते हैं— "चरखा चलाना यही मेरा आराम है।"

वस्तुत: गुजरात निवासी रविशंकर महाराज का नाम सामने आते ही एक साधारणतम व्यक्ति की तस्वीर मानस पटल पर उभर आती है। वह तस्वीर इस प्रकार की होती है। एक मोटे-गाढ़े की आधे बाँह वाली फतोई और घुटनों तक की मारकीन की मोटी धोती। साथ ही "पाँव उपानह की नहिं सामा"— अर्थात पैरों में न जूते और न चप्पल। सिर पर हो सका तो छोटी-मोटी पगड़ी है, नहीं तो वह भी नहीं।

'यह तो रहा उस तस्वीर का बाह्य दृश्य' अब उसके अन्तर का दृश्य देखिये। निष्काम और नि:स्वार्थ से भरी भावना, सेवा और सदाचार के प्रशिक्षण का उत्साह, शिक्षा और सुधार की लगन उनके मनोमन्दिर के श्रृंगार उपकरण थे। रहन-सहन और आहार-विहार के विषय में— एक छोटी-सी कुटिया, पलंग और बिस्तर के नाम पर एक तख्त और साधारण साथरी। भोजन और व्यंजन के नाम पर किसी भी तरह की बिना नमक की खिचड़ी। आनन्द-उत्सव के रूप में संयम-नियम और भगवान् का भजन। बस, श्री रविशंकर महाराज का यही सब जीवन था। जिसको वे आदि से अन्त तक हर्षपूर्वक चलाते हुए गुजरात के महान् समाज-सेवियों की सूची में उल्लिखित हुए।

श्री रविशंकर महाराज एक पुरोहित थे और इस पद पर उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि उनके यजमान पाठणवाणियाँ जब कभी भी उनके दर्शन पा जाते थे, तो न केवल नमस्कार ही करते थे बल्कि अपनी पगड़ी उतार कर उनके पैरों के नीचे बिछा देते थे और पद-रज लेकर शीश पर चढ़ाते थे।

अन्य पेट प्रधान पुरोहितों की भाँति यदि रविशंकर महाराज अपनी इस प्रतिष्ठा का आर्थिक लाभ उठाना चाहते तो अपने जीवन में सुख-सुविधाओं की बहुतायत कर लेते। घर-मकान बनवा लेते और बैंकों के खातों में स्थान पा लेते। किन्तु लालची पुरोहितों की भाँति उन्होंने उसका न तो दुरुपयोग किया और न उसे बदनाम। उन्होंने लोभ, लिप्सा और लाभ से अलग रहकर एक सच्चे पुरोहित के रूप में जन-सेवा में अपना जीवन लगाकर धन्यता की पात्रता प्राप्त की।

गुजरात की पाटणवाणिया जाति अपने दुर्व्यसनों और अपराध वृत्ति के कारण बदनाम थी। चोरी, ठगी और बेईमानी का जीवन जीना वे लोग अपना उत्तराधिकार समझते थे। शिक्षा और सामाजिकता का उनमें सर्वथा अभाव ही था। रविशंकर महाराज इसी अपराधी जगत के पुरोहित थे। रविशंकर महाराज के इन यजमानों का मुख्य पेशा चोरी करना था। जो पाटणवाणियाँ जितनी अधिक चोरी कर लेता था, वह अपने समाज में उतना ही अधिक आदर का पात्र माना जाता था। जो पाटणवाणियाँ एक हफ्ते तक चोरी करने नहीं जाता था, उसकी स्त्री उससे रूठ जाती थी और उसे निठल्ला, निकम्मा और डरपोक कहकर तिरस्कृत किया करती थी। ऐसी अपराधी जाति में रविशंकर महाराज ने सद्वृत्तियों का संचार कर पुरोहित के सच्चे कर्तव्य और उसके महत्त्व की स्थापना की।

पुरोहित होने के नाते वे इन पाटणवाणियों के परिवारों में जाया करते थे। उन्हें अच्छी-अच्छी सदाचारपूर्ण कथा वार्ताएँ सुनाते थे। बस्ती के लोगों को एकत्र कर सदाचार का उपदेश किया करते थे। जब कभी उन्हें कहीं रात में देर हो जाती थी, तो वे उन्हीं के घर रह जाया करते थे। वे न तो उन संस्कारहीन मनुष्यों से घृणा करते थे और न उनके साथ छुआ-छूत का आडम्बर ही बरतते थे। वे सबके साथ अपने भाइयों, बच्चों और बहू-बेटियों जैसा व्यवहार किया करते थे। रविशंकर महाराज का अधिकांश समय उन पिछड़े लोगों के बीच ही व्यतीत होता था।

अपने आदरणीय पुरोहित के इस सम्पर्क एवं व्यवहार से प्रभावित होकर पाटणवाणियों ने सबसे पहले शरीरों और घरों की सफाई रखनी शुरू कर दी। सत्संग का प्रभाव पड़ता ही है। पाटण-वाणियाँ महिलाओं ने रविशंकर महाराज के लिहाज के कारण आपस में लड़ना-झगड़ना और गाली-गलौज करना बन्द कर दिया। उनकी वाणी और व्यवहार में शील संकोच का संचार होने लगा।

श्री रविशंकर महाराज को अपने अपराधी यजमानों के साथ आत्मीयतापूर्ण सहानुभूति थी। वे उनके सुधार का स्वयं तो प्रयत्न करते ही थे, अपनी उपासना में परमात्मा से उनको सद्बुद्धि देने के लिए भी प्रार्थना किया करते थे। तन-मन से ही नहीं आत्मा तक से पाटणवाणियों का कल्याण चाहने वाले रविशंकर महाराज जब अपनी मार्मिक पीड़ा के साथ चोरी, जुआ, शराब आदि बुराइयाँ छोड़ने के लिए कहते थे, तो उन पर प्रभाव पड़े बिना न रहता था। वे बुराइयाँ छोड़ने की प्रतिज्ञा करते और उसे निभाने का प्रयत्न करते थे। एक बार अनेक व्यक्तियों ने उनसे कहा— 'महाराज! हम शराब छोड़ना तो चाहते हैं, किन्तु यह पिशाचिनी हमें खुद नहीं छोड़ती है। बुरी तरह पकड़े हुए है। महाराज ने उन्हें सायंकाल अपने घर मिलने के लिए बुलाया। जब वे लोग उनके घर पहुँचे तब रविशंकर महाराज

एक खम्भे से लिपटे खड़े थे। आगन्तुकों को देखकर बोले— "भाइयो ! मैं तुम्हारे पास आकर तुम्हारा स्वागत करना चाहता हूँ। पर क्या करूँ, यह दुष्ट खम्भा मुझे छोड़ता नहीं।" सारे आगन्तुक खिल-खिला कर हँस पड़े और बोले— "महाराज आप भी क्या कहते हैं ? भला बेजान खम्भा आपको पकड़ कर रख सकता है। आप तो स्वयं उसे पकड़े हैं छोड़ दीजिये और बरी हो जाइये।"

रविशंकर महाराज ने तुरन्त कहा— "जब बेजान शराब आप लोगों को पकड़े रह सकती है, तब यह बेजान खम्भा मुझे क्यों नहीं पकड़े रह सकता है।" उन पाटणवाणियों ने उनके कथन का मर्म और अपनी मानसिक दुर्बलता समझी और उसी दिन से शराब ही नहीं और सारे व्यसन सदा के लिए त्याग दिए। रविशंकर महाराज इस प्रकार अपने यजमानों का सुधार किया करते थे।

रविशंकर महाराज अपने यजमानों के कामों का पूरा लेखा-जोखा रखते थे। जब कोई पाटणवाणियाँ कहीं से चोरी कर लाता था, तो वे तुरन्त उसके पास जाते थे और उसे समझा-बुझा और धिक्कार कर अपने किए के प्रति ग्लानि उत्पन्न करते और माल वापस कर दिया करते थे। बहुत बार वे अपराध करने वालों को पुलिस में ले जाकर अपराध स्वीकार करने को कहते और राज-दण्ड भोग कर प्रायश्चित की प्रेरणा देते। इस प्रकार वे अनेक उपायों, उक्तियों और प्रयत्नों द्वारा जीवन भर अपने यजमानों की अपराध वृत्ति दूर करते रहे।

उन्होंने अपने प्रयत्नों और सरकार की मदद से अपराधियों के बच्चों के लिए पाठशालायें चलाईं और अनेक आजीविका-जनक घरेलू उद्योग-धन्धों की व्यवस्था की। उन्होंने प्रौढ़ों के लिए एक सायं पाठशाला भी प्रारम्भ की और उसमें स्वयं अध्यापन कर लोगों में सद्वृत्तियों का जागरण किया। इस प्रकार जब तक वे जिये निरन्तर अपने पिछड़े हुए यजमानों की सुधार सेवा ही करते रहे।

उनके इस सराहनीय सत्कर्म ने उनका प्रभाव गुजरात की पिछड़ी जातियों में ही नहीं बल्कि अन्य लोगों में भी बढ़ा दिया। सरदार पटेल जैसे नेताओं ने उनका प्रभाव राजनीति में उपयोग करने का प्रयत्न किया और चाहा कि वे उस छोटे से क्षेत्र से निकलकर राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में चले आयें। धनीमानी व्यक्तियों ने चाहा कि रविशंकर महाराज अपराधी लोगों की पुरोहिती छोड़ कर उनकी पुरोहिती स्वीकार कर लें और सम्मान और सुख-सुविधापूर्ण जीवन बितायें। पर निर्लोभ महात्मा ने इनमें से एक बात भी स्वीकार न की। उनसे जो कुछ हो सका दूसरे क्षेत्रों में भी सेवा करते रहे। किन्तु पाटणवाणियाँ जाति के सुधार का अपना जीवनोद्देश्य नहीं छोड़ा और इस प्रकार व्रत, सद्भावना और सेवा कार्यों द्वारा सदा के लिये अमर हो गये।

मैं गुड़ नहीं लूँगी

गुजरात के रविशंकर महाराज एक गाँव में सवा सौ मन गुड़ बाँट रहे थे। सैकड़ों लोग गुड़ लेने के लिये दौड़े आ रहे थे। पर एक लड़की चुपचाप घर की ओर चली जा रही थी। दूसरों को गुड़ पाते हुए देखकर भी उसके मन में गुड़ के लिये कोई इच्छा नहीं हुई वह अपने घर की ओर ही बढ़ती रही।

रविशंकर महाराज ने उसे रोककर कहा— लो बेटी गुड़ लो। कन्या ने कहा— नहीं मुझे गुड़ नहीं चाहिए। मेरी माँ ने सिखाया कि बिना परिश्रम किये मुफ्त में कोई चीज नहीं लेनी चाहिए। भगवान् ने हमें हाथ-पाँव दिये हैं उनका ही भरोसा करना चाहिए।

रविशंकर महाराज लड़की के साथ उसके घर गये और उस ईमानदार और परिश्रमशील स्त्री के दर्शन कर धन्य हुए। इस स्त्री ने अपनी सारी सम्पत्ति बालिका विद्यालय को दान दे दी थी स्वयं लकड़ियाँ बेचकर अपना और बच्ची का गुजारा करती थी।

दान उपकार नहीं

भूदान आन्दोलन का प्रचार करते हुए स्वामी रविशंकर महाराज सांवरकांठा के एक गाँव में ठहरे हुए थे। उनकी मर्मस्पर्शी वाणी और हृदय को छू देने वाले प्रतिपादनों से प्रभावित होकर कई व्यक्तियों ने अपनी जमीनें दान में दीं। एक दिन गाँव की एक वृद्धा उनके पास आयी और कहने लगी— "महाराज ! मेरे पास जमीन जायदाद तो कुछ नहीं। मेरे पास कुल दस बकरियाँ हैं, मैं चाहती हूँ कि जो व्यक्ति मुझसे गरीब हो उसे मैं अपनी आधी बकरियाँ दान में दे दूँ। क्या आप मुझे इसकी अनुमति देंगे।"

महाराज जी ने कहा— "क्यों नहीं ? परन्तु यह देखना भी तुम्हारा काम है कि इस गाँव में सबसे गरीब कौन है ?"

वृद्धा कुछ देर तक विचारमग्न रही फिर किसी निश्चय पर पहुँच कर बोली— "महाराज इस गाँव में एक लड़का है, जिसके घर में केवल उसकी बूढ़ी माँ है किसी तरह मेहनत-मजदूरी कर वह अपना और अपनी माँ का पेट पालता है। यह बकरियाँ उसे ही दे दी जानी चाहिए।"

वे बकरियाँ वृद्धा द्वारा बताये गये लड़के को दे दी गयीं। दूसरे दिन वृद्धा ने आकर रविशंकर जी से कहा— "महाराज कल मुझे बहुत मीठी नींद आयी। मेरा मन कहता है कि मेरा काम एक मकान से ही चल सकता है जबकि मेरे पास दो मकान हैं। मेरी आत्मा गवाही देती है कि एक मकान किसी बेघर आदमी को दे देना चाहिए।"

'जरूर देना चाहिए'— रविशंकर जी ने प्रोत्साहित किया। यही वृद्धा कल आकर अपनी आधी बकरियाँ दान दे जा चुकी थी और आज अपना एक मकान भी किसी बेघर गरीब को देने आयी है। वृद्धा की परमार्थ भावना से रविशंकर जी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने फिर पूछा— "अच्छा तुम्हीं बताओ गाँव में सबसे ज्यादा गरीब कौन है ?"

वृद्धा ने कुछ देर तक विचार किया और फिर बोली— "महाराज एक रैबारी है। वही सबसे ज्यादा गरीब है। उसके तीन बच्चे भी हैं पर वह एक टूटी-सी झोपड़ी में रहता है। ऐसी झोंपड़ी जो बारिश में टपकती है और गर्मी में उसकी छत से धूप के इतने तरवरे टपकने लगते हैं कि सारी जमीन गरम हो उठती है।"

"तो ठीक है"— रविशंकर जी ने कहा है— "मकान की उसे बड़ी जरूरत है। उसे बुला लाओ।"

रविशंकर जी की बात सुनकर एक व्यक्ति दौड़ा-दौड़ा गया उस रैबारी के पास और उसे बुला लाया। रैबारी को उस व्यक्ति ने रास्ते

में ही बता दिया था कि अमुक माँ ने रविशंकर जी महाराज की शिक्षाओं से प्रेरित होकर अपना आधा मकान किसी ऐसे व्यक्ति को देने का निश्चय किया है जो नितान्त ही गरीब हो और उसके लिए तुम सर्वथा उपयुक्त समझे गये हो ।

रैबारी को स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि वह इस टूटी-फूटी झोंपड़ी को छोड़कर जीवन में कभी ढंग की छत वाले मकान में रह सकेगा और अपने बच्चों को बारिश तथा धूप से बचा सकेगा । उस वृद्धा के प्रति कृतज्ञता किस प्रकार व्यक्त करे और किन भावनाओं से रविशंकर जी को अपने हृदयासन पर आसीन करे जिनकी कृपा से उसे वह स्वप्न साकार होता दिखाई दिया । वहाँ पहुँच कर उसने रविशंकर जी को प्रणाम किया । रविशंकर जी ने उसे देखकर कहा— 'तुम्हारे पास घर नहीं है ।'

'नहीं' है महाराज.........उसे सारी बात तो रास्ते में ही पता चल गयी थी सो वह अपनी भावनाओं का उफान रोक न सका और रविशंकर जी के चरणों में गिर पड़ा । रविशंकर जी ने कहा— "पगले मुझे नहीं उस माँ को प्रणाम कर और सुन ।"

'जी हुजूर'— रैबारी ने पूछा 'ये माँ जी तुझे मकान तो दे रही हैं लेकिन मैं इसमें एक शर्त लगाता हूँ कि जब तक ये जीती रहेंगी तब तक तुम्हें इनकी सेवा करनी पड़ेगी ।'

रैबारी कुछ कहे इसके पीछे ही वृद्धा बीच में टोक उठी— "नहीं नहीं महाराज ! मैं सेवा कराने के लिए मकान थोड़े ही दे रही हूँ । मेरे पास तो आवश्यकता से अधिक जगह है, उसे ही दे रही हूँ और उसके बदले जो आत्मसंतोष मुझे मिल रहा है वह मकान के मूल्य से कहीं अधिक है । फिर इस भाई की सेवा का कर्ज मैं अपने ऊपर क्यों चढ़ाऊँ ।"

वृद्धा की परमार्थ भावना देखकर रविशंकर महाराज गद्‌गद् हो उठे । उन्होंने कई स्थानों पर अपने प्रवचनों में इस घटना का उल्लेख किया ।

एक वीर हुतात्मा—स्वामी श्रद्धानन्द

मुन्शीराम तथा स्वामी श्रद्धानन्द ! एक ही व्यक्ति के दो नाम है । किन्तु दोनों में अन्तर उतना ही है, जितना एक तख्ते के दोनों तरफ के पाटों में, जिन्हें एक ओर काला तथा एक ओर सफेद पोत दिया गया हो ।

स्वामी जी का नाम पहले मुन्शीराम था । वे अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े ही कुमार्गगामी थे । सुरापान से लेकर वेश्यागमन तक सारे ही दुर्गुण इनमें थे । पिता कोतवाल थे । किसी प्रकार की रोक-टोक अथवा आर्थिक समस्या का कोई प्रश्न ही न था ।

कहते हैं कालिदास को विद्वान् कवि तथा मनीषी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी विद्योत्तमा को है ।

सन्त तुलसीदास भी पत्नी की प्रताड़णा अथवा सदुद्‌बोधन के फलस्वरूप ही 'राम बोला' से सन्त तुलसीदास बनकर मानस जैसे महाकाव्य का प्रणयन करने योग्य बन सके ।

स्वामी श्रद्धानन्द की पत्नी भी इसी श्रेणी की देवी थीं, नाम था शिवदेवी ! सेवा, त्याग, नम्रता, उदारता, सहिष्णुता तथा क्षमता शीलता की साकार प्रतिमा । भारतीय नारीत्व की जीती जागती मूर्ति ।

उनका यह नियम था कि कभी भी स्वामी जी घर लौटें भोजन गरम बनाकर ही खिलातीं और उनके खा लेने के पश्चात् ही खातीं ।

एक दिन की बात है। यही दिन स्वामी जी के जीवन का वह दिन है जब उनकी सोई हुई आत्मा जागी और उन्होंने यह विचार किया कि मैं कहाँ हूँ और मुझे कहाँ होना चाहिए ।

स्वामी जी लौटे थे — रात के दो या तीन बजे । नृत्य-संगीत की सभा से । गाड़ी से उतर कर अन्दर आते ही जोर की कै हुई । दो कोमल हाथ सहारा दिये अन्दर ले आये । वस्त्र बदलवाकर लिटा दिया । वे सो गये परन्तु शिवदेवी पैर दबाती रहीं— सिर दबाती रहीं । काफी देर बाद आँख खुली । यह उनके चर्मचक्षु ही नहीं, ज्ञानचक्षु भी खुले थे । देखा सिगड़ी जल रही है । आटा गुँथा रखा है । पत्नी की ओर दृष्टि गई । पैर दबाते-दबाते बैठी ही बैठी सो गई थीं ।

आँखों में आँसू आ गये हृदय चीत्कार कर उठा । मन पश्चाताप की अग्नि में जलने लगा । मस्तिष्क ने गिरे हुए जीवन से बगावत कर दी ।

सोचा, "मेरे कारण न जाने कितनी रातें इसे यों ही भूखे सो जाना पड़ा होगा । और मैं ? ओह ईश्वर ! तेरी आचार संहिता में जो भी दण्ड विधान हो— कड़े से कड़ा दण्ड देना मुझे ।"

उसी दिन से वे अपनी समस्त दुर्बलताओं को तिलांजलि दे बैठे और जीवन की दिशा मुड़ी तो ऐसी मुड़ी कि फिर पीछे की ओर मुड़कर भी न देखा । विवेक का दिनमान उगा तो फिर ऐसा— कि तमिस्रा को चीरता हुआ गगन की छाती पर चढ़ता ही गया ।

अब उनका एक ही पथ था— समाज-सेवा । एक ही लक्ष्य था लोक-कल्याण । उस समय का सबसे बड़ा युग धर्म था, भारत को अँग्रेजों की दासता से मुक्त कराना । सो एक वीर सैनानी की भाँति स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूद पड़े । अच्छी-खासी चलती हुई वकालत को छोड़ा । जज के पद के आकर्षण को कच्चे धागे की भाँति तोड़ दिया ।

वर्षों कार्य किया अपनी भारत माँ की बेड़ियाँ काटने के लिये । इसके लिए उनकी लेखनी ने भी वह काम किया कि लोग लेख पढ़ते और अपनी जीवन दिशा बदलने की प्रेरणा ग्रहण करते । ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये 'रोलेट एक्ट' के विरुद्ध दैनिक विजय में आपके पाँच लेख 'छाती पर पिस्तौल' शीर्षक से निकले थे । उन्होंने तहलका मचा दिया था ।

उन दिनों आप 'आर्य संन्यासी' के नाम से विख्यात थे । दिल्ली शहर में तब स्वामी जी का इतना प्रामुख्य था कि आपकी एक आवाज पर लाखों स्वयंसेवक अपनी जान हथेली पर लिये तैयार रहते थे । सब उन्हें दिल्ली का बेताज का बादशाह कहते थे ।

तीस दिसम्बर सन् १९२९ का दिन दिल्ली तथा स्वातन्त्र्य संग्राम— दोनों के इतिहास में अविस्मरणीय है । स्वामी जी के नेतृत्व में सफल हड़ताल रखी गई और जब मालूम पड़ा कि पुलिस की गोलियों ने अगणित युवकों का रक्त पी लिया है तो सम्पूर्ण दिल्ली ने खून के आँसू बहाये । स्वामी जी का तो जैसे हृदय ही किसी ने छेद दिया हो ।

परेड के मैदान में सभा आयोजित हुई । डिप्टी कमिश्नर ने धारा १४४ घोषित कर दी । स्वामी जी से कहा गया— "सभा भंग कर दें ।"

किन्तु सभा भंग करने का अर्थ था लहराते जन-समुदाय की भावनाओं को उत्तेजित कर देना । कमिश्नर स्वामी जी के प्रभाव को जानता था । सभा भंग न करने की बात सुनकर बोला— ''और यदि इससे शान्ति भंग हुई तो कौन जिम्मेदार होगा ?''

और तभी सिंहों की गर्जना करते हुए श्रद्धानन्द बोले— ''यदि आप पुलिस तथा फौज हटा लें तब मैं जिम्मेदारी लेता हूँ ।'' सभा शान्तिपूर्ण ढंग से होकर विसर्जित हो गई । ऐसा अजेय साहस था इनमें ।

और जब उनके पीछे-पीछे जन-समूह चाँदनी चौक पहुंचा तो फिर पुलिस की कतारें और संगीनों की चमकती नोकों का सामना हुआ । तब भीड़ में से आगे निकलकर सामने आये स्वामी जी और अपनी छाती आगे करके उच्च स्वर में बोले— 'चलाओ गोली' मौत को गेंद के समान हाथ में लेकर खेलने का साहस— केवल आत्म-बल सम्पन्न, ध्येय के प्रति निष्ठावान तथा लगन के पक्के विरले ही व्यक्तियों में पाया जाता है । उसके समक्ष भौतिक शक्तियाँ स्वयमेव ही झुक जाती हैं ।

स्वामी जी के इतना कहते ही फौजी अधिकारी सामने आया और उसने कहा— 'इन्हें रास्ता दे दो ।'

संगीनें झुक गईं । रास्ता दे दिया गया और महर्षि विश्वामित्र की वह दिव्य वाणी एक बार फिर चरितार्थ हो उठी **''धिक् बलम् क्षत्रिय बलम् । ब्रह्म तेजो बलम् बलम् ।''**

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन त्याग तथा सेवा की कहानी है । परमार्थ के लिए किये गये कार्यों की एक लम्बी श्रृंखला है । समाज का जो भी पक्ष उन्हें दुर्बल दिखाई दिया उसे ही उन्होंने मजबूत बनाया ।

उन दिनों अंग्रेजी का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा था । हिन्दी मृतप्राय हो रही थी । राष्ट्र को जीवित रखना है तो राष्ट्र की एक जीवित भाषा भी होनी चाहिए यह सोचकर उन्होंने हिन्दी भाषा का जो प्रचार तथा प्रसार किया वह एक ऐतिहासिक प्रयत्न है ।

हिमालय की तलहटी में तब उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र यह सोचकर चुना कि वेदवाणी भी यही कहती है—

''उप गह्वरे गिरीणां, संगमे च नदीनां, धिया विप्रो अजायत ।''

फलत: गंगा के पार चण्डी पर्वत की उपत्यका में 'गुरुकुल काँगड़ी' की स्थापना की । यहाँ नि:शुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की । यह हिन्दी को ऊँचा उठाने में एक क्रियात्मक सफल प्रयोग था ।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री (मजदूर दल के नेता) मिस्टर रेम्जे मैक्डानल्ड ने महात्मा श्रद्धानन्द में ईसा की आत्मा के दर्शन किये थे और इस गुरुकुल की स्थापना को ब्रिटिश सरकार तथा मैकाले शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध प्रथम सफल अभियान कहा गया था । सेंडलर कमीशन ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का यह सफल प्रयोग है ।

उनका जीवन बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है । गिरे हुए समाज को ऊँचा उठाने के लिये उन्होंने अपना जीवन तिल-तिलकर जलाया । जितना ही ऐश तथा आराम प्रारम्भिक जीवन में किया था उसका बदला ब्याज समेत चुका दिया ।

अपने ओजस्वी लेखों तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व शक्ति द्वारा भूली-भटकी जनता को जो आध्यात्मिक मार्गदर्शन आपने दिया वह एक बहुत बड़ा काम है । वे स्वयं सच्चे अध्यात्मवादी थे । गुरुकुल के बच्चों तथा वयस्कों को सदा वे यही उपदेश देते थे कि अच्छे बनो, उत्कृष्ट जीवन जियो और ऐसा कुछ करते रहो जो स्वार्थ की सीमाओं से परे हो, लोकमंगल के लिये हो ।

विधवा विवाह को भी उन्होंने शास्त्रसम्मत सिद्ध किया और कई विवाह करवाये भी । इसके अतिरिक्त अनाथ बच्चों तथा महिलाओं के लिये कई आश्रम भी खोले । स्वामी श्रद्धानन्द ने उन परिस्थितियों को समाप्त किया जो हिन्दू धर्म की परिधि को संकीर्ण बना रही थीं तथा उन व्यक्तियों की शुद्धि करके पुन: हिन्दू धर्म में मिलाया जो ईसाई अथवा मुसलमान हो चुके थे ।

उनका यह कार्य सबसे महान् कार्य है जो उन्होंने हिन्दू धर्म के लिए किया । उनकी सेवाओं तथा सक्रिय चेष्टाओं ने एक बार फिर जगद्गुरु शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट की स्मृति को जाग्रत कर दिया था । हिन्दूधर्म, वैदिक मान्यताओं तथा शास्त्रोक्त पुण्य-परम्पराओं के प्रचार तथा प्रसार के लिये उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया ।

एक दिन उनकी भेंट आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द से हुई । कई दिन तक उनका वाद-विवाद चलता रहा । उनकी युक्ति संगत बातों से वह बहुत प्रभावित हुए और उनका परमेश्वर पर अटूट विश्वास जमने लगा ।

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द ने की पर उसे पुष्पित और पल्लवित करने का बहुत कुछ श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को है । उन्होंने मिशनरी भावना से कार्य कर अपना तन, मन, धन, लोकमंगल के लिए उत्सर्ग कर दिया था । गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति स्वामी दयानन्द का स्वप्न था और उसे साकार किया श्रद्धानन्द ने । इन्होंने प्रतिज्ञा की— 'जब तक गुरुकुल की स्थापना हेतु तीस हजार रुपये एकत्र न कर लूँगा तब तक घर में प्रवेश नहीं करूँगा ।'

स्वामी जी का यह संकल्प कोई साधारण संकल्प न था । इसके लिए उन्होंने घर-घर जाकर चन्दा वसूल किया और सड़क पर खड़े होकर लोगों को इस शिक्षा पद्धति का उद्देश्य समझाया । स्वामी जी जिस कार्य को अपने हाथ में लेते थे उसे पूर्ण करके ही मानते थे । आखिर वह दिन आ ही गया जब काँगड़ी के भयानक जंगलों में स्वामी जी के अथक प्रयत्नों और आत्मत्याग के बल से नये तीर्थ की स्थापना हुई । भारत के वाइसराय ही नहीं वरन् ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री राम्जे मैक्डोनल्ड तक शिक्षा क्षेत्र में किये गये इस अनूठे प्रयोग को देखने के लिए आतुर हो उठे ।

मातृभाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने वाले वह प्रथम व्यक्ति थे । उन्होंने बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियों के दिल से इस बात को निकाल दिया कि हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की उच्च शिक्षा नहीं हो सकती । गुरुकुल के अनेक स्नातकों द्वारा विज्ञान, दर्शन तथा इतिहास विषय के मौलिक ग्रन्थों की रचना की गई, साथ ही पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया गया ।

स्वामी जी शिक्षा को केवल पुरुषों तक ही सीमित करने के पक्षपाती नहीं थे । वे चाहते थे कि भारतीय जनसंख्या का अर्द्ध अंग

भी विकसित हो जाये। इसलिए उन्होंने आर्य कन्या पाठशालाओं की स्थापना हेतु भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। जल्दी ही गुरुकुलों और महाविद्यालयों का जाल पूरे देश में फैल गया और उनके ही प्रयास से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का महत्त्वपूर्ण पद मिला।

स्वामी जी १८ वर्षों तक गुरुकुल के आचार्य पद पर कार्य करते रहे। कितने ही अभिभावकों ने अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति से प्रभावित होकर गुरुकुल में भेजा और कितने ही व्यक्ति तो यह देखने आते थे कि यहाँ विदेशी शासन को उखाड़ने के लिए कौन-सी योजनायें तैयार की जा रही हैं।

स्वामी जी के विशाल शरीर में विशाल आत्मा निवास करती थी। अनेक क्षेत्रों में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। आदर्शवादी सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार हेतु उन्होंने सन् १८८९ में 'सद्धर्म प्रचारक' तथा १९१८ में 'श्रद्धा' नामक साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन किया। स्वतन्त्रता संग्राम के समय १९१९ में 'विजय' और १९१८ में 'दैनिक अर्जुन' का प्रकाशन आरम्भ कर उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को जन-जन तक पहुँचाया।

गुरुकुल के विद्यार्थियों को केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं कराया जाता था। समय मिलने पर अनेक विद्यार्थी दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करने जाते थे। उनकी इन्हीं सेवाओं को देखकर सन् १९१३ में भागलपुर में जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौथा वार्षिक अधिवेशन हुआ तो स्वामी जी को उसका अध्यक्ष चुना गया।

स्वामी जी सच्चे देशभक्त थे। विदेशी शासन उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता रहता था। गाँधी जी ने जब असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात किया तो स्वामी जी ने अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया।

स्वामी जी को अमृतसर काँग्रेस-अधिवेशन का स्वागताध्यक्ष बनाया गया तो उन्होंने काँग्रेस मंच से प्रथम बार हिन्दी में भाषण दिया था और राजनेताओं का ध्यान अछूत उद्धार की ओर आकर्षित किया।

स्वामी जी ने दलितोद्धार सभा की स्थापना कर अस्पृश्यता निवारण का कार्य शुरू कर दिया। वे चाहते थे कि हिन्दुओं के बीच से छुआछूत की भावना को निकाल फेंका जाय। मन्दिर और कुँए समानता के अधिकारों के साथ अछूतों के लिए खोल दिये जायें। स्वामीजी निर्भीक थे। वह इससे होने वाले प्रत्येक परिणाम को भुगतने के लिए तैयार थे।

स्वामी जी सभी धर्मों के प्रति समान आस्था रखने पर उनका यह विश्वास था कि यदि मुसलमान और ईसाई प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्मानुयायी बना सकते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति को आर्य भी बनाया जा सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द अपने इसी विश्वास को क्रियान्वित कर रहे थे। एक बार उन्हें जनता के आग्रह पर दिल्ली की जामा मस्जिद में भाषण देने हेतु आमन्त्रित किया गया। इस्लाम के इतिहास में वह प्रथम अवसर था जब मुसलमान के अतिरिक्त अन्य किसी धर्मानुयायी को मस्जिद की धर्मवेदी पर भाषण करने का सुअवसर प्रदान किया गया हो। स्वामीजी ने ऋग्वेद के मन्त्रों के सस्वर पाठ से अपना व्याख्यान शुरू किया और शान्ति पाठ से समाप्त।

स्वामी जी स्पष्टवादी और अति साहसी थे। वे जिस कार्य को अपने हाथ में लेते पूर्ण करके ही मानते थे। अपने दोषों को दूसरे के सम्मुख रखने में उन्हें तनिक भी संकोच न होता था। अत्याचार का विरोध करना उनकी प्रमुख विशेषता थी। सिद्धान्त का प्रश्न जब भी सामने आया वह कभी झुके नहीं। भरे यौवन में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। इस युग में जबकि छोटी-छोटी बातों पर लोगों को जाति से अलग कर दिया जाता था। स्वामी जी ने अपनी संतान का विवाह जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़कर किया। गुरुकुल हो या बाहरी क्षेत्र उन्हें प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सदैव संघर्ष करना पड़ा।

स्वामी जी उन समाज सुधारकों से बिल्कुल अलग थे जिनकी कथनी और करनी में वैषम्य होता है। उन्होंने आर्य समाज मन्त्र से अपने प्रथम भाषण में ही स्पष्ट कह दिया था— "जो वैदिक धर्म के अनुकूल अपने जीवन को नहीं ढाल रहे हैं, उन्हें उपदेशक बनने का कोई अधिकार नहीं है।"

भारत के नव निर्माण में उनके योगदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने प्रत्येक कार्य क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी थी और एक दिन अपने सिद्धान्तों के लिए बलिदान हो गये।

२४ दिसम्बर, १९२६ को उन्हें एक धर्मोन्मादी अब्दुल रशीद नामक मुसलमान ने गोली से मार डाला फिर भी वे भारतीय महापुरुषों के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह सदा अजर अमर बनकर प्रकाशवान् बने ही रहेंगे।

विचार स्वातंत्र्य का सम्मान

एक बार एक अँग्रेज पादरी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को लिखा कि मैं भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये आया हूँ। किन्तु हिन्दी का ज्ञान न होने से मुझे अपने कर्तव्य में कठिनाई हो रही है। मैं आपके गुरुकुल काँगड़ी में रहकर हिन्दी सीखना चाहता हूँ। मैं वचन देता हूँ कि जब तक गुरुकुल में रहूँगा, ईसाई धर्म का प्रचार विद्यार्थियों के बीच नहीं करूँगा।"

हिन्दू धर्म के अखण्ड भक्त एवं विद्वान् स्वामी श्रद्धानन्द ने पादरी को उत्तर में लिख भेजा कि आप अवश्य आकर गुरुकुल में रहें और हिन्दी पढ़ें किन्तु इस बात का वचन दें कि यहाँ आकर आप अपने धर्म का प्रचार पूरी तरह करेंगे। इससे मुझे प्रसन्नता होगी— क्योंकि इससे मेरे विद्यार्थी ईसामसीह तथा उनके प्रचारित धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।

पादरी स्वामी जी की यह धर्मनिष्ठा एवं उदारता देखकर इतना प्रभावित हुआ कि जीवन भर के लिये उनका मित्र बन गया।

आधुनिक बोधिसत्व— डॉ. अल्बर्ट श्वाइत्जर

डॉ. अल्बर्ट श्वाइत्जर का जन्म जर्मनी के आल्सीसी प्रान्त में सन् १८७५ में हुआ था किन्तु उन्होंने अपना सारा जीवन अफ्रीका के फ्रान्सीसी कांगो में लाम्बार्ने नामक स्थान पर हब्शियों की सेवा में लगा दिया। उनकी करुणा, दया और सेवा-भावना की गहराई को समझने वाले श्रद्धावश उन्हें बोधिसत्व की संज्ञा देते हैं और ध्यानपूर्वक उनके जीवन-दर्शन और जीव के प्रति दया भाव को निष्पक्ष रूप से देखा जाये तो वे बोधिसत्व के ही रूप प्रतीत होंगे।

भगवान बोधिसत्व ने अपने एक प्रवचन में कहा था— "जब तक संसार के दूसरे प्राणी कष्ट से पीड़ित हो रहे हैं, तब तक हमें सुखोपभोग का अधिकार नहीं है।" और श्री अल्बर्ट श्वाइत्जर का कथन है— "मरणान्तक पीड़ा से तड़पता हुआ रोगी जब मेरे सामने आता है उस समय मेरी भावनायें करुणा की शत-सहस्र धाराओं में बह उठती हैं। मैं सोचने लगता हूँ कि यह पीड़ित मनुष्य यह आशा करता है कि इस असहाय प्रदेश में मैं ही एक अकेला ऐसा व्यक्ति हूँ जो उसकी कुछ सहायता कर सकता हूँ। इसका आशय यह नहीं कि मैं उसके जीवन की रक्षा कर सकता हूँ। हम सभी को एक न एक दिन मृत्यु की गोद में जाना है। विशेष बात तो यह है कि वह यह आशा लेकर आता है कि मैं उसकी पीड़ा हर सकता हूँ, कम कर सकता हूँ। यही मेरा महान् और चिरनूतन अधिकार बन गया है। मृत्यु की अपेक्षा पीड़ा मनुष्य को कहीं अधिक दुःखी करती है।"

डा. अल्बर्ट श्वाइत्जर एक जर्मन वंशज थे किन्तु उनका पालन पोषण फ्रांस में हुआ था। उनकी इच्छा धर्माचार्य और महान् संगीतज्ञ बनने की थी और इसीलिये उन्होंने धर्म-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र तथा संगीत-शास्त्र पर अध्ययन कर पारंगति प्राप्त की थी। किन्तु एक छोटी-सी घटना ने उनकी जीवन धारा बदल दी, जिससे वे धर्माचार्य तथा संगीतज्ञ के रूप में ख्याति प्राप्ति की जिज्ञासा छोड़कर चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करके एक डॉक्टर बने।

एक बार एक मित्र से मिलने के लिये वे पेरिस गये। वहाँ उनकी दृष्टि मेज पर पड़ी एक 'जर्नल दे मिशन्सएवेन्जेलीक्स' नामक पत्रिका पर पड़ी। उन्होंने उसको हाथ में लेकर पन्ना उल्टा ही था कि उनकी नजर उसमें छपी इस अपील पर पड़ गई— "अफ्रीका में प्रशिक्षित चिकित्सकों का बहुत अभाव है। यहाँ के असहाय लोग भयानक रोगों से पीड़ित होकर नारकीय मृत्यु मर रहे हैं। जिन्हें अपनी आत्मा में यह अनुभव हो कि परमात्मा ने उन्हें उन असहाय मानवों की सेवा करने के लिये पहले से चुन लिया है, वे इस ओर ध्यान दें।"

डॉ. श्वाइत्जर को लगा जैसे ईश्वर ने उन्हें ही इस काम के लिये चुना है। बस फिर क्या था उस आत्मनिष्ठ महामानव ने अपने जीवन का चरम उद्देश्य निश्चित कर लिया। उन्होंने जीवन में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को विदा कर दिया और चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने लगे। सात वर्ष तक चिकित्सा-शास्त्र का अखण्ड अध्ययन करने के बाद उन्होंने पत्नी, परिवार तथा इष्ट मित्रों के मना करने और समझाने पर भी अफ्रीका में असहाय मानवों की सेवा करने के लिये १९१३ में प्रस्थान कर दिया। उनकी पत्नी ने जब समझ लिया कि उनके महान् पति ने मानव हित के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया है तो वे भी पति के महान् कार्य में सहयोग देने के लिये नर्स के रूप में प्रशिक्षित होकर तैयार हो गईं।

महान मानव दम्पत्ति अफ्रीका में लाम्बार्ने नामक स्थान पर पहुँचे और अपना चिकित्सालय एक टूटे-फूटे मकान के खण्डहर में खोल दिया। वह स्थान क्या था एक प्रकार से दो-तीन तरफ टूटी-फूटी दीवारों से घिरा एक छोटा-सा मैदान ही था। न उस पर छत थी और न कोई खिड़की अथवा रोशनदान। डॉ. श्वाइत्जर को स्थानाभाव से कुछ परेशानी हुई। किन्तु उनकी पत्नी ने उत्साहित करते हुये कहा- - "परमात्मा ने हम लोगों को मानवता की सेवा करने के लिये चुना है। उसने जो कम-ज्यादा साधन दिये हैं हम उन्हीं के द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे।" पत्नी के पवित्र शब्द सुनकर डॉ. श्वाइत्जर का रोम-रोम आनन्द विभोर हो उठा और वे समग्र तन-मन से पीड़ितों की सेवा में संलग्न हो गये। उन दोनों पति-पत्नी ने घास-फूस का छप्पर डालकर अपने चिकित्सालय पर छाया कर ली।

अभी उनका चिकित्सालय खुला ही था कि सौ-सौ मील के इर्द-गिर्द से रोग पीड़ित नीग्रो उन परमात्मा के भेजे हुये देवदूत के पास आने लगे और डॉक्टर श्वाइत्जर ने उनकी चिकित्सा करनी शुरू कर दी। उन्होंने आठ-नौ माह की अवधि में ही लगभग दो-ढाई सौ असाध्य रोगियों को नया जीवन दे दिया। डॉ. श्वाइत्जर के इस पुण्य कार्य ने उनको न केवल ख्यातिनामा बना दिया बल्कि वे देवता की तरह हब्शियों के श्रद्धा-भाजन बन गये।

तन्मयता से पीड़ितों की चिकित्सा करते-करते डॉ. श्वाइत्जर का सेवा कार्य आध्यात्मिक साधना के रूप में बदल गया। अभी तक वे अपने विचार से पीड़ितों की सेवा कर अपने मानवीय कर्त्तव्य का पालन करते थे, किन्तु अब उनका विश्वास हो गया कि मानस-सेवा के माध्यम से साक्षात परमात्मा की ही भक्ति कर रहे हैं। उन्होंने अपनी इस आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करते हुये कहा—

"अभी तक मैं एक धर्म-शिक्षक के रूप में शब्दों द्वारा आत्म-दान करता रहा था। प्रेम-योग की शाब्दिक चर्चा करते हुये आनन्द पाता रहा था। परन्तु अब मैं अपने इस सेवा कार्य को प्रेम-योग की चर्चा करके पूरा नहीं कर सकता। यह प्रेम के व्यावहारिक प्रयोग का क्षेत्र है। मैं धर्माचार्य न बनकर चिकित्सक इसलिये बना कि बिना बोले सेवा कर सकूँ। अपनी इस मौन प्रधान सेवा को मैं आध्यात्मिक साधना ही मानता हूँ।"

इस प्रकार डॉक्टर श्वाइत्जर आध्यात्मिक विश्वास के साथ सेवा करते-करते मानापमान और हानि-लाभ से परे होकर सच्चे योगी बन गए और उनका चिकित्सालय सेवाआश्रम। डॉ. श्वाइत्जर सादे छह बजे बिस्तर छोड़ देते और अपने दिन भर के कार्यक्रम की योजना

बनाते । वे पहले से ही कोई योजना तैयार न रखते थे । आवश्यकतानुसार तत्काल बनाया करते थे । क्योंकि वे जानते थे कि उनका कार्य ही कुछ इस प्रकार का है कि न जाने किस समय उन्हें क्या करना या कहाँ जाना पड़ जाये । ऐसी दशा में निश्चित कार्यक्रम में विघ्न अथवा अनियमितता आ जाने से उन्हें परेशानी होगी । उनकी दिनचर्या का मूल उद्देश्य सेवा करना था उसको वे नियमित रूप से बिना पूर्व कार्यक्रम के किया करते थे । साढ़े छ: बजे से साढ़े सात तक नित्य-नैमित्तिक से निवृत होते । आठ बजे तक नाश्ता करके सहयोगियों को दिन भर का काम बताते, डिस्पेन्सरी और औजार ठीक करते । दस बजे तक बागवानी, सड़क की मरम्मत, भवन निर्माण और वृक्षारोपण के काम करते और फिर अपने चिकित्सालय में आकर रोगियों की सेवा में संलग्न हो जाते । सवा बारह बजे तक चिकित्सालय का काम निबटा कर दो बजे तक भोजन और आराम से निवृत होकर पुन: चिकित्सालय में आ जाते और साढ़े छह बजे तक काम में लगे रहते । उसके बाद भोजन आदि से निवृत होकर रोगियों की देखभाल करने निकल जाते और इस प्रकार उनका यह कार्यक्रम साढ़े ग्यारह बजे रात तक चलता रहता । डॉ. श्वाइत्जर ने अपने इस व्यस्त कार्यक्रम को पूरे नब्बे वर्षों तक चलाया । उन्होंने अपने कार्य के घंटों में से न तो एक मिनट कभी कम किया और न आराम के समय को बढ़ाया । अपनी इस एकान्त कार्यनिष्ठा के कारण डॉ. श्वाइत्जर नब्बे वर्ष की आयु तक पूर्ण स्वस्थ बने रहे । वे अपने जीवन में बहुत कम बीमार पड़े और यदि कभी ऐसा संयोग हुआ भी तो भी उन्होंने पड़कर आराम कभी न किया । उनकी इस अखण्ड कार्यव्यस्तता को देखकर एक दिन उनकी पत्नी ने पूछा ''आप कब तक इस प्रकार अविश्रान्त काम करते रहेंगे ।'' डॉ. श्वाइत्जर ने बड़े सरल भाव से उत्तर दिया— ''जीवन की अन्तिम श्वास तक ।'' और नि:सन्देह उन्होंने अपने वचन को पूर्णरूपेण निवाह कर दिखा दिया ।

डा. श्वाइत्जर के आश्रम में जहाँ एक ओर रोगी हब्शियों की चारपाइयाँ पड़ी रहती थीं, वहाँ दूसरी ओर बहुत से पशु-पक्षी भी रह रहे थे । हिरन, चीतर, गुरिल्ला, चिम्पांजी, बत्तख, मुर्गी, उल्लू आदि न जाने कितने पशु-पक्षी उनके परिवार के सदस्य बने हुये थे । यह सब पशु-पक्षी वही थे जो एक बार रोगी होने के कारण जंगल से पकड़कर उपचार के लिए डॉ. श्वाइत्जर के पास लाए गए थे और फिर चंगे होकर अपने प्रेमी सेवक को छोड़कर दुबारा जंगल में नहीं गए ।

सन्त श्वाइत्जर को मानव जाति की तरह ही अन्य जीवों से भी प्यार था । उन्हें उनकी भावनाओं का कितना ख्याल रहता था यह इस छोटी घटना से ही प्रकट हो जाता है । एक बार वे अपने कमरे में जा रहे थे । रास्ते में एक मुर्गी अपने बच्चों को प्यार कर रही थी । वे रुक गए । किन्तु जब मुर्गी ने रास्ता नहीं दिया तब उन्होंने उसके कान में धीरे से कहा— माँ मुर्गी, मुझे चले जाने के लिए रास्ता दे दो । किन्तु जब वह तब भी नहीं हटी तो वे उसके ऊपर से लाँघ कर इस प्रकार धीरे से निकल गये कि मुर्गी के कार्यक्रम में तनिक भी बाधा नहीं पड़ी । इस छोटी सी घटना में डॉ. श्वाइत्जर के हृदय की विशालता का कितना सुन्दर तथा स्पष्ट चित्र प्रतिबिम्बित होता है इसे भावुक व्यक्ति ही समझ सकते हैं । वे स्वयं तो माँस नहीं खाते थे । उन्होंने हब्शियों को भी कभी किसी पशु-पक्षी को मारने नहीं दिया । उनके आश्रम में भोजन से पूर्व प्रार्थना होती थी और ब्यालू के बाद सामूहिक प्रार्थना । उनका चिकित्सालय पूर्ण रूप से एक ऋषि आश्रम के समान ही था ।

मानव सेवा के इस सराहनीय कार्य के लिये डॉ. श्वाइत्जर को १९४८ में नोबेल पुरस्कार दिया गया जिसकी समग्र धनराशि उन्होंने चिकित्सालय से थोड़ी दूर महारोगी (कुष्ठ) सेवाश्रम खोलने में लगा दी । इस नये सेवाश्रम में उन्होंने पाँच सौ कोढ़ियों के रहने के लिये व्यवस्था कर दी । उसी अवसर पर जब वे ओसलो गये तो अपने सम्मान समारोह में बोलते हुये उन्होंने कहा था— ''मानव की आत्मा अभी मरी नहीं है । वह उन जीवों के प्रति दया एवं करुणा भावना से परिचित है जिसमें सम्पूर्ण नैतिकता सन्निहित है । यह जीव दया तभी सार्थक होती है जब कोई मानव-जाति से ऊपर उठकर सारी जीव-सृष्टि को अपने अंचल की छाया में ले ले । मनुष्य ने विज्ञान के बल पर अतिमानव शक्तियाँ तो प्राप्त कर ली हैं किन्तु वह अभी वांछित अतिमानवी बुद्धि का विकास नहीं कर सकता है । इसीलिये उस वैज्ञानिक शक्ति के घातक परिणाम सामने आने की सम्भावना दिनों-दिन बढ़ती जा रही है । अब हम मानवता के भविष्य को अधिक समय तक टाल नहीं सकते । इसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण एवं मूल बात यह है कि हम सब एक स्वर से स्वीकार करें, कि हम सब अमानवीय आचार के अपराधी हैं । यही एक उपाय है जिससे कि हम उस मार्ग पर आगे बढ़ सकेंगे जो एक युद्धविहीन जगत की ओर जाता है ।''

इसके पूर्व भी जब वे जर्मन विद्वान् गेटे की शताब्दी के उपलक्ष में फ्रेंकफर्ट महोत्सव में बोलने के लिये आमंत्रित किए गए थे उन्होंने बड़े ही मार्मिक सत्यों को उद्घाटित करते हुय कहा था— ''मनुष्य एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व है और उसे उसी रूप में मानकर व्यवहार करना चाहिए । उसे हठात् पदार्थवादी सभ्यता के घूरे में दबाना सरासर अन्याय एवं अनर्थ है ।'' इस पर जर्मन डिक्टेटर हिटलर बहुत कुछ लाल-ताल हुआ किन्तु उन्होंने उसकी जरा भी चिन्ता नहीं की ।

इसी प्रकार एक बार आनफोर्ड में हिबर्ट भाषण करते हुए उन्होंने केवल चार छोटे वाक्यों में पश्चिमी सभ्यता का सार रखकर उत्सव में उपस्थित लोगों को न केवल स्तब्ध ही कर दिया, बल्कि वक्ताओं की वाचालता समाप्त कर दी । उन्होंने कहा— ''क्या आज हमारे जीवन में धर्म का कोई अस्तित्व है ? नहीं ! प्रमाण ! युद्ध ।'' इतना कहकर उन्होंने अपना भाषण समाप्त कर दिया और फिर उसके बाद कोई भी बोलने खड़ा नहीं हुआ ।

इस प्रकार आधुनिक बोधिसत्व सन्त श्वाइत्जर आजीवन मानव सेवा करते और सत्य का सन्देश देते हुये नब्बे वर्ष की आयु में ४ दिसम्बर, १९६५ को मानव देह से मुक्त हो गए ।

— — — -

भारतीयता के संरक्षक— महात्मा हंसराज

यह वह समय था, जब भारत में अँग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करने के लिये शिक्षा का साधन रूप में प्रयुक्त किया जा रहा था। १८५७ के बाद अँग्रेज कूटनीतिज्ञों ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि जब तक भारतीयता को नष्ट करके भारत में अँग्रेजियत का प्रचार नहीं किया जायेगा, अँग्रेजों का राज्य चिरस्थायी नहीं हो सकता।

अँग्रेजों ने इसके दो मार्ग निकाले, एक तो धर्म-प्रिय साधारण जनता को ईसाइयत की विशेषता बतलाकर और उनकी सामाजिक परिस्थिति तथा आर्थिक दशा का लाभ उठाकर ईसाई बनाना। दूसरे अपेक्षाकृत सम्पन्न तथा जागरूक जनता में से तरुण वर्ग को शिक्षा के माध्यम से अँग्रेजियत में रँगकर अपना मानसिक गुलाम बनाना।

निदान सरकार ने शिक्षा प्रसार का दायित्व अपने पर लेने के बहाने से जनता के बीच जन-सहयोग से चलने वाली सभी छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्थानों को बन्द कर दिया, जिनमें धर्म के माध्यम से जीवन के सभी अंगों की शिक्षा दी जाती थी। सरकारी स्कूल स्थापित किये गये और उनमें बाबूशाहों का निर्माण होने लगा, ईसाइयत सिखाई जाने लगी।

सरकार की यह योजना सफल हुई और नवयुवक अँग्रेजी राज्य के अनुकूल शिक्षा पा-पाकर उसके यन्त्र बनने लगे। थोड़ी अँग्रेजी पढ़ने और अँग्रेजियत को अपनाने वालों को अच्छे-अच्छे सरकारी पद मिलने लगे और वे लोग इसे अपना भाग्य समझने लगे।

उस समय सरकार की इस भयंकर योजना का विरोध करना शेर के दाँत गिनने के समान था। सरकार सन् १८५७ के आघात से आहत होकर बौरा चुकी थी और जरा-सा भी विरोध करने वाले को राज-द्रोही ठहरा कर तरह-तरह के त्रास देकर बर्बाद कर रही थी। बड़ा विषम समय था। एक ओर भारतीयता थी और दूसरी ओर प्राणों का भय। स्वातन्त्र्य-संग्राम की विफलता ने जनता में एक निराशा की भावना पैदा कर दी थी। लोग किसी भी अत्याचार को ईश्वरीय इच्छा समझकर सह लेने में ही खैरियत समझते थे।

ऐसी भयंकर परिस्थिति में जो व्यक्ति अपनी बुद्धि एवं साहस के बल पर राष्ट्र की रक्षा कर सके, वह वास्तव में परमात्मा का रूप ही थे।

जहाँ एक ओर लोग भय से किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अनचाहे भी सरकारी शिक्षा योजना में सहयोग कर रहे थे, वहाँ एक आत्म-विश्वासी व्यक्ति ऐसा भी था, जो प्राणों को दाँव पर लगाकर सरकार की इस विषम योजना को सफल होने से रोक देने के लिये मन ही मन संकल्पपूर्ण तैयारी कर रहा था और वह व्यक्ति था— नवयुवक हंसराज!

हंसराज, जो आगे चलकर— महात्मा हंसराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह जिस समय शिक्षा पा रहे थे, उस समय सरकार की इस नीति का भी अध्ययन कर रहे थे। वे सरकार की इस शिक्षा-प्रणाली के प्रारम्भ से ही विरोधी थे, किन्तु उन्होंने उसका बहिष्कार नहीं किया प्रत्युत अधिकाधिक संलग्नता से विद्या प्राप्त की, अँग्रेजी पढ़ी। वे जानते थे कि कोई भी भाषा क्यों न हो, यदि वह ऊँचे स्तर तक पढ़ी जाती है तो कोई ऐसी हानि नहीं पहुँचा सकती, जैसी कि हानि वह निम्न स्तर तक पढ़ने पर पहुँचाती है। हानि, पूर्णता से नहीं, अपूर्णता से होती है।

यही बात किसी धार्मिक दर्शन के सम्बन्ध में भी होती है। जिस धार्मिक शिक्षा की ऊपरी बातों तक ही सीमित रहा जायेगा, उसका कुछ ऐसा प्रभाव भले पड़ जाये, जिससे कोई एक विश्वास अथवा पद्धति से हटकर दूसरे विश्वास अथवा पद्धति पर चला जाये, किन्तु जब उसकी गहराई में उतरकर उसका सांगोपांग अध्ययन तथा मनन किया जाता है, तब उसकी सारी असलियत सामने आ जाती है और उस दशा में यदि वह दर्शन सत्य पर आधारित है तो उसके अपनाने में किसी हानि की सम्भावना नहीं रहती और वह यदि यों ही कपोल कल्पित चिंतन पर आधारित होगा तो किसी भी विवेकशील व्यक्ति पर प्रभाव न डाल सकेगा।

महात्मा हंसराज अँग्रेजी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उसी के माध्यम से अँग्रेजों को समझने और उनकी चाल को विफल करना चाहते थे। साथ ही ईसाइयत के प्रभाव का उन्हें कोई भय न था। इसके लिये वे भारतीय-धर्म तथा वैदिक साहित्य को अच्छी तरह पढ़ चुके थे और स्वामी दयानन्द की तीव्र तर्क पद्धति को अपने मस्तिष्क में प्रति-स्थापना कर चुके थे।

महात्मा हंसराज ने ईसाइयत के बीच अँग्रेजी पढ़ी और इतना गम्भीर अध्ययन किया कि जिस समय उन्होंने उत्तम श्रेणी में बी. ए. पास किया तो उन्हें अपने में लाने और उनकी योग्यता का लाभ उठाने के लिए सरकार के मुँह में पानी आ गया। निदान बी.ए. की उपाधि लेते ही उसने महात्मा हंसराज की ओर बड़ी से बड़ी सरकारी नौकरी की फूल मालायें बढ़ाई। सरकार को पूरी आशा थी कि उनकी मादक गन्ध से एक भारतीय युवक अवश्य मोहित होकर आकर्षित होगा और अँग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करने में सहायक बनेगा।

किन्तु महात्मा हंसराज उन युवकों में न थे जिनके सामने मौज मजा लेने के अतिरिक्त जीवन का कोई अन्य लक्ष्य ही नहीं होता। उस समय जब अँग्रेज सरकार शिक्षा के कुठार से भारतीयता की जड़े काटकर अँग्रेजियत बो रही थी और किसी भी माई के लाल के कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही थी, तब भला भारतीयता के प्रति भयंकर खतरा अनुभव कर लेने पर भी वह किस मुँह से मौज मजा लेते और चैन की नींद सोते। अन्याय एवं अनुचित के प्रति बलिदान की परम्परा जगाते रखने के लिए कोई न कोई बलि-बेदी पर आता ही रहना चाहिए। अन्यथा राष्ट्रीयता मिट जायेगी, देश निर्जीव हो जायेगा और समाज की तेजस्विता नष्ट हो जायेगी।

जिसने खतरा अनुभव किया, उसका कर्तव्य था कि वह आगे बढ़े। महात्मा हंसराज ने बड़ी गम्भीरता से विचार करके तथा समाज की मनोवृत्ति का ठीक-ठीक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि

सरकार की इस कुटिल शिक्षा नीति का विरोध किसी आन्दोलन, संघर्ष अथवा खुली चुनौती के रूप में करना ठीक न होगा। सरकारी शिक्षा प्रणाली को किसी समानान्तर शिक्षा प्रणाली से ही निरस्त करना ठीक होगा।

अध्ययन से निवृत्त होकर चल पड़ा, भारतीयता के संरक्षण का व्रती। किधर ? रोटी-रोजी और मौज-मजे की तलाश में— नहीं— एक ऐसे बिन्दु की तलाश में, जहाँ से वह अपना शुभ अभियान प्रारम्भ करे। जिस दिन निस्पृह एवं निष्कलंक समाज-सेवियों, धर्मनिष्ठों तथा देश-भक्तों को रोटी की कमी पड़ने लगेगी, उस दिन संसार से राष्ट्रीयता की संज्ञा ही उठ जायेगी। देश और धर्म की चिन्ता करने वाले मनीषियों को चाहिए ही क्या ? केवल मुट्ठीभर अन्न और वह भी इसलिये कि जनसेवा के लिए वे कल भी जी सकें। जिस आत्म त्यागी की सारी कामनायें, वासनायें और आवश्यकतायें किसी जन-कल्याण के यज्ञ में आहुति बन चुकी हों, उसे अपनी सुध रहती ही कब है ? उसकी खोज खबर लेने का दायित्व तो उन कोटि-कोटि व्यक्तियों पर आ जाता है, जिनके हित के लिए वह अपने को खपा रहा है।

ला. हंसराज के सामने केवल एक उद्देश्य था कि कोई ऐसी योजना बनाई जाये, जिससे जन-साधारण को भारतीय राष्ट्र के अनुकूल शिक्षित करके उनमें आत्मविश्वास, देशभक्ति तथा स्वाभिमान की भावना जगाई जा सके। भारतीयता के प्रति बढ़ती हुई, उनकी हीन भावना और ईसाइयत से ओत-प्रोत अँग्रेजियत के प्रति बढ़ती हुई आस्था को रोका जा सके। महात्मा हंसराज के बुद्धिमत्तापूर्ण इस एक उद्देश्य में ही राष्ट्र की सारी आवश्यकतायें सन्निहित थीं। देखने में छोटा लगने वाला यह उद्देश्य कितना व्यापक था ? इसको कोई दूरदर्शी बुद्धिमान् ही देख सकता था। वे कोई लम्बी-चौड़ी योजना सामने रखकर जनता को भयभीत करना तथा सरकार को चौंकाना न चाहते थे।

एक समय में कोई एक ही विचार, किसी एक ही मस्तिष्क में नहीं आता, लाखों के मस्तिष्क में १९-२० के अनुपात तथा बुद्धि की पात्रता के अनुसार एक साथ अवतरित होता है। और जब कोई एक साहसी उसकी समीचीनता की घोषणा करने के लिए खड़ा होता है तो उसके झंडे के नीचे सजातीय विचारवानों की एक बड़ी संख्या में इकट्ठा होते देर नहीं लगती।

लाहौर में कुछ विचारवानों ने स्वामी दयानन्द कॉलेज कमेटी की स्थापना कर रखी थी और चाहते थे कि किसी प्रकार स्वामी दयानन्द के नाम पर ऐसा विद्यालय प्रारम्भ किया जाये, जिसमें ठीक-ठीक राष्ट्रीय शिक्षा दी जा सके। कोई कमेटी बना लेना एक बात है और उसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करना दूसरी बात। कमेटी तो बना ली किन्तु सरकारी भय के कारण उसके सदस्य यह न समझ पाते थे कि स्कूल की स्थापना करके उसे कैसे चलाया जाये ?

विद्वान् हंसराज ने कमेटी में प्रवेश किया और एक छोटा-सा विद्यालय स्थापित करके उसमें अवैतनिक शिक्षक बन गये। सच्ची भावना से योजना का सूत्रपात हो गया और उसी प्रगति के साथ विरोध भी प्रारम्भ हो चला। किन्तु इससे क्या ? जन-साधारण का विरोध योजना की महानता का प्रमाण-पत्र होता है। जिस योजना का विरोध नहीं होता, जिस नियोजन की आलोचना नहीं होती, समझ लेना चाहिए कि उस योजना में कोई जीवन नहीं है, कोई नवीनता नहीं है।

उक्त नवजात संस्था को मिटा सकने के लिए सरकार कोई बहाना न पाकर केवल इतना ही कर सकी कि उसने उसे कोई आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया इसको संस्था के संस्थापकों ने शुभ ही समझा। क्योंकि वे स्वयं ही सरकार से कोई सहायता न लेना चाहते थे, क्योंकि उस दशा में उन्हें सरकारी नियमों के पचड़े में पड़ना होता, जिससे संभव था उन्हें अपने उद्देश्य में कुछ हेर-फेर करना पड़ता। उद्देश्य की न्यूनता के साथ पाई हुई किसी सुविधा की अपेक्षा उद्देश्य की रक्षा में पाई असुविधा अधिक श्रेयस्कर होती है।

सरकार ने न केवल अनुदान देने में ही विमुखता दिखाई बल्कि उक्त विद्यालय को मान्यता देने में भी अनुदारता बरती। किन्तु सुयोग्य शिक्षक महात्मा हंसराज अपना काम करते रहे। शीघ्र ही उनके परिश्रम का फल जन-साधारण की चर्चा के रूप में फलीभूत हुआ और लोग संस्था की ओर आकर्षित होने लगे। आत्म अनुशासित तथा त्यागी शिक्षक के पढ़ाये हुए छात्र चमकते हुए हीरों की तरह निकलने लगे, जिससे अभिभावकों की आस्था दिनों-दिन बढ़ती गई और छोटा-सा प्रारम्भिक स्कूल विस्तार एवं विकास पाने लगा।

कुछ समय बाद उस संस्था को डी. ए. वी. स्कूल के नाम से ख्याति प्राप्त हुई और उसके शिक्षा अभियान को डी. ए. वी. आन्दोलन का नाम मिला। डी. ए. वी. स्कूल की वेग से बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर सरकार को शर्म आई और उसने जन-आलोचना के भय से स्कूल को मान्यता दे दी। मान्यता के प्रथम वर्ष में ही सुयोग्य शिक्षक के पढ़ाये विद्यार्थियों ने हाईस्कूल की सारी छात्रवृत्तियाँ जीत लीं।

महात्मा हंसराज की भावनापूर्ण तपस्या फलीभूत हुई, उनका त्याग अंकुरित हुआ और देश में डी. ए. वी. स्कूलों तथा कॉलिजों का जाल बिछने लगा। अनेकों बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा उद्योगों ने मुक्तहस्त दान देना प्रारम्भ कर दिया और स्कूल कॉलिजों में बदलने लगे।

महात्मा हंसराज के जीवन काल में डी. ए. वी. मिशन के अनेक शिल्प विद्यालय, टेक्निकल स्कूल, आयुर्वेदिक कॉलिज, नार्मल स्कूल, वैदिक शोध संस्थान, कला-विज्ञान कॉलिज तथा वैदिक धर्म प्रचारकों की शिक्षण संस्थायें बन गईं। इसके अतिरिक्त डी. ए. वी. आन्दोलन के अन्तर्गत उसके अपने बैंक, बीमा कम्पनी तथा अनेक उद्योग भी चलने लगे।

महात्मा हंसराज की तपस्या का यह हाहाकारी फल देखकर सरकार के पाँव काँपने लगे और उसे अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए सरकारी शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करना पड़ा। महात्मा हंसराज का मिशन पूरा हुआ। भारतीयता की रक्षा हुई और अँग्रेज कूटनीतिज्ञों की दूरगामी योजना विफल हुई। डी. ए. वी. आन्दोलन, के रूप में देश को महात्मा हंसराज की देन् अनुपम है, जिसके लिए— क्या भारतीय और क्या भारतीयता, युग-युग तक उनकी आभारी रहेगी।

आज से लगभग २७-२८ वर्ष पूर्व संसार से वह महान् आत्मा दिवंगत हो गई, किन्तु डी. ए. वी. शिक्षा संस्थाओं तथा आन्दोलन के अन्तर्गत चलती हुई योजनायें उसे अमर रखेंगी ।

गोस्वामी गणेश दत्त देश, जाति और संस्कृति के गौरव प्रतिष्ठाता

शताब्दियों तक पंजाब पर मुसलमानों का प्रभुत्व छाया रहा । राजनीति की दृष्टि से चतुर चालाक मुगल शासकों ने वहाँ की हिन्दू सभ्यता को समूल नष्ट कर देने का षड्यन्त्र चलाया और इस षड्यन्त्र में उन्हें बड़ी हद तक सफलता भी मिली । इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि पंजाब के अधिकांश हिन्दू नागरिकों ने कट्टर हिन्दू निष्ठा के परिणाम स्वरूप अपना धर्म भले ही न बदला हो— रहन-सहन और जीवन का रंग-ढंग अवश्य बदल दिया । पंजाबी मुसलमानों की तरह ही रहने लगे । उनकी भाषा, वेषभूषा, भाव और रहन-सहन सब कुछ विजातीय संस्कृति के अनुरूप चलने लगा । वे लोग उर्दू बोलते थे । हिन्दी का कहीं नामो-निशान भी नहीं दिखाई देता और ऐसी अवस्था में देशकाल की इन परिस्थितियों में वहीं के निवासी एक युवक ने रचनात्मक दृष्टिकोण से सोचा । वह युवक बाद में गोस्वामी गणेशदत्त के नाम से जाना जाने लगा ।

इस विचार की प्रेरणा उन्हें बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से मिली । एक साधारण-सी घटना ने उनके अन्तस् को छू लिया । हुआ यह बताया जाता है कि एक बार उन्होंने अपनी पुस्तिका में कुछ प्रश्नों के उत्तर हिन्दी भाषा में लिखे । परम्परा यह थी कि जो भी उत्तर लिखा जाय वह उर्दू भाषा में हो अथवा अंग्रेजी में । अपने हिन्दी प्रेम के कारण गोस्वामी जी ने इस परम्परा का उल्लंघन किया । परिवार में हिन्दी और संस्कृत भाषा की प्रधानता रहने से गोस्वामी जी को हिन्दी में लिखे गये उत्तरों से स्वाध्याय में सुविधा रहती थी ।

उत्तर-पुस्तिका जब जँचने के लिए कक्षाध्यापक के पास पहुँची तो कक्षाध्यापक बौखला उठे । बात यह नहीं थी कि शिक्षक हिन्दी न जानता हो । परन्तु नियम और परम्परा टूटते देखना उसे कैसे सहन हो सकता था । इसलिए उसने गणेशदत्त को मुर्गा बनने के लिए कहा । गणेशदत्त जी ने इस सजा का कारण पूछा तो शिक्षक ने कहा— 'तुमने इस पुस्तिका में प्रश्नों के उत्तर हिन्दी में क्यों लिखे हैं ।'

''महाशय जी ! हिन्दी में लिखने से मुझे अध्ययन में सुविधा जान पड़ी । हमारे परिवार में प्राय: यही भाषा बोली जाती है इसलिए हिन्दी में पढ़ना-लिखना मेरे लिए आसान और सुविधाजनक रहता है ।''— गणेशदत्त जी ने कहा ।

'कुछ नहीं ! तुमने विद्यालय का नियम तोड़ा है । इसलिए तुम्हें यह भोगना ही पड़ेगा ।'

'दण्ड सहने में मुझे एतराज नहीं है परन्तु मैं यह पूछना चाहता हूँ कि इस प्रकार विद्यालय का नियम कहाँ टूटता है । पुस्तिका तो मेरी अपनी निजी सामग्री है उसमें किसी भी भाषा में लिखूँ तो विद्यालय को क्यों एतराज होना चाहिए ।'— युवा छात्र गणेशदत्त ने घटना के हर पक्ष पहलू को छूकर अपना दृष्टिकोण बताया परन्तु अध्यापक भी अपने ढंग का एक ही पूर्वाग्रही, जिद्दी और अड़ जाने वाला व्यक्ति था ।

इस विषय में हुई और भी बातों ने गोस्वामी जी को इस तथ्य से अवगत करा दिया कि पंजाब में उर्दू निष्ठा और हिन्दी उपेक्षा की प्रवृत्ति चरम सीमा पर है । जब किसी देश की अपनी ही भाषा के प्रति वहाँ की जनता का लगाव खत्म हो जाता है तो उस देश की सभ्यता और संस्कृति का भी अध:पतन होने लगता है । गणेशदत्त जी ने उसी समय संकल्प लिया कि चाहे जो हो । पंजाब में देश धर्म और संस्कृति की निरन्तर होती जा रही इस क्षति को रोककर ही रहेंगे । उन्होंने पंजाब में हिन्दी भाषा के प्रचार का व्रत लिया ।

संकल्प ले लेना ही उसे पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होता । वरन् उसे पूरा करने के लिए साधन और सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। जिन्हें जुटाना पूर्ति की साधना में प्रथम आवश्यक है । यही प्रश्न गोस्वामी जी के सम्मुख भी खड़ा हुआ लेकिन लगता था असाध्य । पास में न तो पैसा था और न समाज पर प्रभाव कि आवश्यक साधन जुट जायें । काम प्रारम्भ भी करें तो किस प्रकार । काफी सोच-विचार के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि काम का श्री गणेश कर देना चाहिए । किसी भी दुस्साध्य कार्य का आरम्भ कर दिया जाय साहसपूर्वक तो शनै:-शनै: मार्ग भी मिल जाता है । साहस करना व्यक्ति का काम होता है और सहायता करना भगवान् का ।

उन्होंने आरम्भ भी बहुत छोटे प्रयास से किया । वस्तुत: उनकी सामर्थ्य भी नहीं थी अभी कि वे तुरन्त इस क्षेत्र में अभियान स्तर का प्रयास शुरू कर दें । छोटे-से समारम्भ में भी उन्हें अन्य संस्थाओं से सहयोग की अपेक्षा करना पड़ी । जिस नगर में वे रहते थे— लायलपुर वे वहाँ की सनातन धर्म सभा के मन्त्री के पास पहुँचे और अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डाला । सभा के मन्त्री ने उनसे पूछा 'आखिर आप चाहते क्या हैं ।'

''मैं अपने इस सामाजिक उद्देश्य के हेतु आपसे कुछ सहायता चाहता हूँ ।''

''मेरे पास है क्या जो मैं आपकी सहायता कर सकता हूँ ।''— मन्त्री ने टालने के भाव से कहा ।

''जो सहायता आप कर सकते हैं । वही मैं आपसे माँगने भी आया हूँ । बात छोटी-सी है । यदि आप मेरे निवेदन पर सहानुभूति-पूर्वक विचार करें तो आसानी से पूरी हो सकती है ।''

''कहिए-कहिए''— मन्त्री ने उत्सुकतापूर्वक कहा । शायद वह समझा होगा कि कोई दो-चार पाँच रुपये का चन्दा लेने के लिए ये आये होंगे । इतना सहयोग तो मैं आसानी से कर दूँगा । इस युवक पर अपने व्यक्तित्व का मुफ्त प्रभाव पड़ेगा सो अलग ।

''दरअसल बात यह है कि आप सभा भवन में विद्यार्थियो को बैठने के लिए एक कमरा दे दें और थोड़ी-सी तेल की व्यवस्था कर

दें तो मैं हिन्दी की एक रात्रि पाठशाला आराम से चला सकूँगा''— गोस्वामी जी बोले ।

और इतना सुनकर मंत्री महोदय को जैसे साँप सूँघ गया । उन्होंने कहा— सभा भवन में ऐसा कोई फालतू कमरा नहीं है, जो आपके इस सर्वथा नये काम के लिये दिया जा सके । तेल-बत्ती की व्यवस्था भी नहीं की जा सकती ।

सभा के मन्त्री का उत्तर सर्वथा निराशादायक था और इस उत्तर को सुनकर निराश होने में कोई देर नहीं लगती । किन्तु गोस्वामी जी हतोत्साहित नहीं हुए वे बराबर मन्त्री से सम्पर्क करते रहे और अपने उद्देश्य के विषय में समझाते रहे, निवेदन करते रहे । गोस्वामी जी को सभा भवन ही अपने कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त लगता था । और उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया था कि थोड़ा प्रयत्न करने पर मन्त्री को अवश्य ही सहयोगी बनाया जा सकता है । आखिर गोस्वामी जी का यह प्रयत्न सफल हुआ और कुछ समय बाद सनातन धर्म सभा के मंत्री ने रात के समय कुछ घंटों तक सभा भवन को उपयोग में लेने की अनुमति से दी । फिर भी तेल-बत्ती के लिए उसने स्पष्ट कह दिया कि उसका प्रबन्ध गोस्वामी जी स्वयं करें, गोस्वामी जी ने इस अनुमति को ही पर्याप्त माना और इस सहयोग के लिए उन्हें हृदय से धन्यवाद दिया । और उस छोटे-से कमरे में हिन्दी कक्षा आरम्भ करने की योजना बनी ।

गोस्वामी जी तो अभाव देवता की सन्तान थे । उनके पास स्वयं अपना भरण-पोषण करने योग्य सुविधा-साधन ही नहीं थे तो वे विद्यालय के लिए आवश्यक धनराशि कहाँ से जुटाते । एक ही मार्ग सुझाई देता था वह था जन-सहयोग का उपार्जन इसलिए उन्होंने झोली तैयार की और उसे लेकर घर-घर, द्वार द्वार पर जाना आरम्भ किया । गोस्वामी जी जिस द्वार पर भी जाते उस द्वार पर ही गृहवासियों से दो निवेदन करते थे एक तो अपने बच्चों को रात्रिशाला में पढ़ने के लिए भेजने का निवेदन और दूसरा हिन्दी कक्षा के लिए आवश्यक साधन जुटाने हेतु चन्दा । यह दो निवेदन करते हुए वे घर-घर जाने लगे । यद्यपि जीवन में उन्होंने कभी अपने लिए किसी से कुछ नहीं माँगा था । आर्थिक दुरवस्था और अभावग्रस्त स्थिति में भी उन्होंने किसी से एक पाई का सहयोग नहीं लिया । इतना आत्मसम्मानी जीव देश-धर्म और संस्कृति के मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा हेतु झोली फैलाने लगा । लोग ताने कसते । गोस्वामी जी कभी किसी की सहायता नहीं लेते थे न देने पर भी कैसा इन्कार करते थे । परन्तु अब क्यों झोली पकड़नी पड़ी ।

गोस्वामी जी का उत्तर होता— भाई अपने लिए तो नहीं माँगता हूँ । जो माँग रहा हूँ वह इसलिए कि हम लोगों में देश, जाति और भाषा के प्रति आत्मसम्मान और आत्मगौरव की भावना पैदा हो ? 'मर जाऊँ माँगू नहीं'— का दृढ़ संकल्पी गोस्वामी जी को परमार्थ प्रयोजन के लिए माँगने में किंचित भी संकोच नहीं होता । कई घरों से निराश भी लौटना पड़ता परन्तु उन्हें इसमें अपना आत्मसम्मान जाता नहीं लगा । वरन् इससे तो आत्मगौरव और भी बढ़ा । वह इस कारण कि परमार्थ हित में अपना आत्माभिमान भी तज सकता हूँ ।

संस्कारों से मजबूर सर्वसाधारण किसी भी नयी बात को आसानी से ग्रहण नहीं कर पाते । लोगों का विरोध चलता रहा, उनकी उपेक्षा भी होती रही और मजाक भी लेकिन हतोत्साहित या निराश होने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी । विजयी श्री उसी का वरण करती है जो धैर्य-प्रयत्न, पुरुषार्थ और लगन के धनी होते हैं । इस मन्त्र की साधना से गोस्वामी जी ने अपने चरित्र को उदात्त आदर्श के रूप में प्रतिष्ठापित किया । वे प्रयत्नपूर्वक इस साधना में लगे रहे । विद्यार्थी और पैसा दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलने लगे । रात्रि-पाठशाला के प्रति लोगों में आकर्षण, अभिरुचि और उत्साह जागा तथा कार्यक्रम गतिशील होने लगा । गोस्वामी जी इस कार्य में इतने तन्मय और समर्पित हो गये कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही हिन्दी और शिक्षा प्रचार के लिए अर्पित कर दिया ।

धीरे-धीरे काम बढ़ता गया । अब सभा भवन में कक्षायें नहीं लग सकती थीं अतः उन्होंने अलग स्थान की व्यवस्था की । इसी क्रम से लायनपुर के बाहर भी उनका कार्यक्षेत्र फैला और एक-एक कर उनकी संस्था की शाखायें स्थापित होने लगीं । गोस्वामी ने क्रम से पंजाब भर में लगभग चार सौ स्कूल, हाईस्कूल, इण्टर कॉलेज, बाल विद्यालय और कन्याशालाओं की स्थापना करवायी, इन शालाओं में हिन्दी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया । कुछ ही दिनों में हिन्दी पंजाब की प्रमुख भाषा बन गयी । गोस्वामी जी द्वारा तैयार किया गया यह तन्त्र सुचारू रूप से चलने लगा ।

तभी भारत आजाद हुआ और आजादी मिलते ही देश के टुकड़े भी हुए । उर्दू भाषी क्षेत्र पाकिस्तान बन गया । गोस्वामी जी की अधिकांश शाखायें पूर्वी-पंजाब में थीं और वह सारा का सारा भाग पाकिस्तान बन गया । पाकिस्तान के अन्धे साम्प्रदायिक नेताओं ने गोस्वामी जी की समूची व्यवस्था को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । गोस्वामी जी ऐसी दशा में भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं हुए और पाकिस्तान छोड़कर भारत आ गये । धैर्यपूर्वक उन्होंने इस होनी को परमात्मा की इच्छा समझकर सहन किया ।

भारत आकर गोस्वामी जी जनसेवा के दूसरे कार्यों में लगे । उन दिनों पंजाब और बंगाल से हजारों-लाखों की संख्या में शरणार्थी आ रहे थे । गोस्वामी जी ने इन लोगों के पुनर्वास कार्य में बहुत बड़ा योगदान दिया । दिल्ली के बिड़ला मन्दिर में अपने सेवा कार्य का केन्द्र बनाकर शरणार्थियों के लिए अन्न, वस्त्र और आवासादि साधनों की व्यवस्था की । इसके अतिरिक्त वे दुःखी शरणार्थियों के पास जाते और उनकी वेदना में भी भागीदार बनते । यथाशक्ति सहायता देने के बावजूद; यद्यपि वह अत्यल्प ही होती थी— फिर भी वे शरणार्थियों के प्रति संवेदना, सहानुभूति, करुणा और आश्वासन आदि प्रकारों से उनका जो दुःख बँटाते थे उससे शरणार्थियों को बड़ी राहत मिलती थी ।

पंजाब में प्लेग, बंगाल के अकाल और अन्य ऐसी ही संकट की घड़ियों में देशवासियों की उन्होंने जो सेवा की उसकी मिसाल ढूँढ़ पाना मुश्किल है। अपना सारा जीवन सेवा कार्यों में लगाकर गोस्वामी जी ने इस परम पिता परमात्मा के विराट स्वरूप का साक्षात कर लिया जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है।

मानवता के महान् उपासक—संत श्री गाडगे बाबा

सन् १९०७ के पौष महीने का अन्तिम रविवार। दिन ढलने के साथ-साथ ऋण मोचन (अमरावती) के मेले में एकत्रित भीड़ छूटने लगी। सदा की भाँति खर पत्तों के कूड़े, रसोई के लिए प्रयोग किये गए मिट्टी के टूटे बर्तन, भोजन के बचे टुकड़े, यही नहीं ऊँचे-नीचे स्थानों पर मलमूत्र जहाँ-तहाँ भरे पड़े थे। प्रत्येक वर्ष इस तरह की गन्दगी से उत्पन्न बीमारियों के कारण मेले के आस-पास के गाँवों के निवासियों को अनेक कष्ट झेलने पड़े थे पर उसकी सफाई की ओर अब तक किसी ने ध्यान नहीं दिया था। हाँ, इस साल एक युवक, जो मेले के पूर्व नदी की ऊँची कगार को काट-काटकर स्नानार्थियों के लिए राह बना रहा था। अब हाथ में झाड़ू लिए मेले की गन्दगी की सफाई में अकेला व्यस्त था। दर्शकों का कौतूहल धीरे-धीरे प्रशंसा में बदल चला था। कुछ यह भी कहते सुने गये कि जो व्यक्ति आम लोगों की सुख-सुविधा तथा स्वास्थ्य-रक्षा के लिए पूरे दिन कुली और भंगी की तरह सेवा कार्य में जुटा है, उसका स्थान मन्दिर के देवताओं की आरती उतारने वालों से कम महत्त्व का नहीं है। यही नहीं उसका मार्ग ही भगवान् की सच्ची उपासना का मार्ग है।

मेले की सफाई के उपरान्त संत गाडगे, वहाँ उन्हें ढूँढ़ने आई अपनी माँ सखुजाई के समक्ष आकर बैठ गये। भंगी के समान उन्हें मेले की सफाई करते देख माँ का हृदय भर आया था, जिसे संत ने भाँप लिया। अत: जब माँ ने रोते हुए अपने इकलौते बेटे से घर लौट चलने के लिए आग्रह किया तो सन्त गाडगे ने कहा— "माँ अपने आस-पास का मानव संसार ही भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। इन कोटि-कोटि लोगों की यथाशक्ति सेवा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना हो सकती है। सुगन्धित फूल-पत्तों को पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाने की अपेक्षा अपने आस-पास विद्यमान चलती-फिरती दुनिया की सेवायें तथा भूखों के लिए रोटी मुहैया करने में जीवन खपा देने में उसकी सार्थकता है। ऐसे फूल-पत्तों से हमारी झाड़ू श्रेष्ठ है। पर यह बात आज तुम्हारी समझ में नहीं आ सकती।"

मानवता के इस महान् उपासक का जन्म महाराष्ट्र राज्य के अमरावती जिले में १८७६ में हुआ था और २० दिसम्बर, १९५६ को राष्ट्र संत स्व. तुकड़ो जी महाराज ने 'मानवता के महान् पुजारी संत गाडगे बाबा' नामक पुस्तक के अपने प्राक्कथन में सन्त गाडगे की 'मानवता के मूर्तिमान आदर्श' के रूप में वंदना की है।

एक बार जब सन्त गाडगे बाबा व्यसन-मुक्ति प्रचार के सिलसिले में वर्धा जिले में घूम रहे थे, गाँधी जी के निमन्त्रण पर उनसे मिलने सेवा ग्राम गये। जब आश्रम के आस-पास के गाँवों के निवासियों को उनके आश्रम में आने की सूचना मिली तो सैकड़ों की संख्या में लोग वहाँ आ पहुँचे। गाँधी जी ने गाडगे बाबा को बैठने को आसन दिया पर वे उनके सामने जमीन पर ही बैठ गये। राष्ट्रपिता के अनुरोध पर सन्त ने कीर्तन किया और बाद में उनके साथ भोजन भी किया। सन्त गाडगे की लोकप्रियता और सरलता देखकर गाँधी जी मुग्ध हो गये।

सन्त गाडगे बाबा सच्चे निष्काम कर्मयोगी थे। महाराष्ट्र के कोने-कोने में उन्होंने अनेक धर्मशालाएं, गौशालाएं, स्कूल, छात्रावास, दवाखाने आदि का निर्माण कराया, जिनका मूल्य इस समय दो करोड़ रुपयों से भी अधिक है। यह सब उन्होंने भीख माँग-माँगकर बनवाया परन्तु अपने सारे जीवन में इस महापुरुष ने अपने लिए एक कुटिया तक नहीं बनवाई, धर्मशालाओं के बरामदे या आस-पास के किसी वृक्ष के नीचे ही अपनी सारी जिन्दगी बिता दी। एक लकड़ी, फटी पुरानी चादर और मिट्टी का एक बर्तन (जो खाने-पीने और कीर्तन के समय ढपली का काम देता था) ही उनकी सम्पत्ति थी। इसी से उन्हें महाराष्ट्र के भिन्न-भिन्न भागों में कहीं गाडगे (मिट्टी के बर्तन वाले) गोधड़े (चिथड़े वाले) बाबा के नाम से पुकारा जाता था, उनका वास्तविक नाम आज तक किसी को मालूम नहीं।

गाडगे बाबा के जीवन का एकमात्र ध्येय था लोकसेवा। दीन-दु:खियों, उपेक्षितों की सेवा को ही वे ईश्वर सेवा मानते थे। धार्मिक बाह्याडम्बरों के वे प्रबल विरोधी थे। वे कहा करते थे कि भगवान् न तो तीर्थ स्थानों में हैं और न मूर्तियों में, बल्कि दरिद्र नारायण के रूप में वह मानव-समाज में ही विद्यमान है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस भगवान् को पहचाने और उसकी तन-मन धन से सेवा करे। भूखों को भोजन, प्यासे को पानी, नंगे को वस्त्र, अनपढ़ को शिक्षा, बेकार को काम, निराश को ढाढ़स और मूक जीवों को अभय प्रदान करना ही वे भगवान् की सच्ची सेवा मानते थे। तीर्थ स्थानों पर १२ बड़ी-बड़ी धर्मशालायें स्थापित करने का उनका एकमात्र उद्देश्य था कि गरीब यात्रियों को वहाँ मुफ्त में ठहरने का स्थान मिल सके। नासिक में बनी उनकी विशाल धर्मशाला में ५०० यात्री एक साथ ठहर सकते हैं, वहाँ यात्रियों को सिगड़ी, बर्तन आदि भी नि:शुल्क देने की व्यवस्था है। दरिद्र नारायण के लिये वे प्रतिवर्ष अनेक बड़े-बड़े अन्न क्षेत्र भी किया करते थे, जिनमें अन्धों, लंगड़ों तथा अन्य अपाहिजों को कम्बल और बर्तन आदि भी बाँटते थे।

सन्त गाडगे बाबा बड़े बुद्धिवादी थे, यद्यपि वे अनपढ़ थे। बचपन में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी। अत: उन्हें छुटपन में अपने नाना के पास रहना पड़ा, जहाँ उन्हें गायें चराने तथा खेती का काम करना पड़ता था। सन् १९०५ से लेकर १९१७ तक सन्त गाडगे बाबा अज्ञातवास में रहे। इस दौरान उन्हें देश और समाज को नजदीक से देखने का पर्याप्त अवसर मिला। अन्धविश्वासों, बाह्य आडम्बरों, रूढ़ियों तथा सामाजिक कुरीतियों एवं दुर्व्यसनों से समाज

को कितनी भयंकर हानि हो रही है, इसका उन्हें भली-भाँति अनुभव हुआ। यही कारण है कि इन चीजों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। वे कहा करते थे कि तीर्थ और मन्दिरों के पण्डे-पुजारी सब भ्रष्टाचारी रहते हैं, अतः वे तुम्हारा क्या भला कर सकेंगे ? धर्म के नाम पर होने वाले पशुबलि के भी वे कट्टर विरोधी थे। यही नहीं नशाखोरी, छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों तथा मजदूरों और किसानों के शोषण का भी वे प्रबल विरोध करते थे।

साधु-महात्माओं के पाँव छूने की प्रथा आज भी सर्वत्र प्रचलित है। सन्त गाडगे इसके घोर विरोधी थे। जब भी कोई उनके पाँव छूने की चेष्टा करता वे दूर हट जाते और झिड़कते हुए कहते— "खबरदार जो मेरे पाँव को स्पर्श किया।" यहीं नहीं जब श्रद्धालु लोगों की भीड़ उनके पैर छूने के लिए टूट पड़ती तो वे अपनी छड़ी से उन्हें दूर हटाते हुए भाग जाते।

सन्त गाडगे बाबा द्वारा उनके जीवन काल में ही स्थापित 'गाडगे महाराज मिशन' आज भी १२ धर्मशालाओं तथा ३१ कॉलेज, स्कूल छात्रावास आदि संस्थाओं का सफल संचालन तथा समाज-सेवा के अन्य कार्यों में संलग्न हैं।

सन्त गाडगे बाबा आज के सन्त-महन्तों एवं महात्माओं के लिये समाज-सेवा का जो आदर्श छोड़ गये हैं, उस पर यदि वे चलने का प्रयास और संकल्प करें तो दिन प्रतिदिन इस पुण्य भूमि भारत की हो रही अवनति और अधःपतन से उसे उबार सकते हैं। प्रभु इसके लिए उन्हें सद्बुद्धि एवं सत्प्रेरणा दे।

जैन धर्म के प्रचारक— पं. गोपालदास बरैया

"जैन उन्हें कहते हैं जो 'जिन' के अनुयायी हों जिन्होंने अपनी वाणी को, काया को जीत लिया, वे ही 'जिन' हैं। यह गर्व का विषय है कि जैन धर्म भारतवर्ष के प्रमुख धर्मों में से है। प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की कामना तथा सारगर्भिता के कारण ही इसे यह महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।"

"हम यह मानते हैं कि अपने को जीतना ही सबसे बड़ी साधना है। पुरुष संग्राम में दस लाख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे उसकी अपेक्षा तो वह अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त कर ले, यही श्रेष्ठ जय है। अहिंसा, तप और संयम— यही जैन धर्म के प्रमुख तीन स्तम्भ हैं।

आज समाज में चारों ओर जो अशान्ति और कुंठाएँ व्याप्त हैं, उन्हें दूर करने में यह धर्म पूर्णतः सक्षम है। परन्तु आवश्यकता ऐसे लोगों की है जो समाज-कल्याण के लिए वैयक्तिक सुखों का मोह त्याग कर कमर कसकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ें। यदि युवाओं की धमनियों का लहू अभी जमा न हो तो वे आगे आयें ...."

वक्ता का धाराप्रवाह भाषण चल रहा था। अनेक श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। श्रोताओं में एक युवक ऐसा भी था जिसके जीवन की धारा ही भाषण के द्वारा परिवर्तित हो गयी। धर्म क्या होता है, धर्म की शक्ति सामर्थ्य कैसी होती है, यह उसे प्रथम बार पता लगा था। वक्ता महोदय के तर्क इतने युक्तिसंगत थे कि युवक को मानना पड़ा कि समाज-कल्याण के लिए, उसे सद्गुणी, सदाचारी, चरित्रवान बनाने के लिए धर्म का प्रचार आवश्यक है। उसी दिन उसने अपना जीवन जैन सिद्धान्त और जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया। यह युवक थे पं. गोपाल दास बरैया जो आगे चलकर जैन धर्म के प्रचारकों में अग्रगण्य गिने गये। इनकी महान् सेवाओं के फलस्वरूप आज भी इनका नाम अत्यन्त श्रद्धा तथा आदर के साथ लिया जाता है।

पं. गोपालदास बरैया को उपर्युक्त घटना से पूर्व धर्मादि में कोई रुचि न थी। उनका बचपन बहुत साधारण-सा था। बाल्यावस्था में ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अजमेर में रेलवे दफ्तर में नौकरी करने लगे। 'खाओ-पीओ और मौज मनाओ' यही उनका जीवन-क्रम चल रहा था। अचानक ही वे एक जैन विद्वान् के सम्पर्क में आये तथा उन्हें इस धर्म की गरिमा को स्वीकार करना पड़ा। उनके अन्तःकरण में प्रस्तुत देवत्व के बीज जागरित हो उठे और देश और धर्म के पुनरुद्धार के लिए उन्होंने अपना जीवन दे दिया।

नौकरी छोड़कर पंडित जी बम्बई चले गये। यहाँ वे जैन महा-सभा के कार्यों में सक्रिय भाग लेने लगे। यहीं पर उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के माध्यम से जैन धर्म का गंभीर अध्ययन किया तथा जैन संस्कृति महाविद्यालय की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं।

जैन धर्म का तत्त्व समझ कर अब वे जनता को भी उसका रहस्य समझाने में जुट गये। १९०० ई. में पंडित गोपालदास बरैया ने 'जैन मित्र' नामक पत्र निकाला। इसके माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्त को जनसाधारण तक पहुँचाया। 'जैन धर्म का पालन घर-परिवार छोड़कर ही किया जा सकता है' जनसाधारण को उन्होंने जैन धर्म के सम्यक् विवेचन से निर्मूल सिद्ध कर दिया, साथ ही पंडित जी ने यह भी सिद्ध किया कि यदि गृहस्थ लोग अणुव्रतों का ठीक से पालन करें तो समाज में चारों ओर फैला हाहाकार दुःख और अशान्ति दूर होते देर न लगे।

जनता में त्याग, तपस्या, सेवा, अहिंसा, सत्य, परिग्रह आदि की भावनाएँ भरने के लिए उन्होंने घूम-घूम कर प्रचार किया। जैन मुनियों के महान् संदेश को इन्होंने अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में जन-साधारण के अन्तःकरण तक उतारा तथा उन्हें सात्त्विक और परोपकारी जीवन जीने की प्रेरणा दी। आज जैन धर्म का जो व्यापक प्रचार है, उसका श्रेय एक प्रकार से पंडित जी को दिया जा सकता है।

जय कृष्ण प्रभुदास भणसाली का सार्थक तप

"बापू ! बापू !! अरे देखिए न, काका को क्या हो गया है ?" बच्चों का एक पूरा झुण्ड कोठरी के द्वार पर दौड़ आया। अभी सबेरा हुआ ही था। दिसम्बर-जनवरी के महीने में सूर्य रश्मियाँ वैसे भी

अलसाई रहती है, फिर तो आज उन्होंने कोहरे की सफेद चादर तान रखी थी। ऐसे में इतनी सुबह बालकों के समूह का द्वार पर कमल की पंखुड़ियों की तरह सिमट आना। क्यों न सिमटें ? आखिर एक वही तो हैं जिनसे छोटे-बड़ों की शिकायतें, आपस की नोक-झोंक सब कुछ कह लेते हैं। कभी-कभी तो उनसे उनकी भी गलतियाँ बताने में नहीं चूकते। सुनकर वह हँसते हैं समझते हैं और जवाब में पूरा आश्रम परिसर खिलखिलाहट से भर जाता है। आज फिर पता नहीं क्यों ?

द्वार खोलते ही सबके सब घुस गए। बच्चों से घिरे उन्होंने पूछा "क्या हुआ तुम्हारे काका को ?" बच्चों के ये काका दुनिया की विचित्र वस्तुओं से भी विचित्रतम्। कहा जाता है कि संसार के सात आश्चर्य हैं किन्तु ये ऐसे कि सातों आश्चर्य इन्हें देखकर स्वयं आश्चर्य में पड़ जायें। सभी आश्रमवासी उनके बारे में यही राय रखते थे। आपस में हो रही चर्चा में कहीं न कहीं उनका नाम अवश्य कूद पड़ता। इस नाम कूद से बातों का मजा बढ़ जाता था। उनका जीवन क्रम उपवास करने लग जाय तो ६८ दिन तक बिना खाए-पिए बने रहें और अगर खाने लग जायें तो आश्रम का सारा दूध अकेले पी जाने लगें, तब गौशाला के इन्चार्ज ने बापू से विनय की इस समय लगभग बीस सेर तो दूध ही होता है, वह सब का सब काका के पेट में चला जाता है। बापू हँस पड़े "कोई प्रयोग कर रहा होगा, मैं मना कर दूँगा" और दूसरे दिन से बारह-तेरह किलो खली खाने का क्रम चला यह छूटा तो महीनों कड़वी नीम की पत्ती के घोल पर गुजरे। आश्रमवासी हैरत में पड़े थे आखिर ये हैं क्या ? इतना कठोर जीवन कि कठोरता को भी कँपकँपी छूट जाय। इस पर बीमारी तकलीफ उनसे कोसों दूर।

तब आज फिर क्या कोई नया··? बापू की मुस्कान अपने आप में गहरा रहस्य छुपाए थी। बच्चे तो अपना सारा आश्चर्य उन्हीं की झोली में उड़लने आए ही थे। तनिक-सा संकेत मिलते ही सब के सब एक साथ बोल पड़े "आज रात क्या हुआ ? तू नहीं मैं बताऊँगा ···· नहीं मैं।" आखिर हँसते हुए उन्होंने सबको चुप कराया फिर एक बारह-तेरह साल के बालक को बोलने का इशारा किया।

"कल शाम काका ने गायों की लम्बी वाली नाद को साफ किया फिर उसमें पानी भरा, उसने बताना शुरू किया हम लोगों ने सोचा कि ऐसे ही सफाई चल रही होगी। पर नहीं वह तो टाट की एक लँगोटी पहने नंगे बदन सारी रात उस पानी में लेटे रहे। कल रात की सर्दी उफ ! जैसे उसे स्मरणमात्र से झुरझुरी हो आयी हो।" "असली बात बता।" एक साँवले से तनिक वाचाल लगने वाले लड़के ने अपनी आँखें मटकाते हुए टोका। इसके पहले कि दोनों में नोंक-झोंक हो जाती, उन्होंने हाथ के इशारे से शान्त करते हुए उसी साँवले बालक को बताने का संकेत किया।" उन्होंने मुँह सिलवा लिया बापू। मुँह सिलवा लिया।" अब तो उन्हें भी ताज्जुब हुआ। मुहावरा तो सुना है मुँह सिलवाना पर कोई सचमुच में। किस चीज से सिलवाया है ? तांबे के तार से। कई लड़के एक साथ बोल पड़े।

अब की बार गाँधी जी को गम्भीर होना पड़ा। लोग जब कहते बापू तुम्हारे आश्रम में चोर से लेकर संन्यासी तक तरह-तरह के आदमी रहते हैं। आपने इन्सानों का चिड़ियाघर खोल रखा है। सुनकर वह हँसते हुए मजाक में कहते चिड़ियाघर नहीं शिव की बरात है। नन्दी-भृंगी से लेकर भूत-बैताल, साँप-बिच्छू सभी हैं, वीरभद्रों की भी भारी तादाद है। भाँति-भाँति के इन्सानी नमूनों में एक यह भी फिर कुछ सोचते हुए पूछा अच्छा इस समय क्या कर रहे हैं ? नदी के पानी में दोनों हाथ उठाए खड़े आकाश की ओर देख रहे हैं। बच्चों का जवाब था।

अपनी हलकी-सी शाल को लपेटते हुए वह बच्चों के साथ चल पड़े। कदमों के सहारे पगडंडी को नापते उनका चिंतन चक्र चल पड़ा। अनेक गुण हैं उसमें स्वाध्यायी है, विनयशील है, कर्मठ है, सत्यवादी है संक्षेप में एक महापुरुष के लिए जितने गुणों की अपेक्षा रहती है, प्रायः वे सभी हैं। यदि कोई दोष है तो यह कि हठी है। यों जीवन के अन्य विषयों में पारस्परिक व्यवहार में नीति परामर्श में। उसका हठ कहीं भी आड़े नहीं आता। इसके प्रकटीकरण का क्षेत्र तो एक ही है जिसे वह 'तप' कहता है।

'तप' कितना गहरा अर्थ छुपा है इस शब्द में। जीवन का, अरणि मन्थन का, ऊर्जस्विता के अर्जन का नाम है 'तप'। व्यक्तित्व के महासागर का मन्थन कर चौदह गुण रत्नों के प्रकटीकरण की प्रक्रिया है यह। पर ·· अचानक उनकी नजर सामने की ओर उठी। चारों ओर कोहरे की सफेद धुंध अभी भी पगडण्डी, खेतों-वृक्ष, वनस्पति और इक्के-दुक्के आने-जाने वालों को अपनी सुविस्तीर्ण चादर में लपेटती जा रही थी। सन्नाटे के बीच कभी-कभार नदी की लहरों की ध्वनि तरंगित हो जाती। आगे बढ़ गए बच्चों को पुकार कर पास बुलाकर स्नेहपूर्ण स्वरों में कहा साथ-साथ चलो। वह पुनः उनके बारे में सोचने लगे तप के नाम पर ही तो अपने शरीर को यातना देता है। कई बार उसे उन्होंने संकेत भी किए फिर वह कोई नासमझ तो नहीं है, जिसने इतिहास, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र तथा फ्रेंच विषयों में एम. ए. (आनर्स) किया हो। जो सेण्ट जेवीयर कॉलेज में प्राध्यापक रहा हो।

इस ओर नहीं उस तरफ। एक बच्चे ने उनके कदमों को दूसरी ओर मोड़ा उस ओर जिधर इनके काका खड़े थे। वे सोचने लगे— "कितना प्यार करते हैं ये सब बच्चे उसको। तभी तो ऐसी कड़ाके की ठण्ड में भी आकर उसे देख गए। मुझे लेकर आये। वह भी इन बच्चों के लिए जान देता है। जब होता है तब इन्हीं बच्चों के विकास का चिन्तन। बिना किसी आशा अपेक्षा के इनके हित में लगे रहना। प्रेम भाव है, दिव्य भाव, मनुष्य में विकसित देवत्व यह। जिस किसी भाव का स्वयं को विकास होता है, बाह्य जगत से उसी का प्रतिदान मिलता है। जिसने अपने अन्दर घृणा पनपाई है, उसे बदले में घृणा के सिवा और कुछ न मिलेगा। जिसने अपने अस्तित्व को निचोड़ कर अमृत बिन्दु छिड़के सम्पूर्ण विश्व उसे अमृत कलश समर्पण करने में गौरव की अनुभूति करेगा।"

कमर तक पानी में खड़ा उसका निष्कम्प शरीर कोहरे को बेधकर झिलमिलाता दीख रहा था । 'ये रहे ।' बच्चों का समवेत स्वर गूँज उठा । नदी का जल अभी भी सफेद धुंध से ढका था । ये सब बिल्कुल पास जाकर खड़े हो गए । थोड़ी देर बाद हलका-सा कंपन हुआ । आकाश की ओर उसने हाथ जोड़े और पीछे की ओर मुड़ा । शायद उसने आज की उपासना पूर्ण कर ली थी । मुड़ने पर एकाएक वह अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका दो-चार बार पलकें झपकीं । तो क्या बापू स्वयं ? दिल की धड़कनें तेज हो गईं ?

इस तरफ आ जाओ । कानों के अन्दर चिरपरिचित आवाज ने प्रवेश किया । अब तो अविश्वास का कोई सवाल न था । धीरे-धीरे पानी को पार करता हुआ उनके पास आ पहुँचा । ''भणसाली ! क्यों इतनी तकलीफ उठाते हो?'' कहते हुए उन्होंने अपनी शाल के अन्दर से एक सूखा कपड़ा निकाल उनके शरीर को पोंछना शुरू किया । आहिस्ते-आहिस्ते ताँबे के उस तार को निकाला जिससे उन्होंने अपने होंठों को बींध रखा था । दूसरे क्षण ऊनी खादी का एक मोटा कपड़ा उसे लपेटने को दिया । सम्भवत: वह इसे अपने साथ लेकर चले थे । बच्चे मौन खड़े अपने काका को देख रहे थे ।

थोड़ी देर में सब साथ-साथ चल दिये । आश्रम की जानी पहचानी राह पर बच्चे उछलते-कूदते भाग चले । आखिर उन्हें अपना विजय सन्देश सुनाने की जल्दी जो थी । भणशाली काका को डिगाना और हिमालय को डिगाना एक । पर बापू की सहायता से सब कुछ······। देखते-देखते बालकों का समूह ओझल हो गया ।

इधर बापू कह रहे थे ''भणशाली जिद छोड़ो, तपस्या हठ नहीं जीवन का शोधन है । वही तो करने की कोशिश कर रहा हूँ । शब्दों में बिंधे होठों का कष्ट सुना था । जवाब में बापू ने वात्सल्य भरी झिड़की दी फिर वही बच्चों वाली बात, लगता है तुम लड़कों को पढ़ाते-पढ़ाते लड़के हो गए जिद्दी लड़के । भले आदमी ! रात भर पानी की.नाँद में लेटने, तपती बालू में पड़े रहने, होंठ सिलवा लेने से जीवन का शोधन कैसे होगा ? उत्तर में एक चुप्पी थी, जिसे तोड़ते हुए गाँधी जी की वाग्धारा पुन: बह चली ।'' ''जिस जीवन का परिष्कार कर सैकड़ों-हजारों लाखों क्षत-विक्षत जिन्दगियों में नए प्राण फूँके जा सकते हैं, जो परिष्कृत जीवन सहस्रों-सहस्र नर पशुओं को देव मानव की दीक्षा देने में समर्थ है उसी को तिल-तिल करके गलाना परमात्मा की दिव्य धरोहर का अपमान नहीं तो और क्या है ?''

वे बोल उठे ''पर बापू मैं तो शास्त्र विधान के अनुसार तप······।''वाक्य पूरा होने के पूर्व गाँधी जी ने टोका ''शास्त्रों में गीता को पढ़ना भूल गए क्या ? जिसके सत्रहवें अध्याय में इस शरीर यातना को अविवेकियों के द्वारा किया जाने वाला आसुर कर्म कहा है । घर छोड़ो-जंगल भागो, कमरे छोड़ो, गुफा ढूँढ़ो मनस्वियों के इसी पलायन धर्म के कारण विधाता के विश्व उद्यान का बंटाधार हुआ है । जिस बगीचे के माली भाग जाएँ तो परिणाम जानते हो बगीचे और मालियों का गाँधी ने तीव्र बेधक दृष्टि से उनकी आँखों में झाँका । कुछ पल रुक कर शिक्षक के स्वर में बोले बगीचे को बनैले पशु रौंदेंगे । हँसते-खिलखिलाते फूलों को कुचले-मसले जाने के लिए विवश होना पड़ेगा और तप के नाम पर युग धर्म से मुख मोड़ने वाले इन पलायन धर्मियों को आत्मग्लानि के तुषानल में जन्म-जमान्तर तक झुलसना पड़ेगा । आज अपने देश की दुर्दशा, उसके जिस्म पर हो रहे सहस्रश: आघातों का एकमात्र कारण इसके मालियों का पलायनवाद है ।'' बापू के स्वर गाम्भीर्य ने उसे सहमा दिया । मानवता के लिए उनके दिल में अहर्निशि उठने वाली घुमड़न से वह अपरिचित न था पर······ ।

शायद उन्होंने अपने स्वर की तीव्रता स्वयं अनुभव कर ली । इसी कारण अपने को अपेक्षाकृत सहज करते हुए कहने लगे । योगेश्वर कृष्ण तप की व्याख्या करते हुए कहते हैं शरीर का तप है सेवा के लिए श्रम । वाणी का तप है सत्य प्रिय हितकारक वचन और मन का तप है सौम्यता व विचारशीलता । हठ छोड़कर इसे अंगीकार करो-बदलो अपने मन की प्रवृत्तियों को ।

वार्तालाप के क्रम में नदी से आश्रम का रास्ता कब पूरा हुआ इसका दोनों में से किसी को भान तक न होने पाया । उस दिन से प्रारम्भ हुआ इनका यथार्थ तप । हरिजन यंग इण्डिया का सम्पादन हो अथवा आटा चक्की चलना पूर्ण तन्मयता से आश्रम के हर छोटे-बड़े काम करते रहते । आश्रमवासी उनके इस परिवर्तित स्वरूप को देखकर चकित थे । १९४२ के अगस्त महीने में महिलाओं के रक्षणार्थ किए गए उनके सत्याग्रह ने सारे देश को चकित कर दिया। चिमूर स्थान में किए गए इस सत्याग्रह पर स्वयं गाँधी जी कह उठे जय कृष्ण प्रभुदास भणसाली ने मेरा सिर दुनिया में ऊँचा कर दिया । युगधर्म के निर्वाह के लिए 'कष्ट सहिष्णुता ही तप है ।' इसी आदर्श के निर्वाह में उनका जीवन बीता । काल प्रवाह के बदले स्वरूप में आज हमारी बारी है इस तप का निर्वाह कर अपने मार्गदर्शक का सिर ऊँचा करने की । ब्राह्मणोचित जीवन जी कर, ब्रह्म बीज की तरह गलकर सारी विश्वसुधा को ब्रह्म कमलों से सुविकसित करने की ।

समाज-सुधार के शंखोच्चारक—महात्मा ज्योतिबा फुले

२७ नवम्बर, १८९० की प्रात:काल जब उनके जीवन की अन्तिम साँसें चल रही थीं उन्होंने अपने निकटवर्ती अनुयाइयों को बुलाया । उन्होंने जीवन भर सामाजिक कुरीतियों के साथ विद्रोह किया था । आज उनके विश्राम का दिन था पर जैसे उनकी आत्मचेतना को तब तक विश्राम स्वीकार नहीं था जब तक इस देश का बच्चा-बच्चा भेद-भाव, जाति-पाँति, ऊँच-नीच की संकीर्णता से मुक्त नहीं हो जाता । जब तक इस देश की नारी अपना यथेष्ट सम्मान और समानाधिकार प्राप्त नहीं कर लेती, जब तक एक भी विधवा इस संसार में भार रूप जी रही हो तब तक उस क्रान्तिकारी की आत्मा विश्राम लेना स्वीकार नहीं कर सकती थी । इसलिए उन्होंने अपने साथियों को सामने बैठाकर उसी प्रकार समझाना प्रारम्भ किया जिस प्रकार एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को पाठ सिखाता है । भाइयो अपना देश धर्म और अपनी संस्कृति जब तक अपने पूर्व उज्ज्वल कीर्ति को नहीं पा लेती सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध सत्याग्रह की आवाज को मन्द मत पड़ने देना ।

अपने भीतर यही दर्द छुपाये हुए वह इस संसार से विदा हो गये पर मरते-मरते वह यह समझा गये— मनुष्य के लिये समाज सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं। उससे अच्छी कोई ईश्वर उपासना नहीं। जो अपने समाज को ऊँचा उठाने में अपनी योग्यताओं, शक्ति, सुख और सुविधाओं का बलिदान कर सकता है वही सच्चा ईश्वरभक्त और लोकनायक है। दुनिया उसे चाहे बुरा कहे या विरोध करे वह सब निरर्थक है।

समाज के प्रति इतना प्रेम बरतने वाले यह महात्मा महाराष्ट्र में सामाजिक सुधार के आदि प्रवर्त्तक और पिता माने जाते हैं। उनकी सेवाओं के लिये न केवल महाराष्ट्र वरन् सारा देश ही चिरकाल तक अनुगृहीत रहेगा। उन का नाम था महात्मा ज्योतिबा फुले। ज्योतिबा का जन्म १८२७ में पूना में एक माली परिवार में हुआ था। वह सबसे पहले भारतीय थे जिन्होंने इस देश में समाज-सुधार और पद-दलितों के उत्थान का अभियान ही नहीं चलाया बल्कि धर्म और संस्कृति के सत्य स्वरूप की शोध के लिये भी एक महान् परम्परा का श्री गणेश किया। इतना बड़ा कार्य जो उन्होंने अकेले सम्पन्न किया वह किसी मिशनरी के बराबर का काम था। लोग आश्चर्यचकित हैं इतनी कठिन तपश्चर्या वे कैसे कर सके पर जिनके हृदय में दूसरों के लिये थोड़ी दया, थोड़ी करुणा, आत्मभाव और प्रेम होता है, उसकी आपूर्ति के लिये जो केवल बातें ही नहीं करते वरन् मैदान में कूदकर एक सच्चे योद्धा की तरह लड़ने और संघर्ष भी करने की हिम्मत रखते हैं, उनके लिये यह उपलब्धि एक साधारण बात है।

सहायतायें तो उन्हें भगवान् देता है। सुविधायें मनुष्य कहाँ दे सकता है वह भी परमात्मा की ही प्रेरणा से जुटती है। सिद्धियाँ— मनुष्य की कर्मठता ही वह सिद्धि है जो बड़े से बड़ा चमत्कार कर दिखाती है। ज्योतिबा जिस परिवार में जन्मे थे उसमें आज तक किसी ने उच्च शिक्षा नहीं पाई थी। उसमें उस परिवार का कोई दोष नहीं था। उन्हें बताया ही यही गया था कि तुम नीच वर्ण के हो तुम्हें शिक्षित होने का अधिकार नहीं है। पढ़ना, लिखना केवल कुलीनों की बपौती है। इस अन्धमान्यता के कारण ही हिन्दू जाति अपने संगठन को खो बैठी और उसे सैकड़ों वर्ष लम्बी गुलामी के शिकंजे में जकड़े रहना पड़ा।

ज्योतिबा के पिता ने कहा— मैं अपने बच्चे को अवश्य पढ़ाऊँगा चाहे मुझे सूखी रोटी खाकर ही गुजारा करना पड़े। दुर्मति सन्तानें छोड़कर मैं भगवान् के सुन्दर संसार की कुरूपता नहीं बढ़ाना चाहता और इस तरह ज्योतिबा को उच्च शिक्षा के लिये मार्ग मिल गया जिस पर वे उसी निष्ठा से चले भी और यह सिद्ध कर दिखाया कि विद्या और ज्ञान किसी एक वर्ग की विरासत नहीं, वह तो साधना है और उसका लाभ कोई भी ले सकता है। उसका अधिकार सबको है। सभी अपनी आत्मा के उत्थान के लिये ज्ञानार्जन की इस प्रारम्भिक शर्त को पूरा कर सकते हैं इसमें समाज की अपनी ही भलाई है। अच्छे आदमियों की उससे संख्या ही बढ़ती है।

ज्योतिबा अभी नवयुवक ही थे। एक ब्राह्मण मित्र की शादी थी। मित्र ने बहुत आग्रह किया कि ज्योतिबा भी बारात में चलें। ज्योतिबा सहर्ष तैयार हो गये पर अभी बारात बीच रास्ते में ही थी कि वर के किसी सम्बन्धी को पता चल गया कि ज्योतिबा नाम का बाराती माली है बस उसे मानो सर्प ने काट लिया। पहले तो उसने जी भर कर अछूतों को बुरा-भला कहा और फिर ज्योतिबा को बारात से चुपचाप लौट जाने की चेतावनी दी। मित्र के आग्रह को भी किसी ने नहीं माना उसे यह कह कर चुप कर दिया गया— तुम पढ़-लिख गये हो इसलिये धर्म को भी नहीं पहचानते। अच्छा होता तुम्हें पढ़ाया नहीं जाता तो जाति-पाँति के बन्धनों का उल्लंघन करने की हिम्मत तो नहीं करते।

ज्योतिबा लौट आये पर एक तूफान और क्रान्ति की ज्वाला लेकर। उसके ब्राह्मण मित्र ने इस अपमान को सहा तो पर उसे अपने धर्म से ही घृणा हो गई। आज का तरुण वर्ग नास्तिक होता चला जाता तो इसका दोष उसको नहीं वरन् इस संकीर्ण और दकियानूसी विचारों को ही है। जो मान्यतायें मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हों जिसमें इतनी संकीर्णता हो कि एक-सी परिस्थितियों में जन्मे एक को छूत और दूसरे को अछूत कहें। उसके वर्चस्व को स्वीकार भी कौन करेगा। भारतीय धर्म का पतन न हुआ होता यदि इस तरह के दम्भों, पाखण्डों और आत्म-प्रवचना पूर्ण कुरीतियों और मान्यताओं से उसे बचा लिया गया होता।

ज्योतिबा ने निश्चय किया कि जब तक समाज में बुराइयाँ हैं तब तक मुझे केवल अपने बारे में सोचना भी पाप है। हम जिस जाति में जन्मे हैं उसके प्रति भी अपने कर्त्तव्य हैं ऊपर की पीढ़ी ने यह पाप किया है उसका फल हम भुगत रहे हैं पर आगामी पीढ़ी को उस दण्ड से बचाने के लिये यदि कुछ प्रयत्न नहीं करते तो हम भी इन पूर्वजों की तरह ही अपराधी होंगे। माना हमारा अपमान हुआ है पर यह हम तक ही तो सीमित नहीं है। इससे मनुष्यता भी तो कलंकित होती है इसलिये उसके उत्थान का कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए।

२१वर्ष के तरुण ज्योतिबा ने अब तक अपने घर के कर्त्तव्यों का पालन किया था। उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई फुले अनपढ़ आई थीं। उन्हें एक-एक मिनट का समय निकालकर उन्होंने इस ख्याल से पढ़ाया था कि वह विचारवान साथी की तरह जीवन पथ पर वास्तविक सहयोग प्रदान कर सके।

२१ वर्ष की अवस्था जब लोग सांसारिक सुख और लौकिक लालसाओं के लिये मचलते हैं जब ज्योतिबा फुले ने अपने सामाजिक दायित्व के लिये अपने आपको सम्पूर्ण साहस के साथ प्रस्तुत किया। उनके निकटवर्ती सम्बन्धी ने मना किया— ज्योतिबा पहले तो अपनी हैसियत का विचार कर फिर अवस्था का। सेवा करनी ही है तो उसके लिये भी एक अवस्था होती है। तेरी सुनेगा कौन ? तेरी मानेगा कौन ?

पर रत्ती भर निराश हुए बिना ज्योतिबा ने उत्तर दिया, काका जी, नैपोलियन २३ साल की आयु में ब्रिगेडियर बना था। इतनी ही अवस्था होगी कि शिवाजी ने कई किले मुगलों से छीन लिये थे। सन्त ज्ञानेश्वर की अवस्था ही क्या थी जब उन्होंने ज्ञानेश्वरी-टीका रचकर तैयार कर दी थी, यही अवस्था काम की है। काका अभी जिस

कार्य की आवश्यकता है उसके लिये आयु की प्रतीक्षा करने का अर्थ है हम उसे करना नहीं चाहते या हमारी सिद्धान्तवादिता केवल औरों को दिखाने के लिये है ।

ज्योतिबा में साहस था और काम करने की लगन भी । इसलिये सहयोग भी अपने आप जुटा । उनकी धर्मपत्नी सावित्री ने शिक्षा के महत्त्व को मान लिया था क्योंकि वह दोनों स्थितियों में रह चुकी थीं उन्होंने अपने पति के इस कार्य में न केवल उत्साह बढ़ाया वरन् पूरा सहयोग भी दिया । दोनों ने मिलकर समाज-सुधार का शंख निनादित कर ही दिया ।

एक कन्याशाला की स्थापना की गई । पास-पड़ोस की जानी-पहचानी कन्याओं को जोड़ने में दम्पत्ति को जितना परिश्रम नहीं करना पड़ा उससे अधिक विरोध का सामना । ब्राह्मण वर्ग कन्याओं को स्कूल भेजने के पक्ष में न था इसलिये उनकी खुलकर आलोचना हुई, मार डालने तक की भी धमकी दी गई । पर ज्योतिबा ने कहा— नेक रास्ते पर पाई हुई मृत्यु से मुझे सन्तोष होगा । वे अपने रास्ते डटे रहे । नारी शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता पर लेख लिखे, भाषण भी दिये उससे पढ़ी-लिखी जनता को जोश उमड़ा और देखते-देखते वह कन्या पाठशाला धूम-धाम से चलने लगी, विरोधी अपना-सा मुंह लेकर रह गये । नारी शिक्षा के विस्तार के लिये वे लगे ही रहे और अन्ततः सारे महाराष्ट्र में नारी शिक्षा के व्यापक प्रसार में सफलता पाई । ब्रिटिश सरकार ने भी उनके इन प्रयत्नों पर काफी सहायता दी ।

इसी बीच उनकी भेंट एक गर्भवती विधवा से हुई । उसकी करुण कहानी सुनकर ज्योतिबा का हृदय करुणा से भर गया । तब उन्होंने विधवा विवाह का प्रसार भी प्रारम्भ कर दिया । कई विधवाओं के विवाह उन्होंने स्वयं कराये और ऐसी विधवाओं और उनके बच्चों को आत्महीनता से बचाने के लिये उन्होंने एक आश्रम की स्थापना भी की जो भारतवर्ष में अपने ढंग की पहली संस्था थी । विधवा विवाह के लिये उन्हें कई बार अपमानित होना पड़ा पर इस पर उन्होंने दकियानूसी समाज को करारी लताड़ देते हुए कहा— स्वयं तो कई-कई विवाह करें और स्त्री को सती बनाकर रखना चाहें यह कहां का न्याय है ' उनकी इन कटूक्तियों का किसी के पास कोई जवाब न था । हां कुछ लोगों ने धार्मिक और शास्त्रों की दुहाई दी तो उन्होंने वह अंश भी लोगों को दिखा दिये जिनमें पूर्व पुरुषों द्वारा विधवा विवाह का समर्थन किया है ।

इस स्थिति पर पहुँचने के बाद ज्योतिबा ने अनुभव किया कि यह जितनी सामाजिक बुराइयाँ जड़ पकड़ रही हैं उनका एकमात्र कारण धार्मिक अन्धविश्वास है । धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर आज लोग उसके बाह्य कलेवर को पकड़ बैठे हैं इसलिये धर्म को सुधारना अत्यावश्यक है । उसी की पूर्ति के लिये उन्होंने ''सत्य शोधक समाज'' की स्थापना की । इस संस्था का कार्य धर्म के वास्तविक स्वरूप की खोज और उसकी जानकारी सर्वसाधारण तक पहुँचाना नियत कर दिया । इस समाज ने अनेक धार्मिक सुधार किये । पहले ब्राह्मण ही कर्मकाण्ड करा सकते थे पर 'सत्य शोधक समाज' ने वर्ण व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार को स्पष्ट कर दिया तो फिर लोगों की हिम्मत बढ़ गई और दूसरे योग्य व्यक्तियों ने भी पौरोहित्य कार्य प्रारम्भ कर दिया । उन्होंने ईश्वर उपासना के लिये मध्यस्थ की अपेक्षा को भी फटकारा और उपासना और ईश्वर भक्ति को भी पुरुषार्थ बताकर लोगों में उसके लिये आन्तरिक प्रेरणायें जाग्रत कीं । यह समाज भारतवर्ष में धार्मिक रूढ़िवादिताओं का पर्दाफाश करने वाली पहली संस्था थी । उसके माध्यम से ज्योतिबा ने समाज को एक नया प्रकाश दिया और इस तरह हिन्दू धर्म का ज्ञान शिक्षितों में भी जीवित बना रह सका । यदि यह अंकुर बने न रहे होते तो कौन जाने आज भारतवर्ष पूरी तरह नास्तिक हो गया होता । इस तरह ज्योतिबा ने अपना सारा जीवन ही धर्म और समाज की सेवा में खपाकर उसे एक नई ज्योति दी ।

भारतीय संस्कृति को नवजीवन प्रदान करने के लिये आज अनेकों तरुण ज्योतिबाओं की आवश्यकता है । उनका जीवन दर्शन किसी में ऐसी कसक पैदा कर सके तो यह मानेंगे कि अभी लोगों के हृदय में अपने महापुरुषों का मान और आदर जीवित है ।

भारतीय संस्कृति के अनन्य आराधक— पं. गोपीनाथ जी कविराज

घटना सन् १९११ की है । काशी के क्वीन्स कॉलेज में एक अत्यन्त ही मेधावी और प्रतिभाशाली छात्र ने एम.ए. के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया। उस समय क्वीन्स कॉलेज के आचार्य थे डॉ. वेनिस । जो नयी प्रतिभाओं को अपनी पारखी निगाहों से तुरन्त पहचान लेते थे और उसे आगे बढ़ने के लिए दिशाबोध कराने के साथ-साथ प्रोत्साहन भी देते थे । जिस छात्र की चर्चा उपरोक्त पंक्ति में की गयी है उसकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय डॉ. वेनिस को भी मिला । तो उन्होंने छात्र को अपने संपर्क में आने का अवसर दिया और उस संपर्क के दौरान वे छात्र की प्रतिभा क्षमता को तौलते रहे । उन्होने देखा दर्शनशास्त्र, संस्कृति और प्राच्यभाषाओं में छात्र की अभिरुचि जैसे निसर्गजात है तो डॉ. वेनिस ने एक दिन कहा— ''गोपीनाथ । मैं बहुत दिनों से कहना चाह रहा हूँ कि तुम यदि दर्शन, साहित्य और प्राच्य भाषाओं के साथ प्राच्यविद्या और पुरातत्त्व का भी अध्ययन करो तो वह तुम्हारे लिए अधिक लाभदायक होगा ।''

गोपीनाथ ने डॉ. वेनिस के परामर्श की गूढ़ता को समझा और उसके महत्त्व को स्वीकार किया। इस परामर्श को स्वीकार कर गोपीनाथ ने प्राच्यदर्शन, प्राच्य कला, प्राच्य संस्कृति का अध्ययन आरम्भ किया। यद्यपि आगे चलकर उस छात्र के निर्माण में अन्य तत्त्व भी सहायक हुए किन्तु उस तरह के व्यक्तित्व की नींव डॉ. वेनिस के परामर्श से ही जमी । किसी के द्वारा दिशाबोध करा देना और प्रेरणा प्रदान करा देना अलग बात है किन्तु उस दिशा में बढ़ते रहने का साहस जुटाना तथा मनोयोग अर्जित करना उससे आगे की ओर श्रमसाध्य साधना ही है । उस साधना को सफलता के द्वार तक लेकर पहुँचने वाले डॉ. गोपीनाथ कविराज अपनी साधना निष्ठा के बल

पर स्वयं भी अकल्पित उपलब्धियाँ प्राप्त कर सके हैं और समाज को भी उन्होंने बहुत कुछ दिया है।

अब तक भारतीय आर्य साहित्य और योगविद्या को तथाकथित प्रगतिशील गुरुडम और अन्धविश्वास का ही फतवा देते रहे हैं। दोष उनका भी नहीं है— क्योंकि इस क्षेत्र में धूर्तता और पाखण्ड की छलनीति अपनाकर अनेकों निहित स्वार्थी योगविद्या का मखौल उड़ाने जैसे करतब करते रहे हैं। इसी कारण योगविद्या और प्राचीनकाल प्रणीत साधना विज्ञान को भी लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगे। डॉ. गोपीनाथ कविराज ने योगविद्या, तंत्रशास्त्र के गुह्य आयामों का प्रस्तुतीकरण न केवल वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किया वरन् भारतीय संस्कृति के लुप्त तत्त्वों को भी प्रकाश में ला दिया।

क्वीन्स कॉलेज में डॉ. गोपीनाथ कविराज ने अपने जीवन की जो दिशा ग्रहण की उस दिशा में बढ़ते रहने के लिए लाख प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहीं पर वे अविचल होकर धैर्यपूर्वक उसी दिशा में बढ़ते रहे। उनका जन्म ७ सितम्बर, १८८७ को बंगाल (अब बंगला देश) के धामराई ग्राम में हुआ था। जन्म से ही गोपीनाथ जी को केवल माता की गोद ही दिखाई दी। पिता की छवि कैसी होती है इसका कोई लौकिक अनुभव उन्हें नहीं हो सका। उनके जन्म के पाँच माह पूर्व ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। उनके पिता बैकुण्ठनाथ बड़े ही धार्मिक स्वभाव के थे— परन्तु वे अपने इस होनहार लाडले का मुँह देखने के लिए भी जीवित नहीं रह सके थे। चार माह की गर्भवती माता सुखदा सुन्दरी को असमय ही वैधव्य का सामना करना पड़ा और वह— निर्बल के बलराम की आस्था का आश्रय लेकर भजन-पूजन में व्यस्त रहते हुए अपने दुःख का भार ढोने का प्रयत्न करने लगीं।

गर्भवती माता के मनोभावों का प्रभाव भावी बालक पर भी संस्कारों के रूप में पड़ा। बाद में पति के अभाव में सुखदा सुन्दरी को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा उन्हें सहने की शक्ति भी वह भजन-पूजन में रत रहते हुए प्राप्त करने लगीं। इस प्रकार बालक गोपीनाथ को प्रारम्भ से ही धार्मिक, आध्यात्मिक वातावरण मिला।

गोपीनाथ जी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा धामराई में ही हुई। आगे पढ़ने के लिए माँ ने उन्हें कलकत्ता भेज दिया। कलकत्ता में रहकर उन्होंने मैट्रिक तक की शिक्षा प्राप्त कर ली। बालक गोपीनाथ के मन में अपने परिवेश और अपनी पारिवारिक परिस्थितियों का प्रभाव यह हुआ था कि मुझे अपना निर्माण स्वयं करना है। पिता की छत्र-छाया नहीं है इसलिए किसी का पूर्ण संरक्षण मिल सकेगा— यह सोचा भी नहीं जाना चाहिए। इस प्रक्रिया ने गोपीनाथ को बचपन में ही स्वयं के प्रति उत्तरदायी, मेहनती, ध्येयनिष्ठ और लगनशील बना दिया था। जब उनके अन्य सहपाठी, मित्र तथा परिचित खेलकूद में व्यस्त रहते तो गोपीनाथ जी अपने निर्धारित दिनचर्या कार्यक्रमों के अनुसार पढ़ाई में व्यस्त रहते थे। माँ से विरासत के रूप में उन्हें आस्तिकता और ईश्वरनिष्ठा के संस्कार तो मिले ही थे, सो वे पढ़ने-लिखने और अन्य कार्यक्रम निबटाने के साथ-साथ भजन-पूजन और ध्यान-उपासना भी किया करते। धर्म और अध्यात्म के प्रति वे जिज्ञासु भी थे— अतः जब कभी कोई जिज्ञासा होती तो उसका समाधान करने के लिए वे अपने से बड़ों के पास भी जाते।

यद्यपि गोपीनाथ जी को अपने पिता के न होने से कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था परन्तु बैकुण्ठनाथ जी के मित्र स्नेही उनके पुत्र की यथासम्भव सहायता भी किया करते थे। कुछ तो उनका बड़ा ध्यान भी रखते थे। उनके हितैषियों ने कविराज जी की प्रतिभा को भी पहचाना और वे निरन्तर उन्हें साहस व धैर्य बँधाया करते। उन्हीं दिनों कलकत्ता में मलेरिया फैला। आजकल तो चिकित्सा साधनों का बहुत विकास हो जाने के कारण मलेरिया से तीन-चार दिनों में ही छुटकारा पाया जा सकता है। पर उन दिनों वैसी बात नहीं थी। चिकित्सा साधन उतने सुलभ तो थे नहीं, अतः जब भी किसी को मलेरिया हो जाता था वह हफ्तों तक बिस्तर पर पड़ा रहता और महीनों उसका प्रभाव बना रहता। कलकत्ता में कविराज जी मलेरिया के शिकार हो गये और काफी दिनों तक बीमार रहे। उनके हितचिन्तक उन्हें कलकत्ता से हटाकर जयपुर ले आये और ठीक होने के बाद शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया।

जयपुर से इण्टर और बी. ए. की परीक्षा पास करने के बाद कविराज जी काशी आ गये और वहाँ एम. ए. में भर्ती हुए। जहाँ डॉ. वेनिस ने उनके व्यक्तित्व को सँवारने में महत्त्वपूर्ण सहायता दी। डॉ. वेनिस कविराज से बहुत ममत्व रखते थे। स्वयं में निष्ठा और लगन होने के कारण परिस्थितियों से भी अयाचित सहयोग मिलता रहा और इस प्रकार सन् १९१३ में कविराज जी ने एम. ए. की परीक्षा पास की। उन्होंने पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उनकी इस सफलता से प्रभावित होकर लाहौर तथा जयपुर विश्व-विद्यालयों ने तार देकर उन्हें तुरन्त अपने यहाँ आमंत्रित किया और अध्यापक के पद पर काम करने का प्रस्ताव रखा। कविराज जी के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था परन्तु अब तक तो उन्होंने अपने जीवन का एक सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित कर लिया था— वह था भारतीय संस्कृति की लुप्त कड़ियों की खोज और उनका उद्घाटन।

इस प्रस्ताव पर निर्णय लेने के लिए उन्होंने डॉ. वेनिस से भी परामर्श किया तो वेनिस ने सुझाव दिया कि इस पद को स्वीकार कर तुम आर्थिक दृष्टि से भले ही सुविधा मे रहो परन्तु तुमने अपने लिए जो कार्यक्षेत्र चुना है उसमें यह कार्य बाधा ही उत्पन्न करेगा। गोपीनाथ जी का विवेक भी इसी बात की गवाही दे रहा था सो उन्होंने अध्यापक के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए क्वीन्स कॉलेज में ही रहकर अनुसंधान तथा अनुशीलन जारी रखा। इसके साथ ही कविराज जी रहस्यवादी साहित्य का अध्ययन भी करते रहे। रहस्यवादी और आध्यात्मिक साहित्य का अनुशीलन करते हुए ही उनमें आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन भी हुआ इस दिशा में उनकी गहरी रुझान एक घटना से प्रेरित थी।

सन् १९१२ की बात है। वे आर्यशास्त्र प्रदीप नामक पुस्तक पढ़ रहे थे। पुस्तक इतनी प्रेरक और प्रभावपूरित थी कि लगता था वह अध्यात्म विद्या का विश्वकोश ही है। आध्यात्म विद्या पर इतना

उच्चकोटि का ग्रन्थ देखकर कविराज जी बड़े प्रभावित हुए, वहीं उन पर इसका और भी ज्यादा प्रभाव पड़ा कि इस पुस्तक पर लेखक का नाम कहीं भी नहीं छपा था। उनके मन में विचार आया कि इतने उच्चकोटि का ग्रन्थ लिखने वाले व्यक्ति से यदि साक्षात्कार हो सके तो आध्यात्मिक-विद्या के और भी महत्त्वपूर्ण तथ्य जाने जा सकते हैं। इसलिए उन्होंने आर्यशास्त्र प्रदीप के लेखक का नाम-पता खोजने का प्रयास किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली। एक बार जब वे जयपुर आये तो उन्हें पता चला कि उस ग्रन्थ के प्रणेता श्री शिवराम किंकर हैं और वे काशी में रह रहे हैं। वे वापस काशी आये और पता लगाते लगाते जब शिवराम किंकर जी के निवास पर पहुँचे तो देखा साधुवेष में एक प्रसन्न वदन तेजोमय मुखमण्डल व्यक्ति ग्रन्थों से घिरा बैठा है। उनका दर्शन कर कविराज जी जैसे प्राचीनकाल के ऋषि-महर्षि के सम्पर्क में पहुँच गये हों। धीरे-धीरे शिवराम किंकर जी और कविराज जी में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया।

कविराज जी के जीवन को पहला आध्यात्मिक मोड़ शिवराम किंकर जी के सम्पर्क सान्निध्य से मिला और फिर स्वामी विशुद्धानन्द के सम्पर्क में आये तो जैसे उनका आध्यात्मिक कायाकल्प ही हो गया। स्वामी विशुद्धानन्द जी ने कविराज को सुपात्र और प्रतिभासम्पन्न पा कर योग-विज्ञान के रहस्यों की सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक शिक्षा भी दी और कविराज जी की योगसाधना का सतत् विकास होता गया।

स्वामी विशुद्धानन्द का पहला सम्पर्क उन्हें सन् १९१८ में प्राप्त हुआ था। इससे पूर्व ही कविराज जी प्राचीन तन्त्रविद्या और योग विज्ञान की शोध अपने ढंग से कर रहे थे। परन्तु योग्य गुरु के सम्पर्क सम्बन्ध ने तो इन्हें जैसे कल्पवृक्ष के नीचे बैठने का अवसर उपलब्ध करा दिया था। अब कविराज जी यौगिक साधनाओं में भी प्रगति करते हुए भारतीय वांगमय के पुनरुद्धार की संस्कृति साधना करने लगे। उन्होंने इस उद्देश्य से काशी में सरस्वती भवन ग्रन्थमाला का भी सूत्रपात किया जिसके अन्तर्गत संस्कृत साहित्य के अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डाला गया। सन् १९३७ में उन्होंने अपने सभी विभागीय दायित्वों से अवकाश ले लिया और विशुद्ध रूप से योग विज्ञान की पुनर्शोध में ही अपना सारा समय लगाने लगे। उनका कहना था— "योग की मुख्य वस्तु प्राकृत नेत्रों से नहीं दिखाई देती। विज्ञान के प्रयोगों का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राचीनकाल में भारत में योगविद्या का बहुत प्रचार था उसी से यह देश आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक उन्नति के क्षेत्र में भी पराकाष्ठा तक पहुँच सका। विज्ञान में आज जिस आकर्षण शक्ति को इतना महत्त्व दिया जा रहा है उसका मूल योग के सहारे बड़ी सरलता से पकड़ा जा सकता है और उस रहस्य को जान लेने पर चंद्र, नक्षत्र, वायु, पृथ्वी आदि के विज्ञान करतलगत से हो जाते हैं।"

इन प्रतिपादनों को हवाई उड़ान नहीं कहा जा सकता। तर्क, तथ्य और प्रमाणों के आधार पर कविराज जी ने अपने प्रतिपादनों को पुष्ट किया। भारतीय संस्कृति और अध्यात्म विज्ञान की इन सेवाओं को सम्मानित करते हुए कविराज जी को भारत सरकार ने महामहोपाध्याय की उपाधि दी थी। स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें विशिष्ट विद्वता के लिए प्रशस्ति-पत्र देकर भी सम्मानित किया।

२२ जून, १९७६ को उनका देहान्त हो गया। परन्तु अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि देते हुए उन्होंने संस्कृति, योग, तंत्र, पुरातत्त्व, इतिहास आदि के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की जो सेवा की वह उन्हें चिरकाल तक अमर रखेगी।

तैलंग स्वामी का अद्भुत योगबल

तैलंग स्वामी आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे। वे योगशास्त्र में निष्णान्त थे और उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियों से इस विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। उनका मानसिक झुकाव बाल्यावस्था से ही वैराग्य की तरफ था और वे अविवाहित रह कर धर्म-साधना करने के इच्छुक थे, पर माता के बहुत अधिक आग्रह करने पर उन्होंने विवाह कर लिया और जब तक माता जीवित रहीं वे गृहस्थाश्रम का निर्वाह करते रहे। पर जैसे ही माता की मृत्यु हुई और उन्होंने श्मशान में जाकर उसका अन्त्येष्टि संस्कार किया, उसी समय उन्होंने अपना संसार त्याग का निश्चय सब पर प्रकट कर दिया। उन्होंने श्मशान भूमि से घर लौटना भी स्वीकार नहीं किया और अपने हिस्से की समस्त जायदाद अपने सौतेले भाइयों को देकर वहीं कुटी बनाकर रहने लगे। उस समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी और नाम शिवराम था।

कुछ समय बाद वे तीर्थयात्रा को निकल पड़े। घूमते-घूमते उनकी भेंट एक वृद्ध साधू से हुई, जो योग विद्या का अच्छा ज्ञाता था। उसने भी इन्हें योग्य अधिकारी देखकर सच्चे हृदय से शिक्षा देना आरम्भ किया। कुछ समय बाद उसी से संन्यास की दीक्षा लेकर ये तैलंग स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुये।

गुरु का देहान्त होने पर कुछ वर्षों तक वे सेतुबन्ध रामेश्वर और नेपाल में रहे पर दोनों जगह उनकी योग-विद्या के चमत्कारों की बात फैल गई और उनके दर्शनों के लिये लोगों की भीड़ जमा होने लगी। इससे उनको बड़ी असुविधा हुई और योग-साधना में विघ्न पड़ने लगा। तब वे तिब्बत की तरफ चले गये। वहाँ मान सरोवर के तट पर रहकर उन्होंने बहुत समय तक योगाभ्यास किया। जब उनको सिद्धि प्राप्त हो गई तो वे वहां से चलकर मोक्ष-धाम काशी नगरी में पधारे। कुछ समय तक तो वे दशाश्वमेघ घाट पर निवास करते रहे और अन्त में पंचगंगा घाट पर योगाश्रम बनवा कर वहीं रहने लग गये। उसी आश्रम में वे जिज्ञासुओं को योग विद्या की शिक्षा दिया करते थे और अभावग्रस्त लोगों की सहायता भी करते रहते थे।

बंगाल के हुगली जिले में श्रीरामपुर नाम का एक गाँव है। उसमें जय गोपाल नाम का व्यक्ति निवास करता था। उसके मन में वैराग्य का उदय होने से वह घर-बार की सब व्यवस्था अपने पुत्रों के सुपुर्द करके काशीधाम में चला आया। उसने पहले से ही तैलंग स्वामी का नाम सुन रखा था। काशी आने पर वह हर रोज स्वामी जी के दर्शनों के लिये आया करता था और थोड़ा फल, फूल और दूध उनके लिये ले जाता था। इस प्रकार बराबर जाते रहने से स्वामी जी की

कृपा दृष्टि उस पर रहने लगी । एक दिन उसने स्वामी जी से कहा कि "आज न जाने क्यों मेरी छाती धड़क रही है और घबराहट हो रही है । इससे मुझे शंका होती है कि कोई अशुभ घटना न हो ।" स्वामी जी ने कहा कि "मैं अभी तुम्हारे घर का समाचार मँगाये देता हूँ ।" यह कह कर उन्होंने जरा देर के लिये आँखें बन्द कर लीं और फिर जय गोपाल से कहा कि "तुम संध्या के समय भोजन करके यहाँ आना ।" जब वे संध्या समय वहाँ आये तो स्वामी ने कहा कि आज प्रात: तुम्हारे बड़े पुत्र की हैजा से मृत्यु हो गई है । यह सुन कर जय गोपाल बड़ा व्याकुल हो गया । तब स्वामी जी ने उसे संसार की असारता का उपदेश दिया जिससे उसे कुछ शांति प्राप्त हो गई । रात्रि के समय निद्रावश हो जाने पर उसको अपना पुत्र दिखलाई पड़ा । दूसरे दिन उसने अपने घर को 'अरजैंट' तार भेज कर समाचार मँगाये तो उत्तर आने पर मालूम हुआ कि स्वामी जी का कथन अक्षरश: सत्य था ।

काशी में आने के बाद स्वामी जी घोर जाड़े की ऋतु में भोजन और निद्रा का त्याग करके दो-दो, तीन-तीन दिन तक गंगाजी के जल पर पड़े रहते और कठिन से कठिन गर्मी के मौसम में तपे हुये पत्थरों पर बैठे रहते । वे भिक्षा माँगने किसी के घर नहीं जाते, जो कुछ भक्त लोग आश्रम में आकर दे जाते उसी को संतोषपूर्वक ग्रहण करते । एक बार एक दुष्ट स्वभाव के मनुष्य ने उनकी परीक्षा लेने के लिये आधा सेर चूने को पानी में घोलकर दूध की तरह बना दिया और स्वामी जी के सामने रखकर विनयपूर्वक कहा "महाराज यह दूध आपके लिये लाया हूँ ।" स्वामी जी ने तत्काल ही पहचान लिया कि यह चूना है, तो भी बिना कुछ कहे बर्तन को उठाकर सबका सब पी गये । उस आदमी को भय लगा कि जब इनको मालूम होगा कि यह चूना है तो यह क्रोधित होंगे और कदाचित् मुझे मार बैठेंगे । इससे वह कुछ पीछे हटकर बैठ गया । पर स्वामी जी चूना पीकर भी पूर्ण शान्त बने रहे और उन्होंने जरा-सा मुँह भी नहीं बिगाड़ा यह देख कर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा । पर स्वामी जी ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न देकर वह सब का सब चूने का पानी उलटी करके बाहर निकाल दिया । उनकी सामर्थ्य देखकर वह दुष्ट चकित होकर बैठा रह गया ।

एक बार काशी के राजा का एक अफसर नाव द्वारा रामनगर से बनारस आ रहा था । उस समय तैलंग स्वामी पद्मासन लगा कर जल के ऊपर तैर रहे थे । इस अफसर ने मल्लाहों से इनके विषय में पूछा और प्रशंसा सुनकर इनको अपनी नाव में बैठा लिया । उसने इनसे कुछ प्रश्न किये, पर स्वामी जी चुपचाप गूँगे-बहरे की तरह बैठे रहे । जब नाव बीच धारा में पहुँची तो स्वामी जी ने उस अफसर की तलवार, जो बड़ी सुन्दर और बहुमूल्य थी, देखने को माँगी । न जाने कैसे वह उसी समय हाथ से छूटकर गंगाजी में गिर पड़ी । इस पर वह अफसर बड़ा नाराज हुआ, क्योंकि वह उसे किसी बड़े अंग्रेज की तरफ से भेंटस्वरूप प्राप्त हुई थी । इतने में नाव किनारे पर आ लगी । वहाँ स्वामी जी का एक मुख्य शिष्य उपस्थित था । उसने अफसर को गुस्सा होकर बकते हुये देखा तो कहा कि "आप नाराज न हों, मैं गोताखोरों को बुलाकर गंगाजी में से तलवार निकलवा दूँगा ।" स्वामी जी ने जब देखा कि उनका शिष्य बहुत दु:खी हो रहा है तो उन्होंने गंगाजी में हाथ डाला और तीन तलवारें निकाल कर अफसर के हाथ में रखीं कि इनमें से जो तुम्हारी हो उसे पहचान कर ले लो । यह चमत्कार देख कर अफसर तो भौंचक्का रह गया और अपने अपराध के लिये क्षमा माँगने लगा । अफसर ने अपनी तलवार पहचान कर ले ली और शेष दो तलवारें स्वामी जी ने पुन: पानी में फेंक दीं ।

एक दिन पृथ्वीगिरि नाम के साधु का शिष्य इनसे मिलने को आया । उस समय स्वामी जी के पास बहुत-से व्यक्ति बैठे हुये थे । थोड़ी देर में ये दोनों लोगों के देखते-देखते अदृश्य हो गये । लगभग आध घंटे बाद स्वामी जी तो अपने स्थान पर फिर दिखाई देने लगे, पर पृथ्वीगिर का शिष्य वहाँ दिखालाई न पड़ा ।

तैलंग स्वामी एक सिद्ध योगी थे, यह ऊपर दिये चमत्कारों से भली प्रकार विदित होता है । उनमें हर तरह की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ थीं, पर उन्होंने उनके द्वारा सिवाय लोगों के उपकार के अपकार कभी नहीं किया और अपने साथ शत्रुभाव रखने वालों को भी कभी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई । इससे यह भी प्रकट होता है कि वे केवल योगी ही न थे वरन् एक सच्चे सन्त और साधु भी थे । अपनी मृत्यु का समय आने पर उन्होंने अपने सब शिष्यों तथा भक्तों को एक दिन पहले ही उसकी सूचना दे दी थी । उसके अनुसार संवत् १९४४ (सन्१८८७) को पौष सुदी ११ के दिन संध्या के समय उन्होंने योगासन पर बैठकर चित्त को एकाग्र करके देह त्याग किया । ऐसा कहा जाता है कि उस समय उनकी आयु २८० वर्ष की थी ।

संत चतुर्भुज के संकल्प से हुआ कायाकल्प

नर्मदा तट पर बसे एक गाँव मेखलमती में एक धर्म सभा आयोजित की गयी । उसी दिन यहाँ मंत्र दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुए थे । बहुत बड़ी संख्या में ग्रामवासियों ने पशुबलि न करने का संकल्प लिया था और काली के स्थान पर गायत्री महाशक्ति की उपासना का व्रत लिया था । धर्म सभा का आयोजन उन्हीं के उद्बोधन के लिए हुआ था ।

बात उस समय की है जब गोंडवाना प्रदेश में व्यापक रूप से पशुहिंसा का प्रचलन था । काली को प्रसन्न करने के नाम पर निरीह जीवों की हत्या का क्रम इस तेजी से चलता था कि नवरात्रियों पर कई बार एक-एक लाख पशुओं तक का देवबलि के नाम पर वध कर दिया जाता था । इन्हीं दिनों वहाँ चतुर्भुज नामक एक महापुरुष का अवतरण हुआ । वे उपासना के नाम पर होने वाली ऐसी निर्दय जीवहिंसा देखकर द्रवित हो गये । उन्होंने लोगों को बहुतेरा समझाने का प्रयत्न किया किन्तु समर्थ को मानने और प्रभावशील व्यक्तित्व का आदेश स्वीकारने की अनादि काल से चली आ रही परम्परा झूठी कैसे होती ? प्रभावशाली व्यक्तित्व और प्राणपूर्ण वाणी ही जन-दिशा

मोड़ती है। उसके अभाव में अत्यन्त करुणार्द्र चतुर्भुज का भी कोई प्रभाव पड़ा नहीं।

तब उन्होंने विधिवत गायत्री उपासना प्रारंभ की। गायत्री उपासना से उन्हें न केवल आत्मबोध हुआ, वरन् वह शक्ति भी मिली जिससे दूसरों को प्रभावित कर पाते। उनकी वाणी में वह शक्ति उभरी जिससे सुनने वाले ठगे से रह जाते। गायत्री उपासना से विमल हुई बुद्धि में विद्वता की तीव्र धार चढ़ती चली गयी जिससे अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्य एक के बाद एक परतों की तरह खुलते चले गये। प्रतिफल यह हुआ कि बड़ी संख्या में लोग उनसे दीक्षा ग्रहण करने लगे। उन्होंने लोगों को बताया कि महाकाली गायत्री की ही एक शक्ति धारा है जिसका अर्थ पशु प्रवृत्तियों का उन्मूलन होता है— पशुवध नहीं, फलत: गोंडवाना प्रदेश का यह कलंक छूटा और लोग गायत्री महाशक्ति की सात्विक दक्षिणमार्गी उपासना में प्रवृत्त हो सके। चतुर्भुज ने सर्वत्र घूम-घूमकर गायत्री उपासना की दीक्षा दी और इस अन्धकार के युग में भी इस महाविद्या को विनष्ट होने विलुप्त होने से बचा लिया।

जिस समय यह सभा चल रही थी, श्रोताओं में चोरी के माल सहित एक चोर भी उत्कण्ठावश आ बैठा। उसी सभा में वह व्यक्ति भी उपस्थित था जिसके यहाँ चोरी हुई थी, सन्त ने कहा— गायत्री सद्बुद्धि की, सद्-विवेक की, ऋतंभरा प्रज्ञा की देवी है। इसका अवलम्बन लेने वालों का मन पाप-पंक में कभी नहीं लिपटता। गायत्री दीक्षा का अर्थ ही है— दूसरा जन्म अर्थात पापपूर्ण अन्धकार मय जीवन का अन्त और पवित्र प्रकाशपूर्ण जीवन का आरंभ। यद्यपि वह चोर को पहचान नहीं सके तथापि चोर के मन में सत की वाणी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपने कृत्य का वहीं प्रायश्चित करने का निश्चय कर लिया। जैसे ही सभा विर्जित हुई उसने चोरी का सारा सामान उनके चरणों पर रखते हुए स्वीकार किया कि उसने अभी तक अनेक अपराध किये हैं, उसकी सजा भुगतने के लिए वह तैयार है।

संत ने चोरी का माल जिसका था उसे लौटा दिया और चोर से प्रायश्चित स्वरूप कृच्छ्र चान्द्रायण करा कर उसे शुद्ध कर दिया।

गोंडवाना नरेश उस दस्यु को अपनी सारी शक्ति लगाकर भी नहीं पकड़ पाये थे। जहाँ-कहीं भी उसका पता चलता, पकड़ने के प्रयास किये जाते, पर वह किसी के हाथ नहीं आता। संत चतुर्भुज के सामने आत्मसमर्पण करने और दीक्षा ग्रहण कर साधनारत होने का समाचार पाकर वे स्वयं भी जन-सभा में उपस्थित हुए। गायत्री उपासना से विकसित संत की तेजस्विता देखकर वे पराभूत हो उठे और उन्होंने स्वीकार किया कि लोगों का हृदय परिवर्तन राजतंत्र से नहीं आध्यात्मिक धरातल पर ही संभव है। सो उन्होंने भी विधिवत गायत्री उपासना की दीक्षा ग्रहण की और माँसाहार जैसी दुष्प्रवृत्ति का परित्याग किया।

तेजस्वी संत के समक्ष दस्यु द्वारा आत्मसमर्पण किये जाने एवं नरेश द्वारा स्वयं दीक्षा ग्रहण करने का समाचार सारे प्रान्त में आग की तरह फैल गया। अब तो जन-जन में उत्साह की लहर दौड़ गयी। लोग देव-साक्षी में अपनी बुराइयों की बलि देने लगे और इस तरह पूरे गोंडवाना प्रदेश में व्यापक रूप से लगा पशु-हिंसा का पाप पूरी तरह धुल कर स्वच्छ हो गया।

गोंडवाना प्रदेश में विद्या व्यसन जाग्रत हुआ। लोग अध्यवसायी बने। देखते-देखते यह प्रान्त देश का समुन्नत और साक्षर क्षेत्र बन गया। संत चतुर्भुज की गायत्री उपासना का फल उस क्षेत्र की उन्नति के रूप में उभरा। सारे प्रदेश की जनता ने अपना दूसरा जन्म हुआ अनुभव किया। लोगों को जीव-हिंसा से विरत करने और उनका कायाकल्प करने का संत का संकल्प पूरा हुआ।

भक्त जलाराम—सत्कर्म कभी अधूरे नहीं रहते

भक्त जलाराम सौराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत पुरुष थे। वे न तो कोई विद्वान् थे और न कोई बहुत बड़े साधक, योगी ही थे। उनका समस्त जीवन एक साधारण गृहस्थ की भाँति व्यतीत हुआ और उन्होंने 'अन्नदान' को ही अपना एक प्रमुख कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। परमात्मा की कुछ ऐसी कृपा हुई कि बीच-बीच में अनेक बार विघ्न बाधाएँ आने पर भी उनका अन्न क्षेत्र अभी तक बराबर चल रहा है। इस बीच में उनके द्वारा न मालूम कितने लाख मन अन्न भिक्षुकों, साधुओं और भूखे लोगों को वितरण किया जा चुका होगा।

भक्त जलाराम का जन्म वीरपुर ग्राम (राजकोट) में संवत १८५६ में हुआ था। उनके पिता प्रधान ठक्कर तथा माता राजबाई सीधे-सच्चे और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। बाल्यावस्था से ही उनके हृदय में भक्ति का पौधा उत्पन्न हो गया था और उठते-बैठते, सोते-जागते भगवान् नाम की ध्वनि करते रहते थे। कहते हैं जिस समय ये बालक ही थे, गिरनार पर्वत के एक संत इनको देखने आये थे और उनसे भेंट होने के बाद इनका भक्तिभाव विशेष रूप से बढ़ गया। सोलह वर्ष की आयु में इनका विवाह वीरबाई नाम की सुशीला कन्या से कर दिया गया। आरम्भ में तो इन्होंने अनिच्छा प्रकट की, पर परिवार वालों का आग्रह देखकर अधिक विरोध नहीं किया। भगवान् की कृपा से पत्नी भी इनको अपनी ही जैसी मिली जिसने इनके धर्म-पालन में कभी तनिक भी बाधा नहीं डाली वरन् कठिन से कठिन परीक्षा के अवसर पर भी इनको पूर्ण सहयोग दिया।

जैसे-जैसे ये बड़े होते जाते जा रहे थे इनकी दानवृत्ति बढ़ती जा रही थी। जो कोई साधु-संत आकर याचना करता उसी को यह भोजन, वस्त्र आदि प्रदान करने को तैयार रहते थे। यह देखकर इनके पिता ने कहा कि इस प्रकार दान करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। इसलिये उचित यही है कि तू अलग रह और तब इच्छानुसार दान-धर्म किया कर। जब ये अपनी पत्नी को लेकर घर से निकले तो काका ने इनको अपने यहाँ बुला लिया और अपनी दुकान का काम देखने को कहा। वहाँ रह कर भी ये साधु-संतों की सेवा में लगे रहते।

× × × ×

एक दिन दस-बारह साधुओं की एक मंडली वीरपुर में पहुँची। एकाध साधु को तो कुछ भिक्षा देने वाले मिल सकते थे। पर इतने

जनों की भोजन व्यवस्था करना उस छोटे गाँव में सम्भव न था। वे लोग जलाराम के पास पहुँच गये और अपने स्वभाववश वे इनकी भोजन व्यवस्था करने को तैयार हो गये। दुकान से आवश्यक आटा, दाल, घी आदि उठाकर दे दिया। आठ-दस गज कपड़े की आवश्यकता थी वह भी थान में से फाड़ दिया और स्वयं ही इस सामान को साधुओं के ठहरने की जगह तक पहुँचाने को चले। इसी बीच में इस प्रकार के कार्यों से ईर्ष्या रखने वाले एक वैश्य दुकानदार ने जाकर इनके काका से शिकायत कर दी कि जलाराम तो दुकान को साधुओं को लुटाये देता है। वह काका को साथ में लिवाकर लाया और रास्ते में ही सामान सहित इनको जा पकड़ा। काका ने पूछा कि इस गठरी में क्या है, तो भयवश इनके मुँह से निकल गया उपले है और लोटे में पानी है। काका ने जब खुलवाकर देखा तो सबको उपले और पानी ही नजर आया। इस पर काका ने शिकायत करने वाले बनिये को बहुत फटकारा और वे अपने घर चले गये। तब जलाराम ने सब सामग्री साधुओं के पड़ाव पर पहुँचादी और सबने यथेच्छ भोजन बनाकर ग्रहण किया।

× × × ×

उपरोक्त घटना के बाद इनका मन व्यापार से बिल्कुल हट गया और ये तीर्थयात्रा की अभिलाषा करने लगे। १८ वर्ष की आयु में घर से चलकर डेढ़ वर्ष में चारों धाम और अन्य तीर्थों की यात्रा करके घर वापस आये। वहाँ आकर ये काका से भी अलग हो गये और पत्नी को बुलाकर मेहनत-मजदूरी करके जीवन व्यतीत करने लगे। उसी समय वे फतेहपुर गाँव के भक्त भोजलराम के यहाँ पहुँच कर उनके शिष्य बन गये। इन्होंने गुरु से प्रार्थना की कि मेरी इच्छा अपने गाँव में एक 'अन्नक्षेत्र' खोलने की है। गुरु ने इनको आशीर्वाद देकर इस कार्य की अनुमति प्रदान की।

जब ये अलग हुये तो इनके पास निजी सम्पत्ति कुछ भी न थी। खेतों में मजदूरी करके पति-पत्नी जो कुछ प्राप्त करते थे उसी से अपना निर्वाह करते हुये कुछ समय में इन्होंने काफी अनाज इकट्ठा कर लिया। इन्होंने पत्नी से पूछा कि हम तो अपने निर्वाह के लायक अन्न प्रति दिन मेहनत-मजदूरी करके कमा ही लेते है, इस इकट्ठे हो गये अन्न का क्या करें? पत्नी ने इनके मन की बात समझ कर कहा कि इसी अन्न से अपना 'सदाव्रत' स्थापित कर दीजिये अगर भगवान् की दया होगी तो वह सदैव चलता ही रहेगा। जिस समय "सदाव्रत" के लिये स्थान बनाया जाने लगा तो एक महात्मा वीरपुर में आये। उन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम निःस्वार्थभाव से प्राणिमात्र की सेवा करते चलो। तुम्हें कभी घाटा न होगा। तुम्हारे सभी कार्यों की पूर्ति होती चली जायेगी। उधर अन्न बाँटने का काम भी भली प्रकार आरम्भ हो गया और उसकी खबर फैलने से साधु-संत अधिकाधिक संख्या में वहाँ आने लगे। कुछ ही समय में उनका जमा किया हुआ अन्न खर्च हो गया। तब उनकी पत्नी ने अपने समस्त आभूषण उतार कर दे दिये कि इनका सबसे अच्छा उपयोग तो यही है कि ये साधुओं की सेवा में काम आयें। जलाराम जी ने कुछ दिन गहनों को बेच कर अन्नक्षेत्र का काम चलाया। इनका यह त्याग देखकर अन्य लोगों पर भी प्रभाव पड़ा और अनेक लोग इनके भक्त बनकर सब प्रकार की खाद्य सामग्री से अन्नक्षेत्र के कार्य में सहयोग करने लगे और उसकी नींव खूब मजबूती के साथ जम गई।

जब जलाराम जी के अन्नदान की प्रशंसा वीरपुर के ठाकुर साहब श्री मूलजी ने सुनी तो उन्होंने दो सौ बीघा जमीन, एक कुआँ उसके सहायतार्थ अर्पण किया और अपने गाँव के समस्त किसानों को आज्ञा दी कि वे फसल के समय एक पैमाना अनाज अन्नक्षेत्र के लिये भी दें। इसके सिवाय जो कोई भी कष्ट पीड़ित या अभावग्रस्त व्यक्ति इनके पास आता, इनके आशीर्वाद से वह कष्ट से मुक्त हो जाता। इससे इनका प्रभाव आस-पास के स्थानों में फैल गया। उसी समय की दो एक ऐसी घटनायें लोगों में बहुत प्रसिद्ध है जो दी जा रही है—

× × × ×

वीरपुर में ही जमाल नाम का एक मुसलमान तेली रहता था। उसका दस वर्षीय पुत्र ऐसा बीमार हो गया कि कितनी ही दवा-दारू करने पर अच्छा न हो सका और जान पड़ने लगा कि वह अब थोड़ी ही देर में समाप्त हो जायेगा। उसका बाप पागल की तरह दवा के लिये इधर-उधर दौड़ने लगा। रास्ते में उसकी भेंट हरजी नाम के दर्जी से हुई। लड़के के विषय में पूछने पर जमाल ने कहा— "क्या कहूँ हर जी भाई, अल्ला बचायेगा तो बचेगा अभी तो कोई उम्मेद नहीं।"

हरजी— मैं एक उपाय बता सकता हूँ, पर शायद मुसलमान होने से तुम उसे न मानो और मेरी हँसी करने लगो।

"हिन्दू-मुसलमान का क्या सवाल है भाई! जिस सूरत से मेरा लड़का बच सकता हो वह बताओ। मैं वही तरकीब करने को तैयार हूँ।"

"तो सुनो, तुम जानते हो कि मेरे पेट में कितना दर्द हुआ करता था। जब किसी दवा दारू से अच्छा न हुआ तो मैंने अपने गाँव के जलाभगत की मानता मानी, उसी समय से मेरी पीड़ा जाती रही। तुम भी यही उपाय करके देखो।"

जमाल ने उसी समय हाथ जोड़ कर और आँखें बन्द करके कहा— "मेरा लड़का बचेगा इसकी मुझे उम्मीद नहीं है, तो भी अगर वह एक बार आँखें खोलकर होश में आ जाय तो आपके 'जग्या' (आश्रम) में चालीस पैमाना अन्न चढ़ाऊँगा।"

दो-तीन घंटे बाद ही लड़के की दशा में सुधार होने लग गया। रात्रि के चार बजे उसने आँखें खोलीं और बाप से पानी माँगा और सुबह सात बजे माँ से कुछ खाने को माँगने लगा।

इस खुशी में जमाल ने गाड़ी में चालीस पैमाना अन्न भरा और 'जग्या' की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचते ही वह भक्त के चरणों में सिर नवाकर रोने लगा।

भक्त ने आश्चर्य से पूछा— अरे जमाल क्या बात है? तू अनाज देने आया है, फिर रोता क्यों है?

"क्या कहूँ हजूर! मेरा लड़का मौत के मुँह में था, बचने की कोई उम्मेद नहीं रह गई थी। बड़े पीर-पैगम्बरों की मिन्नतें कीं, पर

कोई फायदा नहीं हुआ । तब मैंने आपकी मिन्नत ली, उससे लड़के ने पानी माँगा और खाना खाया । अब वह जिन्दा रहेगा, इसका मुझे पूरा भरोसा है । इसकी खुशी के मारे मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं । मैंने ४० पैमाना अनाज देना कबूल किया था, पर अब यह बैलगाड़ी भी 'जग्या' की भेंट करता हूँ ।''

''जला सो अल्ला, जिसको न दे अल्ला उसको दे जल्ला ।'' इस प्रकार कहता हुआ प्रसन्न होकर सलाम करता हुआ वह चला गया । यह संवत १८७८ की बात है जब कि जलाराम २२ वर्ष की आयु के ही थे ।

× × × ×

एक बार ध्रांगध्रा के महाराज के सिपाही वीरपुर के पास से निकले । जलाराम उनको बुलाकर एक बर्तन में से दो लड्डू और एक मुट्ठी सेव प्रसाद देने लगे । जब लगभग १५० सैनिकों को प्रसाद देने पर भी वे बर्तन ज्यों के त्यों भरे नजर आये तो सिपाही आश्चर्यचकित हो गये । उनमें एक सिपाही घोड़ा दौड़ा कर महाराज के पास पहुँचा और इस घटना की खबर उनको सुनाई । राजा प्रभास पाटन की यात्रा करने निकले थे और उनके साथ भी उन १५० के अतिरिक्त २५० सिपाही और थे । आश्चर्य की बात सुनकर वे भी अपनी सेना सहित वीरपुर की ओर चले आये । वहाँ पर देखा तो वास्तव में भक्त जलाराम दोनों हाथों से प्रसाद बाँट रहे थे । उन्होंने महाराज को देखकर हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और कहा— ''राजा साहब, अभी जूनागढ़ दूर है, भगवान् का प्रसाद तो लेते जाइये ।''

राजा— अभी पहुँच जायेंगे भक्तराज, मेरे साथ सैनिक बहुत हैं ।

''प्रसाद लिये बिना तो न जाने दूँगा ।'' यह कह कर जलाराम ने सब सैनिकों को उसी बर्तन में से प्रसाद बाँटना आरम्भ कर दिया।

चमत्कार से प्रभावित होकर राजा ने कुछ देने की इच्छा प्रकट की तो भक्त ने कहा— ''आश्रम में कुछ बड़ी चक्कियों की आवश्यकता है । सुना है कि आपके राज्य में इसके लायक बढ़िया पत्थर मिलता है । इसलिये कुछ पत्थर भिजवादें तो कृपा होगी ।''

राजा— अरे भक्त, यह क्या माँगा ! धन अथवा जागीर माँगी होती तो बात थी ।

जला— यहाँ तो साधु-संत है, राम का भजन करते हैं और वे ही जो कुछ देते हैं वह सबको खिला देते हैं ।

महाराज ऐसा भाव देखकर बड़े प्रसन्न हुये और अपनी इच्छा से बहुत-सा धन भेंट चढ़ाकर चले गये । उन्होंने बहुत से बढ़िया पत्थर भी भिजवाये जिनकी चक्कियाँ अब तक काम दे रही हैं ।

× × × ×

भक्त जलाराम के इस प्रकार के अनगिनत चमत्कार जनता में प्रसिद्ध हैं । आज भी उस प्रदेश के बहुसंख्यक लोग भक्त जलाराम की मानता मानकर अपने मनोरथ को पूरा करते हैं । जलाराम जी के उत्तराधिकारियों ने इस 'अन्नदान' की परम्परा को और भी बढ़ाया है । अब बम्बई, अहमदाबाद, सूरत तथा अन्य अनेक छोटे स्थानों में भी अन्नक्षेत्र स्थापित किये गये हैं जहाँ हजारों मन अनाज प्रतिमास वितरण किया जाता है । इनका चरित्र इस बात का प्रमाण है कि अगर मनुष्य सच्ची निष्ठा और शुद्ध अन्त:करण से कार्य करे तो साधारण स्थिति में रह कर भी आत्मकल्याण करते हुए दीन-दुःखी जनों की भरपूर सेवा कर सकता है ।

संत तुकड़ो जी महाराज—मैं वैरागी कैसे बना ?

महाराष्ट्र में बच्चा-बच्चा संत तुकड़ो जी के नाम से परिचित है । उनकी सेवा-साधना से महाराष्ट्र ने जो उन्नति की है, वह अवर्णनीय है । अपने बारे में वे लिखते हैं कि मैं बहुत खोजता हूँ कि मुझे त्याग और वैराग की प्रेरणा कब से मिली ? मगर मुझे उसका समय भी याद नहीं आता और आज भी मेरे पास उसका पता नहीं है । फल मात्र है निश्चित ! जैसे ही मुझे बचपन में होश आया, अन्य लड़कों से मेरा कदम कुछ दूसरी ओर था । जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे ही उनके साथ मेरे विचार भी बढ़ने लगे; क्रम भी और व्यवहार भी बढ़ते गये । जो चीज पहले मेरी लगती थी वह विचारों के साथ-साथ सब की होती रही । मैं जो अपने को अपना मानता था वह बढ़ते-बढ़ते सब का मानने लगा— 'मैं मानव मात्र का हूँ' ऐसा स्वाभाविकता से लगने लगा । जो सम्प्रदाय मेरा मालूम होता था, विचार के बढ़ जाने से वह व्याप्त हो गया और सब का सम्प्रदाय मेरा प्रतीत होने लगा । मैं जिनको अपने गुरु, अपने माँ-बाप मानता था, उनकी जगह अब 'सभी गुरु अपने हैं, सभी माँ-बाप का मैं बेटा हूँ, सभी बेटे मेरे समान हैं' ऐसा बिना कुछ छोड़े और बिना कुछ पकड़े ही ख्याल होने लगा । यह तो जैसे नैसर्गिक क्रम से होता गया । मैं इसका शास्त्रीय क्रम अभी भी नहीं जानता हूँ कि मैं कैसे बढ़ा और किस साधना से बढ़ा ।

हाँ, वह एक साधन मेरे पास जरूर था कि जिस किसी ने मुझसे जो भी कहा उसका बोध मुझे बराबर हुआ और श्रद्धायुक्त भावना से उनको सुनते हुए आगे बढ़ने की मैंने कोशिश की । पर उसमें यही देखते गये कि ये सब साधन उनके हैं— उनके अनुभव के हैं; खुद अपने को कुछ उनसे और कुछ अपने मन से लेना पड़ेगा । यही धारणा बनती गयी । अभी भी मैंने कुछ त्यागा नहीं । ख्याल में थोड़ा फर्क जरूर है । कपड़ा पहनता हूँ, मगर कल का कौन-सा कपड़ा अपने पास है— कभी ढूँढ़ा ही नहीं । जो मिला सो पहन लिया। खाने-पीने का भी यही तरीका है । जो मिला खा लिया, जहाँ जगह मिली वहीं रहा और जिसने सम्हाला उसी का बना । जब लोग मुझे अपने-अपने घर ले जाने को आपस में झगड़ा करने लगे तब सब ने तय किया कि तारीखवार दिन दिये जायें । तारीख सम्हालने वाले भी मिले ।

मुझे दी हुई भेंट मैंने कभी पास नहीं रखी । किसी ने जेब में डाल दी तो याद नहीं रही । धोने में सैकड़ों नोटें भीग गयीं, खराब हो गयीं, फट गयीं । बाद में पास के आदमियों ने उसे सम्हाला । जो भजन बनते गये वे जहाँ लिखे वह रह गये । जब जनता को ठीक लगा तब उन्हीं लोगों ने उसका संग्रह किया और फिर 'प्रकाशन

मंडल' बने । कुछ बातें अच्छी लगीं तो जनता ने उनका भी संग्रह कर लिया। कुछ लोग प्रेमी बने, उनका एक मंडल बन गया और अब तक हजारों शाखाएँ बन चुकीं । लाखों भेंटें मिलीं, लाखों खर्च चले । समय बचा नहीं, पास में खजाना नहीं, पर खर्च करने को कम नहीं । जो मिले सो अपना, जो गाली दे सो भी अपना । यह सब जीवन के साथ बढ़ता ही गया। अनुभव बढ़ा, त्याग बढ़ा, वैराग बढ़ा । मगर बढ़ा कब और शुरू हुआ कब, इसका अंदाज नहीं पाया ।

मैं तो यही मानता हूँ कि किसी को कुछ भी त्यागना नहीं है, सिर्फ उसकी मालकियत को व्यक्ति से हटाकर सर्वव्यापी करना है । त्याग-वैराग के लिये कुछ करना नहीं है, बल्कि सब की मालकियत को समझना है । ईश्वर से मिलना नहीं है, बल्कि अपने में उसका अनुभव करना है । मुक्ति प्राप्त करना नहीं, बल्कि अपनी मुक्त आत्म का ज्ञान भर कर लेना है, समझकर उसी में रहना है । क्योंकि आत्मा का यही रूप है । अनुसंधान में सब कुछ पा जाता है ।

हाँ, कुछ स्मरण है कि जब मंदिर में ध्यान करने गया तब मंदिर में ही रामायण होने लगी और वहीं मुझे अपना घर महसूस होने लगा । जब पिता भोजन को ले जाते तब कहीं घर की याद ! जब पिता ने छोड़ दिया, तब जो ले जाता उसी का घर-घर बन जाता । बेफिक्र था मन ! एक दिन भजन की कुछ बहियाँ लिखकर रख दीं और बाहर गया, तब किसी दूसरे ने उसे चुराने की चेष्टा की । तो उनके अतराफ दो साँप उसको दिखे । तब वहीं मेरे पास कहने आया कि "भाई क्षमा करो । मेरे दिल में चोरी करने की बुद्धि आयी थी, मगर जब देखा कि बड़े-बड़े दो साँप दरवाजे पर लटक रहे हैं तब पश्चाताप हुआ ।" यह सुनते ही और विश्वास दृढ़ हुआ कि अपना रक्षण करने वाला हमेशा मौजूद है तब तो और भी बेफिक्र बना ।

एक मित्र ने कहा कि 'तुम निकम्मे हो, मुफ्त का खाते हो । तुमसे काम कुछ नहीं बनता ।' दिल को लगा, यह ठीक नहीं है । सिलाई की मशीन का धंधा सीखा तीन माह में । एक मशीन उधार खरीद ली और उस पर काम करके चार महीने में पैसे अदा किये । साथ ही उसी वक्त मशीन को बेच डाला और एक बड़ा सत्यनारायण किया । जितने भी पैसे मशीन के आये थे दान में उड़ाये यानी भूखों को रोटी खिलाकर मुक्त हुआ । और उसी रात को भजन करके कहा— "मैं निकम्मा नहीं हूँ । काम कर सकता हूँ । मगर मुझे उसकी जरूरत नहीं है । खाऊँगा कम और काम करूँगा बहुत, जो मेरे और धर्म तथा देश के काम आ जायें ।" लोगों को विश्वास हुआ । फिर लोग ही मेरी फिक्र करने लगे । मुझे कुछ छोड़ने और पकड़ने की जरूरत ही नहीं पड़ी ।

मुझे कुछ याद होती है, एक सातली-कोथली कर महाराज मेरे जन्मगाँव में रहते थे । उन्हीं के पास मैं बचपन में रहता था । ये ही मुझे भजन सिखाते थे, सिर्फ मैं उनके पास बैठा करता था । बस, एक रोज हाथ में एकतारी ली और गाने लगा । उन्होंने कहा, "अब तुमको भजन ही करना होगा ।" बड़े अच्छे महात्मा थे— मुझे वहीं से भजन का चस्का लगा ।

जब मैं गुरु महाराज (श्रीसमर्थ आडकोजी महाराज) के समझाने के बाद जंगलों में भागा तब मेरी वृत्ति कुछ पागल-सी थी । मेरे बदन पर कपड़ा नहीं था, लंगोटी भी नहीं थी । एक नशा-सा छाया हुआ था, कि मैं आत्म साक्षात्कार कैसे करूँगा ? रोता था, कभी पत्थरों से पूछता था, कभी झाड़ों के साथ बोलता था— तुम तो इस में व्याप्त हो ना ? तब बोलो, मुझे साक्षात्कार कैसे होगा ?" कभी बादल से आँखें लगाता था । कभी शेरों की गुफाओं में घुसकर ध्यान करता था कि मेरा डर निकले और मैं अमर आत्मा का अभ्यास करूँ, मगर यह सब स्वभाव था । कभी एक चित्त से एक भी साधन मैंने नहीं किया । चिंतन बहुत किया, चिंतन से ज्ञान हुआ ज्ञान से अनासक्ति बढ़ी और उपासना, भजन से लोकसेवा बढ़ी । मगर वैराग का पता नहीं लगा कि, मुझे वैराग कब से हुआ ?

एक कारण का पता चलता है कि जब मुझे मन्दिर में ध्यान नहीं करने दिया तब माता के कहने से जंगलों में बैठने का, नदियों के किनारे शंकर जी की रेतमूर्ति बनाकर ध्यान करने का अभ्यास शुरू किया । संसार से उपराम होने का भाव तभी बताया गया— बढ़ता गया । यही सिर्फ याद है; मगर उसे वैराग कैसे कहूँ ? वह तो मेरा हठ था, आग्रह था ।

जब मैंने बदन के कपड़ों को छोड़ा तब तो मुझे याद ही नहीं आता था कि मैं नंगा नहाया हूँ या कपड़ा पहने हुए हूँ । मेरा तो वह क्षण जैसे देह-विसर्जन का था कि या तो मैं मर जाऊँ या कुछ मिलाऊँ- दर्शन पाऊँ । यह तो लगन थी, इसे वैराग कैसे कहा जाय ? तब वैराग की प्रेरणा का दिन या कारण कैसे समझ सकता ?

यही समझ लिया है मैंने कि बड़ी चीज के लिए छोटी चीजों की प्रीति छोड़ी, महान् प्रकाश के लिये अल्पजीवि प्रलोभन छोड़े और 'सब मानव मेरे' ऐसा समझने के लिये जाति, पंथ, पक्ष, धर्म आदि की सीमाएँ छोड़ीं । सर्वव्यापी आत्मा के दर्शन के लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि की आसक्ति छोड़ी और अब उसकी पूर्णावस्था में समाने के लिये सारी याद भी छोड़ने की तैयारी में हूँ । मगर वह सेवा के मैदान में ही छूटेगी, कुर्बान हो जायेगी ।

नागेश का तप

धर्म और दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति का पतन देख नागेश भट्ट का स्वाभिमानी मन विचलित हो उठा । उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आर्ष साहित्य का अवांछनीय भाग सुधार नहीं डालेंगे, जब तक शुद्ध और सच्चे दर्शन का निर्माण नहीं कर लेंगे तब तक और कोई काम करेंगे ही नहीं, चाहे मुझे भूखों ही क्यों न मरना पड़े ।

शाम तक जो कुछ मिल जाता, खाकर वे दिन भर आर्ष ग्रन्थों की खोज, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन और लेखन-संकलन में ही लगे रहते । अपनी संस्कृति को जीवित करने की उनकी अदम्य भावना ने स्वास्थ्य का भी ध्यान नहीं देने दिया । आयु जैसे-जैसे ढलती गई, वैसे-वैसे उनका शरीर ही निर्बल नहीं होता गया वरन् पीठ में कूबड़ भी निकल आया ।

लोग हँसते और कहते— 'यह देखो भगवान् का काम कहते हैं जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा स्वयं करता है । अब भगवान् को क्या हो गया जो अपने इस प्रेमी की भी रक्षा नहीं कर पाये ?' कहने वाले तो नागेश के सामने भी न जाने क्या-क्या बक जाते, पर उस निस्पृह सेवक का मन जैसे कमल का पत्र बन गया था, कोई कुछ कहता वह उसी तरह ढुलक जाता जैसे पुरइन के पत्ते पर से पानी । जिस दीवार के सहारे बैठते थे, जब वह चुभने और कूबड़ को कष्ट देने लगी तो नागेश भट्ट ने उस दीवार को कटवाकर छेद करा लिया । छेद इतना बड़ा था कि जब वे दीवार के सहारे बैठ जाते तो कूबड़ उसी में समा जाता और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होता ।

इस तरह निर्धनता और अभाव के मध्य नागेश भट्ट की साधना निरन्तर चलती रही । स्वार्थी तत्त्वों द्वारा मिथ्या विचारों, श्लोकों को अपने साहित्य में से वे ऐसे निकाल-निकाल कर फेंकते गये जैसे किसान खेत के झाड़-झंखाड़ को । नागेश भट्ट प्रकाण्ड पण्डित गिने जाने लगे । उनकी योग्यता के आगे कोई भी प्रतिक्रियावादी व्यक्ति टिक नहीं पाता था ।

महाराज पेशवा बाजीराव ने यह सब सुना तो स्तब्ध रह गये । सचमुच ऐसा भी पण्डित और लगनशील तपस्वी अब भी इस देश में हो सकता है, इस पर उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ । उन्होंने ऐसे महान् साधक और संस्कृतिनिष्ठ देवपुरुष के दर्शन और सहायता करने का निश्चय किया ।

पेशवा बाजीराव महाराष्ट्र से चलकर स्वयं ही वाराणसी पहुँचे । वस्तुतः जैसा सुना था, वैसा ही पाया । नागेश भट्ट का शरीर काल का कौर बन चला था, पर वह थे कि अब भी पुस्तकों का ढेर जमा किये अपनी साधना में जुटे पड़े थे जैसे शेष संसार उनके लिये किसी श्मशान की तरह हो जहाँ न तो कुछ दर्शनीय होता है, न ग्रहणीय। संसार में कोई भौतिक सुख भी होता है, यह उन्होंने जाना ही नहीं ।

पेशवा ने उन्हें देखा तो उनकी आँखें डबडबा आईं । अपने दुर्भाग्य पर उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ । ऐसे महापुरुष को तो बहुत पहले सहयोग दिया जाना चाहिए था । सम्भवतः तब वे अब की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक काम कर सके होते ।

बाजीराव ने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और बड़े आदर के साथ कहा— आचार्य प्रवर ! आज्ञा दें मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ तो यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा ।

ध्यान भंग हुआ तो नागेश ने सिर ऊपर उठाकर महाराज की ओर देखा और उन्हें बड़े आदर के साथ पास में बैठाते हुए कहा— हाँ महाराज ! आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये एक सूत्र कठिनाई से हाथ लगा है, पर उसकी व्याख्या नहीं हो पा रही । आप उसमें मेरी सहायता कर दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी ।

आर्थिक सहायता देने के लिये आये महाराज पेशवा यह सुनकर स्तब्धित हो बोले— 'आपकी साधना अद्वितीय है, उसकी सफलता कोई रोक नहीं सकता ।'

केरल के गाँधी—श्री नारायण गुरु

केरल की राजधानी तिरुवन्तपुरम् (त्रिवेन्द्रम) से लगभग ८ मील की दूरी पर स्थित एक छोटे-से गाँव चेम्पपन्ती की मिट्टी ने सन् १८५५ में एक ऐसे असाधारण बालक को जन्म दिया, जिसकी प्रतिभा से वह आगे चलकर केरल का गाँधी हो गया । लेकिन जब यह बालक था, तब कोई अनुमान भी न लगा पाया कि एक दिन वह इतने असाधारण व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेगा । श्री नारायण ने प्राथमिक शिक्षा अपने गाँव की पाठशाला में पूरी की । तदुपरान्त संस्कृत, साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि की शिक्षा एक प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित से ग्रहण की । वह बचपन से ही बड़ा भावुक, संवेदनशील और धार्मिक स्वभाव का बालक था । जिस ईषव जाति में श्री नारायण का जन्म हुआ था, वह उस समय विद्योपार्जन के अधिकार से वंचित थी ही, उसे आम रास्तों पर चलना भी वर्जित था । सभी निम्न जाति के लोगों से दूर-दूर रहते और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते । श्री नारायण के दिल पर पीड़ित मानवता की पुकार का गहरा असर पड़ा । उनकी आत्मा के प्रेम और करुणा ने उन्हें सत्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर दी और तिरुवन्तपुरम् के दक्षिण पूर्व दिशा में कोई दस मील की दूरी पर स्थित अरविपुरम नामक स्थान की गुफा में उन्होंने दीर्घ तपस्या की । तत्पश्चात् इसी क्षेत्र को अपनी प्रयोगशाला मानकर उन्होंने सेवा कार्य आरम्भ कर दिया ।

सर्वप्रथम उन्होंने वहाँ एक शिव मन्दिर की स्थापना की । रूढ़िवाद के ठेकेदार 'पण्डित' भला यह कैसे सहन कर सकते थे ? उन्होंने प्रश्न किया 'क्या एक ईषव (निम्न जाति) को मन्दिर स्थापना का अधिकार है ?' श्री नारायण गुरु ने एक सौम्य किन्तु सशक्त उत्तर दिया, ''मैंने 'ब्राह्मण शिव' नहीं 'ईषव शिव' की स्थापना की है ।'' वे बार-बार यही कहते— 'मनुष्य की जाति, धर्म और ईश्वर एक है ।' इसीलिये मन्दिर में उन्होंने स्पष्ट लिखवा दिया, ''यह वह स्थान है, जहाँ मनुष्य जाति-भेद, धार्मिक विद्वेष आदि से दूर भाईचारे से रहते हैं ।''

उन्होंने एक और मन्दिर स्थापित किया, जिसमें सरस्वती की प्रतिमा प्रतिष्ठित की । इसके बाद एक मन्दिर में मूर्ति के स्थान पर केवल एक दर्पण लगा दिया, ताकि मानव स्वयं का निरीक्षण, आत्म परीक्षण कर सके । उनका विश्वास था कि ईश्वर जन-जन में बसता है । जो अपने आपको जान लेता है, वह ईश्वर को पहचान लेता है । केवल सत्य, प्रेम, दया और शान्ति ही वे सीढ़ियाँ हैं, जिनके सहारे हम अपने आपको श्रेष्ठ बना सकते हैं । उन्होंने अनेक शिक्षा मन्दिर स्थापित किये एवं जाति-भेद की निरर्थकता लोगों को समझाई ।

भारत में केरल ही एक ऐसा प्रान्त था, जहाँ जाति-प्रथा का, छुआछूत का भीषण रोग फैला हुआ था, यद्यपि भारत का कोई भी प्रदेश इस बीमारी से बचा न था किन्तु केरल में इसका स्वरूप इतना भयंकर था कि एक बार स्वामी विवेकानन्द जी ने इसे धरती पर का 'पागलखाना' कहकर पुकारा था । मनुष्य-मनुष्य को पशु से भी बदतर समझता था । इस ज्वाला को केवल श्री नारायण गुरु की तपस्या के जल ने ही शान्त किया ।

श्री नारायण गुरु मानव-जाति में एकात्मता का सन्देश देने वाले एक पूज्य गुरु अथवा दार्शनिक ही नहीं, एक आध्यात्मिक सम्बल एवं श्रेष्ठ समाज-सुधारक भी थे । शताब्दियों से चली आने वाली त्याज्य परम्परा, जनमानस में व्याप्त घोर निराशा, हीन भावना को उन्होंने बड़े सौम्य, शीतल एवं सरल ढंग से सुधार दिया। यह आश्चर्य ही नहीं, चमत्कार है कि आज केरल भर में अनेकों संस्थायें, स्कूल, कॉलेज आदि निम्न जाति की सेवा में कार्यरत हैं और भारत में केरल प्रान्त का शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम स्थान है । गत वर्ष डाक-तार विभाग ने श्री नारायण गुरु की एक विशेष टिकिट निकाल कर उनके प्रति श्रद्धा अर्पित की है । केरल के कोल्लम जनपद के निकट 'वर्कला' आज गुरु के कार्य का केन्द्र एवं तीर्थ स्थान बना हुआ है । वहाँ धर्म, साहित्य, कला तथा गुरु के आदर्श पर भाषण-मालायें, वार्तायें, उपदेश आदि बराबर चलते रहते हैं । यह कार्यक्रम केरल अथवा भारत के अन्य प्रान्तों में ही नहीं श्रीलंका, बेल्जियम, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका आदि विदेशों तक उनके आदर्शों का प्रचार हो रहा है ।

एक बार श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी तिरुवन्तपुरम् पधारे और श्री नारायण गुरु के दर्शनार्थ गये थे । उन्होंने स्वयं व्यक्त किया— "मेरे जीवन का सौभाग्य है कि एक ऐसे महात्मा का दर्शन पा सका । मैंने विभिन्न देश-विदेशों की यात्रा की, कई सिद्ध पुरुषों, महान् विभूतियों से मिला लेकिन केरल के श्री नारायण गुरु के समान महापुरुष कहीं नहीं मिला ।"

जिस प्रकार बापू ने भारत से छुआछूत का रोग मिटा दिया, सत्य, अहिंसा और प्रेम का शंख फूँक दिया, उसी प्रकार श्री नारायण गुरु ने केरल के अभिशाप रूढ़िवाद, जाति-भेद आदि भेदभाव को मिटाकर सत्य, स्नेह और शान्ति की त्रिवेणी बहा दी । इसीलिये सम्पूर्ण केरल श्री नारायण गुरु को केरल का गाँधी कहकर पुकारता है ।

साधु सन्तों के लिये आदर्श— श्री नारायणदास त्यागी

वह स्थान अब गुफा मन्दिर के नाम से विख्यात है । पहले थी वह बीहड़ वनस्थली । अब वहाँ व्यवस्था है, अनुशासन है, लोक-कल्याण की शिक्षण संस्थायें हैं । पहले वहाँ साँप, बिच्छू, कांतर, रीछ, भेड़िये उसी प्रकार अड्डा जमाये हुए थे, जिस प्रकार स्वाध्याय न करने वाले के मन में खराब विचार भरे रहते हैं । अब उस स्थान में जनसंकुलता से उद्विग्न और भौतिक जीवन की जटिलताओं से अशान्त नागरिक जाकर आध्यात्मिक सुख की अनुभूति करते और संतप्त जीवन में उस प्रकार की शान्ति और शीतलता अनुभव करते हैं जिस तरह किसी को तप्त जलकुण्ड से निकालकर शीतल सरोवर में पहुँचा दिया जाता है । पहले वहीं पर चोर और लुटेरे अपना अड्डा जमाये रहते थे । लोगों को लूटते थे और स्वयं भी अपनी आत्मा से छले जाते थे । ऐसे ऊबड़-खाबड़ जंगल को हरा-भरा बनाकर उसे आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रदान करने का श्रेय, साहस और संकल्प को है जो साधु नारायणदास त्यागी के वेष में विवर्त हुआ । वहाँ पहुँचकर केवल हिन्दू जाति ही गौरव अनुभव नहीं करती वरन् सुदूर पश्चिम के लोग भी आकर विश्राम पाते हैं । यह देखने का अवसर तब मिला जब भारत सेवक समाज के तत्वावधान में यहाँ एक श्रम शिविर आयोजित किया गया । ऐसा लगता है कि पश्चिम अब फिर से आत्मिक प्रकाश के लिये भारतीय धर्म और संस्कृति की ओर अपलक निहार रहा है । उसे अब भौतिक जीवन से अरुचि हो गई है इसीलिये अब महन्त नारायणदास जी की तरह कोटिश: विभूतियाँ अवश्यमेव चाहिए जो अपने जीवन को साधना बनाकर लोकहित और विश्व शान्ति में खपा सकें ।

मालूम नहीं महन्त जी का घर कहाँ है ? कहाँ जन्मे और कौन उनके माता-पिता हैं । महापुरुष भगवान् के पुत्र होते हैं, धरती उनकी माता और सारा संसार घर । भौतिक इच्छाओं का परित्याग कर केवल जनता जनार्दन की धार्मिक सेवा ही उनका उद्देश्य रह जाता है । ऐसे ही एक साधु अपने दो साधुओं के साथ हरिद्वार का कुम्भ स्नान कर लौट रहे थे । मार्ग में भोपाल पड़ता था । यहीं तक के लिये किराये के पैसे थे और कुछ था नहीं । उसने विचार किया— साधु का यह अधिकार तो है कि वह लोकहित के लिये प्रजा द्वारा दी गई सहायतायें स्वीकार करे । पर बिना टिकट चलने, बिना परिश्रम किये खाने और बिना प्रकाश-दर्शन की योग्यता आडम्बर बनाने जैसी अनियमिततायें तो उसे भी नहीं करनी चाहिए । साधु जिसके पद चिह्नों पर शेष समाज चलता है, यदि वही अनुशासन में नहीं रहेगा तो और कौन मानेगा ? यदि वही ईश्वरीय शक्ति और न्याय पर अटल निष्ठा और विश्वास नहीं रखेगा तो और कौन रखेगा ? इसलिये आगे की यात्रा रोककर यहीं उतर गये । एक शाल था उसे ही सात रुपये में बेच दिया और जहाँ आजकल यह गुफा मन्दिर है वहीं जाकर विश्राम ले लिया ।

पहली रात को नींद नहीं आई क्योंकि बगल में कुछ हलचल सी होती रही । कभी उल्लू बोलते थे कभी शृंगाल चिल्लाते थे । कुछ लोगों के आने-जाने की पदचाप भी सुनाई पड़ती थी । कुल मिलाकर यह स्थान प्रेत-निवास लगता था । सारी रात बेचैनी में कटी ।

प्रात:काल उठकर साधु ने आस-पास घूमकर देखा तो उन्हें उन गुरुकुलों, धर्मपीठों का स्मरण हो आया जो ऐसे ही शान्त और एकान्त स्थानों में स्थापित किये जाते थे । जहाँ ब्रह्मचारियों को ब्रह्मविद्या का अभ्यास कराया जाता था और वानप्रस्थी अगले जीवन की तैयारी किया करते थे । गृहस्थ भी समय-समय पर पहुँचकर जटिल समस्याओं के सरल समाधान पाया करते थे । तभी उनके भीतर से आवाज उठी— "क्यों नहीं ऐसा आश्रम निर्मित करलें, मनुष्य ही तो करते हैं । फिर प्रभु ने तो अपना जीवनोद्देश्य वही बनाया है ।"

अन्त:करण की आवाज पर साधु ने संकल्प कर लिया कि इस स्थान को अध्यात्म विद्या का केन्द्र बनाऊँगा । इसके लिये चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करना पड़े ।

लेकिन दूसरी-तीसरी रातें ऐसी आईं । जिनसे पता चल गया कि यह संकल्प निबाह ले जाना उतना सरल नहीं है जितना कि ले लेना । वहाँ कई खूँख्वार चोर और डाकुओं के अड्डे थे । पहले तो उन्होंने सोचा साधु है इन्हें किसी के चोरी करने, अपराध करने से क्या

मतलब ? आज आये हैं कल चले जायेंगे, पर अब कई दिन हो गये तो एक दिन आमना-सामना हो ही गया । डाकू गरम होकर बोले— यहाँ से सबेरे ही चले जाना पर साधु ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया— भाइयो ! आप लोग यह बुरा कर्म करते हैं इसे छुड़ाने के लिये मुझे यहाँ रहना ही पड़ेगा । मेरी धरती माता के ही पुत्र मेरे भाई अपने जीवनोद्देश्य से भटकें और मैं अन्यत्र जाकर सुख की नींद सोऊँ ऐसा भला कहाँ सम्भव है ?

वे लोग साधु की गम्भीरता से प्रभावित तो हुए पर इतना सहज वह स्थान छोड़ना नहीं चाहते थे । इसलिये उन्होंने इन्हें तंग करना भी प्रारम्भ कर दिया । यह दशा देखकर शेष दो साधु तो चुपचाप निकल भागे पर श्री त्यागीजी ने मस्तिष्क में जो स्वप्न बसा लिया था उसकी पूर्ति के लिये अधीर हो रहे थे । इसलिये उन्होंने साहसपूर्वक परिस्थिति से संघर्ष किया और अन्तत: उन अकेले ने सब डाकुओं को वहाँ से भगाकर यह सिद्ध कर दिया कि "सत्य में सचमुच ही हजार हाथियों का बल" होता है । दर-दर तो केवल असत्य मारा घूमता है ।

एक कठिनाई दूर हुई पर अभी वहाँ सैकड़ों परीक्षायें शेष थीं । रात जब साधु सोये हुए थे एक विषधर सर्प ने उन्हें काट लिया । वहाँ न तो कोई दवा— न देखने वाला । भगवान् के पुत्र ने भगवान् को ही स्मरण किया— हे प्रभु ! तेरी इच्छा पूर्ण हो ।" और अपनी धूनी से एक चुटकी भभूत खाई । दो दिन बेचैनी में बीते । तीसरे दिन उनका शरीर और मन फिर से वैसा ही स्वस्थ हो गया जैसे उन्हें कुछ हुआ ही न था ।

अब उन्होंने धीरे-धीरे गुफा और उसके आस-पास के क्षेत्र की सफाई प्रारम्भ कर दी । स्वच्छता सौन्दर्य का प्रथम लक्षण है जो स्थान अस्वच्छ पड़ा था वही जब कुछ साफ-सुथरा हुआ तो अच्छा लगने लगा और वहाँ यदा-कदा नगरवासी भी पहुँचने लगे । आदमियों की हलचल बढ़ने से जंगली जानवर भी भाग गये । आने वाले कभी-कभी कुछ पैसे भी दे जाते थे जिससे उनका भोजन भी चल जाता था।

लेकिन साधु ने विचार किया— कि साधु को सर्वप्रथम— सर्वस्व परित्याग की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए । जब तक मन और हृदय में मोह-वासनायें शेष रहती हैं साधु लोक-कल्याण का अपना कर्त्तव्य समुचित रीति से पालन नहीं कर सकता । इसलिये मन को नियन्त्रण में लेना तथा आत्मा की गहराई का वेधन करना आवश्यक है । जब तक मानसिक मलिनतायें दूर न हों साधुवेष एक विडम्बना मात्र होता है । आजकल ऐसे साधु जहाँ-तहाँ लोगों को छलते और अन्धविश्वास फैलाते घूमते हैं । आत्मा की सूक्ष्म सत्ता के अवगाहन का उन्होंने कभी प्रयत्न ही नहीं किया होगा ।

श्री त्यागीजी ने गीता उठाकर देखी तो उसमें लिखा था— साधना से मन वश में होता और आत्मा के दर्शन होते हैं । रामायण उठाई उसने भी कहा— "**तपु अधार सब सृष्टि भवानी**", शास्त्र पलट कर देखे तो वहाँ भी "**दिवमारुहत् तपसा तपस्वी**" तप किये बिना आत्मोन्नति नहीं हो सकती लिखा हुआ था । श्री त्यागीजी ने भी तपस्या द्वारा आत्म-विकास करने का निश्चय किया और उसी में जुट भी गये ।

कुछ दिन आंशिक उपवास रखा कुछ दिन हलका आहार ग्रहण किया । अभ्यास के साथ तपश्चर्या भी बढ़ते गये । उसके बाद उन्होंने लगातार २२ महीने तक केवल फूल-पत्तों पर ही बिताये । उपवास और तप से शारीरिक शुद्धि के साथ मानसिक और आत्मिक शुद्धि भी हुई । उस प्रकाश की अनुभूति उन्हें होने लगी जिसकी शीतल छाया में बैठकर जीवन अभावग्रस्त होकर भी सम्पन्न अनुभव करता है । जहाँ शारीरिक असुविधायें होने पर भी तृप्ति और शान्ति अनुभव करता है । जिसकी अनुभूति के बाद माया-मोह के बन्धन टूट जाते हैं और फिर संसार में केवल कर्त्तव्य भाव शेष रह जाता है ।

इस प्रकार जीवन को साधना बना लेने के बाद जब यह प्रश्न उठा कि अब कार्य का श्रीगणेश कहाँ से कैसे किया जाये तो वह सुविधायें अपने आप जुटने लगीं । कहते हैं सत्य किसी को बुलाता नहीं, उसके पास लोग दौड़कर अपने आप पहुँच जाते हैं । मध्यप्रदेश की राजधानी इन्दौर से उठकर भोपाल आ गई । सरकार ने यह जमीन त्यागी जी को दे दी । फिर जनता ने भी देखा कि नगर में एक ऐसे आध्यात्मिक संस्थान की तीव्र आवश्यकता है । इसलिये लोग उसके सहयोग के लिये उमड़ पड़े और कुछ ही दिन में वही बीहड़-वन हरे-भरे आश्रम में परिणत हो गया ।

गुफा काटकर मन्दिर का निर्माण, रामानन्द आश्रम की स्थापना, हनुमान मन्दिर और चौदह एकड़ भूमि में वाटिका का लगाना इन सब कार्यों ने यद्यपि बहुत श्रम लिया पर सब देखते-देखते हो गया और यही स्थान जहाँ से कुछ दिन पूर्व अनैतिकता के वाक-रहित शिक्षण हुआ करते थे अब धर्म और संस्कृति का 'संगम' बन गया है ।

देश में साधु-महन्तों की कोई कमी नहीं पर श्री त्यागी जी की तरह का साहस, संकल्प और धर्म-प्रेम उनमें से कितनों में होता है ? छोटे-छोटे सीमा क्षेत्र में ही वे सब सच्चाई और अन्त:करण से धर्म सेवा में लग जायें तो देश में बढ़ती हुई अनैतिकता और अधार्मिकता को देखते-देखते दूर किया जा सकता है ।

समाज के लिए स्वयं के सुख छोड़ने वाले—नीलमणि फुकन

आधुनिक शिक्षा पद्धति को एक हनुमान कूद बताते हुए आचार्य विनोबा भावे ने जीवन और शिक्षण लेख में कहा है— "बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है । तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है । मैं शिवाजी बनूँगा, उनकी तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा । मैं वाल्मीकि बनूँगा । मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा । एक दो चार जाने क्या-क्या कल्पनायें करता है ।' ऐसी कल्पनायें करने का भाग्य बहुत थोड़ों को मिलता है पर जिनको मिलता है उनको ही लेते हैं । इन कल्पनाओं का आगे क्या परिणाम निकलता है ? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया तो बेचारा दीन बन जाता है । जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है इसकी आज तक बिल्कुल कल्पना ही नहीं की पर अब तो पहाड़ सामने आ गया। फिर क्या करता है ? देश के लिए बन-बन फिरने वाले

शिवाजी, करुणा गीत गाने वाले वाल्मीकि कभी नौकरी की तो कभी औरत की और कभी लड़की के लिए वर की तलाश में घूमते हुए अन्त में श्मशान की शोध करने वाला न्यूटन— इस प्रकार की भूमिकायें लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान कूद का फल है।''

वस्तुत: आज के स्कूल-कॉलेजों में विद्यार्थी को जीवन के गम्भीर दायित्वों का कोई व्यावहारिक ज्ञान मिल ही नहीं पाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि अच्छी श्रेणियों में उत्तीर्ण हुआ छात्र भी जब जीवन के क्षेत्र में उतरता है तो उसे कुशलतापूर्वक जी नहीं सकता आधुनिक शिक्षा पद्धति के इस अभाव को दूर करने के लिए स्वाधीनता से पूर्व ही प्रयास किये गये। भारत राष्ट्र के निर्माताओं ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सभी दोषों को दूर करते हुए एक ऐसी शिक्षण योजना निर्धारित की जिसके अनुसार शिक्षित विद्यार्थी को जीवन भार रूप न लगे और उस शिक्षा पद्धति का नाम रखा गया बुनियादी शिक्षण। इस शिक्षण योजना को अब तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका है और वही शिक्षण पद्धति जारी है जिसने अंग्रेज सरकार के लिए हजारों सस्ते क्लर्क और बाबू तैयार किये। उसी पद्धति के कारण आज भी शिक्षित लोग अपने निर्वाह का कोई और साधन खोजने तथा अपनाने की अपेक्षा नौकरी तलाशना ही अधिक श्रेष्ठ समझते हैं।

स्वतन्त्र भारत में सरकार की ओर से भले ही नयी शिक्षा पद्धति को कोई प्रोत्साहन न मिल पाया हो पर ऐसे सेवाभावी कर्मयोगी भी है जिन्होंने बुनियादी शिक्षा के आदर्शों पर यथाशक्ति अमल करने का प्रयास किया। जिन महामानवों के प्रयास आधुनिक शिक्षा पद्धति के दोषों को दूर रख कर राष्ट्र को रचनात्मक दिशा देने के लिए बुनियादी शिक्षा योजना से वर्षों पूर्व ही जारी थे उनमें आसाम के लोकमान्य कवि शिरोमिण वाग्मीवर नीलमणि फुकन का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जा सकता है। असमिया भाषा में उन्हें पितामह कहा जाता है और वस्तुत: वे अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व के माध्यम से आसाम के पितामह ही सिद्ध हुए हैं। राष्ट्रीय-आन्दोलन के कर्णधारों द्वारा बुनियादी तालीम के निर्धारण से पूर्व ही उन्होंने शिक्षा में नये प्रयोगों द्वारा देश को कर्मठ और निष्ठावान नागरिक देने का कार्य आरम्भ कर दिया था। अपने व्यक्तिगत बलबूते पर जन-सहयोग जुटाकर उन्होंने तीस पाठशालायें स्थापित कीं जिनमें रात-दिन विद्यादान दिया जाने लगा।

आसाम के पितामह नीलमणि फुकन का जन्म सन् १८८० में असम के सम्पन्न और संस्कृति निष्ठ परिवार में हुआ था। उनके दादा संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित निष्ठावान सनातनी हिन्दू और एक बड़े सरकारी अधिकारी थे। दादा की भाँति पिता को और उसके बाद पुत्र को भी वह धर्मनिष्ठा विरासत के रूप में मिली। प्रात: स्नान ब्रह्ममुहूर्त में जागरण, पूजा पाठ, उपासना, जप आदि के साथ आचार-विचार में उदारता, आत्मीयता और सत्य प्रेम आदि के संस्कार भी फुकन को बचपन में ही प्राप्त हो गये वे अपने पिता के साथ गौमाता की सेवा करते, घर पर आने वाले साधु-महात्माओं को भिक्षा और दान-दक्षिणा देते तथा अन्य धार्मिक आयोजनों में उत्साहपूर्वक हाथ बँटाते।

परिवार के वातावरण में धार्मिकता का प्रभाव तो अक्षुण्ण बना रहा पर लक्ष्मी चंचला स्थिर न रह सकी। दादा के बाद पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी न रह सकी। रुपये-पैसों का कोष भले ही खाली हो पर मन का कोष तो भरा था और इसी कारण परिवार के किसी व्यक्ति ने गरीबी को संत्रासपूर्ण नहीं पाया। नीलमणि फुकन ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि सम्पत्ति भले ही न रही हो पर मैंने दारिद्रय दु:खों का कभी अनुभव नहीं किया क्योंकि घर में मुझे सभी ने लाड़ प्यार से रखा और घर के सब सदस्य भी परस्पर प्रेमपूर्वक रहते।

आर्थिक स्थिति अच्छी न होते हुए भी पुत्र को अच्छी शिक्षा दिलाने के उद्देश्य से पिता ने उन्हें स्कूल में भर्ती कराया। और नीलमणि अपने परिश्रमशीलता, एकाग्रता, अध्यवसाय तथा तन्मयता के बल पर कक्षा में सदैव सर्वप्रथम आते रहे। पिता उन्हें केवल शिक्षित ही नहीं संस्कारवान भी बनाना चाहते थे अत: नीलमणि को विद्यार्थी जीवन में ही देश-विदेश के कई महापुरुषों की जीवनियाँ, प्रेरक कथायें, पौराणिक आख्यान तथा सत्साहित्य पढ़ने का अवसर मिला। उन्होंने पैतृक परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन तो किया ही और विशद् अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि विचार-शीलता की क्षमता का उदय होते ही उन्हें अपने देश की दुर्दशा, प्राचीन भारत के गौरवमय स्वरूप और अर्वाचीन भारत की दयनीय परिस्थितियों का अहसास होने लगा। भारत के साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि असम तो अन्य भारतीय क्षेत्रों की अपेक्षा और भी पिछड़ा हुआ है। न यहाँ की भाषा का अपना कोई साहित्य है और न यहाँ की जनता की सभ्यता। इन स्थितियों की अनुभूतियों ने उन्हें देश सेवा के लिए भी प्रेरित किया और अपने निकटवर्ती जनों को उठाने के लिए आवश्यक प्रयास करने हेतु भी। जब भी अवसर मिलेगा अपनी इस सेवा को तृप्त करूँगा— के व्रत के साथ नीलमणि पढ़ते रहे।

स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने कलकत्ता से बी. ए. पास किया और उसके बाद वकालत करने के उद्देश्य से उन्होंने लॉ कॉलेज में अध्ययन शुरू किया। उन्हीं दिनों डिब्रूगढ़ में एक पाठशाला खुली, प्रश्न उठा इसके प्राचार्य पद पर किसे नियुक्त किया जाय तो सबकी आँखें नीलमणि फुकन पर आ टिकीं और उन्हें कलकत्ता से बुलावा भेज दिया। अनायास ही अपने समाज सेवा के व्रत को पूरा करने का यह अवसर आया देख फुकन ने वकालत का मोह छोड़ दिया और डिब्रूगढ़ आ गये। हालांकि उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनायें वकालत के पेशे में ही अधिक थीं पर केवल अपने लिए ही नीलमणि फुकन को अपने भविष्य की कहाँ चिन्ता थी वहाँ तो चिन्ता थी अपने पिछड़े और अपेक्षित भाइयों के उत्थान की अत: उन्होंने डिब्रूगढ़ जाकर प्राचार्य पद स्वीकार कर लिया और समाज सेवा में जुट गये।

यह पाठशाला सरकारी सहयोग से आरम्भ हुई तथा चल रही थी। १९१४ में जब पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ तो सरकार ने कई संस्थाओं को अनुदान देना बन्द कर दिया। सरकार की इस नीति का

प्रभाव डिब्रूगढ़ की उस पाठशाला पर भी पड़ा जहाँ के प्राचार्य फुकन थे। पाठशाला बन्द हो गयी, समाज सेवा का जो कार्य चल रहा था वह रुक गया पर फुकन ने संकल्प लिया कि चाहे जो हो जाय स्कूल बन्द न होने देंगे और उन्होंने स्कूल के लिए जन-सहयोग जुटाने हेतु गाँव-गाँव घूमना आरम्भ कर दिया। छह महीने तक उन्होंने साइकिल द्वारा आस-पास के सभी गाँव नाप डाले। लोगों ने भी मुक्त हस्त से योगदान दिया और करीब छः महीने में ही चौदह हजार रुपये इकट्ठे हो गये। पाठशाला की आवश्यकता पूर्ति के बाद भी काफी रकम बचती थी सो उससे फुकन ने और नयी शालायें खोलने का अभियान चलाया और कुछ ही समय में तीस पाठशालायें खुल गयीं। आगे चलकर अपनी प्रवृत्तियों का विस्तार करते हुए फुकन ने समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम भी चलाये। आदिवासियों के उत्कर्ष हेतु उन्होंने नशाबन्दी आन्दोलन से लेकर अन्य उच्चस्तरीय सेवा कार्यक्रम भी चलाये जिनके दूरगामी परिणाम हुए।

सेवाभावी सन्त-भक्त—पुनीत महाराज

सच्चे विष्णु भक्त की कसौटी को सन्त नरसैया ने अपने भजन "**वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।**" में स्पष्ट किया है। जो दूसरों के दुःख-दर्द को अपने जैसा जाने तथा उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील ही नहीं रहे वरन् निवारणार्थ जो प्रयास करे वे 'दुस्साहस' की सीमा तक हों। यही भाव इस गीत में भरे हैं। इस भावना को जीवन में साकार करने की बड़ी आवश्यकता है यह केवल गीत बनकर ही रह जाये, इससे जनमानस को विशेष लाभ नहीं हो पाता। इसे जीवन में साकार करने वाले एक भक्त थे पुनीत महाराज।

खुशामद व चापलूसी मनुष्य के सामने भले ही चल जाय भगवान् के दरबार में तो कदापि चल नहीं सकती। यदि चलती तो वह इतने बड़े ब्रह्माण्ड का नियंत्रण कैसे कर पाता। जिस काल में इनका जन्म हुआ उस समय भक्ति-भाव तथा भजन के उद्देश्य भुला दिये गए थे तथा यह केवल लोकरंजन के साधन भर रह गए थे। भजन से यदि पर-दुःख-कातरता न उपजे तो फिर उसमें और अन्य गीतों में अन्तर ही क्या रह जायेगा। भजन मण्डली न होकर वह मनोरंजन मण्डली भर बनकर रह जाएगी।

ऐसे ही समय जूनागढ़ (गुजरात) के ब्राह्मण परिवार में १९ मई, १९०९ में एक बालक का जन्म हुआ। पिता भाई शंकर और माँ ललिता ने इस बालक का नाम रखा बालकृष्ण। यही बालक आगे जाकर पुनीत महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनको बचपन में 'बालू' कहकर पुकारा जाता था। छह वर्ष की अवस्था में 'बालू' के पिता का देहावसान हो गया।

माता ललिता ने इस बालक का पालन-पोषण किया तथा इसका निर्माण किया। बचपन से ही इसमें सुसंस्कार भरने आरम्भ कर दिये। स्नेह, लाड़-प्यार के साथ-साथ बालक को शिक्षा भी दी जाने लगी। बालक तो पराश्रयलम्बी होता है माता-पिता पर पूर्णरूपेण आश्रित। पिता तो थे नहीं माँ ललिता गरीबी के झोंकों को अपने आँचल से बचाती हुई इस सुकुमार बालक का पालन-पोषण करती रही। सत्य आवरण में कब तक छिपा रहता। बालक ने देखा था कि माँ किस मेहनत से लोगों के यहाँ काम करके दो पैसे जुटाती है जब कहीं दो रोटी का साधन बन पाता है जिससे जीवन की गाड़ी दो कदम आगे बढ़ लेती है।

अभावों का जीवन कैसा होता है बालक ने समीप से देखा था। माँ के पास हजामत के लिये पैसे नहीं थे। सिर के केश बढ़कर जटा होने लगे। किसी ने मजाक में कह दिया— "जटाजूट तो बड़ा सुन्दर रखा है क्या कोई नाटक खेलने की तैयारी हो रही है।" बालक माँ के पास जाकर पैसे माँग बैठा। माँ के पास कुछ था नहीं। बेचारी को ताम्बे का एक घड़ा बेचकर पैसे जुटाने पड़े।

दूसरे बालकों को देखकर उसका जी ललचाता किन्तु बिना बाप के लड़के पर दया किसे आती? सब परिवार, अपनी सुख-सुविधाओं के लिये रोते हैं। हाथी हो तो भी अपने ही पेट में समाने का प्रयास करेंगे दूसरे को देना सीखा ही नहीं।

ऐसे ही दुःखों को झेलते हुए बालक पढ़ा। उसे गाँव के हाईस्कूल में भर्ती कराया गया। वहाँ उसे शांति मियाँ नाम के अध्यापक से बड़ा सहयोग मिला। अच्छे आदमी भी दुनिया में होते हैं भले ही कम संख्या में हों, उनमें से एक थे यह 'शांति मियाँ' नाम के साथ 'मियाँ' भले ही जुड़ा था पर थे पूरे वैष्णव। उन्होंने बालू को शिक्षा के साथ-साथ धर्मशास्त्रों की अच्छी अनुकरण योग्य बातें भी बताईं। बालू के जीवन निर्माण में इस सहृदय अध्यापक का बड़ा योग रहा।

एक दिन एक दिवंगत अध्यापक को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये बालू के मुख से भावावेश में कविता फूट पड़ी जिसे सुनकर सारा विद्यालय चकित हो गया। शांति मियाँ फूले न समाए। उसे प्रोत्साहन देने के लिये वे उसे एक कविता पर १ पैसा देते थे।

किसी तरह खींचतान करके बालकृष्ण दसवीं कक्षा तक पहुँचा। अब विवशताओं ने उग्र रूप से आक्रमण आरम्भ कर दिया। इसी समय चेचक का प्रकोप हुआ। आँखों की ज्योति मन्द पड़ गई, फिर भी धनाभाव के कारण चश्मा न खरीदा जा सका। फीस व कागज पेंसिल भी जुटा पाना कठिन था। विवश हो पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

बड़े प्रयत्नों के बाद कुछ महीनों तक पोस्ट आफिस में ११ महीनों की नौकरी मिली। फिर बेकार हो गया। शादी हो चुकी थी, माँ कब तक पेट भरती। रोजगार पाने के लिये दर-दर भटकना पड़ा। अध्यापक, कुली, सम्पादक सभी कुछ बने पर कोई स्थायी काम न जम पाया। एक बार तो यह स्थिति आ गई थी कि तीसरा बच्चा भी धनाभाव में काल-कवलित हो गया तो दाह-संस्कार के पैसे भी न थे। सूख कर देह काँटा हो गई। रोग ने आ घेरा, क्षय की अन्तिम स्टेज अर्थात मृत्यु।

लोहे को धार देने के लिये तपाया जाता है, सोने को परखने के लिये, कान्ति बढ़ाने के लिये तपाया जाता है, इसी प्रकार मानव को सही अर्थों में मानव बनाने के लिये उसे दुःखों की अग्नि पर तपाया

जाता है। दुःख मनुष्य का सच्चा स्वरूप निखारने की एक प्रक्रिया है। सुख आदमी को मार देता है, निष्क्रिय कर देता है किन्तु दुःख उसे आगे बढ़ने और पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है। दुःखों को परीक्षा मानकर चलने वाला व्यक्ति जीवन में कुछ न कुछ करके दिखाता है। ऐसी ही कठिन परीक्षा बालकृष्ण की भी ली गई। इन दुःख-कष्टों से लड़ने का साहस जुटाने वाली शक्ति है परमात्मा, इसी सम्बल को अब बालकृष्ण ने पा लिया। वे अब सब कुछ उसके चरणों में अर्पित कर स्वयं उस पर निर्भर हो गए। वे कह उठे कि हे ईश्वर तेरी जो चाह है वही मेरी चाह है, जो कुछ तू देगा वह लूँगा। हर्ष और विषाद अब मुझे नहीं व्याप्त होंगे। आज तक भटका, रोया, दुःखी हुआ पर अब नहीं होने वाला हूँ। जहाँ सुख की चाह करता हूँ वहीं दुःख का भी अनुभव होता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं एक को स्वीकार कर दूसरे को अस्वीकार करने की भूल आज तक करता रहा पर मैंने अब सुख-दुःख दोनों त्याग दिये।

बालकृष्ण की परीक्षा समाप्त हुई। वे उत्तीर्ण हुए। उन्हें एक प्रतिष्ठित फर्म 'तैयब एण्ड कम्पनी' में अहमदाबाद शाखा के एक उच्च पद पर काम मिला गया। धीरे-धीरे स्वास्थ्य भी सुधरने लगा। यह सब उन्होंने ईश्वर का दान समझ कर ग्रहण कर लिया पर वे उन दुःख के क्षणों को भूले नहीं। उन्हें सदा अहसास रहा कि कल जो दुःखी था आज सुखी हो सकता है और आज जो सुखी है वह कल दुःखी भी हो सकता है। सुख-दुःख केवल मन की कल्पना ही तो है। एक ही वस्तु है जिसके अभाव को हम दुःख व उपलब्धि को सुख कहते हैं। मनुष्य को उसे निरपेक्ष भाव से ग्रहण करना चाहिये। अधिक मिला तो उन्हें दो जिनके पास नहीं है और नहीं मिला तो दुःखी न हो कि हमें नहीं मिला, यही सच्ची साधना है। सुख-दुःख को पृथक मानने के कारण ही संसार के सब प्राणी अपने आप को अलग-अलग मानते हैं, जबकि उनका अलग कोई अस्तित्व ही नहीं है।

उपार्जन की व्यवस्था जम चुकी थी। अब सुख-दुःख के भ्रम में फँसी जनता को सही मार्ग बताने की कामना उनके मन में तीव्र रूप से जाग्रत हो उठी। उन्होंने भक्ति रस के भजनों के माध्यम से जन-जन में इस विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने का शुभारम्भ किया। उस समय गुजरात में इसी प्रकार के भजनों से एक नवीन जाग्रति पैदा हो सकती थी। इन्होंने भजन गाने का क्रम बना लिया। इनकी काव्य प्रतिभा तथा मधुर कंठ और भक्ति की भाव विह्वलता ने भजनों को बड़ा प्रभावशाली बना दिया। जहाँ-कहीं भी भजन-मण्डली होती वहाँ ये पहुँच जाते तथा भजनों के द्वारा इस अलौकिक संदेश को जनता के सामने रखते। सुनने वाले सब कुछ भूल कर इनके भजनों में लीन हो जाते तथा जीवन की एक नई राह उनके लिये खुल जाती थी। वह राह थी स्वयं के स्वार्थ के साथ लोकमंगल का समन्वय करना। धीरे-धीरे ये इतने प्रभावशाली हो गए कि लोगों के मन में इनके व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई। इसी श्रद्धा से अभिभूत होकर एक दिन श्री राधेश्याम जी ने इनका नाम 'पुनीत महाराज' रख दिया। तब से ये पुनीत महाराज कहलाने लगे।

पुनीत महाराज ने अब जन-जाग्रति का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। स्थान-स्थान पर भजन मंडलियों की स्थापना किये जाने का प्रयास किया जाने लगा। मनुष्य का मन बड़ा चंचल होता है। यदि वह वश में किया हुआ न हो तो प्रायः भावनाओं को अपने तर्क के आगे टिकने नहीं देता। जन-साधारण से यदि पुनीत महाराज ऐसे मन को वश में करने वाली बात कहते व सुझाव देते कि उसे सही दिशा में चलाओ तो कोई न मानता। सन्त लोगों के लिये एक ऐसा मार्ग एक ऐसा व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत कर देते हैं जिससे अभीष्ट उद्देश्य सहज ही पूरा हो जाय। भजन मंडली उस समय सबसे उपयुक्त साधन थी।

भजन के माध्यम से जन-साधारण में सत्प्रवृत्तियों का प्रसार तथा कुरीतियों का निवारण करने के लिये पुनीत महाराज अपना जीवन अर्पित कर चुके थे। इनके प्रयासों से गाँव-गाँव में मंडलियाँ बनीं। जब देखते कि यह गरीब है तो स्वयं भी कभी-कभी भजन कराने वाले को प्रसाद, अगरबत्ती आदि का खर्च अपनी गाँठ से दे देते थे। मनुष्यों के चंचल मन को मनोवैज्ञानिक ढंग से सद्प्रवृत्ति में लगाकर समाज सुधार का उनका यह ढंग बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ जिसका असर उस क्षेत्र में आज तक विद्यमान है।

स्त्री जाति में चेतना लाने के लिये भी उन्होंने भजन मंडलियों की स्थापना करने का प्रयास किया तथा रूढ़िवादिता के विरोध में भजन बनाए। अश्लील गीतों का बहिष्कार किया।

ये कहीं भजन मण्डली में दान-दक्षिणा नहीं लेते थे। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली, इनके हजारों अनुयायी बन गए। इन्होंने देखा कि गुजरात में जाग्रति आ गई है। इस हवा को सारे भारत में फैलाना चाहिये। इसके लिये उन्होंने भजन मंडली सहित यात्री-संघ बनाए तथा इनका कुशलतापूर्वक संचालन करके सारे भारतवर्ष में पुनर्जागरण करने का प्रयास किया।

इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली बन गया था, कि लोगों ने चमत्कारिक कथाएँ भी इसके साथ जोड़ दी हैं। इनमें सत्यता भी है। वह है व्यक्तित्व का प्रभाव तथा परमात्मा की इच्छा। गर्व उन्हें छू भी न गया। ये पुनीत महाराज हो जाने पर भी उस दुःखी 'बालू' को नहीं भूले। उन्हें समाज में जहाँ भी 'बालू' जैसा दीन-हीन जीवन जीते किसी को देखा उसे पुनीत महाराज बनाने में कसर नहीं छोड़ी। वे सौम्य, सरल और विनम्र ही रहे।

तथाकथित साधुओं की तरह उन्होंने समाज पर भार बनना पसन्द न करके उनके सामने उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी नौकरी नहीं छोड़ी। उपार्जन से जो राशि मिलती उसका थोड़ा-सा भाग स्वयं के लिये खर्च करके शेष वे समाज हित मे लगा देते थे।

वे वृद्ध होने लगे तो वर्णाश्रम धर्म, के अनुसार वे संन्यासी बनने की कामना करने लगे। उनके अनुगामियों को उनके परिवार की चिंता लगी। श्री गोवर्धनदास नामक एक सद्गृहस्थ ने उन्हें १० बीघे जमीन भेंट करने का बड़ा आग्रह किया। उस जमीन को उन्होंने स्वीकार तो किया पर उसे अपने परिवार के लिये नहीं जन-कल्याण के लिये ही किया। उसका ट्रस्ट बना दिया तथा उस पर उनके किसी

उत्तराधिकारी का हक न रखा । इसी भूमि पर मणिनगर में 'पुनीत सेवाश्रम' की स्थापना हुई । यह सेवाश्रम आज भी उनके पुनीत कृत्य का स्मरण करा रहा है ।

सन् १९५९ में पुनीत महाराज धर्म प्रचारार्थ अफ्रीका गए तथा छह महीने तक उस क्षेत्र में प्रचार करते रहे । इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र इतना बड़ा देखा तो संन्यास लेने का विचार छोड़ दिया । वे विदेह हो चुके थे उन्हें गृहस्थ व संन्यास में कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता था ।

२७ जुलाई, १९६२ को पुनीत महाराज का देहवसान हुआ । उनका जीवन एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने को दीन-हीनों का साथी समझता रहा पर उसने स्वयं को भावना के माध्यम से एक बड़ी शक्ति के साथ जोड़ दिया जिसके आश्चर्यजनक परिणाम हुए तथा लोकजीवन के लिए चिरस्थायी कार्य कर गया ।

आज के युग में ऐसे ही लोकसेवियों की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है । आज के तथाकथित ज्ञानी-ध्यानी लोग उनके चरित्र से प्रेरणा लें तो इनकी संख्या देखते हुए भारत का ही नहीं विश्व का कल्याण संभव हो सकता है ।

प्राणिमात्र के सच्चे सेवक—पूंजा बाबा

सतपुड़ा तथा विंध्य की पहाड़ियों के बीच एक छोटा-सा, लकड़ियों के बाड़े से घिरा पशु चिकित्सालय था । उसे साधना स्थली भी कह सकते हैं, तपोवन भी । वन के सारे ही घायल तथा आहत पशु-पक्षियों का वह आश्रय स्थल था । उसके निर्माता, संस्थापक, संचालक तथा सेवक थे श्री पूंजा बाबा ! हाँ— उन्हें सब पूंजा बाबा ही कहते थे । नाम कुछ और रहा होगा शायद ।

पूंजा बाबा जाति के भील थे । बचपन से ही इनकी संस्कारवान आत्मा धर्म तथा अध्यात्म के प्रति आकृष्ट हुई । जहाँ भी उन्हें धर्म चर्चा अथवा सत्संग जैसा वातावरण मिलता— वे फौरन पहुँचते और सदा दूसरों के उपकार की ही बात सोचा करते ।

एक दिन उन्होंने सुना कि प्राणिमात्र की सेवा करना ही सच्ची ईश्वर पूजा है । बस, उसी दिन से उन्होंने यह बात गाँठ बाँध ली । जैसे बादल उड़ता हुआ भी अपने साथ अगाध जलराशि लिये चलता है वैसे ही पूंजा बाबा का जीवन भी परोपकार, परसेवा तथा जीवमात्र की भलाई की भावनाओं से ओत-प्रोत हो गया ।

किन्तु अब सामने प्रश्न यह था कि सेवा का माध्यम भी कुछ होना चाहिए । शिक्षा तथा योग्यता का अभाव था, पर मनोभूमि बड़ी ही श्रद्धालु तथा उदार थी । ऐसे ही— जैसे बिना खाद-पानी के, कोई बीज को उर्वरा भूमि में डाल दे— बस ।

पर इससे उन्होंने अपना मार्ग अवरुद्ध न होने दिया । जंगल में ही उन्होंने एक छोटा-सा स्थान चुना । उसे लकड़ियों से घेरकर एक सुरक्षित बाड़े का स्वरूप प्रदान किया । जंगल में जो भी घायल पशु अथवा पक्षी पाते उसे ले आते और पूरी लगन के साथ उसकी सेवा सुश्रूषा तथा परिचर्या करते । ठीक होने पर उसे पुनः स्वतन्त्र कर देते । उसके ठीक होने पर— उस प्राणी को तो आराम मिलता ही था— पूंजा बाबा की आत्मा को इतना अधिक संन्तोष तथा आनन्द मिलता कि कभी-कभी तो उनके स्नेहावेग से प्रेमाश्रु बह उठते ।

वे सोचते— ईश्वर का सच्चा स्वरूप यह वृहद् ब्रह्माण्ड ही तो है । इसके प्रत्येक प्राणी में उसी का प्राण सक्रिय है । वनस्पति की प्रत्येक डाली में उसी की चेतना लहरा रही है । यहाँ तक पत्थर, नदी, पहाड़ तथा दूर तक फैले नील-गगन के विस्तार में भी उन्हें परमपिता का आभास निकलता-सा प्रतीत होता ।

इसीलिए तो— ईश्वराधन का यही स्वरूप उन्हें अधिक पसन्द आया था । यह सेवा कार्य ही उनकी उपासना थी— उनका धर्मानुष्ठान था तथा उनकी धर्म साधना थी ।

रोगी पशुओं के लिये जड़ी-बूटियाँ खोजना— उनके लिये भरी दोपहरी में जंगल-जंगल भटकना-रोगियों के लिये उचित खाने-पीने की व्यवस्था जुटाना— उनके स्थान की सफाई करना— इन सब कार्यों में उन्हें बड़ा ही आनन्द आता ।

धीरे-धीरे आस-पास के निवासी भी उनके इस सेवा कार्य से परिचित हो गये । अब वे भी जहाँ-कहीं भी किसी घायल अथवा बीमार पशु या पक्षी को देखते तत्काल उठा कर पूंजा बाबा के इस पशु चिकित्सालय में पहुँचा देते । बाबा जी बड़े ही स्नेह से उनकी चिकित्सा की व्यवस्था जुटाते । कुछ उत्साही युवक अब अवकाश के समय में उनकी सहायता करने भी आ पहुँचते । घास काटना— जंगल से लकड़ी एकत्रित करना तथा पानी भर देना या बाड़ा साफ कर देना— इन सब कार्यों में वे पूंजा बाबा की पूरी सहायता करते ।

चिकित्सा सम्बन्धी जानकारियाँ हासिल करने के लिये भी पूंजा बाबा को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा था । उन्होंने किसी कॉलिज में व्यवस्थित शिक्षा तो पाई नहीं थी । किन्हीं वयोवृद्ध सज्जन के विषय में मालूम होता कि वे इस विषय में कुछ जानते हैं तो बस— पूंजा बाबा वहीं जा पहुँचते और उससे विशेष जानकारियाँ हासिल करते ।

जिस स्रोत में भी इस विषय की कुछ जानकारी निकली— उसे ही जा पकड़ते और निरन्तर अपने ज्ञान में वृद्धि करते रहते । आधी से अधिक कुशलता का आधार तो उनकी वह सतत साधना थी— जिसमें वे रात-दिन निरत रहते थे ।

यह चिकित्सालय लगभग एक-डेढ़ मील के अहाते में था । वहीं पर थोड़ी-सी जमीन में उन्होंने कंदमूल-फल उपजा रखे थे । शाक-सब्जियों के सहारे भोजन की समस्या हल हो जाती थी । कभी नगर की ओर जाना हो जाता था तब आवश्यक वस्तुएँ ले आते थे । कभी कभी कोई बहुत ज्यादा घायल पशु आ जाता था, तो कई-कई दिन नहीं जा पाते थे । तब उनका आहार भी उसी उपज के सहारे चलता रहता था ।

वस्त्रों का जहाँ तक प्रश्न था— एक लँगोटी तथा सिर पर बँधा एक पतला कपड़ा ! बस इतनी ही आवश्यकता रहती थी उन्हें वस्त्र की । आडम्बरों से वे कोसों दूर थे ।

आस-पास के भील उनके पास सहज श्रद्धावश ही आ जाते थे। जिसमें सच्ची भक्ति तथा आस्तिकता होती है उसके प्रति सबके हृदय में अनजाने ही एक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। आने वाले भीलों को वे अच्छी बातें बताते थे। सेवा-परोपकार तथा परस्पर सहयोग पूर्वक जीने की शिक्षा देते थे। सफाई से रहने का महत्त्व समझाते तथा परिश्रमपूर्वक द्रव्यार्जन करने की शिक्षा देते थे।

आने वालों के प्रति उनका सन्देश था— "दूसरों की सहायता करने और ईमानदारी से जीवनयापन करने की रीति-नीति अपनाकर कोई व्यक्ति थोड़ी पूजा से भी ईश्वर को प्रसन्न कर सकता है। कोई व्यक्ति भजन तो बहुत करे— पर कर्म नीच करे— तो उसका उद्धार भगवान् भी नहीं कर सकते।"

यह थी उनकी शिक्षा, उनका उपदेश। वे सही अर्थों में ईश्वर भक्त तथा संत थे। समस्त धर्म ग्रन्थों का सार उनके इस संक्षिप्त से उपदेश में निहित है।

इनके प्रभाव में आकर कई भीलों ने चोरी करना— शराब पीना— जुआ खेलना तथा माँस खाना तक छोड़ दिया था।

यह है एक सच्चे साधु का स्वरूप। जिसका हृदय एक भक्त तथा उपासक है जिसकी बुद्धि एक सच्चे समाज सुधारक जैसी है और जिसका शरीर सही अर्थों में एक सेवक का शरीर है।

हमारे देश में फैले ५६ लाख साधुओं में से यदि शतांश भी इस प्रकार की भावना तथा क्रियाकलापों को लेकर आगे आयें तो इस गिरते हुए समाज की दशा सुधरते देर न लगे।

आज पूंजा बाबा नहीं रहे। पर उनकी दी हुई क्रियात्मक शिक्षाएँ जन-जन के मनों में बस गई हैं। जिन्होंने उनसे कुछ भी प्रेरणा तथा प्रकाश पाया है उनके मनो मे पूंजा बाबा की स्मृति किसी भी भगवान् से कम नहीं। सच्चे अर्थों में मानवता के उपासक के रूप में उनको सदा स्मरण किया जाता रहेगा।

विश्वमानव के सच्चे पथ-प्रदर्शक— स्वामी भक्ति वेदांत

७० वर्ष की ढलती आयु के एक सच्चे कृष्ण भक्त का हृदय धकधते हुए विश्वमानव को सत्य का मार्ग बताने के लिए तड़प उठा। पास कुछ भी धन-सम्पदा नहीं, शरीर भी अब उतना स्वस्थ एवं शक्ति सम्पन्न नहीं कि आत्मा की आवाज सुनकर उसका अनुगमन कर ले। वह अमेरिका जैसे भौतिकवादी देश को अध्यात्मवाद की महिमा बताने के आतुर हो उठा। आत्मा की अमरता पर अगाध विश्वास तथा त्याग-तप के संचित बल को लेकर यह एक प्राणी अमेरिका जा पहुँचा।

जहाँ किसी कार्य को करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाय तथा उसको पूरे श्रम तथा मनोयोग से किया जाय तो असम्भव दीखने जैसा कार्य भी सम्भव हो सकता है। इस सफलता को देखकर कभी-कभी उसे चमत्कार की संज्ञा भी दी जाने लगती है। ऐसा ही एक चमत्कार इस संकल्पवान ने अमेरिका में प्रस्तुत किया। इनका नाम है प्रभुपाद ए. सी. भक्ति वेदान्त। ये अमेरिका पहुँचे। यहाँ समाचार पत्रों में जो वहाँ की बातें पढ़ते थे वहाँ आँखों से देखने को मिलीं। किसी भी प्रकार का संयम और मर्यादा यहाँ पिछड़ापन माना जाता था। धन के पीछे अन्धे होकर दौड़ लगाना और उस धन को पाकर अन्धाधुन्ध शराब, व्यभिचार तथा अन्य शारीरिक तुष्टियों में खर्च कर देना यही एक जीवन-क्रम देखकर वे मानव की इस भूल पर रो पड़े। यह सुर-दुर्लभ मानव जीवन इस प्रकार के जीवन के लिये तो नहीं मिला है।

प्रेम और सेवा की पूँजी से इन्होंने यहाँ अपना भक्ति अभियान चलाया। ७० वर्ष के सात्त्विक, तप, त्याग भरे जीवन के कारण इनके व्यक्तित्व में ऐसी विलक्षणता उत्पन्न हो चुकी थी कि जिससे प्यार से बोले कि वह उनका हो गया। जिसकी पीठ पर स्नेह से हाथ फेरा कि वही लोहे से चुम्बक बन गया।

जो इनके सम्पर्क में आया उसे आश्चर्य हुआ कि यह साधारण-सा आदमी जिसके पास सर्दी से बचने के लिये पूरे कपड़े तक नहीं, जिसके पास कुछ भी धन-सम्पदा नहीं कितना प्रसन्न है? कितना आकर्षक है, इसकी इस सादगी में? जबकि हमारे पास यह सब आवश्यकता से अधिक होते हुए भी दुःखी और अतृप्त हैं। सच्चे सुख को इन्होंने पाया है। फिर वे इनके अनुयायी बनने लगे।

कृष्ण भक्तों की यह संख्या बढ़ने लगी। जिसने अपनी शक्तियों को सन्मार्ग पर डाल दिया। उसके जीवन में सुख-शान्ति का सागर लहराने लगा। फिर तो न्यूयार्क की सड़कों पर इन कृष्ण भक्तों का विशुद्ध भारतीय वेशभूषा में संकीर्तन करते हुए निकलना एक साधारण बात हो गई।

वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिये भक्ति वेदांत जी ने जो माध्यम चुना वह 'कीर्तन' है। कीर्तन के माध्यम से ही चैतन्यदेव ने भारतवर्ष में धार्मिक नवजागरण किया था। यही माध्यम इन्होंने भी अपनाया। देखने-सुनने में यह साधारण भले ही लगता है किन्तु इसका वहाँ जो व्यापक प्रभाव हुआ है उसे एक चमत्कार ही कहा जायेगा। इसे पहली बार देखकर कोई पागलपन समझ बैठता है पर प्रायः यही देखते रहने पर कुछ जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जब उसकी जानकारी प्राप्त की जाती है तो पहली बार जिसे वह पागलपन समझता है उसी को स्वयं दोहराने लगता है।

यहीं अमेरिका में हुआ १९६६ में भक्ति वेदान्त जी ने न्यूयार्क में "इन्टर नेशनल सोसायटी फॉर कृष्णा कांशसनेस" की स्थापना की। इनके अनुयायी बढ़ते गये उनके द्वारा न्यूयॉर्क की सड़कों पर कीर्तन मण्डलियाँ निकाली गईं। लोगों ने देखा अमेरिकन पुरुष व अमेरिकन महिलाएँ विशुद्ध भारतीय वेशभूषा भगवा धोती, भगवा कुर्ता और साड़ियों में ढोलक व झाँझ-मजीरों के साथ भक्ति के रस में डूबे हरे-कृष्ण हरे-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण हरे हरे।" का उच्चारण करते हुए नाच रहे हैं। पहले कुछ उपेक्षा की फिर जिज्ञासा उठी और फिर मन ने मान लिया।

इस प्रकार के संघ में बड़े-बड़े घरों के युवक-युवतियाँ, कॉलेज के सुशिक्षित छात्र, प्रोफेसर, वकील, व्यापारी तथा सभी वर्गों के व्यक्ति सदस्य बनने लगे। अब तक अमेरिका में लास एंजिल्स, न्यूयॉर्क, केलीफोर्निया, बोस्टन आदि नगरों में इसकी शाखाएँ खुल चुकी हैं। इंग्लैण्ड, पेरिस, ब्रिटिश कोलम्बिया आदि में इसका प्रभाव बढ़ रहा है। हजारों लोग इस मिशन के सदस्य बन-चुके हैं।

भक्ति वेदान्त जी अँग्रेजी के विद्वान् तथा गीता, महाभारत तथा भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उन्होंने अपनी इस प्रतिभा को जहाँ आवश्यकता थी वहीं पर नियोजित किया। इस पाण्डित्य का उपयोग उपदेश देने अथवा मठ बनाने में नहीं करके लोक-कल्याण के लिये प्रयुक्त किया। इसी स्वाध्याय की पूँजी और आदर्शोन्मुख ७० वर्ष के त्याग और तप के कारण वे इतने लोगों को सद्मार्ग पर चलाने में सफल हो सके हैं।

वे सबसे अधिक बल सयमित जीवन व शुद्ध आहार पर देते हैं। उनकी मान्यता है कि संयम से ही सुख पाया जा सकता है तथा शुद्ध आहार से ही मनुष्य का मन निर्मल होता है उसमें सही मार्ग पर चलने में सरलता होती है। इसी कारण संघ की सदस्यता पाने के लिये इनका पालन अनिवार्य है। वे शराब, माँस, धूम्रपान, जुआ, आदि दुर्व्यसन ही नहीं छुड़ाते, चाय व काफी तक के लिये मना कर देते हैं। वे व्यक्ति जो दिन-रात शराब, माँस, उत्तेजक गोलियाँ, सिगरेट आदि का सेवन करते थे, शारीरिक वासना में डूबे रहते थे। अब वे संयमित जीवन जीने लगे है शुद्ध शाकाहारी भोजन तथा गौ दुग्ध पर जीवनयापन करने लगे हैं तो वे अपने आपको बिल्कुल दूसरा ही मुक्त जीव पाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन से दूसरे भी प्रभावित होते है। इसी का परिणाम है कि छह वर्षों में ही इस प्रकार के संयमी जीवन जीने वाले शाकाहारियों की संख्या हजारों तक पहुँच गई है।

अमेरिका से इस मिशन की विचारधारा व कार्यकलाप से लोगों को परिचित कराने के लिये 'बैक टू गाड हेड' नामक मासिक पत्रिका व भक्ति वेदांत जी के लिखे ग्रन्थ कई भाषाओं में प्रकाशित किये जाते हैं। भारतीय मन्दिरों की तरह वहाँ पर सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया गया है। सिनेमा, टेलीविजन तथा कीर्तन के रेकार्ड द्वारा भी इस मिशन का प्रचार किया जाता है। पुरी की रथ-यात्रा की तरह केलिफोर्निया में वैसी ही रथ-यात्रा निकाली जाती है। वर्जीनिया में ५०० बीघा भूमि पर 'वृन्दावन' बसाया जाने का कार्य भी चल रहा है। कृष्ण भक्तों के नाम भारतीय रखे जाते हैं यथा कृष्णदास, गुरुदास, कीर्तनानन्द आदि।

भक्ति वेदांत जी ने पश्चिम में भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप प्रस्तुत करके जो कार्य किया है वह आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। भौतिकता के पीछे दौड़ लगाने वालों को उन्होंने बताया कि जलती अग्नि में घी डालने से आग बुझती नहीं बढ़ती ही है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो नियमों को तोड़कर कष्ट भोगता है और दुःखी होता है जबकि सारा जगत एक क्रम में, एक नियम में, एक गति में चल रहा है मनुष्य इसके विपरीत चलकर सुखी नहीं हो सकता उसे संयम करना ही पड़ेगा। इसे सिखाने-समझाने की जो राह उन्होंने चुनी वह सर्व-साधारण के लिये उपयुक्त ही नहीं इस कार्यक्रम को शीघ्रता से बढ़ाने वाली भी थी।

वे आत्म प्रशंसा से सदा दूर रहे। लोग उन्हें चैतन्यदेव का अवतार कहने लगे तो उन्होंने कहा "मैं तो कृष्ण सेवकों का चरण सेवक भर हूँ।" कीर्तन को वे अपने आपका ईश्वर से तादात्म्य जोड़ने का साधन मानते हैं तथा आत्मा के आवरण को हटाने का साधन मानते हैं। उन्होंने केवल अनुयायी भर नहीं बनाये उन्हें कठोरतापूर्वक नियम पालन भी कराया। संख्या की चिन्ता न करके ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करने का ही लक्ष्य उनका रहा।

भक्ति वेदांत जी के प्रयासों से विश्वमानव के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय संस्कृति ही विश्व संस्कृति है।

स्वामी प्राणनाथ—जिन्होंने संन्यास का सच्चा अर्थ समझा

मेहराज संन्यास ग्रहण करके स्वामी प्राणनाथ बन गये किन्तु उन्हें इस संन्यास ग्रहण से कोई विशेष सन्तोष नहीं हुआ। घर-बार, स्त्री-पुत्र सभी छोड़कर केवल स्वर्ग या मुक्ति की कामना के अपने ही स्वार्थ में निरत रहने की संकीर्णता का नाम ही यदि संन्यास है तो फिर गृहस्थी और सन्यासी में अन्तर ही क्या रह जाता है। और फिर संसार से भाग कर कहीं जाया भी कैसे जा सकता है ? फिर संन्यासी का धर्म क्या हो ? इस प्रश्न का उत्तर उन्हें नहीं मिल रहा था।

इसी प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए वे गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम रहे थे। काफी भटकने के बाद उन्हें इसका उत्तर मिला समर्थ गुरु रामदास के कर्तृत्त्व के रूप में। समर्थ भी संन्यासी थे, विवाह की वेदी से उठकर भाग खड़े होने वाले संन्यासी, पर उनका मार्ग परम्परावादी संन्यासियों से भिन्न था। वे संसार से भागे नहीं थे वरन् उन्होंने अपने आपको संसार में इस प्रकार घुला दिया था कि वे उससे पृथक दीखते ही नहीं थे। स्वर्ग मुक्ति की कामना से प्रेरित होकर मात्र भजन, ध्यान व योगाभ्यास में निरत होने की अपेक्षा उन्होंने जग जागरण का महत्त्वपूर्ण काम अपने हाथों में लिया था। सोयी हुई हिन्दू जाति को जगाने का समर्थ उद्योग किया था। धर्म के सच्चे स्वरूप को लोगों के सामने रखा था। धर्म और ईश्वर सामाजिक दायित्वों से पलायन करना नहीं सिखाते वरन् उनमें और अधिक दृढ़ता से प्रवृत्त होना सिखाते हैं।

अधर्म राज्य को हटाकर उसके स्थान पर धर्मसम्मत राज्य स्थापित करने और लोगों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने का जो प्रबल पुरुषार्थ समर्थ गुरु रामदास ने दिया था उससे प्रभावित होकर वे भी उनके इस कार्य में सहयोग देने के लिए निकल पड़े। अब उनका लक्ष्य स्वर्ग या मुक्ति नहीं रह गया था। वे तो यह चाहने लगे थे कि मुझे तब तक स्वर्ग और मुक्ति नहीं मिले जब तक इस संसार का एक भी प्राणी दुःखी और बद्ध है।

स्वामी प्राणनाथ का जन्म सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गुजरात के जामनगर में हुआ था। बचपन से ही उनकी धर्म में अनुरक्ति थी।

पिता को भय लगा कि कहीं वे साधु-संन्यासी न हो जायें सो छोटी आयु में ही विवाह कर दिया गया। उनकी पत्नी बाईजू राज पति-परायणा सरल चित्त महिला थी। कुछ वर्ष तक उनका पारिवारिक जीवन चलता रहा। लड़के बच्चे भी हुए। वे जब वयस्क होकर घर बार सम्हालने लायक हुए तो उन्होंने संन्यासी बनने की चिरसंचित अभिलाषा पूर्ण कर ली। पर आरम्भ में तो उन्हें ऐसा ही लगा जैसा मीराबाई ने अपने पद में बताया है— ''जोगी होय जुगत नहीं जानी उलटे जनम् फिर आसी'' किन्तु फिर राह मिल ही गयी और उनका गृहत्याग करना सार्थक हो गया।

उन्होंने गाँव-गाँव जाकर लोगों को ईश्वर व धर्म का सच्चा स्वरूप बताना आरम्भ कर दिया। उस समय की हिन्दू जनता में निराशा और दीनता बढ़ रही थी। बहुसंख्यक होते हुये भी उन्हें मुस्लिम कुशासन व अत्याचारों का बोझ ढोना पड़ रहा था। इसका मूल कारण जनता में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का अभाव और राजाओं की अहमन्यता, आरामतलबी और स्वार्थपरता थी। इस निराशा व दैन्य को भेदने के लिए जिस अभियान की उस समय सबसे अधिक आवश्यकता थी उसे युग धर्म समझकर अपनाने वालों में स्वामी प्राणनाथ भी एक थे।

धर्म और अध्यात्म व्यक्ति को आत्मिक प्रगति के साथ ही उसे सामाजिक दायित्वों का बोध भी कराते हैं किन्तु उस समय के साधु संन्यासियों ने उस पक्ष को भुला दिया था। जनता में भी धर्म और अध्यात्म का वैसा ही स्वरूप प्रचलित था। उसके स्थान पर समयानुसार धर्म का दिग्दर्शन करने के लिए स्वामी प्राणनाथ गाँव-गाँव, घर-घर घूमे।

उनके प्रखर व्यक्तित्व और तथ्यपूर्ण उपदेशों का जनता पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। किन्तु राजा लोगों ने उनकी बात नहीं मानी। सुनी तो सही। उनका संन्यासी के नाते सम्मान भी किया पर जब स्वामी जी ने उनसे संगठित होकर स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र के गठन की बात कही तो वे उन्हें कहने लगे— ''यह तो सम्भव नहीं हो सकता। धर्म की बात करना एक बात है और उस पर पालन करना दूसरी बात। धर्म और राजनीति का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।'' इस पर स्वामी जी उन्हें भगवान् कृष्ण और महाभारत का उदाहरण देकर बताते तो उस समय तो वे मान लेते पर थोड़े ही समय बाद वे पुन: अपने ढर्रे पर ही चलने लगते।

स्वामी जी कर्म में विश्वास रखते थे सो अपना काम करते रहे। घूमते-घूमते वे पन्ना पहुँचे। वहाँ के अधिपति महाराज छत्रसाल उनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुये। उन्हें लगा कि जिस प्रकार समर्थ गुरु रामदास को शिवाजी मिले थे वैसे ही मेरे लिये छत्रसाल वैसे ही सहयोगी सिद्ध होंगे और हुये भी सही।

छत्रसाल उस समय यमुना से लेकर नर्मदा तक के क्षेत्र के अधिपति बन चुके थे। यह उनके अपने पुरुषार्थ का परिणाम था। छत्रपति शिवाजी से उन्हें मार्गदर्शन व सहायता मिली थी। छत्रपति शिवाजी उनके आदर्श ही नहीं आराध्य थे। स्वामी प्राणनाथ से भेंट होने पर उन्होंने उन्हें अपना गुरु बना लिया। उनके निर्देशानुसार वे धर्म, राज्य व धर्म युद्ध में प्रवृत्त होते रहे थे।

इतने बड़े भूभाग के अधिपति होते हुये भी अभी तक छत्रसाल सेनापति ही थे वे महाराज या राजा नाम से नहीं पुकारे जाते थे क्योंकि अब तक उनका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। वे राज्याभिषेक कराने के इच्छुक भी नहीं थे किन्तु स्वामी प्राणनाथ के आग्रह पर उन्हें राज्याभिषेक के लिए तैयार होना पड़ा था। उनके राज्याभिषेक होने से दो बातें उजागर होती थीं। एक तो यह कि इतना बड़ा हिन्दू राज्य गठित हो गया है। इससे प्रजा में स्वाभिमान व उत्साह की वृद्धि होगी। दूसरे एक सामान्य से जागीरदार के पुत्र द्वारा इतने बड़े राज्य की स्थापना करना और वह भी अपने लिए नहीं हिन्दू समाज में राष्ट्रीयता और स्वाधीता की अपनी भावना जगाने के उद्देश्य से सुशासन देने के उद्देश्य से प्रेरित होकर।

स्वामी जी बुन्देलों के सहायक, शुभचिन्तक और परामर्श दाता थे। राजा राज्य का प्रबन्ध करे पर वह प्रबन्ध किसी सुयोग्य धर्माचार्य के मार्गदर्शन पर चले इस परम्परा को उन्होंने पुनर्जीवित किया। आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का और समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी का जिस प्रकार मार्गदर्शन किया उसी प्रकार स्वामी प्राणनाथ ने महाराज छत्रसाल के राज्य को धर्म राज्य बनाया अपने मार्गदर्शन द्वारा।

सन् १६८७ में उन्होंने महाराज छत्रसाल का शास्त्रानुसार राजतिलक किया। शास्त्र में राजा के वर्णित दायित्वों को निभाने के लिए वे वचनबद्ध हुए। इन दायित्वों का पालन करते रहने में स्वामी जी उनके सहायक हुए थे। जब कभी वे चूके तो उन्होंने उन्हें भूल सुधारने के लिए प्रेरित किया। स्वामी प्राणनाथ का शेष जीवन पन्ना में ही व्यतीत हुआ।

स्वामी प्राणनाथ एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे। ब्रह्मा और ईश्वर को एक मानने से एकता की भावना को बल मिलता। अत: उनकी यह मान्यता व्यावहारिक भी थी। ''जहाँ धर्म होता है वहाँ विजय होती है'' यह सत्य ही छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल के उत्कर्ष का मूल था और उस मूल को सींचने वाले थे समर्थ गुरु रामदास और स्वामी प्राणनाथ। समाज को सदा ऐसे ही संन्यासियों की आवश्यकता रहती है।

निष्ठावान धर्मसेवी—सन्त फतहसिंह

स्वतन्त्रता प्राप्ति की घोषणा के साथ ही भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये। एक ही देश में बसने वाले दो स्वजन-बांधव अकारण एक दूसरे को शत्रु की निगाह से देखने लगे। विभाजित पंजाब के उस भाग से, जिसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र होने के कारण पाकिस्तान के रूप में अलग राष्ट्र बनाया गया था। लाखों की संख्या में अल्प-संख्यक हिन्दुओं को मार-मार कर भगाया गया। वहाँ के शासकों और धर्मोन्मादी व्यक्तियों ने हिन्दुओं की सारी जायदाद और सम्पत्ति छीन ली। बड़े-बड़े लखपति कंगाल होकर और लम्बे-चौड़े परिवार के सदस्य अनाथ और एकाकी बनकर भारत में चले आये। इन वीभत्स घटनाओं की

प्रतिक्रियास्वरूप भारत में भी स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हुए और देश के मूर्धन्य नेताओं के माथे पर चिन्ता की रेखायें खींच गयीं।

उस समय जब दिल्ली में सत्ता हस्तान्तरण का कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा था, स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नों के समग्र श्रेयभाजन महात्मा गाँधी साम्प्रदायिक दंगों से ग्रस्त क्षेत्रों में शान्ति स्थापना का प्रयास कर रहे थे। वे इस कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सके। उनके अतिरिक्त एक व्यक्ति ऐसा और भी था जो ऐसे ही दंगा पीड़ितों और शरणार्थियों के डेरों में घूमता, उनकी चिन्ता करता और सान्त्वना देता फिर रहा था। वह व्यक्ति बाद में सन्त फतहसिंह के नाम से वर्षों बाद भारत के राजनीतिक आकाश में एक विवादास्पद व्यक्तित्व के रूप में चमका। अखबारों में सन्त फतहसिंह के विचार और कार्य मुखपृष्ठों पर छपे। भले ही उनकी इतनी प्रशंसा न की गयी हो परन्तु इसके वर्षों पूर्व उन्होंने धर्म और समाज सेवा के क्षेत्र में जो कार्य किये उन्हें उनकी महानता की ही अभिव्यक्ति कही जानी चाहिए।

सन्त फतहसिंह के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन्होंने अपने स्वयं के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा। कुछ लोगों के मतानुसार वे मुस्लिम-गूजर माता-पिता की सन्तान थे और कुछ लोग यह मानते है कि वे सिख परिवार में ही जन्मे थे। जो कुछ भी हो वे एक सिख सन्त के रूप में ही सार्वजनिक क्षेत्र में आये और धर्म सेवा को अपना कार्य चुना। बाद में उन्होंने राजनीति में भी प्रवेश किया। इस क्षेत्र में वे काफी विवादास्पद भी रहे। फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय हितों के सामने अपने विरोधी विचारों तथा मतभेदों को भुला देने और देश सेवा के लिए आगे आने की ही नीति अपनायी।

पंजाब के भाषावार विभाजन की माँग लेकर सन्त जी ने सितम्बर ६५ में आमरण अनशन किया तथा आत्मदाह की धमकी दी। परन्तु तभी भारत पर पाकिस्तान ने हमला किया और सन्त जी ने अपनी माँग स्थगित कर दी। उग्रपन्थियों ने उनका उस समय विरोध भी किया था परन्तु उन्होंने इसकी कोई चिन्ता नहीं की। उनकी दृष्टि में उस समय अपने मतभेदों से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था देश की सुरक्षा और अखण्डता को बनाये रखने का। यद्यपि वे सरकार में नहीं थे, फिर भी अपने प्रभाव और प्रतिष्ठा का उपयोग कर उन्होंने जनता का मनोबल बनाये रखने और शत्रु के हमले का मुकाबला करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

मास्टर तारासिंह उनके अनन्य सहयोगी रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में सन्त जी को लाने का श्रेय मास्टर जी को ही दिया जाता है। किन्तु मास्टर तारासिंह ने जब पंजाबी सूबे के नाम से एक सिख बहुल राज्य की घोषणा की तो सन्त जी ने उसका विरोध करते हुए कहा कि हिन्दू और सिख कोई दो अलग जातियाँ नहीं हैं। उनमें अलगाव की बात तो दूर एक-दूसरे से भिन्न पन्थ का मानना भी उनका अपमान करना है।

सन्त जी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ उस समय की हैं जब देश में अधिक लोग उन्हें नहीं जानते थे। शरणार्थियों के पुनर्वास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्मरणीय भूमिका निभायी थी।

पेशवाओं के पथ-प्रदर्शक—ब्रह्मेन्द्र स्वामी

छत्रपति शिवाजी के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी उन जैसा योग्य व दूरदर्शी सिद्ध नहीं हो सका इस कारण उनके द्वारा स्थापित महाराष्ट्र का हिन्दू राज्य अल्पकाल के लिए विशृंखलित हो गया उसे पुनर्गठित करने का श्रेय बालाजी विश्वनाथ पेशवा, खण्डो बल्लास तथा बालाजी विश्वनाथ पेशवा के पुत्र पेशवा बाजीराव बालाजी प्रभृति देशभक्तों को है।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ के समय से ही छत्रपति तो नाम के राजा रह गये थे सारी शक्ति पेशवाओं के हाथ में आ गयी थी। पेशवा बालाजी और उनके पुत्र पेशवा बाजीराव को देश की रक्षा में सतत सन्नद्ध रहने व धर्मसम्मत राज्य करने की प्रेरणा का मार्गदर्शन जिस तपस्वी व्यक्ति ने दिया वे थे ब्रह्मेन्द्र स्वामी। ऐसे तपस्वी संन्यासियों की हर समय देश को आवश्यकता रही है। शिवाजी को सामान्य जागीरदार के पुत्र से महाराष्ट्र के अधिपति बनाने में जो योगदान समर्थ गुरु रामदास का रहा— वही बालाजी विश्वनाथ को एक सामान्य किरानी (क्लर्क) से महाराष्ट्र पेशवा बनाने का श्रेय ब्रह्मेन्द्र स्वामी को है।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी का जन्म नाम विष्णुपन्त था। बरार प्रदेश के दुधेवाड़ी ग्राम के देशस्थ ब्राह्मण की सौभाग्यवती भार्या उमाबाई की कोख से इस विशिष्ट आत्मा का जन्म सन् १६४९ में हुआ। बाल्यकाल से ही बालक विष्णु का चित्त ईश्वराधना में ही अधिक लगता था। ये दस वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। अब विष्णु पूरी तरह विरक्त हो चुके थे। वे घूमते-घूमते ज्ञानार्जन के उद्देश्य से वाराणसी पहुँचे। काशी आरम्भ से ही विद्या और शिक्षण का केन्द्र रहा है। यहाँ परमयोगी परिव्राजकाचार्य स्वामी ज्ञानेन्द्र सरस्वती उन्हें योग्य गुरु मिले। उन्हीं से उन्होंने वेदान्त की शिक्षा व संन्यास की दीक्षा ली।

वाराणसी से लौटकर देशाटन करते हुए ब्रह्मेन्द्र स्वामी महाराष्ट्र पहुँचे और सह्याद्री पर्वत के परशुराम देवस्थान के चिपुळुन ग्राम में तपस्या करने लगे। तप-साधना द्वारा आत्म-शोधन व आत्मशक्ति सम्पादन के लिये जिस एकान्त की आवश्यकता होती है वह यहाँ थी ही। जब उन्होंने तप द्वारा अपने शरीर, मन और आत्मा को इस योग्य बना लिया कि वे अपने ज्ञान व आत्मशक्ति द्वारा लोक-कल्याण कर सकें तो वहीं पर उन्होंने अपना आश्रम बनाया।

बालाजी विश्वनाथ का सम्पर्क इन्हीं दिनों उनसे हुआ। वे स्वामी जी के ज्ञान व तपस्या से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया। स्वामी ब्रह्मेन्द्र स्वामी के उपदेशों व मार्ग-दर्शन का ही फल था कि बालाजी विश्वनाथ स्वयं भी सामान्य राज्य कर्मचारी से प्रगति करते हुए महाराष्ट्र राज्य के पेशवा बन सकें साथ ही देश व समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सके।

बालाजी विश्वनाथ के पुत्र पेशवा बाजीराव बालाजी भी स्वामी जी के अनन्य भक्त थे। ब्रह्मेन्द्र स्वामी का मराठा सामन्तों पर बड़ा प्रभाव था। इस प्रभाव का उन्होंने उन्हें एक सूत्र में बाँधकर रखने में उपयोग किया। वे देश में भ्रमण करके लोक-जागरण व देशभक्ति की भावनाओं का प्रचार किया करते थे।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी समर्थ गुरु रामदास की तरह त्यागी व्यक्ति नहीं थे। उनके पास अनेक धनी-मानी शिष्यों व राज-वर्गों से काफी धन-सम्पदा आती थी। यद्यपि वे इसे निस्वार्थ भाव से ही ग्रहण करते तथा लोकहित के कार्यों में ही व्यय करते थे। उन्होंने समय-समय पर महाराष्ट्र मण्डल को भी आर्थिक सहायता दी थी। पर उन जैसे निस्पृह कितने व्यक्ति होते हैं। उन्होंने यह काम निष्काम भाव से किया था पर उनका अनुकरण करने वाले उस भाव को स्थिर भी रख सकेंगे या नहीं इसकी चिंता उन्होंने नहीं की।

बाजीराव पेशवा की मृत्यु के थोड़े समय बाद उनका देहान्त हो गया। उनके तपोमय जीवन व लोकमंगल की साधना ने हिन्दू के उत्थान में जो योग दिया उसको भुलाया नहीं जा सकता।

जब पहचानी मानव जीवन की गरिमा

"ठहरो।" मानो किसी ने पीछे से जबरन खींच लिया हो। सचमुच दो पग पीछे हट गया अपने आप। मुख फेर कर पीछे देखना चाहा उसने इस प्रकार पुकारने वाले को, जिसकी वाणी में उस जैसे कृतनिश्चयी को पीछे घसीट लेने की ताकत थी।

थोड़ी दूर शिखर की ओर उस टेढ़े-मेढ़े घुमावदार पथ से चढ़कर आते उसने एक पुरुष को देख लिया। मुण्डित मस्तक पर तनिक-तनिक उग आए पके बालों ने सफेदी पोत दी थी। यही दशा नासिका और उसके समीप के कपोल के कुछ भागों को छोड़कर शेष मुख की भी थी। कटि पर गेरुए कोपीन के अतिरिक्त शरीर पर अन्य कोई वस्त्र न था। खूब लम्बे शरीर को वृद्धावस्था न तो क्षीण कर सकी थी और न झुर्रियाँ डाल पाई थी।

नजदीक आने पर दिखा कि उनके शरीर का रंग भी कोपीन की ही भाँति रक्तिम है। उनका भव्य ललाट आत्म तेज की आभा से दीप्त है। उनके तेजपूर्ण नेत्रों से निकलने वाली ज्योति रेखाएँ किसी से अस्तित्व को भेदने में सक्षम हैं। वह अपलक खड़ा देखता रहा।

"तुम आत्महत्या करना चाहते हो? इतने डरपोक हो तुम? छिः" झिड़क दिया महापुरुष ने। नीचे अतल खड्ड था। एक उजाड़ ऊँची चोटी पर किनारे से कुल दो पद पीछे खड़ा था। वहाँ से झुक कर नीचे देखने में भी भय लगता था। नीचे गिरे तो हड्डी-पसली का पता भी नहीं चलने का। इसी चोटी से कूदकर अपनी विषम भावनाओं से मुक्ति पाने आया था वह। कोई आकस्मिक बात न थी, कई सप्ताह मनोमन्थन के तुमल संघर्ष के बाद यह निश्चय किया था। पर कहाँ हाय रे मानव! मरना भी तेरे हाथ नहीं। ठीक कूदने के क्षण उसे पुकार कर रोक लिया गया।

"तुम जानते हो कि मरकर परिस्थितियों को बदला नहीं जा सकता।" महापुरुष उसके कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखकर कह रहे थे "संकटों को मृत्यु हटा नहीं पाती और न उससे कुछ मिल पाता है। उनसे डर कर जीवन से भागना घृणास्पद भीरुता है और तुम्हें यह भी जान लेना चाहिए कि इस संसार में समस्त दण्ड विधान भीरु के लिए बनाए जाते हैं।"

"मैं ऊब गया हूँ। जलते-जलते मेरा हृदय असह्य पीड़ा से विदीर्ण हो चुका है।" उसकी सिसकियाँ फूट पड़ीं। "किसी भी प्रकार मैं अब यह सब सहन नहीं कर सकता। एक बार इससे परित्राण पाने का मैंने निश्चय कर लिया है।"

"बड़ा अच्छा निश्चय है तुम्हारा।" उनके चेहरे पर हँसी खेल गयी। "भोले युवक। जब गाय क्षुधा-पिपासा, हरे चारे के लोभ या बन्धन से ऊबकर रस्सी तुड़ा कर भागती है तो पुनः पकड़ कर बाँध दी जाती है। बन्धन और कठोर हो जाता है। लाठी-डण्डे ब्याज में मिलते हैं।"

यह पहेली उसकी समझ में नहीं आई। मुख उठाकर उसने उनकी ओर जिज्ञासा भरी आँखों से देखा।

"कर्मों का नाश नहीं होता। प्रारब्ध प्राप्त भोगों का परित्याग कोई अर्थ नहीं रखता। अगला जीवन वहीं से शुरू होगा, जहाँ से तुमने इसे छोड़ा था। आत्महत्या पाप है— उसका दण्ड, अपने कर्म क्षेत्र से बिना नियमित अवकाश का अवसर आए भागने का दण्ड दोनों को ही तुम्हें भोगना पड़ेगा।"

'ओह!' सिर पर दोनों हाथ रखकर घुटनों के बल वहीं बैठ गया। दोनों घुटनों के मध्य सिर करके सम्भवतः रोने लगा था। निस्सीम थी उसकी वेदना ओर-छोर नहीं था उसकी पीड़ा का।

'मेरे बच्चे!' महापुरुष के अमृतस्पन्दीकरों ने उसके मस्तक का स्पर्श किया। उनकी जीवन संचारिणी वाणी ने कानों में अमृत उड़ेला— "तुम व्यर्थ अधीर हो रहे हो। जीवन उसका है जो दृढ़तापूर्वक उसे अपनाता है। जो कठिनाइयों के मस्तक पर अपने मजबूत पाँव जमाकर खड़ा हो सकता है। जीवन अधीर और भीरु का नहीं है।"

संध्या हो चुकी थी। अस्ताचल से एक बार दिनपति ने जगती को देखा और उनके विराग की छाया सम्पूर्ण धरातल पर विस्तीर्ण हो गई। सम्पूर्ण हिमाच्छादित गिरि शिखिर गैरिकवर्णी वीतरागी संन्यासी के वेष में परिवर्तित हो गए। तरु-वीरुधलताओं ने भी उसी वर्ण को अपना लिया। प्रत्येक शिला रंग गई उसी रंग में। पक्षियों ने दिशाओं में मन्त्रपाठ प्रारम्भ किया और इसी समय गगन से उन दोनों व्यक्तियों के मस्तक पर धुनी रुई के समान सूर्य किरणों में रंगी हिम इस प्रकार गिरने लगी, जैसे आकाश से गेरू की वर्षा हो रही हो।

"आज हिमपात का प्रथम दिन है।" उन्होंने नभ की ओर देखा। सम्भव है अधिक बर्फ गिरे। उन्होंने संकेत किया और वह उनके पीछे अवश हो चल पड़ा। हिम पर नये चिह्न बनते जा रहे थे और नवीन हिम उन्हें मिटाता जा रहा था। वे चले जा रहे थे, चुपचाप शांत पैर बढ़ाए।

इन पैरों ने उन दोनों को एक झोंपड़ी तक पहुँचा दिया। जल का एक घड़ा मिट्टी के दो-तीन सकोरे, कदु तुम्बी के कटोरे जैसे कटे,

दो बोल कुछ टाट एक चटाई। थोड़ी-सी पुस्तकें और कोपीन के दो गैरिक टुकड़े उनके पास परिग्रह के नाम पर बस यही था।

''माता-पिता दस साल की आयु में छोड़ कर चले गए। जमीन जायदाद हड़पने को सगे-सम्बन्धी काफी थे।'' चटाई के एक छोर पर बैठा वह उनको अपनी कहानी सुना रहा था। दूसरे छोर पर कमर को कुछ झुकाकर बैठे वह ध्यानपूर्वक उसकी बातें सुन रहे थे। ''जिन्होंने सब कुछ हड़प लिया, वे भी रूखी रोटी देने में शर्माते हैं। सब मुझसे इस तरह दूर-दूर रहते हैं जैसे मैं छूत का रोगी होऊँ।''

मैंने सोचा ''शायद वह भी भगवान् का कोई अनुग्रह है। सो भटकता हुआ यहाँ चला आया। पर मेरा अन्तर्जगत बाह्य से भी अधिक कोलाहलपूर्ण है। दुर्दय मन अदम्य नीरस हृदय।'' बीस वर्ष के इस तरुण के जीवन अनुभवों को वे गहरी एकाग्रता के साथ सुन रहे थे। वह कह रहा था ''शरीर का कोई उपयोग नहीं। हृदय की उत्सुकता और कौतूहल मर चुके। बुद्धि केवल कल्पना जाल में अपनी शक्ति व्यय करके रह जाती है।'' रुक-रुक कर कह रहा था वह ''तब पृथ्वी का भार क्यों बढ़ाया जाय ? निर्धन को संसार में जीने का अधिकार नहीं— साधना के लायक मेरा मन नहीं। तब ऐसे में ···।''

चन्द्रमा हलका-हलका प्रकाश दे रहा था वृक्षों की शाखाएँ धूमिल रजनी में हिम का उज्ज्वल भार उठाए चमक रही थीं। क्षण-क्षण पर उनसे धप शब्द के साथ हिम का ढेर गिर पड़ता। पशु-पक्षियों की चीखें यदा-कदा सन्नाटे को कँपा देतीं। उटज के आले में मन्द-मन्द दीपक टिमटिमा रहा था। गहराती रात्रि उसकी पलकों को बोझिल करने लगी। बातों का अधूरापन उसमें खोने लगा।

दूसरे दिन रात्रि की बर्फ तो गल गई। पर कीचड़ हो गया था पथ में। वृक्षों के पत्ते काले पड़ गए थे। लताओं की हरीतिमा लुप्त हो जाने से उनका कण्टकमय कंकाल साफ नजर आने लगा था। उन्होंने स्नान क्या किया, मानो महासमर जीत लिया हो। सूर्य किरणें प्राणों का वितरण करने में तन्मय थीं।

''तुम मानव हो, वह मानव जिसकी मानवता पर देव और दानव दोनों ईर्ष्या करते हैं।'' महात्मा बाहर एक स्थान पर बैठ गए थे, वह भी उनके सम्मुख बैठा था। ''तुम्हें ठीक-ठीक मनुष्य बनना है, उससे कम नहीं।''

''किसे कहते हैं मानव ?'' प्रभावपूर्ण ढंग से वह रुक-रुक बोल रहे थे ''सबलता और दुर्बलता के मिश्रित पुतले को, जिसमें दूसरों के प्रति भी वही अनुभूति हो, जो उसे अपने सम्बन्ध में होती है। यही अनुभूति जीवन का सार है। जैसे-जैसे यह गहरी होती है दुर्बलताएँ पलायन कर जाती हैं। उसके इस भावमय स्वरूप को देख नारायण भी ललचा उठता है। वह भी नर रूप धर कर भागा चला आता है और मनुहार करता है भैया ! तुम मुझे अपना मित्र बना लो। उसकी अनुनय तुमने सुनी है, सुहृद सर्वभूतानां के बहाने।''

शब्द उसके अन्तर्मन में उतरते चले जा रहे थे। दूसरों की पीड़ा की भावानुभूति। उसने दूसरों के बारे में सोचा ही कब ? वह तो सदा अपने बारे में सोचता चला आया है। औरों को ऊँचा उठाने में लगी दुर्बल भुजाएँ भी थोड़े समय में लौह दण्ड बन जाएँगी। पर उसकी नियति ··· सोच की सुई यहीं अटक गई। यह नियति ही तो उसे पटकने आई है। ''नियति ··· नियति'' मुँह से निकल ही गया आखिर यह शब्द।

शब्द के पीछे झाँकता मन का उद्वेलन उनसे छिप न सका। वे कहने लगे ''नियति की यही इच्छा है कि मनुष्य ऊँचा उठे। उसे आगे बढ़ाने के लिए प्रकृति की शक्तियाँ निरन्तर सक्रिय रहती हैं। ईश्वर के राज-पुत्र को सुखमय बनाना ही प्रकृति का क्रम है। स्रष्टा ने इसीलिए उसे रचा और खड़ा किया है।''

''फिर भी स्वयं दुःख में डूबा है वह।'' चाहते हुए भी अपने आश्चर्य को व्यक्त करने से रोक न सका।

''अन्तःकरण की आकांक्षा का सही निर्धारण नहीं कर पाया वह। यदि यह प्रथम पुरुषार्थ उससे हो सके तो आत्मसत्ता उसकी पूर्ति में जुट जाती है। मनःतंत्र अपनी विचारशक्ति और शरीर तंत्र अपनी क्रियाशक्ति को उसी आदेश के पालन में जुटा देता है। मनुष्य आगे बढ़ता है। उसके निर्धारण और पुरुषार्थ को इस विश्व में चुनौती देने वाला कोई है भी तो नहीं ?''

वार्तालाप के इस अनवरत प्रवाह में उठ रहीं अनेकानेक विचार भँवरों में उसके मन की टूटी नाव चक्कर खाने लगी। गहरी मीमांसाओं को सुनने जैसी मनःस्थिति उसकी अभी हो नहीं सकी थी। वह तो सीधे-सादे स्वरों में समाधान जानने का इच्छुक है। रात्रि-दिवस पर्यन्त उनके सान्निध्य से उसे यह तो अनुमान हो गया था जिसे वह खिलौने की तरह तोड़-पटककर फेंकना चाहता था, वह जीवन कोई बहुमूल्य सम्पदा है। पर उसका उपयोग किस तरह हो।

अवचेतन की गहराइयों से उमड़ रही उसके मन की हलचलें उनसे छिपी नहीं। संकोच ने वाणी पर भले बाँध बना रखा हो, पर विचारों की अविराम धारा को कौन रोके ?

''मृण्मय शरीर मन्दिर में शाश्वत चेतन आत्म देवता का निवास ! यही है जीवन ! इन आत्मदेव की उपस्थिति मिट्टी के शरीर को भी चिन्मय बना डालती है। उनकी गम्भीर वाणी जीवन का रहस्य उघाड़ने लगी। जीवन स्वयं में देवता है, अपरिमित शक्ति का स्रोत। भावमय प्रेम इसकी उपासना है, साहस भरा पुरुषार्थ इस परम देव की साधना और मौत की मनहूसियत से मरते जा रहे विश्व वसुधा में जीवन चेतना का प्रसार विस्तार इसकी आराधना है।''

शब्दों की प्राण ऊर्जा से उसकी सम्मोहन बेड़ी एकाएक तड़तड़ा कर टूट गई। इस नए तत्त्व दर्शन ने उसे चौंका दिया। अभी तक तो उसने जीवन को नोचने-खसोटने-चबाने को, दौड़ते-चीखते चिल्लाते पिशाच-प्रेतों से भरा महाश्मशान समझा था। विलासिता के क्रूर अट्टहास अथवा दारिद्र्य का दैन्य क्रन्दन। उन्माद के चक्रवात और घुटन की मेख-मालाएँ अब तक इन्हें ही जीवन का नाम देता आया था। कितने भ्रम में पड़ा था, स्वयं की बौनी सोच पर उसे शर्म आने लगी।

''हुई पहचान मानव जीवन की गरिमा की ?'' उसे मौन देख उनका सवाल उभरा।

'हाँ' इस एक शब्द के साथ एक क्षण के लिए दोनों की आँखें मिलीं। यही दीक्षा थी जीवन के महामंत्र की। स्वयं के जीवन को नष्ट करने के लिए उतारू युवक विष्णुपन्त ब्रह्मेन्द्र स्वामी में बदल गया। परम योगी ज्ञानेन्द्र सरस्वती की जीवन विद्या का प्रभाव था यह। जीवन के इस आराधक ने १७वीं सदी में महाराष्ट्र के इतिहास को नया मोड़ दिया। साधारण-से क्लर्क बालाजी विश्वनाथ को गढ़कर पेशवा बनाया। अपने कर्तव्य से समर्थ रामदास की रिक्तता की पूर्ति की। यह महा परिवर्तन-जीवन देवता की आराधना का सुफल था। हमारे अपने शरीर मन्दिर में बैठा यह परम देवता अपने सवालों की झड़ी लगाए है, पतन अभीष्ट है या उत्कर्ष ? असुरता प्रिय है या देवत्व ? क्षुद्रता चाहिए या महानता ? इसके निर्माता तुम स्वयं हो। पतन के पथ पर नारकीय मार सहनी पड़ेगी, उत्कर्ष के पथ पर स्वर्गोपम शांति की प्राप्ति होगी।

निर्णय मनुष्य के हाथ में है। चयन की स्वतंत्रता तो विधाता ने मनुष्य को दी है, किन्तु स्वच्छन्दता बरतने की नहीं।

यही अंतर्मंथन व्यक्ति को नर से देव मानव, महामानव व ऋषि, देवदूत बना देता है। समय-समय पर महाकाल की सत्ता विभिन्न रूपों में मानवी चेतना को झकझोरने आती रही है। उसे पहचानकर अवसर का लाभ जिसने उठा लिया, वह निहाल हो गया। मानव जीवन दुबारा नहीं मिलता। वह क्षय हेतु नहीं, गरिमा के अनुरूप शानदार जीवन जीने को मिला है, इस तथ्य को बार-बार मनोपटल पर लाया व जीवन व्यवहार में उतारा जाना चाहिए।

आजीवन ब्रह्मचारी—गोपाल कृष्ण

हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा, पुनर्जीवन और उसके आन्तरिक आदर्शों के प्रसार का जब भी प्रश्न उठा उत्तरी भारतवासियों की अपेक्षा दक्षिणवासियों ने कम त्याग और उत्सर्ग नहीं किये। जगद्गुरु शंकराचार्य को बौद्ध धर्म और चार्वाकियों के विरुद्ध शक्ति और संरक्षण देने वालों में दक्षिण की साधारण जनता ही नहीं राजा-महाराजा तक कूदे थे। विवेकानन्द विदेशों में हिन्दू धर्म के प्रसार के लिये गये उसका सारा प्रबन्ध दक्षिण के शिष्यों ने ही किया। जब कहीं से भी कोई बलिष्ठ आवाज नहीं आ रही थी तब अरुणाचलम में भगवान् शिव के चरणारविंदों में कठोर तप और हिन्दू आस्थाओं को जीवन देने वाले महर्षि रमण को क्या कभी भूला जा सकेगा ? उससे तो उत्तर को वर्तमान में और अधिक सेवा, त्याग और धर्मोत्सर्ग की भावना ही मिलेगी।

दक्षिण में अनेक ऐसे विद्वान्, पंडित, समाज-सेवी, धर्मनिष्ठ महापुरुष हुए हैं। कुछ यश पा गये, कुछ ऐसे भी रहे जो लोकैषणा से बचकर धर्म को ही भगवान् मानकर आत्म-सुख के लिये उसकी सेवा में आजीवन आरूढ़ रहे। गोपाल कृष्ण ऐसे ही थे जिन्होंने धार्मिक नव-निर्माण के लिये लगाई गई एक ही आवाज पर जीवन के सारे सुखोपभोगों को ठोकर मार दी और माथे में तप की जो भभूत रमायी तो वह चिता पर जाकर ही अदृश्य हुई।

गोपाल कृष्ण का जन्म तनामपैठ के तिरसामालम ग्राम में हुआ था। उन दिनों सन्त वसवेश्वर हिन्दू धर्म की टूटी अस्थाओं को जोड़ने, रूढ़िवादिताओं से जनमानस को प्रबुद्ध बनाने में लगे थे। वह एक तरह का छोटा-सा युग-निर्माण आन्दोलन ही था जिसने तत्कालीन व्यक्तियों को ही नहीं कुलीन सामन्तों और राजाओं को भी प्रभावित किया। अनेक सम्पन्न व्यक्तियों ने जब देखा कि समाज सुधार और धार्मिक जाग्रति में सहयोग से बढ़कर और दूसरा पुण्य नहीं तो अनेकों लोग तत्पर हो उठे और उन्होंने हिन्दू धर्म की आस्थाओं के पुनर्नयन में पूर्ण लगन से काम किया। वह प्रभाव उस क्षेत्र में आज भी बहुत अंश में विद्यमान है।

ऐसे समय जब एक ओर समाज गहरी दुर्वस्था की नींद में खर्राटे भर रहा था, भारतीय जीवन की आदर्श-संस्कृति को अन्धविश्वास, अशिक्षा और रूढ़िवादिता के चूहे कुतरने में व्यस्त थे, तब संत बसवेश्वर की उस आवाज को गुरु गम्भीरता से पहचानने वालों और उसके लिये त्याग करने वालों में गोपाल कृष्ण का नाम शीर्ष में लिखा जाता है। उन्हें लोग प्यार से 'तम्बी' कहते हैं। तम्बी दक्षिण में छोटे बच्चों को प्यार से पुकारा जाता है।

गोपाल कृष्ण की आयु तब २५ या २६ वर्ष की थी। वे पर्याप्त विद्या और योग्यता प्राप्त कर चुके थे। इधर घर में एक बहू लाने का प्रबन्ध किया जा रहा था। सम्बन्धीगणों में तम्बी को अच्छी से अच्छी सर्विस दिलाने की प्रतिस्पर्धा चल रही थी तब उस युवक ने इन सारे प्रलोभनों, सांसारिक सुखों को लात मार धर्म सेवा के लिये ऐसा हलका वातावरण बना लिया, जैसे अपने बुने जाल को स्वयं ही उदरस्थ कर मकड़ी सब परेशानियों से छुट्टी पाकर हलकापन अनुभव करती है।

पिता बहुत रुष्ट हुए— पागल हुआ है, विवाह नहीं करेगा, सर्विस न भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, धन की कोई कमी नहीं है पर विवाह तो करना ही पड़ेगा, गृहस्थी सँभालनी ही पड़ेगी और समाज में अपने परिवार की प्रतिष्ठा को ऊँचा रखना ही पड़ेगा।

मन ने कहा— जब सारा देश बौद्धिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दासता में आबद्ध है तो एक परिवार की प्रतिष्ठा कैसी ? अहमन्यताओं और बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्तियों के कारण सारा समाज झुलस रहा है तो अपने सुख की चिन्ता क्या करना है। अपना धर्म विगलित पड़ा हो, अपने जातीय आदर्श ओछे और घिनौने साबित किये जा रहे हों तब राष्ट्र का युवावर्ग, प्रबुद्ध जन-समुदाय विचारवान लोग अपने सुख, अपनी रंगरेलियों में मस्त हों तो धिक्कार है उन लोगों को जो फिर भी अपने आपको उस धर्म, संस्कृति और जाति से सम्बद्ध मानते हैं।

यह बात मन में खौल रही थी पर तम्बी ने पिता को कोई अशिष्ट उत्तर नहीं दिया। उसने केवल इतना ही कहा— पिताजी, भीष्म, अर्जुन, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, दिलीप, भागीरथ, नचिकेता यह भी तो सब अपनी जाति के थे। सम्पन्नता और सुकुलीनता में वे हमसे बढ़-चढ़कर ही थे। उन्होंने सांसारिक सुखों को ठोकर मारकर

यदि सनातन धर्म को आत्माहुति दी तो हम उनकी संतान क्या इतना भी त्याग नहीं कर सकते ?

पिताजी निरुत्तर तो थे पर वे बच्चे का मोह सहज ही न छोड़ने वाले थे । उन्होंने अच्छी से अच्छी बहू लाने का और उनकी सुविधाओं के लिये जायदाद में अधिक हिस्सा देने, अच्छी से अच्छी सर्विस दिलाने का प्रलोभन दिया पर मन में अटकी धर्म सेवा की भावना के आगे सारे वैभवों का आकर्षण मिट्टी के घरौंदे की तरह ध्वस्त होकर रह गये । आज जब युवकों का सारा ध्यान इन्हीं तीन वस्तुओं में फँसा रहता है तब इस त्याग को असाधारण ही कहा जायेगा । यदि ऐसे निस्वार्थ धर्म सेवी बच्चे जन्म नहीं लेते तो आज हिन्दू धर्म को पूछता ही कौन ? हमारे त्याग पर ही तो धार्मिक आस्थाओं की नींव तिरी और अब भी तिरती जा रही है । भले ही अब इस तरह आत्मोत्सर्ग करने वालों की संख्या पोरों पर गिनने योग्य रह गई हो ।

गोपाल कृष्ण ने किसी की एक न सुनी तो माता ने आखिरी दाँव चलाया । अपनी जायदाद ले लो पहले उसको हिसाब से लगा दो तब जी में आये सो करना । गोपाल कृष्ण ने उसे स्वीकारा और ऐसा सुन्दर हल निकाला कि दर्शकों की आँखों में प्रेम और श्रद्धा के आँसू उमड़ पड़े ।

सारे धन को गाँव की पंचायत को सौंपकर एक विद्यालय की स्थापना अपनी माता की याद में कर दी, पिताजी को उसका अध्यक्ष बनाया । जब तक वह विद्यालय अच्छी तरह नहीं चलने लगा, २ वर्ष तक उसके संचालक भी रहे और बस उतनी अवधि के बाद वे घर से निकल पड़े।

उनके परिव्राजक जीवन की सेवायें शानदार रहीं । उन्होंने गाँव-गाँव में साधना संघ स्थापित कर लोगों को ईश्वर उपासना की ओर मोड़ा । उसके महत्त्व को भी बताया । संत बसवेश्वर का शिष्यत्व ग्रहण कर उनके सरल ग्रन्थों का प्रसार करने लगे । लोगों में युवक की विद्वतापूर्ण वाणी का बड़ा असर पड़ा । लोग गोपाल कृष्ण से धार्मिक समस्याओं का निराकरण कराते गोपाल कृष्ण उनका पूरी सच्चाई और न्याय के साथ समाधान करते थे ।

एक दिन वे एक ऐसे गाँव पहुँचे जहाँ उनके एक सम्बन्धी रहते थे । उनकी एक सयानी कन्या थी जिसकी वे गोपाल कृष्ण के साथ शादी करना चाहते थे । उन्होंने जानबूझ कर कन्या को उनके पास विचार-विमर्श के लिये भेजा । वे स्वयं भी आये पर युवक होते हुए भी गोपाल कृष्ण ने कहा— बहिन सौन्दर्य और धन तो नाशवान है हमें इनकी नहीं धर्म और शाश्वत परमात्मा की उपासना करनी चाहिए ताकि अपनी पीढ़ियाँ पवित्र हों और धार्मिक आदर्शों का नव-जीवन मिल सके ।

युवक का हृदय किसी भी प्रलोभन के आगे नहीं झुका । उन्होंने स्थान-स्थान पर धर्म और संस्कृति के आदर्शों का प्रसार किया । लोगों को पुरुषार्थ, पराक्रम, परिश्रम, सच्चाई, ईमानदारी, चारित्र्य-संगठन, सेवा का पाठ पढ़ाया । उनकी मीठी बोली सुनने के लिये हजारों लोग उमड़ पड़ते थे पर तो भी उन्हें कभी भी तुच्छ अहंकार ने नहीं सताया । वे अपनी योग्यतायें अध्यात्म ज्ञान बढ़ाने और साधना की कठिनताओं में धीरे-धीरे धँसते जाने के प्रयास में लगाते रहे । गोपाल कृष्ण १४ वर्ष तक निरन्तर इस तरह धर्म और समाज की सेवा में किसान की तरह जुटे रहे और अपने शरीर का भी ध्यान नहीं दिया । जब वे ३५ वर्ष के थे तब उनके पेट में भयंकर फोड़ा हुआ पर उसकी परवाह किये बिना वह सेवा में जुटे रहे । उसने इनका शरीर ही तोड़ दिया ।

अन्त में उन्होंने उत्तर भारत की तीर्थयात्रा की और अन्तिम जीवन बिताने हिमालय की ओर चले गये । एक स्थान पर उन्होंने कहा— मेरा जन्म दक्षिण में हुआ पर मरना मैं उत्तर में चाहता हूँ— ताकि मेरी आत्मा उत्तर-दक्षिण दोनों के लाखों-लाखों लोगों के हृदयों में फूट पड़े और एक प्रबल जन-समुदाय जब आवश्यकता पड़े धर्म सेवा के लिये मैदान में आ कूदे ।

आज तम्बी नहीं रहे पर लगता है उनके अन्तःकरण की आवाज सच होने का समय आ गया है, जब सैकड़ों युवक अपनी रोजी-रोटी समस्याओं को ठुकराकर समाज सेवा के कठोर व्रत को जीवन का लक्ष्य बनाकर चल पड़ेंगे और सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को अपनी उभरती नव-शक्तियों से उलट-पुलट कर रख देंगे ।

देश, जाति और धर्म के पुजारी— सूफी अम्बा प्रसाद

सन् १८५७ के बाद के वर्ष भारतीय जन-मानस में गम्भीर उथल-पुथल के वर्ष कहे जाते हैं । उन दिनों अनेक भावनाशील व्यक्तियों में स्वदेशाभिमान और राष्ट्रभक्ति की भावनाओं के ज्वार आ रहे थे । कई परिवार तो अँग्रेजी शिक्षा से भी घृणा करने लगे थे । ऐसे ही एक परिवार में प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर आगे की शिक्षा के विषय में पुत्र ने अपने पिता से विषयों के चयन में परामर्श माँगा, तो पिता ने कहा— एक तो अरबी लो और दूसरी फारसी ।

'बाकी' पुत्र ने पूछा ।

'बाकी जो विषय तुम पढ़ते रहे हो वही पढ़ो, बेटा ।'

'परन्तु पिताजी, मैं अँग्रेजी पढ़ना चाहता हूँ ।'

'नहीं बेटे ! अँग्रेजी की शिक्षा हमारे देश को पतन के गर्त में ढकेलने वाली है । मैं तुम्हें इस विषय में अनुमति नहीं दे सकता ।'

'परन्तु मेरा ख्याल है कि अँग्रेजी पढ़ने मात्र से ही तो आपकी आशंका का कोई आधार पुष्ट नहीं होता ।'

'सबसे पहली बात तो यह है कि '— पिता ने कहा— 'अँग्रेजी एक विदेशी भाषा है । उसके संपर्क में आते ही छात्रों के हृदय में जमी स्वदेश और स्वधर्म के प्रति आस्थाओं की जड़ें सूखने लगती हैं ।'

'लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे सम्बन्ध में आपकी यह धारणा अपवाद ही सिद्ध होगी ।'

'नहीं हो सकती है, नहीं हो सकती है—अँग्रेजी के नाम पर स्कूलों में जो पढ़ाया जाता है उससे मैं भली-भाँति परिचित हूँ । वह निश्चित ही छात्रों में भारत और भारतीयता के प्रति अनास्था की प्रवृत्ति की ही सम्भावना मजबूत करता है ।'

'मैं पूज्य श्री के चरणों की सौगन्ध खा कर कहता हूँ कि आपको मेरे लिए इस प्रकार कभी भी चिन्तित नहीं होना पड़ेगा। मैं अंग्रेजी केवल ज्ञानार्जन और विद्या विभूति बढ़ाने के उद्देश्य से ही पढ़ना चाहता हूँ।'

और पिता ने अपने पुत्र पर सहज ही विश्वास कर अनुमति दे दी अँग्रेजी पढ़ने की। कुछ दिनों बाद उस बालक ने भारत धर्म के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा का परिचय आगे चल कर दिया, जब वह देश की स्वतन्त्रता और विकास के लिए आजीवन लड़ता रहा। पिता ने भी उस समय गलत नहीं कहा था। उन दिनों अँग्रेजी की शिक्षा देकर संस्कृति निष्ठा को तोड़ने का ही षड्यन्त्र रचा जाता था। परन्तु देशभक्त परिवार में— राष्ट्रीयता के वातावरण में जन्मे, पले और बड़े हुए इस बालक ने अँग्रेजी कक्षाओं में— पढ़ाई जा रही भ्रामक बातों का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया।

एक बार की बात है अँग्रेजी पढ़ाने वाले भारतीय अँग्रेजी अध्यापक ने यह कहा कि हिन्दुओं के अवतार कृष्ण दिन-रात औरतों से घिरे रहते और उनके साथ निन्दनीय व्यवहार करते थे।'

अभी बात पूरी भी न होने पायी थी कि बालक ने उठ कर कहा— 'मास्टर साहब ! आप कैसे कह सकते हैं कि भगवान् कृष्ण स्त्रियों से गलत व्यवहार करते थे ?'

'दिन-रात औरतों के बीच रहने वाला व्यक्ति कैसे निष्कलंक रह सकता है ?'

'तो क्या एक वेश्या के साथ रहने वाले ईसा, जिन्हें आप ईश्वर का दूत कहते हैं वे भी पतित नहीं हो गये होंगे— किशोर युवक ने कहा और अध्यापक से इसका कोई उत्तर नहीं बन पड़ा। हाँ उसने युवक के पिता से अवश्य शिकायत की कि आपका बच्चा अनुशासनहीनता करता है। पूछा पिता ने कि क्या अनुशासनहीनता की तो सारी बात कही और वहाँ से भी अध्यापक को निरुत्तर ही लौटना पड़ा। तब विद्यार्थी के पिता ने कहा था— 'इसे तो कोई भी व्यक्ति अनुशासनहीनता नहीं कह सकता। यदि कक्षा में ऐसी बात बतायी जा रही है जिसे छात्र का स्वविवेक गलत ठहराता है और वह अपना विचार व्यक्त करता है तो इसमें न करने योग्य बात क्या है ?'

यह कहने के साथ ही साथ अध्यापक की शिकायत सुन कर पिता का अन्तःकरण तृप्त हो उठा था कि मेरा बेटा सचमुच खायी कसम को कितनी निष्ठा के साथ निभा रहा है। बचपन और किशोरावस्था में इस प्रकार अपने पिता को संतुष्ट करने वाला तथा आगे चलकर देश, जाति और धर्म की सेवा करने वाला यह होनहार किशोर था— सूफी अम्बा प्रसाद।

वे जीवन भर अपनी व्यक्तिगत सुख-लालसाओं और आकांक्षाओं को तिलान्जलि देकर आजीवन राष्ट्र की जनता के जन्म सिद्ध अधिकार हेतु संघर्ष करते रहे। उनका जन्म स्वतन्त्रता संग्राम के वर्ष में ही मुरादाबाद के एक साधारण परिवार में हुआ। साधारणतया घर में संतान का जन्म हँसी-खुशी लेकर आता है, परन्तु अम्बा प्रसाद जी के पिता नवजात शिशु को देखकर ही चिन्ताओं से भर उठे थे। जन्म के समय ही उनका एक हाथ लुन्ज-पुन्ज था। एक हाथ वाला बच्चा देखकर पिता बड़े निराश हुए। वे सोचने लगे कि मेरे बच्चे का जीवन उसकी आत्मा पर भार ही है। कैसे वह— इस दुनिया में जी सकेगा। हाथ पैरों वाले बलिष्ठ देह के स्वामी भी जब इस दुनिया में दर-दर की ठोकरें खाते फिरते हैं तो यह अपंग बच्चा क्या करेगा ?

पर हर वस्तु और स्थिति के दो पहलू होते हैं— उज्ज्वल और अंधकारपूर्ण। यह तो था शिशु जन्म का अन्धेरा पहलू जो पिता के हृदय में निराशा और चिन्ताओं को जन्म दे रहा था और कालान्तर में ही पिता का ध्यान जीवन के उज्ज्वल पक्ष की ओर गया। उन्होंने सोचा कि हाथ ही जीवन का आधार नहीं है, आधार तो हैं प्राण, हृदय और मस्तिष्क। मानवीय व्यक्तित्व के ये तीन ही प्रमुख तत्त्व तो हैं और इन तीनों के होते हुए किसी भी अंग का अभाव विकास में आत्मनिर्भरता में, सेवानिष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण में बाधक नहीं हो सकता। उनके मानस पटल पर ऐसे सैकड़ों उदाहरण उभर आये जब अम्बा प्रसाद से भी गयी गुजरी अवस्था में लोगों ने महानता अर्जित कर ली थी। उन्हीं उदाहरणों से प्रेरित होकर उन्होंने संकल्प कर लिया कि वे अपने पुत्र के रूप में देश को एक अनुपम उपहार देंगे।

इसी संकल्प से उन्होंने अम्बा प्रसाद को दीक्षित किया और तदनुसार शिक्षा भी देने लगे। सच ही बच्चा एक मुलायम और गीली मिट्टी है जिसे माँ-बाप मनचाहा रूप दे सकते हैं। अम्बा प्रसाद जी के जीवन में जो कुछ भी महान् घटित हुआ वह सब बचपन की मिली शिक्षाओं का ही परिणाम था। अपने एक हाथ के बल पर ही उन्होंने एम. ए. परीक्षा अँग्रेजी से— अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण की। जब उन्होंने वकालत पढ़ने का निश्चय किया और लॉ कॉलेज में भर्ती हुए तो हर किसी परिजन को यह आशा था कि अम्बा प्रसाद घर को धन-धान्य से भर देंगे।

परन्तु ये सब आशायें बालू पर महल बनाने के समान ही सिद्ध हुई। जिस हृदय में देशभक्ति और राष्ट्र प्रेम का बीज बोया जा चुका हो और अब जब वह पल्लवित-पुष्पित होने की स्थिति में आ गया हो तो उससे देश सेवा को छोड़कर किसी और मन्तव्य के पूरा करने की अपेक्षा बालू पर महल ही तो होगी। परिजन फिर भी आगे चल कर लाभ उठाने की दृष्टि से उन्हें बधाइयाँ देने आये कि अब इस घर की तकदीर बदल जायेगी। उन दिनों देश में वकीलों की कमी भी थी— इसलिए सम्पन्नता और समृद्धि की आशा को झूठा कहा भी नहीं जा सकता था लेकिन अम्बा प्रसाद जी को इस ओर तनिक भी रुचि नहीं थी। उन्होंने रिश्तेदारों की बधाइयाँ स्वीकार करते हुए कहा— आपकी बधाई के लिए धन्यवाद, इस घर की तकदीर तो बदलेगी, परन्तु उस तरह नहीं जिस तरह कि आप सोचते हैं। अब यह घर एक देश-सेवक की जन्म स्थली के रूप में याद किया जायेगा।

'तो क्या तुम देश सेवा ही करोगे ? वकालत नहीं— परिजनों में से कई एक ने पूछा।'

'हाँ'— अम्बाप्रसाद जी ने कहा— 'वकालत करने का मेरा जरा भी मन नहीं है मैं तो वकालत इसलिए पढ़ रहा हूँ कि कानून की बारीकियाँ समझ में आ जायें।' इन बारीकियों को समझकर ही मैं सुरक्षित रह कर देश सेवा कर सकूँगा।

उनकी इस घोषणा ने कुछेक लोगों को भले ही खिन्न किया हो परन्तु कइयों को अपने उच्च लक्ष्य के सम्मुख नत-मस्तक कर लिया। वकालत पास कर लेने के बाद उन्होंने देश सेवा का साधन चुना— लेखनी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चुभते हुए व्यंग्यात्मक लेख लिखकर उन्होंने सोये जनमानस को झिंझोड़ डाला। आपकी विशिष्ट लेखन शैली ने जहाँ उनका एक ओर बचाव किया वहीं उनकी उद्देश्य पूर्ति भी की। कई लोग उनसे प्रभावित होकर उनके अनुगामी बन गये।

इसी शैली में जन-जागरण का कार्य बड़े पैमाने पर चलाने के लिए उन्होंने सन् १८९० ई. में मुरादाबाद से एक पत्र निकाला। वह समय देश के राजनैतिक वातावरण में एक अभूतपूर्व जाग्रति का काल था। उन्हीं दिनों सर एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम ने इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस का राष्ट्रवादी संगठन गठित किया। सरकार इस जाग्रति से तटस्थ नहीं थी। उसे इन प्रक्रियाओं के परिणाम की भली-भाँति जानकारी थी। इसी कारण वह इनकी प्रतिरोधक व्यवस्था भी कर रही थी।

सरकार ने कुछ संकीर्ण लोगों को अपनी ओर मिलाया और प्रोत्साहन देकर हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को तभी से बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया था, जिसके विषैले और घातक परिणाम भी सामने आने लगे थे। मुस्लिम और हिन्दू सभी तरह की संस्थायें उन दिनों साम्प्रदायिकता की आधारभित्ति पर खड़ी होने लगीं। सूफी अम्बा प्रसाद को यह स्थिति असह्य लगी और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इस शैली को छोड़कर स्पष्ट और निर्भयतापूर्वक सत्य कहना ही पड़ेगा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि भले ही मुझे सरकार का कोपभाजन ही क्यों न बनना पड़े अब सच्चाई को निर्भीक होकर ही कहूँगा और उन्होंने सरकार के नापाक इरादों का निडर होकर भण्डाफोड़ किया। जनता जागने लगी। सूफी अम्बा प्रसाद एक के बाद एक तथ्यपूर्ण जानकारियाँ— जो शासन की इस निकृष्ट और घृणित आकांक्षा को उजागर करती थीं देने लगे।

परिणाम वही हुआ जो विदेशी शासन काल में हर स्वतंत्रता प्रेमी का होता है। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। राजद्रोह का मुकदमा चला तो सूफी अम्बा प्रसाद ने निडर होकर मानवता और राष्ट्रीय विकास के पक्ष में स्वयं को लाभदायक सिद्ध किया। तब के कठमुल्ला न्यायाधिपतियों ने उन्हें राजद्रोही करार देकर कारागृह में डाल दिया। डेढ़ वर्ष तक कठोरतम यातनायें उन्होंने भोगीं। वे स्वस्थ और शक्तिशाली देह लेकर कारावास में गये थे। लौटे तो निर्बल और क्षीणकाय होकर। परन्तु शरीर की स्थिति से मनोबल का, आत्मबल का सम्बन्ध नहीं है। कठोर परीक्षाओं से गुजरने के बाद भी निष्ठा और आस्थाओं पर दृढ़ रहने वालों का मनोबल तो असाधारण रूप से बढ़ ही जाता है।

जेल से लौटते ही वे पुनः वही नीति अपनाकर जन-जागरण की साधना में लगे। अब की बार उन्हें कई वर्षों के लिए जेल भेज दिया गया तथा सारी सम्पत्ति भी जब्त कर ली। इसके बाद उन्हें जेल में और भी प्राणलेवा यातनायें दी गयीं परन्तु वज्रदेह सूफी जी फिर भी बचकर आ गये। उन्होंने जितनी बार जेल की यातनायें सहन कीं उतनी ही बार जेल से लौटकर और भी अधिक गति से क्रियाशील होते गये।

बाद में वे सीमान्त प्रान्तों में गये तथा वहाँ घूम-घूम कर जन-जागरण का शंखनाद करते रहे। उन्होंने भारत माता बुक सोसायटी नामक एक प्रकाशन संस्था भी खोली और इस संस्था के माध्यम से छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित करवाकर उनका वितरण करवाया। इन्हीं यात्राओं के दौरान वे ईरान भी पहुँचे। ईरान को उन दिनों अँग्रेज साम्राज्यशाही का आजदहा निगल ही जाने को हुआ था।

वह तो सूफी साहब के प्रयत्नों से ईरान के जागरूक देशभक्तों ने ऐन वक्त पर ऐसा संघर्ष छेड़ा कि वहाँ से उनकी जड़ें हिल गयी। कुछ स्वार्थी तत्त्व उस समय अँग्रेजों का साथ नहीं देते तो बहुत सम्भव था कि वहाँ से अँग्रेजों का पटिया उलाट हो जाता। ईरान में हुए विद्रोह के लिए सरकार एकमात्र दोषी सूफी साहब को ठहरा रही थी। विद्रोह जब पूरी तरह दमित कर दिया गया तो सूफी साहब को गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया।

निष्काम सेवा-परायण, संस्कृति के प्रेरक उन्नायक—अम्बुभाई पुराणी

मैं कौन हूँ? मेरा आद्य-स्वरूप क्या है? ब्रह्म क्या है? विश्व क्या है? क्यों यह सृजन और विनाश का क्रम चल रहा है, अशांति क्यों है, अतृप्ति क्यों है, क्यों इस मनुष्य-शरीर में जन्मा? इन अन्त-र्प्रश्नों का कोई समाधान अपने आप में न मिला, गणित और अँग्रेजी की पुस्तकों में न मिला तो उसने विचार किया— मेरी आशंकाओं का समाधान करने की शक्ति किस धर्म और किस व्यक्ति में है?

हिन्दू-दर्शन ने यह जिज्ञासायें आविर्भूत की थीं तो सन्तुष्टि की शक्ति भी उसी में है— यह निश्चय कर एक कर्मठ, साधनानिष्ठ और सेवाभावी युवक महर्षि अरविन्द की अध्यात्मशाला, पांडिचेरी पहुँचा। यह चुनाव बुद्धिसंगत ही था। आत्मदर्शी साधक ही आध्यात्मिक मार्गदर्शक हो सकता है। जिसके मन में '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' का मूल आत्मदर्शन स्वर प्रस्फुटित न हुआ हो वह कितना ही वेष बनाए, शब्दजाल फैलाए पर किसी का आत्म-कल्याण उसके बलबूते कहाँ सम्भव है? आधी सफलता उसे उसी दिन मिल गई जिस दिन उसने महर्षि अरविन्द के चरणों में अपना आध्यात्मिक हित सौंपकर कठोर साधना का संकल्प लिया।

वह कौन था? महर्षि का योग्यतम प्रख्यात शिष्य— अम्बालाल। जामनगर में सन् १८९३ में इसका जन्म हुआ था। गुजरात के लोग उसे प्यार से अम्बुभाई कहते थे। किशोरावस्था से ही उसकी धार्मिक मनोवृत्ति सतेज हो उठी थी। परमात्मा की कृपा कहनी चाहिए कि उसने ध्यान से निरख-परख कर योग्य आध्यात्मिक प्रशिक्षक भी पा लिया।

यह मिल जाना एक बात है, उस पर सतत आरूढ़ रहकर लक्ष्य प्राप्त करना दूसरी बात। उद्देश्य की प्राप्ति मार्ग पा लेने से नहीं,

उसकी कठिनाइयों को झेलकर कष्टों और अभावों में पलकर निरन्तर चलते रहने से होती है। महर्षि के और भी शिष्य थे। आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे और साधनायें करते थे, पर उन सबसे कुछ अधिक त्याग, तप, साधना, लगन, विद्याध्ययन में अभिरुचि प्रदर्शित करने के कारण अम्बुभाई ने गुरुदेव का सहज स्नेह अर्जित किया। उनका नाम सर्वश्री नीरदवरन्, नलिनी कान्त गुप्त और दिलीपकुमार सहित चार योग्यतम शिष्यों में गिना जाता है। वरिष्ठता का आधार बाह्य कारीयता नहीं, अम्बुभाई की निष्ठा थी जिसने तपोभूमि के अभावयुक्त वातावरण में भी अम्बुभाई को २३ वर्ष तक बनाये रखा।

आत्मचेतना का ज्ञान उपलब्ध होने पर अध्यात्मवादी के समक्ष दो उद्देश्य रहते हैं। पहला यह कि वह लौकिक परम्पराओं, व्यवहार, सुख-सुविधाओं का परित्याग कर वह आत्म-कल्याण में संलग्न हो। दूसरा है पुण्य-परमार्थ का पथ। सुविधायें भूलकर आप आत्म-कल्याण करे, दूसरों को भी पुण्य पथ प्रदर्शित करे। संक्षेप में ब्राह्मण-धर्म का निर्वाह करे।

अपने गुरु के ज्ञान-किरण कलश में ज्योति-स्नात अम्बुभाई ने पुण्य-परमार्थ का पथ तो चुना किंन्तु लगता है वे मनुष्य की छोटी-छोटी आवश्यकताओं, समाज की यथार्थ स्थिति और उसके अनुरूप समाधान, देशोत्थान, धर्मजागरण के सही और व्यावहारिक मार्गदर्शन का चिन्तन नहीं कर पाये। महर्षि अतिमानव थे दर्शन की पराकाष्ठा ने उन्हें जटिल बना दिया था। उस प्रभाव से भला अम्बुभाई ही क्यों अछूते रहते?

आपने आश्रम से निकलने के बाद जो विचार और साहित्य प्रदान किया है उसमें 'पथिकना पत्रो,' 'राधा' और 'फूल' आदि प्रेरक पत्रों तथा निबन्धों को देखने से पता चलता है कि कठिन विषय को भी हस्तामलकवत बना देने की उनमें क्षमता थी। कदाचित वे इस योग्यता का उपयोग समाज-सेवा में करते तो केवल गुजरात ही नहीं, सम्पूर्ण देश के युवकों, विद्यार्थियों, नागरिकों और योग-साधना, तप तथा प्राणशक्ति का विकास करने की इच्छा रखने वालों का और अधिक कल्याण होता।

भारतीय अध्यात्म को जटिल रूप देने की परम्परा तो पहले ही बहुत थी। पण्डितों और विद्वानों के लिये अब तक जो मसाला तैयार हो चुका है वही इतना है कि कोई भी अध्ययनशील उसका सम्पूर्ण अवगाहन नहीं कर सकता फिर क्या आवश्यकता थी कि 'चिन्तनना पुष्पो', 'पथिकनां पुष्पो', 'पूर्णयोगना प्रकाशमां' आदि की रचना में अधिक समय लगाया जाता। सच पूछा जाये तो यह ऐसा संक्रांतिकाल है, जिसमें दर्शन की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी भारतीय समाज को विगलित परम्पराओं, अन्धविश्वास, गिरे हुए जीवन स्तर, बाह्य अनुकरणशीलता आदि अनेक बुराइयों से बाहर निकालकर उन्हें प्राइमरी स्तर से अध्यात्म सिखाने की आवश्यकता थी। अम्बुभाई ने इतना किया होता तो सम्भवतः उनकी साधना का सच्चा सदुपयोग हुआ होता।

यह भूल उन्होंने तब अनुभव की जब अपने भारतीय अध्यात्म का सन्देश समझाने के लिये विदेश यात्रा की। सिंगापुर, हाँगकाँग, जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा अफ्रीका आदि देशों में अम्बुभाई ने महर्षि अरविन्द के अध्यात्म को स्पष्ट स्वरूप देने का प्रयास किया। यहाँ के लोग उससे लाभान्वित भी हुए किन्तु अम्बुभाई ने भी यह अनुभव किया कि वस्तुतः अध्यात्म की आवश्यकता पाश्चात्य देशों को जितनी हो सकती है, उससे अधिक अपने ही राष्ट्र को है। हमें अपने देश, धर्म और जाति की सेवा करनी चाहिए और वह भी छोटे स्तर से।

अम्बुभाई स्वदेश लौटे। यहाँ आकर उन्होंने भारतीयों को ज्ञानामृत पिलाना आरम्भ किया। वाणी से भी और लेखनी से भी। यह सही है कि वे अपना सन्देश सारे देश में नहीं फैला सके, कदाचित संगठित प्रयास होते तो वह भी कोई कठिन बात न थी तथापि गुजरातवासियों की ही प्रचुर सेवा करके उन्होंने अपना शिष्यत्व सार्थक किया। ज्ञान तो अमर है— वह कभी भी, किसी के भी द्वारा शेष संसार तक पहुँचाया जा सकता है। कम-से-कम यह व्यवस्था तो इस युग में सरल हो ही गई है।

अम्बुभाई के छोटे भाई छोटूभाई के नाम से सुविख्यात हैं। बन्धु-द्वय गुजरात में व्यायाम-प्रवृत्ति के जनक माने जाते हैं। गुजरात के गाँव-गाँव में घूमकर उन्होंने स्वास्थ्य, समर्थता, रोगता और शारीरिक शिक्षण की महिमा समझाई। उनकी हार्दिक आकांक्षा थी कि राष्ट्र के जीवन में सर्वतोमुखी पराक्रम और तेजस्विता का आविर्भाव हो, इसके लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर नवयुवकों को चेतना प्रदान की। गुजरात में यह प्रवृत्तियाँ आज भी अनुकरणीय ढंग से चल रही हैं।

अन्ततः यह स्वीकार करना पड़ता है कि अम्बुभाई ने गुरु से जो ज्ञान-प्रसाद ग्रहण किया उसे उन्होंने आत्मकल्याण मात्र का साधन नहीं बनाया वरन् सबके लिए बाँटने का प्रयास किया। यदि वह पूरा नहीं हुआ तो उसे वर्तमान पीढ़ियाँ सम्पन्न करेंगी पर उसके सूत्रधार के रूप में अम्बुभाई का नाम शीर्ष पर लिखा जायेगा।

११ दिसम्बर, १९६५ को प्रातःकाल पांडिचेरी आश्रम में हिन्दू-संस्कृति के महान् पुत्र का निधन हो गया। आज वे नहीं हैं पर उनकी शिक्षायें, उनका ज्ञान, उनका दृष्टिकोण, देश-प्रेम, सेवा-परायणता। और आध्यात्मिकता की भावनायें जीवित हैं, उन्हें प्रखर किया जा सके तो वही अम्बुभाई के लिये सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

स्वामी आत्मानन्द—जिनकी शिक्षा सार्थक हुई

अब रामकृष्ण आश्रम रायपुर के प्राण प्रतिष्ठाता स्वामी आत्मानन्द कभी कपिसदा जिला रायपुर के निवासी थे। उनका जन्म, पिता धनीराम के अध्यापन काल में माँढर से १ मील दूर बरबंदा ग्राम में हुआ। बचपन का नाम तुलेन्द्र, प्यार में लोग रामेश्वर कहकर पुकारते।

बाल्यकाल पिता की अभावजन्य परिस्थितियों में बीता तो भी पिता के योग्य मार्गदर्शन और उनकी लगन, धैर्य और परिश्रम के कारण

दारिद्रय विद्याध्ययन में बाधक नहीं बन सका । विद्यार्थी मित्र कहा करते··· तुलेन्द्र ! उच्च शिक्षा के लिये धन की आवश्यकता है और तुलेन्द्र का उत्तर होता— मित्र ! प्रतिभायें एवं योग्यतायें अभाव में भी उतनी ही विकसित हो सकती हैं, यदि व्यक्ति की अपनी लगन और हिम्मत कमजोर न पड़े ।

कम पैसों में पढ़ाई का खर्च चलाते हुये उन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक उत्तीर्ण की । १९४९ में नागपुर यूनिवर्सिटी से बी. एस-सी. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर मेरिट में द्वितीय स्थान प्राप्त किया । एम. एस-सी. और आई. ए. एस. की परीक्षा साथ-साथ देकर दोनों ही प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर आपने इस आदर्श की प्रतिष्ठापना की कि— यदि विद्यार्थी का मन पढ़ने का हो तो कोर्स की पुस्तकें बोझ नहीं, मनुष्य कोर्स के बाहर की भी बहुत सारी पुस्तकें पढ़कर विद्यार्थी जीवन में अपना ज्ञान बढ़ा सकता है ।

जब वे नागपुर में थे धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का उन्हें तभी से चाव लग गया था । रामकृष्ण मिशन छात्रावास से उनके पिता ने उन्हें इसीलिये हटा लिया कि कहीं लड़का बाबाजियों के फेर में न फंस जाय । पर आत्म-शोध के मार्ग में न तो उच्च शिक्षा के द्वारा प्राप्त होने वाले सांसारिक आकर्षण ही उनका मार्ग रोक सके और न पिता के द्वारा उत्पन्न कृत्रिम अवरोध ही । जब सब विद्यार्थी उपन्यास, कहानियों और फिल्मी जीवन का आनन्द ले रहे थे युवक तुलेन्द्र एक ऐसा भविष्य निर्माण करने में जुटा हुआ था जिसमें उसका अपना मनुष्य जीवन में आने का उद्देश्य भी पूरा हो सके और धर्म एवं भारतीय संस्कृति की सेवा के मार्ग की प्रशस्ति भी ।

आत्मोपलब्धि का मूल्य और महत्त्व उन्होंने स्वाध्याय से ही समझा । धर्म की गरिमा भी धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन से अनुभव की । महापुरुषों के जीवनवृत्त पढ़ने से ही वे उत्कृष्ट धार्मिक सेवा सम्पादन करने का पुण्य व्रत अन्त:करण में उतार सके । संयम, साधनामय जीवन की उपयोगिता भी उन्हें स्वाध्याय से ही मालूम पड़ी ।

प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण सरकार ने उन्हें विदेशों में उच्च शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति देनी चाही किन्तु उन्होंने उसे ठुकरा दिया । चाहते तो कहीं कलक्टर हो जाते, आई. ए. एस. किया था पर उन्होंने आत्मशोध और धार्मिक सेवा के सन्तोष को सांसारिक सुख से बढ़कर माना । इसलिये सब वैभव छोड़कर वे रामकृष्ण मिशन मे दीक्षित होकर साधना और योगाभ्यास में जुट गये ।

भारतीय तत्वदर्शन के गहन स्वाध्याय से भारतीय धर्म के प्रति उनकी आस्था अत्यन्त प्रगाढ़ हो उठी, पर बचकानी धर्म सेवा से अरुचि भी । इसलिये उन्होंने अपनी सारी योग्यताएं धार्मिकता और समाज की सेवा मे खपाने का निश्चय कर लिया ।

रायपुर में रामकृष्ण सेवा समिति पहले से ही स्थापित थी पर अनेक अन्य धार्मिक संस्थानों की भाँति वह भी प्रसुप्त अवस्था में थी जब तक वे ब्रह्मचारी वेष मे थे । उन्होंने इसी संस्था के माध्यम से धर्म शिक्षण का कार्य प्रारम्भ कर दिया । प्रारम्भ में कुल ४ विद्यार्थी ही आये पर उससे उन्हें कोई निराशा न हुई । धर्म आज इतना विकृत हो चुका है कि उसके स्वरूप से लोग भय खायें तो दोष उनका नहीं वरन् परिस्थितियों का है । इस विकृति को अब प्रबुद्धजनों के त्याग और तप से ही सुधारा जा सकता है ऐसा मानकर वे निरन्तर लगे ही रहे ।

साधनाओं के सम्पादन और धार्मिक सेवाओं के लिये यद्यपि कोई वेष और आश्रम निर्धारित नहीं है । गृहस्थ में रहकर भी अच्छी तरह से सेवायें सम्पन्न की जा सकती हैं किन्तु आज भारतीय जनता अपनी बौद्धिक कमजोरियों के कारण उन योग्यताओं को परखने में सक्षम नहीं रही जो उनका यथार्थ हित साधन कर सकती हैं । वेष को पूजने की भ्रान्ति ने ही सारे देश में अन्धविश्वास को पनपाया है । यही बात निष्काम कर्मयोग के गृहस्थ साधक के लिए अवरोध हो सकते हैं, यह समझकर श्री तेज चैतन्य नाम से ब्रह्मचर्य में दीक्षित तुलेन्द्र ने संन्यास ले लिया । चाहिये तो यह था कि जनता की मूढ़ मान्यताओं से भी लड़ा जाता पर धार्मिक सेवा के उद्देश्य से प्रजा के इस ठप्पे को भी स्वीकार कर लेना कोई बुरा नहीं था । अब वे स्वामी आत्मानन्द जी के नाम से पुकारे जाने लगे ।

वे पुन: रायपुर आये और उस छोटी-सी संस्था का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया । (१) धार्मिक शिक्षण, (२) भारतीय संस्कृति के तत्त्वज्ञान, (३) स्वाध्याय की अभिरुचि को बढ़ावा देना, (४) व्यक्ति निर्माण । यह चार देश की प्रधान आवश्यकतायें हैं इनकी पूर्ति के लिये जो भी सम्भव प्रयत्न हों उन्हें क्रियान्वित करना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता समझकर उन्होंने रामकृष्ण मिशन की गतिविधियाँ तीव्र कीं और इन चार क्षेत्रों में जो भी सम्भव प्रवृत्तियाँ थीं उन्हें बढ़ाते चले गये । जिससे छोटी-सी दिखाई देने वाली यही संस्था छत्तीसगढ़ क्षेत्र की जाग्रति का प्रकाश बन गई ।

संस्थायें स्थापित करना कोई महत्त्व नहीं रखता आवश्यकता उनके पीछे उत्कृष्ट व्यक्तित्व रखकर समाज सुधार के लिये निरन्तर प्रेरणा व प्राण फूंकने की होती है । ऐसी थोड़ी-सी सजीव संस्थायें भी भारतवर्ष में हो जायें तो व्यक्ति निर्माण तथा समाज सुधार की आवश्यकतायें कुछ ही दिन में पूरी हो सकती हैं ।

स्वामी आत्मानन्द जी का कार्य क्षेत्र उपरोक्त चार दिशाओं में बँटा है पर वह कार्यक्रम अनेक प्रवृत्तियों में विभाजित होकर राष्ट्र के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहा है । वर्तमान में विवेकानन्द आश्रम में ६० छात्रों के लिये एक छात्रावास है । जिसमें— धार्मिक सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम, पर्वों और त्यौहारों पर आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षण के कार्यक्रम चलते हैं । विवेक ज्योति नामक त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन ग्रामवासियों तक वहाँ के सन्देश पहुँचाने के लिये किया जाता है । पंचायती राज-प्रशिक्षण केन्द्र भी साथ में है । नि:शुल्क वाचनालय व पुस्तकालय की व्यवस्था है— जिनमें १० दैनिक समाचार पत्र, ६६ नियतकालिक पत्रिकायें आती हैं, धार्मिक महत्त्व और उच्च आचरण का शिक्षण करने वाली १२४११ पुस्तकें हैं । आश्रम का अपना उपासना ग्रह है जिसमें बैठकर प्रतिदिन ७०-७५ व्यक्ति सामूहिक उपासना करते हैं ।

व्यायाम, चिकित्सा और प्राणियों की सेवा जैसी गतिविधियों के लिये भी जो इस युग की प्रधान आवश्यकतायें हैं, यह संस्थान प्रयत्न

कर रहा है। मंगल उद्देश्य, भगवान् सब तरह सफल करते हैं। पीड़ित मानवता की सेवा के लिये उठी छोटी-सी चिनगारी को भी ज्वालामुखी बना देने की क्षमता जिस परमात्मा में है वह ऐसी निष्काम सत्प्रवृत्तियों के हाथ भी मजबूत करता है।

भारतीय धर्म मंच आज प्रतिभा और योग्यता के अभाव में सूना पड़ा है। शिक्षितों की होड़ सांसारिक उपलब्धियों की दिशा में है। इसीलिये संसार के मार्गदर्शन की क्षमता वाला भारतीय तत्वज्ञान आज लँगड़ा-लूला पड़ा है। यदि स्वामी जी की तरह और भी प्रबुद्ध प्रतिभायें धार्मिक सेवा में गौरव अनुभव कर सकें तो देखते-देखते पद-दलित भारतीय समाज अपनी प्राचीन उत्कृष्टता प्राप्त कर ले।

आदिवासियों के अनन्य सेवक—आचार्य मिसे

४ जुलाई, १९७१ का दिन। आषाढ़ शुक्ल एकादशी महाराष्ट्र में यह दिवस बहुत पुण्यप्रद माना जाता है। पंढरपुर में इस दिन पर विठ्ठल-दर्शन के लिए लाखों का मेला लगता है। जाति-पाँति के भेदों को भूलकर महाराष्ट्र के कोने-कोने से लाखों लोग पैदल चलकर चन्द्रभागा नदी के किनारे आते हैं और विठ्ठल भगवान् के संकीर्तन में भाव-विभोर हो जाते हैं। यदि उस दिन किसी की मृत्यु हो जाय तो लोग समझते हैं कि वह बड़ा पुण्यात्मा था। अन्तर-भारती व्यास के अध्यक्ष एवं आदिवासियों के अनन्य सेवक आचार्य श्री शंकरराव जी मिसे का देहान्त इसी आषाढ़ी एकादशी के दिन बम्बई में हुआ। जो आत्मा सतत साठ साल से गरीब तथा दलितों की सेवा में अपने को खपा रही थी, उसने उस दिन अपने शरीर को स्वेच्छा से त्याग दिया। वैसे तो गत कुछ वर्षों से उनका स्वास्थ्य कुछ गिरा हुआ ही था, लेकिन वे तो लोकमंगल के लिए सिर से कफन बाँधे घूम रहे थे, अतः उन्होंने अपनी बीमारी की तनिक भी चिंता नहीं की। समाज की खासकर पिछड़े हुए समाज की भलाई के सिवा दूसरा कोई विषय उन्हें सूझता ही नहीं था। आदिवासियों की सेवा में ही उन्होंने अपना सारा जीवन खपा दिया था, उनकी भलाई के लिए ही वे अन्त तक तड़पते रहे। '**सर्वे सुखिनः भवन्तु, सर्वे सन्तु निरामयः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुःखमाप्नुयात्**' यही एकमात्र प्रार्थना सिर्फ वाणी से नहीं तो अपने जीवन के हर कार्य से वे करते रहे। महाराष्ट्र में गाँधी जी से प्रेरणा पाकर जिन लोगों ने समाज-सेवा में अपने को लगा दिया था, उनमें आचार्य मिसे का स्थान उल्लेखनीय है।

आचार्य मिसे गत कुछ महीनों से गंभीर रूप से बीमार थे। उनकी बीमारी की खबर पाकर उन्हें देखने के लिए दूर-दूर से लोग आने लगे थे। अस्पताल में लोगों का ताँता बँध जाता था। उन्हें देखकर आचार्य जी बेचैन हो जाते। कहते— "मैं अब चंगा हो गया हूँ, मुझे यहाँ से ले चलो।" वे अस्पताल का खर्चीला प्रबंध देखकर झल्ला पड़ते। कहते— 'यह प्रबंध तो अमीरों के लिए होना चाहिए गरीबों की सखा तो मृत्यु ही होती है।' वे कहा करते— सेवक को कभी बीमार नहीं पड़ना चाहिए। यदि वह बीमार पड़ता है, तो उसके जीवन की कुछ त्रुटि के कारण पड़ता है।

मित्र आचार्य जी की इन बातों से बेचैन हो जाते और उनकी बेचैनी को देखकर आचार्य जी अस्पताल की सुख-सुविधाओं को लाचार होकर बर्दाश्त कर लेते। लेकिन शरीर सचमुच अहर्निश सेवा में घिस-घिसकर टूट गया था और उसे फिर विश्राम की आवश्यकता थी। उसे मृत्यु-मैया ने अपनी गोद में ले लिया और जिस तरह माँ की गोद में बच्चा बेहिचक-बेझिझक चला जाता है, उसी विश्वास से आचार्य जी ने मृत्यु की गोद में अपने शरीर को लिटा दिया।

करीब साठ साल पहले की बात है। श्री शंकरराव मिसे बम्बई विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त कर चुके थे। अवस्था लगभग बीस वर्ष की होगी। परिवार अत्यन्त निर्धन था। ज्यों-त्यों करके किसी प्रकार बी. ए. कर चुके थे। उस समय भारत के राजनैतिक क्षितिज पर दो नक्षत्र प्रकाशमान थे। एक भारत-सेवक श्री गोपालकृष्ण गोखले और दूसरे लोकमान्य तिलक। ऐसा कोई युवक उस समय देश में नहीं था, जिस पर इनके जीवन का प्रभाव न पड़ा हो। दोनों ने अपने जीवन का प्रारम्भ शिक्षक के रूप में किया था। शिक्षक ही ऐसा साधन है, जो नयी पीढ़ियों का निर्माण करता है। आचार्य मिसे जी ने भी शिक्षा के क्षेत्र में ही प्रवेश करने का निश्चय किया, यद्यपि उस समय उपाधियों के लिए उच्च प्रशासकीय नौकरियों की कोई कमी नहीं थी। भारत-सेवक स्व. गोखले जी की स्मृति में कुछ युवक मित्रों ने गोखले एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना की और बम्बई में एक माध्यमिक विद्यालय का प्रारम्भ किया। नयी पीढ़ी राष्ट्रीयता की भावना से अभिमंत्रित बने और देश की स्वतंत्रता के लिए जीवन न्योछावर करने को तत्पर हो यही संस्था का उद्देश्य था। श्री मिसे जी इस विद्यालय में शिक्षक के रूप में काम करने लगे।

पर कुछ दिनों बाद मिसे जी को लगा कि सिर्फ शहर में शिक्षा का प्रचार करना पर्याप्त नहीं है। गाँवों तक नये युग का संदेश पहुँचाना चाहिए। उस समय पश्चिम समुद्र तट के समीपवर्ती प्रदेश में शिक्षा का प्रचार नहीं था। अतः उन्होंने कुलाबा जिले के अन्तर्गत बोर्डी नामक समुद्र किनारे के एक गाँव को पसंद किया, जहाँ आदिवासी लोग बसते हैं।

आदिवासी लोगों का अज्ञान तथा घोर दरिद्रता देखकर उनमें बड़ी मानसिक अशांति हुई। अपनी इस अस्वस्थता को दूर करने हेतु एक बार वे जंगलों में घूम रहे थे कि अचानक उनकी नजर उस निर्जन वन की एक समाधि पर जा पड़ी। कौतूहल जाग उठा और मिसे जी उसके पास पहुँचे और देखते क्या हैं ? उस समाधि पर एक शिला लेख लगा था। वह समाधि एक विदेशी मिशनरी की थी। पाँच हजार मील दूरी से आकर उसने अपने को आदिवासियों की सेवा में समर्पित कर दिया था। अन्तिम साँस तक वह सेवा में संलग्न रहा। श्री मिसे जी वहीं बैठकर सोचने लगे— 'हम भारतीय संस्कृति का बड़ा घमण्ड करते हैं। '**कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्**' का मन्त्र बोलते हुए फूले नहीं

समाते । 'सर्वे सुखिन: सन्तु' की दिन-रात रट लगाते रहते हैं लेकिन जनता की भलाई के लिए जीवन खपाने की कल्पना भी नहीं करते, वहीं यह एक इन्सान था जो पाँच हजार मील की दूरी से आकर आदिवासियों की सेवा में अपना जीवन लगा देता है । ना ये लोग उसके सगे-सम्बन्धी हैं, न उसकी चमड़ी के रंग के हैं । फिर भी वह सेवा करने दौड़ आता है, उसका उद्देश्य चाहे जो हो । और एक मैं हूँ, जो अपने पिछड़े बंधुओं की सेवा से जी चुराता हूँ । उनके बीच जाकर रहने की कल्पना मात्र से सहम उठता हूँ ।''

श्री मिसेजी के जीवन का यह एक क्रांतिकारी क्षण था । वहाँ से मिसे जी जो लौटकर आये, वे बिल्कुल नये बनकर । नयी उमंग और नया संकल्प लेकर । सबको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । मिसे जी बोर्डी गये और वहाँ एक विद्यालय शुरू किया।

मिसे जी एक आदर्श शिक्षक थे । बच्चों से बड़ा प्यार करते थे । अपना स्वतंत्र परिवार बनाकर अपने को सीमित नहीं करना चाहते थे, इसलिए ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कर ली । वे व्यक्तिगत काम तथा अध्ययन का समय छोड़कर शेष सारा समय विद्यार्थियों में बिताया करते । कुछ दिनों के बाद उन्हें ख्याल आया कि छात्रावास के बिना शिक्षा कार्य अधूरा ही रह जाता है । अत: शीघ्र ही छात्रावास का प्रबंध किया गया। इसके सिवा उन्हें यह भी महसूस होने लगा कि शिक्षा का क्षेत्र केवल विद्यार्थियों तक ही सीमित रखना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका विस्तार सर्वसाधारण तक करना चाहिए । अत: वे अवकाश के समय में आस-पड़ौस के इलाके में घूमने लगे । यातायात के साधन नहीं थे । पैदल ही घूमना पड़ता था । जंगलों और पहाड़ों को पार करना पड़ता था । आदिवासियों का जीवन क्या था, मूर्तिमान दरिद्रता का रूप था । न तन ढकने के लिए कपड़ा, न पेट भरने के लिए अनाज । निवास के लिए घर न बीमारी के इलाज का कोई प्रबंध । शिक्षा का तो नामोनिशान नहीं । एक ओर सरकारी हाकिम दबाते थे, तो दूसरी ओर जंगल के ठेकेदार लूटते थे न उनका कोई सहारा था, न संगी-साथी । जंगलों में उनकी अमानुष पिटाई होती थी तो कोई बचाने नहीं आता था । स्त्रियों के साथ बलात्कार किया जाता । जंगल ठेकेदार और सरकारी अफसरों की साँठ-गाँठ रहती थी । आचार्य जी इस परिस्थिति को देखकर बड़े चिंतित रहा करते विद्यालय के काम से छुट्टी पाते ही वे आदिवासियों के बीच जाकर उनमें स्वाभिमान और साहस का भाव भरते । धीरे-धीरे आदिवासी भाई-बहिनों को विश्वास हो गया कि निडर होकर उनके लिए जूझने वाला एक अच्छा नेता उन्हें मिल गया । लोग उनके पास अपनी दु:ख-दर्द भरी शिकायतें लेकर पहुँच जाते उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए आचार्य जी खून-पसीना एक कर देते । धीरे-धीरे उनके सहयोगियों की एक टोली भी खड़ी हो गयी ।

आचार्य जी स्वतंत्रता के आन्दोलन में भी कूद पड़े । फलस्वरूप उन्हें दो बार कठिन कारावास की यातनायें सहनी पड़ीं । वे मानते थे कि जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो पाता, तब तक इन दीन-दु:खियों की कठिनाइयाँ नहीं मिटाई जा सकतीं । जेल में आचार्य जी ने अपना काम जारी रखा । आदिवासी समस्या पर वे अपने विचार समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराते । जेल से रिहाई पर वे अपने साथ नये स्वयं सेवकों की एक टोली ही लेकर बाहर आये ।

आदिवासी उस समय तक खेती का सही ढंग भी नहीं जानते थे । जंगल जलाकर उसी भूमि में यों ही अनाज फेंक देते और उससे जो कुछ पैदा होता उसी से अपनी गुजर-बसर कर दिन काटते थे । आचार्य जी ने सोचा कि इस प्रकार की अवैज्ञानिक खेती से काम नहीं चलेगा । नये कृषि-विज्ञान से आदिवासियों को अवगत कराना होगा । तब पास ही में कोसबाड़ नामक पहाड़ी स्थान पर उन्होंने कृषि-विद्यालय की स्थापना की । बच्चों को नये जीवन की दीक्षा देने के लिए ग्रामीण बाल-प्रशिक्षण केन्द्र शुरू किया। एक अभिनव प्रयोग प्रारम्भ किया गया । अब बच्चों को स्कूल में नहीं आना पड़ता था, स्कूल ही भेड़ बकरियों को चराने वाले चरवाहों बच्चों के पास जाने लगा । आदिवासी का एक पैर कर्ज की दलदल में फँसा रहता तो दूसरा व्यसनों में । उन्हें शराब के नशे में अपने दु:ख-दर्दों को भूलने की आदत भी पड़ गयी थी । स्त्रियाँ और बच्चे व्यसनों से मुक्त नहीं थे । अतएव समाज-सुधार एवं व्यसन-मुक्ति के लिए उन्होंने आश्रम तथा पाठशालाओं की योजना हाथ में ली । फलस्वरूप एक नया जीवन उस क्षेत्र में पनपने लगा ।

आचार्य मिसे स्वागत-सत्कार आदि से हमेशा अपने को दूर रखते थे । उनका शिष्य-परिवार काफी बड़ा था । आचार्य जी की पचहत्तरवीं वर्ष गाँठ पर वे उनका अभिनन्दन करना चाहते थे और उनके लिए एक निधि भी उन्हें भेंट करना चाहते थे पर आचार्य जी इसके लिए राजी नहीं हुए । जब लोग नहीं माने तो जिस तिथि को उनका अभिनन्दन करने की योजना बनायी गयी थी, उस दिन वे बिना किसी को बताये जंगल में किसी अज्ञात स्थान में चले गये । मालायें और अभिनन्दन पत्र जहाँ के तहाँ पड़े रहे । कुछ दिनों बाद आचार्य जी जब लौटे तो नई लगन लेकर दुगुने उत्साह से काम करने के लिए तत्पर होकर । उन्हें दारिद्र्य और घोर विषमता देखकर बड़ा कष्ट होता था और वे उन्हें मिटाने के लिए पर मिटने को तैयार हो गये । एक दिन सेवा कार्य करते हुए ही उन्हें मूर्छा आ गयी । इलाज के लिए उन्हें अस्पताल में भरती किया गया । आचार्य जी ने अस्पताल में ही आखिरी साँस ली, भगवान् से सबकी भलाई के लिए दुआ माँगते हुए ।

आचार्य मिसे ने अपनी अखण्ड सेवा-साधना से अनेक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी है । अपने निरपेक्ष सतत सेवा-कार्य से आदिवासियों में नवजीवन का संचार किया । वे आदिवासियों के अनन्य सेवक थे । उनकी तेजस्वी स्मृति को बारम्बार वन्दन ।

परोपकारी भीम

पाण्डवों का अज्ञातवास का समय चल रहा था । वे एक गाँव में वेश बदले एक ब्राह्मण के घर रह रहे थे । माता कुन्ती को घर छोड़कर पाँचों पाण्डव भिक्षाटन पर चले जाते थे । उसी समय उदर पोषण के लिए अन्न भी संचय कर लाते थे और अपने विषय में जनमत का भी पता लगाते रहते थे ।

एक दिन चार पाण्डव तो भिक्षाटन पर चले गये । भीम घर पर रह गये । वे माता से बातें कर रहे थे । इतने में ही ब्राह्मण के परिवार से रोने की आवाज आई । भीम ने माता से पता लगाने को कहा ।

कुन्ती अन्दर आई तो देखा ब्राह्मण का पूरा परिवार एक साथ बैठा रो रहा है । कुन्ती को देखकर सभी सहसा कुछ देर को चुप हो गये । ब्राह्मण ने कुन्ती का स्वागत करते हुए कहा— ''आइये माता, इस समय आपने हम दु:खियों को दर्शन देकर बड़ा आभार किया । अब तो हम सब तीसरे प्रहर तक के मेहमान हैं, सायं तक समाप्त हो जायेंगे । हम लोगों के न रहने के बाद भी आप अपने पुत्रों सहित इसी घर में रहें और इसे अपना ही समझें । बस कभी-कभी हम अभागों को याद अवश्य कर लिया करें ।''

कुन्ती ने देखा कि ब्राह्मण निश्चय ही किसी बड़ी विपत्ति में फँसा है । लेकिन उसने अपने विवेक को नष्ट नहीं होने दिया है । यथायोग्य शिष्टाचार का निर्वाह किया है और पहले जैसा ही आत्मीयतापूर्ण उदार व्यवहार कर रहा है । निश्चय ही यह बड़ा धीर पुरुष है । नहीं तो आपत्ति के समय तो लोग विपत्ति से घबराकर अन्यथा व्यवहार करने लगते हैं । ईश्वर की सहायता ऐसे धीर पुरुषों को ही तो मिलती है ।

माता कुन्ती ने सान्त्वना देकर सबका दु:ख बाँट लिया और विलाप का कारण पूछा— ब्राह्मण ने अपनी दु:ख कथा इस प्रकार सुनाई—

''माता ! इस क्षेत्र में एक बड़े ही दुरन्त दैत्य का आतंक छाया हुआ है । वह पहले प्रतिदिन जहाँ से जिसको चाहता था खाने के लिये पकड़ ले जाता था । जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र में घर-घर भय छाया रहता था । कोई भी अपने को किसी समय भी सुरक्षित नहीं समझता था । सामान्य जीवनक्रम के साथ सारी नित्य-क्रियायें स्थगित हो गई थीं । धर्म-कर्म रुक जाने से दैत्य की असुरता और भी प्रबल होती जाती थी । निदान क्षेत्र की जनता ने एक पंचायत करके दैत्य से यह समझौता कर लिया कि वह बस्ती में न आया करे, प्रतिदिन क्रम से एक घर से एक आदमी और भोजन का समान उसके पास स्वयं ही पहुँच जाया करेगा । तब से यही क्रम चला आ रहा है और आज हमारे घर की बारी है । हममें से किसी एक के मृत्यु मुख में जाने से दूसरे उसके वियोग में मर जायेंगे । इसलिये हम सबने एक साथ ही दैत्य के पास जाकर मरने का निश्चय कर लिया है ।''

माता कुन्ती ब्राह्मण का दु:ख सुनकर गम्भीर ही नहीं उदास भी हो गई । उन्होंने दो क्षण विचार किया और बोलीं— ''आप लोग अब अधिक चिन्ता न करें । हम सब भी आप लोगों के दु:ख में भागीदार होंगे । ईश्वर हमारी सहायता करेगा ।'' सान्त्वना देकर कुन्ती वापस आ गईं ।

कुन्ती ने सारी बात भीम को बतलाई और इच्छा व्यक्त की कि इस दु:ख में ब्राह्मण की सहायता की जाय । भीम बोले— ''इसमें भी क्या कठिनाई है ? भोजन लेकर आज दैत्य के पास मैं स्वयं चला जाऊँगा और उसका काम तमाम करके चला आऊँगा । बस सारा झंझट ही समाप्त हो जायेगा ।''

कुन्ती ने कहा— ''दैत्य बड़ा प्रबल है । मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूँगी ।'' भीम हँसे और बोले— ''पापी और प्रबल । माँ, आपकी यह शंका मेरे प्रति आपके मोह की ही अभिव्यक्ति है । पुण्य परमार्थ में पाप की अपेक्षा हजारों गुनी शक्ति होती है ।'' भीम भोजन सामग्री लेकर गये और शीघ्र ही उस नर-भक्षी को मार कर वापस आ गये । नि:सन्देह अन्याय के विरुद्ध प्राणों की बाजी लगा देने वालों को परमात्मा अपनी शक्ति दे देता है ।

स्वामी भवानी दयाल—साधुता जिन्हें पा कर धन्य हो गयी

पराधीनता काल में अँग्रेजों ने हजारों भारतीय नागरिकों को कुली बनाकर उन्हें और भी घृणित तथा निम्न स्तर का जीवन जीने के लिए दक्षिण अफ्रीका भेज दिया । वहाँ ब्रिटिश जहाजों पर से माल चढ़ाने और उतारने में काफी कुली मजदूरों की आवश्यकता थी । ऐसे कुली जो मजदूरी भी सस्ती लेते हों और काम भी मेहनत से करें । अपनी मर्जी से तो कौन इसे स्वीकार करता इसलिए अँग्रेजों की दृष्टि अपने सभी उपनिवेशों में घूम-फिर कर, देख-टटोल कर भारतीयों पर आ टिकी । जो अपेक्षाकृत सीधे, सरल और जरूरत से ज्यादा भोले होते थे । जरूरत से ज्यादा भोले और सीधे-सादे लोगों को दण्ड और दबाव द्वारा आसानी से तोड़ा जा सकता है । फिर भारतीय मेहनती भी कम नहीं रहे हैं ।

इसलिए ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने भारतीय नागरिकों पर ही अपना पंजा चलाया और उन्हें जोर-जबर्दस्ती से विवश कर दक्षिण अफ्रीका में नारकीय जीवन जीने के लिए लेजा पटका । ऐसे कुलियों में कुछेक भारतीय समझदार और होशियार भी थे । ऐसे ही समझदार और होशियार मजदूरों में से एक कुली बाबू जयराम सिंह ने वहाँ दुकानदारी भी की । सूझ-बूझ तथा चतुराई से उक्त व्यक्ति ने व्यापार के क्षेत्र में भी प्रवेश किया और अपनी साख बना ली । भारत में मजदूरी करने वाला, चन्द पैसों के लिए धनी और मध्यम वर्ग के आगे-पीछे एड़ियाँ रगड़ने वाला यह परिवार चन्द दिनों में ही सम्पन्न और समृद्ध हो गया। वहाँ उन्होंने अच्छी-खासी जायदाद बना ली और स्थायी रूप से वहीं बस गये । सम्पन्नता और वैभव ने उनकी सारी व्यथा वेदना हर ली थी ।

उसी परिवार में १० सितम्बर, १८९२ ई. को जोहन्सबर्ग के एक भवननुमा मकान में एक ऐसे बालक ने जन्म लिया जिसने आगे चलकर उस समस्त सम्पत्ति और जायदाद को तृणवत ठुकरा दिया । वह जातक आगे चलकर स्वामी भवानी दयाल के नाम से विख्यात हुआ । जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रह रहे प्रवासी भारतीयों को एक सूत्र में आबद्ध किया तथा अनाचार और अत्याचार के विरुद्ध समर्थ प्रतिरोधक मोर्चा खड़ा करने के लिए उन्हें संगठित किया । स्वामी भवानी दयाल संन्यासी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को पहली बार जागरण का शंख फूँखा ।

भवानी दयाल की शिक्षा-दीक्षा में परिवार वालों ने कोई खास रुचि नहीं ली । बाबू जयराम जी की दृष्टि में शिक्षा का मूल्य और महत्त्व व्यापार से रत्ती भर भी अधिक नहीं था । वे स्वयं भी शिक्षितों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते थे । व्यापार में मिली सफलता ने उनकी दृष्टि में धन ही सब कुछ बना दिया था । परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पुत्र को भी कामचलाऊ अँग्रेजी पढ़ाकर कारोबार में लगाना चाहा ।

एक बार की बात है भवानी दयाल स्कूल जा रहे थे । रास्ते में उन्होंने एक बड़ा करुण दृश्य देखा । एक भारतीय कुली— वृद्धावस्था के कारण जिसकी कमर झुकी हुई थी । सिर पर भारी बोझ उठवाये— पीछे-पीछे बेंत हाथ में लिए गोरा अधिकारी चला जा रहा था । वृद्ध की गर्दन टेढ़ी हुई जा रही थी- -सिर पर रखे भार से और उसका हर कदम डगमगाता हुआ उठ रहा था । कहना मुश्किल लगता था कि कुली का अगला कदम भी सधा हुआ ही पड़ेगा और पीछे से आ रहे मालिक ने कहा— 'जरा तेज कदम उठाओ । गाड़ी निकल गयी तो चमड़ी उधेड़कर रख दूँगा ।'

'आदमी है या शैतान'— सुनकर भवानी दयाल बुदबुदाये । तभी उन्होंने देखा कि वृद्ध कुली जल्दी चलने के प्रयास में ठोकर खाकर गिर पड़ा है और उसके सिर पर रखा हुआ सामान भी सड़क पर बिखर गया है । आस-पास से कोई भी वृद्ध कुली को सहारा देने के लिए आगे नहीं बढ़ा । यहाँ तक कि पीछे आते हुए गोरे प्रभु ने भी उसे सहानुभूति के दो शब्द नहीं कहे । कहता भी क्या ? उसे तो अपनी प्रभुता का मद चढ़ा हुआ था और उसी मद में उसने अपनी बेंत उठा ली तथा लगा तड़ा-तड़ उस पर बरसाने ।

वृद्ध बेचारा तिलमिलाता रहा था लेकिन अँग्रेज पर तो हैवानियत सवार थी । वह बिना चिंता किये सिर पर इसी प्रकार तड़ातड़ बेतें लगाता रहा । लेकिन आसपास चलते लोगों पर इस घटना का कोई असर नहीं हुआ सब देखा-अनदेखा करते हुए वहाँ से गुजर गये । बालक भवानी दयाल को बड़ा आश्चर्य हुआ अंग्रेज के व्यवहार पर और उससे अधिक लोगों पर जो ऐसे चले जा रहे थे जैसे यह रोजमर्रा की बात हो और क्षोभ भी कम नहीं हुआ ।

अँग्रेज ने अनुभव किया कि कोई नन्हे हाथ उसके हाथों को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे है । देखा तो एक भारतीय-सा लगने वाला बालक अँग्रेजी वेषभूषा में अँग्रेजी भाषा में कह रहा था— ''यह बेकसूर है इसे छोड़ दीजिए । इसने कोई अपराध नहीं किया है ।''

गोरे व्यक्ति ने समझा यह किसी अंग्रेज की भारतीय पत्नी का ही पुत्र है अन्यथा किस भारतीय में इतनी सभ्यता है जो अपने बेटे को इस तरह सभ्य और मनुष्य बनाकर रखे । उसने वृद्ध कुली को पीटना छोड़ कर उसने कहा— 'इस जानवर ने मेरा सब सामान खराब कर दिया है, बेटे ! मैं तुम्हारे कहने से छोड़ देता हूँ ।'

'नहीं सर ! सामान खराब करने में इसका दोष नहीं है । दोष तो आपका है जो आपने यह जानते हुए भी की यह बूढ़ा व्यक्ति इतना सामान नहीं उठा सकेगा इसके सिर पर इतना सामान रखा, कह अपना काम खत्म हुआ जानकर भवानी दयाल वहाँ से चल दिये । उस दिन पूरे समय उनका मन स्कूल में नहीं लगा ।'

घर लौटे तो अपने पिता से आज की घटना पर चर्चा की और कारण जानना चाहा कि भारतीय इस दशा में क्यों है ? पिता ने टालने की दृष्टि से एक सच्ची किन्तु साधारण-सी बात कह दी— ''इसलिए कि वे लोग अनपढ़ हैं, बेवकूफ है और ढंग से रहना नहीं जानते ।''

यह वाक्य उनका पथ-प्रदर्शक बन गया और उन्होंने तत्क्षण ही फैसला कर लिया कि वे भारतीयों में से इन कमियों को दूर करके रहेंगे ताकि वे लोग मानवीय गौरव-गरिमा के अनुरूप जी सकें, बन सकें, रह सकें । सर्वप्रथम इसके लिए यह आवश्यक लगा कि इस दृष्टि से वे स्वयं योग्य और सक्षम समर्थ बनें । प्रवासी भारतीयों में शिक्षा का प्रकाश किस तरह फैलाया जाय ? तथा वे कैसे इन अत्याचारों का सामना करने के लिए उठ खड़े हों उनकी चेतना इसी दिशा में बहने लगी ।

ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा तथा उनकी बुद्धि परिपक्व होने लगी । समस्या के कारणों का एक-एक पक्ष उनके सामने उद्घाटित होता गया। सबसे पहली बात उन्होंने यह देखी कि दक्षिण अफ्रीका में रह रहे सभी भारतीय एक दूसरे से कटे और अलग-अलग है । इसका कारण यह था कि अफ्रीका में जितने भी कुली थे वे सब भारत के अलग-अलग भागों से लाये गये थे । कोई उत्तर प्रदेश से तो कोई मद्रास से तो कोई बिहार से और कोई बंगाल से । भारत तो वैसे ही विभिन्न भाषाओं और रहन-सहन की सभ्यताओं का देश है । एक-दूसरे के सम्पर्क माध्यम ही एक-दूसरे के दुःख-दर्द जानने में असमर्थ हों तो बिखराव होना ही था ।

इस समस्या का निदान उन्होंने खोजा भी और पाया भी । गहन चिन्तन-मनन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी भारतीयों को एक भाषा का ज्ञान कराया जा सके और उनमें आत्म-सम्मान, अनीति के प्रतिरोध की भावना और शक्ति जगायी जा सके तो कोई सम्भावना नहीं है कि अँग्रेजों का यह उत्पीड़न चलता ही चला जाय । भाषायी एकता उनमें सामूहिक सुरक्षा का भाव लाने की पहली कड़ी बन सकती है और उन्होंने इस एक सूत्र में आबद्ध करने की सीढ़ियों पर कदम बढ़ाया हिन्दी के प्रचार द्वारा । हिन्दी पढ़ने के लिए वे अफ्रीका छोड़कर भारत चले आये । उस समय वहाँ हिन्दी पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं थी । हिन्दी भाषी परिवारों में परिवार के सम्पर्क से ही हिन्दी का जो ज्ञान हो जाता सो हो जाता । वह ज्ञान उसी सीमा तक रहता ।

भारत में— हिन्दी विषय में अच्छी योग्यता प्राप्त करने के बाद जब वे अफ्रीका लौटने लगे तो कुछ अँग्रेज अधिकारियों को उनके भावी कार्यक्रम का पता चल गया । डरबन पहुँचने से पहले ही उन्हें शासकीय आदेश हुआ कि वे भारत लौट जायें । अफ्रीका की भूमि पर चरण भी न रखें, अन्यथा उन्हें भयानक दण्ड दिया जायेगा । भवानी दयाल जी ने प्रयत्न किये कि सरकार इन आदेशों को वापस ले ले परन्तु कोई सफलता नहीं मिली । उन्हें डरबन बंदरगाह पर उतरने नहीं दिया गया । किसी प्रकार तो अफ्रीका में घुसना ही है यह सोचकर

वे ट्रांसवाल में उतरे किन्तु वहाँ पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मुकद्दमा चला।

सौभाग्य से फैसला देने वाले न्यायाधीश को उनसे कोई खतरा नहीं लगा और उन्हें निर्दोष ससम्मान बरी कर दिया गया। इन झन्झावातों से गुजर कर वे अपने पिता के पास जोहन्सबर्ग पहुँचे और वहाँ अपने निर्धारित योजना के अनुसार काम करने लगे।

जगह-जगह पर उन्होंने बच्चों को हिन्दी शिक्षा देने के लिए पाठशालायें खुलवाईं। प्रौढ़ों को हिन्दी शिक्षा देने के लिए पाठ्यक्रम चलाया और रात्रि-शालायें खोलीं। बड़ों और बच्चों दोनों के पढ़ने के लिए उन्होंने बड़ी ही रोचक, शिक्षाप्रद एवं राष्ट्रीय भावों से ओत प्रोत छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं। यह पुस्तकें बच्चों को निःशुल्क ही वितरित की जातीं। पाठशालायें भी निःशुल्क थीं और उनकी प्रेरणा से जो शिक्षक शालाओं में पढ़ाते थे वे भी किसी प्रकार का पारिश्रमिक नहीं लेते। इस प्रकार विशुद्ध सेवा भावना से यह विशाल जन-जागरण का अभियान खड़ा और चालू किया गया।

हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने एक बड़ा प्रभावशाली कार्यक्रम चलाया। वे भारतीय बस्तियों में अलग-अलग स्थानों पर मिलन गोष्ठियाँ आयोजित करते और उन गोष्ठियों से प्रवासी भारतीयों को देशभक्ति, राष्ट्र प्रेम, स्वाभिमान की भावनायें भरते। विभिन्न प्रवासी इन विषयों पर हिन्दी में ही भाषण देते। इस कार्यक्रम से एक साथ तीन प्रयोजन पूरे होते थे— पहला हिन्दी का प्रचार, दूसरा राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण और तीसरा संघ शक्ति का गठन। धीरे-धीरे जब प्रवासी भारतीयों में हिन्दी का प्रचार हो गया तो भवानी दयाल जी ने कई हिन्दी संस्थाओं की स्थापना की।

तभी उनके पिता का देहावसान हो गया। माँ तो पहले ही मर चुकी थीं। एक विमाता थी जिससे उनकी कोई खास पटती नहीं थी। इसी विमाता ने पिता द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति के लिए गृह कलह किया। पिता ने भवानी दयाल को सम्पत्ति का आधा भाग विमाता को देने के लिये कहा था। उन्होंने पिता जी के आदेशानुसार विमाता को उचित भाग दे दिया। परन्तु उसकी आकांक्षा थी कि सारी सम्पत्ति ही उसे मिल जाये। भवानी दयाल जी ने विमाता की इस लालसा का पता चलते ही शेष सब कुछ उसे दे दिया और सम्पत्ति के मोह से ही छुटकारा पा लिया।

अब उनके पास पर्याप्त समय खाली था। वे अपना सारा समय इसी काम में लगाने लगे। कालान्तर में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और तप, त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। इस जीवन में प्रवेश करने के बाद अपना सारा समय ही लोकसेवा के कार्य में लगाया। बाद में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों में जो अदम्य साहस और जागरूक चेतना आयी— वह स्वामी भवानी दयाल जी के प्रयासों का ही परिणाम थी।

दक्षिण अफ्रीका में जन-जागरण के अतिरिक्त स्वामी जी ने भारतीय समाज की जो अविस्मरणीय सेवायें कीं उनका भी बड़ा मूल्य है। उन्होंने भारतवास के समय बंग-भंग आन्दोलन की सफलता के लिए गाँव-गाँव में घूम-घूम कर जन-जागरण का कार्य किया। असहयोग आन्दोलन तथा स्वदेशी प्रचार के लिए भी उन्होंने अथक प्रयास किये और महीनों तक कारावास की सजा काटी। सन् १९५१ में ५९ वर्ष की आयु में यह महानतम विभूति इस लोक से विदा हो गयी। देहांत का समाचार मिलते ही भारत भर और दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों ने शोक मनाया। भारत, भारतीय और भारतीय भाषा की सेवा में उस आहुत व्यक्तित्व को पाकर साधु वेष सार्थक हुआ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

संस्कृति को नव-जीवन देने वाले— पं. भगवद् दत्त

निकट के सम्बन्ध की एक महिला मेहमान घर आई है। रात वे घर की बड़ी बहू के पास विश्राम करने लेटीं। कामकाजी स्त्रियाँ को दिन भर तो अवकाश मिलता नहीं इसी समय थोड़ी-बहुत चर्चा करके सो जाती हैं। उनकी बातचीत का साधारण प्रसंग कुछ देर चला, मेहमान महिला ने बगल के कमरे से आ रहे प्रकाश की ओर झाँककर पूछा— "बहिन भगवद् दत्त अभी तक नहीं सोया ?" माँ कहती है "हाँ बहन यह अभी घण्टों नहीं सोयेगा ?"

बातचीत का क्रम फिर चल पड़ा रात के ११ बज गये बत्ती फिर भी नहीं बुझी। इस पर अतिथि ने फिर पूछा "बहिन बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ेगा। इतनी रात बीत गई पढ़ाई बन्द करने को क्यों नहीं कहती ?"

एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये माँ ने कहा— "बहिन ! यह कोई कोर्स की ही पुस्तकें तैयार नहीं करता। कहता है— पाश्चात्य पंडितों और इतिहासकारों ने हमारी धर्म संस्कृति को, हमारे इतिहास को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। अपने धर्म-ग्रन्थों का मैं विस्तृत अध्ययन कर पाश्चात्य पंडितों की धारणा का खण्डन करूँगा और एक नया इतिहास लिखूँगा ? अपनी इसी धुन में लगा रहता है वह न जाने कहाँ-कहाँ से पुस्तकें ला-लाकर पढ़ता रहता है, जेब खर्च के लिये जो कुछ मिलता है देखती हूँ वह सब पुस्तकें खरीदने में ही खर्च करता है।"

"पढ़ना तो बहुत अच्छी बात है।" अतिथि-बहिन ने गम्भीर मुद्रा और दार्शनिक भाव से कहा— "किन्तु उसके स्वास्थ्य का भी तो ध्यान रखना चाहिये ?"

माँ हँसकर बोलीं— बहिन ! अपने बेटे के लिये पौष्टिक आहार और नियमित जीवन का सारा प्रबन्ध मैं स्वयं सम्भालती हूँ उसमें कोई त्रुटि नहीं आने देती पर मैं भी यह अनुभव करती हूँ कि आज देश की सर्वोपरि आवश्यकता अपने धर्म, समाज और सांस्कृतिक परम्पराओं को पुनर्जीवित करने की है। यदि वह न हुआ तो हम राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन भले ही हो जायें बौद्धिक दृष्टि से हम अपंग ही बने रहेंगे। मेरा बेटा जो कर रहा है मैं उससे प्रसन्न हूँ। इसलिये बीच में व्यवधान उत्पन्न करने का मेरा भी जी नहीं होता।"

मेहमान अत्यधिक प्रभावित हुईं। उन्होंने कहा— "तुम सचमुच धन्य हो दूसरी मातायें अपने बच्चों से भौतिक सुख-साधनों की अपेक्षा

करती हैं तब तुमने अपने व्यवहार से यह दिखा दिया, कि भारतीय नारियाँ देश और धर्म के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने से भी पीछे नहीं रहतीं।''

जिस बालक के सम्बन्ध में यह वार्ता चली वह पं० भगवद् दत्त हैं जिनकी कृतियों ने जहाँ इस देश की पश्चिमाभिमुख बुद्धि को झकझोर कर जगाया और उसे यह सोचने को विवश किया कि सच्चे ज्ञान और यथार्थ दर्शन का सूर्य पूर्व से भारतवर्ष से निकलता है, पश्चिम तो उसको साँझ है, वहाँ उन्होंने पश्चिम के विद्वानों को भी यह मानने को विवश कर दिया कि वेद गड़रियों के गीत नहीं ज्ञान विज्ञान के अछूत भण्डागार हैं। भारतीय दर्शन काल्पनिक उड़ानें नहीं चिन्तन का यथार्थ धरातल है, उपनिषद मात्र साहित्यिक कृतियाँ नहीं वरन् जीवन विज्ञान के अमूल्य ग्रन्थ रत्न हैं। यह पं. भगवद् दत्त ही हैं जिन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लुईं रिनें तक को जो कभी भारतीय धर्म और समाज व्यवस्था के प्रबल आलोचक थे, के मुँह से निकलवाया— ''वेद के मन्त्रों में अभूतपूर्व विज्ञान भरा पड़ा है भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति हो सकती है।''

जिसने पश्चिम के विद्वानों की भ्रान्त धारणाओं को श्रद्धा और विश्वास में बदल दिया— जिनका सारा जीवन एक सच्ची उपासना है उन्हें भारत के कितने लोग जानते हैं इससे क्या उनकी आत्मा को दुःख हुआ ? नहीं नहीं मृत्यु के समय उनसे एक मित्र ने कहा— ''बड़ा दुःख है कि आप जैसे सच्चे देशभक्त और विद्वान् का देश ने यथा सम्मान नहीं किया।'' इस पर उनकी आँखें चमक उठीं चेहरे पर गौरवपूर्ण प्रकाश छा गया, करवट बदलते हुये उन्होंने कहा— ''यह अच्छा ही हुआ सम्मान के चक्कर में पड़ गया होता तो थोड़ा बहुत काम किया वह भी न कर पाया होता, मेरा शरीर जा रहा है पर मैं अपनी आत्मा अपनी पुस्तकों में छोड़े जा रहा हूँ।''

और सचमुच आज उस कर्मयोगी की ज्ञान-गीता के प्रकाश में भारतीय समाज और संस्कृति के पुनरुद्धार का कार्य शुरू हो गया है 'वैदिक इतिहास का वाङमय', 'वेद विद्या निदर्शन' तथा 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' जैसी उनकी अमूल्य कृतियाँ जो एक बार पढ़ लेता है पाश्चात्य विचारों ने उसके मन मस्तिष्क पर कितनी ही गहरी जड़ें क्यों न जमा रखी हों, दिमाग को झकझोर कर रख देती हैं

पं० भगवद् दत्त देश के विभाजन से पूर्व तक लाहौर के निवासी थे। बाल्यावस्था लाहौर में ही बीती, वहीं पढ़े और वहीं दयानन्द कॉलेज में १५ वर्ष तक प्रोफेसर रहे। विभाजन के बाद वे भारत आ गये और जब अधिकांश शरणार्थी यहाँ आकर अपनी आर्थिक और पारिवारिक व्यवस्थाओं में जुटे थे। पण्डित जी ने यहाँ आते ही और दिल्ली में मात्र निवास की व्यवस्था होते ही अपनी संस्कृति उपासना प्रारम्भ कर दी।

कुछ दिन में वे पंजाब विश्वविद्यालय के कैम्प कॉलेज के प्राध्यापक नियुक्त हो गये। यहाँ भी अध्यापक के बाद का उनका सारा समय इतिहास की गवेषणा और सांस्कृतिक उपादानों की शोध में ही बीता। मनुष्य का मन यदि एक काम में पूरी तन्मयता से जुट जाता है तो सचमुच चमत्कार हो जाता है। पंडित जी की यह सेवायें मन की एकाग्रता के ही चमत्कार हैं। जिस पर उन्हें नरेन्द्र देव पुरस्कार जैसा विशिष्ट सम्मान भी प्राप्त हुआ।

उनकी उपलब्धियों का एक उदाहरण यह भी है कि आई. ए. एस. के प्रशिक्षणार्थियों का जो आगे चलकर प्रशासनिक सेवाओं में उच्च पदाधिकारी नियुक्त होते हैं को भारतीय संस्कृति का ज्ञान कराने के लिये पंडित भगवद् दत्त को ही चुना गया था। आई. ए. एस. के प्रशिक्षार्थी मानते थे कि पंडित जी जैसी अध्ययनशीलता, लगन और सेवा साधना का भाव यदि भारतीयों में आ जाता तो सारा विश्व भारतीय धर्म एवं संस्कृति के पीछे-पीछे चलने लगता।

पंडित जी कहा करते थे— इतिहास-शुद्धि आज देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इतिहास से ही नई पीढ़ी जातीय स्वाभिमान और उन्नति की प्रेरणायें प्राप्त करती है अतएव उसका स्वरूप अपनी गरिमा के अनुरूप ही रहना चाहिये। पिछले दिनों मुसलामन और अंग्रेज इस देश के शासक रहे। उन्होंने इस देश का आर्थिक शोषण ही नहीं किया। सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रहार किये और मनमाने ढंग से इतिहास लिखकर हमारे जातीय स्वाभिमान को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जब तक हमारे बच्चों को यह इतिहास पढ़ाया जाता रहेगा, उनकी मनोवृत्ति पश्चिम को ही सब कुछ मानने और स्वयं आत्महीनता की स्थिति में पड़े रहने जैसी बनी रहेगी। इसलिये उन्होंने भारतीय इतिहास की शोध नई ढंग से करने और भारतवर्ष का नया इतिहास न केवल लिखने की प्रेरणा दी अपितु लिखा और प्रसारित भी किया। जिन बातों को हम भारतीय ही भूल गये थे उन्हें फिर से प्रकाश में लाकर उन्होंने एक गौरवपूर्ण अध्याय का श्री गणेश किया।

पंडित जी सांस्कृतिक स्वाभिमान के मूर्तिमान प्रतीक थे। आहार-व्यवहार, वेष भूषा, रहन-सहन और चिन्तन सभी कुछ भारतीय। उनका चिन्तन यह कृतृत्व भारतीय समाज के सेवा साधकों में सदा प्रातःस्मरणीय बना रहेगा।

सेवाभावी—भोले बाबाजी

वह छोटा-सा गाँव जब चहुर्मुखी प्रगति की दौड़ में अपने आसपास के सभी गाँवों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया, तब सभी देखते रह गये। कल तक जो गाँव राज्य का सबसे पिछड़ा गाँव था, वही देखते-देखते तीन चार-साल के थोड़े अरसे में ही आदर्श गाँव की पंक्ति में आ बैठेगा। इसकी कल्पना किसी को नहीं थी, गाँव वालों को भी नहीं। इसीलिए दूर-दूर से लोग उस गाँव को देखने के लिए आते और उसकी सफलता का रहस्य जानने की कोशिश करते। जब उन्हें यह मालूम होता कि इस छोटे-से गाँव का कायाकल्प कराने में भोले बाबा जी का प्रमुख हाथ रहा है, तो वे दाँतों तले अंगुली दबा लेते। उन्होंने अब तक ऐसे साधु-महात्माओं के बारे में ही अधिक सुन रखा था, जो लोगों को लूट-खसोटकर चलते बनते हैं। पिछले

साल की बात है । पास के एक गाँव में एक बाबा मन्दिर बनवाने के नाम पर लोगों का हजारों रुपया डकार कर चम्पत हो गया था और उस गाँव की बताशी बुआ तो आज भी उस साधु के नाम को रोती रहती है । उस बेचारी का तो सारा गहना ही दुगुना करने के बहाने उसने ऐंठ लिया था ।

भोले बाबाजी ऐसे साधुओं की बिरादरी में नहीं आते थे । सुबह-शाम मंदिर में घन्टे-घड़ियाल बजाकर स्वाँग भरते शायद ही कभी किसी ने उन्हें देखा हो । दीन-दुःखियों और पीड़ित समाज की सेवा को ही वे ईश्वर की सच्ची आराधना समझते और कर्मठता को अपने जीवन का मूलमन्त्र मानते । रोजाना भोर होने से पहले ही वे उठ जाते और नित्य के कामों से निबटकर घन्टा-डेढ़ घन्टा भगवद् चिन्तन और अध्ययन-मनन में लगाते । इसके बाद अपनी बगीची में पेड़-पौधों की निराई-गुड़ाई और सिंचाई करके अपनी झोली कन्धे पर डालकर गाँव में निकल जाते । अपना अधिकांश समय लोगों को विकास कार्यों की ओर उन्मुख करने में लगाते । रोजाना बिना नागा उनकी कुटिया पर लोगों की बैठक होती और उसमें घन्टों विभिन्न विषयों पर चर्चा चलती । बस यही बाबाजी की रोजाना की दिनचर्या थी ।

लगभग चार साल हुए जब भोले बाबा इस गाँव में आये थे । उस समय गाँव की हालत बहुत खराब थी । वह अपने आसपास के गाँवों में सबसे पिछड़ा गाँव था और लोग अच्छी तरह उस गाँव का नाम तक नहीं जानते थे । गाँव के लोग बुरी तरह रूढ़ियों और कुसंस्कारों से जकड़े थे । जन्म और मरण-भोज पर सैकड़ों रुपया पानी की तरह बहा देना उनके लिए मामूली-सी बात थी । कोई जलकर, पानी में डूबकर या अचानक मर जाता तो लोग उसे प्रेत-आत्मा की माया के अलावा और कुछ भी नहीं समझते । पानी न बरसने, बाढ़ आने या महामारी फैलने पर उसे भगवान् का कोप समझकर चुप रह जाते । किसी के बीमार पड़ने पर डॉक्टर या वैद्य को न बुलाकर झाड़-फूंक करने वालों के चक्कर में पड़कर अपना धन लुटाते । गाँव के लोगों में आपस में भी भारी मनमुटाव और मुकद्दमेबाजी का बोलबाला था । जरा-सी बात के लिए हजारों रुपया मुकदमों पर फूंक देना वे अपने लिए गौरव की और प्रतिष्ठा की बात समझते थे । उनकी इस फूट का गाँव के सरपंच और पटवारी लोग भरपूर फायदा उठाते थे । वे एक-दूसरे को आपस में लड़ाकर मुकद्दमेबाजी कराते और फिर दोनों पक्षों से मनमाना पैसा ऐंठकर अपनी चाँदी बनाते । खाली समय में लोगों को चौपाल पर बैठकर गप्पें लड़ाने, एक-दूसरे की निंदा करने और हुक्का गुड़गुड़ाने के अलावा कोई काम नहीं था । भोले बाबा जी उस गाँव में रहने के विचार से नहीं आये थे । वे तो शिवालिक की घाटियों में तपस्या करने के लिए जाते समय उस गाँव में दो दिन के लिए ठहर गए थे । इन दो दिनों में उन्होंने जो जो दृश्य गाँव में देखे, उनसे उनकी आत्मा सिहर उठी और उन्होंने वहीं रहकर समाज-सेवा करने का संकल्प कर डाला ।

बात यों हुई । उस दिन शाम को गनपत की पत्नी, मैना अपनी भैंस को बाहर नीम के पेड़ से खोलकर उसे उसारे में बाँधने गई थी । अचानक वह किसी चीज से ठोकर खाकर नीचे गिर पड़ी और चीखकर बेहोश हो गई । उसकी चीख-पुकार सुनकर गनपत और उसके पड़ोसी दौड़ पड़े । वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि मैना अचेत पड़ी है । उसकी साँसें ठीक से नहीं चल रही थीं और उसके जबड़े भी आपस में भिच गये थे । यह देखकर गनपत बुरी तरह से घबरा गया । उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे ? इतने में कुछ लोग बोले कि इसे कोई प्रेत-आत्मा लग गई है । जल्दी से फुलवा सयाने को बुलाओ । बात की बात में कोई फुलवा सयाने को बुला लाया । उसने मैना को देखते ही कहा— "अरे, पीछे हटो । इसे तो पीरवाले बाबाजी लग गए हैं । जल्दी से आग जलाओ । मैं अभी इसका भूत उतारने के लिए मन्तर फूंकता हूँ ।"

लोगों ने तुरन्त आग जला दी । रामलाल ग्राम सेवक ने उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहा और कहा— 'अरे भाई, क्यों इस बेचारी की जान लेने पर तुले हुए हो । इसे भूत-चुड़ैल कुछ भी नहीं, बल्कि हिस्टीरिया (उन्मादवायु) का दौरा पड़ा है । यह सब कमजोरी और थकावट से होता है । इसका इलाज जंतर-मंतर से नहीं ।' लेकिन रामलाल की बात नक्कार खाने में तूती की आवाज बनकर रह गई । फुलवा ने अपना खेल शुरू कर दिया । उसने आग में धूनी डाली और 'खप्पर मैया की जय' कह कर मन्तर फूंकना शुरू कर दिया । फिर उसने चिमटे से मैना की पिटाई करते हुए पूछा— "बोल, तुझे पीरवाले बाबाजी लगे हैं न ?" उसे कोई उत्तर न देते देख फुलवा ने उसकी चिमटे से इतनी पिटाई की कि वह बेचारी दो महीने तक खाट से नीचे पैर न उतार सकी ।

इस घटना से अगले ही दिन एक बात और हो गई थी । शंकर ने चेतराम के खलिहान में इसलिए आग लगा दी कि उस साल उसके खेत में सबसे अधिक पैदावार हुई थी और उसे सरकार की ओर से पुरस्कार मिलने की भी पूरी आशा थी । इससे चेतराम के लड़के गोपाल के मन में ईर्ष्या पैदा हुई, उसने अगले दिन शंकर के दोनों बैल ही गायब करा दिये । इससे दोनों परिवारों के बीच शत्रुता बढ़ गई और इसने फौजदारी के बीज बो दिये ।

इन घटनाओं से भोले बाबाजी के दिल पर बहुत असर हुआ । दो दिन बाद जब वे उस गाँव को छोड़कर चलने को तत्पर हुए तो उनकी अन्तरात्मा ने उनके पाँव जकड़ लिये । उन्हें लगा कि जैसे कोई रोकते हुए उनसे कह रहा हो— "बाबा, शिवालय की घाटियों में तपस्या करके क्या लोगे ? ईश्वर की सच्ची आराधना तो समाज में रहकर उसका सुधार और कल्याण करने में ही है ।"

भोले बाबाजी के हृदय में समाज सेवा की लौ बचपन से ही प्रज्ज्वलित थी । बस, फिर क्या था । उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज को भगवान् की वाणी समझकर उस पर चलने का दृढ़ निश्चय कर डाला ।

गाँव के छोर पर एक बगीची थी । काफी दिनों से किसी ने भी उसकी सुध नहीं ली थी । कुआँ, मन्दिर और कुटिया सभी कुछ होते हुए भी वह बगीची बिल्कुल उजाड़ पड़ी थी । भोले बाबाजी ने उसी बगीची में अपना डेरा जमा लिया। कुछ ही दिनों में बाबाजी के हाथों का प्यार-दुलार पाकर उस बगीची में फिर से बहार आने लगी और साथ-साथ गाँव के दिन भी फिरने लगे ।

बाबाजी ने शुरू में गाँव के लोगों से अपना मेलजोल बढ़ाना शुरू कर दिया। वे सुबह ही अपनी झोली कन्धे पर डालकर गाँव में निकल जाते और हर काम में लोगों का साथ देते। वे दु:ख-दर्द में उनका हाथ बँटाते और समस्याओं को सुलझाने में उनकी पूरी मदद करते। बाबाजी की नेक सलाह से सबका काम बन जाता था। इसलिए वे जल्द ही गाँव वालों के बीच लोकप्रिय हो गये। एक दिन उपयुक्त अवसर पाकर उन्होंने गाँव वालों को विकास और सही रास्ते पर चलाने का काम प्रारम्भ कर दिया।

शुरू-शुरू में ग्राम-पंचायत के प्रधान, पंच और पटवारी आदि ने उनके कामों में रोड़े अटकाने चाहे,लेकिन बाबा जी के सरल-सीधे और निष्टकपट व्यवहार से गाँव वाले इतने प्रभावित हो चुके थे कि उनके सामने इन समाज-विरोधी लोगों की एक न चली। गाँव के लोग उनकी करतूतों से पूरी तरह परिचित हो चुके थे। वे जान गये थे ये लोग उन्हें गुमराह करके अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। बाबा जी के बताये सही रास्ते पर चलने में ही उनकी भलाई और कल्याण है, यह सब लोग अच्छी तरह समझ चुके थे।

इसलिए अन्त में हवा के रुख को अपने विपरीत बहते देख कर उन्होंने भी सबके साथ चलने में ही अपनी खैर समझी। बाबा जी स्वभाव के जितने मृदुल थे, कर्त्तव्य के प्रति उतने ही कठोर और सजग भी थे। एक बार जो भी व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क में आ जाता, वही उनका कर्त्तव्यनिष्ठ साथी बन जाता। इस तरह बराबर उनके निकट सम्पर्क में रहने के कारण लोगों के आचार-विचारों में एक बारगी परिवर्तन आ गया। उनका व्यवहार, चाल-चलन ठीक और स्वभाव शुद्ध हो गया। लोगों के हृदय में डाह, जलन, छल-कपट, घृणा और ईर्ष्या के भाव लेशमात्र भी न रहे। उनमें आपस में कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करने की प्रेरणा जाग उठी। युवकों और स्त्रियों में भी ग्रामोत्थान की भावना घर कर गई। इस तरह उनके आपसी सहयोग और सगठन के बल पर गाँव में सुख-समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो गया। फलस्वरूप तीन-चार साल के थोड़े समय में ही गाँव को उन्नति के शिखर पर पहुँचने में देर न लगी। वह गाँव पूरे प्रदेश में आदर्श गाँव के रूप में विख्यात हो गया।

गाँव में प्राइमरी स्कूल का पक्का भवन और पंचायत घर बन गया। धीरे-धीरे गाँव में रोशनी का प्रबन्ध हुआ और एक छोटा-सा डाकघर और सरकारी दुकान भी खुल गई। सबको प्रतिदिन चिट्ठियाँ और जरूरत की चीजें निश्चित दाम पर आसानी से मिलने लगीं। बेकार समय में लोग रस्सी, टोकरी और चटाई आदि बुनने का काम करने लगे। इससे उनके समय का सदुपयोग होने लगा और उन्हें उनके परिश्रम का उचित दाम भी मिलने लगा।

गाँव में युवक-दल, महिला-मंडल और किसान-संघ गठित हो गये। उन्होंने गाँव से प्रमुख मार्ग तक एक पक्की सड़क भी बना डाली। इस तरह जिस गाँव का नाम कल तक कोई नहीं जानता था, वही देखते-देखते बाबा जी के सद्प्रयत्नों और गाँव वालों की मेहनत, लगन और सहयोग के बल पर इतना ऊँचा उठ गया कि वह अपने जिले में ही नहीं पूरे राज्य के लिए भूषण बन गया। बाबाजी की सेवा की सच्ची लगन का ही यह चमत्कार था।

महर्षि दधीचि का त्याग

त्वेष्टा का पुत्र विश्वरूप देवताओं का पुरोहित और असुरों का भान्जा था। वह प्रत्यक्ष रूप से तो देवताओं को भाग (यज्ञ भाग) देता और असुरों को छिपे-छिपे देता था।

तब हिरणकशिपु को अगुआ बनाकर असुरों ने विश्वरूप की माता-अपनी बहन से कहा— बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र, त्वष्टासन विश्वरूप त्रिशिरा जो कि देवताओं का पुरोहित है, देवताओं को तो प्रत्यक्ष रूप से भाग देता है और हमें छिपा कर। इसलिये देवता बढ़ते और हम नष्ट (दुबले) होते जाते हैं। तुम इसे रोको, जिससे यह हमारा साथ देवे।

असुरों की इच्छानुसार विश्वरूप से माता ने कहा— "हे पुत्र ! तू शत्रु पक्ष को बढ़ाता हुआ मातुल पक्ष का नाश क्यों करता है ? तुझे यह करना उचित नहीं।" वह विश्वरूप 'माता का वचन उल्लंघन करने योग्य नहीं' यह समझकर और उसे आदरपूर्वक ग्रहण करके हिरणकशिपु के पास गया। इधर ब्रह्म पुत्र वशिष्ठ ने हिरणकशिपु को शाप दिया हुआ था कि चूँकि तूने दूसरे को होता बना लिया अतएव यज्ञ पूर्ण बिना हुए ही तू अपूर्व प्राणी से मारा जायेगा। उसके शाप देने से ही हिरणकशिपु वध को प्राप्त हुआ।

तब मातृ पक्ष को बढ़ाने वाला विश्वरूप घोर तप करने में लगा, उसका तप नष्ट करने के लिये इन्द्र ने बहुत-सी रूपवती अप्सरा भेजीं। उन्हें देख कर उसका मन चंचल हो गया। तुरन्त ही वह उन अप्सराओं में फँस गया। उसको फँसा हुआ जानकर अप्सराओं ने कहा कि हम अपने स्थान को जाती हैं।

त्वष्टा पुत्र विश्वरूप ने उनसे कहा— "कहाँ जाओगी ! यहाँ मेरे पास ही बैठो, तुम्हारा कल्याण होगा।" उन्होंने उससे कहा 'हम देवताओं की स्त्रियाँ अप्सरायें हैं, हम सब कामनापूर्ण करने वाले समर्थ इन्द्र को ही वरेंगी।'

विश्वरूप ने उनसे कहा— "आज ही इन्द्र सहित सब देवता न रहेंगे, नष्ट हो जायेंगे।" तब उसने मंत्रों का जाप किया। इन मंत्रों के प्रभाव से वह बढ़ा और उसके तीन सिर हो गये। उसने एक मुख में तो सब लोकों में अग्निहोत्रादि करने वाले ब्राह्मणों द्वारा विधिपूर्वक हुत सोम का पान किया, एक से (दूसरे से) अन्न और (तीसरे से)देवताओं का भक्षण करना प्रारम्भ किया।

तब सोमपान से पुष्ट शरीर वाले उस विश्वरूप को बढ़ता हुआ देखकर इन्द्र देवताओं सहित चिंता में पड़ गया। इन्द्र सहित देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे। उन्होंने कहा— "विश्वरूप सब यज्ञों में हवन किया सोम पी जाता है, हमारा भाग ही न रहा, इसलिये असुर बढ़ रहे हैं और हम क्षीण हो रहे हैं। आप अब हमारा कल्याण कीजिये।"

ब्रह्मा ने उनसे कहा— "भृगु पुत्र दधीचि ऋषि तप कर रहे हैं। जाकर उनसे वर माँगो। ऐसा करो, जिससे वह अपना शरीर त्याग दें, तब उसकी हड्डियों से बज्र बनाओ।"तब देवता लोग भगवान्

दधीचि ऋषि जहाँ तप कर रहे थे, वहाँ पहुँचे । इन्द्र सहित देवता उनके पास जाकर बोले ।

दधीचि ने उनसे कहा— ''आप लोगों का स्वागत है, कहिये क्या करूं ? जो आप लोग कहेंगे, उसे मैं पूरा करूँगा ।'' उन्होंने उनसे कहा— ''लोक के कल्याण के लिये आप अपना शरीर परित्याग कर दीजिये ।''

तब सुख-दुःख को समान समझने वाले महायोगी दधीचि ने बिना किसी प्रकार का दुःख प्रकट किये अस्था को समाधिस्त कर शरीर छोड़ दिया । शरीर से जीवन के निकल जाने पर ब्रह्मा ने वे हड्डियाँ ले बज्र बनाया । न टूटने वाले दुर्जेय ब्राह्मण की हड्डी से बने हुए विष्णु अविष्ट उस बज्र से इन्द्र ने विश्वरूप को मारा और उसके सिर काट लिये । संसार पर आई हुई विपत्तियों का निवारण करने के लिये साधु पुरुष अपने शरीर का परित्याग कर देते हैं ।

महर्षि कणाद शिष्य धौम्य—सही साधनों का अनुसंधान

''आपकी साधना, आपका तत्त्व ज्ञान, आपका ब्रह्मवर्चस् विश्व के कल्याण के लिए है भगवन् ! पर यह कहाँ सम्भव है कि आप सुदूर प्रान्तों का निरन्तर परिव्रजन करते रहें और लोगों की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करें । गुरुकुल की स्थापना करनी ही होगी देव ! उसके बिना भावी पीढ़ी का आध्यात्मिक प्रशिक्षण किस प्रकार बन पड़ेगा ? आप ही तो कहते हैं, कि धर्म-तत्त्व का प्रशिक्षण और प्रसार किए बिना लोक-जीवन का चारित्रिक, बौद्धिक, सामाजिक और आत्मिक विकास नहीं हो पाता ।''

''सो तो यथार्थ है तात् ! '' महर्षि कणाद ने शिष्य धौम्यपाद के कथन का समाधान करते हुए कहा— ''वत्स ! जिस राष्ट्र के नागरिकों को शिक्षा के साथ दीक्षा नहीं मिलती वहाँ लोगों की बौद्धिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी क्षमताएँ कुण्ठित हो जाती हैं । इसलिए विद्यालय का निर्माण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है । पर, गुरुकुल चलते हैं जिन पर, ऐसे साधन कहाँ से उपलब्ध होंगे ?''

''आप उनकी चिन्ता न करें देव ! मुझे आदेश दें, साधनों का अनुसंधान मैं करूँगा । मैं लोगों के दरवाजे-दरवाजे जाकर साधन एकत्रित करूँगा । आवश्यकता हुई तो इस पुनीत उद्देश्य के लिए भीख भी माँगूंगा । वन के पक्षी अपना आहार जुटा लेते हैं । क्षणिक नौकाओं में धान्य लादकर समुद्र की विस्तृत सीमाएं लाँघ जाते है और द्रव्यार्जन कर लाते हैं । बादल बरसने की इच्छा करते है तो उन्हें समुद्र से जल मिल जाता है । देव नदी गंगा ने जब लोक-कल्याण के लिए अपनी धर्म यात्रा आरम्भ की तब उन्हें भी ऐसी ही चिन्ता हुई थी, पर क्या हिमालय का अंचल इतना संकीर्ण था कि वह गंगा माता को वर्ष भर निरन्तर प्रवाहित होने के लिए जल न दे पाता ? भगवन् ! मुझे विश्वास है सदुद्देश्यों के लिए साधनों का कभी अभाव नहीं होता ।'' धौम्य ने एक बार फिर अपना विनम्र निवेदन दुहराया ।

''तुम्हारा संकल्प पूर्ण हो वत्स ! जाओ मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है । तुम गुरुकुल की स्थापना के लिए साधनों की खोज करो ।'' महर्षि कणाद ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया । ऐसा लगता था उनकी मुस्कराहट में कुछ गहरा रहस्य छुपा है ।

धौम्य चल पड़े । सम्पूर्ण राष्ट्र के नाम एक परिपत्र वितरित कर उन्होंने प्रजा से सहयोग की याचना की । उस समय महर्षि कणाद की तपश्चर्या का प्रभाव शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति दिव्य और निष्कलंक चमक रहा था । परिपत्र को पढ़कर जन-जीवन में उल्लास आ गया। तपस्वी, वैज्ञानिक, महर्षि की सेवा में धन-वैभव का कुछ अंश लग सकें यह प्रत्येक के लिए सौभाग्य की बात थी । जिसके पास जो कुछ था— खुशी-खुशी देने लगे । देखते-देखते धन-धान्य, रत्न, सोने, चाँदी तथा वस्त्राभूषणों के ढेर लग गए । किसी ने भवन निर्माण का उत्तरदायित्व ले लिया, किसी ने छात्रों की भोजन व्यवस्था का । एक वर्ष के भीतर ही साधनों का अम्बार लग गया । धौम्यपाद सगर्व गुरुदेव के पास पहुँचे और उन्हें प्राप्त किए साधनों की तालिका भेंट की ।

तालिका के अंकित अक्षरों को पढ़ते गए ऋषि कणाद, उतनी ही उनकी मुख मुद्रा गम्भीर होती गई । उन्होंने कहा— ''तुम्हारा उत्साह सार्थक हो धौम्य, गुरुकुल की स्थापना का काम प्रारम्भ कर दो । विद्यार्थियों के प्रवेश का प्रबन्ध अविलम्ब किया जाय । पर इससे पहले यह एकत्रित धन-सामग्री जहाँ से आयी है, यथावत् उसे अविलम्ब वापस कर दिया जाय । जिन साधनों की आवश्यकता थी वे अभी तक नहीं मिले, अभी उनकी खोज करनी होगी ।'' महर्षि का प्रतिवाद करने की हिम्मत धौम्य में थी ही कहाँ ? उन्होंने आज्ञा का अक्षरशः पालन किया । जहाँ से धन आया था, वापस लौटा दिया गया ।

ऋषि कणाद ने उसी दिन मौन व्रत ले लिया। वाणी के प्रसुप्त होते ही स्वप्न जाल की भाँति उनकी क्रियाशीलता जाग पड़ी । महर्षि प्रतिदिन सूर्योदय होते ही जंगल में प्रवेश कर जाते और दिन भर लकड़ियाँ काटते रहते । एक महीने में इतनी लकड़ियाँ इकट्ठी हो गयीं, जिससे छात्रों के आवास का प्रबन्ध किया जा सके । अगले महीने काँस और फूस की उतनी ही मात्रा काटी कणाद ने, जिससे पर्णकुटीरों में छाया का यथेष्ट प्रबन्ध हो जाता । अगले मास महर्षि ने सघन वृक्षारोपण का कार्य प्रारम्भ किया । कुछ ही समय में पौधे बढ़ते दिखाई देने लगे । चारों ओर हरियाली छा गई । इसी बीच उन्होंने पर्णकुटीर तैयार किये । निजी आश्रम, शिक्षकों के निवास, छात्रावास और पाठन कक्ष के निर्माण में ऋषि ने अपने स्वेद कणों की एक-एक बूंद उत्सर्ग कर दी । तब कहीं जाकर गुरुकुल की स्थापत्य आवश्यकताएँ पूरी हो पायीं ।

इस बीच भी उन्होंने अपनी आवश्यकता खेतों से बीने हुए दानों से ही पूर्ण की । महर्षि के इस कठोर श्रम को देखकर देश का जन-जन रोमांचित हो उठा । हरेक की श्रद्धा महर्षि का चरण चूमने के लिए मचल उठी । लोगों ने अपने बालकों को भेजना आरम्भ कर दिया

और इस प्रकार गुरुकुल की स्थापना हो गई । उसका प्रथम सत्र शुरू हो गया ।

विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त हो गई । सामान्य किसानों के बच्चों से लेकर महात्माओं और महाराजाओं तक के बच्चों ने प्रवेश लिया । जन-जन को विश्वास था महर्षि कणाद की तपश्चर्या और ब्रह्मनिष्ठा पर । इसलिए जिनके भी लड़के विद्यालय में प्रविष्ट हुए, उन्होंने अपना अहोभाग्य समझा । किन्तु महर्षि को अब तक कोई भी सहायक उपलब्ध नहीं हुआ था । धौम्यपाद उनके आश्रम की देख-रेख करते थे । पर छात्रों के विद्याध्ययन से लेकर उनकी सामान्य देख-रेख तक का सारा कार्य महर्षि को स्वयं ही देखना पड़ता था । प्रथम सत्र के समापन का समय समीप आ चुका था । अब तक उन्होंने एक दिन भी विश्राम नहीं किया था । आश्रम के अतिरिक्त वे समीपवर्ती गाँव भी न जा पाए थे । उनकी श्रमशीलता, लगन और अध्यवसाय के साथ महान् तप और त्यागवृत्ति की चर्चा सारे विश्व में छा गई । वृद्ध होने पर भी अभी उनके शरीर में किसी प्रकार की थकावट के लक्षण परिलक्षित नहीं हो रहे थे ।

वर्षा का आगमन निकट देखकर एक दिन उन्होंने विचार किया कि बरसात में जंगल का सम्पूर्ण काष्ठ गीला हो जायेगा । इसलिए समिधाओं के लिए सूखा ईंधन इकट्ठा कर लेना चाहिए । कुल्हाड़ी और रस्सियाँ लिए छात्रों के साथ कुलपति कणाद वन की ओर चल पड़े । उनके वृषभ स्कन्ध पर कुल्हाड़ी विराजमान थी और वे आह्लाद के साथ आगे बढ़ते हुए जा रहे थे । मौन शिष्य मंडल पीछे-पीछे चल रहा था । बादलों ने छाया कर दी थी । सूर्यदेव ने अपना आक्रोश हलका कर लिया था, इसलिए मौसम और भी सुहावना हो रहा था । ऋषि ने शिष्यों के साथ सायंकाल तक लकड़ियाँ काटीं । उनकी गौरवर्ण वृद्ध देह से झर रहे स्वेद बिन्दु ऐसे दीख रहे थे जैसे हिम-शिखर से गंगा का फैलाव मन्दगति से उतर रहा हो । उनकी मुखाकृति और भी उद्दीप्त हो उठी थी । एक-एक विद्यार्थी की वही स्थिति थी । अपने-अपने गट्ठर लिए सभी छात्रों ने जब आश्रम में प्रवेश किया तब ऐसा लग रहा था जैसे, श्रम, संयम, स्वावलम्बन और अध्यवसाय ने अनेकों भव्य रूप ले रखे हों और धीरे-धीरे आश्रम की प्राचीरों में समाते चले जा रहे हों ।

ईंधन, समिधाएँ सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाकर जब सब विद्यार्थी संध्या वंदन के लिए बैठे, तब भी महर्षि देख रहे थे कि इन सब के भोजन की व्यवस्था हो गई है या नहीं ? किसी पर्णकुटीर में छेद तो नहीं हो गए, कल के लिए समुचित खाद्यान्न जुटाया जा चुका है या नहीं ?

बालक अपने-अपने कक्ष में पहुँच चुके थे । दीप-वृन्द जल उठे थे । शान्त वातावरण में स्वाध्याय करते छात्र ऐसे भले लग रहे थे— जैसे नक्षत्रों से फूटती दिव्य किरणों ने मूर्त स्वरूप धारण कर लिया हो और तब महर्षि कणाद ने स्नान कर साधना कक्ष में प्रवेश किया । किन्तु आज उनका शरीर इतना थक चुका था कि साधना प्रकोष्ठ की तीन सीढ़ियाँ उनसे चढ़ी न जा सकीं । अन्तिम पैर बढ़ाते ही वह लड़खड़ा गए । उनकी कृश देह माँ गायत्री के सम्मुख आ गिरी । ऋषि अचेत हो गए ।

धौम्य भागते हुए आये । जल के छींटे देकर उन्होंने गुरुदेव को सँभाला । अचेतनता दूर हुई । ऋषि ने आँखें खोलीं । पूछा— "धौम्य ! विद्यालय के लिए किन्हीं साधनों का अभाव हो तो खोजना, उसे पूरा करना । अब यह शरीर बहुत थक गया है ।" उनकी चरण रज मस्तक पर लगाते हुए धौम्य ने उत्तर दिया— "गुरुदेव ! आपने जिन साधनों की आवश्यकता अनुभव की मैंने उन्हें देर से समझा । पर यह समझ अब कभी धूमिल न पड़ेगी ।" सुनकर महर्षि की आँखें ज्योतित हो उठीं, मुख मंडल पर सौम्य विश्वास की आभा फैल गई । उनके प्राण— प्राणों की अधिष्ठात्री— गायत्री में विलीन होने लगे ।

समाज सृष्टा—महात्मा भगवानदीन

वास्तव में उन व्यक्तियों का हृदय कितना विशाल और आत्मा कितनी महान् होती होगी, जो बिना किसी प्रयोजन अथवा स्वार्थ के किसी की प्रेरणा के बिना यों ही अपना जीवन-समाज, राष्ट्र अथवा मानवता की सेवा में समर्पण कर देते हैं । निःसन्देह ऐसे व्यक्ति मनुष्य योनि में होते हुए भी देवता ही होते हैं । महात्मा भगवानदीन भी एक ऐसे मनुष्य रूपी देवता थे ।

महात्मा भगवानदीन बाल्यकाल से ही कुछ विशेष विचारशील थे । अन्य आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर वे थोड़ी देर बैठकर कुछ न कुछ चिन्तन अवश्य किया करते हैं । उस समय तो लोग उनके इस काम को एक पागलपन समझते थे और कहा करते थे कि यह लड़का अकेले में बैठकर न जाने क्या सोचा करता है । पर बाद में आगे चलकर उनके कामों को देखकर लोगों को पता चला कि वह बालक यों ही निरर्थक कल्पना-लोक में विहार नहीं करता था, बल्कि देश और धर्म के विषय पर बड़े ही क्रियात्मक ढंग से विचार करता था ।

विचार क्रिया की एकाग्रता की उपलब्धि करके महात्मा भगवानदीन ने सबसे पहले जैन धर्म और जैन शास्त्रों का गहन अध्ययन किया । जिस अभ्यास बल से उन्होंने विचार क्रिया की सिद्धि की थी उसी अभ्यास ने उन्हें शास्त्र मंथन में बड़ी सहायता की । जिस समय वे किसी शास्त्र का अध्ययन करने के लिये बैठते थे, तो केवल उसका साधारण पाठ ही नहीं करते थे बल्कि उसके एक-एक वाक्य, एक-एक अक्षर की गहराई में उतरते थे । शास्त्रों में इस पैठ की विशेषता उनको अपनी ज्ञान-जिज्ञासा के जागरण से सहज प्राप्त हो गई थी । जो ज्ञान का इच्छुक है, आत्मा और परमात्मा के रहस्यों को जानना चाहता है, वह ज्ञान को किसी भी पुस्तक में स्वयं ही नहीं उतरता बल्कि उसकी शिक्षाओं को भी अपने जीवन और अपने व्यवहार में उतार लेता है ।

उदार दृष्टिकोण और समर्पित मनोबुद्धि से शास्त्र मंथन का जो परिणाम होता है वह महात्मा भगवानदीन को भी प्राप्त हुआ ! मन,

बुद्धि, ज्ञान से सराबोर होकर वे स्थिर हो गये, आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन होने लगा, जिससे स्वभावत: उनकी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई। पर महात्मा भगवानदीन के अन्तर्मुखी होने का यह अर्थ कदापि नहीं था, कि बस अब उनको आत्मानन्द प्राप्त हो गया और वे उसी में लीन होकर संसार को तिलांजलि देकर उसे उसके भाग्य पर छोड़कर स्वयं एकान्तवास कर लें, संन्यास ले लें।

महात्मा भगवानदीन ने जब आत्मानन्द की अनुभूति की तब उन्होंने ठीक प्रकार से जाना कि वास्तव में उनके मानव-बन्धु संसार में गलत भावना से लिपटे हुये कितना भयंकर दु:ख भोग रहे हैं। अपने आत्म-सुख की तुलना में मनुष्यों के दु:ख की समीक्षा करते-करते वे बड़े ही करुणार्द्र हो उठे। अपने मानव-बन्धुओं को उनकी दुर्दशा में छोड़कर अन्धकार में भटकने देकर आत्म-सुख का उपभोग करने में उन्हें बड़ा ही जघन्य स्वार्थ मालूम पड़ा। उन्होंने अपने महानतम आत्मानन्द को जनसेवा में बदल देने का निश्चय कर लिया।

जनसेवा का व्रत लेकर उन्होंने उसकी रूपरेखा निर्धारित करने के लिए विचार करना शुरू कर दिया। विचार करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक देश के बच्चों तथा तरुणों के चरित्र का ठीक-ठीक निर्माण नहीं होगा समाज का सच्चा कल्याण नहीं हो सकता। एक अच्छे समाज के निर्माता बच्चे तथा तरुण ही हुआ करते हैं और इनका समुचित निर्माण चरित्र के सुधार से ही हो सकता है। इस प्रकार समाज का निर्माण व्यक्तियों के चरित्र निर्माण पर ही निर्भर करता है।

एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच कर उन्होंने हस्तिनापुर में ऋषभ-ब्रह्मचर्याश्रम नाम से एक चरित्र-निर्मात्री संस्था की स्थापना की। इस आश्रम के नियम बनाते समय महात्मा भगवानदीन ने बड़ी ही बुद्धिमानी, सावधानी तथा सतर्कता से काम लिया। वे आश्रम के कोई ऐसे जटिल नियम न बनाना चाहते थे जो व्यवहार में न लाये जा सकें, अथवा जिनको देख सुनकर तरुण वर्ग आश्रम को दूर से ही हाथ जोड़ ले। साथ ही वे इतने अधिक नियम न बनाना चाहते थे जो अपनी दीर्घ संख्या के कारण किसी आश्रमाश्रित को चारों ओर से एक बड़े जाल की तरह घेर लें।

एक सीमित संस्था में सर्वाशाय-सम्पादक ऐसे नियम बना सकना, जो कि पूर्ण रूप से सरल एवं व्यवहार्य हों, कोई आसान काम न था। किन्तु व्यवस्थित मस्तिष्क, सन्तुलित चित्त और सकर्मक विचार रखने के कारण महात्मा भगवानदीन को इसमें कोई कठिनाई नहीं हुई। जिसने अपने मन, मस्तिष्क तथा आचार व्यवहार को सन्तुलित एवं व्यवस्थित कर लिया है मानो उसने जीवन की समग्र समस्याओं का समाधान अपनी मुट्ठी में कर लिया है।

उन्होंने आश्रम के लिये केवल चार नियम बनाये—

(१) ब्रह्मचर्य पालन, (२) स्वावलम्बन, (३) मितव्ययिता तथा (४) सेवा। नि:सन्देह यह चार नियम ही वे चार स्तम्भ हैं जिन पर जीवन-निर्माण का बड़े से बड़ा भवन खड़ा किया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य के शरीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक तीनों प्रकारों के स्वास्थ्यों की उन्नति होती है। मन के बलवान और शरीर के बलिष्ट होने से मनुष्य में साहस की वृद्धि होती है जिससे वह संसार में निर्भीकतापूर्वक किसी भी कठिन से कठिन कार्य को अनवरत रूप से करता रह सकता है और अनवरत कार्यरत रहने का अर्थ है 'सफलता' जिससे मनुष्य को एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता की उपलब्धि होती है। जहाँ चित्त प्रसन्न है, जहाँ बुद्धि स्थिर है और जहाँ बुद्धि चंचल नहीं है वहाँ दुर्गुणों अथवा दुर्विकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

स्वावलम्बन मनुष्य को आत्मविश्वासी एवं आत्मनिष्ठ बनाता है। हर कार्य अपने हाथ से करने में अभ्यास बढ़ता है जिससे कार्य-कौशल की उपलब्धि होती है। सारे काम अपने हाथ से करने वाला परमुखापेक्षी होकर कभी पराधीन नहीं होता और पराधीनता का दु:ख तथा स्वाधीनता का सुख भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। पर-निर्भरता न होने से स्वावलम्बी के सारे कार्य समय से स्वेच्छापूर्वक होते हैं, जिससे मन को एक मधुर सन्तोष का सुख मिलता है। स्वावलम्बी स्वभावत: परिश्रमी एवं पुरुषार्थी बनकर आलस्य, प्रमाद, विलम्ब अथवा स्थगन जैसे व्यसनों के वशीभूत नहीं होता और जो व्यसनी नहीं होता उसका जीवन निर्मल एवं निर्विरोध जल धारा की तरह बहता चला जाता है।

मितव्ययिता का दूसरा अर्थ सम्पन्नता ही मानना चाहिये। जो मितव्ययी है उसकी आवश्यकतायें सीमित रहती हैं और जिसकी आवश्यकतायें सीमित हैं उसको अभाव अथवा अधन की पीड़ा कभी सहन नहीं करनी पड़ती। मितव्ययी पैसे का मूल्य जानता है अतएव बुद्धिमत्तापूर्वक उसका समुचित उपयोग करता है। पैसे का समुचित उपयोग करने की कला जानने वाला कम से कम साधनों में सुन्दर से सुन्दर ढंग से रह सकता है। मितव्ययी के स्वभाव में सरलता और रहन-सहन में सादगी का समावेश हो जाता है। मितव्ययिता का गुण ब्रह्मचर्य पालन एवं स्वावलम्बन के निर्वाह में सहायक होता है। मितव्ययी को दरिद्रता, दीनता, दयनीयता अथवा अदेयता का कलंक नहीं लगने पाता जिससे वह निष्कलंक, निर्युक्त एवं निर्द्वन्द्व जीवनयापन करता हुआ सदा सुखी रहता है।

धार्मिक सहिष्णुता के वे बड़े जबरदस्त समर्थक थे। उन्होंने अपने तत्वावधान में अनेक अन्तर्जातीय विवाह कराये और समाज विरोधी अनेक अनावश्यक तथा हानिकारक रूढ़ियों व रीतियों का मूलोच्छेदन किया।

महात्मा भगवानदीन आध्यात्मिक क्षेत्र में एक सम्पूर्ण महात्मा, सामाजिक क्षेत्र के श्रेष्ठ नागरिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में महान् देश-भक्त थे। जीवन के प्रारम्भिक काल में उन्होंने संयम, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के गुणों के साथ अपने जिस जीवन का निर्माण किया था, अस्सी वर्ष की आयु तक उसका ठीक-ठीक उपयोग करके चार नवम्बर सन् १९६४ को स्वर्ग सिधार गये। महात्मा भगवानदीन का पंच भौतिक शरीर आज अवश्य नहीं है किन्तु देश के असंख्यों नागरिकों के चरित्र तथा साहित्य में विचारों के रूप में वे आज भी हमारे बीच मौजूद हैं।

महात्मा मुगुटरामजी की चमत्कारी साधना

आध्यात्मिक उन्नति द्वारा किस प्रकार एक साधारण दिखलाई पड़ने वाला मनुष्य संसार की सब विभूतियों और शक्तियों का स्वामी बन जाता है, इसका परिचय हमको मुंजसर (बड़ौदा) निवासी श्री मुगुटराम महाराज के चरित्र से मिलता है । उनको हुये अभी थोड़ा ही समय हुआ है, उनका जन्म सं. १९३० में हुआ था। उनकी शक्तियों का लाभ उठाने वाले अभी हजारों व्यक्ति उस प्रदेश में मौजूद हैं । वे छोटी अवस्था से ही अपने नाना के पास रहे थे, जो स्वयं एक बहुत बड़े साधक और धार्मिक पुरुष थे । इसके फल से मुगुटरामजी में छोटी अवस्था में ही भक्ति और ज्ञान के अंकुर उत्पन्न हो गये थे, जिन्होंने बड़ी आयु में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया और अपनी छाया तथा फलों से अनगिनती नर-नारियों का कल्याण किया ।

मुगुटरामजी को वर्तमान समय की तरह स्कूल या कॉलेज की शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी । वे प्रायः कहा करते थे कि "अरे भाई, मैं तो केवल गुजराती की दो पुस्तकें पढ़ा हुआ हूँ, अगर नौकरी करनी पड़े तो मुझे कोई दस-बारह रुपया से ज्यादा तनख्वाह न देगा, पर भगवान् के भजन और गायत्री के जप के प्रभाव से ही मुझे सब प्रकार की सफलता प्राप्त हो सकी है । वे बतलाया करते थे कि मैं रात भर नीचे की तरफ माथा और ऊपर पैर करके, तथा पैरों को एक खूँटी से बाँध कर शिवजी का भजन करता था और सुबह ३-४ बजे से लेकर ९-१० बजे तक गायत्री का जप करता था । कभी-कभी लगातार बारह घंटा बैठकर जप ही करता रहता था । " इस प्रकार की कठोर तपस्या और साधना का फल यह हुआ कि उनकी आन्तरिक शक्तियाँ पूर्णरूप से विकसित हो गईं और वे प्रतिदिन ऐसे कार्य करते रहते थे जिनको लोग चमत्कार ही मानते थे ।

(१) जैसा हमने ऊपर लिखा है मुगुटराम जी नाममात्र को स्कूल की दो पुस्तकें पढ़े थे । पर उनको अपने आप सब भाषाओं का ज्ञान हो गया था । एक दिन बड़ौदा के एक सरकारी अफसर आये तो उनके साथ तैलंगी भाषा में बात करने लगे, फिर दूसरे व्यक्ति के साथ कर्नाटकी भाषा बोलने लगे । एक दिन कोई फकीर आया तो उसके साथ उर्दू में खूब बातचीत की । काम पड़ने पर अँग्रेजी भी बोल लेते थे ।

(२) इतनी कम शिक्षा होने पर भी उनको समस्त शास्त्रों का ज्ञान था । उन्होंने किसी से ज्योतिष नहीं सीखी थी, पर वे हजारों मनुष्यों की कुण्डली देखकर उनका ठीक-ठीक फल बता देते थे । जिनके पास कुण्डली न हो उनकी आकृति तथा हाथ देखकर ही कुण्डली तैयार कर देते थे । स्वर-शास्त्र के वे पूरे जानकार थे और कहते थे कि इसके द्वारा विश्व की समस्त बातों का पता लग सकता है । उन्होंने बड़ौदा के पुलिस कमिश्नर श्री घाटगे को स्वर-शास्त्र की दो-चार बातें बतला दी थीं । उसके फल से एक भयंकर डाकू मीरखाँ को पकड़ते समय उनकी अद्भुत रीति से रक्षा हो जाती थी ।

(३) योग शास्त्र की उनको पूरी जानकारी थी । वे षटचक्रों का ऐसा वर्णन करते थे कि मानो उनको आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हों । शरीर के किस अंग में कौनसी चीज है इसका वर्णन स्पष्ट रूप से कर देते थे । प्राणायम, आसन मुद्रा आदि सब विषयों को वह भली प्रकार समझा देते थे ।

(४) वे कहते थे कि नक्षत्रों का तमाम वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध है । इसलिये अगर खास नक्षत्र में कोई बनस्पति लाई जाय और रोगी को विशेष विधिपूर्वक दी जाय तो उसका रोग अवश्य दूर हो जायेगा । इस बनस्पति का अमुक देवता के लिये अमुक नक्षत्र में हवन करने से भी बड़ा लाभ हो सकता है ।

(५) मंत्र शास्त्र के बड़े ज्ञाता थे और किस मंत्र का प्रयोग कहाँ करना है यह बहुत अच्छी तरह जानते थे । स्वयं अनेक मंत्रों की रचना अद्भुत रीति से करते थे । दूसरे मंत्रों के स्वरूप और सामर्थ्य को भली प्रकार जानते थे । वे आवश्यक 'बीज' अक्षर मंत्र के आरंभ, अंत या मध्य में लगाकर साधन का ऐसा विधान बतला देते थे, कि मंत्र का प्रयोग अवश्य सफल होता था ।

(६) वे वेदों के मंत्र बोलकर उनका तात्पर्य अच्छी तरह समझा देते थे । प्रसंग आने पर उपनिषदों की कथायें सुनाते थे । पुराण तो ऐसा लगता था कि उनको कंठस्थ ही हैं । जो पंडित जिस प्रसंग को लेकर उनके पास आता वे उसी विषय के सब प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण उसे सुना देते थे ।

(७) अपनी जन्म-जात आत्म शक्ति और गायत्री की असाधारण उपासना के बल से उनका वचन सिद्ध हो गया था । जो कुछ मुँह से निकल जाता वही सत्य हो जाता । उदाहरणार्थ ब्राह्मण भोजन करने को बैठे और पानी बरसने लगा, तो आप कहते कि वर्षा तो अभी बन्द हो जायेगी और वैसा ही हो जाता । "जा, तेरा ज्वर अभी उतर जायेगा ।" यह कहते ही ज्वर दूर हो जाता । जा, भगवान् तुझे पुत्र देगा, तो शीघ्र ही पुत्र का मुख दर्शन होता । जाओ, महादेव पर सवा पाँच सेर दूध चढ़ाना, तुम्हारा दुःख दूर हो जायेगा तो, वैसा ही होता । साँप के काटे मनुष्यों से कहते जाओ तुम्हारा जहर उतर जायगा, तो साँप के काटे लोग बच जाते । इस तरह असंख्य लोगों ने उनके वचन की सिद्धि से लाभ उठाया था ।

(८) कभी किसी की रक्षा के लिये आवश्यकता पड़ जाती तो वे दूसरा शरीर धारण कर लेते थे । इसी प्रकार जंगल में नारायण स्वामी की शेर के आक्रमण से रक्षा की थी । पक्षी क्या बोल रहे हैं इसे वे भली प्रकार समझ जाते थे । वे कहते थे कि जब हम परावाणी में प्रवेश कर जाते हैं तो संसार के समस्त प्राणियों की बोलियाँ और भाषायें समझ में आने लग जाती हैं ।

(९) तप द्वारा उनको लक्ष्मी की भी सिद्धि हो गई थी । इसलिये बिना किसी से कुछ भी माँगे और पैसा-रुपया का स्पर्श न करने पर भी वे राजाओं की तरह खर्च करते रहते थे । अपने जीवन में उन्होंने लाखों मनुष्यों को अन्नदान और दक्षिणा दी थी । राजाओं के से बड़े-बड़े ब्रह्मभोज करते रहते थे, बड़े-बड़े यज्ञ करते थे । अपने नाना

और माता के मरने पर पास में पैसा न होते हुये भी उनकी क्रिया-कर्म ऐसे धूम धाम से की कि जैसा कोई लखपती भी नहीं कर सकता।

(१०) जो कोई अपने किसी मृत सम्बन्धी से बातचीत करना चाहता तो वे उसकी आत्मा को तुरन्त बुला देते और उसे स्पष्ट बातें करते हुये उसकी इच्छा पूछने वाले को बता देते थे। एक बार ईडर रियासत के मुंसिफ श्री चतर्भुज माणकेश्वर भट्ट उनके पास आये और अपनी मृत पत्नी से बात करने की इच्छा प्रकट की। उन सज्जन को इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि वास्तव में उनकी पत्नी की आत्मा ने आकर बातचीत की थी। भविष्य के विषय में वे प्राय: लोगों को पहले से बतला देते थे। दूसरों के मन की बात जानकर बिना कहे ही उसको उत्तर दे देना उनके लिये बिल्कुल साधारण बात थी।

(११) एक बार उनकी बातचीत एक डॉक्टर से हो रही थी, जो पेरिस (फ्रांस) होकर आया था। मुगुटरामजी ने अपने स्थान में बैठे हुये ही दूरदर्शन शक्ति द्वारा उसे पेरिस का सब हाल सुना दिया, जिसे डॉक्टर ने बिल्कुल ठीक बतलाया। इस पर पास में बैठे उज्ज्वलाल जौहरी को कौतूहल हुआ और उसने परीक्षा के लिये महाराज से कहा कि मेरा कपड़वंज कस्बे में जो मकान है उसका वर्णन बतलाइये। महाराज ने कहा— "यह कौनसी कठिन बात है। तेरे घर का हाल तो यह डॉक्टर साहब ही बतला सकते हैं।" उनके यह कहते ही डॉक्टर साहब सचमुच उस जौहरी के घर के भीतर का हाल बतलाने लग गये, जिसको उसे सत्य मानना पड़ा। इस प्रकार वे दूसरे लोगों में भी चमत्कारी शक्ति उत्पन्न कर देते थे। अनेक मरते हुये व्यक्तियों को उन्होंने मंत्र पढ़ कर जल पिलाने से बचा दिया था। एक बहुत बड़े अफसर का हृदय रोग एक फूँक मार कर दूर कर दिया।

(१२) दुनिया में किस जगह कौन-कौन योगी और सिद्ध पुरुष रहते हैं इसका उनको भली प्रकार पता था। इच्छा होने पर उनके साथ बातचीत करते, उनको अपने पास बुला लेते अथवा सूक्ष्म शरीर से स्वयं उनके पास चले जाते।

(१३) अपने पास आने वाले मनुष्यों के पूर्व जन्म का हाल भी वे बतला देते थे। उस जन्म के किस कर्म के पाप से इस जन्म में कष्ट मिल रहा है इसका पूरा हाल वे जान सकते थे और फिर उसको मिटाने का जो उपाय बतलाते उसको करने से निश्चय ही वह कष्ट दूर हो जाता था।

(१४) उनके यहाँ आने वाले मनुष्यों का कोई हिसाब न था। रसोइया और उनकी पत्नी उनसे पूछ लेते थे कि कितने व्यक्तियों की रसोई बनेगी। फिर भी प्राय: ऐसा होता था कि दस आदमियों का भोजन बना और खाने वाले २५-३० आ गये— पच्चीस का भोजन बनाया गया और खाते समय सौ आदमी आ गये। पर उनके यहाँ कभी भोजन का अभाव नहीं हुआ। सदा हर एक चीज इच्छानुसार मिलती रहती थी। वे कहा करते थे कि मेरे ऊपर अन्नपूर्णा की कृपा है। कभी भंडार में कमी नहीं पड़ सकती।

इस प्रकार महात्मा मुगुटरामजी ने अनेक वर्षों तक अपनी आध्यात्मिक शक्ति से सर्व-साधारण का अकथनीय उपकार करके यह दिखला दिया कि यदि मनुष्य सच्चे हृदय से प्रयत्न करे और ईश्वर पर विश्वास रखे तो उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं है।

एक विद्रोही सन्त—महाराज सिंह

"आप साधु हैं। धर्म और अध्यात्म का प्रचार आपका धर्म है। राजनीति से आपका क्या सम्बन्ध। देश आजाद रहे या गुलाम इससे आप जैसे वीतराग सन्त-महात्मा का क्या सम्बन्ध। आपको राजनीति में दखल नहीं देना चाहिये। इसी में आपका हित है; जालन्धर के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर नौरंगाबाद की एक वेदी गुरुओं की गद्दी के सेवक महराज सिंह को उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों को रोकने की सलाह दे रहे थे।"

भाई जी ने कहा— "धर्म और अध्यात्म को लेकर राष्ट्र और समाज के प्रति कर्तव्यों से विमुख होना अक्षम्य प्रवंचना है। सच्चा साधु इतना बड़ा पाखण्ड नहीं रच सकता। गुलामी की स्थिति में किसी भी कौम का कोई धर्म नहीं होता आज सबसे पहला पालनीय कर्तव्य है देश को आजाद करना। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि हम पूर्णरूपेण मानव कहलाने के योग्य बनें। और दासता की अनीतिमूलक परिस्थितियों में रहते हुए कोई भी व्यक्ति मानव कभी नहीं बन सकता।" दृढ़तापूर्वक कहे गये इन वचनों ने डिप्टी कमिश्नर को पस्त कर दिया। भाई महाराज सिंह एक साथ साधु और क्रान्तिकारी दोनों थे। गुरु गद्दी की सेवा करते हुए उन्होंने सार्वजनिक भोजनालय की व्यवस्था सम्हाली थी। वहाँ के सभी लोग इनकी विनम्र सेवा से बड़े सन्तुष्ट थे इसी कारण उन्हें सम्मान और आदर के रूप में महाराज सिंह के नाम से पुकारा जाता।

महाराजा रणजीत सिंह जब तक रहे उनकी वीरता और शौर्य के आतंक स्वरूप अंग्रेजो ने पंजाब की ओर आँख तक उठाकर नहीं देखा। उनके मरने के बाद फिरंगियों की वक्र दृष्टि पंजाब पर गयी। उन दिनों महाराजा रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी के रूप में किशोर दिलीप सिंह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और मन्त्रियों के सहयोग से शासन सूत्र का संचालन कर रहे थे। रणजीत सिंह के समय की शक्ति और साहस पंजाब सेना में रही नहीं इसलिए अंग्रेजों की कूटनीतिक चालें सफल हुईं और पंजाब उनके हाथ में आ गया। महाराजा दिलीप सिंह को बन्दी बना लिया गया। उसके बाद एक आँधी-सा सशक्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पंजाब के क्रान्तिकारियों ने पहाड़ी इलाकों में एक भूमिगत स्वतन्त्र सरकार का गठन किया। महाराजा दिलीप सिंह के नाम से सारे देश में छापामार लड़ाई छेड़ देने की योजना बनायी गई और महाराजा दिलीपसिंह के रूप में क्रान्तिकारियों का नेतृत्व कर रहे थे भाई महाराज सिंह। एक धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले साधु। उनके अनेक श्रद्धालु भक्त थे और वे सब उन्हें गुरु के रूप में मानते थे।

सिक्ख जनता ने उन्हें इतना मान सम्मान और आदर दिया कि उनके शत्रु प्रतिनिधि जालन्धर के डिप्टी कमिश्नर ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल को लिखी अपनी रिपोर्ट में कहा— 'महाराज

सिंह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। सिक्ख जनता में उसके प्रति वही श्रद्धा है जो पक्के से पक्के ईसाई के हृदय में यीशु के प्रति होती है। लोग उसे मसीहा मानते हैं और जिस तरह हमारे धर्मावतारों को हम पूजते हैं उसी प्रकार उसकी भी पूजा होती है।'

महाराज सिंह ने अपनी श्रद्धा अनुयायियों को अमृतसर से समुद्र तालाब पर एकत्रित किया और एक दीवान लगाया। उपस्थित लोगों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— मैं अपने लिए कोई राजनीतिज्ञ महत्त्वाकांक्षा नहीं रखता हूँ। मैं चाहता हूँ कि देश आजाद हो और सिक्ख लोग पूरे प्राणपण से इस उद्देश्य को प्राप्त करने में जुट जायें। यदि भारत पराधीन रहा तो यहाँ के किसी नागरिक का भविष्य किंचित भी सुरक्षित नहीं है। सब लोगों में जोश और उत्साह उमड़ उठा। इस संगत का और इसके परिणाम का समाचार अँग्रेज सरकार तक पहुँचा। शासन ने राजद्रोह के अपराध में इन्हें पकड़ना चाहा परन्तु महाराजसिंह छुप गये। उन्हें अपराधी घोषित कर पकड़वाने वाले या पता देने वाले को ५००० चाँदी के रुपयों के इनाम की घोषणा की गयी जो आज के एक लाख रुपयों के बराबर है। यद्यपि महाराज सिंह अपने शिष्यों के पास ही रहते रहे परन्तु किसी भी सिक्ख ने इस बात की चर्चा तक नहीं की और महाराजसिंह की क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चलती रहीं।

सरकार उनकी खोजबीन करती रही और वे छुपकर ही अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे। उन्हें पकड़ने के लिए अँग्रेजी शासन ने आतंकवादी दमन-चक्र भी चलाया। जहाँ उनके होने की थोड़ी-सी हवा लगती अँग्रेज सिपाही पहुँचते। उस पते पर खोजबीन करते, लोगों को डराते, धमकाते, मारते, पीटते। परन्तु महाराज सिंह हो तो भी कौन बताये ? देहाती लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाता। उन्हें तरह तरह की यातनायें दी जातीं हवालात में बन्द कर अमानुषिक अत्याचार किये जाते। साथ ही भाँति-भाँति के प्रलोभन भी दिये जाते परन्तु सब उपाय असफल रहे।

अप्रैल १८४८ में मुल्तान के दीवान मूलराज ने अँग्रेजों के खिलाफ आवाज उठाई। और लड़ाई छेड़ दी। मूलराज ने भाई जी से सहायता माँगी। स्वातन्त्र्य यज्ञ में आहुति देने वाले होता के सहयोग के लिए महाराज सिंह तो वस्तुतः महाराज थे। अँग्रेज कुमुक और पुलिस से लोहा लेते हुए पहुँच गये मुल्तान। साथ में बहादुर सिख जवान। महाराज रणजीत सिंह के अनेकों सैनिक अपने देश को आजाद देखने के लिए उनके साथ आ मिले थे। रास्ते में पड़ने वाले नगरों में भी मुक्ति संग्राम छेड़ने का क्रम चलता रहा अनेक नगरों को उन्होंने मुक्त कराया।

इधर पंजाबी सैनिकों का मनोबल गिरने लगा था। लगातार का वनवासी और निर्वासित जीवन। कुछ प्रभावशाली लोगों को अँग्रेज अधिकारी अपनी ओर फोड़ने में भी सफल हो गये थे। गुजराल नामक स्थान पर फरवरी १८४९ में पन्द्रह हजार सैनिक और सरदार एकत्रित हुए। प्रमुख सरदारों ने आत्मसमर्पण का प्रस्ताव रखा, सैनिकों ने उसका समर्थन किया। हथियार डालने की तैयारियाँ चल ही रही थीं कि कहीं से भाई जी आ गये और उन्होंने जोरदार शब्दों में आत्मसमर्पण का विरोध किया तथा अन्तिम साँस तक लड़ने की प्रेरणा दी। एक बार सिख फौजों का खून खौल उठा और उन्होंने अपने हाथों से फिसलते हुए हथियारों को एक बारगी फिर कस लिया। महाराज सिंह ने जम्मू के आसपास की पहाड़ियों को अपना केन्द्र चुना। परन्तु भाई जी के सभी साथी उन्हें छोड़-छोड़ कर जाने लगे। पंजाब के सैनिक भी महाराज सिंह की प्रेरणा को स्थायी नहीं रख सके और कुछ दिनों बाद उन्होंने भी आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु भाई जी उसी उत्साह के साथ अपने अभियान में लगे रहे।

अन्ततः दिसम्बर १८४९ में भाई जी अँग्रेजी सिपाहियों की गिरफ्त में आ गये। उन्हें जेल में रखा गया। भाई जी के अनन्य सहयोगी साथी भले ही उनका साथ छोड़कर चले गये परन्तु जनता की श्रद्धा और आस्था भाजन वे पूर्ववत् ही बने रहे। भक्तों ने जेल को चारों ओर से घेर लिया और उनके दर्शन की माँग की। फिरंगी अधिकारियों को डर लगा कि कहीं दर्शन करने भीड़ उनकी रिहाई की माँग न कर बैठे। चुपचाप उन्हें पंजाब से दूर ले जाया गया। प्रारम्भ में इलाहाबाद जेल में रखा गया परन्तु उनके श्रद्धालु भक्त वहाँ भी पहुँच गये फिर कलकत्ता ले जाया गया जहाँ उनके क्रान्तिकारी सहयोगी, दीवान मूलराज तथा अन्य सरदार कैद थे। सुरक्षा की दृष्टि से कलकत्ता भी अनुपयुक्त समझा गया और अन्ततः उन्हें भारत से दूर सिंगापुर की एक काल-कोठरी में बन्द कर दिया गया।

धर्मप्रेमी जनता से घिरे रहने वाले जो कभी अकेले नहीं रहे। सौ-पचास आदमी हमेशा जिनके आसपास रहते ऐसे भाई जी के लिये तन्हाई कैद मर्मान्तक दुःखदायी थी। इसके बावजूद तरह-तरह की यातनायें। समय पर भोजन नहीं मिलता, उसी कोठरी में पूरा दिन व्यतीत करना आदि अनेकों प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक यातनायें। इन सब कष्टों का सामना उन्होंने अविचल भाव से किया। यहाँ उनकी स्थिति '**समदुखे सुखानां लाभालाभौ जया जयौ**'— के गीतोक्त स्थित प्रज्ञ लक्षणों को चरितार्थ करती थी परन्तु शरीर की सहन शक्ति की भी एक सीमा होती है। माना कि बाहरी अवरोधों और कष्टों से मन को निर्लिप्त रखा जा सकता है, अनुद्विग्न कहा जा सकता है परन्तु शरीर पर उनका प्रभाव तो नहीं रोका जा सकता है। फिर भी भाई महाराज सिंह ने इन कष्टपूर्ण परिस्थितियों का सात वर्ष तक सामना किया और ८ जुलाई, १८५६ को वे यह संसार छोड़कर चल बसे।

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर की इष्ट साधना

'मनुष्य जीवन मिला ही भगवान् को पाने के लिए है। संसार के भोग पदार्थ तो दूसरी योनियों में मिल सकते हैं। मनुष्य में भोगों को भोगने की उतनी शक्ति भी नहीं, जितनी दूसरे प्राणियों में है।' वक्ता की वाणी में शक्ति थी। उनकी बातें शास्त्रसंगत थीं, तर्क संगत-

थीं और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका व्यक्तित्व ऐसा था जो उनके प्रत्येक शब्द को सजीव बनाए दे रहा था। भगवान् को पाना है इसी जीवन में पाना है। भगवत्प्राप्ति हो गई तो जीवन सफल हुआ और न हुई तो महान् हानि हुई।

प्रवचन समाप्त हुआ। लोगों ने हाथ जोड़े सिर झुकाया और एक-एक करके जाने लगे। सबको अपने-अपने काम हैं और वे आवश्यक हैं। यही क्या कम है जो इतनी देर हुई चर्चा में आकर बैठ गए। बैठने वालों में एक यह भी था पर औरों से नितान्त भिन्न। यह भिन्नता शक्ल-सूरत की दृष्टि से नहीं अन्तर्मन की संरचना में थी। अलग-व वेश विन्यास का नहीं विचार विन्यास का था। उसे पता नहीं था कि कथा प्रवचन पल्ला झाड़ कर भी सुने जाते हैं।

सरंजाम सिमटने लगा पर विचारों के वितान फैलने लगे। 'मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है मन में यही घुमड़न चल रही थी। यों वह पढ़ा लिखा था अभी हाल में ही एम. एस-सी. प्राणिशास्त्र में किया था। विज्ञान-आखिर सत्य की शोध ही तो है और कोई आवश्यक तो नहीं कि यह शोध प्रचलित दायरे में पूरी हो। वह सोचने लगा, प्रत्येक नयी शोध पुराना दायरा लाँघती है नया आयाम खोलती है तो यह शोध भी...... । चिन्तन की हवा में अतीत के पन्ने फड़फड़ा उठे। उसे याद आया कि विद्यालय में बिताया गया जीवन मानस पटल पर साकार हो उठा। प्रयोगशाला का वह कक्ष जहाँ वह जन्तुओं की चीर- फाड़ करते कहीं किन्हीं गहराइयों में खो जाया करता। साथी टोकते क्या सोचने लगे माधव! जीवन का सार खोज रहा हूँ, डूबते मन से बुलबुलों की तरह जवाब फूट पड़ता। साथी खिलखिला पड़ते शिक्षक मुस्करा देते। साथियों की दृष्टि में वह बुद्धिमान्, जुझारू पर सनकी था। शिक्षक उसे दार्शनिक वैज्ञानिक कहते थे। किसने उसे ठीक से समझा कुछ पता नहीं पर कुछ भी हो यह महाराष्ट्र वाला युवक अपने विगत में सभी से सम्मानित रहा। उसने अपनी अन्तहीन यात्रा लक्ष्य की दिशा में आरंभ कर दी।

चलते हुए उसे लगभग तीन महीने बीत गए। इन चौरासी दिनों में जैसे चौरासी लाख योनियों का अनुभव हो गया है। षटरस और नवरस में सिर्फ एक मृदु का छोड़ अन्य सभी का स्वाद वह चख चुका! भगवत्प्राप्ति तो नहीं हुई हाँ जीवन जरूर श्मशान जैसा भयावना लगने लगा। अध्यात्म साधु-मन्दिर मठ इनके बारे में सोच कर एक विरक्तिजनक मुस्कान ही उभरती। पर नहीं सब एक जैसे यह भी तो एक साधु ही हैं। मात्र देश नहीं गैरिक वस्त्रों की अग्नि मंजूषा में गुणों की अपार सम्पदा सिमटी है।

'तुम पहले स्नान भोजन करो।' गैरिक बसन से आवेष्टित परिव्राजक ने युवक की पीठ पर हाथ फेरा जो भगवान् को पाना चाहता है, भगवान् उसे स्वयं पाना चाहते हैं वह तो उन्हें पायेगा ही।

युवक ने स्नान किया और थोड़ा-सा प्रसाद शीघ्रतापूर्वक मुख में डाल कर जल पी लिया। उसे भोजन स्नान की नहीं पड़ी थी। उसकी अभीप्सा तीव्र थी लगन में प्राण थे। वह कुछ मिनटों में ही महात्मा जी के पद प्रान्त में बैठ गया।

पहले तुम यह बताओ कि "तुमने अब तक किया क्या?" साधु ने तनिक स्मित के साथ पूछा।

'बड़ा लम्बा पुराण है!' उसने अपनी बात प्रारम्भ की। बताने लगा इधर वह बहुत भटका है। उसे एक योगी ने नेती-धौती-न्यौली ब्रह्मदातौन तथा अन्य अनेक योग की क्रियाएँ सिखाईं। उन क्रियाओं के मध्य ही उसके मस्तक में भयंकर दर्द रहने लगा। बड़ी कठिनाई से एक वृद्ध सज्जन की कृपा से दूर हुआ। उन्होंने ये सभी क्रियाएँ छुड़वा दीं।

'ये मूर्ख साधु!' कुछ रुष्ट हुए— 'ये योग की कुछ क्रियाएँ सीख कर अपने अधूरे ज्ञान से युवकों का स्वास्थ्य चौपट करते फिरते हैं। आज कहाँ हैं अष्टांग योग के ज्ञाता। यम-नियम की प्रतिष्ठा नहीं हुई जीवन में और चल पड़े आसन तथा मुद्राएँ करने। असाध्य रोग के अतिरिक्त और क्या मिलता है इस दूषित प्रयत्न में।'

'एक ने मुझे कान बन्द करके शब्द सुनने का उपदेश दिया' एक अन्य योगी मिले जिन्होंने ऐन्द्रजालिक जैसी तमाम क्रियाएँ दिखाईं।

'योगी।' इस शब्द के साथ ही साधु हँस पड़े बाजीगरी योग नहीं है। अधिकारी के अधिकार को बिना जाने चाहे जिस साधन में जोत दिया जाय वह पशु तो नहीं है। साधु कह रहे थे धारणा-ध्यान समाधि चाहे शब्द योग से हो चाहे लय-योग से किन्तु जीवन में चांचल्य बना रहेगा। समाधि कुछ क्रिया मात्र से मिल जायेगी, ऐसी दुराशा करने वालों को क्या कहा जाय।

उसने आगे फिर कहा "मैं सामान्य धार्मिक अग्रणियों के समीप भी रहा और विशाल मठों में भी। कुछ प्रख्यात पुरुषों ने मुझ पर कृपा करनी चाही। उसके स्वर में व्यंग्य नहीं केवल खिन्नता थी जो अपने आश्रय धर्म का निर्वाह नहीं कर पाते, जहाँ सोने-चाँदी का सेवन और सत्कार है, जो अनेक युक्तियाँ देकर शिष्यों का धन और शिष्याओं का धर्म अपहरण करने की कोशिश में लगे रहते है, वहाँ परमार्थ और अध्यात्म भी है इसे मेरी बुद्धि ने स्वीकार नहीं किया।"

'ओह!' इन अनुभवों ने साधु को खिन्न कर दिया। वह बोल पड़े "जहाँ संग्रह है, विलासिता है, वहाँ साधुता कहाँ है। जहाँ सदाचार नहीं, इन्द्रिय तृप्ति है, वहाँ से भगवान् बहुत दूर हैं। सच तो यह है कि हमें कुछ न करना पड़े कोई आशीर्वाद देकर सब कुछ कर दे, इस लोभ से जो चलेगा वह ठगा तो जाएगा ही। आज धन और नारी का धर्म जिनके लिए प्रयोजन है ऐसे वेशधारियों का बाहुल्य इसी कारण है। पर भगवान् जहाँ हैं जहाँ से उनकी पुकार उठ रही है उस ओर तो तुमने आँखें उठाकर भी नहीं देखा। तुम सिर्फ भटकते रहे और इस भटकन से उपलब्धि का क्या वास्ता?"

"कहाँ हैं भगवान्? कहाँ से उठती है उनकी पुकार?" लगभग चौंकते उसने ये सवाल पूछे। उसे लगा विषाद और आह्लाद की लगभग एक साथ अनुभूति है। विषाद समय गँवाने का और आह्लाद सही दिशा की ओर उन्मुख होने का।

'मानवता की भूमि पर बने सेवा के मन्दिर में प्रेम की भावमय मूर्ति बन कर प्रतिष्ठित है वह। उन निराकार की प्राप्ति संवेदना के

रूप में होती है। जन-मेदिनी के मध्य से उठ रहा कारुणिक रव उनकी पुकार है, उन्होंने अपना अनुभव कह सुनाया। मुझे भगवत्प्राप्ति इसी रूप में हुई है। सन्त की वाणी ने युवक के अन्तर्मन को झकझोर दिया। श्री रामकृष्ण परमहंस के इन शिष्य की बात सुनकर उन्हें लगा जैसे अनुभव साकार हो बोल रहा हो। मुर्शिदाबाद में अकाल पीड़ितों की सेवा और अपने कष्ट सहिष्णु जीवन के कारण वे प्रायः देश भर में विख्यात हो चुके थे। यहाँ सारगाछी में भी नंग-धड़ंग अनाथ बालकों को लेकर आराम में रहते। इनका व्यक्तित्व निर्माण ही उनकी उपासना थी। एक दिन तो सभी आश्चर्य में डूब गए जब उन्होंने एक काले-कलूटे नंग-धड़ंग बालक को पुरुष सूक्त के मंत्र में स्नान कराया वस्त्र आदि दिए। भोजन आदि की व्यवस्था कर अपनी पाठशाला में भरती कर लिया। इस विभिन्न किन्तु सत्य के इस अद्भुत संस्करण ने युवक के चिन्तन की चूलें हिला दीं।'

"मुझे भगवत्प्राप्ति के लिए क्या करना है यह ठीक मार्ग आप बताने की कृपा करें" वह उनकी ओर ताकते हुए बोल पड़ा।

भगवत्प्राप्ति के लिए करना होगा पुरुषार्थ ऐसा पुरुषार्थ जो ललकार कर कह सके कोई भी व्यक्ति दुष्कृत्य से मेरे सहयोग पर निर्भर नहीं रह सकता, कोई भी व्यक्ति मेरी उपस्थिति में निर्लज्जभाव से अनिष्ट चर्चा नहीं कर सकता। ऐसा पुरुषार्थ जब संवेदनामय हो उठेगा अथवा कारुणिक संवेदना जिस क्षण पुरुषार्थमय हो उठेगी समझो उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो गई।

साधु के ये शब्द उसे अग्नि मंत्र लगे। इसी अग्नि मंत्र से वह दीक्षित हुआ। ऐसी ही भगवत्प्राप्ति करूँगा युवक की वाणी में संकल्प के प्राण थे।

युवक की संकल्पित वाणी से अभिभूत होकर उन्होंने उसके मस्तक पर अपना आशीर्हस्त रखा "बेटा! इस काम के लिए बड़ी घोर तपस्या की आवश्यकता है। जीवन विधाता जिसे अपना कठोर कृपाण देते हैं उसमें उसे ग्रहण करने की शक्ति है या नहीं इसकी कठिन परीक्षा वे लेते हैं। अविचलित रहो, महान् संकल्प ही बड़ी वस्तु है।" इस बड़ी वस्तु को आजीवन धारण करने वाले युवक माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर को भारत ने गुरुजी के रूप में जाना। डॉ. हेडगेवार को उनमें अपना उत्तराधिकारी मिला। उनको मिली भगवत्प्राप्ति जिसकी उन्हें चिर अभीप्सा थी। ठीक उनके गुरु-स्वामी अखण्डानन्द की तरह जनक्रन्दन में उन्हें नियन्ता की पुकार सुनाई पड़ी।

ज्ञान और कर्म के प्रतीक—स्वामी मुक्तानन्द

महाराष्ट्र में ठाना जिले के अन्तर्गत भिवंडी तहसील में गणेशपुरी नामक ग्राम में कुटिया बनाकर रहने वाले स्वामी मुक्तानन्द महाराज ने महाराष्ट्र शासन द्वारा अधिक अन्न उत्पादन अभियान में सक्रिय सहयोग देने का बीड़ा उठाया और कृषि-विकास के नये-नये प्रयोग कर कृषि-क्षेत्र में अभिनव क्रांति करते रहे।

आध्यात्मिक ज्ञान एवं योग-साधना द्वारा श्रद्धालु किसानों का ध्यान आकर्षित करने वाले गणेशपुरी के स्वामी मुक्तानन्द महाराज प्राचीन ऋषि-मुनियों का आदर्श प्रस्थापित करते हुए उत्कृष्ट फूलों के बाग एवं कृषि-कार्य में तन-मन से संलग्न रहे।

स्वामी जी ने अपनी कुटिया के आसपास की बंजर जमीन स्वयं अपने हाथों से खोदकर एवं उसमें खाद आदि डालकर इतनी उपजाऊ बना ली थी कि आसपास के गाँव वाले प्रतिदिन उसे देखने आया करते थे। कुटिया के चारों ओर लगभग एक एकड़ जमीन में उन्होंने पपीता, केले, नीबू, अमरूद आदि फलों के तथा टमाटर, गोभी, लौकी, कद्दू, करेला, भिण्डी आदि साग-सब्जी की इतनी सुन्दर बाग बनाई थी कि देखने वाले स्वामी जी की इस परिश्रमशीलता की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। स्वामी जी ने कुछ मोर और कुत्ते भी पाल रखे थे, जो उनके नाम से पुकारते ही स्वामी जी के पास दौड़कर आ जाते थे। उनकी गाय का एक बछड़ा तो स्वामी जी के पास आते ही उनकी पीठ चाटने लगता था और बाद में उनके चरणों के पास चुपचाप बैठ जाता था।

स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज अपनी आध्यात्मिक साधना में संलग्न रहते हुए भी कृषि-कार्य में नियमित रूप से प्रतिदिन चार घण्टे श्रमदान करते थे तथा किसानों को अधिक से अधिक अन्न तथा फल पैदा करने के लिये प्रोत्साहित किया करते थे। स्वामी जी कहा करते थे कि "जप तप की अपेक्षा अन्न और फलों का उत्पादन करना आज परमेश्वर की महान् सेवा-भक्ति है। जितना आनन्द मुझे जप एवं ध्यान में आता है उससे अधिक आनन्द मिट्टी गोड़ने, पौधे लगाने और उन्हें खाद-पानी देने में आता था।"

स्वामी जी अपने बाग में फल एवं साग-सब्जी के विकास के लिये नये-नये प्रयोग किया करते थे जिसे देखने तथा उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करने प्रतिदिन बाहर के किसान स्वामी जी की कुटिया में आया करते थे और उनके बाग के ४-४ किलो के पपीते, ३-३ फुट लम्बी लौकिया एवं १-१ फुट के केले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। तत्कालीन महाराष्ट्र के कृषि-मन्त्री श्री बाला साहब साधना एवं कृषि-विशेषज्ञ पद्मश्री हरिश्चन्द्र पाटील स्वामी जी का बाग देखकर चकित हो गये थे और उन्होंने कहा था कि आज स्वामी जी ने पौराणिक काल के ऋषि-मुनियों का आदर्श उपस्थित कर साधु-संन्यासियों के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

स्वामी मुक्तानन्दजी ने धर्म शास्त्र, तत्वज्ञान, योग-शास्त्र एवं अध्यात्म शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। परन्तु ज्ञान एवं विद्वता के साथ ही उनमें लोक-सेवा की कर्मठ भावना भी उत्कटता से ओत-प्रोत थी। पांडित्य के भार से उनकी बालसुलभ निर्मल वृत्ति नष्ट नहीं

हुई थीं। हँसते-खेलते सीधे-सादे सुगम शब्दों में गहन एवं गूढ़ प्रश्नों के समर्थक, मार्मिक एवं ज्ञान गर्भ उत्तर देने वाले मुक्तानन्द जी को देखने वाला व्यक्ति प्रथम दर्शन में ही उनके प्रति आश्चर्यचकित और नत-मस्तक हो जाता था।

परन्तु इस शब्द-ज्ञान के बाह्य विस्तार से, वेदान्त के उपदेश से प्रत्यक्ष अनुभव की एक अलग दुनिया है, इस बात का स्वामी जी को हमेशा ध्यान रहता था। इसलिये उनके दर्शनार्थ आने वाले विभिन्न स्थानों के भक्तगण स्वामी जी के दर्शन के पश्चात् उनकी आदर्श कृषि एवं बाग का दर्शन कर नई प्रेरणा प्राप्त करते थे। बिल्कुल बंजर भूमि को उपजाऊ बनाकर उसे एक आदर्श बाग बनाना उनकी ईश्वर-भक्ति का ही एक सक्रिय प्रतीक है. स्वामी मुक्तानन्द जी का यह आश्रय कृषि फार्म जैसा प्रतीत होता था यहाँ प्रतिदिन दूर-दूर से अनेक किसान आकर कृषि-कार्य के नये-नये प्रयोग सीखकर जाते थे, जिनसे उनकी कृषि में कई गुनी पैदावार बढ़ जाती। स्वामी मुक्तानन्द जी प्रत्येक योजना एवं प्रयोग को पहले स्वयं सफलतापूर्वक अनुभव कर लिया करते थे।

मुख से प्रभु का अखण्ड नाम स्मरण करते हुये वे पेड़ पौधों को खाद-पानी दिया करते थे। इसका दर्शकों पर बड़ा ही अद्भुत प्रभाव पड़ता था। मानो ज्ञान-भक्ति और कर्म की त्रिवेणी-संगम में ही वे स्नान कर रहे हों।

आज भारत को स्वामी मुक्तानन्द जी,जैसे ही कर्मठ साधु-महात्माओं की आवश्यकता है, जो देश की अकर्मण्य एवं आदर्शहीन भ्रमित नई पीढ़ी को अपने ज्ञान के साथ-साथ कर्मशीलता का पाठ पढ़ाकर उसे नये युग का अग्रदूत बनाएँ।

भारतीय विद्या के साधक—सर-जान वुडराफ

ब्रिटिश शासन काल की कटु स्मृतियों के बीहड़ मरुस्थल में कुछ ऐसे मरुद्यान भी हैं जहाँ आज भी भारतीय विद्वज्जनों का मन कुछ क्षणों को विलमता है। अन्याय, शोषण, उत्पीड़न और स्वार्थपरता के प्रतीक इस विदेशी शासन के उच्च पदाधिकारियों में से अधिकांश अपनी नृशंसता के लिये जहाँ कुख्यात हैं वहाँ चन्द ऐसे व्यक्ति भी थे जिनका नाम बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है। सर जान वुडराफ ऐसे ही एक सज्जन थे।'

सर-जान वुडराफ का नाम श्रद्धापूर्वक इसलिये स्मरण नहीं किया जाता कि वे अपने समय के बहुत बड़े विधिवेत्ता और कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश थे। वरन् उनका नाम चिरस्मरणीय है संस्कृत के तंत्रशास्त्र विषयक अथाह व अनमोल लेखन के कारण।

बंगाल के एडवोकेट जनरल सर जेम्स टिडमाल वुडराफ के घर १५ दिसम्बर, १८६५ को उत्पन्न हुए सर जान वुडराफ की शिक्षा-दीक्षा इंग्लैण्ड के पार्क स्कूल तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई। उनकी माता फ्लोरेंस ने जो जेम्स ह्यूम की पुत्री थी अपने इस होनहार पुत्र के निर्माण में अपना सम्पूर्ण कौशल दिखाया था। उसने जान को अन्य अँग्रेजों की तरह सोचने वाला नहीं, मनुष्य की तरह सोचने-विचारने और आचरण करने वाला बनाया। ज्युरिसप्रुडेंस और बी. सी. एल. की कानूनी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर वे बैरिस्टर बनकर भारत आये और कलकत्ता उच्च न्यायालय में वकालत करने लगे।

अपनी माँ के द्वारा दिखाये गये मानवता के पथ को उन्होंने जीवन पर्यन्त नहीं त्यागा। उन्हें अपने शासक वर्ग से सम्बधित होने का कोई मिथ्या दर्प नहीं था। उनके कानूनी ज्ञान को देखते हुए उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय की 'फैलो' व 'टैगोर ला प्रोफेसर' नियुक्त किया गया।''

व्यक्ति चाहे वह भारतीय है या अंग्रेज यदि उसके सोचने का ढंग सही है तो उसमें मानवता का भला ही होगा। उनकी वकालत अच्छी-खासी चलती थी पर वे वकालत करने पर ही नहीं पड़े रहे, उसके साथ ही उन्होने भारतीय कानून की पुस्तकों की कमी को पूरा करने की ओर भी ध्यान दिया। अमीर अली के सहयोग से तैयार किया गया संदर्भ ग्रन्थ 'सिविल प्रोसीजर इन ब्रिटिश इण्डिया' कानून के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

१९०२ में वे भारत सरकार के विधि सलाहकार, १९०४ में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश और १९१५ में वहीं के मुख्य न्यायाधीश बनाये गये पर उनका विनम्र और शर्मीला स्वभाव व मित-भाषण की आदत ज्यों की त्यों बरकरार रही। उनका मन कानून के दावपेचों में इतना नहीं रमता था जितना भारतीय प्राच्य विद्या के ग्रन्थों के अध्ययन में। भारतीय आर्ष ग्रन्थों को वे जिस मनोयोग से पढ़ते थे उसका चतुर्थांश भी विधि ग्रन्थों में नहीं लगा पाते थे

वे छोटे से थे तभी पढ़ने के लिये इंग्लैण्ड भेज दिये गये थे। जैसा अपने ब्रिटिश समाज के लोगों से सुना था और भारतीय युवकों को ब्रिटेन में उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते देखकर उन्होंने अनुमान लगाया था कि भारत में ज्ञान और बौद्धिक सम्पदा अत्यधिक न्यून है। किन्तु जब वे वहाँ से पढ़-लिख कर बैरिस्टर बनकर भारत लौटे और यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत सीख कर भारतीय धर्म, दर्शन अध्यात्म तथा तन्त्र-मन्त्र साहित्य को पढ़ा तो उनकी आँखें चौंधिया गयीं। इतनी सारी ज्ञान सम्पदा यहाँ यों ही उपेक्षित पड़ी है जबकि योरोपीय साहित्य उसके सामने कुछ भी नहीं है।

सर-जान वुडराफ उसी समय से अपने व्यवसाय से बचा हुआ सारा समय हिन्दू दर्शन ग्रन्थों के पठन में लगाने लगे। तन्त्रशास्त्र उन्हें ऐसा अछूता विषय लगा जिस पर अभी किसी ने विशेष काम नहीं किया था। यह विषय उनके अपने लिये बड़ा रोचक भी था।

आरम्भ में छद्म नाम से और तत्पश्चात् प्रकट रूप में उन्होंने भारतीय तन्त्र शास्त्रों की महत्ता और उसमें वर्णित तथ्यों पर महत्त्व-पूर्ण टीकाओं व तात्विक विवेचनों से परिपूर्ण लेख लिखने आरम्भ किये। उनका यह व्यसन दिन पर दिन बढ़ता ही गया। उसी का फल यह हुआ कि उनका यह अनमोल लेखन भारतीयों के लिये तथा तत्त्वज्ञान में रस लेने वाले पाश्चात्य विद्वानों के लिये पथ प्रदर्शक दीप सिद्ध हुआ।

सर जान वुडराफ ने तन्त्रशास्त्र पर कोई बीस-इक्कीस ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'कुलार्णव तन्त्र', 'तन्त्रराजतंत्र' और 'महानिर्वाण तन्त्र' में उन्होंने मूल संस्कृत संहिताओं का परिचय दिया है। 'आनन्द लहरी', 'महिम्नस्तव' 'कर्पूरादिस्रोत', 'देवीस्तव' आदि स्त्रोत रूप काव्यों का उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया।

'इन्ट्रोडक्शन टू तन्त्र शास्त्र', 'प्रिंसीपल्स ऑफ तन्त्र', 'द वर्ल्ड एज पावर' तथा 'महामाया' आदि उनके लिखे हुए शास्त्रीय विवेचना युक्त आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'द सर्पेंट पावर' में उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति और उसके जागरण के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण जानकारी दी है।

मन्त्र विद्या पर लिखा गया उनका ग्रन्थ 'द गार्लेण्ड ऑफ लेटर्स' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

सरजान वुडरफ ने इन ग्रन्थों से तन्त्र विद्या पर पड़े रहस्य का अनावरण करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उनके विवेचन में शास्त्रसम्मत व्युत्पत्ति व तलस्पर्शी अध्ययन आने वाली स्वच्छ दृष्टि का समन्वय होने से उनके ग्रन्थ अत्यधिक बोधप्रद सिद्ध हुए और यह भावना निर्मित हुई कि तन्त्र-मन्त्र विद्या का एक सुसंगत, शास्त्रीय तात्विक आधार है, इसके आचार अनुष्ठानों का स्वरूप धर्माचार और साधन का है।

भौतिक शक्तियों के जागरण की विद्या में तो पाश्चात्य जगत बढ़ाचढ़ा है पर आत्म विद्या के क्षेत्र में वह क ख ग भी नहीं जानता। सर-जान वुडराफ ने उसी आत्मविद्या और आत्मशक्ति के जागरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया तन्त्र व मन्त्र विद्या पर जिस गहराई और जिस मनोयोग से अध्ययन, मनन, चिंतन और लेखन किया वह विश्व के साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इनकी इस साधना ने एक ओर तन्त्र विद्या और मन्त्र विद्या तक शिक्षितजनों की पहुँच उत्पन्न की वहीं उस पर पड़े रहस्य से भी पर्दा उठाया। इसकी आड़ में कितने ही ढोंगी तांत्रिक-मांत्रिक अपना उल्लू सीधा कर रहे थे उनकी पोल खोल कर रख दी।

तन्त्र विद्या जैसे गूढ़ विषय पर इतना अध्ययन, पैठ और लेखन कितने श्रम और साधना का परिणाम हो सकता है यह अनुमान से परे का विषय है। इस समय-दान के लिये वे स्तुत्य है। उनका यह कार्य एक प्रकार से असम्भव को सम्भव बना देने जैसा ही है। उनका यह जीवन मानव इतिहास का एक स्मरणीय पृष्ठ है।

000

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी

प्राचीन भारत का महान् वैज्ञानिक—सिद्ध नागार्जुन

पातंजलि योगदर्शन में बतलाया गया है कि योग की दिव्य विभूतियों को प्राप्त करने के कई मार्ग है। जिस प्रकार षट्चक्रों का वेध करने से, पंचकोशों की साधना करके चेतना के उच्च स्तर पर आरूढ़ होने से, ज्ञानयोग का अभ्यास करके अपने को परमात्मा-स्वरूप अनुभव कर लेने से मनुष्य योग की चमत्कारी सिद्धियों का स्वामी बन सकता है, उसी प्रकार शक्तिशाली जड़ी-बूटियों और औषधियों का प्रयोग करके भी इस कार्य में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

भारत के प्राचीन रस वैद्यों ने पारद के सम्बन्ध में बड़ी खोजबीन की थी। जिस प्रकार आजकल के वैज्ञानिकों ने 'यूरेनियम' धातु के प्रयोग से उस 'अणु शक्ति' को प्राप्त कर लिया है, जिससे आप चाहें तो संसार की प्रलय कर दें और चाहें इस पृथ्वी को सुवर्ण मंडित बनाकर मनुष्यों को देवताओं के समान अजर-अमर बना दें, उसी प्रकार प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने भी पारद के ऊपर प्रयोग करके ऐसी विधियाँ निकाली थीं, जिससे ताँबे का सोना बनाना तो संभव था ही, साथ ही मनुष्य अपने भौतिक शरीर को पूर्णतः नहीं तो अधिकांश में अमर भी बना सकता था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में तंत्र-विद्या के साधक कापालिक ने महाराज हरिश्चन्द्र को 'पारद गुटिका' का प्रयोग करने की सम्मति देते हुए कहा था—

याही के परभाव सों, अमर देव सम होय।
योगीजन विहरें सदा, मेरु शिखर भय खोय॥

सिद्ध नागार्जुन भारतवर्ष का इसी श्रेणी का एक महान् वैज्ञानिक था। वैसे वह सन् १०५५ में सौराष्ट्रान्तर्गत 'ढांक' नामक समृद्धशाली नगर का अधिपति था, पर उसकी रुचि राज्य-शासन की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन और खोज की तरफ विशेष रूप से थी। उसने संसार की काया-पलट कर देने के लिये 'अमृत' और 'पारस' की खोज करने का निश्चय किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक बड़ी प्रयोगशाला बनाकर जड़ी-बूटियों द्वारा पारद-सम्बन्धी परीक्षण आरम्भ किये। साथ ही देश के विख्यात 'रस वैज्ञानिकों' और साधकों को बुलाकर उनका सहयोग भी इस कार्य में प्राप्त किया। अपनी आंतरिक लगन और कठोर साधना के कारण उसे शीघ्र ही आश्चर्यजनक सफलता मिली और किसी घटिया धातु के सोने के रूप में बदल देना उसके लिए साधारण-सी बात हो गई। मानवीय देह को अमर बनाने के प्रयत्न में भी वह बहुत कुछ सफल हुआ। उसकी इन महान् वैज्ञानिक खोजों का प्रमाण उसके बनाये 'रसोद्धार तन्त्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसे आज भी आयुर्वेद जगत में अद्वितीय माना जाता है। पर परिस्थितियोंवश नागार्जुन को अपने कार्य को पूर्ण करने का अवसर नहीं मिल सका और दस वर्ष तक ढांक का राज्याधिकारी रहने के बाद ही उसका अन्त हो गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि नागार्जुन ने अपनी समस्त शक्ति और समय 'अमृत' की खोज में लगा दिया था। इस कारण वह राज्य कार्य की उपेक्षा करने लगा और देश में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। यह देखकर राज्य के हितैषी मन्त्रियों ने सामूहिक रूप से उसके पास जाकर प्रार्थना की कि उसकी विज्ञान रुचि के कारण राज्य की क्षति हो रही है, प्रादेशिक सामन्त स्वेच्छाचारी बनकर कर देना बन्द कर रहे हैं, उपद्रवी तत्त्व बढ़ने लगे हैं और विदेशियों के आक्रमण का पूरा भय उत्पन्न हो गया है।

मन्त्रियों की बात सुनकर नागार्जुन ने कहा— "मित्रो! तुम्हारा यह कहना ठीक है कि मैं अमृत की खोज में लगा हुआ हूँ और इससे राज्य कार्य की उपेक्षा हो रही है। पर जिन दो विपत्तियों का भय तुमने प्रदर्शित किया, उनकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। अगर सामन्तों से कर मिलना बन्द हो जाय तब भी मेरा खजाना सुवर्ण से भरा रह सकता है और यदि कोई विदेशी मेरे राज्य पर आक्रमण करने का साहस करेगा, तो मैं सेना के बजाय थोड़ी-सी औषधि से ही उसको नष्ट करने की सामर्थ्य रखता हूँ। याद रखो कि अमृत की खोज के साथ 'मृत्यु' की खोज स्वयं होती चली जाती है। वैसे मेरा उद्देश्य किसी का विनाश करना नहीं है, वरन् मैं तो मनुष्य मात्र को अर्थाभाव और मृत्यु के भय से मुक्त करने के लिए ही इस साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ।"

पर जब मन्त्रियों ने विशेष आग्रह किया और आंतरिक उपद्रवों का भय बतलाया तो नागार्जुन ने कहा— "राष्ट्र के हितेच्छु मन्त्रियो! अगर राज्य को संभालने का आपका ऐसा ही आग्रह है तो युवराज को बुलाओ और मैं आज ही अपना राज-मुकुट उसके मस्तक पर रख देता हूँ। फिर आप लोग उसको शिक्षा देकर राज्य संचालन की उचित व्यवस्था करें। मैं तो जब तक अमृत की खोज में पूर्ण सफलता प्राप्त न करलूं तब तक अन्य किसी बात पर ध्यान नहीं दे सकता।"

मन्त्रीगण महाराज नागार्जुन की धुन और दृढ़ निश्चय को जानते थे। उन्होंने उसी दिन एक बड़ी सभा करके उक्त निर्णय उसमें प्रकट किया और युवराज को गद्दी पर बैठाकर सर्वत्र उसकी घोषणा करादी। नागार्जुन भी निश्चिन्त होकर पूर्ण रूप से अपने परीक्षणों में दत्तचित्त हुआ।

नागार्जुन ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूर-दूर देशों और पर्वतों से तरह-तरह की नई जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी करनी आरम्भ कीं और अपनी प्रयोगशाला में उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रयोग करने लगा। सुवर्ण बनाने के लिये तो औषधियों का प्रयोग ताँबा आदि धातुओं पर किया जाता था, पर अब अमृत की खोज करने के लिये

तो उनका प्रयोग मानव देह पर ही किया जाना आवश्यक था । पर अज्ञात जड़ी-बूटियों का सेवन करके उनके प्रभाव की जाँच करना खतरे से खाली न था और कोई व्यक्ति इसके लिए अपने प्राण संकट में डालने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता था । इसलिये नागार्जुन उनका प्रयोग अपनी ही देह पर करने लगा । इस कारण अनेक बार उसे कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था, पर जिस प्रकार कोई तपस्वी अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये तप आरम्भ करने पर प्राणों के मोह को सर्वथा त्याग देता है और अपनी समस्त शक्तियों तथा भावनाओं को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित कर देता है, उसी प्रकार नागार्जुन अमृत की खोज के कार्य में एक सच्चे साधक के समान संलग्न हो गया । उसे न सुख-दु:ख की चिंता थी, न खाने-पीने की फिकर थी और न परिश्रम, बाधाओं और विघ्नों से भयभीत था । अब वह एक राजा के बजाय एक कठोर व्रतधारी योगी या त्यागी का जीवन व्यतीत कर रहा था ।

धीरे-धीरे नागार्जुन को अपने कार्य में सफलता प्राप्त होने लगी । अमृत की प्राप्ति के पहले ही उसने अपने शरीर को साधना द्वारा इस योग्य बना लिया कि वह सब प्रकार के परीक्षणों के भले-बुरे प्रभाव को नि:शंक होकर सहन कर सके । उसने अपनी दैहिक स्थिति को इतना सुदृढ़ बना लिया कि न तो उस पर किसी शस्त्र आदि का प्रभाव पड़ सकता था और न किसी प्रकार के विष आदि से उसको हानि पहुँचाई जा सकती थी । उसकी सहन-शक्ति चरम सीमा तक पहुँच गई थी और वह निरन्तर अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होता जाता था ।

एक दिन युवराज महाराज नागार्जुन की प्रयोगशाला में उनके दर्शनार्थ आया । महाराजा ने पुत्र को आशीर्वाद देकर अपनी प्रयोग-शाला के विभिन्न विभागों को दिखलाया और कहा— "बेटा, अब मैं बहुत थोड़े दिन में ही संसार से मृत्यु के भय को हटाने में समर्थ हो जाऊँगा । भगवान् धन्वन्तरि की कृपा से अमर बनाने वाली समस्त औषधियाँ मिल गई हैं और अब केवल उचित मात्रा में विधिपूर्वक उनका योग करना ही शेष रह गया है । जो कार्य प्राचीन समय में अश्विनी कुमार, लंकेश्वर रावण और आयुर्वेद के जनक चरकाचार्य से पूर्ण नहीं हो सका था, उसकी विधि मेरी समझ में आ गई है । भगवान् ने चाहा तो संसार में शीघ्र ही ऐसे युग का आविर्भाव होगा जबकि दरिद्रता और मृत्यु के भय से लोग मुक्त हो जायेंगे और पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य दिखलाई पड़ने लगेगा ।"

अपने पिता की महान् सफलता को देखकर युवराज बड़ा प्रभावित हुआ, साथ ही उसे यह भय भी हुआ कि कहीं इस कार्य की समाप्ति हो जाने पर नागार्जुन फिर राज्य-सत्ता को लेने का विचार न करें । पर उस समय वह बिना कुछ कहे-सुने अपने महलों को लौट गया ।

कहते हैं कि इसके बाद राजकुमार ने जब अपने इस भय की चर्चा अपने घनिष्ठ इष्ट-मित्रों से की तो उनमें कुछ ने, जो गुप्त रूप से नागार्जुन के विरोधी थे, उसे इस 'भय' से छुटकारा पाने की सलाह दी । अन्त में सबने षड्यन्त्र रचकर ऐसी योजना बनाई जिससे छलपूर्वक नागार्जुन अपनी प्रयोगशाला सहित विनष्ट हो गया ।

इस प्रकार यद्यपि नागार्जुन का 'अमृत' बनाने का स्वप्न साकार न हो सका, पर उसके प्रयत्नों ने पारद-विज्ञान और रसशास्त्र की इतनी अधिक उन्नति कर दी कि उसके द्वारा भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की बड़ी प्रगति हुई । विभिन्न धातुओं की भस्मों द्वारा कठिन से कठिन रोग पूर्वापेक्षा अधिक शीघ्रता से दूर किये जाने लगे । जो लोग पारद की भस्म बनाने में सफल हुये, वे उसके प्रयोग से अमर नहीं तो दीर्घजीवन की प्राप्ति में समर्थ हो सके । उसने जो साधारण धातुओं को सुवर्ण में परिवर्तित करने की विधि निकाली उसके भी कुछ चिह्न वर्तमान समय के कीमियागरों में पाये जाते हैं । आजकल भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा रासायनिक सुवर्ण बनाने के समाचार सुनने और पढ़ने में आते रहते हैं, चाहे उनका बनाया स्वर्ण कुछ हलकी जाति का ही क्यों न हो ।

इस प्रकार नागार्जुन ने अपने आविष्कारों द्वारा लोक-कल्याण का एक ऐसा मार्ग खोल गया, जिस पर चल कर ज्ञान-विज्ञान के अभ्यासी उल्लेखनीय सफलतायें प्राप्त कर सकते हैं ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'पारस' और 'अमृत' अति प्राचीन काल से अत्यन्त आकर्षक विषय रहे हैं । भारतवर्ष ही नहीं अन्य देशों में भी अनगिनती लोग कीमियागरी के पीछे पागल होकर घूमते रहे हैं । योरोप के कितने ही देशों में तो प्राचीनकाल में कीमियागरों को प्राणदण्ड देने का नियम बना दिया गया था, क्योंकि ऐसे काम को वहाँ 'जादू' समझा जाता था और यह ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध था । पर कुछ भी हो इन्हीं कीमियागरों के उलटे-सीधे परीक्षणों के फलस्वरूप रसायन-विज्ञान की बहुत बातें मालूम हो गईं जिनकी नींव पर ही आधुनिक रसायन-विज्ञान का भवन खड़ा किया गया है । उन प्राचीन कीमियागरों के लिए यह बात भी कम गौरवास्पद नहीं है कि आज उन्हीं के उत्तराधिकारी वैज्ञानिकों के प्रयत्न स्वरूप सोना बना सकना कोई असम्भव बात नहीं रह गई है । वैज्ञानिक लोग अपनी प्रयोगशालाओं में सीसे के छोटे कणों को सोने में परिवर्तित करने में सफल हो चुके हैं, यह बात दूसरी है कि अभी उसमें बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है । पर वह दिन अधिक दूर नहीं है कि यदि विज्ञान की वर्तमान प्रगति कायम रही तो सोना संसार में एक साधारण वस्तु हो जायेगा ।

अटूट निष्ठा तथा अडिग विश्वास के धनी श्री देवमित्र धर्मपाल

कोई कारण नहीं कि एक लक्ष्य बनाकर अपनी सारी शक्तियाँ, यदि हम एक ही ओर लगा दें, जीवन की सारी गतिविधियाँ उधर ही मोड़ दें तो सफलता हमसे दूर रहे । होता यह है कि किसी क्षणिक उत्तेजनावश या भावुकता के वश होकर हम कोई कार्य प्रारम्भ तो कर

देते हैं किन्तु कुछ ही समय बाद मार्ग की कठिनाइयों को देखकर ही हमारी निष्ठायें ढीली पड़ने लगती हैं, हिम्मत टूटने लगती है और पैर बीच में ही थक कर आगे चलने से इन्कार कर देते हैं।

धर्मपाल जी उन व्यक्तियों में नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन का जो एक उद्देश्य निर्धारित कर लिया तो उसी पर डटे रहे और बहुत अंशों में सफलता भी प्राप्त की। आपका जन्म १७ सितम्बर सन् १८६४ में कोलम्बो में हुआ। आप बौद्ध धर्मावलम्बी समाज के एक धनी मानी पिता के पुत्र थे। सन् १८७३ में इन्हीं के परिवार के लोगों द्वारा 'पाली विद्योदय कॉलेज' की स्थापना हुई। सन् १८८० में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की और इसी समय उनकी आयु भी आई कि स्वयं कुछ सोच-समझ सकें, जीवन को मौलिक दृष्टि से देख सकें। इसी समय भारत से सीलोन गई हुई श्रीमती ब्लैवेटस्की से आप की भेंट हुई। आप थ्योसोफिस्ट सोसायटी की जन्मदात्री थीं। इनके विचारों से किशोर धर्मपाल इतने प्रभावित हुए कि उनके साथ भारत आ गये। मैडम ब्लैवेटस्की की ही प्रेरणा से आपने पाली भाषा का गहन अध्ययन किया। पाली पढ़ते हुए बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन आपने किया।

बस, इसी समय आपके मन में यह विचार उठा कि क्यों न अपना जीवन भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार में ही लगा दिया जाय। गत ८०० वर्षों में जो महान् धर्म विलुप्त प्राय: ही हो गया है उसे फिर से जीवन देकर सप्राण कर दिया जाय तो मानव जाति की महती सेवा हो सकती है। इस समय आपकी आयु केवल २० वर्ष की थी। यही व्रत लेकर आप घर-बार की सारी मोह-ममता त्याग कर घर से चल पड़े। अड्यार (मद्रास) में ६ वर्ष तक आपने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया। साथ ही अंग्रेजी भाषा का भी अभ्यास किया। इसी समय लेख लिखने का तथा भाषण देने का अभ्यास भी खूब किया। सन् १८९० में उन्होंने गया की यात्रा की और महाबोधि मन्दिर तथा वृक्ष के दर्शन किये। वहाँ के शैव महन्तों की अनुचित कार्यवाहियों को देखकर आपके हृदय में बड़ी वेदना हुई और आपने निश्चय किया कि महाबोधि मन्दिर को फिर बौद्ध धर्मानुयायियों के अधीन लाने का प्रयत्न करेंगे।

मन में जब जीवन का एक लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तो सारे क्रिया-कलाप उधर ही केन्द्रित होने लगते हैं। अब उनके जीवन का भी एक ही ध्येय बन गया था। बौद्ध धर्म का अधिक से अधिक प्रचार तथा प्रसार। समस्त भारत में बौद्ध धर्म को फैलाने की लालसा मन में जम चुकी थी। मार्च सन् १८९१ में आप कलकत्ते आए। अधिकांश समय ऐशियाटिक सोसायटी में बैठकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करते तथा शेष समय कॉलेज स्क्वायरों में जाकर भाषण करते थे। इसी समय आपने महाबोधि सोसायटी की स्थापना भी की और मन्त्रित्व के पद का भार भी सँभाला। गया में बौद्ध यात्रियों को ठहरने आदि की असुविधा को देखकर आप ने ही स्वयं बर्मा तथा सीलोन घूम-घूम कर चन्दा इकट्ठा किया तथा गया में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा वह धन देकर बौद्ध यात्रियों के लिये एक सुन्दर धर्मशाला का निर्माण करवाया।

जनवरी सन् १८९३ में 'महाबोधि' नामक एक मासिक पत्र निकाला जिससे बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में वे सोई जनता को सजग कर सकें। इस पत्र की ही एक प्रति शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन के आयोजकों के हाथ लगी और वे उससे इतने प्रभावित हुए कि वृहत् सर्व-धर्म सम्मेलन में आपको आमन्त्रित किया गया। भारत के आमन्त्रित दो प्रतिनिधियों में एक आप भी थे। अमेरिका के सभी प्रमुख पत्रों ने आपकी प्रशंसा तथा विद्वता के समाचार छापे।

बौद्ध धर्म के प्रति अपार श्रद्धा आपकी प्रत्येक गतिविधि को उसी ओर संचालित करती रही। सारा जीवन, सारे प्रयत्न इसी में लगा दिये।

और जब वे ६८ वर्ष के थे और अस्वस्थ थे, तब भी उनकी प्रत्येक श्वास अपने इसी एक उद्देश्य को प्राण देती रहती थी। सारे जीवन भर बहुत कुछ कर चुके थे किन्तु लक्ष्य इतना बड़ा था कि एक जीवन में पूरा नहीं हो सकता था। बहुत अंशों में पूरा कर लेने के पश्चात् भी उन्हें— उनकी आत्मा को संतोष नहीं था और इसी समय उन्होंने अपनी एक भेंट में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी से कहा था कि — "भगवान् बुद्ध के धर्म प्रचारार्थ मैं २५ बार जन्म ग्रहण करूँगा।"

धन्य है ऐसी निष्ठा तथा लगन। जो इस एक जीवन और शरीर को तो अपनी उद्देश्य पूर्ति में लगाये ही रखती है किन्तु उसकी पूर्ति न हो सकने पर पच्चीस बार उसी के लिये जन्म ग्रहण करते रहने और मरते रहने के क्रम की आकांक्षा करती है।

हिन्दू-संस्कृति के सच्चे सेवक— राजा राममोहन राय

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व बंगाल के हुगली जिले में राजा राममोहन राय उन दिनों पैदा हुए थे जबकि हिन्दू-धर्म पर अज्ञान का अन्धकार अपने प्रबल प्रकोप के साथ छाया हुआ था। देर से कोई सुधारक जन्मा न था और विकृतियों ने अविवेकपूर्ण रूढ़ियों के रूप में जनमानस को बुरी तरह आच्छादित कर रखा था। भारतीय सभ्यता के उच्च आदर्श केवल पुस्तकों में लिखने-पढ़ने भर की चीज रह गये थे, व्यवहार में अनुपयुक्त अन्ध परम्पराएँ ही धर्म का रूप बनायें बैठी थीं।

अंग्रेजी शासन की जड़ जम चुकी थी। राज्य-आश्रय पाकर ईसाई धर्म तेजी से फैल रहा था। मुसलमानी धर्म भी शताब्दियों से शासकों की छाया में पनप रहा था। इन धर्मों में बुद्धिवादी और प्रतिभाशील लोग पर्याप्त संख्या में मौजूद थे जो अपने धर्मों की विशेषता बताने और हिन्दू मान्यताओं का मखौल उड़ाने में कुछ कमी न रखते। इस प्रचार से प्रभावित होकर शिक्षित युवक तेजी से विधर्मी बनते चले जा रहे थे। विचारशील लोग अपने धर्म को छोड़ते जा रहे थे, केवल कट्टरपन्थियों पर ही उसका आधार स्थिर रह रहा था।

अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन पूरा करके राजा राममोहनराय ने हिन्दू धर्म-शास्त्रों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों को अत्यन्त प्रेरणाप्रद एवं

प्रगतिशील पाया, पर साथ ही यह भी देखा कि उन दिनों चौका-चूल्हा, छूत-छात, भाग्यवाद, मन्दिरों में होने वाले अनाचार और अपव्यय जैसी संकीर्णताएँ जो धर्म का प्रधान अंग समझी जाती थीं, उनके लिए प्राचीन धर्म-शास्त्र में कोई स्थान नहीं है। इनके समर्थन में तो तत्कालीन संस्कृत के पण्डितों ने कुछ श्लोक गढ़कर प्राचीन ग्रन्थों में मिला देने की धृष्टता मात्र की है। जैसे-जैसे वे इस सम्बन्ध में अधिक विचार करते गये उन्हें यह ही निश्चय होता गया कि प्राचीन आदर्शों पर चलने से ही अपने समाज का कल्याण हो सकता है। वर्तमान रूढ़ियाँ तो हर दृष्टि से अहित ही करती चली जायेंगी, इसलिए उनको बदलना और सुधारना आवश्यक है।

राजा राममोहन राय को हिन्दू-धर्म से अगाध प्रेम था, वे उसे विचारशील लोगों की दृष्टि में सशक्त, प्रबुद्ध, आदर्श और आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे और जिन अनुपयुक्त रूढ़ियों के कारण अपना उपहास होता था उन्हें अशास्त्रीय और अनावश्यक समझ कर हटाना चाहते थे। वे जानते थे कि विचारशील नई पीढ़ी को हिन्दू-धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करके ही विधर्मी होने से बचाया जा सकता है। उन्हें लगा कि विधर्मी आक्रमणकारी हिन्दू-धर्म को भले ही मिटा न सके हों, पर उसकी मूर्खतापूर्ण रूढ़ियाँ उसे बर्बाद करके ही छोड़ेंगी, इसलिए उन्हें सुधारने और प्राचीन आदर्शों के अनुरूप हिन्दू-धर्म को बनाने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस निष्कर्ष पर पहुँच कर राजा राममोहन राय ने एक समाज सुधारक के रूप में काम करना आरम्भ कर दिया।

मन्दिरों में होने वाली अपार धन राशि का अपव्यय, अलग-अलग मन्दिरों में अलग-अलग प्रकृति के देवता, मनौती मानने पर बुरे काम में भी देवता से सहायता पाने की मान्यता, पशुबलि जैसी नृशंसता, देवदासी प्रथा के नाम पर मन्दिरों पर वेश्यावृत्ति, पुजारियों का अहंकार और शोषण उन्हें तनिक भी पसन्द न आया। वे आस्तिक थे, भगवान् को मानते थे और उसकी उपासना की उपयोगिता भी स्वीकार करते थे पर यह नहीं मानते थे कि— उसे पूजा, प्रलोभन देकर अनुचित कार्यों में सहायता करने के लिए भी राजी किया जा सकता है। अपने विचारों को उन्होंने तत्कालीन समाचार-पत्रों में छपाया और भाषण भी दिये। फलस्वरूप रूढ़िवादी लोग उनके विरुद्ध हो गये। इन विरोधियों में एक उनके पिता भी थे, जिनकी नाराजी के कारण युवक राममोहन राय को घर छोड़ कर भागना पड़ा।

हिन्दू-धर्म में प्रचलित संकीर्णता को देखकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। वे बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुए और उसका अध्ययन करने तिब्बत चले गये। वहाँ भी उन्होंने लामाओं को ईश्वर के समान अपनी पूजा कराते देखा तो बड़े खिन्न हुए। उन्हें बुद्धिवादी-बौद्ध-धर्म-से बड़ी आशा थी। पर स्वार्थपरता और संकीर्णता का वहाँ भी बोलबाला देखा तो निराश होकर वहाँ से भी लौट पड़े। मनुष्य अपने को ईश्वर बताये यह धृष्टता उन्हें सहन न हुई और खुले रूप में इसका विरोध करने लगे। लामाओं को यह पता चला तो वे उनकी जान के गाहक बन गये। बड़ी कठिनाई से एक उदार तिब्बती महिला की सहायता से वे निकल भागने में समर्थ हुए और वापस भारत आ गये।

पिताजी की मृत्यु के बाद वे घर पर ही रहने लगे और शास्त्रों के अध्ययन में अधिक समय लगाने लगे। इसी बीच उनके बड़े भाई की मृत्यु हो गई। परिवार के लोगों ने उसकी भोली स्त्री को आवेश दिला कर सती होने के लिए राजी कर लिया। बेचारी डरते-डरते पति की लाश के साथ चिता पर बैठी पर जैसे ही आग जलने लगी वह मर्मान्तिक पीड़ा से व्याकुल होकर चिता से उठ भागी। कुटुम्बी लोगों ने बाँस मार-मार कर उसे पुन: चिता में झोंक दिया। कोई उसकी चीत्कार सुन न सके, इसलिए जोरों से बाजे बजने का प्रबन्ध कर दिया। इस घटना को जब राममोहन राय ने देखा तो उनकी आँखों में खून बरसने लगा। उन दिनों बंगाल में सती-प्रथा का बहुत जोर था। विधवाओं का निर्वाह भार सहन न करना पड़े और उसके पति की सम्पत्ति को हड़पने का अवसर मिल जाय इस लालच में लोग बेचारी शोकाकुल विधवा को सती होने का उपदेश देते थे, जलने में कोई कष्ट न होने का बहकावा देते थे, कमजोरी दिखाने पर कटु-वचन कहते थे और स्वीकृति न सही चुप हो जाने पर भी स्वीकृति की घोषणा करके उसके सती करने की तैयारी करा देते थे। अपने वंश की नामवरी भी उन्हें उसी में दीखती थी। मरने के पूर्व विधवा को नशीली चीजें खिला देते थे ताकि वह जलते समय कुछ बोल न सके। धर्म के नाम पर चलने वाली इस नृशंसता के सम्बन्ध में राजा राममोहन राय ने पूरी खोज-बीन की और बेचारी विधवाओं को किस प्रकार सती होने के लिए उद्यत किया जाता है इस क्रूरता के छिपे रहस्यों का ऐसा खोजपूर्ण एवं दिल दहला देने वाला चित्रण पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया कि पढ़ने वाले के पत्थर हृदय को भी पसीजना पड़ा।

सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने घनघोर आन्दोलन किया। रूढ़िवादियों ने उनका फिर विरोध किया पर वे अपने कार्य में लगे ही रहे। जन-मत उनके पक्ष में हुआ और प्रजा के गणमान्य लोगों ने सरकार से माँग की कि इस नृशंसता के विरुद्ध कानून बनाया जाय। अंग्रेजी सरकार मान गई और कानून बना कर सती प्रथा को रोक दिया गया। इस प्रकार इस महान् समाज-सुधारक की एक बड़ी आकांक्षा पूरी हुई। उस कानून से जिन सहस्रों विधवाओं को जीवित जला डालने के षड्यन्त्र से त्राण मिला उनकी आत्माएँ इस महान् सुधारक की कितनी उपकृत हुई यह कहने की आवश्यकता नहीं।

विधवाओं की दुर्दशा का दृश्य उनकी आँखों के सामने घूमता तो एक सहृदय व्यक्ति की भाँति वे फूट-फूट कर रोने लगते। उन्होंने विधवा विवाह की आवश्यकता प्रतिपादित की और इसे प्राचीन परम्पराओं और शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल सिद्ध करने के लिए 'विधवा विवाह मीमांसा' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया जिससे लोगों की आँखें खुलीं और जाना कि यदि किसी विधवा का पुनर्विवाह कर दिया जाता है तो उसमें धर्म या शास्त्र का तनिक भी उल्लंघन नहीं होता। पुरातनपंथी लोग हर नई बात को अधर्म मानने की तरह इन विचारों का भी विरोध करते रहे पर विचारशील लोगों का समर्थन दिन-दिन बढ़ता ही चला गया। अविवेकपूर्ण बातों का विरोध करने वाले लोगों

को अन्ततः परास्त ही होना पड़ता है फिर वे भले ही बहु-संख्यक क्यों न हों। अकेले राजा राममोहन राय का प्रतिपादन धीरे-धीरे जनता द्वारा एक तथ्य और औचित्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा और विधवाओं के मार्ग से एक बड़ी कठिनाई किसी हद तक दूर हो सकी।

नर और नारी को एक स्तर पर लाने और उनके कर्त्तव्य एवं अधिकार समान घोषित करने की दिशा में राजा साहब ने जो कार्य किया उससे हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता बढ़ी और इस प्रकार मानवता की एक बड़ी सेवा उनके द्वारा बन पड़ी।

वे हिन्दू धर्म के यथार्थ स्वरूप से नवयुवकों को परिचित कराना चाहते थे इसलिए उन्होंने हिन्दू कॉलेज की नींव डाली। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापन महामना मालवीय जी की तरह राजा राममोहन राय भी यही चाहते थे कि हमारी प्रबुद्ध नई पीढ़ी हिन्दू संस्कृति की महानताओं और विशेषताओं से परिचित होकर अपने आचरणों द्वारा इस उत्कृष्ट आदर्शवाद को विश्व मानव की प्रगति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम सिद्ध करे। हिन्दू कॉलेज उन्होंने इसी उद्देश्य से स्थापित किया और बड़ी लगन से उसे चलाया भी। उन दिनों ईसाई शिक्षा संस्थाओं का जाल फैल रहा था उनके मुकाबले में यह प्रयास दुस्साहसपूर्ण ही था। इस प्रयास को सफल बनाने के लिए उन्हें बाधाओं से निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ा।

समाज सुधार आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए उन्होंने 'सम्वाद कौमुदी' और 'मीरत अल अखबार' नामक दो साप्ताहिक पत्र चलाये। उन दिनों सरकारी प्रेस प्रतिबन्ध बहुत कड़े थे, कोई व्यक्ति सरकार की मर्जी के विरुद्ध कुछ छाप नहीं सकता था। इन नियन्त्रणों के विरुद्ध राजा साहब ने बहुत आन्दोलन किया और प्रतिबन्धों को शिथिल कराया।

हिन्दू धर्म से सच्चा प्यार करने वाले, राजा साहब इस महान् संस्कृति को उसके वास्तविक रूप में परिष्कृत करने के लिए अथक परिश्रम करते रहे। उनके प्रयासों से हिन्दू धर्म पर से डगमगाती हुई नई पीढ़ी की आस्था पुनः जमी और बुद्धिजीवी वर्ग विधर्मी संस्कृति के चंगुल में फँसने से बच गया। इसका बहुत कुछ श्रेय इस महान् सुधारक को दिया जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

ऐसे थे त्यागमूर्ति देशबन्धु चित्तरंजन दास

देशबन्धु चित्तरंजन दास हमारी आजादी की लड़ाई के एक जबर्दस्त सेनानी थे। गाँधीजी के परिचय में आने से पहले वे कलकत्ते में वकालत करते थे और हजारों रुपये महावार कमाते थे। लेकिन देश की सेवा करने के लिए उन्होंने इस भारी कमाई को ठुकरा दिया और अपना सारा समय वे गरीबों की सेवा में बिताने लगे। उनकी गृहस्थी का खर्च बहुत बड़ा था, इसलिए वकालत छोड़ने के बाद उन्हें कुछ कर्ज करना पड़ता था। यह कर्ज वसूल करने के लिए एक दिन साहूकार उनके यहाँ आया और अपना पैसा माँगने लगा। देशबन्धु के हाथ में उस समय कुछ नहीं था। अतः उसी समय उसके पैसे कैसे चुकाते ? किसी मित्र से लेकर कर्ज अदा कर देने की आशा से उन्होंने साहूकार से एक दिन का समय माँगा, लेकिन वह मुँह चढ़ाकर कमरे में ही बैठा रहा, टस-से-मस नहीं हुआ।

उसी वक्त एक बड़ा जमींदार उस कमरे में आया उसका एक बड़ा मामला अदालत में चल रहा था। पहले कई बार उसने अपने बड़े-बड़े मामलों में देशबन्धु को ही अपना वकील बनाया था। इसलिए इस मामले में भी देशबन्धु को ही अपना वकील बनाने के लिये आया था। उसने मामले की सारी तफसील उन्हें समझाई और एक लाख रुपये लेकर मामला हाथ लेने की विनती की। लेकिन अब तो देश सेवा करने के लिए उन्होंने वकालत छोड़ दी थी। इसलिए उन्होंने इन्कार कर दिया। जमींदार ने सोचा कि एक लाख रुपये कम मालूम होते होंगे, इसलिए वकील साहब मेरा मामला हाथ में लेने से इन्कार करते हैं। कुछ देर खामोश रह कर वह बोला— "दो लाख रुपये ले लीजिये, लेकिन मेरी इच्छा है कि यह मुकदमा आप ही लड़ें।" देशबन्धु ने हँसते हुए फिर इन्कार किया और कहा— "दो लाख का भी मैं क्या करूँ ? अपने देशवासियों की सेवा से अब मुझे फुरसत ही कहाँ मिलती है ?" जमींदार के मन में वकील के नाते देशबन्धु की शक्ति के बारे में बड़ा ऊँचा खयाल था। वह मानता था कि एक बार अगर देशबन्धु इस मामले को हाथ में ले लेंगे तो मेरी जीत अवश्य होगी। अन्त में उसने बड़े नम्र भाव से आग्रह किया— "वकील साहब, दो लाख अगर कम है, तो बताइये आपको कितने रुपये चाहिये ? बोलिये, आप माँगेंगे उतने रुपये मैं देने को तैयार हूँ, लेकिन मेरा मुकदमा तो आप ही लड़ें।" देशबन्धु ने फिर सर हिलाकर इन्कार कर दिया। आखिर निराश होकर जमींदार उनकी इजाजत लेकर कमरे से बाहर जाने के लिए उठा। पीछे-पीछे देशबन्धु दरवाजे तक उसे विदा करने गये।

वह साहूकार बैठे-बैठे दोनों की सब बातें सुन रहा था। देशबन्धु के इस अलौकिक त्याग से उसके अचरज का पार न रहा। खुद कैसे महापुरुष के घर कर्ज वसूल करने आया इसका उसे खयाल आया। जिसने बात ही बात में लाखों रुपयों को ठोकर मार दी, उसके यहाँ मैं पाँच हजार की वसूली करने आया हूँ ? वह बड़ा लज्जित हुआ और अपनी इस उतावली, लालच और ओछेपन के लिये उसे बड़ा दुःख हुआ। देशबन्धु जमींदार को विदा करके लौटे कि वह खड़ा हो गया और रो पड़ा। हाथ जोड़कर देशबन्धु से कहने लगा— "देवता, मुझे अपने रुपये नहीं चाहिए। मैंने आपके अद्भुत त्याग को पहचाना नहीं था। मेरी असभ्यता और ओछेपन के लिये मुझे क्षमा करें।" इतना कहकर वह साहूकार आँसू पोंछता हुआ कमरे से बाहर निकल गया।

देशबन्धु चित्तरंजन दास विलायत से बैरिस्टर होकर भारत लौटे और कलकत्ता में उन्होंने वकालत शुरू की। नये वकीलों को धन्धा चलाने में शुरू-शुरू में जो कठिनाइयाँ आती हैं, वैसी ही कठिनाइयों का सामना उन्हें भी करना पड़ा, मुवक्किल आते नहीं थे और खर्च

दिनों-दिन बढ़ता जाता था। उनका परिवार सम्पन्न और खुशहाल माना जाता था, परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं जिनके कारण उन्हें पैसे की बड़ी तंगी उठानी पड़ती थी।

देशबन्धु अपने पिता के बड़े लड़के थे। विलायत में उन्हें शिक्षा दिलाने के कारण तथा अपनी गम्भीर बीमारी के कारण उनके पिता पर काफी कर्ज हो गया था। उसमें एक अनसोचा आर्थिक संकट और आ गया। उससे सारा घर बिलकुल तबाह हो गया। उनके पिता स्वभाव के इतने उदार थे कि मुसीबतें उठाकर भी दूसरों की मदद करते थे। मौका आने पर खतरे का सामना करके भी अपने मित्रों की सहायता करने के लिये वे हमेशा तैयार थे। एक बार किसी मित्र की ओर से बड़ी रकम के लिए उन्होंने जमानत की। लेकिन मित्र की असफलता के कारण वह रकम अदा करने की जिम्मेदारी उनके सिर पर आ पड़ी। इतनी बड़ी रकम चुकाना उनके लिए असम्भव हो गया। इसलिये पिता को पुत्र के साथ मिली-जुली जिम्मेदारी स्वीकार करके अदालत में जाकर अपने दिवालियेपन की अर्जी करनी पड़ी। अदालत ने पिता और पुत्र दोनों को दिवालिया घोषित कर दिया। यह देशबन्धु के जीवन का कड़वे से कड़वा घूँट था, लेकिन उसे पिये बिना उनके लिए कोई चारा नहीं था।

भाग्य का चक्र रथ के पहिये की तरह कभी ऊपर कभी नीचे घूमता ही रहता है। देशबन्धु ऐसे आर्थिक संकट से दबकर निराश होने वाले नहीं थे। अनोखी प्रतिभा और कानून के गहरे ज्ञान के कारण कुछ ही दिनों में एक होशियार वकील के नाते उनकी प्रतिष्ठा जम गई। फिर तो उनके घर में पैसे की वर्षा होने लगी। अब देशबन्धु ने अपने पिता के साहूकारों को याद किया और सबको अचरज में डालने वाला महान् नैतिक कदम उठाया। कानून से उनके पिता का कर्ज बेमियाद हो चुका था, लेकिन कानून की अपेक्षा नैतिकता की कीमत बहुत ऊँची है। इसलिए नैतिक कानून का पालन करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है, ऐसा मानकर देशबन्धु ने अदालत की दिवालियेपन की आज्ञा रद्द कराने के लिये अर्जी पेश की। तद्नुसार अदालत ने अपनी पुरानी आज्ञा रद्द कर दी। इस तरह उन्होंने पिता का सारा कर्ज चुका दिया। इस नैतिक आचरण से देशबन्धु का सारे देश में खूब नाम हुआ और उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये। सिर्फ कानून की निगाह से देखने वाले एक अँग्रेज न्यायाधीश पर इसका बड़ा गहरा असर हुआ और वे देशबन्धु को कीर्ति का प्रतीक मानकर उनका बड़ा आदर करने लगे।

पैसे का लोभ इतना बलवान होता है कि कोई विरला व्यक्ति ही उससे बच सकता है। कानून के रक्षण और नैतिक कर्त्तव्य के बीच होड़ लगने पर नैतिक कर्त्तव्य का पालन करके देशबन्धु चित्तरंजन दास ने अपने जीवन को उच्चता के शिखर पर पहुँचा दिया था। आज जब मनुष्य पैसा कमाने के लिये काला बाजारी, रिश्वतखोरी और ऐसे ही अनेक दूसरे पापों के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है, तब देशबन्धु का ऊँचा और साधु जीवन उसे पुण्य का मार्ग बताने वाला प्रकाश-दीप बने, यही परम प्रभु से प्रार्थना है।

करुणा और सेवा की साकार मूर्ति—ठक्कर बापा

बहुत कुछ आड़े आने पर भी ठक्कर बापा ने निर्धनता को अपनी पढ़ाई के मार्ग में अवरोध नहीं ही बनने दिया। उन्होंने अपने अध्यवसाय के बल पर यह प्रमाणित कर दिखाया कि जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को छोड़कर किसी अन्य बात पर निर्भर नहीं रहता उसकी गति संसार का कोई भी अभाव नहीं रोक सकता है।

अन्य मुसीबतों की अपेक्षा ठक्कर बापा के सामने अर्थाभाव की मुसीबत सबसे बड़ी थी। फीस, पुस्तकें तथा अन्य पढ़ाई के खर्चों के लिए इनका हाथ सदैव तंग रहा करता था। किन्तु उन्होंने इस तंगी को अपनी पढ़ाई से बचे हुये समय में अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाकर, अपने सारे खर्चे समाप्त करके और केवल एक बार साधारण भोजन करके बहुत कुछ दूर कर लिया। उनके अद्भुत पुरुषार्थ और लगन का फल यह हुआ कि धन की महान् असुविधा होते हुए भी उन्होंने इन्जीनियरिंग की परीक्षा पास कर ली।

जो काम सच्चे मनोयोग और लगन से किये जाते हैं उनके सफल होने में विलम्ब नहीं होता। अतएव इन्जीनियरिंग पास करते ही बम्बई कॉर्पोरेशन ने उन्हें अपने यहाँ इन्जीनियर के पद पर नियुक्त कर लिया। इतना शीघ्र स्थान पा जाने में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं है, जिस पर आश्चर्य किया जाये अथवा दैव संयोग माना जाये। इसका स्पष्ट कारण है कि ठक्कर बापा के पुरुषार्थ और लगन से लोग परिचित थे। ऐसे गुणी व्यक्ति को अपने यहाँ नियुक्त करके बाम्बे कॉर्पोरेशन लाभ उठाने से भला क्यों चूकता। ऐसे लगनशील और चरित्रवान् व्यक्तियों की सब जगह तलाश रहा करती है। गुणी को किसी की तलाश नहीं करनी पड़ती, बल्कि दूसरे लोग ही उसकी तलाश किया करते हैं। बम्बई कॉर्पोरेशन ने उन्हें स्वच्छता, प्रकाश और ट्राम के निरीक्षण का काम सौंपा। इसके लिए उन्हें दिन-भर नगर का भ्रमण करना होता था। सफाई के सिलसिले में उन्हें मेहतरों की बस्तियों में भी जाना होता था, जिससे उन्हें उनकी दुरवस्था और दयनीयता को देखने का अवसर मिला। उन्होंने देखा कि उनके निवास अत्यन्त गन्दे और बुरी दशा में थे। उनके बच्चे असहाय, अशिक्षित और गन्दे रहा करते थे। उनकी स्त्रियाँ दिन भर लड़तीं, बच्चों से मारपीट करतीं और गालियाँ बकतीं। मेहतर शराब पीते, जुआ खेलते और घर में मारपीट करते, आपस में लड़ते और अपराध करते। जुआ और शराब के कारण सदैव कर्जदार रहते जिसे निबटाने के लिए जब-तब चोरी का भी प्रयत्न करते। नगर की पुलिस और कॉर्पोरेशन के अधिकारी उनसे जानवरों जैसा बर्ताव करते।

मेहतरों की यह दुर्दशा देख-देखकर ठक्कर बापा को बड़ा दुःख होता। वे सोचते क्या यह भी मनुष्य हैं ? और समाज के एक अभिन्न अंग हैं ? उनकी बस्तियाँ उन्हें नरक और उनमें रहने वाले नरक के कीड़ों से अधिक कुछ न दीखते। मनुष्य जाति की यह दशा देख कर उन्हें बड़ी दया आई और उन्होंने उनके सुधार के लिए प्रयत्न करना

शुरू किया । उन्होंने कोशिश की कि कॉर्पोरेशन के कर्मचारी एवं अधिकारी उनसे मानवोचित व्यवहार करें और जितना हो सके उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न करें, किन्तु लोगों ने उनके कहने पर कोई ध्यान न दिया । मेहतरों की दशा पर उन्हें दिन-दिन परेशानी बढ़ने लगी । वे उनका जितना सुधार करना चाहते थे, नौकरी के कारण उतना न कर पाते थे । उनकी मानवता मानव जाति के एक वर्ग की इस दुर्दशा को न देख पाई और उनके सुधार करने का निश्चय करके कॉर्पोरेशन के इन्जीनियरिंग पद से त्यागपत्र दे दिया। उन्हें बहुत-कुछ समझाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु उन्हें तो मानव सेवा की लगन लग चुकी थी । वे न माने और अपने अध्यवसाय का फल परोपकार की भावना पर बलिदान कर दिया ।

सामान्यत: लोग दूसरों का अहित करके अपना स्वार्थ साधन किया करते हैं और उन्हें ऐसा करने में तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता । पर ठक्कर बापा ने परोपकार पर अपने स्वार्थ को न्योछावर कर दिया । वे यह बात कभी न भूलते थे कि जिस समाज के सभी वर्ग समान रूप से उन्नत न होंगे वह समाज सदैव ही पतन की ओर चलता रहेगा । उन्हें भंगियों के सुधार और जनसेवा में ही सच्ची देशभक्ति के दर्शन होने लगे ।

नौकरी छोड़ देने के बाद वे श्री गोपालकृष्ण गोखले की 'भारत सेवक समाज' नामक जन-हितकारी संस्था में चले गये । उन्होंने मेहतरों की दशा से द्रवित होकर भावुकतावश नौकरी का त्याग नहीं किया था, बल्कि आजीवन जन-सेवा की स्थायी भावना और देश का हित देखकर वैसा किया था, जिसके लिये उन्होंने 'भारत सेवक समाज' की आजीवन सदस्यता ग्रहण कर ली ।

ठक्कर बापा भाषणों और लेखों द्वारा प्रचार करने को पसन्द नहीं करते थे । उनका कहना था कि जो सुधारक अथवा कार्यकर्ता भाषणों, आन्दोलनों एवं लेखों आदि तक सीमित रहते हैं, वे सच्चे मानों में जनसेवक नहीं हैं । जनसेवा का अर्थ है जन-जन से सम्पर्क रखना और सक्रिय रूप से उनकी सेवा करना । वस्तुत: भाषणों आदि से उनका कोई हित नहीं हो सकता और न वे सुधार के मार्ग पर चल सकेंगे । सच्चा सुधार करने के लिए अपने को उनमें मिला देना ही होगा । पहले तो मौखिक प्रयत्नों द्वारा जनसेवा में विश्वास रखने वालों में सच्ची भावना की कमी होती ही है, वह भाषणों आदि के माध्यम से सन्तुष्ट हो जाती है । अस्तु, किसी वर्ग के सुधारार्थ मौखिक प्रयत्न तक सीमित रहने में मेरा विश्वास नहीं है ।

अपने इसी विश्वास के अनुसार न उन्होंने कभी कोई सभा जोड़ी और न कोई अभियान चलाया। वे मेहतरों की बस्तियों में स्वयं अकेले जाते, उपदेश करने के बजाय मार्मिक शब्दों में उनसे अपना सुधार करने की प्रार्थना करते । ऐसा लगता मानो अपना सुधार करके मेहतर अपना हित न करके उन पर ही कृपा करेंगे । वे उनके बच्चों को पढ़ाते, उनके मकानों की सफाई करते और बुरी आदतें छोड़ने के लिए समझाते । उनके इन व्यक्तिगत प्रयत्नों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेहतरों में बहुत कुछ सुधार प्रारम्भ हो गया। उनका यह निश्छल सेवाभाव देखकर अन्य भी बहुत से लोग मेहतरों के सुधार में लग गये ।

ठक्कर बापा न केवल मेहतरों तक ही सीमित रहे, अपितु उन्होंने आदिवासी वर्ग की भी सराहनीय सेवा की । वे उनके निवासों पर भी जाते, शिक्षा का प्रचार करते, दुर्व्यसन छोड़ने की प्रेरणा देते और उनकी अपराध वृत्ति का निराकरण करते । वे दिन-रात अनवरत रूप से अपने कार्य में लगे रहते । न किसी साथी अथवा साधन की अपेक्षा करते और न कभी यह सोचते कि उनके इस काम को लोग किस दृष्टि से देखते हैं ?

इसके अतिरिक्त वे जहाँ भी मानवता को त्रस्त देखते वहीं दौड़ जाते, दु:खी लोगों की सेवा करते । उनके समय में जहाँ भी अकाल पड़ा अथवा बाढ़ से लोग पीड़ित हुए वहाँ-वहाँ ठक्कर बापा गये और पीड़ितों की सेवा की ।

कच्छ के भयंकर अकाल के समय वे अकाल पीड़ितों की सेवा में दिन और रात लगे रहे । जगह-जगह से उनकी सहायता के लिए धन इकट्ठा करते । गुजरात के अनेक जिलों में पड़े दुर्भिक्ष के समय भी उन्होंने लोगों की मदद में कोई कसर न उठा रखी । गुजरात के अकाल पीड़ितों की सहायता कमेटी इन्हीं की देख-रेख में बनाई गई । पुरी के अकाल पीड़ितों की सेवा-सहायता करने के लिये ठक्कर बापा बम्बई से भाग कर गये ।

अपने इन सेवा कार्यों में बापा ने भूख-प्यास, जाड़ा-गर्मी कभी किसी बात की परवाह न की । वे पागलों की तरह जनसेवा में लगे रहते । उनकी यह सेवा-भावना देखकर एक बार गाँधी जी ने कहा था— ''यदि मैं भी बापा जैसी सेवा भावना पा जाता तो अपने को धन्य समझता ।'' गाँधी जी के इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि बापा कितने बड़े जनसेवक थे । अछूतोद्धार और जनसेवा के क्षेत्र में ठक्कर बापा अपने समय में सब से आगे थे । उनकी सेवाओं ने अछूतों और आदिवासियों का जितना हित किया उसकी तुलना नहीं की जा सकती । अछूतोद्धार के मामले में लोग उन्हें दूसरे गाँधी कहते थे ।

ठक्कर बापा का पूरा नाम अमृतलाल विट्ठलदास ठक्कर था । उनका जन्म सौराष्ट्र के भावनगर में २९ नवम्बर सन् १८६९ में हुआ था । १८९० में उन्होंने इंजीनियरिंग पास की और १९१४ में नौकरी छोड़कर सेवा कार्यों में लग गये ।

बापा ने अथक् परिश्रम करके और बड़े कष्ट उठाकर जो विद्या प्राप्त की थी उसका उपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ में न करके जनहित में किया । वे आजीवन अछूतोद्धार, आदिवासियों के सुधार और संकट ग्रस्त लोगों की ही सेवा में लगे रहे । उन्होंने एक क्षण को भी बैठकर अपने वैयक्तिक जीवन की कठिनाइयों, अभावों और आवश्यकताओं पर नहीं सोचा । वे दूसरों के लिए आहुति दे देने में जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता और सेवा में सबसे बड़ा सुख पाते थे ।

राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी— महावीर प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी आज जिस परिष्कृत रूप में बोली और लिखी जाती है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी को है । उनके समय

से पूर्व हिन्दी का प्रचलन तो हो चला था और कई मनीषी गद्य और पद्य द्वारा उसे सुविकसित करने के लिए प्रयत्न भी कर रहे थे, पर जिन्होंने भारत की भावी राष्ट्रभाषा को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए अपना जीवन ही खपा दिया हो ऐसे मनीषी उस समय तक ढूंढ़े नहीं मिल रहे थे ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युगदृष्टा थे । वे जानते थे कि कोई देश एक राष्ट्रभाषा के बिना न तो भावनात्मक एकता प्राप्त कर सकता है और न शिक्षा तथा संस्कृति की दृष्टि से सुसम्पन्न ही बन सकता है । उन दिनों भारत की अनेक भाषाओं की तरह हिन्दी भी एक भाषा थी, उसमें राष्ट्रीय भाषा के उपयुक्त प्रखरता उत्पन्न न हो पाई थी । इस कमी को पूरा करना आवश्यक था । राजनैतिक स्वतन्त्रता उन दिनों नहीं थी, अंग्रेजी शासन अपना पंजा मजबूती के साथ जमाये हुए था । पर आशा की ऊषा अपना आभास प्रकट करने लगी थी और यह बात दिन-दिन स्पष्ट होती जा रही थी कि भारत आज नहीं तो कल राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा । तब सबसे पहली आवश्यकता एक समृद्ध राष्ट्रभाषा की पड़ेगी, यह गुण केवल हिन्दी में था । पर उसके प्रखरता प्राप्त करने में अभी लम्बी मंजिल पार करनी थी । द्विवेदी जी राष्ट्र की इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए एक चतुर शिल्पी की तरह लगे और आजीवन उसी व्रत को पूरा करने में एक कर्मठ आदर्शवादी की तरह अविचल श्रद्धा और परिपूर्ण उत्साह के साथ संलग्न रहे ।

उत्तर प्रदेश में राय बरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में वे संवत् १९२१ में जन्मे । उनके पिता दस रुपया मासिक की एक छोटी नौकरी करते थे । पढ़ने का कोई ठीक प्रबन्ध गाँव में न था । आटा-दाल पीठ पर लाद कर दूर के जिन गाँवों में स्कूल थे वहाँ पढ़ने जाते । १३ वर्ष की आयु में रोटी बनाना सीख न पाये थे सो पकती दाल में आटे की टिकिया पकाकर उससे भूख शान्त करते और शिक्षा की साधना में लगे रहते । इस प्रकार पुरवा, फतेहपुर, उन्नाव के स्कूलों में उन्होंने चार वर्ष काटे । घर की आर्थिक दुरवस्था ने आगे पढ़ने की सम्भावना नष्ट कर दी । स्कूली शिक्षा यहीं समाप्त हो गई ।

गुजारे के लिए उन्हें नौकरी करनी पड़ी । रेलवे में उन्हें जगह मिल गई । अपने परिश्रम और अध्यवसाय से उन्होंने अपनी योग्यता बढ़ाई । प्रतिभा के साथ-साथ उनका वेतन और पद भी बढ़ता गया । सिगनेलर, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, प्लेटियर, टेलीग्राफ इन्सपेक्टर, चीफ क्लर्क आदि छोटे-बड़े पदों पर उन्होंने संवत् १९०३ तक काम किया । इस अवधि में उनका अन्त:करण यही कहता रहा कि उन्हें पेट भरने मात्र से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए । समाज के लिए कुछ रचनात्मक काम किए बिना कोई प्रगतिशील आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो सकती । उनकी आत्मा इस प्रकार दिन काटने के विरुद्ध विद्रोह करती रही और उस अन्तर्द्वन्द्व ने एक दिन उन्हें नौकरी छोड़कर रचनात्मक काम करने के लिये विवश कर दिया।

आठ घण्टे नौकरी और आहार निद्रा आदि नित्य कर्म के दस घण्टे निकाल कर ६ घण्टे आसानी से बच जाते हैं । बुद्धिमान लोग उस समय का ठीक उपयोग करते और अपनी विशेषताओं को बढ़ाते रहते हैं । आलसी और प्रमादी उसे बर्बाद करके जहाँ के तहाँ पड़े दिन गुजारते रहते हैं । द्विवेदी जी न तो आलसी थे और न प्रमादी । उन्होंने बुद्धिमानों की तरह अपना जीवन-क्रम बनाए रखा । बचे हुए समय में साहित्य साधना करते रहे । उन्होंने विशाल ज्ञान राशि इकट्ठी कर ली । नौकरी के दिनों में ही उनकी संचित साहित्यिक विद्वता का परिचय लोगों को मिलने लगा था । रेलवे की नौकरी छोड़ने पर उन्हें नया काम मिलने में देर न लगी । मातृ-भाषा की सेवा करना चाहते थे । हर सच्चे मन से चाहने वाले की तरह उन्हें भी उनका अभीष्ट माध्यम मिल गया । वे इलाहाबाद की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन करने लगे ।

सरस्वती के सम्पादन कार्य में उन्हें हर महीने २०) वेतन और ३) डाक खर्च कुल २३) मिलते थे । रेलवे की नौकरी में उन्हें ऊँचा वेतन मिलता था । आमदनी एकदम घट जाने का उन्हें तनिक भी दु:ख न हुआ। वे कहा करते मैंने रेलवे की नौकरी १५) मासिक से शुरू की थी । अब तो २३) अर्थात् ड्योढ़े मिलते हैं । मुझ जैसे मितव्ययी देहाती के लिए यह भी क्या कम है ।

अधिक आमदनी और अधिक खर्च के कुचक्र में फँसे हुए लोगों के पास न तो महान् कार्यों के लिये उपयुक्त समय रहता है और न मन । उन्हें उसी गोरखधन्धे को सुलझाने से फुरसत नहीं मिलती, फिर कोई काम वे कर ही कहाँ से पावें ? आवश्यकताएँ घटा कर ब्राह्मण जीवन जीने वाला व्यक्ति ही आदर्शवाद के लिए कुछ ठोस कदम उठा सकने में समर्थ हो सकता है । द्विवेदी जी बड़े थे, बड़ा काम करना चाहते थे, इसलिए उन्हें बड़प्पन की कसौटी पर खरा भी उतरना ही था, व्यक्तिगत जीवन में संयम और सादगी अपनाते हुए बची हुई शक्तियों को लोकहित में समर्पित करना यही तो किसी श्रेष्ठ पुरुष की जीवन पद्धति हो सकती है । प्राचीनकाल के ऋषियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने इस आदर्श को शिरोधार्य किया और गरीबों का जीवन बिताते हुए लोकमंगल के लिए सच्ची तपश्चर्या करने में लग गए । कमण्डल त्रिपुण्ड भले ही उन्होंने धारण न किया हो पर जिस निस्पृहता का जीवन वे जी रहे थे उसे देखते हुए उन्हें त्यागी ही कहा जा सकता है । उपलों की आग जलाकर वे तथाकथित तपस्या भले ही न करते हों, पर राष्ट्रभाषा का भविष्य उज्ज्वल करने के लिए जिस निष्ठा के साथ वे तत्पर हो रहे थे उसे देखते हुए उन्हें तपस्वी कहने में कोई अत्युक्ति न मानी जायेगी ।

अन्य सम्पादकों की तरह इधर-उधर के लेखों को काट-छाँटकर अखबार के पन्ने भर देने की बेगार टाल देने वाले द्विवेदी जी न थे । पत्रिका में छपने को आये हुए लेखों के एक-एक शब्द को वे ध्यानपूर्वक देखते और अपने हाथों उसे दुबारा लिखते । इस प्रकार उनकी लेखनी की खराद पर चढ़कर निखरा हुआ प्रत्येक लेख भाषा और भाव की दृष्टि से राष्ट्र-भाषा के गौरव के उपयुक्त ही बन जाता । सरस्वती में छपी प्रत्येक रचना, साहित्यिक दृष्टि से सब प्रकार खरी और परिष्कृत मानी जाती थी ।

उन्होंने स्वयं बहुत कुछ लिखा है । दूसरों के लिखे को संशोधित और परिष्कृत किया है । साथ ही सबसे बड़ा काम यह किया है कि

अगणित नवोदित लेखकों को मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन देकर उन्हें नौसिखिये से आगे बढ़ते हुए महान् साहित्यकार बनाया। पारस को छूकर लोहा सोना बनता है पर द्विवेदी जी ऐसे पारस थे कि उनके सम्पर्क में जो आया वह भी पारस बन गया। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपनी पुस्तक 'विश्व साहित्य' में लिखा है— 'यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिनकी रचना पर ही उनकी महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते हैं जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेघ की तरह विश्व से ज्ञानराशि संचित करके और उसकी वर्षा करके उन्होंने समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।'

उन्होंने लगातार अठारह वर्ष तक सरस्वती का सम्पादन किया। अवकाश ग्रहण करने के बाद भी वे सात-आठ वर्षों तक नियमित रूप से लेखन कार्य करते रहे। अपनी निज की रचनायें लिखने की अपेक्षा उनका प्रधान कार्य दूसरों की कृतियों को परिष्कृत कर उन्हें उपेक्षित से उत्कृष्ट बनाना रहता था। रद्दी में डाले जा सकने वाले लेखों को अपनी कलम से दुबारा लिखकर उन्हें साहित्य में ऊँचा स्थान मिलने योग्य बनाया करते और उनके लेखकों को व्यावहारिक रूप से यह बताया करते थे कि उनसे कहाँ भूल हुई, क्या कमी रही, और किन बातों का समावेश आवश्यक था। इस प्रकार वे बिना विद्यालय खोले हुए भी 'सरस्वती' के दफ्तर में बैठ कर सहस्रों नव-युवकों को राष्ट्र के भावी साहित्य निर्माता बनने में लगे रहे। उनकी यह देन इतनी बड़ी है कि भारत का साहित्य जगत उसे कभी भी भुला न सकेगा।

उनकी सेवाओं के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा को भी संस्थाओं के माध्यम से जनता ने समय-समय पर प्रकट किया है। काशी नागरी प्रचारणी सभा ने उन्हें हिन्दी के सर्वप्रथम 'आचार्य' की उपाधि से विभूषित किया और इसके दो वर्ष बाद ही उन्हें अपूर्व 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' भेंट किया गया। सन् १९३३ में डॉ. गंगानाथ की अध्यक्षता में प्रयाग में 'द्विवेदी मेला' का आयोजन हुआ। उनके कर्तृत्व और व्यक्तित्व पर 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' शीर्षक थीसिस लिखकर डॉ. उदयभानसिंह जी ने पी-एच. डी प्राप्त की। संक्षिप्त में यों भी कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के समान सम्मान भारत के और किसी साहित्यकार का अभी तक नहीं हुआ। गद्य लेखकों की तरह ही उन्होंने पद्य रचयिता कवियों का भी महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन किया। यों वे कवियों में गिने नहीं जाते पर कविताओं के संशोधन में उनकी क्षमता गद्य संशोधन से किसी प्रकार कम न थी। उन्होंने अनेक कवियों को रचनात्मक कवितायें लिखने के लिए प्रबल प्रेरणा दी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती उन्हीं की प्रेरणा का फल है।

मध्य-युग की परम्परा का अनुसरण करते हुए उन दिनों भी शृंगारी कविताओं और कवियों का बाहुल्य था। ऐसे लोगों को वे सदा निरुत्साहित करते रहे और उस प्रवृत्ति को राष्ट्र-निर्माण के लिये अनुपयुक्त बताकर उससे दूर रहने की शिक्षा देते रहे। उन्होंने इन कवियों से पूछा है— "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा तक मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कवितायें हो सकती हैं। सभी से उपदेश मिल सकता है। फिर क्या कारण है कि इन कवियों को छोड़कर कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता समझे ?"

प्रश्न मार्मिक है। जिन्होंने निम्न स्तर की मलीन प्रवृत्तियों को ही कुरेदने को 'कला' नहीं समझा है उन्हें उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में अपनी कविताओं को रचनात्मक दिशा निर्धारित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी— द्विवेदी जी ने— २१ दिसम्बर, १९३९ को महाप्रयाण किया पर उनकी श्रद्धा और तत्परता, त्याग और तपस्या ने हिन्दी साहित्य का जो गौरव बढ़ाया उसे देखते हुए उन्हें अजर-अमर ही माना जाता रहेगा।

देश के लिये सर्वस्व अर्पण— लाला हरदयाल

किसी महान् उद्देश्य के लिये त्याग करना एक बड़ा प्रशंसनीय कार्य है। सन्तोष की बात है कि भारत में भी गत् अर्द्ध शताब्दी में ऐसे त्यागियों, आत्मदानियों की कमी नहीं। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान्, प्रतिभाशाली, कर्मवीर इस युग में ऐसे पैदा हुये जिन्होंने अपनी योग्यता को देश और जाति के उत्थान के लिये अर्पित कर दिया। उन लोगों में इतनी विद्या और योग्यता थी कि यदि वे चाहते तो बड़ी से बड़ी पदवी तक पहुँच सकते थे और धन, यश, मान प्राप्त करके सुखी जीवन बिता सकते थे। पर उन्होंने इस प्रकार के जीवन को नश्वर समझकर परमार्थ मार्ग का अवलम्बन किया और अपने प्रयत्नों से देश को आगे बढ़ाने के साथ स्वयं भी अमर हो गये

पर कुछ देशभक्त ऐसे भी हुये जिन्होंने अपने स्वदेश बांधवों की सेवा की, समाज के उद्धार के लिये निस्वार्थ भाव से अपनी विद्या, योग्यता और समस्त शक्तियों को अर्पित भी किया और साथ में नाम और यश से भी दूर रहे। अगर विचार किया जाय तो इस तरह की महानता अन्य महानताओं से कहीं बढ़कर है। यश और प्रतिष्ठा में भी बड़ी शक्ति है और इनको पाते हुये यदि कोई सेवा-मार्ग पर आगे बढ़ता जाय, स्वार्थत्याग करके समाज का हितसाधन करता रहे तो यह अधिक कठिन नहीं है, पर जो मातृभूमि के चरणों पर अपनी महान् विद्या और सब साधनों को निछावर करदे और बदले में कष्ट, अभाव और असुविधा के सिवा कुछ न पाये और फिर भी अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा पर डटा रहे तो वह विवेकशीलों की दृष्टि में अवश्य बड़ा त्यागी और तपस्वी समझा जायेगा।

लाला हरदयाल (१८८५) दिल्ली के एक गरीब कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुये थे। अपने परिश्रम और प्रयत्न से ही उन्होंने एम. ए.

तक की उच्च शिक्षा पाई और फिर विलायत में जाकर बड़ी-बड़ी परीक्षायें पास कीं तथा गम्भीर अध्ययन किया। पर जब भारतवर्ष आकर कार्यारम्भ किया तो उसी समय यहाँ की विदेशी सरकार चौकन्नी हो गई और यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार वे राजनैतिक क्षेत्र से हट जायें। क्योंकि उनके विचार विद्वतापूर्ण होने के साथ बड़े स्पष्ट, उग्र और प्रभावशाली होते थे और जनता में उनके प्रचार से सरकार अपने लिये खतरा अनुभव करती थी। इसलिये जब उसने लाला हरदयाल को बन्धन में डालकर मैदान से हटाने की योजना की तो वे देश से बाहर चले गये और वहीं रहकर जीवन के अन्तिम समय (सन् १९३९) तक देशोद्धार की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करते रहे। उन्होंने अमेरिका में 'गदर-पार्टी' की स्थापना की जिसने अँग्रेजों के शत्रुओं से मिलकर भारत सशस्त्र क्रांति की योजना बनाई और हथियारों से भरा एक जहाज भी इस उद्देश्य से भेजा। पर भारत सरकार के सावधान हो जाने से वह योजना पूर्ण न हो सकी। पार्टी की तरफ से 'तलवार' नाम का एक पत्र भी प्रकाशित करके भारतवर्ष में प्रचारित किया जाता था।

भारतवर्ष से चले जाने पर हरदयालजी अँग्रेजी कारागार से तो बच गये, पर विदेशों में इससे भी अधिक आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत में तो उनके प्रशंसकों और सहायकों का एक बड़ा दल मौजूद था, जो आवश्यकता पड़ने पर उनके कार्यों में सहयोग देते और जेल चले जाने पर भी उनके कार्यों को किसी न किसी रूप में स्थिर रखते। पर विदेशों में थोड़े-से मित्रों के सिवा और कोई ऐसा न था जो तरह-तरह की बाधाओं और कठिनाइयों से पार पाने में सहकारी सिद्ध होता।

फिर भी हरदयाल जी ने कभी देशोद्धार के प्रयत्नों में शिथिलता न आने दी और तलवार से नहीं तो कलम से वे इसके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहे। उन्होंने विद्या प्राप्ति और अध्ययन में इतनी अधिक संलग्नता और परिश्रम से कार्य किया था कि उनकी योग्यता को विदेशों के विद्वान् स्वीकार करते थे। अमेरिका और योरोप के अनेक विश्वविद्यालयों ने उनको अपने यहाँ इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया और उन्होंने वहाँ की विद्वत् सभाओं में प्रभावशाली भाषण दिये।

वे कई भाषाओं के ज्ञाता थे और हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी के अतिरिक्त अँग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन और स्वीडिश भाषाओं के धाराप्रवाह भाषण देते और उनके सामयिक पत्रों में लेख भी लिखते रहते। विदेशों में उनके जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन भाषण देना और लेख लिखना ही रहा।

हरदयाल जी ने इस अगाध विद्वता का उपयोग सदैव भारतवर्ष के उत्थान के लिये ही किया और क्रांतिकारी लेखों के अतिरिक्त ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखते रहे जिससे देश में ज्ञान और कार्य-शक्ति का स्थायी रूप से विकास हो और यहाँ के नवयुवक देशोन्नति की शक्ति प्राप्त कर सकें। उनकी एक ऐसी पुस्तक का नाम 'हिन्ट्स फॉर सेल्फ कल्चर' (आत्मोन्नति के संकेत) है। अनेक विद्वानों ने उसे पढ़कर यह सम्मति दी है कि— "आधुनिक काल के सामाजिक, नैतिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ रचना है।" इस पुस्तक की भूमिका में हरदयाल जी ने लिखा है—

"इस पुस्तक में कारणवाद या तर्कवाद (रैशनैलिज्म) के सन्देश के कुछ पहलुओं को समझाने और उनकी ओर सभी देश के युवक और युवतियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसके द्वारा उनके आत्मोन्नति के प्रयत्नों में किंचित मात्र भी सहायता हुई तो मैं अपने को पूर्णरूप से पुरस्कृत समझूँगा।" इस पुस्तक का हिन्दी भाषांतर 'आत्मसुधार' के नाम से हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक के चार भाग हैं। प्रथम भाग में भौतिक-विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा धर्म समन्वय के ऊपर विद्वत् पूर्ण लेख हैं। दूसरे भाग में शारीरिक विकास और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ऐसी अधिकारपूर्ण शिक्षा दी गई है मानो कोई सुयोग्य चिकित्सक सलाह दे रहा हो। तीसरे में सब प्रकार की कला, कविता, साहित्य की विशद व्याख्या की गई है। चौथे में व्यक्तिगत नैतिकता, सेवा, नागरिकता और राजनीति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। इस प्रकार इसके द्वारा मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर के प्रगति के मार्ग में दूर तक अग्रसर हो सकता है।

दूसरी उल्लेखनीय पुस्तक है— 'ट्वैल्व रिलीजन एण्ड माडर्न लाइफ' अर्थात् 'बारह मजहब और आधुनिक जीवन।' इसमें हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम, पारसी, सिख आदि मतों के वास्तविक स्वरूप को ऐसी अच्छी तरह समझाया है कि पाठक उनकी सभी विशेषताओं का ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किसी धर्म का कोई मुख्य सिद्धांत छूटने नहीं पाया है और सबकी समान बातों को एक स्थान पर एकत्रित करके उनमें समन्वय उपस्थित किया गया है।

इतने बड़े लेखक और विद्वान् होने पर भी उनको अहंकार या आत्मश्लाघा का भाव छू भी नहीं गया था। वे अपने नाम के साथ कभी एम. ए. या अन्य उपाधियों को नहीं लगाते थे और जो कोई उनके नाम के साथ एम. ए. लिख देता था तो वे उसको उत्तर देते थे कि "भाई, मैंने एक बार यह पाप किया था, अब आप हमेशा मुझे गाली क्यों लिखते हैं।" वे ऐसी सम्मान प्रदर्शक पदवियों को सचमुच एक 'उपाधि' ही मानते थे।

संसार के अनेक देशों में उन्होंने निवास करके वहाँ की सांस्कृतिक, नैतिक और सामाजिक समस्याओं का अच्छी तरह अध्ययन किया था और इसके परिणामस्वरूप जीवन के अन्तिम दिनों में वह समस्त मानव समाज को एक ही समझने लगे थे और सारी दुनिया को एक राष्ट्र के रूप में लाने के पक्षपाती हो गये थे। उन्होंने मानव-जीवन के उत्थान के लिये श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विचार देकर लोगों का मार्गदर्शन करने का बहुत बड़ा काम किया।

ऐसे व्यक्ति को हम महामानव ही कह सकते हैं। जो उन्नति और अधिकार प्राप्त कर सकने की पूरी शक्ति और योग्यता रखते हुये भी उसका उपयोग दूसरों के कल्याणार्थ करे और स्वयं साधारण स्थिति में ही बना रहे वही सच्चा धार्मिक और आस्तिक कहा जा सकता है। लाला हरदयाल इसी प्रकार आजीवन कार्य करते हुये सन् १९३५ में स्वर्गवासी हो गये।

—

निस्पृह देशभक्त—राजा महेन्द्र प्रताप

मुरसान रियासत के राजकुमार और हाथरस राज्य के दत्तक उत्तराधिकारी राजा महेन्द्र प्रताप भारत माता के उन भक्त सपूतों में हैं, जिन्होंने उसकी स्वतन्त्रता और उसकी सन्तानों के हित साधन में अपना सर्वस्व ही नहीं जीवन भी समर्पित कर दिया। उन्होंने एक राजा होते हुए भी राष्ट्र-सेवा के लिये साधारण और कष्ट का जीवन बिताया। वे किन्हीं बड़े आदमियों की तरह वैभव के साथ रहते हुए सुख-सुविधापूर्ण देश सेवा करने वाले देशभक्त नहीं हैं। जिस दिन से उन्हें देश की दयनीय दशा का बोध हुआ, राजसी जीवन त्याग कर सामान्य-जनों-सा जीवन चलाने और समाज की सेवा में लग गये।

उनका अटल विश्वास है कि देश के सामान्य स्तर का जीवन ग्रहण किये बिना किसी को भी उसके अभावों, कष्टों और आवश्यकताओं की सच्ची अनुभूति नहीं हो सकती और जब तक सच्ची अनुभूति नहीं होती तब तक सेवा भी सच्चे हृदय से नहीं की जा सकती। समाज से सच्ची सहानुभूति तभी सम्भव है, तब उसकी सामान्य दशा की पीड़ा और वेदना की स्वयं भी अनुभूति होती रहे। इसी सच्चाई के लिये राजा महेन्द्र प्रताप ने सुख-सुविधापूर्ण जीवन को तिलांजलि दे दी।

राजा महेन्द्र प्रताप के हृदय की सच्ची देशभक्ति और अडिग निष्ठा इसी से प्रकट होती है। परम्परा के अनुसार उन दिनों देशी राजाओं की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी ढंग से इंग्लैंड में ही अधिकांशतः होती थी। जो राजा अथवा राजकुमार इंग्लैंड जाकर जब तक अँग्रेजों की रीति-नीति से प्रभावित नहीं हो जाता था, तब तक उसे उत्तराधिकार में कठिनाई होती थी। राजा महेन्द्र प्रताप को भी शिक्षा-दीक्षा के लिये इंग्लैंड जाना और रहना पड़ा, किन्तु जो सच्ची आत्मा के विश्वस्त व्यक्ति होते है, वे किन्हीं भी परिस्थितियों में क्यों न रहें, अपनी मूल प्रवृत्तियों को नहीं छोड़ते और नई परिस्थितियों से नया ज्ञान लेकर और अधिक दृढ़ तथा विश्वस्त हो जाते है।

राजा महेन्द्र प्रताप इंग्लैंड गये, अंग्रेज़ों के बीच वहाँ रहे। वहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति में व्यवहार किया, अंग्रेजों के शिष्टाचार का निर्वाह किया, किन्तु उनका मूल भारतीय स्वरूप प्रभावित न हुआ और जैसे ही वे भारत वापस आये उन्होंने सारी वैदेशिकता झाड़ फेंकी और विशुद्ध भारतीयता में आ गये। वही भारतीय वेशभूषा, वही भारतीय आहार तथा रहन-सहन और वही ज्वलन्त देशभक्ति उनकी शोभा बन गई। उनकी यह भारतीयता आचार-विचार में स्पष्ट होती रहती थी। सभी को उनकी यह गतिविधि देखकर शंका बनी रहती थी कि कहीं उनकी यह भारतीयता उन्हें राज्याधिकार से वंचित न कर दे।

बहुत बार उनके शुभचिन्तकों ने इस बात से सावधान भी किया तो पता चला कि उनको इस बात की जरा-भी चिन्ता नहीं है। वे अपनी भारतीयता और देश-भक्ति के सम्मान में कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार हैं। वे ऐसा वैभव और ऐसा राजत्व सुरक्षित रखने को तैयार नहीं जिसके लाभ से गुलामी को इस हद तक प्रश्रय देने के लिए राजी होना पड़े कि अपना मूल-स्वरूप ही दूसरों के स्वरूप से स्थानापन्न हो जाये।

राजा महेन्द्र प्रताप को देशभक्ति के मूल्य पर संसार का कोई भी वैभव और कोई भी सुख-सुविधा अंगीकार नहीं। १९०६ में जब उन्होंने 'कलकत्ता काँग्रेस' में जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके अपने परिवार और सारे सम्बन्धियों में विरोध का एक ज्वार-सा आ गया और एक स्वर से सभी का परामर्श था कि कॉंग्रेस अँग्रेजों तथा अँग्रेजी राज्य का विरोध करती है उसमें जाना किसी प्रकार भी हितकर नहीं है। हम सब लोग अंग्रेजों के आश्रय में सुख तथा अधिकारपूर्ण जीवन बिता रहे हैं। काँग्रेस में अभिरुचि दिखलाने से वे रुष्ट हो जायेंगे और अपनी सुख-सुविधा में बाधा उपस्थित होगी। राजा महेन्द्र प्रताप को यह पराधीनतापूर्ण वक्तव्य सुन कर बड़ा खेद हुआ और वे सोचने लगे कि क्या भोग-विलास और धन-वैभव के लोभ में मनुष्य यहाँ तक गिर सकता है और अपनी उज्ज्वल आत्मा को इस सीमा तक भीरु और तेजहीन बना सकता है।

उनका हृदय उस राज-भोग की स्थिति की ओर से घृणा से भर उठा। उन्होंने कहा कि इस पराधीन स्थिति में दूषित भोग-प्रधान जीवन की अपेक्षा सामान्यता पूर्णजीवन कहीं अच्छा, पवित्र और सुखदायक है। जहाँ एक ओर सामान्य जन-देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष और बलिदान की वेदी पर अपने जीवन-पुष्प तक समर्पित कर रहे हैं, वहाँ हम उस पुनीत भाव को अपनी मनोपरिधि में भी लाने को तैयार नहीं हैं। जबकि वैदेशिक दासता का अभिशाप सबसे अधिक हम लोगों को ही अपमानित करता है। आप लोगों का यह विरोध अनुचित है जो मेरे इस विचार को बदल नहीं सकता।

उनकी दृढ़ता और देशभक्ति की भावना देख कर सम्बन्धी लोग यहाँ तक डर गये कि सम्बन्ध-विच्छेद की बात कहने लगे। उनके श्वसुर ने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि ऐसा हो तो आप हमारी रियासत मे आना बन्द कर दीजिए। सिद्धान्त के व्रती महेन्द्र प्रताप ने इस बहिष्कार की जरा भी परवाह न की और कलकत्ता काँग्रेस में गये।

वहाँ उन्होंने दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक और विपिन चन्द्रपाल जैसी मूर्धन्य तथा देशभक्त आत्माओं के दर्शन किए और उनके भाषण सुने, उनके विचारों पर मनन किया। उनकी देशभक्ति की शिखा को और बल मिला जिससे देश-सेवा की उनकी भावना व्रत में बदल गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे देश की स्वतन्त्रता के लिये हर त्याग और बलिदान करेंगे, इसके लिये उन्हें कितना ही कष्ट और यातना क्यों न उठानी पड़े।

कलकत्ता काँग्रेस से आने पर राजा महेन्द्र प्रताप ने सबसे पहला काम यह किया कि अपने सारे विदेशी वस्त्र जला दिये और खादी धारण कर ली। इस कार्य मे उनकी पत्नी तक सहयोग करने को तैयार न हुई और उन्होंने एक तौलिया का त्याग ही बड़ी भारी तपस्या समझी। किन्तु राजा महेन्द्र प्रताप ने उन पर जड़ता की छाया समझ कर बुरा न माना और सोच लिया कि सत्य का दर्शन और भक्ति की भावना सबके भाग्य में नहीं होती।

राजा महेन्द्र प्रताप केवल देशभक्त और स्वतन्त्रता के समर्थक ही नहीं बल्कि समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों तथा बुराइयों के भी कट्टर विरोधी थे। वे समाज को गिराने वाली ऊँच-नीच तथा वर्णवाद की भावना के विकट विरोधी थे। उनका कहना है कि मनुष्य का सच्चा धर्म-प्रेम में और सच्ची सुख-शांति समानता में निवास करती है। इन दोनों दिव्यात्माओं का तिरस्कार कर कोई कितना ही देवी-देवताओं का भक्त क्यों न हो, कितनी ही उनकी पूजा-अर्चना क्यों न करता रहे, न उन्हें प्रसन्न कर सकता है और न उनका प्रसाद पा सकता है। अपनी इसी भावना को प्रकट करते हुए द्वारिका के एक मन्दिर में प्रवेश के समय पण्डे के पूछने पर उन्होंने यह कह कर कि "मैं मेहतर हूँ" ऊँच-नीच और छुआ-छूत की संकीर्णता पर गहरा आघात किया था।

राजा महेन्द्र प्रताप ने एक ऐसी अजर-अमर सन्तान को जन्म दिया जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही समाज सेवा के लिये समर्पित हो गया और सदा-सर्वदा समाज की सेवा में ही निरत बना रहेगा। उनकी उस सन्तान का भी नाम 'प्रेम' ही है जो आज अपने विकसित रूप में 'प्रेम-महाविद्यालय' के नाम से वृन्दावन की सीमा में स्थित देश के हजारों तरुणों को कला-कौशल, इन्जीनियरिंग तथा उद्योग-धन्धों की शिक्षा देकर देश के विकास मार्ग में प्रेषित कर रहा है।

राजा महेन्द्र प्रताप को अपनी इस समाज-सेवी संस्था से कितना गम्भीर प्रेम था इसका प्रमाण इस बात से ही मिलता है कि उसके जन्म के बाद उन्होंने महामना मालवीय जी को यह निवेदन भेजकर आमन्त्रित किया था कि मैं अपने एक बेटे का नामकरण संस्कार उन्हीं के हाथों कराना चाहता हूँ इसलिये कृपा कर पधारने का कष्ट करें।

महामना मालवीय जी प्रसन्नतापूर्वक पधारे और उनसे उस समाज-सेवी पुत्र का नामकरण संस्कार कराया। उसी समय राजा महेन्द्र प्रताप ने 'प्रेम महाविद्यालय' को अपनी जागीर का बड़ा अंश दान दे दिया। उनकी इस स्थापना तथा त्याग-भावना की महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू और विश्व कवि टैगोर जैसे लोगों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें एक आदर्श राजा तथा देशभक्त बताया।

राजा महेन्द्र प्रताप ने देश की दशा और राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिये तीन साल तक सम्पूर्ण भारत का दौरा किया और अपने को इस योग्य बनाया कि वे स्वाधीनता के प्रयत्नों में सक्रिय भाग ले सकें। निदान जब १९१४ का प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ, उन्होंने देश को विदेशी दासता से मुक्त करने को शांति तथा क्रांति दोनों प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये जिससे कि अँग्रेज सरकार ने उन्हें सर्वस्व से वंचित कर देश निकाला दे दिया।

जिस देशभक्ति के मूल्य रूप उन्हें अपना सर्वस्व बलिदान करना पड़ा उनकी वह पवित्र भावना इस उत्पीड़न से घटी नहीं बल्कि बढ़ी ही। उद्देश्यवान व्यक्ति किसी स्थिति और किसी स्थान में क्यों न रहे अपने ध्येय के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है। राजा महेन्द्र प्रताप भी ऐसे ही ध्येय-निष्ठ व्यक्ति थे। वे देश के बाहर विदेशों में निष्क्रिय नहीं बैठे रहे बल्कि स्वाधीनता के लिये यथासम्भव प्रयत्न करते रहे। भारतीय स्वतन्त्रता के लिए समर्थन प्राप्त करने के हेतु उन्होंने लगभग सारे योरोप और संसार के अन्य देशों का भ्रमण किया और भारत के पक्ष में लोकमत बनाने का भरसक प्रयास करते रहे।

अनन्तर वे जर्मनी जाकर वहाँ के कैसर से मिले और उससे परामर्श कर अफगानिस्तान की राजधानी काबुल आये। काबुल में वे वहाँ के शासक अमीर को प्रभावित कर भारत के पक्ष में लाये और सहायता प्राप्त कर भारत और अफगानिस्तान की सीमा पर आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। इस समानान्तर सरकार के अध्यक्ष पद का भार तो स्वयं उन्होंने अपने कन्धों पर लिया और प्रधान तथा गृहमंत्रालय श्री मौलाना बरकतुल्ला और मौलाना उबेदुल्ला नामक दो मुसलमान भारत भक्तों को सौंपा। बाद में भारत के स्वतन्त्र होने पर जब देश में कांग्रेस-सरकार की स्थापना हो गई, तब उन्होंने वह समानान्तर सरकार भंग कर दी।

यद्यपि राजनीतिक कार्य करने के साथ-साथ वे पहले भी सत्यधर्म के प्रचार का काम करते रहे पर स्वदेश के स्वाधीन हो जाने के बाद तो वे सारे समय उसी में लगे रहने लगे। उनका धर्म किसी सम्प्रदाय, राष्ट्र अथवा जाति विशेष का नहीं। उनका धर्म 'मानव-प्रेम' था जिसका उद्देश्य एक अविभाजित संसार और विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे एक विश्व-संघ की स्थापना के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। धार्मिक भावना में राजा महेन्द्र प्रताप बड़े उदार और संसार के सभी धर्मों का आदर करने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने वर्तमान लगभग अस्सी वर्ष की आयु तक स्वदेश तथा संसार की सेवा कर एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया, जो त्याग, बलिदान तथा साहस की प्रेरणा देने वाला और सभी के लिये अनुकरणीय है।

जिस स्वदेश के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया, देश-विदेश में असंख्यों यातनायें सहन कीं और आजीवन सेवा करते रहे, उसके स्वाधीन हो जाने पर भी वे एक जनसेवक ही बने रहे। उन्होंने न कोई पद चाहा और न पुरस्कार। ऐसे महान् तथा निस्पृह देशभक्त और जनसेवी राजा महेन्द्र प्रताप निश्चय ही हम सबके लिये श्रद्धा तथा आदर के पात्र हैं।

नारी-शिक्षा के साहसिक प्रवर्तक— महर्षि कर्वे

भारत की अनाथ विधवाओं के उद्धारक, स्त्री-शिक्षा एवं विधवा विवाह के प्रवर्तक महर्षि कर्वे का जन्म महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश के अन्तर्गत शैरवाली नामक छोटे से गाँव में अठारह अप्रैल, अठारह सौ अट्ठावन को अत्यन्त निर्धन परिवार में हुआ। इनके घर का नाम अण्णा साहब था।

अण्णा साहब के पिता रस्सी बट कर अपनी गुजर-बसर करते थे। एक तो उस समय लड़कों को पढ़ाने की ओर यों ही ध्यान नहीं दिया जाता था, दूसरे अण्णा साहब के पिता की स्थिति भी इस योग्य न थी कि वे उसके लिये पढ़ाई का प्रबन्ध कर सकते। निदान अण्णा साहब ने जो कुछ पढ़ा-लिखा सब अपने परिश्रम एवं अध्यवसाय के

बल पर। अण्णा साहब में पढ़ाई के लिए कितनी तीव्र लालसा थी, इस बात का पता इससे लगता है कि उन्होंने छोटी कक्षा की तैयारी घर पर की और उसकी परीक्षा देने १२० मील पैदल चल कर गये।

इस प्रकार गरीबी और कष्टों से जूझते हुए उन्होंने मरुढ़दापोल, रत्नगिरि आदि के स्कूलों व कॉलिजों की परीक्षायें पास करते हुए सन् १८८४ में २६ वर्ष की आयु में बम्बई विश्वविद्यालय से बी. ए. किया।

बी. ए. की परीक्षा पास कर लेने के बाद उनके सामने धनोपार्जन की स्वर्ग-सम्भावनायें थीं। किन्तु उन्होंने अपनी परिश्रमजन्य शिक्षा-सम्पत्ति को व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के लिये काम में लाना पसन्द नहीं किया। शिक्षा के लिये १३ साल बम्बई में रहकर उन्होंने भारतीय जनता और विशेषकर नारी वर्ग की जो दयनीय दशा देखी थी उससे उनकी आत्मा अपने देश-बन्धुओं एवं बहिनों के लिये कुछ करने के लिये तड़प रही थी। निदान उन्होंने पूना में लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित उस फर्ग्युसन कॉलिज में नाममात्र के वेतन पर गणित पढ़ाना अंगीकार कर लिया, जिसकी शिक्षा का उद्देश्य देशभक्तों का निर्माण करना था। अनन्तर वे १८९२ में देश में शिक्षा-प्रसार करने वाली संस्था 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' के सदस्य बन गये और केवल ७५) मासिक पर उसके कॉलेजों में लगभग २५-३० वर्षों तक पढ़ाते रहे। उनके इस त्यागपूर्ण सेवा के उपलक्ष्य में देश के प्रतिष्ठित लोगों ने उन्हें महर्षि की उपाधि दी जिससे अण्णा साहब कर्वे के स्थान पर महर्षि कर्वे प्रसिद्ध हो गये।

महाराष्ट्र में प्रचलित बाल-विवाह की कुप्रथा का शिकार कर्वे को भी होना पड़ा था। १५ वर्ष की आयु में ही इनका विवाह कर दिया गया था जिसका कुफल उन्हें ३० वर्ष की आयु में भोगना पड़ा। कच्ची आयु में विवाह हो जाने के फलस्वरूप उनकी निरन्तर रुग्ण रहने वाली पत्नी का देहान्त २६ साल की उम्र में ही हो गया। दो छोटे-छोटे बच्चे छोड़कर पत्नी के मर जाने से श्री कर्वे की जीवन-व्यवस्था बिगड़ने लगी। उनका ध्यान जनसेवा के कार्यों से हटकर बच्चों की परवरिश की ओर जाने लगा। महर्षि कर्वे के सामने एक समस्या खड़ी हो गई।

हितचिन्तकों ने उन्हें पुनर्विवाह का परामर्श दिया। परिवार वालों ने लड़की तक देख ली। किन्तु महर्षि कर्वे को अपना जीवनोद्देश्य याद था। निदान उन्होंने घोषणा कर दी कि यदि वे पुनर्विवाह करेंगे तो किसी विधवा से। महर्षि कर्वे अपने बच्चों की समस्या हल करने के साथ विधवाओं के उद्धार का भी श्री गणेश करना चाहते थे। अस्तु, उन्होंने स्वयं विधवा-विवाह का आदर्श उदाहरण समाज के सामने रखने के लिए घर वालों के प्रचण्ड विरोध के बावजूद आनन्दीबाई नामक एक सुशील विधवा से विवाह कर लिया, जिसका फल यह हुआ कि उन्हें जाति से बाहर कर दिया गया और जब वे अपनी पत्नी को लेकर गाँव में माता-पिता और भाई से मिलने गये तो उन्हें घर के बाहर जानवर बाँधने के स्थान पर ठहराया गया।

महर्षि कर्वे ने इस तिरस्कारपूर्ण व्यवहार का बुरा नहीं माना और पूना लौटकर स्त्री-उद्धार के काम में लग गये। उन्होंने विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विधवाओं की दुर्दशा, कन्याओं का उत्पीड़न और बाल-विवाह की कुप्रथा का मुख्य हेतु स्त्री-शिक्षा का अभाव है। यदि-विधवायें एवं कन्यायें शिक्षित एवं प्रशिक्षित हो कर अपने पैरों पर खड़ी हो सकने योग्य हो जायें तो उनकी स्थिति बहुत कुछ सुधर सकती है। निदान उन्होंने हिंगण बहुक नामक स्थान पर ५७ विधवाओं और १९ क्वारी अनाथ कन्याओं को लेकर एक आश्रम की स्थापना की।

इस आश्रम में अनाथ विधवाओं तथा कन्याओं को शिक्षा के साथ-साथ साधारण घरेलू-धन्धों में भी प्रशिक्षित किया जाने लगा। कुछ समय बाद उन्होंने आश्रम को दो शाखाओं में विभक्त कर दिया। एक अनाथ विधवाश्रम और दूसरा कन्या विद्यालय। अनाथ विधवाश्रम की विधवायें पढ़ने के साथ जो काम-धन्धा करती थीं, उसकी आमदनी बालिका विद्यालय के खर्च में काम आने लगी।

इस सत्कार्य में भी महर्षि कर्वे को कुछ कम कष्ट नहीं पड़े। इसके लिये उन्हें न जाने कितनी आलोचनाओं, लांछनाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा। किन्तु वे सब कुछ धैर्यपूर्वक सहते हुए निरन्तर अपने प्रयत्नों तथा प्रचार में लगे रहे। विधवा-विवाह निषेध के समान ही उस समय बालिकाओं का पढ़ना भी बुरा माना जाता था। विद्यालय चलाने के लिये लड़कियों का मिलना कठिन हो गया, पर महर्षि कर्वे हिम्मत न हारे। वे घर-घर जाकर लोगों को स्त्री-शिक्षा का महत्त्व समझाते, सभाओं में प्रवचन देते और सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का लाभ बतलाते। धैयपूर्ण प्रयास फलीभूत हुआ और लोग धीरे-धीरे लड़कियों को पढ़ने के लिए विद्यालय में भेजने लगे।

प्रारम्भिक अध्यापन-काल के लिये महर्षि कर्वे ने अपनी पत्नी को शिक्षा दी थी। उसका उपयोग करने के लिये वे कॉलेज में पढ़ाने के बाद जितना समय पाते, सब लड़कियों को पढ़ाने में लगाया करते थे। धीरे-धीरे बालिका विद्यालय का विकास होने लगा और लोगों की लड़कियों के स्कूल भेजने की झिझक टूटने लगी।

लड़कियों के पढ़ने से स्कूल का खर्च बढ़ गया। आमदनी का कोई रास्ता नहीं था। स्त्री-शिक्षा के विरोध के कारण कोई सहायता देने को तैयार न था। बड़ी कठिन समस्या थी। किन्तु महर्षि कर्वे ने इसे भी हल कर लिया। उन्होंने अपनी सारी जमा पूँजी, बीमा की ५ हजार की पालिसी विद्यालय को दान कर दी। इतना ही नहीं, उन्होंने घर के अनेक आवश्यक खर्च कम कर दिये और अपने ७५) रुपये वेतन में से भी कुछ अंश विद्यालय को नियमित रूप से देने लगे।

महर्षि कर्वे का यह सराहनीय त्याग देखकर धनवानों की आँखें खुलीं, तब उन्होंने भी मीन-मेख करते हुए कुछ-कुछ सहायता देना शुरू कर दिया जिससे विद्यालय तथा विधवा आश्रम का काम ढंग से चल निकला। महर्षि कर्वे की तपस्या से अभिभावकों का अज्ञान दूर हुआ और अब उन्होंने निःसंकोच बालिकाओं को पढ़ने भेजना शुरू कर दिया, जिसका फल यह हुआ कि विद्यालय की प्रगति देखकर समाज के उदार दानियों ने आश्रम की झोंपड़ियों के स्थान पर पक्का भवन खड़ा कर दिया जो महर्षि कर्वे को यश पताका के समान समाज-विरोधी तत्त्वों तथा रूढ़िवादी प्रतिगामियों का चुनौती देने लगा।

१९१५ ई. में बम्बई कॉंग्रेस के अधिवेशन के समय समाज-सुधार के मंच से बोलते हुए महर्षि कर्वे ने घोषणा की — अगले वर्ष जब वे साठ साल की आयु पूरी करके अध्यापन-सेवा कार्य से निवृत्त होंगे तब इस बालिका विद्यालय को जापानी महिला विश्वविद्यालय के ढंग से महिला विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करने का प्रयत्न करेंगे। जनता ने उनकी इस सृजनात्मक घोषणा का स्वागत किया और यथासम्भव हर प्रकार की मदद करने का वचन दिया।

निदान जब वे सन् १९१६ में सेवा-निवृत्त हुए तो विश्वविद्यालय की योजना में लग गये। उन्होंने फकीरी धारण कर ली और झोला डालकर अनुदान माँगने के लिये निकल पड़े। वे १२ वर्ष तक सम्पूर्ण भारत में भिक्षा माँगते फिरे। उन्होंने हरिद्वार से रामेश्वरम् तथा कराँची से लेकर कलकत्ता तक अनेक बार यात्रायें कीं, किन्तु जब विश्वविद्यालय को पूर्णतया आधुनिक, आदर्श, स्थायी, आत्मनिर्भर तथा सर्व विषयक बनाने के लिये देशाटन से पूरा नहीं पड़ा तो वे विदेश भ्रमण के लिये चल दिये और सात-आठ साल तक योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, जापान, मलाया आदि देशों की यात्रा करते रहे। इस प्रकार वे निरन्तर बीस साल तक विश्वविद्यालय के लिये भिक्षा माँगते फिरे। यद्यपि इस समय तक उनकी आयु ७५ वर्ष की हो चुकी थी तथापि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये शायद और भी अनेक वर्षों तक प्रयास को जारी रखते, यदि पर्णकुटी पूना के धनीमानी समाज-सेवक श्री नानजी ठाकरासी एक मुश्त १० लाख रुपये देकर उनकी आवश्यकता पूरी न कर देते।

निदान निस्पृह समाज-सेवक महर्षि कर्वे ने समस्त प्राप्त धन-राशि लगाकर बालिका विद्यालय के साथ-साथ महिला विश्वविद्यालय की स्थापना कर दी। इतना ही नहीं, उस समय जब महामना मालवीय जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे विख्यात तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति भी विश्वविद्यालय का माध्यम मातृभाषा न करा पाये, महर्षि कर्वे ने बालिका विद्यालय की तरह महिला विश्वविद्यालय का माध्यम मातृभाषा स्वीकार कर ली।

इस प्रकार भारत के दलित तथा नारी-वर्ग के लिये उन्नति व विकास एवं स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त कर महर्षि कर्वे एक सौ चार वर्ष की दीर्घ आयु का उपभोग कर मुक्त हो गये।

हिमालय सा विराट व्यक्तित्व पं. गोविन्द वल्लभ पंत

कुमायूँ के आँचल में खिला एक पुष्प— छोटा-सा बालक अपने घर के आँगन में बैठ नगराज हिमालय की हिम धवल मेखलाओं को विस्फारित नयनों से देखा करता था। कितना विशाल और कितना उज्ज्वल है यह पर्वत भी। उसके बाल मन में सहज आकांक्षा जाग पड़ती उसे देखकर मैं भी वैसा ही विशाल, विराट और उज्ज्वल बन जाऊँ। यह बालक गोविन्द सचमुच अपने व्यक्तित्व को वैसा ही विराट और पावन बनाने में सफल हुआ। वह अपने इस विराट व्यक्तित्व के कारण भारतीय इतिहास में अपना चिर स्मरणीय स्थान बना गया। पं. गोविन्द वल्लभ पंत के नाम से हम अपरिचित नहीं हैं।

गंगा और हिमालय भारतीय संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। हिमालय का उत्तराखण्ड प्रदेश ही हमारे ऋषियों-मुनियों की साधना स्थली रहा है। साम का प्रथम उद्घोष यहीं हुआ था। यहीं के तपोवनों में हमारी आध्यात्मिक संस्कृति मुखरित हुई थी। गंगा और हिमालय से हर भारतवासी का एक सहज निसर्ग सम्बन्ध है। इनका नाम सुनते ही उनके मन में एक पुलक उत्पन्न हो जाती है। इस अनूठे आकर्षण के पीछे यही भाव छिपा है कि हम भी इन्हीं की तरह विराट, उदार और पावन बनें। बालक गोविन्द ने वैसा ही प्रयास किया और वैसा ही बन गया। हमारे पावन तीर्थ हिमालय के निचले दुर्गम क्षेत्रों में इसलिए निर्मित हुए हैं कि वहाँ जाकर व्यक्ति अपने क्षुद्रत्व को त्याग कर विराटत्व को पाने की प्रेरणा ग्रहण करें।

पंत जी व्यक्तित्व के हिमालय ही थे। उनके सम्पर्क में आने वालों के मन में ही वैसे ही विकसित होने के संकल्प जागा करते थे। वे अपने पास आने वालों को भरपूर प्यार भी देते थे तो उनकी हताश कुण्ठा पर उन्हें डाँटते-डपटते भी थे।

१९३४ की बात है हरिकृष्ण त्रिवेदी नामक सज्जन १९३२-३३ के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण थोड़े समय की जेल काटने के बाद उनके पास पहुँचे। उन्होंने बड़ा स्नेह दिया। आन्दोलन में भाग लेने के प्रसंग को लेकर उनकी प्रशंसा भी खूब की। पर उनके इस प्रश्न के उत्तर में कि अब क्या करने का विचार है, वे बोले— बेकारों का एक संगठन बनाने का एक विचार है तो वे उन्हें फटकारने से पीछे नहीं रहे— "क्या मूर्खों की जमात में अपना नाम लिखाओगे ? जिनके पास बुद्धि होती है वे बेकार नहीं रहते।"

वे छोटे-बड़े हर किसी को पितृवत् स्नेह भी देते थे और अनुशासन में भी रखते थे। यह नहीं कि स्नेह उसके पाँव की बेड़ी बन जाय। त्रिवेदी जी को फटकार दी उसके तुरन्त बाद ही उन्होंने सहायता देने का प्रस्ताव भी रख दिया— "अल्मोड़ा जिले के उद्योग धन्धों की स्थिति का अध्ययन कर कोई योजना बना कर लाओ तब आगे की बात बताऊँगा।" वह योजना तो उन महाशय ने नहीं बनायी पर उन्हें सीख तो लग गयी। आज वे हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग में हैं।

यह एक ही उदाहरण नहीं है जिससे उनकी दूसरों की सहायता करने के सहज स्वभाव का परिचय मिलता हो। उनके पास जो भी गया, अपनी जैसी भी समस्या लेकर गया उसका हल पंत जी ने अवश्य किया। त्रिवेदी जी जैसे अनगिनत लोग उनके सहयोग, मार्ग दर्शन, आशीर्वाद और सद्भावना के सहारे आगे बढ़े हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा सघन तरु था जिसके नीचे कितने ही थकित चरण पथिकों ने कुछ क्षण को विश्राम कर अपनी क्लान्ति मिटाकर नूतन शक्ति उत्साह पाया था। डा. पट्टाभिसितारामैया ने उनके बारे में लिखा है "पंत जी की मेधा और स्मृति दोनों ही तीक्ष्ण हैं। उनमें अपूर्व वाद-विवाद कुशलता, बात के मर्म तक पैठने की शक्ति और अडिग

आत्मविश्वास है। मैंने कभी उन्हें चिंतित और दुःखी होते नहीं देखा। वह सदैव प्रसन्नचित्त और कार्यरत रहते थे। पन्त जी की रुचियाँ भी उनके गुणों की तरह ही विस्तृत हैं 'उनकी तरह मेधा और स्मृति तो कइयों को ईश्वर देता है। पर उन क्षमताओं का उपयोग पंत जी ने जिस उदार दृष्टिकोण से देश और समाज के हित में किया वह उनकी तेजस्विता का सबसे बड़ा कारण है। आवश्यकता श्रम और निष्ठा को जन्म देती है। व्यक्ति स्वयं अपने पत्नी, बच्चों और रिश्तेदारों तक सीमित रहता है। उसकी आवश्यकताएँ भी कम ही रहती हैं। वह सोचता है मेरा व्यक्तित्व काफी विकसित हो गया है इससे मैं अपना काम चला लूँगा। पर जो अपने देशवासियों के साथ वैसा ही परिवार भाव जोड़ लेता है तो फिर उसे अपने व्यक्तित्व को भी प्रखर बनाना ही पड़ता है। इस पथ का अनुसरण उन्होंने आरम्भ से ही कर लिया था।''

अपनी जवानी के दिनों में वे उस क्षेत्र के प्रसिद्ध वकील थे। अपने पक्ष को इस ढंग से प्रस्तुत करते थे कि उनके मुवक्किल के विरुद्ध फैसला देना न्यायाधीश के लिए असम्भव हो जाता था। अँग्रेज जज भी उनकी इस बुद्धिमत्ता और वाक्शक्ति कौशल के कायल थे कहना न होगा कि ऐसे वकील को मुवक्किलों की कमी नहीं रहती होगी। उनकी हजारों रुपयों महीनों की आमदनी थी।

यह सब होते हुए भी वे संतुष्ट नहीं थे। उनके इस असंतोष का कारण देश की पराधीनता थी अतः उन्होंने अपनी इस चलती हुई वकालत को छोड़ कर सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। उनकी उस मेधा और बुद्धि का उपयोग उनके अपने लिए ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये हुआ, यह त्याग करके वे घाटे में नहीं रहे। वर्षों तक वे उत्तर प्रदेश मंत्रिमण्डल में मंत्री रहे केन्द्र में भी वे वर्षों तक गृहमंत्री पद सम्हालते रहे।

कोई भी कार्य उनके लिए असम्भव नहीं था। शेर जैसी दहाड़ती हुई समस्याएँ उनके सामने आकर कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगती थीं। यह उनकी योग्यता और गहन आत्मविश्वास का ही फल था। विपद काल में धैर्य धारण किये रहना, ऐश्वर्य के समय में विनम्र और क्षमाशील बने रहना, सभा मण्डपों में प्रखर वक्तृत्व देना, सुयश में अभिरुचि रखना और शास्त्रों के स्वाध्याय में प्रमाद न करना आदि सद्गुणों से तो उन्होंने अपने आपको विभूषित किया था। इनसे भी बड़ी थी उनकी आन्तरिक निर्मलता, उदार हृदयता, दृढ़ नैतिक आस्था, गहन अन्तर्दृष्टि और सबके लिए सहज आत्मीयता रखने की आध्यात्मिक विभूतियाँ जिनके कारण उनका व्यक्तित्व महान् बनता गया था।

प्रान्तीय एसेम्बलियों से लेकर स्वतंत्र भारत के केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल तक में महत्त्वपूर्ण पदों पर मन्त्री रहते हुए उनका व्यक्तित्व राष्ट्रव्यापी लोकप्रियता पा गया। उसका कारण उनकी राजनीतिक सूझ-बूझ भर नहीं थी। वे सच्चे नेता थे। देश के हर नागरिक को उन्होंने अपना आत्मीय स्वजन समझा था। धुआँधार भाषणों, टीका-टिप्पणियों और विरोधियों की निन्दा करना उनकी नीति कभी नहीं रही हाँ बोलते थे तो ऐसा बोलते कि श्रोता मंत्र-मुग्ध हो सुना करते पर उस वक्तृत्व कौशल का शायद ही कभी उन्होंने अपनी कुर्सी बनाये रखने में प्रयोग किया हो।

उनकी सच्चरित्रता, उदारता, हृदयस्पर्शी मानवता अन्य गुणों के साथ जुड़कर उन्हें सबका चहेता बना गयी थी। उनके घर के द्वार सदा सभी के लिए खुले रहते थे। जो भी उनके सानिध्य में आता वह उनकी आत्मीयता के इस वर्षण से भीग जाया करता था। उन्होंने लाखों लोगो पर पितृवत स्नेह बरसाया था। छोटे-से-छोटे और साधारण से साधारण व्यक्ति की बात भी बड़े ध्यान से सुना करते थे। चाहे दो मिनट का ही समय दें पर वे किसी को निराश नहीं लौटाया करते थे।

इस प्रकार जन-सामान्य से खुलकर मिलने तथा उनकी कष्ट कठिनाइयों को जानने के कारण उन्हें कहाँ क्या हो रहा है इसका पूरा पता रहता था। वे जनता का दुःख-दर्द जानने के लिए सरकारी अफसरों पर निर्भर नहीं रहते थे। वे जनता तक सीधी पहुँच रखते थे। इसी कारण कोई सरकारी अफसर उन्हें धोखे में नहीं रख सकता था।

पंत जी जब संयुक्त प्रान्त के प्रीमियर थे तब उन्होंने अपने सहयोगी अफसरों को निर्देश दे रखे थे— जनता के पास जाते समय अफसरी घर पर ही छोड़ कर जाया करो। हमारा काम जनता पर हुकूमत करना नहीं उसकी सेवा करना है, उनके दुःख-दर्दों को दूर करना है सब गाँव वालों से समभाव से मिलना चाहिए। ऐसे समय में छोटे कर्मचारियों को अलग रखना चाहिए। भारत गाँवों का देश है। गाँव का आदमी क्या खाता है, क्या पीता है, कैसे रहता है, उसकी क्या समस्याएँ हैं इन्हें जाने बगैर हम राष्ट्रीय समस्या का समाधान नहीं कर सकते। जब भी गाँव में जाना हो गाँववासियों के फूँस के छप्परों में दो-एक मिनट रहना चाहिए। हो सके तो उनके साथ मिल कर एक प्याला चाय-दूध पीना चाहिए।'

वे स्वयं भी ऐसा ही करते थे। यही कारण था कि आम हिन्दुस्तानी की कठिनाइयों, समस्याओं का उन्हें पता रहता था। किस प्रदेश के लोग किस प्रकार की समस्याओं से जूझ रहे हैं इसका अनुमान वे सहज ही लगा लेते थे। फिर उसकी पुष्टि के लिए सरकारी अफसरों को पता लगाने के लिए भेजते थे। वे जानते थे कि अँग्रेजों ने अपना शासन तंत्र उन्हीं अफसरों के बल पर कायम रखा था। उनमें से अधिकांश के मन में अफसरशाही ठूँसकर भरी पड़ी थी। समय-समय पर वे भ्रष्ट तरीकों से अपना घर भी भरते थे। अतः वे प्रशासन तंत्र पर पूरा नियंत्रण रखते थे किसी अफसर की चालाकी या धूर्तता उनके सामने टिक नहीं सकती थी।

एक बार उन्होंने एक बड़े अधिकारी से जिले की खाद्य स्थिति के बारे में पूछा। अधिकारी समझता था कि वह अपनी चापलूसी भरी बातों से वस्तुस्थिति में अपनी अनभिज्ञता उन पर प्रकट न होने देगा। किन्तु उन्होंने जान लिया कि उसे कुछ भी ज्ञात नहीं है। उन्होंने चने और गेहूँ का भाव पूछा। अधिकारी को काटो तो खून नहीं। खूब लताड़ पड़ी उस पर। आज हमारी सरकार को ऐसे ही मंत्रियों की

दरकार है । जो अफसरशाही को नियंत्रण में रख कर भ्रष्ट होने से बचा सके और राष्ट्रव्यापी समस्याओं का हल कर सके ।

वे प्रकाण्ड विधिवेत्ता, संसदीय विषयों के जानकार और कुशल प्रशासक थे । एक ही व्यक्ति में इतनी सारी क्षमताएँ होना एक आश्चर्य का विषय है । किन्तु यह सब उनके परिश्रम का फल है । आत्म विश्वास के साथ किसी भी क्षमता को अर्जित करने के लिए श्रम किया जाय तो वह करतलगत हुए बिना नहीं रहती । पंत जी इसके अनुपम उदाहरण थे । औपनिवेशिक जमाने में जब संयुक्त प्रान्त के शासन की बागडोर उनके हाथ में थी तब लन्दन की एक सभा में पंत— मन्त्रिमण्डल की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने कहा था— 'पूर्ण लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना का प्रयोग आशा से भी अधिक सफल रहा। इस मंत्रिमण्डल में जनता की शिकायतों पर तुरन्त काम हुआ । साहस और क्षमता की नई भावना आयी । प्रयोग का उत्साह बढ़ा । इस सफलता का आधार एक ओर अनुशासित संसदीय बहुमत का और दूसरी ओर विधायकों का अपने क्षेत्रों में निकट सम्पर्क है ।'

वे जब केन्द्रीय गृहमंत्री थे उन दिनों केन्द्रीय कर्मचारियों ने हड़ताल की । वे किसी भी ऐसे कदम को जो राष्ट्रीय हित के विपरीत होता था पसन्द नहीं करते थे । कर्मचारियों की हड़ताल भी एक ऐसा ही कदम था । जब समझौता का कोई मार्ग नहीं निकल सका तो उन्होंने दृढ़ता का रुख अपना कर जन-जीवन पर हड़ताल का कुप्रभाव नहीं पड़ने दिया । हड़ताल टूटने के पहले उन्होंने जो कड़ा रुख अपनाया था उसके टूटने पर उन्होंने कर्मचारियों के साथ पूर्ण सहानुभूति वरती और पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता लाने का प्रयास किया ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रदेश के अल्मोड़ा जिले के एक ग्राम में जन्मे पंत जी का व्यक्तित्व आज के जन-नेताओं के लिए आदर्श है । अब वे हमारे बीच नहीं रहे पर उनका अविस्मरणीय प्रखर व्यक्तित्व और जन-नेतृत्व आने वाली पीढ़ियों का प्रदर्शन करता रहेगा ।

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी सरदार पटेल

जर्मनी के एकीकरण में जो भूमिका बिस्मार्क ने और जापान के एकीकरण में जो भूमिका मिकाडो ने निभायी उन्हें विश्व के इतिहास में आश्चर्य माना गया है । ये देश अपने एकीकरण के समय तो चार-पाँच करोड़ की जनसंख्या वाले ही थे । किन्तु सरदार पटेल द्वारा किये गए भारत के एकीकरण को क्या संज्ञा दी जाय जिसे दुनिया के अन्य देश उसके विशाल आकार और अपरिमित जनशक्ति को देखते हुए 'उप महाद्वीप' कहा करते हैं । निश्चय ही यह एक आश्चर्य ही कहा जायेगा ।

व्यक्ति जब अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को अपने लिए ही सीमित, संकुचित न रखकर राष्ट्र व समाज के स्तर पर नियोजित करता है तो वह निश्चत रूप से श्रेय व सम्मान का अधिकारी बनता है । सरदार पटेल इस दृष्टि से निश्चित ही उस श्रेय तथा सम्मान के अधिकारी है जो उन्हें दिया जाता है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिन राष्ट्र नेताओं की कमी को हमारे देशवासी अनुभव करते हैं उन्हीं में से एक वे है । आज देश के सामने कोई समस्या आती है तो बरबस मुँह से निकल पड़ता है— "काश ! आज सरदार पटेल जीवित होते ।"

१८७५ में गुजरात के एक सामान्य से कृषक परिवार में जन्मे बल्लभ भाई पटेल कैसे एक सामान्य कृषक पुत्र से भारत के महान् जन-नेता व एकीकरण कर्ता के समानास्पद पद तक जा पहुँचे यह कहानी अनेकानेक बार समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं व पुस्तकों में दोहरायी जा चुकी है और दोहरायी जाती रहेगी । यहाँ उस कहानी को दोहराना मात्र ही अभीष्ट नहीं है । कोई व्यक्ति उस स्थिति तक उस सम्मान तक पहुँचना चाहे तो उन्हें क्या रीति-नीति अपनानी होगी किन सद्गुणों का संग्रह करना होगा यह भी अभीष्ट है । साथ ही यह भी देखना है कि उन्हें यह दबंगी और बुलन्दी किस महास्रोत से मिली ।

कहना न होगा कि सरदार पटेल नेहरू परिवार जैसे सम्पन्न और समृद्ध परिवार में नहीं जन्मे न उनके पिता पं. मोतीलाल नेहरू की तरह एक प्रख्यात व्यक्ति ही थे । किन्तु जब थोड़े-से व्यावहारिक मतभेदों के कारण जब गाँधी जी के सामने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में नेहरू जी व सरदार पटेल दोनों में से एक को उन्होंने का अवसर आया तो वे भी एक बार जनमत की ओर देखने लगे और उन्हें पटेल व नेहरू दोनों का ही मन्त्रिमण्डल में रहना आवश्यक लगा । स्पष्ट है कि अर्जित कीर्ति और यश किसी भी प्रकार साधन-सुविधाओं युक्त परिवार में जन्म लेने और उनके सहारे पा लेने वाले यश से कम नहीं होता । वरन् साधनों के अभाव में कठिनाइयों के दुर्गम मार्ग को चीर कर निकलने वाला व्यक्ति अधिक अच्छी तरह से लोकसेवा का कार्य कर सकता है, सोच-समझ सकता है और व्यावहारिक नीति निर्धारित कर सकता है ।

किस प्रकार देशी राज्यों का एकीकरण सम्भव हो सका इस बात पर विचार करते हैं तो आश्चर्य ही होता है । देशी रियासतों के शासक राज्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते थे । अंग्रेज सरकार भी भारत को स्वतन्त्र करते समय इन्हें भारत या पाकिस्तान में स्वेच्छा से मिलने या स्वतन्त्र बने रहने की स्वतन्त्रता दे गयी थी । ऐसे एक-दो नहीं सैकड़ों राजा भारतवर्ष में विद्यमान थे । इनका एकीकरण सरदार पटेल जैसा दृढ़ नीति कुशल व्यक्ति ही कर सकता था । इस असम्भव दीखने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाने के कारण ही उन्हें लौह पुरुष कहा जाता है ।

गाँधीजी के नेतृत्व में छोटे-छोटे लोगों द्वारा अहिंसा के अस्त्र से लड़ा गया स्वतन्त्रता संग्राम सरल हो जाएगा और आधी दुनिया पर राज्य करने वाले अंग्रेज भारत को छोड़ जाने को विवश हो जायेंगे । राजाओं का राज्य चला जाएगा उसके स्थान पर प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि राज्य करेंगे, यह बात आजादी के पचास वर्ष पहले सामान्य व्यक्ति सोच भी नहीं सकता था । जो थोड़े से व्यक्ति क्रान्ति या

सत्याग्रह की बात करते थे उनकी बातों को लोग शेखचिल्ली का स्वप्न समझते थे। किन्तु यह सब सत्य होकर रहा। जिन्होंने थोड़ा साहस दिखाया अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से ऊपर उठकर राष्ट्र की स्वतन्त्रता लाने के प्रयत्नों में लगे, उन्हें श्रेय भी मिला। सरदार पटेल भी श्रेय के भागी बने। नियति का चक्र तो चलता ही रहता है चल ही रहा है। जो ईश्वरेच्छा होती है वह तो पूरी होकर ही रहती है। पर श्रेय उन्हें मिलता है जो उस इच्छा को समझकर युग धर्म पालन करने का साहस करते हैं। भारत का एकीकरण करने के समय सरदार पटेल ने जिस सूझ-बूझ, नीति कौशल व बुद्धिमता का परिचय दिया वह समय की आवश्यकता को देखकर एक महान् साहस कर जाना था, ठीक वैसा ही साहस जैसा कि अब्राहम लिंकन ने अश्वेत गुलामों को मानव अधिकार दिलाने के लिए अमेरिका में गृह युद्ध स्वीकारा था।

हैदराबाद के रजाकार विद्रोह को कुचल कर उसे तीसरा पाकिस्तान बनने से बचाने के लिए भी सरदार पटेल ने बहुत बड़ी जोखिम उठायी थी। स्वयं पं. जवाहरलाल नेहरू भी उस पर हाथ डालने से हिचकिचा रहे थे। इसे साहस ही नहीं दुस्साहस भी कहा जा सकता है। कभी-कभी सत्कार्यों की सफलता के लिए ऐसे दुस्साहस की आवश्यकता अनिवार्य-सी हो जाती है।

सरदार पटेल की इस दृढ़ता का आधार उनकी आत्मा की अमरता में दृढ़ विश्वास था जो उनके अवचेतन में आरम्भ से ही विद्यमान था और जिसे आगे चलकर उन्होंने पर्याप्त विकास व पोषण दिया था। बचपन में उनकी काँख में एक भयंकर फोड़ा हो गया था। उस फोड़े को फोड़कर मवाद निकालने का देशी तरीका अपनाया गया— लोहे की सलाख को गर्म करके उसे दागने का। गर्म सलाख और कोमल बालक को देखकर सम्भावित पीड़ा की कल्पना से दागने वाले वयस्क का हाथ भी काँपने लगा पर वाह रे साहसी पटेल! उन्होंने स्वयं ही सलाख उठायी और फोड़े में घुसा दिया। यह आत्मा की अमरता में विश्वास करने के उस अवचेतन में स्थित आध्यात्मिक गुण का ही परिणाम था कि वह बचपन में ही इतना साहस दिखा सके।

किसान के घर पैदा हुए बल्लभ भाई की पढ़ाई मैट्रिक से आगे नहीं बढ़ पायी थी कि पारिवारिक परिस्थितियों से विवश हो उन्हें मुख्तारी की परीक्षा पास करके वकालत करनी पड़ी। अपनी लगन और कर्मनिष्ठा के बल पर वे शीघ्र ही कस्बे के नामी वकील बन गये आगे पढ़ने की इच्छा फिर भी बनी रही। काफी मेहनत और बचत करके उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टर की परीक्षा पास करने के लिये धन संचित किया, पासपोर्ट भी बनवा लिया किन्तु अपने बड़े भाई विट्ठल भाई की इच्छा को देखकर उन्होंने अपना इंग्लैण्ड जाना स्थगित करके उन्हें वह धन दे दिया और अपना पासपोर्ट भी उनके नाम करवा दिया। इससे उनकी त्यागवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है।

अपने बड़े भाई के इंग्लैण्ड से लौट आने के दो वर्ष बाद १९१० में वे इंग्लैण्ड गये। वहां वे सब प्रकार के शौक मौज से दूर रहते हुए गहन अध्ययन में लीन हो गए। इंग्लैण्ड की कड़ाके की शीत में भी अपने आवास से कई मीलों दूर स्थिति लाइब्रेरी में जाकर सुबह से शाम तक पढ़ते। इस लगन और श्रम का पुरस्कार उन्हें यह मिला कि वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

इतनी मेहनत के बाद पाई बैरिस्टर की सनद से वे अधिक दिनों तक लाभ नहीं उठा सके। इसके द्वारा अपने लिए काफी धन उपार्जित कर सकने के निजी हित को उन्होंने अपने देश व देशवासियों के हित पर न्योछावर करने में देर नहीं की। इंग्लैण्ड से बैरिस्टर बनकर स्वदेश लौटे और वकालत करने लगे। इसके साथ ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। १९१७ में वे गाँधीजी के सम्पर्क में आये उसके बाद तो उनकी वकालत कम होती गयी और देश के कार्य बढ़ते गये।

१९२० में कलकत्ता व नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पारित हुआ तो सरदार पटेल ने बैरिस्टरी त्याग दी। अपने पुत्र-पुत्रियों का सरकारी शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाना बन्द कर दिया। गुजरात विद्यापीठ की स्थापना उन्होंने इन्हीं दिनों की। इसके लिए वे बर्मा तक दौरा करके दस लाख रुपया एकत्रित कर लाये।

नागपुर के झण्डा सत्याग्रह की सफलता का बहुत कुछ श्रेय सरदार पटेल को ही जाता है। पं. जवाहर लाल नेहरू व चितरंजन दास आदि बड़े-बड़े नेताओं के पक्ष में नहीं होते हुए भी इसका सफल होना सरदार पटेल की कर्मठता का परिचय था। सरदार पटेल ने जो भी काम किया जी-जान से लगकर किया, आधे-अधूरे मन से नहीं। इस कारण उनके सारे ही कार्य जो पहले असम्भव दिखते थे सम्भव हो सके।

बोरसद के ग्रामीणों को डाकुओं व सरकार की पुलिस के दोहरे शोषण चक्र से बचाने में उन्हीं का हाथ था। डाकुओं का इस इलाके में भयंकर आतंक फैला हुआ था। सरकार ने रक्षा के लिए जो पुलिस तैनात की वह डाकुओं के आने पर चुप बैठी रहती थी, जबकि जनता को उनके खर्च के लिए प्रतिवर्ष हजारों रुपया टैक्स देना पड़ता था। सरदार पटेल ने ग्रामीणों को आत्मरक्षा के लिए तैयार किया— नवयुवकों का एक दल इसके लिए गठित किया गया। सरकार से टैक्स न लेने के लिए लड़ाई की गयी। इस तरह सरकार और डाकुओं की लूट से बोरसदवासियों को बचाया गया।

बारडोली के कृषक सत्याग्रह में तो सरदार पटेल ने कमाल ही कर दिखाया था। वहाँ मेहनती 'कुनबी' किसानों पर सरकार अनुचित रूप से कर भार लादती जाती थी। वे खूब मेहनत करके खूब कमाई करते थे तो भी विदेशी सरकार उनका खूब शोषण करना चाहती थी। इसे शोषण से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने सरदार पटेल से राय पूछी उन्होंने पहले उन्हें ठोक-बजाकर आन्दोलन के लिए पूरी तरह तैयार कर लिया। उसके बाद ही सरकार को कर देना बन्द कर दिया। सरकारी कर्मचारी लगान वसूलने आये तो उत्तर नकारात्मक ही मिला। उनके लिए सच्ची सरकार तो 'स्वराज्य आश्रम' में बैठे बल्लभ भाई पटेल हो गए। सरकार ने किसानों को साम, दाम, दण्ड, भेद हर नीति से झुकाने का प्रयास किया पर वे अब झुकने को किसी भी कीमत पर

तैयार नहीं थे । पुलिस, फौज, कुर्की, नीलामी, लाठी, मार आदि सब शस्त्र बेकार रहे । अन्त में सरकार को झुकना पड़ा ।

स्वतन्त्रता के पहले तथा स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रोत्थान में सरदार पटेल की अनूठी भूमिका रही । इस भूमिका का आधार उनका त्याग, तप, उनकी निष्ठा, भक्ति आदि थी । सरदार पटेल अब हमारे बीच नहीं रहे पर उनका यह कर्तव्य हमें सत्कार्यों में जुट पड़ने व उन्हें सफल बनाने के लिए समुचित साहस व मार्गदर्शन देता रहेगा ।

भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि लालबहादुर शास्त्री

काशी विद्यापीठ का एक छात्र छुट्टियों में अध्यापक के साथ उनके गाँव गया और वहाँ कई दिनों तक रहा । अध्यापक जिस मकान में रहते थे, उसके पास ही एक संगीत प्रेमी वृद्ध व्यक्ति सन्त कबीर का यह भजन गाया करता...

झीनी झीनी बीनी चदरिया
यह चार सुरनर मुनि ओढ़ी ।
ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया,
दास कबीरा जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया ॥

छात्र गीत की पंक्तियाँ सुनकर भाव-विभोर हो उठता, जैसे उसकी समाधि लग गई हो । एक बार वह ऐसी भाव समाधि में खोया हुआ था कि अध्यापक ने उसका ध्यान भंग किया--- 'क्या सोच रहे हो' यह पूछ कर । सोच रहा हूँ— 'मैं भी अपनी चदरिया जतन से ओढ़ कर ज्यों धर दूँगा— गुरुजी ।'

अध्यापक की आत्मा प्रफुल्लित हो गयी । और उन्होंने प्रोत्साहित हुए कहा— 'खूब जतन से ओढ़ना बेटे ।'

और छात्र ने अपना वादा जीवन भर निभाया । क्षणिक भावावेश में आकर आदर्शों और सिद्धांतों की कँटीली राह पर बढ़ने का संकल्प तो कई लोग कर लेते हैं पर दृढ़ता और मानसिकता के अभाव में कितने ही लोग उन संकल्पों से विचलित हो जाते हैं । लेकिन जिस छात्र का उल्लेख ऊपर किया गया है वह उन परिस्थितियों में भी जबकि उन्हें पैसे के अभाव में तैरकर नदी पार करनी पड़ती थी तब से और जब वे भारतीय जनता के सर्वोच्च प्रतिनिधि पद पर रहे तब तक एक दिन भी अपने इस आदर्श से विचलित नहीं हुए । इस संकल्प जयी, दृढ़ इस्पात से भी अधिक कठोर और मोम से भी मुलायम व्यक्तित्व के स्वामी का नाम था— लालबहादुर शास्त्री ।

लालबहादुर शास्त्री का जन्म २ अक्टूबर, १९०४ में मुगलसराय के एक साधारण परिवार में हुआ । उनके पिता श्री शारदा प्रसाद श्रीवास्तव एक साधारण से अध्यापक थे । अध्यापन की वृत्ति से जो कुछ भी वेतन मिल जाता उसी में परिवार की सभी आवश्यकताओं को पूरा करते और जरूरतमंद गरीब छात्रों की मदद भी । श्रीवास्तव जी के शिष्य उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे और वे भी अपने शिष्यों को पुत्रवत प्यार करते । कई बार विद्यार्थी देर रात तक भी उनके पास पढ़ा करते । ऐसे सहृदय और उदार चरित्र के श्रीवास्तव जी का प्रभाव लालबहादुर शास्त्री पर भी पड़ा । लेकिन पिता की छत्रछाया अधिक दिनों तक नहीं रह सकी । वे अपने लाड़ले को अल्पायु का ही छोड़कर इस संसार से चले गये ।

घर की आर्थिक स्थिति तो पहले से ही कमजोर थी अब और कमजोर हो गई । अब वात्सल्य की मूर्ति माँ रामदुलारी का ही सहारा रह गया । उन्होंने एक और सहारा खोज लिया— पुण्यतोया गंगा का । वे घण्टों गंगा के किनारे बैठे रहते और गंगा से बातें किया करते । गंगा में ही उन्होंने तैरना सीखा— मानो जीवन के सागर में वे तैरना सीख रहे हों । गंगा के थपेड़ों से उन्होंने जीवन के संघर्षों को सहना और उन पर विजय पाना सीखा ।

परिस्थितियाँ चाहे जो रही हों पर स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था, जो अपनी प्रवंचना न होने देने के लिए कभी किसी की सहायता स्वीकार नहीं करने देते । १९१८ की घटना है, तब उनकी आयु लगभग १२ वर्ष की रही होगी । एक बार गंगा पर अपने साथियों के साथ मेला देखने गये । वापस लौटने लगे तो उनके पास एक भी पैसा नहीं था, जिसे नाविक को दे कर गंगा पार कर सकें । वे किनारे पर ही रुक गये । मित्रों ने पूछा तो उन्होंने कहा मैं बाद में आऊँगा । और मित्र लोग जब वहाँ से चले गये तो गंगा के उस पार तक लालबहादुर ने काफी चौड़ा पाट तैर कर ही पार किया ।

शास्त्री जी के पिता का देहान्त होने पर माँ उन्हें लेकर नाना के यहाँ आयी और नाना के स्नेह संरक्षण में ही वे पढ़ने के लिए 'हरिश्चन्द्र स्कूल' में दाखिल हुए । जिन दिनों वे हरिश्चन्द्र स्कूल में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों गाँधी की आँधी आयी और सारे देश में असहयोग की हवा बहने लगी । लालबहादुर के हृदय में देश प्रेम की आग उत्पन्न हुई और विदेशी सरकार से मातृभूमि को मुक्त कराने की उमंग जाग उठी । असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के कारण वे विद्यार्थी जीवन में ही जेल यात्रा कर आये । जब जेल से छूटे तो माँ ने समझाया कि "हम लोगों को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए । तुम्हारे पिताजी तुम्हें डेढ़ वर्ष का छोड़ कर स्वर्ग सिधार गये थे और हम निराश्रित होकर यहाँ आये हैं । तुम्हारे नानाजी की मदद से तुम्हें स्कूल में भर्ती करवाया गया । इसलिए अपना जीवन बनाने की सोचो । बिना आगा-पीछा सोचे यदि इस तरह की ऊट-पटांग हरकतें करने लगोगे तो इन तपस्याओं का कोई परिणाम नहीं निकलेगा ।"

भोली-भाली माँ को लालबहादुर ने समझाया— "तुम चिंता न करो माँ । मुझे जिस प्रकार देश के प्रति कर्तव्य पालन की अभिलाषा है, वैसे ही परिवार के प्रति भी मैं अपने उत्तरदायित्वों को भूल नहीं सकता । मैं दोनों का ही अच्छी तरह पालन करूँगा ।"

इसके बाद वे काशी विद्यापीठ में भर्ती हुए और वर्ष बाद शास्त्री की परीक्षा अच्छी श्रेणी में पास की । अनेक व्यक्ति इस नाम से समझने लगते हैं वे कोई संस्कृत पण्डित रहे होंगे पर सच्चाई यह है कि उस समय काशी विद्यापीठ की यह उपाधि स्नातक डिग्री के समतुल्य समझी जाती थी । इसका नाम बी. ए. न रखकर शास्त्री इसलिए रखा

गया था कि लोगों में भारतीयता की भावना को बल मिले । शास्त्री हो जाने के बाद वे अपने कई साथियों को साथ लेकर लाला लाजपत राय की 'सरवेण्ट ऑफ पीपुल्स सोसाइटी' में शामिल हो गये । लाला लाजपत राय की इस संस्था का एकमात्र ध्येय देश सेवा और समाज सेवा ही था । संस्था के समस्त सदस्य अपना सारा समय सोसायटी के कार्यों में ही लगाते और सोसायटी की ओर से उन्हें निर्वाह व्ययमात्र दिया जाता था, जिसके द्वारा वे अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे ।

'पीपुल्स सोसायटी' में शामिल होकर शास्त्री जी ने सर्वप्रथम मुजफ्फरनगर जिले में हरिजन उद्धार का काम किया । वहाँ कुछ दिनों तक इस कार्यक्रम को चलाकर वे इलाहाबाद आ गये और वहां किसान आन्दोलन में भाग लेने लगे । इलाहाबाद में ही उन्होंने कांग्रेस संगठन में पदार्पण किया और जिला कांग्रेस कमेटी के मन्त्री बनाये गये ।

इससे पूर्व सन् १९२७ में उनका विवाह ललिता देवी के साथ हो चुका था । ललिता देवी उनकी जीवन साधना में अपूर्व सहयोगिनी सिद्ध हुई । उन्होंने विवाह संस्कार के समय ही एक प्रकार से अपनी अर्धांगिनी को अपने जीवन ध्येय के सम्बन्ध में बता दिया था । परम्परा के अनुसार उन्हें जब ससुराल पक्ष की ओर से दहेज में काफी सामान दिया जाने लगा तो उन्होंने दहेज लेने से इन्कार कर दिया । ससुराल वालों द्वारा बहुत आग्रह करने के बाद उन्होंने खादी की धोती और कुर्ते का कपड़ा तथा मात्र एक चरखा ही स्वीकार किया ।

कांग्रेस संगठन में उनको जो भी कार्य सौंपा जाता था उसे वे पूरे मनोयोग से करते । उनके लिए जैसे वही काम ईश्वर की उपासना बन जाता । यही कारण था कि उन्हें सौंपा गया प्रत्येक कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होने की निश्चित गारण्टी बन जाता था, फलतः बड़े-बड़े नेता उन पर विश्वास करने लगे । सन् १९३७ से १९४७ के बीच का समय उनके लिए सर्वांगपूर्ण ढंग से देश सेवा के काम में ही बीता और सच्चे लोकसेवी की भूमिका वे कर्मठतापूर्वक निभाते रहे ।

उनकी आवश्यकतायें बहुत ही सीमित रहीं और कारावास के समय भी वे अपने लिए कोई माँग नहीं करते । जेल में उनके साथी छोटी-छोटी चीजें अधिकारियों से माँगते, प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते या जिद करते थे, वहीं शास्त्री जी अपनी चीजें दूसरों को दे कर प्रसन्न होते थे । एक बार उन्होंने अपना अच्छे वाला लैम्प अपने साथी को दे दिया था और कडुवे तेल के दिये के सामने बैठकर अपना पढ़ने का शौक पूरा करते रहे ।

जब चाहे तब अपने को बिना साधनों के रख लेना और वह भी व्यवस्थित क्रम में बिना कोई व्यतिरेक लाये उनकी विशेषता थी । और इस विशेषता पर जेल अधिकारी बड़े आश्चर्यचकित थे । जेल में वे अपना सारा समय पढ़ने में ही व्यतीत करते और प्रायः लिखते भी रहते । जेल में उन्होंने 'मैडम क्यूरी'— की एक सुन्दर पुस्तक लिखी । आजादी से पूर्व गठित मन्त्रिमण्डल में उत्तर प्रदेश के गृह मन्त्री बने, संसदीय सचिव बने और जब उत्तर प्रदेश में गृहमन्त्री थे जब उन्होंने कांग्रेस का महामन्त्री पद भी सम्भाला । उनकी गणना लौह-व्यक्तित्व वाले महापुरुषों में थी । सचमुच ही दुबले-पतले और ठिगने कद के साधारण से दिखने वाले व्यक्ति में कठोर परिश्रम, निष्ठा, विश्वास को देखते हुए उन्हें लौह-पुरुष कहना उचित ही था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब संयुक्त प्रान्त का प्रथम मन्त्रिमण्डल गठित हुआ तो उन्हें पुलिस और यातायात मन्त्री बनाया गया । अगले चुनाव में वे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रेल विभाग के मन्त्री बनाये गये । इस विभाग में अपने कार्यकाल के बीच एक सामान्य रेल दुर्घटना के लिए स्वयं को नैतिक दृष्टि से दोषी अनुभव कर मन्त्री पद से स्तीफा दे दिया ।

सन् १९६३ में उन्होंने संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए एक बार फिर मन्त्री पद छोड़ा । उनकी निस्पृहता ने जनता को बहुत प्रभावित किया । नेहरू जी उन्हें इतना मानते थे कि अन्त समय निकट देखकर अप्रत्यक्ष रूप में शास्त्री जी पर ही अपना विश्वास व्यक्त किया । नेहरू जी के देहावसान पर शीर्षस्थ नेताओं ने भी उनमें ही अपना विश्वास व्यक्त किया और उनके ही हाथों में देश की बागडोर सौंपी ।

प्रधानमन्त्री पद का भार सम्हालते हुए उन्होंने सन्देश में कहा था— "हम अपने पड़ोसी देशों के साथ मित्रतापूर्ण किन्तु आत्म सम्मान के साथ सम्बन्ध बनाना चाहते हैं ।" वे थोड़े ही समय तक रहे पर उस अवधि में भी उन्होंने अपना यह कथन सिद्ध कर दिखाया । योरोप के कई देशों और अमेरिका तथा रूस जैसे प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध बनाये ।

पाकिस्तान के साथ भी उन्होंने इसी तरह के सम्बन्ध बनाना चाहे, पर पाकिस्तान ने जब यह सोचकर भारत पर आक्रमण किया कि नेहरू जी के बाद भारत की स्थिति कमजोर हो गयी है तो उनके नेतृत्व में भारतीय सेनाओं ने डटकर मुकाबला किया और पाकिस्तान को बड़ी बुरी तरह हारना पड़ा । इस अवसर पर शास्त्री जी की लोकप्रियता का प्रमाण भी मिल गया । सारे देश ने शास्त्री जी के नेतृत्व में ऐसे अनुशासन और देशभक्ति का प्रमाण दिया कि पहले वैसा शायद ही दिखाई पड़ा हो ।

प्रधानमन्त्री पद पर पहुँचकर भी शास्त्री जी ने अपनी साधक स्तर की सादगी को नहीं छोड़ा । मन्त्री होने के बाद कुछ शासकीय कर्मचारी उनके निवास स्थान को 'एयर कण्डीशण्ड' बनाने के लिए आये तो उन्होंने मना कर दिया । भारतीयता के वे इतने अनन्य भक्त थे कि जब कभी विदेश जाना होता तो वे विदेश में भी भारतीय भोजन ही करते ।

पाकिस्तान को युद्ध में कड़ी मात मिलने के बाद उन्होंने रूस की मध्यस्थता पर सन्धि वार्तालाप करना स्वीकार कर लिया । यह वार्ता जनवरी १९६५ में ताशकन्द में हुई । शास्त्री जी और पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खाँ ने कोसीजिन की मध्यस्थता में युद्ध रोकने और जीती हुई जमीन लौटा देने तथा बाद में शांतिपूर्ण सम्बन्ध बनाने का समझौता किया ।

११ जनवरी को यह वार्ता सम्पन्न हुई और संयोग उसी रात उनका स्वास्थ्य इतने गम्भीर रूप से खराब हुआ कि कुछ ही मिनटों में उनके प्राण पखेरू उड़ गये। उनकी मृतदेह पर भी ऐसी शांति थी जैसे वे कह रहे हैं कबीर के स्वरों में कि— मैंने अपनी चदरिया ज्यों की त्यों धर दीन्ही है।

समाज को दिशा देने वाले— सातवलेकर

परिस्थितियों की प्रतिकूलता और चतुर्दिक समस्याओं को व्याप्त देखते हुए कई युवक भी अपने आप से निराश हो जाते हैं और जीवन में कोई प्रगति नहीं कर पाते ऐसे निराश और हारे हुए व्यक्तियों को यदि बताया जाय कि चालीस वर्ष का एक ड्राइंग मास्टर— जिसे केवल ५० रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता था अचानक नौकरी छोड़ बैठा या छूट गयी। उस हालत में जबकि परिवार के पास निर्वाह के पर्याप्त तो क्या काम-चलाऊ साधन भी नहीं थे, परिस्थितियों से संघर्ष करता है, उनसे लड़ता है और न केवल परिस्थितियों पर काबू पाता है वरन् सफलता के नये प्रतिमान स्थापित करता है। चालीस वर्ष की आयु तक चित्रकला के अध्यापक और उनके बाद दस वर्ष तक इधर-उधर भटकते रहने वाले परिस्थितियों के हाथों खेलने वाले अचानक परिस्थितियों को अपने हाथ में कठपुतली की तरह नचाने वाले कैसे बन गये— उसकी एक लम्बी कहानी है।

अपने हाथों अपने भाग्य का निर्माण करने वाले श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का जन्म १९ सितम्बर, १८६७ ई. को हुआ। उनके पिता श्री दामोदर भट्ट पैतृक व्यवसाय पौरोहित्य द्वारा जीविका चलाते थे। इस कर्म से गुजारे लायक आमदनी ही हो पाती थी सो परिवार में सुख-सुविधाओं के साधनों का अभाव ही था। श्रीपाद जी से पूर्व दामोदर भट्ट के यहाँ जो भी सन्तानें जन्मीं, अल्पवयी ही रहीं। श्रीपाद जी ने जब कुछ आयु प्राप्त कर ली तो माता-पिता को यह विश्वास हुआ कि अब उनकी गोद सूनी नहीं रहेगी। अथवा दुबारा उन्हें एक सन्तान का मुँह देखने के लिए तरसना नहीं पड़ेगा।

अब वे ८ वर्ष के हुए तब उन्होंने कोल गाँव से— जहाँ कि उनका घर था दो-ढाई सौ मील दूरी पर स्थित अरसोवा की बाड़ी तक पैदल यात्रा की और वहाँ उपनयन संस्कार कराया। उपनयन के बाद श्रीपाद मराठी स्कूल में जाने लगे। चूँकि वे अपने माता-पिता के अकेले और मन्नगुन के बैठे थे सो उस समय उपलब्ध साधनों में जैसा भी हो सकता था अच्छा लाड़ किया जाता। लाड़-दुलार तो उन्हें भरपूर मिलता पर माता-पिता इस ओर से बेखबर नहीं थे कि बच्चों को लाड़-दुलार के अतिरिक्त भी कुछ और चाहिए। वह 'कुछ और' था बालक के व्यक्तित्व को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाने के लिए आवश्यक पारिवारिक वातावरण। श्री दामोदर भट्ट और लक्ष्मीबाई ने इसका बराबर ध्यान रखा। इन संस्कारों से पोषित श्रीपाद विद्यार्जन की साधना में सफलतापूर्वक लगे रहे। चौदहवें वर्ष ही छठी कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने मराठी स्कूल छोड़ दिया।

अब आगे पढ़ने के लिए निश्चय किया गया कि अँग्रेजी सीखी जाय। इसके लिए श्रीपाद को अँग्रेजी स्कूल में भर्ती कराने की बात सोची गयी। जिस स्कूल में उन्हें भर्ती कराने की बात सोची गयी उसकी फीस आठ आने प्रतिमास थी। यह फीस जुटाना दामोदर भट्ट जी के लिए बड़ा कठिन लगा। पौरोहित्य कर्म द्वारा अपना गुजारा करने वाले भट्ट परिवार के लिए यह फीस बहुत ही ज्यादा थी इसीलिए उन्होंने श्रीपाद से कह दिया— "हमें अँग्रेजी की जरूरत नहीं है और नहीं हमारी शक्ति इस योग्य है कि अँग्रेजी स्कूल का खर्च बर्दास्त करें। घर की आर्थिक स्थिति ने श्रीपाद को आगे पढ़ने से रोक दिया तो उन्हें परिवार का गुजारा चलाने के लिए हाथ बँटाने को भी विवश कर दिया। वे अपने पिता के साथ पौरोहित्य का काम सीखकर लोगों के यहाँ कर्मकाण्ड करवाने के लिए जाने लगे, किन्तु उनकी ज्ञानपिपासा तो अब भी ज्वलन्त थी सो दक्षिणा में उन्हें जो पैसे मिलते थे उससे वे किताबें खरीदते और पढ़ते।"

पुस्तकों की व्यवस्था इस प्रकार हो जाने के बाद श्रीपाद जो स्कूल में भर्ती होने के लिए उस स्कूल के हैडमास्टर से मिले और उसको अपनी सारी परिस्थितियाँ बतायी। अँग्रेजी स्कूल के हैडमास्टर पर्णदीकर श्रीपाद की ज्ञानपिपासा से बड़े प्रभावित हुए और उनकी परिस्थितियों के बारे में सुनकर बड़े द्रवित हुए किन्तु वे अपनी परिस्थितियों, सरकारी नियमों से इतने प्रतिबन्धित थे कि वे चाह कर भी कोई सहायता नहीं कर सकते थे। हाँ, उन्होंने इतना आश्वासन जरूर दिया कि वे श्रीपाद को पढ़ने-लिखने में व्यक्तिगत सहयोग जरूर देते रहेंगे। श्रीपाद ने इस अवसर को भी अपना सौभाग्य माना और उन्होंने पर्णदीकर से अँग्रेजी सीखी। यह अध्ययन वे व्यक्तिगत रूप से ही करते रहे। संस्कृत में तो श्रीपाद जी प्रारम्भ से ही रुचि रखते थे सो इस देव भाषा में उन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी।

शिक्षा पूरी करने के बाद श्रीपाद ने विचार किया कि केवल पौरोहित्य कर्म से ही तो पर्याप्त जीविका नहीं कमाई जा सकती। अतः उन्होंने चित्रकला के स्कूल में दाखिला लिया। सावन्तवाड़ी में चित्रकला सीखकर उन्होंने बम्बई जाने का निश्चय किया। इस बीच उनका विवाह भी हो चुका था। श्रीपाद जी के माता-पिता नहीं चाहते थे कि वे घर छोड़कर कहीं जायें किन्तु श्रीपाद जी का महत्त्वाकांक्षी मन घर में ही बँधा रहना नहीं चाहता था। अतः अपने माता-पिता को हर तरह से समझा-बुझाकर इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे उन्हें बम्बई जाने की अनुमति दे दें। श्रीपाद जी १८८० में बम्बई आ गये और वहाँ जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस् में भर्ती हुए। चित्रकला सीख लेने के बाद श्रीपाद जी की नियुक्ति उसी संस्था में हो गयी, वहाँ उन्हें कुल पचास रुपये प्रतिमास वेतन मिलता था। इतने वेतन में बम्बई जैसे शहर में गुजारा चलाना बड़ा ही कठिन था। किन्तु श्रीपाद जी किसी और अच्छे अवसर की तलाश में लगे रहे।

वह अवसर भी लगभग एक वर्ष बाद आया। बम्बई छोड़कर वे हैदराबाद चले आये। इस शहर में चित्रकारों के लिए अच्छा क्षेत्र

था । श्रीपाद जी को अपनी साधना में सफलता मिलने लगी । किन्तु यहीं रहते हुए उनके जीवन में क्रांतिकारी मोड़ आया । उन दिनों सारे भारत में स्वातंत्र्य चेतना का जागरण हो रहा था । हैदराबाद भी क्रान्तिकारियों का गढ़ बनता जा रहा था । छिपे और खुले तौर पर कितने ही क्रान्तिकारी हैदराबाद में काम कर रहे थे । श्रीपाद जी भी उनके सपंर्क में आये और उन्होंने भी पराधीन राष्ट्र की सेवा का अपना धर्म कर्त्तव्य माना, राष्ट्र सेवा के साथ-साथ भारतीय धर्म और संस्कृति के उन्नयन की बात भी श्रीपाद जी के अन्तस् में उठी ।

इसके लिए उन्होंने वैदिक और भारतीय धर्म के प्राचीन साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया । संस्कृत तो उन्हें पहले से आती ही थी— जो कुछ कमी थी उसे उन्होंने स्वाध्याय द्वारा पूरा किया । उन दिनों देश में आर्यसमाज आन्दोलन भी चल रहा था । राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इस आन्दोलन का प्रभाव श्रीपाद जी पर भी पड़ा और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ आर्य समाज से भी जुड़े । हैदराबाद में रहते हुए उन्होंने एक व्यायामशाला, पाठशाला और व्याख्यान मण्डल की स्थापना की जिसमें भारतीय धर्म और संस्कृति के विविध पक्षों और सिद्धान्तों की प्रगतिशील विवेचना की जाती थी । यही नहीं उन्होंने कई सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी वैचारिक आन्दोलन खड़ा किया ।

राष्ट्रीय जागरण के लिए भी सातवलेकर जी वैचारिक चेतना जगाने हेतु प्रयास करते रहे । उन्होंने देखा कि राष्ट्रीयता का कोई धार्मिक या सांस्कृतिक आधार न होने से लोग उस ओर आकर्षित नहीं होते हैं तथा नहीं उनमें राष्ट्रीय भावनायें स्पंदित होती हैं इसलिए राष्ट्रीय विचारधारा को सास्कृतिक आधार देने के लिए उन्होंने वेदों से ऐसे मंत्रों का चुनाव किया जिनसे देशभक्ति की प्रेरणा मिलती थी । उन मन्त्रों का अनुवाद उन्होंने 'वैदिक राष्ट्रगीत' के नाम से किया जो उस समय कोल्हापुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्ववृत्त' नामक मासिक-पत्र में छपा । बाद में यही लेख पुस्तक के रूप में भी छपा । पुस्तक जब छपकर तैयार हुई और उसका पता अँग्रेजी सरकार को लगा तो उसे प्रतिबन्धित कर दिया गया, कारण कि 'विश्ववृत्त' मासिक में ही जिन दिनों 'वैदिक राष्ट्रगीत' छप रहा था, उन दिनों इस लेख से कई क्रान्तिकारियों ने प्रेरणा ली थी और प्रोत्साहन पाया था । यही नहीं ऐसी पुस्तक लिखने के कारण सातवलेकर जी को दण्डित भी किया गया । हैदराबाद स्थिति अँग्रेज रेजीडेण्ट ने वहाँ के निजाम पर दबाव डाला और उन्हें रियासत से निर्वासित कर दिया गया ।

जब इसकी खबर स्वामी श्रद्धानन्द को लगी तो उन्होंने सातवलेकर जी को अपने पास बुला लिया और गुरुकुल काँगड़ी के छात्रों को पढ़ाने के लिए कहा । सातवलेकर जी ने यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया और सन् १९०८ में गुरुकुल काँगड़ी पहुँचे । वहाँ उन्हें वेदों के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया । राष्ट्रीय जागरण के लिए उनकी गतिविधि यहाँ भी पूर्ववत चलती रहीं । मासिक 'विश्ववृत्त' में उनका एक और लेख छपा जिसमें उन्होंने भारतीयों को उनकी उदासीनता पर फटकारा था और उनसे अपील की थी कि सभी भारतीय संगठित होकर शत्रुओं को कुचल डालें और मातृभूमि को स्वतन्त्र करें । उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला । लेकिन विद्वान् न्यायाधीश ने इन पर लगाये गये आरोपों को अप्रमाणित करार देकर उन्हें मुक्त कर दिया ।

सरकारी अभियोग से मुक्त होने के बाद सातवलेकर जी विभिन्न स्थानों पर काम करते हुए देश सेवा करते रहे । राष्ट्रीय चेतना जगाने के साथ संस्कृति के उन्नयन का लक्ष्य भी उनके सामने था और उन्होंने इसके लिए एक ठोस योजना बनाई तथा सन् १९१८ मे उसके क्रियान्वयन का सूत्रपात किया । उनकी योजना से अवगत होकर आंध्र (महा.) के राजा ने उन्हें आठ एकड़ जमीन दी और आर्थिक सहयोग भी दिया । इस सहयोग को प्राप्त कर सातवलेकर जी ने वेदों के प्रकाशन का काम शुरू किया । उस समय वेदों की शुद्ध संहितायें कहीं नहीं मिलती थीं । शुद्ध मिलना तो दूर रहा वेद संहितायें भी बड़ी कठिनाई से मिल पाती थीं और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने वालों को यह आधारभूत ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण एकाकी जानकारी प्राप्त कर ही संतुष्ट रह जाना पड़ता था । सातवलेकर जी ने वेद संहिताओं को प्रमाणित रूप में सर्व-साधारण के लिए उपलब्ध कराने का कार्य हाथ में लिया और १०१ वर्ष की आयु तक उसे सुचारु रूप से सम्पन्न करते रहे ।

उन्होंने वेद संहिताओं के प्रकाशन का काम और उन्हें जन-सुलभ बनाने का कार्य ही नहीं किया वरन् जन-जागरण के लिए भी काम करते रहे । कई स्थानों पर जहाँ देवी-देवताओं के सामने पशु बलि होती थी सातवलेकर जी ने वहाँ पहुँचकर आन्दोलन किया और जनमत जगाया । फलस्वरूप उन स्थानों पर पशुबलि को बन्द किया जा सका । आंध्र में उन्होंने जिस संस्था की स्थापना की थी उसे सुविधा की दृष्टि से सातवलेकर जी १९४७ में पारड़ी ले आये और अब यह संस्था भारतीय संस्कृति की विलुप्त संपदा को प्रकाश में लाने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है । १०१ वर्ष की आयु में भी सातवलेकर जी उसी प्रकार उत्साह से काम करते थे, जिस प्रकार कि कोई नवयुवक कार्य करता है । वे रोज सवेरे पाँच बजे उठ जाते और सात बजे तक सभी नित्यकर्मों से निवृत्त हो जाते । फिर रात्रि नौ बजे तक अपने काम में व्यवस्थापूर्वक लगे रहते । अन्तिम दिन तक उनका यही क्रम रहा । ९ जून, १९६८ को सुबह बीमार पड़े और कुछ दिनों बाद उनका देहान्त हुआ । जीवन में वे पहली बार बीमार पड़े थे और यह पहली बीमारी ही उनके लिए अन्तिम बीमारी सिद्ध हुई, जिसने उन्हें चिरकाल के लिए चिरनिद्रा की गोदी में सुला दिया । उनकी कर्मठता, उनकी निष्ठा और उनकी देशभक्ति ही वह कारण था जिसके द्वारा उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में समान्य मनुष्य से भी अधिक कार्य किया ।

सहृदय साधुपुरुष डॉ. कैलाशनाथ काटजू

सन् १९२९-३० की बात है । इलाहाबाद में काँग्रेस की कोई सार्वजनिक सभा हुई । उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन पूरे जोर पर था । सरकार ने इस सभा को गैरकानूनी करार देकर भाग लेने वाले सभी लोगों को गिरफ्तार कर लिया । आस-पास घूमते हुए नागरिक

भी पकड़े गये । सब को एक पंक्ति में खड़ा कर नामवार सजा घोषित की जाने लगी । एक युवक जो बेहद डरा हुआ था— घबड़ा रहा था । उसका नाम आया तो काँपते हुए बोला— 'परन्तु मैं तो निर्दोष हूं ।'

मजिस्ट्रेट इतने भर कहने से आश्वस्त नहीं हुआ, पूछ बैठा— 'निर्दोष हो तो साबित करो कि तुम पर लगाया गया अभियोग झूठ है । क्या तुम्हारा कोई वकील है ?'

युवक क्या जबाब देता । 'नहीं' कहने ही जा रहा था किसी ने पीछे से आगे बढ़ कर कहा— 'जी हाँ महोदय मैं इस व्यक्ति का वकील हूं ।'

ऐसे समय में किसी व्यक्ति को आगे बढ़ते देख युवक को बड़ा आश्चर्य हुआ । खद्दर की शेरवानी, टोपी और चूड़ीदार पायजामा पहने स्वयं को वकील कहने वाले व्यक्ति ने आश्चर्य को कम किया— 'तुम्हें हैरत क्यों हो रही है । सचमुच मैं सभी कांग्रेस अभियुक्तों का वकील हूँ, अपने देश के नागरिकों का वकील हूं ।'

दण्डित सभासद् तो निर्भय निश्चिन्त सजा भुगतने के लिए तैयार से थे परन्तु युवक को घबड़ाते देख उक्त वकील साहब ने उसकी पैरवी की । देशवासियों के, काँग्रेस अभियुक्तों के लिए हर समय तत्पर रहने वाले उक्त वकील साहब थे डॉ. कैलाश नाथ काटजू । उनकी सहृदयता के समक्ष युवक श्रद्धावनत हो गया और स्वयं को काँग्रेस अभियुक्तों की पंक्ति में गिने जाने पर हो गर्व का अनुभव करने लगा ।

डॉ. काटजू पेशे से वकील थे परन्तु उन्होंने वकालत को कभी अनुचित-उचित का अन्तर-अभेद व्यवसाय नहीं माना । साधन और जीविका की पवित्रता के कारण काटजू ने अपने इस पेशे में ईमानदारी और न्याय की रक्षा का भाव समाहित कर इसे भी परमार्थ साधना बना दिया ।

उन्होंने अपने वकालत के पेशे में मिलने वाली फीस पर नहीं, अपने मुवक्किल की स्थिति और पक्ष के औचित्य पर ही ध्यान दिया कानपुर में बच्चीसिंह का मुकदमा उनके जीवन की सर्वाधिक चर्चित घटना है । इस मुकदमे में दोनों पक्षों की एक पीढ़ी गुजर चुकी थी बताया जाता है कि दोनों के बीच सन् १९४८ से झगड़ा चल रहा था । मुकदमे की दुरावस्था को देखते हुए कोई भी वकील इसे हाथ में नहीं लेता था । वादी ने कानपुर अदालत का द्वार अपने रेहन रखी सम्पत्ति को जिसका ऋण मूल तथा सूद सहित चुका दिया गया था, हस्तगत करने के लिए खटखटाया । कानपुर न्यायालय ने तो वादी के पक्ष में निर्णय दिया । परन्तु प्रतिवादी रेहनदार ने जिला न्यायालय में अर्जी दी । जिला न्यायाधीश ने फैसला दिया कि नियमानुसार वादी ने केवल सूद भी पूरी तरह नहीं चुकाया है ।

बच्चीसिंह जो अपने पिता महाराज सिंह के बाद मुकदमा लड़ रहा था— इसी में बर्बाद हो गया . डॉ. काटजू के पास जब वह अपना मामला लेकर आया तो उस समय विवस्त्र मानव कंकाल काया ही उसके पास शेष बची थी । सारी बात सुनकर डॉ. काटजू का हृदय द्रवीभूत हो उठा बच्चीसिंह की करुणाजनक स्थिति को देखकर उन्होंने यह मुकदमा ले लिया ।

उनके अदालती ज्ञान और कानूनी प्रतिभा की परीक्षा का यह चुनौती भरा अवसर था । बच्चीसिंह के पास अपनी बात का कोई प्रमाण नहीं था । १८५७ की क्रांति में कानपुर की अदालतों के निर्णय सम्बन्धी सभी रिकार्ड भी नष्ट हो गये थे । बड़ी कठिन परिस्थितियाँ थी परन्तु परिस्थितियों से पराजित होना उनका स्वभाव नहीं था । कानून और मामले की बारीकियों का भलीभाँति अध्ययन कर डॉ. काटजू ने बच्चीसिंह का पक्ष इतनी दृढ़तापूर्वक रखा कि निर्णय उसी के पक्ष में हुआ ।

फैसला सुनकर बच्चीसिंह गद्‌गद हो गया और उसने डॉ. काटजू के हाथ में मुकदमे की फीस के रूप में ३५ रु. रख दिये । आसपास के लोग देखकर प्रतीक्षा करने लगे कि अब वे बिफर उठेंगे । लेकिन सबकी आशा के विपरीत काटजू ने पैंतीस रुपये बड़े संतोष और आदर के साथ स्वीकार कर लिए । ऐसे व्यक्ति के लिए यह कहना कहाँ तक उपयुक्त होगा कि वकालत उनका मात्र पेशा ही था । बेशक यह पेशा तो था परन्तु उन्होंने न्याय और मानवता को ही सर्वोपरि स्थान दिया । मुवक्किल की फीस ने उन्हें कभी नहीं ललचाया बल्कि वे तो उसकी स्थिति पर द्रवीभूत होते थे । इस रूप में वकालत उन पर नहीं वे वकालत पर हावी रहते थे ।

ऐसी कई घटनाये उनके सम्बन्ध में विख्यात है जो उनकी मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठा और न्याय की रक्षा का भाव व्यक्त करती हैं । भारतीय समाज, न्याय और राजनीति में अपने ढंग के अभूतपूर्व डॉ. कैलाश नाथ काटजू का जन्म सन् १८८७ ई. में मध्य भारत की एक छोटी-सी रियासत जावरा में हुआ था । उसके पिता जावरा नवाब के एक मन्त्री के निजी सचिव थे । वेतन के रूप में कोई खास पैसा मिलता नही था । उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी । पिता ने अपने बालक को प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद किसी तरह उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भेजने की व्यवस्था की ।

डॉ. काटजू एक अध्यवसायी और परिश्रमी छात्र सिद्ध हुए । सन् १९०७ मे ही उन्होंने एम. ए. पास कर लिया । कानून उनका प्रिय विषय था -- उसी समय उन्होंने एल-एल.बी. की परीक्षा भी उत्तीर्ण की । छह वर्ष तक इस विषय में एल-एल. एम. और १९१९ में एल-एल.डी. की उच्चतम परीक्षा पास की । विषय में अपनी योग्यता अर्जित कर कानपुर उच्च न्यायालय मे प्रैक्टिस करने लगे । इन्हीं दिनों उन्होंने एक महानिबंध लिखकर 'डॉक्टर आफ लॉज' की डिग्री प्राप्त की ।

कानपुर में जमने से पूर्व उन्हें बड़े संघर्षों का सामना करना पड़ा था । विद्यार्थी जीवन समाप्त होते ही उन्हें काम ढूंढ़ने की आवश्यकता हुई । उच्च शिक्षित लोगों के लिए उचित रोजगार का प्रबन्ध उन दिनों भी मुश्किल ही था । उन्हें सौ रुपया प्रतिमास पर भी कोई काम देने के लिए तैयार नहीं हुआ । जावरा, रतलाम, इन्दौर, ग्वालियर आदि आदि महानगरों में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी । परन्तु वे निराश नहीं हुए ।

उन्हें अपनी योग्यता पर विश्वास और भविष्य की प्रतीक्षा के लिए धीरज था . प्रतिकूल परिस्थितियों में स्थिर बुद्धि और संतुलित

ज्ञ ही व्यक्ति को संतुष्ट और शान्त रखता है । सामर्थ्य, योग्यता और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति भी प्राय: प्रतिकूल परिस्थितियों में— मनोबल की कमी के कारण जल्दी घबड़ा उठते हैं । ऐसी दशा में आत्मविश्वास और धैर्य धारण आवश्यक है इन शक्तियों से रहित व्यक्ति निराश होकर अपने जीवन को नर्क बना लेते हैं । परिणाम-स्वरूप उनके प्रतिभा का विकास और जो लाभ समाज को मिल सकता था उससे दोनों ही वंचित रह जाते हैं ।

व्यक्ति किसी विशेष योग्यता से सम्पन्न है तो भी कोई जरूरी नहीं कि लोग उसे तत्काल ही जानने लगें । प्रकृति की दीर्घ क्रिया व्यवस्थाओं से हीरे का निर्माण होता है । सदियों और सहस्राब्दियों तक वह धरती की पर्तों में ही छुपा रहता है, तब कहीं जाकर यदा-कदा लोगों की निगाह में आता है और उसका मूल्यांकन होता है । प्रतिभाशाली व्यक्ति भी उसी प्रकार बरसों तक उपेक्षित रहते हैं । शंकालु और आत्म-निर्बल व्यक्ति इस उपेक्षा, अवमूल्यन से अपनी योग्यता को ही सन्देह की दृष्टि से देखते है । परन्तु डॉ. काटजू तो दृढ़ आत्मविश्वासी थे । धैर्य और संघर्ष की शक्ति क्षमता उनमें थी । कठिन परिस्थितियों से जूझते रहने पर भी वे हताश नहीं हुए । काफी समय त : मनोयोगपूर्वक जीवन संघर्ष में जूझने के बाद वे कानपुर के प. पृथ्वीनाथ के संपर्क में आये ।

उनकी प्रतिभा अवसर पाकर व्यक्त हुई और डॉ. काटजू की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी । वे जब कानपुर के सर्वाधिक प्रतिष्ठित, कुशल और होशियार वकील बन गये थे । तभी बच्चीसिंह का मुकदमा उनके पास आया ।

वकालत के पेशे में विख्यात होते ही उन्होंने स्वतत्रता संग्राम में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया । नागरिक सेवाओं और आन्दोलनों के लिए सदैव उद्यत रहने वाले डॉ. काटजू इस रूप में भी बड़े लोकप्रिय हुए । कानपुर में कुछ वर्षों तक वकालत करने के बाद वे इलाहाबाद चले आये । क्योंकि यह शहर उन दिनो राजनैतिक आंदोलनों और घटनाओं का केन्द्र बना हुआ था । यहीं उन्होंने अपनी वकालत भी जारी रखी । लगातार तीन वर्ष तक वे इलाहाबाद और देश के श्रेष्ठतम न्याय-मन्दिरों में एकछत्र सम्राट वकील बने रहे । इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी उसी प्रकार भाग लेते रहे । स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू द्वारा संस्थापित 'इलाहाबाद जर्नल', जो राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रमुख पत्र था, का वे वर्षों तक संपादन करते रहे ।

राष्ट्रीय विचारों और सेवाभावी क्रिया-कलापों से प्रभावित होकर इलाहाबाद की जनता ने उन्हें १९३५ में नगरपालिका अध्यक्ष चुना । इसके दो वर्ष बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने वकालत का पूर्णतया परित्याग किया । राजनीति के वे अब खुलकर खिलाड़ी बन चुके थे । जीवन में यह परिवर्तन उनके सम्मुख बहु-आयाम प्रस्तुत कर गया । कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता बन गये थे । पार्टी ने उनकी योग्यता तथा प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए तत्काल संयुक्त प्रांतीय धारा सभा का सदस्य चुना और फिर न्याय एवं उद्योग विभाग के मन्त्री बने । इन पदों का उन्हें कोई पूर्व अनुभव नहीं था फिर भी लगन, परिश्रम और ईमानदारी के कारण इन पदों के महत्त्वपूर्ण दायित्वों को पूरा करते रहे ।

कांग्रेस ने शीघ्र ही अंग्रेज अधिकारियों की अड़ंगेबाजी के कारण मन्त्री पद और सदस्यता से त्याग-पत्र देने का क्रम चलाया । तुरन्त ही डॉ. काटजू ने भी मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया और सत्याग्रह का मार्ग अपनाया, उनकी दृष्टि में पद नहीं अनुशासन महत्त्वपूर्ण था । संगठन का अनुशासन व्यक्ति की क्षमता और योग्यता को समाजोपयोगी बनाता है । अन्यथा अनुशासनविहीन प्रतिभा थोड़े अहं और अभिमान की ही जननी बनती है । सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें १९४० में डेढ़ साल के लिए जेल भेज दिया गया ।

कहाँ तो वकील जीवन का ऐश्वर्य और सुखोपभोग और कहाँ जेल की यातनायें । डॉ. काटजू इन विषम परिस्थितियों में भी एक समान ही स्थिर और शांत रहे । महानता अपने पूर्व जीवन के सुख-सुविधाओं को नहीं वर्तमान के संघर्षों को ही वरेण्य करने की प्रेरणा देती है, क्योंकि सेवा और कल्याण के मार्ग में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही उसकी आत्मा का स्वार्थ पूरा कर उसे संतोष प्रदान करती हैं ।

जेल से सजा पूरी कर लौटे अभी कुछेक ही माह हुए होंगे कि उन्हें भारत छोड़ो आन्दोलन के अन्तर्गत फिर गिरफ्तार किया गया । और पुन: जेल जाना पड़ा । जेल में उनका स्वास्थ्य ज्यादा खराब रहने लगा । इस कारण सात-आठ महीने बाद ही उन्हें छोड़ दिया गया ।

१९४६ से १९६२ तक वे कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रह कर देश सेवा करते रहे । जीवन के अन्तिम दिनों में मध्यप्रदेश की राजनीति में पूर्ण सक्रिय रहे । बाद में उन्हें मध्यप्रदेश की सेवाओं के अवसर छोड़ने पड़े परन्तु सेवा के लिए कोई विशेष अवसर या परिस्थिति आवश्यक नहीं होती वह तो हर समय किया जा सकने वाला अनुष्ठान है । उन्होंने जो कुछ भी कमाया वह अपने लिए कम व औरों के लिए अधिक खर्च किया । निर्धन छात्र-छात्राओं के सहयोग हेतु उन्होंने अपनी आय का अधिकांश भाग दिया और साथ ही आत्म-विज्ञापन से बचने के लिए कहीं चर्चा न करने की सख्त हिदायत भी दी । नियमित रूप से सहायता प्राप्त करने वाले छात्र बड़ी संख्या में उनके प्रति भविष्य के लिए आभारी हैं ।

१९६८ में उनका देहान्त हो गया । एक ऐसे मार्ग का पथिक उठ गया जिसने जिस मार्ग पर भी कदम रखा उसमें सफलता पायी । अपनी धर्मनिष्ठा, लगन, ईमानदारी और साधुता के कारण सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपूर्व ख्याति प्राप्त की । परन्तु लोग उन्हें साधु पुरुष के रूप में ही अधिक याद रखते हैं ।

एक महान् भारतीय—डॉ. अम्बेडकर

एक मेधावी युवक अमेरिका व इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा प्राप्त करके — बैरिस्टर की डिग्री लेकर भारत आया । उसने बम्बई हाई कोर्ट में प्रैक्टिस की । उसकी वैधिक प्रकाण्डता का लोहा तो सभी ने मान लिया । उसे बड़े-बड़े मुकदमे मिले । फीस की मोटी-मोटी

रकमें भी मिलीं किन्तु नहीं मिला उसे किराये का मकान । यही नहीं कचहरी के 'भाट' ने उसे पानी पिलाने से भी इन्कार कर दिया । इसका कारण एक ही था कि वह अछूत कहे जाने वाले परिवार-महार जाति में उत्पन्न हुआ था ।

कोई और युवक होता तो वह कहता कि किन जंगलियों के बीच आ गया हूँ जिन्हें मनुष्य से व्यवहार करना भी नहीं आता और चल देता अमेरिका, इंग्लैण्ड या अन्य किसी देश और वहीं वकालत करता और खूब धन अर्जन करता मजे से रहता । जैसा कि आजकल के अधिकांश विदेश में शिक्षा पाने के लिए जाने वाले युवक करते हैं । वे सदा के लिए वहीं के बन जाते हैं । किन्तु इस युवक को इस देश की धरती से प्यार था, यहाँ की संस्कृति से प्यार था । अतः यह सब सहते हुए भी यहाँ रहा । यह युवक थे डॉ. अम्बेडकर । जिन्हें अर्थशास्त्र व कानून के प्रकाण्ड विद्वान्, भारत के संविधान निर्माता, हरिजनों के प्रमुख नेता, एक सच्चे समाज सुधारक और महान् लेखक के रूप में स्मरण किया जाता है ।

डॉ. अम्बेडकर का जन्म १४ अप्रैल, सन् १८९१ को वर्तमान मध्यप्रदेश तथा तत्कालीन इन्दौर रियासत में मऊ नामक स्थान पर एक महार सैनिक पिता के घर हुआ था । अछूत परिवार में पैदा होने के कारण बालक भीम को वे सब शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणा भुगतनी पड़ी जो उन दिनों इस वर्ग को भोगनी पड़ती थीं । आज भी यन्त्रणाएँ कम होते हुए भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं । आये दिन समाचार-पत्रों में उक्त आशय के समाचार प्रकाशित होते ही रहते हैं तो उस समय की स्थिति कितनी भयंकर होगी इसकी कल्पना ही की जा सकती है ।

जब वे स्कूल पढ़ने जाते थे तो स्कूल का पानी पिलाने वाला चपरासी उन्हें पानी नहीं पीने देता था । स्वाभिमानी होने के कारण वे दिन भर प्यासे रह जाते । किन्तु अपमानित होकर पानी पीना नहीं स्वीकारते । वे अपने को अन्य बालकों की तरह मानते थे और अपने समानता के अधिकार को पाने के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे ।

अन्य बालकों की उपेक्षा तथा अपमानजनक व्यवहार ने उनके मन में पढ़-लिखकर ऐसा विद्वान् बनने का संकल्प जगा दिया जिसके बाद वे लोगों को मनवा सकें कि वे भी अन्य लोगों की तरह मनुष्य हैं । उन्हें समानता का पूरा-पूरा अधिकार है । वे उसे लेकर ही रहेंगे । इस संकल्प व उनकी कठोर साधना का परिणाम यह होता कि वे सवर्ण कहे जाने वाले विद्यार्थियों से सदा आगे रहते । इसी प्रकार उन्होंने शैक्षणिक योग्यता बढ़ाई ।

भारत में अपनी शिक्षा समाप्त कर वे विदेश गये । वहाँ उन्होंने खूब मन लगाकर पढ़ाई की । वे घण्टों लाइब्रेरी में मन लगाकर पुस्तकें पढ़ा करते थे । पुस्तकालय के अधिकारी भी उनकी इस जिज्ञासुवृत्ति व ज्ञान-पिपासा को देखकर आश्चर्य करते । अन्त में वे बैरिस्टर बनकर भारत लौटे । इतना ज्ञान, इतनी डिग्रियाँ लेने के बाद भी भारतवासियों की संकीर्णता उन्हें जीवन भर परेशान करती रही ।

उनके जितनी डिग्रियाँ शायद ही किसी भारतीय ने अर्जित की हों । उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. तथा डी. एस-सी., कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एल-एल. डी. तथा उस्मानियाँ विश्वविद्यालय से डी. लिट् की उपाधियाँ प्राप्त की थीं । पर वाह रे भारतवासियों की घुन खायी अक्ल कि उन्हें पग-पग पर अपमान व तिरस्कार ही सहना पड़ा ।

जब वे बड़ौदा सिविल सर्विस के उच्च पदाधिकारी थे । तो उनके अधीन काम करने वाला एक चपरासी उनके द्वारा छुई गई फाइलों को चिमटे से पकड़कर रखा करता था । बम्बई में उन्हें किसी ने किराये का मकान नहीं दिया । एक पारसी ने उन्हें मकान दिया तो लोगों ने उस मकान का जला देने की धमकी दी जिससे उन्हें मकान खाली करना पड़ा ।

अब उनकी सहन शक्ति की सीमा का उल्लंघन हो चुका था । उन्होंने 'शठे शाठ्यं' की नीति अपनायी । महाराष्ट्र के कोलाबा जिले के महद गाँव में इसका उग्र रूप देखने को मिला । उन्होंने इन मिथ्याभिमानियों के साथ कड़ा संघर्ष करने की नीति अपनायी । उन्होंने दलित वर्ग को इस बात के लिए आह्वान किया कि उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संघर्ष करते हुए उन्हें प्राप्त करना चाहिए । उनके इस आह्वान पर कई स्थानों पर हरिजनों ने संगठित होकर अपने समानता के मानवीय अधिकार को पाने के लिए संघर्ष किया जिसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली । सच पूछा जाय तो अपने अधिकारों के लिए सजग होना निम्नवर्गीय लोगों ने उन्हीं की प्रेरणा से सीखा ।

यों दलितोद्धार का शंखनाद स्वामी दयानन्द के भगीरथ प्रयासों से ही हो गया था फिर भी वह एक सवर्णों द्वारा हरिजनों के प्रति प्रदर्शित की गई दया ही बनकर रह गयी थी पीछे वालों के लिए । महात्मा गाँधी तथा ठक्कर बापा आदि ने भी इस दिशा में बहुत कुछ किया । किन्तु अधिकार पाने के लिए संघर्षरत होने की जो अग्नि डॉ. अम्बेडकर ने जलाई वह अपने ढंग की एक ही मिसाल है ।

उनके सशक्त व्यक्तित्व में अछूतों को बड़ा बल मिला । उन्होंने स्थान-स्थान पर सार्वजनिक स्थलों के समान उपयोग के लिए आन्दोलन किये । नासिक के मन्दिर में प्रवेश करने तथा महद के तालाब से पानी भरने के आन्दोलन इतिहास प्रसिद्ध हो चुके हैं ।

बहुत से लोग उन्हें आज भी केवल हरिजन समाज का नेता मानते हैं । यह वास्तव में हमारी संकीर्णता का ही परिचय है । उस विराट व्यक्तित्व पर हर कोई भारतवासी गर्व कर सकता है । कितने ही विदेशी लोगों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है । जान ग्रन्थर ने अपनी पुस्तक 'एशिया के भीतर' में उनके विषय में लिखा है— "मैं उनके दादर स्थित निवास पर गया तो उनके पुस्तकालय को देखकर चकित रह गया उसमें ३५००० दुर्लभ पुस्तकें थीं । जिनके लिए उन्होंने पृथक भवन बना रखा था । उनकी बातों से पाण्डित्य का रस टपकता था और व्यवहार से शालीनता ....।"

हाँ यह बात सही है हिन्दुओं में फैली जातीयता के विरुद्ध उन्होंने बहुत भाषण दिये, आन्दोलन किये यहाँ तक कि उन ग्रन्थों को भी जलाया जिनमें जाति का समर्थन किया हुआ था । किन्तु उनका यह आक्रोश गलत नहीं था । वे भुक्तभोगी थे । उनकी तरह पढ़े-लिखे इंग्लैण्ड रिटर्न बैरिस्टर को यदि कचहरी का 'भाट' पानी पिलाने से

मना कर देता है। एक आई. सी. एस. पदाधिकारी के नीचे काम करने वाला चपरासी फाइलों को चिमटे से उठाये, मकान न मिले, ताँगे वाला जाति पूछ कर आधे रास्ते में ही उतार दे तो भला साधारण अनपढ़ अछूत के साथ क्या व्यवहार करता होगा यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है तो उन्होंने कौन-सा अपराध कर दिया।

उन्होंने इन मान्यताओं की कटु आलोचना की। यही नहीं हरिजनों के अधिकारों के लिए माँग भी की। उन्हें हिन्दुओं से पृथक मानने के लिए भी माँग की। उनके ये कदम ठीक उस डॉक्टर की तरह के थे जो फोड़े का ऑपरेशन करता है। उसे रोगी से कोई दुश्मनी नहीं होती वह तो उसे स्वस्थ करना चाहता है। किन्तु उसका चीर फाड़ का काम रोगी को कुछ समय के लिए बुरा लग सकता है। ठीक यही काम उन्होंने किया था।

इतना करने पर भी हिन्दू समाज की आँखें नहीं खुली तो उन्होंने एक नश्तर और लगाया १४ अक्टूबर, १९५६ का नागपुर की भरी सभा में उन्होंने हिन्दू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। यह वस्तुतः कोई धर्म-परिवर्तन नहीं था। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म संस्कृति की ही एक शाखा है। वे इस परिवर्तन के द्वारा यह बताना चाहते थे कि यदि हिन्दू अपनी संकीर्णता नहीं छोड़ेंगे तो उनकी यह स्थिति होने वाली है। जिस संस्कृति के झंडे, कभी पूर्वी द्वीप समूह से लेकर उजबेकिस्तान तक गढ़े थे वह सिमटकर कुछ ही करोड़ सीमा में रह जायेगी। दो लाख अनुयाइयों के एक साथ एक ही दिन धर्म परिवर्तन करने का यह झटका कम नहीं था।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर अर्थशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय में डी. एस.-सी. के लिए जो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि विदेशी शासक किस प्रकार रुपये तथा पौण्ड का असंतुलित सम्बन्ध स्थापित करके मनमाना लाभ कमा रहे हैं। उस शोध प्रबन्ध के प्रकाश में आने पर भारतीय प्रान्तीय विधान सभाओं ने इस अर्थनीति के विरोध में आवाज बुलन्द की अन्ततः अँग्रेज सरकार को अपनी यह भेदभरी अर्थनीति बदलनी पड़ी थी।

वे पक्के राष्ट्रवादी थे। यह नहीं चाहते हुए भी कि वे अछूत 'स्थान पृथक' लें। विभाजन के पूर्व यह बात कही थी— 'अगर मुस्लिम लीग की देश विभाजन की माँग स्वीकार की जाती है तो भारत की अखण्ड बने रहने की सम्भावना बिल्कुल नहीं रहेगी। और ऐसी स्थिति में अछूत वर्ग नया मोर्चा बन ले तो इसकी पूरी जिम्मेदारी कॉंग्रेस पर रहेगी।' उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के टुकड़े नहीं होने देना चाहते थे। अछूत स्थान पृथक लेने का उनका इरादा नहीं था वे तो पाकिस्तान बनने का विरोध कर रहे थे।

उनके मुकाबले का विधिवेत्ता भारत में न उनके समय में था न आज है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के वे अध्यक्ष अपनी इसी योग्यता के कारण बनाये गये थे। भारत के प्रथम विधि मन्त्री के रूप में उन्होंने हिन्दू कोड बिल को एक-दो धाराओं के रूप में करके पास कर ही दिया। इस प्रकार पुरातन पथ से निकाल कर उन्होंने हिन्दुओं को एक प्रगतिशील मार्ग पर ला खड़ा किया। नारी को समानता का वैधानिक अधिकार वे दिलाकर ही रहे।

अपने शोध प्रबन्धों के कारण उन्होंने विश्व स्तर पर ख्याति तो अर्जित की ही थी साथ ही वे अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने अर्थशास्त्र, राजनीति, अछूतोद्धार, कानून तथा सामयिक सन्दर्भों पर उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उनकी विद्वता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

५ दिसम्बर, १९५६ को वे सदा के लिए प्रयाण कर गए। उनका यह व्यक्तित्व सामान्यजन के लिए कम प्रेरक नहीं है कि एक साधारण स्थिति का बालक पग-पग पर अपमान, तिरस्कार पाता हुआ भी व्यक्तित्व की ऊँचाइयों को छूता रहा। समाज सुधारक और दलित बन्धु के रूप में उन्हें तो जाना जाता ही है वे भारतीय संस्कृति व भारत देश के बहुत बड़े सपूत के रूप में भी स्मरण किये जाते रहेंगे।

सामाजिक न्याय के लिये जो सतत् लड़ते रहे दादा भाई नौरोजी

स्त्री शिक्षा की दृष्टि से भारत आज भी पिछड़ा हुआ है। यों तो अब हजारों लड़कियाँ विश्वविद्यालयों में पढ़ रही हैं और हाईस्कूलों में पढ़ने वालियों की संख्या तो लाखों है, पर भारतवर्ष की आबादी को देखते हुए यह नगण्य ही है। भारत के सात लाख गाँवों में से थोड़े-से ही ऐसे निकलेंगे जिनमें दस-पाँच स्त्रियाँ चिट्ठी-पत्री लिख-पढ़ सकें अथवा रामायण बाँच लें। अन्यथा अभी तक उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर ही है। वे इतना भी नहीं जानतीं कि शिक्षा से मानव जीवन कितना विकसित हो जाता है और मनुष्य उसका कितना लाभ उठा सकता है।

अब आज ऐसी अवस्था है, तो सौ सवा सौ वर्ष पहले, जब देश में लड़कियों का एक भी स्कूल नहीं था और गाँवों तथा कस्बों की तो क्या बड़े-बड़े नगरों में भी कोई स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता अनुभव नहीं करता था, तब लड़कियों के लिए स्कूल स्थापित करने वालों को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इसकी कल्पना कर सकना भी हमारे लिए कठिन है। इस प्रकार का प्रयास करने वालों में दादा भाई नौरोजी (सन् १८२५ से १९१७) का नाम अग्रगण्य है। यद्यपि हम उनको 'स्वराज्य' की माँग सर्वप्रथम उपस्थित करने वाले के रूप में ही जानते हैं, पर भारत में सर्वप्रथम नारी शिक्षा की आवाज उठाने वाले और उसके लिए महान् विघ्न बाधाओं को पार करके कन्या विद्यालय स्थापित करने वाले भी वे ही थे।

स्त्री-शिक्षा का आयोजन उनके लिए समाज सेवा के एक सामान्य प्रयास की तरह न था। वे आरम्भ से ही भारतीय जनता के उत्थान और उद्धार की भावना लेकर जीवन-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। यद्यपि उस युग में एम. ए. की परीक्षा पास कर लेने से ही उच्च सरकारी स्वयं ही उनको बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ देने को तैयार थे, पर उन्होंने उन बड़े वेतन तथा उच्च पदवी की नौकरियों की तरफ ध्यान न देकर

अध्यापक की एक साधारण नौकरी ही पसन्द की । उन्होंने निश्चय किया कि इस समय जबकि हमारे देशवासी एक प्रकार से सोये पड़े हैं और अपनी दुर्दशा और अधिकारों का कुछ ज्ञान ही नहीं है, तो हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य उनमें शिक्षा का प्रचार करना ही है । जब तक वे पढ़ना-लिखना न जान जायेंगे तब तक उनकी उन्नति की कोई भी योजना नहीं समझाई जा सकती ।

इसी शिक्षा समस्या पर विचार करते हुए दादा भाई की दृष्टि स्त्री शिक्षा की तरफ गई । लड़कों के तो कुछ स्कूल और कॉलेज सभी शहरों में खुलने लगे थे और सरकारी नौकरियों के ख्याल से लोग उनकी तरफ आकर्षित भी हो रहे थे, पर स्त्री-शिक्षा का तो कोई नाम भी नहीं लेता था । अगर कभी कोई इसका जिक्र भी करता तो लोग तुरन्त यही कहते कि स्त्रियों को पढ़कर क्या करना है ? क्या वे नौकरी करने जायेंगी, या उनको धनोपार्जन करना है ?'' पर दादा भाई समझते थे कि स्त्री-शिक्षा ही देशोन्नति का मुख्य आधार है । अज्ञानान्धकार में पड़ी माताओं की संतानें कैसे प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकती हैं ? बस उन्होंने कॉलेज के कुछ अध्यापक तथा वरिष्ठ छात्रों को अपना सहयोगी बनाकर स्त्री-शिक्षा का अभियान आरम्भ कर दिया । इस कार्य में उनको किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा यह उन्हीं के शब्दों को सुनिये—

''जब हम लोग यह सद्विचार लेकर लोगों के पास जाते थे, तब क्या होता था ? लोग सहसा आपे से बाहर हो जाते और कहते कि आप हमें बहकाने आये हैं ! आप लोग हमारी बहू-बेटियों को पढ़ा लिखाकर मेम बना देना चाहते हैं । यहाँ से तुरन्त चले जाओ नहीं धक्का देकर निकाल देंगे । कई बार तो कुछ लोग इतने क्रुद्ध हो गये कि सचमुच सीढ़ियों तक धकेलने चले आये । इस प्रकार न जाने कितने कटु अनुभव हम लोगों को हुए । बहुत-से साथी निराश हो जाते थे और कहने लगते थे कि जन-हित की बात कहने पर लोग ऐसा दुर्व्यवहार करते है तो हमारा क्या स्वार्थ अटका है जो द्वार-द्वार धक्के खाने जायें ? तब मैंने उनको समझाया कि इतनी-सी कठिनाई से निराश नहीं हो जाना चाहिए । यह अपमान और तिरस्कार तो किसी भी सामाजिक कार्यकर्त्ता का स्वाभाविक उपहार है । यही तो वह कसौटी है जिस पर समाजसेवी की भावना की परख होती है । आप लोग अपने को संतुलित रखते हुए धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहिये । कुछ समय में लोग हमारे विचारों का महत्त्व और कार्यों का मूल्य समझेंगे और आज जो निन्दा करते हैं, कल वही प्रशंसा करने लगेंगे ।''

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्त में दादा भाई का प्रयत्न और उनकी तपस्या सफल हुई और दो-चार वर्ष के भीतर ही बम्बई में एक नहीं कई कन्या पाठशालायें स्थापित हो गयीं । इसके पश्चात् उन्होंने प्रौढ़ों को पढ़ाने की योजना भी बनाई और फिर पूर्ववत् घर-घर का चक्कर लगाकर लोगों की कड़वी-मीठी फटकारें सहकर उसको कार्यरूप में परिणत कर दिखाया ।

जनता में शिक्षा प्रसार का श्रीगणेश करके दादा भाई ने आगामी मोर्चे को संभाला । उन्होंने 'बम्बई एसोशियेशन' नाम की एक राजनीतिक संस्था स्थापित की । उन्होंने इंग्लैण्ड की सरकार के सामने दो माँगें उपस्थित कीं । प्रथम यह कि भारत में कम्पनी शासन समाप्त करके श्रेष्ठ शासन विधान के अनुसार कार्यारम्भ किया जाय और दूसरे 'सिविल सर्विस' तथा विधान सभाओं में भारतीयों को भाग लेने का अवसर दिया जाय । एक बार तो इंग्लैण्ड निवासी और खासकर वहाँ के कुछ अखबार इन माँगों पर बहुत बिगड़े और इस प्रकार की बातों को 'छोटे मुँह बड़ी बात' की उपमा देने लगे पर जब दादा भाई ने अपना उद्योग बन्द नहीं किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए 'रास्तगुफ्तार' (सत्यवादी) नाम का पाक्षिक पत्र निकालकर देश भर में धूम मचा दी, तो अनेक न्यायप्रिय व्यक्ति उनका समर्थन करने लगे उस समय एक ब्रिटिश समाचार-पत्र ने भारतीय माँगों का समर्थन करते हुए कहा था—

''यह समझना भारी भूल होगी कि भारत में उठते हुए इस आन्दोलन को दबाया जा सकेगा या उसकी सर्वथा उपेक्षा की जा सकेगी । इससे भी बड़ी भूल यह समझ लेनी होगी कि भारतीयों की माँगों को स्वीकार करके ब्रिटेन उन पर कोई अहसान करेगा । ऐसी भूल करने के बजाय कल्याणकारी नीति यह होगी कि भारतीयों की माँगों पर उदारतापूर्वक विचार किया जाय, ब्रिटेन के प्रति अनुराग और विश्वास को मान्यता दी जाय और शासन प्रणाली में उनकी उन्नति के सिद्धान्तों को शामिल कर लिया जाय । यदि भारतीयों के साथ न्याय किया जाता है, उनकी संस्थाओं तथा माँगों को मान्यता दी जाती है तो सम्भव है कि ब्रिटेन भारत पर एक लम्बे समय तक अपना प्रभाव और प्रभुत्व बनाये रख सके । पर यदि शासक दुराग्रह करेंगे तो उसके दुष्परिणाम हमारे लिए अनिष्टकारी सिद्ध हो सकते हैं ।''

इस प्रकार इतने सज्जनों की सहानुभूति अपने साथ देखकर दादा भाई के मन में आया कि इंग्लैण्ड में रहकर ही प्रचार करने का अवसर मिले तो बहुत कार्य हो सकता है । इंग्लैण्ड का शासन वास्तविक रूप से वहाँ की जनता के हाथ में है । इसलिए वहाँ की जनता के बीच रहकर उसकी सहानुभूति प्राप्त करना भारत के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है । वे जब इस प्रकार विचार कर रहे थे उस समय बम्बई की 'कामा कम्पनी' ने उनसे इंग्लैण्ड जाकर वहाँ की शाखा की व्यवस्था संभालने का प्रस्ताव किया । वे इसके लिए तुरन्त सहमत हो गये और १८५५ में इंग्लैण्ड पहुँच गये । वहाँ कम्पनी का पूरा काम करने के बाद जो समय बचता था उसे वे देशहित के काम में लगाते थे । इंग्लैण्ड में सबसे पहले उन्होंने एक छात्रावास स्थापित किया जिसमें सिविल सर्विस तथा अन्य परीक्षाओं के लिए इंग्लैण्ड जाने वाले भारतीय छात्र निवास कर सकें । इस प्रकार दादा भाई देश के होनहार युवकों के सम्पर्क में आ जाते थे और उनको जीवन निर्वाह के साथ-साथ राष्ट्रीय हित का ध्यान रखने की प्रेरणा देते रहते थे ।

भारतीयों को एकत्रित और संगठित करने के साथ ही दादा भाई ने इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध नेताओं और विचारकों से भी सम्पर्क बढ़ाया । वे ग्लैडस्टन, हर्बर्टस्पेन्सर, कार्लाइल, जॉनब्राइट, काण्डेन जैसे

न्यायशील और भारत हितैषी व्यक्तियों से मिलते रहते थे। कुछ समय में इंग्लैण्ड की जनता भी दादा भाई को जान गयी और उन पर विश्वास करने लगी। दो वर्ष पश्चात् उनका 'कामा कम्पनी' के संचालकों से मतभेद हो गया इसका कारण यह था कि वे लोग पूँजीवादी मात्र थे और किसी भी तरह अपने व्यापार को बढ़ाना और अधिक धन कमाना उनका उद्देश्य था। इधर दादा भाई सत्यनिष्ठ और सेवा की उच्चतम भावना रखने वाले व्यक्ति थे। इसलिए जब उन्होंने देखा कि कम्पनी वाले १०० गज की रील में ८० गज तागा ही लपेटकर जनता को ठगना चाहते हैं तो उन्होंने इसका विरोध किया। इसके अतिरिक्त 'कामा कम्पनी' शराब और अफीम का व्यापार भी करती थी। वह भी उनको अनैतिक जान पड़ता था। इसलिए उन्होंने कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद करके कुछ समय बाद स्वतन्त्र व्यवसाय की नींव डाली . उन्होंने 'दादा भाई नौरोजी एण्ड कम्पनी' की स्थापना की जो मुख्य रूप से कपास का व्यापार करती थी।

अब वे इंग्लैण्ड की जनता को अपने पक्ष में करके भारत की माँगों के प्रति उसकी सहानुभूति प्राप्त करने की और अधिक कोशिश करने लगे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने बंगाल के राजनीतिक कार्यकर्ता डब्ल्यू. सी. बनर्जी के सहयोग से 'लन्दन इण्डियन सोसाइटी' की स्थापना की। कुछ समय बाद जब कार्यक्षेत्र बढ़ गया तो 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' नाम की अन्य संस्था का निर्माण किया। इन संस्थाओं द्वारा आन्दोलन करके वे बहुत वर्षों तक अँग्रेज जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के साथ ही भारतीय जनमत को जाग्रत और संगठित करने का भी प्रयत्न करते रहे। दादा भाई का मुख्य प्रयत्न लोगों को यह बतलाना था कि भारतवर्ष की गरीबी और पिछड़ेपन के लिए अँग्रेजी शासन ही जिम्मेदार है। इसके लिए उन्होंने 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (भारत की गरीबी और अब्रिटिश शासन) नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी। जिसे पढ़कर इंग्लैण्ड के बहुसंख्यक व्यक्ति उनके सहयोगी हो गये। उन सबकी सहायता से वे इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट के सदस्य चुन लिये गये जो उस समय एक भारतीय के लिए एक बहुत बड़ी बात थी। पर पार्लियामेन्ट में पहुँचकर भी बजाय अपना किसी प्रकार का लाभ सोचने के उन्होंने अपनी पूरी शक्ति भारत में तरह-तरह के सुधार कराने में ही लगाई। वे पार्लियामेन्ट के सदस्यों के सम्मुख देश की गरीबी का करुण चित्र खींचते रहते थे और यह सिद्ध करते थे कि इसका कारण भारत सरकार की खर्चीली शासन प्रणाली ही है। उन्होंने बड़ी भावुकता के साथ अँग्रेज सदस्यों से कहा— ''आप थोड़ी सहृदयता और त्याग से काम लें और विचार करें कि आखिर यह रुपया आखिर आता कहाँ से है ?'' उन्होंने भारतवासियों की आमदनी के आँकड़े पेश करके सिद्ध किया कि '' प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी बीस रुपया वार्षिक से अधिक नहीं है और उसे देखते हुये सरकार जनता से जो टैक्स वसूल करती है वह बहुत अधिक है। इसी से भारतवासियों की आर्थिक स्थिति दिन पर दिन निर्बल पड़ती जाती है।''

भारतवासियों ने दादा भाई की इन सेवाओं का मूल्य समझा और वे तीन बार 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' के अध्यक्ष बनाये गये। उन्होंने जब-जब काँग्रेस की बागडोर अपने हाथ में सँभाली उसको एक नई दिशा और शक्ति प्रदान की। अन्त में सन् १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने सर्वप्रथम यह घोषित किया कि भारत का एक लक्ष्य 'स्वराज्य' ही है।

इस प्रकार अपनी दीर्घायु तक अपनी समस्त शक्ति देश-कल्याण के लिए ही लगाते रहे। उन्होंने अपने सत्संकल्प का निर्वाह अन्तिम समय तक किया जिसके लिए आज भी उनको भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का 'पितामह' माना जाता है।

साधुता व समता के जीवन्त प्रतीक— बाबा रामदेव

राह चलती स्त्रियों का अपहरण, लोगों को लूटना और उन्हें जान से मार देना 'भैरव डाकू' के लिए बहुत आसान था। सारी जनता उससे बुरी तरह भयग्रस्त थी वह अकेला था फिर भी हजारों लोगों के लिए भारी और दुर्दम्य पड़ रहा था। लोग चाहे कितनी ही संख्या में क्यों न हों मनोबल की कमी हो तो एक दुष्ट व्यक्ति का दुस्साहस भी उनकी नींद हराम कर देता है। दिल्ली के राजा अनंगपाल के मामा के पन्द्रह वर्षीय पौत्र रामदेव ने जब यह सब देखा तो दुष्ट भैरव के प्रति मन में आक्रोश भर उठा। लोगों की कायरता पर उसे तरस भी आया। अकेले ही उसका दमन करने का संकल्प लिया। पिता अजमाल और माता ने बहुत समझाया पर रामदेव को पूरा आत्म-विश्वास था और नीति से चाहे निर्बल और बालक भी सत्य और नीति का पक्ष लेकर अनाचार का विरोध करे तो विजय सुनिश्चित है। रामदेव भैरव को परास्त करने के लिए चल पड़े लोगों ने भी समझाया पर वे नहीं माने और लोगों के तर्क को उनकी कायरता के कारण धिक्कारा।

सत्य और न्याय से प्रेरित होकर आसुरी शक्तियों से संघर्ष छेड़ने का साहस औरों को भी प्रभावित करता है। जो लोग रामदेव का रास्ता रोक रहे थे वे ही उनके अनुचर बनकर 'भैरव' का संहार करने चल पड़े और अन्ततः अपने प्रयोजन में सफल हुए। आतंकवादी दानवता की साक्षात् मूर्ति 'भैरव' का अन्त हो गया और लोगों के मन में आत्म विश्वास के प्राण संचरित हो उठे।

रामदेव ने अपने जीवनकाल में ऐसे एक नहीं सैकड़ों लोकोपयोगी कार्य किये कि जनता उन्हें भगवान् का अवतार समझने मानने लगी। अनीति के विरुद्ध अकेले ही मोर्चा सम्हालने का साहस कर लिया जाय तो जन साधारण भी अपने आप अनुगामी बन जाते हैं।

तत्कालीन समाज में जातिभेद और अस्पृश्यता की कुरीति के कारण हिन्दू समाज का आधार अंग कुण्ठित और लुञ्ज-पुञ्ज ही पड़ा हुआ था बाबा रामदेव ने ऐसे लोगों को उठाकर सीने से लगाया। यद्यपि रामदेव स्वयं एक उच्च जाति के राजपूत थे। प्रायः राजपूतों में ऊँच-नीच का ज्यादा ध्यान रखा जाता है। रामदेव ने अपने परिजनों का विरोध भी सहा और अछूत तथा नीच कहे जाने वाले श्रमजीवी

लोगों को अपने साथ बिठाकर खिलाया। उन्हें तैयार किया और उन्होंने रोगी और दुःखियों के घर लगातार कई-कई रातें व्यतीत कर उनकी सेवा-सुश्रूषा की। रामदेव के चरित्र गायकों के लोकगीतों में ऐसी अनेकों घटनाएँ भरी पड़ी हैं।

पिता के मरने के बाद रामदेव को राजा बनाया गया। पर उनके रहन-सहन को देखकर कोई भी उन्हें राजा नहीं कह सकता था। विदेहराज जनक, नासिरुद्दीन और अशोक जैसे लोकसेवी राजाओं की तरह उन्होंने भी सदैव सादा जीवन ही लिया। श्रम की प्रतिष्ठा का एक अनुपम उदाहरण उनके राजकीय जीवन में मिलता है। राजस्थान में अनावृष्टि के कारण बहुधा अकाल पड़ा करते हैं। रामदेव के शासन काल में भी एक बार अकाल पड़ा। लोग भूख-प्यास से मरने लगे। रामदेव ने अपना कोष लोगों की जीवन रक्षा के लिए लगा दिया और स्वयं लोगों के साथ कुदाल-फावड़ा लेकर जगह-जगह कुएं खुदवाने में लग गये। अभी तक तो लोगों के सामने इस समस्या से जूझने का कोई रास्ता ही नहीं था पर अपने प्रिय राजा को अपने साथ श्रम करते हुए देखा तो उनका मनोबल कई गुना बढ़ गया और वे भी इस प्राकृतिक प्रकोप का हँसते हुए सामना करते रहे।

रामदेव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे छोटे-से-छोटे लोगों का अपने से भी अधिक ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि अपने महल में रहने वाले पशुओं के चारे-दाने की व्यवस्था स्वयं की देखरेख में करवाते। राज-काज से अवकाश मिलता तो वे अपने घोड़े को लेकर जंगल में चले जाते।

पुराने जमाने में राजा-महाराजाओं का एक प्रिय शौक रहा है— शिकार। प्रायः समय निकालकर राजा लोग अपने साथियों के साथ शिकार पर जाया करते परन्तु रामदेव जाते थे जंगल में अपने घोड़े को लेकर उसकी सेवा करने, प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेने। शिकार कर उन्हें किसी निरीह पशु की अकारण हत्या कर देना रत्ती भर नहीं सुहाता। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई दुष्प्रकृति के लोगों को दण्डित किया, परन्तु मनोरंजन या शौक के लिए निरपराध मूक प्राणियों की हत्या में मजा आने की अपेक्षा उन्हें दुःख ही होता।

सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचाने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं इसलिए सब धर्मों का समान रूप से आदर करना चाहिए। मुगल शासक तलवार और जोर-जबरदस्ती के बल पर हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन कर रहे थे। इसी कारण वे अपने राज्य के सीमावर्ती इलाकों पर राज्य विस्तार और धर्म प्रसार के लिए आक्रमण भी करते। रामदेव का राज्य भी इस नीति से अप्रभावित नहीं रहा पर उन्होंने बड़े शौर्य और साहस के साथ अपने वीर योद्धाओं को लेकर उनका मुकाबला किया और सदैव मुगलों को मुंह की ही खानी पड़ी।

रामदेव के मन में इतना होने पर भी मुसलमानों के प्रति हिंसा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उनके राज्य में इस्लाम के अनुयायियों को भी पूरी स्वतन्त्रता थी। राजघराने में चलने वाले सदाव्रत— सार्वजनिक धर्मार्थ भोजनालय में हिन्दू सन्त भी भोजन करते थे और मुस्लिम फकीर भी। मन्दिर-मस्जिद दोनों के लिए समान रूप से राजकोष द्वारा अनुदान दिया जाता। ऐसी धर्म सहिष्णुता का उदाहरण इतिहास में बहुत कम ही देखने में आता है।

उनके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ सुनने को मिलती है। किसी भी लोक-नायक और महामानव के सम्बन्ध में ऐसी अतिशयोक्ति पूर्ण घटनाओं का प्रचलन कोई विशेष और नयी बात नहीं है परन्तु बाबा रामदेव की महानता उनकी सच्ची धर्म-परायणता ही मानी जाती है। वे एक आदर्श मानव, वीर योद्धा, अछूतोद्धारक और उदार धर्मानुयायी थे।

बाबा रामदेव के व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण और अनुकरणीय पक्ष था उनकी सेवानिष्ठा। वे सदैव दुःखियों और कष्ट पीड़ितों की सेवा में तत्पर रहते। एक बार तो वे अपनी नव-विवाहित पत्नी को पहले ही दिन अकेली छोड़कर किसी दुर्घटना में 'आहत' एक गरीब आदमी की परिचर्या के लिए चले गये थे। वे जन-साधारण के हित में हर घड़ी नयी-नयी योजनाएं सोचते और उनकी पल-पल की खबर रखते। लोगों ने उन्हें कभी अपने शासक के रूप में अनुभव नहीं किया वरन एक अत्यन्त आत्मीय परिजन के रूप में पाया। इसी कारण वे अपनी समस्याओं को लेकर चाहे जब उनके पास पहुँच जाते। रामदेव भी स्वयं को राजा की अपेक्षा जन-सेवक अधिक मानते इसीलिए लोगों की समस्या को ध्यानपूर्वक सुनते थे और उनके निवारण के लिए सदैव सचेष्ट रहते। वस्तुतः अधिकार का क्षेत्र बहुत सीमित है और सेवा का बहुत विस्तृत। कोई चाहे कि मैं किसी उच्च पद पर रहकर सेवा कार्य करूँ तो यह दुस्साहस है परन्तु केवल कर्त्तव्य भाव से ही सेवा मार्ग अपनाया जा सके तो मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। अन्त में बाबा रामदेव ने भारतीय संस्कृति की आश्रम परम्परा का भी निर्वाह किया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे अपनी पत्नी के साथ जंगल में चले गए और कठोर साधना के द्वारा इच्छा मृत्यु प्राप्त की। उनकी समाधि जैसलमेर (राजस्थान) जिले के रूनिजा नामक ग्राम में आज भी विद्यमान है। प्रति वर्ष हजारों लोग यहाँ आयोजित मेले में एकत्रित होते हैं।

उनके जीवन की एक मार्मिक घटना इस प्रकार है शाम का समय था। सन्त रामदेव अपने घर वापस आ रहे थे। निर्जन मार्ग में उन्हें एक अबोध बालिका पड़ी दिखाई दी। सम्भवतः वह अवैध संतान थी इसलिये किसी माँ ने अपने हृदय पर पत्थर रखकर उसे मार्ग में डाल दिया था। रामदेव ठहरे सत। उनके हृदय में भेद-भाव के लिये स्थान कहाँ से आया। वह उस बच्ची को उठाकर घर ले आये।

परिवार वालों ने रामदेव का विरोध किया। उनके घर का कोई सदस्य उस अनजान बालिका को अपने घर में रखने को तैयार न था, पर वह इन्सान की सन्तान के साथ किसी भी प्रकार का भेद-भाव पाप मानते थे। आखिर रामदेव की ही विजय हुई। आगे चल कर वह बच्ची डालीबाई के नाम से प्रसिद्ध हुई।

प्राणिमात्र को अपनी ही आत्मा का अंग मानने वाले संत रामदेव मारवाड़ के पोकरण क्षेत्र में तंवर कुल के राजा अजमाल के यहाँ जन्मे थे। उनके जन्म की कथा बड़ी रहस्यमयी है।

अजमाल के केवल एक पुत्री थी। यह समय ऐसा था जब पुत्रहीन राजा का मुँह देखना भी पाप माना जाता था। उत्तराधिकारी के रूप में उनके कोई पुत्र न था। एक बार राज्य में अकाल पड़ गया तो

अन्धविश्वासी जनता के मन में यह विचार दृढ़ होते देर न लगी कि यह दैवी विपत्ति राजा के पुत्रहीन होने के कारण आई है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति ईश्वर की शरण ही आता है। राजा अजमाल ने भी ईश्वर की शरण ली। राजा अजमाल को भी वरदान मिला और एक वर्ष के अन्दर ही उन्हें एक राजकुमार का पिता बनने का सुअवसर मिल गया। इस बालक का नाम रखा गया रामदेव।

रामदेव बाल्यावस्था से ही एकान्तप्रिय थे। यह सदैव अपने ही विचारों में मग्न रहते थे। एक बार अमरकोट की राजकुमारी नेतल पालकी से कहीं जा रही थीं। सुनसान मार्ग देखकर कुछ डाकुओं ने अंगरक्षक सैनिकों को घेर लिया और राजकुमारी का अपहरण करने की योजना बनाई। संयोग की बात रामदेव उधर से आ रहे थे। उन्होंने बड़ी वीरता के साथ डाकुओं का मुकाबला किया और उनके इरादों को असफल कर दिया। राजकुमारी रामदेव की वीरता से बड़ी प्रभावित हुई और एक दिन वह आया जब दोनों दाम्पत्य जीवन में आबद्ध हो गये।

वह पोकरण से रूणेचा चले आये और वहाँ एक नगरी की स्थापना की। उनके व्यवहार से लोग इतने प्रसन्न हुये कि वहाँ के सब लोगों ने मिलकर उन्हें उस क्षेत्र का प्रशासक घोषित कर दिया। संत और शासक का ऐसा समन्वय उनमें हुआ कि वहाँ के निवासी सुख और आनन्द में जीवन व्यतीत करने लगे। अनेक साधु-महात्मा वहाँ आने लगे।

रामदेव का अधिकतर समय सत्संग में ही बीतता था। वह सभी धर्मों को आदर देते थे, उनका कहना था, उद्देश्य एक है, सत्य एक है पर कितने ही संत इसे विभिन्न नामों से पुकारते है। धर्मों के सम्बन्ध में भी उनका यही कहना था कि मूल मान्यताएँ सभी धर्मों की एक हैं विभिन्न धर्म अलग-अलग रास्तों की तरह हो सकते है, पर मंजिल तो एक ही है।

वह दूर-दूर क्षेत्रों में जाकर दलितो और आभावग्रस्तों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करते थे। भेदभाव का उनकी दृष्टि में कोई स्थान न था।

जीवन के अन्तिम दिनों में राजस्थान के रूणेचा नामक ग्राम मे सत रामदेव समाधिस्थ हो गये। वहाँ उनका मंदिर आज भी बना हुआ है। वर्ष में दो बार भक्तजन एकत्रित होकर उन्हे श्रद्धांजलि देते हैं। वहाँ जुड़ने वाले मेले में राजस्थान ही नहीं गुजरात, सौराष्ट्र और मालवा तक के व्यक्ति बड़ी संख्या में उपस्थित होते है।

हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इस सन्त के प्रति आदर की भावना व्यक्त करते हैं। हिन्दुओं के लिये यदि वह सन्त थे तो मुसलमान उन्हें पीर कहकर पूजते हैं। जन-जन के प्रति समता का भाव रखने के कारण ही उन्हें यह सम्मान प्राप्त है।

साधु ऐसे चाहिए जैसे राघव दास

भारत माता के सौ में से अस्सी पुत्र गाँवो मे रहते हैं भारत की गरीब जनता का कल्याण करना है तो गाँवों का उत्थान करना होगा। ग्रामों मे आर्थिक स्वतंत्रता मिले बिना स्वतत्रंता स्वराज्य और सुराज्य के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती। यह जानने वाले बाबा राघव दास को संत विनोबा भावे का भूदान, ग्राम दान अभियान लगा। बात समझ में आ गयी। फिर विशेष सोच-विचार करने की आवश्यकता क्या थी संकल्प ले लिया पाँच लाख एकड़ भूमि माँगने का। और चल पड़े पदयात्रा पर। ग्यारह महीनों में ३०० मील की पैदल यात्रा की। इस बीच ३००० एकड़ भूमि प्राप्त हुई।

अपने कार्य क्षेत्र बिहार में विनोबा जी की पदयात्रा के दौरान बाबा राघव दास का उन्हें जो सहयोग मिला उसे देखकर उन्होंने कहा था। "भूमिदान की आवश्यकता को लेकर मैं अकेला था किन्तु बाबा राघव दास को पाकर मैं एक से ग्यारह हो गया हूँ।"

आठ वर्ष तक कठोर श्रम करके बाबा राघव दास ने बिहार और उत्तर प्रदेश में एक सौ सम्पूर्ण ग्राम; ५०,००० एकड़ भूमि; ४८,००० रुपया, ४०,००० रुपये की अचल सम्पत्ति; २,००० मन अन्न; ४० जोड़ी बैल; १,४०० वृक्ष; २० कुएँ; ५० मकान और लगभग २०० खेतों के औजार दान में प्राप्त किये। उनकी इस कर्मनिष्ठा ने भूदान, ग्राम दान जैसी कल्पना को सत्य का ठोस आधार देकर यह सिद्ध कर दिखाया कि लोगों में सद्भावनाएँ और सहृदयता अभी भी विद्यमान है वे अपने अंतरंग से भी परिचित हैं अपने बन्धुओं के लिये अपनी सम्पदा में से बिना किसी दबाव के अंशदान दे सकते है। यह कोई छोटी बात नहीं थी। बाबा राघव दास ने लोक-मंगल के लिये निस्वार्थ भाव से यह जो तपस्या की है यह उन तपस्याओं से हजार गुना श्रेष्ठ है, जो केवल स्वर्ग और मुक्ति की स्वकेन्द्रित एषणाओं से प्रेरित हो गिरी-कन्दराओं में बैठ कर की जाती है।

बाबा राघव दास के जीवन के साथ यही एक दिव्य उपलब्धि नहीं जुड़ी है। ऐसे अनेक लोकोपकारी कार्य उन्होंने अपने जीवन में किये युवावस्था में स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने और उसके अनन्तर सन्यास ग्रहण कर सर्वतोभावेन अपने को राष्ट्र व समाज के लिये समर्पित कर स्वतंत्रता के सक्रिय कार्यकर्ता, गोरखपुर क्षेत्र की चहुँमुखी उन्नति के लिये अपने आप को खपा देने वाले जन नायक, शिक्षा प्रचार के अग्रदूत, पीड़ितों तथा दलितों के सेवक बन्धु आदि के रूप मे उन्होंने जो यश कीर्ति अर्जित की है वह उन्हें स्मरणीय तो बनाती ही है साथ ही संन्यास का सच्चा स्वरूप भी प्रस्तुत करती है।

समाज की सेवा के दो रास्ते है एक जन-सामान्य के लिये है— गृहस्थ का और उन विशिष्ट व्यक्तियों के लिये जो अपना सारा जीवन ही समाज को समर्पित कर देना चाहते है, तप और अभ्यास द्वारा वे अपने आप को उस सम्पूर्ण समर्पण के लिये तैयार कर लेते हैं वह मार्ग है संन्यास का। गृहस्थ और संन्यास दोनों ही मार्ग हैं। पर संन्यास का मार्ग गृहस्थ की अपेक्षा अधिक कठिन, अधिक दुरूह होने के कारण विशिष्ट लोक के लिये ही है। जो यह समझते है कि उनके सामने सेवा सुधार व जागरण का काम इतना अधिक है कि वे अपनी सुख-सुविधाओ के लिये और विवाह करके पत्नी का भार उठाने की प्रक्रिया मे जीवन का अधिकांश भाग बिता देने की सोच भी नहीं सकते उनके लिये संन्यास का मार्ग उपयुक्त है। किन्तु मठ

में पड़े रहना या अकर्मण्य बनकर समाज का भार बढ़ाना तो संन्यासी का धर्म नहीं। संन्यासी का कार्य तो समाज का भार हलका करना है उसे बढ़ाना नहीं। संन्यासी का जीवन सतत् कर्मण्यता व कष्टों का जीवन है। संन्यास को बाबा राघव दास ने इसी रूप में स्वीकारा था और जीवन भर निभाया था।

इन सच्चे संन्यासी का जन्म सन् १८९६ में एक भरे-पूरे सम्पन्न परिवार में हुआ था। ये जब सात वर्ष के थे तभी महाराष्ट्र में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ। इनका परिवार भी उस महामारी की चपेट में आ गया। उनके अतिरिक्त परिवार में जो सात सदस्य थे वे एक-एक करके काल के गाल में समाते चले गये। अब बच रहे राघवेन्द्र। सात वर्ष के इस संवेदनशील बालक के मन पर इस घटना का स्थायी प्रभाव पड़ा। पानी के बुलबुले जैसे इस जीवन का सदुपयोग क्या हो ? यह प्रश्न उसी दिन से उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा।

बहनोई के घर पालित-पोषित हुए राघवेन्द्र दसवीं कक्षा तक ही पढ़ पाये। आगे की पढ़ाई राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का ज्वार बहा ले गया। ज्यों-ज्यों वे सज्ञान और शिक्षित होते गये और अपने पूर्व प्रश्न पर चिन्तन-मनन करते गये उनके मन-मस्तिष्क में यह स्पष्ट होता गया कि ईश्वर द्वारा इस संसार में उसके द्वारा बनाए गये प्राणियों की सेवा करना ही इस पानी के बुलबुले जैसे जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है।

यही विचार उन्हें संन्यास की मंजिल तक ले गया। बचपन की कटु स्मृति से उपजा वैराग्य उन्हें महाराष्ट्र से मथुरा, हरिद्वार, बनारस और फिर गाजीपुर के मौनी बाबा के आश्रम में ले आया। बरहज में अनन्त महाप्रभु के आश्रम में पहुँचकर वे राघवेन्द्र से राघवदास बन गये। किन्तु उनका यह संन्यास मात्र तप-साधना तक ही सीमित नहीं रहा। वस्तुत: तप-साधना का उद्देश्य तो अपने शरीर-मन और चित्तवृत्तियों को आत्मा के वश में करना होता है। ताकि वे कहीं उसे पथ भ्रष्ट न बना दें। राघव दास ने भी एक एकांत गुफा में रहकर कुछ वर्षों तक तप-साधना की। यह साधना सम्पूर्ण हो जाने पर वे कर्मक्षेत्र में जा कूदे। यहीं गुफा में बैठ कर तप-साधना करने वाला युवक आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण सेनानी बन गया। तप-साधना द्वारा तपाये गये शरीर और मन से उसने भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख आदि से निर्लिप्त रह कर अपने संकल्प का निर्वाह किया।

गोरखपुर जिला उन दिनों एक प्रकार से सोया पड़ा था। इस क्षेत्र की जनता में स्वतन्त्रता प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई जागरण के चिह्न नजर नहीं आते। इस सोयी जनता को जगाने का बहुत कुछ श्रेय बाबा राघव दास को है। वे घर-घर, गाँव-गाँव जाकर देशवासियों को अंग्रेज सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये उद्‌बोधन देते घूमते उनका यह प्रयास सफल हुआ। वहाँ की जनता जागी। अपने अधिकारों व दायित्वों की ओर उसका ध्यान गया।

सामूहिकता की प्रबल शक्ति से कुछ भी असम्भव नहीं है। इस सच्चाई को उनके मार्गदर्शन में उस क्षेत्र के निवासियों ने प्रत्यक्ष देखा। १९३६ के चुनाव में गोरखपुर जिले में कांग्रेस के प्रत्याशियों के सामने ग्यारह राजा खड़े हुए। राजा तो सर्व प्रकार से समर्थ थे। किन्तु कांग्रेस की हालत पतली थी। उन दिनों यह जनता की अपनी पार्टी थी— जनता की तरह ही गरीब। पाँच रुपये महीने पर किराये पर लिये कांग्रेस कार्यालय का भी पाँच माह का किराया बाकी था। बनिये के सत्रह रुपये उधार थे। प्रत्याशियों से चंदा उगाहा गया तो इतने ही रुपये इकट्ठे हुए कि पार्टी का यह कर्ज उतर जाय। अब प्रचार कैसे करें। किन्तु राघव दास जी हिम्मत हारने वालों में से नहीं थे। उन्होंने गाँव-गाँव की पदयात्रा करके एक महीने में तीन सौ स्वयं सेवक तैयार किये। उन्होंने प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि गरीबों की पार्टी के ग्यारहों उम्मीदवार ग्यारहों राजाओं को हराने में सफल हुए वह भी कम नहीं ३५-३५ हजार वोटों से।

यह चुनाव ही एक उदाहरण नहीं है उनके जन-नेतृत्व का वरन् ऐसे कई उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। गोरखपुर के निकट नामक स्थान पर ४ $\frac{1}{2}$-मील लम्बा बाँध बाँधना था। ३ $\frac{1}{2}$-मील लम्बा बाँध सामूहिक जन-शक्ति के श्रम दान द्वारा मात्र छह दिन में बाँध दिया गया। सातवें दिन एक मील लम्बा बाँध और बाँधकर सप्ताह का संकल्प जो लिया गया था उसी अवधि में पूरा कर दिया। बलिया जिले की ८ हजार एकड़ भूमि को बचाने के लिये इसी प्रकार एक ४ $\frac{1}{2}$-मील लम्बा नाला केवल दस दिन के श्रमदान में पूरा खोद दिया गया। वर्षा में भीगते हुए पाँच हजार लोगों ने नित्य श्रमदान किया। अंतिम दिन तो यह संख्या दस हजार तक पहुँच चुकी थी। इस काम में केवल १५० रुपये खर्च हुए जबकि सरकार ने इस कार्य के लिये ८० हजार रुपयों की योजना बनाई थी। यह सब उनके नेतृत्व का ही फल था।

वे स्वयं मैट्रिक तक पढ़े हुए थे पर उनकी प्रेरणा से गोरखपुर क्षेत्र में हजारों लोगों ने एम. ए. पास किया। उत्तर प्रदेश के इस क्षेत्र में काशी को छोड़कर शेष सारा प्रदेश शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा हुआ। राघवदास जी की प्रेरणा से वहाँ पचासों हाईस्कूल स्थापित हुए।

वे चाहते तो स्वयं कहीं सिद्धपीठ स्थापित कर सकते थे या तथाकथित संत-महंतों की तरह आराम का जीवनयापन कर सकते थे, पर उन्होंने तो कर्मण्यता को अपनाया था अकर्मण्यता को नहीं। उनके लिये तो कर्म और सेवा ही सच्ची ईश्वर भक्ति थी। एक बार उनके आश्रम के निकटवर्ती टाउन एरिया में सफाई कर्मचारियों की हड़ताल के कारण असह्य गन्दगी फैल गयी। टाउन एरिया के पदाधिकारियों का ध्यान इस ओर दिलाने का अभीष्ट परिणाम न होता देख बाबा जी स्वयं हाथ में फावड़ा लिये सफाई करने जा पहुँचे। ग्रामवासियों को एक संत-महात्मा को अपना मल साफ करते देख बड़ी लज्जा आयी, वे भी सफाई में जुट पड़े देखते-देखते सारा गाँव साफ हो गया।

गोरखपुर क्षेत्र के कोढ़ियों के लिये कुष्ठ आश्रम की स्थापना हो या अपने हाथों से हरिजन के गंदे मैले-कुचैले बालकों को ईश्वर

प्राणिघन भाव से सेवा करना है । धूँ-धूँ करके जलते मकान में कूद कर किसान बैलों के लिये अपने प्राण संकट में डालने हों या किसी बाढ़-ग्रस्त बुढ़िया की सहायता में उसकी चक्की को सिर पर उठाना हो बाबा राघव दास सदा आगे रहते थे । उस क्षेत्र के गाँव-गाँव में उनकी सेवा की किंवदंतियाँ प्रचलित हो चली हैं । सभी कहते हैं भई साधु हो तो बाबा राघव दास जैसे, काश ! आज के लाखों साधु उनके चरण चिह्नों पर चलते तो उनका साधु होना सार्थक हो जाता ।

चोरी चौरा काण्ड के ११४ में से ९५ अभियुक्तों को फाँसी के फन्दे में उतार लेने का अधिकांश श्रेय राघव दास जी को ही जाता है वही वे व्यक्ति थे जिन्होंने अँग्रेजों के निर्णय को चुनौती दी थी । दिन रात दौड़-धूप करके उन्होंने अपील के लिये धन एकत्रित किया । पहले वे पं. मोती लाल नेहरू के पास गये वे व्यस्त थे तो महामना मालवीय जी का द्वार खटखटाया और उन्हें छोड़ी हुई वकालत एक बार इसी मुकदमे के लिये पुनः पकड़नी पड़ी । इसका परिणाम यह हुआ कि ११४ में से ९५ की फांसी की सजा रद्द करके उनकी पुनः सुनवाई करनी पड़ी ।

जीवन के अंतिम क्षणों तक वे सेवा कार्य में ही जुटे रहे । मध्य प्रदेश में भूदान, ग्राम दान के लिये पदयात्रा करते हुए वे शीत से पीड़ित हो चल बसे, 'जनवरी, १९५८ के दिन ।' पर उनकी याद बाकी है सत्कर्मों के सेवा साधना के रूप में बाबा राघव दास का जीवन साधुओं के लिये आदर्श और जनता के लिये साधुओं की कसौटी का काम करेगा ।'

परमात्मा की सेवा का प्रत्यक्ष अवसर

गाँव के बाहर एक साधु आसन बिछाकर ध्यान हेतु बैठने की तैयारी कर रहे थे कि गाँव से बड़े जोरों का कोलाहल सुनाई पड़ा । कुछ सोचें तब तक लपलपाती आग की लपटें दिखाई पड़ने लगीं । लगा जैसे क्षितिज जल रहा हो । वस्तुस्थिति को परखते देर न लगी और वे ध्यान की तैयारी छोड़कर दौड़ पड़े । न रास्ते का ध्यान था, न पाँवों में जूते-चप्पल पहनने का । ऊबड़-खाबड़ खेतों में भागे जा रहे थे । खेतों में अरहर की खूँटियाँ बार-बार उनके पैरों में चुभ जातीं, जिससे पैर लहूलुहान हो गये । इसकी परवाह किसे थी । दूसरों के कष्ट निवारण में अपने कष्ट को भुला बैठना, सहते जाना ही तो तप है । वे भागते गये, जब तक कि घटनास्थल पर पहुँच न गये ।

पहुँचकर देखा । एक विशाल हवेली में आग की लपटें शोले उगल रही हैं और घर के लोग बाहर खड़े छाती पीट रहे हैं । सारे जीवन की संचित कमाई को फुंकते देखकर किसकी छाती न फटेगी । घर का मालिक चिल्ला रहा था— कोई बचाओ रे, दो बैल भीतर बँधे हैं । चिल्लाने वाले और बाहर खड़े लोगों में से किसी की हिम्मत न थी कि जाकर बैलों को खोल दे

साधु के मन में भरी करुणा छलक पड़ी । उन मूक पशुओं के प्रति हृदय दया से भर गया, जो अपनी सहायता के लिये किसी को नहीं पुकार सकते थे । उन्होंने एक कम्बल लपेटा और तेजी से मकान में घुस गये । बैलों को खोजने और खोलने में थोड़ा समय तो लगा ही । तब तक आग ने द्वार को घेर लिया था । बाहर खड़े लोग आशंकित थे— अब क्या होगा ? पर दुबले-पतले संन्यासी ने छलांग लगायी और आग के बाहर, बैल भी बाहर आ गये । बाद में सभी के सहयोग से आग पर काबू पा लिया गया । सभी उनकी सराहना करने में जुटे थे और साधु पुनः ध्यान करने बैठ रहा था । उपासना की नियमितता में विघ्न के बावजूद उनके चेहरे पर कृतज्ञता मिश्रित प्रसन्नता थी । कृतज्ञता इसलिये कि भगवान् ने सेवा का अवसर जुटाया और प्रसन्नता इस कारण कि आज साक्षात परमात्मा की सेवा का अवसर मिल सका ।

यह संन्यासी थे— बाबा राघव दास । जिनके जीवन में ऐसी अनेकों घटनायें आयीं जब उन्होंने पूजा-उपासना से अधिक महत्त्व सेवा और संवेदना को दिया । सकीर्णता की छोटी-सी काल-कोठरी में कामनाओं की बेड़ी, वासनाओं की हथकड़ी पहने सिकुड़ी-सिमटी, दबी-पिसी जा रही भाव-चेतना को उन बन्धनों से छुटकारा दिलाने का नाम वैराग्य है । इससे छूटी हुई चेतना सहज क्रम में सभी को अपनत्व के दायरे में समेट लेती है । बाबा का वैराग्य ऐसा ही था ।

इसी के द्वारा उन्होंने सेवा और जन-कल्याण की सघन भावनायें अर्जित कीं । इसी को उन्होंने अध्यात्म साधनाओं की सफलता और साधना माना ।

विश्व को गुरुमय देखने वाले— स्वामी राधारमण चरणदास

यशोहर जिले का महिषखोला गाँव । हाट का दिन । एक वृद्ध व्यक्ति ने सामान खरीदा और एक गठरी में बाँधकर इस प्रतीक्षा में खड़ा हो गया कि कोई राहगीर उस गठरी को उठवा दे । उसकी तबियत खराब थी । बुखार बढ़ता जा रहा था । कितने ही व्यक्ति उसे देखकर निकलते जा रहे थे, पर उनमें किसी ने भी सहायता करने की बात सोची तक नहीं । राधारमण नामक एक युवक उधर से निकला । उसके हृदय में दया का भाव उमड़ आया । वह उस वृद्ध का सारा सामान उठाकर घर तक पहुँचाने के लिये तैयार हो गया । 'नहीं बाबू जी ! नहीं !! आप मुझे न छुयें, मैं छोटी जाति का हूँ आपको फिर स्नान करना होगा । मैं स्वयं ही चला जाऊँगा ।'

उस वृद्ध व्यक्ति ने बड़ी कातरता से निवेदन किया, पर राधारमण ने उसकी एक भी बात न सुनी व सामान की गठरी लेकर उसे घर तक पहुँचा आया ।

मानवता की सेवा करने के लिए जो कृत संकल्प हो उसके मन में छोटे-बड़े और जाति-पाँति का भेद आता ही नहीं ।

इस मानवता के सेवक का जन्म सन् १८५३ में मोहन चन्द्र घोष के यहाँ हुआ था । यह अपने माता-पिता की तीसरी सन्तान थे । जब यह पाँच वर्ष के थे तब पिता और दोनों भाई उन्हें छोड़कर इस संसार से सदैव के लिये चले गये । कुछ वर्षों बाद इनकी माँ भी स्वर्ग सिधारी और यह अनाथ हो गये । अनाथ बालक में यदि स्वयं कुछ

बनने की महत्त्वाकांक्षा न हो तो समाज का दूषित वातावरण उसे आगे नहीं बढ़ने देता । इन्होंने नड़ाइल हाईस्कूल में शिक्षा ग्रहण की थी । बाद को सरकारी नौकरी भी मिल गई पर जो मानवता की सेवा का व्रत लेकर जन्मा हो वह दीर्घकाल तक अपने आत्मसम्मान को बेचना पसन्द नहीं कर सकता यही हुआ, यह सरकारी नौकरी छोड़कर माँ काली की प्रेरणा से अपना घर-बार छोड़कर चल पड़े ।

सरयू पर शंकरारण्य पुरी महाराज से गुरु दीक्षा लेकर राधारमण चरणदास के नाम से विख्यात हुए । गुरु का आशीर्वाद लेकर यह गया, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा करने निकल पड़े । राधारमण में दयालुता, करुणा, त्याग और क्षमा जैसे दैवी गुण बढ़ते ही जा रहे थे । अब वह दूसरे के दुःख को देखकर दुःखी हो जाते और उसकी सहायता के लिए भरपूर प्रयास करते । किसी विद्यार्थी को धूप में तपते देखते तो उसे अपना छाता दे देते । कोई व्यक्ति सर्दी में ठिठुरता दिखाई पड़ता तो उसे अपनी ऊनी चादर उढ़ा देते ।

परदुःखकातरता उनके जीवन की विशेषता बन गई थी उनके गाँव में बच्चों के पढ़ने के लिये विद्यालय न था । गर्मी के दिनों में गाँव के कुँए सूख जाते तो कई-कई मील से पानी भर कर लाना पड़ता था । गाँव वालों की इन समस्याओं को यह अनुभव कर रहे थे । उन्होंने प्रयत्न करके एक विद्यालय तथा एक पुष्करिणी तैयार करवाई और इन समस्याओं को हल किया ।

अपने गुरु के द्वारा उन्हें जो आदेश मिले थे उनमें एक यह भी था कि प्रभु नाम का प्रचार सर्वत्र किया जाय । उन्होंने घूम-घूमकर व्यक्तियों को ईश्वर उपासना में लगाया । उनके सम्पर्क में ऐसे अनेक व्यक्ति भी आते थे जिन्हें ईश्वर की शक्ति पर विश्वास नहीं होता पर वह उस नाम की शक्ति से असम्भव कार्य भी सम्भव करके दिखा देते और लोगों के मन में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते । ऐसे कार्यों को सम्पन्न करते समय कर्तापन की भावना उनके मन में न आती थी और सम्मान से स्वयं बहुत दूर रहते थे ।

जीव दया, हरि संकीर्तन और सत्संग उनके जीवन के प्रमुख सिद्धान्त थे । इन्हीं के आधार पर उनके सारे क्रियाकलाप चलते थे । सन्त तुलसीदास जहाँ संसार को सियाराम मय देखते थे वहाँ राधाचरण इस विश्व को गुरुमय देखते थे । उनकी दृष्टि बड़ी विशाल थी वह तो चोर, डाकू और विश्वासघाती तक को अपना गुरु मानते थे और उससे भी कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण कर लेते थे । उनकी दृष्टि में गुरु दो प्रकार के हैं एक अनुकूल और दूसरे प्रतिकूल । अनुकूल गुरु सदाचारी होते हैं और ऐसे व्यक्ति श्रेष्ठ कार्य के लिये प्रेरणा देते ही हैं पर प्रतिकूल गुरु जो पाखण्डी और दुराचारी हैं वह भी अप्रत्यक्ष रूप से हमें कुछ सिखाते हैं । जैसे एक चोर हथकड़ी डाले हुए बाजार से निकल रहा है उसे हम सड़क के किनारे खड़े देख रहे हैं । दर्शकों की दृष्टि उपेक्षा तथा घृणापूर्ण रहती है पर उसका यह प्रतिकूल आचरण भी अपने मूक-भाव से सत्य मार्ग पर चलने, ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है— 'सावधान ! कभी चोरी मत करना, यदि चोरी की अथवा अन्य कोई ऐसा बुरा कार्य किया जो कानून की दृष्टि में अपराध है तो आपकी भी वही दशा होगी जो मेरी हो रही है' इस तरह वह प्रत्येक दुराचारी को भी प्रतिकूल गुरु मानकर कुछ न कुछ सीखने की इच्छा रखते थे । इस तरह उनकी उदारता और सहृदयता का स्पष्ट पता लग जाता है ।

बाबा राधारमण चरणदास जीव मात्र को ईश्वर का, गुरु का अंश मानकर सेवा के लिये तैयार रहते थे ।

एक शताब्दी पूर्व अँग्रेजी शासन की नींव हिलाने वाले—गुरु रामसिंह

महात्मा गाँधी से बहुत पहले अहिंसा और असहयोग आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश सरकार की नींव को हिला देने का सर्वप्रथम प्रयास सतगुरु रामसिंह ने किया था । डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने सन् १९३५ में लिखे एक लेख में यह स्वीकार किया था कि असहयोग आंदोलन का सूत्रपात नामधारियों में सर्वप्रथम गुरु रामसिंह द्वारा ही किया गया । पंडित जवाहरलाल नेहरू भी यह मानते हैं कि इसी मार्ग पर चलकर कॉंग्रेस पार्टी ने देश को स्वतंत्रता दिलाने में सफलता प्राप्त की ।

गुरु रामसिंह की भक्ति और देश-प्रेम की भावनाएँ बचपन से ही प्राप्त थी । इनका जन्म सन् १८१८ में लुधियाना जिले के भैणी गाँव में एक बढ़ई के घर हुआ था । इनके पिता का नाम बाबा जस्सासिंह और माता का नाम सदाकौर था । प्रारम्भिक शिक्षा माता की गोद में बैठकर प्राप्त की और बहुत जल्दी ही इन्होंने गुरु-वाणियों तथा शब्दो को कंठस्थ कर लिया । घर से बाहर जाने का अवसर मिलता तो अपने साथियों के साथ बैठकर इन वाणियों को गाया करते थे । रात को सोते समय उनकी माँ भूत-पलीतों की कहानियाँ सुनाकर भयभीत नहीं करती थीं वरन् धार्मिक कहानियाँ सुनाती थीं जिससे देश प्रेम की भावना और सात्विक विचारधारा धीरे-धीरे विकसित होने लगी ।

अध्यात्म का रंग उन पर गहरा होता जा रहा था । सन् १८३६ में जब वे महाराज रणजीत सिंह की सेना में भरती हो गए, वहाँ भी सैनिक कार्यों से अवकाश मिलते ही वह गुरुद्वारा चले जाते थे और गुरुवाणी तथा धार्मिक प्रवचन सुना करते थे । समाज में गिरते हुये नैतिक स्तर को देख कर उनका हृदय बड़ा दुःखी था । वह सांसारिक झंझटों से दूर रह कर अपना सारा समय समाज की सेवा में बिताना चाहते थे ।

माँस-मदिरा तथा अन्य नशीली वस्तुओं के प्रयोग का वह विरोध करते थे अधिक दिनों तक वह सेना में कार्य नहीं कर सके । एक दिन सारा सामान छोड़ कर वह घर चले आए । पर घर भी उनका कार्यक्षेत्र न बन सका । वह सन् १८४१ में हजारा गए और वहाँ गुरु बालक सिंह से दीक्षा ग्रहण की । गुरु बालक सिंह उस समय गुरु गोविन्द सिंह की गद्दी पर ग्यारहवें स्थान पर विराजमान थे । उनके सात्विक विचारों से गुरु बालक सिंह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया और आगे चलकर वह उस गद्दी के बारहवें स्थान पर सुशोभित हुये ।

४.३३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

वह बहुत ही उदार विचारों के व्यक्ति थे । उन्होंने समाज की **नब्ज को देखा । उस समय** दहेज, माँसाहार, चोरी तथा अनैतिकता का साम्राज्य व्याप्त था । सर्वप्रथम उन्होंने विधवा विवाह की स्वतंत्रता दी और कहा जब पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार है तो पति की मृत्यु हो जाने पर विधवाओं को भी दूसरा विवाह करने का अधिकार होना चाहिये । उन्होंने समाज में देखा कि विवाह के नाम पर लोगों का हजारों रुपया बरबाद होता है, कितने ही माता-पिता अपनी लड़कियों का विवाह दहेज पिशाच के कारण नहीं कर पाते । इसके विरुद्ध गुरु रामसिंह ने वातावरण निर्मित करना प्रारम्भ कर दिया । माँस, मदिरा तथा अन्य नशीली वस्तुओं, झूठ और चोरी आदि के लिये भी निषेध किया ।

सूदखोर सवाया और ड्योढ़ा रुपया ब्याज से कमा-कमा कर अपनी तिजोरियाँ भर रहे थे, मनुष्यों की मजबूरी का फायदा उठाते थे । ऐसे लोगों से गुरु रामसिंह ने दुःखी-दरिद्र व्यक्तियों की सेवा के लिय निवेदन किया ताकि धन कुछ मुट्ठियों में जकड़ कर दुर्गन्ध न फैलाता रहे ।

अँग्रेजी दासता से मुक्त कराने तथा गौ-वध के कलंक को हटाने के लिए उन्होंने कूकावीरों का आह्वान किया और कहा ''अब समय आ गया है जब उन्हें देश और जाति की बिगड़ी स्थिति को सुधारने के लिए कमर कस कर तैयार हो जाना चाहिये ।''

गुरु रामसिंह का उद्देश्य ग्रंथ साहब तथा गुरुगोविन्द सिंह के संदेश का प्रचार-प्रसार करना था । उस समय अनेक सिखों को सामाजिक कुरीतियों ने जकड़ लिया था । धार्मिक दृष्टि से उनकी स्थिति बड़ी डाँवा-डोल हो गयी थी । गुरु रामसिंह ने उनकी स्थिति सुधारने के लिये भरसक प्रयत्न किया । सन् १८५७ में बैसाखी के पुनीत अवसर पर खांडे का अमृत तैयार कराके स्त्री और पुरुषों को अमृतपान कराया । अब तक स्त्रियों को दीक्षा न दी जाती थी । उन्होंने कहा जब दोनों में समान आत्मा का निवास है फिर उन्हें किसी कार्य से वंचित क्यों रखा जाये । प्रथम बार उन्होंने बैसाखी के उस विशाल मेले में स्त्रियों को भी दीक्षा दी ।

गुरु रामसिंह केवल धर्म प्रचारक या समाज सुधारक ही न थे वरन् सच्चे देश-भक्त भी थे । वह जानते थे कि अँग्रेजी शासन के अधीन रहकर धर्म प्रचार की बात तो दूर रही समाज सुधार का कार्य भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि अँग्रेज तो प्रत्येक कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखते थे ।

उन्होंने लोगों से कहा कि देश को अँग्रेजों की दासता से तब तक मुक्त नहीं किया जा सकता जब तक अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिये लोग तैयार नहीं हो जाते । उन्होंने सर्वप्रथम असहयोग आंदोलन को चलाया । उन्होंने नामधारियों से कहा कि 'अँग्रेजों के द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों, न्यायालयों, रेलगाड़ियों और डाकघरों का प्रयोग न करना चाहिए ।' हम विदेशी वस्त्रों को न पहनें और न अँग्रेजों के अधीन किसी प्रकार की नौकरी स्वीकार करें ।

उन्होंने आन्दोलन की दृष्टि से सम्पूर्ण पंजाब को २२ गुप्त विभागों में बाँटा था और डाक की ऐसी अच्छी व्यवस्था की थी कि गुरु रामसिंह का प्रत्येक सन्देश बहुत जल्दी ही प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुँच जाता था । अप्रैल १८६३ तक अँग्रेज अधिकारी इस आन्दोलन को धार्मिक ही समझते रहे पर बाद में इस आन्दोलन की गतिविधियों को देखकर शंका प्रकट की जाने लगी ।

अँग्रेज अधिकारी मि. डानोवन ने सन् १८६३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुये कहा कि ''रामसिंह ने हमारे विरुद्ध दो लाख व्यक्तियों को विद्रोह करने के लिये संगठित कर लिया है और बहुत शीघ्र ही वे हम लोगों को पंजाब से बाहर निकाल देना चाहते हैं । नामधारियों की शक्ति बढ़ती जा रही है और सभी सिक्ख इस पथ के अनुयायी होते जा रहे हैं । यह भीषण कुचक्र एक दिन आंदोलन के रूप में बदल सकता है । अतः भयानक उथल-पुथल की स्थिति से बचने के लिये हमारी सरकार को अभी से सावधान हो जाना चाहिये और उदारता की नीति को परिवर्तित कर देना चाहिये ।''

अम्बाला डिवीजन के कमिश्नर मि. फोरसीथ ने इससे ४ वर्ष बाद सन् १८७२ में इस आन्दोलन की गतिविधियों से भयभीत होते हुये कहा कि ''नामधारियों ने अपने दूत भारत की सीमाओं से बाहर नेपाल, काबुल तथा रूस तक भेजे हैं और उनके अनुयायी इस बात का प्रचार-प्रसार बड़े जोर से कर रहे हैं कि अब अपना राज्य शीघ्र ही स्थापित होने वाला है ।''

कूकापंथी अपनी गतिविधियों को और तेज करते जा रहे थे । पराधीनता के वातावरण में उनका दम घुट रहा था । गुरु रामसिंह का एक शिष्य ब्रह्मसिंह अँग्रेजी राज्य को समूल नष्ट करने के लिये कमर कस कर तैयार हो गया । उसने घोषणा भी कर दी कि हम सम्वत् १९२८ के कार्तिक और अगहन मास में युद्ध करेंगे ।

इतना कहना था कि ब्रह्मसिंह अँग्रेजों का जानी दुश्मन माना गया । इस आन्दोलन को कुचलने के लिये अँग्रेज अपनी कूटनीति का सहारा लेने लगे । सबसे पहले उन्होंने गौ-वध की बात उठाकर हिन्दू मुसलमानों में भेद डालना शुरू किया । इसके बाद बर्बरतापूर्ण ढंग से नामधारी बहादुरों को तोप के सामने खड़ा करके उड़ाया जाने लगा ।

भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास में १७ जनवरी, १८७२ का दिन शहीद दिवस के नाम से जाना जाता है । इस दिन मलिर कोटला में नामधारी वीरों ने अपने जीवन की आहुति दी थी । कूकावीर अलग-अलग टोलियों में जयघोष करते हुये आते और तोप के सामने सीना खोल कर खड़े हो जाते और दूसरे ही क्षण वह वीर सेनानी तोप से उड़ा दिये जाते ।

गुरु रामसिंह भी अँग्रेजों की तोप के सामने खड़े किये गये । उन्होंने सतगुरु के चरणों का स्मरण किया और सदैव के लिये मातृभूमि पर बलिदान हो गये । उनकी यशगाथा शताब्दियों तक मातृभूमि पर मर मिटने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा देती रहेगी ।

आत्मनिर्माण के आचार्य—श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय

संसार में असंख्यों ऐसे महान् पुरुष हो गये होंगे जिनको संसार न जान सका। कहना न होगा कि ख्याति, कीर्ति, यश और पूजा से दूर रह कर यथासाध्य समाज की सेवा कर के संसार से चले जाने वाले मौन-साधक उन तथाकथित सिद्धों से कहीं अधिक महान् होते हैं जो अपनी सेवाओं का मूल्य कम से कम प्रशंसा के रूप में तो प्राप्त करने का प्रयत्न किया ही करते हैं ।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक ऐसे ही मौन साधक थे । उन्होंने अपने जीवन का अणु क्षण देश व समाज की सेवा में समर्पित कर दिया किन्तु कभी भी यह न चाहा कि लोग उनकी प्रशंसा करें । उन पर श्रद्धा के फूल चढ़ायें ।

श्री मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, मोती लाल नेहरू, सी. वाई. चिन्तामणि, द्विजेन्द्र नाथ, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रफुल्ल चन्द्र राय, सी. एफ. एण्ड्रूज तथा भगिनी निवेदिता के समकक्ष जैसे युग-व्यक्तित्वों के समकक्ष श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय कोई जन्मजात बड़े आदमी नहीं थे । उनके समय में बहुत ही कम व्यक्ति ऐसे थे जो साधारण स्थिति में जन्म लेकर अपने परिश्रम, पुरुषार्थ एवं अध्यवसाय के बल पर सम्मान उपार्जित कर सके हों । अन्यथा उस समय के लगभग सभी शिखरस्थ व्यक्ति प्रचुर साधन-सम्पन्न परिवारों में जन्मे थे । उनके जीवन विकास में कोई अभाव जैसा प्रतिरोध कभी नहीं आया । साधनों की प्रचुरता का समुचित उपयोग करके उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचना एक बात है और अभावों के बीच आशा और उत्साह का सम्बल लेकर तिल-तिल मार्ग तय करते हुये ध्यानाकर्षक स्थिति में पहुँचना एक दूसरी बात है ।

जहाँ एक ओर लोग अपने अल्प ज्ञान को नाटकीयपूर्ण ढंग से सामने रखकर समाज में अपनी प्रतिष्ठा का निर्माण किया करते हैं और कोई नगण्य सेवा कार्य भी हार फूलों से सजा कर समय समय तथा स्थान-स्थान पर लोकेषणा से प्रेरित होकर प्रदर्शित करने में तत्पर रहते हैं वहाँ श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने केवल कार्य करने की इच्छा से सदा ही आत्मगोपन किया । जिनको काम करने की लगन होती है, जो वास्तव में कर्म-योगी होते हैं वे अपने समय, सम्मान और विचार विभूति को उपासकों की निरुपयोगी श्रद्धा भक्ति से बचाने के लिए अपने को अधिक से अधिक छिपाने का प्रयत्न करते हैं । इसके विपरीत जिनको नाम की लगन होती है लोकेषणा और ख्याति-तृष्णा होती है वे काम छोड़ कर नाम के लिये स्वयं ही आत्मप्रकाशन किया करते हैं ।

जिन रामानन्द चट्टोपाध्याय ने बी. ए. पास कर प्रयाग विश्व-विद्यालय से फेलोशिप प्राप्त की और लगभग एक दर्जन पत्रिकाओं का सफल सम्पादन किया, उन्होंने जब पाठशाला में पदार्पण किया उस समय वे शिक्षा-शुल्क दे सकने में असमर्थ थे । निदान एक निःशुल्क (फ्री स्कूल) पाठशाला में प्रवेश लेना पड़ा । किसी फ्री स्कूल में प्रवेश लेना किसी के लिये भी अप्रतिष्ठा का प्रसंग था, किन्तु ज्ञान के भूखे रामानन्द चट्टोपाध्याय को प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा से क्या मतलब था । एक तो किसी शिक्षार्थी बटुक का इससे कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर उनका ध्येय तो शिक्षा प्राप्त करना था न कि प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा की देखभाल करना । किसी महान् उद्देश्य के लिये आवश्यकता पड़ने पर स्वाभिमान की परिधि से निकल कर दो कदम अवमान्य की ओर चल लेना कोई निन्दा का विषय नहीं है बल्कि निरहंकारिता का सूचक कार्य है जो हर प्रकार से सराहनीय है । शुभ कार्य में आड़े आया हुआ स्वाभिमान वास्तव में स्वाभिमान नहीं अहंकार अथवा दम्भ ही होता है जो माध्यमिक लगन वाले व्यक्ति को प्रायः पदच्युत कर ही देता है ।

प्रारम्भिक पाठशाला में बालक रामानन्द का कार्य किसी प्रकार चलता रहा, किन्तु दस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसे आर्थिक कठिनाई के काँटे अधिक खटकने लगे । चेतनाशील चट्टोपाध्याय ने स्वावलम्बन का सहारा लिया । उसने अपने पाठ्यक्रम के अतिरिक्त घोर परिश्रम करके एक छात्रवृत्ति परीक्षा उत्तीर्ण की जिसके फलस्वरूप उसे चार रुपये मासिक की वृत्ति मिलने लगी ।

स्वावलम्बन पूर्ण पुरुषार्थ का मीठा फल पाते ही बालक का विश्वास इस दिशा में उद्दीप्त हो उठा और उसने अपने जीवन में परिश्रम की प्रतिस्थापना कर ली । जिस विद्या विभूति की एक शिशु किरण ने उसके जीवन में आलोक की खिड़की खोल दी उसका मध्याह्न कितना प्रकाश पूर्ण होगा ? इसका अनुमान लगाने में रामानन्द को अधिक कठिनाई नहीं हुई ।

अध्ययन एवं अध्यवसाय में लगे हुए रामानन्द की आत्मा-'विद्या-विद्या-विद्या' का मंत्र जपती हुई उन्हें उसी ओर बढ़ाने लगी जिससे उसकी प्रतिभा उत्तरोत्तर प्रखरतम होती चली गई और वह पाठशाला का एक चमकीला छात्र गिना जाने लगा ।

अँग्रेजी की दूसरी कक्षा में एक बार देश के ख्यातिनामा विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने रामानन्द की प्रतिभा से पुलकित होकर उसका चमत्कार देखने के लिये बड़े ही जटिल प्रश्नों से उसकी परीक्षा ली । अपने परिश्रमी स्वभाव और निष्ठापूर्ण लगन के कारण सदैव सन्नद्ध बालक रामानन्द ने वह चुनौती स्वीकार की और अँग्रेजी में पिच्यानवें प्रतिशत अंक लाकर श्री दत्त को यह सोचने पर विवश कर दिया कि क्या वे अपने बाल्यकाल में कभी किसी परख परीक्षा में इतने अंक ला सके थे ?

सत्रह वर्ष की स्वल्प आयु में रामानन्द ने न केवल प्रवेशिका की परीक्षा ही उत्तीर्ण की बल्कि सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में आवश्यक पुस्तकों तथा अन्य सामग्री का अभाव होते हुए भी चौथा स्थान पाया । रामानन्द की यह सराहनीय सफलता बीस रुपये मासिक की छात्रवृत्ति में फलीभूत हुई जिससे वे अपने बड़े भाई रामशंकर चट्टोपाध्याय की पीठ पर से अपना सम्पूर्ण भार हटा लेने में कृत-कृत्य हुये और मितव्ययिता के साथ अपने अध्ययन का कार्यक्रम सुविधापूर्वक चला सकने में आत्मनिर्भर हो गये ।

प्रवेशिका की परीक्षा देने से पूर्व ही उनके पिता का देहावसान हो चुका था जिसके सोच ने रामानन्द का जीवन और भी सजग एवं सचेष्ट बना दिया। रामानन्द सारा काम अपने हाथ से करते थे और अपने पर कम से कम खर्च किया करते थे। वे केवल दस रुपये में अपने भोजन-वस्त्र और पढ़ाई का खर्च चलाते थे। तेल की बचत के लिए वे अपना सारा काम दिन में ही पूर्ण कर लिया करते थे।

छात्र जीवन में भी रामानन्द चट्टोपाध्याय का स्वच्छता एक विशेष गुण था। अत्यधिक अर्थाभाव के बीच भी उनके वस्त्र चाँदी की तरह स्वच्छ तथा चमकदार रहा करते थे। उनके वस्त्रों को देखकर अनेक साथियों को सन्देह हुआ कि इनके पास कई जोड़े कपड़े होंगे। उन्होंने एक दिन अवसर पाकर सन्दूक खोला तो पता चला कि एक जोड़ा कपड़ों के अतिरिक्त उनके पास कोई दूसरा वस्त्र न था। उनके साथियों ने वस्त्रों का सीमान्त अभाव होने पर भी उनकी शुभ्र वस्त्रता का रहस्य पूछा। उन्होंने साथियों को बतलाया कि वे नित्य प्रति अपने वस्त्रों को स्वयं ही धोते हैं और बड़ी परवाह के साथ पहनते हैं। मुझे गन्दगी से घोर घृणा है, इसमें दरिद्रता का निवास रहता है और इसलिए इससे बचने के लिए मैं नित्य घण्टा, आध घण्टा वस्त्रों पर परिश्रम किया करता हूँ। गन्दगी तथा मलीनता, बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति को मन्द बुद्धि बना देती है। गन्दगी से बचना छात्र जीवन की पहली शर्त है।

एफ. ए. पास करने पर उन्हें पच्चीस रुपये मासिक वृत्ति मिलने लगी और कलकत्ता के सिटी कॉलेज से बी. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने पर स्टेट स्कॉलरशिप देकर उन्हे विलायत भेजे जाने के प्रस्ताव होने लगे। किन्तु जब यह प्रस्ताव श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय के सम्मुख आया तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया। अनेक हितैषियों ने उनकी इस इन्कारी को बुद्धिमत्ता नहीं माना और विलायत चले जाने के लिये दबाव डालने लगे। विलायत हो कर आने पर एक ऊँची सरकारी नौकरी की निश्चित सम्भावना को तिलांजलि न देने के लिये अनुरोध करने लगे। किन्तु स्वाभिमानी, देशभक्त श्री रामानन्द ने यह कहकर सब का समाधान कर दिया कि मैं सरकारी छात्रवृत्ति पर विलायत जाने की कृतज्ञता रूप सरकारी दासता नहीं कर सकता। जिस पुनीत विद्या को मैंने बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है उसे देश में विदेशी शासन की सहायता मे लगा कर कलंकित नहीं करना चाहता, इसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से मैं स्वयं अपने देश और समाज की सेवा करूँगा।

जहाँ तक ऊँचे ओहदे और धने वेतन का प्रश्न है उसकी मुझे कोई कामना नहीं है। जनसेवा को मैं सबसे ऊँचा पद और सन्तोष पूर्ण मितव्ययिता को सबसे बड़ी सम्पन्नता मानता हूँ। अपने अभाव की पराकाष्ठा में जो धन हमें लालायित न कर सका वह भला अब क्या लालायित कर सकता है, जब संसार की समृद्धियों की मूल विद्या देवी की कृपा प्राप्त कर चुका हूँ।

निदान उन्होंने आई. सी. एस. की सम्भावना को छोड़ कर सिटी कॉलेज में अवैतनिक शिक्षक के रूप में अपना सेवा कार्य प्रारम्भ किया और इस प्रकार अपने शिक्षा मन्दिर का ऋण चुकाते हुये कायस्थ कॉलेज में एक घण्टा पढ़ाकर पाते हुए सौ रुपये मासिक में अपना काम चलाने लगे, अनन्तर शिक्षा क्षेत्र में से पत्रकारिता के क्षेत्र में उतर आये। विद्यालयों में निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त वे विद्यार्थियों को अपनी ओजस्वी विचारधारा मे दीक्षित न कर सकते थे। अपने विचार जन-जन तक पहुँचाने और स्वतन्त्र रूप से उनकी सेवा कर सकने के लिये अध्यापन के सीमित क्षेत्र से निकल पत्रकारिता के व्यापक, विस्तृत एवं विचार प्रधान क्षेत्र मे आ गये।

सबसे पहले उन्होने अमर चन्द बसु द्वारा प्रकाशित 'ब्राह्म बन्धु' नामक मासिक पत्रिका का कार्य अपने हाथ में लिया। अनन्तर 'ब्राह्मो पब्लिक ओपीनियन', 'इण्डियन मेसेन्जर' तथा 'तत्त्व कौमुदी' नामक पत्रों का सम्पादन सँभाला। 'शिशु पाठ', 'इण्डिपेन्डेन्ट', 'मार्डन रिव्यू' आदि पत्रिकाओं का भार उन्हें अनुरोधपूर्वक सौंपा गया।

जहाँ तक इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन का सम्बन्ध है उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि जिस पत्र-पत्रिका को श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय का सम्पर्क प्राप्त हुआ वे अपने समय की क्रान्तिकारी पत्रिकायें बन गईं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जिस समय श्री चट्टोपाध्याय के विचार प्रकाश में आये तो क्या देश और क्या विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो उठा।

स्वाभिमानी चट्टोपाध्याय ने अपने विचार स्वातंत्र्य के लिये अपने को किसी भी स्थिति में बेचा नहीं। जिस समय वे 'लीग ऑफ नेशन्स' के कार्य निरीक्षक बन कर जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड, चैकोस्लोविया, आस्ट्रेलिया और इटली आदि देशो के दौरे पर गये उस समय उन्होंने लीग ऑफ नेशन्स से अपना भ्रमण व्यय नहीं लिया। जहाँ उनके इस त्याग मे निःस्वार्थ सेवा का भाव था वहाँ यह विचार भी था कि यदि वे 'लीग ऑफ नेशन्स' से अपना व्यय ले लेंगे तो एक प्रकार से उसके वेतनभोगी बन जायेंगे और तब ऐसी दशा में उसकी निष्पक्ष आलोचना न कर सकेंगे।

विश्व ख्याति और विश्व प्रतिष्ठा के व्यक्ति होने पर भी श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय बड़े ही सरल एवं निरहंकारी पुरुष थे। श्री क्षीरोद चन्द्र पाल, शरतचन्द्र राय तथा उनकी पत्नियों एवं सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने मिलकर पथभ्रान्त तथा रोगी व्यक्तियों की सेवा-सुश्रूषा करने के लिये एक आश्रम की स्थापना की। इस आश्रम का नाम 'दासाश्रम' रखा गया। इस आश्रम के संस्थापक सभी कुलीन ब्राह्मण वंश के थे। अतएव उन पथहीनों, नीचों तथा रोगियों की सेवा करने में सबको संकोच हो रहा था।

निरहंकार चेतन तथा सच्चे सेवा भावी श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने उस समस्या का समाधान बड़ी सरलता से कर दिया। उन्होंने कहा— ब्राह्मणत्व अथवा क्षत्रियत्व का तो अधिकारी मैं नहीं हूँ। मैं

तो अपने को एक सेवक एक शूद्र समझता हूँ। अतएव आश्रम का सेवा कार्य मुझको सौंप जाना चाहिये। श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय स्वयं भी एक कुलीन ब्राह्मण थे किन्तु अन्यों की तरह वे संकुचित तथा संकीर्ण भावना वाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने ज्ञान के प्रकाश में सेवा के महत्त्व को समझा और ऊँच-नीच, ब्राह्मण, शूद्र आदि की रूढ़ि भावना की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्त्व दिया।

आत्मविश्वास, परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बल पर आत्म निर्माता श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय एक साथ विद्वान् सेवक, अध्यापक, नेता और पत्रकार आदि सभी कुछ थे।

इनका जन्म बंगाल प्रान्त में बाँकुड़ा की पाइक पल्ली में सन् १८६५ की १६ ज्येष्ठ तिथि को हुआ था।

स्वामी विद्यानन्द—समाज की पीड़ा जिन्हें संन्यास से खींच लाई

विद्यानन्द जी का जन्म आन्ध्रप्रदेश के केरीगुड़ा कस्बे में सन् १९०२ में हुआ था। पिता नरहरि बलवन्त पडियार और माता अंचला साधारण गृहस्थ थे और धर्म के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था भी थी। उन्होंने अपने बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारवान बनाने का हर सम्भव प्रयत्न एक सच्चे अभिभावक की ही भाँति किया। लालन-पालन, लाड़-प्यार में भी बेचारों ने कोई कमी नहीं की।

तो भी २५वें वर्ष की आयु में पैर रखते ही विद्यानन्द ने वल्लभ मतानुयायी महात्मा केशव-सुत से संन्यास दीक्षा ले ली और गृह-परित्याग कर दिया। यह दोष न तो उनके संस्कारों का था न धर्मपत्नी और माता-पिता का, वरन् हमारी सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति है ही ऐसी कि कोई भी अल्प-विकसित व्यक्ति उसमें भटक ही सकता है। धर्म का एक ही स्वरूप है, अन्धी श्रद्धा और अन्ध-भक्ति— जिसमें जीवन की शुद्धता और पवित्रता को स्थान नहीं इतना ही शेष रह गया है। बालक विद्यानन्द को भी तो यही बताया गया था कि संसार मोह है, मिथ्या है, भ्रम-जाल है, इसे दुर्गन्ध की तरह परित्याग करके केवल ईश्वर भजन ही करना चाहिये। फिर यदि भरी जवानी में उन्होंने अपनी धर्मपत्नी और परिवार का परित्याग कर दिया तो इसमें उनका क्या दोष था? आज इन्हीं मूढ़ मान्यताओं के कारण सैकड़ों अपरिपक्व बुद्धि, कमजोर मानस के बच्चे तरुण और प्रौढ़ नासमझी में बाबा बनते चले जा रहे हैं और सुरसा के मुँह की तरह संन्यासियों, सन्तों, महात्माओं का परिवार बढ़ता चला जा रहा है।

विद्यानन्द जी का परिव्राजक जीवन प्रारम्भ हुआ। तीर्थाटन में उन्हें सैकड़ों सजातीय सन्तों से भेंट हुई पर उनके बिगड़े स्वभाव, बुरे आचरण और मिथ्या दम्भ को देखकर उनके हृदय में प्रारम्भ में जो ईश्वर दर्शन की जिज्ञासा उठी थी वह धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। एक दिन उन्होंने महात्मा गाँधी जी से भेंट की। अन्तःकरण की आकुलता उनके सामने व्यक्त की तो बापू जी ने उन्हें समाज सेवा की प्रेरणा देते हुये बताया— "परमात्मा का एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक स्वरूप है" उसे साधना और स्वाध्याय के द्वारा जाना और अनुभव तो किया जा सकता है, पर मनुष्य सांसारिक कर्त्तव्य पालन को तिलांजलि देकर उसकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता। संसार न माया है, न मिथ्या। माया-जाल तो मनुष्य की वासनायें और तृष्णायें हैं, इन्हें जीता जा सके तो क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी किसी को भी ईश्वर बड़े मजे से मिल सकता है।"

विद्यानन्द बापू की बातों से बहुत प्रभावित तो हुये पर उनके साथ और भी साधु थे जो अपने कथन की पुष्टि निरन्तर किया करते थे। फलस्वरूप विद्यानन्द जी का अपना कोई विचार नहीं बदला, हाँ वे यह अवसर अवश्य ढूँढ़ते रहे कि यदि संन्यास लिया ही है तो हमें सच्ची आत्मशक्ति और ईश्वर दर्शन की अभिलाषा तृप्त करनी ही चाहिये। इसके लिये वे गीता, रामायण, भागवत सब कुछ पढ़ते थे, पर उन्हें न कभी शान्ति मिली और न सन्तोष या आत्म साक्षात्कार ही हुआ।

एक दिन विद्यानन्द हरिद्वार में एक कुटी के भीतर बैठे कुछ विचार कर रहे थे, तभी एक स्त्री बाबाओं-भिखारियों को पैसा बाँटती निकली। उस स्त्री ने एक ओर बैठे पास-पास दो बाबाओं की ओर दो पैसे और एक आने के दो सिक्के फेंके। दोनों साधु पैसा उठाने को लपके। एक को इकन्नी मिली दूसरे को आध आना तो परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ कि उसने इकन्नी मुझे दी। दोनों ही पक्ष अपने को इकन्नी प्राप्त करने का अधिकारी बताने लगे। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि चीमटों से मारा-मारी होने लगी जिससे एक बाबा का सिर फूट गया और उसे अस्पताल भेजना पड़ा।

इस घटना ने विद्यानन्द को वर्तमान साधु-वृत्ति से उलटा विचार करने की प्रेरणा दी। उन्होंने सोचा क्या यही श्रेयार्थी समाज के मार्ग-दर्शक महात्मा है, जो संसार को तो माया और मिथ्या बताते हैं, पर स्वयं एक कोड़ी के लिये सर-फुटबॉल तक कर सकते हैं। अन्तःकरण पाप दुर्वासनाओं और कुत्सित विचारों से भरा पड़ा हो तो धिक्कार है, ऐसे साधुपन को। उससे तो सीधे-सादे गृहस्थों का जीवन ही अच्छा, जो अपने परिश्रम की कमाई खाते हैं और परिवार तथा बच्चों की सेवा कर लेते हैं।

विचार की दिशा बदल ही रही थी कि एक और घटना वाराणसी में घटी। उन दिनों वे मणिकर्णिका में किसी गृहस्थ के यहाँ ठहरे थे। वहीं पड़ोस में एक साधु के प्रवचन हुआ करते थे। विद्यानन्द कुछ जानने की अभिलाषा से कई दिन उसमें सम्मिलित हुये पर एक दिन जब साधु का वहाँ आगमन न हुआ तो उन्होंने उनकी तलाश की। पता चला कि वे जहाँ ठहरे थे, उसी घर की किसी क्वारी कन्या का शीलभंग करने के प्रयास में पकड़ गये। वहाँ उनकी खूब पिटाई हुई और वे चुपचाप रात में कहीं भाग गये।

यह सुनते ही विद्यानन्द जी का मन संन्यास के प्रति घृणा से भर गया। एक दिन वे आरा के किसी गाँव में भिक्षाटन कर रहे थे।

जिस घर में भीख के लिये आवाज लगाई, वह किसी अत्यन्त निर्धन गृहस्थ का घर था। घर की स्त्री जो निर्धनता और सामाजिक अत्याचारों के कारण अत्यन्त दुर्बल और कृशकाय हो रही थी, घर से थोड़े चावल लेकर निकली। पीछे उसका छोटा बच्चा भूख-भूख चिल्लाता हुआ फटी धोती पकड़े चला आ रहा था। बच्चे का करुण रुदन सुनकर भावुक विद्यानन्द अधीर हो उठे।

हाथ में भिक्षा लिये उस स्त्री की धर्म के प्रति ऐसी प्रगाढ़ आस्था देख कर उनका मन किया कि उसे धनवान होने का आशीर्वाद दे दें, पर भीतर से किसी ने कहा— विद्यानन्द आशीर्वाद से किसी की स्थिति बदल देने की शक्ति तुम साधुओं में रही होती तो आज देश की यह दुर्गति न होती, जो तुम ४ साल के देशाटन में देख चुके हो। यदि तुम किसी का भला नहीं कर सकते तो किसी पर आश्रित रहना भी पाप है।

विद्यानन्द का विचार एकदम बदल गया। अब उन्होंने निश्चय किया कि वे सच्चे हृदय से गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये समाज की सेवा करेंगे। अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार वे एक दिन अपने घर लौट आये और बाह्याडम्बर का जो चोला था उसे उतार कर बाहर फेंक दिया।

धर्मपत्नी की तो प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने परमात्मा को अपना सुहाग लौटा देने के लिये कोटिशः धन्यवाद दिया, पर गाँव वालों में विद्यानन्द के उपहास का तूफान आ गया। लोग पूछते- भाई माया-जाल में ही रहना था तो यह सब बाना क्यों बनाया था। विद्यानन्द मुस्करा देते, प्रतिवाद या उत्तर देना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

शीघ्र ही लोग समझे कि उनकी वह गम्भीर मुस्कराहट तथ्य और आशयपूर्ण थी। अब तक गाँव में एक भी स्कूल न था। दो-चार ही ऐसे साधनसम्पन्न और साहसी लोग थे जो बच्चों को पढ़ाने के लिये वहाँ से १५ मील दूर भेजते थे। विद्यानन्द जी ने गाँव में एक पाठशाला चलाई। प्रारम्भ में उसमें कुल ३ विद्यार्थी थे पर उनकी मेहनत, त्याग और तपश्चर्या के फलस्वरूप अन्त में यह विद्यालय बालक-बालिकाओं की शिक्षा का उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बना। वहाँ बच्चों को नैतिक शिक्षा, धर्म और अध्यात्म के सही स्वरूप को समझाने की भी व्यवस्था रखी गई।

इसके बाद विद्यानन्द ने कृषि कार्य से अपनी आजीविका कमाते हुये, आस-पास के गाँवों और सारे प्रान्त में सैकड़ों स्कूल खुलवाये व स्त्री शिक्षा का खूब प्रसार किया। स्वयं भी प्रतिदिन अपनी धर्मपत्नी को एक घण्टे पढ़ाते थे, उनकी योग्यता यहाँ तक बढ़ी कि गाँव में लड़कियों के स्कूल की प्राध्यापिका भी वही नियुक्त हुई।

नैतिक शिक्षण के उद्देश्य से विद्यानन्द ने प्रत्येक शिक्षा संस्था के साथ एक-एक पुस्तकालय चलाया। ६० वर्ष की आयु तक विद्यानन्द जी ने समाज की सम्पूर्ण हृदय आत्मा से सेवा की उसके प्रतिफल आज परिलक्षित हो रहे हैं। लोग बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करते हैं और उनके साहस, सेवा-भाव और सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हैं।

ooo

पीड़ित मानवता के अनन्य सेवक

मानवीय मूल्यों के संस्थापक—डॉ. किंग

डॉक्टर मार्टिन लूथर किंग अपनी निराशा तथा कमजोरी को छिपाये हुए भाषण दिये जा रहे थे। श्रोताओं पर आशा के अनुरूप प्रभाव नहीं पड़ रहा था। तभी अचानक गिरजाघर के द्वार पर मदर पोलार्ड नामक एक महिला आकर खड़ी हो गई, उन्होंने डॉक्टर किंग को बड़े प्यार से बुलाया, वह आये और भाव-विभोर होकर उनके गले से चिपट गये।

मदर पोलार्ड ने पूछा— 'बच्चे! आज क्या बात है? तुम्हारी वाणी में जो शक्ति होनी चाहिए वह अभी सुनाई नहीं दे रही थी। क्या तुम गोरों से परेशान हो गये हो अथवा हम लोगों का तुम्हें पूरा-पूरा सहयोग नहीं मिल रहा है?'

डॉ. किंग ने अपनी झेंप मिटाते हुए कहा— 'मदर ऐसा तो कुछ भी नहीं है। मेरी वाणी तो सदैव की तरह आज भी सशक्त है।'

मदर पोलार्ड ने समझाते हुए कहा— 'मैं तुमको बार-बार समझाती रही हूँ कि हम लोगों का पूरा-पूरा सहयोग तुम्हें सदैव प्राप्त होगा। थोड़ी देर को यदि यह मान भी लें कि हम तुम्हारा साथ नहीं दे रहे हैं तो ईश्वर पर सदैव भरोसा रखना चाहिए, वह निश्चित रूप से हर भले काम का साथ देता है।'

ये वे शब्द थे जो डॉक्टर किंग के कानों में जीवन भर गूँजते रहे। उन्हें ईश्वर के प्रति आस्तिकता ने ही कठिन से कठिन परिस्थितियों से जूझने का साहस प्रदान किया था। ऐसे साहस के धनी डॉ. किंग का जन्म अमरीका की नीग्रो जाति में हुआ था। सन् १९५४ तक इस जाति के लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार न था, उनके लिए स्कूल अलग होते थे। किसी बस से यात्रा करनी हो तो उन्हें सबसे पीछे की सीट दी जाती थी। होटल और रेस्तरां आदि में वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। अछूतों की तरह उनकी बस्तियाँ अलग होती थीं। डॉ. किंग ने जब नीग्रो जाति की इस पतित अवस्था को देखा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ और उन्होंने इस जाति के लोगों में साहस और चेतना का ऐसा संचार किया कि वे इन सामाजिक बुराइयों का मुकाबला स्वयं अपनी शक्ति से कर सकें।

डॉ. किंग बचपन से ही थोरो के साहित्य का अध्ययन करते रहे थे। इसी की प्रेरणा से उनके मन में यह विश्वास जम गया था कि नीग्रो जाति के लोगों को पराधीनता की स्थिति से मुक्ति दिलाने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह है— प्रेम और अहिंसा के द्वारा प्रतिरोध का। अब्राहम लिंकन के वे शब्द भी उन्हें अच्छी तरह याद थे कि अमरीका आधा स्वतन्त्र और आधा परतन्त्र रह कर अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता।

डॉ. किंग ने जब गाँधी जी के साहित्य तथा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास को पढ़ा तो उनकी दृष्टि बदल गई, उस समय वह आर्किमिडीज की तरह चिल्ला पड़े— 'मिल गया-मिल गया।' और सचमुच उन्हें सिद्धांत ईसा से और मार्ग गाँधी से मिल गया था। वह समझ गये थे कि जब भारतवासी हिंसा और शस्त्र बल से देश को स्वतन्त्र नहीं करा सके फिर नीग्रो जाति इस मार्ग पर चलकर अमरीका में नागरिक अधिकार कैसे प्राप्त कर सकती है? उन्होंने प्रेम के वातावरण की आवश्यकता अनुभव की। ईसा, बुद्ध और गाँधी की तरह उनका विश्वास था कि घृणा को घृणा के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। इससे आत्मा मलीन होती है और व्यक्तित्व कुण्ठित। प्रेम की शक्ति से ही शत्रु मित्र बन सकते हैं जब कभी शारीरिक शक्ति से, जो कि पाशविकता की प्रतीक है लोहा लेना पड़े तो हमें आध्यात्मिक शक्ति का ही आश्रय लेना होगा। क्योंकि यही शक्ति मानव-मानव के मध्य की गहरी खाई को पाटने वाली है और घृणा को मिटाने वाली है।

सन् १९५५ में जब डॉ. किंग ने नीग्रो लोगों से बसों का बहिष्कार करने के सम्बन्ध में कहा तो अन्य लोगों को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि कभी ऐसा भी हो सकता है पर जब पचास हजार नीग्रो लोगों ने बसों में बैठना बन्द कर दिया तो बस कम्पनी का दिवाला निकलने लगा। यही वह प्रमुख घटना थी जिसने संसार का ध्यान डॉ. किंग की ओर आकर्षित कर दिया।

डॉ. किंग ने सारा जीवन ईसा मसीह के सन्देश को सारी मानव जाति तक पहुँचाने में लगाया था। वह भले ही नीग्रो जाति में जन्मे हों पर उनकी कार्यक्षमता और प्रतिभा किसी गोरे व्यक्ति से कम न थी। सन् १९६४ में ६५ वर्ष की आयु में उन्होंने नोबेल शांति पुरस्कार प्राप्त किया था। उन्होंने संसार की विभिन्न जातियों के मध्य जो एक सूत्रता को जन्म दिया वह आज के युग का अपने ढंग का अनोखा कार्य ही कहा जायेगा। वे ऐसी दीन-हीन पददलित जाति के लिए जीवन-भर अपनी सेवायें समर्पित करते रहे जो अमरीका में अधिकार-हीन मानी जाती थी। इस जाति को वाणी देने का श्रेय डॉ. किंग को ही है।

डॉ. किंग ने धर्म और विज्ञान का समन्वय करने का प्रयास किया था। वह कहते थे कि विज्ञान धर्म को तार्किक आधार प्रदान करता है और धर्म विज्ञान को नैतिक अराजकता के गर्त में गिरने से बचाता है। वह स्वयं आध्यात्मिक जीवन के प्रति निष्ठावान थे और लोगों

को सत्य का अनुसरण करने का सन्देश प्रदान करते थे। वह कहते थे मानव जीवन भले ही क्षण भंगुर हो पर उसे अविवेक के साथ न बिताना चाहिये। इस संसार को जीने योग्य वे ही व्यक्ति बना सकते हैं जो सत्य के प्रति अनुरागी, न्यायप्रिय तथा त्यागी वृत्ति के हों। वह गाँधी जी की तरह जीवन भर सत्य की खोज करते रहे और उसके लिए उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध का आश्रय लिया था। वह सही दृष्टि में ईसा के अनुयायी थे, उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि जो भी विरोधी होंगे उन्हें क्षमा किया जायेगा क्योंकि रंगभेद के आधार पर अमरीकी समाज में, दीवारें बनाई गई हैं और जो खाइयाँ खोदी गई हैं उनसे व्यक्ति अज्ञान के अभाव में भटक रहे हैं। इन्हें डॉ. किंग बुरे की संज्ञा न देना चाहते थे। उनकी नासमझी और अज्ञानता पर उन्हें तरस आता था। ऐसी स्थिति में उनके पास केवल एक मार्ग था अन्धकार को हटाना। वे नीग्रो जाति को संगठित तथा सशक्त बनाकर प्रेम का वातावरण निर्मित करने में लग गये।

डॉ. किंग कहा करते थे कि ८० वर्ष व्यर्थ जीने की अपेक्षा आधी जिन्दगी उद्देश्यपूर्ण ढंग से जीना कहीं अच्छा है और उनका यह कथन उनके जीवन पर ही लागू होते दिखाई देता है। यह केवल ३९ वर्ष का ही सार्थक जीवन जीकर महात्मा गाँधी और ईसा मसीह की तरह सत्य पर बलिदान हो गये। वह अन्धविश्वास और कुपरम्पराओं को मानव जाति की प्रगति के लिए सबसे अधिक बाधक मानते थे।

व्यक्तियों का मर्यादा-हीन जीवन देखकर उन्हें बहुत दु:ख होता था। वह अपने अनुयायियों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित करते रहते थे कि हमें अपने व्यक्तिगत आचरणों में आध्यात्मिक मूल्यों तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्थान देना चाहिये। वह प्राय: एक प्रश्न सभी से पूछा करते थे कि अपनी आत्मा अथवा चरित्र को दाँव पर लगाकर यदि सारे संसार की दौलत हमारे सामने रख दी जावे तो उसका क्या उपयोग होगा ? वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न है जो केवल अमरीकी लोगों से ही सम्बन्ध नहीं रखता वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के सम्मुख आज भी ज्वलन्त रूप में उपस्थित है।

उनका विश्वास प्रार्थना में तो था। वह प्रार्थना को आत्मा का भोजन कहकर पुकारते थे पर ईश्वर के द्वारा दी गई बुद्धि और कार्यक्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते थे क्योंकि आस्तिक व्यक्ति को पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

प्रिन्स क्रोपाटकिन—जो जीवन भर अन्याय से लड़ते रहे

नाटक का पर्दा बदलता है। जार निकोलस की अँधेरी रात दूर हो गई है और सैकड़ों निरपराध व्यक्ति फाँसी पर लटका दिये गये। हजारों जेल में ठूँस दिये तथा साइबेरिया में अपनी कब्र आप ही खोदने के लिए भेज दिये। सारे रूस पर आतंकवाद का साम्राज्य था। लेकिन भीतर ही भीतर रूस जाग रहा था। रूसी जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने अपने शासन सूत्र का संचालन भार दो जालिम अफसरों—ट्रेपोफ और जुकोतप को सौंप दिया था, वे चाहे जिसे फाँसी पर लटका देते और चाहे जिसे निर्वासित कर देते। लेकिन फिर भी क्रांतिकारी गुप्त समितियों की कार्यवाई रोकने में वे सफल नहीं हो सके। ऐसे घोर अशान्ति-मय वातावरण में एक अद्‌भुत किसान अदृश्य भूत की तरह इधर से उधर घूम रहा है। लेकिन उसे पकड़ सकना आसान नहीं है। जिन जुलाहों और मजदूरों के बीच वह काम करता है वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं हैं, वे सैकड़ों की संख्या में पकड़े जाते हैं। कुछ को जेल की सजा मिलती है और कुछ को फाँसी की परन्तु कोई भी उस किसान का नाम-पता बताने के लिए तैयार नहीं होता।

इन शब्दों में ए. जी. गार्डिनर ने जिस व्यक्ति का उल्लेख किया है वह बड़ी मुश्किल से पुलिस की गिरफ्त में आ सका और वह भी तब जबकि उसके साथी जुलाहों को उनके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं कर लिया गया। पुलिस और शासन को इस क्रांतिकारी किसान के वास्तविक स्वरूप की बिल्कुल भी जानकारी नहीं थी। वह तो यह समझती थी बोरोडिन नाम कोई व्यक्ति किसानों और जुलाहों को उसके विरुद्ध तैयार कर रहा है।

सन् १८७४ की घटना है। बसन्त की सुहानी सन्ध्या थी और सेन्ट पीटर्सबर्ग में स्थानीय और दूर-दूर से आये वैज्ञानिक ज्योग्राफिकल सोसायटी हाल में एकत्र हुए थे। उन दिनों फिनलैण्ड की यात्रा के निष्कर्षों पर प्रिंस क्रोपाटकिन भाषण दे रहे थे। जब प्रिंस ने अपना भाषण आरम्भ किया तो रूस के डाइल्यू वियल-जल-प्रलय के सम्बन्ध में भूगोलशास्त्रियों ने अब तक जो मान्यतायें स्थापित की थीं वे सब निराधार सिद्ध हुईं। उन्होंने एक के बाद एक प्रमाण और तर्क उपस्थित कर इस विषय में एक नवीन सिद्धान्त स्थापित किया। भाषण समाप्त होने के बाद हाल में उपस्थित सभी विज्ञान- वेत्ता प्रिंस का अमिट और अद्‌भुत प्रभाव लेकर लौटे। आज तक तो उनकी धारणा रही थी कि प्रिंस क्रोपाटकिन एक महान् गणितज्ञ हैं। भूगर्भ विद्या में भी उनका कितना गहरा प्रवेश है— यह आज ही पता चल सका था। उनके व्याख्यान का इतना प्रभाव हुआ कि उन्हें फिजीकल ज्योग्राफी विभाग जो ज्योग्राफिकल सोसायटी का ही एक अंग था, का सभापति मनोनीत किया गया।

ज्योग्राफिकल हाल से अपना भाषण समाप्त कर वे बाहर आये और अपनी गाड़ी में बैठकर आगे बढ़े। अभी कुछ दूर पर ही चल पाये होंगे कि एक दूसरी गाड़ी उनके पास से गुजरती हुई उनसे आगे निकल कर रुक गयी। उस गाड़ी में बैठे एक जुलाहे ने उचक कर प्रिंस की ओर देखते हुए कहा— मिस्टर बोरोडिन ! सलाम ! दोनों गाड़ियाँ रोक दी गयीं और क्रोपाटकिन विस्मित नेत्रों से जुलाहे की ओर ताकने लगे। तभी जुलाहे के पीछे से गाड़ी में बैठा हुआ खुफिया पुलिस का आदमी कूद पड़ा और बोला— मिस्टर बोरोडिन उर्फ क्रोपाटकिन— मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूँ। उस जासूस के इशारे पर पुलिस के कुछ और आदमी भी कूद पड़े। उनका विरोध करना व्यर्थ होता और क्रोपाटकिन गिरफ्तार कर लिये गये। बाद में उन्हें देश निर्वासन की सजा दे दी गयी और उन्हें अपनी मातृभूमि तथा वहाँ फैली हुई सम्पदा

और सम्पन्नता को छोड़कर ४१ वर्षों तक विदेशों में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। उनका अपराध केवल मात्र इतना था कि उन्होंने देश के लाखों-करोड़ों लोगों के दुःख-दर्द की चिन्ता की थी। तत्कालीन शासन-व्यवस्था जो जन-साधारण की समस्याओं और तकलीफों को हल करने के लिए बनायी जाती है— वास्तविक उद्देश्य से हटकर चन्द लोगों के शौक-मौज और सुख-विलास का साधन बनी हुई थी उसके विरुद्ध उन्होंने आवाज उठायी थी और इसी निर्दोष अपराध के कारण उन्हें देश निष्कासन भोगना पड़ा।

प्रिंस क्रोपाटकिन का जन्म १८४२ में रूस के एक समृद्ध, कुलीन और राजवंशी परिवार में हुआ था। उस समय जारशाही का युग था और जार का शासन अपनी विलासिता, पक्षपात, अनाचार, अत्याचार और अव्यवस्था के कारण रूसी इतिहास के पृष्ठों में सदा से एक कलंक की भाँति रहा है। प्रिंस क्रोपाटकिन आरम्भ में जार के बड़े प्रशंसक और कृपापात्र रहे। यही कारण था कि जब वे केवल आठ वर्ष के थे तो उन्हें जार ने अपना बाल पार्षद चुना। बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने रूसी तथा फ्रेंच भाषा का अध्ययन किया।

उन्होंने सैनिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की तथा गवर्नर जनरल के ए. डी. सी. बनकर साइबेरिया गये, वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा वह उनके व्यक्तित्व के मानवीय पक्ष को जाग्रत कर देने में सफल हुआ। साइबेरिया में उन दिनों जार के कोपभाजन बने लोगों को अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए जीवन के शेष दिन नारकीय दुर्दशा में गुजारने पड़ते थे। उन दिनों रूस में भी दास प्रथा का जोर था। गुलामों की खरीद, बिक्री और उनसे पशुवत व्यवहार की परम्परा जारी थी। कोई भी गुलाम अपने मालिकों के विरुद्ध जरा भी चूं करता तो उसे भयंकर यातनायें सहन करने के बाद साइबेरिया में जाना पड़ता। क्रोपाटकिन जब गवर्नर जनरल के ए. डी. सी. बनकर उस क्षेत्र का दौरा करने पहुँचे तो वहाँ की स्थिति देखकर उनका हृदय विद्रोह से भर उठा और उन्होंने तुरन्त शासकीय सेवा से त्यागपत्र दे दिया।

इसके बाद सेण्ट पीटर्स वर्ग यूनीवर्सिटी में पाँच वर्ष तक उन्होंने गणित और भूगोल का अध्ययन किया। जारशाही के छिद्र देखकर उनके हृदय में विद्रोह और क्रान्ति की जो भावना जागी थी उसे दिशा देने का ही साधना काल था वह। वे इन पाँच वर्षों तक लगातार सोचते रहे कि क्या किया जाना चाहिये तथा कैसे किया जाना चाहिए।

शिक्षा समाप्त करने के बाद वे अपने भविष्य जीवन के लिए निर्णायक रूप से कुछ सोच सके और निश्चित कर सके। उस समय उनकी ही-सी धारणा रखने वाले विभिन्न लोग भी थे जो रूस में जार के शासन का विरोध कर, क्रान्ति द्वारा उसे पलट देने की योजना तैयार कर रहे थे। प्रिंस ने ऐसे लोगों से सम्पर्क किया तथा उनके दल में सम्मिलित हुए। उनकी प्रतिभा, प्रभाव और सूक्ष्म बुद्धि से प्रभावित होकर क्रान्तिकारी पार्टी ने उन्हें यूरोपीय देशों में क्रान्ति की प्रक्रिया और पद्धति का अध्ययन करने के लिए भेजा। यूरोपीय देशों की यात्रा के दौरान उन्होंने अध्ययन तो किया क्रान्ति का परन्तु सरकार को गुप्त रखने के लिए यह बहाना भी पूरा किया जिसमें उन्होंने घोषित किया था कि वे भूगोल और गणित के उच्च अध्ययन हेतु विदेश यात्रा पर जा रहे हैं।

स्वदेश लौटकर वे अपने विचारों का प्रचार करने लगे। क्रान्ति उनका धर्म था— अवश्य परन्तु उनकी क्रान्ति की परिभाषा कुछ विशिष्टताओं से सम्पन्न थी। क्रान्ति की सामान्य परिभाषा में उचित अनुचित का इतना सूक्ष्म अन्तर नहीं समझा था। लेकिन प्रिंस क्रोपाटकिन ने सदा ही साधन और साध्य की पवित्रता पर जोर दिया। कलम और वाणी के माध्यम से उन्होंने ऐसी ही पद्धतियों का प्रचार किया जो मानवता से सीधा सम्बन्ध रखती थीं।

यद्यपि मेल-जोल उनका सभी से आत्मीयतापूर्ण था तथापि साधनों के चुनाव के विषय में वे सदैव कठोरता से काम लेते थे। उनके एक जीवन चरित्र लेखक मेरी गोल्ड स्मिथ ने लिखा है 'जो भी व्यक्ति प्रिंस क्रोपाटकिन से मिलने जाता था उसकी बात वे बड़ी प्रेमपूर्ण मुस्कराहट और सौम्य भावना से सुनते थे। परन्तु एक बात थी कि भले ही प्रत्येक ईमानदार और उत्साही व्यक्ति के प्रति उनका व्यवहार उदारतापूर्ण रहा हो तथापि साधनों का चुनाव करते समय वे बहुत ही कठोर हो जाया करते थे। प्रचार के कुछ ढंगों को क्रोपाटकिन असह्य मानते थे। अनुचित उपायों का जिक्र करते समय वे कठोर हो जाया करते। चाहे जैसे भले-बुरे साधनों द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के सिद्धान्त से उन्हें नफरत थी। चाहे संगठन का काम हो, चन्दा इकट्ठा करने का, विरोधियों से व्यवहार करना हो या दूसरी पार्टियों से सम्बन्ध बनाना किसी भी काम में अनुचित साधनों का प्रयोग वे किसी भी दशा में सहन नहीं कर सकते थे।'

विश्व इतिहास में इस प्रकार का एक और उदाहरण है— महात्मा गाँधी का। दुनिया के कई व्यक्तियों ने जिन्होंने प्रिंस की जीवन साधना और उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन किया है उनका साम्य महात्मा गाँधी के साथ ही स्थापित किया है। कई विषयों में महात्मा गाँधी ने भी प्रिंस क्रोपाटकिन के विचारों से प्रेरणा प्राप्त की। उनके शिक्षा, कृषि, शारीरिक श्रम और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों को महात्मा गाँधी ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया और अपनी विचारधारा तथा भारत की पुनर्निर्माण योजना का कार्यक्रम ही बना लिया। सन् १८९६ में जब टाइनसाइड के कुछ कार्यकर्ताओं ने कृषि संघ कायम कर खेती करने का निर्णय लिया तो क्रोपाटकिन ने उन किसानों को प्रोत्साहित किया और इस कार्य में आने वाले सम्भावित खतरों से भी आगाह किया।

लेकिन कहा जाता है कि किसी हिंसक डाकू से अहिंसक योद्धा अनीति और अन्याय के लिए खतरनाक होता है। यही कारण था कि उनके अहिंसक और शान्तिपूर्ण किन्तु विस्फोटक प्रचारों से रूस की सरकार भयभीत हो गई और उन्हें पकड़कर देश निकाला दे दिया। सन् १८७६ से १९१७ तक के इकतालीस वर्ष उन्हें अपने देश से बाहर निकालने पड़े। जार समझता था कि इस प्रकार क्रोपाटकिन का जोश ठण्डा पड़ जायेगा। परन्तु दण्ड और दमन ने न्याय और नीति के पक्षधरों का मुँह बन्द करने में कब सफलता पाई है। उन्हें

लोगों की बात और है जो इन अत्याचारों से घबराकर मुँह बन्द कर लेते हैं वस्तुत: उन्हें तो इन सिद्धान्तों में आस्था होती ही नहीं है क्योंकि दमन तो उन चोटों की तरह है जिन्हें सहन करते-करते आभूषण में— आदर्शों के प्रति निष्ठा-भावनाओं में और भी अधिक प्रखरता आती चली जाती है।

क्रोपाटकिन ने इस अवधि में कई देशों का भ्रमण किया और क्रान्ति की जड़ें सींचीं। इन्हीं दिनों उनकी पुकार वाणी के साथ-साथ लेखनी से भी मुखर होने लगी। इस काल में उनके निर्वाह का यही मात्र साधन था। स्विटजरलैण्ड के बाद वे फ्रांस गये और वहाँ जार के इशारों पर फ्रांसीसी सरकार ने उन्हें अकारण ही ढाई वर्ष तक जेल में रखा। यह कारावास उनके जीवन की प्रमुख उपलब्धियों का काल बना। जेल में उन्होंने 'परस्पर सहयोग' और 'रोटी का सवाल' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिनका विश्वव्यापी महत्त्व है।

सन् १८८६ ई. में उन्होंने लन्दन से फ्रीडम पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इन्हीं दिनों एक दु:खद घटना घटी। इनके बड़े भाई जो वैज्ञानिक शोध कार्यों में रत थे ने आत्महत्या कर ली। क्रोपाटकिन द्वारा क्रान्ति का प्रचार करने के कारण उनके अग्रज से बदला लिया गया। पहले तो बारह-तेरह वर्षों तक उन्हें साइबेरिया के अन्य-लोक में रखा गया। फिर जब उनके छुटकारे के दिन आए तो उन्हें देश निर्वासन की सजा दी गयी। इन परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर उन्होंने अपने आप को गोली मार ली।

सन् १९१७ में जब रूस की क्रान्ति सफल हुई और वहाँ समाजवादी शासन की स्थापना हुई तो वे रूस लौट आये और रूसी सरकार के प्रधान कैरैन्सकी ने उनका स्वागत करते हुए सुझाव रखा— आप हमारे सरकारी मन्त्रिमण्डल में कोई-सा भी पद चुन लीजिए।

लेकिन आजीवन सेवाव्रती प्रिंस क्रोपाटकिन ने विनम्रतापूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ८ फरवरी, १९२१ को उनका देहान्त हो गया। जब वे मरणासन्न हुए तो लेनिन ने मास्को से सर्वश्रेष्ठ डॉक्टर और भोजन औषध आदि सामग्रियाँ भेजी थीं। आज भी उनके जीवन की स्मृति दिलाने वाली वस्तुएँ उनके नाम पर स्थापित म्यूजियम में सुरक्षित हैं। परन्तु उससे भी अधिक उनकी स्मृतियाँ लोगों के मन मस्तिष्क पर जीवित हैं और रहेंगी।

अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक सीमांत गाँधी

हमारा देश स्वतन्त्र हुआ। अँग्रेजों की तब भी यह धारणा थी कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते रहे तो उन्हें पुन: शासन करने का अवसर मिल जाय। इसलिए जाते-जाते एक विक्षेप की चिंगारी छोड़ गये। वे भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान— दो टुकड़ों में विभाजित करना चाहते थे। मुहम्मद जिन्ना पाकिस्तान— पृथक देश की माँग पूरी कराने हेतु अड़ गये। उन्हीं दिनों एक व्यक्ति ऐसे भी थे जो यह जानते थे कि किसी तरह देश का विभाजन रुक जाए। वे थे खान अब्दुल गफ्फार खाँ जिन्होंने अपना सारा जीवन अन्याय से संघर्ष करने में लगा रखा है। वे अन्त तक कहते रहे कि देश का विभाजन किसी के हित में नहीं है। परन्तु उनकी बात उसी तरह अनसुनी कर दी गई, जैसे एक समय गाँधी जी की बात किसी ने न मानी थी।

देश का विभाजन तो हो गया किन्तु उनका यह विश्वास था कि हमारी सीमा अलग कर हमारे हृदयों को नहीं बाँटा जा सकता। हिन्दू और मुसलमान हमेशा की तरह एकता के सूत्र में बँधे रहेंगे। उनमें भाईचारे का व्यवहार सदा बना रहेगा।

भारत का विभाजन पूर्ण हुआ। कुछ हिस्सों को मिलाकर पाकिस्तान का निर्माण किया गया। उस समय यह विश्वास व्यक्त किया गया कि सीमावर्ती प्रान्तों के साथ ही पख्तूनों के अधिकार और उनकी संस्कृति सुरक्षित रहेगी। उन्हें भी उन्नति का समान अवसर दिया जाता रहेगा। उनके साथ किसी तरह का भेद-भाव नहीं बरता जायेगा। परन्तु कुछ ही दिनों में यह विश्वास हवामहल सिद्ध होने लगा। पाकिस्तान के नेतागण अपने स्वार्थ-सिद्धि में डूब गये। कुर्सी का मोह और दुरुपयोग बढ़ने लगता है तो अपने भी पराये लगते हैं। उनके अधिकार सीमित कर दिये गये। विरोध करने वाले को जेलों में ठूँसा जाने लगा। सहृदय और संवेदनशील व्यक्ति अन्याय सहन नहीं कर सकता। उसकी मान्यता तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की हुआ करती है। किसी एक वर्ग अथवा जाति पर अन्याय किया जाना उसे कभी भी सहन नहीं हो सकता। खान अब्दुल गफ्फार खान ने यह देखा तो उनका हृदय तार-तार हो गया। वे इस अन्याय के प्रति संघर्ष के लिए उठ खड़े हुए और दुर्गम परिस्थितियों में आज भी अपने ध्येय पर डटे हुए हैं।

खान ने परतन्त्रता का वही फन्दा पुन: गले में लिपटा हुआ अनुभव किया। वे सत्य, अहिंसा और शांति के पुजारी हैं, उनका विश्वास है कि बिना धार्मिक एकता के कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए पख्तूनों की पृथक पख्तूनिस्तान की माँग का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। पाकिस्तान ने उन्हें देशद्रोही करार दिया। उन्हें जनता को भड़काने वाला व्यक्ति कहकर सताया जाने लगा। यहाँ तक कि उन्हें जनता से अलग रखने के उद्देश्य से कठिन यातना सहित कारावास में रखा गया। वे चाहते थे कि जेल की चहारदीवारी में चीख-चीख कर उनका मनोबल टूट जाए। तानाशाही शासन के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध उनकी आवाज कभी न खुल सके। न उन्हें भरपेट भोजन दिया जाता, न बीमार होने पर उनका उपचार किया जाता, उन्हें पत्र-व्यवहार की सुविधा से वंचित रखा गया। परन्तु इसका परिणाम कुछ उलटा हुआ। कठिनाइयों में मुड़ जाना कच्चे लोहे का काम है, फौलादी इस्पात टूट सकता है पर कठिनाइयों से समझौता करना उसे नहीं आता।

शक्ति नहीं व्यक्ति की निष्ठा लोगों को झुकाती है और अनुगामी बनाती है। आखिर उन्हें इलाज हेतु लन्दन भेजा गया। ज्यों-ज्यों दवा की गई, बीमारी बढ़ती गई। उनकी आँखों के सामने पख्तूनों

पर किये गये नृशंस व्यवहार का दृश्य चलचित्र की तरह दिखलाई पड़ता तो वे सिहर उठते । वे अन्याय के प्रति संघर्ष करने का बीड़ा उठा चुके थे । अतः यह संघर्ष जारी रखना चाहते थे । पाकिस्तान वापस आने पर पुनः बर्बरतापूर्ण व्यवहार के शिकार हो सकते थे । अतः विदेश में ही रहकर अपना आन्दोलन जारी करने का निर्णय ले लिया । वे लन्दन से काबुल चले गये । वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया । यह स्वागत किसी व्यक्ति का नहीं वरन् सिद्धान्तों का था । संघर्ष ही जिनका जीवन हो, ऐसे स्वतन्त्रता के पुजारी का सम्मान-स्वागत कौन नहीं करेगा । अपने निजी स्वार्थों की अपेक्षा सामाजिक स्वार्थ को ऊंचा समझने वाला व्यक्ति सचमुच अभिनन्दनीय होता है । वे यदि निजी स्वार्थ में डूबे रहते तो पख्तूनों को कभी सिर ऊँचा करने का अवसर नहीं मिलता और स्वतन्त्रता भी नहीं मिल पाती ।

सत्य और अहिंसा के पुजारी तथा स्वाधीनता आन्दोलन के इस तपस्वी नेता का जन्म सन् १८९० ई में हुआ था । इनके पिता बहराम खाँ सीमान्त स्थित उतमनजई गाँव के रहने वाले थे । इसकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के मकतब में हुई । उच्च शिक्षा प्राप्त करने को विदेश जाने के इच्छुक थे । बड़े भाई साहब द्वारा वहाँ जाकर एक अँग्रेज महिला से विवाह किये जाने के फलस्वरूप वहाँ नहीं भेजा गया । इस तरह वे उच्च शिक्षा से वंचित रहे । वे उर्दू की उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु अलीगढ़ गये । वहाँ 'अलहिलाल' और 'जमींदार' नामक पत्रों के देशभक्ति पूर्ण विचारों से प्रभावित होकर राजनीति की ओर अग्रसर हुए । सीमान्त क्षेत्र में अनेक शालाओं की स्थापना कर उनके द्वारा देशभक्ति का शंखनाद करना प्रारम्भ कर दिया । पिताजी मना करते रहे क्योंकि उन्हें ब्रिटिश शासकों का भय बना हुआ था । उन्हें बारम्बार यह समझाते रहे कि वे प्रत्येक कदम सोच-समझ कर उठा रहे हैं । हम जिस देश तथा समाज में रहते हैं उसकी समस्याओं से आँख मूँदना आत्म प्रवंचना और कायरता है । पड़ोस में लगी आग से अपना भी घर जल सकता है अतः समझदार व्यक्ति विषय परिस्थितियों में अपने आप ही उठ खड़े होते हैं । गफ्फार खाँ ने वही किया । देश, जाति और धर्म हित की भावना कैसे कुचल जाती । अन्त में उन्हें पिताजी की आज्ञा मिल ही गई । जिनके बच्चे देश की रक्षा और समाज की उन्नति में काम आ जाएँ, ऐसे अभिभावक धन्य हो जाते हैं ।

अब खान साहब खुलकर देश सेवा में लग गए । महात्मा गाँधी की तरह अपने आपको मानव जाति की सेवा में अर्पित कर दिया । हिन्दू और सिक्ख ग्रन्थों का गहन अध्ययन करने के बाद यह पाया कि परमात्मा एक है । 'मन्दिर में पूजा करें, मसजिद में माथा टेके, गिरजा में बाइबिल पढ़े । ब्रह्म एक ही है दो नहीं । सभी जातियों और मनुष्यों को एक ही पिता ने उत्पन्न किया है । अतः उनके बीच किसी तरह का भेदभाव उचित नहीं ।' उनकी इस विचारधारा का मौलवियों ने जोरदार शब्दों में खण्डन किया । वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रचार को इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानते थे । हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता हैं तथा ये पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं । इस्लाम धर्म निराकार उपासना करता है । खाँ साहब उनके तर्क काटते गए । उन्होंने कहा कि मुसलमान भी पत्थरों से बनी मस्जिदों में नमाज पढ़ते और काबे में संगमूसा को प्रणाम करते हैं । हिन्दू भी बिना किसी प्रकार के निराकार ईश्वर की भी पूजा करते हैं । अतः दोनों में किसी भी तरह का भेदभाव किया जाना उचित नहीं है । उन्होंने कभी भी साम्प्रदायिकता की आँधी को नहीं बढ़ने दिया । अपने जीवन भर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्नशील रहे । इसके विरोध में उन्हें कठिन कारावास दिया गया । उनका १७ वर्ष का जीवन पाकिस्तान की काल कोठरी में व्यतीत हुआ उनके साथ ही उनके परिवार वालों के साथ भी वैसा ही व्यवहार जेल के बाहर किया जाता था । एक बार तो उनके छोटे पुत्र हिदायतुल्ला बम्बई से जैसे ही घर पहुँचे वैसे ही गिरफ्तार कर लिये गए । यही हाल उनके दो पुत्रों का भी हुआ । उन्हें अस्वस्थ होते हुए भी कठिन कारावास दिया गया । श्री ओबेदुल्ला खाँ ने तो इसके विरोध में ७८ दिन की भूख हड़ताल की जो अपने आप में रिकार्ड था ।

आज हमारे बीच गाँधी जी तो नहीं रहे परन्तु उनके सिद्धान्तों की विरासत लिये खान साहब आज भी प्रस्तुत हैं । उन्हीं नैतिक, मूल्यों और सत्य, अहिंसा की धरोहर के रूप में सीमान्त गाँधी आज भी भारत और पाकिस्तान के जनमानस में स्थापित हैं । संसार में जब तक ऐसे महामानव उपस्थित रहेंगे जब तक अन्याय और दमनपूर्ण चेष्टायें कुचली जाती रहेंगी ।

सत्य के लिए लड़ने वाले—वाल्टेयर

३० मई सन् १७७८ को फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यकार वाल्टेयर की मृत्यु हुई । उनकी मृत्यु के समय उनके सचिव ने एक व्यक्तव्य प्रसारित किया जो वाल्टेयर ने मरने से पूर्व उसे दिया था । व्यक्तव्य में कहा गया था— "मैं ईश्वर की उपासना करते हुए, अपने मित्रों से प्रेम करते हुए, शत्रुओं के प्रति किसी भी तरह का घृणा भाव मन में न रखते हुये तथा अन्धविश्वास से किसी भी मूल्य पर समझौता न करते हुए मृत्यु का आलिंगन करता हूँ ।"

वाल्टेयर ने आजीवन इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा की थी और सफल भी हुए थे । उनके जीवन के अध्येता इस तथ्य को एकमत से स्वीकार करते हैं कि वाल्टेयर वस्तुतः सच्चे ईश्वरवादी थे । पर जब उनकी मृत्यु हुई तो पेरिस के धर्म-पुरोहितों ने उनकी अन्त्येष्टि क्रिया ईसाइयों के कब्रिस्तान में न होने दी और उन्हें शहर से बाहर एक गाँव में दफनाया गया इसका कारण था कि वाल्टेयर ने अपनी लेखनी से हमेशा धर्मान्ध पुरोहितों, शोषण, अत्याचार और धार्मिक लूट पर जमकर प्रहार किया था । उनके जीवन काल में उनसे बैर और शत्रुता रखने वालों को तो लोग कभी का भुला चुके हैं पर वाल्टेयर की ख्याति आज भी देदीप्यमान है । यही नहीं उन्हें फ्रांस की राजक्रान्ति का प्रमुख आधार स्तम्भ भी समझा जाता है तथा उसके लिए सबल वैचारिक पृष्ठभूमि निर्माण करने वाला महामानव माना जाता है ।

वाल्टेयर का जन्म सन् १६९४ ई. में पेरिस के एक सामान्य परिवार में हुआ था। जन्म के कुछ समय बाद ही माँ की मृत्यु हो गई, वाल्टेयर काफी कमजोर थे साथ ही रुग्ण भी। पिता सोचते थे इतना रुग्ण और कमजोर बालक क्या जीवित बचेगा ? अत: उन्होंने इस धारणा के अनुसार कि परिवार का कोई भी सदस्य गैर ईसाई नहीं होना चाहिए— वाल्टेयर का बपतिस्मा करा दिया, पर प्रकृति के विरुद्ध वाल्टेयर जीवित बच गए और स्वाभाविक रूप से विकसित होने लगे।

बचपन से रुग्ण और स्वास्थ्य से दुर्बल वाल्टेयर पढ़ने-लिखने के मामले में बड़े तेज थे तथा किसी भी विषय का अवलोकन करते हुए उनके मन में जिज्ञासाओं के प्रश्न खड़े होते थे। ज्ञानार्जन के लिए उनके मन में तीव्र लगन थी। जब वे युवावस्था में प्रवेश करने लगे तो एक दिन वाल्टेयर के पिता ने उन्हें बुलाकर कहा— 'देखो फ्रांकई (वाल्टेयर के बचपन का नाम था) मैं समझता हूँ तुम्हें अब अपने कार्यक्षेत्र का चुनाव कर लेना चाहिए।'

वाल्टेयर ने कहा कि 'मैंने अपने जीवन का क्षेत्र चुन लिया है।'

स्वाभाविक ही उत्सुकता हुई पिता को, उन्होंने पूछा— 'क्या ?' तो वाल्टेयर ने बताया कि वे साहित्य लेखन को अपने पेशे के रूप में अपनाना पसन्द करते हैं। इससे पिता को कोफ्त हुआ क्योंकि वे चाहते थे वाल्टेयर एक वकील के रूप में अपना जीवन व्यतीत करे। उस समय वाल्टेयर ने अपने पिता की बात मान ली और कानून की पढ़ाई करने लगे। कानून की शिक्षा उन्होंने शीघ्र पूरी कर ली पर इसके बावजूद भी वे वकील न बन सके। कारण स्पष्ट था— इस दिशा की ओर उनका ज़रा भी झुकाव नहीं था।

तत्काल तो उन्होंने फ्रांस के एक कूटनीतिक विभाग में नौकरी कर ली और इस नौकरी के सिलसिले में हालैण्ड चले गये। उस समय फ्रांस में लुई चौदहवें का शासन था जो स्वेच्छाचारी और बहुत ही क्रूर शासक था। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार राज कर्मचारी भी बड़े भ्रष्ट थे और वाल्टेयर ने कदम-कदम पर चतुर्दिक व्याप्त भ्रष्टता के कटु अनुभव किए। इस विषाक्त वातावरण ने ही उन्हें भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता के विरुद्ध कलम उठाने के लिए प्रेरित किया और वे हालैण्ड से शासकीय सेवा छोड़कर वापस पेरिस आ गये। पिता ने नौकरी छोड़ने का कारण पूछा तो उन्होंने एक ही उत्तर दिया कि वे अब साहित्य को ही अपनी जीविका का आधार बनायेंगे। पिता ने दुनियादारी के दृष्टिकोण से समझाया कि लेखक बनने पर भूखों मरना पड़ेगा और मुझसे तुम कोई आशा न कर सकोगे। वाल्टेयर ने अपने पिता की धमकी को चुनौती के रूप में स्वीकार किया तथा साहित्य क्षेत्र में समर्पित भाव से उतर आये।

तब से लेकर वाल्टेयर मृत्युपर्यन्त तक लिखते ही रहे। एक दिन के लिए भी उन्होंने अपनी कलम को विश्राम नहीं दिया। उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं जिनमें कविता, नाटक, इतिहास ग्रन्थ आदि सभी कुछ हैं। उनकी पुस्तकें आज भी फ्रेंच साहित्य का गौरव समझी जाती हैं। उनके लेखों में जहाँ ज्वालामुखी की-सी विस्फोटक शक्ति है वहीं नवसृजन का प्रेरक धवल उज्ज्वल प्रकाश भी है।

सन् १७७५ में फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें की मृत्यु हुई। उस समय वाल्टेयर की आयु मात्र इक्कीस वर्ष की ही थी पर वैचारिक दृष्टि से वे प्रौढ़ लेखकों से भी आगे थे। लुई के मरने पर बेतहाशा खर्च किया गया और उस कारण राज्य कोष में काफी कमी आई। उसी कमी को पूरा करने के लिए लुई के उत्तराधिकारी ने राजकीय घुड़साल के आधे घोड़े बेच दिये। अन्य सभी लेखकों ने तो राज प्रतिनिधि की सूझ-बूझ और मितव्ययिता बताकर सराहना की। पर वाल्टेयर ने राज प्रतिनिधि के इस कृत्य पर व्यंग्य करते हुए कहा— यदि राजा घुड़साल के उन घोड़ों को न बेचकर उन गधों को विदा कर देता जो राजसभा में भरे हुए हैं तो अच्छा रहता। सचमुच उस समय फ्रांस के शासनतन्त्र पर चापलूसों और अवसरवादी तत्त्वों का आधिपत्य था। जो काम तो कुछ नहीं करते और वेतन के रूप में राजकोष से मोटी रकमें वसूल किया करते हैं।

तत्कालीन राज्य व्यवस्था को लेकर उन्होंने एक व्यंग्य प्रधान नाटक भी लिखा। यह नाटक जब अभिमंचित हुआ तो राज्य-व्यवस्था की कई दूषित परम्पराओं का पर्दाफाश हुआ। खासकर उन अवसरवादी तत्त्वों को अपने स्वार्थों पर आघात पहुँचने का भय सवार होने लगा जो राजा के इर्द-गिर्द जमे हुए थे। उन्होंने राजा के कान भरे कि वाल्टेयर लोगों को उसके खिलाफ भड़का रहा था। बस फिर क्या था ? वाल्टेयर को गिरफ्तार कर लिया गया और एक वर्ष के कारावास की सजा हो गई।

कारागार में भी वाल्टेयर चुप नहीं बैठे रह सके। यहाँ भी वे कविताएँ लिखते रहे और जेल में बैठे-बैठे ही उन्होंने एक महाकाव्य की रचना कर डाली। वर्ष भर बाद वाल्टेयर की सजा समाप्त हुई तथा जेल से छूटकर आये तो आते ही उन्होंने 'विरह का अन्त' नामक एक नाटक लिख डाला। इस नाटक ने वाल्टेयर को काफी ख्याति दे डाली। 'विरह का अन्त' पेरिस में लगातार डेढ़ माह तक खेला जाता रहा तथा प्रतिदिन इसे देखने के लिए सैकड़ों लोग आते रहे। जिन दिनों यह नाटक खेला जा रहा था उन दिनों चारों ओर वाल्टेयर ही वाल्टेयर की चर्चा थी। अपने पुत्र की इस प्रसिद्धि को सुनकर उनके पिता स्वयं नाटक देखने के लिए आये और वाल्टेयर— उसे उन्होंने कभी आवारा कहकर दुत्कार दिया था— की पीठ थपथपाये बिना न रहे।

वाल्टेयर को सर्वाधिक ख्याति उनके द्वारा लिखे गए नाटकों से ही मिली तथा उनकी आमदनी का अधिकांश भाग इन नाटकों के अभिमंचन से ही प्राप्त होता था। नाटक लिखकर उन्होंने काफी पैसा कमाया पर उस पैसे का न उन्होंने दुरुपयोग किया तथा न ही उसे खर्च करने में कृपणता बरती। बल्कि वे और अधिक उदार बनते गए। उनके कई बन्धु-बान्धव समय पड़ने पर सहायता के लिए उन्हीं का सहारा लेते थे। वाल्टेयर ने इस बात को भुलाकर कि तंगी के दिनों में इन्हीं बान्धवों ने उनका तिरस्कार किया था— उदारतापूर्वक अपने सम्बन्धियों को सहयोग दिया।

उनके लिखे नाटक तथा कवितायें न केवल जनसाधारण में ही लोकप्रिय हुए वरन् अभिजात्य वर्ग में भी बड़े चाव के साथ अपनाये

गये। पेरिस के कुलीन और सम्पन्न व्यक्तियों ने वाल्टेयर को बड़ा सम्मान तथा प्रोत्साहन दिया। लेकिन इस वर्ग में ऐसे लोग भी थे जो वाल्टेयर की प्रतिष्ठा तथा उनके बढ़ते हुए सम्मान को किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते थे। इस तरह के लोगों में प्राय: वैसे ही परिवार थे जो यह अनुभव करते थे कि वाल्टेयर से उन्हें किसी प्रकार का खतरा हो सकता है।

इसी कारण कुछ व्यक्तियों ने वाल्टेयर की हत्या करवाने का षड्यन्त्र रचा। एक रात्रि, जब वाल्टेयर कहीं जा रहे थे तो उन पर गुण्डों ने हमला किया। ये पेशेवर बदमाश थे जो पैसे लेकर हर किसी के साथ मार-पीट या खून-खराबी कर सकते थे। लेकिन गुण्डों ने उनको जान से नहीं मारा, थोड़ी बहुत मार-पीट के बाद यह कहकर छोड़ दिया कि अमुक व्यक्ति के बारे में अब कुछ मत कहना।

वाल्टेयर समझ गए कि उस व्यक्ति ने इन गुण्डों को भेजा है। वह व्यक्ति एक उच्च अधिकारी था, जिसने वाल्टेयर से एक भोज में बहुत ही बेहूदा प्रश्न पूछा था और वाल्टेयर ने उस प्रश्न का उत्तर बेहद शालीन किन्तु करारा दिया था इसी से वह अधिकारी के पास गए और कहा— "तुम गुण्डों का सहारा क्यों लेते हो ? दम हो तो खुद मेरे सामने आओ और मुझ से युद्ध करो।"

वह व्यक्ति समझा कि वाल्टेयर ने उन गुण्डों को परास्त कर दिया है। अत: वह और भी ज्यादा भयभीत हो गया साथ ही वाल्टेयर का मुँह बन्द कराने के लिए बिफर उठा। उसने एक झूठा आरोप लगाकर वाल्टेयर को जेल भिजवा दिया। कुछ महीने तक जेल में रखने के बाद न्यायाधिकारियों ने वाल्टेयर को इस शर्त पर रिहा कर दिया कि वे फ्रान्स छोड़कर अन्यत्र चले जायें। वाल्टेयर ने यह शर्त स्वीकार कर ली तथा वे इंग्लैण्ड चले आये। इंग्लैण्ड में भी उनका साहित्यिक कार्य अनवरत चलता रहा। प्रवास के दौरान उन्होंने अंग्रेजी भाषा का अच्छा अध्ययन किया तथा न्यूटन, शेक्सपीयर और लॉक की रचनाओं को मनोयोगपूर्वक पढ़ा। इसके बाद उन्होंने एक पुस्तक लिखी 'लेटर्स ऑन द इंग्लिश' और इस पुस्तक को हाथ से लिखवाकर अपने मित्रों में बाँटा।

सन् १९२९ में उन्हें फ्रांस लौटने की अनुमति मिल गई। वापस आने पर उन्होंने फ्रांस के जन-जीवन का निकट से अध्ययन किया तथा वहाँ की दुर्व्यवस्था के कारणों को विश्लेषित कर उन पर प्रहार करना आरम्भ किया। उन्होंने पाया कि अभिजात्य वर्ग धर्म-पुरोहितों को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं तथा धर्मजीवी उस वर्ग के हाथों अपने आपको बेच डालते हैं। वाल्टेयर ने इस दुरभिसन्धि का भण्डाफोड़ करने की ठानी तथा अपनी लेखनी का अस्त्र सम्हाला और आग उगलने लगे। इससे बड़ी खलबली मची। इन्हीं दिनों एक प्रकाशक ने उनकी पुस्तक 'लेटर्स ऑन द इंग्लिश' प्रकाशित कर दी। जिसमें निहित स्वार्थी तत्वों पर कड़ा प्रहार किया गया था। पेरिस की पार्लियामेन्ट ने निर्णय दिया कि— 'यह पुस्तक सरेआम जला दी जाय।' पार्लियामेन्ट के इस निर्णय को वाल्टेयर ताड़ गये। अब जेल जाना पड़ सकता है। इसलिए वे पेरिस छोड़कर अन्यत्र चले गये।

साथ ही उन्होंने अन्धविश्वासों तथा कुव्यवस्थाओं पर व्यंग्य बाणों की बौछार करना आरम्भ कर दिया। उनके द्वारा छेड़ी गई विचार क्रान्ति से पुरोहित वर्ग तिलमिला उठा। पहले उन्हें धन का प्रलोभन दिया गया पर वाल्टेयर कोई धन के भूखे थोड़े ही थे। उधर एक और साहित्यकार का उदय हुआ— रूसो का। इन दोनों ने मिलकर जन-साधारण में एक नई चेतना जगाई। ८३ वर्ष की अवस्था में पेरिस देखने की इच्छा से वे पेरिस में आये और फिर उन्होंने अपनी जीवन-लीला वहीं समाप्त कर दी। लेकिन उन्होंने विचारों के जो बीज बोये उन विचारों का एक-तिहाई संसार अनुयायी है। वह विचार है— प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का।

महान् प्रेरक—वाल्टेयर

वाल्टेयर ८४ वर्ष की आयु में मरा तो उसका अन्तिम संस्कार कराने के लिए पेरिस का कोई पादरी तैयार नहीं हुआ। इसलिए उसकी लाश को नगर से बाहर एक छोटे गाँव में दफनाना पड़ा। पादरी उसे धर्मद्वेषी कहते थे। क्योंकि उसने जीवन भर धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों का विरोध किया यद्यपि वह अधार्मिक नहीं था— वास्तविक धर्म के प्रति उसकी गहरी आस्था थी, तो भी वह धर्म के नाम पर चल रहे अनाचार को सहन न कर सका, और उसने उसका जीवन भर विरोध किया।

वाल्टेयर को अपने लक्ष्य के लिए यात्रा करते रहने में कठिन जीवन बिताना पड़ा और कितनी ही आपत्तियों का सामना करना पड़ा फिर भी वह विचलित नहीं हुआ और अपने मार्ग पर धैर्यपूर्वक जीवन के अन्त तक चलता रहा।

उनने अपने जीवन में लगभग एक सौ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उन सभी में उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया और धर्म के नाम पर प्रचलित भ्रान्तियों और अनीतियों का खण्डन किया। भारत में जो कार्य विवेकानन्द, दयानन्द, गान्धी, राममोहन राय आदि ने किया वही कार्य वाल्टेयर ने फ्रांस में किया। इस प्रकार का कठिन कार्य अपने जिम्मे लेने वाले प्रत्येक सुधारक को निहित स्वार्थों तथा रूढ़िवादियों के विरोध का सामना करना पड़ता है। वाल्टेयर को भी वह आपत्तियाँ सहनी पड़ीं।

एक पुस्तक लिखने में उन्हें जेल की सजा मिली। छूटकर आये और अन्य पुस्तकें लिखीं तो वह भी जब्त हो गईं। उनके लिखे हुए नाटकों को दिखाने में कानूनी प्रतिबन्ध लगाये गये। उन पर आरोप लगाया गया कि वे जनता को नीतिभ्रष्ट करते हैं। उन दिनों राजशासन या प्रचलित परम्पराओं की आलोचना करनी— नीतिभ्रष्टता मानी जाती थी। इतने प्रतिबन्ध होते हुए भी उनकी पुस्तकों में जो तथ्य होता था, उससे जनता बहुत प्रभावित थी। लुक-छिप कर उनकी पुस्तकें खूब पढ़ी जाती थीं और जब तक प्रतिबन्ध नहीं लगता था तब तक उनके लिखे नाटकों को देखने के लिए लोग टूट-टूट पड़ते थे।

जीवन के आदि से लेकर अन्त तक उसे अगणित आपत्तियों का सामना करना पड़ा। पर उसने वह सब कुछ हँसते-हँसते सहन

किया। उसे अनेकों बार बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये कि अपना विरोध कार्य बन्द कर दे पर वह उससे भी विचलित न हुआ। उनकी लेखनी में व्यंग्य और कटाक्ष भरा रहता था। नीत्से ने उन्हें हँसता हुआ सिंह कहा है। उनका हँसना इस युग के अनाचारों के लिए एक सांघातिक वज्र प्रहार के समान था। उनकी लेखनी ने न केवल धार्मिक वरन् राजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए भूमि तैयार की जिसके फलस्वरूप निहित स्वार्थों का आसन ही डगमगा गया और फ्रांस ही नहीं सारे योरोप की जनता में स्वतन्त्र विचारों की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति का उदय हुआ।

विक्टर ह्यूगो ने लिखा है— "वाल्टेयर का नाम लेते ही अठारहवीं सदी में जो कुछ श्रेष्ठता है वह मूर्तिमान होकर हमारी आँखों के सामने आ खड़ी होती है।" जान्स बेले ने लिखा है— "भगवान् ने उन्हें एक बौद्धिक चिकित्सक के रूप में भेजा, जो क्षयग्रस्त और गलित स्थिति में पड़े हुए युग की जीवन भर चिकित्सा करते रहे। वे एक अथक सैनिक थे जो अनवरत रूप से बुराइयों के विरुद्ध लड़ते रहे। मानसिक दासता और आदर्शों की दुर्बलता को मिटाने के लिए वे एक साहित्यक विद्रोही के रूप में अवतीर्ण हुए और इस संग्राम में जूझते हुए ही उन्होंने वीरगति प्राप्त की। वे मानव मन को अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों से विरत करना चाहते थे, जो उन्होंने चाहा उसके लिए असीम बलिदान और असाधारण त्याग और अथक श्रम किया।"

वाल्टेयर घोर परिश्रमी थे। उन्होंने अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने दिया। वे कहा करते थे— आलसी को छोड़कर दुनिया के और सब लोग अच्छे है। कुछ काम न करना और मृतक होना एक ही बात है। मेरी आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों जीवन के शेष थोड़े से क्षणों का और भी अधिक सदुपयोग करने का मैं प्रयत्न करता हूँ। कर्मनिष्ठा का अभ्यास होने पर वह स्वयं एक आनन्द बन जाती है। जो आत्महत्या नहीं करना चाहता उसके लिए यही उचित है कि निरन्तर कार्य संलग्न रहे। उन्होंने अपने इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत किया फलस्वरूप वे मानव-जीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त कर सके।

सभी महापुरुषों की भाँति वाल्टेयर का महत्त्व उसके जीवनकाल में नहीं समझा गया। लोग उसका विरोध और तिरस्कार ही करते रहे। पर एक समय ऐसा भी आया जब उसका महत्त्व स्वीकार किया गया। फ्रांस की राज्यक्रांति जब हो गई तो क्रान्तिकारी दल ने वाल्टेयर की मरी मिट्टी को १३ वर्ष बाद कब्र में से निकाला और एक विराट जुलूस के रूप में उसे राजसी सम्मान के साथ नगर में घुमाया गया। उनकी शव यात्रा में ६ लाख नर-नारी सम्मिलित थे। उनकी अर्थी पर मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था— "वह वाल्टेयर जिसने— हमारे मन को बड़ा बल और साहस प्रदान किया, जिसने हमें स्वाधीनता संग्राम के लिए उकसाया।"

विश्वशान्ति और मानवता के पुजारी रोमांरोलां

सन् १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ा तो युद्ध की लपटें धरती से उठकर लोगों के दिमागों में भी धधकने लगीं। कल तक जो लोग शान्ति और प्रेम के गीत गा रहे थे आज वे ही एक-दूसरे के प्रति आक्रामक बन रहे थे। माना कि विश्व युद्ध में सभी राष्ट्र दो गुटों में बँट गये थे और उनका नेतृत्त्व एक-दूसरे का जानी दुश्मन बना हुआ था। किन्तु इसके लिए सम्बन्धित देशों की जनता का क्या दोष हो सकता था ? वह तो जैसी पहले थी वैसी ही तब भी थी। किन्तु लोग एक-दूसरे देश के निवासियों को भी अपना दुश्मन घोषित कर रहे थे और तमाम बुद्धिजीवी उनके प्रति घृणा, वैमनस्य जगाने में जोर शोर से लगे हुए थे।

वैसी परिस्थितियों में फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक और साहित्य कलाकार रोमांरोलां ने योरोप के कलाकारों को एक मंच पर एकत्रित करने का प्रयास किया ताकि जिन देशों के निवासी एक-दूसरे के गले काट रहे थे उनमें शांति और प्रेम की सद्भावनायें जगायी जा सकें। रोमांरोलां ने योरोप के बुद्धिजीवियों का शांति और प्रेम के भाव जागरण में संलग्न करने के लिए अथक प्रयास किये, किन्तु वे सभी विफल हुए। क्योंकि उनके मन-मस्तिष्क में तो युद्धोन्माद छाया हुआ था। उनके अपने देश के ही संकीर्ण बुद्धिजीवियों और देशभक्ति का गुमान रखने वालों ने रोमांरोलां को देशद्रोही करार दिया तथा उनके विरुद्ध एक अभियान-सा छेड़ दिया।

उस समय सारा फ्रांस जैसे रणोन्मत हो रहा था। हर कोई यह सोच रहा था कि यदि मौका मिले तो हम स्वयं जाकर सीमा पर लड़ें। सारा फ्रांस जब युद्ध की चर्चाओं में मशगूल था तो रोलां लोगों को युद्ध के दुष्परिणाम समझाने में लगे हुए थे। शांति और प्रेम का वातावरण बनाने में लगे हुए रोमांरोलां को जब फ्रांस के बुद्धिजीवियों का विरोध सहना पड़ा तो वे निराश नहीं हुए। उनका कहने का आशय यह नहीं था युद्ध में पराजय स्वीकार कर ली जाय, बल्कि वे तो यह कह रहे थे युद्ध में जन-धन की जो क्षति पहुँचती है उसे यथासम्भव रोकें। जब उन्होंने अपने प्रयासों का बुद्धिजीवियों पर परिणाम होते नहीं देखा तो वे अकेले ही शांति प्रयासों में जुट गये और जेनेवा जाकर रहने लगे। वहाँ उन्होंने 'इण्टरनेशनल रेडक्रास' को अपनी सेवायें अर्पित कर दीं और योरोप का यह महान् कलाकर, मनीषी रेडक्रास के दफ्तर में और क्षेत्र में काम करने लगा।

एक ओर जहाँ सभी राष्ट्र और उनके निवासी युद्धोन्मत थे वहीं अपने ढंग से अपनी सामर्थ्य के अनुसार शांति प्रयासों में जुटे थे। रोमांरोलां का जन्म सन् १८६६ ई. में एक वकील के घर हुआ था। उनका परिवार एक कस्बे में रहता था। रोमांरोलां के परिवार में सभी व्यक्ति संगीत के प्रति रुचि रखते थे और वहाँ प्रायः संगीत कार्यक्रमों का आयोजन होता रहता था। रोमांरोलां पर भी परिवार के इस संगीतमय वातावरण का अच्छा प्रभाव पड़ा। वे भी बचपन से ही

संगीत का अभ्यास करने लगे। मनुष्य की भावनाओं को संगीत के माध्यम से किस तरह व्यक्त किया जा सकता है संगीत के इस पक्ष का उन्होंने गहन अध्ययन भी किया और संगीत आराधना भी आरम्भ की। बचपन में ही संगीत की ओर झुकाव मिलने तथा आगे चलकर उसी क्षेत्र में प्रयत्न करते रहने के कारण रोमांरोलां युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते संगीत कला और संगीत विद्या दोनों में ही इतने निष्णात हो गये कि उनकी ख्याति योरोप भर में फैल गयी।

यद्यपि आगे चलकर रोमांरोलां की जीवन धारा साहित्य के क्षेत्र में बहने लगी किन्तु उनके जीवन पर संगीत का प्रभाव हमेशा बना रहा। फ्रांसीसी भाषा के महानतम उपन्यास 'ज्या क्रिस्तोफ' जिसकी टक्कर की एक भी कृति पूरे फ्रांसीसी वांगमय में नहीं है— पर उनके इस प्रभाव की छाया मौजूद है। संगीत विद्या से उनका सम्बन्ध तो नहीं टूटा पर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने पर उनका सम्बन्ध पहले जैसा नहीं रह सका। फिर साहित्य ही उनकी मुख्य साधना बन गयी। इस माध्यम से उनकी प्रतिभा को व्यक्त होने का भी अच्छा अवसर मिला। रोमांरोलां ने जब लिखना प्रारम्भ किया तो वे टॉल्स्टॉय के विचार सम्पर्क में आये। टॉल्स्टॉय के सम्पर्क से वे बहुत प्रभावित हुए। सन् १८८७ में उन्होंने टॉल्स्टॉय को एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें रोमांरोलां ने उन्हें अपना साहित्यिक गुरु माना था, बड़े ही भावविभोर होकर लिखा था कि आप मुझे आशीर्वाद दें। टॉल्स्टॉय ने इस पत्र के उत्तर में लिखा था— ''प्यारे भाई ! तुम्हारा पहला पत्र मिला। इससे मेरी आत्मा बहुत ही अभिभूत हो उठी है। आँखों में आँसू भर गए पढ़ते-पढ़ते। तुम भावनाओं के माध्यम से लोगों में मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठा का जागरण करो। इससे प्रभु के उपवन की सुन्दर सेवा होगी।''

टॉल्स्टॉय की इन पंक्तियों को रोलां ने गुरुमन्त्र की तरह गाँठ से बाँध लिया और एक महान् साहित्यकार को ही अपना आदर्श बनाया। उन्होंने अपनी पहली ही रचना में अपनी सारी करुणा और अभिलाषा उड़ेल दी थी और लिखा था— ''संसार का गला घुट रहा है— संकीर्णता और संकुचितता के बन्धनों से अपनी-अपनी खिड़कियाँ खोल दो ताकि ताजी हवा अन्दर आ सके और हम वीरों की तरह इस दुनिया में साँस लेने लगें।''

इसके बाद रोलां फ्रांस की क्रान्ति पर लिखने लगे। घटनाक्रमों के माध्यम से नए मनुष्य और नए समाज के निर्माण की दशा में वे ऐसे प्रतिपादन करते थे कि पढ़ने वाला मुग्ध रह जाता और प्रतिपादित आदर्शों को आत्मसात करने के लिए कसमसा उठता। यह उनका मानवता के प्रति प्रेम ही था कि उन्होंने संसार के महापुरुषों पर भी लिखा। महान् विचारकों और महान् नेताओं के जीवन की ओर इंगित करते हुए उन्होंने समकालीन समाज के सदस्यों से कहा है— ''ये रहे मानवता के आदर्श, यह है मानव की महानता। क्या तुम्हारा सड़ा समाज इन महान् मानवों के योग्य है ? क्या ये दिव्य आत्मायें तुम्हारे दमघोंटू समाज में दो क्षण भी जीवित रह सकेंगी ? नहीं ! तो फिर ढह जाने दो ये दीवारें— और इस नींव पर एक ऐसे नये समाज की रचना करो कि हमारी परम्परा, सभ्यता और संस्कृति का भाव उन्नत हो। नया संगीत, नयी कला, नया साहित्य और नया मानव अतीत के कल की नींव पर बने, आज के भव्य प्रासाद में पनपे और आगामी कल के लिए महान् विरासत छोड़ सके।''

मनुष्य समाज में सुख-शान्ति का अवतरण प्रेम, सद्भाव और सहकार के आधार पर ही किया जा सकता है— उनकी समरूप रचनाओं की केन्द्रीय प्रेरणा यही रहती थी। इसी आस्था से प्रेरित होकर रोलां ने प्रथम विश्वयुद्ध का विरोध किया और दूसरे विश्वयुद्ध में तो उन्होंने इसके लिए संगठित अभियान भी चलाया था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध के मेघ आच्छादित होने लगे थे तो रोलां ने आने वाले संकटों को पहचान कर 'शान्तिवादियों के नाम एक अपील' प्रकाशित की थी। उस अपील में जो विचार प्रकट किये थे और जो सम्भावनायें व्यक्त की गयी थीं उनकी कल्पना भी कोई नहीं कर सका था। इस बार योरोप के बुद्धिजीवियों ने भी प्रथम महायुद्ध के अनुभवों से सबक लेकर हठधर्मिता का परित्याग किया और रोलां के अभियान का साथ दिया।

आज पूर्व और पश्चिम के नाम पर मनुष्य परिवार में एक गहरी खाई है। किन्तु रोलां के लिए जैसे यह खाई असह्य थी और उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के दर्शन और साहित्य के समन्वय का प्रयास किया। यह ठीक है कि यूरोपीय देशों ने एशियायी देशों का दोहन और शोषण किया। रोलां ने यूरोपियनों के इन अवांछनीय कृत्यों की भर्त्सना के साथ-साथ उन्हें प्रायश्चित का मार्ग भी सुझाया और कहा कि उन्नत देश पिछड़े और विकासशील देशों के साथ सहयोग करें और मानवीय सभ्यता की प्रगति के लिए समन्वित प्रयास करें। उनके उदार विचार और तथ्यपूर्ण प्रतिपादनों का ही परिणाम था कि स्टॉलिन जैसे उग्र और नास्तिकतावादी राजनेता तथा महात्मा गाँधी जैसे अहिंसावादी सन्त-दोनों ही रोलां से प्रभावित रहे। रोमांरोलां के प्रयास और उनका दर्शन सम्पूर्ण मानव सभ्यता को एकता के सूत्रों में आबद्ध करने के लिए ही गतिशील रहा।

रूसी क्रान्ति के अग्रदूत—हर्जेन

एन. जेल्शन (रूस) विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी अपने जीवन की असफलताओं से निराश होकर आत्महत्या का निश्चय कर बैठा। एकान्त स्थान में जाकर उसने विषपान के लिए जहर की शीशी निकाली तभी उसकी निगाह पास पड़े रद्दी अखबार के पन्ने पर गयी। उस लेख में आशा और निराशाओं के दिन-रात, प्रकाश-अन्धकार की इतनी प्रभावशाली विवेचना की गई थी कि पढ़कर युवक छात्र ने अपने हाथ की शीशी को दूर फेंक दिया। बड़े-बड़े अक्षरों में शीर्षक और उसके लेखक का नाम पढ़कर ही युवा छात्र में लेख को पढ़ जाने की उत्सुकता जागी थी।

इस लेख को पढ़कर वह युवक निराशा छोड़कर लेखक हर्जे का अनुयायी बन गया और आगे चलकर रूसी क्रान्ति में महत्वपू योगदान दिया। हर्जेन की लेखनी में इतनी प्रभावोत्पादकता, उन विचारों की प्रखरता और हृदय के उत्साह की ही परिचायक है।

स्वयं एक जमींदार परिवार में जन्मे थे फिर भी उस शासन व्यवस्था को बदल देने की ललक लेकर जीवन में आगे बढ़े जिसमें देश की लाखों-करोड़ों मेहनतकश जनता निर्धन और फाकाकशी के दिन गुजार रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी की उदय वेला में रूसी समाज बेशक अन्धाकारपूर्ण दशा में जी रहा था। जार को अपनी गद्दी और विलासिता के साधन सुरक्षित रहें— यही चिन्ता और ध्यान रहता था। देश की आम जनता किस तरह अपने दिन काट रही थी न तो उसे इसकी परवाह थी और न ही ध्यान।

चाटुकार और चापलूसी से काम निकालने वाले लोग अपनी चाँदी बना जाते थे और जो सच्चे अर्थों में परिश्रमी और ईमानदार होता उसे भूखों मरना पड़ता। अठारह वर्ष की आयु में हर्जेन ने भावी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर ली और कष्ट पीड़ितों के लिए दुःख सहने की इच्छा व्यक्त की। इस आशय का एक लेख उन्होंने सन् १९०० में प्रकाशित करवाया। उस लेख में हर्जेन ने अपनी भावनाओं को जिस कुशलता से व्यक्त किया था वे लेखन कला की कसौटी पर भले ही खरे सिद्ध न हों परन्तु उनकी भावनाओं पर तो विश्वास करना ही पड़ेगा कि उन्होंने बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय को अपना जीवन लक्ष्य चुना था।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद हर्जेन मास्को विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ भी उन्होंने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अध्ययन किया। उनके प्रयासों से मास्को विश्वविद्यालय में एक छात्र मण्डल का गठन हुआ। जो स्वतन्त्र ढंग से सोचता था और जारशाही की आलोचना करता था।

व्यक्तिगत रूप से हर्जेन बाहर के लोगों से सम्पर्क साधने में भी लगे हुए थे। उन दिनों पश्चिमी योरोप में क्रान्ति की हवा बह रही थी जिसके स्पर्श में सर्वप्रथम रूस के स्वतन्त्र चिन्तक छात्र हर्जेन ही आये। यदि उन्हें रूस का पहला समाजवादी व्यक्ति कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। योरोप की समाजवादी विचारधारा के अनुसार अपने देश की नई व्यवस्था का विकल्प उन्होंने देखा और तदनुसार अपने सहपाठी छात्र मण्डल के सदस्य विद्यार्थियों को उससे परिचित कराया।

युवक तो वैसे ही उत्साही और आतुर होते हैं। उन्होंने एक बार यूनिवर्सिटी के हाल में लगी जार निकोलस की मूर्ति का अपमान कर दिया। इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जार और पुलिस पर, पुलिस ने कई छात्रों को पकड़ लिया। हर्जेन भी गिरफ्तार हुए। यद्यपि वे इस अपमान काण्ड में शामिल नहीं थे। उनका दोष इतना था कि वे छात्र मण्डल के संयोजक और सदस्य थे। उनके घर की तलाशी हुई और वहाँ पर समाजवादी साहित्य बरामद हुआ। स्वतन्त्र विचारधारा को आतंकवादी अधिनायकवाद का पहला प्रहार सहना पड़ा। हर्जेन मास्को से निष्कासित कर दिये गये।

करीब छह-सात वर्ष तक निर्वासित जीवन व्यतीत करके पुनः १९४० में मास्को आये। परन्तु वे अधिक दिन तक ठहर नहीं सके। इसका कारण था कि रूस उस समय बुद्धिवादियों का केन्द्र था और जार नहीं चाहता था कि हर्जेन के स्वतन्त्र और अन्याय पर प्रहार करने वाले विचारों की आग के सम्पर्क में वे लोग भी आयें। सत्य और न्याय को मिथ्या और अनाचार के हाथों आरम्भ में इसी प्रकार प्रपीड़ित होना पड़ता है। जार ने उन्हें पुनः एक साल के लिए मास्को से निर्वासित कर दिया।

अब वे सोचने लगे किस प्रकार विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की जाय और इस अनाचारपूर्ण शासन व्यवस्था को समाप्त किया जाय। सन् १८४७ में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और वे रूस छोड़कर पेरिस चले गये।

निर्वासन— उनके लिए वरदान के रूप में परिणत हुआ। पेरिस में पहुँचते ही उन्होंने वहाँ के विख्यात और प्रतिभाशाली व्यक्तियों से सम्पर्क किया। उनके सहयोगियों में एक क्रान्तिकारी विचारक प्राऊधन का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्हें लुई नेपोलियन ने क्रान्तिकारी विचारों के कारण कठोर कारावास का दण्ड दिया था।

हर्जेन के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी पर-दुःख-कातरता। प्राऊधन के परिवार का दायित्व उसके कारावास के दौरान हर्जेन ने भी अपने सिर पर ओढ़ा था। प्रतिदिन उनके पास अभाव पीड़ित और दुःखी व्यक्ति आया करते थे। जिन्हें हर प्रकार की सान्त्वना देने के साथ-साथ हर्जेन सहायता भी दिया करते थे। बीस-पच्चीस भूखे लोगों के साथ भोजन करना उनकी नियमित दिनचर्या का अंग बन गया। उन दिनों हर्जेन लेखन व्यवसाय के माध्यम से अच्छा उपार्जन कर लिया करते थे।

फ्रांस में रहते हुए भी उन्हें अपने देश के करोड़ों निवासियों की चिन्ता थी। वे उनकी स्थिति में सुधार के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा करते थे। सन् १८५२ में वे लन्दन आ गये। यहाँ उनका परिचय मैजिनी और गैरीवाल्डी जैसी महान् विभूतियों से हुआ। शीघ्र ही वे उनके मित्र बन गये।

हर्जेन ने १८५७ में एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया जो छिपे रूप से रूस में पहुँचाया जाता था। यह पत्र 'कोल-काल' बड़ा लोकप्रिय हुआ। जारशाही की तीखी आलोचना और कठोर प्रहार पूर्ण लेखों से भरा हुआ यह पत्र उनके आवेश, आक्रोश और लोक व्यथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था। इस पत्र को स्वयं जार भी खरीद कर पढ़ा करता था। पेरिस की तरह लन्दन में भी उन्होंने अपने समान विचारों वाले स्वतन्त्रता प्रेमी सुधारवादियों की मित्र मण्डली तैयार कर ली। गैरीवाल्डी और मेजिनी के अतिरिक्त विक्टर ह्यूगो, लुई ब्लाक, कार्लाइल आदि महापुरुष उनके निकट सम्पर्क में रहने वाले मित्र बने।

रूस में उनके पत्र-पाठकों का एक वर्ग तैयार होता जा रहा था, जो उस समय की समाज व्यवस्था को बदलने के लिए आकुल था फिर भी हर्जेन ने अपने विचारों में कटुता न आने दी। उनके लेख पढ़कर कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि हर्जेन आक्रोश की सीमा पार कर आवश्यकता से अधिक उग्र बन गये हैं। इस सौम्य आक्रोश के कारण मार्क्स और एंजिल जैसे साम्यवादी विचारक भी उनके विरोधी बन गये थे।

१८५४ में लन्दन स्थित अमेरिकन कौंसिल जनरल ने एक भोज दिया और इसी अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी समिति की स्थापना का निश्चय किया गया। भोज में कार्ल मार्क्स भी आमन्त्रित किये गये और हर्जेन भी। हर्जेन की उपस्थिति पर एतराज करते हुए मार्क्स ने कहा था कि वे कभी समाजवादी नहीं हो सकते क्योंकि जरूरत से ज्यादा नम्र हैं।

एक अवसर पर एंजिल ने कहा था— "मैं कभी वहाँ नहीं आऊँगा जहाँ कि हर्जेन होंगे क्योंकि उनके और मेरे विचारों में कोई भी समानता न होने पर भी हम दोनों को समाजवादी कहा जाता है।" सौम्य और शिष्ट क्रान्तिवादी होने के कारण उन्हें अपने समय के कई विचारकों का विरोध सहना पड़ा था।

२१ जनवरी, १८७० को उनका देहान्त हो गया। तीस-चालीस वर्ष बाद उन्होंने जो सम्भावना व्यक्त की थी वह सत्य सिद्ध हुई। जन-आक्रोश फूट पड़ा और देखते-देखते जार का शासन ध्वस्त हो गया, समाजवाद, सहकारिता और सहयोग के आधार पर रूस की जनता ने एक नया जीवन आरम्भ किया जिसका विचार हर्जेन ने वर्षों पूर्व दिया था।

आजीवन संघर्षरत प्रजा-पुत्र मैक्सिम गोर्की

"एक छोटे से अँधेरे कमरे में, खिड़की के नीचे फर्श पर मरे पड़े थे मेरे पिता। उनका कद बहुत लम्बा था, कपड़े सबके सब सफेद थे। पाँवों की अँगुलियाँ सब ऐंठकर फैल गयी थीं। हाथों की अँगुलियाँ भी ऐसी ही ऐंठ गयी थीं। हाथ छाती पर एक-दूसरे के ऊपर तिरछे पड़े थे। उनका शान्त प्यारा चेहरा निर्जीव था लेकिन भिंची हुई दाँतों की चमक को देखकर डर लगता था और मेरी नानी ने मुझ से कहा— अपने पिता से विदा ले लो। तुम उन्हें फिर कभी न देखोगे— मैक्सिम गोर्की के इन शब्दों में उनके बाल्यकाल की उस घटना का चित्रण है, जो उन्हें सचमुच ही व्यथित कर गयी।"

यों जन्म से ही सुख-सुविधायें क्या होती हैं उन्होंने जाना नहीं था। जिस समय वे जन्मे पिता बेरोजगार, माता निराश्रित और उनका स्वयं का जीवन अन्धकारमय था। गोर्की के पिता मैक्सिम एक सैनिक अफसर के स्वाभिमानी पुत्र थे। अपने पैरों पर खड़े होकर सम्मान पूर्ण जीवन जीने के लिए कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करते रह कर भी उन्हें किसी का आश्रय या उपकार नहीं चाहिए था। स्पष्टवादी होने के कारण परिवार के अन्य सदस्य उनसे नाराज ही रहते थे। यहाँ तक कि उनके पिता और ससुर भी। अपनी बेटी की प्रसव के समय मैक्सिम की सास किसी तरह अपने पति को समझा-बुझाकर दामाद और पुत्री को अपने घर ले आयी।

सास-ससुर ने मैक्सिम दम्पत्ति को सामने का मकान दे दिया और वहीं पर पियैश्कोव ने जो आगे चलकर मैक्सिम गोर्की के नाम से प्रसिद्ध हुआ २८ मार्च, १८६८ को जन्म लिया। गोर्की का पिता मैक्सिम बड़ा ही सदाचारी और स्पष्टवादी व्यक्ति था। न कभी शराब पीता और न ही किसी प्रकार के दुर्व्यसन में समय बिताता। इससे पियैश्कोव का मामा— बड़ा जलने लगा। मैक्सिम के पिता का उत्कृष्ट चरित्र और परिवार में उसका बढ़ता हुआ सम्मान पियैश्कोव के मामा-मामी के लिए ईर्ष्या का विषय हो गया।

नियति ने स्वयं ही मैक्सिम को— पियैश्कोव के जन्म के चार वर्ष बाद ही उठा लिया। यहीं से उनकी कष्ट-कठिनाइयों का दारुण अध्याय आरंभ होता है। अभी तक तो सभी अभाव पिता के सौम्य स्वभाव और लाड़-प्यार के कारण बिल्कुल भी खटकते न थे, परन्तु अब पियैश्कोव को ऐसे दिन देखने को मिले जब उसके सिर से पिता की छाया दूर हो गयी। वह अपनी नानी के पास ही रह गया। माता-पिता के लाड़-प्यार में पले पियैश्कोव को ननिहाल का अनुभव बड़ा ही कड़वा लगा। मामा झगड़ालू और क्रोधी थे। परिवार के सभी बच्चों की पीठ उनके करारे घूसों और तमाचों से बजती रहती थी।

नाना-नानी का विशेष प्रेम-पात्र होने के कारण पियैश्कोव कुछ समय तक तो बचा रहा परन्तु एक दिन असावधानीवश वह कोई गलती कर बैठा। फलस्वरूप पियैश्कोव को मामा के हाथों तो नहीं नाना के हाथों जरूर पिटना पड़ा। मार खाने का यह पहला अनुभव था। पियैश्कोव ने रोते हुए कहा— मेरे पिता होते तो कौन मुझे पीट सकता था ? माँ सहित नाना-नानी को आँसू आ गये। नानी ने अपने नाती को छाती से लगा लिया और कहा— "बेटा मैंने तुम्हें पीटा इसका बुरा मत मानना। मेरी बात याद रखो अपनों के हाथ पिटने में कोई हर्ज नहीं है। इसे शिक्षा समझना चाहिए लेकिन किसी गैर आदमी की क्या मजाल जो तुम्हें हाथ भी लगा ले।"

पियैश्कोव के नाना एक कारखाने के मालिक थे। बचपन में उन्हें बड़ी गरीबी और अभाव के दिन देखने पड़े थे। उनका विवाह भी एक गरीब कन्या से हुआ था, जो बड़ी ही उदार, स्नेह और ममता की प्रतिमा तथा करुणा की मूर्ति थी। वे स्वयं कठोर, श्रमशील, अनुशासित और व्यवस्थित जीवन पसन्द करने वाले व्यक्ति थे। दोनों के विशिष्ट स्वभाव जब एक बिन्दु पर आकर मिल गये तो स्वाभाविक ही समृद्धि और सम्पन्नता उनके चरण चूमने लगीं। बचपन में पियैश्कोव के नाना को अपने ही क्या गैरों के हाथों भी पिटना पड़ा था। वे अक्सर अपने अतीत के संस्मरण सुनाया करते। इस घटना के बाद उन्होंने कभी पियैश्कोव को हाथ नहीं लगाया।

नानी उन्हें अपने पिता और नाना के संघर्षपूर्ण जीवन की घटनायें तथा कहानियाँ सुनाया करती थीं। यद्यपि उन्हें किसी पाठशाला में पढ़ने के लिए नहीं भेजा जा सका परन्तु नानी की कहानियों ने पियैश्कोव को समाजपरक यथार्थ जगत की व्यावहारिक जानकारी और शिक्षण दिया। इन कहानियों ने उन्हें जागरूक तथा विचारशील दृष्टि दी। इधर उनकी माँ भी अधिक दिनों तक साथ नहीं रह सकी। वह अपने पुत्र को अपने माता-पिता के पास छोड़कर कहीं चली गई और दूसरी शादी कर ली। पियैश्कोव का हृदय टूट गया।

एक दिन गोर्की के नाना के कारखाने में आग लगी और सारी सम्पदा नष्ट हो गई। नाना विक्षिप्त से हो गए और उन्होंने पियैश्कोव

से कह दिया— एलेक्सी मेरे लिए यह मान लेना कठिन होगा कि मैं तुम्हें सदैव तमगे की तरह गले में लटकाये रहूँगा। अब तुम्हारे लिए मेरे पास कोई जगह नहीं है। तुम दुनिया में अपने लिए अलग जगह बनाओ।

पियैश्कोव को तनिक भी रंज नहीं हुआ न ही उन्हें बुरा ही लगा। बूढ़ी नानी के हृदय में अभी भी अपने नाती के लिए ममता का सागर हिलोरें मार रहा था। वे नाना का घर छोड़कर बाहर गाँव चले गये और कभी मोची के गुमास्ते का काम किया तो कभी माली का। सोडा-वाटर बेचने से लेकर रसोई बनाने और माल ढोने तक उन्होंने हर पेशा अपनाया परन्तु हर जगह दुर्भाग्य आड़े आ गया।

एक दिन उन्होंने कहीं दूर जाकर अपना भाग्य अजमाने का विचार किया और नानी के पास जाकर बोले मैं वोल्गा के पार जा रहा हूँ नानी।

'वहाँ क्या करेगा बेटा? यहाँ कोई काम नहीं मिला क्या? ....' एक साथ नानी ने कई प्रश्न पूछ लिए। परन्तु पियैश्कोव ने तो जाने की ठान ही ली। उस समय उनकी आयु कुल बारह वर्ष की थी। और वोल्गा तट पर जो उस गाँव के पास ही था आने-जाने वाले स्टीमरों में माल ढोने का काम करने लगे। एक दिन उन्होंने अपना समय निर्धारित कर लिया। नानी विदा देने आयी— 'अब तुम्हें फिर कभी न देख पाऊँगी बेटा! तुम न जाने कहाँ-कहाँ भटकोगे। कहकर उसने आँसू पोंछ लिए।'

नानी का बस चलता तो वह अपने नाती को यों न जाने देती। परन्तु क्या करे बेचारी! पति इतना कंजूस और स्वार्थी बन गया था कि उसकी कुछ भी न चल पाती। कारखाने में जब आग लगी तो सब लोगों को स्वाभाविक ही बड़ा दुःख हुआ परन्तु उसने यह कर सन्तोष मनाया कि यह कंजूसी और खुदगर्जी का दण्ड है।

स्टीमर में पियैश्कोव को दो रूबल (रूसी रुपया) प्रतिमास वेतन पर तश्तरियाँ धोने के काम में लगा दिया। अभी वे बालक ही थे परन्तु परिस्थितियों ने उनके मस्तिष्क को वयस्क और आत्मविश्वास को परिपक्व बना दिया था।

तीन-चार वर्ष तक, इसी प्रकार अपने दिन गुजारते हुए पियैश्कोव को आखिर उसी स्टीमर में रसोइए का काम मिल गया। अब तो वेतन भी बढ़ गया। पियैश्कोव ने अपने घुमक्कड़ जीवन में कई लोगों का सम्पर्क और सान्निध्य प्राप्त किया। उन्होंने देखा कि अधिकांश लोग तुच्छ और क्षुद्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं। घृणित से घृणित निन्द्य कर्मों में लोगों को तनिक भी संकोच नहीं होता। परन्तु वे इन नृशंस लीलाओं से अप्रभावित ही रहे। बचपन से सुनी कहानियों और आदर्शों ने सदैव उनकी रक्षा की।

१५-१६ वर्ष की आयु में वे एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आये जो उनसे बड़ी सहानुभूति रखता था। वह भी एक रसोइया ही था जिसे सभी लोगस्मिडरी कहा करते थे। एक दिन स्मिडरी ने कहा पियैश्कोव तुम थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना जानते हो क्या?

'मुझें कभी मौका ही नहीं मिला'— पियैश्कोव ने कहा— 'हालांकि जी तो बहुत होता है।'

स्मिडरी जवान रसोइये की इच्छा को समझकर वर्णमाला सिखाने और पढ़ाने लगा। यहीं पर उन्होंने थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीखा। उनकी बुद्धि तो जीवन के अनुभवों ने पहले ही विकसित कर दी थी। स्टीमर के यात्रियों में कई लोग ऐसे भी आते जो पियैश्कोव से प्रभावित होते। पियैश्कोव अब गोर्की के नाम से अपना परिचय देते जिसका अर्थ होता है— कटु। वास्तव में अभी तक उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी भोगा था वह कटु ही था।

एक और कड़ुवा अनुभव उन्हें स्टीमर के जीवन में भोगना पड़ा। स्टीमर के कर्मचारी अक्सर यात्रियों से भोजन का पैसा लेकर अपने पास रख लेते थे। पियैश्कोव ने ऐसे कामों में कभी उनका सहयोग नहीं किया। इस कारण अधिकांश भ्रष्ट कर्मचारी उनसे नाराज और चिढ़े हुए रहते। आखिर एक दिन स्टीमर के अधिकारी को यह सब पता चल गया और पूछताछ हुई। सभी लोगों ने गोर्की को दोषी ठहराया। प्रमाण न होने पर भी बहुमत को सत्य समझा गया और उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। ईमानदारी और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था को पाशविकता का यह पहला दण्ड था। कोई भी सामान्य आदमी तात्कालिक लाभ के लिए परिस्थितियों से समझौता कर लेता परन्तु गोर्की तो आदर्शों के प्रति दृढ़ निष्ठा रखते थे। लाभ नहीं उत्कृष्टता उनका अभीष्ट था।

मैक्सिम गोर्की ने परिस्थितियों से समझौता नहीं किया और न उनके सामने घुटने ही टेके परन्तु उनके अन्तःकरण में मनुष्य को सभ्यता और नैतिकता की मर्यादाओं का उल्लंघन करते देख एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई और वे विद्रोही बन गये। उन्होंने जो कुछ देखा, सुना और अनुभव किया उसे कालान्तर में शब्द देना आरम्भ किया। इसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन उन्हें एक दूसरे रूसी लेखक कोरोनिन से प्राप्त हुई थी। स्टीमर की नौकरी छोड़ देने के बाद भी वे स्थाई रूप से टिक न पाये।

गोर्की ने अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त किये थे, वे सब के सब कटु और वेदना से भरे हुए थे। इस प्रकार के जीवन ने उन्हें जो अमूल्य रत्न कण दिये उनसे प्रेरित होकर गोर्की ने दुःख-दारिद्रय के सागर का अवगाहन किया। कोरोनिन से प्रोत्साहन प्राप्त कर उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया। उस समय रूस में प्रधानतया दो विचारधारायें चल रही थीं नीत्से का मत्स्य न्याय सिद्धान्त जिसके अनुसार महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को अपने से निम्न स्थिति के लोगों की टाँग खींचकर ऊँचा उठने की बात कही गयी थी। दूसरे विचारकों ने खुशामद और अतिनम्रता का प्रचार किया जो मनुष्य को आत्माभिमान से एकदम गिरा देती है। गोर्की को ये दोनों जीवन दर्शन अनुपयुक्त लगे और इस सिद्धान्त का प्रचार किया जो उठने को उत्सुक है उसे सहारा दो और खड़े होने में मदद करो। यद्यपि उन्हें अपने जीवन में कोरोनिन और स्टीमर के बावर्ची को छोड़कर कभी किसी का सहयोग नहीं मिला फिर भी मानवता में उन्होंने अटूट विश्वास व्यक्त किया।

यह युग जारशाही का था। तत्कालीन स्थिति का उल्लेख करते हुए स्वयं गोर्की ने लिखा है— 'इस देश में अच्छे और भले कामों

का नाम अपराध है, ऐसे मन्त्री शासन करते हैं जो किसानों के मुँह की रोटी का टुकड़ा तक छीन लेते हैं और ऐसे राजा राज्य करते हैं जो हत्यारों को सेनापति और सेनापति को हत्यारा बनाने में प्रसन्न होते हैं।' तब तक मैक्सिम गोर्की की ख्याति और प्रतिष्ठा लोक प्रसिद्ध बन चुकी थी। अब छोटा, गरीब और मध्यम वर्ग उनके साहित्य में अपनी प्रतिच्छाया देखने लगा था क्योंकि वे स्वयं उसी में से आये थे।

सन् १९०५ में मैक्सिम गोर्की और उनके जैसे ही कई लेखकों, जागरूक जन-नेताओं के प्रयासों से रूस में कुछ सुधार हुए जिन्हें अपर्याप्त ही कहा जाना चाहिए। गोर्की ने इन सुधारों पर यथार्थ टिप्पणी की तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। प्रबल जन-विरोध के कारण जार को उन्हें छोड़ना पड़ा। आतंक और दमन की लीलाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा— "रूस की आग बुझी नहीं है वह दब गई है। इसलिए कि दस गुनी शक्ति के साथ उमड़ पड़े।" बारह वर्ष बाद उनका यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

इस उक्ति को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने बारह वर्षों तक अथक परिश्रम किया। इसके लिए वे देश-विदेश में घूमे, अपने यहाँ की विभूतियों से मिले। टॉल्स्टॉय तो उनसे मिलकर बड़े प्रभावित हुये थे और उनके लिए 'सच्चे प्रजा पुत्र'— का सम्बोधन दिया था।

धार्मिक क्रान्ति के सूत्र संचालक— मार्टिन लूथर

आज से कोई साढ़े चार सौ वर्ष पहले जर्मनी के ऑगस्टिनन साधु संघ के एक सामान्य पादरी ने तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध एक समर्थ क्रांति प्रारम्भ की और उन सड़ी-गली प्रथा-परम्पराओं को तोड़ फेंका जो धर्म के नाम पर पाखण्ड व कुछ लोगों के स्वार्थ सिद्धि का हेतु बनी थीं। इस क्रांति दृष्टा का नाम था मार्टिन लूथर। आज सैकड़ों वर्ष बाद भी ईसाई जगत में उनका नाम सम्मान व आदर के साथ लिया जाता है।

मार्टिन लूथर का जन्म संवत् १४९४ में जर्मनी के एक समृद्ध परिवार में हुआ। उनके पिता एक लौह परिद्रावक के मालिक थे। धार्मिक संस्कार उन्हें अपने ईश्वर विश्वासी माता-पिता से मिले थे। अपने सात भाइयों में वे सबसे बड़े थे। अतः उन्हें ही अपने पिता का व्यवसाय सम्हालना चाहिए था किन्तु लोक-कल्याण की प्रबल उमंगों ने उन्हें अर्थ की ओर से उदासीन ही बनाये रखा।

स्थानीय प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् तेरह वर्ष की आयु में किशोर मार्टिन को मेडल वर्ग के एक विद्यालय में धर्म तथा जीवन सम्बन्धी सामान्य शिक्षण प्राप्त करने के लिए भेजा गया। उन्होंने बाइबिल तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। उसी समय से उनके मन में धर्म प्रचारक बनने का संकल्प परिपुष्ट होने लगा। १५०१ में ईर्फुर्ट विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट हुए। वहीं से उन्होंने बी.ए. व एम. ए. की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की।

उनके पिता की इच्छा थी कि वे कानून पढ़कर उनके व्यवसाय में मदद करने लग जायें। पिता का मन रखने के लिए उन्होंने कानून पढ़ाये जाने वाले विद्यालय में प्रवेश भी लिया। किन्तु कुछ ही महीनों में उन्हें यह पढ़ाई बन्द ही कर देनी पड़ी क्योंकि जिस कार्य में रुचि नहीं, अन्तःकरण कुछ दूसरे ही काम को सिर पर उठाने की मनुहार कर रहा है तो वे इस सच को झूठ व झूठ को सच करने वाली विद्या को कब तक बेमन से पढ़ते रहते। अतः उन्होंने अपने पिता से अपने मन की बात कह दी— "पिताजी ! मेरे अतिरिक्त छह और हैं उनमें से किसी अन्य को वकील बना लेना, मेरी इच्छा तो धर्म प्रचारक बनकर समाज सेवा करने की है। अपने परिवार से इतना अनुदान तो मानवता को मिलना ही चाहिए।"

मार्टिन के धर्मपरायण पिता को अपने पुत्र का यह निश्चय उचित ही लगा और उन्होंने मार्टिन को धर्म-प्रचारक बनने की इजाजत दे दी। अब वे इर्फुर्ट के आगस्टिलन साधु संघ में प्रविष्ट हुए। इन साधु संघ की परम्परा नवागन्तुक पादरी के संयम की कड़ी परीक्षा लेने की थी। अतः उनकी परीक्षा भी ली गयी। उन्हें घण्टों तक कड़ी शीत में बिना कम्बल ओढ़े सुलाया गया। घण्टों धूप में निरुद्देश्य बिठाये रखा गया। वे उन कड़ी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए तथा उन्हें साधु संघ में प्रविष्ट कर लिया गया। इसके पश्चात् १५१२ में उन्होंने विटन वर्ग विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर आफ थियोलोजी (ब्रह्म विद्या) की उपाधि प्राप्त की।'

मार्टिन लूथर पक्के आस्तिक तथा मनुष्य जीवन की गरिमा से परिचित थे अतः वे 'शुभकार्य जितना शीघ्र हो सके हो जाना चाहिए' की रीतिनीति को ही श्रेष्ठ मानते थे। यही कारण था कि उन्होंने आरम्भ में ही अपने जीवन के उस पथ को चुना जो महानता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला था।

जहाँ मनुष्य में योग्यता भी हो और वह उसका सदुपयोग करने के लिए तत्पर भी हो तो उसे आगे बढ़ते हुए देर नहीं लगती। मार्टिन लूथर के साधु संघ में प्रविष्ट होने से कुछ वर्षों बाद ही उन्होंने संघ में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

उनके जिम्मे अनेकानेक काम थे। वे ग्रामों के गिरजाघरों में उपदेश देने जाते। बाहर के ग्यारह साधु संस्थानों की भोजन व प्रार्थना आदि की देख-रेख भी वे करते थे। छोटे पादरियों को पढ़ाने का काम भी उन्हें करना पड़ता था। साधु होने का अर्थ वे अकर्मण्य होना नहीं वरन् रात-दिन निःस्वार्थ भाव से काम करना मानते थे।

इतने काम करने के बाद भी वे अपनी नियमित दिनचर्या में से लेखन के लिए समय निकाल लेते थे। वे पत्रों, पुस्तकों, प्रश्नोत्तरियों व लेखों में धर्म के शाश्वत सत्यों का सरल-सुगम भाषा में निरूपण किया करते थे। उन्होंने पुस्तकाकार के कोई ३०,००० पत्र अपने जीवन-काल में लिखे थे।

धर्म के गूढ़ अध्ययन तथा साधु का संयमित जीवन जीते हुए वे धर्म की उस शक्ति से परिचित हो चुके थे जो मनुष्य को सद्मार्ग पर चलाया करती है जिससे इस धरती पर सुख-शांति की अभिवृद्धि होती है। किन्तु वे देख रहे थे कि ईसाई जगत में धर्म के नाम पर

कुछ और ही काम हो रहा था । धर्माचार्यगण जनता को भ्रमित कर धर्म के नाम पर आशीर्वाद और वरदानों की दुकानें लगाये बैठे थे और दोनों हाथों से सोना-चाँदी लूट रहे थे ।

उस समय की दशा का चित्रण जर्मनी के कैथोलिक लेखक कार्ल आदम ने लिखा था— "धर्माचार्य के उच्च पद इटली के राजकुमारों तथा उनके निकट सम्बन्धियों के लिए लगभग सुरक्षित से हैं । इन महत्त्वपूर्ण पदों पर जो राजसत्ता से भी ऊँचे माने जाते थे, पर व्यक्ति की योग्यता, धार्मिक तथा चारित्रिक तथा परमार्थ परायणता के मानदण्ड से नियुक्तियाँ नहीं होने के कारण ऐसे लोगों का एकाधिकार हो गया है जो उन आसनों पर बैठकर लोगों से धन ले-लेकर 'पापों से मुक्ति' व 'ईश्वर की कृपा' बेच रहे हैं ।

छोटे पादरियों का हाल भी बड़े पादरियों की देखा-देखी बिगड़ चुका है । वे अपने चरित्र व संयम की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते । झूठ, शराबखोरी, जुआ तथा अन्धविश्वास के पंक में डूबकर हीन हो चुके हैं । उनका ध्यान धर्म कृत्यों व संस्कारों में निहित भावना पर नहीं रहता । वे तो यह देखते हैं कि कब कोई अमीर आदमी संस्कार कराने आये और उन्हें धन मिले । गरीब परिवारों के शव कई दिनों तक पड़े भी रहते तो वे अन्तिम संस्कार कराने नहीं जाते क्योंकि वहां उन्हें अधिक कुछ मिलने वाला नहीं होता ।"

मार्टिन लूथर इस भयंकरता को देखकर चिन्तित हो उठे । इस प्रकार धर्माचार्यों को धन देकर स्वर्ग का टिकिट या ईश्वर की कृपा खरीदने वालों को न तो पापों से ही मुक्ति मिल सकती है न उनका परलोक ही सुधर सकता है । किन्तु धर्माचार्यों व पादरियों के इस आचरण का कुप्रभाव जनमानस पर पड़े बिना नहीं रहता । वे भी धर्म को कहने-सुनने की बात मानने लगते हैं । आचरण की नहीं । इस प्रकार लोगों की पाप, पुण्य की मान्यतायें ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं ।

मार्टिन लूथर ने जनता को इस धार्मिक अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाने का संकल्प ले लिया । वे जानते थे कि पोप और बड़े-बड़े पादरियों के आगे उनकी स्थिति नगण्य-सी है । किन्तु उन्हें यह भी विश्वास था कि सत्य की शक्ति सर्वोपरि है उसके आगे बड़ी-बड़ी ताकतों को भी झुकना पड़ता है । भगवान यीशु के पास यही शक्ति तो थी । ईश्वर सदा सत्य और न्याय के पीछे रहता है ।

उन्होंने चल रही धर्म-व्यवस्था के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करनी आरम्भ कर दी । बाइबिल को ही आधार बनाकर चले । उन्होंने अपने उपदेशों, प्रवचनों में जोरदार शब्दों में यह बात कहनी आरम्भ कर दी— "व्यक्ति के कर्म प्रमुख हैं । कर्मों के अनुसार ही दयालु— न्यायकारी ईश्वर दण्ड पुरस्कार देता है । स्वर्ग व पापों से मुक्ति शुभ कर्मों के द्वारा ही मिल सकती है पैसों से खरीदी गयी 'ईश्वर की कृपा' व 'पापों से मुक्ति' कुछ काम देने वाली नहीं है ।"

पोप ने स्थान-स्थान पर अपने एजेण्ट पादरियों की नियुक्ति 'ईश्वर की कृपा' व 'मुक्ति' बेचने के लिए कर रखी थी । इस विवेक सम्मत तथा युक्तियुक्त प्रतिपादन का उन दुकानों पर प्रभाव पड़ा । लोग उनकी सच्चाई समझने लगे थे । इन्हीं दिनों १५१७ में पोप लिओ दसवें ने सेंट पीटर्स सभा भवन के निर्माण के नाम पर जॉन टेनलित मुनेज नामक एक प्रतिनिधि को 'कृपा' बेचने के लिए नियुक्त किया ।

मार्टिन लूथर ने इसके विरोध में अपने लिखे हुए धर्म विषयक ९५ शोध ग्रन्थों के विटन वर्ग केथेड्रिल चर्च में भिजवा दिया तथा उन पर धर्मविदों का वाद आयोजित कर इस 'ईश्वरीय कृपा बेचने के निर्णय' के औचित्य को चुनौती दी । तब तक मुद्रण कला का शुभारम्भ भी हो चुका था । इस सुविधा का लाभ भी उन्होंने उठाया और अपने शोध ग्रन्थों को छपा-छपाकर गिरजाघरों, विश्वविद्यालयों तथा धार्मिक केन्द्रों को भेजकर पोप के निर्णय के खोखले-पन को उजागर कर दिया ।

धर्म के आसनों पर डेरा जमाये हुए स्वार्थी तत्त्वों पर इसकी कड़ी प्रतिक्रिया हुई । इन्हें अपने आसन हिलते हुए दिखाई देने लगे । तत्कालीन पोप तथा उसके समर्थकों ने मार्टिन लूथर को 'धर्मद्रोही' की संज्ञा दी तथा उनके कृत्यों को नितान्त धर्म विरोधी तथा भ्रामक ठहराया । पोप ने मार्टिन लूथर से इसका कारण स्पष्ट करने को कहा । इस पर उनका उत्तर था कि इसका निर्णय धर्मविदों की कौंसिल में किया जाय ।

पोप इसके लिए तैयार नहीं हुआ क्योंकि वहां हार जाने की पूरी आशंका थी । अतः उसने राजा चार्ल्स पाँचवें के दरबार में मार्टिन लूथर पर धर्मद्रोह का अपराध लगवाया । वहां भी मार्टिन लूथर का पलड़ा भारी रहा । फिर भी पोप ने अपने प्रभाव के बल पर न्यायाधिकारियों की बैंच के अधिकांश न्यायविदों की अनुपस्थिति में मार्टिन लूथर को निर्वासन का दण्ड दिलवाया ।

मार्टिन को जर्मनी छोड़ना पड़ा फिर भी उन्होंने जो आवाज बुलन्द की थी वह तो रुकी नहीं । धर्म के नाम पर होने वाली लूट समाप्त होकर रही । वे योरोप में भ्रमण करके शाश्वत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे । उनके पक्षधरों की संख्या बढ़ती ही गयी तथा प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के रूप में सुदृढ़ होती चली गयी ।

कुछ वर्षों के बाद जर्मनी के राजा ने उन्हें ससम्मान अपने देश बुलाया, वे वहां वटन वर्ग विश्वविद्यालय में आचार्य पद पर अपनी सेवाएं अर्पित करते रहे । उन्होंने अपने इस सेवा काल में कई धर्म ग्रन्थों का अनुवाद किया, धार्मिक पुस्तकें लिखीं तथा भक्ति संगीत लिपिबद्ध किये । बयालीस वर्ष की आयु में उन्होंने केथरीन वानबोरा नामक महिला से शादी की जो पहले किसी धर्म संस्थान में 'नन' थीं । दोनों संयमी थे । उनका पारिवारिक जीवन बड़ा सुखपूर्ण था ।

मार्टिन लूथर का यह जीवन वृत्त ईसाई धर्मावलम्बियों के लिए ही नहीं सब धर्मावलम्बियों को यह दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त है कि धार्मिक आस्था तो अनिवार्य है किन्तु अंध श्रद्धा, अन्धविश्वास नहीं । धर्म पर जब भी स्वार्थी तत्त्व छाने लगें, अन्धविश्वास उसे विकृत करने लगे तब उसमें सुधार-क्रांति भी आवश्यक है ।

पेरू के यातून पापा—डॉ. थियोडोर वाइडर

स्विटजरलैण्ड की एक आम-सभा में डॉ. श्वाइत्जर का भाषण हो रहा था। विषय था— मनुष्य जाति की सेवा। डॉ. श्वाइत्जर उन दिनों अफ्रीका के घने जंगलों में जहां सूर्य का प्रकाश भी पैर रखने से डरता था, आदिवासी हब्शियों की चिकित्सा सेवा करते थे। भाषण में वे उन कठिनाइयों का उल्लेख भी कर रहे थे और सेवा से प्रसुप्त मन को मिलने वाली शान्ति और आत्म-सुख की प्रशंसा भी करते जाते थे।

मंच से ५० फीट की दूर पर एक ११ वर्षीय बच्चा बैठा ध्यान से भाषण सुन रहा था। आध घण्टे का भाषण आध घण्टे में समाप्त हो गया। सब लोग अपने-अपने घर चले गये, पर बच्चा अब भी किसी ध्यान में खोया हुआ-सा चुपचाप बैठा था। अन्तर्दर्शी श्वाइत्जर की भावनाओं से बालक का अन्तर्क्रन्दन छिपा न रहा। वे मंच से उतर कर उसके पास गये और स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुये बोले, बच्चे! सब लोग चले गये, तुम यहाँ अभी तक किसलिये बैठे हो?

बच्चे का ध्यान भंग हुआ, उसने श्वाइत्जर को प्रणाम निवेदन किया और बोला— मैं भी गरीबों और पिछड़े हुओं की सेवा करने के बारे में सोच रहा था, क्या आप मुझे भी अपने साथ ले चलेंगे? श्वाइत्जर ने उसकी पीठ थपथपाते हुये कहा— तुम बड़े होनहार हो, जरूर सेवा करोगे पर अभी तुम डॉक्टरी पढ़ो। पढ़-लिख लोगे तो सेवा के लिये तुम्हें स्वत: राह मिल जायेगी।

स्नेह आशीर्वाद का जो प्रभाव कोमल चित्त बच्चे पर होता है वही उस बालक पर हुआ। वह श्वाइत्जर का निष्ठावान भक्त बन गया। उसने वहीं प्रतिज्ञा की कि मैं डॉक्टरी पढ़ूँगा और बड़ा होकर दीन-दु:खियों की तन, मन, धन से सेवा करूँगा।

आज आपको पेरू जाने का अवसर मिले तो आप उस बालक के संकल्प को चरितार्थ हुआ देख सकते हैं। वही बालक अब डॉ. थियोडोर वाइडर नाम से विख्यात है। पेरू के अधिकांश आदिवासी कबीले भारतीय वंशज हैं वे लोग वाइडर को प्यार से यातून पापा (सबका पिता) कहकर पुकारते हैं। उस व्यक्ति की सेवा-साधना का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पेरू के कोने-कोने से मरीज इलाज के लिये यहाँ पहुँचते हैं। एक बार शेपीबों का सरदार अपने १६ वर्षीय पुत्र को चिकित्सा के लिये डॉ. वाइडर के पास लाया। इस अस्पताल तक पहुँचने में सरदार को १८ दिन लगे थे।

सेवा-सहयोग और सहानुभूति की बात किसी के मन में आती भी है तो वह साधन और सुविधाओं की बात पहले उपस्थित कर देते हैं तथा मूल्य और मान अर्जित करने की। यह सेवा-भावना का महत्त्व कम कर देती है। सेवा का यथार्थ रूप और उसकी कसौटी तो अभाव, कष्ट और संघर्ष हैं। संघर्षों में भी अपने जीवन का भाग, अपनी योग्यता, क्षमता और समर्थता का लाभ औरों को, पिछड़े, दीन, हीन गरीब, मलीजों को देने वाले ही सच्चे जनसेवक कहलाते हैं। डॉ. वाइडर उन्हीं में से एक हैं।

डॉ. श्वाइत्जर का आशीर्वाद पाकर डॉ. वाइडर जो तब बच्चे थे विज्ञान और डॉक्टरी पढ़ने लगे। बड़े परिश्रम से उन्होंने आगे काम आने वाली योग्यता को बढ़ाया। इन दिनों उनका अपने मार्गदर्शक से बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। उसका एक लाभ यह हुआ कि वह मानव जाति की उत्कृष्ट सेवा की प्रेरणा ग्रहण निरन्तर करते रहे।

वाइडर ने पेरू के गरीब आदिवासियों के विषय में पहले से ही सुन रखा था। उन्हें जिस दिन मालूम हुआ था कि वहाँ के निवासी भारतीयों को चिकित्सा की जरा-भी सुविधायें उपलब्ध नहीं, उनके ५० प्रतिशत से भी अधिक बच्चे बचपन में ही मर जाते हैं, निर्धनता, अज्ञानता का ही उन पर दुष्प्रभाव नहीं, वे लोग संस्कारविहीन भी हैं, तभी से उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यही उनकी सेवा का उपयुक्त क्षेत्र है।

अभी उन्होंने शिक्षा साधना पूरी की थी। एक आवश्यकता और भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी, वह थी— धन की आवश्यकता। वाइडर जानते थे जो लोग अपनी आजीविका ही कठिनाई से चला पाते हैं, जो स्वत: मूर्छित हैं, उनकी सेवा और उनकी मूर्छा तोड़ने के लिये ज्ञान, दान और सेवा भावना का ही महत्त्व नहीं, व्यावहारिक साधन— धन की भी उतनी ही आवश्यकता है। ऐसे विषम विचार स्थल पर भी वाइडर ने संकल्प डिगाया नहीं वरन् उनकी इच्छा शक्ति और भी दृढ़ हो चली।

जर्मनी की लड़ाई छिड़ने पर वे मेडिकल आफिसर के रूप में काम करने लगे। नाजी विरोधी संस्था में भी काम किया। इसके बाद वे स्विटजरलैण्ड गये। वहाँ उन्होंने डॉक्टरी का शेष अध्ययन भी पूरा कर लिया।

अब तक मन की तुष्टि नहीं हुई थी। आत्मा को अपना अभीष्ट नहीं मिला था, इसलिये वे सदैव बेचैन रहा करते थे। जब कभी कोई परिचर्चा होती, डॉ. वाइडर कहते जब तक संसार में गरीब हैं हमें धनवान कहलाने का, जब तक अशिक्षित हैं शिक्षित कहलाने का और जब तक पृथ्वी का विशाल भू-भाग अज्ञान, कुसंस्कार, दीन-दुर्दशा ग्रस्त है तब तक अपने आप को सभ्य कहलाने का अधिकार नहीं हो सकता। पिछड़े हुओं को समान स्तर पर लाना प्रबुद्ध व्यक्तियों का धर्म है।

एक दिन आपने अपनी सहधर्मिणी सारमन के सामने अपनी योजना प्रस्तुत की। उन दिनों वाइडर की लिमानगर में अच्छी प्रैक्टिस चलती थी। पेरू का जीवन बड़ा ही दुर्गम है यह जानते हुये भी श्रीमती सारमन ने अपने पति की योजना का समर्थन किया और पूरा सहयोग देने का वचन देकर पत्नीत्व को सार्थक किया।

फिर क्या था। अमेजन के जंगल में २५ एकड़ जमीन खरीद कर उसे साफ कराया गया। डेनमार्क की इन्जीनियर श्रीमती कर्में शिमिलोव ने अस्पताल का नक्शा तैयार किया और भवन निर्माण भी उन्होंने कराया। जहाँ अच्छे संकल्प होते हैं वहाँ सम्पूर्ण सहयोग

और साधनों की पूर्ति के लिये भी अच्छे लोगों का अभाव नहीं रहता। उन्होंने अपने साथियों के कुछ ऐसे संगठन भी बनाये हैं जो इस चिकित्सालय और उसकी योजनाओं के लिये आर्थिक सहायता किया करते हैं।

१४ जनवरी, १९६० को डॉ. श्वाइत्जर के हाथों इस अस्पताल का उद्घाटन हुआ। स्थानीय नर्सों की आवश्यकता हुई उसके लिये श्रीमती वाइडर ने अथक परिश्रम किया और उन्होंने पेरू की ही ८नर्सें प्रशिक्षित कर लीं। ३० चारपाइयों, प्रयोगशाला और मरीजों के लिये झोंपड़ियों की व्यवस्था थी उन्होंने मनोयोगपूर्वक सम्पन्न की।

चिकित्सा की व्यवस्था हो जाने पर पिछड़ी हुई जनता को नया जीवन मिला। पर काम बड़ा कठिन है। यहाँ के लोग अन्धविश्वासी भी कम नहीं। एक दिन डॉक्टर ने एक मरीज बालक को दवा की गोलियाँ दीं। माँ दवा लेकर घर गई। दो-तीन गोलियाँ खाने के बाद बच्चे ने दवा लेने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह कड़वी थी। दवा तो किसी न किसी को खानी ही चाहिये इस मिथ्या विश्वास के कारण उस स्त्री ने बच्चे की दवा उसकी बहिन को दे दी और बहिन की दवा बच्चे को। फल यह हुआ कि बच्चा मर गया। ऐसी कठिनाइयाँ प्रारम्भ में आये दिन आती थीं तो भी वाइडर निराश नहीं हुये, उन्होंने अपना व्रत और भी लगनपूर्वक जारी रखा।

डॉ. वाइडर ने अनुभव किया कि इन लोगों की चिकित्सा ही काफी नहीं वरन् स्वस्थ और स्वच्छ वातावरण बनाना उससे भी अधिक आवश्यक है। गरीबी और भूख का मुकाबला करने के लिये खेती-बाड़ी की भी योजना बनाई और वहाँ के लोगों को कृषि, पशुपालन का काम सिखाना भी प्रारम्भ किया। कबीलों में परस्पर झगड़े हुआ करते थे उसमें उनकी शक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा नष्ट होता था, डॉ. वाइडर ने उसे दूर किया। उनमें परस्पर मेल-भाव पैदा किया। इन कार्यों में उन्हें बड़े तीव्र संघर्ष करने पड़े, विरोध और बाधाओं से लड़ना पड़ा है, तब आज ऐसी स्थिति बन सकी है कि अब वहाँ नया जीवन, नई दिशा, नये उद्योग, नये विश्वासों को जन्म मिला है। पेरू के आदिवासी सभ्य और सुसंस्कृत जीवन की ओर उन्मुख हुये हैं। पिछड़े हुए लोगों की सेवा डॉ. वाइडर की तरह करने, संघर्षों से न डरने और अपने ध्येय की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न करने से ही नव-निर्माण सार्थक होते हैं। ऐसे साहस, लगन की आज हमें और इस देश को बड़ी आवश्यकता है।

सेवा के मूर्तिमान प्रतीक— सन्त विनोबा भावे

अपने व्यक्तित्व विकास का रहस्य बतलाते हुए एक बार सन्त विनोबा भावे ने कहा कि "मैंने अपने शिक्षा काल में कभी एक क्षण भी खराब नहीं किया और न कभी निरर्थक अथवा निरुपयोगी श्रम किया। जो पूँजी मैंने उस समय प्राप्त की है वह मेरे आज तक काम आ रही है। परिश्रम करने से परिश्रमशीलता का विकास होता है और जीवन की सारी सुख-शान्ति का निवास परिश्रम की गोद में ही होता है।"

सन्त विनोबा का मूल नाम विनायक नरहरि भावे था। इनका जन्म बम्बई प्रान्त के कुलावा जिले में ग्यारह सितम्बर अठ्ठारहसौ पिचानवें में हुआ। विनायक नरहरि के माता-पिता बहुत ही धर्मात्मा और ईश्वर-भक्त थे। ब्राह्मणोचित गुणों से परिपूर्ण यह मराठा परिवार मध्यवर्ग का था।

विनोबा के जीवन पर माता-पिता के आचरण का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि धार्मिकता उनके रोम-रोम में बस गई। बहुत कुछ धार्मिक होने पर भी इनकी माता के विचार बड़े परिमार्जित एवं प्रगतिशील थे। हानिकर रूढ़ियों तथा निरर्थक परम्पराओं से उन्हें बहुत घृणा थी। जिन रीति-रिवाजों में वे कोई लाभकर तत्त्व न देखती थीं उनका पालन करना वे आवश्यक नहीं समझती थीं। माता की इस वैचारिक प्रगतिशीलता ने पुत्र की विचारधारा पर बड़ा ही वांछित प्रभाव डाला जिससे उनमें बाल्यकाल से ही किसी विषय पर मौलिक रूप से विचार करने और उनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता की विवेक बुद्धि का विकास हो गया। माता के दिए हुए यह संस्कार आगे चलकर उनके जीवन में ज्योति बनकर चमके, जिससे आज वे धर्म के युगीन व्याख्याकार के रूप में सम्मानित हैं।

आचार्य विनोबा भावे को बाल्यकाल से ही सामूहिकता में बहुत विश्वास रहा है। समय की पाबन्दी उनके माता-पिता की एक विशेष देन थी। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही पाकर विनोबा ने बड़ौदा हाई-स्कूल में कक्षा चार में प्रवेश लिया। घर पर माता-पिता द्वारा पढ़ाई में जगाई रुचि के कारण विनायक-विनोबा कक्षा के पाठ से सदैव आगे-आगे चलते थे। अपनी पाठ्य-पुस्तकों के साथ वे अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें भी पढ़ा करते थे जिससे दिनों-दिन उनके ज्ञान की जिज्ञासा बलवती होती गई। मनुष्य जिस विषय के प्रति अपना हृदय समर्पित कर देता है वह समयानुसार उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है, फिर वह कितना ही कठिन क्यों न हो।

कठिनता अथवा दुरूहता का अपना कोई मौलिक अस्तित्व नहीं है। ये वास्तव में मनुष्य की अरुचि तथा अलग्नता के ही बदले हुए रूप होते हैं। तन्मयता, लगन, रुचि और परिश्रम किसी भी कठिन से कठिन कहे जाने वाले कार्य को सरल बना देते हैं। सुरुचिपूर्ण संलग्नता में एक विशेषता है कि वह मनुष्य को कठिन एवं श्रमसाध्य विषयों की ओर ही झुकाती है, उन्हीं में रुचि उत्पन्न करती है। मस्तिष्क की अन्तिम सीमा तक पहुँचकर किसी विषय का निष्कर्ष निकालने पर ही किसी सच्चे अध्यवसायी को सन्तोष होता है। जिन कार्यों अथवा जिन विषयों में मन-मस्तिष्क को अपना पूरा कर्तव्य निभाने का अवसर न मिले ऐसे हल्के-फुल्के विषय में ज्ञानान्वेषक की रुचि कम ही रहती है और सुरुचिपूर्ण संलग्नता की प्रवृत्ति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को ज्ञान के प्रकाश से जगमगाकर पूर्ण बना देती है।

बालक विनायक— विनोबा को अन्य विषयों की अपेक्षा गणित में अधिक रुचि थी। प्रश्नों के अन्तराल में प्रवेश कर उनका हल निकालने में उसे वैसा ही आनन्द आता था जैसा किसी गोताखोर को

समुद्र से मोती पाने में। गणित के विषय में अन्य सारे विद्यार्थी विनायक-विनोबा को अपना नेता मानते थे। दूसरों के दुरूह प्रश्नों को हल करने, उन्हें उसकी रीति बतलाने, नई विधियाँ सिखाने के कारण विनायक-विनोबा में एक उत्तरदायित्वपूर्ण गुरुभाव का उदय हो जाने से उसमें प्रारम्भ से ही एक अपेक्षित गम्भीरता का समावेश हो गया जिसने उसके आचरण पर बड़ा ही अनुकूल प्रभाव डाला। अब वह प्रयत्न एवं परिश्रमपूर्वक अपनी योग्यता को निरन्तर तरो-ताजा बनाये रखने के लिये अधिकाधिक अध्ययन करते और नये-नये विषयों में अपना पथ प्रशस्त करने। जिसके परिणामस्वरूप उनका मस्तिष्क प्रखर से प्रखरतर होता गया और वे बड़ौदा हाईस्कूल के विशेष विद्यार्थी बन गये।

अपनी लोकप्रियता के कारण हाईस्कूल तक पहुँचते-पहुँचते विनायक-विनोबा विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या से घिरे रहने लगे। अपनी लोकप्रियता का उपयोग उन्होंने एक ऐसी मित्र-मंडली बनाकर किया जो अवकाश के समय में दूर-दूर तक भ्रमण करने जाती और देश, राष्ट्र तथा समाज की तत्कालिक समस्याओं के समझने के लिये विचार-विमर्श करती और आगे चलकर उसके समाधान के उपाय सोचती। माता-पिता के दिए संस्कारों के कारण विनायक-विनोबा ने अपनी रुचि के अनुसार अपनी मित्र-मंडली में भी आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न कर दी जो उनके चरित्र-निर्माण में बहुत दूर तक काम आई।

मैट्रिक के बाद कॉलिज के प्रथम वर्ष में विनायक-विनोबा ने अपनी मित्र-मंडली को 'विद्यार्थी-मंडल' नामक संस्था में बदल दिया और सुव्यवस्थित कार्यक्रम के साथ शिक्षा-प्रसार तथा समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसकी बैठकों में सामाजिक कुरीतियों तथा नैतिक पतन की कड़ी आलोचना की जाती। लोगों को सुधार की प्रेरणा दी जाती और प्रगतिशील नये विचारों की प्रतिस्थापना की जाती थी। जन-जागरण के लिये विनायक-विनोबा के इस विद्यार्थी-मंडल ने 'शिवाजी जयन्ती,' 'हनुमान जयन्ती,' 'गणपति-उत्सव' तथा 'दास नवमी' जैसे उत्सव इस प्रकार से मनाने प्रारम्भ किये, जिससे लोगों में धर्म के साथ राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना भी जागने लगी। इसके अतिरिक्त विनायक-विनोबा के नेतृत्व में इस विद्यार्थी-मंडल में जनता से एक-एक पैसा तथा पुस्तकें माँगकर एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें मोल-स्वर्थ, क्वान्डी के अप्राप्य कोष भी प्राप्य हो गये।

किन्तु पराधीनता की गन्ध देने वाली स्कूली शिक्षा से विनायक विनोबा को सन्तोष न हो सका, अस्तु वे दूसरे वर्ष ही कॉलिज छोड़कर सच्चे ज्ञान की तलाश में काशी चले गये और वहाँ से महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम।

महात्मा गाँधी के साबरमती आश्रम के वातावरण तथा गाँधी जी के सम्पर्क में पहुँचने पर विनायक नरहरि भावे को जिनका कि नाम गाँधी जी ने विनोबा भावे रख दिया था, हार्दिक शान्ति मिली। वहाँ जाकर उन्होंने अनुभव किया कि यही वह जगह है जहाँ संयमपूर्ण स्वावलम्बी तथा सच्ची सेवा भावना से ओत-प्रोत जीवन अपनाकर पूर्ण मनुष्य बनने का अवसर मिल सकता है।

मनुष्यता की पूर्णता प्राप्त करने के लिये विनोबा भावे ने अपना सम्पूर्ण जीवन आश्रम की सेवा तथा उसके कार्यक्रमों को समर्पित कर दिया। लोक-कल्याण की भावना से जनसेवा के प्रति सच्चा आत्म-समर्पण किये ही बिना किसी विशेष प्रयास से विनोबा जी का आत्मिक स्तर स्वयं ही कुछ ऊँचा उठ गया और उनमें काम करने की एक अद्भुत शक्ति भर गई। कहना न होगा कि मानवता की मंगल कामना करने वाले को अन्य मनुष्य की शक्ति का एक अंश स्वतः प्राप्त हो जाता है। इस विषय में जिसका दृष्टिकोण जितना व्यापक, जितना निःस्वार्थ और जितना ऊँचा होगा उसे दूसरों की शक्ति का अंश उसी अनुपात से अधिक प्राप्त होगा।

आश्रम में रहकर विनोबा जी सूत कातते, आध्यात्मिक अध्ययन करते, बच्चों को पढ़ाते, उन्हें दैनिक आचरण की शिक्षा देते, स्वावलम्बन, उद्योग तथा शारीरिक श्रम का अभ्यास कराते। उनकी इस परिश्रमपूर्ण शिक्षण कला से प्रभावित होकर आश्रमवासियों ने 'वर्धा-शिक्षण-योजना' के नाम पर शिक्षा की एक पद्धति का ही श्रीगणेश कर दिया।

पर्याप्त समय तक आश्रम में रहकर जब प्रयत्नपूर्वक विनोबा जी ने अपने पवित्र आचरण को पूर्ण परिपक्व बना लिया और संयम की आँच में अपने को तपाकर शुद्ध मानवता के दर्शन कर लिये तब वे एक साल की छुट्टी लेकर देशाटन के लिये आश्रम से चल पड़े। जिस अपने पूर्व गीता ज्ञान को उन्होंने गाँधी जी के सम्पर्क में विस्तृत किया था उसे अब व्यापक बनाने के लिए प्रकाण्ड विद्वान् नारायण शास्त्री मराठी के पास गये और प्राज्ञ पाठशाला में निरन्तर छह माह तक ब्रह्मसूत्र का अध्ययन किया। अनन्तर नगर-नगर, ग्राम-ग्राम गीता का ज्ञान वितरित कर और देश की सामाजिक अवस्था को अध्ययन करते हुये अवकाश समाप्त हो जाने पर पुनः आश्रम वापस आ गये।

अपने अनुभव, अध्यवसाय, अध्ययन, परिश्रम तथा सेवा भाव से विनोबा जी ने जो पात्रता अपने में उत्पन्न की थी उसके सम्मान में गाँधी जी द्वारा ग्राम सेवा मंडल, सेवा ग्राम आश्रम, तालीमी संघ, चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गौ सेवा संघ, महिला आश्रम आदि संस्थाओं के संचालन एवं प्रबन्ध का दायित्व उन्हें सौंप दिया, जिसे उन्होंने निस्पृह भाव से महात्मा गाँधी की सन्तोष-सीमा तक पूरा कर दिखाया।

इसके अतिरिक्त भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष में वे हर आन्दोलन तथा हर योजना के अन्तर्गत जेल गये और अनेकों यातनायें सहीं। विनोबा जी के जीवन का प्रमुख लक्ष्य दरिद्र नारायण की सेवा करना रहा है। अपने जीवन में उन्हे दो ही बात पसन्द हैं— आध्यात्मिक चिन्तन और दरिद्र नारायण की सेवा।

यद्यपि राजनैतिक आवश्यकता के समय भी विनोबा जी राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे तथापि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से तो वे देहातों तथा गरीबों को आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाने के लिए दिन-रात पैदल चलकर गरीबों के लिए भूमि माँगते हैं। उनकी यह सेवा भूदान तथा ग्राम दान के नाम से प्रसिद्ध है और वे महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी की भाँति भारत में पूजे जाते हैं।

सत्यमाप्यते

माँ ने कहा— "बच्चे, अब तुम समझदार हो गये हो। स्नान कर लिया करो और प्रतिदिन तुलसी के इस वृक्ष में जल भी चढ़ाया करो। तुलसी की उपासना की हमारी परम्परा पुरखों से चली आ रही है।"

बच्चे ने तर्क किया— "माँ तुम कितनी भोली हो। इतना भी नहीं जानती कि यह तो पेड़ है ? पेड़ों को भी कहीं पूजा की जाती है। इसमें समय व्यर्थ खोने से क्या लाभ है ?"

लाभ है मुन्ने ! श्रद्धा कभी निरर्थक नहीं जाती। हमारे जीवन में जो विकास और बौद्धिकता है, उसका आधार श्रद्धा ही है। श्रद्धा छोटी उपासना से विकसित होती है और अन्त में जीवन को महान् बना देती है, इसलिये यह भाव भी निर्मूल नहीं।

तब से विनोबा भावे जी ने प्रतिदिन तुलसी को जल देना प्रारम्भ कर दिया। माँ की शिक्षा कितनी सत्य निकली उसका प्रमाण अब सबके सामने है।

सत्याग्रह का परिणाम

काशी में विद्याध्ययन कर रहा एक छात्र एक दिन एक दुकान पर ताला खरीदने गया। एक ताले की कीमत पूछने पर दुकान वाले ने बताया इसकी कीमत दस आने है। लड़के ने देखा ताला बहुत हलका है सो वह बोला—श्रीमान "ताले की कीमत तो तीन आने लगती है पर आप कहते हैं तो आपकी बात ही सच माननी पड़ेगी— यह कहकर उसने दस आने चुकाये और वहाँ से ताला लेकर चला आया।"

लड़का प्रतिदिन उसी दुकान के सामने से होकर घूमने के लिये निकला करता—एक दिन दुकानदार ने स्वयं ही सामने आकर कहा— बेटा ! तुम्हारे, सत्य आग्रह के सम्मुख नतमस्तक हूँ, ताला सचमुच ही तीन आने का था। "यह लो अपने सात आने"— कहकर उसने पैसे लौटा दिये। यह बालक और कोई नहीं विनोबा जी थे दुकानदार ने फिर किसी ग्राहक को न ठगने की प्रतिज्ञा कर ली।

राणा की जयन्ती

बच्चों ने अपने नायक विन्या (अब विनोबा भावे) के नेतृत्व में प्रताप जयन्ती पाठशाला में न मनाकर वन में मनाई। दूसरे दिन अध्यापक जी ने बालकों से पूछा— "क्या महाराणा प्रताप की जयन्ती पाठशाला में नहीं मनाई जा सकती थी ?" "आप भी क्या कहते हैं गुरुजी ! स्वतंत्रता के पुजारी की जयन्ती इस कैदखाने में कैसे मनाई जा सकती थी।"

छोटे-से बालक विन्या के हृदय में भारत को स्वतन्त्र कराने हेतु धधक रही अग्नि को देखकर अध्यापक निरुत्तर हो गये।

गज का गीत—प्रेम

विनोबा उन दिनों बड़ौदा में रहते थे। उनके निवास स्थान से कोई दो फर्लांग पर एक मंदिर था। विनोबा प्रतिदिन मंदिर जाते और उसमें कुछ देर बैठकर भजन गाकर लौटते।

मंदिर के समीप ही एक रईस रहा करते थे सम्पतराव गायकवाड़। उनके पास एक हाथी था। विनोबा जब भजन गाते हाथी बड़े ध्यान से उनका भजन सुनता। विनोबा भावे के मंदिर में नियमपूर्वक जाने की तरह प्रतिदिन भजन सुनना हाथी का नियम बन गया।

एक दिन किसी काम की जल्दी थी। विनोबा मंदिर गये, भगवान् के दर्शन भी किये किन्तु रुके नहीं। एक मिनट में ही बाहर आ गये।

उन्हें बाहर आते देखकर हाथी चिल्लाने लगा। विनोबा को फिर मंदिर जाना पड़ा। कुछ क्षणों के लिये वे भीतर जाकर बैठ तो गये पर फिर शीघ्र ही बिना भजन गाये लौट पड़े।

हाथी फिर जोर-जोर से चिल्लाने और क्रोध प्रकट करने लगा। इस बार विनोबा मंदिर में फिर गये और पहले की तरह भजन गाया तब लौटे।

अब की बार हाथी प्रसन्न था, विनोबा को लगा जैसे उसके अन्तःकरण से आवाज आ रही है— "भगवान् का भजन किये बिना कोई काम शुरू नहीं करना चाहिये।" उस दिन से विनोबा जी हाथी को अपना गुरु समझने लगे।

शुभ संकल्प

'भूदान' के लिये देश के कई प्रान्तों का भ्रमण करते हुए विनोबा भारतवर्ष के अन्तिम छोर 'कन्याकुमारी' तक जा पहुँचे। यहाँ जब वे प्रातःकाल समुद्र के किनारे खड़े सूर्योदय की शोभा देख रहे थे तो अकस्मात उनको अनुभव हुआ कि उनकी अन्तरात्मा को कोई एक सन्देश दे रहा है। उनको स्मरण आया कि ठीक इसी स्थान पर आज से अनेक वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने 'देशोद्धार' और 'दरिद्र नारायण' की सेवा की प्रतिज्ञा की थी। उसको पूरा करने के लिये वे देश और विदेशों में निरन्तर फिरते रहे और एक ऐसा पौधा लगा गये जिसकी छाया में बैठकर आज भी सब तरह के तापों से आश्रय प्राप्त करते हैं। उस समय मानो विवेकानन्द की आत्मा ही उनकी आत्मा से कह रही थी कि मैंने 'देश-सेवा' का जो बीजारोपण किया था वह लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में वृद्धि करता हुआ फल-फूल देने की अवस्था में पहुँच गया है। अब उसकी रक्षा करना तुम्हारा काम है। विनोबा जी ने उसी समय समुद्र का जल हाथ में लिया और सूर्य भगवान् को साक्षी करके संकल्प किया कि "जब तक भारतीय ग्रामों में कष्ट सहन करने वाले असहाय गरीबों की दशा का सुधार नहीं हो जायेगा तब तक मैं विश्राम नहीं करूँगा।"

साधन का साथ

कुछ दिनों विनोबा भावे प्रतिदिन अपने पवनार आश्रम से लगभग तीन मील दूर स्थित सुरगाँव जाते थे, एक फावड़ा कन्धे पर रखकर

एक बार कमलनयन बजाज ने उनसे पूछा कि आप फावड़ा रोज इतनी दूर अपने साथ क्यों ले जाते हैं। उस गाँव में ही किसी के यहाँ आप फावड़ा क्यों नहीं छोड़ आते ?

विनोबा जी बोले, "जिस काम के लिए मैं जाता हूँ उसका औजार भी मेरे साथ ही होना चाहिए। फौज का सिपाही अपनी बन्दूक या

अन्य हथियार लेकर चलता है, उसी प्रकार एक 'सफैया' को भी अपना औजार सदा अपने साथ लेकर ही चलना चाहिए। सिपाही को अपने हथियारों से मोह हो जाता है उसी तरह हमें भी अपने औजारों को अपने साथ ले जाने में आनन्द और गौरव का अनुभव होना चाहिए।''

श्रम का मूल्य

पवनार में विनोबा जी प्रतिदिन आठ घण्टे कुँआ खोदने का काम करते थे। आसपास की संस्थाओं के लोग भी इस कार्य में उनकी मदद करते थे। कोई नेता या मन्त्री विनोबा जी से मिलने आते तो उन्हें भी यह काम करना पड़ता था। श्रीमती जानकी देवी बजाज भी कुछ दिन वहाँ रहीं और उन्होंने नियमित रूप से एक घण्टा चक्की पीसने, एक घण्टा रहट चलाने और छह घण्टे खाली-भरी टोकरी कुँए पर इधर-उधर देने का काम किया।

प्रसिद्ध उद्योगपति परिवार की इन सरल, निरभिमानी व सेवानिष्ठ महिला का यह उदाहरण निश्चित रूप से हमें प्रेरणा प्रकाश देने को पर्याप्त है। जो यह सोचते हैं कि हम सम्पन्न हैं परिश्रम क्यों करें वे बड़ी भूल करते हैं. परिश्रम और वह भी किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर किया वह काम पुण्य नहीं।

आठ घण्टे काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं को १३ आने पारिश्रमिक और भोजन मिलता था, जिसमें दाल, ज्वार की रोटी, मूँगफली का मक्खन और सब्जी होती थी। विनोबा जी कहते थे कि दूध, दही, घी, तेल तो सब मिले, जब कुँआ खुदे, उसमें से पानी निकले, पानी से खेती हो, खेती से घास-दाना हो जिससे गाय रखी जायें। तब तक इसी से काम चलाना होगा।

पक्षपात से दूर

विनोबा जी के साथ-साथ बहुधा कोई सम्बन्धी या मित्र बालक भी उनके घर में रहा करता था। उस बालक को भी घर में विनोबा के समान ही सुविधायें मिला करती थीं। भोजन आदि भी साथ-साथ समान स्तर का मिलता था। कभी-कभी घरों में बासा भोजन बचा रहना भी स्वाभाविक है। उनकी माता भोजन फेंके जाने के विरुद्ध थीं अस्तु वह भोजन मिल-जुल कर थोड़ा-थोड़ा खा लिया जाता था। ऐसे अवसर पर माता विनोबा को बासी भोजन देकर दूसरे को ताजा खिलाने का प्रयास करती थीं। विनोबा को इस पर कोई आन्तरिक विरोध नहीं था सहज सद्भावना का शिक्षण उन्हें प्रारम्भ से मिला था। किन्तु परिहास में एक दिन उन्होंने माँ से कहा — ''माँ, आपके मन में अभी भेद है।'' माँ प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देख उठीं। विनोबा ने हँसते हुए कहा ''हाँ देखो न, आप मुझे बासा भोजन देती हैं तथा अमुक साथी को ताजा।''

माँ की उदारता को पक्षपात की संज्ञा देकर विनोबा ने परिहास किया था किन्तु माता ने उसे दूसरे ढंग से लिया। बोली— बेटा तू ठीक कहता है। मानवीय दुर्बलतायें मुझमें भी हैं। तू मुझे अपना बेटा दीखता है तथा अभ्यागत अतिथि। इसे ईश्वर रूप अतिथि मानकर सहज ही मेरे द्वारा यह पक्षपात का व्यवहार हो जाता है। तुझे बेटा मानने के कारण तेरे प्रति अनेक प्रकार का स्नेह मन में उठता है। जब तुझे भी सामान्य दृष्टि से देख सकूँगी तब पक्षपात की आवश्यकता कहाँ रह जायेगी।

विनोबा को प्रसन्नता हुई। माता का एक और उज्ज्वल पक्ष उनके सामने आया था। समाज के सन्तुलन तथा आध्यात्मिकता की पकड़ का महत्त्वपूर्ण सूत्र उन्हें मिल गया था। लोग सन्तुष्टि के प्रयास में असंतुष्ट होते क्यों दिखाई दिया करते हैं। इसका कारण वह खोजा करते थे। आज उन्हें उसका एक विशिष्ट पक्ष दीखा। पक्षपात मनुष्य के अन्तःकरण को सहन नहीं होता। व्यक्ति अभाव स्वीकार कर लेता है, पक्षपात नहीं। अपने को पक्षपात से मुक्त अनुभव करने वाला अन्तःकरण ही सन्तोष का अनुभव करता है विनोबा ने माता की शिक्षा गाँठ में बाँध ली।

समस्या का समाधान

लॉर्ड मैकाले की शिक्षा योजना का एकमात्र उद्देश्य था अँग्रेजी शासन तन्त्र को चलाने के लिए आफिसों में क्लर्क और छोटे-बड़े कर्मचारी तैयार करना। स्वतन्त्र भारत के लिए यह शिक्षा पद्धति अव्यावहारिक और निरुपयोगी ही नहीं, अहितकारी भी लगी। तो महात्मा गाँधी ने शिक्षा में नये प्रयोग करने के लिए डॉ. जाकिर हुसैन, विनोबा भावे जैसे कर्मठ समाजसेवियों को नयी शिक्षा योजना तैयार करने के लिए कहा।

बड़े परिश्रमपूर्वक यह योजना बनी और इस योजना के अनुसार व्यवहार में लायी जाने वाली शिक्षा पद्धति को नाम दिया गया, नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा। विभिन्न स्थानों पर नयी तालीम के केन्द्र और पाठशालायें खोली गयीं। एक पाठशाला गुजरात प्रान्त के सूरत जिले में बेड़छी ग्राम में भी खुली। इस पाठशाला के अध्यापक बने श्री नारायण भाई देसाई। एक बार आचार्य विनोबा भावे इस पाठशाला को देखने आये और उन्होंने देसाई जी से पूछा— कोई दिक्कत तो नहीं।

नारायण भाई ने अपनी परेशानी बताते हुए कहा— इस शाला में कुछ बालक तो ऐसे आते हैं जो पढ़ने में बहुत तेज होते हैं। कुछ मध्यम श्रेणी के होते हैं और कुछेक एकदम कच्चे। अब समस्या यह है कि कच्चों को पक्का कराने लगें तो कुशाग्र छात्र यह समझने लगते हैं कि उनकी उपेक्षा हो रही है। होशियार छात्रों पर ध्यान दें तो कच्चे पिछड़ने लगते हैं तो आप ही बताइये कि मध्यम बुद्धि वालों को ध्यान में रखकर पढ़ाया जाये।

विनोबा भावे ने समस्या का समाधान करते हुए कहा— तत्त्व ज्ञानी लोग सबसे आगे चलने वालों के साथ चलते हैं। समाजशास्त्री मध्यम स्तर वालों के साथ परन्तु जो सेवक होता है उसे तो सबसे पीछे चलने वालों के साथ ही चलना पड़ता है।

वाणी का संयम

एक बार विनोबा से किसी ने पूछा कि ''जब आपको एक घण्टा या अधिक व्याख्यान देना पड़ता है, तब किस प्रकार उसकी तैयारी

करते हैं, कितना सोचते हैं ?'' विनोबा का उत्तर था— ''जब घण्टे भर बोलना ही है तो सोचना क्या ? कुछ भी कहा जा सकता है। किन्तु जब मुझे पंद्रह मिनट बोलना पड़ता है तब परिश्रम करना पड़ता है। गिने-चुने शब्द ही चुनने व बोलना होते हैं।'' पूछा गया— ''यदि पाँच मिनट ही बोलना हो तो ?'' ''तो सारगर्भित क्या है, उस पर भली-भाँति चिन्तन कर फिर बोलता हूँ। ऐसे में अनावश्यक विचारों की काट छाँट करके मात्र विषय की परिधि तक सीमित रह बोलना पड़ता है।'' सच ही है— अनावश्यक बकझक से समयक्षेप अवश्य होता है, कोई सुधराव व बदलाव नहीं आता। सधी, संयमित वाणी से निकले प्रभावोत्पादक विचार कुछ क्षणों में ही जनमानस को बदल देते हैं।

अपने लिये निर्धन समाज के लिये समृद्ध—हेनरी मेनकेन

बालजाक की पुस्तक खोलकर पढ़ी— लिखा था— ''जब तुम्हें यह स्पष्ट हो जाये कि लौकिकता, भौतिकता, धन-सम्पत्ति में सुख-सार नहीं। साधन और सुविधाओं के होते हुए भी अशान्ति हो तब कुछ समय के लिए निर्धन, अपाहिजों, रोगियों, अशिक्षित और पद-दलितों के पास जाकर देखना वहाँ तुम्हे शान्ति मिल सकती है क्या ? अन्तःकरण को उनकी सेवा के लिए प्रेरित करना तुम देखोगे शान्ति के द्वार खुलते जा रहे हैं, प्रसन्नता के भाण्डागार अनायास ही उपलब्ध होते जा रहे हैं।''

पुस्तक उठाकर एक तरफ रख दी। हेनरी मेनकेन बाहर निकला। कार निकाली और एक अस्पताल के लिये चल पड़ा। पूरा नाम हेनरी-एल-मेनकेन अमेरिका का सुप्रसिद्ध साहित्यकार था, जिसने पत्रकारिता के व्यवसाय में लाखों की सम्पत्ति कमाई पर उससे उसे तब तक आत्मसन्तोष न मिला जब तक उसने अपने-आपको पिछड़े हुये लोगों के उत्थान-अभियान में उत्सर्ग नहीं कर दिया।

मेनकेन अस्पताल पहुँचा। बिस्तरों पर पड़े मरीजों को देखकर उसकी वैभव-विलासनी आत्मा रो पड़ी। संसार में कितने प्राणी हैं जो दुःख और पीड़ाओं के अन्तर्गत में जकड़े पड़े हैं। उसके हृदय में करुणा का ज्वार फूट पड़ा। उनके लिये कुछ करने की इच्छा जाग पड़ी।

कई मरीजों से उसने बातचीत की। उनकी आर्थिक स्थिति से लेकर पारिवारिक अवस्था तक की पूछ-ताछ की। फिर जब उसने परिस्थितियों का विश्लेषण किया तो उसने पाया मनुष्य के दुःख और अभाव (१) सामाजिक विषमता, (२) व्यक्तिगत व चारित्रिक दोष, (३) अन्धविश्वास और कुरीतियों के कारण हैं। कुछ लोगों के पास धन है वह सुविधायें अपनी ओर खींच लेते हैं और लोग निर्धन रह जाते हैं फिर निर्धनता में उनके व्यक्तिगत दोष, आलस्य, असंयम और अपराध उन्हें और भी कष्टपूर्ण यातनाओं में धकेल देते हैं। उन्हें शिक्षा, श्रम, उद्योग और उपार्जन के लिए योग्य परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं। इसी से एक वर्ग तो उन्नतशील हो गया दूसरा दलित। यह भेद तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक साधनसम्पन्न और विकसित लोग स्वयं पीछे नहीं मुड़ते और हाथ का सहारा देकर दलित वर्ग को ऊपर नहीं उठाते। इस तरह की कल्पना ने मेनकेन के जीवन में एक नया मोड़ उत्पन्न कर दिया।

वह बाहर आए और अपनी कार यह कहकर बेच दी— जब हजारों को अच्छा भोजन, शिक्षा और चिकित्सा की सुविधायें भी न हों, कुछ लोग कार पर क्यों चलें ? क्यों अधिकतम सुविधाओं का उपभोग करें ? कार की बिक्री से आया धन अस्पताल को दान कर दिया। उस दिन से वह समृद्धि में भी निर्धनता का जीवन किस प्रसन्नता से जिया इसकी सैकड़ों घटनायें अमेरिका में पढ़ी, बात-चीत की जातीं और उदाहरण दी जाती हैं। तब से उसने प्रतिदिन दो घण्टे रोगियों, अपाहिजों और अविकसित लोगों के बीच जाने और उनकी सेवा करने के लिये आजीवन समय निकालना प्रारम्भ कर दिया।

अब उसकी पत्रकारिता भी समाज सेवा के शब्दों में जुड़ गई। उसने समाज सुधार के लेख चुटीली भाषा में लिखने और छापने प्रारम्भ किये उससे अमेरिकन बहुत प्रभावित हुये। ऊँच-नीच, वर्ग-भेद अति भौतिकता, जीव-हिंसा और बढ़ते हुये विज्ञानवाद पर उसने करारी चोटें कर जीव दया, समता और ईश्वर परायणता पर बहुत जोर दिया। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उसने एक विचारोत्तेजक पुस्तक लिखी जब इसका पता कुछ पूँजीपतियों और भेदभाव की नीति वालों को चला तो उन्होंने पुस्तक की चोरी करा ली और उसे जलवा दिया। मेनकेन की जान तक संकट में पड़ गई पर उसने 'सत्य के लिये संघर्ष' के सिद्धान्त को साँस चली तब तक छोड़ा ही नहीं। 'स्मार्ट सेट' और 'दी अमेरिकन मरकरी' नामक उसकी दो पत्रिकायें सारे देश को निरन्तर उक्त विचारों से अनुप्राणित करती रहीं। उसी का फल है कि भौतिकता के घने अंधकार में आज अमेरिका में मानवोचित सद्गुणों, आस्तिकता और प्राणिमात्र के दया का प्रकाश जगमगाता बच सका है।

उसने स्वयं कभी चमड़े के जूते नहीं पहने न जीव हिंसा वाली कोई औषधि ली। अपने लिये तो वह इतना निर्धन था कि घर टेलीफोन तक नहीं था पर समाज के लिये इतना उदार कि उसकी सारी सम्पत्ति लोकसेवा में ही खर्च हो गई।

फ्रांस का शान्ति-दीप—शांतिदास

शांतिदास— लांझडिल वास्तो— एक इटालियन राजकुमार थे। वे कवि, कलाकार और गाँधी-विचार के एक सच्चे अनुयायी भी थे। फ्रांस का यह इटालियन राजकुमार दक्षिण फ्रांस में एक आश्रम की स्थापना कर अपना तन-मन उसी में समर्पित कर रहा है।

१९३७ में शांतिदास प्रथम बार भारत में आये। उस समय उनकी अवस्था ३० साल की थी। पहले विश्वयुद्ध के बाद शांति की चाह निर्माण हुई। उन्होंने बापू के बारे मे काफी सुना था, तो भारत आकर बापू से मिले। हिमालय पर भी गये। वे कहते हैं— ''हिमालय में

बैठ कर मैंने ध्यान किया और हिमालय ने मुझे प्रेरणा दी । मैं वापस बापू के पास आया, बातें कीं और बापू ने मुझे फ्रांस वापस जाने की इजाजत दी । आशीर्वाद भी दिया ।''

हिमालय और हिमालय से बापू, दोनों से प्रेरणा लेकर शांतिदास जी फ्रांस गये पर सात साल तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी । फ्रांस का आधुनिकतम वातावरण, युद्ध की विभीषिकायें सहन किया हुआ मानस ऐसी परिस्थिति में अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करना आवश्यक ही था । दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हुआ और कुछ नवयुवक शांतिदास जी के पास आये उनके सहकार से दक्षिण फ्रांस में आश्रम की स्थापना हुई । शांतिदास की पत्नी ने भी पूरे उत्साह से और भावना से इस कार्य में योगदान दिया ।

इस आश्रम में जिसका नाम 'आर्क कम्युनिटी' है सब भाई-बहिन सामूहिक जीवन का सफल प्रयोग कर रहे हैं । सभी लोग शरीर श्रमनिष्ठा के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं । खेत में बिना ट्रैक्टर के खेती की जाती है । खेती के अतिरिक्त यहाँ बढ़ईगीरी, कताई-बुनाई आदि कार्य भी चलते हैं । आश्रमवासी इन प्रवृत्तियों द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं ।

इस आश्रम में बटन दबाते ही प्रकाश करने वाली बिजली नहीं है । प्रतिदिन हाथ से साफ किये हुए लालटेन आश्रम में रोशनी फैलाते हैं । कहीं भी टेबिल, कुर्सी की बैठक नहीं । नीचे जमीन पर बैठकर जमीन पर ही थाली रखकर भोजन किया जाता है । फ्रांस जैसे वैज्ञानिक सुविधा-सम्पन्न देश में भी आश्रम का वातावरण प्राचीन भारतीय आश्रम जैसा है । यहां के आश्रमवासियों ने संकल्प किया है कि संसार के अविकसित देशों में जो रहन-सहन और खान-पान का स्तर है वही हम अपनायेंगे । मशीनी युग का सम्पर्क यथासम्भव न होने देंगे ।

आश्रम में रोज आठ घण्टे शरीरश्रम करने के बाद रात्रि में प्रार्थना होती है जिसमें ध्यान एवं आत्म-चिन्तन पर अधिक बल दिया जाता है । शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि के लिये समय-समय पर उपवास किये जाते हैं । यों प्रति सप्ताह एक दिन सामूहिक उपवास और सामूहिक मौन का नियम है । स्नेह, सहयोग और समानता के आधार पर आश्रमवासी अपना जीवन जीने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

आश्रम में काम आने वाली प्रायः हर चीज वहीं तैयार की जाती हैं । पूर्णान्न की ब्रेड, दूध, पनीर, सब्जी, फल आदि सामान सब आश्रम के सदस्यों द्वारा ही तैयार किया जाता है । यद्यपि आज के समुन्नत व्यस्त जीवन में बाजार से मुक्ति पूर्णतया सम्भव नहीं, फिर भी आश्रम स्वावलम्बन की दृष्टि से अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनने में प्रयत्नशील है । आश्रम के सामूहिक जीवन की दूसरी बुनियादी बात है, सर्वसम्मति के सत्य का स्वीकार । आश्रम की योजना सर्वानुमति से बनायी जाती है । किसी भी प्रश्न पर निर्णय लेते समय सामूहिक चर्चा होकर सर्वानुमति से निर्णय लिया जाता है । चर्चा का वातावरण जब भी क्षुब्ध होता है तब कुछ समय के लिये मौन रखा जाता है ताकि मानसिक शांति के वातावरण में चर्चा आगे बढ़ सके । यदि किसी प्रश्न पर सर्वसम्मत निर्णय न हो सका तो बैठक स्थगित की जाती है और दूसरे सप्ताह में फिर उस पर पुनर्विचार होता है । कभी ऐसा भी अवसर आता है कि किसी निर्णय पर पहुँचना असम्भव-सा लगता है । तब प्रार्थना, ध्यान आदि का अवलम्बन लिया जाता है । यदा-कदा सामूहिक उपवास भी किये जाते हैं ।

मनुष्य से भूलें तो होती ही हैं पर आश्रम में गलतियों के लिये कोई दण्ड नहीं दिया जाता । अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूल के लिये स्वयं ही प्रायश्चित कर ले और भविष्य में गलती न करने का संकल्प करे । परन्तु कभी-कभी एकाध व्यक्ति यह अपेक्षा पूरी नहीं कर पाता, तब उसका साथी उसके सुधार के लिये प्रार्थना तथा उपवास करता है । यह माना जाता है कि आश्रम के किसी व्यक्ति की गलती केवल उसी व्यक्ति की नहीं उसकी जिम्मेदारी सारे आश्रम पर है । इसलिये उसके सुधार की जिम्मेदारी भी सब आश्रमवासियों पर है ।

आश्रम में आध्यात्मिक, अहिंसक जीवन-प्रणाली का एक आदर्श प्रयोग यहाँ हो रहा है । सामाजिक जीवन में भी इसका दर्शन कैसे हो सकता है इसकी प्रेरणा यहाँ से लोग लेते हैं । आश्रम में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी या संन्यासी कोई भी आश्रम के नियम और अनुशासन का पालन करते हुए रह सकता है ।

आश्रम में ही बच्चों के लिये मांटेसरी स्कूल है । बड़े बालकों को अन्यत्र विद्यालयों में भी भेजा जाता है । यहाँ बालकों को उनकी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है । इसके पीछे दृष्टि यह है कि उन पर कोई भी चीज लादी न जाय । बालक अपनी इच्छानुसार शिक्षा का माध्यम चुन लेते हैं ।

इसके अतिरिक्त आश्रम के लोग समाज-सेवा का कार्य भी करते हैं । विचार-प्रचार और विश्व-बन्धुत्व की भावना उनके प्रमुख कार्य हैं । समाज में अशान्ति को रोकने एवं शान्ति की स्थापना करने में आश्रम की सेवायें अग्रणी रही हैं । आज के विज्ञान के निरन्तर बढ़ते हुए कदम, भौतिकता की विपुलता एवं यन्त्र-युग के दिमाग बिगड़ने वाले कोलाहल-मय वातावरण में हिंसा की भायनक लपटों के बीच शान्तिदास के रूप में यह शान्ति-दीप पश्चिम की एक अनोखी शान्तिमय अहिंसक राह है । इसलिए इस इटालियन राजकुमार-लांझा-डेल-वास्नो का विनोबा जी ने शान्तिदास नामकरण किया है । फ्रांस में इन्हें गाँधी का पक्का अनुयायी एवं फ्रांस का शान्ति-दूत माना जाता है ।

नवयुग के सन्देश-वाहक— महात्मा बहा

ईरान की एक अदालत के सामने कुछ अभियुक्त लाकर खड़े किए गए जिन पर राज-विद्रोह और धर्म-विद्रोह का इल्जाम लगाया गया था । न्याय का यह तमाशा कई महीने से चल रहा था और 'धर्म' का नाम लेकर नर-राक्षसों की एक टोली ने सैकड़ों आत्म-बलिदानी वीरों की जीवन-लीला घोर-यंत्रणायें देकर— जिनका वर्णन करना मानवता को लज्जित करना है— समाप्त कर दी थी । इस समय अदालत में खड़े अभियुक्तों को भी पूर्णरूप से इसी फैसले की आशा

थी। पर यहाँ एक विपरीत दृश्य यह देखने में आ रहा था कि अभियुक्तों के मुखों पर वीरता, प्रसन्नता, तेज भाव फूटे पड़ते थे और न्यायाधीश की कुर्सियों पर बैठकर उनका फैसला करने वालों के चेहरों पर मलीनता, कायरता, हीनता छाई हुई दिखाई देती थी।

वे आत्मदानी वीर बाबी-बहाई-समाज के अनुयायी थे और आज उनके आराध्य— एक मात्र नेता महात्मा बहा भी उनके साथ खड़े किये गए थे। महात्मा बहा अभी ३५ वर्ष के युवक ही थे और एक बहुत प्रसिद्ध वैभवशाली परिवार के प्रधान व्यक्ति थे। पर इस समय शत्रुओं द्वारा एक कल्पित और अन्यायपूर्ण अभियोग में फँसाकर अदालत में लाकर खड़े किए गए थे और उनकी मौत सिर के ऊपर मँडराती दिखाई दे रही थी। तो भी सत्य, न्याय, परोपकार के लिये प्राण देने में नाम-मात्र का भी भय प्रतीत नहीं हो रहा था और उनके इस आत्म-तेज को सहज न करने से अदालत के अधिकारी कायरता और लज्जा का अनुभव कर रहे थे।

प्राण दण्ड का हुक्म सुनाया ही जाने वाला था कि अचानक दरवाजा खुला और रूस का राजदूत भीतर दाखिल हुआ। उसे देखकर सब छोटे-बड़े उठ खड़े हुए और अदालत के न्यायाधीश भी चौंक उठे। राजदूत ने चारों ओर निगाह डालकर इस दृश्य को देखा व वास्तविकता को समझा और न्यायाधीशों की तरफ देखकर कहा—

''मेरी बात सुनिए। मेरे पास आपको सुनाने के लिए एक बड़ा ही महत्वपूर्ण सन्देश है। क्या आप अभी तक जितनी निर्दयता कर चुके हैं उससे आपको संतोष नहीं हुआ? क्या आप इन निरीह और निर्दोषों में से अनेकों को पहले ही मौत के घाट नहीं उतार चुके हैं? क्या आपकी खून को प्यास की शान्त करने के लिये पहले ही पर्याप्त खून-खराबी नहीं हो चुकी है? कुछ भी हो अब और अधिक अत्याचार नहीं होने चाहिये। इस निरपराध महापुरुष की रक्षा के लिये मैंने अपने देश की सरकार की सहायता लेने का निश्चय कर लिया है। इसलिए मैं आपको सावधान किये देता हूँ कि आज और इस समय के बाद इस राजपुत्र का बाल भी बाँका हुआ तो इस अपराध की सजा में आपके शहर में खून की नदियाँ बहा दी जायेंगी। आप मेरी बात को जान लें कि अगर मेरे कहने के विरुद्ध आपने कुछ भी किया तो आपके लिए वह उचित न होगा।''

महात्मा बहा (जन्म १८१७) ईरान के एक बहुत बड़े वंश में जन्मे थे और अपने देवोपम गुणों के कारण वे छोटी अवस्था में जनता के प्रिय बन चुके थे। सन् १८४४ में जब ईरान के एक बड़े धर्म-सुधारक 'बाब' ने उस देश में फैले हुए राजनीतिक और धार्मिक भ्रष्टाचार को मिटाने के लिये आन्दोलन उठाया और यह प्रकट किया कि 'मेरा आविर्भाव न्याय, समता, भ्रातृभाव की स्थापना के लिये ही हुआ है, तो शासक-वर्ग और धर्मजीवी लोगों (मुल्लाओं) का कोप उन पर फट पड़ा और उनको ६ वर्ष तक विभिन्न जेलों में तरह-तरह से पीड़ा देकर सन् १८५० में गोलियों से उड़ा दिया। महात्मा बहा आरम्भ से ही बाब के सिद्धान्तों की सच्चाई को समझकर उनका प्रचार करने लग गये थे। अब जब बाब को इस लोक से हटा दिया गया तो उनका स्थान महात्मा बहा ने ग्रहण किया और अपनी पूरी शक्ति से बाबी-समाज की वृद्धि और संरक्षण में लग गए। पर उस समय 'बाबी' होना ईरान में मौत को निमन्त्रण देना था। सरकारी अधिकारी ही नहीं अनेक धर्मान्ध कठमुल्ला और गुण्डे भी दिन या रात में चाहे जब और चाहे जहाँ निर्दयतापूर्वक बाबियों की हत्या कर सकते थे, उनके घरों को लूट सकते थे, स्त्रियों को बेइज्जत कर सकते थे। सरकार उनको रोकने का कोई प्रयत्न नहीं करती थी, वरन् उलटा प्रोत्साहन देती थी।'

ऐसी दशा में महात्मा बहा ने दो वर्ष तक शत्रुओं के आक्रमणों को सहन करते हुये इस कार्य को चलाया और सब प्रकार के दमन का मुकाबला करते हुए बाबी-समाज की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की।

इसके पश्चात् ईरान की सरकार ने इनको देश निकाले का दण्ड दिया और वे बगदाद, एड्रियानोपल और अक्का में ४० वर्ष तक कैदी के रूप में रखे गए। यद्यपि इस बीच में इनको सरकारी नाराजगी तथा अपने ही कुछ साथियों की दुरभिसंधियों के कारण बहुत तकलीफें उठानी पड़ीं, पर तो भी इस बात का सन्तोष था कि ईरान से बाहर रहकर वे लिख कर और भेंट करके अपने सिद्धान्तों का बराबर प्रचार कर सके और उसके लिए पर्याप्त साहित्य का निर्माण कर दिया। सब प्रकार के विघ्न, बाधाओं और संकटों का सामना करके उन्होंने नवयुग और विश्व-धर्म के दैवी सन्देश को संसार के कोने-कोने में पहुँचा दिया इसलिए बहाई-समाज के सदस्य उनको दैवी-पुरुष मानते हैं।

महात्मा बहा के उपदेशों में सबसे महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादन किया है। यह नहीं कि वह अपने अनुयायियों अथवा किसी विशेष सम्प्रदाय की एकता का प्रयत्न करते हों, वरन् उन्होंने मनुष्य मात्र को परमपिता की सन्तान बतलाकर भाइयों के समान रहने का आदेश दिया। इस सम्बन्ध में उनके कुछ उपदेश इस प्रकार थे—

''हम एक ही संसार में रहने को आये हैं, एक ही ईश्वरेच्छा के वशीभूत होकर उत्पन्न हुए हैं, सौभाग्यशाली है वह जो सभी मनुष्यों के साथ कृपा और स्नेह की भावना रख कर घुल-मिल जाता है। तुम जातीय भेद-भावों की ओर से नेत्र बन्द कर लो और एकता के प्रकाश का स्वागत करो।''

महात्मा बहा के पश्चात् उनके पुत्र श्री अब्दुल बहा ने बहाई-समाज का प्रचार किया और बहाई शिक्षाओं को युग के अनुकूल रूप देकर संसार में व्याप्त कर दिया। उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन किया, जिससे उनके नाम पर होने वाले अन्याय, अत्याचारों से निर्दोष लोगों की रक्षा हो सके। उन्होंने कहा—

''धर्म का काम तो यह है कि वह हृदयों को मिलाये और लड़ाई-झगड़ों को संसार से दूर करे। धर्म के द्वारा आध्यात्मिक भावों का उदय होना चाहिये और प्रत्येक अन्तरात्मा को प्रकाश और जीवन प्राप्त होना चाहिये। यदि धर्म ही बैर, घृणा और भेदभाव का कारण बनता है तो अच्छा है कि 'धर्म' ही न हो और ऐसे धर्म से परे रहना ही सच्चा धर्म है।''

एकता की वृद्धि के लिये महात्मा बहा ने एक विश्वधर्म, विश्वभावना और एक-सी न्याययुक्त आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता बतलाई है । इसी का परिणाम है कि आज विपरीत परिस्थितियों के होने पर भी बहाई समाज अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर रहा है कि यदि मनुष्य हृदय से चाहें तो आज भी धार्मिक भाई-चारे का व्यवहार कायम कर सकते हैं । वे लोग विश्व शान्ति के भी दृढ़ उपासक हैं और उन्होंने महात्मा बहा के उपदेशों के सार रूप इस शताब्दी उत्सव पर यह नारा दिया है—

''धरती एक देश है और मनुष्य जाति उसकी नागरिक ।''

सचमुच इससे बढ़कर आदर्श इस समय दूसरा नहीं हो सकता । राजनीतिज्ञों की भूलों और स्वार्थपरता के फलस्वरूप आज दुनिया महानाश की तरफ दौड़ती जा रही है । उसकी रक्षा अध्यात्म और राजनीति के समन्वय द्वारा ही हो सकती है और महात्मा बहा का उपरोक्त आदर्श हमको यही शिक्षा दे रहा है ।

कर्मयोगी संत—श्री सावेज

फ्रांस के श्री सावेज, एक साधारण गृहस्थ होते हुए भी किसी संत से कम नहीं थे ।

श्री सावेज ने एक निर्धन परिवार में जन्म लिया । यह शायद ईश्वरीय नियम ही है कि महान् विभूतियाँ— प्रधानतः आत्मबल सम्पन्न व्यक्तित्व— अभावों की सीमा रेखा के अन्दर जन्मती तथा विकसित होती हैं ।

सावेज बचपन से ही शांत प्रकृति के थे । न किसी सहपाठी से उनका कभी झगड़ा हुआ और न घर में अथवा अध्यापक वर्ग को ही कभी उनसे अवज्ञा करने अथवा निर्देशित कार्य न करने का अवसर मिला ।

यद्यपि उनकी स्वयं की अनिवार्य आवश्यकताएँ ही पूर्ण हो पाती थीं— तथापि वे किसी भी सहयोगी को किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता में देखते जो उनके पास होती— तो उसे तुरन्त दे डालते अथवा मिल कर कार्य करने को आमंत्रित करते ।

यों तो बचपन बीता । युवावस्था आई तो सभी की यही आकांक्षा रही कि सावेज पढ़-लिख कर एक उच्च अधिकारी बने । किन्तु व्यक्तित्व के निर्माण में वहाँ तो पत्थर और चूना दोनों ही भिन्न प्रकार के लगे थे ।

उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करके भी अध्यापक बनना पसंद किया, पर वह तो मात्र जीविका का साधन था । उद्देश्य तो उनके जीवन का कुछ और ही था ।

वे एक कमरे में स्वयं रहते, एक कमरा अन्य सदस्यों के काम आता तथा शेष स्थान को उन्होंने एक छोटे-से आश्रम का रूप दे दिया ।

राह में कोई भी असहाय, दीन-दुःखी, घायल अथवा निराश्रित व्यक्ति मिलता उसे वे ले आते और प्रेम से उसकी सेवा-सुश्रूषा करते । घर वाले मना करते, बाहर वाले हँसी उड़ाते किन्तु उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

उनकी इसी धुन के कारण उनका अभी तक विवाह भी नहीं हुआ था । सभी कन्या पक्ष वाले सोचते कि ''इसी धुनी से कौन अपनी लड़की ब्याहे ? उसे भी इन भिखारियों की सेवा टहल करनी पड़ेगी ।''

किन्तु पृथ्वी सद्भावना तथा सद्विचारों के धनी व्यक्तियों से रिक्त नहीं है । पामेला नाम की एक युवती ने इनके उद्देश्यों की सराहना की तथा इनके साथ विवाह कर लिया ।

अब तो सावेज की शक्ति जैसे दुगुनी होने के बदले दस गुनी हो गयी । उनकी तत्परता अपने कार्य में और भी बढ़ गयी । अब आश्रम का विस्तार बढ़ाया गया तथा व्यय के लिये नगर के धनीमानी व्यक्तियों की उदारता करके सहयोग लिया गया ।

सुबह-शाम दोनों मिलकर आश्रम के आवश्यक कार्य निबटाते, दोपहर को सावेज अपने स्कूल जाते और पामेला घर पर ही कुछ उद्योग करके आय में वृद्धि करती ।

कुछ दिन पश्चात्, सावेज ने नौकरी भी छोड़ दी और उनका सारा समय आश्रम की व्यवस्थाओं में ही लगने लगा । दोपहर के खाली समय में पामेला जो अपना घरेलू उद्योग का कार्य करती थी उसी में वे भी हाथ बँटाने लगे । उदरपूर्ति में कोई कठिनाई न हुई ।

आश्रम में अब कई कमरे बन गये । स्वच्छता तथा व्यवस्था भी बढ़ा दी गई । रोगी तथा अनाथ आते और आश्रय पाते । सावेज दम्पत्ति उनकी सेवा तथा देख-भाल बड़े ही स्नेह से करते । जो ठीक हो कर जाता— वही दुआएँ देता ।

जिन व्यक्तियों के पास ये आर्थिक सहायता के लिये जाते वे भी इनकी सेवा-भावना तथा कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रभावित होते और यथा शक्ति सहयोग देते ।

धीरे-धीरे आश्रम का स्वरूप पर्याप्त विकसित हो गया । लगभग सौ निराश्रितों का वह आश्रयस्थल तथा चालीस-पचास रोगियों का चिकित्सालय बन गया । कुछ अन्य वैतनिक सहायक भी रखे गये ; तथा आश्रमवासियों में जो काम करने योग्य व्यक्ति थे उन्हें भी घरेलू उद्योग में लगाने से आश्रम की मासिक आय में पर्याप्त वृद्धि हुई । लोग परस्पर बड़ा ही स्नेहपूर्ण तथा सद्भावना से भरा हुआ व्यवहार करते । पामेला सभी को अपने स्नेह से सिक्त रखती । सभी उसकी वात्सल्यपूर्ण सेवा-सद्भावना को पाकर अपने आप को धन्य मानते ।

सावेज ने भी अपना जीवन और जीवन की समस्त सुख-सुविधाएँ तथा समस्त क्षमताएँ— इसी एक प्रयोजन की पूर्ति में होम दीं ।

वृद्धावस्था में तो उनका घर किसी प्राचीन भारतीय ऋषि की ही याद दिलाता था । उन्होंने अन्न का प्रयोग बहुत ही कम कर दिया था । केवल फल या फिर दूध से ही काम चलाते । जब सावेज तथा पामेला— प्रातः-सायं ईश्वराधन करते तो लगता कि स्वयं ही दरिद्रों के लिये नारायण के समान हैं । फिर किस नारायण की आराधना कर रहे हैं ?

उनने कोई संतान भी उत्पन्न नहीं की । किन्तु जब कोई उनसे पूछता ''आप एक बच्चा गोद ही क्यों नहीं ले लेते ?'' तब वे सहज

स्थिति के साथ उत्तर देते— ''ईश्वर ने हमें इतनी अधिक संतानें दे रखी हैं— फिर एक संतान की क्या कामना करें ?''

और सचमुच ही— आज न सावेज हैं और न पामेला— किन्तु वह आश्रम— उनके नाम को उससे कहीं अधिक दीप्त कर रहा है— जितना कि उनका कोई पुत्र अथवा पुत्री कर पातीं। उन्हें आदर्श संत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

पिछड़ों को गले लगाने वाले— महाप्रभु जगद्बन्धु

सन् १८९० के नवम्बर महीने की बात है। बंगाल के फरीदपुर शहर में एक विशाल जलूस हरि-कीर्तन करता हुआ निकला। उसमें बहुसंख्यक व्यक्ति करताल, घण्टा, मृदंग, शंख, बिगुल आदि बजा रहे थे। जलूस शहर के विभिन्न प्रमुख मार्गों में घूमकर लोगों को हरिनाम का अमृत पिलाता हुआ 'बूना पाड़ा' में जा पहुँचा। ये बूना या बाग्दी जाति के लोग अत्यन्त कुसंस्काराच्छन्न, मद्य-माँस का व्यवहार करने वाले और घोर-अन्धविश्वासी थे। इनके स्त्री-पुरुषों का चरित्र अत्यन्त पतित और भ्रष्ट था। उस समय हरबर्ट साहब फरीदपुर के मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने पादरी मिडसाहब को सलाह दी थी कि इन बूना लोगों को ईसाई बनाकर उनका चरित्र सुधारा जाय। बूना भी इसके लिये राजी हो गए थे और उनके ईसाई धर्म में दीक्षित होने की तारीख भी नियुक्त कर दी गई थी। पर अकस्मात प्रभु जगद्बन्धु को अपने बीच में पाकर बूना मगन हो गये और बड़े उत्साह से कीर्तन में भाग लेने लगे। उस दिन प्रभु ने बूना लोगों से कुछ बातचीत नहीं की केवल कुछ समय तक कीर्तन करके वापस चले आए। पर इसी के प्रभाव से उन लोगों के हिन्दू-धर्म को छोड़कर ईसाई बनने की बात समाप्त हो गई। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध लेखक ने बंगाल के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'भारत-वर्ष' में एक लेख में कहा था—

'बूना पाड़ा अश्लील नाच-गान, व्यभिचार और शराब के लिए बदनाम था। अकस्मात एक दिन मौन-साधक जगद्बन्धु इस घृणित बस्ती में पहुँच गए। उस प्रेम मूर्ति के अद्भुत तेज को देख वे चकित रह गये। उनके अपूर्व सौन्दर्य ने उनको मोहित कर लिया। फरीदपुर के अनाचारी बूना शुद्धाचारी होकर हरिनाम में लीन हो गए।'

जिन प्रभु जगद्बन्धु ने बूना और डोम जैसी अस्पृश्य और पददलित जातियों को गले लगा कर एक दिन में दुराचारी से सदाचारी बना दिया, वे स्वयं बहुत उच्च कुल के चक्रवर्ती बंगाली ब्राह्मण थे, उनके पिता दीनानाथ न्यायरत्न के बहुत बड़े विद्वान् तथा मुर्शिदाबाद की संस्कृत विद्यापीठ के मुख्य पण्डित थे। इन्हीं के घर सन् १८७१ में जगद्बन्धु का जन्म हुआ था और बाल्यावस्था से ही उनमें भक्ति और ज्ञान के अपूर्व लक्षण दिखलाई देने लगे। जिस समय वे पबना नगर के स्कूल में पढ़ते थे, अपने सहपाठी विद्यार्थियों को दो बातों का उपदेश दिया करते थे— ''ब्रह्मचर्य का पालन करो और भगवान् के नाम का कीर्तन करो।''

वे भली प्रकार समझते थे कि ये विद्यार्थी कुछ समय पश्चात् समाज और देश के आधार बनेंगे। यदि वे नैतिक दृष्टि से उन्नति नहीं करेंगे, उनका चरित्र उच्च नहीं बनेगा तो भविष्य के लिए कुछ भी आशा करना निरर्थक है। नैतिकता और चरित्र की नींव पर ही सच्चे धर्म की स्थापना की जा सकती है। वे प्रायः छोटे विद्यार्थियों से कहा करते थे—

''चैतन्य बनो, नैष्ठिक बनो, धर्म में स्थिर रहो। आत्मसंयम ही आत्मरक्षा है। पवित्रता और निष्ठा का सदैव ध्यान रखो। निष्ठा ही आरोग्य है और अनिष्ठा ही रोग तथा मृत्यु है। जो निष्ठावान, होगा उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं डाल सकता। व्यर्थ की बातें मत करो, इससे हानि होती है। अहंकार-वश अपने को बड़ा मत समझना, नहीं तो कुछ भी न कर सकोगे। शरीर, मन, प्राण, धर्म की रक्षा करते हुये चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ आयें उनसे भयभीत न होना चाहिये। धर्म ही भगवान् है और उससे बढ़कर संसार में और कुछ भी नहीं है।''

जगद्बन्धु के ये उपदेश बहुत सामयिक और आवश्यक थे। उस समय बंगाल में विदेशी शिक्षा के प्रभाव से धर्महीनता का भाव बहुत फैल रहा था और स्कूलों के लड़कों में चरित्र दोष भी बहुत बढ़ता जाता था। ब्रह्मचर्य नष्ट करना साधारण बात हो गई थी और धर्म तथा भगवान् को लोग व्यर्थ की चीज समझने लगे थे। जगद्बन्धु ने इस प्रवृत्ति के घातक परिणामों को समझा और अपने मधुर उपदेशों तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व से विद्यार्थियों का सुधार करने लगे। लड़के भी बुरी आदतों को त्याग कर संयम और धार्मिकता की तरफ ध्यान देने लगे। पर यह बात अनेक लड़कों के माता-पिताओं को अच्छी नहीं लगी। इनमें खासकर जो छोटे-मोटे जमींदार थे वे कहने लगे कि इस प्रकार जगद्बन्धु लड़कों का ध्यान अपनी लिखाई-पढ़ाई की तरफ से हटा देगा और वे संसारी बनने के बजाय वैरागी बनने की तरफ आकर्षित होने लगेंगे। इसलिए वे इनको दण्ड देने का विचार करने लगे और एक दिन जब ये नदी में स्नान कर रहे थे कई दुष्टों ने वहाँ पहुँचकर इन्हें जल के भीतर डुबा दिया कुछ देर बाद निकाल कर देखा तो इन्हें बेहोशी की-सी अवस्था में पाया। यह देखकर इनकी मृत्यु हो जाने के भय से वे कुछ उपचार करने लगे जिससे कुछ देर बाद ही उनको होश आ गया।

पर जब इस पर भी इन्होंने बालकों को सदुपदेश देने का क्रम बन्द नहीं किया तब एक दिन अँधेरे में इनको मार्ग में पकड़ लिया और खूब मारा। वे बेसुध होकर भूमि पर गिर पड़े और मारने वाले भी भाग गए। एक सज्जन व्यक्ति ने इस प्रकार मार्ग में पड़ा देखकर इनको उठाया और घर ले जा कर सेवा-सुश्रूषा करने लगे। कुछ देर पश्चात् इनको होश आया और ये भगवान् का नाम लेते हुए उठ बैठे। जब इन उपद्रवों का समाचार थोड़ी दूर एक अन्य गाँव में रहने वाले बड़े जमींदार, राजर्षि वनमालीराय को मालूम पड़ा, तो उन्होंने इनको अपने यहाँ बुला लिया। उन्होंने अत्याचार करने वालों का नाम पूछा ताकि उन्हें दण्ड दिलाया जा सके, पर इन्होंने उनको क्षमा कर दिया और यही कहा कि यह मेरे किन्हीं अदृष्ट कर्मों का फल था। फिर अन्याय-अत्याचार का दण्ड भगवान् स्वयं देंगे।

इसके पश्चात् जब उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाने का निश्चय किया तो वे स्वयं देश की दशा देखकर भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मचारी के भेष में भ्रमण के लिए निकल पड़े। डेढ़ वर्ष में उन्होंने भारत के एक बड़े हिस्से की यात्रा पूरी कर ली और घर आकर भगवद्भक्ति तथा कीर्तन द्वारा आत्म-सुधार तथा परोपकार का प्रचार करने लगे। बूना जाति वालों के उद्धार की घटना इसी समय घटी थी।

इसके पाँच-छह वर्ष बाद उनको मालूम हुआ कि कलकत्ता में रहने वाले डोमों को ईसाई धर्म में सम्मिलित करने की तैयारी की जा रही है तो वे कलकत्ता पहुँचकर डोमों की बस्ती— रामाबागान में ठहर गए।

इससे वहाँ बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति, राजा, जमींदार, धनी और उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आने लगे और डोम जाति में एक नई चेतना पैदा हो गई। जगद्बन्धु का उद्देश्य उन्हें ईसाई लोगों के फन्दे से बचाकर हिन्दूधर्म का दृढ़ अनुयायी बनाना था। डोम लोग आरम्भ से ही मृदंग बजाने में सिद्धहस्त थे। इसलिए जब प्रभु जगद्बन्धु ने उनमें कीर्तन का प्रचार किया तो वे बंगाल भर में उच्च श्रेणी के कीर्तनकार बन गये।

इसी समय कलक्त्ता में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ और हजारों व्यक्ति शहर को छोड़कर भागने लगे। उस समय जगद्बन्धु ने अनुयाइयों सहित जनता को सान्त्वना देने के लिये बड़े मैदान में विशाल हरिकीर्तन का आयोजन किया और वहाँ से एक बहुत लम्बा जलूस कीर्तन करता जगद्बन्धु के रामबाग स्थित निवास स्थान तक आया। इसके पश्चात् प्लेग का जोर घटने लग गया और एकाध सप्ताह में पूर्ण शान्ति हो गई।

इस प्रकार प्रभु जगद्बन्धु सन् १९२० तक हिन्दू जाति को जाग्रति और एक्य का सन्देश सुनाते रहे। जिस समय बंगाल के बहुसख्यक उच्च वर्णों के हिन्दुओं का झुकाव ब्रह्मसमाज अथवा ईसाई धर्म की ओर होता जाता था, जब आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों में विदेशियों की नकल करने का भाव तीव्र गति से बढ़ता जाता था, जब वर्णाश्रम धर्म का झण्डा उठाने वाले सनातनी छोटी-छोटी जाति-पाँति की रूढ़ियों में फँसे हुए थे उस समय प्रभु जगद्बन्धु ने सच्चे ब्राह्मण की तरह डोम और बूना आदि जैसी अस्पृश्य जातियों के बीच में अपना पतितोद्धारक रूप प्रकट किया। उनका मिशन अभी भी हिन्दू जाति के संगठन में संलग्न है।

मानवता के पुजारी—जीन हेनरी दूनाँ

प्रथम शांति नोबेल-पुरस्कार पाने वाले जीन हेनरी दूनाँ स्विटजरलैंड के निवासी थे। उनका जन्म सन् १८२८ ई० में जेनेवा के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता बड़े ही धार्मिक विचारों वाले शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति थे। हेनरी दूनाँ पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा फलस्वरूप उसकी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से ही धार्मिकता की ओर उन्मुख हो उठीं। उसके जीवन में करुणा तथा सेवा-भाव के ऐसे श्रेयपूर्ण बीजों को अंकुरित होने का अवसर मिल गया जो आगे चलकर दूनाँ के यश के रूप में पल्लवित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान के साथ प्रथम शांति नोबेल पुरस्कार के रूप में फलीभूत हुए।

शिक्षा समाप्त कर हेनरी दूनाँ व्यावसायिक क्षेत्र में उतरे। अनेक वर्षों तक उन्होंने जेनेवा की एक बैंक के एजेन्ट रूप में भी कार्य किया। किन्तु उन्हें इस काम में सन्तोष न मिला। उन्होंने देखा कि नौकरी कितनी ही अच्छी क्यों न हो, आखिर नौकरी ही है। उसमें निजी विकास का अवसर पर्याप्त नहीं रहता। निदान अपनी क्षमताओं तथा साहस की परख कर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उनमें इतनी लगन, कार्यशीलता तथा साहस अवश्य है कि यदि वे अपना कोई स्वतन्त्र कार्य करें तो सफलता प्राप्त कर सकते हैं। विचार की पुष्टि होते ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी और फ्रांसीसी-अलजीरिया में एक जमीन यह सोच कर खरीद ली कि वे खेती तथा पशुपालक का काम करेंगे जिससे शारीरिक श्रम तथा पशुओं की सेवा के साथ ही वे मानव जाति के लिए पोषक पदार्थों की वृद्धि करने में सहायक बनकर एक प्रकार से समाज की सेवा ही कर सकेंगे।

दूनाँ की वह जमीन मिट्टी तथा स्थिति की दृष्टि से अच्छी थी किन्तु सिंचाई की दृष्टि से उसमें कुछ बाधा थी। इसका हल यह था कि यदि उसके ऊपर वाली सरकारी जमीन में लगे नलों से पानी मिल सकने की व्यवस्था हो सके तो सारी कठिनाई दूर हो जाये। दूनाँ ने हल समझते ही अधिकारियों से लिखा-पढ़ी शुरू कर दी। किन्तु जब ऊँचे से ऊँचे अधिकारी को लिखने पर भी कोई सुनवाई न हुई तब दूनाँ को खेद होना तो स्वाभाविक ही था साथ ही वह यह भी समझ गये कि शासन-तन्त्र शिथिल है। अधिकारीगण जनता के आवश्यक कामों में भी उपेक्षा बरत रहे हैं। इससे निस्सन्देह जन-जीवन बड़ी कठिनाई का अनुभव कर रहा होगा। दूनाँ का व्यक्तिगत कार्य बन गया और उन्होंने शासन-व्यवस्था की स्थिति से अवगत कराने के लिये फ्रांस के तत्कालीन सम्राट नेपोलियन तृतीय से मिलने का विचार बना लिया।

व्यापक दृष्टिकोण से बात बड़ी थी किन्तु सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से सरकारी नलों से पानी मिलने की बात तो इतनी बड़ी नहीं थी कि जिसे लेकर सम्राट जैसे व्यक्तित्व का समय लिया जाये। साधन मन्तव्य के अनुरूप होना आवश्यक है। ध्येय के धनी हेनरी दूनाँ ने शासन-व्यवस्था, कृषि-विकास की आवश्यकता और सम्राट के प्रशंसनीय अधिकारों तथा कर्तव्यों को विषय बनाकर एक पुस्तक ही लिख डाली और इस प्रकार एक छोटे किन्तु आवश्यक प्रश्न को महान् बनाकर अपनी विद्या का ही उद्घाटन नहीं किया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि वह सम्राट से मिल सकने के सर्वथा योग्य है।

पेरिस पहुँचकर दूनाँ को पता चला कि सम्राट राजधानी में नहीं है, वे उत्तरी इटली में आस्ट्रिया तथा इटली के बीच चल रहे लोमबाड़ी युद्ध में इटली की सहायता के लिये गये हैं। हेनरी दूनाँ इटली के लिये रवाना हो गये। दूनाँ ने इटली जाने वाले जिस संक्षिप्त मार्ग

का अवलम्बन किया था उसने उसे ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जो युद्धक्षेत्र और कुछ ही दूरी पर घमासान लड़ाई हो रही थी। वह वहीं पर— ब्रेसिया नामक स्थान पर ठहर गया। आगे बढ़ सकना कठिन था। सड़कें टूट गयीं और पुल ध्वस्त हो चुके थे। तब दूनाँ ने यह सोचकर हिम्मत न हारी कि लक्ष्य-पथ पर बाधायें तो आती ही रहती हैं। उन्होंने एक गाड़ी किराये पर ली और जैसे-तैसे कैस्टगलयोन नामक गाँव में जा पहुँचे। यह गाँव सोल्फेरीनो नामक उस मैदान से बिल्कुल निकट ही था जहाँ पर फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया के सिपाही पंक्तिबद्ध होकर लड़ रहे थे।

दूनाँ वहीं ठहर गये और युद्ध का दृश्य अपनी आँखों से देखने के लिये अपनी दूरबीन लेकर पास की एक पहाड़ी पर चढ़ गये हेनरी दूनाँ ने अपनी दूरबीन की सहायता से जो कुछ देखा उस दर्दनाक दृश्य ने उनका जीवन ही बदल दिया। उनके हृदय की करुणा और सेवा-भावना जाग उठी। उन्हें विस्मरण हो गया कि वे किसी काम के लिये इटली आये थे? और जैसे याद हो आया कि उन्होंने जिस कर्त्तव्य के लिये जीवन धारण किया है वह अब उनके समक्ष मूर्तिमान हो उठा है।

जून की भीषण गर्मी और लू-लपटों के दिन थे। दूनाँ ने अपनी दूरबीन से देखा कि दोनों पक्षों के सिपाही कतार की कतार आगे बढ़ते और मरकर गिरते, पीछे हटते और फिर आगे बढ़ते। चारों ओर मृत्यु का नृत्य हो रहा है। घायल और थके हुए सिपाही नायक की आज्ञा पाकर फिर बढ़ते और देखते ही देखते मृत्यु के मुख में चले जाते। बन्दूकों, गोलों, गोलियों और घायल सैनिकों के हाहाकार व चीत्कार से दिशायें भर जातीं। संगीनें चमकतीं, मशाले जलतीं, मनुष्य मरते और मृत्यु अट्टहास करती। विनाश की उस विभीषिका को जून की गरम आँधी और संध्या का अन्धकार और भी भयानक बना देता। हेनरी दूनाँ बड़ी देर तक उस विनाश-लीला को किंकर्त्तव्यविमूढ़ से देखते रहे।

अन्त में रात होने तक चालीस हजार निरपराध सैनिकों के प्राण लेकर लड़ाई खत्म हो गई। हेनरी दूनाँ आह भरकर और करुणा का भार लेकर पहाड़ी से नीचे उतर आये किन्तु नीचे आकर जो दृश्य उन्होंने देखा वह उस युद्ध के दृश्य से भी अधिक असहनीय और पीड़ाप्रद था। उन्होंने देखा कि मरे हुए सैनिकों को तो गीध, कौवों, स्यार तथा कुत्तों को खाने के लिए छोड़ दिया जाता था। घायल, अधमरे तथा अपंग सैनिकों की दशा और भी खराब थी। वे उलटे-सीधे गाड़ियों में भूसे की तरह भरकर अनेक स्थानों पर ला कर डाल दिए जाते थे, जहाँ उनके उपचार अथवा सेवा-सुश्रूषा की कोई व्यवस्था न होती थी।

हेनरी दूनाँ की मानवता, मनुष्यता की यह दुर्दशा न देख सकी। तुरन्त ही घायलों, रोगियों तथा मरणासन्न सैनिकों की सेवा में लग गए। क्षेत्र के एक बड़े गिरजाघर में पाँच सौ घायल सैनिक लाकर लापरवाही से डाल दिए गए थे। दूनाँ ने उनकी सँभाल और देखभाल का काम अपने जिम्मे ले लिया। वे अपने हाथ से सैनिकों के घाव धोते, मरहमपट्टी करते और दवा देते। लापरवाह डॉक्टरों को प्रयत्नपूर्वक बुलाकर लाते, सैनिकों को दिखलाते और अपने योग्य सेवा बतलाने की प्रार्थना करते।

इटली के युद्ध की यह अव्यवस्था समाप्त हो गई और जन-जीवन की दशा सामान्य हो चली। किन्तु दूनाँ को शान्ति न मिली।

सबसे पहले उन्होंने 'सुवेनिरद सोक्षफोरिनो' नामक एक पुस्तक लिखकर प्रसारित की जिसके माध्यम से लोगों में युद्ध के प्रति घृणा और घायल सैनिकों के प्रति करुणा का जागरण किया। अखबारों, भाषणों तथा लेखों द्वारा प्रचार किया। जिसका फल यह हुआ कि लोग उनके विचारों से सहमत हो गए और सैकड़ों और लाखों की तादाद में स्त्री-पुरुष सेवा करने के लिये आगे निकल आये। उन्होंने अपने विचारों को एक आन्दोलन का रूप दिया और 'रेडक्रस' नाम की एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जो युद्धकाल में भी तटस्थ समझी जाती है। उसमें दो शत्रु देशों के स्वयं सेवक दोनों ओर के घायलों तथा बीमारों की सेवा-सुश्रूषा करते और मित्र माने जाते थे। युद्ध-क्षेत्र में भी उन पर आक्रमण नहीं किया जाता था।

जब हेनरी दूनाँ को शान्ति नोबेल पुरस्कार की बीस हजार डालर की धनराशि देना घोषित किया तब उन्होंने वह सब राशि घायल सैनिकों तथा दुःखी जनों के हितार्थ दान कर दी।

आज भी संसार में विश्व रेडक्रास-दिवस— दूनाँ का जन्म दिवस आठ मई को मनाया जाता है और आज भी जूरिख में उनका स्फटिक का स्मारक मानवता के उस पुजारी को जीवित रखे हुए है। कहना न होगा कि जब तक संसार में मानवता का अंश रहेगा— जीन हेनरी दूनाँ का नाम अपने पुण्य कार्यों, संस्थाओं और संस्मरणों के रूप में भी अजर-अमर बना रहेगा।

महान् पुत्र के महान् पिता— एबरम गारफील्ड

जेष्ठ-वैशाख के दिन और अमेरिका का ऑरेंज गाँव। सूर्य देवता आसमान पर चढ़े ही थे गाँव के जंगल में आग लग गई। इधर लू का वेग बढ़ा उधर लपटें धू-धू करती हुई गाँव की ओर बढ़ चलीं। ऐसा दिखाई देता था कि कुछ ही क्षणों में आग सारे गाँव को लपेट लेगी और जलाकर खाक कर देगी। भयाकुल ग्रामवासियों को जो मिला, लेकर भागे, बाकी सब अग्नि देव की स्वाहा के लिए शेष पड़ा था, उतने ही वेग से आग की लपटें दौड़ी चली आ रही थीं।

एबरम गारफील्ड को उसकी पत्नी एंजिला एक पुत्री, एक पुत्र तीनों घेरे कह रहे थे— "पापा! सारा गाँव सूना हो गया अब हमें भी जल्दी गाँव छोड़ देना चाहिये।" पर उस मेहरबान की आँखें उस ओर लगी थीं जिधर आग भड़की हुई थी। उसने कहा— "बच्चो! आओ, हम सब मिलकर प्रयत्न करें और उस आग को बुझा डालें, देखो न यह लाखों की ग्रामवासियों की सम्पत्ति पल-भर में जल कर राख हो जाएगी, बच्चे भूखों मरेंगे, किसान ऋणग्रस्त हो जायेंगे, बेचारी बहू-बेटियों की सारी खुशहाली नष्ट हो जायेगी। ऐसे समय गाँव छोड़ना ठीक नहीं हमें इन खूँख्वार लपटों से लड़ना चाहिए।"

पुत्र युवापन की पहली सीढ़ी पर पाँव रख रहा था, खून में थोड़ी तेजी थी— सबसे आगे बढ़ कर बोला— "पिताजी, पागल हुये हो, जिनके घर दौलत, जायदाद थी वह सब पहले ही भाग गये, फिर हमें किसी के सामान की क्यों चिन्ता हो। हमारे पास तो कुछ है भी नहीं, घर है तो सबके साथ जल जायेगा, दूसरा बना लेंगे पर इस मौत की आफत में नहीं फँसेंगे। चलिये अब देर न करिये यहाँ से हम सभी लोग चलते हैं।" पत्नी और पुत्री ने भी बेटे की बात का समर्थन किया।

किन्तु— देवपुरुष पर कुछ असर न पड़ा, एक बार गाँव की ओर देखकर दृष्टि फिर लपटों में अटक गई। शान्त-भाव से उसने कहा— 'बेटे! यह जो तुम कह रहे हो वह मनुष्यों की भाषा नहीं है। मनुष्य अपने लिए नहीं औरों के लिये जीता है। स्वार्थ नहीं परमार्थ को पूजता है, अपनी कम औरों की खबर अधिक रखता है। हम भी संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से समस्याओं पर विचार करें तो बौद्धिक प्राणी का क्या अर्थ निकला। हम सब एक-दूसरे के दर्द को अपना दर्द अनुभव कर सके होते तो आज संसार का स्वरूप ही कुछ दूसरा होता। न यहाँ कलह होती न उत्पात, सब लोग मिल-जुल कर धरती माता के अपार सुखों का उपभोग कर रहे होते। इसलिए बेटे! यदि दूसरे अपने उद्देश्य से गिर जायें तो हमें उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये जो संकट की घड़ी में अपने पड़ोसी, अपने गाँव, अपने राष्ट्र की सेवा नहीं कर सकता वह भी कोई इन्सान है? महानता की रक्षा के लिये हमें अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये।'

फिर क्या था, दृष्टिकोण बदला और दिशा भी बदल गई। चारों परवाने हाथ में कुदाल, कुल्हाड़ी और फावड़ा लेकर बढ़े और आग की लपटों से जूझ पड़े। सारा दिन यह संग्राम चला। किसी का हाथ झुलसा, किसी का मुँह कपड़े फटे और पाँवों में काँटे घुसे पर प्रकृति और पुरुषार्थ का युद्ध बराबर चलता रहा। आखिर साहस की विजय हुई। सूर्य डूबने तक सारी आग काबू में आ गई।

दिन की ज्वाला शान्त हो गई और सारे ग्रामवासी घर लौट आये। लपटों में झुलसा एबरम गारफील्ड हवा में थकान मिटाने लेट गया पर लोगों को क्या पता था कि काल अब भी धोखे से हमला कर जायेगा। ठण्डक बरदाश्त न हुई, गारफील्ड की दशा बिगड़ गई, दिन भर साहसी योद्धा की तरह लड़ने वाला विजेता आखिर आधी रात को इस संसार से विदा हो गया। पर उसकी गाथा न तब मिटी न अब, भविष्य भी गौरव के साथ उसका स्मरण करेगा। इस एबरम गारफील्ड का पुत्र जेम्स गारफील्ड एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना।

परोपकार धर्म के अनुयायी— महापुरुष एण्ड्रूज

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में फिजी, मारीशस आदि कितने ही टापुओं में "शर्तबन्द कुली प्रथा के नाम से मजदूरी कराने की ऐसी प्रणाली प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत मजदूर को दस-पाँच वर्ष तक अनिवार्य रूप से खेतों पर काम करना पड़ता था। अगर कोई ठीक से काम न करता तो निगरानी रखने वाला ओवरसियर उसे मनमाने ढंग से पीटता था। अगर कष्ट सहन न करने से वह काम छोड़कर भाग जाता तो उसे पकड़कर जेल की सजा दी जाती और फिर उसी जगह काम करने को भेजा जाता था। इनमें अधिकांश मजदूर भारतवर्ष के ही होते थे।"

कहने को तो ये मजदूर शर्तनामे पर हस्ताक्षर करके नौकरी करने जाते थे, पर वास्तव में उनको 'आरकाटी' (कुली भरती करने वाले) तरह-तरह से बहकाकर और बड़े-बड़े लालच दिखाकर साथ ले जाते थे और साम-दाम-दण्ड-भेद से काम लेकर शर्तनामे पर दस्तखत करा लेते थे। जब एक बार जहाज पर बैठकर वह मनुष्य फिजी पहुँच जाता था, तो फिर सब तरह से बेबस हो जाता था। अपने देश से तीन-चार हजार मील दूर, विदेशी और विधर्मी लोगों के मातहत हो कर वह न कुछ बोल पाता था और न किसी अन्याय का प्रतिकार कर सकता था। उसकी हालत गुलामों के समान होती थी और जरा-सी गफलत हो जाने पर उसे गोरे लोगों के बेंत और हण्टर खाने पड़ते थे।

इन कष्टों से भी बढ़कर एक भयंकर बात वहाँ यह थी कि शर्तबन्दी के अनुसार जितने मजदूर भेजे जाते थे उनमें पुरुष अधिक और स्त्रियाँ कम होती थीं। ये सब लोग जगह-जगह से बहकाकर भेजे जाते थे इसलिये वहाँ न किसी का कोई पति होता था न पत्नी। खेतों के मालिक तीन-तीन पुरुषों के पीछे एक-एक स्त्री बाँट देते थे और वह चाहे राजी हो या नाराज, उसे जबरन उन तीनों के साथ पत्नी की तरह रहना पड़ता था। जब फिजी प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा की इस प्रकार की अनेकों शिकायतें सुनकर उनकी जाँच करने के लिये महामानव एण्ड्रूज वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि इस अनैतिक प्रथा के कारण उन लोगों का चारित्रिक और धार्मिक स्तर अत्यन्त गिर गया है और वे महाभ्रष्ट जीवन व्यतीत करने को विवश हो रहे हैं। इन स्त्रियों की चर्चा करते हुए एण्ड्रूज साहब ने लिखा—

"फिजी की भारतीय स्त्रियाँ एक ऐसी किश्ती के समान हैं जिसमें पतवार नहीं है, जिसका मस्तूल टूट गया है और जो चट्टानों की ओर बही चली जा रही हैं। अथवा वे एक ऐसी डोंगी के समान हैं जो एक बड़ी नदी की तेज धारा में नीचे की ओर चक्कर खाती चली जा रही हैं और जिसका कोई खिवैया नहीं है। ये स्त्रियाँ फौरन एक व्यक्ति को छोड़कर दूसरे के साथ चली जाती हैं और इस पति-परिवर्तन में उनके तनिक भी लज्जा मालूम नहीं देती। वहाँ हिन्दुओं का सामाजिक संगठन बिल्कुल नष्ट हो गया है, जाति-पाँति बिल्कुल समाप्त हो गई है और उसका खाली स्थान भरने को कोई अन्य संस्था उत्पन्न नहीं हुई है। स्त्रियों को खुले तौर पर खरीदा और बेचा जा सकता है। लोग उनके लिये लड़ते हैं, परस्पर ईर्ष्या करते हैं और हत्या तक कर डालते हैं।"

पतिव्रत पालन के लिए प्रसिद्ध भारतीय नारियों की यह दुर्दशा देखकर एण्ड्रूज साहब की आत्मा तड़प उठी और उन्होंने प्रण कर लिया कि चाहे जान रहे या जाय पर इस अमानुषी प्रथा का अन्त

जरूर करायेंगे। इसलिये भारत लौटने पर उन्होंने नगर-नगर में घूम-फिरकर इस घृणित प्रथा के विरुद्ध इतना जोरदार आन्दोलन छेड़ दिया कि सरकार भी डर गयी। उस समय (सन् १९१५-१६) प्रथम महायुद्ध चल रहा था और सरकार 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत किसी को भी नजरबन्द कर सकती थी। अतः श्री एण्ड्रूज को स्वयं अंग्रेज होते हुए भी धमकी दी गई कि अगर वे इस प्रकार आन्दोलन उठायेंगे तो नजरबन्द कर दिये जायेंगे। पर वे इस कार्य को छोड़ने को तैयार न हुए, वरन् महात्मा गाँधी, मालवीय जी, ऐनीबेसेंट, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बड़े-बड़े नेताओं को भी इसमें शामिल करके देश भर में ऐसी हलचल मचा दी कि अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत ही एक विशेष आज्ञा जारी करके इस प्रथा का अन्त कर दिया गया।

दुर्दशाग्रस्त और असहाय भारतवासियों के लिए इस प्रकार आत्म त्याग करने वाले श्री एण्ड्रूज का जन्म सन् १८७२ में इंग्लैंड के एक धार्मिक दम्पत्ति के घर में हुआ था। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी, इसलिये उनको विद्याभ्यास कठिनाइयों के बीच रहकर ही करना पड़ा। पर न मालूम क्यों बहुत छोटी आयु से ही आपको भारतवर्ष से सहानुभूति पैदा हो गई थी और आप उसी समय माताजी से कहा करते "माँ, मैं हिन्दुस्तान जाऊँगा।" उन्होंने किसी से सुन लिया था कि हिन्दुस्तानी चावल बहुत खाते हैं। इससे वे कभी-कभी अपनी माँ से भात बनाने को कहते थे। उनकी माँ उन्हें चावल खाते देखकर बहुत हँसती और कहती— "चार्ली! तुम किसी दिन हिन्दुस्तान जरूर जाओगे।" उस समय कौन जानता था कि एण्ड्रूज भारत जायेंगे ही नहीं करोड़ों भारतवासियों से भी बढ़कर सच्चे 'भारत भक्त' बन जायेंगे।

तेईस वर्ष की आयु में आपने कॉलेज की पढ़ाई समाप्त की और पादरी बनने की इच्छा से दीन-दुःखियों की बस्तियों में रहकर सेवा कार्य करने लगे। वहाँ उन्होंने अनेक चोर, उचक्का लोगों का भी सुधार किया। इसके पश्चात् जब उन्होंने भारतवर्ष आकर मिशन की नौकरी करने का निश्चय किया तो उनके सभी मित्रों और हितैषियों ने इसका विरोध किया कि इतनी दूर अनजान देश में जाने की क्या जरूरत है, तुम यहीं रहकर बहुत उन्नति कर सकते हो और कहीं अधिक आराम का जीवन व्यतीत कर सकते हो। पर एण्ड्रूज को तो प्रभु ईसा की तरफ से प्रेरणा हो रही थी कि ऐसी जगह जाकर काम करो जहाँ मानवता पद-दलित हो रही है। इसी प्रकार के सेवा कार्य से जीवन सार्थक हो सकेगा। खाना, पीना, आराम से रहना तो स्वार्थी और घटिया लोग भी कर सकते हैं।

२० मार्च, १९०४ को श्री एण्ड्रूज ने जहाज से बम्बई बन्दरगाह पर उतर कर प्रथम बार भारत भूमि का स्पर्श किया और उसी दिन से इसे दूसरी मातृभूमि बना लिया। मिशन का मुख्य कार्यालय दिल्ली में था और वहीं सेंट स्टीफेंस कॉलेज में उनको अध्यापन कार्य करना था। जब आपका परिचय दिल्ली के अन्य अंग्रेजों से हुआ तो सबने यही सलाह दी कि "भारतवर्ष में रहते हुये आप किसी 'नेटिव' (भारतवासी) के दिल में यह ख्याल मत आने देना कि वह तुमसे ऊँचा है। यद्यपि आप 'मिशनरी' (पादरी) हैं, तो भी पहले अपने को 'अंग्रेज' समझना होगा। अगर आप किसी 'नेटिव' को अपने साथ मेल-जोल बढ़ाने देंगे या बराबरी का व्यवहार करने देंगे तो आप बेशुमार हानि पहुँचायेंगे।"

पर एण्ड्रूज साहब ने ऐसी 'नेक सलाह' पर कभी ध्यान नहीं दिया। वे सदा यही उत्तर देते रहे कि "यदि हम ईसा के कुछ भी सच्चे अनुयायी है तो हमको अवश्य ही भारतवासियों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए।"

एण्ड्रूज साहब आजीवन अपने इसी सिद्धान्त पर चलते रहे, यद्यपि इसके कारण उनको मिशन की नौकरी छोड़नी पड़ी; अंग्रेजों का साथ त्यागना पड़ा और खद्दर पहनकर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में अध्यापन कार्य करना पड़ा।

भारतवासियों की उन्होंने आजीवन जो सेवाएँ कीं उनमें से अगर सबको छोड़कर फिजी के भारतवासियों के उद्धार के कार्य पर ही विचार किया जाये तो वे हमारे सबसे बड़े 'देश-भक्त' के सम्मान के अधिकारी हो जाते हैं, पर उन्होंने तो यह एक ही नहीं सदैव एक से बढ़कर अनेक ऐसी ही सेवाएँ कीं। सन् १९१३ में जब दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा और महात्मा गाँधी सहित हजारों भारतीय जेलों में ठूँस दिये गये तो मानवीय गोखले ने आपको ही वहाँ जाकर उनकी सहायता करने को कहा। जब तक आप दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तब तक समझौते की बात-चीत शुरू हो चुकी थी और उसके लिये गाँधी जी तथा मुख्य नेताओं को छोड़ दिया गया था। जहाज से उतरने पर जब आपने बन्दरगाह पर स्वागतार्थ आये गाँधी जी के दर्शन किये तो भारतीय प्रथा के अनुसार उनके चरण स्पर्श किये। यह देखकर वहाँ के गोरों ने, जो सब हिन्दुस्तानियों को 'कुली' मानते थे और गाँधी जी को 'कुली बैरिस्टर' कहते थे, बड़ा शोर मचाया, कि इतने बड़े अंग्रेज पादरी ने एक हिन्दुस्तानी के पैरों की धूल अपने मस्तक पर लगाली, पर आपने इस तरफ कुछ ध्यान न देकर वहाँ के शासकों से समझौते की बात-चीत करना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय में बड़े परिश्रम और युक्ति से दोनों पक्षों को राजी कराके समस्त कैदियों को छुड़वा दिया और भारतवासियों की अनेक माँगों को स्वीकार करा दिया।

इसी प्रकार रौलेट-एक्ट आन्दोलन के अवसर पर जलियाँवाला हत्याकाण्ड और मार्शल-ला होने पर अपने पीड़ितों की बड़ी सहायता की। उस समय फौजी अधिकारियों ने किसी भी बाहरी व्यक्ति का पंजाब में प्रवेश रोक दिया था। आपने शिमला पहुँचकर बड़ी कठिनाई से वायसराय की आज्ञा प्राप्त की और अमृतसर पहुँचे, पर उसी समय जनरल डायर के आदेश से आपको गिरफ्तार कर लिया गया। तब कहा गया कि मार्शल-ला के अवसर पर वायसराय की आज्ञा से नहीं केवल प्रधान सेनापति की मंजूरी से वहाँ कोई आ सकता है। अन्य अंग्रेजों की निगाह में तो इस तरह रोक कर गिरफ्तार कर लिया जाना बड़ा अपमान था, पर आपने इसे 'देश-सेवा' का पुरस्कार समझकर प्रसन्नता ही व्यक्त की।

जब कुछ महीने पश्चात् मार्शल-ला समाप्त हो गया और मोतीलाल जी, सी. आर. दास, मालवीय जी आदि नेता वहाँ के निवासियों पर होने वाले अत्याचारों की जाँच करने गये तो आपने अत्याचार पीड़ितों की बड़ी सेवा की और सैकड़ों लोगों को जेल और जुर्माने से बचाया। गुजरानवाला जिला पर हुआ भारी जुर्माना आपने बहुत कुछ कम करा दिया तथा विधवाओं और असमर्थों को उससे बिल्कुल मुक्त करा दिया। इसके बाद आप सेना द्वारा पीड़ित किये गये लोगों को सान्त्वना देते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे। वे लोगों से कहते थे कि "चूँकि अँग्रेजों ने तुम पर जुल्म किया है इसलिये मैं उसके लिये क्षमा माँगने और सेवा करने आया हूं।" इसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वे अपना सब दुःख भूल जाते थे। सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनके पैर छूकर कहने लगते "तू साडा रब है" (तू तो हमारा भगवान् है)। पंजाब में उन्होंने कितना काम किया और लोगों को कितनी अधिक सहायता पहुँचाई इसका पूरा हाल किसी को मालूम न हो सका। क्योंकि एक तो आपका स्वभाव परोपकार का कार्य बिना किसी को बताये करने का है और दूसरे उस समय वहाँ जो कठोर सरकारी नियन्त्रण लगे हुए थे उनके कारण बहुत से कार्य चुपचाप ही करने पड़ते थे। उनको देखकर ही महात्मा गाँधी ने लिखा था "श्री एण्ड्रूज ने पंजाब की जो सेवायें की है उनका अनुमान कर सकना कठिन है। उनके सम्बन्ध में यह कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती है कि 'उनका दाहिना हाथ नहीं जानता कि बायें हाथ ने किसके साथ क्या भलाई की है ?"

श्री एण्ड्रूज का समस्त जीवन ही सेवामय रहा। उन्होंने इसी को सबसे बड़ा धर्म समझकर जब जैसा भी मामला सामने आया उसी में सहायता की। लाहौर मे उन्होंने भाई परमानन्द की स्त्री को बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत करते देखा। भाई परमानन्द को कई वर्ष पहले एक षड्यन्त्र के मामले मे आजन्म काले पानी की सजा हुई थी। एण्ड्रूज ने छुटकारे के लिये प्रयत्न आरम्भ किया और पंजाब के छोटे लाट सर एडवर्ड मैकलेगन की विशेष आज्ञा से उनको मुक्त करा दिया। भाई परमानन्द उनका दर्शन करने शांतिनिकेतन में आये और उन्होंने कहा— "एण्ड्रूज सचमुच एक तपस्वी हैं, उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।" मालवीय जी ने भी पंजाब में उनके कार्यों की सराहना करते हुए कहा— "श्री एण्ड्रूज भारत के सच्चे बन्धु हैं। इस विपत्ति के समय उन्होंने हमारी बड़ी सहायता की है।"

वे इसी प्रकार जीवन के अन्त एक जगह-जगह पहुँच कर पीड़ितों की सेवा करते रहे। शेष समय में वे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में रहकर विद्यार्थियों को अंग्रेजी पढ़ाते रहते। वहाँ पर वे बंगालियों की तरह धोती-कुर्ता पहनकर ही रहते थे।

अपराधी और दण्ड

बालवर्ष में ही एक दिन एक आदमी एण्ड्रूज साहब के घर पर आया। चेहरा से वह भला आदमी जान पड़ता था और बहुत भूखा था। इन्होंने उसे अपने कमरे में बैठाया और स्वयं उसके लिए कुछ खाना और चाय का प्याला लेने दूसरे कमरे में चले गये। खाना खाकर वह चला गया। कई दिन बाद इनको ध्यान आया कि चाँदी के दो बर्तन जो गिरजाघर के थे और प्रार्थना के समय काम आते थे, घर से गायब हो गये हैं। इनको किसी पर शक भी नहीं हुआ। पर एक दिन रात के १२ बजे वही आदमी एक चाँदी का बर्तन लिये इनके पास आया। वह बर्तन उसने बिल्कुल खराब कर डाला था और दूसरे बर्तन को बेचकर शायद शराब पीली थी। चूँकि बर्तन इनके निजी नहीं थे इन्होंने बहुत सोच-विचारकर उसे पुलिस के पास भेज दिया। दूसरे दिन मुकदमा चला जिसमें इनकी गवाही हुई और इन्होंने मेजिस्ट्रेट से कहा कि इसको कम से कम सजा दी जाय। उसे एक महीने की सादी कैद तथा जुर्माने की सजा दी गई। जुर्माना इन्होंने अपने पास से जमा करा दिया और जब तक वह जेल में रहा उसे बराबर देखने को जाते रहे। उसने इनको अपनी पूरी कथा बतलाई कि "मैं एक भले आदमी का लड़का हूँ और जुआ खेलने का व्यसन लग जाने से मेरी यह दशा हो गई है। घुड़दौड़ के जुए ने मेरा सत्यानाश कर दिया और वहीं से मुझे शराब पीने की भी आदत पड़ गई। मैंने एक बार बैंक के चैक पर अपने पिता के जाली दस्तखत बना लिये थे, इस पर उन्हें मेरी दुश्चरित्रता का पता लग गया और मुझे घर से निकाल दिया गया। इसके बाद अनेक जगह चोरी भी की जिसके लिये कई बार जेल की सजा भोगनी पड़ी है। पर अब मैं ज्यादा दिन जीवित नहीं रहूँगा क्योंकि डॉक्टर ने बतलाया कि तुम्हारे दोनो फेफड़े खराब हो गये है।" एण्ड्रूज साहब को उस पर बड़ी दया आई और बहुत दौड़ धूप करके उसे लन्दन के एक प्रसिद्ध अस्पताल में, जहाँ क्षयरोग का इलाज विशेष रूप से किया जाता था, भरती करा दिया। वहाँ वह दो वर्ष जिन्दा रहा। वह इनसे कहा करता था कि जब से मैंने अपनी माता का घर छोड़ा था, तब से तीस वर्ष बाद इस अस्पताल में मेरे दिन बड़े आनन्द से बीते हैं। उसने अपने सम्बन्ध में सब बातें बड़ी स्पष्टता से इनको बतला दीं, पर मरते दम तक वह अपने पिता का नाम और पता बतलाने से इन्कार ही करता रहा।

गरीबों का हमदर्द

"माँ देखना, मैं कितनी अच्छी चीज लाया हूँ।"

"अरे यह क्या ले आया। यह तो किसी चिड़िया के अंडे हैं। मुझे ऐसा लगता है कि तू चिड़िया के तीनों अंडे उठा लाया है। जब वह अपने घर लौटेगी तो बहुत रोयेगी बेटा !"

"अच्छा माँ ! यह चिड़िया के अंडे हैं। मुझे क्या मालूम था ?" वह बालक लँगड़ाते-लँगड़ाते उस पेड़ तक गया क्योंकि चोट के कारण उसके पैर में दर्द हो रहा था। वह पेड़ पर चढ़ा और उसने सब अंडे उसी घोंसले में रख दिये। और पेड़ के नीचे बैठा तब तक रोता रहा जब तक कि वह चिड़िया पेड़ पर न आ गई। चिड़िया को देखकर उसका सारा दर्द जाने कहाँ चला गया और हँसता-कूदता अपनी माँ के पास लौट आया। यह बालक कोई और नहीं वरन् दीनबन्धु एन्ड्रूज थे, जो जीवन भर दीनों को अपना भाई समझ कर प्यार करते रहे।

ईश्वर-दर्शन

दीनबन्धु एन्ड्रूज टहलने निकले तो मार्ग में उन्हें एक नवयुवक मिला। उन्हें रोक कर बोला— "क्या आप मुझे ईश्वर के दर्शन करा सकते हैं या आप लोगों का ईश्वर एक कल्पना ही है। पहले तो वे प्रश्नकर्त्ता की ओर बड़ी देर तक देखते रहे किन्तु उसकी अल्पज्ञता और जिज्ञासा को देखकर उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्होंने नवयुवक से कहा ठीक है। कल मिलना। तुम्हें ईश्वर के दर्शन अवश्य करायेंगे।

नियत समय पर आकर युवक उसी स्थान पर बैठ गया। दीनबन्धु आये और युवक से बोले चलो मित्र तुम्हें परमात्मा के दर्शन करायें और वे उसे लेकर अछूतों की बस्ती में गये और एक हरिजन की झोंपड़ी पर जाकर खड़े हो गये। झोंपड़ी के भीतर एक किशोर बालक टी.बी. से पीड़ित पड़ा था। बूढ़ा बाप उसकी सेवा में लगा था। उन्होंने इशारा किया देखो यही भगवान् है जो अशक्त असहाय को सहारा देकर आशा के दीप को टिमटिमाने का अवसर दे रहा है।

दीन-दु:खियों की सेवा

दीनबन्धु एण्ड्रूज भारत जाने की तैयारी में व्यस्त थे। घर में सारा सामान बिखरा पड़ा था। किसी के द्वार खटखटाने की आवाज सुनाई पड़ी। उन्होंने दरवाजा खोला।

अरे! आप आ गये। इस समय बहुत 'आवश्यक कार्य' था। ऐण्ड्रूज ने अन्दर आ जाने का संकेत करते हुए कहा।

'पर आपने यह समय घूमने के लिए निर्धारित किया था और मुझे बुलाया भी इसी उद्देश्य से था। आगन्तुक ने पास ही पड़ी एक कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

दीनबन्धु जैसे पूर्व निश्चित कार्यक्रम को भूल ही गये हों। कुछ विचारते हुए बोले 'अब चलना सम्भव नहीं है। आपको जो कष्ट हुआ उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूं। मुझे भारत शीघ्र ही पहुँचना है। बात यह है कि मैं जब वहाँ होता हूं तो इंग्लैण्ड की याद आती है और यहाँ आ जाता हूं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सात समुद्र पार बैठे भारत के दीन-दु:खियों का स्वर मेरे कानों से टकरा रहा है।'

उन्हें मेरी सेवाओं की आवश्यकता है यहाँ तो मेरी कुछ जरूरत भी नहीं है।

सच्ची प्रार्थना : सद्ज्ञान संवर्धन

उन दिनों दीनबन्धु ऐण्ड्रूज शान्तिनिकेतन में रहते थे। एक दिन एक पादरी प्राध्यापक उनसे मिलने आये। वार्तालाप के बीच पादरी ने पूछा— क्या यहाँ कोई गिरजाघर है। ऐण्ड्रूज के मना करने पर उन्होंने कहा— तब आपको रविवार को प्रार्थना करने में बड़ी कठिनाई पड़ती होगी। रविवार का दिन था। उस दिन विद्यार्थी वर्ग कुछ विशेष धर्म चर्चा करने आ गया। दीनबन्धु उसी ज्ञान विनोद में लगे रहे।

जब पादरी चलने लगे तो ऐण्ड्रूज ने कहा— 'मेरी असली प्रार्थना सद्ज्ञान संवर्धन की सेवा साधना में लगे रहना ही है। रविवार की पूजा भी मैं इसी तरह पूरी कर लेता हूं।'

व्यावहारिक सहानुभूति

स्टेशन मास्टर के कार्यालय के सामने भीड़ एकत्रित होती जा रही थी। स्टेशन मास्टर का क्रोध देखते ही बनता था। किन्तु बेचारी बुढ़िया ठण्ड के मारे अँगीठी पर हाथ सेकना चाहती थी। स्टेशन मास्टर उसे दुत्कारने में लगा था। जो भी आता वहाँ रुकता। पूछता बाबूजी क्यों झल्ला रहे हैं? एक समझदार व्यक्ति भीड़ में से आया और बोला यदि इस बेचारी ने ठण्ड में हाथ सेक लिए तो क्या जुर्म हो गया? मास्टर साहब आपने तो बाइबिल पढ़ी होगी। ईसा ने भी ऐसे गरीबों की हिमायत की है। फिर भी आप में सहानुभूति का बीजारोपण नहीं हुआ। इतना कहकर उस व्यक्ति ने अपने कन्धे से ऊनी चादर उतारी और उस वृद्धा के कंधों पर डाल दी। ये सज्जन थे दीनबन्धु एण्ड्रूज।

विवाह न करने का कारण

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सी. एफ. एण्ड्रूज से कहा— "विवाह जीवन की पूर्णता है। प्रगति के मार्ग में पत्नी से पूरी सहायता मिलती है और दोनों के सहयोग से विपत्तियाँ दूर होती हैं। सच्चा जीवन जीने के लिए मनुष्य को विवाह अवश्य करना चाहिए और आपने विवाह न करके बड़ी भूल की है।"

दीनबन्धु ने कहा— "हाँ, आपकी बात बिल्कुल सत्य है पर दाम्पत्य जीवन के सुख की जब मैं कल्पना करता हूँ तो मेरा मन मुझे एक अन्य दिशा की ही ओर ले जाता है। वह कहता है कि तुम अपनी सेवायें राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्पित कर चुके हो। जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता तब तक तुम्हारा कुछ नहीं, सब राष्ट्र का ही होगा। तुम मिशन में सर्विस करते हो इसका भी क्या भरोसा? फिर नौकरी छूट जाने पर घर-गृहस्थी के बोझ को सम्हालने के लिए नौकरी तलाश करोगे या राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लोगे। मेरे मन में उठने वाले यही विचार दाम्पत्य जीवन के रेशमी सूत्र में बँधने नहीं देते।"

प्रभु का निरादर

दक्षिण अफ्रीका के एक गिरजे में पादरी एण्ड्रूज प्रार्थना और प्रवचन करने गये। गाँधी जी उन दिनों वहीं थे। वे भी उसी गिरजे में एण्ड्रूज का प्रवचन सुनने जा पहुँचे।

गोरों ने उन्हें काले होने के कारण गिरजे में जाने की अनुमति नहीं दी। उदास बापू वापस लौट आये।

भेंट होने पर बापू ने अपनी निराशा व्यक्त की। एण्ड्रूज आँखों में आँसू भर लाये और बोले मैंने तो ईश्वर और उसमें सच्चे रूप में आपकी ही चर्चा प्रवचन में की थी। कितने दु:ख की बात है कि प्रभु को ही उसके मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं मिली।

परोपकार की भावना

श्री एण्ड्रूज का समस्त जीवन ही सेवामय रहा। उन्होंने इसी को सबसे बड़ा धर्म समझकर जब जैसा भी मामला सामने आया उसी

में सहायता की । लाहौर में उन्होंने भी परमानन्द की स्त्री को बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत करते देखा । भाई परमानन्द को कई वर्ष पहले एक षड्यंत्र के मामले में आजन्म काले पानी की सजा हुई थी । एण्ड्रूज ने छुटकारे के लिये प्रयत्न आरंभ किया और पंजाब के छोटे लार्ड सर एडवर्ड मैक्लेगन की विशेष आज्ञा से उनको मुक्त करा दिया । भाई परमानन्द उनका दर्शन करने शांतिनिकेतन में आये और उन्होंने कहा— ''एण्ड्रूज सचमुच एक तपस्वी हैं, उन्होंने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है ।''

वसुधैव कुटुम्बकम का भाव

सर्दी के दिन थे । बर्फ गिर चुकी थी । रास्तों तक पर बर्फ जम गई थी । सड़क फिसलनी हो गई थी । दीनबन्धु एण्ड्रूज के साथ अल्बर्ट श्वाइत्जर भी घूमने जा रहे थे । जमी हुई बर्फ का दृश्य देखते हुए वे आँखें नीची रखे हुए चल रहे थे ।

श्वाइत्जर की दृष्टि ठण्ड में सिकुड़ते एक कीड़े पर पड़ी जो बेचारा अधमरा हो रहा था। वह रुक गये उन्होंने उसे वहाँ से उठाकर एक झाड़ी के नीचे सूखी जमीन पर रख दिया और दीनबन्धु से बोले 'एण्ड्रूज ! यह कीड़ा यहाँ सुरक्षित रह सकेगा । यदि सड़क पर ही पड़ा रहता तो अवश्य कुछ घंटों के बाद ईश्वर को प्यारा हो जाता ।'

आत्मवादी चिकित्सा पद्धति के जन्मदाता—डॉ. हैनीमैन

सबसे कम समय में विकसित होकर सारे विश्व में सम्मान प्राप्त करने वाली चिकित्सा पद्धति— होम्योपैथी— अपने आप में उतनी चमत्कारपूर्ण और प्रेरक भले ही न हो उसके जन्मदाता का जीवन-इतिहास ऐसी प्रेरणाओं से अवश्य भरा है, जो किसी भी मनुष्य को दार्शनिक सत्यों की प्राप्ति के लिए सुव्यवस्थित कर्मयोग का शिक्षण कर सकता है ।

डॉ. हैनीमैन—होम्योपैथी के जन्मदाता— का जन्म लिस्बन (पुर्तगाल) के एक निर्धन परिवार में हुआ था । उनमें बौद्धिक प्रखरता प्रारम्भ से ही थी उसे देखकर प्रायःसम्बन्धी और पिता के मित्रगण कहा करते— 'लगता है हैनीमैन इस जन्म में आने से पूर्व भी बहुत कुछ पढ़ चुका है । उसकी बौद्धिक प्रतिभा इस जन्म की कमाई नहीं हो सकती क्योंकि अभी उसे उसके लिए अवसर ही कहाँ मिला । सचमुच पूर्वजन्मों की योग्यता, साधना, ज्ञान का भी कोई अर्थ है । यह दूसरे किसी के मस्तिष्क में न उतरे, उनके सम्बन्धी को इस पर विश्वास हो गया इसलिये उन्होंने निश्चय किया— ''इस आत्मिक प्रतिभा को विकास के लिए हम सहयोग देंगे'' और सचमुच उन्हीं के सहयोग से हैनीमैन इंग्लैण्ड में उच्च डॉक्टरी शिक्षा प्राप्त कर सके ।

हैनीमैन ऐलोपैथी के डॉक्टर बनकर जर्मनी आ गये और वहाँ एक सरकारी अस्पताल में सिविल सर्जन हो गये । उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी हैनीमैन की दो विशेषतायें कभी नहीं छूटीं — (१) यह है कि सारे मनुष्य समान हैं सबके साथ सेवा, प्रेम और आत्मीयता का व्यवहार करना, (२) संसार में और भी कुछ सत्य है उसकी प्राप्ति के लिये अपनी बौद्धिक क्षमताओं का छोटा मान कर निरन्तर ज्ञानार्जन करते रहना ।

सेवा और ज्ञानार्जन की तीव्र इच्छा शक्ति के द्वारा उनका व्यक्तित्व निखरता ही गया ।

और अब उनके जीवन में प्रत्येक अध्यात्मवादी के सामने आने वाली ईश्वरीय परीक्षाओं का श्रीगणेश होता है । उनके दो पुत्र दोनो एक दो-दिन के अन्तर से बीमार पड़े । हैनीमैन स्वयं बड़े डॉक्टर थे इसलिए बच्चों की चिकित्सा उन्होंने स्वयं की । अच्छी से अच्छी औषधियाँ दी गईं । प्राण-प्रिय पुत्रों की सेवा सहृदय पिता ने रात-रात भर जाग-जाग ऐसे की जैसे महापुरुष समाज सेवा में अपने सुखों को भूल जाते हैं । लेकिन ईश्वरीय सत्ता के आगे मनुष्य का वश क्या ? दोनों पुत्र एक ही साथ एक ही साँझ मृत्यु के घाट उतर गए । प्यारे बच्चों की मृत्यु ने हैनीमैन के अन्तःकरण में तूफान बरपा कर दिया ।

उन्होंने ईश्वरीय इच्छा को प्रणाम कर लिया और जो हुआ उसे शाश्वत जीवन की अपनी प्रक्रिया मानकर सन्तोष कर लिया किन्तु उन्हें अपने भौतिक ज्ञान से ही अविश्वास हो गया । उन्होंने सोचा जो एलोपैथी जीने योग्य बच्चों को नहीं बचा सकी वह मरणोन्मुख मनुष्य को तो सम्भाल ही कैसे सकती है ।

दुःख में मनुष्य की ईश्वरीय आस्थाएं तीव्र हो पड़ती हैं । हैनीमैन के साथ भी वही हुआ । वे सोचने लगे सुख-दुःख है क्या ? और उसका मनुष्य से क्या सम्बन्ध है ? इन तथ्यों को सुलझाने के लिए विशेष शोध और साधना की आवश्यकता थी । डॉक्टरी में वह समय कहाँ मिलता सो उन्होंने चिकित्सक का पद छोड़ दिया । महान् उद्देश्य के लिए अपने छोटे से सांसारिक हित को शहीद कर देने की परम्परा का पालन करने वाले लोग ही संसार में महापुरुष हुए और मानवता को योगदान देने वाले काम कर सके । जो केवल स्त्री, बच्चे, पद, प्रतिष्ठा, धन और ऐश्वर्य की विडम्बना से चिपका रहा वह तो संसार में व्यर्थ ही जिया और मरने वालों की एक संख्या बढ़ा गया ।

अध्यात्मवादी के लिये जिस तरह धन और पुत्रों से मोह एक बाधा है उसी तरह लोकयश और अहंकार की रक्षा भी । सम्मान की भावना पर विजय पाने वाले अध्यात्मवादी नहीं हो सकते । इस तथ्य को समझ कर डॉ. हैनीमैन ने एक सम्मानित डॉक्टर का पद त्याग दिया और एक सरकारी लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन हो गये । यहाँ उन्हें संसार के सभी महापुरुषों के अनुभवों का लाभ उठाने का अवसर मिला । किन्तु उन्होंने देखा कि विराट विश्व का ज्ञान उसकी यथार्थता जानने के लिये केवल अंग्रेजी भाषा और पुर्तगाल या जर्मन के मनीषियों का अन्तःकरण और ज्ञान टटोलना काफी नहीं है सभी देशों व धर्मों के महापुरुषों के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में एक बाधा यह थी कि वे केवल फ्रेंच, अंग्रेजी और जर्मन भाषा ही समझते थे जबकि ज्ञान का क्षेत्र तो उतना ही विशाल है जितना यह संसार । सो उन्होंने एक और तपश्चर्या शिरोधार्य की । वह था अन्यान्य भाषाओं

का अध्ययन। दिन-रात एक करके हैनीमैन ने दुनिया की ९ भाषायें सीखीं और यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य के परिश्रम के आगे संसार की कोई भी वस्तु असम्भव नहीं। मनुष्य चाहे और पूरा न हो तो यह उसके भाग्य का नहीं कर्म का दोष है। उद्यमी मनुष्य तो पहाड़ काटकर दूध की धारा भी निकाल सकता है।

व्यक्तित्व के विकास की इस साधना के साथ डॉक्टर हैनीमैन ने यह अनुभव किया कि संसार के सब शरीरों में एक ही तरह की चेतना काम करती है। वह मन की शक्ति से भिन्न है। मन स्वयं सूक्ष्म है फिर उस शक्ति की— सूक्ष्मता का तो कहना ही क्या ? सूक्ष्म मन की शक्ति की तौल उन्होंने अपने जीवन में ही कर ली थी। आत्म-शक्ति के अकूत-भण्डार को अभी पाना था। उनको प्राप्त करने में उन्हें भले ही बिलम्ब लगा हो पर उन्होंने यह अवश्य जान लिया कि मन एक ऐसी शक्ति है जो आत्मा का उपयोग करती है। पागल का मन काम नहीं करता पर आत्मा काम करती है। आत्मा चुम्बकत्व शब्द विद्युत जैसी कोई शक्ति है जिसमें छल, कपट, भेदभाव आदि विकार नहीं होते क्योंकि पागल मनुष्य में भी ऐसा कुछ नहीं होता।

उन्होंने यह भी पाया कि रोग आत्मा का गुण या विकृति नहीं मन के दोष से रोग उत्पन्न होता है। प्रत्येक रोग या मानसिक विकार मुख मण्डल पर छा जाते है, इससे उन्होंने रोगों की सूक्ष्मता का अध्ययन किया। उन्हें एक महत्त्वपूर्ण बात सूझी चूँकि मन एक अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति है और उसी के विकार से शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं इसलिये औषधियां भी सूक्ष्मतम रूप से अधिकतम प्रभावशाली होनी चाहिए।

अपनी इस धारणा की पुष्टि के लिए उन्होंने भरतीय आयुर्वेद पढ़ना प्रारम्भ किया। आयुर्वेद में उनकी दृष्टि चिरायता (जिससे कुनैनी बनती है) पर जम गई। मलेरिया की संसार में एक ही दवा है कुनैन और यह रोगी को देने से तुरन्त अच्छा कर देती है लेकिन यदि कोई स्वस्थ आदमी उसे खाले तो वह बीमार हो जाता है। इस जानकारी से उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ उन्होंने इसका अपने ऊपर ही प्रयोग किया क्योंकि वह जानते थे कि मनुष्य शरीर के अनुकूल कोई भी प्रयोग मनुष्य शरीर में हो सकता है। निर्दोष जीव-जन्तुओं पर प्रयोग से किसी भी रूप में वास्तविक सत्य का पता नहीं लग सकता। आंशिक सत्य की ही जानकारी उससे होती है और यह मनुष्य के लिए अहितकारक भी हो सकती है।

डॉ. हैनीमैन ने चिरायते का कई प्रकार से विभिन्न आयु के कई व्यक्तियों पर कई तरह से प्रयोग किए और यह पाया कि उस दवा को जितना हलका (डायल्यूट) किया जाता है उसकी शक्ति उतना ही बढ़ जाती है। उन्होंने दवा को एक पौटैन्सी तक सूक्ष्म किया तब उसकी शक्ति परमाणु की शक्ति की तरह अत्यधिक तीव्र थी (१०० बूँद रेक्टीफाइड स्प्रिट में १ बूँद घुली हुई दवा डालकर हिलाया जाय और फिर उसमें से एक बूँद दवा ली जाये तो यह एक पौटैन्सी होती है। यदि इस एक पौटैन्सी बूँद को फिर १०० बूँद रेक्टीफाइड स्प्रिट से मिलाकर हिलाये और एक बूँद उसमें से निकाल लें यह दो पौटैन्सी दवा हुई यदि ऐसे ही एक लाख पौटैन्सी शक्ति की १ बूँद निकाले और किसी स्वस्थ मनुष्य को दें तो उसकी शक्ति को बर्दाश्त करना कठिन हो जाता है।) इस तरह उन्होंने संसार को एक नई मान्यता दी कि जो जितना अधिक सूक्ष्म है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली है। स्थूलता शक्ति का आधार नहीं। होम्योपैथी चिकित्सा पद्धति का विकास इसी सिद्धान्त पर डॉ. हैनीमैन ने दिया। इसी आधार पर डॉ. हैनीमैन भारतीय धर्म के सूक्ष्म आत्मिक तत्वदर्शन से प्रभावित हुये।

मानव सेवा की भावनायें और उमंगें डॉ. हैनीमैन में पहले से ही थीं। उनके ज्ञान और आत्म-विकास का क्षेत्र जितना बढ़ा उतनी ही उनकी सेवा की भावना प्रबल हुई अतएव उन्होंने अनेक सहयोगी ढूँढ़कर अनेक तरह के रोगों के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन किया साथ ही साथ उन्होंने उन औषधियों के प्रभाव को भी पढ़ा। डॉ. हैनीमैन ने स्वास्थ्य की खराबी के तीन कारण (१) चर्म रोग (शोरा), (२) सुजाक (सिफलिश), (३) प्रमेह (साइकोकिस) माने हैं और उनका मूल कारण मनुष्य का स्वभाव एवं आचरण माना और दवा देने से पूर्व उन्होंने मनुष्य को अपने आचरण अपने मनोभावों को सुधार की शिक्षा दी।

आज होम्योपैथी का विस्तार सारे संसार में हो चुका है। वह मनुष्य समाज के लिए कितनी उपयोगी चिकित्सा पद्धति साबित होगी उस पर कुछ कहना व्यर्थ है। पर यदि उनके जीवन दर्शन को एक औषधि की भाँति मनुष्य सेवन कर सके तो निःसंदेह वह अपने मन को, जीवन को शुद्ध और स्वस्थ अवश्य बना सकते हैं और अपनी आत्मिक प्रगति के अवरुद्ध दरवाजे अवश्यमेव खोल सकते है।

एक लाख आँखों का दाता— हेनरी हालैण्ड

एक बार तो वह स्वयं चपेट में आ गया। जिसने आजीवन पीड़ितों की सेवा, दीन-दलितों के उत्थान की ही बात सोची, ईश्वर के प्रति अटूट निष्ठा ही जिसे अनवरत काम करने की प्रेरणा देती थी, था न यह ईश्वरीय विधान के प्रतिकूल कि ईश्वर ने उसकी भी रक्षा नहीं की। जोर का पत्थर सिर पर गिरा। अचेत अवस्था में उसे अस्पताल पहुँचाया गया।

और जब बेहोशी दूर हुई तब उसके मुख से यही निकला भाई जल्दी करो, मेरी मरहम-पट्टी कर दो तो मैं अपने काम से लगूँ। देखते नहीं हजारों की संख्या में लोग घायल पड़े हैं और तुम सबने मुझे रोगी बनाकर पकड़ रखा है।

डॉक्टर की पीड़ितो की सेवा करने की यह अद्भुत दीवानगी देखकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति स्तब्ध रह गये। कोई दूसरा होता तो कराहता और भगवान् को दोष देते हुए कहता— वाह रे नियन्ता ! भूलकर भी तेरी प्रार्थना न छोड़ी, तुझे कभी भूला नहीं, किसी के साथ अन्याय और विश्वासघात भी नहीं किया और तैने यह फल दिया कि मुझे भी कुचल कर रख दिया ?

सचमुच वह सच्चा इन्सान था जो कहता था। परमात्मा ! अपनी तरह से प्रबन्ध करता है, उसका कार्यक्षेत्र सारा संसार है, उसकी व्यवस्थायें समय की सीमा से अनुबद्ध नहीं फिर मनुष्य उस पर टीका टिप्पणी करे तो यह उसका पागलपन ही है। थोड़ा कष्ट हो गया। उतने भर से क्या ईश्वर का भजन बन्द कर दिया जाय, क्या संसार की सेवा से मुख मोड़ लिया जाय। उपासना का उद्देश्य आत्मबल सम्पादन है मनोकामनाओं की पूर्ति नहीं।

पट्टी बँध गई और वह फिर उठ खड़े हुए। लोगों ने कहा— इतनी सेवा भावना नहीं होती, काम करने की ऐसी उत्कृष्ट लगन नहीं होती तो ५६ वर्ष की आयु में १,००,००० लाख व्यक्तियों की आँखें कैसे ठीक कर देते। हिसाब लगायें तो प्रतिदिन लगभग ५ ऑपरेशन तो उन्होंने किये ही किये होंगे। कोई आराम नहीं, कोई छुट्टी नहीं।

यह घटना उस समय की है जब १९३५ की एक रात क्वेटा (उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त) में जबर्दस्त भूकम्प आया था। प्रात:काल देखा तब मालूम हुआ कि साठ हजार की आबादी वाले नगर में अब कुल चौबीस हजार लोग जीवित बचे है। एक रात में एक शहर में छत्तीस हजार व्यक्तियों की मृत्यु इतिहास की सबसे अधिक रोमांचकारी मानसिक दुर्घटना थी और वैसा ही रोमांचकारी था तब इस व्यक्ति का साहस जो प्रकृति की इस भयंकर चुनौती के बीच भी अपना सन्तुलन खोये बिना चोट खाकर फिर काम में जुट गया। लोग उन्हें हेनरी हालैण्ड के नाम से याद करते हैं। जन्म से वे डरहम के थे पर अपनी आत्मा को उन्होंने विश्वात्मा में इस तरह घुला दिया था कि वे जहाँ भी गये वहीं के हो गये। सारा संसार एक ही पिता की सन्तान और सारा विश्व एक ही परिवार है यह उनका नारा था और अपने इसी सार्वभौम सिद्धान्त के आधार पर वह संसार की सेवा में आजीवन जुटे रहे।

हेनरी हालैण्ड की शिक्षा ईडनबर्ग में हुई। वे आँख के विशेषज्ञ के रूप में पढ़-लिखकर तैयार हुए तब सब घरवालों और सम्बन्धियों को वैसे ही प्रसन्नता हुई थी जैसी किसी भी सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं में डूबे व्यक्ति को यह सोचकर होती है कि अब मेरा बच्चा, मेरा भाई, मेरा सम्बन्धी अथाह धन कमायेगा, हम सबको सुविधाएँ देगा, आदि आदि। पर जब हेनरी ने अपना निर्णय व्यक्त करते हुए कहा— मैं धर्म और ईश्वर में महान् आस्था रखता हूँ और ईश्वर का आदेश है कि मेरे भक्त को संकीर्ण स्वार्थों में बँधा हुआ एकदेशीय नहीं होना चाहिये इसलिए मैं अपने ही परिवार तक सीमित न रहकर संसार की सेवा करूँगा। तब तो उनके कुटुम्बियों, सम्बन्धियों की लालसायें ऐसे टूटकर गिर पड़ीं जैसे मतवाला हाथी मस्ती में आकर पाँव बढ़ाता है तो सड़ी हुई रस्सी का बन्धन अटक से ही लटक कर रह जाता है।

परिवार के दु:ख-सुख, धन के अभाव, स्थानान्तर की दिक्कत इन सबको एक तरफ रखकर हेनरी संसार की सेवा करते हुये एक ऐसे स्थान की खोज में पादरी बने और लोकसेवा को निकल पड़े जहाँ कष्ट ही कष्ट हों, कठिनाइयाँ ही कठिनाइया हों ताकि ईश्वर-भक्ति की, धर्म मर्यादा की परख भी इस जीवन में हो जाय और भगवान् को यह कहने का अवसर न मिले कि हे मनुष्य ! मैंने तुझे जो सम्पूर्ण विभूतियों से सुसज्जित करके इस संसार में भेजा था तूने उनका उचित मूल्य नहीं चुकाया ?

हेनरी हालैण्ड १९०० ई. में क्वेटा आये। यह स्थान सेवा का सबसे बड़ा अधिकारी दीखा। यहाँ अशिक्षा और अन्धविश्वास की भरमार थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सामाजिक बुराइयों से ग्रस्त और दकियानूस थे। आये दिन कलह और रक्तपात होता। जंगली आदिवासियों की स्थिति तो और भी खराब थी। गन्दगी के कारण बीमारियों ने घेर रखा था और सामाजिक बुराइयों के कारण निर्धनता ने। हेनरी हालैंड ने इसी स्थान को अपना कार्यस्थल चुना और उन धर्म का नाम लेने वालों को लज्जित कर दिया जो ईश्वर की उपासना साधनों के लिये, सुविधाओं के लिये करते हैं।

जैसी कि आशा थी उनकी गोरी चमड़ी देखते ही उस क्षेत्र के अनेक लोग बिगड़ खड़े हुये। रीति-रिवाज और अन्धपरम्पराओं में धर्म की मूरत देखने वालों को उन्होंने समझाया भी कि धर्मपरम्पराओं और प्रथाओं में नहीं वरन् उपासना, आस्तिकता के साथ सेवा भावी, कर्त्तव्यपरायण, साहसी, संघर्षशील, परिश्रमी, उदार, स्वच्छ और सद्‌गुण परायण होने का नाम ही सच्ची धार्मिकता है पर जड़ बुद्धि व्यक्ति भला विचार और भावनाओं की महत्ता क्या जानें। कई लोग उन्हें मारने की ताक में रहने लगे। पठानों के बादशाह 'बाली' भी उनके खिलाफ हो गये पर यह सब हेनरी हालैण्ड के लिये जैसे साधारण-सी कठिनाइयाँ थीं।

एक दिन वे एक सड़क पार कर रहे थे। उन्होंने देखा-एक स्त्री कराह रही है, उसकी आँखें खराब हो गई थीं। उन्होंने वहीं रुक कर उसका ऑपरेशन किया और तब तक उसी गन्दे स्थान में रहे जब तक उस रोगिणी की आँख की पट्टी नहीं खुल गई। इस घटना से लोगों के दृष्टिकोण बदल चले। फिर उन्होंने क्वेटा, शिकारपुर आदि कई स्थानों में अस्पताल खोले, नर्सिंग स्कूल चलाये। प्रौढ़ पाठशालायें स्थापित कीं, पैदल चले, खच्चरों पर चढ़े और दिन-रात एक करके सारे क्षेत्र की, गन्दगी, अन्ध-विश्वास, अन्ध-श्रद्धा को ही नहीं धोया, रोग-शोक दूर करने में अपने सभी साधनों को गला दिया। अफगानिस्तान के राजा और 'बाली' की भी आँखें ठीक करके उन्होंने दिखा दिया कि संसार में कोई किसी का दुश्मन नहीं सब अपने ही हैं जो इस विश्वास के आधार पर काम करते हैं वही सच्चे ईश्वर भक्त और सच्चे इन्सान होते हैं।

शांति और सच्चाई के साधक— डॉ. लाइनस-पाउलिंग

मास्को में जिस दिन रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने एटमी विस्फोट समाप्त करने की संधि पर हस्ताक्षर किये उस दिन सारे संसार ने एक नये संतोष और शांति की साँस ली। भले ही यहाँ भी कुछ राजनीति बरती गई हो पर इन देशों की सबने प्रशंसा की।

किन्तु यदि गहराई में धँस कर देखें तो पता चलेगा कि यह समझौता एक महान् व्यक्ति के कठिन परिश्रम और प्रयत्नों से ही सम्भव हुआ । सत्य को पूर्वाग्रह से विमुक्त रखने वाले इस शांति के पुजारी को डॉ. लाइनस पाउलिंग के नाम से जाना जाता है । उन्हें दो बार शांति के लिये नोबेल पुरस्कार दिया गया पर जिस तरह सामान्य व्यक्ति पुरस्कार को अपने लाभ की वस्तु बनाते हैं डॉ. पाउलिंग ने वैसा नहीं किया । उन्होंने दोनों पुरस्कार विश्वशांति के प्रयत्नों में समर्पित कर दिये ।

एक सम्पन्न अमरीकी परिवार में जन्मे डॉ. पाउलिंग की प्रयोगशाला प्रशांत सागर के तट पर लास एन्जिल्स शहर के समीपवर्ती पासादेना नामक स्थान में है । उनके अन्वेषण विज्ञान जगत के अलौकिक उपहार हैं । अणुविद्या पर उन्होंने अनेक नई जानकारियाँ दी हैं । यह वह देश है जहाँ वैज्ञानिक स्पर्धा में अग्रणी रहने के लिये करोड़ों पाउण्ड केवल परीक्षणों में फूँक दिये जाते हैं । वैज्ञानिक बादशाहत की जिन्दगी बिताते हैं पर डॉ. पाउलिंग जहाँ रहते हैं वहाँ जाकर कोई यही कहेगा "कोई शिक्षित और स्वच्छताप्रिय किसान यहाँ रहता होगा ।" कोई बड़ा बँगला नहीं साधारण-सा स्वच्छ मकान जिसमें न टेलीफोन न आधुनिक उपकरण । किसी ने पूछा— "आप इतने महान् वैज्ञानिक हो कर भी इतनी सामान्य जिन्दगी क्यों बिताते हैं ?" तो उन्होंने गम्भीर होकर कहा— "विज्ञान हमें मनुष्यता की सेवा करना सिखाता है और सेवक को किस तरह होना चाहिये वह आप समझ सकते हैं । बस इसीलिये इस सामान्य-सी जिन्दगी से मुझे प्रयोजन रह गया है ।"

विचारों से बालकों की तरह सरल इसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम पण्डित जवाहरलाल नेहरू की एटमी धमाकों को समाप्त करने की अपील का समर्थन किया । डॉ. पाउलिंग ने बताया— "एटमी शक्ति को मानवीय कल्याण, रसायन, चिकित्सा, उद्योग और उत्पादन में लगा कर उसका सदुपयोग किया जाना चाहिये । एटमी धमाकों से जो जहरीली गैस पैदा होती है, इससे सारे संसार के बच्चे निर्बल होंगे । रोग और नई बीमारियाँ फैलेंगी, अकाल और अनावृष्टि से वीभत्स दृश्य उपस्थित होंगे ।" इस गम्भीरता को लोग पढ़ कर भी अनुभव नहीं करते । पर विज्ञान के पंडित पाउलिंग ने देखा कि यह तो मानव-संस्कृति के साथ महान् घात होगा इसलिये वे एटमी धमाकों के विरोध में एकाकी प्रयत्नों में जुट गये ।

जब किसी ने साथ न दिया तो उन्होंने अकेले ही एक दिन वाशिंगटन में ह्वाइट हाउस के सामने राष्ट्रपति के घर पर धरना दिया । यद्यपि वह अकेले थे पर एक विद्वान् व्यक्ति की शक्ति लाख अनपढ़ों से अधिक होती है । उनके अकेले के धरने से ही बुद्धिमान लोग चौंक पड़े और उन्होंने अनुभव किया कि आज का शिक्षित समुदाय यदि मानवता की सुरक्षा के लिये कटिबद्ध नहीं होता तो विश्व का सर्वनाश ही हो सकता है । स्वयं राष्ट्रपति ने भी उस बात को डॉ. पाउलिंग के समक्ष ही माना और उस एकाकी परिश्रमी को आवश्यक उपाय करने का आश्वासन दिया ।

डॉ. पाउलिंग जानते थे कि जब तक संसार के जनमत समस्या के समाधान के लिये एकजुट खड़े नहीं होते तब तक सफलता सम्भव नहीं । विज्ञान की प्रगति के कारण संसार एक कुटुम्ब की तरह समीप आ गया है । इसलिये जब तक सभी देशों के प्रबुद्ध व्यक्ति इस आवश्यकता को अनुभव नहीं करते तथा मानव-संस्कृति को विनाश से बचाने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं करते तब तक कोई अच्छा हल निकल नहीं सकेगा । इस विश्वास से प्रेरित होकर इन्होंने सारे संसार का दौरा किया । उनकी धर्मपत्नी ने महिलाओं को तथा आपने स्वयं पुरुषों का मोर्चा बनाने का अभियान जारी किया । विश्व के ११ हजार प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, शिक्षा-शास्त्रियों के हस्ताक्षर लिये और एक संयुक्त अपील की कि संसार को इन एटमी धमाकों के प्रति सजग हो जाना चाहिये । विद्वान् व्यक्तियों के प्रयत्न जब गलत दिशायें होने पर भी समर्थन पा जाते हैं तो शान्ति और सच्चाई की दिशा में समर्थन क्यों न मिलता ? पढ़े-लिखे लोग बराबर उनके पक्ष में होते गये और अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस को उस तरह के समझौते के लिए राजी होना ही पड़ा । यद्यपि अभी संसार अणु-युद्ध के खतरों से पूरी तरह मुक्त नहीं है, पर यह प्रयत्न किसी बड़े अनिष्ट और विभीषिका को निरन्तर टालते जा रहे हैं । यदि संसार के और भी शिक्षित और प्रभावशील व्यक्ति इस तरह राजनीति, समाज, अर्थनीति, उद्योग, शिक्षा आदि में मानव कल्याण की दृष्टि से परिवर्तन लाने के लिये कटिबद्ध हो जायें तो सारे संसार का नक्शा ही बदल सकता है । युद्ध की विभीषिका, राजनीति-बाजी, छल, धोखा, अहंकार, दम्भ और प्रपंचपूर्ण दुनिया को शान्ति, सहयोग, सहअस्तित्व, नेकी, ईमानदारी आदि व्यक्ति सदाचार में बदल कर मानव जाति का भारी हित सम्पादित किया जा सकता है ।

शर्त यह कि लगन, दृढ़ता और सेवानिष्ठा वैसी ही हो जैसी डॉ. पाउलिंग की । यह वह व्यक्ति है जो सच्चाई के लिये आत्मोलोचन को भी त्याग नहीं सकते ।

अणु-आयुधों के प्रसार को रोकने के लिये डॉ. पाउलिंग ने अपने प्रयत्नों में उन सभी शक्तियों को जुटाया जिन पर वे विश्वास कर सकते और जिन पर अपना अधिकार व्यक्त कर सकते । अपनी धर्मपत्नी को उन्होंने हास-विलास का जीवन जीने की सुविधायें नहीं दीं वरन् उन्हें अणुअस्त्रों की विनाश क्षमता और धमाकों से होने वाली हानि को समझाया और जब बात उनके मन में बैठ गई तो उन्हें भी इस महान् कार्य में जुट जाने की प्रेरणा दी । श्रीमती पाउलिंग ने भी डॉ. पाउलिंग की तरह अनेक देशों का भ्रमण कर प्रभावशील और राजनीति में हस्तक्षेप रखने वाली महिलाओं पर इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने का प्रभाव डाला । अनेक महिलाओं ने उनके इस आह्वान पर राजनीतिक भविष्य की चिन्ता किये बिना अपने आपको उस दिशा में लगा दिया ।

डॉ. पाउलिंग और उनकी धर्मपत्नी के जीवन की यह प्रेरणा है कि विश्व शान्ति के लिए हर प्रबुद्ध व्यक्ति को पूर्ण निष्पक्षता, सच्चाई और ईमानदारी से सामने आना चाहिये । यदि उन प्रयत्नों को अब

छोड़ा गया तो आज का विज्ञान और उसकी भटकती दिशाओं से संसार का सर्वनाश ही हो सकता है ।

वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता—डॉ. बसु

''बसु महोदय ने वनस्पति विज्ञान के जो अमूल्य तथ्य संसार को दिये हैं, उनमें से एक-एक के लिए भी विजय-स्तम्भ स्थापित करना उचित होगा'' ये वे शब्द हैं, जो विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता सर जगदीश चन्द्र बसु के सम्बन्ध में कहे थे ।

वैज्ञानिक श्री बसु का जन्म ३० नवम्बर, १८५८ को विक्रमपुर जिला ढाका में हुआ था । पिता श्री भगवान् चन्द्र बसु उस समय फरीदपुर में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे । उनमें देश-प्रेम और स्वाधीनता के विचार कूट-कूट कर भरे हुए थे । ऐसे आदर्श पिता ने अपने बेटे को शहर के किसी बड़े स्कूल में अध्ययन के लिये न भेजकर गाँव के ही स्कूल में किसानों और मछुओं के बेटों के साथ पढ़ाया । गाँव की पाठशाला में ही उन्होंने सच्ची मानवता का पाठ पढ़ा तथा प्रकृति से प्रेम करना सीखा । बसु स्वभाव से बहुत जिज्ञासु थे और बचपन से ही साहसपूर्ण कार्यों की ओर उनका बहुत झुकाव था ।

गाँव की पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर सेंट जेवियर कॉलेज कलकत्ता से इन्होंने बी. ए. की परीक्षा पास की । उनकी इच्छा इंगलैण्ड जाकर आई. सी. एस. परीक्षा पास करने की थी परन्तु उनके पिता उन्हें अफसर न बना करके ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ाकर देश सेवा के योग्य बनाना चाहते थे । परिणामस्वरूप श्री जगदीश चन्द्र बसु ने इंग्लैण्ड जाकर लन्दन विश्वविद्यालय से बी. एस-सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की और स्वदेश वापस आ गये ।

स्वदेश लौटने पर उन्हें कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में भौतिकशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त किया गया । इस समय उनकी आयु २५ वर्ष की थी । उन दिनों अँग्रेज और भारतीय प्राध्यापकों के वेतन में बड़ा भेदभाव बरता जाता था । एक अँग्रेज को जितना वेतन मिलता था । एक भारतीय को उसका केवल एक-तिहाई दिया जाता था । स्वाभिमानी और राष्ट्र प्रेमी बसु को यह नीति बहुत अखरी । उन्होंने इसके विरुद्ध शान्त आन्दोलन छेड़ दिया । अपना पढ़ाने का कार्य वे नियमित रूप से करते रहे, किन्तु तीन वर्ष तक वेतन नहीं लिया । अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ आईं पर वे विचलित नहीं हुए । अन्त में उनकी विजय हुई नियुक्ति के दिन से अँग्रेज अध्यापकों के बराबर तीन वर्ष का पूरा वेतन दिया गया । अपने सीमित साधनों द्वारा ही अनवरत परिश्रम से उन्होंने विज्ञान जगत को बहुत कुछ दिया ।

मारकोनी से पूर्व ही जगदीश चन्द्र बसु ने कलकत्ता के कलेक्टर की उपस्थिति में बिना तार के सन्देश भेजने का सफल प्रयोग करके दिखाया था । गुलाम देश के निवासी होने के कारण हमारा यह दुर्भाग्य था कि यह सेहरा मारकोनी के सिर पर बँधा । एक बार जब बसु विद्युत तरंग सम्बन्धी अनुसंधान कर रहे थे जब उन्होंने देखा कि कुछ धातुओं में बार-बार विद्युत तरंगों के प्रभाव से थकावट भी पैदा होती है । थोड़ा विश्राम कर लेने के पश्चात् यन्त्र फिर अपना कार्य पहले की तरह प्रारम्भ कर देते हैं । इसी पर विचार करते-करते उन्होंने खोज की कि भौतिक कारणों की जैसी प्रतिक्रिया जीवों में होती है, उसी प्रकार की मिलती-जुलती प्रतिक्रिया धातु इत्यादि जड़ वस्तुओं में भी होती है ।

डॉ. बसु ने इस बात को सिद्ध करके दिखाया कि प्राणी-जगत के समान ही वनस्पति जगत भी भौतिक कारणों से प्रभावित होता है । सोते-जागते, खाते-पीते और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । इसके लिए उन्होंने कई यंत्रों का निर्माण किया । उन्होंने पौधों में होने वाले सूक्ष्म आन्तरिक परिवर्तनों को पता लगाने के लिये 'रेजोनेन्ट रिकार्डर' नामक यंत्र का निर्माण किया । इस उपकरण की सहायता से डॉ. बसु ने यह पता लगाया कि पौधों को भी झटका लगता है, थकावट होती है तथा नींद आती है । उन पर विषैले पदार्थों का प्रभाव पड़ता है । डॉ. बसु ने पौधों में होने वाली वृद्धि को नापने के लिये 'क्रैस्कोग्राफ' नामक यंत्र का आविष्कार किया । पौधों में क्लोरोफिल के द्वारा अपना भोजन आप तैयार करने की प्रतिक्रिया की खोज के लिये उन्होंने 'फोटोसिंथेटिक रिकार्डर' नामक महत्त्वपूर्ण उपकरण का भी निर्माण किया ।

उनकी प्रतिभा का अँग्रेजों ने बड़ा सम्मान किया, उन्हें लन्दन की रॉयल सोसायटी के सदस्य पद से सम्मानित किया पर वास्तविक सम्मान तो उन्हें हम भारतीयों से वैज्ञानिक प्रगति में अग्रसर होकर मिलना चाहिये ।

भारत के वैज्ञानिक गौरव—डॉ. भाभा

विश्व प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा ने अपने परिश्रम, पुरुषार्थ तथा अध्यवसाय के बल पर संसार को यह चेतावनी देकर सावधान कर दिया कि भारतीय मस्तिष्क भी अणुबम बनाने में समर्थ हैं, इसलिये कोई देश अपनी अणु शक्ति के आधार पर भारत को धमकाने, दबाने अथवा भयभीत करने की कोशिश न करे ।

जिनेवा में 'एटम फॉर पीस' (अणु शक्ति शान्ति के लिये) नामक द्वितीय गोष्ठी के अवसर पर महान् वैज्ञानिक फ्रांसिस पैरा ने बड़े गर्व से कहा— ''संसार के अल्प-विकसित तथा गरीब देश परमाणु शक्ति के आधुनिक विकास के लाभों का तब तक उपयोग करने से वंचित रहेंगे जब तक वे औद्योगिक विकास की दिशा में पूरी तरह सम्पन्न नहीं हो जाते ।''

निश्चय ही यह एक सम्पन्न देश के वैज्ञानिक की एक गर्वोक्ति तथा भारत जैसे निर्धन देशों पर एक तीखा व्यंग था जिसके पीछे कथनकार का यह संकेत छिपा था कि असम्पन्न देश आणविक प्रगति नहीं कर सकते, यह बहुत ही व्ययसाध्य काम है, इसलिये उन्हे अणु-विकसित देशों की वरिष्ठता तथा श्रेष्ठता मानते ही रहना चाहिये ।

डॉक्टर भाभा ने, जो उस गोष्ठी के सम्मानित अतिथि थे और भारत के प्रतिनिधि, उक्त वैज्ञानिक का व्यंग तथा संकेत समझ लिया और उसका वैज्ञानिक आधार पर खण्डन करते हुये कहा कि आप शीघ्र देखेंगे कि अल्पविकसित देश भी अणु प्रगति कर सकते हैं और अणुबम बना सकते हैं।

डॉ. भाभा भारत आकर अपने कथन को चरितार्थ करने में लग गये। उन्होंने दिन-रात अनुसंधान कार्य करने का कार्यक्रम बनाया और काम करने में जुट गये और अनेक वर्षों अविराम परिश्रम से अणु-शक्ति का रहस्य खोज निकाला। इस महान् सफलता के बाद उन्होंने आणविक शक्ति के विकास के लिये ट्राम्बे में आधुनिकतम आणविक संस्थान की स्थापना कराई और 'अप्सरा' आणविक भट्टी का प्रारम्भ किया। डॉ. भाभा की इस सफलता तथा निर्माण ने आणविक शक्ति सम्पन्न देशों के बीच भारत का स्थान बनाकर उद्धत राजनेताओं को गर्वोक्ति करने से विरत कर दिया। उन्होंने अपने महान् अध्यवसाय के बल पर सिद्ध कर दिखाया कि संसार के अल्पविकसित देश भी लगन तथा परिश्रम के द्वारा परमाणु शक्ति के विकास का लाभ उठा सकते हैं।

किन्तु भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा एक शान्तिप्रिय वैज्ञानिक थे। उन उद्धत वैज्ञानिकों में नहीं थे जो अणु शक्ति को युद्ध का साधन बनाकर अपने देश को दूसरे निर्बल देशों पर दबाव डालने की क्षमता प्रदान करने में ही अपना वैज्ञानिक गौरव समझते हैं। सक्षम एवं समर्थ होने पर भी उन्होंने ध्वंसकारी अणुबम बनाने की कभी नहीं सोची। वैज्ञानिक उपलब्धियों के विषय में उनका दृष्टिकोण सदैव शान्ति निर्माण तथा विश्व-कल्याण की दिशा में ही रहता था। वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपभोग के विषय में उनसे जब-जब पूछा गया तब तब उन्होंने यही उत्तर दिया— "मेरा सारा प्रयास और सारी प्रगति इसलिये है कि ऐसे साधन संचय किये जा सकें जिनके आधार पर भारत के करोड़ों भूखे, नंगे लोगों के लिये रोटी-रोजी की व्यवस्था की जा सके। हमारे देश की सारी वैज्ञानिक प्रगति का लक्ष्य राष्ट्र का सर्वांगीण विकास और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यथासम्भव मात्र कल्याण का सम्पादन करना है। भारत कोई राजनैतिक उद्देश्य लेकर विज्ञान के क्षेत्र में नहीं बढ़ रहा है।"

अमित्र देश चीन की आणविक प्रगति तथा बम विस्फोटों के समाचारों पर जब विदेश के जिज्ञासुओं ने यह प्रश्न किया— 'सम्भवतः अब तो भारत भी अणुबम बनायेगा'— तब डॉ. भाभा ने उत्तर दिया वह उनके अनुरूप ही है और निस्सन्देह संसार के वैज्ञानिकों के लिये माननीय एवं अनुकरणीय है। डॉ. भाभा ने कहा—

"विज्ञान संसार के विनाश के लिये नहीं बल्कि दुःखी एवं संतप्त मानवता के कल्याण और उसकी सेवा करने के लिये है। परमाणु शक्ति का सही उपयोग विनाशकारी बम बनाने में नहीं उसका सही उपयोग अणु शक्ति संचालित बिजलीघर बनाने में है, जिससे लोगों को कम से कम मूल्य पर बिजली मिल सके, उनकी सुख-सुविधा के साधन बढ़ें, उद्योगों तथा कारखानों में उस शक्ति का उपयोग कर सस्ता और अच्छा माल बनाया जा सके। नये उद्योग-धन्धे खड़े किये जा सकें जिससे गरीब लोगों को पर्याप्त रोटी-रोजी मिल सके। अणु शक्ति का सही उपयोग तब है जब उससे कृषि के उत्तम-उत्तम साधन खोजे जा सकें, जिससे देश का धनधान्य बढ़े, उसकी गरीबी और भुखमरी दूर हो सके। रेतीले तथा अनुपजाऊ क्षेत्रों को उर्वर बनाने में उपयोग की गई अणु शक्ति सदुपयुक्त मानी जायेगी। अणु शक्ति का उचित उपयोग तभी है जब उसके द्वारा विभिन्न प्रकार की बीमारियों का उपचार किया जा सके और मानव-विकास को हर दिशा में गतिमान बनाया जा सके। मेरा तो विचार यह है कि एक अणु-शक्ति ही नहीं ज्ञान-विज्ञान की कोई भी शक्ति विनाश में न लगाकर निर्माण में ही लगाई जानी चाहिये। न केवल विद्याबल ही बल्कि धन-बल तथा जन-बल का उपयोग भी मानव-कल्याण की दिशा में ही किया जाना चाहिये।"

भारत के इस साधु वैज्ञानिक डॉ. भाभा का पूरा नाम डॉ. होमी जहाँगीर भाभा था। इनका जन्म ३० अक्टूबर, १९०९ में बम्बई में हुआ। एक सम्पन्न घर के पुत्र-रत्न होते हुये भी उन्होंने सुख-सुविधा की सामान्य आकांक्षा से ऊपर उठकर अपना सारा जीवन एक तपस्वी की भाँति विद्याध्ययन तथा देश की सेवा में लगा दिया। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही इस देशभक्त को भारत की वैज्ञानिक मंदता खटकने लगी थी और विद्यार्थी जीवन में अनेकों के बहुत-बहुत कठिन बताए जाने पर भी विज्ञान का विषय ग्रहण किया और सदैव ही अपना यह विश्वास व्यक्त किया कि परिश्रमशीलता के आगे संसार का कोई भी विषय कठिन नहीं और पुरुषार्थ तथा लगन के सम्मुख कोई भी उपलब्धि असम्भव नहीं, मुझे विज्ञान का अध्ययन कर एक वैज्ञानिक बनना ही है फिर चाहे इसके लिये मुझे अपना सारा जीवन, सारी सुख-सुविधा और सारा हास-विलास ही क्यों न बलिदान करना पड़े। मुझे हर मूल्य और हर प्रयत्न पर भारत से वैज्ञानिकता की कमी दूर करनी ही है।

आगे चलकर इस लगनशील तथा उत्साही बालक ने अपने विश्वास को चरितार्थ भी कर दिखाया।

डॉक्टर भाभा ने बम्बई के कैथेड्रल जान कैनन विद्यालय से हाई-स्कूल पास करके एल्फिन्स्टन कॉलिज और रायल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स से विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की। अनन्तर लन्दन के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से विज्ञान में पी-एच. डी. प्राप्त कर अनुसन्धान कार्य में लग गये। सबसे पहले उन्होंने ब्रह्माण्ड विवरण के क्षेत्र में ऐसी खोजें दुनिया के सामने रखीं कि वे जल्दी ही संसार के ऊँचे वैज्ञानिकों में गिने जाने लगे। जिसका मूल्यांकन विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों ने इन्हें 'डॉ. ऑफ साइन्स' की उपाधि देकर किया। संसार की महान् वैज्ञानिक संस्थाओं से राइज वेल ट्रेवलिंग की कैम्ब्रिज आइजक न्यूटन की स्टूडेन्टशिप तथा सीनियर स्टूडेन्ट-शिप पाने वाला युवक वैज्ञानिक डॉ. भाभा यदि चाहता तो संसार के किसी भी विश्वविद्यालय में हजारों रुपये की प्रोफेसरी लेकर सम्मान एवं आराम की जिंदगी बिता सकता था। किन्तु जिन मनुष्यों के हृदय

में मानवता के दु:ख का दर्द होता है, समाज की पीड़ा और राष्ट्र के गौरव-वृद्धि की कामना होती है वे जनोपयोगी कामों के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन का मूल्य कम कर दिया करते हैं।

अनेक आणविक भट्टियों की स्थापना के अतिरिक्त डॉ. भाभा ने औद्योगिक प्रगति के लिये 'टाटा वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थान' की स्थापना की और वर्षों उसका संचालन भी किया। बम्बई का 'टाटा भन्डा मेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' तथा ट्राम्बे के अन्य अनेक आणविक संस्थान डॉ. भाभा के ही प्रयत्नों के फल हैं। इन स्थापनाओं के अतिरिक्त डॉ. भाभा ने जो सबसे उपयोगी, महान् तथा दूरगामी काम किया वह यह कि उन्होंने अपने प्रयत्नों, परामर्शों तथा निर्देशों से भारत में न जाने कितनी वैज्ञानिक प्रतिभाएँ उत्पन्न कर दी हैं। डॉ. भाभा अपने इस विचार के लिये सदा श्रद्धा के पात्र बने रहेंगे कि 'हर ज्ञानी-विज्ञानी, कलाकार तथा शिल्पी को अपनी विद्या नई पीढ़ी को दे जाना चाहिए, जिससे संसार में उसका अस्तित्व बना रहे, उसका परम्परा तथा विकास का क्रम बना रहे। किसी भी विशेषता प्राप्त व्यक्ति को अपनी विशेषताओं को अपने तक ही सीमित रखने की संकीर्णता नहीं रखनी चाहिये। इस प्रकार कोई भी विद्या विद्वान् के साथ ही संसार से चली जाती है जिससे मानवता की बड़ी क्षति होती है।

अपने इन्हीं उदार विचारों से प्रेरित होकर डॉ. भाभा ने बम्बई में अखिल भारतीय वैज्ञानिक परीक्षाओं की परम्परा चलाई। इन परीक्षाओं द्वारा वे देश की विकासशील वैज्ञानिक प्रतिभाओं को खोज निकालते थे और उन तथ्यों को अपने निर्देशन में रखकर विज्ञान तथा अनुसन्धानों की शिक्षा दिया करते थे। इस प्रकार वे देश में वैज्ञानिकों की एक ऐसी नई पीढ़ी पैदा कर गये कि जो आज उनके न रहने पर भी अणु क्षेत्र में उनके उद्देश्यों तथा अनुसन्धानों को आगे बढ़ा रही है और आगे बढ़ाती रहेगी।

इस भारतीय वैज्ञानिक डॉ. भाभा में दो ऐसी विशेषताएँ रही हैं जो संसार के किसी वैज्ञानिक में कदाचित् ही पाई जायें। एक तो डॉ. भाभा बहुत ही गहरे कला प्रेमी थे। उन्होंने आधुनिक कलाकृतियों से अपनी वैज्ञानिक शालाओं तक को सजा रखा था। संगीत तो उन्हें इतना प्रिय था कि जब वे अपने अनुसन्धान कार्यों में थकते तो संगीत द्वारा ही अपनी क्लांति दूर करते थे। कर्नाटकीय संगीत तो उन्हें इतना पसन्द था कि व्यस्तता के बावजूद भी वे उसका कोई भी कार्यक्रम बिना देखे-सुने नहीं रहते थे।

डॉ. भाभा का एक धर्म प्राण व्यक्ति होना उनकी दूसरी विशेषता थी। अपने वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त उन्हें जो भी समय मिलता था उसमें वे शास्त्रों तथा धर्म पुस्तकों का ही अध्ययन किया करते थे। उनके पुस्तकालय में जहाँ एक ओर विद्याज्ञान की पुस्तकें लगी रहती थीं वहाँ दूसरी ओर की अलमारी धार्मिक पुस्तकों से भरी रहती थी। डॉ. भाभा उन वैज्ञानिकों में से थे जिसका विश्वास भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों विज्ञानों पर समान रूप से था और जो दोनों से लाभ उठाने की कला से पूरी तरह परिचित थे।

इन धर्मप्राण वैज्ञानिक डॉ. भाभा को जब स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने अपने शासन काल में मन्त्री पद देने का प्रस्ताव किया तो उसको विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुये डॉ. भाभा ने जो शब्द कहे थे वे उनकी त्याग तथा कर्त्तव्य-निष्ठा के जीते-जागते प्रमाण हैं। उन्होंने कहा— ''मेरा कार्य-क्षेत्र केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल नहीं बल्कि वह अनुसन्धानशाला है जहाँ पर अणुशक्ति का मानव कल्पना के क्षेत्र में उपयोग करने के लिये विविध प्रकार के प्रयोग तथा अनुसन्धान मेरी अविरल सेवा की माँग करते रहते हैं।''

खेद है कि भारत का ऐसा विश्व-हितैषी वैज्ञानिक और महामानव केवल पचपन वर्ष की अवस्था में ही कुछ समय पूर्व एक विमान दुर्घटना से स्वर्ग चला गया किन्तु भारत को वैज्ञानिकों की एक नई पीढ़ी देकर उसने जो राष्ट्र की सेवा की है वह उसे इतिहास के पृष्ठों में सदा अमर रखेगी।

नास्तिक नित्से

नित्से जर्मनी के उस दार्शनिक का नाम है जिसने धार्मिकता और आस्तिकता अपनाने की अपेक्षा मनुष्य को श्रेष्ठ मनुष्य, महामानव, अतिमानव बनने की प्रेरणा दी। वह प्रत्येक आदर्श और विचार को विवेक एवं उपयोगिता की कसौटी पर कसने का पक्षपाती था। इसलिए उसने समाज में प्रचलित मान्यताओं में से प्रत्येक पर कसौटी लगाई और उसकी दृष्टि में जो कुछ भी खरा नहीं उतरा उसी को उसने अमान्य ठहराया। उसकी कसौटी पर आस्तिकता और धार्मिकता का प्रचलित स्वरूप भी खरा नहीं उतरा इसलिए उसने केवल प्राचीनता के आधार पर या किन्हीं ग्रन्थों एवं संतों के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उन्हें मान्य नहीं ठहराया। उसने विवेक को अपनाने पर बहुत जोर दिया। सत्य की कसौटी पर हर आदर्श की कड़ी परीक्षा लेने के लिए उसने जन-साधारण को आमन्त्रित किया।

प्रिंस बिस्मार्क जर्मनी को शक्तिशाली बनाने में संलग्न थे। वे राजकीय, सैनिक और औद्योगिक शक्ति से अप[illegible]ने राष्ट्र को अधिकाधिक सम्पन्न बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, उनके कार्यक्रम को सफल बनाने में नित्से के दर्शन का महत्त्वपूर्ण हाथ था।

नित्से आरम्भ में एक धार्मिक ईसाई थे। बड़े प्रेम से बाइबिल पढ़ते थे। पढ़ते-पढ़ते कई बार भावावेश में उनकी आँखों से आँसू बहने लगते थे, पर जैसे-जैसे बड़े होते गये, हर बात को उन्होंने कसौटी पर कसना शुरू किया। फलस्वरूप उन्हें ईसाई मान्यताओं से विरक्ति हो गई। धार्मिक ईश्वर के स्थान पर उन्होंने 'अति मानव' की देवता के रूप में कल्पना की और इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य को आध्यात्मिक ही नहीं भौतिक दृष्टि से भी अधिकाधिक विकसित होना चाहिए।

अपने निजी जीवन के कटु अनुभवों के आधार पर वे सुरा, सुन्दरी के घोर विरोधी थे। उन्होंने इनके फेर में पड़कर बहुत कुछ खोया था और भारी ठोकरें खाई थीं इसलिए वे उनके जाल से विचारशील लोगों को बचते रहने की ही सलाह देते थे।

नित्से ने कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें 'दस स्पीक जराथ्रस्ट' की बहुत प्रशंसा है। स्वयं लेखक ने इसे अपनी सर्वोत्कृष्ट

और महान् कृति माना है। फिर भी उसके जीवनकाल में उसकी बहुत कम प्रतियाँ बिकीं।

इस महान् दार्शनिक के विचारों से हिटलर प्रभावित हुआ और उसने नाजीवाद अपनाया। उसी की प्रेरणा से जर्मन जाति शक्ति और शौर्य की उपासक बनी और वह नशा इतना गहरा चढ़ा कि दो-दो महायुद्धों में हारने और भारी क्षति उठाने पर भी खुमारी अभी तक गई नहीं है। जर्मन युवक अभी भी विश्व-विजय के सपने देखते हैं।

नित्से ने लिखा है— "पीछे की ओर नहीं, आगे की ओर देखो। पूर्वजों की कब्र में तुम्हें नहीं रहना है वरन् अपनी सन्तति के साथ ही दिन काटने हैं, इसलिए भविष्य ही तुम्हारी आशाओं का केन्द्र होना चाहिए। उसी के निर्माण में तुम्हारी इच्छा शक्ति केन्द्रित होनी चाहिए। तुम सबको स्वतन्त्र रूप से हर समस्या पर विचार करना चाहिए जैसा कि मैंने किया है। केवल अच्छे बनने से काम न चलेगा। साथ ही दुरुस्त बनने की भी कोशिश करो।"

नित्से ने दो प्रकार की नैतिकता का प्रतिपादन किया है। एक वीरोचित दूसरी दासोचित। वीरोचित नैतिकता में वे पुरुषत्व, साहस, कर्मठता और वीरता का प्रतिपादन करते हैं और इसके लिए कठोरता, हिंसा, भयंकरता, युद्ध और कूटनीति को आवश्यक मानते हैं। दासोचित नैतिकता में वे विनम्रता, अनासक्ति, दीनता, दयालुता और शान्ति को गिनते हैं। उन्होंने ईसाई धर्म से बौद्ध युग जैसा खतरा देखा और जनता को केवल सज्जनता और शान्ति की ही रट न लगाते रहने की चेतावनी देते हुए कहा— "यह संसार शक्ति और श्रेष्ठता के सिद्धान्तों पर चल रहा है। योग्यतम का, दूसरों को परास्त करके जीवित रहना, एक कठोर तथ्य है जिसे समझ लेना ही बुद्धिमानी है। जीवन संग्राम में पिछड़कर अपने आपको नष्ट होने से बचाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति, प्रभुत्व की लालसा और प्रबल मनोवेगों की आवश्यकता है इसके बिना कोई व्यक्ति या समाज महान् नहीं बन सकता। साहसी बनना, शक्तिशाली बनना ही सत् है। दुर्बलता ही असत् है।"

उन्होंने गणतन्त्र के सिद्धान्तों का भी विरोध करते हुए कहा— "सब मनुष्य समान नहीं हो सकते। गणतन्त्र का अर्थ है— "घटिया लोगों का वर्चस्व और श्रेष्ठ व्यक्तियों का तिरस्कार" ऐसी स्थिति में महापुरुष न तो उत्पन्न हो सकते हैं और न उन्हें वर्चस्व प्राप्त हो सकता है। चुनावों में होने वाली धाँधली और अशिष्टता को पार कर आगे बढ़ सकना श्रेष्ठ पुरुषों के लिए किस प्रकार संभव हो सकता है?"

आज जनतन्त्र के युग में नित्से के विचार विलक्षण लगते है। उनकी व्याख्याएँ विचित्र मालूम पड़ती हैं और शान्ति तथा समानता के सर्वप्रिय सिद्धान्तों से परिचित लोगों के लिए उनकी बातें अग्राह्य जँचती हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनके विचारों के पीछे एक बल है और एक समय ऐसा आया था जब लगता था कि नित्से द्वारा पोषित अधिनायकवाद के सिद्धान्तों के आगे ही कहीं दुनिया को मस्तक न झुकाना पड़े।

नित्से जब मरने को थे तो उन्होंने अपनी बहिन से कहा— "मेरे शव के साथ स्वजनों के अतिरिक्त और कोई कोलाहल करने वाली भीड़ न हो। मेरी समाधि के पास किसी पादरी को न आने देना। मैंने अपनी रक्षा उनसे की है, तुम मेरी समाधि को भी उनकी परछाईं से बचाना और एक ईमानदार नास्तिक की तरह मुझे दफना देना।"

सन् १८४४ में वे जन्मे और १८८९ में पैंतालीस वर्ष के होकर मर गये। अन्तिम दिन उनके निराशापूर्ण थे। उन्हें व्यक्तिगत जीवन में सब ओर असफलता ही मिली थी। इटली छोड़कर वे आल्पस पर्वत पर एकाकी जीवन व्यतीत करने लगे थे। स्वास्थ्य भी उनका साथ नहीं देता था। उन्होंने लिखा है— 'आज मेरी आकांक्षाओं के अनुरूप समय नहीं है पर एक दिन वह आयेगा अवश्य।' कौन जाने वह समय कब आये? फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनके विचारों में बड़ी जीवटता थी और उन्होंने बहुत बड़े जन-समुदाय को प्रभावित भी किया।

नित्से के विचारों से कोई सहमत हो या असहमत पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे अपने विचारों के प्रति ईमानदार रहे। जैसा उन्होंने सत्य समझा वैसा निर्भीकतापूर्वक कहा। भय या प्रलोभन के कारण वे अपनी मान्यताओं को दबाने या छिपाने की अपेक्षा आजीवन कष्ट भुगतते रहना, विरोध, व्यंग और उपहास सहना तथा लोगों द्वारा तिरस्कृत तथा लांछित होना पसन्द करते रहे। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के प्रति आस्थावान और निर्भीक होना चाहिए, इतनी शिक्षा तो उनसे हर कोई प्राप्त कर ही सकता है।

श्रमिक जीवन को अतिशय प्यार करने वाला विद्वान् ऐरिक हौफर

ओजस्वी वक्ता, तेजस्वी लेखक और मौलिक विचारक श्री ऐरिक हौफर ने समाजवादी विचारधारा पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। उनकी प्रसिद्ध एवं प्रकाशित पुस्तकों में 'दि ट्रू बिलीवर', 'दि पैशनेट स्टेट ऑफ माइन्ड' और 'दि ऑर्डियल ऑफ चेन्ज' अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

उनके आलोचकों का कथन है कि ऐरिक हौफर मुहावरेदार भाषा के प्रयोक्ता, नैतिकतावादी और मानव समाज की स्थिति के दृष्टा हैं। उनके सिद्धान्त व्यावहारिक और परिभाषायें सुबोध हैं। श्री ऐरिक की रचनाओं ने अमेरिका के श्रमिक वर्ग तथा समाज को एक परिवर्तनकारी विचारधारा देकर मालिक और मजदूरों को परस्पर समन्वय स्थापित करने के उपायों पर सोचने को विवश किया, जिसका फल अमेरिका में मालिक-मजदूरों के बीच एक समझदारी आयी जो राष्ट्रीय अर्थतंत्र को सुदृढ़ बना सकने में काफी हद तक सहायक सिद्ध हुई है।

श्री ऐरिक एक यथार्थवादी समाज-चिन्तक हैं। मजदूरों और मालिकों की प्रवृत्तियों को उन जैसे समझने वाले चिन्तक बिरले ही हुये हैं। इसका विशेष कारण यह है कि वे स्वयं भी एक मजदूर हैं। सो भी कलम के मजदूर नहीं, ठीक-ठीक शारीरिक श्रमिक और इस

समय भी वे प्रशांत तट पर जहाजी घाट मजदूर की हैसियत से काम करते हैं ।

श्री ऐरिक हौफर एक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक लेखक तथा प्रवक्ता हैं । यदि वे चाहें तो अपनी रचनाओं एवं वक्तृताओं के बल पर शाही जीवन व्यतीत कर सकते हैं । प्रकाशक उनके पीछे उनके लिपिबद्ध विचार लेने के लिये पैसों की थैली लिये लगे रहते हैं । नित्यप्रति कॉलिजों से समाजवाद पर लैक्चर देने के लिये उनके पास निमंत्रण आते रहते हैं सो भी अच्छे खासे पारिश्रमिक के साथ । किन्तु त्याग की मूर्ति और परिश्रम की प्रतिमा हौफर उसका कोई लाभ उठाने को तैयार नहीं होते । वे पुस्तकें लिखते हैं पर पैसे के लिये नहीं, कॉलिजों में वक्तव्य देते हैं पर पारिश्रमिक के लिये नहीं और जो कुछ उन्हें लेने के लिये विवश भी होना पड़ता है उसको वे मजदूरों के हित में ही खर्च कर देते हैं । अमेरिका में श्री ऐरिक हौफर ही एक ऐसे लोकप्रिय लेखक हैं जिनके पास न सूट है और न टाई और न वे कभी किसी होटल या रेस्टॉरेन्ट में ऊँची-ऊँची बातें करते पाये जाते हैं । श्री हौफर के मित्रों का कहना है कि यदि वे एक-दो वर्ष के लिये अपनी त्यागवृत्ति का परित्याग कर दें तो उनके पास इतना पैसा हो सकता है कि वे एक आलीशान कोठी में आरामदेह जिन्दगी बिता सकते हैं ।

किन्तु हौफर का कहना है— कि मैं नहीं समझ पा रहा हूँ ज्यादा धन पा जाने से मेरी वर्तमान दशा बदल जायेगी और मैं मेहनत-मजदूरी से विरत होकर आराम की जिन्दगी बिताने लगूँ या राजा की तरह जिन्दगी अपनाकर अपने साथी मजदूरों के बीच आना-जाना, उठना-बैठना और रहना-सहना छोड़ सकूँ । मुझे तो विश्वास नहीं मैं धनवान बनकर अपनी परिश्रम एवं संतोषपूर्ण निर्धनता को छोड़ सकने में सफल हो जाऊँगा । जिस निर्धनता ने मुझे परिश्रमी बनाया, मेहनत-मजदूरी करने वालों के लिये दिल में दर्द पैदा किया और एक विचारक बनाकर उनकी समस्याओं पर सोचने व लिखने की प्रवृत्ति दी है और जिसकी कृतज्ञता से मेरा रोम-रोम ऋणी है, धन मुझे इस निर्धनता से विमुख कर सकेगा ऐसा सोच सकना मेरे वश की बात नहीं है । मुझे सदैव यह बात आवश्यक प्रतीत होती रहती है कि मैं उतने से अधिक कुछ भी न जुटाऊँ जिसकी गठरी अपनी पीठ पर न ढो सकूँ और एक दिन थककर परिश्रम से ही हाथ धो बैठूँ ।

इस समय वे सेनफ्रान्सिस्को की खाड़ी के सामने एक मकान के छोटे-से हिस्से में अपने छोटे-से परिवार के साथ रहते हैं । वह परिवार भी उनके अपने बाल-बच्चे नहीं बल्कि एक तरुण तथा होनहार मजदूर को अपना पुत्र मानकर और उसके आठ वर्षीय पुत्र के दादा बनकर पोते का निर्माण कर रहे हैं । उनका आठ वर्षीय मजदूर पोता हर मंगल को स्कूल की पढ़ाई खत्म करके दादा के साथ समुद्र तट, उद्यान, पुस्तकालय अथवा संग्रहालय में जाता है जहाँ वे दोनों बहुत कुछ सीखते और एक-दूसरे को बहुत कुछ सिखाते हैं । श्री हौफर अपने इस परिवार के साथ काफी सुखी तथा संतुष्ट हैं ।

अमेरिका के इस मजदूर विचारक का पूर्व जीवन उसके आज के जीवन से भी कठिन एवं असुविधापूर्ण रहा है । उसके पिता अलमारी बनाने का काम करने वाले एक जर्मन प्रवासी थे । घर की हालत कुछ अच्छी न थी । अतएव ऐरिक हौफर को स्कूल जाने का अवसर न मिल सका । उसने घर पर ही जैसे-तैसे अंग्रेजी व जर्मन भाषा सीखना प्रारम्भ किया । किन्तु निर्मम नियति को बालक का उद्योग सहन न हुआ और सात वर्ष की आयु में उसकी आँखों की रोशनी छीन ली ।

किन्तु बालक हौफर इससे रंचमात्र भी विचलित न हुआ । अब वह पढ़े-लिखे लोगों के पास किताबें लेकर जाने और उनसे पढ़वा कर सुनने लगा । उसकी विद्या विषयक यह लगन देखकर अनेक भद्र पुरुषों ने उसकी आँखों का इलाज करवाने का प्रबन्ध कर दिया जिससे उसे कुछ-कुछ लाभ हुआ । फिर भी पन्द्रह वर्ष की आयु तक वह ठीक से न देख पाता था ।

इसी बीच उसके पिता की मृत्यु हो गई और वह गली-गली घूमने वाला एक अनाथ बालक बन गया । अनेक लोगों ने उस पर दया करके कुछ देना चाहा किन्तु उसके स्वाभिमान ने किसी का दिया स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया । वह दया दिखलाने वाले से यही कहा करता था कि आप मुझे कुछ देने के बजाय कोई काम दें यही अच्छा होगा । बालक हौफर इसी प्रकार दस साल तक मेहनत-मजदूरी करता और पेट पालता घूमता रहा ।

इस अनाथावस्था के समय में न जाने उसे कितनी रातों भूखों सोना पड़ा और न जाने कितनी सर्दियाँ ठिठुर कर काटनी पड़ीं । नियति द्वारा भिक्षुक की स्थिति में पहुँचाये गये ऐरिक हौफर ने कभी न तो भीख माँगी, न किसी का दान स्वीकार किया और न हिम्मत हारी । यदि वह कभी किसी से कुछ माँगता था तो केवल पुस्तकें, जिन्हें वह किसी दुकान अथवा सड़क की रोशनी में बैठकर धीरे-धीरे पढ़ता था । अध्ययन की तन्मयता में उसने न जाने कितने दिन-रात बिना खाये-पिये बिता दिये ।

इस प्रकार बहुत कुछ कष्ट उठाने और काम खोजने के बाद उसे एक सोने की खान में मजदूरी मिल गई । जहाँ उसने पराकाष्ठा तक मेहनत और ईमानदारी से काम किया । अनेक वर्षों तक सोने की खान में काम करने के बाद वह प्रशांत तट पर जहाजी घाट मजदूरों में काम करने लगे और तब से अब तक वहीं काम करते हैं ।

श्री ऐरिक हौफर आज भी अपने साथियों को अपने संकट काल के अनुभव सुनाते और इस पर सन्तोष प्रकट करते हैं कि नियति ने उन्हें भिखारी बना देने में कोई कसर उठा न रखी, किन्तु उनके स्वाभिमान और परिश्रमशीलता ने उन्हें कभी भी पस्तहिम्मत न होने दिया । उन्होंने भविष्य का आशा प्रदीप एक क्षण के लिये भी कभी बुझने न दिया ।

उन्होंने बताया ''जिस समय १९२० में मेरे पिता की मृत्यु हुई उस समय मेरी आयु ठीक अठारह वर्ष की थी । पिता की मृत्यु के बाद जब मैं संसार में अकेला रह गया तो इस कोलाहल से भरी दुनिया को देखकर जी काँप उठा । किन्तु तुरन्त ही मैंने अपने को

धिक्कारा कि "इस प्रकार हिम्मत हारने का क्या काम ? भगवान् ने हाथ-पैर दिए है और संसार में काम की कमी नहीं तब डरने की क्या जरूरत ? सामान लादकर घर से निकला । हर छोटा-बड़ा काम करने के लिए तैयार हो जा । तुझे काम मिलेगा और आश्रय मिलेगा ।"

अपनी आत्मा की प्रेरक आवाज सुनकर मैं घर से टोकरी में अपनी पुस्तकों को भरकर निकल पड़ा और केलीफोर्निया में मेरे सामने काम से अधिक निवास की समस्या थी । निवास की समस्या इसलिये नहीं थी कि मैं कोई अच्छा मकान चाहता था । समस्या यह थी मेरा मकान किसी ऐसी जगह हो जहाँ पर समीप ही एक अच्छा पुस्तकालय भी हो । क्योंकि घर से एक अच्छे शहर में आकर केवल रोटी ही कमाना नहीं चाहता था ज्ञानार्जन भी करना चाहता था । मैं कई दिन तक एक ऐसे कमरे की तलाश में भटकता रहा अन्त में अपने प्रयत्न में सफल भी हो गया । किन्तु अब एक दूसरी समस्या फिर खड़ी हो गई । पास की नगण्य पूँजी खत्म हो चुकी थी और मेरे पास एक वक्त के भोजन के पैसे भी नहीं बचे थे ।

भूख से व्याकुल होकर मैं एक होटल के सामने जाकर खड़ा हो गया । होटल के मालिक ने समझा कि मैं कुछ पाने की आशा में खड़ा हूँ । उसने पूछा "क्या भूखा है ? रोटी खाना चाहता है ?" मैंने बड़ी शिष्टता से उत्तर दिया— "हाँ, श्रीमान् जी भूखा भी हूँ और रोटी भी खाना चाहता हूँ, किन्तु यों ही नहीं कुछ काम करके । मेरे पास पैसे नहीं हैं । आप मुझसे कुछ काम करा लीजिये और उसके बदले में रोटी खिला दीजिये" होटल का मालिक एक भद्र व्यक्ति था । उसने मेरी दीन दशा में छिपे हुये स्वाभिमान को समझ लिया और उसकी रक्षा भी की ।

उस समय उसके पास तश्तरियाँ धोने का काम था । मैंने सहर्ष स्वीकार किया और काम करना स्वीकार कर दिया । मैंने इतना मन लगाकर तश्तरियाँ धोने का काम किया कि होटल का मालिक खुश हो गया और मुझे स्थायी नौकर रख लिया । कुछ समय बाद हम दो नौकरों में से एक को निकालने की आवश्यकता आ पड़ी । मालिक मुझसे खुश था इसलिये उसने मेरे दूसरे साथी को नोटिस दे दिया । वह मुझसे पुराना भी था और निर्दोष भी । मैं उसका अधिकार छीनने को राजी न हुआ और खुद काम छोड़ दिया । मेरा साथी मेरे इस न्यायपूर्ण त्याग से बहुत खुश हुआ और काम खोजने में बड़ी मदद की । अपने उस होटल के साथी की मदद से ही मैं यहाँ आप लोगों के बीच जहाजी घाट पर आज भी काम करता हुआ प्रसन्न एवं संतुष्ट हूँ ।"

इन कठिन परिस्थितियों से गुजर कर अपनी योग्यता, स्वाभिमान एवं जीवन की रक्षा करने वाले श्री ऐरिक हौफर इस समय अमेरिका के लब्ध प्रतिष्ठित लेखकों तथा मजदूर नेताओं में है । उनके लिये आज कॉलिज से लेकर सरकार तक में स्थान मिलने की सम्भावनायें बनी हुई हैं किन्तु वे अपने मजदूर जीवन में ही प्रसन्न रहकर मजदूरों की समस्याओं पर लिखते, उनका सुधार करते और आवश्यकता पड़ने पर पथ-प्रदर्शन करते हैं ।

उन्हें इस बात पर गर्व है कि वे एक मजदूर हैं । "मेरी दृष्टि में श्रम, सच्चरित्रता और मानवीय योग्यता का प्रतीक है । मेरी इच्छा है कि अन्तिम दिन तक मैं जहाजी घाट का मजदूर बना रहूँ और शायद मेरी यह इच्छा पूरी भी होगी ।"

शांति के सराहनीय सेवक—श्री फ्रैडरिक पासी

संसार में युद्ध के विरुद्ध मैत्रीपूर्ण शांति का प्रयास करने वाले फ्रांस के फ्रैडरिक पासी ने जब नब्बे वर्ष की अवस्था में अपना कर्मठ शरीर छोड़ा तब उन्होंने जो शब्द कहे वे अपना एक महत्त्व रखते हैं और शांतिप्रिय लोगों का आह्वान करते हैं कि वे उनके मिशन को आगे बढ़ाएँ । उनका अन्तिम सन्देश इस प्रकार है—

"संसार के सारे राष्ट्रो ! भेद-भाव भूलकर सहअस्तित्व तथा सहयोग के आधार पर व्यापार बढ़ाओ, नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना करो और इस प्रकार दुनिया की सारी दौलत का दरवाजा मनुष्य-मात्र के लिये खोल दो । धन को युद्ध का कारण मत बनाओ । इस लोभ से बचकर मनुष्यता की रक्षा करो । युद्ध मनुष्य की सबसे पाशविक वृत्ति है इससे आत्मा की रक्षा करो । आज ही यदि हम युद्ध से विरुद्ध सकंल्प कर लें और अपने जीवन का कुछ समय शांति का प्रसार करने में लगायें तो कल ही संसार में युद्ध की कोई पूछ न रहेगी, सारे झगड़े तथा घृणा की भावना समाप्त हो जायेगी । पूछ होगी तो शांति की, परिश्रम तथा पंच-निर्णय की । मनुष्य मूल रूप से शांतिप्रिय है वह युद्ध, संघर्ष तथा रक्तपात नहीं चाहता । संसार के कुछ थोड़े-से स्वार्थी, अहंकारी अथवा कुसंस्कारी व्यक्ति ही इस विभीषिका को जन्म देते हैं : मुझे पूरी आशा है और इसी आधार पर मैं भविष्यवाणी करने का साहस कर रहा हूँ कि जल्दी मनुष्य जाति शांति के पक्ष में खड़ी होगी और आज की जलती हुई दुनिया कल का सुख-स्वर्ग बन जायेगी ।"

श्री पासी के शब्द उनकी आत्मा की वह पुकार है जिसे हर सभ्य मनुष्य मन की आत्मा से उठना ही चाहिये । और वह दिन शीघ्र ही आने वाला है जब संसार में शांति के देवदूत श्री पासी की भविष्यवाणी की चरितार्थता और बढ़ने लगेगी क्योंकि संसार में अच्छाई ने करवट लेना शुरू कर दिया है । अच्छे और भले आदमी संसार का कल्याण चाहने वाले पुण्य-आत्मा लोग कुछ करने के लिये उत्सुक होने लगे हैं ।

श्री फ्रैडरिक पासी केवल मौखिक शांति प्रसारक ही नहीं थे । उन्होंने शांति के लिये जीवन में जो ठोस कार्य किये और विचारों के साथ जिन सभा, समितियों तथा संगठनों का निर्माण कर गये हैं वे बहुमूल्य हैं और उनके इन पुण्य कार्यों को उनके जीवन-काल में ही शांति नोबेल पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया ।

श्री फ्रैडरिक पासी अपने प्रारम्भिक जीवन में पहले वकील बने । अपने इस पेशे में वे सदा ईमानदार तथा आदर्शवादी रहे । वे हर मुकदमा लाने वाले व्यक्ति की पैरवी ही ईमानदारी से नहीं करते थे बल्कि उसे

मैत्रीपूर्ण जीवन तथा संघर्षपूर्ण जीवन की लाभ-हानि भी समझाते थे। इस प्रकार उन्होंने न जाने कितने लोगों के मामले अदालत में जाने से पूर्व ही निपटा दिये थे। यद्यपि उनके साथी वकील उनकी इस बात की आलोचना करते और कहते कि मि. पासी आप यह अच्छा नहीं करते। समाज में झगड़ों की वृद्धि ही हमारी आमदनी का जरिया है।

श्री पासी अपनी आलोचना को शांतिपूर्वक सुनते और उत्तर देते— "पैसा ही संसार में सब कुछ नहीं है। असत्य के आधार पर अमीर होने की अपेक्षा सत्य के आधार पर गरीब रहना मैं हजार गुना अच्छा समझता हूँ। मेरी अपनी आत्मा के प्रति एक दायित्व भी है जिसको मैं किसी मूल्य पर भी उपेक्षा नहीं कर सकता। किसी से सौ रुपये कमा लेने की अपेक्षा यह कितना मूल्यवान तथा सुखकर है कि किन्हीं दो मनुष्यों का झगड़ा निपटा कर पुण्य प्राप्त कर लूँ। विद्या की प्राप्ति समाज में सुख-शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिये की जाती है न कि दूसरों का अन्यायपूर्ण शोषण करने के लिये। यदि सत्य की रक्षा करना, किसी दूसरे को ठीक मार्ग पर लगाना, सत्परामर्श देना बुद्धिमानी नहीं है तो मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ कि संसार का कोई भी काम बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। दूसरों का लूटने-खसोटने तथा दुःख देने में बुद्धि का प्रयोग करना मेरे विचार से सबसे बड़ी मूर्खता है।

कुछ दिन वकालत करने के बाद पासी सरकारी नौकरी में चले गये और फिर उसके बाद उन्होंने व्याख्याता का भी काम किया। अब तक उनकी आयु लगभग पचास वर्ष की हो गई थी। प्रौढ़ता पार करते ही उन्हें विचार आया कि किसी भी सामाजिक मनुष्य को जितनी सेवा करनी चाहिये उतनी वे नहीं कर सके और आयु का आधे से अधिक भाग निकल गया। निदान जो पूँजी वे कमा और बचा सके थे उसी पर सन्तोष करके सामाजिक सेवा के क्षेत्र में उतर पड़े।

उन दिनों क्रीमिया का युद्ध चल रहा था। मनुष्य जाति के इस महाविनाश ने उनके हृदय पर बड़ी चोट पहुँचाई और उन्होंने अपनी समाज-सेवा का रूप संसार में युद्ध के विरुद्ध शांति का प्रचार निर्धारित कर लिया। श्री पासी का कहना था कि अनावृष्टि, अतिवृष्टि, आग, बाढ़ तथा महामारी आदि की विपत्तियाँ तो प्राकृतिक प्रकोप होते हैं। एक बार यदि मनुष्य उनके सामने मजबूर हो जाये तो किसी हद तक माना जा सकता है। किन्तु युद्ध की यह विभीषिका तो मनुष्य निर्मित है। वह इसे स्वयं रचता है और अपना विनाश करता है। मनुष्य को उसकी इस मूर्खता से विरत कराना प्रत्येक सत्पुरुष का पावन कर्त्तव्य होना चाहिये। जो व्यक्ति जितना भी इस दिशा में योगदान कर सके उसे करना ही चाहिए।

अपने विचारों के अनुसार श्री पासी ने अपना सेवा-कर्त्तव्य घोषित कर दिया और उसी के अनुसार वे नब्बे वर्ष की आयु तक निरन्तर अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे। सबसे पहले उन्होंने अपनी लेखनी का सहारा लिया। तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिख कर एक 'शांति-समिति' स्थापित करने की अपील निकालने लगे। उनकी आत्मा से निकली हुई पुकार का प्रभाव पड़ा और फ्रैन्च-शांति-लीग की स्थापना हुई। जिसके सचिव पद पर रहकर वे बहुत दिन तक उद्देश्य की सेवा करते रहे।

श्री पासी की प्रेरणा तथा तत्वावधान में फ्रांस की शांति लीग ने इस उत्साह से कार्य किया कि जनमत उनके पक्ष में हो गया और संसार के बड़े-बड़े युद्ध-व्यसनी युद्ध की बात करते भयभीत होने लगे। उन्हीं दिनों फ्रांको-प्रशियन युद्ध की सम्भावना उठ खड़ी हुई और श्री पासी ने विचार किया कि संसार से युद्ध का बहिष्कार कराने के लिये केवल फ्रांस की शांति लीग ही पर्याप्त नहीं है उसके लिये एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन चाहिये जो पारस्परिक विचार-विनिमय के आधार पर समस्याओं का निर्णय शस्त्रों के बजाय पंच फैसले से कराये और दिया करे। निदान उन्होंने दिन-रात की दौड़-धूप के उपरान्त फ्रांसीसी शांति मित्र-मण्डल की स्थापना कर ही डाली। इस संगठन ने अनेक स्थानों पर युद्ध की आग भड़कने से रोक कर मनुष्य जाति की सराहनीय सेवा की।

अपनी इन सेवाओं के उपलक्ष में जनता ने श्री पासी को फ्रांसीसी संसद का सदस्य चुना। जहाँ जाकर वे अपनी सरकार पर यह प्रभाव डालने में सफल हो सके कि किसी भी प्रश्न को हल करने के लिये फिर चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनीतिक, शस्त्र बल का सहारा नहीं के बराबर ही लिया जाये। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने इंग्लैंड के युद्ध समर्थक नेता विलियम रडैर क्रैमर को अपना समर्थक बनाकर अन्तरसंसदीय संघ की स्थापना कराई जो एक लम्बे समय तक संसार में युद्ध रोकने और पंच फैसलों के आधार पर समस्याओं का हल करने के लिये सफल होता रहा।

इस प्रकार व्यक्तिगत, सरकार तथा जनता की सहायता से श्री फ्रैडरिक पासी लगभग पैंतीस-चालीस वर्षों तक मानव जाति की सराहनीय सेवा करते रहे। इसी बीच में उन्हें अपने उद्देश्य में अनेक बार असफलता मिली किन्तु वे कभी निराश, हताश अथवा निष्क्रिय नहीं हुए।

चेचक का मसीहा—एडवर्ड जेनर

जैसा कि सभी जानते हैं कि चेचक एक भयानक रोग है। यह रोग चुटकियों में जंगल की आग की तरह फैल जाता है। इसके प्रकोप से विश्व में प्रतिवर्ष करोड़ों व्यक्ति पीड़ित होते हैं। जिनमें असंख्य लोगों की मृत्यु भी हो जाती है। इस प्रकोप से बचने का पहले कोई अचूक उपाय न था। मानव को इसके आगे पराजय माननी ही पड़ती थी। इसके सिवा चारा भी क्या था कि चुपचाप सभी कुछ सहा जाय।

करीब डेढ़ सौ साल पहले चेचक की रोकथाम में एक टीका सफल हुआ और तभी से इस टीके का प्रचलन हो गया। इस टीके के आविष्कार का श्रेय है, एक अंग्रेज डॉक्टर एडवर्ड जेनर को। अपने विद्यार्थी जीवन में जेनर बड़े कल्पनाशील थे और सदा अपनी धुन में खोये रहते थे। कवि-हृदय होने के कारण उन्हें ग्रामीण वातावरण से बड़ा मोह था। अतएव वे एक गाँव में ही बैठकर चिकित्सक के रूप में लोगों की सेवा करने में लग गए।

एक दिन सुबह गाँव की एक लड़की जेनर के पास अपने को दिखाने के लिए आई। उन्होंने लड़की से पूछा— क्या तुम पहले भी कभी बीमार पड़ी हो ? लड़की ने उत्तर दिया— जी हाँ— ''मुझे गो-चेचक (काउपाक्स) हो चुकी है और इससे मैं अब चेचक से बची रहूँगी और जेनर के कानों में जब तब ये ही शब्द गूंजने लगे— 'मुझे चेचक नहीं हो सकती क्योंकि मुझे गो-चेचक हो चुकी है।' और इस अन्धविश्वास भरे शब्दों से जेनर की उत्सुकता जागी। यही उसके वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य की शुरूआत थी।''

कार्य करते-करते यद्यपि जेनर को टीका लगाने की कला आ गई थी लेकिन उनके अन्दर के वैज्ञानिक को आशंका थी कि इसमें कुछ कमी है और इसमें अभी सुधार की गुंजाइश है। अपने लगाये टीकों को विश्लेषण करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि इनमें वे टीके असफल रहे, जो ऐसे लोगों पर लगाये गये थे, जो जानवरों की देख-रेख करते थे या जिन्हें गो-चेचक हो चुकी थी।

जेनर ऐसे ग्रामीण क्षेत्र के थे, जहाँ यह अन्ध-विश्वास काफी प्रचलित था कि गो-चेचक हो जाने से ऐसे लोगों को फिर चेचक नहीं होती। जेनर भी इस बात से सहमत थे लेकिन इसके प्रमाणों की आवश्यकता थी। यह संयोग या सुअवसर भी एक ग्वालिन 'सारा नेल्मी' और आठ वर्षीय बालक 'जेम्स फिप्स' के रूप में उनके हाथ आया। सारा के गो-चेचक का एक फोड़ा दाहिने हाथ में और दो छोटे दाने कलाई में फूटे थे। जेनर पूरी तरह सन्तुष्ट थे कि निश्चय ही चेचक के कारण हैं। जेनर ने सोचा कि इन दोनों में गो-चेचक का पदार्थ यदि सक्रिय है, तो उस बच्चे पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ना चाहिए जिसको न तो चेचक और न गो-चेचक ही हुई है। १४ मई, १८७६ को उन्होंने जेम्स फिप्स की बाँह में दो हल्के चीरे लगाये और उनमें सारा ग्वालिन के बड़े दाने से कुछ द्रव्य प्रवेश कराया। पहले तो कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई दी और चीरे के चिह्न भी लुप्त हो गये लेकिन तभी वे लाल हो गए और धीरे-धीरे फूल गये। एक फोड़ा दिखाई दिया जो बढ़ने लगा। बालक जेम्स सात दिन तक भला-चंगा रहा पर आठवें दिन उसे बुखार हो आया पर दूसरे ही दिन वह आपसे आप ठीक हो गया। जेनर इससे प्रसन्न हुए कि प्रतिक्रिया गम्भीर नहीं हुई। लेकिन भविष्य में क्या होगा जेम्स चेचक से सुरक्षित रहेगा या नहीं, यह चिन्ता बनी रही।

जुलाई में जेनर का दूसरा जबर्दस्त प्रयोग शुरू हुआ। उन्होंने चेचक के दाने से पदार्थ लेकर जेम्स पर सीधा उसका टीका लगा दिया। यह भी नहीं सोचा कि उसका परिणाम क्या होगा ? जेनर काफी परेशान रहे। उन्हें नींद न आई। रात भर बेचैन रहे और अपने निदान कक्ष में इधर-उधर चहलकदमी करते रहे। यह सोचने लगे कि कहीं गलती न हो गई हो, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। दिन बीतते गये और टीके के सभी चिह्न मिट गये। जेम्स पर संक्रमण के कोई लक्षण नजर नहीं आये और इस बात से जेनर को गो-चेचक के रक्षात्मक महत्त्व पर पक्का विश्वास हो गया।

जेनर इस बात की सफलता पर आनन्दातिरेक से उछल पड़े और उन्होंने जेम्स को अपना ही पुत्र मान लिया। उनके लिये उन्होंने बाद में एक मकान भी बनवा दिया। पर अभी जेनर चुप नहीं बैठे। उन्हें शंका थी कि लोग अभी ठीक से विश्वास नहीं करेंगे। इसलिये उन्होंने अपना अध्ययन एवं अनुसन्धान कार्य जारी रखा और सन् १७९८ में इस सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित की। पुराने किस्म के टीकों के समर्थक जेनर का मजाक उड़ाने लगे। जनता भी उनके खिलाफ हो गई और पादरियों ने भी कहना शुरू कर दिया कि ''यह ईश्वर की लीला के विरुद्ध कार्य कर रहा है।''

इस परिस्थिति से जेनर भी कुछ हद तक उत्तेजित हुए क्योंकि आलोचना के प्रति वे सम्वेदनशील थे। लेकिन यह आलोचना और विपरीत प्रदर्शन अधिक दिन न चले क्योंकि आलोचना की बातें बेबुनियाद थीं और फिर आयुर्विज्ञान की दो अन्य विभूतियों— पियर्सन और वुडविले— के समर्थन से तो सबके मुँह बन्द हो गए। फिर तो रूस की साम्राज्ञी एलीक्ज्येवना— एलेक्जेण्डर प्रथम की पत्नी— ने जेनर को हीरा जड़ी एक अँगूठी भेंट की। इससे सामूहिक टीका अभियान को बहुत बल मिला और जनता में जोर-शोर से प्रचार शुरू हो गया।

चिकित्सा शास्त्र के इतिहास में चेचक के टीके का आरम्भ एक स्वर्गीय अध्याय का श्रीगणेश था। पर जेनर को इसके लिये अपनी प्रतिष्ठा की बाजी लगानी पड़ी। लोगों ने आलोचना करने के अतिरिक्त यह भी कहना शुरू कर दिया था कि जेनर का टीका लगाने का तरीका बड़ा गन्दा है और वह अपनी चाल से धन बटोरना चाहता है। लेकिन चूँकि बात ऐसी नहीं थी और निरन्तर उलटे-सुलटे प्रयोगों के बाद जेनर ने हर तरह से अपने तरीके को सत्य और निरापद प्रमाणित कर दिया था, वे सहनशील होकर सब बातें सहते रहे।

आलोचनाओं के बावजूद संसार के अनेक भागों में जेनर के टीके का प्रचलन होता गया परन्तु कुछ स्थानों पर उग्र प्रदर्शन और दंगे-फसाद हुये। बेस्टन में तो प्रदर्शन ने ही भीषण दंगे का रूप धारण कर लिया था। न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया और बाल्टीमोर में जनता ने टीका लगवाने में बड़ी आनाकानी की और पेरिस से वेक्सीनेटरों के विरुद्ध काफी हल्ला-गुल्ला रहा।

परन्तु हर जगह हवा का एक ही रुख नहीं रहा। नेपल्स में एक धार्मिक जलूस ने टीके की दवा वाले जहाज का शानदार स्वागत किया। रेड इण्डियन लोगों ने जेनर की बचाव वाली दवा का बड़ा अहसान माना और उन्हें अनेक कीमती उपहार भेंट में भेजे। इस प्रकार यह दवा जेनर के समर्थकों द्वारा स्पेन, केनरी द्वीप समूह, मेक्सिको, ग्वाटे-माला, दक्षिणी अफ्रीका, फिलीपाइन, चीन आदि विश्व के अनेक भागों तक पहुँचा दी गई। फिर तो चारों ओर से जेनर को वाहवाही मिलने लगी। फ्रांस में बोनापार्ट ने जेनर के कार्य की सराहना की और सरकारी तौर पर टीके लगवाने के कार्य को प्रोत्साहित किया। उसने एक सरकारी ऐलान भी निकलवाया और जब नेपोलियन सम्राट हुआ तो उसने सभी सैनिकों के लिए टीका लगवाना अनिवार्य कर दिया। एक दिन सम्राज्ञी जोजीफिन के सामने ही नेपोलियन को एक पत्र प्राप्त हुआ। जिसमें अंग्रेज सैनिक की रिहाई की माँग की गई

थी। वह अस्वीकृति का आदेश देने ही वाले थे तभी जोजीफिन ने याद दिलाई कि वह जेन्नर का पत्र है। यह सुनते ही नेपोलियन ने एकदम भाव बदल कर कहा— "ओह ! जेनर की मैं कोई बात नामन्जूर नहीं कर सकता। उस ब्रिटिश सैनिक की अवश्य रिहाई कर दी जायेगी।"

चेचक के इस मसीहे के प्रति मानवता चिरऋणी है। विषम परिस्थितियों में भी जेन्नर ने धैर्य नहीं छोड़ा और निःस्वार्थ भाव से मानव-कल्याण की भावना से पूरित होकर परोपकार के आदर्श की ऊँची मीनार स्थापित कर गया। अब संसार इस रोग के प्रति कितना निर्भय और निःशंक है ? इसका सारा श्रेय एडवर्ड जेनर को ही है।

पागलों के मित्र—डॉ. फिलिप पिनेल

मानवता के पीछे पागल हो जाने वाले और उसकी सेवा में अपने को बर्बाद कर देने वाले मानव देवताओं को अभिनन्दन करना जिस दिन संसार भूल जायेगा, वह दिन संसार में सभ्यता के सूर्यास्त की सन्ध्या होगी और जब तक अभिनन्दन होता रहेगा उनके पागलपन का अर्थ लगाया जाता रहेगा, मानव सभ्यता का सूर्य अपने तेज के साथ चमकता रहेगा।

फ्रांस के डॉक्टर फिलिप पिनेल को अगर लोग पूरा नहीं तो आधा पागल तो समझते ही थे और उन्हें 'अयोग्य डॉक्टर' की उपाधि दे रखी थी। इसका वास्तविक कारण यह नहीं था कि उनके दिमाग में कोई खराबी हो। बात दरअसल यह थी कि उन्हें पागलों के साथ बहुत अधिक सहानुभूति थी और वे चाहते थे कि इन नुग्ध मनुष्यों के साथ भी मनुष्यों जैसा ही व्यवहार किया जाये।

१७९१ में उस जमाने में पागलों के साथ न तो आज जैसा सद्व्यवहार किया जाता था और न कोई वैज्ञानिक उपचार। हर पागल को भारी-भारी जंजीरों में जकड़ दिया जाता था और जब तब उनका दिमाग ठीक करने के लिये हन्टरों से मारा जाता था। पागलों के उपचार की यह एक आम व्यवस्था थी।

डॉ. फिलिप पिनेल निरपराध पागलों की यह यातना देखकर रो उठते थे और उनके लिये परमात्मा के नाम पर दया की भीख माँगने लगते थे। अच्छे-खासे डॉक्टर को ऐसा करते देखकर लोग उन्हें भी पागल या सनकी समझने लगे। उन्हें अपने इस दयाभाव के लिये न जाने कितनी बार अपमानित, तिरस्कृत और उपहासास्पद होना पड़ा। किन्तु उन्होंने अपनी पुकार बन्द नहीं की। जब वे अपना सारा काम-धन्धा छोड़ कर पागलों के उद्धार का प्रयत्न और उनके साथ मानवता का व्यवहार करने की पुकार करते रहे तो लोगों ने सोचा कि सुन लो आखिर यह पागल डॉक्टर चाहता क्या है।

निदान पागलों की रखवाली करने वाले अफसरों के पूछने पर उन्होंने कहा कि पागल भी आदमी हैं और इस नाते वह अत्याचार अथवा घृणा के नहीं सहानुभूति के पात्र हैं। पागल होने में इनका अपराध क्या है ? जो इनको इस बुरी तरह मारा जाता है। जिसको अपना होश नहीं उसे दोषी ठहराना कहाँ की मानवता है ? मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि इनके साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाये तो निश्चय ही इनमें से बहुत-से ठीक हो सकते हैं।

बात सरकार तक पहुँची और उसने डॉ. फिलिप पिनेल को पागल समझकर पागलखाने का इस विचार से प्रबन्धक बना दिया कि पागलों की मार खाकर इसकी मानवता का भूत उतर जायेगा।

पागलखाने में पहुँचकर वहाँ के अधिकारियों से अनुरोध कर डॉ. फिलिप पिनेल ने पागलों की हथकड़ियाँ, बेड़ियाँ खुलवा दीं और मारने की सख्त मुमानियत कर दी। उन्होंने उनके साथ सच्ची सहानुभूति के साथ सद्व्यवहार और मानसिक उपचार शुरू किया। यद्यपि उन्हें इसी सत्कार्य में काफी कष्ट उठाने पड़े किन्तु वे अपने प्रयत्न में लगे ही रहे। जिसका फल यह हुआ कि सद्व्यवहार की शालीनता से बहुत-से पागल पूर्वापेक्षा अधिक शान्त रहने लगे और अनेक साधारण पागल तो अच्छे भी हो गये।

डॉ. फिलिप पिनेल की इस सफलता से बुद्धिमानों का विश्वास बढ़ता गया और पागलों के उपचार की मनोवैज्ञानिक विधि का श्री गणेश हो गया। आज पागलखाने और पागलों के मानसिक उपचार का जो विकास दिखाई देता है और पागलों के प्रति जनसाधारण में जो सहज दया, क्षमा एवं सहानुभूति का भाव दिखाई देता है इसका श्रेय उन्हीं डॉ. फिलिप पिनेल को है जिन्होंने उनके उद्धार के लिये अपने को पागल बना डाला।

पीड़ित मानवता के ये अनन्य पुजारी—फोलेरू

आप साधारण व्यक्तियों से हमेशा मिलते रहते हैं। सबको अपने काम लगे हैं, जिन्दगी की गाड़ी खींचनी है। उन्हें अपनी और अपने बीबी-बच्चों की चिन्ता से ही फुरसत नहीं है। किन्तु हम आज आपका उन असाधारण व्यक्तियों से परिचय करायेंगे, जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीते हैं। उनके सिर पर केवल अपनी या अपने परिवार की ही चिन्ता सवार नहीं है, किन्तु उन लोगों की चिन्ता भी सवार है, जो समाज से सर्वथा त्याज्य एवं उपेक्षित हैं। जिनके जीवन का सुख और आनन्द एक महाव्याधि ने छीन लिया है।

आप किसी न किसी तीर्थयात्रा में अवश्य गये होंगे ऐसे तीर्थ स्थानों में जो रास्ते देव-मन्दिरों को जाते हैं, उनके दोनों किनारों पर आपने ऐसे मानव देहधारियों को अवश्य देखा होगा जिनके अंग लुंज, पुंज हो चुके हैं और जिन्होंने उन अंगों पर मैले-कुचले चिथड़े लपेट रखे हैं। ये देव-दर्शनार्थियों से दया की भीख माँगते रहते हैं और दर्शनार्थी एक-दो पैसे उनकी ओर फेंककर तेजी से आगे बढ़ जाते हैं। दर्शनार्थियों को यह सोचने की फुरसत ही नहीं होती कि ये प्राणी कहाँ से आये हैं और दया की भीख माँगने यहाँ क्यों बैठे हैं ? उन्हें देखकर कई लोगों के मन में घृणा का भाव भी पैदा होता है किन्तु वे यह नहीं सोच पाते कि इस अरुचिकर दृश्य को कैसे हमेशा के

लिए खत्म किया जा सकता है । यह कुष्ठ रोग की महाव्याधि से पीड़ित मनुष्य हमारी मानवता के लिए चुनौती हैं, किन्तु हम उस चुनौती की लगातार उपेक्षा करते आये हैं ।

जिन असाधारण व्यक्तियों से हम आपका परिचय कराना चाहते हैं । उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया और कुष्ठ रोगियों की पीड़ा से उनका हृदय विह्वल हो उठा । उनकी चिन्ता का एकमात्र विषय यह हो गया कि इस पृथ्वी से किस प्रकार इस भयानक महाव्याधि को समाप्त किया जाय और उन अभागे व्यक्तियों को इस अभिशाप से किस तरह मुक्त किया जाये । उन्होंने अपना सारा जीवन इस महान् ध्येय के लिए समर्पित कर दिया और जो आत्मिक आनन्द उन्हें कुष्ठ रोग से लड़ने में मिला, उतना और किसी बात में नहीं मिला ।

शायद आप यह जानने को उत्सुक होंगे कि ये महाभाग कौन है और किस देश के हैं ? इनमें से एक तो फ्रांस के नागरिक है और उनका नाम मोशियो फोलेरू है । ३५ वर्ष पूर्व वे एक पत्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे थे । अक्सर पत्रकार का हृदय पत्थर की तरह कठोर हो जाता है । अच्छी-बुरी घटनायें उसकी आँखों के सामने से आये दिन गुजरती रहती हैं और वह निर्विकार भाव से उन्हें पीछे छोड़ता चलता है । हमारे इन पत्रकार मित्र को आदेश मिला कि वह अफ्रीका का दौरा कर अपने पत्र के लिए सामग्री प्राप्त करें । वे वहाँ सहारा मरुस्थल को एक मोटर में बैठ कर पार कर रहे थे कि एक दिन नाइजर नदी के किनारे उनकी मोटर को लुंज-पुंज व्यक्तियों की एक भीड़ ने घेर लिया । फोलेरू के साथी भाग खड़े हुए । पत्रकार महोदय ने अपने मार्गदर्शक से पूछा— 'ये लोग क्यों भटक रहे हैं ?' उत्तर मिला— 'इनका न कोई घर है, न गाँव । ये कुष्ठ रोगी हैं, जिन्हें कोई आश्रय नहीं देता और इसीलिए ये बेचारे अपने भाग्य को कोसते हुए एक जगह से दूसरी जगह इस प्रकार भटकते रहते है ।'

इस घटना ने पत्रकार की जीवनधारा दूसरी ही दिशा में मोड़ दी । उन्होंने अनुभव किया कि बड़े से बड़े अपराधी को समाज इतना क्रूर दण्ड नहीं देता, जितना कुष्ठ रोगी को मिलता है । उसे अछूत समझा जाता है । उसे बहिष्कृत जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है और सारे जीवन में तिरस्कार तथा घृणा का असह दु:ख भोगना पड़ता है । पत्रकार महोदय ने तय किया कि वे इन अभागों को गले लगायेंगे और उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझेंगे । उन्होंने उस पीड़ा को समाप्त करने का व्रत ले लिया ।

आजकल ये मोशियो फोलेरू पेरिस के एक छोटे-से मकान में रहते है, किन्तु कुष्ठ रोगियों की चिन्ता उन्हें चैन से बैठने नहीं देती । जब से उन्होंने पीड़ित मानवता की सेवा के इस पुण्य कार्य को अपनाया है, वे दुनिया के इकतीस चक्कर काट चुके हैं । जहाँ जाते हैं, दिन हो या रात, कुष्ठ रोगियों की बात करते हैं । उनके लिये चन्दा जमा करते हैं, उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करते है, उनके पुनर्वास की योजनाएं बनाते हैं और उनके प्रति समाज और शासन के अन्त:करण को जगाते है । उन्होंने अब तक इस कार्य के लिये लाखों रुपया जमा किया है किन्तु उसे वह कुष्ठ रोगियों की धरोहर मानते हैं और उसमें से एक पैसा भी स्वयं पर खर्च नहीं करते ।

मोशियो फोलेरू ने सबसे पहला काम यह मालूम करने का किया कि दुनिया में कुष्ठ रोगियों की संख्या कितनी है ? महीनों की खोजबीन के बाद पता चला कि दुनिया में करीब एक करोड़ व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हैं । बाद की जाँच-पड़ताल से पता चला है कि यह संख्या बढ़ रही है और अब वह डेढ़ करोड़ तक पहुँच गई है । भारत में कुष्ठ रोगियों की संख्या करीब ४ लाख है । वियतनाम में ६० हजार और जापान में ७० हजार है । चीन और योरोप में भी कुष्ठ रोगी हैं किन्तु अफ्रीका में इनकी संख्या सबसे अधिक है ।

कुष्ठ रोग निवारण के लिए आज सारी दुनिया के लोग प्रयत्नशील है । यह खुशी की बात है इसके लिये एक विशेष दिन समारोहपूर्वक मनाने का विचार मोशियो फोलेरू के दिमाग में पैदा हुआ था और आज यह दिन दुनिया के १२७ देशों में मनाया जाता है । हमारे देश में भी इस वर्ष ३० जनवरी को यह दिन मनाया गया । राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का निर्वाण दिवस भी इसी दिन है । गाँधी जी कुष्ठ रोगियों की चिकित्सा में बहुत दिलचस्पी लेते थे । उन्होंने अपने सेवाग्राम आश्रम में कुष्ठ रोगी श्री परचुरे शास्त्री को आश्रय दिया था और स्वयं अपने हाथों से उनके जख्मों की मरहम-पट्टी किया करते थे ।

महात्मा गाँधी के अनुसार कुष्ठ— गरीबी, गन्दगी और अज्ञान की सन्तान है । अगर हमें यह विकृत सन्तान नहीं चाहिए तो सबसे पहले हमें गरीबी, गन्दगी और अज्ञान से जूझना होगा ।

मोशियो फोलेरू जैसे महापुरुष भारत में भी मौजूद हैं । वे महाराष्ट्रीय हैं और उनका नाम श्री बाबा आप्टे है । वे स्वतन्त्रता संग्राम की आग में भी तप चुके हैं । नागपुर के निकट चन्द्रपुर जिले में बरोरा एक छोटा-सा नगर है । उसके पास ही कुष्ठ रोगियों के लिए एक बड़ा केन्द्र आप्टे जी चला रहे हैं । जहाँ ५७ सौ कुष्ठ रोगी रहते हैं । यहाँ इनकी चिकित्सा भी होती है और उन्हें खेती तथा अन्य उद्योगों में लगाया जाता है । इस कुष्ठ केन्द्र का आप्टे जी ने नाम रखा है- - 'आनन्दवन' और वह सचमुच सैकड़ों पीड़ितों में आनन्द की सृष्टि कर रहा है ।

आप्टे जी कुष्ठ रोगियों के सेवक कैसे बने ? इसकी भी बड़ी दिलचस्प कहानी है । वे पहले बरोरा नगरपालिका के अध्यक्ष तथा एक नामी वकील थे । एक बार नगर के सफाई कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी । बरसात के दिन थे । गन्दगी बढ़ चली और नगर में बीमारी फैलने का खतरा पैदा हो गया । तब आप्टे जी से न रहा गया और उन्होंने स्वयं पाखानों की सफाई शुरू कर दी । इसी दौरान उन्हें बस्ती के बाहर अन्धेरे में एक गठरी-सी पड़ी दिखाई दी । वह एक कुष्ठ रोगी था, जिसके हाथ-पैरों की अंगुलियाँ और दूसरे अंग गल चुके थे । वह पीड़ा से कराह रहा था । शायद मौत की आखिरी घड़ियाँ गिन रहा था । आप्टे जी ने सिर पर से मैले का टोकरा एक ओर रख दिया । उसे पीठ पर लादा और सुरक्षित स्थान पर ले गये । बाद में उसके लिये एक स्वतन्त्र कुटिया बनाई और उसकी बड़ी सेवा-सुश्रूषा की किन्तु उसके प्राण न बच सके । आप्टे जी के हृदय को इससे बड़ा धक्का लगा और बाद में उन्होंने अपना जीवन ही कुष्ठ रोगियों की सेवा में समर्पित कर दिया । आज 'आनन्दवन' में सैकड़ों रोगी

स्वस्थ होकर कृषि, बढ़ईगीरी, टीन-उद्योग, प्रेस आदि के कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर स्वाभिमानपूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। संस्था को विदेशों से भी पर्याप्त सहायता मिलने लगी है और संस्था दिन पर दिन प्रगति कर रही है। आनन्दवन आज कुष्ठ रोगियों की भारत में सबसे आदर्श संस्था है।

पीड़ित मानवता के इन सेवकों और पुजारियों के आगे सिर श्रद्धा से झुके बिना नहीं रह सकता।

मानवता का सच्चा सेवक—लुई पास्ट्यूर

मानवता की सेवा करने के लिए किस प्रकार की तत्परता, तन्मयता, त्याग एवं तपस्या की आवश्यकता पड़ती है ? यदि कोई यह जानना चाहे तो उन्नीसवीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक लुई पास्ट्युर के जीवन पर दृष्टिपात कर ले।

लुई पास्ट्युर का जन्म फ्रांस के डोल नामक स्थान पर २७ दिसम्बर सन् १८२२ ई. को हुआ। इनका परिवार वास्तव में एक मजदूर परिवार था। इनके पिता चमड़े का साधारण व्यवसाय किया करते थे।

घर का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि लुई पास्ट्युर को पढ़ने-लिखने में कुछ रुचि नहीं थी। किन्तु उनके पिता की हार्दिक इच्छा थी कि उनका पुत्र पढ़-लिखकर एक अच्छा विद्वान् बने और संसार में नाम पैदा करे।

लुई पास्ट्युर जब-जब पिता का हाथ बँटाने के लिए उनके साथ काम करने बैठता था तब-तब वे उससे कहा करते कि— लुई ! मेरी बड़ी इच्छा है कि तुम पढ़-लिखकर विद्वान् बनो। किन्तु मैं देखता हूँ कि मेरी यह इच्छा पूरी न हो सकेगी। एक तो यों ही मेरी परिस्थिति तुम्हें उच्च शिक्षा दिला सकने योग्य नहीं हैं, दूसरे यदि मैं अपना सर्वस्व बेचकर, ऋण लेकर अथवा भूखा रहकर तुम्हारी पढ़ाई का प्रबन्ध कर भी दूँ तो तुम्हारा मन पढ़ाई की ओर न देखकर निराश हो जाता हूँ। ऐसा कहते-कहते लुई पास्ट्युर के पिता की आँखें जब-तब गीली हो जातीं।

लुई पास्ट्युर ने पिता की इच्छा की गहराई को अनुभव किया और हर प्रकार से पढ़ने का निश्चय करके प्रारम्भिक शिक्षा के लिये अरबोय की एक पाठशाला में प्रवेश ले लिया, किन्तु संस्कारवश उसकी बुद्धि विद्या प्राप्त करने की दिशा में गतिवान नहीं होती थी। उसे कक्षा में पढ़ाया हुआ पाठ न तो ठीक से समझ आता था और न याद होता था। इस कारण वह कक्षा में सबसे बुद्धू समझा जाता था। पढ़ाई के विषय में उसे मन्दबुद्धि समझ कर शिक्षकों ने उसकी ओर से निराश होकर ध्यान देना छोड़ दिया और राय दी कि वह पढ़ाई छोड़कर कुछ व्यवसाय करना शुरू कर दे, यही उसके जीवन के लिये अधिक हितकारी होगा।

लुई पास्ट्युर को अध्यापकों की इस उपेक्षा तथा अपनी मन्दबुद्धिता पर घोर खेद हुआ। एक बार उसने पढ़ाई छोड़कर पुनः पिता के व्यवसाय में पदार्पण करने की सोची। किन्तु पिता के आँसुओं की याद आते ही उसने पुनः अपना साहस संचय किया और पढ़ने में जी-जान से जुट गया। उसने अपना अध्ययन किया और अपनी कमी खोज निकाली। उसकी समझ में ठीक-ठीक आ गया कि अध्ययन में उसकी अगति का कारण उसका आत्मविश्वास ही है। उसने कुछ ऐसी ही धारणा बना ली है कि उसे विद्या आ ही नहीं सकती और उसकी यही धारणा उसकी बुद्धि पर मोर्चा बनकर लगी हुई है जिससे वह शिक्षा में प्रगति नहीं कर रहा है।

लुई पास्ट्युर ने अपना आत्मविश्वास जगाया, अपनी निराशापूर्ण धारणा को दूर किया और विश्वासपूर्ण अध्ययन में संलग्न हो गया। ऐसा करते ही उसे अपने अन्दर एक ऐसी जीती-जागती प्रखर शक्ति का आभास मिला जो पुकार-पुकार कर कह रही थी— "लुई ! संसार का ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो लगनपूर्ण पुरुषार्थ के बल पर न किया जा सके। निरन्तर सच्चे मन से लगे रहने से मनुष्य रेत से तेल प्राप्त कर सकता है तब विद्या प्राप्त करना कौन बड़ी बात है। वह तो अपने जिज्ञासुओं को स्वयं प्राप्त हो जाती है। मनुष्य को न तो कभी हिम्मत हारनी चाहिए और न निराश होकर प्रयत्न से विमुख होना चाहिए। असफलता से हतोत्साहित होकर निरुपाय हो जाना पुरुष को शोभा नहीं देता। असफलता मनुष्य की अक्षमता की द्योतक नहीं होती बल्कि यह प्रयत्न की कमी की संबोधक संयोग ही होती है। पूरी लगन से काम में जुट जाओ, शीघ्र ही तुम सफलता का वरण करोगे।"

आत्मा का उद्बोधन पाते ही लुई पास्ट्युर ने अपने को प्रयत्न के पारावार में डुबा दिया। अब वह कोई मन्दबुद्धि लड़का न था बल्कि कुशाग्र बुद्धि छात्र था।

अरबोय में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करते ही लुई के पिता ने उसे उच्च शिक्षा के लिये पेरिस भेज दिया। जहाँ वह इकोल नारमेल नामक एक ऊँचे विद्यालय में प्रवेश लेकर पढ़ने लगा। किन्तु कुछ ही समय में पेरिस के अनियन्त्रित तथा अनवरत कोलाहल तथा शोर-गुल से उसका जी ऊब गया और वह पिता की अनुमति से घर में कुछ ही दूर बेसाको के एक कॉलिज में अध्ययन करने लगा।

बेसाको-कॉलिज की शिक्षा पूर्ण करने के बाद लुई पास्ट्युर की इच्छा रसायनशास्त्र का अध्ययन करने की हुई, जिसके लिये उसे पुनः पेरिस जाना पड़ा। चूँकि पेरिस के सिवाय रासायनिक अध्ययन के लिये कोई अन्य स्थान नहीं था, इसलिये उसने अबकी बार नगर के कोलाहल से ऊबने के बजाय उसका अभ्यस्त बनने की कोशिश की। कोलाहल से अप्रभावित रहने के लिये उसने अपनी एकाग्र तन्मयता को और अधिक केन्द्रीभूत कर लिया। जिससे वह एक प्रकार से कोलाहल-शून्यता की स्थिति में रहने लगा। सच्ची लगन से काम करने वाले किसी बाह्य वातावरण अथवा परिस्थिति को काम में विघ्न डालने वाला बताकर कार्य से मुख मोड़ने का बहाना नहीं निकालते बल्कि घोरतम विपरीत परिस्थितियों में भी अंगद के चरण की तरह अपने कर्त्तव्य पर अटल रहते हैं। उन्हें छोटी-मोटी परिस्थितियाँ काम से उखाड़ नहीं पातीं।

पेरिस में इकोल नारमेल कॉलिज में भरती होकर लुई पास्ट्युर ने केवल रसायनशास्त्र का ही अध्ययन न किया बल्कि चिकित्सा शास्त्र

में भी पारंगति प्राप्त की। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जीवन के प्रारम्भिक काल में जो लुई पास्ट्युर मन्द-बुद्धि कहा जाकर उपेक्षा का पात्र बना था वह अब परीक्षाओं पर परीक्षायें और विषयों पर विषय पार करता चला जा रहा था। जिसने आत्मविश्वास के साथ परिश्रमपूर्ण पुरुषार्थ करना सीख लिया है, बुद्धि को निर्णायक गुण से गौरवान्वित कर लिया है और अपने विचारों में सूझ-बूझ का प्रवाह भर लिया है। किसी भी विषय अथवा दिशा में गति में प्रतिरोध होना सम्भव नहीं।

पेरिस के अध्ययन काल में लुई पास्ट्युर का सम्पर्क विज्ञान के महान् विषय से भी हुआ जिससे उसकी रुचि उस ओर हो गई और उसने वैज्ञानिक बनकर संसार का हित करने का विचार बना लिया। उसके इस विचार को रसायनशास्त्र के पारंगत विद्वान श्री जीन वैप्टिस्टे ड्यूमा के ओजस्वी भाषणों ने और भी पक्का कर दिया, जिनके अन्त में विज्ञान के विद्यार्थियों से अपील किया करते थे कि वे अपनी योग्यता का उपयोग केवल स्वार्थ साधन के लिये न करके उसका उपयोग रोग पीड़ित मानवता की रक्षा करने के लिये भी करें।

डॉक्टर ड्यूमा की अपीलें लुई पास्ट्युर के हृदय में गूंज बन कर भर गईं। जिनसे वह एक आविष्कारक की दृष्टि से विज्ञान के अध्ययन में डूब गया।

इकोल नारमेल कॉलिज से उपाधि प्राप्त कर लुई पास्ट्युर ने केवल छब्बीस वर्ष की आयु में डिजोन में भौतिक विज्ञान के शिक्षक का पद स्वीकार किया। उन्हें आशा थी कि अध्यापन काल में उनका अन्वेषण करने के लिये पर्याप्त साधन तथा अवकाश मिल सकेगा। किन्तु परिस्थितियाँ उनके अनुमान के विपरीत निकलीं। पढ़ाने की तैयारी में सारा समय लग जाने के कारण उन्हें अपने अनुसंधान के लिये समय का अभाव रहने लगा। यद्यपि उन्हें इस पद पर पर्याप्त वेतन तथा रहन-सहन की सुविधायें मिली हुई थीं, तथापि अपने उद्देश्य में उक्त सुविधाओं को बाधक देख कर उन्होंने उसको बिना किसी संकोच के त्याग कर दिया और स्कार्ट्सवर्ग में सहायक तथा प्रधान अध्यापक के पद पर कुछ दिन काम करने के बाद लिले में विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष का पद स्वीकार किया और अपना अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कर दिया।

लुई पास्ट्युर ने जो सबसे पहला अनुसंधान किया वह था इमली के अम्ल से अंगूर का अम्ल बनाना। यद्यपि यह अनुसंधान कोई महत्त्वपूर्ण खोज नहीं थी तथापि इसका मूल्य इस माने में अवश्य है कि इसी एक खोज में अन्य अनेक वैज्ञानिक लगभग तीस वर्षों से लगे हुये थे। उनकी समस्या का हल करके लुई पास्ट्युर ने उनके मस्तिष्क मुक्त करके उन्हें अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर मोड़ दिये।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुसंधान जो लुई पास्ट्युर ने किया वह था विषैले जन्तुओं द्वारा काटे जाने पर मनुष्यों को मरने से बचाने के उपादानों की खोज। फोड़ों की चीरफाड़ के बाद जख्मों में कीड़े पड़ जाने के कारणों की खोज और उसके उपचार की विधि निकालना। उपचार क्षेत्र में मानवता की सेवा का अनुसंधान एक महान् देन थी जिससे उस समय से आज तक असंख्यों मनुष्य जख्मों से सड़ने तथा उससे मरने से बचते चले आ रहे हैं।

इसके अनन्तर रेशम के कीड़ों के रोग की रोकथाम करने तथा उनके बीमार होने पर उनका उपचार करने की विधि का अन्वेषण एक बहुत बड़ी खोज थी, इससे रेशम के व्यवसाय में महान् लाभ हुआ। रेशम के कीड़ों के रोग तथा मरण के निवारण की खोज करने में लुई पास्ट्युर ने छह वर्ष तक घोर परिश्रम किया जिससे एक बार वह इतना बीमार हो गये कि मित्रों से कहा कि— हो सकता है कि आप लोग मेरी बात सुनकर मुझे कायर समझें किन्तु वास्तव में मैं मरना नहीं चाहता। मैं जीवित रहकर देश की अधिकाधिक सेवा करना चाहता हूँ।

सबसे अन्तिम जो दो अनुसन्धान लुई पास्ट्युर ने संसार के लिये दिये उनसे मानवता का महान् हित हुआ। वे हैं पागल कुत्तों से काटे मनुष्य के इलाज का टीका तथा हैजा, प्लेग जैसे संक्रामक रोगों की रोक-थाम के लिये टीकों की खोज।

इस प्रकार जीवन भर बिना किसी वैयक्तिक लाभ के लुई पास्ट्युर निष्काम भाव से मानवता की सेवा में लगे रहे और भयानकतम रोगों से मनुष्यता की रक्षा के साधन प्रदान कर २८ सितम्बर, सन् १८९५ में स्वर्ग सिधार गये।

महान् वैज्ञानिक और महान् मानव सर आइजक न्यूटन

विश्व-विख्यात वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन का जन्म भी ईसा की जन्म-तिथि २५ दिसम्बर, १६४२ ई. को वल्सथोर्प नामक गाँव में हुआ था। तीन वर्ष की अवस्था में पिता के देहान्त तथा माता के पुनर्विवाह कर लेने से न्यूटन का लालन-पालन उसकी नानी पर आ पड़ा। आयु के प्रारम्भिक काल में ही अनाथ हो जाने से न्यूटन का मनोविकास रुक गया वह एक दीन-हीन बालक बनकर रह गया।

नानी ने उसे पढ़ने बिठाया जरूर लेकिन उसका मन पढ़ाई-लिखाई में जरा-भी नहीं लगता था। वह स्कूल में सारे दिन उदास बैठा रहता था। सारे साथी उसे खिझाया तथा परेशान किया करते थे। इसी तरह सहन करते-करते एक दिन उसकी मुठभेड़ एक शैतान लड़के से हो गई और न्यूटन ने जी-जान से जोर लगाकर उसे पछाड़ दिया। इस संयोग से न्यूटन जी-जान से प्रयत्न करने के महत्त्व को समझ गया।

उसने बड़े प्रयत्न से मन लगाकर पढ़ना शुरू किया जिससे कुछ ही समय में वह अपनी कक्षा में सबसे तेज विद्यार्थी बन गया। अध्यापक उसकी इस परिश्रमशीलता की प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित करने लगे। अपने पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ने वालों को अनायास ही चारों ओर से प्रशंसा एवं प्रोत्साहन मिलने ही लगता है।

इस प्रकार जब न्यूटन अपनी योग्यता के विकास में लगा हुआ था तभी सौतेले पिता की मृत्यु हो जाने पर उसकी माता ने उसे स्कूल उठाकर खेती-बाड़ी तथा जानवरों की देख-भाल में लगा दिया। न्यूटन का स्कूल अवश्य छूट गया किन्तु उसकी अध्ययन की लगन तथा विचारशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। वह चरागाह में

अपनी पुस्तकें ले जाता और पढ़ने में लग जाता । जानवर बिखर जाते, खेत चर जाते किन्तु न्यूटन को इसकी कोई खबर न रहती । वह अपने पढ़ने अथवा किसी चीज का मॉडल बनाने में इतना तल्लीन हो जाता कि दीन-दुनिया को ही भूल बैठता । न्यूटन की यही वह तल्लीनता थी जिसने आगे चलकर उसे एक विश्वविख्यात अन्वेषक बना दिया ।

न्यूटन की माता उसकी इस विद्या विषयक तल्लीनता से अप्रसन्न रहती थीं । अनेक बार उसने इसके लिये उसे दण्ड भी दिया किन्तु सारे कष्ट सहकर भी वह अपने अध्ययन में लगा ही रहा । माता ने उसकी इस आदत से परेशान होकर उसकी शिकायत अपने भाई से की और उसे सीधे मार्ग पर लाने के लिये कहा । न्यूटन का मामा एक बुद्धिमान व्यक्ति था । उसने न्यूटन की प्रतिभा को पहचाना और बहन को समझाते हुये कहा कि— इसे स्कूल में भर्ती करा दो यह बड़ा होनहार है । खेती-बाड़ी करना इसके वश का काम नहीं है । इसके काम का क्षेत्र तो पढ़ना तथा कुछ बड़ा काम करना है ।

न्यूटन की माँ ने भाई की बात मानी और उसे पुनः स्कूल भेज दिया । यदि मनुष्य अपने ध्येय का सच्चा धनी है तो संसार का कोई भी अवरोध उसका मार्ग नहीं रोक सकता । लगनशील व्यक्ति का अवरोध यदि जान-बूझकर भी किया जाता है तब भी वह अपने अनवरत प्रयत्न से विरत नहीं होता और इस प्रकार अपने प्रतिरोधी को थकाकर मार्ग से हट जाने के लिये विवश कर देता है ।

न्यूटन दुबारा स्कूल पहुँच कर इतना प्रसन्न हुआ मानो उसने पुनर्जीवन पा लिया हो और इस बार वह पहले से भी अधिक तत्परता से अध्ययन में डूब गया । उसे यह आशंका हर समय बनी रहती थी कि कहीं ऐसा न हो कि उसकी माँ का विचार फिर बदल जाये और वह उसे स्कूल से उठा ले । इसलिये वह मिले हुये अवसर का अधिक से अधिक लाभ उठाकर अपनी शिक्षा पूरी कर लेना चाहता था । स्कूल के बाद वह घर पर भी हर समय अपने अध्ययन तथा प्रयोगों में लगा रहता था । वह एक क्षण भी बेकार रहकर माँ को यह सोचने का अवसर न देना चाहता था कि न्यूटन के पास पढ़ाई के अतिरिक्त भी समय बच रहता है । न्यूटन की इस बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोगी चतुरता ने उसे जो कार्य व्यस्तता का लाभ पहुँचाया वह आगे चलकर उसके बहुत अधिक काम आया । काम करने की उसकी सारी वृत्तियाँ प्रबुद्ध हो उठीं और उसे मूर्तिमान कर्म का स्वरूप बना दिया ।

न्यूटन का स्वभाव था कि वह संसार की हर गतिविधि को बड़े ध्यान से देखा करता था । जिससे उसे एक छोटी से छोटी गतिविधि भी एक रहस्य मालूम होती थी और उसमें उसे खोज निकालने की जिज्ञासा जाग उठती थी, जिससे धीरे-धीरे वह वैज्ञानिक अन्वेषणों की ओर प्रवृत्त हो गया ।

कोई वैज्ञानिक खोज करने के पहले न्यूटन ने, जिस समय बी. ए. की तैयारी की थी उसने गणित के दो नये सिद्धान्त खोज निकाले थे जिससे विद्वजनों के बीच उसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी और लोगों ने उसकी ओर ध्यान देना शुरू कर दिया ।

अपने अन्वेषणों में न्यूटन ने एक पानी से चलने वाली घड़ी, एक धूप घड़ी तथा एक आटा पीसने वाली पवन-चक्की बनाकर छोटी आयु में ही बड़े भविष्य का आभास दे दिया था । अपनी इन प्रारम्भिक सफलताओं से न्यूटन का साहस इतना बढ़ गया कि उसने संसार को उपयोगी खोजें देकर मानवता की सेवा करने का संकल्प कर लिया ।

मनुष्य में यदि कुछ करने की इच्छा है और वह उसके लिये ईमानदारी से प्रयत्नशील भी है तो कोई कारण नहीं कि वह अपने संकल्प में कृत-कृत्य हो सके । सच्ची लगन के लोगों का मस्तिष्क इतना उर्वर हो जाता है कि एक छोटा-सा सूत्र पाकर वह सृष्टि के बड़े से बड़े रहस्यों को बाहर निकाल लाता है ।

निरन्तर विचार क्रिया से न्यूटन ने अपने मस्तिष्क को इतना ग्राही बना लिया था कि एक बार बाग में घूमते हुये उसने पेड़ से एक सेब को गिरते देखा । उसके जिज्ञासु मस्तिष्क ने तत्काल प्रश्न किया कि यह सेब टूट कर नीचे जमीन पर ही क्यों गिरा, ऊपर आकाश में क्यों नहीं गया ? बस फिर क्या था ? प्रश्न उठते ही न्यूटन का मस्तिष्क यन्त्र कारण खोजने की दिशा में गतिशील हो उठा । विचारों के स्तर पर स्तर खुलने लगे । एक के बाद एक रहस्यों के नक्षत्र कल्पना क्षितिज पर उदय और अस्त होने लगे । उधर मस्तिष्क की सूक्ष्म शक्तियों ने रहस्य बिन्दुओं को खोजना शुरू किया और इधर न्यूटन ने भौतिकता की कसौटी पर उनकी परख करने के लिए प्रयोग प्रारम्भ कर दिए । इस प्रकार न्यूटन का अन्तर तथा बाह्य, विचार एवं क्रिया मिलकर प्रकृति का रहस्योद्‌घाटन करने पर एकमत हो गये । मनुष्य का मन, मस्तिष्क तथा इन्द्रियाँ जब एकरूप होकर क्रियाशील होते हैं तब वह देवत्व की एक ऐसी कक्षा में पहुँच जाता है जहाँ पर जीवन और जगत के रहस्य उस पर स्वयं प्रकट होने लगते हैं ।

न्यूटन सेब के पतन का कारण खोजने में डूब कर संसार को भूल गये और जब वे विचारधारा से निकल कर ऊपर आये तब उनके हाथ में 'गुरुत्वाकर्षण' का सिद्धान्त था ।

अनेक वर्षों के अनवरत परिश्रम के बाद न्यूटन ने जिस गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को खोज निकाला था और जिसके कारण उनका नाम संसार में फैल गया था । उस पर वे सहर्ष सन्तोष करके ही नहीं बैठ रहे थे । एक सीढ़ी से वे दूसरी सीढ़ी पर आगे बढ़े और इसी सिद्धान्त के बल पर आकाशीय प्रकाश पिण्डों की गतिविधि की गणना कर डाली और एक ऐसी दूरबीन का आविष्कार किया जिसकी मदद से दूरस्थ ग्रह-नक्षत्रों को आसानी से देखा जा सकता था । इस प्रकार मानवता के कल्याण-कामी न्यूटन ने अपने को तिल-तिल खपाकर व्योमस्थ लोकों के लिए मनुष्य का प्रारम्भिक पथ प्रशस्त कर दिया । आज विज्ञान के बढ़े हुए युग में भले ही हमें न्यूटन की यह खोज साधारण लगे और आधुनिक ग्रह-मंडलीय अभियान की तुलना में न्यूटन के सिद्धान्तों को हेय समझें किन्तु यह मानना ही होगा कि आज की इस वैज्ञानिक उन्नति के शिलान्यास का श्रेय सर आइजक न्यूटन को ही है, जिसके लिए संसार सदैव उनका आभारी रहेगा । किसी क्रांति को मूर्तिमान कर दिखाने वालों की अपेक्षा उसकी चेतना देने वाला भी किसी दशा में कम अभिनन्दनीय नहीं होता ।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तदाता न्यूटन की योग्यता और कीर्ति ने उन्हें अनेक शिक्षा संस्थाओं द्वारा आमन्त्रित कराया। यद्यपि उनकी इच्छा अध्यापन करने की नहीं थी तथापि नये-नये वैज्ञानिक निर्माण करने के मन्तव्य से वे कैम्ब्रिज कॉलिज में गणित के प्रोफेसर हो गये। अध्यापन क्षेत्र में गये हुए उन्हें अभी दो ही वर्ष हुए थे कि इंग्लैण्ड की महान वैज्ञानिक संस्था रायल सोसाइटी ने उन्हें अपना सम्मानित सदस्य बना लिया और अपनी सूझ-बूझ तथा योग्यता के बल पर शीघ्र ही वे उसके अध्यक्ष चुन लिये गये। इस पद पर निरन्तर वे पच्चीस साल तक काम करते रहे।

इसके अतिरिक्त वे यूनीवर्सिटी क्षेत्र से पार्लियामेण्ट के मेम्बर भी चुने गये और इंग्लैण्ड की सरकार ने उनकी खोजों से प्रसन्न होकर टकसाल का अध्यक्ष बना दिया तथा रानी ऐन ने उन्हें 'सर' की उपाधि भी दी।

मनुष्य के लगनशील पुरुषार्थ का यह कैसा जीता-जागता चमत्कार है और ज्ञान का कितना बोलता हुआ जादू है कि एक दिन भेड़ें चराने वाला अनाथ बालक न्यूटन आज इंग्लैण्ड की टकसाल का अध्यक्ष था।

अपने इन सब उत्तरदायित्वों को सँभालते हुये भी सर आइजक न्यूटन अपने खोज सम्बन्धी कार्यों में निरन्तर लगे रहे। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के बाद वे प्रकाश के सिद्धान्त की खोज कर रहे थे इसी बीच १७२७ ई. में ८५ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

न्यूटन ने बीस वर्ष के अनवरत परिश्रम के बाद प्रकाश सम्बन्धी अपने सिद्धान्त पूरे कर लिये थे, जिस समय कार्य पूर्ण करने के बाद वे मेज पर सारे कागज रखकर किसी कार्यवश बाहर गये, उसी समय कमरे में बैठा हुआ उनका कुत्ता एक चूहे पर इस प्रकार झपटा कि मेज पर रखा हुआ लैम्प गिर गया जिससे उनके प्रकाश सम्बन्धी सारे कागज भस्मीभूत हो गये।

जिस समय न्यूटन ने कमरे में आकर उस दृश्य को देखा तो आह करके कुरसी पर पड़ गये। उनका कुत्ता पास आकर दुम हिलाने लगा। उन्होंने कुत्ते पर क्रोध करने के बजाय उसको थपथपा कर केवल इतना ही कहा— "प्यारे डायमण्ड ! तुम्हें पता नहीं कि तुमने मेरा कितना बड़ा नुकसान कर डाला है।"

नि:सन्देह न्यूटन का यह धैर्य, यह क्षमाशीलता ऋषित्व के स्तर की थी। उन्होंने वह वज्राघात एक साधारण घटना की भाँति सह लिया किन्तु कुत्ते पर जरा-भी क्रोध नहीं किया।

सर आइजक न्यूटन ने अपनी सारी कमाई परोपकार में ही लगाई। न्यूटन अपने पर बहुत ही कम व्यय किया करते थे, अपनी सारी आय वे कुटुम्बियों तथा दीन-जनों की सहायता में ही खर्च किया करते थे।

अपने युग का महानतम व्यक्तित्व होते हुये भी न्यूटन में अभिमान की दुर्बलता नहीं थी। वे अपने विषय में कहा करते थे कि "मैं सत्य के अगाध तथा असीम समुद्र के किनारे केवल सीप और शंखों को बीनने वाला बालक हूँ।"

कहना न होगा इन्हीं महान् गुणों ने सर आइजक न्यूटन को संसार का महान् पुरुष बना दिया। इन गुणों को धारण किये बिना कोई भी महान् नहीं बन सकता और जिसमें इन गुणों का विकास होगा वह महान् पुरुष बने बिना रह नहीं सकता।

मानवता-प्रेमी वैज्ञानिक— ओपेन हाइमर

होनहार की बात है कि मानवता के एक एकनिष्ठ पुजारी को ही बाद में मानव के महाविनाश सम्बन्धी कर्मकांड होता भी बनना पड़ा। नियति का यह निष्ठुर परिहास घटित हुआ है, विश्वविख्यात भौतिक विज्ञानी डॉक्टर राबर्ट ओपेन हाइमर के जीवन में जिनका देहान्त १८ फरवरी, १९६७ में अमरीका के न्यूजर्सी राज्य के प्रिंस्टन शहर में हुआ।

मानव-कल्याण को ही वैज्ञानिक ओपेन हाइमर ने अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था। परमाणु बम के निर्माण के इतिहास में भी उनकी प्रधान भूमिका थी।

१९४२ का उत्तरार्द्ध ! आधी रात का समय है। एकाएक टेलीफोन की घण्टी बज उठी, ओपेन हाइमर के शयन-कक्ष में। नींद खुल गई। एक गोपनीय और अत्यावश्यक सन्देश सुना उन्होंने फिर परमाणु बम-निर्माण-योजना के अधिकर्ता पद पर उन्हें मनोनीत किया गया है और अमरीकी सामरिक विभाग के मैनेजर जनरल लेस्ली ग्रूव्स इस विषय में उनसे परामर्श के लिये बहुत जल्दी आ रहे हैं।

अमरीका में परमाणु-बम निर्माण की इस योजना का सूत्रपात इस घटना के तीन साल पहले हो चुका था। १९३९ में महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया था कि नाजी जर्मनी में परमाणु-विभाजन का कार्य काफी आगे बढ़ गया है और सम्भवत: जल्द ही वहाँ परमाणु बम का आविष्कार भी हो जाय। इसलिये अमरीका को भी अविलम्ब ही इस क्षेत्र में कार्य आरम्भ कर देना चाहिये। आइन्स्टीन की इस चेतावनी से प्रभावित और प्रेरित होकर रूजवेल्ट ने परमाणु-बम निर्माण योजना को तत्काल कार्यान्वित करने के लिये गुप्त प्रतिरक्षा-कोष से आवश्यक अनुदान की व्यवस्था की थी।

इसके पश्चात् १९४२ के अन्तिम चरण में लास एलाइस नामक नगर में अत्यन्त गोपनीय रूप से बनावटी नाम धारण करके तीन विश्वविख्यात वैज्ञानिक— नील्स बोर, एनरिको फेमि और राबर्ट ओपेन हाइमर परमाणु-बम-निर्माण सम्बन्धी गवेषणा में लग गये। अनेक निरीक्षण-परीक्षण के बाद उन्होंने परमाणु में अन्तर्निहित महाशक्ति के विकास की विधि का अन्वेषण किया। किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि यह महाशक्ति सर्वप्रथम प्रयुक्त हुई विनाशास्त्र के निर्माण में, यद्यपि मानव-जाति के कल्याण के लिये भी इसके उपयोग की यथेष्ठ सम्भावना थी।

सन् १९४५ की १६ जुलाई को एलायोगरडो रेगिस्तान में सबसे पहले परमाणु-बम का विस्फोट किया गया और उसके तीन हफ्ते बाद ६ अगस्त को जापान के हिरोशिमा शहर पर परमाणु-बम सर्वप्रथम

गिराया गया । इसके तीन दिन बाद एक और बम डाला गया जापान के नागासाकी शहर पर । इन परमाणु-बमों के गिराये जाने के बाद की दर्दनाक कहानी आज किसी से भी छिपी नहीं है ।

पर इस सन्दर्भ में एक ऐसी बात भी है, जिसे बहुत कम लोग जानते हैं । और वह है, परमाणु-बम-योजना के प्रधान ओपेन हाइमर के बारे में । नागासाकी में परमाणु-बम की ध्वंस-लीला की खबर जब ओपेन हाइमर के पास पहुँची, तब मानवता के पुजारी इस वैज्ञानिक की अन्तरात्मा अनुताप की तीव्र ज्वाला में दग्ध होने लगी । उन्हें लगा कि इतने निर्दोष व्यक्तियों की शोचनीय मृत्यु के लिये वे ही उत्तरदायी हैं ।

उनका यह अनुताप इतना गम्भीर था कि द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही उन्होंने परमाणु बम-योजना के अधिकर्त्ता पद से स्तीफा दे दिया । स्तीफे का कारण उन्होंने यह बतलाया— "मेरा काम मानवों को मारने के हथियार बनाना नहीं, मेरा काम है, मनुष्यों का कल्याण करना ।"

१९४२ में परमाणु-बम-योजना के अध्यक्ष पद को स्वीकार करने से पहले ओपेन हाइमर कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय तथा कैलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी में प्रोफेसर थे । पुनः वे उसी पद पर काम करने लगे । १९४७ में वे इन दोनों संस्थाओं को छोड़कर 'प्रिंसटन इन्स्टीट्यूट फॉर एडवानस्ड स्टडीज' के अध्यक्ष पद पर चले गये और १९६६ तक उसी पद पर कार्य करते रहे । प्रिंसटन में रहते समय उन्होंने महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन के साथ भी काम किया ।

प्रो. आइन्स्टीन की तरह ओपेन हाइमर की भी धारणा थी कि विज्ञान समस्त मानव-जाति की सम्पत्ति है और विज्ञान क्षेत्र में गोपनीयता नहीं होनी चाहिये । उनका कथन था कि गोपनीयता विज्ञान के अस्तित्व और उद्देश्य के मूल में कुठाराघात करती है । इसलिए वे यह चाहते थे कि परमाणु-शक्ति के रहस्य का उद्घाटन संसार के सब वैज्ञानिकों के उपयोग के लिये होना चाहिए । इस उदारता के लिये वे कटु आलोचना और सन्देह का शिकार बने । अमरीका के कर्णधारों ने उन्हें इस 'अपराध' के लिये कई साल तक अवहेलना के कारागार में डाल रखा था । पर १९६३ में उन्हें जब अपनी गलती महसूस हुई तो परमाणुविज्ञान में अभूतपूर्व देन के लिये ओपेन हाइमर को उन्होंने 'एनरिको फेर्मि' नामक बहुमूल्य पुरस्कार प्रदान किया ।

१९०४ में न्यूयार्क के एक सम्भ्रान्त यहूदी परिवार में ओपेन हाइमर का जन्म हुआ था । १८ साल की अवस्था में हावर्ड विश्वविद्यालय से वे आनर्स के साथ स्नातक हुए । फिर उन्होंने इंग्लैण्ड की कैवेन्डिश लैबोरेटरी में विख्यात वैज्ञानिक रदरफोर्ड की देख-रेख में कुछ समय तक अनुसन्धान किया । वहाँ से एक और मशहूर वैज्ञानिक मैक्स बोर्न उन्हें गॉटिनजेन विश्वविद्यालय (जर्मनी) में ले गये । वहीं उन्होंने १९३७ में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की । इसके बाद वे कुछ समय ज्यूरिच और लोडेन विश्वविद्यालय में रहे । १९३८ में वे अमरीका लौट आये और जीवन के अन्तिम दिन तक वहीं रहे । ओपेन हाइमर केवल एक महान् वैज्ञानिक ही नहीं थे, दर्शनशास्त्र के भी अनुरागी थे । भारतीय दर्शन का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया था ।

अध्यात्मवादी वैज्ञानिक—श्री प्लांक

विख्यात है कि वैज्ञानिक स्वर्गीय जी. प्लांक के नाम से समस्त विज्ञान संसार परिचित है । इनके वैज्ञानिक अन्वेषणों का उद्देश्य न तो धन की प्राप्ति था, न पद लिप्सा— और न यश की लालसा ही । कोरा बुद्धि विलास मात्र भी न था वह । उन्होंने विज्ञान का सहारा लेकर जो अन्वेषण अथवा नवीन अनुसंधान किये वे उनकी आत्मा की ज्ञान-पिपासा से ही प्रेरित थे । उनका उद्देश्य मात्र लोकहित तथा मानवता की सेवा ही था ।

श्री प्लांक का जन्म २३ अप्रैल, सन् १८५८ को जर्मनी के कील नामक शहर में हुआ । इनके पिता जर्मन विश्वविद्यालय में संवैधानिक विधियों के प्राध्यापक थे । आज भी जर्मनी में उनका स्मरण 'प्रशियन सिविल कोड' के विशेषज्ञ के रूप में आदर के साथ किया जाता है । भौतिक विज्ञान के प्रति रुचि श्री प्लांक ने अपने पिता से ही विरासत में पाई थी ।

यों रुचि तो कई व्यक्तियों को कई विषयों से होती ही है, किन्तु विशेषता तब उत्पन्न हो जाती है जब उसमें कोई उल्लेखनीय सफलता अर्जित कर ली जाये ।

ध्येय के प्रति निष्ठावान प्लांक अपने अध्ययन में सम्पूर्ण शक्तियों के साथ जुट गये । १७ वर्ष की अल्पायु में म्युनिख विश्वविद्यालय मे प्रवेश पाया । गुरु के रूप में गुस्ताव किचहाफ तथा हेल्महोज जैसे महान् वैज्ञानिकों का सम्पर्क तथा मार्गदर्शन प्राप्त हुआ और उसका लाभ उठाकर इन्होंने मात्र २१ वर्ष की अवस्था में ही किचहार्फ के निर्देशित विषय पर 'डॉक्टरेट' की उपाधि प्राप्त की । सन् १८८५ में किल विश्वविद्यालय में आप प्राध्यापक नियुक्त हुए और केवल ७ वर्षों में ही अपने गुरु श्री किचहार्फ के स्थान पर बर्लिन विश्वविद्यालय में कार्य करने लगे । यह प्रगति उनकी परिश्रमशीलता तथा गहन अध्ययनशीलता की ही प्रतीक है ।

भौतिकशास्त्र का आपने गहन अध्ययन किया तथा कई मूल्यवान शोधें की किन्तु विज्ञान को जो इनकी सबसे बड़ी और सर्वाधिक मूल्यवान देन है वह है इनका 'कणात्मक सिद्धान्त' जो 'क्वांटम थ्योरी' के नाम से जाना जाता है । यह उनके निरन्तर बीस वर्ष के श्रम का सुफल था ।

इसमे इन्होंने यह सिद्ध किया है कि शक्ति का स्वरूप अखण्ड नहीं, अपितु कणात्मक है । अर्थात् शक्ति अखण्ड रूप में प्राप्त न होकर हमें कणों के संग्रह के रूप में प्राप्त होती है । श्री प्लांक ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार पदार्थ की इकाई अणु है— उसी प्रकार शक्ति की भी इकाई है जो कणों के रूप मे पाई जाती है ।

जिस प्रकार कोई भी पदार्थ अणुओं का संग्रह मात्र है उसी प्रकार शक्ति, शक्ति कणों का। इस कण को अंग्रेजी में क्वांटम नाम दिया गया है और प्लांक के इस कणात्मक सिद्धान्त को 'क्वांटम थ्योरी।'

आपकी इस शोध ने वैज्ञानिक जगत में हलचल उत्पन्न कर दी। अब तक के सिद्धान्तों के ऊपर यह अपूर्व विजय थी। अब तक की बहुमूल्य मान्यताओं को इनकी कई खोजों ने सारहीन प्रमाणित कर दिया था।

आपकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह थी कि विज्ञान को सदा आपने मानव का 'हित साधन' ही माना। आपका कहना था कि— "विज्ञान यदि मानवता के अहित की दिशा में अपने चरण बढ़ाता है तो वह विज्ञान ही नहीं है।

एक बार श्री जेम्स हम्फ्री ने पूछा— धर्म का स्थान विज्ञान और विशेषतः भौतिक शास्त्र, तेजी से लेता जा रहा है। पर क्या यह उचित है ?"

तब प्लांक ने जो उत्तर दिया, वह इस प्रकार था। 'बात यह है कि मनुष्य जो धर्म की ओर आकृष्ट होता है इसका मूलकारण है उसकी आध्यात्मिक तृष्णा। वह उच्च की ओर प्रयाण करना चाहता है। विज्ञान को अपना जीवन समर्पित करने वाले अन्वेषकों की आराधना के पीछे भी यही रहस्य है। वस्तुतः धर्म और विज्ञान दोनों एक ही सत्य की ओर उन्मुख करते हैं।'

उपरोक्त शब्दों में उनकी धर्म के प्रति आस्था स्पष्ट परिलक्षित होती है। विज्ञान को भी वे आध्यात्मिक क्षुधा का उपकरण मात्र ही मानते थे।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन से उनका बहुत ही गहरा तथा स्नेह पूर्ण सम्बन्ध था। उन्होंने आइन्स्टीन को अपने पास ही बर्लिन बुला लिया था और वर्षों दोनों ने एक साथ काम किया।

संसार के कई देशों से, प्लांक की प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर कई छात्र उनके निर्देशों का लाभ उठाने उनके पास आते थे। प्रसिद्ध महिला अणु वैज्ञानिक डॉ. लीस मितनेर आप ही की शिष्या थीं।

आपकी विलक्षण बुद्धि तथा अपूर्व योग्यता के आधार पर आपको जीवन में बहुत सम्मान मिला। सन् १९१२ में इन्हें जर्मनी की विख्यात वैज्ञानिक संस्था 'प्रशियन एकेडेमी ऑफ साइन्सेज' का मन्त्री नियुक्त किया गया।

और सन् १९१९ में आपको विश्व के महानतम पुरस्कार— 'नोबेल पुरस्कार' से विभूषित किया गया।

सन् १९३० में सर्वोच्च सम्मान स्वरूप उन्हें जर्मनी की सर्वोत्कृष्ट विज्ञान संस्था 'कैसर विलियम इन्स्टीट्यूट' का अध्यक्ष बनाया गया।

किन्तु प्लांक के जीवन में कभी इन सम्मानपूर्ण पदों के प्रति कोई आसक्ति अथवा प्रसन्नता नहीं देखी गई। वे तो अपनी साधना में ही लीन तथा व्यस्त रहते थे सदा। उन्हें कभी अपनी सफलताओं अथवा प्रशंसाओं को संजोने, संवारने अथवा उनके प्रति सुख अनुभव करने का अवकाश ही न मिला। वे तो जैसे इन सबके प्रति अनासक्त, निर्लिप्त योगी की भाँति ही थे। वे मात्र वैज्ञानिक ही नहीं, महान् तत्वज्ञ थे। सभी वरिष्ठ वैज्ञानिकों ने उन्हें 'विज्ञान जगत का ऋषि' घोषित किया है। सभी उन्हें एक वरण्य श्रद्धास्पद सूक्ष्मदर्शी विद्वान् मानते हैं।

अपने सिद्धान्तों के प्रति उनकी निष्ठा अडिग थी। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण निम्न घटना से मिलता है। इनकी तीन सन्तानें युवावस्था में ही परलोक प्रयाण कर चुकी थीं— मात्र एक पुत्र बचा था। उसे हिटलर ने कुछ राजनैतिक कारणों से बन्दी बना लिया था तब उसने इनके पास सन्देश भेजा कि "यदि आप मेरे प्रति वफादारी का वचन दें तो मैं आपके पुत्र को मुक्त कर दूँगा— अन्यथा फाँसी और मौत।"

और सिद्धान्तों के प्रति संकल्पशील प्लांक ने उत्तर दिया— "मेरे एकमात्र पुत्र की हत्या आप कर सकते हैं। किन्तु मैं अपने सिद्धान्तों की हत्या नहीं कर सकता।"

हिटलर यहूदियों का कट्टर विरोधी था जबकि प्लांक मानवता के पुजारी। प्रसिद्ध आइन्स्टीन ने आपकी वैज्ञानिक सिद्धि की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए एक स्थान पर लिखा है— "विज्ञान यदि मनुष्य की आत्मीयता अपेक्षा एवं तिरस्कृत रखकर उसे पार कर जाये तो गति में वह चाहे सारे अन्तरिक्ष को नाप ले— उसे अपना गन्तव्य नहीं मिल सकता।"

ऐसे थे अध्यात्मवादी वैज्ञानिक श्री प्लांक। जिनका निधन चार अक्टूबर उन्नीस सौ सैंतालिस को हुआ।

अनाथों को जोड़ने वाले कलाकार— हरमैन जी पेस्टोला जी

आस्ट्रिया का छात्र, जो अभी डॉक्टरी पढ़ रहा था, एक दिन शहर की एक व्यस्त गली से निकल रहा था तभी एक बच्चे के रोने का स्वर सुनाई दिया। बच्चे को देखने से लगता था वह देर से रो रहा है। किसी ने उसकी सहायता नहीं की। पूछा नहीं— "वह क्यों रो रहा है ?"

युवक रुका बच्चे से पूछा— "क्यों रो रहे हो बच्चे ?" बच्चा इतना ही कह पाया— 'पिताजी'— और-और वह बोल सकता होता तो बताता। ऐसे तो कई लोगों ने पूछा था पर जब कोई निश्चित पता नहीं चल सका तो लोगों ने कहा— पुलिस अपने आप पता लगा लेगी कौन व्यर्थ की हैरानी मोल ले। कितनी देर भटकता मालूम नहीं यदि युवक न आता। छात्र ने बच्चे को गोद में उठाया। जब उसने यह समझ लिया कि बच्चा किसी ग्रामीण का है, छूट गया है, बता नहीं सकता कौन है ? कहाँ का है ? तो उसे लेकर घर चला आया। पुलिस की बात उसके मन में आई थी पर उस सहृदय आत्मा ने अपने आपसे पूछा— "क्या मानवता कानून से ही सुरक्षित रहनी चाहिये ? क्या जन-जीवन में उसके प्रति कुछ प्रेम, त्याग और सेवा का भाव नहीं आ सकता ?" आत्मा ने कहा— "आ सकता है— आना चाहिए अन्यथा संसार में मनुष्य की मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य भावना टिक भी नहीं सकती।"

बहुत पता लगाया पर बच्चे के अभिभावकों का पता न चला। तब वह एक दिन अनाथालय पहुँचा। उसने देखा वहाँ ऐसे सैकड़ों लड़के-लड़कियाँ पहले से ही विद्यमान हैं। युवक को देखते ही उनकी टोली दौड़ी चली आई। छात्र उन्हें वह छात्रों को बड़ी देर तक देखते रहे। बच्चों ने समझा एक और अनाथ हमारे बीच आ गया और छात्र ने देखा— इन लड़कों के लिये खाने-पीने का प्रबन्ध है, कपड़े मिलते हैं, शिक्षा की भी व्यवस्था है, खेलते-कूदते भी हैं पर अपने माता-पिता के पास रहकर खिल-खिलाकर हंसने और मखौल करने वाली मस्ती उनमें न देखी। उसे लगा अभी इनके जीवन में कोई अभाव है। स्नेह, सौजन्य और प्रेम का अभाव।

बच्चे को अनाथालय पहुँचाकर युवक घर लौट आया पर लगा उसका कुछ खो गया है। खो, क्यों, अनाथालय में छूट गया है। सचमुच उसकी शान्ति और प्रसन्नता अनाथालय में खो गई थी। वह जितना विचार करता प्रश्न उतने ही गम्भीर हो उठते— लोगों की लापरवाही, गन्दे जीवन, क्रोध और वासना के शिकार कितने लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष अनाथ और परित्यक्त किये जाते रहते हैं। समाज की उदारता— उन्हें रहने को स्थान मिल जाता है, खाने को अन्न और पहनने को कपड़े भी किन्तु क्या इतने से ही जीवन सन्तुष्ट हो सकता है ? मनुष्य की मूल आवश्यकता है 'प्रेम और स्नेह।' सौजन्य और सहज आत्मीयता— वह न मिले तो फूलों वाला संसार भी शोलों की तरह हो जाता है।

उसके बाद से ही वह कई दिन अनाथालय गया। छूटे हुए बच्चों, परित्यक्त युवतियों और वृद्धावस्था में दुतकारे गये बुजुर्गों का वह जितना समीप से अध्ययन करता उसकी करुणा उतनी ही तीव्र हो उठती। कई रात-दिन वह छटपटाता रहा। इसलिये कि यह अनाथालय काफी नहीं— मनुष्य को इससे भी आगे बढ़कर उन्हें इस तरह अपनाना चाहिए कि वे अपने पूर्व जीवन को बिल्कुल ही भूल जायें और नये संसार में इस तरह घुल-मिल जायें जैसे वह उसी का चिरकाल से अंग रहा हो। मानव जाति की विराट एकता को हम समझ सके होते तो आज संसार में अशांति और असन्तोष का नाम तक न होता पाप, बुराई, अपराध की तो बात कौन सोचे ?

पहले तो उसने एक नया आन्दोलन चलाने का निर्णय किया जिसका उद्देश्य था कोई सहृदय गृहस्थ किसी बच्चे को अपना ले, कोई किसी बालिका को गोद ले ले। परित्यक्त स्त्री के लिये किसी स्थान में धर्म-पत्नी न सही बहिन की तरह स्थान मिल जाये तो किसी घर वृद्ध मार्गदर्शक की तरह रह लें। पर हम, हमारा मनुष्य समाज इतना उदार और परमार्थी कहाँ ? लोग इतने विचारशील कहाँ जो सारे विश्व को एक परिवार मानकर मेरा-तेरा का भाव निकाल सकें ? युवक की योजना निरर्थक गई। कुल अंगुलियों में गिनने योग्य ही इस योजना के समर्थक और सहायक निकले।

तब एक और उपाय उसने ढूँढ़ निकाला। उसने सोचा क्यों न अनाथों को जोड़कर ही नये परिवारों का निर्माण किया जाये ? उसने अपने विचार राज्याधिकारियों और पादरियों के सामने रखे पर सबने योजना को बेकार और असम्भव ही बताया। युवक ने समाज की चुनौती स्वीकार कर ली। जब सारा संसार अपने स्वार्थ में लिप्त हो, अपनी ही उन्नति और महत्त्वाकांक्षाओं में धुत्त हो तब समाज के प्रति कर्त्तव्य भावना का आविर्भाव जगाने वाले इस युवक का आदर्श देवोपम प्रतिष्ठा ही थी जिससे सराहने और सहयोग देने वाले भी निकल ही आये। नये रक्त के सैकड़ों मित्र उसके हो लिए और इस तरह एक संघ की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य अनाथ बच्चों, परित्यक्ताओं और नाकारों को ढूँढ़कर उनके परिवार बसाना और इस कार्य में उनकी हर सम्भव मदद करना रखा गया।

सन् १९४९ में तिरोल नगर में पहला परिवार बसाया गया। एक अधेड़ आयु के व्यक्ति से एक परित्यक्ता का विवाह कराकर उन्हें एक बूढ़ा पिता, एक वृद्ध माता दो बच्चे सब एक तरह दहेज में दिये गये। पिता कहीं का, माता कहीं की बच्चों के घर-बार का पता नहीं वह स्वयं और पत्नी और इस तरह टूटे हुओं को एक स्थान पर जोड़ने का यह अभूतपूर्व प्रयोग हुआ और वह इतना सफल रहा कि देखते-देखते उनकी संख्या आस्ट्रिया में ही २० से भी अधिक हो गई।

इन सफलताओं ने और लोगों के भी ध्यान आकर्षित किये। अखबारों में उसकी खूब प्रशंसा की गई। पोप पाल छठवें ने उसे नोबेल पुरस्कार के लिये प्रस्तावित किया और दिलाया। सैकड़ों लोगों ने उसकी मदद की। आज फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और २० से भी अधिक देशों में इस तरह के सैकड़ों परिवार स्थापित हुये हैं जिनमें लाखों अनाथों से ईंट-रोड़े की तरह स्त्री-बच्चों और पुरुष ले लेकर हजारों परिवार बसाये गये हैं। इनमें परस्पर प्रेम होता है। कर्त्तव्य भावना होती है, एक-दूसरे के लिये मोह, ममता और दर्द होता है। ऐसा नहीं लगता कि अब वे अनाथ हों। अनाथों को इस तरह सुभीते की जिन्दगी दिलाने वाला यह कलाकार— हरमैन जी पेस्टोला जी आज भी अनाथ है उसका अपना कोई घर नहीं, पत्नी नहीं, बच्चे नहीं। सारा संसार उसका अपना हो गया है। अब उसे अपना घर बसाने की आवश्यकता भी नहीं रही। उसे विश्वमानव की आत्मा में ही आत्मसन्तोष और आनन्द मिल गया है।

एक अकालग्रसित प्रतिभा— श्री रामानुजम्

कभी-कभी समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जब वह कुछ ऐसे राजनीतिक, आर्थिक अथवा नैतिक समस्याओं में उलझ कर अनेक उन्नयन प्राप्त करती हुई प्रतिभाओं की-ओर ध्यान नहीं दे पाता और वे उपेक्षा की आग में झुलस कर नष्ट हो जाती हैं।

होनहार प्रतिभाओं की उपेक्षा करने में किसी हद तक समाज दोषी हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में वे प्रतिभायें भी कम दोषी नहीं है जो स्वयं ही अपनी उपेक्षा किया करती हैं और समाज की कृपा की प्रतीक्षा करते हुए निकम्मी बैठी रहती है। अपनी प्रतिभा को

प्रकाशित करने का स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करतीं । सर्वथा समाज के सहारे बैठे रहने वाले, जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकते । अथवा यों भी कहा जा सकता है कि दूसरों के सहारे उन्नति की कामना करने वाले वास्तव में उन्नति करना ही नहीं चाहते । वास्तविक मन से जो अपनी उन्नति के आकांक्षी होते हैं वे परमुखापेक्षी नहीं रहते, बल्कि अपनी निज की बुद्धि तथा परिश्रम से काम में जुट जाते हैं और हठात् समाज को अपनी ओर आकर्षित करके, उसे यह सोचने पर विवश कर देते हैं कि यह एक होनहार प्रतिभा है इसकी उपेक्षा करने का अर्थ है अपनी हानि करना ।

मद्रास प्रांत में जन्म लेने वाले श्री रामानुजम् की परिस्थितियाँ बड़ी ही संकुचित थीं । उनके पिता की इतनी भी आय नहीं थी कि वे परिवार को दोनों समय पूरा भोजन दे सकते । किन्तु तब भी रामानुजम् ने अपने अध्यवसाय के बल पर अपना अभ्युदय करके समाज के समक्ष एक उदाहरण उपस्थित कर दिया ।

यही नहीं कि समाज ने भी उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया । ठीक है समाज ध्यान देता भी किस तरह ? वह तो उन्हीं की ओर ध्यान देता है जिनके आगे कुछ शोर होता चलता है और जिनके पीछे लक्ष्मी की चमक रहती है । उसे इतना अवकाश कहाँ कि वह वैभव-विभूति से जगमगाते हुए व्यक्तियों की ओर से अपनी दृष्टि हटा कर, उनकी ओर लगाए जो कठिन परिस्थितियों के बीच उन्नति एवं विकास के लिये संघर्ष करते होते हैं, किन्तु ऐसे श्रमवानों की संसार में कोई कमी नहीं है जो अपनी परिस्थितियों से मोर्चा लेते हुए और तिल-तिल आगे बढ़ते हुये समाज से सहायता की अपेक्षा नहीं करते । जबकि वह जो कुछ करते होते हैं या करना चाहते हैं वह सब होता समाज के हित के लिये ही । ऐसे ही अडिग तथा अविचल कर्मवीरों को निष्काम समाज सेवी कहा जाता है ।

श्री रामानुजम् समाज की सेवा करना चाहते थे, किन्तु विशेष रूप से शारीरिक, सांस्थानिक अथवा आर्थिक सेवा वे नहीं करना चाहते थे । उनका झुकाव तो एक ऐसी स्थायी सेवा करने का था जो केवल अपने समाज अथवा राष्ट्र के ही लिए ही उपयोगी न हो बल्कि सारा संसार उसका लाभ उठा सके और ऐसी सार्वभौमिक सेवा एक मात्र ज्ञानदान के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकती । उनका विचार गणित के कुछ ऐसे नये सिद्धान्तों का अन्वेषण करना था जिससे गणित जैसा नीरस कहा जाने वाला विषय न केवल रुचिपूर्ण ही बने बल्कि सरल भी बन जाये । वे कुछ ऐसे सूत्रों का आविष्कार करना चाहते थे जिन की सहायता से अनेक प्रकार के प्रश्न समान सरलता के साथ हल किये जा सकें ।

देखने-सुनने में तो वह बात बड़ी ही छोटी मालूम होती है कि क्या गणित के कुछ सिद्धान्त— इनसे संसार का क्या बनता— बिगड़ता है ? किन्तु गणित के सिद्धातों का महत्त्व उन ज्योतिषियों से पूछो जो इनकी सहायता से ग्रह-नक्षत्रों की गति का पता लगाते हैं, उन वैज्ञानिकों से पूछो जो इनके उपयोग से प्रकृति के तत्वों की खोज निकालते हैं, उन अर्थशास्त्रियों से पूछो जो इनकी मदद से संसार का अर्थ तन्त्र नियन्त्रण में रखते हैं ।

फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि कोई भी उपयोगी बात उपयोगी ही है फिर चाहे वह छोटी हो अथवा बड़ी । जो जिस रूप में जितनी भी समाज की सेवा कर सकता है, संसार का हित कर सकता है, उसे करना चाहिये । संसार के विकास में अपना अंशदान करना प्रत्येक का पावन कर्तव्य है । मनुष्यों के छोटे-छोटे अंशदान मिलकर समाज का कितना बड़ा दान हो सकता है इसका अनुमान अपने मस्तिष्क से किसी समय भी दूर नहीं करना चाहिये । किसी तालाब को भरने के लिये किसी को एक बूँद जल का दान करने में भी न तो संकोच करना चाहिये और न लज्जित होना चाहिये । जिनके पास जो भी साधन है, जो भी क्षमता है उस भर संसार का हित करना मनुष्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है ।

श्री रामानुजम् में न तो कोई दिव्य प्रतिभा थी और न कोई विलक्षण बुद्धि । हाँ इतना अवश्य था कि अपने विद्यार्थी काल से ही उन्हें गणित में विशेष रुचि थी । अन्य विषयों की अपेक्षा उनको गणित के प्रश्नों को तरह-तरह से हल करने में बड़ा आनन्द आता था । धीरे-धीरे जब वे सयाने होने लगे तो अपनी इस विशेषता को पहचानने लगे । निदान उन्होंने अपनी अभिरुचि को लक्ष्य के रूप में बदलना शुरू कर दिया ।

अपने इस गुण का महत्त्व तथा प्रामाणिकता को जानने के लिये रामानुजम् ने अध्यापकों के दिये प्रश्नों को नये-नये तरीकों से हल करके शिक्षकों के सम्मुख रखने शुरू कर दिये और उनसे प्रशंसा तथा सराहना पाते हुये उत्साहित होने लगे । अपनी प्रारम्भिक सफलता से प्रोत्साहित होकर उनका गणित के विषय में आत्मविश्वास जाग उठा ।

यद्यपि रामानुजम् की इस विशेष प्रतिभा से लोग परिचित होने लगे थे किन्तु वे अपनी सहज उपेक्षा वृत्ति के कारण कोई ध्यान न देते । यहाँ तक कि उनके माता-पिता ने भी पुत्र के भविष्य का कोई विचार किये बिना ही उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह कर दिया ।

इस नये उत्तरदायित्व के आने से श्री रामानुजम् की सारी साधना भंग हो गई और वे पत्नी के भरण-पोषण की चिन्ता करने लगे । घर की परिस्थिति ऐसी न थी कि रामानुजम् के साथ उनकी पत्नी का भी भरण-पोषण किया जा सकता । फिर रामानुजम् की गैरत ही यह कब गवारा करती कि वे अपनी पत्नी के भरण-पोषण का भार अपने कम आय वाले पिता के सिर पर डालकर अपने गणित-सिद्धान्तों की खोज में लगे रहते । अब जब उन्होंने गृहस्थ जीवन अपना ही लिया था तो उसके संवाहन-कर्तव्य से विमुख किस प्रकार हो सकते थे । निदान इन्टर से पढ़ाई छोड़कर वे उपार्जन की चिन्ता में घूमने लगे । कुछ ही प्रयत्न से चालीस रुपये मासिक वेतन पर क्लर्की मिल गई ।

यद्यपि इस प्रकार पिता के आर्थिक सहायक बनने के साथ-साथ श्री रामानुजम् एक सद्गृहस्थ भी बन गये तथापि उन्हें हार्दिक सन्तोष न हो सका । उनके मन में गणितज्ञता की जो लगन लग चुकी थी वह उनकी आत्मा को चैन न लेने देती थी । अन्दर से बार-बार यही आवाज आती थी कि क्या मैं इसी प्रकार कुछ पैसों के लिये दिन भर कलम रगड़ने के लिये पैदा हूँ ? क्या मानव-जीवन का इतना ही उद्देश्य है कि वह कुछ कमाये और खाता-पीता हुआ इस संसार से चल बसे । इन्हीं भावनाओं से भरकर उनका हृदय भारी हो जाता और वे अपने गणित सिद्धान्तों की खोज के लिये तड़प उठते ।

बहुत दिन मानसिक संघर्ष करने के बाद जब उनकी लगन ने उन्हें चैन न लेने दिया तो वे अपने कार्यालय के कार्य से जरा भी अवकाश मिलते ही अपनी खोज में लगने लगे। इस प्रकार कई महीने अधिकारियों की दृष्टि बचाकर काम करते रहने के बाद एक दिन उनके गणित सम्बन्धी कागज अंग्रेज अधिकारी के हाथ लग गये। वे महोदय स्वयं भी एक अच्छे गणितज्ञ थे अतएव उन्होंने जब रामानुजम् के उन कागजों को पढ़ा तब वे यह देखकर दंग रह गये कि जिन प्रश्नों तथा हलों का अंकन उन कागजों में किया गया था गणित के क्षेत्र में एक नवीन खोज थे।

गुणग्राही उक्त अंग्रेज अधिकारी रामानुजम् से कुछ कहने के बजाय यह सोचने लगा कि कितने खेद का विषय है कि एक ऐसा व्यक्ति जवान युवक अपने समाज की उपेक्षा का शिकार बना हुआ जीवन खराब कर रहा है जबकि इसकी प्रतिभा मानव समाज के लिये बहुत ही उपयोगी बन सकती है।

उक्त अंग्रेज अधिकारी ने गम्भीरता से विचार कर तथा अच्छी प्रकार से समझ-बूझकर रामानुजम् के वे सारे कागज इंगलैण्ड के विश्व विख्यात गणितज्ञ प्रो. जी. एच. हार्डी के पास भेज दिये। प्रो. हार्डी ने रामानुजम् के कागजों का अध्ययन-मनन करके यही निष्कर्ष निकाला कि यदि यह युवक भारत में मरने-खपने के बजाय हम लोगों के बीच इंग्लैण्ड में आ जाये तो बहुत कुछ काम कर सकता है। निदान उन्होंने मद्रास टैपो ट्रस्ट अधिकारी को लिख दिया कि उस भारतीय युवक रामानुजम् को किसी प्रकार इंग्लैण्ड भेज दें।

रामानुजम् से होता हुआ उनके इंग्लैण्ड भेजे जाने का प्रस्ताव जब उनके माता-पिता तथा परिजनों के पास पहुँचा तब तो वे आपे से बाहर हो गये और विदेश जाना धर्म विरुद्ध बताकर घोर विरोध करने लगे। किन्तु रामानुजम् की दृढ़ इच्छा तथा अँग्रेज अधिकारियों के समझाने पर रूढ़िवादी परिजन इस शर्त पर रामानुजम् को इंग्लैण्ड भेजे जाने की अनुमति के लिये सहमत हो गये कि वहाँ जाकर भी शालिगराम की पूजा करेगा, धोती-कुर्ता पहनेगा और अपने हाथ से ब्राह्मणोचित भोजन बनाकर खायेगा अपनी गर्ज के लिये युवक रामानुजम् सभी शर्तें निभाने की प्रतिज्ञा करके सरकारी छात्रवृत्ति पर इंग्लैण्ड चले गये।

इंग्लैण्ड पहुँचकर रामानुजम् संसार को भूलकर प्रो. वाटसन हार्डी तथा मोर्डेल के सम्पर्क में रहकर गणित के नये-नये सिद्धान्तों की खोज से संसार को लाभान्वित करने लगे। उनकी आश्चर्यजनक खोजों से प्रभावित होकर उक्त विद्वान् गणितज्ञों ने उनकी इंग्लैण्ड की रॉयल सोसाइटी से फेलोशिप के लिये सिफारिश की जिसके फलस्वरूप वे फेलो ऑफ दी रॉयल सोसाइटी होकर एक स्पृहणीय सम्मान के भागीदार बने। विद्या तथा योग्यता की पूजा क्या देश क्या विदेश सभी जगह समान रूप से होती है।

किन्तु खेद का विषय है कि लगभग तीन वर्ष रूढ़िवादियों की शर्त पूरी करने और इंग्लैण्ड की उस घोर सर्दी में नंगे होकर अपने हाथ से भोजन बनाने, धोती-कुर्ता पहनने तथा ब्रह्ममुहूर्त में नहा-धोकर बिना वस्त्र पहने घण्टों पूजा पर बैठने से उनका स्वास्थ्य चूरचूर हो गया और तैंतीस वर्ष की अल्प आयु में ही वह चमत्कारी प्रतिभा सदा के लिये बुझ गई।

इस होनहार प्रतिभा का जन्म मद्रास प्रान्त में १८८७ के आस-पास तथा तिरोधान इंग्लैण्ड में ही १९२० के लगभग हुआ।

'युक्ति ही सफलता' के सन्देश वाहक—हेनरी ट्राट

संसार में एक देश— अमेरिका ऐसा भी है जहाँ माचिसें निःशुल्क मिलती है, जबकि उसका मूल्य प्रति माचिस कई सेन्ट पड़ता है। अनुमान है कि प्रतिवर्ष ४ अरब माचिसें उपभोक्ताओं को बिना मूल्य बाँट दी जाती हैं। इन्हें कागजी माचिस के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार जो धन प्रयुक्त होता है वास्तव में वह निरर्थक नहीं जाता, उससे अनेकों गुना लाभ दुकानदारों और वस्तु निर्माताओं को होता है क्योंकि यह माचिसें विज्ञापन का ठोस आधार होती हैं। माचिस में बीस तीलियाँ होती हैं और उन तीलियों में एक विज्ञापन का कागज लिपटा रहता है। इस तरह वस्तु का एक बार में २० बार विज्ञापन हो जाता है और उस वस्तु का नाम-पता उपभोक्ता को पूरी तरह कंठस्थ हो जाता है। विज्ञापन का यह विचित्र तरीका अब जर्मनी आदि और भी कई देशों में चल पड़ा है। इससे वहाँ का हर नागरिक प्रभावित है।

इस आविष्कार का श्रेय हेनरी ट्राट नामक व्यापारिक एजेन्ट को दिया जाता है। हेनरी ट्राट की यह सफलता इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य अपनी गिरी-गुजरी और निराशापूर्ण स्थिति को भी युक्ति के द्वारा सफल बना सकता है। सफलता के एक नहीं सैकड़ों द्वार हैं, उन्हें खोलने के लिये उद्यम, उद्योग और युक्तियों से काम लिया जाय तो अनेक मार्गों में कोई एक सफलता की सीमा तक पहुँचा ही देता है।

कोई ७५ वर्ष पहले की बात है फिलाडेल्फिया में जोशवा पोसे नाम का एक वकील रहता था। उन दिनों जिन माचिसों का प्रचलन था उनकी तीलियाँ आज जैसी ही होती थीं, आकार में उनका बोझ अधिक होता था। जेब में रखने में वे बड़ी भद्दी मालूम पड़ती थीं। एक दिन जोशवा पोसे के मस्तिष्क में विचार आया कि परम्परागत वस्तुओं में यदि कोई असंगति हो अथवा भौंड़ा या भद्दापन हो तो उनमें उचित सुधार किया जाना चाहिये। उसने एक दिन कैंची से कार्ड बोर्ड के बारीक टुकड़े काटे। कहीं से माचिस में लगाने का थोड़ा मसाला प्राप्त कर लिया। उसे इन कागजों की तीलियों में लगाकर जलाया तो प्रयोग सफल रहा। यह कागज की तीलियाँ हलकी भी थीं और अपेक्षाकृत शीघ्र आग पकड़ लेती थीं। जोशवा पोसे ने इस खोज को एक कम्पनी को बेच दिया। उसे काफी धन भी मिला।

डायमण्ड इण्डस्ट्रीज नामक उस कम्पनी ने थोड़े ही समय में इस तरह की बहुत-सी माचिसें बना डालीं, पर बाजार में उनकी खपत न के बराबर हुई। अधिकांश लोग पहली माचिसों का ही प्रयोग करते थे।

अन्त में इन माचिसों के प्रसार का काम हेनरी ट्राट ने लिया। उसने लोगों में इनकी उपयोगिता का खूब प्रचार किया। कमीशन देने का प्रलोभन भी दिया किन्तु अन्त में असफलता ही हाथ लगी।

उपयोगी बातें लोगों को समझाना और मनवा लेना उतना ही कठिन है जितना किसी को धर्म एवं नैतिक पथ पर अग्रसर करना। सीधी-सच्ची बातें लोगों के मस्तिष्क में कम चढ़ती हैं। जिनमें थोड़ा आकर्षण होता है अथवा ढर्रे के जीवन में लोगों को अधिक सुविधा अनुभव होती है।

काफी दिन तक विचार करते-करते हेनरी ट्राट के मस्तिष्क में एक बात आई कि यदि युक्तियों और सतत् प्रयत्नों का सहारा लिया जाय, तो ढर्रे के रिवाजों और प्रचलनों को भी एक दिन पूरी तरह मोड़ा जा सकता है और एक दिन उसका यही विचार व्यवहार में भी पूरी तरह सार्थक हुआ।

एक दिन ट्राट ने एक व्यक्ति को विज्ञापन के एक पर्चे को मोड़ कर पंखा झलते देखा तो उसके मस्तिष्क में एक योजना कौंधी। उसने सोचा विज्ञापनों पर लोग बहुत अधिक धन खर्च करते हैं, यदि इन माचिसों को विज्ञापन का माध्यम बनाया जा सके तो माचिसों का प्रचार तेजी से हो सकता है।

फिर क्या था उसने एक अचार बेचने वाली कम्पनी के मैनेजर को समझाया कि आप छोटे-छोटे विज्ञापन के पर्चे बनाकर माचिसों की तीलियों में लपेट कर लोगों को माचिस निःशुल्क दिया करें तो जितने पैसे से एक बार विज्ञापन होता है, उतने से उसकी २० बार पुनरावृत्ति हो जो शायद पढ़ने वाले और प्रयोग करने वाले को आजीवन न भूले।

बहुत समझाने के बाद मैनेजर सहमत हो गया। उसे शीघ्र ही यह पता चल गया कि यह अनोखा तरीका विज्ञापन के लिये बहुत कारगर और प्रभावी है। फिर क्या था एक तम्बाकू की फैक्टरी से भी बहुत-सी माचिसों के आर्डर मिले। इसके बाद एक-एक करते हुये सैकड़ों कम्पनियों ने कागजी माचिस की इस विज्ञापन पद्धति को अपना लिया और सारे अमेरिका में वह निःशुल्क वितरित की जाने लगी।

जो लोग हेनरी ट्राट की तरह उद्योग करते समय निराश नहीं होते वरन् सफलता के लिये अनेक प्रयोग करते हैं, वे एक-न-एक दिन अवश्य ही सफल और समुन्नत होते हैं।

लोकसेवक—पालमारियो तिराबासी

तिराबासी एक रात अस्पताल के बरामदे में टहल रहे थे। बड़ा सुहावना समय था। नींद कह रही थी चलो अब तो बिस्तर पर विश्राम किया जाये। आँखें कह रही थीं— मालिक थक गई हूँ— आराम चाहती हूँ। सारा शरीर भी दिन भर की थकान से चूर हो चुका था इसलिए अब विश्राम करना जरूरी ही था। तिराबासी ने एक कदम उठाया ही था कि एक हलकी-सी करुण चीत्कार उनके कानों पर पहुँची। आवाज बहुत दुःख भरी थी, इसलिये दूसरा कदम आगे न बढ़ पाया।

तिराबासी फिर पीछे लौटे। जिधर से आहत ध्वनि आ रही थी, वह दबे-पाँव उधर ही बढ़ते गये। अस्पताल के पीछे से रोने का स्वर आ रहा था। तिराबासी ने आकर देखा एक बुड्ढा ज्वर और पीड़ा से कराह रहा है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि कैसिनो के युद्ध में उसका सम्पूर्ण परिवार हवाई हमले में मारा गया, एक वही अभागा दुनिया का मुहँ देखने को बचा है। बड़े कष्ट और पीड़ाओं में वह रोम तक पहुँचा था। अस्पताल से आगे बढ़ने में अब उसका साहस कहाँ से होता, शरीर में जरा-भी शक्ति शेष न रही थी।

तिराबासी ने वृद्ध को अपने कन्धों पर उठा लिया— बाबा! उन्होंने कहा— "तुम अपने आपको असहाय मत समझो, परमात्मा की दुनिया से दया अभी उठी नहीं, कहीं-न-कहीं से तुम्हारे लिये भी उनकी कृपा की एक किरण फूटेगी ही।" वृद्ध को अस्पताल पहुँचाया। दवा, पट्टी, भोजन और विश्राम कराने तक सबेरे के चार बज गये, तब तिराबासी अपने बिस्तर पर लौट पाये।

तिराबासी का पूरा नाम मारियो तिराबासी है। इटली के रोम नगर में एक सम्पन्न घर में जन्मे थे। स्वयं भी सरकारी सर्विस में लग गये थे। २८ साल हँसने-खेलने की उम्र थी। इसी समय द्वितीय महायुद्ध छिड़ा, जिसमें भयंकर रक्तपात हुआ। सारा इटली आहत और शरणार्थियों से भर गया।

मौज लेने वाले तब भी मौज ले रहे थे। जिन्हें केवल अपने स्वार्थों की चिन्ता होती है, जो आत्मा की पीड़ा को जरा-भी अनुभव न करते हों, उनके लिये कष्ट का समय हो तो क्या— अमन का समय हो क्या— दूसरों की सेवा की चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी? पर जिनके हृदय में दया की, पीड़ित आत्मा की सेवा की सहानुभूति की जरा भी रोशनी होगी वह भला ऐसे समय क्या चुप बैठेगा? बैठेगा तो उसकी आत्मा धिक्कारेगी— रे, यह क्या? यह समाज, सारा जगत् अधर्म, अन्याय, पीड़ा, कष्ट और परिताप से झुलस रहा है और तुम्हें मौज-शौक की सूझी है। जिस मानव-धर्म ने तुम्हारे विकास के लिये इतने परिश्रम किये हैं, क्या उसके प्रति तुम्हारा कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता?

मारियो तिराबासी उस दिन भरपूर नींद नहीं ले सके। उनके मस्तिष्क में भी ऐसा ही तूफान खड़ा था और पूछ रहा था— "तिराबासी सारा देश संकट-ग्रस्त है। आत्मा कुम्हला रही है। क्या उसकी सेवा के लिये आगे आने वालों का यहीं खात्मा हो जायेगा?"

तिराबासी ने कहा— "नहीं यह कैसे हो जायेगा? महापुरुष ईसा ने जन-सेवा में अपना सर्वस्व लुटा दिया, सुकरात, टॉलस्टाय का जीवन लोक-सेवा में उत्सर्ग हो गया। बुद्ध और मजहर ने उसके लिये बड़े-बड़े त्याग किये, वह परम्परा रुक नहीं सकती। मेरी आवश्यकतायें ही कितनी हैं, परमात्मा सारी सृष्टि को बढ़िया-बढ़िया भोजन और वस्त्र देता है, मेरे लिये क्या वह रूखी-सूखी रोटियाँ और तन ढकने को कपड़े का टुकड़ा भी नहीं दे सकता? जरूर देगा, उससे अधिक और आडम्बर चाहिये भी क्या?"

तिराबासी ने जमी-जमाई रोजी पर ठोकर मार दी। उस दिन उसने नौकरी से स्तीफा दे दिया और दुःखियों की सेवा, लोगों को प्रकाश देने की साधना में उसका जीवन बीतने लगा।

०००

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा** के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार ।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्‌भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रसित

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षत: देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रात:काल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुन: एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ । विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। ❒❒❒

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन
समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण २ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे--

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७ मिशन की लोक व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑